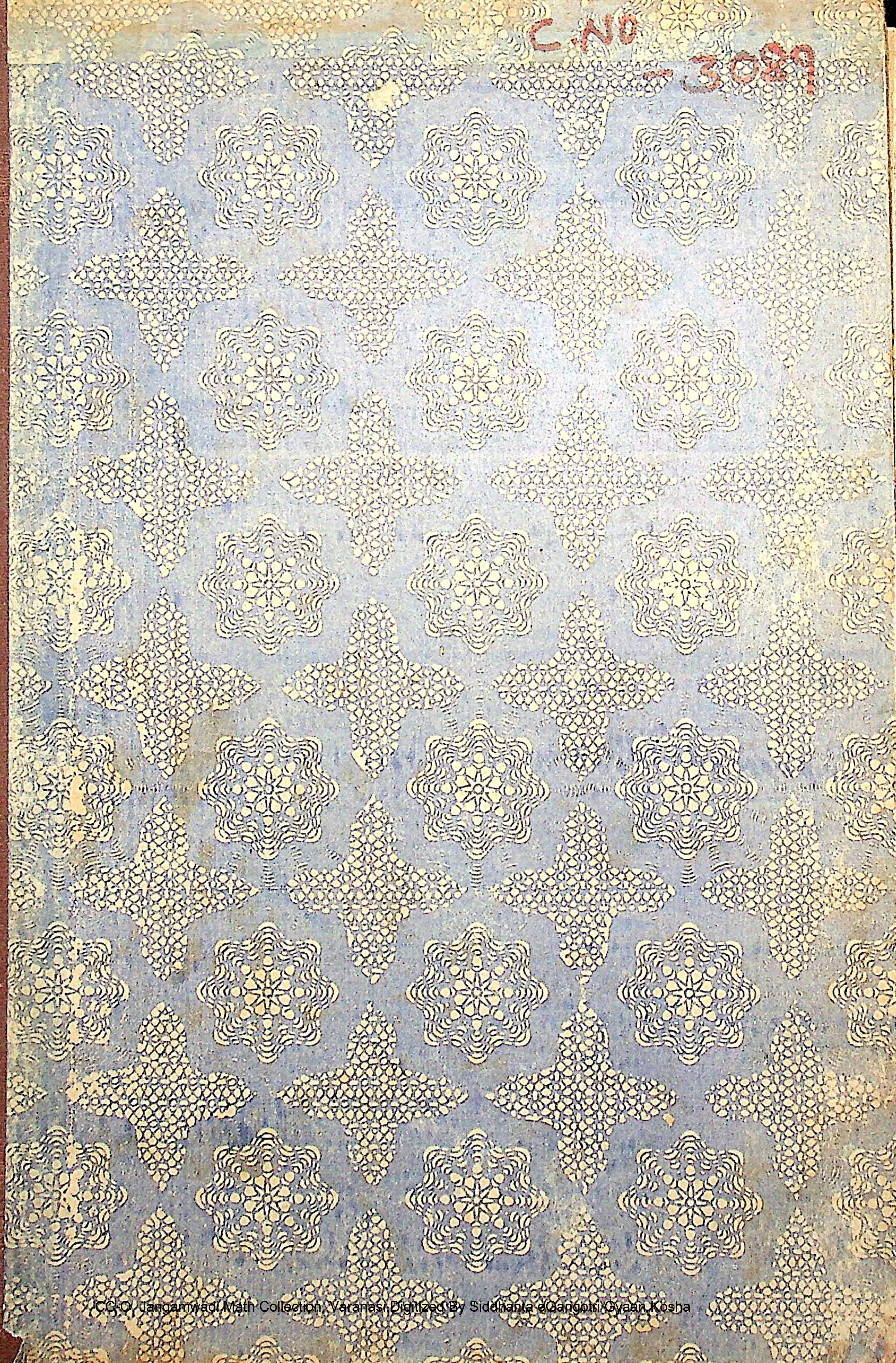
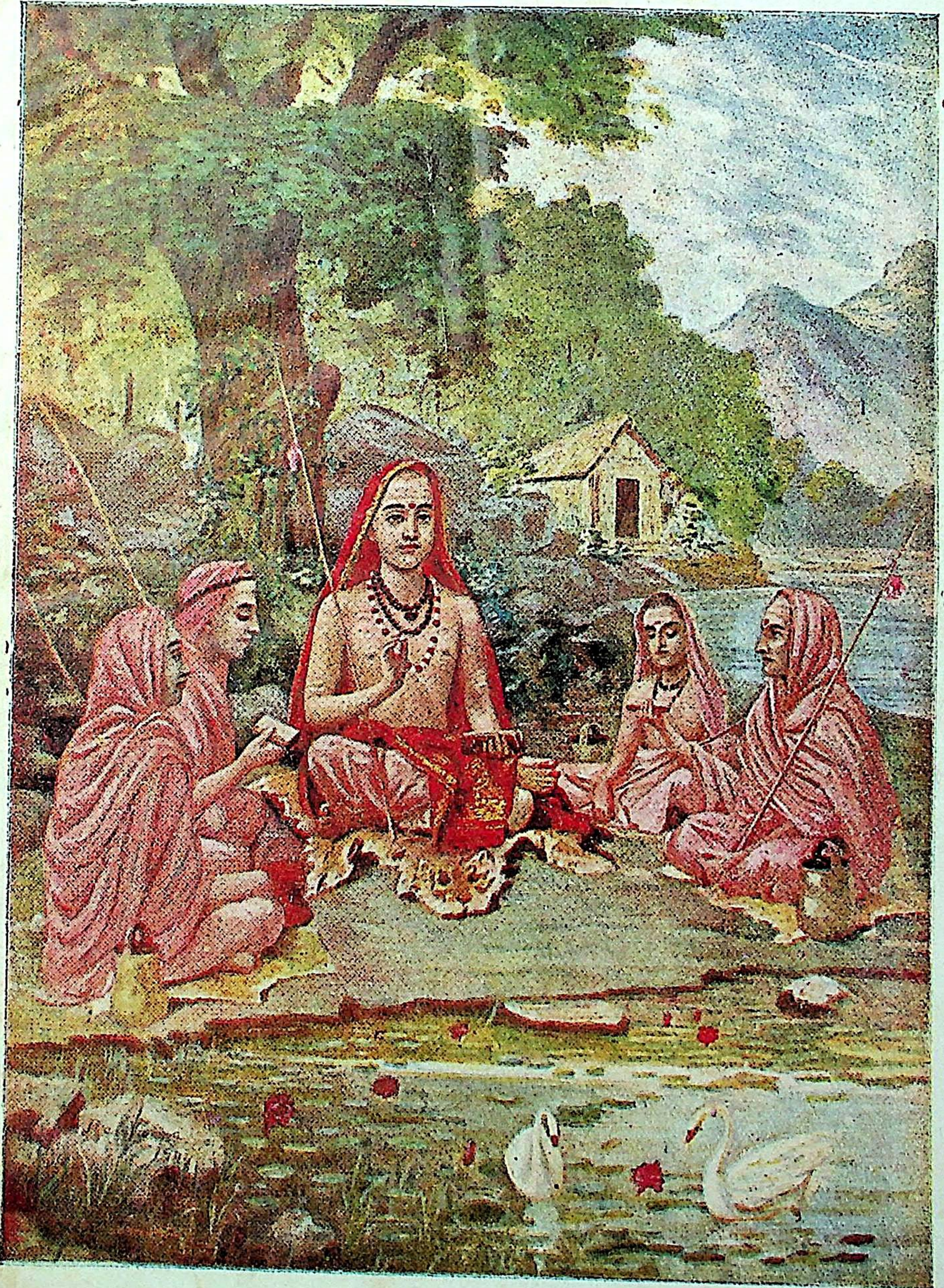


वैदिक धर्म ।

आश्विन १९९५
अक्टूबर १९३८



श्रीमदाद्य शंकराचार्य

वर्ष १९, अंक १०]

[क्रमांक २२६

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का

साध्य और साधन

राजाओंका सुधार।

आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध आचार्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का देहावसान भारतीय राजामहाराजाओंका सुयोग्य सुधार करके उनको स्वराज्यस्थापनामें लगानेके शुभ और महनीय प्रयत्नों के चलानेके कारण दिवालीके समयहि हुआ,इसलिये इस दिवालीके समय उनका वाङ्मय श्राद्ध करना हरएक भारतीय सुपुत्रके लिये अत्यंत योग्य है।

श्री स्वामिजी महाराजका कार्य केवल आर्यसमाजके धार्मिक क्षेत्रके चार दिवारोंके अन्दर हि सीमित नहीं था। **भारतीय राष्ट्रका पुनरुद्धार धार्मिक सुधारद्वारा करना और इस साधनसे आर्योंका वैदिक धर्मानुशासनसे चलाया जानेवाला आसमुद्रक्षितीका सार्वभौम साम्राज्य अति शीघ्र स्थापित करना** ही एकमात्र प्रशंसनीय उद्देश श्री स्वामिजी महाराजका था। सूर्यचन्द्रवंशीय भारतीय राजामहाराजाओंका सुधार करके उनको धार्मिक शासनतत्पर बनानेसे शीघ्रही भारत का आधा भाग सुधर सकता है, ऐसा विचार करके, सबसे प्रथम राजपूतानाके उदेपुरादि नरेशोंके सुधार करनेके प्रयत्नोंमें वे लगे थे। इस प्रयत्न में उनको सफलताभी बहुत कुछ हो चुकी थी, इस कारण जिनकी आर्थिक हानि हुई, उनके द्वारा भयानक विषप्रयोग होनेसे श्री स्वामिजीका दिवालीके समयही देहावसान हुआ! इस कार्यकारणभावका विचार करनेसेभी उन्होंने थोडेसे दिनोंमें राजपूतानाके राजाओंमें कितना प्रचण्ड सुधार का कार्य किया था, इसकी कल्पना हरएक को हो सकती है।

विषप्रयोग करनेके विना उस स्थानके कुमार्गियोंको दूसरा कोई मार्ग रहा हि नहीं था। इसलिये स्वार्थी कुमार्गियोंने यह अन्तिम उपाय की रचना की, और एक महापुरुषका कार्य दिवालीके दीपप्रकाश के नीचे रहनेवाले गाढ अन्धकारमें अदृश्यसा हुआ। इससे भारतीय राष्ट्रकी अपरिमित हानि हो चुकी है, इसलिये इस प्रसंगसे इसका स्मरण करनेकी इच्छा है। इसका स्मरण करनेसे फिर किसीके मनमें उनके भारतीय पुनरुत्थानके विचार स्फुरित हो जायंगे और पुनः उनके कार्यका नये उत्साहसे प्रारंभभी हो जायगा।

श्री स्वामिजीका आदर।

हमारे मनके अन्दर जो महत्त्वका स्थान श्री स्वामिजी महाराज को मिला है, वह **उनकी धार्मिक शिक्षापूर्वक राष्ट्रीय पुनरुत्थानकी प्रचण्ड और सर्वाङ्गपूर्ण आयोजनाके लिये हि है।** यद्यपि आज वह आयोजना रही नहीं और चलीभी नहीं है,परंतु चलाना या न चलाना यह सर्वथा अनुयायियों की शक्तिपर अवलंबित रहनेवाली बात है। अतः हम सबसे पहिले भारतराष्ट्रके पुनरुत्थान की अपूर्व आयोजनाका निर्माण करनेके लिये ही श्री स्वामिजीको 'ऋषि' कहते आये हैं। ऋषि वह **होता है कि जो सब अन्य जनता के पूर्व हि नया और उत्तम मार्ग ठीकठीक रीतिसे देखता है और उस मार्गको उद्घोषित भी करता है।** जो अन्य लोग नहीं देख सकते, वह उनको दीखता है और जो अन्य लोग डरके मारे उद्घोषित कर नहीं सकते, वह जो ऋषि होता है,वह सब जनता के लिये बडे वेग के साथ उद्घोषित भी करता है। ऋषि दयनन्दजी के पूर्व इनके समान किसी भी नेताने भारत के पुनरुत्थान की इस प्रकारकी निश्चित आयोजना नहीं की थी। यही उनके श्रेष्ठ दूरदर्शिताका सुस्पष्ट चिह्न है।

हृदय खोलकर ईश-प्रार्थना।

किसी मनुष्यका ध्येय, इष्ट अथवा हार्दिक काम्य क्या है, यह निःसंदेह देखना हो, तो '**उनकी ईश्वरके पास**

प्रार्थना ' क्या होती है, उसको देखना चाहिये । अन्य संपूर्ण व्यवहार अन्य मनुष्योंके साथ संबंधित होते हैं, इसलिये उनमें अनंत मर्यादाएँ बीचमें खडी हो जाती हैं, परंतु ईशप्रार्थनाके समय मनुष्यके साथ दूसरा कोई नहीं रहता, माताके पास पुत्र जैसा प्रेमके साथ निर्भय होकर जाता है, वैसा भक्त परमेश्वरके पास जाता है और प्रेमसे जो अपने हृदयका अभीष्ट है, वह मांगता है। इस समय उसकी प्रार्थनाके लिये कोई प्रतिबंध नहीं हो सकता क्योंकि ' भक्त और भगवान् के अन्दर प्रतिबंध करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं होती, अतः प्रार्थनामें हि हरएक का हार्दिक अभीष्ट व्यक्त होता है। इसी नियम के अनुसार श्री स्वामिजीका ध्येय उनके प्रार्थनापुस्तक " आर्याभिविनय " में प्रकट हो गया है। देखिये उनकी प्रार्थनाएं किस प्रकारकी थीं—

(१)... विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल, पराक्रम और दृढांग, धर्मात्मा न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष हमें प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्ती राज्य और विज्ञानरूप धनकोभी प्राप्त होऊं... ॥३॥ (पृ० २५-२६)

(२) ... आप हमको सरल चक्रवर्ती राजाओंकी नीतिको प्राप्त करो, ... हमको वरराज्य, वरनीति देओ, ... हमको सत्य विद्यासे युक्त सुनीति दे के साम्राज्यधिकारी सद्यः कीजिये। हमपर सहाय्यता करो कि जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढे ॥ १८ ॥ (पृ० ६५-६७)

(३)... आओ सब मिलके अपने सब दुःखोंका विनाश और अपने विजय के लिये ईश्वरको प्रसन्न करें, जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे अपने शत्रु कभी न बढें ॥ २२ ॥ (पृ० ७७)

(४) ... हमारे शत्रुओंको जतिनेवाले हो, इस कारण से हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता ॥२६॥ (पृ० ८६)

(५) ... पिताके समान हमारा पालन करो, हे भगवन् ! ... आपकी उत्तम न्यायनीतिमें प्रवृत्त होके वीरों के चक्रवर्ती राज्य को आपके अनुग्रहसे हम प्राप्त हों ॥ ४५ ॥ (पृ० १३२-१३३)

(६) ... पुरुषार्थ को कभी कोई मत छोडे, धर्मयुद्धमें शूर वीर होके ... बडा अखण्ड साम्राज्य प्राप्त करके सब मनुष्योंका हित करें, सुनें और परमानन्द भोगें ॥ ५२ ॥ (पृ० १५५-१५६)

(७) हम लोगोंका पठनपाठन विद्या बढानेवाला हो तथा ... हम सब संसार में सबसे अधिक प्रकाशित हों, अन्योन्य प्रीतिसे परमवीर्य पराक्रमसे निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हममें सब पुरुष नीतिमान् और सज्जन हों, ... अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि, सर्वोत्कृष्ट विद्या, और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्यको शीघ्र प्राप्त कर ... ॥ १ ॥ (पृ० १६१-१६५)

(८) हम लोग शत वर्षतक देखें, जीवें, सुनें, कहें, कभी पराधीन न हों,... सौ वर्षके उपरान्त भी स्वाधीन ही रहें ॥ ३७ ॥ (पृ० २७९)

आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य ।

श्री स्वामिजीकी बनायीं प्रार्थनाएं ये हैं । यहां उनका हार्दिक ध्येय उत्तम रीतिसे प्रकट हो रहा है। हम आर्योंमें बल, बुद्धि, चातुर्य, शौर्य, वीर्य, पुरुषार्थ बढे और आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र इस भूमण्डलपर हो । जिस विकट राजकीय परिस्थितिमें श्री स्वामिजी महाराज का जन्म हुआ था, जिस देशकी विलक्षण शोचनीय परिस्थितिमें श्री स्वामिजीके जन्मस्थानके— काठियावाड गुजरातके—लोग विदेशके साथ होनेवाले व्यापार व्यवहार द्वारा कमिशन प्राप्त करके धनाढ्य बननेकी हि केवल एकमात्र इच्छा कर रहे थे, उस समय यह अकेला लंगोटबंद ब्रह्मचारी तेजस्वी स्वामी घरदार छोडकर पूर्ण असंग होकर 'आर्योंके अखण्ड चक्रवर्ती राज्यकी शीघ्र स्थापना करनेका उपाय ढूंढ रहा था ! ' निःसंदेह यह उनकी ऋषिदृष्टिकी सिद्धता करनेवाला पर्याप्त प्रमाण है।

उस समय के राजकीय नेतागण विदेशी सरकारकी प्रार्थना और याचना करनेमें, अर्जियां करने और उनकी कृपासे कुछ नौकरियां प्राप्त करने में हि अपना जीवनोद्देश्य सफल समझ रहे थे, स्वतंत्र स्वराज्य स्थापन करनेकी कल्पनाभी उद्भूत हुई नहीं थी। आजसे ६०-७० वर्ष पूर्वका राजकीय क्षितिज पाठक देखेंगे, तो उन

को स्वतंत्र स्वराज्य कहींभी नहीं दीखेगा। हाथ जोडकर अंग्रेजोंसे प्रार्थना करनेका वायुमण्डलहि उस समय के राजकीय नेताओंके मनमें था। ऐसे घोर समयमें यह **लंगोटधारी संन्यासी आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य स्थापित करनेके विचारों में मग्न होकर एकान्त सेवन कर रहा था।**

जिस समय लोग विदेशी राज्यमें रहना और उनकी नौकरीयां करना ही अपना ध्येय मानते थे, उस समय जिसने आर्योंके अखण्ड चक्रवर्ती राज्यका मार्ग देखा, उसको भारतीय पुनरुत्थान का ऋषि न समझें तो दूसरे किसको वह मान दिया जावे?

चक्रवर्ती राज्य का मार्ग।

श्री स्वामी दयानन्दमहाराजने केवल ईश्वरकी प्रार्थना करके हि आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य इस भूमण्डलपर होनेकी संभावना कभी नहीं मानी थी, कोई वेदका वेत्ता ऐसा मानही नहीं सकता। **कोई सच्चा वेदवेत्ता विदेशी राज्यके अन्दर क्षणभर भी नहीं रह सकता। वेदज्ञान और पारतंत्र्यस्वीकार इनका सदा विरोध ही है। इसी लिये स्वामिजी आर्योंका स्वतंत्र और अखण्ड चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र इस भूमण्डलपर स्थापित करनेके इच्छुक थे!**

सब आर्य सायं प्रातः पवित्र होकर यही प्रार्थना करें, इसी लिये यह आर्याभिविनय नामक तेजस्वी ग्रंथ स्वामिजीने निर्माण किया था! लोग यदि आतुरतासे ऐसी प्रार्थनाएं करेंगे, तो वैसाही स्वराज्य शीघ्र प्राप्त करनेका वायुमण्डल देशभरमें बनेगा और जैसा वायुमण्डल बनेगा, वैसा सामुदायिक प्रयत्न भी होगा। आर्योंके चक्रवर्ती राज्यकी स्थापना का प्रारंभ इसी तरह ईशप्रार्थना में हो सकता है।

ईश्वर उपासना।

यहां पाठक कल्पना करें कि प्रत्येक घरमें प्रातः सायं पारिवारिक प्रार्थनामें घरके सब स्त्रीपुरुष संमिलित होते हैं, **और वहां अति शीघ्र चक्रवर्ती राज्य स्थापन करनेका बल ईश्वरसे मांगा जाता है। नगरके समाजभवनमें सब नागरिक एक मतसे अपने स्वतंत्र स्वराज्यकी स्थापनाके विघ्न दूर करनेकी प्रार्थना करते हैं।** इसी तरह प्रांतों और राष्ट्रके वार्षिक महोत्सवमें लाखों भारतवासी संमिलित होते हैं और अपने चक्रवर्ती राज्य की शीघ्र स्थापना करनेकी प्रार्थना ईश्वरसे करते हैं, तो उस राष्ट्रमें कितना राजकीय स्वतंत्रता का मानसिक भूमिकामें वायुमण्डल बन सकता है। पाठक इस स्वामिजीकी मानसिक तैयारी करनेकी आयोजनाका महत्त्व सोचें। इस तरह राष्ट्रीय मन तैयार हुआ, तो उस मनके द्वारा हरएक दिशासे स्वतंत्रता प्राप्त करनेके प्रयत्न होंगे और देश शीघ्र ही स्वतंत्र होगा, इसमें कोई संदेहही नहीं है।

राष्ट्रीय संघटना।

केवल मनके विचारोंमें उक्त प्रकार स्वातंत्र्यप्रेम उत्पन्न होनेसे हि केवल स्वराज्य स्थापना नहीं हो सकती, यह तो स्वामिजी जानते ही थे। इसलिये उन्होंने भारतीयोंकी संघटना का कार्यक्रमभी तैयार किया था।

नगरनगर में आर्यसमाज स्थापन करना और वहां **धर्मार्य-सभा, विद्यार्यसभा, न्यायार्यसभा तथा राजार्यसभा आदि संस्थाएं स्थापन करके अपने ग्रामका सब कार्यव्यवहार स्वयं चलाना।** वेदमंत्रोंद्वारा इन सभाओंके स्थापन करनेका उपदेश श्री स्वामिजीने अपने सत्यार्थ-प्रकाशादि ग्रंथोंमें पर्याप्त परिश्रमपूर्वक दिया है, जो हरएक इस समयभी देख सकता है, इसलिये उनके इस विषयके वचन यहां उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिसने सत्यार्थप्रकाश, वेदभाष्यादि देखा है, उनको इन सभाओंकी स्थापना करनेके उपदेशका पता है। अतः अब हम देखते हैं, कि आर्यसमाजकी इन सभाओंका कार्य क्या है—

१ धर्मार्यसभा— वेदमें कथित मानवधर्मका विचार यह संस्था करे और प्रत्येक सदस्य अपनी धर्म-मर्यादामें सुस्थिर रहता है वा नहीं यह देखे और समझा-कर सब लोगोंको धर्ममें रखे और धर्ममें लानेका यत्न करे। वेदका अर्थ करना, वेदप्रचार करना आदि कार्य इस सभाके हैं।

जनताको अधर्मसे बचाना, संस्कारोंसे सबको सुसंघ-टित करना, सत्यधर्मका प्रचार करके वेदके शुभ उपदेशोंसे

सब लोक उन्नत करना आदि कार्य इस धर्मसभा का है।

(२) विद्यार्यसभा– इस विद्यासभाद्वारा अपने बालक-बालिकाओंके विद्याध्ययनका सुयोग्य प्रबंध करना है। प्राथमिक शिक्षासे प्रारंभ होकर अन्तिम उच्च शिक्षातक का सब प्रबंध करना इस विद्यासभा का कार्य है। ज्ञानविज्ञान, उद्योग, कलाकौशल्य आदि सब आवश्यक १४ विद्याओं और ६४ कलाओंकी अपने युवकोंको शिक्षा देना इस विद्यासभाका कार्य है। कोई आर्य-बालक या बालिका विदेशी राजप्रबंधद्वारा मिलनेवाली परतंत्र मन बनानेवाली शिक्षा न लेवे और आर्यविद्वानों द्वारा निश्चित की हुई, आर्यविद्वानों द्वारा चलाये जानेवाले गुरुकुलों में प्राप्त होनेवाली, आर्योंके चक्रवर्ती राज्यकी जिससे अति शीघ्र स्थापना हो सकती है, ऐसी सुशिक्षा आर्योंके तरुणोंको प्राप्त हो, यह उद्देश्य इसमें श्री स्वामिजीका था। जर्मनीमें आर्ययुवकोंको भोजकर वहांकी विज्ञानविद्या प्राप्त करना भी स्वामिजीका उद्देश्य था।

(३) न्यायार्यसभा— आर्योंके अपने झगडे, आपसके आर्योंके झगडे विदेशी राजाके अदालतों में नहीं जाने चाहियें। आर्योंके झगडे आर्योंके द्वाराहि निर्णीत होने चाहिये, आर्योंके झगडे निपटानेवाले म्लेंच्छ नहीं हो सकते। यह शुद्ध और सरल आर्यत्वकी दिशा है। इसलिये श्री स्वामिजी महाराज ने 'न्यायार्यसभा' स्थापन करके इस सभाद्वारा आर्योंके आपसके झगडोंका निपटारा स्वयं आर्योंद्वारा करानेकी प्रथा शुरू करनेकी आज्ञा दी थी। और यह आज्ञा वेदानुकूल ही थी।

(४) जो कार्य 'धर्मसभा, विद्यासभा, और न्यायसभाके कार्यक्षेत्रमें नहीं आते, उन सब शेष कार्योंके लिये 'राजार्यसभा है। आर्योंके राजकीय क्षेत्रमें जो स्वाभाविक न्यायानुकूल और नागरिकत्वादि अधिकार और हक हैं, उनका संरक्षण करना इस सभा का कार्य है।

(५) गोरक्षासे हि भारतीय किसानों की तथा भारतीय कृषिकी उन्नति हो सकती है, यह जान कर श्री स्वामिजी महाराजने 'गोकरुणानिधि' नामक ग्रंथ निर्माण किया और आर्योंको गोरक्षाके लिये पर्याप्त प्रयत्न करना चाहिये, ऐसा शुभादेश दिया। गोरक्षामें केवल गौकीहि रक्षा आती है, ऐसा नहीं अपि तु वेदानुकूल कामदुघा और घटोघ्नी गौ निर्माण करना भी इस समाजका हेतु निःसंदेह है। गोदुग्ध भूमिके ऊपरका श्रेष्ठ अमृत है, इससे भारतीय जनता वञ्चित कभी न रहे, यह श्री स्वामिजिका गो आदिकी रक्षा करनेमें विशाल हेतु था। आर्य गोदुग्ध पान करके नीरोग और बलवान् बनें और स्वराज्यस्थापनाका कार्य जोरसे करें, यह उद्देश्य यहां स्पष्ट है।

(६) भारतवर्षमें क्या और संपूर्ण पृथ्वीपर क्या, प्रजानुकूल राज्यशासनही जनताका सच्चा हित करने में समर्थ होगा, यह जानकर आर्यसमाज की घटना और नियमोपनियमावली श्री स्वामिजीने ऐसी बनायी कि जिससे प्रजानियंत्रित, प्रजासंमत, प्रजा की संमतिसे चलनेवाली, प्रजाके प्रतिनिधियोंकी बहु संमतिसे संचलित होनेवाली कार्यप्रणाली आर्योंकी बने और ऐसी संस्थामें काय करनेवाले आर्य भारतीय शासनसंस्थाके लिये सुयोग्य सदस्य बनें। आर्यसमाजके सब कार्य इसी नियमानुसार होने योग्य कार्यप्रणाली स्वामिजीने बनायी थी, यह उनकी दूरदर्शिताही है।

आर्यसमाज नामक मुख्य संस्थाके आधीन धर्मसभा, न्यायसभा और विद्यासभा कार्य करने लग जाती और जैसा कि श्री स्वामिजी महाराजने सोचा था, वैसा ये सब संस्थाएं कार्य करने में समर्थ होतीं, तो आज आर्योंके आधीन कितना अधिकार आ जाता, यह भी इस स्थानपर जानने योग्य है।

न्यायार्यसभा कार्य करनेवाली हो गयी, तो सरकारी अदालतोंपर पूर्ण बहिष्कार न कहते हुए और न बोलते हुए हो सकता है। विद्यासभा कार्यक्षम हो गयी, तो सरकारी विद्यालयोंपर बहिष्कार आपहि आप हो सकता है। विद्यासभा द्वारा १४ विद्या और ६४ कलाओंकी शिक्षा शुरू होनेपर अपने सब हुनर शुरू होनेके कारण विदेशी वस्तुओंपर स्वयं बहिष्कार हो जाता है। जो अपने पुत्रोंको अपने स्वतंत्र गुरुकुल विद्यालयोंमें पढाते, अपने हुनरसे बने वस्त्रादि निर्माण करके उनकोहि पहनाते, अपनी न्यायसभा द्वारा अपने झगडे निपटाते, ऐसे पूर्ण स्वतंत्रताप्रिय आर्य सरकारी नौकरीसे

वैदिक धर्म

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.
[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको ' वेदाङ्क ' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

वर्ष १९] [अङ्क १०

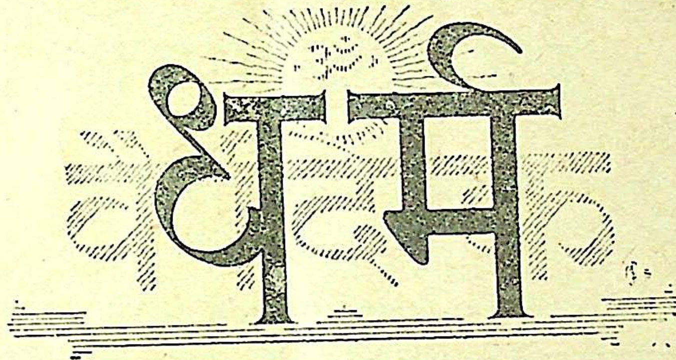
विषयानुक्रमणिका

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत ।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना ।(१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा.(१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत ।	)	)

	मू.	डा०व्य०
देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग ।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला । प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र ।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय ।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय ।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र ।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने ।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या ।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न ।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास ।	॥)	≠)
उपनिषद् माला । १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद् ।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ [illegible] प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

वर्ष १९
अंक १०
क्रमांक २२६



आश्विन
संवत १९९५
अक्तूबर
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

आर्योंका चक्रवर्ती राज्य शीघ्र हो!

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥
(ऋ० १।१।३)

हे महादातः, ईश्वर अग्ने! आपकी कृपासे स्तुति करनेवाला मनुष्य (रयिं) उस विद्यादि धन तथा सुवर्णादि धन को अवश्य प्राप्त होता है, कि जो धन प्रतिदिन (पोषं एव) महा पुष्टि करने और सत्कीर्ति को बढानेवाला, तथा जिससे विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल, पराक्रम, और दृढांग, धर्मात्मा, न्याययुक्त, अत्यन्त वीरपुरुष प्राप्त हो, वैसे सुवर्णादि, तथा चक्रवर्ती राज्य, और विज्ञान-रूप धनको, मैं प्राप्त होऊं, तथा आपकी कृपासे सदैव धर्मात्मा होके अत्यन्त सुखी रहूं॥
(श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीकृत आर्याभिविनय, पृ० २७)

स्वराज्यकी प्रार्थना।

(श्री० स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी की आर्याभिविनयसे उद्धृत)

(१) ... जैसे विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल, पराक्रम और दृढांग, धर्मात्मा न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष हमें प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्ती राज्य और विज्ञानरूप धनकोभी प्राप्त होऊं ...॥ ३ ॥ (पृ० २५-२६)

(२) ... आप हमको सरल चक्रवर्ती राजाओं की नीतिको प्राप्त करो,... हमको वरराज्य, वरनीति देओ,... हमको सत्य विद्यासे युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये। हमपर सहाय्यता करो कि जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढे ॥ १८ ॥(पृ० ६५-६७)

(३) ... आओ, सब मिलके अपने सब दुःखोंका विनाश और अपने विजय के लिये ईश्वरको प्रसन्न करें,जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे अपने शत्रु कभी न बढें ॥ २२ ॥ (पृ० ७७)

(४) ... हमारे शत्रुओंका जीतनेवाले हो, इस कारणसे हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता ॥ २६ ॥ (पृ० ८६)

(५) ... पिताके समान हमारा पालन करो, हे भगवन् ! .. आपकी उत्तम न्यायनीतिमें प्रवृत्त होके वीरोंके चक्रवर्ती राज्यको आपके अनुग्रहसे हम प्राप्त हों ॥ ४५ ॥ (पृ० १३२-१३३)

(६) ... पुरुषार्थको कभी कोई मत छोडे, धर्मयुद्धमें शूर वीर होके... बडा अखण्ड साम्राज्य प्राप्त करके सब मनुष्योंका हित करें, सुनें और परमानन्द भोगें ॥ ५२ ॥ (पृ० १५५-१५६)

(७) ... हम लोगोंका पठनपाठन विद्या बढानेवाला हो,तथा हम सब संसारमें सबसे अधिक प्रकाशित हों, अन्योन्य प्रीतिसे परमवीर्य पराक्रमसे निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हममें सब पुरुष नीतिमान् और सज्जन हों ! ... अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि, सर्वोत्कृष्टविद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य को शीघ्र प्राप्त कर ... ॥ १ ॥ (पृ० १६१-१६५)

(८) ... हम लोग शत वर्षतक देखैं, जीवैं, सुनैं, कहैं, कभी पराधीन न हों ... सौ वर्षके उपरान्तभी स्वाधीन ही रहें ॥ ३७ ॥ (पृ० २७९)

अपना जीवन कभीभी अपवित्र करेंगे नहीं और विदेशी सरकारकी पदवियां धारण करके भी अपने आपको कभी कलंकित नहीं करेंगे । क्यों कि वैदिक धर्मी विदेशी सरकारके आधीन रहनाही असंभव है। इस दिशासे कार्य हुआ होता तो दिन प्रतिदिन आर्य सच्चे आर्य हि बनते जाते ।

श्री स्वामिजीद्वारा सभात्रयनिर्मित स्वयंशासक आर्य समाजकी संस्थापनासे यह कार्य उक्त प्रकार आपही आप होनेवाला था । स्वामिजीका यही उद्देश था, यह बात उनके ग्रंथोंमें सर्वत्र स्पष्ट दीखती है । यदि यह श्री स्वामिजीका उद्देश्य इस समय सफल होता, तो श्री महात्मा गांधीजी को अपने पंच बहिष्कार पुकारनेका अवसरहि न मिलता, क्योंकि आर्यसमाज द्वारा वेहि बहिष्कार महात्मा गांधीजी भारतभूमिमें अवतीर्ण होनेके पूर्वहिं सिद्ध होकर रहते । और महात्मा गांधीजीको दूसरा कार्यक्रम सोचना पडता । परंतु वैसा बना नहीं !!!

१. धर्मसभाद्वारा विदेशीधर्मप्रचारका प्रतिबंध,
२. न्यायसभाद्वारा अपने झगडे स्वयं मिटानेके कारण विदेशी सरकारकी **अदालतोंपर बहिष्कार,**
३. **विद्यासभाद्वारा** अपने गुरुकुलोंके संचालनद्वारा अपने आर्ययुवकों की शिक्षा होनेके कारण विदेशी **सरकारके शिक्षणालयोंपर बहिष्कार,**
४. उक्त विद्यालयोंमें ६४ कलाओंकी शिक्षा होनेके कारण अपने लिये आवश्य वस्तुओंके निर्माण होनेसे **विदेशी वस्त्रादिकों पर बहिष्कार,**
५. आर्योंमें अपने स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र स्थापन करनेकी तीव्र इच्छा प्रकट होनेके कारण विदेशी सरकार को अपनी शक्ति प्रदान न करनेकी ओर जनताकी भावना होनेके कारण विदेशी सरकारकी **नोकरियोंपर बहिष्कार,**
६. इसी उक्त कारण उनकी **पदवियोंपर बहिष्कार,**

ये सब बहिष्कार जो महात्मा गांधीजीने सन १९२५ में पुकारे थे, **वेही बहिष्कार श्री स्वामीदयानन्दजी महाराजने न पुकार करते हुए कार्यव्यवहारमें लानेकी आयोजना सत्तर वर्ष पूर्वहि शुरू की थी ।** जिस समय कांग्रेस का जन्मभी नहीं हुआ था, उस समय श्रीस्वामिजी महाराज इस अयोजनाको तैयार करके आर्यसमाज द्वारा प्रचलित करनेके विचारमें लगे हुए थे । यही उनके ऋषित्व का चिह्न है !

नगर और ग्राममें उस नगर का आर्यसमाज, प्रान्त के नियंत्रण के लिये प्रांतिक आर्यप्रतिनिधिसभा, और अखिल भारतका नियंत्रण करनेके लिये अखिल भारतीय सार्वदेशिकार्य प्रतिनिधिसभा, इस तरह ग्रामसे प्रारंभ होकर अखिल भारतवर्षका नियंत्रण पूर्वोक्त धर्म—विद्या-न्याय आदि सभाओंद्वारा स्वामिजीके आदेशानुसार होता, तो पाठक स्वयं जान सकते हैं, कि यह एक आर्योंका 'स्वयंशासन' इस आर्यभूमिमें आपहि आप शुरु हो जाता। इस भरतखण्डमें विदेशी सरकार का राजकीय क्षेत्रमें शासन होते हुएभी, **धर्म—विद्या— न्याय—उद्योग आदि क्षेत्रोंमें आर्योंका स्वयंशासन शुरू हो जाता और यह एक आर्योंका समान बराबरीका राज्यशासन (Parallel Government) न डंका बजाते हुए और न बोलते हुए शुरू हो जाता ।** और आज जो राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के अध्यक्ष अथवा सर्वाधिकारी श्री महात्मा गांधीजी एक ओर और दूसरी ओर ब्रिटिश सरकारके प्रतिनिधि श्री व्हाइसराय होते हैं, और बराबरीके नातेसे राज्यशासन के विषयमें निर्णय कर रहे हैं, वैसी ही अवस्था, अर्थात् एक ओर सार्वदेशिकार्य प्र० सभाके अध्यक्ष और दूसरी ओर व्हाइसरॉय रहकर भारतवर्षके शासनका विचार बराबरीके नातेसे करते । श्रीस्वामिजी महाराजने जिस समय अपने आर्यसमाजकी घटना लिखी थी, उस समय उनके सामने यह दृश्य था !

क्या चाहा था और क्या हुआ?

परंतु इसमें कितनी सफलता आज प्राप्त हुई है? न्याय-सभा तो किसीभी स्थानपर कार्य नहीं करती, विद्या-सभा है, परंतु प्रायः आर्योंके युवक सरकारी युनिवर्सिटीयोंके साथ संबंध रखनेवाले कालेजोंमें हि जा रहे हैं। अदालतें तो वैसी ही आर्यवकीलोंसे भरी हैं । अन्य कार्य का तो प्रारंभ भी नहीं हुए । इस कारण श्री महात्मा गांधीजी आये और श्री स्वामिजीका उद्दिष्ट कार्य हातमें लेकर जो कार्य करने लगे, उसका फल आजकी कांग्रेसकी महत्तामें दीख रहा है ।

परमेश्वरका कार्य रुकता नहीं ।

अब इसमें से एक भी कार्य आर्यसमाजके लिये रहा नहीं । क्योंकि परमेश्वर भारतवर्षको अति शीघ्र स्वाधीन करना चाहता है । स्वामिजी को भेज कर ईश्वरने भारतके स्वतंत्र होनेका प्रोग्राम आर्यसमाजके द्वारा जनता के उद्धार करनेके लिये दिया । परंतु उसके अनुसार कार्य नहीं हुआ। इसलिये उसी ईश्वरने पुनः महात्मा गांधीजीको भेजकर वही कार्यक्रम नये सिरेसे जनताके सामने रखा । संपूर्ण बहिष्कार अब भी हो नहीं सके, तथापि जो कार्य हुआ, उससे कांग्रेस का राज्य आधेसे अधिक भारतवर्षमें हो चुका है और उसकी प्रतिष्ठाभी पर्याप्त बढ चुकी है । महात्माजीके द्वारा प्रतिपादित सब कार्य होता, तो इस समय भारतकी प्रतिष्ठा औरभी अधिक बढ जाती ।

अब यह मान और प्रतिष्ठा जो कांग्रेसको इस समय प्राप्त हो चुकी है, आर्यसमाजको प्राप्त होना, कार्य हो जाता, तो संभव था, परंतु अब असंभव है। क्योंकि उसको सबसे प्रथम मौका मिला था, तथापि उसने आपसके झगडोंमें अपना सब समय व्यतीत किया और आवश्यक कार्य कुछ भी किया ही नहीं । परमेश्वरके राज्यमें प्राप्त अवसरपर योग्य कार्य करनेवालोंकी हि उन्नति होती है ।

श्री स्वामिजी द्वारा उपदिष्ट भारतोद्धारका कार्य इतना प्रचण्ड था कि उसके शुरू होनेपर उसमें सहस्रोंहि नहीं प्रत्युत लाखों मनुष्य रातदिन कार्य करते, तो भी वह, कार्य और मनुष्योंकी अपेक्षा करता । **भारतीय जनताको अपने पांवोंपर अपने आत्मिक बलके सहारे अपनी शक्तिसे खडा करना,** यह कोई छोटा कार्य नहीं था । प्रत्येक ग्राममें तथा प्रत्येक स्थानमें पूर्वोक्त तीनों सभाओं द्वारा कार्य संपूर्ण कार्यक्षेत्रोंमें करना असंख्य मनुष्योंके अतुल आत्मसमर्पणसे ही होनेवाला कार्य था । ऋषिके मस्तिष्कसे जो अपूर्व कार्यक्रम शुरू हुआ था, वह वैसाही प्रभावशाली था । परंतु वह प्रारंभमें हि क्षीण हुआ और उसको चलानेके योग्य महान् आत्मा जैसे चाहिये थे, वैसे मिले नहीं ।

उक्त विशाल कार्यक्रमके स्थानपर आज जो कार्यक्रम बना है, वह मूर्तिपूजा न करना, श्राद्ध न करना, तीर्थ न मानना और अद्वैत न मानना, यह निषेधरूप चतुर्विध रहा है । करनेकी जिम्मेवारी किसीपर नहीं रही, और 'न करना' ही श्रेष्ठ कार्यक्रम बन गया !! श्री स्वामिजीने उक्त सभाओंकी स्थापना द्वारा 'धर्म-न्याय-विद्या-संघटनाका विधायक कार्यक्रम' करनेके लिये जनताके सामने रखा था, क्योंकि **उनको अतिशीघ्र भारतीय स्वतंत्र राज्यशासन सुस्थिर करना था।** इस मुख्य कार्यकी आतुरता तो उसके पश्चात् किसीको वैसी प्रबल नहीं रही, इसलिये आपसके वैयक्तिक झगडे खडे हुए और मांसपार्टी × घासपार्टी, कालेजपार्टी × गुरुकुलपार्टी ऐसी पार्टियां बनीं और जिस कालेजीय जीवनका श्री स्वामिजीने स्वप्नमें भी स्मरण नहीं किया, उसकी वृद्धि हुई और जिस गुरुकुलप्रणालीकी बुनियाद रखी थी, उसका पौधा नाम-मात्र प्राण धारण कर रहा है ! परंतु समर्थ परिवारके लडके कालेजोंमें हि शिक्षा पाते हैं, और गुरुकुलपरीक्षाके पश्चात् युनिवर्सिटी की डिग्री पानेकी आतुरता दीखती है । और वैसा देखा जाय तो गुरुकुल भी कालेजके मार्गपर हि आयेगा,ऐसा दीखता है, क्योंकि '**कुल का प्रेम**' बहुत थोडे स्थानोंपर रहा है, और उस स्थानपर कालेजकी 'डिसिप्लीन' प्रभावी होनेका भय बढ रहा है। अतः कहना पडता है, जो स्वामिजीने चाहा था, वह उनकी इच्छानुसार बना नहीं और जो वे नहीं चाहते थे, वही बनने पाया है ।

ऐसा क्यों हुआ ? सोचना चाहिये । पाठकों ! सोचिये ।

आर्यसमाजमें रायसाहेब, रायबहादर और सरकारी औहदेदार घुस गये, जो विदेशी सरकारके धनसे परिपुष्ट होनेवाले थे, ठेकेदार जो विदेशी राजके धनसे कारोबार करनेवाले थे, दुकानदार जो विदेशी वस्तुओं का व्यवहार कर रहे थे, इन सबकी भीड आर्यसमाजमें हो ही चुकी थी और उस भीडमें विदेशी सरकारकी अदालतों में जाकर विदेशी सरकारका कानून ठीक लोकहितकारी है, ऐसा रात दिन बोलनेवाले वकील और बैरिष्टरोंनेभी बडी भीड बढाई !

आर्यसमाज में इन लोकों की भीड बढनेसे

श्री स्वामिजीके स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य के प्रोग्राम के लिये स्थान कहां मिलनेवाला था ?

उक्त सदस्योंमें ऐसा कौन रायसाहेब होगा कि जो 'यहांसे विदेशी अंग्रेजी राज्य शीघ्र चला जावे और "आर्योंका चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र यहां हो जावे" ऐसी स्वामिजीके आर्याभिविनयमें लिखी प्रार्थनाएं प्रतिदिन करता, और तदनुसार श्री स्वामिजी द्वारा प्रवर्तित तीनों सभाओंके प्रोग्राम के अनुसार कार्य करता ? क्या कभी वकील अपना अदालतों का कार्य छोड कर न्यायार्यसभा का कार्य बढा कर अपनी आमदनी घटाना चाहेंगे ? क्या कभी रायबहादुर अपने पुत्रोंको जंगलके गुरुकुलमें १४ वर्ष बंद रखनेकी इच्छा कर सकेंगे ? क्या कभी ठेकेदार अंग्रेजों की अप्रीति होने योग्य कार्य कर सकते हैं ? और क्या ही ऐसे लोग समान शासन (Parallel Governmnt) का विचार भी मनमें ला सकते हैं ? स्व० महात्मा मुनशीरामजी अर्थात् श्री स्वा० श्रद्धानन्दजी एक ही ऐसे आत्मा थे कि जो अन्दर और बाहर से स्वामिजीके कार्य को बढानेकी चिन्ता करते थे, परंतु अकेला भद्र पुरुष क्या कर सकता है ?

कभी कोई समाज ५०।६० वर्षोंतक वैदिक धर्मके तेजस्वी जीवनमें सचमुच आकर जीवित रहता हुआ विदेशी सरकारके आधीन रह सकता है? वैदिकधर्मीके लिये- वेदका धर्म जाननेवाले के लिये दोही मार्ग खुले होते हैं,एक या तो वह अपना स्वतंत्र राज्य स्थापन करेगा अथवा दूसरा मृत्युके वशमें- स्वतंत्र स्वराज्य के लिये कार्य करता हुआ- चला जायगा और अपने जीवनको अमर बनावेगा !

श्री स्वामिजी के आर्याभिविनयमें '**आर्योंका स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र होनेकी प्रार्थना है,**' वह रायसाहेब किस तरह सिद्ध होने देंगे, और इनके कारण आर्योंमें वैदिक धर्मकी ज्योति किस तरह विशेष प्रदीप्त होती रहेगी और आचार्यजीका उद्देश्य भी किस तरह सिद्ध होगा ? श्री स्वामिजीका उद्दिष्ट कार्य सिद्ध न होनेका कारण यह है । औरभी कारण हैं, परंतु उन सबका विचार करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है ।

परतंत्रताके लिये स्थान नहीं ।

वैदिक धर्म पारतंत्र्य को सह नहीं सकता, इसी लिये **श्रीस्वामिजीके रोमरोम में और वाक्य वाक्य में आर्योंके स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र स्थापित करनेका भाव जागता था ।** आर्यसमाज स्थापन करनेका भी उद्देश्य यही था । परंतु विदेशी सरकारको अपनी शक्ति अर्पण करनेवाले बहुसंख्य लोग इस संस्थामें घुसनेसे स्वामिजी के सब कार्य जिधरके उधर हि रह गये और सब कार्य रुक जानेसे नाना प्रकारके आपसके झगडे शुरू हुए ।

स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य स्थापन करनेवाले विदेशी राजाकी युनिवार्सिटीसे अपना संबंध क्यों रखेंगे ? परंतु रायसाहेब दूसरा क्या कर सकते हैं? वकीलोंको धन न्याय-सभासे मिलनेवाला नहीं है, इस कारण उनको न्यायार्य-सभासे अरुचि होना नितान्त स्वाभाविक ही है । इसी लिये कालेज बढ गये, वकील बढ गये, रायसाहेब बढ गये, नौकर बढ गये और सब मिलकर वही करने लगे कि जो श्री स्वामिजीने कभी नहीं चाहा था।

वेदका आधार है ।

इस तरह स्वामिजीकी सब बातें बिगड गयीं, और वे ऐसी बिगड गयीं कि इसके आगे उनका सुधार कभी होही नहीं सकता; क्योंकि अब उनही कार्योंको दूसरोंने संभाल लिया है, तथापि आर्यसमाजके पास एक ही बात रह गयी है, वह है 'वेद' । यह सबके आधारकी बात है यदि यह भी सिद्ध हुई तबभी कुछ बन सकनेकी आशा है।

परंतु वेदका धर्म जानकर प्रसार करनेवाले स्वतंत्र विचारके सदस्य चाहिये । उनको तैयार करनेके लिये गुरु-कुलादि की स्थापना की गयी है । परंतु वहां भी स्वतंत्रता नहीं है । किसी बातके सिद्धान्तोंके अनुकूल या प्रतिकूल होनेका निर्णय करनेका ठेका उन्हींके पास है, जो वेदको स्वयं बिलकुल जान नहीं सकते । और ऐसी संस्था-ओंसे उत्तीर्ण होकर जगत् में आनेवाले स्नातक विद्वानों के भवितव्यका निर्णय करना कराना भी वेदानभिज्ञों की संमतिपरहि सर्वथा निर्भर है । वेदका अध्ययन किये विना और आद्योपान्त वेदको समझनेके विना ही यहां

हरकोई जान सकता है, कि यह वैदिक सिद्धांतके अनुकूल है या प्रतिकूल !!! आर्यसमाज, प्रतिनिधिसभा और सार्वदेशिक सभामें बहुसंमतिसे निर्णय होता है और वहां बहुसंख्या तो वेद न जाननेवालों की ही है। और वे अपने अंतःकरण से निश्चयपूर्वक समझते हैं कि हम वैदिक सिद्धांतों को समझते हैं, यद्यपि हम वेद आद्योपान्त नहीं समझते!! इससे हमेशा यह हो रहा है कि, जो विशेष विद्वान् होकर वेद की खोज (Research) करने लगते हैं, वे ही बहिष्कृत होते जाते हैं। और जो लोगों की हां में हां मिलाते हैं, वे प्रतिष्ठा पाते रहते हैं। इस कारण विद्याकी वृद्धि रुकी है और ज्ञान की प्रगति होना असंभव हो चुका है, यही इस समयकी स्थिति है।

पं० विश्वबंधुजी जैसे रिसर्च स्कॉलर अलग हुए, पं० रघुवीर जी स्वयंहि अलग रहे, पं० भगवद्दत्तजी कालेज के रिसर्च-विभागसे चले गये, नया कोई रिसर्च करने के लिये आगे नहीं आता, क्योंकि वह देखता है, कि दूसरों की मिट्टी किस तरह पलीत हो रही है, मैं क्यों अपनी जान खतरे म डालूं?

श्री० स्वा० सत्यानन्द जैसे पवित्र उपदेशामृत की वृष्टि करनेवाले 'जपयोग' का प्रचार करने के कारण अर्थात् एक सत्य वैदिक मार्गका उपदेश देनेके कारण हटाये गये, वहां उनसे कमशक्ति रखनेवालों को कौन पूछता है? परन्तु पूजा तो उनकी होती है, कि जो पं० बुद्धदेवजी जैसा श्री० स्वामि जी के चित्रपर भरी सभा में लाथ मारता है, वह धर्म का मेरु समझा जाता है। वेद की खोज इस तरह एक भय का विषय हो चुका है और वह संमान का विषय होने की कोई आशा दिखाई नहीं देती।

खोज करनेवालों को स्वतंत्रतापूर्वक खोज करने देने से हि ज्ञान की वृद्धि हो सकती है। वह तो यहां असंभव ही हो चुका है। स्तब्ध जल (Stagnant water) हो चुकने पर वह सडने लगता है, वह अवस्था आ चुकी है। श्री स्वामिजी ने यह सब पहिलेहि जान लिया था, इस लिये उन्होंने 'सत्यका ग्रहण और असत्य का त्याग करनेके लिये सदा उद्यत होना चाहिये।' ऐसा नियमहि बनाया और 'बाबावाक्यं प्रमाणं' न मानो, विविध प्रमाणोंसे जो सत्य सिद्ध हो, वही स्वीकार करो, ऐसा असंदिग्ध शब्दों से वारंवार कहा था। परंतु वह बात अब जाती रही और श्री स्वामिजी के पश्चात् भी जो उनके नामपर छापा जा चुका है, उसके अक्षर अक्षर को मानना चाहिये, ऐसा कट्टर पन्थ शुरू हो चुका है।

इस का परिणाम 'दयानन्द-पन्थ' बन जाने में अति शीघ्र होनेवाला है, जो उद्देश्य श्री स्वामिजी का कभी भी नहीं था।

इसलिये जो समझते हैं, कि वेद के धर्म की जाग्रती करना ही केवल एक मात्र कार्य अब अपने पास शेष रहा है, अन्य सब कार्य जो आचार्यजीने शुरू किये थे, वे सब नष्ट हो चुके हैं, उनको वेद के शुद्ध शास्त्रीय रीतिसे अध्ययन होने के लिये क्या करना चाहिये, इस विषयका हार्दिक धर्मभाव से विचार करना चाहिये।

वेदकी खोजका मार्ग।

जिनका धर्म 'वेद' के द्वारा प्रतिपादित है, उनको उचित है कि सब से प्रथम अपने धर्मग्रंथोंकी अति शुद्ध पुस्तकें सुंदर छापकर सस्ते से सस्ते मूल्य से देने का प्रबंध करें। इन ग्रंथोंका पाठनिश्चय शास्त्रीय परंपराका विचार करके तथा पाठनिश्चयका जो शास्त्र है, उसके अनुसार करना चाहिये। प्रत्येक पद का और प्रत्येक अक्षर का तथा उदात्तानुदात्तादि स्वर का उत्तरदायित्व प्रकाशकों पर होना चाहिये। किसी भी कारण इन धर्म-ग्रंथोंमें-वेद के ग्रंथों में-एक भी अशुद्धि नहीं रहनी चाहिये।

संपूर्ण उपलब्ध शाखासंहिताएं और संपूर्ण ब्राह्मण और आरण्यकोपनिषद्ग्रन्थ भी उक्त प्रकार शुद्ध, सुंदर और सस्ते छापने चाहिये। उन में प्रकरणविभाग के शीर्षक योग्य रीतिसे देकर, ये सब ग्रंथ मुद्रित होने चाहिये।

इस तरह संपूर्ण संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ये सब ग्रंथ शुद्ध, सुंदर, सस्ते मुद्रित होने के पश्चात् उनकी विविध प्रकारकी सूचियां बननीं चाहिये। जिससे ग्रंथ लेतेहि इसमें यह विषय इस स्थानपर है, इसका झट् पता लगेगा और अभ्यासकको सुविधा होगी। ऐसी सूचियां इन सब ग्रंथों की बननी चाहिये।

इसी तरह वेदब्राह्मणारण्यकोपनिषदोंका वाक्यकोश भी अवश्य ही बनना चाहिये। जैसा उपनिषद्वाक्य कोश बना है, जिसमें एक एक शब्दवाले वाक्य एक स्थानपर मिल सकते हैं, वैसा कोश वेद और ब्राह्मणोंका बनना चाहिये। ये कोश जैसे Bible के अनेकविध concordence बने हैं, वैसे अनेकविध बनाने चाहिये। जिससे अभ्यासक का समय व्यर्थ खर्च न होते हुए सब खोज करने की सामग्री खोजकर्ता के सम्मुख तत्काल उपस्थित हो सकेगी, और योग्य रीतिसे खोज हो सकेगी।

इसके पश्चात् सब स्मृति, सब सूत्रग्रंथ, श्रौत और गृह्य सूत्र, सब अंगोपांग ग्रंथ, तथा इतिहासपुराण, तंत्रग्रंथ तथा अन्यान्य आगमादि ग्रंथ शुद्ध और सस्ते मुद्रित होने चाहिये और इन सबकी सूचियां भी बनानी चाहिये, जिससे इसमें यह बात इस स्थानपर है, इसका पता शीघ्र लग जाय।

कई यहां पूछेंगे कि इतिहासपुराणों की हमें क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'

अर्थात् इतिहास और पुराणोंसे वेद के तत्वकी व्याख्या करनी चाहिये। कई वैदिक सूक्तों के अनुवाद इन ग्रंथों में हैं, वेद का आशय जानने के लिये उनको देखना आवश्यक है, कई वेदमंत्र के आधारपर अनेक कथाएं इन ग्रंथोंमें रचीं गयीं हैं, कई तत्वज्ञान वेद के आधार से फैले हुए हैं, इनकी खोज होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे आगे की खोज का मार्ग खुला हो सकता है। इसलिये इन सब ग्रंथों का मुद्रण होना वेदकी खोज के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
(श्री० भागवत)

वेद का अर्थ दर्शाने के लिए हि महाभारत रचा गया है, अतः किस तरह उसमें वेदार्थ बताया है, इसकी खोज करना अत्यंत आवश्यक है। कूपमण्डूकवृत्ति से वेदका तत्वज्ञान कदापि ज्ञात नहीं हो सकता है। जो कूपमण्डूकवृत्तिसे रहना चाहते हैं, वे वैसे रहें। परंतु जिनको वैदिक धर्मका प्रेम है, उनको शास्त्रीय दृष्टिसे खोज करने के कार्य में अपने आपको समर्पित करना चाहिये।

वेदकी खोज के संबंध में एक स्वतंत्र निबंध लिखना चाहिये। इतना गंभीर यह विषय है। यह कोई ऐसा ही होनेवाला कार्य नहीं है। एक एक बात के लिये पहाडों के पहाड ढूंढने पडते हैं। जिन लोगोंको इन परिश्रमोंकी कल्पना है, वेहि इस कार्य के महत्व को जान सकते हैं।

जो ग्रंथ मुद्रित हुए हैं, उनका भी संशोधन करके उनमें जो अशुद्धि हो, उसको बाहर निकालना चाहिये। व्रण के अन्दर शल्य रहने से वह व्रण कदापि ठीक नहीं होता है। ऐसा ही ग्रंथोंकी शुद्धता के विषय में है। ग्रंथ तो 'संशोध्यं व्रणिनोंगवत्' ग्रंथ का संशोधनव्रणका शुद्धता के समान करना चाहिये। किसी ग्रंथ का शुद्ध पाठ निर्धारित करने के अनेक साधन हैं, उन में ये प्रमुख हैं—

१. हस्तलिखित ग्रंथों की तुलना करना,
२. मुद्रित ग्रंथों की सहायता लेना,
३. कण्ठ करनेवालों का सहाय लेना, तथा
४. अन्यान्य ग्रंथों में यदि उद्धरण हुए होंगे, तो उनका विचार करना।

पाठनिश्चय का आजकल एक पूर्ण शास्त्र बन चुका है, उन सब नियमों का सहाय लेना अत्यंत आवश्यक है। ऐसी सावधानी से जो ग्रंथ हम मुद्रित करेंगे, उस का मूल्य जगत् के संपूर्ण विद्वानों में होगा। अन्यथा वह ग्रंथ पंथाभिमानी और मतवालेहि कदाचित् क्षणमात्र मानेंगे। हमें कोई कार्य अधूरा नहीं करना चाहिये। जो शास्त्र इस समय है, उसका पूरा पूरा उपयोग करके शास्त्रशुद्ध मार्गसेहि चलना चाहिये।

लिखित ग्रंथालय।

उक्त वर्णन से पाठकों के मनमें यह बात आ चुकी होगी, कि आगे चलकर शास्त्रीय दृष्टिसे वेदोंकी खोज करनेके लिये जो शुद्ध ग्रंथों का मुद्रण करना अवाश्यक है, उसके लिये हमारे पास एक बडा और विश्वस्त हस्त-

लिखित ग्रंथों का महान् पुस्तकालय चाहिये। ये ग्रन्थ सुरक्षित रखनेके लिये पर्याप्त व्यय करना होगा। और भारतवर्ष में स्थानस्थानपर जा जाकर हस्तलिखित ग्रंथ लाने के लिये मनुष्य और धन इतना चाहिये कि जिस का विचार सामान्य मनुष्य कर ही नहीं सकता।

व्यय के अंदाजा के लिये हम यहां कह सकते हैं, कि ऐसे जल और अग्नि के भय से रहित मकान बनाने के लिये कम से कम एक लाख रु० लगेगा, और नानाविध हस्तलिखित ग्रंथों का सुयोग्य पद्धतिसे संग्रह किया जाय, तो दस लाख रु० भी थोडे ही होंगे। क्योंकि किन ग्रंथोंको कितना रुपया पडेगा, इसकी कोई कल्पना नहीं, और किस समय कितने ग्रंथ मिलेंगे, यह भी कोई नहीं कह सकता। भारतवर्ष में इतने ग्रंथ अभी तक छिपे पडे हैं कि उनको प्राप्त करना भी लाखों रुपयों के व्यय का कार्य है।

ग्रंथों की खोजके लिये ग्रामग्राम और घरघर में घूमनेवाले भी विद्वान् लोग चाहिये। साधारण अनाडी का यह कार्य नहीं है। उनको धन भी पर्याप्त चाहिये, धन दिये विना घरसे कोई ग्रंथ बाहर कोई भी दे नीं सकता। मान लीजिये कि आपने दस विद्वान् ग्रंथसंग्रह करने के लिये नियुक्त किये, तो उनका वेतन, प्रवास का व्यय, ग्रंथ खरीदने का व्यय, पुस्तकालय के स्थानपर सुरक्षित भेजने का व्यय, वहां सुव्यवस्था से रखने का व्यय, वहां के विपेश विद्वान् ज्ञाता पुस्तकाध्यक्ष का वेतन, पुस्तकालय के कर्मचारियों का वेतन, यह सब मिलकर प्रतिमास हजारों रु० का व्यय होगा, तो ही यह ग्रंथसंग्रह बन सकेगा। यह कोई विनामूल्य होनेवाला कार्य नहीं है। लाखों रु० खर्च करने पर भी और अधिक खर्च करने की आवश्यकता इसमें होगी।

परंतु यह अत्यंत आवश्यक कार्य है। वेदकी खोज के लिये इसके विना एक पांव भी आगे बढाया नहीं जा सकता। इतने महत्त्व का यह विषय है। अज्ञानी और शास्त्र को न जाननेवाले इसको समझ हि नहीं सकते, इसलिये इस कार्य के लिये उनसे धन मिलना असंभव है। ज्ञानी लोगों के पास धन नहीं होता, इसलिये उनसे धन खडा नहीं हो सकता। यही कठिनता है। धन के विना लिखित ग्रंथालय बनेगा नहीं, धन के विना चलेगा नहीं, अज्ञानियों से धन मिलेगा नहीं और ऐसा महान् लिखित ग्रंथालय न हुआ, तो शुद्ध ग्रंथ छापना और खोज करना असंभव है। ऐसा यह अन्योन्याश्रित विषय है। इसकी कुछ कल्पना पाठकों को हो, इसलिये यह यहां लिखा है, जो नहीं समझते उनको इस का महत्त्व समझाना भी अशक्य है। अस्तु।

वेद की खोज करने के लिये इतनी सामान्य तैयारी भी नहीं हुई है। फिर खोज कहां की? वेद का ठीक ठीक अर्थनिश्चय करना तो एक दूरकी बात है। वेद में इतने विविध विषय हैं कि उन सब विषयों का ज्ञान आजहि हरएकको होना कठीन है। वेदमें कई प्रकारकी चिकित्साएँ लिखी हैं। उनकी परिभाषा विभिन्न होती हैं, इस लिये जो पण्डित अर्थ करने लगता है, वह अपने अज्ञान के कारण उस को ठीक तरह खोल नहीं सकता। इस तरह के किसी अर्थलेखक ने अथर्ववेद का अर्थ करने के समय 'मूत्र' शब्द का अर्थ (सब शब्द ईश्वरवाचक हैं ऐसी कुछ विचित्र कल्पना करके) 'ईश्वर' अर्थ किया था। परंतु उस मंत्र में मूत्ररोगचिकित्सा का विषय था। अतः वैद्यक ज्ञान के विना वह सूक्त या मंत्र खुल नहीं सकता। इसी तरह युद्धविषयक और सेनाव्यूहविषयक मंत्रोंको खोलना युद्ध-विषय को जानने के विना हो नहीं सकता। इसी लिये एक एक विषय के पण्डित इकट्ठे मिलकर वेदकी खोज करनी चाहिये। और उनको सब साधन मिलने चाहिये, और उनके मन परवश भी नहीं रहने चाहिये।

वेदकी खोज का विषय इतना गंभीर है। पूर्वग्रहदोष से यहां कार्य चलनेवाला नहीं और जिनमें यह दोष रहेगा, वे अर्थ का अनर्थ भी करेंगे। इस कारण इस दोषसे बचना अत्यंत आवश्यक है।

श्रीस्वामिजी महाराजने जो सार्वभौमिक भारतोत्थान का कार्यक्रम तैयार किया था, उसका तो उन के अनुयायियोंने पूर्ण विध्वंस किया ही है। अब एक वेद की बात उस कार्यक्रम में से शेष रही है, वह करने के लिये इतना प्रयास करना

आवश्यक है। परंतु वह बनेगा कैसा, यह हमारे समझमें नहीं आता। क्योंकि जो खोज करने लगता है, वह बहिष्कृत होता है। इसलिये पता तो ऐसा ही लगता है कि यह वेदविषयक कार्य भी ठीक शास्त्रीय पद्धति से होना कठीन है। और यदि सचमुच यही परिस्थिति और विचारों की गुलामी और मतवाद की कट्टरता रही, तो यह कार्य भी निःसंदेह नहीं होगा, और सचमुच यह भी न हुआ, तो श्री स्वामिजीने जो कार्य शुरू किया था, उसमें से एक भी नहीं हो सका, ऐसा ही सिद्ध होगा। सोचिये कि कितना दुर्भाग्य है।

ऋषिका उपहास।

ऋषि वह होता है कि जो सब से पहिले उन्नतिका सच्चा मार्ग स्पष्ट देखता है और उस मार्ग से जाओ, ऐसा कहता है। श्री स्वामी दयानन्दसरस्वतीजीने भारताभ्युत्थानका सच्चा मार्ग सबसे पहिले देखा, कहा और उस मार्गपरसे चलकर अपना साध्य प्राप्त करने की रीति भी बता दी। इसलिये उनको ऋषि कहना योग्य है। परंतु जो लोग उन के बताये मार्ग पर से बिलकुल चलना नहीं चाहते, प्रत्युत विरुद्ध ही चलते हैं, उन के आदेश के अनुसार चलने के इच्छुक भी नहीं हैं, उनकी **'आर्यों का चक्रवर्ती राज्य शीघ्र स्थापित करनेकी प्रार्थना भी प्रतिदिन नहीं करते,'** तीन सभाओंका कार्य नहीं करते, स्वदेश की गुलामी और परतंत्रता बढानेवाले विदेशी राजा के प्रबंधमें नौकरियां करते, पेनशनें खाते, पदवियां धारण करते, उनकी युनिवर्सिटीयोंके कॉलेजों में स्वयं पढते पढाते और अपने पुत्रों को भेजते हैं, विदेशी वस्त्रादि परिधान करते, अपनी पंचायतें न करते हुए सरकारी अदालतों में जाते और उस धंधे से धन कमाते, विदेशी वस्तुओं का व्यवहार करके धन कमाते, वेद का अध्ययन नहीं करते, न करने देते, न सहायता करते हैं, और ऐसा विरोधी आचरण करते हुए उस पवित्रात्मा ऋषिके नाम का योग्य समय में तथा अयोग्य समय में गजर करते रहते हैं, क्या इस नामजप से उस ऋषि का अपमान और उपहास नहीं होता है? **'ऋषि दयानन्द की जय'** ऐसा कौन कहे? जो उनके आदेशानुसार चलता है, वह कहे; उनके आदेशानुसार न चलनेवाले जयजयकार करेंगे, तो उनसे पूछना चाहिये, जय तो तब होगी जब उनका कार्य चलता रहेगा, और सर्वांगसंपूर्ण कार्य होता रहेगा। हमारे विचार से उनके अनुयायियोंने हि इतना उनके विरुद्ध आचरण किया है कि उनका सर्वांगसंपूर्ण कार्यक्रम अब इनसे होना असंभव है, और जो वेद का कार्य अबतक उनके हाथों में रहा है, वह भी स्वतंत्र खोज की अभाव में होगा, ऐसा दीखता नहीं। इस लिये जय कैसी होगी? और भारतवर्ष के बाहर ओंकार का झेंडा कब जायगा, जब अनुयायियों के हृदयों में भी ओंकार सुस्थिर नहीं रहा?

पाठक पूछेंगे कि अनुयायियों के हृदयों में ओंकार का झेंडा खडा नहीं हुआ, इसका प्रमाण क्या है? क्या ये प्रमाण देने चाहिये? पंजाब और युक्तप्रांत में हिंदी भाषा और देवनागरी अक्षरों का भी राज्य अभीतक नहीं हुआ, तो देवभाषा-संस्कृतभाषा-का राज्य कहां होना है? अभीतक ये लोग अपसव्यगामी उर्दू से भी बाहर नहीं आ सके, वे संस्कृत का उद्धार क्या करेंगे? गुरुकुलों में २० और २५ वर्षों तक बडेबडे स्थानोंपर विराजमान होने पर भी संस्कृत भाषा में प्रविष्ट नहीं होते, प्रतिनिधि-सभा में भी रहते हुए उर्दू को नहीं छोडते, वे संस्कृत से क्या करेंगे? और जो ६० वर्षों में संस्कृत अपना नहीं सके, वे वेदभाषा से क्या व्यवहार करेंगे?

जिनके हृदयों में सचमुच ओंकार का निवास हुआ है, वे छः मासोंके अन्दर हिंदी का व्यवहार कर सकते हैं और एक वर्ष के अन्दर संस्कृत में प्रविष्ट हो सकते हैं। संपूर्ण भाषाओं से संस्कृत भाषा सुगम है। उर्दू, हिंदी, मराठी, गुजराती से भी संस्कृत सुगम, सुबोध और शीघ्र साध्य होनेवाली है। ऐसी सुगम और सुबोध भाषा में-देववाणीमें- जो ५०।६० वर्षों में भी प्रविष्ट नहीं हो सके, उन के हृदयों में ओंकार का निवास कहां? श्री स्वामिजी की जन्मभाषा गुजराती थी, संस्कृत उनकी गुरुभाषा थी, परंतु अपने राष्ट्रोन्नति के कार्य के लिये जब उन्हों ने देखा कि आर्यभाषा की आवश्यकता है, तब उन्हों ने ४ महिनोंमें हिंदी सीखी और वेदभाष्य तक उस में लिखा।

कौन ऐसा है कि जो प्रतिदिन आधा घण्टा प्रयत्न करेगा, तो एक साल के अन्दर संस्कृत भाषा में प्रविष्ट नहीं हो सकेगा? यदि सब लोग संस्कृत जान जायंगे, तो पण्डितों में सच्चा कौन और धोखा देनेवाला कौन, इसकी परीक्षा वे तत्काल कर सकेंगे। परंतु इस के लिये अन्तःकरण में तीव्र उत्सुकता चाहिये। वह कहां है ?

धार्मिक संस्था ।

संपूर्ण जगत् की धार्मिक संस्थाओं की स्थिति देखिये, युरोप-अमेरिका के सब देशों में 'मिशन सोसायटीज' हैं। परंतु उन के सब सदस्य उनके धर्मपुस्तक को आद्योपान्त जाननेवाले होते हैं, एक भी प्रबंधकारिणीका सदस्य धर्मग्रंथका अनभिज्ञ नहीं होता। मुसलमानों के धर्म-प्रचारक संस्था के सदस्य भी उनके धर्मपुस्तक का आद्योपान्त अध्ययन करनेवालेहि मौलवी होते हैं।

परंतु यहां देखा जाय, तो प्रतिनिधिसभाओं के सदस्यों में आद्योपान्त वेद के ज्ञाता कितने हैं? जो स्वयं नहीं जानते, वे वेदज्ञान की कठिनताओं को कैसे जानेंगे? हल करनेके उपायोंको कैसे सोचेंगे? आगे क्या करना चाहिये, इस का ज्ञान उसको कैसा होगा?

प्राचीन कालसे चली आयी प्रथा यह है, कि वेदशास्त्रज्ञहि धर्मसभा की प्रबंधकारिणी का सदस्य हो, एक वेदज्ञ भी सहस्रों अनभिज्ञों की अपेक्षा अधिक मूल्य की संमत्ति दे सकता है। मनुने जो कहा है, वह यौंहि नहीं कहा। जबतक यह प्राचीन पद्धति प्रचलित थी तबतक वैदिक धर्म अस्ताव्यस्त नहीं हुआ था, और जिस समय वेदशास्त्रज्ञ स्वयं प्रबंधकारिणी सभाके सदस्य होंगे, उसके पश्चात् कोई कठिनता ही नहीं रहेगी।

सच्चा विघ्न वैदिक धर्म की प्रगति में यदि किस जगह है, तो वह अज्ञानियों के हाथों में ज्ञानियों की गर्दनें गई हैं। यह विघ्न दूर हो गया, तो सब ठीक हो जायगा।

हमारी दृष्टि ।

हमारी दृष्टीमें आर्यसमाजद्वारा संचलित गुरुकुल संस्थाएं तथा अन्य संस्थाएं उनके सुयोग्य स्थानपर विराजती हैं। श्री० स्व० ला० लाजपतराय, श्री० स्व० स्वा० श्रद्धानंदजी महाराज, श्री महात्मा हंसराजजी तथा अन्यान्य महापुरुषों का अतुल स्वार्थत्याग हमारे सामने है। पूर्वाश्रम के ला० मुनशीरामजी वकील होते हुए भी गुरुकुल स्थापना के लिये कालेज पार्टी से किस तरह झगडते थे यह सब हमारे आंखके सामने है। तो भी जब सामूहिक तौरपर आर्य के सुपुत्र विदेशी सरकार के कालेजों में जा रहे हैं, वकील और बैरिष्टर आर्य कहलाते हुए अदालतों में जा रहे हैं, आर्यों के मुकदमें अदालतों में चले जाते हैं, तब दुःख से पता लगता है, कि श्री स्वामिजी की सदिच्छा सफल होने में विघ्न कहांसे हुआ है। वही यहां दर्शाया है। कई अपवाद होंगे तो वे नियमकी हि सिद्धि करेंगे।

आज रिसर्च करनेवालोंके उपर बहिष्कार डाला जा रहा है, कट्टरता बढाने के लिये यह आवश्यक समझा जा रहा है, परंतु इससे भय यह है कि जो श्री स्वामिजी के कार्य की एकही बात-'वेद' हमारे पास शेष रही है वह भी हमारे हाथों में नहीं रहेगी।

सोचनेवाले सोचें, करनेवाले करें। नहीं तो जो बननेवाला है, वही बनेगा। **शास्त्रीय सत्य अस्वाभाविक दबावसे दब नहीं सकेगा।**



कुछ विचारणीय पत्र

ता० १५-८-३८

श्रीमान् माननीय पण्डितजी,

सादर प्रणाम!

आपकी भेजी हुई ऋग्वेद-संहिता और यजुर्वेद-संहिता सुरक्षित रूप में प्राप्त हो गई हैं। आप की इस कृपा के लिए गुरुकुल-विद्यामंदिर आप का अतिशय अनुगृहीत है।

आपका वेदोंके शुद्ध मुद्रणका पुरुषार्थ अति अभिनन्दनीय है। हम सब आप के कार्य की पूर्ण सफलता चाहते हैं।

बहुत से लोग आप के कार्य के विषयमें यद्वातद्वा लिखते बोलते रहते हैं। करने योग्य काम करना नहीं और करनेवाले को निरुत्साहित करने का प्रयत्न करना! ऐसी उनकी वृत्ति हो गई है।

आप अपने कार्य पर आरूढ रहिये! हमारे मन आपके साथ है।

सब कुलवासी आपको प्रणाम करते हैं।

विनीत

शंकरदेव

मंत्री-गुरुकुल, सूपा। (नवसारी)

शास्त्रार्थके विषयमें

कभी भी मौखिक शास्त्रार्थ नहीं करें। उसका फल कुछ नहीं।

आपने अपना विचार विस्तार से लिख दिया है-ऋषि-देवता-छन्द के विषय में, जिससे सब विचार कर सके।

अब पं० ब्रह्मदत्तजी का भी धर्म था, कि वे अपना सब कथन मासिक में प्रकट करते, जिससे सबको विचार करने का पूरा अवसर मिलता और आपके विचार के साथ तुलना कर सकते। परन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं। कारण क्या? मौखिक शास्त्रार्थ के लिये भी आग्रह क्यों?

हां, वे विद्वान् हैं। अपनी रीतभातसे घमंडी प्रतीत होते हैं। छिद्रान्वेषी हैं, ऐसा मालूम होता है। वहां उनकी एक टोली बन गई है। इसलिये शास्त्रार्थ नहीं करना अच्छा है।

आजतक किसीने नहीं किया, ऐसा सार्वजनिक महायोग्य काममें आप लगे हैं, उसमें बाधा डालने का वे प्रयत्न करते हैं। ईर्षा बडी बुरी चीज है। उनको कुछ काम करने का नहीं है। आप अपने काम में ही दत्तचित्त रहें। उनकी उपेक्षा करें। जो करना हो, वह वे भले ही करें। अन्य दो वेद छप चुकने पर शास्त्रार्थ का विचार रखें।

अध्यक्ष के जो तीन नाम आपने दिये हैं, वे ही रहें। क्या वे असत्यवादी हैं? दो तो आर्यसमाजी ही हैं। एक विशेष बात-आप काशीनगर का नाम शास्त्रार्थ के स्थल के लिये देवें और वहां के धुरन्धर पंडितों के भी नाम देवें।

यह कार्य सबके हितके लिये है। इसलिये जहां विद्वान नहीं वे नगर क्यों पसन्द करें?

अंतमें- हालमें ऐसे झगडे में मत पडें। अपने पवित्र कार्य में हि लगे रहे। बस-इतना बस है।

नारायण दलपतिराम भगत, अहमदाबाद।

'सामगायन'।

श्रीमान् पूज्यवर पंडितजी; सादर नमस्ते।

सर्वप्रथम मैं जो यह पत्र आप की सेवामें भेज रहा हूं, जिज्ञासु के रूप में, न कि आक्षेप।

सामवेद के गान को किस तरह से गाया जाय, यही अभी तक किसी भी भाष्यकारने स्पष्ट नहीं किया। स्वामी तुलसीरामजी तथा पं० जयदेवजी विद्यालंकार अपने भाष्यकी भूमिका में स्पष्ट नहीं लिखते। वे यही लिखते हैं कि नारद-संहिता गन्धर्ववेद आदिसे पता चल सका है। और आपके यहां से भी जो 'वैदिक धर्म' का विशेषांक निकला उसमें भी पूर्णतया स्पष्ट नहीं लिखा, नारदीय शिक्षा का आधार लिया है।

प्रथम-उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

(१) उदात्त में निषाद और गंधार (२) अनुदात में ऋषभ धैवत (३) स्वरित में षड्ज, पंचम, मध्यम। यह स्वर माने गये हैं, ऐसा सब भाष्यकारों का मत है।

(१) निषाद और गंधार दो होते हैं। शुद्ध और कोमल कौनसा स्वर निश्चय है, जिसको उदात्त में काम में लावें। शुद्ध या कोमल इसी तरह से अनुदात को भी। स्वरित में तो षड्ज, पंचम एक ही है, मध्यम तीव्र लगता है। कौनसा मध्यम, यह स्वर निश्चित नहीं खाली लिखने से कि इसको उदात्त अनुदात स्वरित कहते हैं। यह तो एक एक का अनुकरण दूसरे ने किया, वंशपरंपरा की लेखनशैली हुई। निश्चयात्मक नहीं कि इसी तरह गाना चाहिए।

(२) हरएक मंत्र में १. २. ३. अंक उपरको लिखे रहते हैं और कहीं कहीं क, र शब्द भी लिखे रहते हैं, इनको क्या काम में लाना चाहिये या कैसे इनका उपयोग सामगान में करना चाहिये, यह भी नहीं बताते। हां हर एक यह लिखते हैं, 'गोतम ऋषि इस प्रकार गाते हैं।' 'कश्यप ऋषि इस प्रकार गाते हैं।' परन्तु यह अभीतक किसी ने नहीं लिखा कि गोतम ने उदात्त में यह स्वर निश्चय किया और १. २. ३. वा २. ३. ४ या क. र इनमें यह स्वर या यह मात्रा निश्चय करके गाया। मात्रा की गिनती भी किससे निश्चय की। किसी वाद्य से या कि और? और मात्रा किसको कहते हैं? इत्यादि इत्यादि अभीतक किसीने स्पष्ट नहीं किया, वही वंशपरम्परा की लेखनशैली काममें लाई जाती है। सामगान निश्चय नहीं, जिसकी इच्छा हो जैसे गाये, स्वरसहित या बेसुरा-। आपके यहां वेद छप रहे हैं और ऐसा भी मालुम हुआ है कि कई एक विद्वान् चारों वेदों के आपके यहां हैं। और महाराष्ट्र संगीत-प्रधान देश है। क्या आपके यहां विद्वानों में कोई ऐसा सामवेदी है, जो स्वर ताल सहित (वाद्य के साथ) सामवेद गा सकता है और मेरी शंका को निवारण कर सकता है? यदि हो तो मैं आकर उन महानुभाव से सामगान सीखूं।

मै मुंबईप्रदेश आर्यप्रतिनिधिसभा आणंद में (जिसके मंत्री बापुभाई, कु० पटेल मंत्री हैं) प्रचारक का कार्य करता हूं और साथ साथ वेदोंका भी प्रचार करताही हूं। मंत्रीजी के कथनानुसार ग्राहक बनानेकाभी प्रयत्न करता हूं। मेरी इच्छा कई दिनोंसे सामगान सीखने की है, परंतु अभीतक पद्धतिपूर्वक सामगान सुनने में नहीं आया जहां जहां (भावनगर आदिमें) भी सुना बेसुरा सामगान ही सुना। सामवेद आप के यहां सुरीला सामगान कोई जानता हो? तो मुझे भी अमूल्य लाभ मिले।

आपसे प्रार्थना है कि इस कमी को जो अभी तक सामगानकी पद्धतिको स्पष्ट करके वेद जो छप रहे हैं, उसमें पूर्ण रूप से किसी गायनाचार्य की सहायतासे पूर्ण करेंगे।

आशा है पत्रोत्तर देने की कृपा करेंगे। योग्य सेवा

ओ३म् शम्।

आपका कृपाकांक्षी

कन्हैयालाल आर्य

C/O आर्य- समाज, आणंद

(इसी अंक में दूसरे स्थानपर सामवेदगान कैसे गाने चाहिये, वह दिया है। यदि ये महाशय जनवरी में यहां औंध आवेंगे, तो उनको सामगान की पद्धति सिखायी जा सकती है। —संपादक)

देशप्रेम।

[लेखांक २ रा+]

(लेखक- श्री० पं० रामावतार विद्याभास्कर, पो० रतनगढ, जि० बिजनौर, यू. पी.)

समाज अपने मनुष्योंका 'सामूहिक प्रतिनिधि' है। मनुष्य अपने समाज का 'आंशिक प्रतिनिधि' है। जो अपने को समाज से पृथक् समझता है, उसका समाज उसके हृदयको लाभ नहीं पहुंचा सकता। ऐसे मनुष्यों का समाज वृथापुष्ट और हृदयहीन मांसपिंडों का झुंड होता है। अपने हाडमांसको ही सब कुछ माननेवाले, और इनपर ही अपना संपूर्ण बुद्धिबल निछावर करनेवाले समाज के मनुष्य उसके हृदयहीन, वृथापुष्ट, मनुष्यनाम पाने के अयोग्य, निर्जीव तथा निकम्मे अंग होते हैं।

परन्तु जो उदार मनुष्य, अपने स्वरूप, व्यक्तित्व, प्रतिष्ठा, और जीवनधारण करने के श्रेष्ठ अभिप्रायको (अर्थात् सृष्टिरचना के मूलभूत भागवत-प्रयोजन को) ममता नाम की राक्षसी बुद्धि के बन्धन से छुडा लेंगे, जो स्वतंत्र कल्याणमयी दैवी शक्ति के धनी बन जांयगे, जो समाजों का निर्माण करनेवाली ईश्वरीय विराट् कर्मशक्ति के साथ प्रत्येक मनुष्य की एकताको पहचान लेंगे और अपने कल्याण को समाजके कल्याण के साथ अच्छेद्य रूप में बांध लेंगे, वे हृदयवान्, सजीव, प्रतिष्ठित और जीवनधारण के अभिप्रायको पूरा करनेवाले कहायेंगे। ऐसे मनुष्यों से बना हुआ समाज भी ऐसा ही होगा और 'हृदयवान् समाज' कहायेगा। 'हृदयवान् समाज' अपने मनुष्यों को क्षुद्रता के बन्धनों से छुडा लेगा, और उन बन्धन-मुक्त मनुष्यों की दैवी शक्ति से स्वयं भी शक्तिमान् बना रहेगा। परन्तु हृदयहीन समाज अपने मनुष्यों को व्यक्तिगत स्वार्थोंके बन्धनों में रहना सिखायेगा और उनकी बन्धन में रहने की मनोवृत्तिसे स्वयं भी बद्ध रहेगा। ऐसा समाज स्वार्थी मनुष्यों की स्वार्थबुद्धिका विशालकाय प्रतिनिधि बन जायगा। वह रिशवत देकर जीवन बिताने वाली राक्षसी शक्ति बन जायगा।

दैवी शक्ति से संपन्न समाज अपने मनुष्यों को निजी संपत्ति संग्रह करने के धोके से बचाकर दुर्बल मनुष्यों की कुचेष्टाओंसे मुक्त रहना सिखायेगा। वह उन्हें स्वतंत्र, अनन्त और अदम्य शक्ति रखनेवाले, समाजसेवक तथा विमल आनन्द के मालिक बनायेगा। परन्तु राक्षसी समाज अपने दुर्बल मनवाले मनुष्यों को निजी धन की रक्षा के धोके में फंस लेगा। वह उन्हें शोषण करनेवाली राक्षसी शक्तिको घूस देना और देकर जीवित रहना सिखायेगा। वह अपने मनुष्यों को निजी धन और स्वजनों के मोह की वेडियों से जकड-कर, उन्हें दुर्बल, पुरुषार्थहीन आत्मरक्षामें असमर्थ भारवाही गधे बनाकर, राक्षसी समाज के स्वार्थरूपी बोझे को ढोनेवाले यन्त्र बना लेगा और उनसे निराशापूर्ण पराधीन जीवन कटवायेगा।

मनुष्य के विधाताने उसे रीते हाथों संसार में नहीं भेजा। उसने प्रत्येक मनुष्यको, राक्षसी समाज की राक्षसी नीति को पददलित करके शक्तिमान रहनेवाले अचूक अस्त्र से सुसज्जित करके भेजा है। पृथिवी के संपूर्ण भागों में जन्म लेनेवाले मनुष्य इस शक्ति को अपने साथ लेकर आते

+लेखांक १, वैदिक धर्म क्रमांक २२५ पृ० ७१५ देखिये।

हैं। संसार के सब मनुष्य, मनुष्य बने रहने के स्वाभाविक 'जन्मसिद्ध अधिकार' को लेकर जन्म-धारण करते हैं। अपनी मनुष्यता को अटल अक्षुण्ण और पूर्ण बनाये रखना ही 'मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार' है। मनुष्य से संसारका सब कुछ छीना जा सकता है, परन्तु उससे उसकी मनुष्यता को कोई नहीं छीन सकता। मनुष्य से मनुष्यता छीन सकनेवाली शक्ति संसार में कभी नहीं जन्मी। मनुष्यता नाम की शक्ति से शक्तिमान रहना ही 'स्वराज्य भोगना' है। इस स्वराज्य को ही 'मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार' कहा जाता है।

स्वराज्य भोगनेकी यह शक्ति, मनुष्यमें सेवा-शक्ति के रूपमें प्रकट हुआ हुआ करती है। जिसमें मनुष्यता की रक्षा करने की शक्ति होती है, वह अपने जीवनको समाजसेवासे धन्य बनाता रहता है। निजी संपत्तिके बन्धनमें न रहना (अर्थात् किसी संपत्ति को निजी संपत्ति न मानना) 'सेवाशक्ति' है। 'अपनी सेवा' ही 'सेवा' का अभिप्राय है।

मैं कुछ नहीं, मेरा कुछ नहीं, समाज ही सब कुछ है, समाजका ही सब कुछ है, ऐसा दृढ निश्चय ही 'सेवाशक्ति' है। अहंकार, ममता और भोगों का त्याग ही 'सेवाशक्ति' है। किसी निजी संपत्ति के मालिक बनने का मोह सेवा का विरोध करनेवाली मनोवृत्ति' है। सेवक के पास निजी संपत्ति का झगडा नहीं है। जो निजी संपत्तियों या उनके उपार्जनों का कोलाहल कर रहा है, वह 'सेवक' नहीं है। जिस क्षण मनुष्य व्यक्तिगत संपत्ति का मालिक बनना छोड देगा, उसी क्षण 'अनन्त शक्तिमान' बन जायगा। व्यक्तिगत संपत्ति का मोहही 'माया का परदा' है। यह परदा मनुष्य की अनन्त शक्ति को ढकनेके काम आता है और उसे उसका दर्शन, स्पर्श और आनन्द नहीं लेने देता।

जो मनुष्य व्यक्तिगत संपत्तियों के मालिक बनना छोड देते हैं, वे दैवी शक्तिवाले आदर्श समाजके अनन्त शक्तिवाले 'सेवक' बन जाते हैं। वे राक्षसी समाजमें रहते हुए भी, उसकी सब प्रकारकी घूस पर जीवित रहनेवाली बन्धन-व्यवस्था से असहयोग कर देते हैं। वे तत्क्षण स्वतंत्र राज्य के निवासी और अधिकारी बन जाते हैं। वे अपनी निर्विकार अप्रभावित मानसिक अवस्था नामके 'स्वराज्य' के मालिक हो जाते हैं। परन्तु निजी संपत्ति के लोभ से दीन और दुर्बल बने हुए मनुष्य राक्षसी समाज के साथ घूस के लेनदेन का संबन्ध रखते हैं, और घूसके बदलेमें उससे अपनी समझी जानेवाली संपत्ति पर अधिकार जमाये रखने की अनुचित आज्ञा पाते रहते हैं। परन्तु निजी संपत्तिका अस्वीकार करनेवाले स्वतंत्र मनुष्य राक्षसी समाज के फैलाये हुए इन सब बन्धनों को क्षणभर में तोड फोडकर फेंक देते हैं। निजी धन जनमोह के फंदे में फंसे हुए मनुष्य, कदापि स्वतंत्रता के पुजारी नहीं हो सकते।

निजी संपत्तिका मोह और 'देशकी स्वतंत्रता' ये दो बात एक मनुष्यमें नहीं रह सकती। इनमें से एक के प्रेमी को दूसरी त्यागनी पडेगी। देशकी पराधीनता का स्वीकार करनेवाले सब लोग निजी धन-जनमोह के साथ बंधे हुए हैं। किसी देशको स्वतंत्रता तबही मिलेगी, जब उसके अधिवासी, निजी धन-जनमोह को लात मारकर प्राणों को दांवपर लगाकर पराधीनता का विरोध करेंगे। राक्षसी समाज, धनको निजी बनाने के लोभमें फंसे हुए मनुष्यों की तृष्णारूपी आग में ईंधन जुटानेवाला बनकर, अपने मनुष्यों को निर्बल तथा शोषण का शिकार बना लेता है।

जब तक कोई मनुष्य राक्षसी समाज की नीति से असहयोग नहीं करेगा, तबतक वह दैवी समाज का सदस्य नहीं बन सकेगा। निजी धन

के लोभने ही संसार में दासता फैलायी है। दासता नामकी विषैली बेल, निजी धन के मोहरूपी वृक्षपर चढकर फलती फूलती है। शरीरों का बांध दिया जाना 'दासता' नहीं है। मन का बन्धन को स्वीकार करना 'दासता' है। 'दासता' मनकी विकारग्रस्त, भयभीत और निर्बल अवस्था है। जिसने अपने मनको निजी धन जनके मोहबन्धन से मुक्त कर लिया है, वह दासता के बन्धन से सदा के लिये मुक्त है। वह स्वाधीन समाज का स्वतंत्र तथा शक्तिमान सेवक हैं। सेवकलोग पराधीनता के उपासक राक्षसी समाज के सब दोषों को पराभूत और लांछित करते रहते हैं। उन्हें राक्षसी समाज की किसी अकेली बुराई से संग्राम नहीं करना पडता। वे सब बुराइयों की माता 'दासता' को पराजित कर के, विजयी जीवन के स्वामी बन चुकते हैं।

यदि आज के संसारको स्वाधीनता और पराधीनता की दस कसौटी पर कसें, तो आज संसारमें सर्वत्र पराधीन तथा दाससमाज विद्यमान पायें। आज प्रत्येक स्वतंत्र मनुष्यको अपने देशके दाससमाज से असहयोग करके अपने को स्वतंत्र देशका वासी 'देशप्रेमी' सिद्ध करना पडेगा। उसे किसी विशेष देशकी भौगोलिक सीमा और भौतिक साधनों की अनुकूलता-प्रतिकूलताओंको देखना छोड देना होगा। आज संसारमें सर्वत्र दुर्बल, शोषित निजी धनजनमोहसे चिपटे हुए देशवासियोंकी मानसिक निर्बलताओं की नींपर खडी की हुई धनोत्पादक संस्थाओं (कम्पनियों) के झुंडके झुंड, उन्हें सदा के लिये दासता के कठिन बन्धनों में फंसे रहने का जाल पूरते हुए पायेंगे। आज संसार में सर्वत्र राक्षसी समाज के मनुष्यों की निजी धनजनमोहरूपी निर्बलतासे लाभ उठानेवाले 'रावणराज्य'को तपता हुआ पायेंगे। उस रावणराज्य की दासता से छुटकारा पाने का यही उपाय है, कि मनुष्य निजी धनजन-मोह का परित्याग कर दे। निजी धनजन के मोहका परित्याग कर देनाही 'देशप्रेम' है। यही 'स्वराज्य' है। यही 'स्वतंत्रता' है। यही 'मनुष्यता' है।

निजी धन, जनका मोह मानना 'देशप्रेम' की घातक मनोदशा है। निजी धन, जनमोहसे जकडा हुआ कोई मनुष्य, 'देशप्रेमी' नहीं हो सकता। मनुष्य जिस समय निजी धन, जनमोह का परित्याग करता है, उसी क्षण अमृतलोक का स्वामी बन जाता है। मनुष्य इसी अमृतलोक का स्वामी बनने में अनन्त शक्तिमान और अजेय हैं। ऐसा होना उसका 'जन्मसिद्ध अधिकार' है। यही उसका 'पवित्र कर्तव्य' है। मनुष्य के इस 'जन्मसिद्ध अधिकार' को किसी पृथिवी की सीमा के साथ नहीं बांधा जा सकता। मनुष्यने इसी लिये मनुष्य-देह धारण किया है, कि वह इस अधिकार को पाये और इसका आनन्द भोगे। यही 'मनुष्य की सच्ची आवश्यकता' है। निजी धन बनाने और उसकी रक्षा करने की भावना ही चोर, डाकू, लोभी, अत्याचारी, व्यभिचारी आदि सब प्रकार के दुराचारियोंको उत्पन्न करती है।

जो समाज नियमों (कानूनों) के द्वारा अपने देश की व्यक्तिगत संपत्तिको सम रखना चाहता है, वह चोरी, छल, कपट, डाकूपन, आलस्य आदि सब प्रकार की दुष्ट प्रवृत्तियों को उत्तेजना देता है। वह अपने देशमें 'मिथ्याचारी' बनने की दुर्भावना फैलाता है। ऐसा समाज मनुष्यता का विरोध करनेवाली दुष्ट नीतियों का उपजाऊ क्षेत्र बन जाता है। यह अत्यन्त अस्वाभाविक प्रबन्ध है।

यहां पर निजी संपत्तिके मोह के सब रूपों का विचार स्पष्ट रूपसे करना आवश्यक है- (१) यह मोह संसारके संपूर्ण धनबल और जनबल को केवल अपने अधिकार में रखने के लिये 'राजा'

या 'सम्राट्' का रूप धारण करता है। ऐसे राजा या सम्राट् सेना और सेनापति नामके हत्यारों को। वेतन के रूपमें घूस देकर, इनके द्वारा जनता पर शासन करते हैं। शासन करने की यह पद्धति स्पष्ट रूपसे डाकूपन है।×

(२) परन्तु ऐसी शक्ति बहुत दिनों तक किसी एक राजा या सम्राट् नाम के मनुष्य के पास नहीं ठहर सकती। कारण यह है, कि इसके शासन करने की शक्ति, वेतनरूपमें घूस पानेवाले हत्यारों के हाथों में रहती है। राजा या सम्राटों को इन्हीं के द्वारा जनतापर अपना प्रभाव जमाना पडता है। ऐसी अवस्थामें ये राजा या सम्राट् इनके अधीन हो जाते हैं, तथा कुछ काल पश्चात् निर्बल कठपुतली बन जाते हैं और उनका अधिकार इन के पास चला जाता है। तब वे शासक या सेनापति लोग, राजाको वंशपरम्परागत साक्षी मात्र बनाकर, अपने को उसकी प्रतिनिधिसभा का रूप देकर जनता पर शासन करने लगते हैं।+

(३) जब इन लोगों की प्रतिनिधिसभा यह देखती है, कि राजा या सम्राट् के प्रतिनिधि होने में महत्त्व नहीं है, किन्तु प्रजा के प्रतिनिधि बननेसे शक्ति हमारे पास रह सकती है, तब इनकी 'राजप्रतिनिधिसभा' 'राष्ट्रप्रतिनिधिसभा' का बाना पहन लेती है। तब ये लोग अपने में से ही किसी को 'राष्ट्रपति' चुनकर राजा या सम्राट् का पद तोड देते हैं। परन्तु इस ढंगकी प्रतिनिधिसभा में भी व्यक्तिगत (निजी) धनों के मालिकों के झुंड होते हैं और इनके राष्ट्रपति 'अमीरों के मुखिया' होते हैं।⊛

(४) किसी 'राष्ट्रपति' के प्रभावशाली होनेपर, शासनाधिकार राष्ट्रप्रतिनिधिसभारूपी प्रजा-सत्तात्मक शासनप्रणाली के परदे के पीछे रहनेवाली एक नवीन सत्ता की मुट्ठी में पहुंच जाता है। ऐसी शासनसंस्थायें उसी राष्ट्रपति के संकेतपर चलने लगती हैं। इसी को 'फैसिजिम' (Facism) कहा जाता है। यों राष्ट्रपति फिर एक सम्राट् का रूप धारण कर लेता है, और जो जीमें आता है, वही करता है।⁂

(५) धनोत्पादक श्रमिक, (मजदूर) लोग भी धनवानों के हाथों में शासनसत्ता देखकर, इनके प्रतिपक्षमें खडे होकर अपने संघ बनाते हैं। वे कहीं कहीं शासनशक्तिको अपने हाथों में ले भी लेते हैं। श्रमिकों की शासनशक्तियां धनको व्यक्तगत संपत्ति उत्पन्न करनेवाली जनतामें समान भागमें बांटकर, अपनी निरपेक्षता का दिखावा तो करती हैं, परन्तु स्वयं भी धनोपासक होने के कारण, तथा धनकी न्यूनाधिकतासे सुखी, दुःखी होने के कारण, ये संस्थायें धनलोभ का पांचवा रूप हैं।✍

शासनशक्ति पहली चार श्रेणियों में स्पष्ट रूपसे एक यह या अनेक धनिकों के हाथों में रहती है। यद्यपि यह शासन की बागडोर पांचवीं श्रेणीमें बाहर से देखने पर धनोत्पादक, श्रमिक वर्ग के हाथों में दीखती है, परन्तु यह भी अप्रत्यक्ष रूपसे धनिकों केही हाथों में रहती है। वहां भी वह श्रमिकों के नेता बने हुए कुछ ऐसे मनुष्यों के हाथों में होती हैं, जो अमीरों के समान अपने हाथों से कुछ नहीं कमाते। प्रत्येक पहलू से विचार करनेपर इसी निश्चयपर पहुंचना पडता है, कि व्यक्तिगत धनशक्तिही ऐसे परिवर्तनशील शासनों के सब पहलुओं की नेत्री है।

जब मनुष्य संसार के सब धनोंको अपने

(×) रूस के भूतपूर्व जार इसके उदाहरण हैं। (+) जापान तथा इंग्लैंड इसके उदाहरण हैं। (⊛) यहां अमेरिका का उदाहरण लिया जा सकता है। (⁂) वर्तमान जर्मनी तथा इटली इसके उदाहरण हैं (✍) वर्तमान रूस इसका उदाहरण है।

अधिकार में करनेकी दुर्भावना करता है, और सब प्रकार की पशुशक्तिको धनबल से मोल लेना चाहता है, तब अपनेको अनिवार्यरूपसे उसी पशुशक्तिपर निर्भर रहनेवाला, उसी के अधीन, और उसीकी कठपुतली बना लेता है। जब राजशक्ति धनशक्ति से पशुशक्ति खरीदनेवाले कुछ मनुष्यों के हाथों में पहुंच जाती है, तब कुछ धनिक मनुष्यों की सम्मिलित धनशक्ति, अपने धनबल से, सारी जनता को 'राष्ट्र' नाम देकर, अपनी धनशक्ति के प्रभाव से उस सारी जनता का स्थायी प्रतिनिधि बन जाने के लिये, अपने निजी धनको घूस के रूपमें व्यय करके, जनता का बहुमत मोल ले लेती है। देखा जाता है, कि जब ऐसा बहुमत किन्हीं मनुष्यों के धनबल से प्रभावित हो जाता है, तब अन्तमें जाकर सब शक्ति एकही धनी मनुष्य के हाथों में पहुंच जाती है। परन्तु जब वह एक मनुष्य धनमत्त सम्राट् बनकर, जनता के ऊपर मनमाना नाटक खेलता है, तब धनोत्पादक, श्रमिक लोग, धनिक नाम के अनधिकारियों से धनशक्ति छीनकर, उसे आपसमें बराबर बराबर बांटनेकी अविचारपूर्ण अव्यवहार्य विचार बना लेते हैं। ये लोग भी धनिकों के समान धनाधिकार को ही मनुष्य का 'जन्मसिद्ध अधिकार' मान बैठते हैं और उसी को बराबर बराबर बांटनेके धोके में फंसकर अधीमीरों के समान धन के दास बन जाते हैं।

प्रथम तो समाजमें धन की समानता होना असंभव है। दूसरे, समाजमें धनको समान बांट देनेसे उसमें समदर्शीपन का आदर्श प्रतिष्ठित होना असंभव है। इस धोके में फंसकर, धनके पीछे दौडनेवालों की धनतृष्णा कभी नहीं बुझती। उनकी सुलगती हुई धनतृष्णा, उन्हें ईर्ष्यालु बनाकर, मनुष्यसमाजमें पारस्परिक कलह के बीज बोती है। धनतृष्णा रखनेवाला समाज चोरी, ठगई, अत्याचार और व्यभिचार आदि दोषों का गढ बन जाता है।

आज का मनुष्यसमाज, आंखोंपर कोल्हू के बैलके समान, निजी धनके मालिक बननेका अंधोटा बांधकर, धनशक्ति के चारों ओर चक्कर काट रहा है। व्यक्तिगत धनको समाज में समान भागमें बांट दो, इसी को 'आदर्श समाजवाद' या 'साम्यवाद' समझ लिया गया है। परन्तु व्यक्तियों के कमाये हुए धनको, समाजमें समान भागमें बांटना, 'आदर्श समाजवाद' या 'साम्यवाद' कदापि नहीं है। कोई भी मनुष्य अपने को किसी निजी धन का मालिक न माने, इसी में 'साम्यवाद'की (अखण्ड शान्ति देनेवाली) 'समता' है। समाज के इस समता को व्यवहार में लाना सिखाओ, यही 'आदर्श समाजवाद' या 'साम्यवाद' है।

व्यक्तिगत धनको समाजमें समान भागमें बांटनेवाला चाहता है, कि किसी दूसरे को अपने से अधिक धनवान् मत होने दो। उसकी इस भावना के पेट में और बहुतसी दुर्भावना छिपी हुई हैं। यह भावना डाकूपन का कपटपूर्ण मनोहर संस्करण है।

समाज का सब धन, सर्वकल्याणकारिणी सार्वजनिक संपत्ति है। समाज की इस संपत्तिपर न तो किसी मनुष्यका न्यूनाधिक रूप में न्यायपूर्ण अधिकार है और न किसी का समानरूप में न्यायोचित अधिकार है। विचारहीन मनुष्यों ने समाज के इस सार्वजनिक धनपर व्यक्तिगत (निजी) अधिकार स्वीकार करके बडी भारी भूल की है। ऐसा करके मूर्ख मनुष्यने क्षुद्र स्वार्थ पूरा करने और विषय भोगने की सुविधा प्राप्त करली है। इस सुविधा ने मनुष्य से 'मनुष्यता' को भुलवा दिया है। व्यक्तिगत रूपमें मनुष्योंका ऐसा अधिकार स्वीकार करनेसे सार्वजनिक हितों का सर्वनाश हो गया है। देश के सब धनोंपर सबका सर्वहितकारी समान अधिकार है। समाज के बालकों से लेकर वृद्धोंतक

के मनमें इस पवित्र विचारको फैला दो कि 'हमारा कुछ नहीं, हमारे समाज का ही सब कुछ है।' यही 'आदर्श समाजवाद' है।

किसी धन को निजी धन बनाते ही मनुष्य किसी से अधिक धनवान् होकर 'घमंडी' और किसी की अपेक्षा दरिद्र रहकर 'ईर्ष्यालु' बन जाता है। व्यक्ति-धनके मालिकों में से 'ईर्ष्या' और 'घमंड' कभी नहीं जाते। किसी को अपने से अधिक धनवान् न बनने देनेकी ईर्ष्या भरी इच्छा ने धनको सबमें बराबर बराबर बांटने की भावना उत्पन्न की है। यह भावना गुप्त रूपमें तो 'धनक लोभ' है और प्रकट रूपमें 'धनियों से घृणा' है। आधुनिक जगत् का 'साम्यवाद' 'अपने को सबसे अधिक धनी बनानेकी इच्छा' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जो मनुष्य व्यक्तिगत धन के लोभ को जीत लेगा, वह धन की तृष्णा को त्यागतेही निर्लोभ, उदार बनकर, ईश्वरभावमें पहुंचकर, सच्चा सुखी बन जायगा। जिसके पास यह मनोदशा आ जायगी, वह परमात्मारूपी धन का धनी बन जायगा। जो इस धन का धनी हो जायगा, उसे न तो किसी से अधिक धनवान् होने की इच्छा सतायेगी, और न किसी से कम धनवान् होने का अनुताप रहेगा। वह अमूल्य अनुपम अतुलनीय धनका धनी बनकर, धनवत्ताके सर्वोच्च शिखर पर चढ़कर बैठ जायगा। जो समाज समाजवासी प्रत्येक मनुष्यको इसी सर्वोत्तम धनके धनी बनाने में लग जायगा, वही मनुष्योचित सच्चे धनकी विरोधहीन 'समता' को सुरक्षित रख सकेगा। 'मनुष्यके सद्गुण' ही मनुष्यसमाज की (दैवी) शक्ति की रक्षा करनेवाला 'सच्चा धन' है। दैवी संपत्ति ही 'मनुष्यसमाज का सच्चा धन' है। प्रतिकूलताओंको पददलित करो, मन को पवित्र रखो, ज्ञानपूर्वक कर्म करो, दूसरों के अधिकार पर दांत मत लगाओ, इन्द्रियों को पवित्र मन के वशमें रखो, मनको अनासक्त बनाओ, आत्मपरीक्षण करते रहो, सत्यपर आरूढ रहकर असत्य को पददलित करते रहो, विश्वास का संबन्ध रखनेवालों के साथ निष्कपट बर्ताव करो, मानसिक निर्बलताओं के अधीन मत हो, मनपर रागद्वेष का प्रभाव मत पडने दो, अपनी शान्तिमें विघ्न मत आने दो, कर्तव्यपालन का फल मत चाहो, व्यक्तिगत चर्चा मत करो, दूसरों से सकाम बर्ताव मत करो, विषयभोगों को पाशविक निकृष्ट अवस्था मानो, दूसरों से क्रोधहीन व्यवहार करो, अकर्तव्य को कदापि सहन मत करो, व्यर्थ चेष्टा मत करो, अदम्य बने रहो, शत्रुता करनेवाले से व्यक्तिगत द्वेष न रखकर उसका उचित प्रतिकार करो, अपनी पवित्रता न छोडने के लिये दृढ रहो मानसिक पवित्रताके अनुसार आचरण करो, सत्यका विद्रोह कभी मत करो, अपनी भौतिक शक्तिका घमंड मत करो, यही 'दैवी संपत्ति' है। यही 'आत्मज्ञान' है। यही 'मनुष्यसमाज का सच्चा धन' है। जिस दिन मनुष्यसमाज इस सच्चे धन का लोभी बनेगा, उस दिन मुक्त समाज हो जायगा।

धूल से उत्पन्न होनेवाले चांदी, सोने, हीरे, जवाहरातों या कुछ स्त्रीपुत्रपति आदि नामके नश्वर देहों को अपना मान लेनेसे समाज का बडा भारी अनिष्ट होता है। मनुष्य की इस प्रवृत्ति से मनुष्यता पर वज्रपात होता है। इस प्रवृत्तिवाले मनुष्य मनुष्यता को तिलांजलि दे देते हैं और अपने माने हुए पदार्थों की रक्षा और उपार्जन की चिन्ता में मानवीय सद्गुणों को स्वाहा कर देते हैं। निजी धन बनाने की चिन्ता, समाज रक्षा के कामों की उपेक्षा कराती है। इस मनोवृत्तिवाले मनुष्यों के पास समाजकल्याणकारी सार्वजनिक कार्यों के लिये अवकाश और शक्ति नहीं रहती। समाजकी रक्षा करने और उसे वीर बनाने के लिये समाज में जिस दैवी शक्ति का होना अत्यावश्यक है, व्यक्तिसंपत्ति का अपनाव उसी श्रेयस्करी शक्ति का घातक है। धूलसे उत्पन्न

होनेवाले पदार्थों को अपनाना, समाज के पारमार्थिक सुदृढ दैवी बन्धन को काटकर फेंक देना है। धूलसे उत्पन्न हुए पदार्थों के अपनाव से समाज, निर्बल तथा धूल के समान पददलित हो जाता है। जो समाज धूल का समान बंटवारा करने की चिन्ता में फंसेगा, वह अपने को संसार की विशाल विषमताओं से भरी हुई प्रबन्धपद्धति को भूल जानेवाला पागल बना लेगा।

अपने ऊपर, जगत् के सब पदार्थों को सब मनुष्यों में समान भागमें बांटने का उत्तरदायित्व लेना और इस उत्तरदायित्व को शरीरबल या गोलाबारुद की धमकी से पूरा करने का निष्फल प्रयास करना 'समाजसेवा' नहीं है। यह 'लोभसेवा' है। यह 'ईर्ष्या' है। यह ईश्वरीय प्रबन्ध का विरोध करना और मानवीय अधिकार से बाहर चला जाना है। भौतिक पदार्थों में किसी का भी अधिकार नहीं है। ये समाज की संपत्ति हैं। सृष्टिप्रबन्धने इनके संबन्धमें संपूर्ण मनुष्यों को केवल यही समान अधिकार दिया है, कि कोई भी मनुष्य इनपर अपना अधिकार न माने, कोई किसी पदार्थ को अपना न कहे, सब कुछ अपने समाज का माने, और अपने समझे हुए सब कर्मों को समाजनारायण के चरणों में समर्पित कर दिया करे। यह अधिकार जैसा एकको है, वैसा ही सबको है। इस अधिकारमें न तो 'संघर्ष' है, न 'अनुताप' है, न 'डाह' है और न 'ईर्ष्या' है। इस अधिकार में 'उल्लास' है, 'शान्ति' है और 'समता' है।

जैसे सब भूमियों में एकसी उपजाऊ शक्ति नहीं होती, सब जलाशयों में एकसमान जल नहीं होता, सब भूमि समतल और एकसी समृद्ध नहीं होती, इसमें पर्वतों की चोटी भी हैं और समुद्रों के गहरे गर्त भी हैं, सब वृक्ष लम्बाई, चौडाई, ऊंचाई तथा फलों में एकसमान नहीं होते। ये सब विषम आकारोंवाले होनेपर भी अपने अपने अवसरोंपर महत्त्वपूर्ण उपयोगों में आते हैं। सृष्टिरचना बडी बडी विषमताओंसे भरपूर है। मनुष्यों की कर्मशक्ति भी इन्हीं विषमताओंका एक छोटासा भाग है।

मनुष्यों की कर्मशक्ति और उससे उत्पादित फलों का न्यूनाधिक होना भी उन्हीं महती विषमताओंका एक छोटासा भाग है। इस विषमता को मिटानेवाले मनुष्य असंभव परिश्रम कर रहे हैं। उन्हें इस वृथा परिश्रमको त्याग देना चाहिये। उन्हें समाज के बच्चे बच्चे को समाज के उपर्युक्त अधिकार से परिचित करा देना चाहिये। जो मनुष्य सब मनुष्यों के समान अधिकार के सिद्धान्त को मानसिक उदार अवस्था (अर्थात् स्वाभिमान नाम के सच्चे धन) से संबन्ध रखनेवाली पहचान जाता है, और दूसरों की प्रतीक्षा या उपेक्षा न करके इस अधिकार को स्वयं पाकर छोडता है, वही 'आदर्श स्वतंत्रता का सेवक' या 'सच्चा देशप्रेमी' है।

पराधीन मनोवृत्ति चार प्रकार से प्रकट होती है- (१) एक तो सोई हुई विशाल जनसंख्या जो दासता को भाग्य का भेजा समझ कर उसे हटाने का कोई उद्योग करना नहीं चाहती। (२) दूसरी भिन्नभिन्न स्वार्थ रखनेवाले संघों के रूपमें प्रकट होती है। ये सब संघ देशको पराधीन बनानेवाली शक्तिमें साझी बनना चाहकर उसके कुछ बोझ को अपने कंधोंपर ले लेते हैं और देशकी उदास जनता के (अर्थात् भाग्य भरोसे सोनेवाली पहली मनोवृत्ति रखनेवाली जनता के) कंधोंपर चढकर उसका मालिक (शासक) बनना चाहते हैं। (३) तीसरी प्रकार की पराधीन मनोवृत्ति रखनेवाले थोडे से मनुष्य, पराधीनता के कष्ट को सहन न करके, देश से दूर भागकर बनी बनायी स्वतंत्रता को भोगना चाहकर, विदेशों में पहुंचकर स्वतंत्रता पाना संभव समझते हैं। ये भी पहले और दूसरों के समान

अपने कंधोंपर चढे हुए शासनरूपी भूत को अपनी शक्ति से उतारना असंभव मानते हैं। (४) चौथी प्रकार की पराधीन मनोवृत्ति रखने-वाले कुछ मनुष्य, अधीर होकर, अपने कंधोंपर चढे हुए मालिक के वृद्धिशील भोगों को देखकर आपे से बाहर हो जाते हैं और समझते हैं, कि हमारा भोगाधिकार इसीने छीना है। ये लोग अपनी शक्ति से अपने शत्रु को अपने कंधों परसे उतारने में असमर्थ पाकर, अपने नपुंसक क्रोध की प्रदर्शनी करते हैं। ये उसकी शक्तिको न हटाकर, क्रोध के वशमें आकर, उसके कुछ नौकरों के शरीरों पर आक्रमण करते हैं।

इनमें से किसी को भी 'आत्मविश्वास' नहीं है। इन सबने यह समझ लिया है, कि किसी अधिक शक्तिमान ने इनकी शक्ति छीन ली है। ये 'परराज्य'को अपनी पराधीनता का कारण समझते हैं। ये यह नहीं समझते, कि क्योंकि तुमने अपने आप अपनी स्वतंत्रता को खोया है और तुम स्वयं पराधीन बनना स्वीकार कर चुके हो, इससे तुम दास बने हो। ये इस बात को नहीं समझते, कि तुम विदेशी शासन के कारण पराधीन नहीं बने, किन्तु तुम पहले पराधीनता को स्वीकार करके, पीछेसे विदेशी शासन के पंजों में फंसे हो। यदि ये लोग इस दृष्टिकोण से अपनी मनो-दशापर विचार करें, तो इनका मन सत्यकी ओर घूम जाय और फिर ये निराशा भरे मार्गपर न भटककर 'मनुष्यता' और 'स्वतंत्रता' की सच्ची सेवा करने लगें। तब ये कर्तव्यमूढता और पागलोंकीसी बौख लाहट को छोड दें, 'कर्तव्य-परायणता' में मस्त हो जांय और 'मनुष्यता' की सेवा करनेमें ही 'स्वतंत्रता' का आनन्द लेने लगें।

धन और भोगों का त्याग ही 'स्वतंत्रता का मूल्य' है। मनुष्य को स्वतंत्रता का यही मूल्य चुकाना पडता है। परन्तु ये सब लोग अपने को इस मूल्य को चुकाने में असमर्थ पाते हैं। मनुष्य को शक्तिहीन बनानेवाली इस समझ से देशकी विशाल जनसंख्या भाग्य के साथ समझौता करके चुपचाप होकर स्वतंत्र रहनेका साहस खो बैठती है। शेष जनसंख्या का बडा भाग, शासक की चुपडी रोटीमें हिस्सा लेनेके लिये, मांग, प्रार्थना-पत्र, प्रतिवाद और प्रचार करने लगता है। देश के शोषण का कमीशन ही इन लोगों का ध्येय होता है। इनसे शेष बहुत थोडेसे मनुष्य दूसरों की बनायी हुई स्वतंत्रता को भोगने के लिये स्वतंत्र समझे जानेवाले देशों में चले जाते हैं। इनसे शेष कुछ अंगुलियोंपर गिने जाने योग्य मनुष्य हताश, पागल बनकर, अपने खोये समझे हुए अधिकार को किसी शत्रु समझे जानेवाले मनुष्य की जेबमें से निकालने, और उससे बदला लेनेके कुछ उपाय करना चाहते हैं। ये सब एकही प्रकारकी असहायता अर्थात् शक्तिहीनता प्रकट करते हैं।

जो बलात्कार करनेवाले पतित लुटेरेको, अपने से अधिक शक्तिमान होने का ऊंचा पद दे देता है, वही अपने को अधम मानता है। वह ऐसा करके अपनी मनुष्यता का अपमान करता है और सत्यका अस्वीकार करता है; यों वह दासताको अपनाता है। दासमनोवृत्ति दो रूपों में प्रकट होती है। दासलोग या तो हताश होकर कुछ नहीं करते, या ऊटपटांग काम कर बैठते हैं। दोनों से इनकी निर्बलता प्रकट होती है।

स्वतंत्र मनुष्य वह है, जो अपने आपको असत्य का विरोध करने में सारे संसार के विरुद्ध होनेपर भी अनन्त शक्तिमान समझता है। स्वतंत्र मनुष्य अपने भाग्य को किसी परा-धीन समाज के साथ नथा हुआ नहीं पाता। वह समाज के पराधीन होने का बहाना बनाकर, पराधीनता से समझौता करने को कभी उद्यत नहीं होता। वह अपने आपको, अपने साथ समाज की शक्ति के न रहने पर भी पराधीनता

का विरोध करने में अशक्त नहीं पाता। वह अपने भाग्य का बोझा अपने ही कंधोंपर रखता है। वह अपने पराधीन समाज को, अपनी स्वतंत्रता को जीवित रखने में आई हुई आपत्तियों का उत्तरदाता नहीं बनाता। वह आपत्तियों को सत्यसेवा का मार्गदर्शक बना लेता है। वह अपने आपही अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने को उद्यत रहता है। वह अपने को दास-समज से पृथक् करने और अकेला बन जाने में क्षण भर के लिये भी दुविधामें नहीं पडता।

स्वतंत्र मनुष्य अपनी शक्तिको, अपनी न मानकर उसे ईश्वरीय शक्ति मानता है। वह उसपर अटल विश्वास रखता है। वह अपनी स्वतंत्र स्थितिको सब प्रकार के बाह्य आक्रमणों में भी दृढता से सुरक्षित रखता है। उसकी दृष्टिमें ध्यान देने योग्य कोई बाह्य शत्रु नहीं होता। स्वतंत्र मनुष्य हताश मनुष्यों के समान न तो बाह्य शत्रु मानता है, और न बाह्य सहायता है। वह संगठित होकर शत्रु से अधिक शक्तिमान बनने के धोकेमें नहीं रहता। वह न तो संगठन करके शक्तिमान बनना चाहता है और न छिपे हुए संगठन करता है। वह संगठित होकर शक्तिमान बनानेवाले संगठनों पर विश्वास नहीं करता। वह अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा अपनी ही शक्ति से करता है। वह इस काम के लिये किसी दूसरे के शक्तिपर निर्भर नहीं रहता। वह सच्चे संगठन को समाजमें स्वतंत्र मनुष्यों के उत्पन्न होनेपर स्वभावसे आजानेवाली अवस्था मानता है।

स्वतंत्र मनुष्य सदा कर्तव्य के साथ रहता है। उसका जीवन कर्तव्य से भरा रहता है। उसकी दृष्टि में 'कर्तव्य-पालन' और 'स्वतंत्रता की रक्षा' एक ही बात है। स्वतंत्र मनुष्य को प्रत्येक क्षण अपने विरोधी दास-वातावरण से झगडना पडता है। उसे अपने सिरको प्रत्येक पद में अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये ऊंचा रखना पडता है। उसे अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये सिर को धडसे पृथक् देखने तक के लिये सन्नद्ध रहना पडता है। स्वतंत्र तथा दास मनुष्यों की जीवन-रक्षामें आकाश-पाताल का अन्तर होता है। दास मनुष्य के मन का हाडमांसका मोह उसे अपने जीवन का सदुपयोग नहीं करने देता। वह अपने शरीर आत्मा और संसार को केवल श्वास लेनेके काम में लाता है। वह इस काम के लिये दूसरे की जान तक लेनेको उद्यत रहता है। यदि वह ऐसा करके, सारे संसार का मालिक बन जाय, परन्तु अपने आत्माको खोदे, तो बताओ कि क्या उसने सचमुच कुछ पाया है? नहीं नहीं, उसने सब कुछ खोया है। परन्तु स्वतंत्र मनुष्य अपने शरीर और सारे संसार से अपनी स्वतंत्रता और मनुष्यता की रक्षा का काम लेता रहता है। वह भौतिक लाभहानि से ऊंचे उठे हुए मनकी निर्विकार दशा की रक्षा के लिये सब कुछ करता है। यही उसकी 'स्वतंत्रता' है, यही उसका 'स्वराज्य' है।

अपनेपर अपनाही अधिकार होना उसका 'स्वराज्य' है। उसे इसी 'स्वराज्य' की आवश्यकता है। वह इसकी रक्षा का प्रश्न आपडनेपर सारे संसारके विरुद्ध खडा हो जाने के लिये अनन्त शक्ति का उत्पत्ति-क्षेत्र बन जाता है। जिस मानसिक स्थिति की रक्षा करने से राजा 'राजर्षि' बनता है, रंक 'संत' बनता है, श्रमिक 'कबीर' या 'रैदास' बनता है, योद्धा रावण-राज्य को फूंकनेवाला वीरोंका मुकुटमणि 'महावीर' बनता है, वही 'स्वराज्य' है। इसी को 'मनुष्यता' कहते हैं। यही मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार अर्थात् 'सच्चे मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता' है। अर्थात् इसके विना सच्चे मनुष्य से जीवित नहीं रहा जाता। इसके विना काम चला लिया जाय तो मनुष्य मनुष्य नहीं रह सकता। इसकी रक्षा करने वाला मनुष्य अजेय और अपराजित बन जाता है।

जो मनोदशा इस स्थिति के विरुद्ध है, जो राजा को 'राक्षस' बनाती है, जो निर्धन को 'मंगता' बनाती है, जो श्रमिक को 'मजदूर' बनाती है, जो योद्धा को 'हत्यारा' बनाती है और सारे राज्यको 'रावणराज्य' बनाती है, वही 'दासता' 'पराधीनता' या 'गुलामी' है। 'स्वराज्य' या 'स्वतंत्रता' के साथ भौतिक हानिलाभ का कोई संबंध नहीं है।

आजकल सभ्य का समझा जानेवाला सारा संसार, रावणराज्य के पंजे में दबोचा जाकर कराह रहा है। यदि तुम रावणराज्य के पंजेसे बचने के लिये, उसी रोनेवाले दुखिया संसार के पीछे चलोगे, तो दूसरे रूपमें उसी रावणराज्य को निमन्त्रण दे लोगे।

'स्वराज्य'का अर्थ 'सत्यकी रक्षा करना' है। स्वतंत्र मानसिक अवस्था की रक्षा करना ही 'स्वराज्य' है। आत्मशक्तिपर विश्वास रखनेवाले आत्मा की रक्षा ही 'स्वराज्य' है। तुम सत्यकी रक्षा के लिये इस शरीर को जिस काममें लगाओगे, वही इसका मनुष्योचित सदुपयोग होगा।

कुछ लोग स्वराज्य की इस परिभाषाको 'आध्यात्मिक स्वराज्य' कहकर टाल देना चाहते हैं। वे कहते हैं कि हमें तो भौतिक स्वराज्य की आवश्यकता है। हमें आध्यात्मिक स्वराज्य से क्या लेना है? उन के लिये यही उचित उत्तर है कि—

'राजनैतिक' या 'भौतिक स्वराज्य' पाने के लिये, जिस अदम्य दृढता की परमावश्यकता है, उस अदम्य वीर मानसिक स्थितिको 'आध्यात्मिक स्वराज्य' कहा जाता है। जब किसी समाजमें यह मानसिक स्थिति आ चुकती है, तब भौतिक युद्ध नाम की अवस्था अनिवार्य रूपसे आकर खडी हो जाती है। तब यह आध्यात्मिक स्वराज्य नाम की मानसिक स्थिति विदेशी शासन का कान पकड कर निकालती है। भौतिक स्वराज्य आये या न आये, मनुष्य इस 'आध्यात्मिक स्वराज्य' से ही 'स्वतंत्र' हो चुकता है। यदि देश के सा मनुष्यों में यह मानसिक स्थिति न आये तो भी एक मनुष्य को स्वतंत्र होने से रोकनेवाला कोई सिद्धान्त नहीं है। सब के स्वतंत्र न होनेपर भी जिस एकमें यह स्थिति आ जाती है, वही 'स्वतंत्र' हो जाता है। भौतिक स्वराज्य चाहनेवाले निराश हो सकते हैं और स्वराज्य-संग्राम छोडकर अपने घरों को लौट सकते हैं, परन्तु आध्यात्मिक स्वराज्य पा चुकनेवाले योद्धा सदा मैदान में रहते हैं। जब लडाई मैदान छोडकर चली जाती है, केवल उस समय ये लोग लडते हुए नहीं दीखते। लडाई के मैदान में आते ही ये मैदान में उतर पडते हैं। असत्य से लोहा लेते रहना इनका स्वभाव होता है। ये किसी फल के लोभ से ऐसा नहीं करते। वे राजनैतिक योद्धा नहीं होते वे स्वाभाविक योद्धा होते हैं। निष्काम मानसिक स्थिति ही 'स्वराज्य का प्रेम' या 'देशप्रेम' है।

जिस देश के सामने 'देशप्रेम' का यह आदर्श विद्यमान होगा, उसमें स्वतंत्र समाज अपने आप संगठित हो जायगा। स्वतंत्र समाज 'सत्य' के आधार से बनता है। अपने मन्तव्योंके प्रचार से या स्वार्थसिद्ध करने की संकीर्ण मनोवृत्ति से 'स्वतंत्र समाज' का संगठन नहीं होता है। स्वतंत्र समाज का संगठन करनेकी योग्यता केवल 'मनुष्यत्व' में है। जहां बहुत से सच्चे मनुष्य बसते हैं, वह स्थान मनुष्यसमाज के संगठित होनेका स्वाभाविक क्षेत्र है। भारत के ग्राम मनुष्यसमाज के संगठन के स्वाभाविक क्षेत्र हैं। भारत का जनसमुदाय सात लाख ग्रामों में संघबद्ध होकर बस रहा है। ग्राम ही मनुष्यसमाज के संगठित होनेका स्वाभाविक क्षेत्र है, नगर नहीं। प्रारंभमें सत्यके बन्धन ने मनुष्य से ग्राम की कल्पना करायी थी। उसीने ग्रामपद्धति का निर्माण किया था। भारत के ग्रामों में आज भी उसी पद्धति का ध्वंसावशेष पाया जाता है। भारत के ग्रामों में आज तक भी राष्ट्रको संघबद्ध रखने की शक्ति लुप्त

नहीं हुई है। तात्पर्य यही है कि सच्चे ग्रामसेवक ही 'राष्ट्रसेवक' या 'देशसेवक' हो सकते हैं।

जब ग्रामवासियों में से ही सेवातत्पर ग्रामसेवक उत्पन्न होंगे, तब ग्रामों में 'स्वतंत्र समाज' उत्पन्न होने लगेगा। जब ग्रामों में स्वतंत्र मनुष्य-समाज संगठित हो चुकेगा, तब ग्रामों के स्वतंत्र समाज परस्पर संघबद्ध होकर 'स्वतंत्र राष्ट्र' का निर्माण करेंगे। जब इस प्रकार के स्वतंत्र राष्ट्र परस्पर संघबद्ध होंगे तब संसार में एक विशाल 'विश्वराष्ट्र'की रचना होगी। पहले 'स्वतंत्र मनुष्य' बनेंगे, उनसे 'स्वतंत्र समाज' बनेगा, स्वतंत्र समाजों से 'स्वतंत्र राष्ट्र' बनेगा, 'स्वतंत्र राष्ट्रों'से 'राष्ट्रसंघ' बनेगा। यों सारा संसार, एक दूसरे के साथ कल्याणसूत्र में बंधकर चिरकाल तक आनन्द भोगेगा। इस विश्वकल्याणरूपी कल्पवृक्ष का बीज सब से पहले स्वतंत्र व्यक्तियों में अंकुरित होगा, स्वतंत्र समाजों में पलेगा, स्वतंत्र राष्ट्र में विकसित होगा और विश्वमें फलेगा।

संसार में आजतक सच्चे राष्ट्रसंघ की कल्पना ने इसलिये मूर्त रूप धारण नहीं किया कि संसार में आजतक किसी भी मनुष्यने 'स्वतंत्र राष्ट्र' की कल्पना नहीं की। आधुनिक संसार के राष्ट्रों में 'स्वतंत्रता' का नाम या चिह्न तक नहीं है। इन सब में केवल भोग-लिप्सा, स्वार्थान्धता, पराधीनता, और परराष्ट्रलोलुपता भरी पडी है। 'स्वतंत्रता' ही संसारकी सार्वजनिक संपत्ति है। इस स्वतंत्रतारूपी कल्पवृक्ष के बीज आजतक मनुष्यों के हृदयों में अंकुरित नहीं हुए। आज संसार के जिन मनुष्यों में राष्ट्रगठन करने की शक्ति है, वे सब स्वार्थान्ध होनेके कारण शक्तिहीन बने बैठे हैं और अपने अपने प्रभावों में आये हुए राष्ट्रों का सत्यानास कर रहे हैं।

भारत के सामने सृष्टिके आरंभ से लेकर आज तक 'सत्य' का ऊंचा आदर्श चला आ रहा है और भारत में तब ही से सत्य के आदर्श का विकास करनेवाली स्वतंत्र संस्कृति चली आ रही है। यही कारण है कि यह देश सदा से राष्ट्रगठन करने की शक्ति रखनेवाले अनन्त-शक्तिसंपन्न मनुष्यों को उत्पन्न करता रहा है। विधाताने भारत को ऊंची ऊंची पर्वतमालाओं और समुद्रों से वेष्टित करके स्वभाव से 'स्वतंत्र राष्ट्र' बनाया है।

यदि भारत के सात करोड कुटुम्ब अपने अपने स्वतंत्र वातावरण की रक्षा करने लगें, तो भारत स्वतंत्रता का मुख देख सके। प्रत्येक भारतवासी उसी स्वतंत्र भारत का एक भाग है। जो कोई भारतवासी स्वतंत्र मनोदशा को अपना लेता है, वही स्वतंत्र भारत का निवासी हो जाता है। अपने को स्वतंत्र रखना ही भारतवासी का भारत को स्वतंत्र बनाना है। अपने को स्वतंत्र रखनाही मनुष्य के कर्तव्यक्षेत्र की सीमा है। मनुष्य से बाहर स्वतंत्रता की रक्षा का क्षेत्र नहीं है।

जब भारत के ग्रामों में इन विचारों के ग्रामसेवक उत्पन्न होंगे, तब भारत की राष्ट्रपताका ग्रामवासी स्वतंत्र मनुष्यों के हृदयबलसे आकाश में फहरायेगी। वह भारत के राष्ट्र को संघबद्ध करेगी। वह सारे संसार को यह सिखाती रहेगी कि "स्वयं स्वतंत्र होने में ही 'स्वतंत्रता' है। दूसरों को परतंत्र बनाने का उद्यम अपनी मौत है। 'स्वतंत्रता' ही व्यक्ति की सच्ची शक्ति है। 'स्वतंत्रता' ही समाज की सच्ची शक्ति है। 'स्वतंत्रता' ही राष्ट्र की सच्ची शक्ति है। देशकी जनसंख्या की घटती बढती से, शस्त्रों की न्यूनाधिकता से 'स्वतंत्रता' न्यूनाधिक नहीं होती। जनबल या शस्त्रबलपर भरोसा करके राष्ट्रशक्तिके सेना या शस्त्रों के संग्रह पर व्यय कर डालना मूर्खता है। स्वतंत्र मनुष्य मरते दमतक स्वतंत्र रहते हैं। वे अपनी शक्ति से चोरों और लुटेरों का मानमर्दन करके अपना सिर ऊंचा रखते हैं।" यही वह कल्याणमयी सावधानवाणी है, जो यदि संसार के राष्ट्रों के घर घरमें गूंज उठे, तो मनुष्यजाति में चेतना फूंक दे और विश्वराष्ट्रकी रचना कर डाले।

*

स्वतंत्र रहने की इस कल्याणमयी शक्तिको लेकर जन्म लेनेवाले लोग ही भारत में सब से ऊंची स्थिति के मनुष्य माने जाते हैं। इस देशमें 'विश्वसेवकों' का जितना आदर होता है, उसके लिये राजाधिराज नामधारी तरसते रह जाते हैं। स्वतंत्रता नामकी कल्याणमयी शक्ति भारत की धूलमेंसे उत्पन्न और भारत के अन्नजल से पालेपोसे मनुष्यों को अपना आधार बनाकर विश्वसेवकों के जीवनमें विजयशील बनती चल आ रही है। उन विश्वसेवकोंकी यह शक्ति 'मनुष्यता' कहाती है। भारत के संपूर्ण भौति पदार्थ इस मनुष्यता की सेवा करनेमें उस सहायता करने लगते हैं। इस दृष्टिसे भार भारतवासी मात्र के लिये प्यारा देश है। देशकी सेवा करना सच्चा 'देशप्रेम' है।

क्या! लोकलोकान्तरों में भी यही वेद हैं ?

(लेखक- श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री, दर्शनकेसरी दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून)

क्या लोकलोकान्तर में भी यही वेद हैं?

ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' अष्टम समुल्लास में प्रश्नोत्तर रूप में यह कहा है, कि यही वेद जिस प्रकार इस भूमिपर ऋषियों के द्वारा ठोस मनुष्यों को प्राप्त हुए, इसी प्रकार लोकलोकान्तरों में भी जो मनुष्य रहते हैं, उनके लिए भी यही ज्ञान प्रभुने दिया है। वह प्रश्नोत्तर निम्न प्रकार से है—

(प्र०)- जिस वेद का इस लोक में प्रकाश है, उन्हीं का उन लोकों में भी है वा नहीं ?

(उ०)- उन्हीं का है। जैसे एक राजा की राजव्यवस्थानीति सब देशों में समान होती है, उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त नीति अपने अपने सृष्टिरूप सब राज्य में एक सी है।

(स० प्र० अ० ८ स० पृ० २८५)

इस पर बहुत प्रश्न किए जाते हैं। बहुतेरे दृढ आर्य भी इस को नहीं मानते। वे कहते हैं, भला यह कहां सम्भव है, कि उन लोकों में यही वेद की संस्कृत भाषा हो। श्री पं० नरदेवजी शास्त्री ऋषि दयानन्द के भक्त हैं, परन्तु उन्होंने भी अपने ग्रन्थ-ऋग्वेदालोचन के 'कतिपय आश्चर्य 'प्रकरणमें ऋषि दयानन्द के इस सिद्धान्त पर आश्चर्य प्र करते हुए लिखा है—

"स्वा० दयानन्द सर्वथा मन्वादि महर्षि तथा शास्त्रकारों के सिद्धान्त को मानते हैं। वेदोंमें इतिहासादि भी नहीं मानते। वेदज्ञान त्रिकालाबाधित मानते हैं। वेदों को इस लोक लिये नहीं अपितु इन्हीं वेदोंको लोकलोकान्तरों लिये भी मानते हैं। प्रश्न यह रह जाता है कि सृष्टिके आदि में जब चार ऋषियों पर वे प्रकट हुए, तो वह कौनसा स्थान था? यदि इस भूलोककी सृष्टिकी आदि का सम्बन्ध है, तो यह इसी लोक में वेद हुए, फिर लोकलोकान्तर में वे कैसे पहुंचे ? यदि वहां प्रकट हुए, तो यहां कैसे आए ? अथवा प्रत्येक लोक में अग्नि-वायु- आदित्य अङ्गिरा नाम के चार ऋषि होते हैं क्या? लोक लोकान्तर के लिये यही वेद किस प्रकार हैं, इस विषय में स्वामिजीने कहीं किसी ग्रंथ प्रकाश नहीं डाला। स्वामिजीने अत्यन्त प्रब प्रयत्न किया है, कि वेदोंको मनुवर्णित अथवा मनुनिर्दिष्ट उच्च स्थानपर बैठाएं।

(ऋग्वेदालोचन, पृष्ठ २८९ और २९०

आईये! थोडा इस पर भी विचार कर लें-

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, अकाश, चन्द्र, नक्षत्र, सूर्य इनको वसु कहते हैं। इनका नाम वसु इसी लिये है, कि इनमें भी मनुष्यादि प्राणी निवास करते हैं। शतपथ-ब्राह्मण में वसु शब्द की निरुक्ति व्याख्या करते हुए लिखा है—

"एतेषु हीदं सर्वं वसुहितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तद् यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसवइति।"

अर्थात् क्योंकि इनमें भी मनुष्यादि प्राणी रहते हैं, अतः इन्हें वसु कहा जाता है। वर्तमान विज्ञान भी इसके अनुकूल होता जा रहा है। परन्तु अभी-तक विज्ञान इस सीमातक नहीं पहुंचा, जहां तक इन लोकलोकान्तरों का 'वसु'नामकरण करनेवाले पहुंच चुके थे।

इन लोकलोकान्तरोंमें मनुष्य क्यों रहते हैं? इस पर ऋषि दयानन्दने सत्यार्थ प्रकाशमें लिखा है-

परमेश्वरका कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता।तो क्या इतने असंख्य लोकोंमें मनुष्यादि सृष्टि न हो तो सफल कभी हो सकता है। इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है। (स० प्र० अष्ट० समु०)

हां भिन्न भिन्न लोकों में मनुष्यकी आकृति में कुछ अन्तर हो, ऐसा सम्भव है, जिस प्रकार इसी भूलोकपर ही नेपाली और पंजाबी, तथा जर्मन और हिन्दोस्तानीकी आकृति भिन्न होती है। परन्तु इतना भेद होनेपर सभी मनुष्य ही है। जिस प्रकार अमेरिकन गाय, तथा भारतकी पर्वतीय गाय कुछ भिन्न कुछ न होनेपर गोत्वाऽवच्छिन्न गौ ही है, कुछ और नहीं। जब इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि भिन्न भिन्न लोकलोकान्तरों में भी मनुष्य रहते हैं, तो उनपर वही नियम लागू होंगे, जोकि इस लोकके मनुष्योंपर! ऐसा होना इस लिये की आवश्यक है, क्योंकि सारे लोकलोकान्तरों का अधिपति एकमात्र राजा प्रभु ही है। अतः उसका नियम, व्यवस्था भी एक ही जैसी होनी चाहिये, यदि भिन्न हो तो व्यवस्था कैसे चले।

दूसरा, जब भिन्न भिन्न लोकलोकांतरों में भी मनुष्य की सृष्टि होगी, तब वहां यहां की तरह मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने से मनुष्य की भाषा और ज्ञान नैमित्तिक ही होने चाहिये। अतः तब वे ज्ञान और भाषा की यहां की ही भान्ति अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय ही होंगे। और जब ईश्वर पूर्ण है, तो उसकी भाषा और ज्ञान भी पूर्ण ही होने उचित हैं—

"पूर्णात् पूर्णमुदुच्यते।"

'पूर्ण से पूर्ण ही निकलता है।' और पूर्ण वस्तु एक ही होती है। अनेकत्व अपूर्णता का लिंग है, अनुमापक है। अतः उस परम पिता की भाषा और ज्ञान पूर्ण होने से एक भी हैं। और अन्यत्र दिए गए प्रमाणों से जब यह सिद्ध है कि वह भाषा और ज्ञान वैदिक भाषा और वेदज्ञान ही हैं, तो इस बातके माननेमें क्या हर्ज है कि लोक-लोकांतरों में यही वेद हैं। सम्भव है अब वहां भी वह वैदिक भाषा व्यावहारिक न रही तो क्योंकि भाषाविज्ञान का नियम है कि समय पाकर आवश्यक और कुछ अनिवार्य कारणों से एक भाषा व्यावहारिक नहीं रहती तब दूसरी व्यावहारिक भाषा की उत्पत्ति होती है।

परन्तु अनुमानद्वारा यह तो ज्ञात होता है कि आदिम भाषा वहां भी वैदिक भाषा ही रही होगी। बाकी रही यह बात की वहां किन ऋषियों पर वेद प्रकट होते हैं, अर्थात् क्या भिन्न भिन्न लोकों में एक ही अग्नि, वायु, आदित्य अंगिरा ऋषि होते हैं अथवा भिन्न भिन्न।

इस पर इतना ही कहा जा सकता है कि, जब यह सिद्ध हो गया कि भिन्न भिन्न लोकलोकांतरों में यही वेद है, तो वहां भी वे ऋषियोंके द्वारा ही प्रकट होने चाहिए, ऐसा युक्तियुक्त है। अन्यथा आदिमकालीन मनुष्यों को वह ईश्वरीय ज्ञान और भाषा किस प्रकार समझाई जायगी? इसी लिये वेदने कहा है—

'ऋषिषु प्रविष्टाम् ।'

अर्थात् मनुष्य ईश्वरीय वाणी को ऋषियों द्वारा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वेदों के प्रकाश के लिये सब लोकों में ऋषियों की आवश्यकता है। यदि सब लोकलोकांतरों में उपर्युक्त अग्नि आदि चार ऋषि ही हो, तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि अग्नि-वायु-आदित्य-अंगिरा में व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं, अपितु ये उपाधियां हैं। जिस ऋषि पर ऋग्वेद प्रकट होता है, उसे अग्नि कहा जाता है, जिस पर यजुर्वेद उसको वायु इत्यादि। ये व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं अपितु उपाधियां हैं, इस में भी कारण है—

ऋषि दयानन्द ने इस प्रश्न का 'इन चार ऋषियों के ही हृदय में क्यों प्रकाश किया,' यह उत्तर दिया है कि वे अधिक पुण्यवान् थे।

इस प्रकार अधिकसे अधिक यही कहा जा सकता है, कि ये जीवन्मुक्त पुरुषों में भी अधिक श्रेष्ठ थे, अतः इन्हीं द्वारा ही वेद प्रकट किये गये हैं। परन्तु यह बात प्रमाणों द्वारा सिद्ध है कि मुक्ति से भी पुनरावृत्ति होती है, अन्यथा यदि एक सृष्टि में एक भी मनुष्य मुक्त हो और सृष्टियां अनन्त बार हो चुकी हैं, इस प्रकार अब तक सारे जीव मुक्त हो गए होते, सृष्टि-परम्परा समाप्त हो चुकी होती। प्रत्येक सृष्टि के आदि में वेदों का प्रकाश ऋषियों द्वारा होता है और वे ऋषि अग्नि-वायु-आदित्य-अंगिरा ही है, यह तो तभी सम्भव है जब अग्नि आदि उपाधियां हों, नाम नहीं। अन्यथा यह कब सम्भव है कि एक ही अग्निवाय्वादि प्रत्येक सृष्टिके प्रारम्भ में वेदों का प्रकाश करते हैं। इस सृष्टिमें जो मुक्त होने से ऋषि होने के योग्य हैं, दो तीन सृष्टियों के बाद वे न जाने कौनसी योनि में होंगे?

इस प्रकार एक सृष्टि में सर्वत्र लोकलोकान्तरों में यदि एकही अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा द्वारा ही चारों वेदोंका प्रकाश हो तो कोई अनुचित नहीं। क्योंकि मनुष्य-सृष्टि उपरोक्त रीतिसे भिन्न भिन्न लोकों में एक ही समय नहीं होती। वैवस्वत मन्वन्तर में जो मनुष्यसृष्टि बताई है, वह भी इस लोकके लिये है। अन्य लोकों मनुष्य-सृष्टि, तथा वेदोत्पत्ति का क्रम भिन्न ही होगा। इस लोक की सृष्टि सब लोकोंके अनन्तर हुई है, अतः इस की मनुष्यसृष्टि का और लोकोंकी मनुष्योत्पत्ति के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार मनुष्योत्पत्ति के समयभेदसे वेदोत्पत्ति का भी समयभेद होना अनिवार्य है। अतः यदि एक ही ऋषि भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्नलोकों की मनुष्योत्पत्ति के प्रारम्भकालमें वेदों का प्रकाश करें, तो कोई हर्ज नहीं।

हां एक बात है, हम तो मुक्ति से भी पुनरावृत्ति मानते हैं, अतः यदि तब उन मुक्त जीवों का मुक्तिकाल ही समाप्त हो जाए, तो भिन्न भिन्न लोकोंमें अन्य अन्य ऋषियों द्वारा वेद प्रकट हो सकते हैं।

परंतु उन सबकी उपाधियां अग्नि-वायु-आदित्य-अंगिरा ही होंगी। उपाधि की अधिक प्रसिद्धि से उन सब ऋषियों का नाम भी अग्नि-वायु-आदित्य-अंगिरा ही प्रसिद्ध है। जिस प्रकार गान्धिजी और मालवीयजी आदि।

तात्पर्य यह है कि सब लोकलोकान्तरों में जब प्रारंभिक मानवसृष्टि होती है तब तब अग्नि-वायु आदि उपाधिवाले ऋषियों द्वारा वहां वहां वेदों का प्रकाश होता है, जिस से मनुष्यों को भाषा और ज्ञानकी प्राप्ति होती है और वे अपना हानिलाभ विचार कर स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहार कर सकते हैं।

अतः ऋषि दयानंद के इस सिद्धांतपर कि "भिन्न भिन्न लोकांतरों में भी यही वेद हैं, आश्चर्य इस लिये नहीं कि यह अनुपपन्न है; अपि तु इस लिये आश्चर्य है कि आजतक इस आवश्यक बात पर ऋषि के अतिरिक्त किसी और की दृष्टि नहीं गई। ऋषियों के पास कुछ दिव्य दृष्टि होती है, इसी पर आश्चर्य है। इति शम्॥

श्रीकृष्ण-चरितामृतम् ।

(लेखक- रुलियारामजी कश्यप, लाहौर ।

ओ३म् । भूर्भुवः स्वः महज्जनस्तपस्सत्यम् ।

तत्सवितुर्वरेण्यंभर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरो३म् स्वाहा ॥

॥ ओ३म्कार श्रीकृष्ण प्रणाम ॥१॥

रामकृष्ण बुद्ध शङ्कर दयानन्द तिलक गांधी जवाहर
आकर्षक मनमोहन श्याम, योगिराज श्रीकृष्ण प्रणाम्॥२

मुरलीमनोहर प्रभुपरमेश्वर, नीलांबुद, ओढे पीतांबर।
राधारंजन श्याम, वासुदेव श्रीकृष्ण प्रणाम् ॥ ३ ॥

द्रुपदसुता को जब दुःशासन, नग्न सभा में करे कुशासन।
चीढ बढायो लाज रखायो, वस्त्र अनन्त प्रदाता श्याम,
भक्तन त्राता कृष्ण प्रणाम् ॥४॥

भीमको वध करने के हेतु, राज्य युधिष्ठिर हरने के हेतु।
कौरवगण लगे चालें चलने, द्यूत वा युद्ध बहाने करने।
सारथि बन हुए युद्धविजेता, गीतागायक श्याम,
अर्जुनप्रिय श्रीकृष्ण प्रणाम् ॥ ५ ॥

रचा राजसूयज्ञ युधिष्ठिर,
आ गए कृष्ण निमन्त्रित हो कर।
बकने लगा शिशुपाल बराबर,सैंकडों गालियां गन्दी देकर।
करते क्षमा रहे कृष्ण बराबर, अन्त में चक्र चलाया
श्याम, शिशुसंहारक कृष्ण प्रणाम् ॥ ६ ॥

कंस था राजा अत्याचारी,
मथुरा जिस से थी दुखियारी।
पुत्रि यशोदा की जिस मारी,
पटक शिलापर-घातक भारी।
उस के नाशक श्याम, कंससुमर्दक कृष्ण प्रणाम् ॥ ७॥

पूतना पहुंची दायी बनकर,
चूंचियों अपनी को विष मलकर।
कृष्ण के मुंहमें निज स्तन देकर,
बध करने लिये यत्न बडा कर।
मारी गयी स्तन ही खिंचवा कर,
नाशक उसके श्याम, पूतनाशत्रु शिशु प्रणाम् ॥ ८ ॥

यमुना तट पर गोपियां जावें,
जल भरने गागर सङ्ग ले जावें।
घाट पे बालक शोर मचावें,
कृष्ण हो अगुआ पात्र तडावें।
गोपियां सब मन में घबरावें,
पर हुईं मुग्ध न उन्हें हटावें।
गोपियों के चित्तचोर सुश्याम,
गोपीवल्लभ बाल प्रणाम् ॥ ९ ॥

पर्वत् गोवर्धन पे मेला रचाकर,
गोप सुबाला बाल ले जाकर।
दूध दही की नदियां बहाकर,
उत्तम खाद्य पदार्थ सजा कर।
रागरंग आनन्द मना कर,
बाला बाल सभी मन मोह कर।
गोप सभी को एकत्रित् कर, निज का रज के साधक
श्याम। विश्वप्रबन्धक प्रभु प्रणाम् ॥ १० ॥

शिशुपन में मक्खन खा खा कर,
बालपने में रास रचा कर।
युवा हो शत्रु सभी भगाकर,
वार्धिक् में अर्जुन को जिता कर।
अन्त में लीलालोपक श्याम,
विश्वके नाट्य-रचयिता प्रणाम् ॥११॥

॥ इति श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

(२)
कृष्ण-चरित।

कृष्ण हैं काले यद्यपि, पर रहे सभी को खींच।
मुरली की तान सुनाय के, अमृत से रहे सींच ॥ १ ॥
मुरली-मनोहर राम हैं, आकर्षक घनश्याम।
कृष्ण प्यारे सभी को, हरिः रूप अभिराम ॥ २ ॥
अर्जुन का रथ हांकके, युद्धक्षेत्र के बीच।
जब वे उस को ले गये, सेना दो के बीच ॥ ३ ॥
तब अर्जुन घबरा गया, सगेसम्बन्धि देख।
धनुष हाथ से गिर गया, बान्धवबन्धु को देख ॥ ४ ॥
कहा युद्ध नहीं करूंगा, चाहे जाऊं मैं हार।
बान्धववध के पाप का, सकूं उठा कब भार ॥ ५ ॥
तुरत सुनाई कृष्णजी, ने गीता की तान।
अर्जुन की सभी जग उठी, वही राजसी शान ॥ ६ ॥
तुरत हुआ तय्यार वह, युद्ध करन की ठान।
भीष्म पितामह पर दिये, बरसा पैने बाण ॥७॥
नमस्कार पहिले किया, बाण तीन शुभ फैंक।
पाछे दिया अमृत पिला, भूमध्यास्त्र फैंक ॥८॥
निकसा जलका स्रोत् तब, भीष्म बुझाई प्यास।
शरशय्या पर पडे उन, की पूर्ण शुभ आस ॥९॥
कृष्ण की ही थी चाल सब, हुआ भीष्म जब हट।
नहीं भला मरता कभी, ब्रह्मचारी समरत्य ॥१०॥

(समर्थ पुरुष)

खडा कराया शिखण्डी, सम्मुख भीष्म के लाय।
ब्रह्मचारी उस ओर न, कभी निगाह जमाय ॥११॥
भीष्मने तुरत ही फेर दी, युद्ध से अपनी पीठ।
कृष्णाज्ञा से पार्थने, बाणों से दिया बींध ॥१२॥
गुरुद्रोण से भी लडा, जम कर अर्जुन वीर।
झूठ युधिष्ठिर को पडा, तभी बोलना, धीर ! ॥१३॥
अश्वत्थामा हत हुआ, सुन घबराया द्रोण।
हतोत्साह मारा गया, कृष्णाज्ञा से ही द्रोण ॥१४॥
ऐसे ही मारा गया, महारथी भी कर्ण।
अश्वत्थामा, कृप सभी, दुर्योधन रणकरण ॥१५॥
भला कौन था वहांपर, सम्मुख कृष्ण के आ।
जो सकता कभी युद्ध में, अर्जुन सम्मुख आ ॥१६॥
महभारत पूरा हुआ, पाण्डव गण की जीत।
कृष्ण की नीति से हुई, अर्जुन हुआ अजीत ॥१७॥
धर्मपुत्र का धर्म तब, पाने लगा विस्तार।
बलपराक्रम से भीम के, पाया राज्यविस्तार ॥१८॥
अर्जुन का गाण्डीव भी, कृष्ण विभूति एक।
था अमोघ ही धनुष वह, शिव त्रिशूल स्वयमेक ॥१९॥
एक विचित्रही वार्ता, अन्त में करूं बखान।
"अर्जुन गुआइयां गोपियां, ओही धनुष ओही बाण"
॥२०॥
पञ्जाबी में प्रसिद्ध है, काल समर्थ की शान।
समय आन कर जब पडे, रहे न राजसी शान ॥२१॥
अर्जुन को कहा कृष्णने, लेता मैं बनवास।
तुम ले जाओ गोपियां, यहां न पायें त्रास ॥२२॥
अर्जुन ले कर चल दिये, भील पडे तब टूट।
छीन गोपियां ले गये, गर्व अर्जुन गया छूट ॥२३॥
वैराग्य हुआ उदय तब, कृष्णा की ही थी चाल।
अर्जुन मुक्ति पा गया, कृष्ण की बूझ सुचाल ॥२४॥

(३)
सौतिः की कृष्णस्तुति।

सौतिरुवाच--
आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम्।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥२२॥
असच्च सदसच्चैव यद्विश्वं सदसत्परम्।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ॥२३॥
माङ्गल्यं मंगलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम्।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ॥२४॥
महर्षेः पूजितस्येह सर्वलोकैर्महात्मनः।
प्रवक्ष्यामि मतं पुण्यं व्यासस्याद्भुतकर्मणः ॥२५॥
(महाभारत आदिपर्व अध्याय १ श्लोक २२ से २५ तक)

सौति बोले-
सबसे स्तुति किये जो गये, जिन्हें बुला रहे सर्व।
याथातथ्य स्वरूप जो, इक अविनाशी सर्व ॥ १ ॥

साकारनिराकारमय, नित्य प्रथम सर्वेश ।
पूर रहे सर्वत्र वही, आदिपुरुष भुवनेश ॥२॥

कारण अरु जो कार्यमय, उससे भी परे दूर ।
सत्तामात्र अव्यक्त ही, विविध रहा भरपूर ॥३॥

विश्वरूप जगरूप में, बीजरूप में जौन ।
अगले पिछले सभी का, अविनाशी पिता जौन ॥४॥

शुभ मङ्गलमय सभी के, मङ्गलकर्ता वृद्ध ।
प्राचीनतम् सभी से, परम पवित्र सुशुद्ध ॥५॥

स्वीकरणीय सुप्रिय उन, दुःखहारक भगवान् ।
स्थावर जङ्गम सभी से उत्तम सब से महान् ॥६॥

सब के गुरुः निष्पाप उन, इन्द्रियगण–आधीश ।
व्यापक विष्णुः हरिः को, नमस्कार कर ईश ! ॥७॥

मैं करूं वर्णन व्यासजी, के सुपवित्र विचार ।
सभी पूजते जन जिन्हें, जो इस जग में सार ॥८॥

अद्भुत ही इन महऋषिः, व्यास ने थे किये पुराय ।
इसी से उनको पूज सब, मानते स्व को धन्य ॥९॥

उन्हीं के मत महाभारतिय, का मैं करूं व्याख्यान ।
सुनिये ऋषिगण आप सब, कृष्ण चरित सुमहान् ॥
॥१०॥

(४)

साधु ।

सोई सुसाधु जानिये साधे जो निज आत्म ।
जिस से सधा न आत्मा, क्या जान परमात्म ॥ ॥

साधु सोई करे साधना, जो मन वच देह लाय ।
अर्पण आत्मा के करे, सर्व्वस ही चित्त लाय ॥२॥

आत्मा में ही देख जो, लेता प्रभु परमात्म ।
सोई सच्चा साधु है, कहा वही मह आत्म ॥३॥

पूजा पाता सभीसे, सभी करें तिस सेव ।
दयादृष्टि से देखकर, देता तार स्व एव ॥४॥

ऐसा साधु महात्मा, साकार भगवान् ।
परमात्मा निराकार ही, मूर्तिमय सुमहान् ॥५॥

सत्यकाम सङ्कल्प भी, हों उसके सभी सत्य ।
शक्ति निरर्थक् जाय न, व्यर्थ करे न विकल्प ॥६॥

कलियुग के प्रारम्भ में, हुए महात्मा कृष्ण ।
साधु सच्चे अर्थ में, परमात्मा ही कृष्ण ॥७॥

ऐसे ही कुछ कुछ हुए ऋषिराज मिथिलेश ।
याज्ञवल्क्य के शिष्यवर, उत्तम जनक नरेश ॥८॥

सुलभा योगिन भी हुई, इसी समय दिव्य ज्योत् ।
सभा में जीता जनक जिस, दिखा परम विद्योत् ॥९॥

(५)

शक्ति ।

शक्ति महानारायणी, कही जो योगि सुसन्त ।
उसका अब वर्णन करूं झुका माथ उन्हीं सन्त ॥१॥

को, धर उनका ध्यान भी, ईश से सम्बन्ध जोड ।
उसी शक्ति के आश्रय, हो कर चित्त भी जोड ॥२॥

है विचित्र ताकत, नहीं, कर सकें जस अनुमान ।
बरते न जब तक आप पर, हो भी सके न गुमान ॥३॥

बिजुली दें ज्यों मनुज को, जिस से कांपे वह ।
थर थर करता वेग से, पलङ्ग हिलावे वह ॥४॥

ऐसा उसका रूप इक, मुझ पर चुका है वरत ।
तब समझा मैं शक्ति रही, उसी सन्तकी वरत ॥५॥

दूजा रूप मैं लख सका, हूं आप कई बार ।
ज्यों झूले पत्ता हवा, से, त्यूं बारम्बार ॥६॥

यह देह मेरी झूलती, ज्यूं झूले में बाल ।
कृष्ण रहा था झूलता, यशोदा नन्दलाल ॥७॥

इतनी भारी देह है, कैसे सकती झूल ।
अन्दर की ही शक्ति से, जैसे पवन से फूल ॥८॥

समझ नहीं मैं यह सका, कौन झुलावे आत्म ।
मेरी देह को इस तरह, या आप परमात्म ॥९॥

दूजा रूप नारायणी, शक्ति का लखा आप ।
अन्दर की तब खुल गयी, आंख, हुआ निष्पाप ॥१०॥

उसी सन्त की कृपा से, अरु अमरी कन्‍ की ।
दशा विचित्र ही हो गई, लख शक्ति उनकी ॥११॥

तीजारूप विचित्र ही, अनुभव हुआ सुसार ।
आनन्द से भर गया, कमरा मेरा सुखसार ॥१२॥

हो गया मेरा शरीर भी, आनन्द ही मय ।
यद्यपि था कुछ स्थूल ही, आनन्द से वह ॥१३॥

उस में ज्ञानतरङ्ग तब, उठतीं लीं पहिचान।
विज्ञानमय का लिया, हस्ताक्षेप पहिचान ॥१४॥

तभी तुरन्त आनन्द में, फिर मन लगा विकल्प।
करने, तब हुआ मनोमय, का प्रवेश सङ्कल्प ॥१५॥

इस विध तीनों शरीरका, परस्पर सम्बन्ध।
तभी ज्ञात सब हो गया, सर्वथा ही निःशङ्क ॥१६॥

ऋतम्भरा आनन्द अरु, निर्विकल्प पहिचान।
योग में वर्णित समाधि, तभी ली गईं जान ॥ १७ ॥

महानारायणी शक्ति का, ही था सब यह खेल।
इसी देह पर उस समय, बूझा गया देह खेल ॥१८॥

चौथा रूप इक और भी, अनुभव में गया आ।
जिस से दिखाता आत्मा, स्वप्नमें ही बुलवा ॥१९॥

भक्त कबीर और रैक्व मुनि, दर्शन दिये सुसन्त।
और भी उत्तम आत्मा, दर्श दिये मतिमन्त ॥२०॥

छठे पांचवें रूप में, स्वप्न में वर्षा हो।
नीलाकाश में वदलियां, झम झम चमकत हों ॥२१॥

ज्योतिछटा आनन्द हो, हो शुभ्र प्रकाश।
महानारायणी शक्ति ही, परमात्मप्रकाश ॥ २२ ॥

(६)

प्रार्थना।

आनन्दमय आनन्दप्रद, सब शोकदुःखनाशक प्रभो!
आनन्द के भण्डार है,
सुखशान्तिप्रद सत् चित् विभो ! ॥ १ ॥

कर पाप-ताप-क्षमा हमारे,
सर्व सुख हमें दीजिये।
सब दुःख सब ही दरिद्र अरु,
हम से परे कर दीजिये ॥ २ ॥

हम में क्षमा धीरज नहीं,
नहीं शान्ति इन्द्रियनिग्रह।
हम कलहतत्पर हो परस्पर,
ठान बैठे विग्रह ॥ ३ ॥

कर दान धैर्य क्षमा हमें, दे हमको शान्तिः हे पिता।
वश में करा इन्द्रिय सकल,
बलवान् कर हम को पिता ॥ ४ ॥

हम वैरभाव को त्याग दें, सन्धिः करें दिलसे सभी।
होवें परस्पर प्रेम में, रंगे गये प्रति क्षण सभी ॥ ५॥

ऐसी कृपा हम सभी पर, होवे सदा हे दयानिधे !।
हम सब सने हों स्नेह में, हों रंगराते हे विधे ! ॥ ६॥

(७)

भगवान् ओ३म्कार।

आदि मध्य अरु अन्त हैं, संसार के ओ३म्।
जगरक्षक वे रम रहे, त्रिभुवन में स्वयसो३म् ॥ १॥

भूः सत्ता हैं सभी की, वह प्रभुवर भुवनेश।
दुःखनाशक भुवः ओ३म् हैं,
सुखमय स्वः परमेश ॥ २ ॥

वर्तमान संसार इस, में व्यापे भगवान्।
भूत भविष्यत् जगत् में, विद्यमान् सुमहान् ॥३॥

पूजनीय महः ओ३म् ही, सकल विश्व जनः जनक।
परम तपस्वी ओ३म् तप, नरनारिप्रिय जनक ॥४॥

सत्य एकरस सलिल हैं, नित्य ओ३म् इकसार।
सभी पदार्थ-सम्बद्ध हैं, प्रजापतिः इकतार ॥५॥

व्यापक हैं आकाशवत्, खं ओ३म् निराकार।
सब में रमे आकाश हैं; विद्युत् के चमकार ॥६॥

विविध ज्योति के स्रोत् वह, सूर्य-चन्द्रमारूप।
अग्निः के भी प्रकाश-कर, विद्युज्ज्योतिःरूप ॥७॥

कालरूप भी ओ३म् ही, सर्वगणक भगवान्।
एक नियन्ता प्रजा के, यम ओ३म् सुमहान् ॥८॥

ब्रह्मा विष्णुः शिव स्वयम्, ओ३म्कार प्रभु ईश।
जग-धारक निर्माण-कर, जगहर्ता हरिः ईश ॥९॥

जीवनप्राण सभी के, प्राणप्रिय जग सब के।
दुःखहर्ता दुखियन के, सुखदाता सज्जन के।
विद्यमान् अणु में भी, परमाणू में रमें भी।
आनन्दप्रद सबके, प्रभु रक्षक शिशु के भी ॥१०॥

(८)

परमपुरुष।

परम पुरुष आनन्दमय, चेतन सत् भगवान्।
रम रहा अणुपरमाणु में, रक्षक प्रभु सुमहान् ॥१॥

सम्बन्ध जुड़ जाय यदि, मनुज का ईश्वर से ।
मेल कभी हो जाय यदि, उस जगदीश्वर से ॥२॥

सुमहान् बन जायगा, निश्चय ही तब मनुज ।
महानारायणी शक्ति को, प्रेर सकेगा मनुज ॥३॥

अमर पुरुष श्रीराम ज्यों, पुरुषोत्तम ज्यों कृष्ण ।
वेदपुरुष दयानन्द ज्यों, सिद्ध पुरुष ज्यों कपिल ।

भक्त पुरुष हनुमान ज्यों, ज्यों अर्जुन महावीर ।
सके प्रेर इन सभी को, भक्त नारायण धीर ॥४॥

भक्ति से ही नारायणी, परम पुरुष उस की ।
सिद्ध आत्मायें तृप्त सब, सदा हैं हो सकती ॥५॥

देती तब हैं वर स्वयं, तर जाय मनुज तुरन्त ।
ज्यों कबीर की दया से, कश्यप कवी सुसन्त ॥६॥

बन गया सिद्ध की दया से, क्षण में कवी सुभक्त ।
प्रवर सिद्ध सुकबीरके, दरशन मात्र से भक्त ॥७॥

उसकी इक ही बात से अध्यात्म में जा ।
वेद उपनिषद् काव्य शुभ, गीता गया रचा ॥८॥

भक्तप्रवर सुकबीर को, कश्यप को नमस्कार ।
अमर पुरुष पुरुषोत्तमों, सिद्धों को नमस्कार ॥९॥

वेदपुरुष को भी नमः, करता कश्यप सन्त ।
भक्त-सुवत्सल ईश को, नत होता मतिमन्त ॥१०॥

परम कृपा भगवान् की, यदि उस पर हो जाय ।
निज चरणों में ईश-वर, यदि उस को बिठ लाय ॥११

हो कृतज्ञ वह सभी ही, पुरुषोत्तम जन का ।
भगवान् को प्राप्त कर, भक्त बने सभी का ॥१२॥

आगे दो उर्दू की कविताएं लिखी जाती हैं, एक वेदान्तपरक है, दूसरी भगवद्भक्तिपरक आशा । हैं, ऊर्दू जाननेवाले भाई आनन्दित होंगे ।

(९)

सोऽहम् ।

शहन्शाहे दो आलिम हूं, नहीं सानी कोई मेरा ।
फकत हूं आप ही सब कुछ, जहां साराही है मेरा ॥१॥

तमन्ना मुझ को हो कैसे, कि खालिक आप ही तो हूं ।
सभी अशया बनाईं खुद, त्रिलोका नाथ है मेरा ॥२॥

मेरी ही ज्योति से रोशन, हैं सूरज-चन्द्रमा-तारे ।
मुजस्सिम ज्योति हूं मैं ही, है कुल अरजो समां मेरा ॥३॥

तमाशाई हमेशा से, तमाशे रच रहा हूं मैं ।
तमाशा खुद बनूं कैसे,
तमाशा कुल जहां मेरा ॥४॥

सदा निर्लेप रहता हूं, सदा अव्यक्त ही तो हूं ।
गलत मुझ को समझते हैं, जो कहते रूप है मेरा ॥५॥

हमेशा एकरस ही हूं, अखण्डात्मिक सदा रहता ।
जो टुकडे करते हैं मेरे,
वह समझें भाव क्या मेरा ॥ ६ ॥

स्वयं परमात्मा हूं मैं, रचूं माया को खुद ही तो ।
दिखूं तब जीवसा बनकर,
प्रथम अवतार जो मेरा ॥ ७ ॥

मैं तत होकर असत् पहिले,
बनूं सत रज बनूं पीछे ।
तपस्या से हटाऊं तम, नहीं निज रूप वह मेरा ॥८॥

जहां मैं हूं वहां परकाश, रहता है निरन्तर ही ।
फकत परकाशमय हूं मैं, यही स्वरूप है मेरा ॥९॥

पतङ्गे ज्योत के मेरी, ही उड़ते हर सूए नादां ।
जलाता हूं नहीं उनको, अथाह है प्रेम भी मेरा ॥१०॥

मैं अपने ध्यान से ही कर, रहा हूं अग्नि को पैदा ।
हूं मैं ही बर्फ का खालिक, स्वभाव मुतजाद है मेरा ॥११

जमीं को और जमां को भी,
गुलिस्तां खार गुलको भी ।
बना कर खुदही मैं तोडूं, निराला खेल यह मेरा ॥१२॥

(१०)

हक ।

जलवए हक रू नमा क्यूंकर न हो तहरीर में ।
दिल की जो तासीर क्यों जाहिर न हो तकरीर में ॥१

आशकारा हक हो जिस दिल में वह क्यूं जाहिर न हो ।
आशनाई हकसे हो उलझे न दिल तासीर में ॥ २ ॥

है हवैदा मिहर से नाजो अदा हक की सभी ।
फिर खुदाई क्यूं न जाहिर चश्म की तासीर में ॥ ३ ॥

भूलकर अपनी खुदी ले राहे हक की ऐ अजीज ।
फिर खुदा होगा हवैदा हर तेरी तफसीर में ॥ ४ ॥
हक ही हकसे गरज रखूं बातल की तू परवाह न कर।
खुद खुदा ही समझ लेगा, दिल स्याह तसरवीर में ॥५॥

(११)

भगवान् से भय ।

भगवान् से हरएक को डरना ही चाहिए ।
उसके भयङ्कर रूप से घबराना चाहिए ॥ १ ॥
जलती है आग उसके ही डर से सुन ऐ अजीज !
सूरज भी तप रहा है सबक लेना चाहिए ॥ २ ॥
बिजुली हवा की चालसे जाहिर है उस की चाल।
उस के ही डर से भागना हम को भी चाहिए ॥ ३ ॥
है कालरूप आप वह खा जाय कुल जहां ।
उस की दया की, आस ही इक रखनी चाहिए ॥ ४ ॥
खुश उस को रख सके, अगर पायगा कुल समर।
फल फूल खबरू उसीसे पानी चाहिए ॥ ५ ॥
फरजन्द अरजमन्द की गर रखता है तू चाह ।
उस के हुकम को टालना मत तुझ को चाहिए ॥ ६ ॥
रखने को है तय्यार तुम पे मिहर की नजर ।
पर तुम को भी तो प्रेम उस से करना चाहिए ॥७॥
खालिक है दो जहान का मालिक सभी का आप ।
उस के हवाले खुद को कर देना ही चाहिए ॥ ८ ॥
इक बार उस को तू रिझा सकता है गर कश्यप ।
फिर तो समझना उस को सदा अपना चाहिए ॥९॥

(१२)

प्रेममय भगवान् ।

गुनाह मत कर न डर उससे, प्रभू सब का पिता ही है।
जगत्स्वामी सभी का है, परम कल्याणमय ही है ॥१॥
कमाई नेक कुछ कर ले, भला संसार का कर ले ।
कि मरने बाद भी तुझ को, कहे तू देवता ही है ॥२॥
बदी कर मत किसी से तू, बुरा सोचे किसी का मत ।
कि खिलकत सब हुई पैदा, उसी खालिक से ही तो है ॥ ३
तमन्ना सुखकी रख बेशक, मगर कर पुराय भी हर दम ।
कि नेकी का सुफल मिलता, शकल में सुख की ही तो है ॥४॥
वही प्रीतम प्यारा है, तुम्हारा मेरा अरु सब का।
हसद का खातिमा कर इस, लिए महबूब वह ही है॥५॥
लडाई झगडे से परहेज, तू हर वकत् ही कर ले ।
सिवाए जलन के इस में, नहीं, कुछ भी पडा तो है॥६॥
सरासर ही तुझे नुकसान, इस से हो रहा हर दम।
खुदा नाराज होता है, कि खुद बन्दा वही तो है ॥७॥
प्रभू को चाहे खुश करना, तू इक झगडा ही तो त्यज दे
लडाई छोड दे तो फिर, खुदा अपना तेरा ही है ॥८॥
सभी से खुश हमेशा रह, सभी से तू मुहब्बत रख
प्रभू तब ही रहेगा खुश, कि खुद वह प्रेममय ही है ॥९॥

(१३)

देवजन्मवृत्तान्त ।

(ऋग्वेद मण्डल १०, सू० ८२)

स्तुति विशेष से हम कहें, निश्चित देव-सुजन्म ।
मन्त्रप्रशंसित् हो रहे, तब देखे तिन जन्म ॥१॥
ब्रह्मा के युग में प्रभुः, ब्रह्मणस्पतिः आप ।
ज्यों लोहार छोड़े पवन, वेग-सहित्, निष्पाप ॥२॥
त्यों वे कारण तमस में, छोड़ें शक्ति स्वकीय।
गयु, देवों से पूर्व जो, उसी में दिव्य स्वकीय ॥३॥
देवों से पहिले उसी, युग में हुआ विकास।
असत् से सत् सुमहान् का, हिरण्यगर्भाऽभास ॥४॥
उस विस्तृत् सुप्राप्य अरु, उत्तम के सभी ओर।
हुईं दिशाएं प्रकट तब, गिनी गईं सभी ओर ॥५॥
सत्ता उसकी प्रसिद्ध थी, अतः हुआ वही भूः।
उत्तानपद ही स्वयं, कहलाया सुप्रभूः ॥६॥
अगली पिछली सृष्टियों, में दिशाओं के स्थान।
भूः हो सकता है प्रकट, आशा इसकी महान् ॥७॥
अतः भुवः आशा कही, गईं दिशाएं सर्व ।
भुः के ही सम्बन्ध से, भविष्य भूः ही सर्व ॥८॥
भूः सत् अरु उत्तानपद, ही हुआ दक्ष प्रसिद्ध ।
आशा असत् दिशाओं का,
तम, अदितिः सुप्रसिद्ध ॥९॥

अदितिः से अतः दक्ष था, जन्म, अदितिः सभी ओर।
ही दक्ष के रही ठिक, प्रभु माया सभी ओर ॥१०॥
हे ब्रह्मणस्पतिः जी, अदितिःसुता तब स्वयं ।
दक्ष को जब चुकी जन्म दे,
तब जनी+ देव भी स्वयं ॥११॥
अमर भाई कल्याणमय, हुए दक्ष पश्चात् ।
अदितिः से ही देव सब, उत्पन्न शुभ सात ॥१२॥
उसी एकरस तमस् में, कसे कसाये वीर ।
हुए सुप्रकट सर्वथा, टिके देव सभी धीर ॥१३॥
वहां लगे तब नाचने, करने शक्ति प्रसार ।
तीव्र धूलि तब उड पडी, जिस से बने संसार ॥१४॥
देवों का जब दिव्य वह, थमा सर्वथा नाच ।
धूलिकणों के मेलने, लोक रचे सुखसाज ॥१५॥
अन्धकार अरु धूल से, निकल पडे त्रयी लोक ।
जलसमूह अंधकारमय अरु चमकीला लोक ॥१६॥
अदितिः के सुशरीर से, सभी ओर सुप्रसिद्ध ।
आठ पुत्र उत्पन्न यूं, हुए विश्व में सिद्ध ॥१७॥
सात पास रही स्वयं वह, कहलाए वही देव ।
मार्ताण्ड शुभ दक्ष तो, फैंक चुकी स्वयमेव ॥१८॥
अदितिः सातों पुत्र ले, पहुंची युग के समीप ।
उसी देवयुग प्रथम में, त्रयी लोक सुसमीप ॥१९॥
प्रजा बनाने मारने, यूं रचने संसार ।
फैंके हुए निजी दक्ष का, करने पुनः उद्धार ॥२०॥
हो प्रसिद्ध गया विश्व में, दक्ष तभी सुमहान् ।
मार्ताण्ड हो सूर्यमय, जग समग्र का प्राण ॥२१॥

भारतभूमि का अविनाशी धन ।

श्रीमान् ठाकुर गंगासिंहजी साहेब, रईस नीमखेडा इस्टेट का भाषण ।

प्राचीन कालसे भारतभूमि का अविनाशी धन गौ है । न्याय्य विचार से ऋषि, महा ऋषियों ने खूब छानबीन करके इस परोपकारी जीवको गौमाताकी उपाधि दी है और तमाम अंग में सारे कल्याणकारी देवताओं का दर्शन कराते हुए, हमें भवसागर से पार उतारनेवाली नौका इसी को बतलाया है। देखिए इस माता में बोलने की शक्ति नहीं है, तो भी वह सारे संसार का पालन करती है । उसमें बुद्धि नहीं है, फिर भी उसके दूध से हमे ज्ञान प्राप्त है, शक्ति व तेज बढता है । इसमें जात का कोई भेद नहीं है, कारण कि परम पिता परमेश्वरके तुल्य यह भी प्रेम व शक्ति चाहती है, वो राजा, रंक, ऋषि, फकीर, ब्राह्मण, भंगी सबको बिना भेदभाव के एकसा दूध देती है ।

संसार के सब देशों में गौमाताके दर्शन होते हैं और उसकी आवश्यकता हर एक को है, परन्तु हमारी जन्म-भूमि भारत-खंड में इसका महत्त्व विशेष है। कारण कि हमारा देश एक कृषिप्रधान देश है, इसी माता के बदौलत आज तक हमारे जीवन की तमाम सामग्रियां प्राप्त होती हैं । गौमाता हमें दूध देती है, जिससे मलाई, दही, मखखन, घी, छांछ इत्यादि प्राप्त होते हैं। इसके बछडे से हम खेती करते हैं, व इसकी बछियां हजारों जीवों को पालती है ।

देखिए एक गाय सुबह शाम का अगर आठ सेर दूध दे, तो उसकी खीर से सुबह शाम के आठ आदमी का भोजन होता है और वह गाय अगर दस महिने दूध दे, तो समझिये कि चौवीस सौ मनुष्यों का पालन हो गया । इस तरह अगर गाय अच्छी है, तो आठ औलाद तक मनुष्य का पोषण कर सकती है याने गुन्नीस हजार दो सो मनुष्यों का पालन एक

+ उत्पन्न करती हुई ।

गायने किया और यदि गाय को मारकर खाया जावे, तो एक गाय २५-३० मांसहारियों का पेट-रूपी कोठार एक वक्त के लिए भर सकती है। केवल २५ वर्षों में इन मांसहारियों द्वारा हमारी एक्कीस करोड गायें मारी जा चुकी हैं और अभी नित्य मारी जा रही हैं। हमारे देश में पच्चीस करोड हिन्दुओं के बीच में छे करोड के करीब गाय भैंसें हैं। मांसहारियों को चालीस हजार ४०००० के करीब गायें भक्षणके लिए नित्य चाहिए, उनको देश की ओर कुछ ध्यान नहीं है।

भारत के बडे बडे नेता हिन्दुस्थान की बेरोजगारी व गरीबी के मसले को हल करने के लिए कोशीश कर रहे हैं। मेरी अल्प बुद्धि से तो गौरक्षा ही एक-मात्र ऐसा उपाय है, कि जिससे हिन्दुस्थान की हर कठिनाई में एक बहुत हद तक मदद पहुंचा सकती है।

भाइयों तथा बहिनों! हम हिन्दू हैं, इस लिए हमें गौरक्षा करना चाहिए, गौरक्षा का मतलब सिर्फ गौ को मारसे बचाने का नहीं है, वल्कि उसका पोषण उचित तरीके से होना चाहिए। आज देश की दशा ऐसी गिर गयी है, कि गौ-सेवा जनता घोसी, अहिरों इत्यादि न्यून वर्गोंका काम समझती हैं, न उनके लिए गौचर है और न नस्ल सुधारका कोई प्रबन्ध है और न उनके बांधने की उचित जगह है। बे समझ जनता गाय जनी के १-२ रोज बाद चारों थनों का दूध निकाल लेते हैं और बच्चों के लिए किंचित् मात्र भी नहीं रहने देते। परिणाम उसका यह होता है, कि बछडा व बछडी दुर्बल हो जाते हैं और जब वे जनते हैं, तो माता से आधा दूध देने लगते हैं और वो दुर्बल रोती हुई गाय का ही दूध हम को प्राप्त होता है। परिणामस्वरूप भारत की जनता आज दुर्बल दिखाई दे रही है।

भारत के मनुष्यों की आयु एव्हरेज से ३५-३ साल की मानी गई है, इसका कारण गौ के दूध कमी है। दूध कम होने के कारण गौघी का अ है। इस देश में ४० चालीस फी सदी बछडे-ब अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

भाईयों जागृत हो जाओ और गौसेवा करो, के बच्चों का पालनपोषण उचित रीति से क ग्रामों में अच्छे सांड रखो, गौशालाएं बना स्वच्छ दूध प्राप्त करो, बाल-बच्चों को पिला और स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट सन्तान भारत को दो।

गौमाता के पीछे नित्य आठ आने खर्च करोगे, वर्ष में आप को १८० रुपया खर्च होंगे। उस बदले में गौमाता आप के २४०० चौबीससौ मनु का पालन करेगी और एक बछडा देगी, जिससे भी दूधदही की वृद्धि होगी, उसे बेंच कर मनमा धन कमाओ और गरीबी को हमेशा के लिए ठो मारो। मलमूत्र से खाद होगा, जिसे खेतमें डाल डेढा दुगना नाज पैदा करो।

भाइयों मैं आपका समय बहुत ले चुका हूं। लिए आखरी प्रार्थना करके भाषण मैं समाप्त कर हूं। यदि आप हिंदू हैं, तो आज से प्रण कीजिए हम गौ को नित्य भोजन दिए बगैर भोजन न करेंगे, पानी पिलाए बगैर पानी नहीं पियेंगे। थनसे ज्यादा दूध नहीं निकालेंगे। गौमाता को बेचेंगे नहीं। यदि कारणवश पालन नहीं कर सके, गौशाला को अर्पण करेंगे, लेकिन प्राण रहते बैल गाय को नीच कर्म करनेवाले को नहीं बेचेंगे।

दरिद्रता क्या है ?

(लेखक– पं. रामावतार विद्याभास्कर, पो. रतनगढ, जि. बिजनौर, यू. पी.)

धनकी प्यास 'दरिद्रता' है और भोगों की प्यास भी 'दरिद्रता' है। धनकी प्यास में भोगों की प्यास समायी हुई है। अकेले धनकी प्यास किसी को नहीं होती। धनकी प्यास के पास ही भोगों की प्यास का वास है। धन के साथ धन का अभिमान भी रहता है। धन मनुष्य को सदा सत्यदर्शन से दूर रखता है, यही धनाभिमान का स्वरूप है। धनोपार्जन करनेवालों का यह विश्वास है, कि हम धन के भरोसेसे, अपनी रक्षा अपने आप कर रहे हैं। धन न होता, तो हमसे हमारी रक्षा न होती। धनको अपनानेवाले मनुष्य धनके महत्त्वको अस्वीकार नहीं कर सकते। वे अपने आपको धनकी तुच्छ शक्ति से ऊपरली शक्ति के हाथोंमें नहीं सौंप सकते। वे अपने धनके घमंडके साथ बंधे रहते हैं। वे अपने को परमात्मा के विश्व-परिवार से, तथा उसकी विश्वपरिचालनव्यवस्थासे पृथक् मानते हैं। उन्हें अपने आप अपनी व्यवस्था करने का घमंड होता है। वे विश्व के जननारायण में 'विश्वनाथ' का दर्शन करने के अवसरों को सदा खोते रह कर, अपनी कितनी बडी हानि कर रहे हैं? यह नहीं समझते। उनकी अहंकारमूढ बुद्धि, उन्हें परमात्मारूपी दयालु दाता, तथा विश्वप्रेमी नारायण से सदा पृथक् रखती है। किसी भी विश्वप्रेमी का प्रेम, किसी भी दयालु भगवान् की दया, और किसी भी दयालु दाताका दान, उनके धनाभिमान नाम के पहरेदारसे भगाया जा कर उनके पास आने का साहस नहीं करता। जो नारायण, मनुष्यमात्रमें दया, प्रेम तथा दानवृत्तिके रूपमें निरन्तर बस रहे हैं, मनुष्यों का हृदय ही उनके बसने का स्थान है। परन्तु ऐसे उदार हृदय धनाभिमानियों के पास नहीं होते।

जो धनाभिमान को त्याग देते हैं (अर्थात् धन से पूर्ण असहयोग करके अपने आपको संपूर्ण रूपसे भगवान् के हाथोंमें सौंप देते हैं) वे विश्वमानवके घटघटमें दाता, दयालु तथा प्रेमी नारायण का दर्शन पाते हैं। धनाभिमान विश्वमानवमें ऐसे नारायण का दर्शन करने की रुकावट बन जाता है। जिस समय मनुष्य अपने समझे जानेवाले सब पार्थिव धनजन आदिको अस्वीकार करने की शुद्ध बुद्धि प्राप्त करता है, तब उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है। तब उसे इस सत्यका साक्षात्कार होता है, कि "ओह, मैंने अपने को जिस परमात्माके हाथमें सौंपा है, उसीने मुझपर कृपा करके, मेरे सब तुच्छ धनजन के अभिमान को छीनकर, उसके बदले में मेरे हाथों में अपने आपको सौंप दिया है, और अब वह सदा के लिये 'मेरा' हो गया है।"

साधारणरूप से यह मान लिया गया है, कि रुपया पैसा न रहना 'दरिद्रता' है। धन बटोरने-वालों के मनमें यही समाया हुआ है, कि " हम धन के भरोसे से जीवन धारण कर सकेंगे। हमें धनके अतिरिक्त जीवन धारण करने का दूसरा कोई उपाय नहीं दीखता। इसलिये हमें अवश्य धनका उपार्जन करना चाहिये और अपने को 'निर्धनता' या 'दरिद्रता' से बचाना चाहिये "। साधारण दृष्टिसे देखने पर यह सिद्धान्त सत्य प्रतीत होता है। क्योंकि जीवनधारण करनेके पदार्थ धनके बदलेमें मिलते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त सत्य नहीं है। जिन पदार्थों के बिना जीवन धारण करना असंभव है वे धनशक्ति उन्हें पाने का एकमात्र उपाय नहीं है। किन्तु जीवन के आवश्यक पदार्थ मनुष्यमें रहनेवाली कर्मशक्तिसे

प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्यों में रहनेवाली कर्म-शक्ति ही मनुष्यका सर्वसमर्थ 'ईश्वर' है। यह ईश्वरही सबका निर्वाह कराता है। तुम धनधान्यसे हीन होकर चाहे जहां चले जाओ यह तुम्हारी कर्मशक्तिरूपी 'ईश्वर' वहीं तुम्हारे साथ जायगा और वही तुम्हारी जीवनयात्रा करायेगा। परन्तु इस मायामोहित मनुष्यप्राणीने इस अपने 'ईश्वर' की अवहेलना करके अपने निर्वाह तथा अपने (कर्म-शक्तिरूपी निर्वाहक) ईश्वरके बीचमें, 'धन' नाम की एक काल्पनिक वस्तु बनाकर खडी कर ली है। पहले तो इसने 'धन' को महत्त्व दिया और फिर उससे प्रभावित होकर, उसीके उपार्जन में चिन्तित होकर दुःखी रहने लगा। मनुष्य अपनीही कल्पनासे दुःखी रहने लगा। मनुष्यने अपनीही कल्पनासे दुःखी रहनेकी यह बडी दयनीय अवस्था बना ली।

यह मनुष्य दूसरे प्राणियों के समान स्वाभाविक रूपमें जीवनयात्रा करना नहीं चाहता। यह अपनी शक्ति का भौतिक मध्यस्थ बनाना चाहता है। यह पहले तो अपनी शक्तिसे 'धन' बनाना चाहता है, और फिर उससे भोग की सुविधा पाना चाहता है। जब इसकी कर्मशक्ति 'धन' नाम का पार्थिव बाना पहन लेती है, तब उसपर मरदे शीरपर गृध्रोंके समान सब धनलोभियों की दृष्टि पडती है। धन-शक्ति झगडेका कारण बन जाती है। धनशक्ति समाज को अशान्त बनाती है। मनुष्य की कर्म-शक्ति को पार्थिव रूप मिलते ही शत्रुता आदि के अवांछनीय अवसर मनुष्य के शिरपर आकर खडे हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें, पहले धन प्राप्त करना और फिर उससे अपने जीवन का निर्वाह करना, यह कितनी बडी बेसमझी की बात है? इस परिवर्तनमें मनुष्य की कर्मशक्ति की कितनी बडी मात्रा व्यर्थ नष्ट हो जाती है, इस को ध्यानमें लानेसे भी चित्त दुःखी होता है।

मनुष्य को सोचना चाहिये, कि हम बीचमें धन-शक्ति को क्यों खडा करें? हम अपने भीतर रहनेवाली धनशक्ति की माता कर्मशक्ति से ही अपने जीवन का साक्षात् निर्वाह क्यों न करें? मनु-ष्येतर सब प्राणी अपनी कर्मशक्तिसे अपनी जीवन-यात्रा करते हैं। मनुष्यों में भी ग्रामवासी कृषक आदि कर्मशक्तिजीवी मनुष्य अपनी कर्मशक्तिसे अपने जीवन का निर्वाह करते हैं। कुछ थोडे मनुष्य ऐसे हैं, जो अपनी शक्तिसे पहले धनोपार्जन करते हैं और फिर उससे जीवन बिताते हैं। उनकी धनशक्ति उनकी कर्मशक्ति का ही रूपान्तर है परन्तु वह कर्मशक्ति का ऐसा भौतिक रूपान्तर है कि उसके साथ साथ झगडे विपत्ति, चिन्ता और दुराशा लगी हुई हैं। यह कर्मशक्ति का हानिकारक रूपान्तर है। कोई भी मनुष्य धनी लोगोंके ऊं[चे] महल देखकर उन्हें सुखी समझने की भूल न करे थोडेसे धनी मनुष्योंके भ्रमपूर्ण उदाहरणोंसे कोई भी मनुष्य धोकेमें न आये। क्या मनुष्य इन थोडेसे उदाहरणों से धनकी उधारी शक्तिसे सच्ची कर्मशक्ति को अपमानित होने देगा? कर्मशक्तिका मानवी जीवन में जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह स्थान यदि इन धनी लोगों की मायावी सफलताको देखकर, धनशक्ति को दे दिया जायगा, तो जीवनके बुरेसे बुरे दिन प्रारंभ हो जायंगे। तब जीवन अशान्तिका केन्द्र बन जायगा तब जीवनमें कमाने, खाने और झगडने के अतिरिक्त दूसरा कोई काम न रहेगा।

धनशक्ति ने संसारमें जितने अनर्थ किये हैं, यदि मनुष्यजातिने उन सब को न भुलाया होता, तो धन-शक्तिसे यह महत्त्व कभी का छिन गया होता संसारमें जितने दुर्गुण पाये जाते हैं, वे सब आत्म-शक्ति पर विश्वास न रखकर धनपर विश्वास रखने-वालों के घरोंमें निवास करते हैं। धनशक्तिसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थों को तब ही हटाया जा सकता है जब उसे महत्त्वपूर्ण मानना छोड दिया जाय और कर्मशक्ति को ही महत्त्वपूर्ण माना जाय। जिस दिन मनुष्यजाति कर्मशक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान उसे लौटागी, उस दिन संसारसे 'दरिद्रता' का प्रश्न लुप्त हो जायगा।

मनुष्य सुख पाने के लिये धन या भोग

पदार्थोंका उपार्जन करता है। परन्तु मनुष्यको जिस सुख की आवश्यकता है, वह सुख इन धन आदि पदार्थोंमें नहीं रहता। वह सदा शान्त मनमें बसता है। सुखेच्छु पुरुष को सदा शान्त मनकी कामना करनी चाहिये न कि मनको अशान्त बनानेवाले पदार्थों की। सुख के लिये धन चाहना, प्यास बुझाने के लिये अग्नि चाहना है। यह व्यर्थ तथा हानिकर परिश्रम है। इस परिश्रम की मात्रा जितनी बढेगी, दुःख अर्थात् निर्धनता भी उतनी ही मात्रा में बढती चली जायगी।

धन के विना जीवन धारण करना असंभव माननेवालों को विचारना चाहिये, कि क्या मनुष्य धन हाथमें रहनेसे निश्चिन्त रूपसे जीवनयात्रा कर सकता है ? क्या धनसे जीवन धारण करने के मार्ग की सब बाधा डर कर भाग जाती है ? क्या धन उन सबको भगाकर मनुष्यको निर्विघ्न बना देता है ? इस समस्याको सुलझाने के लिये सबसे प्रथम यह देखना चाहिये, कि जीवन धारण करना किसे कहते हैं ? सब जानते हैं कि देह किसी का भी चिरस्थायी नहीं है। धनी निर्धन सबके देहों का विनाश अवश्यंभावी है। प्राणशक्ति शरीरोंमें कुछ दिनों के लिये आती है, सदा के लिये नहीं। न तो धन से इस प्राणशक्ति का काल बढाया जा सकता है और न धनसे इस प्राण-शक्ति की समाप्ति रोकी जा सकती है। उसे जितने दिन इस शरीरमें रहना है, वह उतने दिन रहती है और फिर चली जाती है। जिसकी मुट्ठी में धन है, वह यदि चाहे तो इस प्राणशक्ति को, इसके नियत समयसे अधिक समय तक रोक रखने के प्रयत्नमें, कुछ धन व्यय कर सकता है।

जिसके हाथमें धन नहीं है, उसके पास व्यय करने को भी कुछ नहीं है। मनुष्य अपनी प्राण-शक्ति के काल को बढाने और उस पर आयी हुई आपत्ति को हटाने में कुछ धन व्यय कर सकता है। इससे आगे पैर रखते ही मनुष्य देखेगा कि वह अधिकारहीन है। इसलिये मनुष्यों के सामने मुख्य प्रश्न यह है, कि जबतक शरीर जीवित है, तबतक मनुष्य को किस प्रकार जीवित रहना चाहिये ? और मनुष्य के जीवन में धन का क्या स्थान होना चाहिये ? इन प्रश्नों का सच्चा उत्तर ही जीवनधारण की योग्यतम विधि और स्वरूप है।

केवल लुहार की धौकनी के समान श्वास लेते रहना 'जीवन' नहीं है। भोग करने योग्य पदार्थों को रुपयेपैसे से प्राप्त करके, जबतक यह देह ईश्वरीय प्रबन्धसे जीवित रहे, तबतक श्वास लेते रहने और भोजनादि करते रहने से बढकर धन-सम्पत्ति का कोई उपयोग नहीं बनाया जा सकता। परन्तु जीवित रहने का अभिप्राय केवल श्वास लेते रहनेसे पूरा नहीं होता। वह शान्तिपूर्वक जीवन बितानेसे पूरा होता है। सच्चा धन हम उसी को कहेंगे, जिसमें इस उद्देश्य को पूरा करने की शक्ति होगी। मनुष्य अपने को अशान्ति के आक्रमणसे बचाने के लिये जिस शक्तिपर भरोसा कर सकता है, वही 'सच्चा धन' है। उस धनसे धनवान् न होना 'निर्धनता' 'दरिद्रता' या 'गरीबी' है।

ज्ञान प्राप्त करना जीवन धारण करने का उद्देश्य है। मनुष्य के मनमें अपने सम्पर्क और उपयोग में आनेवाले पदार्थों के विषयमें किसी प्रकार के विचार या मिथ्या ज्ञान न हों, वह उन सबके स्वरूपको पहचाने, उसके उपयोग में आनेवाला कोई पदार्थ उसे अपने मोहजाल में न फांस सके, इस 'ज्ञान' को प्राप्त करनेमेंही मनुष्य की कर्मशक्ति व्यय होनी चाहिये। ऐसे ज्ञान को प्राप्त करना ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य जानना चाहिये। यदि कोई अभागा मनुष्य अपनी कर्मशक्ति को ऐसे पवित्र कल्याणकारी काममें न लगाकर जीवन धारण करने की वस्तुओं को पाना जीवन-धारण का उद्देश्य बना लेगा और अपनी कर्मशक्ति को उन्हींकी प्राप्ति में लगा देगा, तो उसके जीवनधारण का अभिप्राय भोजनादि करते रहना

मात्र रह जायगा। जब मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कर्म-शक्तिको ज्ञान प्राप्त करने में लगा देगा, तब ज्ञान-प्राप्ति में लगाई हुई उसकी कर्मशक्ति साथही साथ इस उद्देश्यके लिए जीवनधारणा की आवश्यकता के समयतक उसके शरीर को भी जीवित रखेगी।

उद्देश्यों में अपने साधनों को ठीक रखने की शक्ति होती है। जो मनुष्य अपने जीवनके उद्देश्य को और उसे पानेकी शक्तिको भूल जाता है, वह लोगों के कुदृष्टान्तों से प्रभावित होकर अपने कर्मशक्ति को धन आदि भोग्य पदार्थों के पीछे दौडाता है। वह मन में सदा यही सोचता है कि मैं धनके बिना कभी जीवित नहीं रह सकूंगा। यद्यपि संसार में करोडों मनुष्य धनके बिना जीवित रहते पाये जाते हैं, परन्तु वह इन दृष्टान्तों की ओर देखना नहीं चाहता। वह यह नहीं सोचता, कि जीवनधारण के मुख्य उद्देश्य 'ज्ञान' को प्राप्त किए बिना, जीवनधारण किए रहने पर भी, ऐसे ज्ञानहीन निकम्मे जीवन का क्या उपयोग है? धन के मोह में फंसा हुआ मनुष्य अपनी कर्मशक्ति की महत्ता को सर्वथा भूल जाता है और धनको एक स्वतन्त्र शक्ति समझकर, उसी के भरोसे रहकर, अपनी कर्मशक्ति का, धन कमाने से अधिक सदुपयोग होने की कल्पना या विश्वास तक नहीं कर सकता। परिणाम यह होता है, कि जो धन सचमुच कोई शक्ति नहीं है, उसीकी व्यर्थता में अपने जीवनको व्यर्थ मान बैठता है। अर्थात् जब वह अपने जीवन में धन के द्वारा सफलता नामवाली स्थिति प्राप्त नहीं कर पाता, तब अपने जीवनको व्यर्थ समझ लेता है।

धन कमाना जीवन का लक्ष्य (अर्थात् मुख्य काम) बनाने की मनोवृत्तिवाले लोग अपने सन्तोष को व्यय करके, या उसे खोकर, पहले तो धन कमाते हैं, और फिर चाहते हैं, कि इस धनको इच्छानुसार व्यय करके 'सन्तोष' या 'आत्मतृप्ति' कमायें। धन कमाने को जीवन का मुख्य काम बनाने का अभिप्राय, अपनी सच्ची आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली 'आत्मशक्ति' या अपने ईश्वर को भूल जाना है। अज्ञानी मनुष्य अपने सर्वसमर्थ ईश्वरपर अविश्वास करके, उसका स्थान धन को दे देते हैं, और उसीसे अपनी रक्षा करना चाहते हैं। जिस मनुष्य का ईश्वरपर अविश्वास, धनपर विश्वास का रूप धारण कर लेता है, उसका धन 'धन' नहीं रहता। वह ईश्वरविरोधी, (ईश्वर को भुलानेवाली अर्थात् ईश्वर की आवश्यकता न छोडनेवाली) वस्तु बन जाता है। उस ईश्वरविरोधी धन का स्वरूप यह होता है, कि जब ईश्वर शान्ति-स्वरूप है, तो वह धन अशान्ति का आधार है। ईश्वर को धक्का देकर लाये हुए धन में अशान्ति उत्पन्न करनेवाला गुण वर्तमान रहेगा। जब ईश्वर में अमर बनाने की शक्ति है, तो धन में मृत्यु को बुलानेवाले सब भाव हैं। प्रत्यक्ष देखते हैं, कि धन अशान्ति उत्पन्न करता है और मौतसे मिलाता है। सन्तोष नाम का सच्चा धन इस पार्थिव 'धन' के पास कभी नहीं रहता। अज्ञानी संसार जिस मनोवृत्ति से धन का उपयोग करता है, उसमें सन्तोष के लिये कोई आग्रह नहीं है। प्रत्युत बन्धन में पडने की ओर आग्रह है। ऐसी मनोवृत्तिवाले मनुष्य सदा बन्धनजाल में फंसे रहते हैं। धन में बन्धन से छुडाने की शक्ति नहीं है। वह मनुष्य को सुखदुःख के बन्धन-जाल में फंसानेवाला प्रलोभन है। इसलिये जीवन के लक्ष्य तथा कार्यक्रमसे धन का आग्रहपूर्वक बहिष्कार होना चाहिये। धन के त्याग दिये जाने पर मनमें जो स्थान रिक्त हो, उसमें सन्तोष को भर देना चाहिये।

धन मनुष्य की कर्मशक्ति का ऐसा अयोग्य प्रतिनिधि, ऐसा झूठा रूपान्तर और ऐसा वंचक मध्यस्थ है, जो उसकी कर्मशक्ति को सच्चे कर्म में नहीं लगने देता और मनुष्य को निकम्मा बनाता है। जैसे बिच्छू के बच्चे उसीकी कमर पर चढ बैठते हैं और उसी को चोंट चोंट कर खा खाकर उसे मार डालते हैं, इसी प्रकार यह 'धन' अपनी माता कर्मशक्ति को निकम्मा बना कर अन्तमें उसे मार

डालता है। परिणाम में मनुष्य 'आलसी' और 'पराधीन' हो जाता है। यह मनुष्य में सब प्रकार के दुर्गुण उत्पन्न करता है और उसे अन्ततक धोके में रखता है। इस धोके की अवस्था से बच कर रहना मनुष्य की योग्यता का सच्चा अभिप्राय है। इसका केवल यही उपाय है, कि पहलेसे ही अपने दृष्टिकोण को धन के मोह से हटाकर रखो और निम्न रीतिसे अपनी कर्मशक्ति पर दृढ विश्वास जमाओ, कि हम धन जोड कर क्या करेंगे? हमें जब जो सच्ची आवश्यकता होगी, उसे हमारी कर्मशक्ति ही पूरा करेगी। हमारी सच्ची आवश्यकता पूरी करनेवाली हमारे सत्य की अनन्त शक्ति समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक है। वह जहां जिस वस्तु की सच्ची आवश्यकता होती है, वहीं उसे उपस्थित करती है। हम सत्य की इस अनन्त शक्ति को छोड कर, धन की परिमित शक्ति पर क्यों भरोसा करें? और अपने आपको धन के कठोर बन्धन में क्यों बांधें?

वास्तविक स्थिति तो यही है, कि मनुष्य की कर्मशक्ति से ही उसके जीवन का निर्वाह होता है। उसे केवल मनोरथ के महलों के लिये धन की आवश्यकता पडती है। मनोरथ के महल न मिलने पर भी मनुष्य का जीवन अधूरा नहीं रहता। प्रत्युत जीवन अधिक शान्ति से बीतता है।

धनशक्ति की व्यर्थता दिखाने का यह अभिप्राय नहीं है, कि धन को मत छुओ, उसे हाथ मत लगाओ या धनोत्पादक कामों को रोक दो। किन्तु उसका यही अभिप्राय है, धनको अपने जीवन का लक्ष्य मत् बनाओ। धनको अपने जीवन के लक्ष्य अर्थात् ईश्वर को धक्का देकर अपने पास मत् आने दो। धनके साथ वहां तक सम्बन्ध रखो, जहां तक वह तुम्हारे लक्ष्यका विरोधी न हो। अर्थात् तुम मनोरथों को तिलांजलि देकर, सत्यपर प्रतिष्ठित रहते हुए, मनका पतन न करते हुए, शरीर को क्लेश न पहुंचाते हुए, केवल शरीर की जीवनयात्रा के लिए अपनी कर्मशक्ति धनोत्पत्ति में लगा सकते हो।

जब हमारे अन्दर रहनेवाली विराट् कर्मशक्ति कर्तव्यपालन के रूपमें परिणत होकर धनोत्पादन का रूप धारण करेगी, वह धन हमारी निजी संपत्ति नहीं होगा। किन्तु वह सम्पूर्ण मनुष्यसमाज के मनुष्यता-रूपी 'प्रभु' की सेवा का साधन होगा। ऐसा धन हमें 'दरिद्र' न बनाकर सच्चा 'श्रीमान्' बना सकेगा। हम ऐसे धनसे सम्बन्ध रखते हुए भी अपने को दरिद्र नहीं समझ सकेंगे। ऐसा धन धनतृष्णासे उत्पन्न नहीं किया जायगा। किन्तु उसे कर्तव्यपालनरूपी कल्याणमयी बुद्धि उत्पन्न करेगी।

मनुष्यको धन से सम्बन्ध रखने की एक सीमा नियत कर लेनी होगी। यदि मनुष्य ऐसा नहीं करेगा, तो धन की प्यास उत्पन्न हो जायगी और मनुष्यको कभी शान्तिसे नहीं बैठने देगी। धन की प्यास कभी किसी की नहीं बुझती, यही धनमें अधूरापन है। क्या मनुष्य धन के इस अधूरेपन में अपने जीवन को अधूरा बनाना चाहेगा? इसलिए, मनुष्य को धन के सम्बन्ध के औचित्य की एक कसौटी बना लेनी पडेगी और उसीके अनुसार इस सम्बन्ध में अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करना होगा। अपने को धनके बन्धन में न फंसा कर बन्धनमुक्त रखने में ही धनका उपयोग करना होगा। अर्थात् धन के साथ सम्बन्ध रखने या छोडने की दोनों अवस्थाओं में अपनी कर्मशक्ति को आत्मकल्याण करनेवाले कार्यों में व्यय करना पडेगा।

धन से भोग के रूप रस आदि साधन सुलभ हो जाते हैं। परन्तु मनुष्य को जानना चाहिये कि इस प्रकार की भोगेच्छाओं से उसका मन पतित होता है। ये इच्छा 'स्वार्थ' कहाती हैं। यदि मनुष्य इन स्वार्थों को पूरा करने लगेगा, तो दुःखदायी मिथ्या बन्धनों में फंसता चला जायगा। केवल धनसंचय करते रहनाही स्वार्थ के फंदे में फंसे हुए मनुष्यों का काम होता है। स्वार्थी मनुष्यों को आत्मशक्ति परसे भरोसा उठ जाता है और धनशक्ति पर भरोसा जम जाता है। इससे उनका स्वार्थ का बन्धन

अर्थात् (दुःखों का बन्धन) सदाके लिये दृढसे दृढतर और दृढतरसे दृढतम होता चला जाता है। जिसके पास जितना अधिक धन संचित हो जाता है, उसके पाससे दुःखोंके बन्धनों के न हटने की संभावना भी उतनी ही शीघ्रता से बढती चली जाती है। उस में दुर्गुणों के समस्त समूह आकर बस जाते हैं। उसके सिरपर दुर्गुणों के आसपास घूमनेवाली विपत्तियां, मुरदे शरीरोंपर गृध्रों के समान सदा चक्कर काटती रहती है। अथाह संपत्ति का स्वामी हो जानेपर भी मनुष्य, अपने को शान्तिके मार्ग में निर्विघ्न समझने और विपत्तिहीन पाने के बदले, अशान्ति के कठिन बन्धनों में जकडा हुआ पाता है।

यदि मनुष्य धनपर भरोसा करेगा, तो मनुष्य को जिस धनसे श्रेष्ठ शक्तिपर भरोसा करना आवश्यक है, उसकी अवहेलना करनी पडेगी। इसके विपरीत यदि मनुष्य वास्तविक शक्तिपर भरोसा करेगा, तो उसे धनपर भरोसा करनेकी आवश्यकता न रहेगी। वह सच्ची शक्ति मनुष्य के भीतर अनन्तमात्रा में भरी पडी है। अपने को पूर्ण भ्रान्तिरहित और आनन्दमयी स्थितिमें रखनेवाली अनन्तशक्ति का झरना मनुष्य के भीतर लहर मार रहा है और मनुष्यके ध्यानकी प्रतीक्षा कर रहा है। आवश्यकता केवल एकबार अन्तर्मुख होकर उसे देख लेने की है। उसका दर्शन पाते ही विषयलोलुपतारूपी "निर्धनता" को मिटने में एक क्षण की भी देर न लगेगी। यह शक्ति ईश्वर की शक्ति कहाती है। इसी शक्ति के स्वामी ईश्वर चराचर जगत् में व्याप्त है। इस शक्ति से दूसरा कोई ईश्वर नहीं है।

जो अभागा इस आत्मशक्तिरूपी 'ईश्वर' को नहीं समझता, वह अपने को सब समय शुभ कार्य के लिये (शान्ति के मार्गपर चलने के लिये) असमर्थ पाता है (शक्तिहीन समझता है)। अपने को शुभ कार्य करने में असमर्थ पाना 'ईश्वरीय सत्ता का निषेध करना'. है। यह 'नास्तिकता' है। केवल जिह्वा से ईश्वरीय सत्ता का निषेध न किये जाने भी, अपने में ऐसी निर्बलता रखना 'ईश्वरीय सत्ता अस्वीकार कर देना' है। मनुष्य की सच्ची आवश्यक अवश्य पूरी होती है। वह धन न होनेसे नहीं हो सक इस प्रकारका जीवित-विश्वास न होना, 'ईश्वरी सत्ता को अस्वीकार करना' है। यही 'नास्तिकता का स्वरूप है। इस प्रकारकी 'नास्तिकता' ही 'सच्च निर्धनता' है। अपनी आत्मशक्ति का पता न हो 'सच्ची निर्धनता' है। अनात्मशक्तिपर भरो होना 'सच्ची निर्धनता' है। संसारकी कुछ वस्तु का मालिक बननेकी इच्छा 'निर्धनता' का स्वरूप है

जिसने अपने को भोगरूपी बन्धनों में बंधे र का अधिकारी समझा है, उसके लिए यही ठीक कि वह अपने को कल्याण का अनधिकारी, दु तथा तुच्छ प्राणी माने। सब समय रूपरसादि भो की इच्छाओं से उत्पन्न होनेवाले दुःखों के बन्धन जाल में जकडा पडा रहे और बन्धन से मु न होने को ही निर्विघ्नपना समझकर इस कल्प की निर्विघ्नता को बनाए रखनेवाली धन नाम शक्तिपर भरोसा किया करे। आत्मशक्तिपर भरो न करके धनशक्तिका भरोसा करनेवाले ऐसे लो ही अपने को पतित दुःखियां और अशक्त सम हैं। वे अपने मनमें इस विचारको कभी नहीं आ देते, कि हमारे जीवनका लक्ष्य धनसे श्रेष्ठ (ऊंचा है और इसमें उसे पाने की शक्ति भी है। ऐ मनुष्यों के पास कर्तव्यबुद्धि नहीं होती, किन्तु भो बुद्धि होती है। ऐसों की प्रवृत्ति शुभ कार्यों की अ कभी नहीं होती। शुभ कार्य न करना, अशुभ क करने के बराबर है। विचार की कमी से मनु अशुभ कार्यों में लगता (या शुभ कार्यों से ब रहता) है।

ऐसे लोग विचार किए बिना भोगमार्गी संसार देखा देखी, भोगवासना को पूरा करने के लिए धनो पार्जन को अपना ध्येय बना लेते हैं। उनकी उपार्ज वृत्ति में सत्यासत्य उपायका विचार नहीं रहता किसी प्रकार धन आना चाहिए, यही इनके उपार्ज

की नीति होती है। वे उपार्जन के उचित-अनुचित ढंगोंपर विचार नहीं करते। वे सत्य को अपनाने में असमर्थ रह जाते हैं। वे सत्यको ग्रहण करने में अपनी भौतिक हानि देखकर, उसमें पैर रखने का साहस नहीं करते। वे 'सत्य' को सत्य के प्रतिष्ठित रूपमें नहीं देखते। उन्हें 'सत्य' भौतिक हानि करनेवाले हानिकारक रूप में दीखता है। उन्हें सत्य उनकी लालचकी रुकावट के रूप में दीखता है। इसलिये वे 'सत्य' को दूरसे प्रणाम कर लेते हैं। वे सत्यहीन हो जाना तो सह लेते हैं, परन्तु उनसे भौतिक हानि नहीं सही जाती। यों सत्यहीन जीवन बिताना, उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जाती है।

'सत्य' ही मनुष्यजीवन में पाने योग्य एकमात्र सम्पत्ति है। उस 'सत्य' रूपी सम्पत्तिसे वंचित रहना सच्ची 'निर्धनता' है। जो इस सत्यरूपी संपत्ति से विहीन होते हैं, वेही धन, मान तथा भोग्य पदार्थों को इकट्ठा करने के लिये पागल बनते हैं। वे इन्हें पाकर कभी क्षणिक सुख और कभी क्षणिक दुःखके भागी बनते रहते हैं। कभी सुखी और कभी दुःखी होना, इस बात का प्रमाण है, कि इस मनुष्य को सच्चे सुख का पता नहीं चला। सच्चे सुख का पता न होना 'दरिद्रता' या 'गरीबी' है। यह 'दरिद्रता' सब दुःखों का मूल है। जो इस 'दरिद्रता' का दास होकर, रूपरसादि भोगने की इच्छा से धनोपार्जन करेगा, और उसी धनको जीवन का भरोसा मान लेगा, उसकी न तो कभी धनतृष्णा मिटेगी और न कभी उसकी सुखकी इच्छा तृप्त होगी। तृष्णा ही 'दरिद्रता' है। यह कभी भोगी का साथ नहीं छोडती। चाहे जितना धन आजाने पर भी और चाहे जितने भोग्य पदार्थ मिल जाने पर भी, उनसे तृष्णा का ह्रास नहीं होता। ये सब अग्नि को घी के समान, तृष्णा को उत्तरोत्तर बढाते रहते हैं। यह तृष्णा आत्मसन्तोष को चूस डालती है। इसपर विजय पाने की शक्ति मनुष्यमात्रमें है। वह शक्ति ऐश्वरी शक्ति कहाती है। अपने को सम्पूर्ण ज्ञानी तथा आनन्दस्वरूप मानते रहना ही ऐश्वरी शक्ति का स्वरूप है। मनुष्यको दरिद्रतारोगसे मुक्त रहने के लिए इस ऐश्वरी शक्ति का दर्शन करना पडेगा, आत्मतृप्त रहना सीखना होगा, आत्मसुखको साधनाधीन मानना छोड देना पडेगा और इस प्रकार अपनी दरिद्रता की जड काट देनी पडेगी।

मनुष्य को यह जानना चाहिए कि यदि उसका जीवन एक सच्ची घटना है, तो उसके निर्वाह के साधन, पंखीपर आ बैठनेवाले कबूतरों के समान, जहां यह शरीर रहेगा, वहीं इसकी सहायताके लिए, अवश्यमेव भी आकर इकठ्ठे होते रहेंगे और उसकी जीवनयात्रा कराते रहेंगी। यदि मनुष्य के जीवन की घटना सच्ची घटना है, तो साधनों का इकठ्ठा होना भी सच्ची घटना होकर रहेगी। इस नियम को जाननेवाला मनुष्य, इन दोनों घटनाओं का साक्षी होकर स्वस्थता का आनंद चखेगा। आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनुष्य अपने अन्तर में इस ऐश्वरी शक्ति का दर्शन करे।

जो अपने को इस ऐश्वरी शक्तिसे शक्तिमान् नहीं समझता, वही नास्तिक है, वह रिपुओं का दास है, वह परतन्त्र है, वह निर्धन है और वही दरिद्र है। जिसे धन की भूक है, जो धन न होने से दुःखी है, जिसे धनाभाव अखरता है, जो आवश्यकता का दास है, जो विश्वकी पदार्थमाला में से किन्हीं नश्वर पदार्थों का स्वामी बनना चाहता है, जो अपने को अपनी इच्छा पूरी करने में सदा असमर्थ पाता है, वही 'दरिद्र' है। 'दरिद्रता' पेडों के नीचे, फूंसके झोपडों में और खाली घरों में नहीं रहती। वह धनलोभियों के मन में रहती है। जो वर्तमान धन से अतृप्त है, वही 'दरिद्र' है। अतृप्ति ही 'दरिद्रता' है।

गुरुकुल में आवश्यक सुधार।

(लेखक— श्री स्वामी अभयदेवजी)

(गुरुकुल कांगडी में जिस आवश्यक सुधार की तरफ मैं गत तीन वर्षों से अधिकारियों का ध्यान खींचता रहा, उसकी चर्चा मैं इस लेख द्वारा श्री मुख्याधिष्ठाताजी गुरुकुल कांगडी की अनुमति पाकर कर देना चाहता हूँ। इस लिए मैं गुरुकुलोत्सव पर (१६-४-३८) को हुई विद्यासभा की बैठक में तथा उसके बाद हुई (२०-४-३८) गुरुकुलीय उपाध्याय महोदयों की समिति (विश्वविद्यालय-समिति) में मैंने जो कुछ विचार प्रकट किये थे, अगर उन्हें ही लेखबद्ध कर रहा हूं। -'अभय')

गुरुकुल की उन्नति और रक्षा के लिए इस समय सबसे अधिक आवश्यक बात यह है, कि हम सब से अधिक ध्यान इस बात पर दें, कि गुरुकुलके गुरु [उपाध्याय व अध्यापकवर्ग] बहुत ऊंचे दर्जे के हों। इसके विना अब गुरुकुल आगे अपनी स्वस्थ उन्नति नहीं कर सकता। यदि ऐसे गुरु मिलना सचमुच सम्भव न हो तो गुरुकुलको बन्द कर देना उचित है, 'गुरुकुल' नाम लेना छोडना चाहिये। पर यह तो पूरी तरह से सम्भव है।

अभी तक गुरुकुल की कुछ गौण विशेषताएं ही ऐसी थीं, जो जमाने के लिए नई थीं, जैसे गुरुकुल की राष्ट्रीयता, इसमें हिन्दी भाषा माध्यम से शिक्षा, कुछ धार्मिक शिक्षा आदि – अतएव इन गौण कारणों से भी गुरुकुल जनता का प्यारा था और वस्तुतः उनकी कुछ जरूरतों का पूरा करनेवाला था। पर अब शीघ्र जमाना आ रहा है, बल्कि बहुत कुछ आ चुका है, कि गुरुकुल की ये विशेषतायें कोई विशेषतायें नहीं रही हैं। ये बातें अन्य संस्थाओं ने भी अपना ली है। और कांग्रेसी सरकारें तो शिक्षा को राष्ट्रीय बनाने में इतना बडा कदम उठा रही हैं, कि हममें इस दिशामें कुछ भी विशेषता नहीं रहेगी। बल्कि हम पिछड जाएंगे। इसलिए अब गुरुकुल तभी कायम रह सकता है, यदि वह अपने असली निजी रंग में चमके। गुरुकुल अपनी गौण नहीं मुख्य असली विशेषताओं के आधार पर खडा हो और यह तभी सम्भव है जब कि गुरुकुल के गुरु गुरुकुलीय आदर्शों (ब्रह्मचर्य, वैदिक संस्कृति, कुल भावना आदि) में इतने उन्नत हों कि गुरुकुलीय शिष्यों पर अपने जीवन का प्रबल प्रभाव डाल सकें। अन्यथा यह तो हो सकता है, कि गुरुकुल भी अन्य ब... से आखाडों व मठों की तरह चलता रहे; पर ... उसका जीवन जीवन नहीं होगा, वह मृत समान हो... बल्कि उस तरह के गुरुकुल के जीने से उसका बन्द ... जाना अच्छा है। कई भाई गुरुकुल को इस लिए च... रखना चाहते हैं, क्योंकि वे उससे किसी कारण सम्बद्ध ... गए हैं। कुछ हैं, जो इसे अपने दल (पार्टी) की ... समझते हैं। पर मैं विनयपूर्वक कहना चाहता हूं, ... गुरुकुलशिक्षाप्रणाली का विचार इतना महान् है, कि ... इन तुच्छ विचारोंद्वारा परिमित नहीं किया जा सकता ... गुरुकुलशिक्षणपद्धति इतनी विशाल वस्तु है, कि इसकी ... केवल भारतवर्ष को या आर्यसमाज को जरूरत है कि... सारे जगत् को इसकी जरूरत है। निःसन्देह यह सर्वो... शिक्षाप्रणाली है और अब समय आ गया है. [ज्यों ज्यों भारत अपनी पराधीनता की बेडियां काटता जाता है, ... त्यों वह समय बडी शीघ्रता से आ रहा है] जब कि य... अपने वास्तविक रूपको प्रकट कर सके। यदि हमें गुरुकु... में सच्ची श्रद्धा है, तो अभी वह समय आ पहुंचा है, जब ... हमें तपस्या करके गुरुकुल को इसके सच्चे रूप में जग... के सामने लाकर रखना चाहिये। पर उसके लिए एक... अत्यन्त आवश्यकता यह है, कि यहां के गुरु सचमुच गु... हों। इस गौरवास्पद शिक्षाप्रणाली की सफलता न तो ... बहुत होने में है और न शिष्यों की संख्या बढने में, कि... गुरुओं की उच्चता में है। इसी आशय को लेकर मैं... गुरुकुलीय सुधार के लिए निम्न दो प्रस्ताव गुरुकुल ... प्रबंधकर्तृ सभा; विद्यासभा में रक्खे थे—

१. उपाध्यायों का वेतन ७५) हो, तथा—

२. उपाध्यायोंको उनके बाहरी पाण्डित्यकी अपेक्षा उनके उच्च जीवन की दृष्टि से रखा जाए।

पहिली बात के बारे में मेरा कहना यह रहा है, कि गुरुकुल के गुरु ऊंचे से ऊंचे ब्राह्मण होने चाहिए और ब्राह्मण तो भिक्षावृत्तिवाले होते हैं, अर्थात् परमात्मा द्वारा दिये गये पर सन्तोष करनेवाले होते हैं। कम से कम इस निर्धनतम देश के वर्तमान ब्राह्मण १५०) मासिक जितना वेतन पाना जरूरी समझें, यह कितने आश्चर्य की बात है। यदि गुरुकुल के उपाध्याय अपना गुजर १५०) से कम में नहीं कर सकते, तो हम गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को क्या त्याग का पाठ सिखा सकेंगे और जनता गुरुकुल के स्नातकों से त्याग की आशा कैसे लगा सकेगी। गुरुकुल का ही एक स्नातक जो विद्यालयविभाग में अध्यापक है और बालबच्चोंवाला है, उसका यदि ४०) या ५०) में खर्च चल सकता है, तो एक उपाध्याय का ७५) में क्यों नहीं चल सकता, उसे १५०) ही क्यों चाहिये।

यदि मैं देश की औसत आमदन के हिसाब से बोलूं तब तो हमें यह पता लगेगा कि हमें १५) २०)में काम करना चाहिये। पर मैं क्रियात्मक बात कहना चाहता हूं, अतः ७५) कहता हूं। देश की बहुत सी प्रतिष्ठित और ऊंचे दर्जे के सेवकों को रखनेवाली संस्थाएं लगभग इतना वेतन देती हैं। मैंने सुना है कि सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी के अध्यक्ष गोखले ७५) मासिक लेते थे।

लाला लजपतरायजी के लोक-सेवक-मण्डल के सेवक आज ५०) ७५) ही लेते हैं। इनकी योग्यता हमारे गुरुकुलीय उपाध्यायों से किसी तरह कम नहीं हैं। काशी-विद्यापीठ में आगे वेतन कम किये जांय, यह सोचा जा रहा है। वहां के वर्तमान आचार्य महोदयने मुझे बताया है, कि वे ७५) से ज्यादा नहीं दे सकेंगे।

बिहार विद्यापीठमें तो बहुत समय पहिलेसे वेतन ७५), ५०), ४०) हो चुके हैं। गांधी-सेवा-संघ में (जिसमें राजगोपालाचारी, राजेन्द्रबाबू, वल्लभभाई आदि सदस्य हैं) सेवक सदस्य के लिये अधिक से अधिक ७५) की मात्रा निश्चित है। युक्तप्रान्त (तथा कई अन्य प्रान्तों) के असेम्बली मेम्बरों का वेतन ७५) मासिक हो गया है। चर्खा संघ में ऐसे ऊंचे, उच्च शिक्षाप्राप्त व्यक्ति भी काम कर रहे हैं, जो अवश्य कहीं प्रोफेसरपद भी पा सकते थे, पर उनमें ऐसे भी थोडे ही हैं जो ५०) से अधिक लेते हों। ग्रामोद्योगसंघ के कार्यकर्ता को तो १५) मासिक लेकर ही कार्य करना उचित है, यह कहा जा रहा है और ऐसा ही किया जा रहा है और अभी हमने सुना है कि मध्यप्रान्त की सरकार ने नयी शिक्षायोजना चलाने के लिये १७० के करीब अध्यापक लेने थे, पर उनके पास ५४०० से भी अधिक प्रार्थनापत्र आए। उनमें एम्० ए० और बी० ए० लोगों के भी प्रार्थना-पत्र थे—पर हमें मालूम है, कि उनके साथ शर्त यह थी, कि उन्हें २५ वर्ष तक १५) मासिक (मकान मुफ्त) पर ही काम करने का तैयार होना होगा। इससे जहां हमारे देश की बेकारी की हालत का पता लगता है, वहां देश की अन्य वास्तविक हालत का भी पता लगता है। क्या ऐसी हालत में हम ७५) को कम समझेंगे। मैं तो मनुष्यता की दृष्टि से पूछता हूँ, कि हमारे कुल में वेतनों में इतना भारी भेद भी क्यों होना चाहिये, कि एक उपाध्याय-कुटुम्ब १५०) ले तथा एक हरिजन-कुटुम्ब केवल १०) ले। मैंने चाहा है, कि यह भेद अधिक से अधिक ७५) तथा कम से कम २०) यह रह जाए। यह बात तो हुई एक कुल की दृष्टि से, पर वर्णाश्रम की दृष्टि से तो गुरुकुल में जो जितना बडा, पूज्य ब्राह्मण हो वह उतना ही त्यागी, कम आवश्यकताओंवाला होना चाहिये। यदि वर्णाश्रमव्यवस्था गुरुकुल में ही न बर्ती जाय, तो कहां बर्ती जायगी ? पर मैं तो गुरुकुल के वर्तमान उपाध्यायों का (आर्यसमाज के सर्वोच्च ब्राह्मणों को) भिक्षा करने को भी नहीं कह रहा हूँ, किन्तु उन्हें ७५) मासिक नकद स्वीकार करने को कह रहा हूँ, इसमें क्या मुश्किल है, यह मैं समझ नहीं सकता।

दूसरी बात और भी अधिक स्पष्ट है। हमारे यहां किताबापाण्डित्य को कभी इतना महत्त्व नहीं दिया गया, उसे 'ज्ञान' नहीं समझा गया।

हम तो सात्त्विक भाव के उद्रेक को, ईश्वरनिष्ठा को ही सच्चा ज्ञान मानते हैं। भगवद्गीता में अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा आदि का ज्ञान बताया है। किसी विषय की मालूमात (informations) के संग्रह को नहीं। इसलिये मैं यहां तक कहता हूँ, कि गुरुकुल में यदि किसी विषय के उपाध्याय या अध्यापक ऐसे न मिलें, जिनका जीवन गुरुकुलीय वायुमण्डल को बनानेवाला हो, तो उस विषय का पढाई बेशक स्थगित रखी जाये, पर अवांछनीय 'पण्डित' से उस विषय का पढवाना उचित नहीं। जब इन दो का मुकाबिला हो, तो हमारे यहां किसी भी विषय का उतना महत्त्व नहीं है, जितना उसके पढानेवाले व्यक्ति का है। हम भी बाहर की नकल में यह समझते हैं, कि यदि कभी कुछ समय के लिये हमें अपने विश्वविद्यालय में किसी विषय का पढाई (उपयुक्त आदमी के अभाव में) बन्द रखनी पडे, तो यह तो हमारे लिये बडी शर्म की बात है, पर यदि पढाई का प्रबन्ध जारी रखा गया, तो पढानेवाले में मनुष्यता कितनी घटिया दर्जे की है, इसमें शर्मिन्दा होने की कोई बात नहीं मानी जाती। यह मैंने अपने आशय को स्पष्ट करने के लिये अति मात्रा का दृष्टान्त लेकर कहा। वैसे मैं यह नहीं समझता, कि यदि इस दृष्टि से पूरा यत्न किया जाय तो किसी विषय के अध्यापन के लिये हमें गुरुकुल-योग्य व्यक्ति नहीं मिलेंगे और हमें उसकी पढाई स्थगित रखनी पड़ेगी। मेरे कथन का यह भी मतलब न लिया जाय, कि गुरुकुल के वर्तमान अध्यापक व उपाध्यायों में से सब या कुछ भी रद्दी आदमी हैं। बाहरी स्थानों की दृष्टि से शायद सब बड़े अच्छे हैं। पर हमारा मानदण्ड बहुत ऊंचा होना चाहिये। अतः गुरुकुल के गुरु उतने उत्कृष्ट, उतने ऊंचे दर्जे के तो होने ही चाहिये, जितने कि गुरुकुल जैसी संस्था से देश की जनता बल्कि दुनिया स्वाभाविक तया आशा करती है।

षष्ठ नियम।

(लेखक— श्री० पं० मदनमोहन विद्याधर, प्रेममन्दिर, विजयगापट्टम.)

जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त, सत्य भाषणादि नियमपालनयुक्त और जो अभिमान अपवित्रता से रहित, अन्य की मलिनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं।

[द० ग्र० १ म भा० स० प्र०३ समु० पृ० ११९]

"जो जो बात सबके सामने माननीय है, उनको मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगडे हैं, उनको मैं प्रसन्न नहीं करता, क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर सब को ऐक्यमत में करा द्वेष छुडा, परस्पर में दृढ प्रीतियुक्त कराके सबसे सब को सुखलाभ पहुंचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धांत सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे, जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थकाममोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।"

[सत्यार्थप्रकाश अन्तिम निवेदन]

सब आर्य और आर्यसभासदों को उचित है, कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें और आनंद-उत्सव में निमंत्रण पर सहायक हों और छोटाई, बडाई न गिनें। [आ० स० उपनियम संख्या ३७]

कोई आर्य भाई किसी हेतु से अनाथ हो जावे वा किसी की स्त्री विधवा वा सन्तान अनाथ हो जावे, अर्थात् उसका किसी प्रकार जीवन न हो सकता हो और यदि आर्यसमाज इसको निश्चित जान ले, तो आर्यसमाज उसकी रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करें।

[आ० स० उपनियम २३]

जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का संग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्म हैं, वे सब तीर्थ कहाते हैं। क्योंकि, इन करके जीव दुःखसागर से तर जा सकते हैं।

[आ० रत्न० मा० र० सं० २०, पृ० ८९३]

'मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जनां यस्यां सा मुक्तिः' जिस में छूट जाना हो, उसका नाम मुक्ति है। ...दुःख से ...छूटकर...सुख को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं।... परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंकार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्य भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्यायधर्मकी वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढने और पढाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करें, वह सब पक्षपातरहित न्याय-धर्मानुसार ही करें इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञाभङ्ग करने आदि कामसे बन्ध होता है।

[स० प्र० ९ म समु० प्र० आद० ग्र० पृ० १५२]

मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। ...... अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और संकल्पमात्र शरीर होता है। ... अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है। उसकी शक्ति... मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा प्रेम द्वेष, संयोगविभाग,

संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन २४ प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव हैं। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है। जो मुक्ति में जीव का लय होता, तो मुक्ति का सुख कौन भोगता? और जो जीव का नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे महामूढ हैं, क्योंकि मुक्ति जीव की यह है, कि दुःखों से छूट कर आनन्दस्वरूप सर्वव्यापक अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना। ...(१५२)... यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्य..नेत्र और शुद्ध मन से कामोंको देखता, प्राप्त होता हुआ स्मरण करता है। ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थिर होके मोक्षसुख को भोगते हैं। .... उससे उनको सर्वलोक और सब काम प्राप्त होते हैं, अर्थात् जो जो संकल्प करते हैं वह वह लोक और वह वह काम प्राप्त होता है और वे मुक्त जीव स्थूलशरीर छोडकर संकल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं।

[स. प्र. ९ म समु. प्र. भाद ग्र. पृ. १५२]

"बन्ध सनिमित्तक अर्थात् अविद्यानिमित्त से है। जो जो पापकर्म ईश्वरभिन्नोपासना अज्ञानादि सब दुःखफल करनेवाले हैं, इसलिये वह बन्ध है, कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना तो पडता है।

[स्वमन्त पृ० ७९२ सं० ११]

मुक्ति अर्थात् सर्व दुःखों से छूट कर बन्धरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनंद को भोग के पुनः संसार में आना।

मुक्ति के साधन ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास-धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार, और पुरुषार्थ आदि हैं।

[स्वम० १२, १३ पृ० ७९२]

जिससे सब बुरे काम और जन्ममरणादि दुःखसागर से छूट कर सुखरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना है, वह मुक्ति कहाती है। ... ... जो पूर्वोक्त ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का करना, धर्म का आचरण और पुण्य का करना, सत्संग, विश्वास, तीर्थसेवन, सत्पुरुषों का संग और परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना तथा सब दुष्ट कर्मों से अलग रह है, ये सब मुक्ति के साधन हैं।

[आर्योद्दे० र० मा० २९, ३०, पृ०८९४

जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, धर्मात्मा, वि सत्संग, सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता प्रत्यक्षा प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता वही जन अतीव भाग्यशाली है, क्योंकि वह मनु यथार्थ सत्य विद्या से सम्पूर्ण दुःखों से छूट के परमान परमात्मा की प्राप्तिरूप जो मोक्ष, उसको प्राप्त होता और दुःखसागर से छूट जाता है, परन्तु जो विष लम्पट, विचाररहित, विद्या, धर्म, जितेन्द्रियता, सत्सं रहित, छल, कपट, अभिमानदुराग्रहादि दुष्टतायुक्त सो वह मोक्षसुख को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ईश्वरभक्ति से विमुख है।

[आर्याभिवि० उपक्रमणिका, पृ० २

जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव प्राप्त होना है, वह स्वर्ग कहाता है।

[आर्योद्दे० १४, पृ०८९

"स्वर्ग नाम सुखविशेष भोग और उसकी साम की प्राप्ति का है"।

[स्वमन्त० ४२, पृ० ७९

जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव प्राप्त होना है, वह नरक कहाता है।

[आर्योद्दे० १५, पृ० ८९

"नरक जो दुःखविशेष भोग और उसकी सामग्री प्राप्ति होना है। [स्वमन्त० ४३, पृ० ७९५

जिस (गर्भाधानादि अंत्येष्टि पर्यन्त) संस्कार कर के शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं। सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं, इसलिये संस्कारों करना सब मनुष्यों को उचित है।

[द० ग्र० संस्कार वि० पृ०

[धर्मार्थकाममोक्ष के लक्षण के लिये देखो, स्वम तथा आर्योद्दे० ।]

तन, मन, धन और आत्मा इनसे प्रयत्नपूर्वक ईश्वर के सहाय्य से सब मनुष्यों को धर्मादि पदार्थों की यथावत् सिद्धि अवश्य करनी चाहिये ।

[आर्याभिविनय]

उसी (परमेश्वर) की कृपा से हम लोक शत वर्ष तक देखें, जीवें, सुनें कहें, कभी पराधीन न हों अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान, बुद्धि और पराक्रमसहित इन्द्रिय तथा शरीर सब स्वस्थ रहें, ऐसी कृपा आप करें, कि कोई अङ्ग मेरा निर्बल (क्षीण) और रोगयुक्त न हो तथा शत वर्ष से अधिक भी आप कृपा करें, कि शत वर्ष के उपरान्त भी हम देखें, जीवें, सुनें, कहें, और स्वाधीन ही रहें।

[आर्याभिविनय पृ० ६४]

इस प्रकार प्राणायाम करके अर्थात् भीतर के वायु को बल से नासिका के द्वारा बाहर फेंक के यथाशक्ति बाहर ही रोक के पुनः धीरे धीरे भीतर लेके पुनः बल से बाहर फेंक के रोकने से मन और आत्मा को स्थिर करके आत्मा के बीच में जो अन्तर्यामी रूप से ज्ञान और आनन्द स्वरूप व्यापक परमेश्वर है, उसमें अपने आप को मग्न करके अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये, जैसा गोताखोर जल में डुबकी मारके शुद्ध होके बाहर आता है, वैसे ही सब जीव-लोक अपने आत्माओं को शुद्ध ज्ञान आनन्दस्वरूपव्यापक परमेश्वर में मग्न कर के नित्य शुद्ध करें।

[पं० म० य० वि० पृ० ८५८]

उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों से उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतंत्र रहें अर्थात् आरोग्य, शरीर, दृढ इंद्रिय, शुद्ध मन और आनन्दसहित हमारा आत्मा सदा रहे ।

[पं० म० य० वि० पृ०८६५]

... परमेश्वर की सम्यग् उपासना करके आगे समर्पण करे, कि हे ईश्वर दयानिधे! आपकी कृपा से जो जो उत्तम काम हम लोग करते हैं, वे सब आपके अर्पण हैं, जिससे हम लोग आपको प्राप्त होके धर्म जो सत्यन्याय का आचरण करना है, अर्थ जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, काम जो धर्म और अर्थ से इष्ट भोगों का सेवन करना है और मोक्ष जो सब दुःखों से छूटकर सदा आनन्द में रहना है । इन चार पदार्थों की सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त हो ।

नित्य प्रति न्यून से न्यून दो घण्टा पर्यंत मुमुक्षु ध्यान अवश्य करें, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों। देखो। अपने चेतनस्वरूप हैं, इसी से ज्ञानस्वरूप और मन के साक्षी हैं, क्योंकि जब मन शांत, चंचल, आनन्दित व विषादयुक्त होता है, उसको यथावत् देखते हैं, वैसे ही इन्द्रियां, प्राण आदि का ज्ञाता पूर्वदृष्ट का स्मरणकर्ता और एक काल में अनेक पदार्थों के वेत्ता धारणाकर्षणकर्ता और सब से पृथक् हैं, जो पृथक् न होते, तो स्वतंत्र कर्ता इनके प्रेरक अधिष्ठाता कभी नहीं हो सकते । ... .. इन में अविद्या का स्वरूप कह आये+। पृथक् वर्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना अस्मिता, सुख में प्रीति, राग, दुःख में अप्रीति, द्वेष और सब प्राणिमात्र को यह इच्छा सदा रहती है, कि मैं सदा शरीरस्थ रहूँ मरूं, नहीं मृत्युदुःख से त्रास अभिनिवेश कहाता है, इन पांच क्लेशों को योगाभ्यास-विज्ञान से छुडा के ब्रह्म को प्राप्त हो के मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिये ।

[स० प्र० द० म्र० प्र० भा० पृ० ९ म समु पृ० ३६६]

...खिलानेपिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुख विशेष होता है । जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उप-कार होता है। परन्तु जो मनुष्यलोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें, तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके, इससे अच्छे पदार्थ खिलानापिलाना भी चाहिये, परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है, इससे होम करना अत्यावश्यक है ।

[स० प्र० द० म्र० प्र० भा० पृ० ३ य समु पृ० १२७]

प्रथम आर्यावर्तीय लोग व्यापार, राज्यकार्य और भ्रमणके लिये सब भूगोलमें घूमते थे। और जो आजकल छूतछूति और धर्म नष्ट होने की शङ्का है, वह केवल मूर्खों के बहकाने

+ देखो अष्टम नियम



और अज्ञान बढाने से है। जो मनुष्य देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर में जाने-आनेमें शङ्का नहीं करते, वे देश-देशान्तर के अनेकविध मनुष्यों के समागम रीति-भान्ति देखने अपना राज्य और अच्छे व्यवहार बढाने से निर्भय शूर वीर होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण, बुरी बातों के छोडने में तत्पर होके बडे ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। भला जो महा भ्रष्ट म्लेच्छकुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से आचारभ्रष्ट धर्महीन नहीं होते, किन्तु देश-देशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं!! यह केवल मूर्खता की बात नहीं, तो क्या है? हां इतना कारण तो है, कि जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं, उनके शरीर और वीर्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं, इसलिये उनके संग करने से आर्यों को भी यह कुलक्षण न लग जावे, यह तो ठीक है। परन्तु जब इनसे व्यवहार और गुणग्रहण करनेमें कोई भी दोष व पाप नहीं, किन्तु इनके मद्यपानादि दोषों को छोड गुणों को ग्रहण करें, तो कुछ भी हानि नहीं, जब इनके स्पर्श और देखने से भी मूर्ख जन पाप गिनते हैं, इसीसे उनसे युद्ध कभी नहीं कर सकते, क्योंकि युद्ध में उनको देखना और स्पर्श होना अवश्य है। ...... और यह भी समझ लें, कि धर्म हमारे आत्मा और कर्तव्य के साथ है, जब हम अच्छे काम करते हैं, तो हम को देशदेशांतर और द्वीपद्वीपांतर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं। ... क्या बिना देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपांतर में राज्य व व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेश में ही स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार व राज्य करें, तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।

... हां इतना अवश्य चाहिये, कि मद्यमांस का ग्रहण कदापि भूल कर भी न करें। क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है, कि जो राजपुरुषों में युद्धसमय में भी चौका लगाकर रसोई बना के खाना अवश्य पराजय का हेतु है? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से घोडे, हाथी रथ पर चढ या पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है।। मूढता से इन लोगों ने चौका लगाते लगाते विरोध क कराते सब स्वातंत्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। जानो सब आर्यावर्त देश भर में चौका लगाके सर्वथा कर दिया है। हां! जहां भोजन करें, उस स्थान को धो लेपन करने, झाडू लगाने, कूडा-कर्कट दूर करने में प्र अवश्यक करना चाहिये।

[स० प्र० १० म समु० द० ग्र० प्र० सा० पृ० ३८८ से ३८

द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)......रसोई [भोजन] शूद्र के हाथ की बनाई खावें। क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रि वैश्य वर्णस्थ स्त्रीपुरुष विद्या पढाने, राज्यपालन और प पालन, खेतीव्यापार के काम में तत्पर रहें और शूद्र के प तथा उसके घर का पका हुआ अन्न आपत्काल के बि न खावें। ... आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्रीपु पाकादि सेवा करें, परन्तु वे शरीरवस्त्र आदि से पवि रहें। 'शूद्र के छुए हुए पके अन्न के खाने में जब दो लगाते हैं, तो उसके हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं यह बात कपोलकल्पित झूठी है, क्योंकि जिन्होंने गु चीनी, घृत, दूध, पिशान शाक फल मूल खाया उन्हों जानो सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छि खा लिया, क्योंकि जब शूद्र, चमार, भंगी, मुसलमा ईसाई आदि लोग खेतों में से ईख को काटते छीलते पी कर रस निकालते हैं, तब मूत्रोत्सर्ग करके उन्हीं बि धोये हाथों से छूते, उठाते, धरते आधा सांग चूस पीके आधा उसी में डाल देते हैं और रस पकाते सम उस रस में रोटी भी पकाकर खाते हैं। जब चीनी बना हैं, तब (३९०) पुराने जूते कि जिस से के तले में विष्ठ मूत्र, गोबर, धूली लगी रहती है, उन्हीं जूतों से उ को रगडते हैं। दूध में अपने उच्छिष्ट पात्रों का ज डालते, उसी में घृतादि रखते हैं और आटा पीसते सम भी वैसे ही उच्छिष्ट हाथों से उठाते और पसीना भी आटा में टपकता जाता है, इत्यादि और फलमूलकन्द में भी ऐसी ही लीला होती है, जब इन पदार्थों को खाया, तो जानो सब के हात का खा लिया। ...... मुसलमान ईसाई आदि मद्यमांसाहारियों के हाथ

खाने में आर्यों को भी मद्यमांसादि खानापीना अपराध पीछे लग पडता है, परन्तु आपस में आर्योंका+ एक भोजन होने में कोई भी दोष नहीं दीखता। परन्तु केवल खाना-पीना ही एक होने से सुधार नहीं हो सकता, किन्तु जब तक बुरी बातें नहीं छोडते और अच्छी बातें नहीं करते तब तक बढती के बदले हानि होती है। विदेशियों के आर्यवर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मत-भेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढना पढाना व बाल्यावस्थामें अस्वयंवरविवाह, विषयासक्ति, मिथ्या-भाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं, जब आपस में भाई भाई लडते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।

[स० प्र० दशम समु० द० ग्र प्र० भा० पृ० ३९१]

यजुर्वेद के प्रथम ही मंत्र में परमेश्वर की आज्ञा है कि- (अघ्न्याः यजमानस्य पशून् पाहि) हे पुरुष ! तू इन पशुओं को कभी मत मार और यजमान अर्थात् सब के सुख देनेवाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिससे तेरी भी पूरी रक्षा होवे। ... ... ब्रह्मा से लेके आजपर्यन्त आर्यलोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे और अब भी समझते हैं। और इन की रक्षा में अन्न भी महंगा नहीं होता। क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खानपान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है ... ... इनसे यह ठीक है, कि गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं, तव दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है।

[गोकरुणानिधि, द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ९२५]

सदा स्त्रीपुरुष १० (दश) बजे शयन और रात्रि के पहले प्रहर वा ४ बजे उठ के प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन कर के धर्म अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीडा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोडें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहारविहार, औषधसेवन सुपथ्यादि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्तव्यकर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिस परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय्य से महान् कठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सके।

[सं० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० १७८]

गृहाश्रमसंस्कार उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुखप्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियतकाल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन मन धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करना।

[सं० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० १५९]

जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें, उन उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बांधा करें। परन्तु इस पर नित्य ध्यान रखें कि जहां तक बन सके वहां तक बाल्यावस्था में विवाह न होने देवे। युवावस्था में भी बिना प्रसन्नता के विवाह न करना, कराना और न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन करना कराना व्यभिचार और बहुविवाह को बन्द करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे। क्योंकि जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या ज्ञान बढाये जावें और शरीर का बल न बढावें तो एक ही बलवान् पुरुष ज्ञानी और सेकडों विद्वानों को जीत सकता है। और जो केवल शरीर का ही बल बढाया जाय, आत्मा का नहीं तो भी राज्यपालन की उत्तम व्यवस्था विना विद्या के कभी नहीं हो सकती। विना व्यवस्था के सब आपस में ही फूट, टूट, विरोध, लडाई, झगडा करके नष्टभ्रष्ट हो जायें। इसलिये सर्वदा शरीर और आत्मा के बल को बढाते रहना चाहिये। जैसा बल और बुद्धि का नाशक व्यवहार-व्यभिचार और अति विषयासक्ति है, वैसा और कोई नहीं है। विशेषतः क्षत्रियों को दृढांग और बलयुक्त होना चाहिये। क्योंकि जब वे ही विषयासक्त

+ देखो आर्योद्देश्यरत्नमाला तथा स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश।

होगें तो राज्यधर्म ही नष्ट हो जायगा। (२८२) ...... इसलिये राजा और राजपुरुषों को उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्मन्याय से बर्तकर सबके सुधार का दृष्टान्त बनें।...

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० २ भा० पृ० २८२।२८३]

... पूर्ण राजनीती को धारण करके माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ति राज्य करें और यह समझें कि —

वयं प्रजापतेः प्रजाः अभूय (यजु० १८।२९)

हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं, वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हम को राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से सब न्याय की प्रवृत्ति करावे।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० २ भा० पृ० २८३]

राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की इच्छा दण्ड से और प्राप्त राज्य की रक्षा सम्भाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और व्याज से बढा और सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या और सत्यधर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढे हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सब की उन्नति सदा किया करें।

[सं० वि० द० ग्र० २ य भाग पृ० १७७]

जो राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं, वे उत्तम ज्ञान और और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में राजसभा, धर्मसभा और विद्यासभा अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिये ये तीन प्रकार की सभा नियत कर इन्हीं से संसार की सब प्रकार की उन्नति करें।

[सं० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० २०८]

जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभ गुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं, वैसे ही उसी आनन्द से प्रजाको भी युक्त करते हैं। विद्वान् लोगों को चाहिये कि ... अपने सत्योपदेश विद्या, धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें।

[ऋग्वेदादि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ६७९]

राजा और प्रजा के पुरुष मिलकर सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजाप्रजा के संबंधरूप व्यवहार में तीन सभा अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा, राजार्यसभा नियत करके बहुत प्रकार के समग्र प्रजासंबंधी मनुष्या प्राणियों को सब ओर से विद्या, स्वातंत्र्य, धर्म, सुशिक्षा धनादि अलंकृत करें।

[स० प्र० ६ षष्ठसमु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० २३

एक को स्वतंत्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये, कि राजा जो सभापति तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, रा और सभा प्रजाके आधीन और प्रजा राजसभा के आधी रहे।...जो प्रजासे स्वतंत्र स्वाधीन राजवर्ग रहे, तो रा में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करें ... अके राजा स्वाधीन व उन्मत्त होके प्रजा का नाशक होता अर्थात् वह राजा प्रजा को खाये जाता है (अत्य पीडित करता) है। इस लिये किसी एक को राज्य स्वाधीन न करना चाहिये। जैसे सिंह व मांसाहारी पुष्ट पशु को मारकर खालेते हैं, वैसे स्वतंत्र राजा प्रजा नाश करता है। (२४०)

हे मनुष्यों! जो इस मनुष्यसमुदाय में ... सभापति होने को अत्यन्त योग्य प्रशंसनीय गुण, स्वभावयुक्त समीप जाने और शरण लेने योग्य सब माननीय होवे, उसी को सभापति राजा करें।

हे विद्वानों! राजप्रजाजनों! तुम इस प्रकारके पुरुष बडे चक्रवर्ती राज्य बडे बडे विद्वानों से युक्त राज्य पा और परम ऐश्वर्ययुक्त राज्य और धन के पालने के लि सम्मति करके सर्वत्र पक्षपातरहित पूर्ण विद्या विन युक्त सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मान के भूगोल शत्रुरहित करो।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० २४०, २४

जहां एक मनुष्य राजा होता है, वहां प्रजा जाती है। ... जहां एक मनुष्य राजा होता है, वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही क चला जाता है। इस कारण से एक को राजा कभी मानना चाहिये, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधी ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिये।

[ऋग्वेदा० द० ग्र० द्वितीय भा० पृ० ६७

जहां अकेला मनुष्य राजा होता है, वहां वह पक्षपा से अपने सुख के लिये जो जो प्रजा की श्रेष्ठ सुख

वाली लक्ष्मी है, उसको ले लेता है, अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीडा देनेवाला होता है। इस लिये एक को राजा कभी न मानना चाहिये, किन्तु सब लोगों को उचित है, कि अध्यक्षसहित सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये ।

[ऋग्वेदादि० द० ग्र० द्वितीय भाग० पृ० ६७४]

जैसे मृग पशु पराये खेत में यवों को खाकर आनन्दित होते हैं, वैसे ही स्वतंत्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है ! अथवा जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मारकर उसका मांस खा जाता है, वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है, क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है । और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है। इसलिये किसी एक मूर्ख व लोभी को भी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये ।

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ६८०]

राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं, वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है, इसी से किसी की उन्नति नहीं होती।... इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिर पर्यन्त बराबर चला आया है और आर्यों की यह एक बात बडी उत्तम थी, कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो, वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद और न्यायाधीश का ही गिना जाता था। इस लिये वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे कि जिससे आर्यावर्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था और जहां होता था वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे ।

[ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५५१]

यदि सभा में मतभेद हो, तो बहुपक्षानुसार मानना और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी और दोनों पक्षवाले बराबर उत्तम हों तो वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी, जिधर पक्षपातरहित सर्वहितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे, वही उत्तम समझनी चाहिये ।

[सं० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ २१०]

राजपुरुष प्रजा के लिये सुमाता और सुपिता के समान और प्रजा पुरुष राजसम्बध में सुसन्तान के सदृश वर्त कर परस्पर आनन्द बढावें ।

[व्यवहारभानु द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ७४३]

... वेश्यागमन व व्यभिचार कभी न करें। जहां तक हो वहां तक अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त का रक्षण और रक्षित की वृद्धि बढे हुए धन का व्यय देशोपकार करने में किया करें।सब प्रकार के अर्थात् पूर्वोक्त रीति से अपने अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साहपूर्वक, तन मन धन से सर्वदा परमार्थ किया करें।

[स० प्र० चतुर्थ समु०द०ग्र० १ म भाग पृ० २१५]

[राजा] प्रजा से ... ... जो धन लेवे, तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खानेपीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें । ...... "प्रजा के धनाढ्य आरोग्य खानपान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बडी उन्नति होती है। प्रजा को अपने सिद्धान्त के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पितासदृश राजा और राजपुरुषों को जाने । यह बात ठीक है, कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करनेवाले हैं और राजा उनका रक्षक है । जो प्रजा न हो तो राजा किसका और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे ? ... ... दोनों अपने काम में स्वतंत्र और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतंत्र रहें । प्रजा की साधारण सम्मति के बिना राजा व राजपुरुष न हों, राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष वा प्रजा न चले ।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २७०]

... ... जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं, तभी तक राज्य बढता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं, तब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। महाविद्वानों को विद्यासभाऽधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाऽधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद और जो उन सब में सर्वोत्तम गुण, कर्म, स्वभाव युक्त महान् पुरुष हो, उसको राजसभा का पतिरूप मानके सब प्रकार से उन्नति करें । तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम

और नियमों के आधीन सब लोग बर्तें । सब के हित-कारक कामों में सम्मति करने के लिये परतंत्र और धर्म-युक्त कामों में अर्थात् जो जो निज के काम हैं, उन उन में स्वतंत्र रहें ।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २४२]

जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाओं को दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धु सहित नष्ट हो जाते हैं । ... ... इसलिये राजा और राज-सभा राज्य-कार्य की सिद्धि के लिये ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राज्य-कार्य यथावत् सिद्ध हों । जो राजा राज्यपालन में सब प्रकार तत्पर रहता है, उस को सुख सदा बढता रहता है।

इसलिये दो, तीन, पांच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज्यस्थान रक्खे, जिसमें यथायोग्य भृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रख कर सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करें। एक एक ग्राम में एक एक प्रधान पुरुष को रक्खे। उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचवा पुरुष रक्खे अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना और दो थानों पर एक बडा थाना और उन पांच थानों पर एक तहसील और दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया है, यह वही अपने मनु आदि धर्म-शास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है । ... ... इसी प्रकार प्रबन्ध करें और आज्ञा देवे कि वह एक एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्यप्रति जो जो दोष उत्पन्न हों, उन उन को गुप्तता से दश ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दशग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्रामों के स्वामी को दश ग्रामों का वर्तमान नित्यप्रति जना देवे। और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शतग्रामाधि-पति को नित्यप्रति निवेदन करे। वैसे सौ सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्रामों के अधिपति को सौ सौ ग्राम के अध्यक्ष को और वे सहस्र सहस्र के दश अधिपति दश सहस्र के अधिपति को और लक्ष ग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्तमान जनाया करें । और वे सब राजसभा महाराज-सभा अर्थात् सर्वाभौम चक्रवर्तिमहाराजसभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें । और एक एक दश दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें, जिन में एक राजसभा में दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोडकर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें ।

... ... बडे बडे विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें कि जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो, वैसे वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें ।

... ... जो राजपुरुष अन्याय से, वादीप्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करें, उसका सर्वस्व हरण करके यथायोग्य दण्ड देकर ऐसे देश में रक्खे कि जहां से पुनः लौटकर न आ सके ... ...

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २५७-२५९]

जो अपने राज्य में उत्पन्न शास्त्रों के जाननेहारे, शूर वीर जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन, धर्मात्मा स्वराज्यभक्त हों उन सात व आठ पुरुषों को अच्छे प्रकार परीक्षा कर के मंत्री करें और इन्हीं भी सभा में आठवां या नववां राजा हो। ये सब मिल के कर्तव्याकर्तव्य कामों का विचार किया करें ।

[स० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० १७७]

स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जानने वाले शूर वीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हों और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित सात व आठ उत्तम धार्मिक चतुर 'सचिवान्' अर्थात् मंत्री करें।

[स० प्र० षष्ठ समु० द्वि० ग्र० प्रथम भाग पृ० २४९]

...राज्याधिकार ...में...पूर्ण विद्यावाले धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिये, अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, प्रधान और राजा ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिये ।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २४५]

इसलिये तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में मूर्खों को कभी भरती न करें, किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करें ।

[स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २४३]

(क्रमशः)

" क्या देवता अनिश्चित हैं ? "

[लेखक- श्री० पं० लक्ष्मणसिंह वेदालंकार (प्रतिष्ठित स्नातक) गुरुकुल कांगडी, अजमेर]

हमने आज से पांच मास पूर्व पं० सातवलेकरजी को एक पत्र लिखा था, कि हमारी इच्छा है, कि हम इस देवतावाद के प्रश्न को आर्यजगत् के सामने एक नये ही प्रकार से रखें। उसकी विधि यह होगी, हम ' वैदिक धर्म, मासिक में एक प्रश्न पूछेंगे और उसके उत्तरमें पं० ब्रह्मदत्तजी व पं० सातवले-करजी से जिज्ञासु रूप में उसके उत्तर मांगें जायेंगे, वे दोनों तथा हमारा अपना विचार ये तीनों लेख एक साथ अगले ही मासिक पत्र के अंक में छापे जायें, ताकि स्वतंत्र भाव का परिज्ञान हो सके। मैं नहीं कह सकता कि पण्डितजीने किस विचार से उस पत्र को अपने मासिक पत्र में जगह न दी। मेरी पण्डितजी में प्रारम्भ से आस्था रही है, और उनको मैं आज भी वेदों का एक अद्वितीय विद्वान् मानता हूं, इसलिये मैं यह तो नहीं कह सकता कि उन्होंने किसी दुष्भावना से प्रेरित होकर उसको पत्र में प्रकाशित नहीं किया। कारण, आज तक उन्होंने मेरा एक भी लेख छपने से नहीं रोका। खैर, हमें इससे कोई सम्बन्ध नहीं। यह सम्पादक की इच्छा है, कि वह किसी लेख को अपने पत्र में जगह दे या नहीं।

हमें न तो पं० ब्रह्मदत्तजी से कोई द्वेष और ईर्षा है और नाही पं० सातवलेकरजी से कोई विशेष प्रेम है। इसलिये हम इन दोनों को न छूते हुए हम शुद्ध रूप से यह लिखेंगे, कि वेद के देवता क्या हैं, उनका क्या स्वरूप है और उनका मंत्रों से कैसा और क्या सम्बन्ध है ?

इस लेखको हम उसी भाषा में तथा उन्हीं विचारों में लिखेंगें, जैसा कि हम आजसे छ मासपूर्व जब कि यह वादविवाद उठा भी नहीं था लिखते।

इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्रार्थ उत्तम हुआ करते हैं, परन्तु शास्त्रार्थ के दो रूप होते हैं- एक ' वाद ' और दूसरा ' जल्प '। 'वितण्डा' को मैं शास्त्रार्थ नहीं कह सकता। वह तो एक प्रकार की बकवास है। आर्यसमाजी जो शास्त्रार्थ अन्य मतावलम्बियों के साथ करते हैं, वह मैंने प्रायः देखा है, उसके चाहे कुछ भी कारण हों, चाहे विरोधियों के उकसाये जाने पर, चाहे ' शठे शाठ्यं समाचरेत् ' की नीतिके अनु-सार, वे प्रायः कर जल्प की ही कोटि में आते हैं, (मैं इन्हें बुरा नहीं मानता) ' वाद में बहुत कम ' परन्तु जब हम आपस में विचार करने लगे हैं, उस वक्त हमें केवल शुद्ध वाद का ही आश्रम लेना चाहिये।

क्या आज तक सभी वैदिक विद्वान् देवताओं के स्वरूप से अनभिज्ञ थे ?

हमने तेरह सालसे ऊपर गुरुकुल कांगडी में अध्ययन कर वहां की शिक्षा प्राप्त की है। उसमें हम प्रारम्भिक वर्षों को छोड देते हैं, क्योंकि उस समय हमने वैदिक देवता के सम्बन्ध में कुछ भी पढा नहीं था। परन्तु छः (६) वर्ष की शिक्षा में और उसके बाद दिसम्बर १९३७ तक देवता के विषय में यही जानते, पढते और समझते रहें, कि देवता वेद के मन्त्रों से बहुत सम्बन्ध रखते हैं; उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, वे हमेशा के लिये मन्त्रों की तरह से ही निश्चत है, वे बदलते नहीं है।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका भी कई बार पढी, निरुक्त भी कई बार पढा, तथा समय समय पर ब्राह्मणग्रन्थों को भी जहां तहां से देखने का अवसर

हुआ, परन्तु आज तक हमारे हृदय में यह शंका ही उत्पन्न नहीं हुई कि स्वामी दयानंद, निरुक्ताकर यास्क, या इसी प्रकारसे अन्य ऋषि-महर्षि देवता को अनिश्चित मानते हैं। यहां यह कहा जा सकता है कि अज्ञानवश यह हमें मालूम न हुआ हो, इस बात को मैं मान सकता हूं, कि अज्ञानवश इस सिद्धान्त को मैं नहीं समझ सका, परन्तु मैं यह कभी नहीं मान सकता कि वेद के सब के सब विद्यार्थी, हमारे वेदोपाध्याय व आचार्य आदि भी यास्क और महर्षि के इन स्थलों को नहीं समझ सके। मैं अपने साथसाथ उन सबको, जिनका वेद ही में सम्पूर्ण समय व्यतीत होता है, मूर्ख नहीं कह सकता। मुझे ऐसे विद्वान् महानुभावों से भी बात करने का अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ है, जो स्वामी दयानन्द के अनेक सिद्धांतों से मतभेद रखते हैं, उनमें से भी आज तक किसी ने इस विषय पर मतभेद प्रकट नहीं किया।

इस पर यह कहा जा सकता है, कि आकर्षण-सिद्धान्त भी तो एक न्यूटन (वर्तमान युगमें) को ही ज्ञात हुआ था, तो क्या इससे न्यूटन के अतिरिक्त अन्य विद्वानों को मूर्ख कहा जायेगा। इसके उत्तर में निवेदन है, कि खोज या आविष्कार की शक्ति तो किसी-किसी में होती है, और यदि कोई विद्वान् खोज न कर सके तो भी उसको मूर्ख नहीं कहा जा सकता, परन्तु उस आविष्कार को और उसके सिद्धान्त को समझने की शक्ति बहुतों में होती है। परन्तु यदि समझ में भी किसी के न आये तो मूर्खता की कल्पना थोडे बहुत अंशों में की जा सकती। परन्तु यहां तो इससे भी एक कदम आगे हैं। हां, यदि शताब्दियों से देवता के विषय में किसी ने विचार न किया होता, तो हम मानने को तैय्यार हो जाते। परन्तु यहां तो खूब विचार हुआ है, अच्छा गहरा विचार हुआ है।

वह सब विचार आज भी मौजूद है। इतना होने पर भी एक ऐसी मुख्य बात जो देवता के स्वरूप से ही सम्बन्ध रखती है, विचार न किया हो या गलत विचार किया हो, यह समझमें कम आ है। इतना भी होता तो सन्तोष किया जा सकता था परन्तु इससे भी आगे, जैसा आज कल प्रतिपा किया जाता है कि हमारे उन आचार्यों ने, जिन्हें ऋषि महर्षि मानते हैं, लिखा भी है और फिर ऋषि की कलम से जिसकी लेखनशैली और भा बहुत ही सरल और विवादरहित है, लिखा हु मानना। इतनी लम्बी चौडी, तर्कविरुद्ध कल्प हमारे मस्तिष्क और हृदय स्वीकार नहीं कर सके एक बात और लिखकर हम विषयपर वि करेंगे।

समय समय पर वेद के सम्बन्ध में नाना वि उत्पन्न होते रहे हैं! अवैदिकों ने वेदों के ऊपर ना प्रकार के आक्षेप किये हैं। उन सबका जवाब धैर्य से दिया जाता रहा है। इस क्षेत्रमें आर्यसमा ने जो कार्य किया है, उसको भुलाया नहीं जा सकता परन्तु किसी भी संस्था को यह विचार क नहीं करना चाहिये, कि हमारे सिद्धान्तों की पाताल तक पहुंच गई है, क्योंकि इस प्रकार भावना के उत्पन्न होने से स्वाध्याय में क होती है और हम देखते हैं कि आज आर्यसामाजि क्षेत्र में इसकी कमी का अनुभव भी कि जा रहा है। आर्यग्रन्थों की विशेषता पर वि करनेवाले, उनको पढकर समझनेवाले, मैं पूछता आज आर्यसमाज में कितने हैं? यही कारण है, हम समय समय पर उठनेवाली विप्रतिपत्तियों शान्ति से विचार नहीं कर सकते।

तीन-चार वर्ष की बात है, डॉ० प्राणना विद्यालंकार ने वेद के सम्बन्ध में कुछ लेख लिखे उनको हम " आर्यसमाज पर वज्रपात " सम लग गये। भाइयो! यदि इतनी सी बात को, जो का विषय है, हम क्यों 'वज्रपात' समझने ल हैं? उनसे हमारी मानसिक अवस्था क्यों विचलि और अशान्त हो जाती है? कारण हमारे स्वाध्या की कमी है। हम आक्षेपों को सुनकर आर्यसमा की नैय्या को खतरे में समझने लगते हैं, कारण ह

मस्तिष्क और हृदय कमजोर हैं। उसके कुछ ही दिनों बाद पं० बुद्धदेवजी के हैदराबादवाले शास्त्रार्थ ने भी आर्यसमाज में दो पक्ष बना दिये। इस प्रकार के अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। आज फिर आर्यसमाजी लोग पं० सातवलेकरजी के वेदमुद्रण के कार्य से घबरा उठे हैं। इसका कारण एकमात्र वही स्वाध्याय की कमी है। इसके साथ साथ पक्षपातरहित एक गुरु का अभाव है। स्वामी दयानन्द की तरह से आज पक्षपातरहित होकर सिद्धान्त-निर्णय करनेवाला कौन है ? कोई नहीं।

स्वाध्याय न होने के कारण, मान के चाहनेवाले विद्वान् हमें जिधर ले चलना चाहते हैं, हम उधर ही जाने को तैय्यार हो जाते हैं। हमें स्वामी दयानन्द के नाम से जो चाहे वह उल्लू बना सकता है। और जिसका पल्ला हमने शुरू से पकड लिया, उसको हम फिर छोडनेको तैय्यार नहीं, चाहे वह ले जाकर गड्ढे में ही पटक दे। यही हालत आज हुई है। देवतावाद के इस झमेले ने आज हमें अपने सिद्धान्त से कहीं दूर पहुंचा दिया है। ऋषि के नाम को सुनकर और ऊंची आवाज को सुनकर हम आसानी से भटक चलते हैं। आज हम कई वर्षों से इस बात का अनुभव कर रहे हैं। आज आर्यसमाज के विद्वान् युरोप के राजनीतिज्ञों की तरहसे-शान्ति के नामपर विषैली गैसे तथा टैंक्स तयार किए जाते हैं, प्रजातन्त्र व उन्नति के नाम पर साम्राज्य का विस्तार किया जाता है-हम लोग ऋषि दयानन्द के नाम से अपनी प्रशंसा प्राप्त करने में लगे हुए हैं।

हमारा मत

देवता के सम्बन्ध में हमारा विचार है, कि "देवता निश्चित हैं, वे बदले नहीं जा सकते और उनका निर्देश मन्त्र में सीधा होता है।" 'सीधा' इस शब्द से हमारा आशय है कि उस शब्द का उन मन्त्रों में प्रयोग जरूर होना चाहिए। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सब ही मन्त्रों में बार बार एक ही शब्द का उच्चारण किया जाए। परन्तु उस अवस्था में वे सब मन्त्र एक प्रसंग में होने चाहिए। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का दैवता 'अग्नि' है। यहां एक मन्त्र को छोडकर सब मन्त्रों में किसी न किसी रूप से 'अग्नि' शब्द का प्रयोग किया गया है, परन्तु प्रसंग में होने के कारण उस एक मन्त्र का देवता भी अग्नि ही है। यहां पर जो सब मन्त्रों में 'अग्नि' शब्द पढा गया है, उसका कारण 'देवता का निर्देश करना' नहीं है। उसका अन्य ही महत्त्व है, जिसका फिर कभी प्रतिपादन करेंगे।

इसको और स्पष्ट करने के लिए यों कहा जा सकता है। जितने सूक्त या मन्त्र, एक विषय के प्रतिपादक होते हुए, यदि एक साथ पढे गए हैं, तो जो उनका देवता है, उसका एक बार उनमें जरूर उच्चारण होना चाहिए। यदि एक से अधिक बार उच्चारण किया गया हो, तो वह सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। उदाहरण से हम इसको और स्पष्ट कर सकते हैं। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का देवता 'अग्नि' है। यदि इस सूक्त में दो विषयों का वर्णन होता, अर्थात् प्रथम पांच मन्त्रों में अग्नि और पिछले तीन में 'मरुत्' देवता का और फिर नवें मन्त्र में पुनः 'अग्नि' का वर्णन किया गया होता। उस अवस्था में प्रथम पांच मन्त्रोंमें कम से कम एक बार अग्नि शब्द का उच्चारण अवश्य होना चाहिए। पुनः यदि अगले तीन मन्त्रों में मरुत् का वर्णन है, तो उनका देवता 'मरुत्' का उच्चारण तीन मन्त्रों में कमसे कम एक स्थान पर अवश्य होना चाहिए। और पुनः यदि नवें मन्त्र में अग्नि का वर्णन है, तो पुनः उस मन्त्र में 'अग्नि' शब्द का उच्चारण होना चाहिए। और वे देवता निश्चित हैं। पर्यायवाची शब्द भी देवता नहीं हो सकते। इतना ही हमारा कहने का आशय है और हमारी दृष्टि में प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋषि-मुनियों का भी यही मत है।

इतने विचार से हमने केवल देवता का नैश्चित्य स्थापित किया है, और इतना ही हमारा 'साध्य' है। इसके द्वारा न तो हम सर्वानुक्रमणी की, नाही बृहद्देवता की और न किसी अन्य ग्रन्थ की प्रामाणिकता

स्वीकार करते हैं। और अब प्रमाणों को रखकर मैं आप के सामने इस सिद्धान्त की पुष्टि करूंगा और यह बतलाऊंगा कि मुनि यास्क और ऋषि दयानन्द का यही मत है या दूसरा। यहां हम एक बार फिर लिख देते हैं कि हम किसी भी मंत्रविशेष को या सूक्त के देवता पर विचार न करेंगे। केवल देवता के स्वरूप का प्रतिपादन करेंगे।

देवता-ज्ञान का महत्त्व।

प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से मालूम होता है कि 'देवता-ज्ञान' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उन्हों ने इसका कितना महत्त्व प्रतिपादित किया है, यह आप नीचे लिखे वाक्यों में आसानी से देख सकते हैं।

मुनि कात्यायनने + लिखा है।

"एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवत्यथान्तराश्च गर्तं वा पद्यते स्थाणुर्वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।"

अर्थात् जो मनुष्य देवताओं को बिना जाने मंत्रों को पढता है, बोलता है तथा जप, यज्ञादि करता तथा कराता है, उसका आत्मा निर्वीर्य होकर गढे में गिर जाता है, या स्थाणुकी तरह खडा रहता है, नहीं तो पापी तो बनता ही है। इस मुनिवचन से 'देवता-ज्ञान' का महत्त्व जाना जा सकता है। इसी प्रकार से 'बृहद्देवता' में भी लिखा है। हमें इससे कोई तात्पर्य नहीं कि बृहद्देवताके रचयिता ने देवताओं का ज्ञान किया या नहीं? क्योंकि यदि ठीक किया है तो अच्छा है, नहीं तो उनके लिये भी नरक के द्वार खुले हुए हैं- पर उनके निम्न वाक्य में प्रतिपादित विचार की सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता। वे लिखते हैं—

स्वाध्यायमेव योऽधीते मंत्रदैवतविच्छुचिः।
स सत्रसदिव स्वर्गे सत्रसद्भिरपीज्यते॥
अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव तु।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः॥

मुनि कात्यायन के ही भावों को दूसरे शब्दों यहां प्रकट किया गया है।

निरुक्तकार यास्क भी निरुक्त की आवश्यक को बतलाते हुए लिखते हुए हैं कि निरुक्त की र का एक प्रयोजन 'देवता का ज्ञान' कराना भी उनके शब्द हैं—

"अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति तदेतेन उपेक्षितव्यम्।"

इसकी व्याख्या करते हुए प्रो० चन्द्रमणिजी अ निरुक्तभाष्य में लिखते हैं- "यह देवता-ज्ञान नि निरुक्ताध्ययन के संभव नहीं।" इसी प्रकार से और स्थान पर लिखा हुआ है।

"अविदित्वा प्रयुञ्जानो मंत्रकण्टक उच्यते।"

अर्थात् बिना देवतादि ज्ञान के मन्त्रोंका उप (किसी भी प्रकार से) करनेवाला मन्त्रकण्टक इससे स्पष्ट मालूम हो सकता है, कि देवतादि कितना महत्त्व का है। स्वामी दयानन्दजी मह ने यद्यपि यह तो कहीं नहीं लिखा (जहां तक स्मरण होता है) कि देवताज्ञान आवश्यक है। प ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकाको पढते हुए उनसे प्र पादित किये गये देवताविषयक विचारों से अनुमान आसानी से निकाला जा सकता है 'देवता का ज्ञान' उनकी दृष्टि में भी बडा मह का था। अस्तु।

परन्तु यदि देवता निश्चित नहीं है, दूसरे शब्द 'देवता' भाष्यकारों की चीज है, उस अवस्था ज्ञान किसका किया जाये। क्योंकि देवता तो कुछ ही नहीं। और जो चीज है नहीं उसका ज्ञान कर कुछ अप्रासंगिक मालूम देता है।

'देवता-ज्ञान' का इतना महत्त्व क्यों है? अगला प्रश्न मनुष्य के हृदय में उठना स्वाभा है। इसका उत्तर इतना ही है, कि 'देवता-ज्ञान' बिना वेदार्थ का ज्ञान असम्भव है। प्राचीन आ का यह विचार हम तब से सुनते आ रहे हैं, ज हमने वेद का अध्ययन करना प्रारम्भ किया

+ श्रीस्वामी दयानन्दजी कात्यायन को ऋषि मानते हैं।

और मेरा अनुमान है कि निन्यानवे प्रतिशत मनुष्य, जिन्हें वेदाध्ययन में रुचि है, आज से आठ मास पूर्व तक यही समझते रहे होंगे, कि वेदार्थज्ञान के लिये देवताज्ञान परम आवश्यक है। मुझे आज से आठ मासपूर्व तक एक भी ऐसा सज्जन नहीं मिला, जिस ने यह विचार प्रकट किया हो, कि वेद को समझने के लिये देवता का ज्ञान करना निरर्थक है। फिर क्या कारण है, कि आज से बहुत से मनुष्य इस विचार को मानने लग गये, कि वेदार्थज्ञान के लिये देवताज्ञान की आवश्यकता नहीं है। कारण इसका स्पष्ट है। स्वाध्यायकी कमी तथा आर्यसमाज में प्रशंसा प्राप्त करना, तथा ऋषि के भक्तों से आदर पाना। मैं इससे सबके सब विद्वानों को, जो देवताको अनिश्चित मानते हैं, नहीं कहता हूं। परन्तु पिच्चानवे प्रतिशत पंडित ऐसे ही हैं, जिनमें किसी को पुरोहितार्थ की तथा किसी को उपदेश की लोभ दे रही है। बाकी पांच प्रतिशत आदम्भी सच्चे हैं, जो वास्तव में, जितना उनको ज्ञान है, उसके अनुसार इसमें विश्वास रखते हैं, और यदि उनकी समझ में आ जाये, तो उसको छोडनेको भी उद्यत हो जायेंगे।

परन्तु ज्यादातर ऐसे ही विद्वान् हैं, जो बोलने तो 'देवता' पर उद्यत होते हैं, पर स्वाध्याय की कमी के कारण दो चार शब्द कह कर यदि पं० सातवलेकरजी के पक्षके हैं, तो पं० ब्रह्मदत्तजी को और यदि पं० ब्रह्मदत्तजी के पक्ष के हैं, तो पं० सातवलेकरजी को अपशब्द कहने लगते हैं, तथा उनके जीवन पर छींटे उछालते हैं। मुझे समझ में नहीं आता, कि उनके वैदिक देवता पं० ब्रह्मदत्तजी और पं० सातवलेकरजी ही हैं क्या? मुझे यहां इतना ही कहना है, कि जब ऐसे विषय पब्लिक प्लेटफार्म पर चले जाते हैं उस वक्त वे आर्यसमाज की नींवको खोखला करते हैं। ये पत्रिका तथा पत्र के ही विषय रहने चाहिये और केवल उन्हीं पत्रों के जो ठोस तत्त्व प्रकाशित करते हैं, ऐसा होनेसे ये विषय चाहे मूर्ख के ही सामने उपस्थित हों, पर होंगे स्वाध्यायप्रेमियों के सामने ही।

अब मैं आपके सामने प्रमाण रखता हूँ, जिससे वेदार्थज्ञान में 'देवताज्ञान' कितना स्थान रखता है, स्पष्ट प्रतिपादित हैं।

"वेदितव्यं दैवतं हि मंत्रे मंत्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मंत्राणां तदर्थमधिगच्छति॥"

अर्थात् परिश्रम व स्वाध्याय से प्रत्येक मंत्र का देवता जानना चाहिये, क्योंकि देवताओं के जाननेवाला ही मंत्रों का अर्थ जानता है। इस प्रकार के एक नहीं अनेक वाक्य संस्कृत-साहित्य में मौजूद हैं, जिन सब का इस स्थान पर उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। यह सिद्धान्त वेदपाठियों के लिये उतना ही मशहूर है, जितना कि बच्चे के लिये सूर्य का गर्म होना।

देवता की आवश्यकता।

देवताज्ञान अति दुष्कर है। देवताज्ञान के बिना वेदार्थ नहीं किया जा सकता, बिना देवता का ज्ञान किये वेदमंत्रों के उच्चारण से ही पाप लगता है, आदि प्रश्नों को सुनकर मनुष्यहृदय में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, कि जिस 'देवता' के लिये इतना सब कुछ लिखा है, यदि उसको हटा दिया जाये, तो क्या हानि है। आप्तप्रमाण के अतिरिक्त क्या तर्क तथा बुद्धि की कसौटी पर भी देवता की आवश्यकता सिद्ध होती है या नहीं? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका ठीक-ठीक उत्तर देना ही देवता के प्रश्न को सुलझा सकता है।

देवता या देवता की तरह किसी अन्य चीज की भगवान् को जरुरत होनी चाहिये थी क्या, जिस समय उन्हों ने वेदों को ऋषियों पर प्रगट किया है? यदि इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में होना चाहिये, तब तो देवता का नैश्चित्य स्वयं सिद्ध हो जाता है—भगवान् की ओर से दिया जानेके कारण; और यदि इसका उत्तर 'नहीं' में प्राप्त होता है, तब देवता एक बिना मूल्य, बिलकुल सस्ती चीज हो जाती है।

प्राचीन ग्रंथों को देखने से तो देवता कोई ऐसा

सस्ता पदार्थ नहीं ज्ञात होता, जो लड्डु की तरह उठाकर मुख में डाल लिया जाये। अब हमें युक्तियों से इस बात पर विचार करना है।

हमारे इस विचार से तो कोई असहमत न होगा, कि 'वेद' किसी एक प्रकार के ज्ञान के प्रतिपादक नहीं है। वेद 'संहिता' शब्द ही इस बात का द्योतक है। इसको यदि मैं और स्पष्ट करना चाहूं, या मुझे कोई इस शब्द का आंगल भाषामें अनुवाद करने को कहे, तो मैं तो यही कहूंगा कि Encyclopædia of True and Eternal Knowledge. हमारे विचार में तो यह एक series है, जिसमें अनेकों ग्रंथ हैं। उस बृहत्कोश (Encyclopædia) में एक एक मंत्र एकएक पुस्तक का स्थान रखती है। और उस मंत्र का एकएक शब्द उस पुस्तक का एक एक पाठ है। अगर हमारी यह कल्पना ठीक है, तो हमारे अगले विचार में कोई असत्यता नहीं हो सकती।

यह भी आप स्वीकार करेंगे, कि यह महान् ज्ञान का कोश परमात्मा की ओर से हम ही लोगों के लिये मिला है। उसकी रचना हमारे ही लिये की गई है। इस दूसरे विचार की सत्यता भी स्वयं-सिद्ध है।

अब आप जरा इस संसार की तरफ आइये।

आज बीसवीं सदी में रोज ही हजारों पुस्तकें लिखी जाती हैं। मैं पूछता हूं, कि उनमें से कितनों पर नाम नहीं होते। टाइटल पेज को छोडिये, अन्दर पुनः उसी नामका छपा एक और टाइटल पेज होता। इतने पर भी बस नहीं, आगे एक एक पृष्ठपर पुनः उसी किताब का बार बार नाम छपा होगा। यह सब इतना बडा झंझट क्या यों ही किया जाता है? नहीं, यह बडा महत्त्वशाली है।

यदि आज बिना नामकी एक भी किताब पढनेको चाहे कितने ही बडे विद्वान् के हाथ में क्यों न दी जाये, वह उसको एक बार पढकर नहीं समझ सकेगा। उसे एक बार यौंही सारी किताब को पढ जाना होगा। उसके अनन्तर जब उसका थोडा बहुत विषय-ज्ञान हो गया, उसके बाद किताब पढने पर, अच्छी तरह समझ में आ सकती है।

बिना किताब का नाम जाने तथा अध्यायों के शीर्षक का ज्ञान होने के, जब हम मनुष्यकृत पुस्तक को नहीं समझ सकते, की भाषा हमारी ही भाषा है, तब हम उस परमा की किताब को बिना शीर्षकों के होने पर का दावा कैसे करते हैं, यह बात हमारे में नहीं आ सकती।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के गहनभावों समझने में कठिनता अनुभव करता है, न विद्वत्ता के कारण, परन्तु उच्चारण की भिन्न प्राकृतिक अवस्थाओं का अज्ञान तथा जिस वि का या जिस स्थान का वर्णन किया जा रहा उसका ज्ञान न होना भी बहुत कठिनता उत्पन्न देता है।

किसी बडी विद्या को छोडिये। एक बम्बई लन्दन जैसे शहर को ही ले लीजिये, उसका सुन्दर चित्रण चाहे शाब्दिक या चित्रमय कर दी उसको देखकर तथा पढकर क्या अन्य दावा सकते हैं, कि आप उसका उतना ही सुन्दर प्रतिपादन कर सकेंगे, जितना उस आदमी ने है, जो बम्बई या लन्दन देखकर आया है और उस किताब को पढा है? नहीं, जब हम अज्ञानता इतनी ज्यादा है, मालूम नहीं हम को समझने के लिये परमात्मा की तरफ से हुए किसी निर्देश की आवश्यकता अनुभव नहीं यदि हम (महर्षि दयानन्द) के चेले इतना करते हैं, तो यही कहना होगा कि हम बिना पते की चिट्ठी किसको देनी है- जान सकते सज्जनो! ऐसे विद्वानों की जरूरत आर्यसमाज नहीं। उसकी आवश्यकता पोष्ट-मास्टरोंको है।

हमें मालूम होना चाहिये, कि देवता, मंत्रों के (Headings) शीर्षक हैं, वे परमात्मा तरफ से निश्चित किये हुए हैं, उनको कोई नहीं सकता। प्रभुकी तरफ से वेदों को समझ

लिये जितने सूत्र (formula) बतलाये हैं उनमें से 'देवताज्ञान' एक है। इसी प्रकार ऋषि का ज्ञान, स्वर, छन्द आदि भी परमात्मा की तरफ से निश्चित किये हुए हैं। इसलिये हमारे में से जो कोई भी इनको अनिश्चित तथा मनुष्यकृत समझ कर बदलाने का प्रयास करता है व वेदों के सामने, परमात्मा के सामने तथा मनुष्य ही नहीं प्राणि मात्र के सामने पाप का भागी बनता है।

देवताओं का नैश्चित्य और वेदों का मूल्य।

यदि हम देवता को निश्चित नहीं मानते, तो हमारे सामने वेदों का कोई मूल्य ही नहीं रहता। यदि परमात्माने बिना प्रकाश के रास्ता दिखलाने का प्रयास किया है, तो हम इन चर्म-चक्षुओं से कभी नहीं देख सकते। यदि उसने हमें ऐसीही चर्म-चक्षु दी हैं, तो देखने के लिये उसे सूर्य का बनाना भी जरूरी है। ठीक इसी प्रकार से यदि परमात्माने हम अल्पज्ञोंके सामने एक ऐसी भाषा में, जिसको हम जानते नहीं, ऐसे भावों को जो हमारी अक्कल से बाहर है, या उनको हमारे सामने प्रकट करने की उसे आवश्यकता महसूस हुई, तो यह कहना पडेगा कि उससे बढ कर हमारी इस सृष्टि में कोई दूसरा मूर्ख नहीं हो सकता।

कल्पना कीजिये एक विद्वान् चीनी भाषा में हमारे सामने व्याख्यान देने खडा होता है, हमें वह अपने व्याख्यान का विषय नहीं बतलाता और बोलना शुरू कर देता है। हमने उसके उच्चारण को वैसे का वैसा लिख लिया, परन्तु क्या इतने मात्र से उसका व्याख्यान हमारे लिये कुछ कीमत रखता है ? नहीं, आप हजारों व्याख्यान उस भाषा में सुनकर लिख लीजिये, पर आपको कुछ भी मालूम नहीं हो सकता। आप लाख सिर पचाकर रह जाइये, आप उतने ही बडे मूर्ख बने रहेंगे, जितने कि पहले विद्यमान् थे। परंतु हां, यदि आप किसी चीनी भाषा जाननेवाले को पकड लेंगे, तो समझ में आ जायगा, पर वहां तो निर्देशक किसी न किसी रूप में आ गया। दूसरा तरीका उन व्याख्यानोंको समझनेका यह हो सकता है कि आप उनके शीर्षक जान लें। अर्थात् अमुक वर्णन घोडे का है, अमुक गाय का, अमुक ऊंट का और अमुक बकरी का। उसके बाद भी आप तुलनात्मक विवेचन या comparative observation से बहुत कुछ उसको समझ लेंगे। परन्तु बिना शीर्षक के वे व्याख्यान आपके लिये बिल्कुल रद्दी हैं।

जहां भाषा, भाव, तथा शीर्षक तीनों ही अज्ञात हैं, वहां की तो कथा ही क्या है, परन्तु मैं कह सकता हूं कि जहां केवल भाषा का ज्ञान है, वहां भी बिना शीर्षक के जाने समझना अति दुष्कर है।

इतना ही नहीं, हम पूछते हैं, कि हमारेमें से कितने ऐसे विद्वान् हैं- आजके दिन जब कि वेदमन्त्रों के शीर्षक भी प्राप्त हैं- जो सम्पूर्ण वेदों को समझने का दावा करते हों ? सज्जनो ! अपने यश की इच्छापूर्ति के लिये जनता को भटकाना अच्छा मालूम नहीं देता हो।

सन् १९३८ के आर्यविद्वानों का मत।

आज से दस मास पूर्व से आर्यसमाज वैदिक देवताओं को अनिश्चित मानने लगा है। इस लिये हम जिस विचार का उल्लेख करने लगे हैं, वह आज के आर्यसमाजियों का है।

'देवता' मंत्र का प्रतिपाद्य विषय है। और क्योंकि एक मंत्र अनेकार्थ हैं, अतः उसके प्रतिपाद्य विषय भी अनेक हैं, इसलिये देवता निश्चित नहीं हैं। मंत्रों को पढकर उसका अर्थ करके उसका देवता निश्चित किया जा सकता है। अर्थात् एक मन्त्र का अर्थ एक विद्वान् हवाई जहाज के अर्थ में लगाता है, तो उसका देवता हवाई जहाज हो गया।

दूसरे विद्वान्ने उसका अर्थ बन्दूक परक किया, तो उसका देवता बन्दूक हो गया। तीसरे विद्वान्ने उसी मन्त्र का अर्थ लड्डु परक किया, तो बस लड्डु ही देवता बन गये। मुझे तो यह पढकर ही हंसी आती

है। मालूम नहीं आज के विद्वानों को यह विचार कैसे प्रभावित करता है। इस Children's Law की वेदों के लिये जरूरत नहीं है। विद्वानों! वेदों को इस अनर्थ से बचाइये, बस यही एक प्रार्थना है।

'पुंश्चु' की सिद्धि के लिए तो हम सनातनियों को बडा कोसते हैं, पर क्या आज हम भी वही नहीं कर रहे? आज इसको पढकर अत्यन्त दुःख होता है। 'या तेनोच्यते सा देवता' 'यज्ञो वा यज्ञांगो वा' इत्यादि शब्दा का कितना तोडमोडकर अर्थ किया है, इसपर सिवाय अचरजके और कुछ नहीं किया जा सकता। इन सब का अर्थ हम आगे प्रतिपादित करेंगे जब कि विभिन्न आचार्यों के मत का उल्लेख करेंगे।

यहां एक बात और लिख देते हैं और वह यह कि जो प्रणाली वेदार्थ के लिये आजके आर्यसामाजिक विद्वान् बतलाते हैं, वह बुद्धि के भी विपरीत है। क्या कभी कोई मास्टर व अध्यापक, जब क्लास में पढाना शुरू करता है, तो क्या बिना विषय का प्रतिपादन किये हुए पढाना शुरू कर देता है? क्या आप उस अध्यापक को ठीक समझेंगे, जो क्लास में आकर पुस्तक पढना शुरू कर दे? विद्यार्थियों को मालूम नहीं, कि गुरुजी कौनसी किताब पढाना चाहते हैं।

सज्जनों! यदि केवल पठन (Reading) ही शिक्षा देने के लिये पर्याप्त होता, तो आजकल गुरुओं के लिये training colleges की जरूरत नहीं थी। पर नहीं, इस सबकी आवश्यकता है मनुष्य की बुद्धि के लिये-क्योंकि वह इतनी तीव्र नहीं है। परमात्मा ने मनुष्य की बुद्धि को कुछ इसही प्रकार का बनाया है। यह उसके स्वभाव में सम्मिलित है। जब इस सिद्धान्त को एक मनुष्य अनुभव कर सकता है, तो सर्वज्ञ परमात्मा इसको नहीं जानता था या है, यह हमारी बुद्धि में नहीं आ सकता और नाही किसी Rational Being की बुद्धि में आ सकता है।

मुनि यास्क का मत।

यह तो हुआ आज के (सन् १९३८) आर्यसमाजियों का मत। अब हम मुनि या[स्क] का मत प्रकट करेंगे।

मुनि यास्क देवता का स्वरूप प्रतिपादन [कर]ते हुए लिखते हैं-

" यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति" (निरुक्त ७-१)

अर्थ- जिस कामनावाले होकर ऋषि ने जि[स] देवता में उस अर्थ की प्राप्ति की इच्छा [से] स्तुति की है, उस देवतावाला वह मंत्र होता है। जैसे 'अग्निमीळे' इत्यादि मंत्र में 'अग्नि' ना[म] देवता में उसकी स्तुति की है, अतः वह 'अग्नि' देवतावाला हुआ।

इस मंत्रभाग में बिल्कुल स्पष्ट दो शब्द 'यस्यां देवतायाम्' और 'तद्दैवतः' इससे [यह] प्रतिपादित होता है, कि वही देवता उस मंत्र [का] देवता है, जिस नामसे जिसकी स्तुति की गई [है] न कि वह 'अर्थ' देवता है। अगर उनको (या[स्क] को) यही अभिप्रेत होता तो वे स्पष्ट लि[खते] कि वह अर्थ ही उसका देवता है। यास्क का मत केवल इतने से स्पष्ट न होता हो तो [और] देखिये। निरुक्तकार लिखते हैं, कि देवता [का ज्ञान] बडा कठिन है और जो याज्ञिक लोग यह सम[झते] हैं, कि हम सब देवता जानते हैं * तो वे [बतायें] कि "त्वां हि मन्द्रतममर्कशोकैः" क्या देवता [है?] फिर लिखते हैं, कि इस मंत्रका देवता 'अग्नि' वायु या इन्द्र नहीं।"+ यदि यास्क के मत [में] देवता अनिश्चित होते, तो इस प्रकार [प्रश्न] करके, उनको उत्तर देने की जरूरत नहीं थी। परन्तु वास्तव में यास्क के मत में भी दे[वता] निश्चित हैं। इतना ही नहीं और देखिये—

* ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति।......। इन्द्रं न त्वा शवसा ...... वायु लिंगं चेन्द्रलिंगञ्चाग्नेये मंत्रे

+ जो यह कहें कि वायु या इन्द्र देवता हैं, वे अशुद्ध हैं। (निरुक्त)

मुझे यास्क का मत इस कारणविस्तार से लिखना पड रहा है कि स्वामी दयानन्द की दृष्टि में यास्क प्रामाणिक हैं। महर्षि भी उनको इस वेद के सम्बन्धमें प्रामाणिक मानते हैं। आर्यसमाजी भी यास्क को मानते हैं। और तो और १९३८ ईस्वी के आर्य-विद्वान् भी यास्कको आप्त मानकर अपने विचारों को पुष्ट करने के लिये उनको उद्धरित करते हैं।

यास्क एक और प्रकारसे इसको पुष्ट करते हैं– 'शाकपूणिः संकल्पयाञ्चक्रे, सर्वा देवता जानामीति, तस्मै देवतोभयलिंगा प्रादुर्बभूव तान्न जज्ञे। तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति। साऽस्मा एतामृचमादिदेश॥" (नि०२।२)

अर्थात् शाकपूणि निरुक्तकार ने यह विचार किया कि वह सब देवताओं को जानता है। इसपर एक उभयलिंगा देवता उसके सामने प्रकट होकर बोली कि मैं कौनसी देवता हूं, शाकपूणि आचार्य उसको नहीं पहचान सके और उसीसे पूछा कि मैं तुम्हें जानना चाहता हूं। इसपर उसने निम्न ऋचा को समझनेके लिये (उसी देवता को-क्योंकि उस देवतावाली वह ऋचा थी) आदेश किया। अस्तु।

इस ऋचा का अर्थ करते हुए यास्क ने इस मंत्र को विद्युत् परक लगाया है, परन्तु इस ऋचा की देवता 'विश्वेदेव' हैं। न कि 'विद्युत्'। इससे भी यही मालूम होता है कि यास्क के मत में देवता निश्चित हैं। नहीं तो वे भी इस मंत्र का देवता 'विद्युत्' मानते और विश्वेदेव को अशुद्ध प्रतिपादित करते। यदि अशुद्ध नहीं तो भी कम से कम इस स्थानपर तो 'विद्युत्' को ही देवता मानते। 'विश्वेदेव' को तो कभी स्वीकार नहीं करते। परन्तु उन्होंने 'विश्वेदेव' का खण्डन नहीं किया। अन्यथा मंत्र की देवता पर विचार करते हुए, उनके लिये यह आवश्यक था कि वे लिखते कि इसका देवता 'विद्युत' है।

सन् १९३८ के विद्वान् (वैदिक आर्यसमाजी) अपने मत को पुष्ट करने के लिये यास्क का निम्न वाक्य उद्धृत करते हैं।

यद्देवतः सः। यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति। अथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः। नाराशंसा इति नैरुक्ताः। अपि वा सा कामदेवता स्यात्। प्राणो देवता वा, अस्ति हि आचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम्। याज्ञदेवतो मंत्र इति॥ (नि० ७।१)

यास्क प्रश्न करते हैं कि जिन मंत्रों के देवता अनादिष्ट हैं अर्थात् एकदम साधारणतया स्पष्ट ज्ञात न होते हो, वहां क्या किया जाये। उसका उत्तर देते हुए यास्क कहते हैं–

उसका देवता या तो यज्ञ है अथवा यज्ञांग है। और जहां ये दोनों भी न हो ऐसे स्थलों के लिये याज्ञिकों का मत है कि उन मंत्रों का देवता 'प्रजापति' है। निरुक्तकारों के मंत्र में वे मंत्र मनुष्य-देवताक हैं और सकाम लौकिक मनुष्यों की दृष्टि से वे कामना-देवताक हैं। आगे फिर निरुक्तकार कहते हैं कि लोक में तो विद्वान् गुरु आचार्य अतिथि तथा महापिता को भी देवता कहते हैं, परन्तु वास्तव में तो मंत्र का देवता यज्ञ ही है- इसको कर्मकाण्ड की ओर भी लगाते हैं।

अब मैं आपसे पूछता हूं कि क्या निरुक्त के उपरोक्त भाग से, एक मंत्र के अनेक देवता सिद्ध होते हैं ?

विद्वानो! यास्क कहां पर किसी एक मंत्र के देवता पर विचार नहीं कर रहे हैं, वे तो सम्पूर्ण 'अनादिष्ट देवतावाले मंत्रों' पर विचार कर रहे हैं। 'यज्ञो वा यज्ञांगो वा' का केवल इतना ही तात्पर्य है कि कुछ अनादिष्ट देवता वाले मंत्रों का देवता यज्ञ है और कुछ का यज्ञांग है। ये भी जिनके न हों, उनके लिये आगे विभिन्न मत दिये हैं। इससे मंत्र अनेक देवतावाले सिद्ध नहीं होता।

नहीं तो निरुक्तकार को विभिन्न मत दिखलाने की जरूरत नहीं थी। इतना वे भी स्वीकार करते हैं कि चाहे वे मंत्र प्रजापति परक हो और चाहे मनुष्य परक, उनके देवता एकही है और निश्चित है। नहीं तो यह आपत्ति कहीं रह ही नहीं सकती।

यदि आज के विद्वानों का मत शुद्ध हो, तो यास्क को देवता पर इतना ज्यादा गहरा विचार करने की जरूरत नहीं थी। यही सब इस बात को सिद्ध करता है, कि यास्क के मत में देवता निश्चित हैं। ऐसे और भी स्थल दिखलाये जा सकते हैं, जो हमारे विचारको पुष्ट करते हैं, परन्तु उन स्थलोंपर बिल्कुल स्पष्ट न होनेसे हम उनको छोड देते हैं। क्योंकि हमारा प्रयोजन इतने से ही सिद्ध हो जाता हैं।

प्रो. चन्द्रमणि विद्यालंकार का मत।

महर्षि दयानन्द का मत हम सबसे अन्त में लिखेंगे।

जिन्होंने प्रोफेसरसाहब का निरुक्तभाष्य देखा होगा, उनको तो यह बतलाने की जरूरत नहीं है, उनके मत में देवता निश्चित हैं। यहां हम यह भी लिखना उचित समझते हैं, कि उनके भाष्य को प्रकाशित हुए हुए आज बारह वर्ष से अधिक हो चुके हैं, परन्तु शायद उनके निरुक्त में किसी भी विद्वान्ने कोई सिद्धान्त-विरोधी बात नहीं पाई है। और यदि किसी ने पाई भी हो, तो वह देवता के सम्बन्ध में नहीं है। इसलिये यदि हम कहें कि उनका मत आर्यसमाजियों को सन् १९३७ के दिसम्बर मास तक माननीय था, तो कोई गलत कह भी की बात न होगी।

यदि मैं उनके सम्पूर्ण स्थलोंको उद्धृत करने लगूं, तो शायद मुझे उनके निरुक्तभाष्य के दो अध्यायों को वैसा का वैसा उतार देना होगा। इस लिये मैं उनका एक ही स्थल उद्धृत करूंगा, जहां से बिल्कुल सन्देह होही नहीं सकता कि उनके मत में देवता निश्चित हैं या अनि[illegible]

'अयं सः शिङ्क्ते' इस "मंत्रका देवता 'वि[illegible] है।" (जो कि वेदों में छपा हुआ है।) पंडितजी उस मंत्र का अर्थ करते हैं और[illegible] हैं कि इसका 'आशय निम्न है कि विद्युत्[illegible] रूप हैं- एक, स्तनयित्नु रूप, जो गर्जता[illegible] दूसरा विद्युत्रूप जो प्रकाश करता है।[illegible] विद्युत् क्रमशः अपने इन दोनों रूपों को [illegible] और वृष्टि करके अपने रूपों को पुन[illegible] लेती है।" पंडितजी के अनुसार इस मंत्र[illegible] विद्युत् का प्रतिपादन है, परन्तु वे देवता 'वि[illegible] मानते हैं। यदि उनको १९३८ के आर्य[illegible] का मत स्वीकार होता, तो वे 'विश्वेदेव' न[illegible] कर इस मंत्र का देवता 'विद्युत्' लिखते। यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि में (हमें इससे अभी मतलब नहीं कि वे कौनसे मानते हैं) निश्चित हैं।

बृहदेवता का मत।

यहां हम इस बातका विचार करने के प्रस्तुत नहीं हुए हैं, कि बृहदेवतामें लिखि[illegible] ने देवता शुद्ध हैं। यहां हम ऊपर की भांति यही प्रतिपादित करेंगे कि देवता निश्चित अनिश्चित। वे लिखते हैं—

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति।
प्राधान्येन स्तुवन् शक्त्या स मंत्रस्तद्देवत[illegible]
(बृ. दे[illegible]

इस श्लोक की तुलना निरुक्तकार यास्[illegible] 'यत्काम ऋषिः' वचन से की जा सकती है[illegible] का अर्थ बिल्कुल वही है, अतः यहां विशेष[illegible] की जरूरत नहीं है। यहां भी स्पष्ट लिखा[illegible] वह मंत्र उसी देवतावाला है। इनके मत[illegible] देवता बदलते नहीं हैं।

भाष्यकार उव्वट का मत।

यजुर्वेद का भाष्य प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं कि—

'मंत्रस्य वाच्यं देवता ।' अर्थात् मंत्र का वाच्य (Subject, Predicate नहीं) ही मंत्रका देवता होता है। इसलिये इससे यह स्पष्ट है कि उव्वट के मत में देवतावाची शब्द मंत्रमें पठित होना चाहिये। अर्थात् यदि किसी मंत्रमें 'अग्नि' शब्दसे नेता का वर्णन किया गया है, तो उस मंत्र का देवता 'नेता' न होकर 'अग्नि' ही है।

यहां हम यह भी बतला दें कि—

'या तेन उच्यते सा देवता ॥'

का जो यह अर्थ किया जाता है कि 'जिस पदार्थ का वर्णन जिस मंत्र में हो, वही उसका देवता है' अशुद्ध है। यहां पर यदि लेखक को अर्थ से अभिप्राय होता, तो 'वर्ण्यते' का उपयोग करता न कि 'उच्यते' का। यही कारण है कि हम इन लोगों के भाष्य में देवतावाची शब्दों को निश्चित पाते हैं, चाहे अर्थ कुछ भी हो। परन्तु हां वह देवतावाची शब्द उस अर्थवाची भी होना चाहिये। उदाहरण के लिये यदि एक मंत्र का देवता 'अग्नि' है तो उस मंत्रको हम आग, तेज, सूर्य आदि पदार्थों के अर्थ परक ही ले सकते हैं न कि मकान या किताब आदि के अर्थ में। उस वक्त भी वे वे अर्थ करते हुए देवतावाची शब्द स्थिर ही रहेगा। उसकी जगह पर्यायवाची शब्द भी नहीं लिया जा सकता।

वेदों के अन्य भाष्यकारों के मत।

इसी प्रकार से हम अनेक भाष्यकारों को ले सकते हैं। हम पूछते हैं कि उनमें से कितनोंने अर्थों के अनुसार वैदिक देवताओं का निश्चय किया?

अभी एक यजुर्वेद का भाष्य वृन्दावन से प्रकाशित हो रहा है—देखा कि देवता तो वही हैं, परन्तु मंत्रार्थ संसार के चारों कोनों में घूम आये हैं। लाहौर से पंजाब प्र० नि० सभा की तरफसे पं. बुद्धदेवजी विद्यालंकार आदि भी एक वेद-भाष्य प्रकाशित कर रहे हैं, परन्तु उन्होंने भी कितने मंत्रों के देवता प्रथम अर्थ करके निश्चित किये हैं। इसलिये हमें तो यही करना होगा कि आजतक लगभग सब विद्वान् वेदों के देवता निश्चित ही मानते आये हैं। हां एक-एक मंत्र के दो-दो, तीन-तीन तथा चार-चार देवता भी माने हैं, परन्तु माने सब निश्चित देवता ही हैं। और जिनको देवताओं का स्वरूप समझ में नहीं आया, उन्होंने प्राचीन सब भाष्यकारों के देवताओं को मान लिया है। पर ऐसा किसी ने नहीं किया, कि बन्दूक, गाय, पुस्तक, लड्डू ऐसे शब्दों को भी देवता मान लिया हो।

स्वामी भूमानन्दसरस्वती का मत।

स्वामी भूमानन्दजी वैदिक साहित्यके अद्वितीय तथा सच्चे विद्वान् हैं। जिन्होंने उनकी पुस्तकोंको पढा हैं, वे ही उन्हें समझते हैं। वे आजकल वेदोंका अंग्रेजी में एक भाष्य लिख रहे हैं, जो शायद अभीतक के सम्पूर्ण वेदभाष्योंसे (जिस दृष्टिकोणको लेकर यह लिख रहे हैं) उत्कृष्ट होगा। वे भी सम्पूर्ण मंत्रों के देवता वेही मानते हैं। उनके मतमें भी देवता निश्चित हैं। हो सकता है, वे किसी मंत्रका देवता बदल दें, उस अवस्थामें भी, उनकी दृष्टिसे, दूसरे देवता अशुद्ध हैं। चाहे दोनोंमेंसे कोई ठीक हो, पर दोनों नहीं हो सकते। इससे उनके मतमें भी देवताका निश्चित होना सिद्ध होता है। आगे तो उनका भाष्य जनताके सामने आनेपर ही मालूम होगा—(यदि वे इस पर अपने विचार प्रकट करेंगे, कि वे देवता को निश्चित या अनिश्चित मानते हैं।) परन्तु उनके Specimen को देखकर तो उपरोक्त विचार ही पुष्ट होता है।

महर्षि दयानन्दका मत।

इतने सब मतोंको लिखकर अब हम स्वामिजी का मत लिखते हैं। कि स्वामिजी के मतमें देवता निश्चित हैं या अनिश्चित।

जैसा कि हमने प्रारम्भ में लिखा है कि स्वामिजी ने बिल्कुल स्पष्ट कि 'देवता निश्चित हैं' कहीं भी नहीं लिखा है। परन्तु इसके विपरीत 'देवता अनिश्चित हैं' भी कहीं नहीं लिखा है। ऐसी अवस्थामें हमें उनके विचारोंसे परिणाम निकालना होगा, कि वे देवताको निश्चित मानते थे या नहीं।

उनकी दृष्टिमें देवता का बडा महत्त्व था, यह तो इससे ही मालूम होता है कि ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका लिखते हुए उन्होंने सबसे पूर्व देवतापर विचार किया है। इसमें सन्देह नहीं कि वेदोंका नित्यत्वादि विचार देवता-विचार से भी पहले किया है, परन्तु वह सब ईश्वर व वेदोंकी सत्तासे सम्बन्ध रखता है। वेदोंकी नित्य सत्ता सिद्ध होने के बादही देवता का विचार उत्पन्न होता है। परन्तु यदि वेदोंका अनित्यत्व सिद्ध हो जाये, तो देवता-विचार व्यर्थ होता है। इसी दृष्टिको मध्ये रखकर हमने यह लिखा है, कि स्वामिजीने देवता-विचार को सर्व प्रथम स्थान दिया है।

स्वामिजी प्रश्न करते हैं-

यज्ञे देवता शब्देन किं गृह्यते ! याश्च वेदोक्ताः। अत्र प्रमाणानि। अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।

यजु० १४।२०।

अर्थात् यज्ञमें देवता शब्दसे किसका ग्रहण होता है? (उत्तर) जो जो वेदमें कहे हैं, उन्हींका ग्रहण होता है। इसमें यजुर्वेदका 'अग्निर्देवता' इत्यादि प्रमाण हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्वामीजी को 'वेदमंत्रोंका जो अर्थ किया जाता है, वह देवता है।' यह अभिप्रेत नहीं है। यदि ऐसा होता, तो वे वेदमंत्रको उच्चारण करनेकी जगह वह लिखते। यहां आप कहेंगे कि उन्होंने वह केवल यज्ञोंके लिखा है। मैं मानता हूं, परन्तु जो उनका उत्त वह ऐसा प्रतीत होता है, कि वह यज्ञोंके तथा औरोंके लिये भी है। खैर, कमसे कम इतना तो सिद्ध होता है कि स्वामीजी यज्ञोंके तो देवताको निश्चित मानते हैं।

परन्तु स्वामीजी ने उपरोक्त भागके आगे निम्न शब्द लिखे हैं, वह तो उनका देवताश का विचार है, जो न केवल यज्ञोंके लिये हैं, प देवताका सामान्य विचार है।

'यस्मिन्मंत्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं स एव मंत्रो अग्निदेवतो गृह्यते' इसका अर्थ उन्हींकी भाषामें देखिये—'कि जिन जिन मं अग्नि आदि शब्द हैं उन-उन मंत्रोंका उन उन शब्दोंके अर्थोंका अग्नि आदि दे नामोंसे ग्रहण होता है।

स्वामीजीके इस भागसे बिल्कुल स्पष्ट मा होता है कि 'अर्थ' देवता नहीं है परन्तु वे आदि शब्दही उन मंत्रोंके देवता हैं। क्या उनके मतमें देवता का निश्चित होना सिद्ध होता?

स्वामीजी आगे अग्नि आदि शब्दोंके दे होनेमें दो 'हेतु' देते हैं।

१. तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्-और
२. परमात्मेश्वरेण कृतसंकेतत्वात् च।

यहां दूसरे हेतुसे यह भी सिद्ध होता है उनके देवता होनेमें ईश्वरने संकेत किया है। यही कहना होगा कि स्वामीजी के मतमें दे ओंके लिये ईश्वरने संकेत किया है। इतना पर फिर स्वामीजी के मतमें 'देवता का अनि होना कहां ठहरता है।

स्वामीजी और लिखते हैं

'यानि नामानि मंत्रोक्तानि येषामर्थानां मंत्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिंगानि भवन्ति ' तद्यथा ' अग्नि दूतं पुरोदधे ' इत्यादि मंत्रे ' अग्नि शब्दो लिंगमस्ति । अतः किं विज्ञेयं ? यत्र यत्र देवता उच्यते तत्र तत्र तल्लिंगो ग्राह्य इति । '

यहां स्वामीजी स्पष्ट लिखते हैं, कि " येषां अर्थानि " ' जिनके अर्थ ' इससे उन्होंने देवता और उनके अर्थोंको अलग अलग कर यह बतला दिया है कि अर्थ देवता नहीं है ।

उपरोक्त भाग की हिन्दी बनाते हुए स्वामीजी लिखते हैं-

" जो जो संज्ञा जिन जिन मंत्रोंमें जिस जिस अर्थ की होती है, उन मंत्रोंका नाम वही देवता होता है ।"

स्वामीजीके इस भागसे मालूम होता है कि 'देवता' 'मंत्रका नाम ' है । पर वह नाम हर कोई जिसकी मरजीमें जो आये नहीं कर सकता । इसी को मध्ये नजर रखकर स्वामीजी आगे लिखते हैं-

" अग्नि दूतं' इस मंत्रमें अग्नि शब्द चिह्न है- यहां इसी मंत्रको अग्नि देवता जानना चाहिये ।" यहां स्वामीजीने यद्यपि सम्पूर्ण मंत्रको देवता मान लिया है, परन्तु उसका नाम कहीं बाहर से उठा कर नहीं रखा । मंत्रमेंसे ही जो लिंग है, उसको देवता मान लिया है । इससे यह बिल्कुल स्पष्ट है, कि स्वामीजीके मतमें वेदमंत्रोंके अर्थ देवता नहीं है ।

स्वामीजीने इतने से ही बस नहीं किया । और लिखते हैं-

'जहां जहां मंत्रोंमें जिस जिस 'शब्द'का लेख है, वही उसका देवता है । इससे स्पष्ट प्रमाण और क्या चाहिये ?

स्वामीजीके मतमें पर्यायवाची शब्द भी देवता नहीं हो सकते । अर्थात् यदि किसी मंत्र वा देवता ' अग्नि ' है, तो उसका देवता ' वह्नि ' नहीं हो सकता । इसी प्रकारसे जिसका वरुण है, उसका ' जल ' नहीं हो सकता आदि ।

" सो देवता शब्दसे जिस जिस गुणसे जो जो अर्थ लिये जाते हैं, सो सो ब्राह्मणादि ग्रंथमें अच्छी प्रकार लिखा है " ×

ब्राह्मणोंमें वैदिक शब्दोंके व देवताओंके अर्थ लिखे हैं, जैसे 'रात्रिर्वरुणः,' 'यो वै वरुणः सोऽग्निः' 'श्रीर्वै वरुणः' आदि अनेक अर्थ हैं, इसलिये कहीं इनको देवता न समझते स्वामीजीने लिख दिया, कि वे सब देवतावाची शब्द नहीं है परन्तु देवता-वाची शब्दोंके अर्थ हैं । सो अर्थ करते हुए उनको ले लेना चाहिये ।

इस प्रकारसे हम देखते हैं, कि स्वामीजीके मतमें भी हमारा ही सिद्धान्त ठीक है अर्थात्—

" देवता निश्चित हैं, वे बदले नहीं जा सकते और उनका निर्देश मंत्रमें सीधा होता है । उनका स्थान दूसरा कोई भी शब्द चाहे पर्यायवाची ही क्यों न हो नहीं ले सकता । "

यदि स्वामीजी के मतमें अर्थोंके अनुसार देवता होते, तो मैं पूछता हूं कि उनके वेदभाष्यमें कितने मंत्रोंके देवता अर्थोंके अनुसार हैं । यजुर्वेदमें सैंकडों मंत्रोंके अर्थ उन्होंने राजपक्षमें लगाये हैं, उनमेंसे कितनोंके देवता 'राजा' या 'प्रजा' है । हां इसमें शक नहीं कि जो देवतावाची शब्द हैं उनका अर्थ ' राजा ' या प्रजा किया हो । पर इससे

× संस्कृत वाक्य जान बूझकर उद्धृत नहीं किये हैं क्योंकि फिर उनका अर्थ दिखलानेके लिये ये पुनः उद्धृत करने होते.

उनकी दृष्टिमें भी अर्थ देवता नहीं, यह तो स्पष्ट सिद्ध होता है।

इतना विस्तारसे लिखनेके अनन्तर हमारी आर्य विद्वानोंसे प्रार्थना है, कि सिद्धान्त के विषयमें जोशको कभी काममें नहीं लाना चाहिये। हमें व्यक्तिके नाम, गुण तथा शकल सूरतसे भी अलग रहना चाहिये। सिद्धान्तके लिये हमें हमेशा निष्पक्षपात होना चाहिये, नहीं तो हम बडी आसानीसे मूर्ख बनाये जा सकते हैं, जैसा कि आज हो रहा है।

हमारी आर्योंसे प्रार्थना है कि लेखक का नाम पढे बिना लेखको पढ जाइये और उस वक्त आप यह अनुभव करेंगे कि स्वामी दयानन्द का मत वही था, जो हमारा है। यदि आपको फिर भी यही मालूम हो, तो आप उपरोक्त लेखकी पंक्ति-पंक्तिका खण्डन कीजिये और इसको शुद्ध तथा पवित्र भावनासे पुष्ट कीजिये। जिनके पास प्रमाण न हो, सिद्धान्तके सम्बन्धमें, उनसे मेरी प्रार्थना है, कि वे अपनी कलम को नीचे रखें। एक दूसरे प्रति कि अमुक ढोंगी है, अमुक अमुक पन्थी है, अमुक एक भाष्यमें कुछ लिखता है और दूसरा कुछ, आदि बातोंसे, विद्वानों! सिद्धान्त की पुष्टि या खण्डन नहीं होता। साथमें मेरी पत्र-सम्पादकों से भी प्रार्थना है कि जो लेख एक दूसरेके जीवन पर छींटे उडानेवाले हों उनको पत्रोंमें प्रकाशित न करें। और जो ऐसा कर रहे हैं, वे धन्यवादके पात्र हैं। इतना साथमें और कह दूं कि जो लेख सिद्धान्तकी ओर तथा द्वेषपूर्ण न हों, तथा सच्ची भावनासे लिखे गये हों, उन्हें प्रकाशित करनेमें भी पत्रोंको चुप नहीं रहना चाहिये। अर्थात् शीर्षक से तो "किसी सिद्धान्तपर इस लेखमें विचार किया गया है" मालूम होता हो, पर पढने से मालूम होता है कि सिद्धान्त तो एक ओर रक्खा गया और सिवाय कीचड उछालनेके उस लेखमें कुछ नहीं-केवल ऐसे ही लेखोंके लिये हमारा लिखना है, अन्योंके लिये नहीं।

वेदकी व्यवस्था किस तरह रहेगी ?

पाठकों ! सोचिये-- तो सही-

१ वेदमंत्रों के ऋषि बदलते हैं,
२ मंत्रोंके देवता मंत्रका अर्थ करनेवालेकी इच्छासे बदलते हैं,
३ छन्दभी अनियत हैं,
४ अर्थभी बदला जाता है, अतः अस्थिर है,
५ पाठभेदभी घुसेडे जाते हैं, (जैसा अजमेर मुद्रित ऋग्वेदमें 'देवृकामा' घुसेडा गया है,)

इतना माननेपर वेदका स्वतःप्रामाण्य कहां रहेगा ? इस विषयमें हमारा निश्चित मत यह है —

१ वेदमंत्रोंके ऋषि निश्चित हैं,
२ मंत्रोंके देवता निश्चित हैं,
३ मंत्रोंके छन्द निश्चित हैं,
४ मंत्रोंका अर्थ भी प्रकरणानुकूल निश्चितहि है, (अर्थ करनेवालेपर एक एक पदके अर्थका उत्तरदायित्व है, मर्जी चाहे अर्थ कभी बदला नहीं जा सकता ।)
५ वेदमें पाठभेद भी नहीं हैं, (खोजपूर्वक पाठभेद दृग्गोचर हुए तो उनको हटानाही चाहिये । पाठभेद अनर्थकारी समझने चाहिये ।)

इस कारण वैदिक धर्मियोंके लिये वेद शाश्वत प्रमाणके ग्रन्थ हैं, उसमें अस्थिरता बिलकुल नहीं है ।

—संपादक ' वैदिक धर्म '

सामगायनकी गात्र-वीणा ।

(पृष्ठ ८१२ देखें)

वेदों का मुद्रण।

ऋग्वेद।

चारों वेदोंके मुद्रणका कार्य स्वाध्यायमण्डलमें बडी खोजके साथ चला है। उसमें से ' ऋग्वेद ' का मुद्रण हो चुका था, परंतु उसकी मांग इतनी अधिक हो गयी, कि प्रथमवार की सब प्रतियां लग चुकी हैं, अब एकभी प्रति यहां शेष नहीं है, मांग प्रतिदिन बढ रही है, **इसलिये द्वितीयवार पांच हजार प्रतियां छापनेका कार्य शुरू हो चुका है। इसवार हम पांच हजार प्रतियां छापेंगे, और एक हजार प्रतियां पदपाठसहित छापेंगे।** सब लोग वेदके अच्छे और सुन्दर पुस्तक चाहतेहि हैं, और इस दूसरीवारकी छपाईमें पूर्वकी अपेक्षा अधिकही विशेषताएं रहेगी, अतः जो शुद्ध, सुन्दर और सस्ते वेदग्रंथ अपने पास रखना चाहते हैं, वे शीघ्र अपना ग्राहकमूल्य भेज दें और ग्राहक बनें।

अथर्ववेद।

अथर्ववेदकी छपाई तीनचौथाई हो चुकी है और यह ग्रंथ आगामी ३ महिनोंमें तैयार होकर ग्राहकोंके पास भेजा जायगा। **इसमें हमने प्रत्येक सूक्तके ऋषिदेवता छन्द दिये हैं और प्रत्येक सूक्तके विषयका शीर्षक भी दिया है।** इससे विषयवार अध्ययन करनेवालोंको सुविधा होगी।

सामवेद का मुद्रण।

सामवेदका मुद्रण एक बडी जिम्मेवारीका कार्य है। जो सामवेद आजकल छपा मिलता है, वह तो केवल **आर्चिक** मात्र है। अर्थात् केवल ऋग्वेदकी ऋचाओंका संग्रह हि है। यद्यपि कुछ ७४ मंत्र इस समयके ऋग्वेदमें नहीं मिलते, तथापि वे ऋग्वेदकी अन्य शाखाओंमें होंगे, ऐसा ही सब मानते हैं। सामवेद ऋग्वेदके ही मंत्रोंका गायनके लिये एक संग्रह है, अतः इसका अर्थ ऐसा करते हैं—

सामन् = सा+अम
सा = ऋचा, ऋग्वेद-मंत्र
अम = स्वर, आलाप, तान, गान

अर्थात् ऋग्वेदमंत्रोंपर आलाप लेकर जो गान होता है, वही साम है। जबतक आलाप नहीं लिये जाते, तबतक वह मंत्र ' **ऋचा** ' हि कहा जायगा। इसीलिये सामवेद की संहिताको ' **आर्चिक** ' अर्थात् ' **ऋचाओंका संग्रह** ' कहते हैं। यह आर्चिक हम प्रथम छाप रहे हैं और हमें आशा है, कि हम इसे चार महिनोंमें छापकर ग्राहकोंको दे सकेंगे। ये सामवेदके ऋचामंत्र- आर्चिक मंत्र - जैसे हैं वैसे गायनमें प्रयुक्त नहीं होते, अर्थात् उनपर जो अंक हैं, वे गायनके नोटेशन नहीं हैं। वे केवल उदात्त-अनुदात्त-स्वरित के चिह्न हैं, जैसा देखिये—

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
१ २र ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि॥

यह सामवेदका प्रथम मंत्र है। यह ऋग्वेदमें मं. ६।१६।१० में है, वहां इसके स्वर ऐसे हैं-

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥

इन दोनोंका मीलन करनेसे इन अंकोंका संबंध स्पष्ट हो जाता है देखिये—

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
१ २ र ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि॥

इस तरह देखनेसे पता लगता है, कि जहां ऋग्वेदमें नीचे स्वरचिह्न हैं, उस अक्षरपर सामवेदमें ' ३ ' अंक होता है, जहां ऋग्वेदमें अक्षरके सिरपर खडा स्वरचिह्न होता है, वहां सामवेदमें ' २ ' अंक होता है और जहां ऋग्वेदमें

स्वरचिह्न नहीं होता, वहां ' १ ' अंक सामवेदमें होता है। इनमें थोडा और भेद है उसका विचार यहां नहीं किया है। सामवेदमें कई अक्षरोंपर कोई अंक नहीं होता, वे अक्षर पूर्व अक्षरके स्वरके चिह्नोंसे युक्तही समझने चाहिये। जैसा–

२ २ २ ३
' दातये ' ' दातये ' इ०

ऐसा समझना चाहिये, जैसा ऋग्वेदमें समझते हैं। इस प्रकारकी तुलनासे ऋग्वेदके स्वरोंके साथ सामवेदके स्वराङ्कोंका मीलन करनेसे सामवेदके अंक किस स्थानपर अशुद्ध हैं, इसका भी पता लगता है, और इस कारण यह अशुद्धि है या नहीं, यहभी इस निरीक्षणसे बताया जा सकता है।

सामवेदपर कई लोगोंने इस समयतक लिखा है, उनमें कईयोंने ऐसा भी लिखा है, कि ये अंक निरर्थक दिये हैं। परंतु इस खोजसे इन अंकोंकी सार्थकता सुस्पष्ट हो रही है।

सामवेद आर्चिक संहितामें— आजकल मिलनेवाली साम-वेद–संहितामें जो मंत्रसंग्रह है, वह वैसाका वैसा गाया नहीं जाता, तथापि इन मंत्रोंको कण्ठ करनेके लिये यह संग्रह है और मंत्रोंको कण्ठ करनेके विना आगेका गायन करना असंभवही है। तथापि यहां यह बात स्मरण रखनी चाहिये, कि सामगानमें ये मंत्रभी इस रूपमें नहीं रहते। आगे इसी लेखमें सामगानके ५ मंत्र और उनसे बननेवाला एक एक ही गान दिया है, वह देखनेसे सामगानमें मंत्रोंके विभाग कैसे होते हैं, और मन्त्रपाठसे गानके शब्दोंका अन्तर कितना होता है, इसका पता लग सकता है, देखिये—

(१) धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ = धियो योनः प्रचो १ २ १ २ ॥ हिम् आ २ ॥ दायो ॥ आऽ३ ३ ५ ॥

(२) मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या ॥ = मूर्धानंदाइ ॥ वाऽ ३ अर ॥ तिं पृथिव्याः ॥

(३) कया शचिष्ठया वृता ॥ = कयाऽ२ ३ शचा ३ ॥ ष्ठयौहोऽ३ ॥ हिम्माऽ २ ॥ वाऽ२ र्तोऽ ३५ हा इ ॥

(४) अग्न आयाहि वीतये ॥ = ओग्नाइ ॥ आया-हिऽ ३ वोइतो याऽ २ इ ॥ तोयाऽ २ इ ॥

(५) त्यमूषु वाजिनं देवजूतं ॥ = त्यमूषु ॥ वाजि ॥ नाऽ २ ३ ४ ५ मू ॥ देवजूताऽ २ ३ ४ मू ॥

मंत्रोंके शब्दोंके उच्चारण एक होते हैं और सामगान और ही उसका रूप होता है। कुछ अक्षर अधिक आते हैं। कुछ अक्षर छूटते हैं, कुछ अक्षर आलापोंके ह्रस्व दीर्घ अथवा अन्य प्रकारके होते हैं। जैसा ऋग्वेदमें **' वरेण्यं '** है, वहां सामवेदगानमें **' वरेणियोम् '** होता है। अर्थात् किसीने सामवेदकी आर्चिक संहिता कण्ठ की, भी उसको पुनः उनके गान कण्ठही करने चाहिये। कोई मनुष्य केवल मंत्रोंको लेकर सामगायन करहि नहीं सकता यह बात इस लेखमें दिये सामगानके ५ मंत्रोंसे पाठकों को विदित हो सकती है।

सामवेदमें पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक ऐसे दो विभाग हैं। इनमें जो मंत्र संग्रहित हुए हैं उनमें विशेषता यह है, पूर्वार्चिक के एक एक मंत्रके अनेक अर्थात् दो दो, तीन तीन, पांच पांच तक सामगायन प्राचीन ऋषियोंके बनाये हैं, और उत्तरार्चिकमें जो मंत्र हैं, उनकी विशेषता यह है कि उनके दो दो, तीन तीन या अधिक मंत्रोंका मिलकर एक सामगान होता है। यह दोनों आर्चिकोंकी विशेषता है। इस लिये सामवेद के केवल मंत्र पास रहनेसे उनका गान होना असंभव है।

प्राचीन समयके करीब ३०० से अधिक ऋषियोंने सामगायन की पद्धति निश्चित की है और सामसंहिताके मंत्रोंसे करीब चार हजार गायन बनाये हैं। किस मंत्रका गान किस स्वरमें होना चाहिये, कौनसे नये अक्षर, शब्द या वाक्य गायनमें कहां रखने चाहिये, किस अक्षरपर कैसा आलाप लेना चाहिये इन सब बातोंको उक्त ऋषियोंनें निश्चित किया है।

जो अक्षर, शब्द और वाक्य गायनके समय मंत्रोंमें रखे जाते हैं, उनको **' स्तोभ '** कहते हैं। इन सब **' स्तोभों '** की गिनती प्राचीन ऋषियोंने की है, इस ग्रंथका नाम **' स्तोभगान, स्तोभसंहिता अथवा स्तोभानुसंहार '** है। इनमें इन सब स्तोभोंका संग्रह है और वर्गीकरण किया है। ये स्तोभ किसी गानेवालेके पास प्राप्त हुए तो भी वह किसी स्तोभको किसी मंत्रमें रखकर गा नहीं सकता। स्तोभ ऐसे होते हैं—

हाऊ, आज्यदोहं, प, आई, आऊ, होऊ, वा, औहोवा, वोइतोयाई, इ इत्यादि।

ये गानेवाले की इच्छासे गायनमें लगाये नहीं जाते। किस छंदके मंत्रमें किस स्तोभ को किस स्थानपर रखना है, इसका निश्चय ऋषियोंद्वाराहि हो चुका है । उसको वैसाहि मानना और गाना चाहिये । इधरका एक अक्षर या स्वर उधर किया नहीं जा सकता, न आलापोंमें बदल किया जा सकता है। गायत्री मंत्रके स्तोभोंको त्रिष्टुप् मंत्रके अन्दर रखा नहीं जा सकता, और जगतीमंत्रके स्तोभ अलगहि होते हैं। इस तरह ये साम ऋषियोंद्वारा निश्चित हैं। इनकी गानपद्धतिभी निश्चित है। और स्वर भी निश्चित हुए हैं।

जो ऋग्वेदमें छन्दोंको हेरफेर कर रहे हैं, उनका वह दोष कितना अक्षम्य है, इसका निर्णय इससे हो सकता है। ऋग्वेदके वेही मंत्र सामवेदमें आये हैं और सामवेदमें उनके छन्द ऋषियों द्वाराहि नियत हो चुके हैं। हम इनका कोष्टक देकर हि बतायेंगे, कि कौनसा छन्द कहां कैसा है और उसका ऋग्वेदमें क्या रूप है। किसी भी वेदमें मनमानी गडवड कोई भी कर नहीं सकता !

यहां सामवेदका गायन करनेकी पद्धति विदित होनेके लिये यह हमने एक चित्र दिया है। (पृष्ठ ८१४ देखें) एक हाथका चित्र है, उसमें उंगलियोंमें स्वरके स्थान दिये हैं। सामगायन यथाशास्त्र करना हो, तो सबसे प्रथम इन हस्तस्वरोंका अभ्यास करना चाहिये।

मुखसे कौनसा स्वर उच्चारण होता है, वह ठीक इस तरह दर्शाना चाहिये। इससे तालमें सहायता होती है और स्वरका अनुसंधान भी रहता है, दूसरे हाथसे भी तालकी मात्राओंकी गिनती होती है। इस तरह सामगायनके समय गायन करनेवालेका मुख और हाथ काममें आते हैं और मन उनमें लगा रहता है। सामगायनके मुख्य चिह्न ये हैं—

स्वराङ्क	सप्तस्वर	स्वरनाम	सामवेदियोंके नाम
७	प	पंचम	क्रुष्ट
१	म	मध्यम	प्रथम
२	ग	गांधार	द्वितीय
३	रे	ऋषभ	तृतीय
४	सा	षड्ज	चतुर्थ
५	नि	निषाद	मन्द्र
६	ध	धैवत	अतिस्वार्य

ये अंकोंके स्वरचिह्न हैं। एक '**अतिक्रुष्ट**' और स्वर होता है, जो 'प' से भी ऊंचा है, जो आठवा समझना चाहिये। कई पुस्तकोंमें इन क्रुष्ट स्वरोंको '११' अथवा '८' इस अंकसे भी बताया होता है। परंतु ये क्रुष्ट स्वर (उच्च स्वर) सामगायनमें बहुतहि कम आते हैं। सामवेदके सप्त स्वर '**प-म-ग-रे-सा-नि-ध**' इस क्रमसे समझने चाहिये। गायनके अक्षरोंके ऊपर लिखे अथवा गायनके अक्षरोंकी पंक्ति में लिखे अंकोंका यही स्वरमण्डल है। छः स्वर 'म-ग-रे-सा-नि-ध' इतनेही विशेषतः सामगायनमें लगते हैं, क्वचित प्रसंगमें 'प' लगता है, इससे स्पष्ट है कि बहुत आक्रोश करके सामगायन नहीं करना चाहिये। शान्त और कोमल स्वरोंके द्वारा मंजुल ध्वनिमें हि सामगायन होना चाहिये।

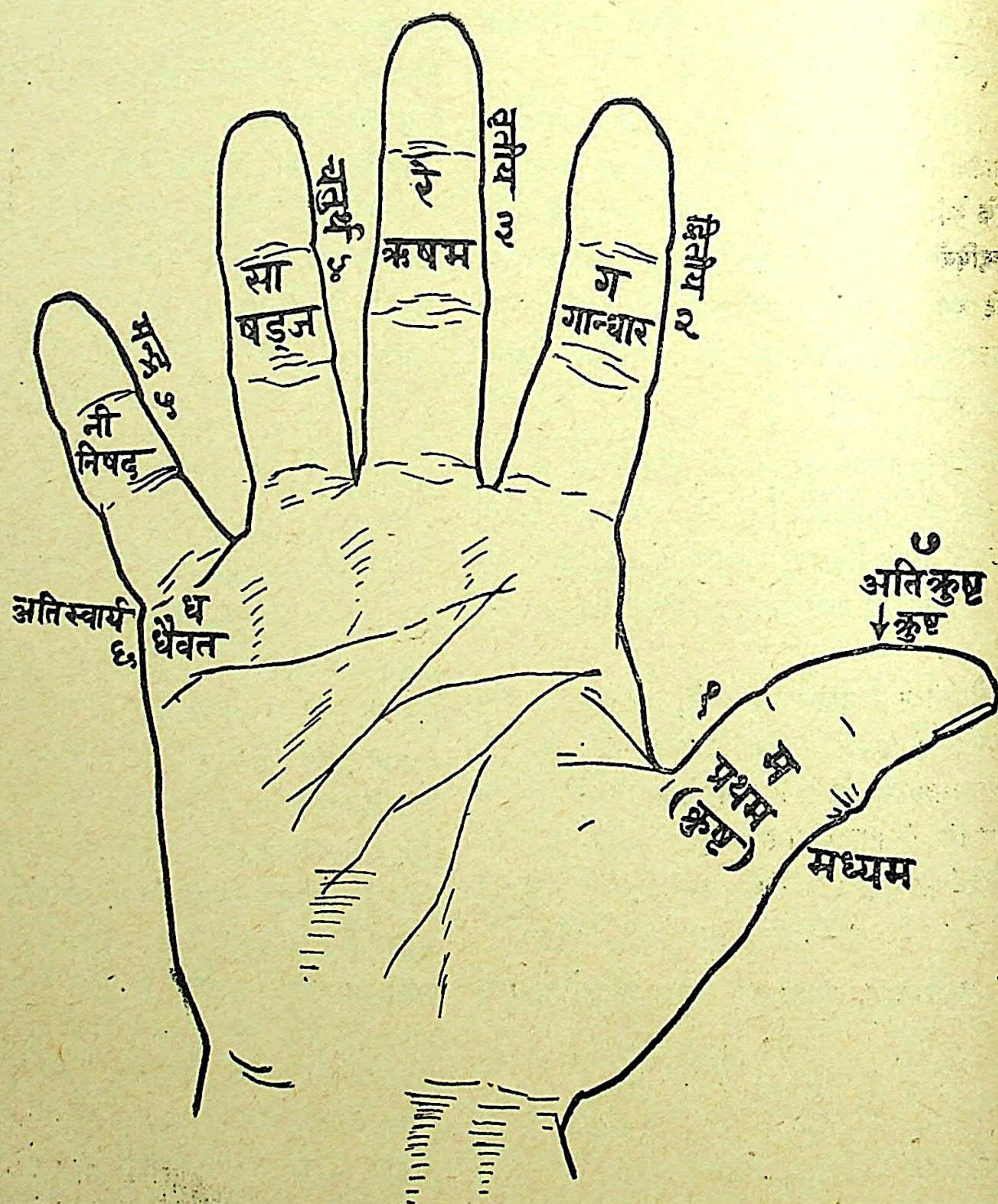
सामवेदके स्वर अवरोही अर्थात् पहिले उच्च होकर पीछे कम कम अर्थात् नीचे का स्वर होता है। आजकल गायन में आरोह स्वर प्रिय है। 'सा-रे-ग-म-प-ध-नि-सा' यह आरोह– स्वरका चढाव है और सामवेद का स्वरका उतराव 'सा-नि-ध-प-म-ग-रे-सा' ऐसा है।

पाठक एक घण्टी बजावें और स्वर सुनें। प्रथम उच्च स्वर होकर पश्चात् नीचा नीचा हो जाता है। वक्ता बोलने लगा तोभी प्रथम उसका स्वर बलवान् होता है और शनैः शनैः वह थक थक कर मन्द स्वरमें बोलता है अर्थात् जगत् में स्वरका उतराव ही दीखता है, अवरोह हि दीखता है। यही स्वाभाविक क्रम सामगायनमें है। इसलिये सामगायन श्रवण करनेसे मन शान्त होता है, निर्विकार होता है। आजकलके गानोंमें भी प्राचीन आर्यपद्धतिके गानोंमें और मुसलमानों की पद्धतिके तथा युरोपीयन पद्धतिके गाने में जो महत्त्वका भेद है, वह यही है कि आर्य-संगीतसे मन शान्त होता है और अन्य संगीतसे मन क्षुब्ध होता है। **सामगायनसे तो मन विशेषहि प्रशान्त हो जाता है। सामगायन का मनको प्रशान्त करना एकमात्र मुख्य उद्देश्य है।** इसलिये सामगायन विशेष आर्षप्रणालीके ही अनुसार करना चाहिये।

हमने आगे पांच सामगायन '**सा-री-ग-म**' के नोटेशनके साथ दिये हैं। उनको देखकर कोई स्वरज्ञ इन सामोंका गायन कर सकता है। इनमें ये स्वर 'काफी' राग के हैं। इनका ताल एकताल है। तथापि मात्रा और विशेष तालके लिये गायक का विशेष अभ्यास होना चाहिये।

यह गायन रुद्रवीणा, बीन तथा चर्मवाद्यके साथ एकसे अधिक गानेवालोंको मिलकर करना चाहिये। सबका स्वर एक होना चाहिये। और गानेवालों का स्वर मधुर और

सामवेद के हस्तस्वर।



(पृष्ठ ८१२ देखें)

बारीक मंजुल होना चाहिये। अक्षरपर जो अंक हैं, उनमें '१' अंक का स्वर 'म' है और '६' का स्वर 'ध' है, यह सबसे नीचा है और 'म' सबसे ऊंचा है। मंत्रपर अन्य चिह्न हैं, उनके अर्थ इस तरह समझना चाहिये—

स्वरचिह्न

र स्वरको दीर्घ बोलना, द्विगुणित लंबा करना,

उ उच्च स्वर, ऊंचा स्वर

क कनिष्ठ स्वर, नीचा स्वर

११ अति ऊंचा स्वर, 'प' से भी ऊंचा

८ ,, ,, ,, ,, ,,

ऽ पूर्वस्वरको आलापके साथ द्विगुणित लंम्बा करना,

⌢ पूर्व और उत्तर स्वरोंका मिलाप करना

^ ,, ,, ,, ,, ,, ,,

— चार गुणा लंबा आलाप पूर्वस्वरका लेना

३ ओंकारमें जो ३ अंक है, वह ओंकारको त्रिगुणित करता है, परंतु स्वरको नीचा करता है। 'स्रा–नी–रे' ऐसा उच्चारण ओंकार का होता है।

इतने चिह्न इस समय पर्याप्त हैं। यहां स्वाध्यायमण्डल में इन सामगायनके ग्रंथोंकी गायन करनेकी विधिका निश्चय किया जा रहा है। सामवेदी कौथुमी और राणायनी शाखाके सामगायक यहां लाये हैं। काशी,गवालियार, कन्नड देश और तामिल देशके प्रसिद्ध सामवेदपाठी बुलाये गये हैं। उनसे गानोंका श्रवण करके यहां विद्यार्थी तयार किये जा रहे हैं। सुप्रसिद्ध गानविद्यानिपुण पं० अनंत मनोहर गवय्ये रियासत औंध यहां इस सामनोटेशनमें सहाय्यता दे रहे हैं। ये आर्य प्राचीन संगीत और आधुनिक हिंदुस्थानी संगीतमें विशेष ही प्रवीण हैं और ये नोटेशनके ग्रंथ लिखते हैं। सामवेदपाठियोंके गायनके नोटेशन बनाये जाते हैं और उनको दूसरे गानविद्याके छात्रोंके पास दिया जाता है। वे इन नोटेशनोंको देखकर सामगायन करते हैं। जब इनका गायन मूल वेदपाठियोंके समान होता है, तब समझा जाता है कि, यह नोटेशन ठीक हुआ, और यह सामगायन भी ठीक हुआ।

सामगायनके संपूर्ण गायन इस तरह यहां सिद्ध करके और सामगायनके शास्त्रानुसार हरएक गायनकी परीक्षा करके सब गायन सिद्ध होनेके पश्चात् हि वे मुद्रित होंगे। इससे पहिले मुद्रण होगा नहीं। इस कारण इसको देरी लगेगी। सामगायनके उत्तर भारतके और दक्षिण भारते ग्रंथोंमें नोटेश नाङ्कोंमें और चिन्होंमें वडा अन्तर है। उत्तर भारतके ग्रंथोंमें भी बंगालके ग्रंथ और गुजरात तथा महाराष्ट्रके ग्रंथोंमें भी चिह्नोंका फेर है। इस लिये प्रत्येक गानको यहां शास्त्रीय चिकित्सासे परिशुद्ध किया जा रहा है। उत्तर भारतके स्वर-चिह्न सुबोध हैं और सरल हैं, दक्षिण भारतके सामचिह्न क्लिष्ट हैं और इतने अधिक हैं कि उनका समझना भी कठिण है। परिणाममें दोनोंके स्वर एकही आते हैं। इसलिये हमने दोनों स्थानोंके सामगायक इकट्ठे किये हैं और दोनोंका गायन देखा जाता है और स्वरचिह्न सुगम होनेके कारण उत्तर भारतके हि स्वरचिह्न रखे जांयगे और जहां आवश्यकता होगी, वह दक्षिणभारतके द्राविड चिह्नोंका निर्देश टिप्पणीमें करेंगे।

आगे जो ५ सामगायन दिये हैं, वे उत्तर भारतकी सामपद्धतिसे दिये हैं। दक्षिण भारतके चिह्न छापना हो तो नये चिह्नोंके नये टाइप बनाने पडेंगे। हम आगे उन चिह्नोंके साथ साममन्त्र मुद्रित करेंगे।

यहां इतने पण्डितोंको लाना उनको साल छः मास रखना, और प्रत्येक गायनकी पद्धतिका निर्णय करना, यह कितने व्ययका कार्य है, यह पाठक देखें। इसके पश्चात् छपाईका व्यय होना है, इसलिये केवल सामवेदके लिये-सामगायनके तीन हजार ग्रंथ छापनेके लिये कमसे कम पण्डितोंके व्ययके साथ १२०००) रु० लगेगा, ऐसा अंदाजा किया है। कम या अधिक लगना आगेके कार्यपर अवलंबित रहेगा। इस कार्यके लिये जो धनी लोग सहायता दे सकते हैं, वे अतिशीघ्र मुक्त हस्तसे भेज दें, क्योंकि यहां कार्य प्रारंभ हुआ है।

जिनके पास सामगायनके प्राचीन गंथ हों, वे हमारे पास भेज दें। हम दोनों ओरका व्यय देकर कार्य होते ही वे सब ग्रंथ उनके पास भेज देंगे और छपा ग्रंथभी उनको भेट करेंगे। हमारे पास कई ग्रंथ आ चुके हैं, तथापि और जितने अधिक मिलेंगे, उतना कार्य सुगम होगा।

हमने सुना है कि बंगालमें सामगायन पर कुछ ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, हमें उनका पता लगा नहीं है। यदि कोई इनका पता दे सके, अथवा ग्रंथ दे सके, तो उसकी बडी कृपा होगी।

यह कार्य किसी एक का नहीं है, अतः जो लोग सामगायन पर श्रद्धा रखते हैं, वे इस कार्य को जो हो सके, वह सहायता करें।

सामगायनके पांच मन्त्र ।

(१)

गायत्रं साम ।

॥ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ॥ धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १ ॥

॥ गानम् ॥

गऽ रे म । ।   म म म म मममऽम मऽ मऽ।   म मऽ मऽम म मऽ मऽ मऽ म ।
ओंऽ३म् ॥ ॥ तत्सवितुर्वरेणियोऽम् ॥ भार्गोदेवस्य धीमाहीऽ २ ॥

ग मऽ मऽ म म गऽमऽगऽगऽ मऽमऽ म गऽ मऽमऽ गऽ रेऽसाऽनी
धियोयोनःप्रचो १२१२ ॥ हिम् आ २ ॥ दायो ॥ आऽ ३ ४ ५ ॥ १ ॥

ग रे म
ओंऽ३म् ॥

दीर्घ ६ ॥ पर्व ६ ॥ मात्रा २ ॥

(२)

॥ महावामदेव्यम् ॥

॥कया नः चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ॥ कया शचिष्ठया वृता ॥ ३ ॥

॥ गानम् ॥

। रेऽ सा ग । रेऽ नी नीऽ। नी साऽ रेऽ गऽ रे साऽसा नीऽ। मऽ । मऽग मऽम ग मऽ । मऽ ।
॥ ओंऽ४म् ॥ काऽ५या ॥ नश्चाऽ३इत्राऽ३आभूवात् ॥ ऊ ॥ तीसदावृधःसा ॥ खा ॥

ग ग सा साऽ ग ग। म मऽ ग रेऽ ग ग । रेरेऽ गऽ रे । म म ऽम ग ।
औंऽ३होहाइ ॥ कयाऽ२३शचाइ ॥ ष्ठयौहोऽ३ ॥ हिम्माऽ२ ॥

मऽ ग ग ग रे नी ग ग।
वाऽ२र्तोऽ३५हाइ ॥ २ ॥

दीर्घ ६ ॥ पर्व १० ॥ मात्रा १४

(३)

॥ ज्येष्ठ सामन् ॥ आज्यदोहम् ॥

३ १२ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३२उ३ २
मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ ३ २
कविं सम्राजमतिथिंजनानामासन्नः पात्रं जनयंत देवाः ॥ ३ ॥

॥ गानम् ॥

ग रे म गऽग, गऽग, गऽग गऽ रे साऽनी गऽ रे साऽनी गऽ रे साऽ नी
२ १ २र २र २र २र ३ ४र ५ २र ३ ४र ५ २र ३ ४र ५
॥ ओऽ३म् ॥ हाउ, हाउ, हाउ ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदोहम् ॥

गऽमऽमऽम म म गऽ रे मम ग रे साऽनीऽ गऽमऽम म म ग म मऽ
२र १र २ १ २ ३ ४र ५ २र १र २ १ र
मूर्धानंदाइ ॥ वाऽ३अर ॥ तिंपृथिव्याः ॥ वैश्वानराम् ॥ ऋ त आ ॥

गऽ रेसा नीऽ । ग म म मऽ । गऽ रे म म । गऽ रे सा नीऽ । गऽ म म मऽ ।
२र ३ ४ ५ २ १ २ १ २र ३ ४ ५ २र १
जातमग्निम् ॥ कविं सम्रा ॥ जाऽ३मति ॥ थिंजनानाम् ॥ आसन्नः पा ॥

गऽ रेऽ म म । ग रेसा नीऽ।
२ १ २ ३ ४ ५
त्राऽ ३०जंन ॥ यंतदेवाः ॥

गऽग, गऽग, गऽग । गऽ रे साऽनी । गऽ रे साऽनी । गऽ रे साऽनीनीनी । नी ।
२र २र २र २र ३ ४र ५ २र ३ ४र ५ २र ३ ४
हाउ, हाउ, हाउ ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदोऽ५हाउ ॥ वा ॥

गऽ। गऽग म गऽ। गऽ। गऽग म गऽ। गऽ। गऽग म रेऽ गऽरेऽसाऽनीऽ
२र २र १ २ २र २र १ २ २र २र १ ३ ^ ^ ^ ^
ए ॥ आज्यदोहम् ॥ ए ॥ आज्यदोहम् ॥ ए ॥ आज्यदोहाऽ२ ३ ४ ५म् ॥३॥

२ २
॥ ओं ऽ३ म् ॥

(४)

॥ गौतमस्य पर्कम् ॥

॥अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ॥ नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ ४॥

॥ गानम् ॥

। साऽनीरे ॥ सासासा । गऽगऽगऽ रे ममम मऽ गग। ममऽ गग। ममऽगऽग।

॥ ओऽ५म् ॥ ओग्नाइ ॥ आयाहिऽ३वोइतोयाऽ२ इ ॥ तोयाऽ२इ ॥ गृणानोह ॥

ग मम मऽ गग। मममगग। मम गऽ ममऽ गरे। मऽ गग रेऽ गऽरेऽसाऽनीऽनीऽनी।

व्यादातोयाऽ२इ ॥ तोयाऽ२इ ॥ नाइहोतासाऽ२३ ॥ त्साऽ२इबाऽ२ ३ ४ औहोवा॥

रेऽ गऽरेऽसाऽनीऽ।

हीऽ२ ३ ४ षी ॥ ४ ॥ ॥ दी० ७ ॥ प० ९। मा० ९।

(५)

॥ तार्क्ष्यम्-प्रथमम् ॥

त्यमूषु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारꣳरथानाम् ॥
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुꣳ स्वस्तये तार्क्ष्यमिहाहुवेम ॥ ५ ॥

॥ गानम् ॥

। नीऽ धसा ॥ नीनीऽनी। गऽग । रेऽगऽरेऽसाऽनीऽ। गऽगगऽरेऽ गऽरेसा ऽ । नीनीऽरेऽग म।

॥ ओऽ६म् ॥ त्यमूषु॥ वाजि ॥ नाऽ२३ ४ ५म्॥ देवजूताऽ२३४म् ॥ सहोवानता ॥

गगऽ रे। गऽ रेऽसाऽनीऽ। गगगऽ रेऽ गऽरेऽसाऽ नीऽ। गग गऽ रेसा रे गरेऽ नीऽ।

रुताऽ३ ॥ रꣳरथानाम् ॥ आरिष्टऽनाऽ२ ३४ इमीम्॥ पृतनाऽ३४३जमाशूम् ॥

गम । मम । मऽग रे गऽ रेसारे। गऽ रे साऽ नीनीनीऽ धऽनी धऽ ।

स्वस्त ॥ याइ ॥ तार्क्ष्यमिहाऽ३४३ ॥ हूऽ३वाऽ५इमाऽ ६ ५ ६ ॥ ५ ॥

॥दीर्घ ८॥ पर्व १३ ॥ मात्रा ८।

'वैदिक धर्म' के ग्राहकोंके लिये
विशेष सहूलियत

'वैदिक धर्म' मासिक पहिले २४ पृष्ठोंका था और उस समय ३) रु० वार्षिक चन्दा था। अब ८० पृष्ठोंका हुआ है और ५) चन्दा किया है। और एक दो महिनों से हम इसको १०० पृष्ठों का करना चाहते हैं और भरपूर वेदके ही संबंध के लेख देना चाहते हैं, जिसे वाचक पढ़ें और आचरण करके उन्नतिका साधन करें।

स्वाध्यायमण्डल वैदिक धर्म के प्रचार के लिये खोला है, इसलिये वैदिक धर्मके ग्राहकों को विशेष सहूलियत देना चाहते हैं कि वैदिक धर्मका खूब प्रचार हो और वैदिक धर्म की चारों ओर जाग्रति हो।

जो वैदिक धर्म के ग्राहक, पुराने या नये, १६) सोलह रु० की मनीआर्डर भेजकर स्वाध्यायमण्डलकी पुस्तकें मंगावायेंगे उनको वैदिक धर्म एक वर्ष विनामूल्य मिलेगा और साथ ही साथ इसके साथवाले पृष्ठपर लिखे कोई पुस्तक २०) बीस रु० मूल्य के वे मंगवा सकते हैं।

१६ रु. भेजनेसे आपको २०) के पुस्तक+५) का वैदिक धर्म मासिक मिलेगा और रेलसे भेजनेका व्यय तथा पैकिंग माफ होकर आपका २७) से भी अधिक लाभ होगा।

सब पुस्तक हम अपने व्यय से भेज देंगे। ग्राहक अपना रेलस्टेशन लिखें।

इस सहूलियत से, पुराने और नये, सब ग्राहक लाभ उठा सकते हैं। जो सज्जन धार्मिक ग्रंथोंका दान करना चाहते हैं वे भी इससे लाभ उठावे।

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना।(१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा.(१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	=)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भवतके भगवान्	॥)	=)
७ [illegible]	॥।)	-)

वैदिक धर्म

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ.से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.
[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको 'वेदाङ्क' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

वर्ष १९] [अङ्क १२

विषयानुक्रमणिका

संपूर्ण

महाभारत ।

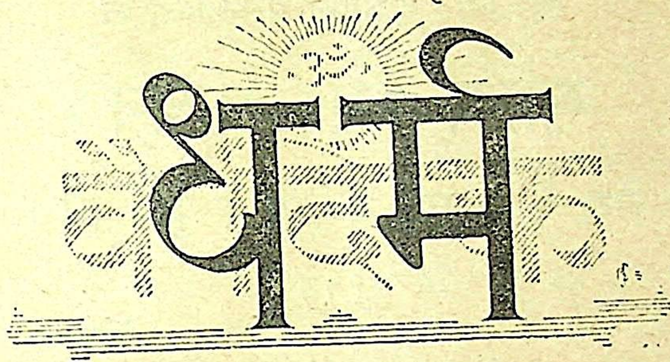
आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास ।

पर्वका नाम	पृष्ठसंख्या	सजिल्द	मूल्य	डा.व्य.
१ आदिपर्व	११२५	,,	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	३५६	,,	२॥) अढाई	॥)
३ वनपर्व	१५३८	,,	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	३०६	,,	२) दो	॥)
५ उद्योगपर्व	९५३	,,	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	८००	,,	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	१३६४	,,	७॥) साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	६३७	,,	३॥) साढेतीन	॥।)
९ शल्यपर्व	४३५	,,	२॥) अढाई	॥=)
१० सौप्तिकपर्व	१०४	,,	॥।) बारह आने	।=)
११ स्त्रीपर्व	१०८	,,	॥।) " "	।=)
१२ शान्तिपर्व				
१ राजधर्मपर्व	६९४	,,	४) चार	॥।)
२ आपद्धर्मपर्व	२३२	,,	१॥) डेढ	॥)
३ मोक्षधर्मपर्व	११००	,,	६) छः	१।)
१३ अनुशासनपर्व	१०७६	,,	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिकपर्व	४००	,,	२॥) अढाई	॥=)
१५ आश्रमवासिकपर्व	१४८		१) एक	।=)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व ।	१०८	,,	१) एक	।=)

सजिल्दका मू० ६५) रु०

मिलनेका पता— मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा.

वर्ष १९
अंक १२
क्रमांक २२८



मार्गशीर्ष
संवत् १९९५
दिसेम्बर
सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर । सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार ।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

निर्भय बनो

इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभीषदप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥
(ऋ० २।४१।१०)

'हे (अङ्ग) प्रिय! (इन्द्रः) वह प्रभु (महत् भयं) बडे भारी भय को (अभीषत्) दूर भगा देता है, अर्थात् संपूर्ण भय को (अप चुच्यवत्) परे कर देता है। (हि) क्यों कि (सः) वह प्रभु (स्थिरः) सुदृढ सुस्थिर है और (विचर्षणिः) विशेष रीतिसे सब का निरीक्षण करनेवाला है ।'

ईश्वरभक्ति करनेसेहि सब के संपूर्ण भय दूर होते हैं। इस लिये मनुष्य उस प्रभु की मनःपूर्वक भक्ति करें और निर्भय बनें ॥



श्री. स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी का

साध्य और साधन।

लेख के विषयमें प्रशंसा के कुछ पत्र।

(१)

श्री० पं० सातवळेकरजी। देवोत्थान, कार्तिक श० ११ सं०।

सादर नमस्ते। 'स्वा० दयानन्द सरस्वती का साध्य और साधन' शीर्षक लेख ध्यानपूर्वक पढा, दो पढा। मैं इस लेखसे पूर्ण सहमत हूं। वह इतनी उत्तम रीतिसे लिखा गया है, उसमें ऐसे गंभीर भाव भरे कोई भी सहृदय विद्वान् उसकी प्रशंसा ही करेंगे। मैं तो समय समयपर इन्ही भावों को प्रकट कर चुका हूं लेख पर आपको साधुवाद देता हूं। भवदीय नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ, कुलपति, महाविद्यालय, ज्वा

(२)

श्री० पं० सातवळेकरजी देहली २५।१०।३८

सादर प्रमाण। .. ... आपका लेख 'श्री स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी का साध्य और साधन' कई बा बहुतही आनन्द प्राप्त किया, लेख बडा ही उत्तम और भावपूर्ण है।...... भवदीय

(स्वामी) अभय (देवशर्माजी भूतपूर्व आचार्य गुरुकुल कांगडी

(३) श्री विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टी

ॐ

श्रीमन्नमस्ते। लाहौर १।११।३८

आपका भेजा हुआ 'श्री स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी का साध्य और साधन' शीर्षक लेख प्राप्त हुआ। धन्य इसके अन्दर वेद के बारे में जो आपने चेतना पैदा करनी चाही है, उसके लिये आप धन्यवाद के योग्य हैं। मुझे आर्य-समाज से इस बारेमें कोई बात सिद्ध हो इस की कुछ भी आशा नहीं है। कुछ भी हो यह नि है कि वैदिक अनुसंधान को अवश्य साम्प्रदायिक रूढिचक्रसे बाहर निकल कर सामग्री की दृढ भित्तीपर आरोपित चाहिये। स्वस्ति।

भवदीय (पण्डित शास्त्री) विश्व

(४)

श्री मान्य पं० जी नमस्ते।

आपका भेजा हुआ लेख 'देवकामा' प्राप्त हुआ, तदर्थ धन्यवाद। आर्यसमाज में विचार करनेवाले का अभाव है। आपका स्वीकृत पाठ 'देवकामा' सर्वथा ठीक है और अर्थ संगत है। आज ही मैं देख एक पद्धतिग्रन्थको, उसमें संमार्जन मन्त्र आये हैं। 'भूः पुनातु' (शिरसि) ऐसा है अर्थात् सिरपर मार्जन है, परन्तु अजमेर से लेकर सब पुस्तकों में 'भूः पुनातु शिरसि, भुवः पुनातु नेत्रयोः' इत्यादि मुद्रित हु यहां एक नहीं, अनेकों उदाहरण हैं जिनको पढकर ग्लानि होती है। अस्तु। भवदीय भीमदेव, ला

(५)

श्रीयुत माननीय पण्डितजी। सादर प्रमाण।

आपका भेजा हुआ लेख 'श्री स्वा० दयानन्द सरस्वतीजीका साध्य और साधन' पढा। स्वामि उद्देश्य और उनके साधनों के विषयमें जो भी कुच्छ विचार प्रकट किये हैं, उनसे मैं पूर्ण सहमत हूं। चिरकाल भी ऐसा ही मानता हूं। इसके अतिरिक्त वेदमुद्रण की जो विशाल योजना आपने लिखी है वह सम्पन्न हो जाय तो गुरुकुल, सोनगढ ७।११।३३

आपका देवराज विद्यावाच

वेदमन्त्रोंका वर्गीकरण।

शास्त्रका आधार 'वर्गीकरण' है। वर्गीकरण के बिना शास्त्र बन नहीं सकता। वनस्पतियोंके वर्गीकरणसे हि वनस्पतिशास्त्र बना है, पदार्थोंके वर्गीकरणसे पदार्थविद्या के अनेक शास्त्र बने हैं, इसी तरह अन्यान्य वर्गीकरणोंसे अन्यान्य शास्त्र बने हैं। अतः यदि हमें वेदज्ञान का एक उत्तम शास्त्र बनाना हो, तो वेदमंत्रोंके विविध वर्गीकरण बनाने चाहिये। वैदिक ज्ञानका उत्तम शास्त्र किसी अन्य विधिसे बन नहीं सकता।

हमारा विश्वास।

इस समय हमारा विश्वास वेद के स्वतःप्रामाण्य पर है। वैदिक धर्म ही मानवी सभ्यता का आदर्श बताता है, ऐसा हम कहते हैं, परंतु हमारे पास वेदमंत्रों का शास्त्र अभीतक बनाही नहीं है, इसलिये न वेदकी विद्याएं हम जान सकते हैं और ना हि किसी विषय का निश्चित ज्ञान हम वेद से सिद्ध कर सकते हैं। वेद में यह बात है और यह नहीं, इसका निश्चय करने के लिये वेदमंत्रों का वर्गीकरण होना चाहिये और जैसे अन्य शास्त्र अन्यान्य वर्गीकरणोंसे बने हैं और उनसे जनताका लाभ हो रहा है, वैसा ही वेदका भी एक उत्तम शास्त्र बनना चाहिये, जिससे निश्चय से जनताका लाभ हो सकेगा।

भविष्यकाल ऐसा विशेष ज्ञानविज्ञान का आ रहा है कि, उसमें केवल विश्वास से, केवल श्रद्धासे, या केवल दुराग्रह से कार्य नहीं चलेगा, परंतु यदि कार्य चलना है, तो शास्त्र से ही कार्य चलेगा। इसलिये सर्वप्रथम हमारी श्रद्धा, भक्ति तथा विश्वास का और बुद्धि, धन और कर्तृत्व-शक्तिका रुख ऐसा बदलना चाहिये कि जिससे शीघ्रसे शीघ्र वेदका एक परिपूर्ण शास्त्र बन जाय।

चार वेद।

हमारे पास चार वेद हैं, जो हमारे आर्य आदर्श के धर्मग्रंथ हैं और वे स्वतःप्रमाण हैं, यह हमारा मत है। अतः यह सब स्वतःप्रमाणत्वादि आन्तरिक प्रमाणों से सिद्ध होना चाहिये और प्रत्येक मनुष्यको अपना धर्म इन वेद के ग्रंथोंसे प्राप्त होने योग्य शास्त्रीय व्यवस्था बनाना हमारा कर्तव्य है।

वेदवेदांगादि ग्रंथोंने यही संक्षेप से बनानेका यत्न किया था, परंतु हमें इस समय उनसे भी आगे बढकर वही बात अधिक विशद करनी चाहिये और अधिक विस्तृत करनी चाहिये।

धर्मग्रंथोंका शुद्ध मुद्रण।

सर्व प्रथम हमारे पास जो चार वेद और अन्यान्य शाखा-ग्रंथ हैं, उन सबका शुद्ध मुद्रण करना चाहिये और उनकी आवश्यक सूचियां बनाना चाहिये, तथा अनुपलब्ध शाखासंहिताओंको प्राप्त करके उनका भी मुद्रण करना चाहिये। यह तो सर्व प्रथम करनेका कार्य है। उसके पश्चात् उस मसालेसे मंत्रोंके विविध प्रकार के वर्गीकरण करनेका कार्य शुरू करना चाहिये, जिनसे वेद का एक ऐसा उत्तम और सर्वांगपूर्ण शास्त्र बन जायगा, कि जिससे हरएक प्रकार का मानवधर्म स्पष्ट रूपसे जनता के संमुख आ सकेगा।

प्राचीन वर्गीकरण।

(१) आर्षेयसंहिता।

आज जो ऋग्वेदसंहिता हमारे पास है, उसके प्रथम ७ मण्डलोंके मंत्रोंका वर्गीकरण ऋषियोंके क्रमके अनुसार है, देखिये—

प्रथम मण्डल		मधुच्छन्दा
द्वितीय	”	गृत्समद
तृतीय	”	विश्वामित्र
चतुर्थ	”	वामदेव
पंचम	”	अत्रिः
षष्ठ	”	भरद्वाज
सप्तम	”	वसिष्ठ

इस तरह ये सात मण्डल इन सात ऋषियों के तथा इनके गोत्रोंमें उत्पन्न हुए ऋषियोंके देखे मंत्रों का क्रमवार संग्रह है। अर्थात् प्रथम मण्डल में वसिष्ठ के मंत्र नहीं मिलेंगे और सप्तम मंडल में मधुछन्दा के नहीं मिलेंगे।

आगे के तीन मंडलों में विभिन्न ऋषियों के मंत्र हैं, तथापि उनमें से नवम मण्डल में केवल एक ही 'सोम' देवता के मन्त्र हैं। अर्थात् यह नवम मण्डल देवतावार मंत्रों के वर्गीकरण का एक उत्तम नमूना है। अष्टम और दशम मण्डलों में न तो देवतावार मन्त्रसंग्रह हैं और न ऋषिक्रमानुसार हैं। यदि संपूर्ण ऋग्वेद के सब मन्त्र ऋषिक्रमानुसार इकट्ठे किये जायंगे, तो वह एक 'आर्षेय संहिता' बन जायगी। इस तरह आर्षेय संहिता बन जायगी, तो एक एक ऋषि के नामसे जो जो मंत्र संग्रहित होंगे, उनका अध्ययन एक साथ हो जायगा और उससे एक प्रकारका विशेष फल भी मिल जायगा।

सूक्तों का क्रम।

इस ऋषिक्रमानुसार बनी हुई जो यह ऋग्वेदसंहिता है, उस में भी प्रायः ऐसा देखा गया है कि, जिन सूक्तों की मन्त्रसंख्या अधिक है, वे सूक्त प्रथम आ गये हैं और जिनकी मंत्रसंख्या कम है वे सूक्त पश्चात् आ गये हैं, जैसा देखिये—

द्वितीय मण्डल।

सूक्त	मंत्रसंख्या	देवता	ऋषि
१	१६	अग्निः	गृत्समद
२	१३	,,	,,
३	११	,,	,,
४	९	,,	,,
५	८	,,	सोमाहुतिः
६	८	,,	,,
७	६	,,	,,
८	६	,,	गृत्समदः
९	६	,,	,,
१०	६	,,	,,
११	२१	इन्द्रः	,,
१२	१५	,,	,,
१३	१३	इन्द्रः	गृत्स
१४	१२	,,	,,
१५	१०	,,	,,
१६	९	,,	,,
१७-२०	९	,,	,,
२१	६	,,	,,
२२	४	,,	,,
२३	१९	ब्रह्मणस्पतिः	,,
२४	१६	,,	,,
२५	५	,,	,,
२६	४	,,	,,
२७	१७	आदित्यः	गृत्समदः कू
२८	११	वरुणः	,,
२९	७	विश्वे देवाः	,,

विषय समझने के लिये इतना लेख पर्याप्त है। सूक्तों में प्रथम अग्नि देवता के १० सूक्त हैं, उनमें प १६ मंत्रों का और अन्तिम १० वाँ ६ मंत्रों का है। २२ तक इन्द्र देवता के मंत्र हैं, उनमें पहिला २१ मं और अन्तवाला ४ मंत्रों का है। आगे ब्रह्मणस्पतिके ४ हैं, उनमें पहिला १९ मंत्रों का और अन्तिम ४ मंत्रों का इस तरह ऋषि का नाम बदल गया अथवा देवता गयी, तो प्रथम अधिक मंत्रों के सूक्त रहेंगे और न्यून मंत्रसंख्यावाले सूक्त आगे आते रहेंगे।

इससे अनुमान हो सकता है, कि इस तरह जो सू संग्रह केवल मंत्रों की न्यूनाधिक संख्या के अनुसार ही है, उसमें विषयों का परस्पर संबंध होना असंभव यद्यपि एक ऋषि के और एक देवता के मंत्र इकट्ठे तथापि एक सूक्त का दूसरे सूक्त के साथ संबंध होगा ऐसा निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि ६ मंत्रोंवाले के पीछे ५ मंत्रोंवाला सूक्त इसीलिये आया है, कि उ मंत्रसंख्या उससे न्यून है और २० मंत्रोंवाला सूक्त प्रथम इसलिये आया है कि उसकी मंत्रसंख्या अधिक है।

कई स्थान पर इस नियम के अपवाद भी परंतु वैसे अपवाद थोडे हैं और वहां भी कारण अवश्य है और उसी कारण के लिये

धिक संख्यावाले सूक्त वहां आगे पीछे हुए हैं, नहीं तो यह नियम प्रायः ऋग्वेद में सर्वत्र दीखता है। सब सूक्त क्रमवार लिखने से यह स्पष्ट दिखाई देता है, कि यह ऐसा ही है।

अथर्ववेद में भी ऐसा ही मंत्रसंख्यानुसार सूक्तों का संग्रह है, जैसा देखिये—

प्रथम	काण्डमें	प्रायः	४ मंत्रोंवाले	सूक्त हैं।
द्वितीय	"	"	५ "	"
तृतीय	"	"	६ "	"
चतुर्थ	"	"	७ "	"
पञ्चम	"	"	८ "	"
षष्ठ	"	"	८।९ "	"
सप्तम	"	"	१ "	"

इस तरह प्रारंभिक काण्डों में सूक्तों का संग्रह न्यूनाधिक मंत्रसंख्या के अनुसार है। इनमें कुछ अपवाद भी हैं, परंतु नियम यही है और अथर्वसर्वानुक्रमणीकारने भी यही बात मानी है, कि इस काण्ड की प्रकृति इतने मंत्रों के सूक्तों की है और अन्य विकृति है—

पूर्वकाण्डस्य चतुर्ऋचप्रकृतिरित्येवमुत्तरोत्तरकाण्डेषु षष्ठं यावदेकैका तावत्सूक्तेषु ऋगिति विजानीयात्। (अथर्व० बृ० सर्वा० २)

इस रीतिसे सर्वानुक्रमणीकार कहता है। सूक्त में मंत्रसंख्या कितनी है, इससे हि वह सूक्त किस काण्ड में रखना है, इसका निश्चय किया जाता है। यह अर्थविषयक व्यवस्था निःसंदेह नहीं है।

पाठक यहां पूछेंगे कि ऐसा क्यों हुआ है? इसका उत्तर यह है कि मंत्रसंख्या सहज ही से सबके समझमें आनेवाली है, अतः हर कोई इसको जान सकता है, इस कारण इस तरह मंत्रसंग्रह हुआ, तो यह सूक्त कहां का है, इसका ज्ञान साधारण मंत्रों की गणना करनेवाला भी केवल मंत्रसंख्या से हि जान सकता है।

समझ लीजिये कि एक वसिष्ठ का १२ मंत्रसंख्यावाला अग्निदेवता का सूक्त है, तो वह सप्तम मंडल में सूक्त १५ और १७ के मध्य में हि आ सकता है, अन्यत्र नहीं। क्योंकि १५ वाँ सूक्त १५ मंत्रों का है और १७ वाँ सूक्त ७ मन्त्रों का है, इसलिये १२ मंत्रों का सूक्त इनके मध्य में हि आना चाहिये। उक्त गणना से इस सूक्त का स्थान इस प्रकार झट कह सकते हैं। यह सुगमता किसी अन्य रीतिसे नहीं हो सकती। पाठक यह विशेषता अनुभव करें। अस्तु। इसका विशेष विचार हमें यहां करनेके लिये फुरसत नहीं है।

यहां तक हमने यह बताया कि ऋग्वेद का प्रथम सात मण्डलों का संग्रह ऋषिगोत्रानुसार है और उनमें भी मंत्रसंख्या की न्यूनाधिकताके अनुसार सूक्तक्रम है। अथर्ववेदके प्रथम ७ काण्डों का भी मंत्रसंख्यानुसार हि संग्रह है। ऋग्वेद में अन्य मण्डलों में भी सूक्तक्रम इसी तरह है। और ऋग्वेद की संपूर्ण रचना ऋषिपरंपराके अनुसार है। केवल नववाँ मण्डल सोमदेवता का है, तथापि उसमें ऋषिक्रमानुसार ही मंत्रसंग्रह है। अर्थानुसंधान से वह मंत्रसंग्रह नहीं हुआ, ऐसा इससे प्रतीत होता है।

यदि थोडा कष्ट करके ८, ९ और १० मण्डलों के मंत्र भी सब के सब आर्षेयक्रमसे लगाये जायंगे, तो एक एक ऋषिवाले मंत्र एक साथ अध्ययन के लिये मिल सकते हैं। इस आर्षेयक्रमानुसार अध्ययन से भी कुछ विशेष लाभ होना संभव है।

इसलिये ऋग्वेद और अथर्ववेदके कुलमंत्र ऋषिक्रमानुसार पुनः लगाना आवश्यक है, यही यहां सूचित करना है। यह ऋषिक्रमानुसार वर्गीकरण के विषय में इतना ही कहना इस समय पर्याप्त है।

(२) दैवत-संहिता।

दूसरा महत्त्वका मंत्रों का वर्गीकरण दैवत-संहिता के रूपमें किया जाना चाहिये। अर्थात् पृथ्वीस्थानीय देवता अग्नि आदि, अन्तरिक्षस्थानीय देवता वायु, विद्युत्, इन्द्र, आदि, द्युस्थानीय देवता सूर्य आदि, इन देवताओं के अनुसार एक एक देवता के सब मंत्र एक स्थानपर हों, ऐसा यह दैवत-संहिताका वर्गीकरण होगा। इस से अग्निदेवता के चारों वेदोंमें आने वाले मंत्र एक स्थान पर मिलेंगे; वायु, विद्युत्, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य आदि देवताओं के जो जो मंत्र चारों वेदोंमें चारों ओर बिखरे पडे हैं, वे सब एक एक प्रकरण में इस दैवतसंहिता में मिलेंगे। इन्द्रका प्रकरण लिया, तो चारों वेदों के संपूर्ण इन्द्रदेवता के मंत्र उसमें यथाक्रम मिलेंगे। इसी तरह वरुण, सूर्य,

चन्द्र आदि देवताओं के प्रकरण अलग अलग रहेंगे और उस प्रत्येक प्रकरण में उस देवता के मंत्र रहेंगे। चारों वेदों से तथा किसी शाखासंहिता से कोई मंत्र छूटेगा नहीं। प्रत्येक देवता का एक एक प्रकरण रहेगा। संयुक्त देवता के भी अलग प्रकरण होंगे, और उस प्रत्येक प्रकरण में ऋषिक्रमानुसार मंत्र रखे जायंगे।

ऐसा देवताक्रमानुसार मंत्रसंग्रह हुआ, तो एक एक देवता के संबंध में क्या क्या ज्ञान वैदिक मंत्रों में कहा है, वह एक स्थान पर मिलेगा, और अध्ययन करनेवाले के लिये सुविधा रहेगी।

आज किसीको पता ही नहीं लगता कि अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के विषय में चारों वेदों में कहां क्या कहा है। प्राचीन काल में चारों वेदों को कण्ठ करनेवाले विद्वान् होते थे, उस समय सब विद्या उनको मुखोद्गत होती थी, तथा भाषा की कठिनता उनको नहीं थी। इसलिये उनकी बातहि और थी। आज हमारे संमुख भाषा आदिकी सब प्रकार की कठिनताएं हैं, इसीलिये ऐसे अनेक वर्गीकरण यथाशास्त्र अध्ययन के लिये होने अत्यंत आवश्यक हुआ है।

यहां तक हमने दो प्रकार के संग्रह करने की सूचना की है। आर्षेयमंत्रसंग्रह जो है, उसको चारों वेदों तक संपूर्ण बना देना चाहिये। तथा जो दैवतसंहिता नहीं है, वह देवतावार मंत्रसंग्रह करके तैयार करना चाहिये और उसमें चारों वेदों से कोई मंत्र छोडना नहीं चाहिये। ये दो मंत्रसंग्रह सर्व प्रथम होने चाहिये।

(३) विषयवार मन्त्रसंग्रह।

उक्त दोनों प्रकार के मंत्रसंग्रह होने के पश्चात् विषयवार मंत्रसंग्रह करने का कार्य हाथमें लिया जा सकता है। यह कार्य उक्त दोनों संग्रह संपूर्ण होने के पूर्व प्रारम्भ ही किया नहीं जा सकता।

विषयवार मंत्रसंग्रहमें उपासना, यज्ञ (विविध प्रकारके यज्ञयाग), चिकित्सा, औषधिप्रयोग, मंत्रचिकित्सा, प्रकाश-चिकित्सा, जलचिकित्सा अग्निचिकित्सा, हस्तस्पर्शचिकित्सा, विषचिकित्सा, राज्यशासन, राजा, प्रजा, सभा, समिति, सेना, सेनासंचालन, युद्ध, शस्त्रास्त्र, सामाजिक, विवाह, गृहस्थधर्म, ब्रह्मचर्य, योगसाधन, प्राणायामसाधन, संन्यास, वानप्रस्थ, यतिधर्म, इत्यादि अनंत प्रकरण करके जो जो मंत्र [illegible] प्रकरण में आता है, वह उस प्रकरण में क्रमपूर्वक रख[illegible]। ये प्रकरण विचारपूर्वक बनाने चाहिए।

इस तरह संपूर्ण चारों वेदों के सब मंत्र इन [illegible] प्रकरणों में संग्रहित होने से वेद में यह विद्या है और नहीं है, इसका ज्ञान होगा। प्रत्येक विद्या की खोज हो और नया नया आविष्कार भी वेद से हो सके तथा आज जो सब विषयों में संदेहसा प्रतीत होता वह भी दूर होगा। इसलिये यह तीसरा वेदमन्त्र[illegible] विषयवार मंत्र संग्रह करके तैयार होना चाहिये।

इसमें क्वचित् एक एक मंत्र, अथवा मंत्रभाग भी [illegible] प्रकरणों में पुनः पुनः अर्थानुसार आना संभव [illegible] कुल चारों वेदोंमें करीब २२००० मंत्र हैं, शाखाओं के [illegible] मंत्र मिलाये जांयगे, तो २५००० से अधिक मंत्रसं[illegible] नहीं होगी, क्योंकि इनमें ब्राह्मणभाग का समावेश [illegible] नहीं है, गद्य यजु और गद्य ब्राह्मणों का विचार [illegible] रीतिसे होना चाहिये। यहां हम पादबद्ध मंत्रसंख्या [illegible] ही अर्थात् जिसको 'छन्द' कहते हैं, उसका विचार का[illegible] हैं, क्योंकि वही मूल संहिताका भाग है।

ऋषिक्रमानुसार 'आर्षेय-संहिता' का मंत्र-संग्रह २५००० होगा और दैवतक्रमानुसार 'दैवत-संहिता' भी मंत्रसंग्रह उतना ही होगा, परंतु जो विषवार [illegible] संग्रह होगा, उसमें वारंवार विविध प्रकरणों में मंत्रों का [illegible] करना पडेगा, इसलिये इस संग्रह में मंत्रसंख्या बढे[illegible] इस तरह तीन मंत्रसंग्रहों की सूचना यहां दी गई है।

(४) श्रुति-वेद-आम्नाय-समाम्नाय-मन्त्र-नियम-आगम।

एक और चौथा वर्गीकरण अब यहां बताने का वि[illegible] है, जिस वर्गीकरण की ओर इस समय तक किसी [illegible] ध्यान गया ही नहीं था। सब लोग हजारों वर्षोंसे मा[illegible] आ रहे हैं कि, श्रुति-वेद-आम्नाय आदि वेदवाचक [illegible] एक दूसरे के पर्याय हैं। पर्याय मानकर ही इन [illegible] का उपयोग गत सहस्रों वर्षों से हो रहा है, तथापि [illegible] कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता है

ये शब्द समानार्थक पर्याय नहीं है । इस बात का स्पष्टीकरण करनेके लिये दोचार उदाहरण लेना और इस बात का अधिक स्पष्टीकरण करना आवश्यक है ।

देखिये 'अग्नि' शब्द के 'वह्नि, जातवेदा, वैश्वानर, ये पर्याय समझे जाते हैं, परंतु क्या ये गुणबोधक शब्द नहीं है ? और जो गुणबोधक शब्द होंगे, वे विभिन्न गुणों के दर्शक होने के कारण एक दूसरे के समानार्थक पर्याय किस तरह हो सकते हैं ? देखिये—

अग्नि	शब्दमें	गति	अर्थ है,
वह्नि	"	वाहकता	"
जातवेदा	"	ज्ञान	"
वैश्वानर	"	नेतृत्व	"

अतः ये शब्द पर्याय नहीं हैं। वेदमें इनका प्रयोग भिन्नार्थ में ही हो रहा है । इस विषय में और देखिये—

निघण्टु में मनुष्यवाचक २५ नाम आये हैं, उनमें **'जन्तवः, कृष्टयः, मर्याः, व्राताः, पञ्चजनाः'** ये शब्द हैं, वैसे अन्य भी शब्द विचारणीय हैं, परंतु इनका विचार होनेसे मुख्य ज्ञातव्य विषय समक्ष में आ सकता है, देखिये—

जन्तवः– जो जन्मको प्राप्त हुए हैं,
कृष्टयः– जो कृषिकर्म करते हैं,
मर्याः– जो मरणधर्मवाले हैं,
व्राताः– जो व्रत-नियम के अनुसार चलते हैं और संघ के नियमों का पालन करके संगठित रहते हैं,
पञ्चजनाः– जिनमें चातुर्वर्ण्यव्यवस्था है और पांचवाँ अवर्गीकृत जाति का एक भाग है। पांच विभागों में जो बांटे गये हैं ।

क्या ये शब्द पर्याय हैं ? क्या इनका भाव एक दूसरे से पृथक् नहीं है? इसी तरह अन्नवाचक २८ नाम निघण्टु में आ गये हैं, उनमें से कुछ शब्द देखिये--

अन्धः– (अन्-धः) प्राणधारणा के लिये सहायक होनेवाला,
स्वधा– (स्व-धा) अपना स्वत्व रखने में समर्थ,
रसः– प्रवाही रसदार रुचिकर अन्न,
आयुः– आयुष्य बढानेवाला अन्न,
वर्च– तेज बढानेवाला अन्न,

क्या ये सब अन्नवाचक शब्द परस्पर के पर्याय शब्द हो सकते हैं? क्या कभी आयु के लिये रस और रस के लिये वर्च का प्रयोग हो सकता है? क्या रोटीको रस कहेंगे? और मद्यको रस होनेपर भी कभी आयु कहा जा सकता है? इस तरह ये भी परस्पर पर्याय के शब्द नहीं है ।

प्रस्तर, अश्मा, शिला, क्या ये शब्द पत्थर के वाचक होने पर परस्पर के पर्याय शब्द हैं? छोटे कंकर को शिला नहीं कहा जाता, और फरशी को ही प्रस्तर (जिसमें स्तर है) कहा जा सकता है ।

अस्तु। इस तरह विचार करने पर पता लगता है, जो शब्द पर्याय समझे जाते हैं, वे सचमुच पर्याय शब्द नहीं हैं, प्रत्युत प्रत्येक शब्द विशेष गुणधर्म दर्शानेवाला स्वतंत्र ही शब्द है । 'कृष्टि' मनुष्य ही है, परंतु खेती करनेवाला मनुष्य है, 'सूरि' भी मनुष्य है, परंतु वह शास्त्रज्ञाता मनुष्य है। अतः ये दो शब्द विभिन्न भाव दर्शानेवाले हैं। भाषा में पण्डित, खत्री, बनिया, किसान कहते ही मानवों का बोध होते हुए भी विभिन्न वर्गोंका ही बोध होता है, वही बात **'वेद-श्रुति-आम्नाय-निगम'** शब्दोंका उच्चार करते ही वेदमंत्रों का बोध होते होते ही प्रत्येक शब्द से भिन्न भिन्न प्रकार के मंत्रोंका बोध होता है। इस दृष्टिसे वेदोंका वर्गीकरण होना, इस समय अत्यंत आवश्यक है । अतः इस भूमिकाको यहां ही समाप्त करके वेदवाचक इन शब्दोंसे किन किन मंत्रोंका बोध होता है, यह देखेंगे—

१ श्रुति।

'श्रु' धातु श्रवण करना, सुनना, इस अर्थ में है, इस से **'श्रुत, श्रुति'** ये शब्द बनते हैं, इनका अर्थ जो हमने सुना है, जो सुनते आये हैं, इस प्रकार का होता है । जिन मंत्रों में इस प्रकार का भाव है, उन मंत्रों को हि श्रुति कहना योग्य है, देखिये—

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।
(वा० यजु० ४०।१९)

'ऐसा हम विद्वानों के मुख से सुनते आ रहे हैं ।'

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम ।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥
(अथर्व० ७।७४।१)

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त ।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन्ताः सप्त गृध्रा इति शुश्रुमा वयम् । (अथर्व० ८।९।१८)

एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ।
(अथर्व० ११।१।२९)

यश्च पणी रघुजिष्ठयो यश्च देवाँ अदाशुरिः ।
धीराणां शश्वतामहं तदपागिति शुश्रुम ॥
(अथर्व० २०।१२८।४)

इन मंत्रोंमें 'शुश्रुम' (हम सुनते आये हैं) यह प्रयोग देखनेयोग्य है, तथा और देखिये—

त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये ।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु० ॥
(ऋ० १।१०५।१७)

'त्रित कूवे में गिरा, उसने देवोंकी प्रार्थना की, बृहस्पति ने वह सुनी और उसने दुःखसे उसको छुडाया।'

इस तरह श्रुतिप्रकरण के मन्त्र हैं । यहां कोई यह न समझे कि श्रुतिविभाग में मंत्र का संग्रह होने के लिये उसमें 'श्रु' धातुका ही भूतकाल का प्रयोग होना चाहिये। नहीं, यह बात नहीं है। यह श्रुति 'मंत्र के आशय से' निश्चित की जाती है, न कि 'श्रु' धातुके प्रयोग से। देखिये इस विषय के अन्य मंत्र—

याभिर्धेनुमस्वं पिन्वथः० । (ऋ० १।११२।३)

जिस से आपने वंध्या गौ में दूध उत्पन्न किया।

याभी रेभं निवृतं सितमद्भ्य उद्वन्दनमैरयतं स्वर्दृशे। याभिः कण्वं प्र सिषासन्तमावतं० ॥
(ऋ० १।११२।५)

'जिस रीतिसे आपने बन्धन में पडे रेभको और वन्दन को मुक्त करके प्रकाश में लाकर रक्षा और जिससे कण्व की रक्षा की'—

याभिरन्तकं जसमानमारणे भुज्युं याभिरव्यथिभिर्जिजिन्वथुः । याभिः कर्कन्धुं वय्यं च जिन्वथः० ॥६॥

याभिः शुचन्तिं धनसां सुषंसदं तप्तं घर्ममोम्यावन्तमत्रये । याभिः पृश्निगुं पुरुकुत्समावतं० ॥७॥

याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजं प्रान्धं श्रोणं चक्षस एतवे कृथः । याभिर्वर्तिकां ग्रसिताममुञ्चतं० ॥८॥

याभिः सिन्धुं मधुमन्तमसश्चतं वसिष्ठं याभिरजरावजिन्वतम् । याभिः कुत्सं श्रुतर्यं नर्यमावतं ॥९॥

याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं सहस्रमीह्ळ आजावजिन्वतम् । याभिर्वशमश्व्यं प्रेणिमावतं० ॥१०॥

याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधु कोशो अक्षरत् । कक्षीवन्तं स्तोतारं याभिरावतं० ॥११॥

मान्धातं क्षेत्रपत्येष्वावतम् ।
याभिर्विप्रं प्र भरद्वाजमावतम् ॥१३॥
(१।११२)

"आपने जलमें डूबनेवाले अन्तक की रक्षा की, भुज्यु कर्कन्धु और वैय्य की रक्षा की, धनाढ्य शुचन्ति को उत्तम गृह दिया, अत्रि का ताप शान्त किया, पृश्निगु और पुरुकुत्स की रक्षा की, अन्ध और लूले परावृज को आंख दृष्टि दी और चलने का सामर्थ्य दिया, वर्तिका को मुक्त किया, मीठे सिंधुको बहा दिया, वसिष्ठ की रक्षा की, कुत्स श्रुतर्य और नर्य का प्रतिपाल किया, महा संग्राम में विश्पला का सहाय करके उसको जय दिया, वश और अश्व्या की रक्षा की, दीर्घश्रवा वणिक् और कक्षीवान् की रक्षा की, खेती में मान्धाता का सहाय किया और भरद्वाज विप्र की रक्षा की । "

इस तरह के वर्णनों में सब प्रयोग भूतकाल के हैं। अतः यह श्रुति है। इन मंत्रों का अर्थ जो भी हो, परन्तु

मंत्रों के शब्दप्रयोग ऐसे हैं कि जिनमें प्रत्यक्ष बात होने का वर्णन नहीं है, 'ऐसा ऐसा हुआ था, ऐसा आपने किया था' ऐसे वर्णन हैं। मैं यहां यह नहीं कहना चाहता कि इनका कोई आध्यात्मिक और सनातन तत्त्व दिखानेवाला अर्थ कदापि नहीं होगा, होगा और होना संभव है, परन्तु वैसा अर्थ करने या न करने की बात स्वतंत्र है। यहां मैं इतना ही दर्शाना चाहता हूं कि इस तरह के भूतकाल के वर्णनों के सब मंत्र एक 'श्रुति' नामक प्रकरण में रखने-योग्य हैं, अतः उनको 'श्रुति' कहकर एक प्रकरण में संग्रहित करने चाहिये और उन सबका अर्थ करने की एक ही पद्धति (One system) ढूंढनी चाहिए। यहां इन श्रुतियों का संग्रह एक प्रकरण में करना चाहिए, ऐसा मैंने कहा, इसका अर्थ यह नहीं है, कि इस श्रुतिविभाग में एक ही प्रकरण होगा। नहीं, इस श्रुतिविभाग में अनेक उप-विभाग होंगे, जैसा देखिये।

विश्पला विभाग—

याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं ।
सहस्रमीळ्ह आजावजिन्वतम् ॥ (ऋ० १।११२।१०)

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जंघामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम् ॥ (ऋ० १।११६।१५)

इस तरह विश्पला को लोहे की जंघा लगाने के उल्लेख चारों वेदों में जहां होंगे, वहां से उनका संग्रह विश्पला-विभाग में करना चाहिये और उन सब मंत्रों का एक ही पद्धति से विचार करना चाहिये। तथा—

अत्रि विभाग—

ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यं ऋबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन । मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ॥ (ऋ० १।११७।३)

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्। ऋबीसे अत्रिं अश्विनावनीतं उन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥ (ऋ० १।११६।८)

तप्तं घर्मं ओम्यावन्तमत्रये ॥ (ऋ० १।११२।७)
हिमेन घर्मं परितप्तमत्रये ॥ (ऋ० १।११९।६)

युवमत्रयेऽवनीताय तप्तं ऊर्जमोमानमश्विनावधत्तम् ।
(ऋ० १।११८।७)

युवं ऋबीसमुत तप्तमत्रये ओमावन्तं चक्रथुः ।
(ऋ० १०।३९।९)

युवं ह घर्मं मधुमन्तमत्रयेऽपो न क्षोदोऽवृणीतमेषे ।
(ऋ० १।१८०।४)

उतात्रये शतदुरेषु गातुवित् । (ऋ० १।५१।३)

उपस्तृणीतमत्रये हिमेन घर्ममश्विना ॥ (ऋ० ८।८३।३)
अवन्तमत्रये गृहं कृणुतं युवमश्विना ॥ (ऋ० ८।७३।७)
वरेथे अग्निमातपो वदते वल्गुमत्रये ॥ (ऋ०८।७३।८)

अत्रिर्यद्वामवरोहन्नृबीसं अजोहवीन्नाधमानेव योषा ।
श्येनस्य चिज्जवसा नूतनेनागच्छतमश्विना शंतमेन ॥
(ऋ० ५।७८।४)

अत्रिमनु स्वराज्यं अग्निमुक्थानि वावृधुः ।
विश्वा अधि श्रियो दधे ॥ (ऋ० २।८।५)

यहां अत्रिप्रकरण के कुछ थोडे से मन्त्र उदाहरण के लिये दिये हैं। यदि इस तरह अत्रिप्रकरण के मन्त्र एक स्थानपर खोज करनेवालों के पास उपस्थित रहेंगे, तो इसके तत्त्वज्ञान की खोज शीघ्र हो सकती है, निःसन्देह पद्धतिसे निर्णय हो सकता है, शब्दों के अर्थ निश्चित हो सकते हैं और संदेहरहित वेदमंत्रों का अर्थ भी वेद के अन्तर्गत प्रमाणों द्वारा हि प्रकाशित हो सकता है।

चारों वेदोंमें 'श्रुति' विभाग में आनेवाले मंत्र अनेक हैं, और इस विभाग में इस तरह के प्रकरण भी अनेक हैं, कमसे कम ५०० सें कम तो श्रुति-विभाग के प्रकरण नहीं हैं। परंतु एक वार इस तरह प्रकरण बन जायंगे, तो वेद का अर्थ आपही आप खुल जायगा, और वेदभाष्य संपूर्ण उत्तरदायित्व के साथ होना संभव हो जायगा।

वेद ।

अब संहिता के मंत्रोंमें किन मंत्रोंका नाम 'वेद' है, इस का संक्षेपसे विचार करेंगे। 'विद्' धातु का अर्थ 'जानना, निःसन्देह ज्ञान प्राप्त करना' है। अतः जिन मंत्रों में निः-सन्देह साक्षात् ज्ञान होने का प्रत्यक्ष उल्लेख है, वे मंत्र 'वेद' इस संज्ञाके लिये योग्य हैं, देखिये—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (वा० यजु० ३०।१८)

'मैं इस पुरुष को जानता हूं, वह महान् है, सूर्य के समान तेजस्वी है, अन्धकार के परे है, इसीको जानकर मृत्यु से परे होना संभव है, उच्च गति प्राप्त करने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।'

इस मंत्र में कोई भूतकाल का उल्लेख नहीं, यहां तो प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान होने का और असंदिग्ध विज्ञान का बोध है। यही मार्ग है इससे भिन्न दूसरा मार्ग नहीं, यह भी कहा है। निःसंदिग्धता की इसमें पराकाष्ठा है। अनुभव करनेके पश्चात् जैसा कोई साक्षात्कारी बोलता है, उस प्रकारकी निश्चित भाषा में यह उपदेश है। इसीलिये इसको 'वेद' नाम सार्थ होता है। यही साक्षात्कार का ज्ञान है।

श्रुति के विषय में कदाचित् किसीके मन में संदेह हो सकता है, "अन्धे को आपने आंख दिये थे और अति वृद्ध को चलने की शक्ति दी थी" (ऋ० १।११२।८)इस में भी निःसंदेह ही कहा है कि ऐसा होना आगे भी संभव है, परन्तु भाषा ऐसी भूतकाल की है कि जिससे किसीके मनमें यह संदेह होगा की आगे वह सिद्धि हमें मिलेगी या नहीं, कौन जाने। श्रुति की भाषा के कारण ऐसी शंका उपस्थित होना संभव है, परन्तु वेदविभाग के मंत्रों की भाषा ऐसी है कि वहां कोई संदेह ही नहीं है। 'वेद' का यही अर्थ है, संदेहरहित ज्ञान को ही वेद कहा जाता है। कान और आंख में अन्तर यही है। सुना और देखा में अन्तर है। भाषा के कारण यह भेद अवश्य होता है। अस्तु। 'वेद' विभाग के और कुछ मन्त्र उदाहरण के लिये देखिये—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्यो-रात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

(अथर्व० १०।८।४४)

'आत्मा जरारहित, तरुण, बुद्धिप्रदाता, सर्वं[...] स्वयंभु, अमर और निष्काम है, इस के जाननेसे मृ[...] भय दूर होता है।'

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत वि[...] देवैः। अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यह[...]न्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ (ऋ० १०।१२५।[...])

तथा—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्य[...] नरे॥ (वा० यजु० ४०।[...])

'कर्म करते सौ वर्ष जिनेकी इच्छा करे, यही ए[...] है, दूसरा नहीं। कर्म का लेप मनुष्य को नहीं ल[...] इस तरह के मंत्र 'वेद' विभाग में आ सकते हैं। [...] निश्चित ज्ञान, अनुभव की भाषा में कहा होगा, [...] वेदविभाग के समझने चाहिये। श्रुतिविभाग और [...] विभाग का यह भेद सूज्ञ लोग विचार करके देखें।

आम्नाय, समाम्नाय।

'आम्ना' धातु अभ्यास करने के अर्थ में है, 'समा[...] का अर्थ मिलकर अभ्यास करना है। अभ्यास, अ[...] पुनः पुनः उच्चारण करना, इस धातुका अर्थ है और [...] अभ्यस्त, पुनरुच्चारित मंत्र हैं, और जो पुनरुच्चार[...] के लिये मंत्र हैं, उनकी यह संज्ञा है। उन में [...] द्वारा पुनरुच्चारित होनेवाले 'आम्नाय' विभा[...] आयेंगे और संघों के द्वारा पुनरुच्चारित हों[...] 'समाम्नाय' विभाग में आवेंगे।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

यह प्रसिद्ध गुरुमंत्र है। यह जप के लिये ही है[...] लिये इसका वारंवार उच्चारण करना आवश्यक है। [...] अर्थ देखने से इस में 'धीमहि' (हम सब [...] ध्यान करते हैं), 'नः धियः प्रचोदय[...]

(हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा करे) इत्यादि वाक्य सूचित कर रहे हैं कि यह मंत्र 'समाम्नाय' गण में रखनेयोग्य हैं, क्योंकि इसका शब्दार्थ संघप्रार्थना का भाव दर्शा रहा है। इसी तरह—

त्र्यंबकं यजामहे सुगंधिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥
(ऋ० ७।५९।१२)

यह मंत्र भी सार्वजनिक बंधनिवृत्ति करनेवाला है, और संघ की बन्धनिवृत्ति के लिये सामुदायिक प्रार्थना के लिये इसका उपयोग होता है। यह भी समाम्नाय वर्ग में रहनेयोग्य है।

ऋग्वेद में इसका पदपाठ नहीं है और सब मंत्र का मंत्र एक ही पद है, ऐसा ही माना जाता है। 'त्र्यंबकं' शब्द से 'मृतात्' तक एक ही पद है, ऐसा माना जाता है, इसका हेतु यह है कि इतने ग्यारह पद इस में होते हुए भी सबका जैसा एक ही पद बना है, उस तरह हम विविध मनुष्यों का यह संघ वैसा बना है कि जैसा एक ही मनुष्य होता है, इतना अभेद्य ऐक्य होने के पश्चात् जब संघवाले अपनी परतंत्रता के नाश के लिये इस तरह प्रार्थना करेंगे, तो क्यों वह नहीं सुनी जायगी? अस्तु। इस तरह यह मंत्र समाम्नाय वर्ग का है।

वेदों में कई वार मंत्रका चरण, मंत्र का अर्थ, पूर्ण मंत्र पुनः पुनः आया होता है। उसी का नाम अभ्यास है। जैसा वक्ता अपने भाषण में महत्त्व की बातें वारंवार दुहराता जाता है, वैसा ही वेद में किया गया है। कई लोग पुनरुक्त को दोष मानते हैं, परंतु यह पुनरुक्त नहीं, यह तो मंत्रों का 'अभ्यास' है, इस अभ्यास को किसीने दोष नहीं माना है। अभ्यास जानबूझकर होता है, पुनरुक्ति असावधानीसे होती है, यह दोनों में भेद है। वेद में अभ्यस्त मंत्र अनेक स्थानों में हैं, अतः उनको यहां लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त गायत्रीमंत्र अनेक संहिताओंमें अभ्यस्त हुआ है। और एक दो उदाहरण देते हैं—

अवविद्धं तौग्र्यं अप्स्वन्तरनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्। (ऋ० १।१८२।६)

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्रविध्यतम्। (ऋ० ७।१०४।३)

येन नरा नासत्येषयध्यै वर्तिर्याथस्तनयाय त्मने च। (ऋ० १।११८३।३; ऋ० ६।४९।५)

यातं वर्तिस्तनयाय त्मने चागस्त्ये नासत्या मदन्ता। (ऋ० १।१८४।५)

इन मंत्रोंमें आधे मंत्र का, तथा मंत्रचरण का किस तरह अभ्यास हुआ है, वह दर्शाया है। इसी तरह पूर्ण मंत्र भी अनेक वार अभ्यस्त हुए हैं। इसी अभ्यास को 'आम्नाय' कहते हैं। इन आम्नाय मंत्रों को और समाम्नाय के मंत्रों को प्रकरणशः संग्रहीत करनेसे संहिताद्वारा कौनसा धर्म पुनःपुनः कहा है, अतः किस उपदेश को अवश्यमेव ध्यानमें धारण करना आवश्यक है, इसका परिज्ञान हो सकता है। प्रायः लोग पुनरुक्त मंत्रों का विचार छोड देते हैं, समझते हैं कि पुनरुक्ति दोष है और उसको हटाना चाहिये। परंतु वेद में जिन कल्पनाओंका वारंवार 'अभ्यास' कराया गया है, उनको महा उपदेश मान कर, उनको महावाक्य समझकर उनका विशेष मनन करना चाहिये। इस कारण आम्नाय और समाम्नाय का महत्त्व वेद में अत्यंत है और इनका संग्रह विशेष ही सूक्ष्मता के साथ करना चाहिये, ऐसा हमारा विचार इतने अध्ययन के पश्चात् निश्चित हुआ है।

मन्त्र।

'मन्' धातु विचार करना, मनन करना, सोचना इस अर्थ में है, इस से 'मन्त्र' शब्द बना है। 'मन्त्रः मननात्' ऐसा निरुक्तकार यास्काचार्यने कहा है, और बताया है कि जिनका अर्थ सोच सोचकर जाना जाता है, उनका ही नाम मन्त्र है। सब छन्दों का नाम मंत्र नहीं है, परंतु **'जो मनन का ही विषय है, मनन के विना जो कभी समझ में नहीं आ सकता'** वही मन्त्र है जैसा—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋ० ६।४७।१८)
यो विश्वा भुवना बभूव। (ऋ० ४।१६।५)
एकं वा इदं विबभूव सर्वम्। (ऋ० ८।५८।२)

'इन्द्र अपनी शक्तियोंसे अनेकरूप बनता है, जो एक ही सब भुवनरूप बना है, एक ही तत्त्व यह सब बना है।'

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
(ऋ० १०।९०।२)

'विश्वात्मा पुरुष ही भूत, वर्तमान और भविष्य काल का सब कुछ है।'

एकं सत्, बहुधा वदन्ति। (ऋ० १।१६४)

'एक ही सत् है, जिसका अनेक प्रकार वर्णन होता है।' इत्यादि अनेक मंत्र ऐसे हैं कि, जिनका शब्दार्थ बिलकुल सरल है, कोई शब्दोंकी कठिनता नहीं है, परंतु भावकी गंभीरता अत्यंत मननसे अथवा किसी गुरुके गूढ उपदेश से हि जानी जा सकती है। देखिये (एकं सत्) ये दोही शब्द हैं, अर्थ भी कोई कठिन नहीं, परंतु अन्तरात्मा में इनका—इस एक सत्य वस्तुका-ज्ञान होनेके लिये कितना कठिन है? अतः यह प्रगाढ मनन का हि विषय है, इसी कारण इन को 'मन्त्र' कहा है। इस तरह के अनेक मन्त्र चारों वेदोंमें हैं, उन सब को प्रकरणशः संग्रहीत करना चाहिये।

निगम।

'निगम्' धातु तर्कना करनेके अर्थ में है, हेतु बतलाकर किसी सिद्धान्त को सिद्ध करना, यह अर्थ इस में है। 'निगमन' शब्द (Logic) तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र के लिये उक्त कारण हि प्रयुक्त होता है। 'निगम' में भी वही अर्थ है। जिन मन्त्रोंमें हेतु दर्शाकर किसी बात की सिद्धता की हो, वे मंत्र 'निगम' नामक मंत्रसंग्रह में रखने-योग्य हैं जैसा-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः, कस्य स्वित् धनम्?
(वा० य० ४०।१)

'जो कुछ इस विश्वमें वस्तुमात्र है, वह ईश्वर के द्वारा व्यास है, इसलिये त्याग से भोग करो, लोभ न करो, भला धन किस का है? (इसका विचार तो करो।)' इस मंत्र में ईश्वरकी व्यापकता का हेतु देकर त्याग करने को तथा लोभ छोडने को कहा है। यहां हेतु देकर समझाने का यत्न किया है। इसलिये 'निगम' नामक संग्रह में इस तरह के मंत्र रखने योग्य हैं। इस तरह अनेक मंत्र वेद में निगमविभाग के लिये योग्य हैं।

ऐसे मंत्रोंमें भूतकाल के वर्णन की श्रुति नहीं, वार जप करने का अभ्यास नहीं, निश्चित ज्ञान का नहीं, यहां तर्कसे कार्य लिया है, न समझते बात हेतु दर्शाकर समझानेका यत्न किया है, इसपर विश्वास रखना नहीं है, साधक जितने चाहे उतने तर्क शंकाएं करें, उनके उत्तर यहां दिये जायगे। यहां शक्ति के लिये बडा क्षेत्र है। भूतकाल के वर्णन में क्या करना है, उसपर तो शब्दप्रामाण्य जैसा विश्वास रखना चाहिये, अंधेको आंखे मिली थीं, यह सत्य है? ऐसा कहा इसी लिये वह सत्य है, वहां तर्क स्थान नहीं है। वारंवार जप करनेवाले मंत्रों से संस्कार होते हैं, वहां तर्क से हानि होगी। परंतु जानबूझकर तर्क को मंत्र में हि स्थान दिया है, हेतु है, वह हेतु ठीक है वा नहीं, इसका विचार साधक और अपनी तर्कनाशक्ति से यथायोग्य परीक्षा मंत्र का सिद्धान्त स्वीकार करे। इस तरह के मंत्र इस विभाग में आते हैं। 'आगम' नामक मंत्रभाग तर्कशास्त्र के एक भाग में आते हैं। एक तर्कभाग पहिले कुछ सिद्धान्त मानकर उसकी सिद्धता जाती है, और दूसरे में पहिले सब प्रकार के प्रमाण कर अन्त में सिद्धांत तक पहुंचना होता है। एक नाम 'निगम' है और दूसरे का नाम 'आगम' दोनों प्रकार के मंत्र चारों वेदोंमें हैं, उन सबको विभागोंमें संग्रहीत करना चाहिये।

यहां तक हमने मंत्रोंके आशय से होनेवाले वर्गी के विषय में कहा। इस वर्गीकरण के प्रत्येक विभाग सौपचास मंत्र देना आवश्यक था, वैसा देनेकी इच्छा भी थी, परंतु वैसा करनेसे इस लेखका बहुत ही बढ जाता, इसलिये अधिक मंत्र देनेके को स्थगित किया है। तथापि पाठक इतने विवरण इन विभागोंके मुख्य लक्षण जानेंगे और जो इस वर्गी

को करना चाहें, वे इन सूचनाओंके अनुसार कर भी सकेंगे।

हमारा निश्चय यह हुआ है, कि प्रयत्न करके इस तरह के वर्गीकरण बन जांयगे, तो वेद का अर्थ अन्तर्गत प्रमाणोंसे हम सिद्ध कर सकेंगे। मानो वेद का अर्थ वेद ही बोलता जायगा और किसी प्रकारके संदेह वेद का निश्चित अर्थ करने में रहेंगे नहीं। इसलिये वेदार्थविचारक इन सूचनाओं का विचार इस महत्व की दृष्टिसे करें।

और एक वर्गीकरण।

१ स्तुति, २ प्रार्थना, ३ निन्दा, ४ आशीर्वाद, ५ भावविवक्षा, ६ शपथ, ७ अभिशाप, ८ आज्ञा, ९ अभिचार, १० प्रश्नोत्तर आदि विभागों में भी चारों वेदोंके मंत्र विभक्त करने चाहिये। सब प्रकार के आशीर्वाद के मन्त्र एकत्र होंगे, सब प्रकारकी निन्दा के मन्त्र इकट्ठे होंगे, तो निःसंदेह उनके मनन से कई निश्चित अनुमान निकल सकते हैं। अतः ये भी विषय वर्गीकरण के हैं और इनके विषय में निरुक्तकारने अपने निरुक्त में कहा भी है। इस कारण खोज करनेवाले इस वर्गीकरण की ओर विशेष ध्यान शीघ्र देंगे, तो बहुतहि सहायता वेदार्थ करने में होगी।

वेदका वाक्यकोश।

वेदका अर्थ निश्चित, असंदिग्ध और अन्तर्गत प्रमाणों से परिपुष्ट करनेके लिये इन साधनग्रंथों के निर्माणकी अत्यंत आवश्यकता है। जैसा उपनिषद्वाक्यकोश बनाया है, उसी तरह एक एक पद के नीचे उस पदवाले मंत्र देकर एक **'वेदवाक्यकोश'** बनना चाहिये। वेदका निश्चित अर्थ करने के लिये ऐसे वाक्यकोश की अत्यंत आवश्यकता है। अमेरिकामें **'वैदिक कंकॉर्डन्स'** बनाया गया है, परन्तु वह वैदिक वाक्यसूची है। पदक्रमानुसार वैदिक वाक्यकोष बनना चाहिये।

व्यय की कल्पना।

इतने वेदमंत्रोंका संग्रह करनेके विषय में मेरे विचार मैंने यहां लिखे हैं। इनके बनाने और मुद्रणके व्ययकी कल्पना यहां देना आवश्यक है, वह ऐसी है।

१. **आर्षेय संहिता** (चारों वेदोंकी इकट्ठी) बनाने और मुद्रण करने के लिये ......६०००) रु० लगेंगे।

२. **दैवत संहिता** (चारों वेदोंकी इकट्ठी) बनाने और मुद्रण करने के लिये ......८०००) रु० लगेंगे।

३. **श्रुति-वेद-आम्नाय-समाम्नाय-मन्त्र-निगम-आगम** आदि विभागों में चारों वेदोंके मन्त्रभाग बनाने और मुद्रण करने के लिये ......२००००) रु० लगेंगे।

४. **विषयवार संहिता**-चारों वेदोंके मन्त्र विषयानुसार विभागों में संग्रहीत करने और मुद्रण करने के लिये ......२५०००) रु० लगेंगे।

५. **स्तुतिप्रार्थना-आशीर्वादादि** विभागानुसार मंत्र छाटकर प्रकरण बनाने और उनका मुद्रण करने के लिये ......१००००) रु० लगेंगे।

६. **वेदवाक्यकोश** (जैसा उपनिषद्वाक्यकोश बना है वैसा) निर्माण करने के लिये और मुद्रण करने के लिये ......५००००) रु० से अधिक व्यय होगा, क्योंकि कम से कम चार संहिताओंको दसगुणा छापनेके जितनी छपाई होगी और बनवाई लगेगी, तो अलगही है।

कुल व्यय १,१९,०००) रु०

इतना व्यय कोई संस्था करेगी, और इस कार्य के लिये २०।२५ वर्षोंतक पचीसतीस विद्वान् शास्त्रज्ञ और निष्पक्ष पंडितों को इस कार्य के लिये निश्चित होकर लगाया जाय, तो २५ वर्षोंमें सिद्ध होनेवाला यह कार्य है। इसके पश्चात् वेदका निश्चित, निर्भ्रांत और सत्य अर्थ ये ही ग्रंथ स्वयं बोलेंगे और आशंका करनेवालों की आशंकाओंको स्वयंहि ये ग्रंथ दूर करेंगे।

यह लेख केवल सूचनामात्र है। यदि कोई संस्था इसे कार्यरूप में परिणत करना चाहेगी, तो यही विषय विस्तार से लिखा जायगा।



भूतों का अस्तित्व केवल मानसिक कल्पना×

(१)

(लेखक- श्री० वीरेन्द्रसिंहजी, बम्बई)

हर आइने दिल में है नकशा तेरा।
हर दीदह बीना में है जल्वा तेरा॥
आंखें हों तो इनसान बैन हूं देखे।
हर परदे में दरपरदा तमाशा तेरा॥

मेरी अनुमति में भूत, चुडैल व जन्तों का अस्तित्व केवल एक मानसिक भ्रम है। जहां तक मेरी अल्प बुद्धि अन्वेषण कर पाई है, मैं इसी नतीजे पर प्राप्त हुआ हूं और हमारे इतिदेशी आर्ष ग्रन्थों में भी इस विषय पर यथातथा अनेक विवेचन पाये जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में विशेष कर के याज्ञवल्क्य मुनिने जाग्रत और स्वप्न-अवस्था का भेद दिखाते हुए इस विषय पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। जिस समय हमारे शरीर में प्रकृति की तमरूपी अवस्था वेगवान् होती है, तब इस प्रकार के भाव, निद्रा वा जागृत अवस्था में संकल्प की वजह से अनेक रूप में प्रकट हुआ करते हैं।

हम लोगों की अन्ध अरु मोहमय प्रवृत्तियों से फायदा उठा कर समय समय पर चाटन लोग [Charlatans of witchcraft] अपने लाभार्थ इस तरह का मिथ्या प्रलाप करके जनसमाज में भ्रम पैदा करते, तथा समाज को अज्ञानमय कूप में घसीट लेते हैं। इन के प्रवर्तक और अनुयाइयों का ईश्वरीय न्यायमय सत्ता के समीप्ट वही गति होती है, जैसी कि इस वैदिक उक्ति से प्रकट है—

'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो ज

अर्थात् आत्मघाती आत्मा को न जानने जन, अन्धतम अज्ञान में प्रवेश करके अ अकल्याण कर लेते हैं।

इस के अलावा पितागण जब की इस मि आन्तर् जगत् रूपी कल्पना पर यकीन करते तब उनकी सन्तानों पर भी इसी संस्कार बीज मौजूद हो मित्ती पाते और वृक्षरूपको प्राप्त फल लाते हैं।

श्री उदयप्रसादजी जो लिखते हैं कि उन गांव से आते हुए बैलगाडी में बैठे स्वयमेव भिखारनरूपी औरत को रास्ते में देखा। मुमकि है उस समय उनके रास्ते में तथा आकृतिवा कोई पथिका गुजरी हो और जिस तरह उद प्रसादजी की गाडी एक तरफ बडी चली उसी तरह वह पथिका रास्ते से गाडी गुजर ज पर अपनी राह पर बढ गई हो। यहां तक तो ठीक है। अब आगे महाशय जो लिखते हैं, वह आध फरलांग बढकर संशय को प्राप्त अकेले वापिस आये और वापिस आने पर भी उसी अस्थान पर उसी व्यक्ति को वैसे खडे पाया सो यहां पर संशयरूपी मानसि कल्पनाने उनके लिये संस्कारों से बद्ध हो मानसि आकृति पाई (देखी)। और जब भयने अङ्ग को शिथिल किया, तब चैतन्य से प्रेरित हो बुद्धि पुनः होश पाये तथा हुंकार से ओतप्रोत ध्वनि

× 'वैदिक धर्म' क्रमांक २२५, पृ०७३४ पर 'भूतोंका अस्तित्व' लेख देखो।

आवृत हो मन के तमरूपी संस्कारों पर का परदा हटा दिया और उस समय का मनकल्पित रूप-निरूप (अदृश्य) हो गया। यह रहा उनके व्यथा का सच्चा स्वरूप। एक उर्दू कवीने बखूब ही कहा है—

याद नादानी के बाद अज मर्गए साबित हुआ,
ख्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था।

प्रवृत्तिप्रधान मन का इस तरह से उग्र रूप धारण करने का मुख्य श्रोत महोदय की पत्नी तथा गाडीवान के मूढ व अज्ञानमय चर्चाने पूर्ण किया। देखिए-ओलिवर वेन्डेज होम्स इसी युक्ति को कितने सरल व भावपूर्ण शब्दों में उक्त करते हैं-

'The automatic flow of thought is often singularly favoured by the fact of listening to a weak continuous discourse with just enough ideas in it to keep the mind busy. The induced current of thought is often rapid and brilliant in inverse ratio to the force of inducing current.×

यहां तक तो सब स्पष्ट है, अब आगे जो उदयप्रसादजीने करुणामय दृश्य बयान किया-बच्चे का गला-रुंधन और शरीर का ऐंढना इत्यादि सो उससे अनुमान होता है, कि उन्होंने योग्य डाक्टरी चिकित्सा नहीं की थी, वरना उन्हें दुःखी होने की कोई वजह न होती। महोदय के लेख से स्पष्ट प्रकट है, कि गाडी में बैठे गरीब पथिका को देख कर उनकी पत्नी ने बच्चे को डर के मारे चिपटा लिया।

और इस समय उनकी पत्नी का लहू (दूध) भय और व्याकुलता के मारे विषमय हो गया था [देखो शारीरिक विज्ञानशास्त्र] सो ही बच्चे को पिलाया गया, नतीजा यह हुआ कि नन्हा बच्चा जो कि कोमलता का दिव्य रूप होता है, विषपान कर गया और उसका वेग न सहारने की वजह से Convultions due to fear शुरू हो गये। डाक्टरों के पास इस तरह के केसेज अनुमान आया करते हैं और अच्छे हो जाते हैं।

यह तो सीधी साधी (Common sense) कॉमन सेन्स की बात है। और आजकल वैज्ञान के युग में भी जो इसको भूत-प्रेत की लीला मानें, तो हम जैसा मन्दभाग्य और कौन हो सकता है। मेरे विचार में मनुष्यसमाज की इस अज्ञान-मय अवस्था को देख कर श्रीकृष्ण चन्द्र ने गीता में उचित ही उक्ति की है—

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवा।'

अर्थात् हमारा त्रिकालाबाधित ज्ञान अज्ञान से आवृत हो रहा है। इत्यादि।

[संपादकीय वक्तव्य।]

उक्त लेख विचारणीय है। 'भूत' वास्तविक नहीं है, वह काल्पनिक भ्रम है, यह सिद्ध करने के लिये बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं। भूत के शरीरपर कपडे दीखते हैं, हाथ में सोटी होती है, पांवोंमें जूते होते हैं। क्या कपडों, सोटियों और जूतों के भी भूत हो सकते हैं? अतः यह मनकी कमजोरी की अवस्था से भ्रम की कल्पना अवश्य है। तथापि यह मन की अवस्था संशोधनीय है और इसकी चिकित्सा भी सोचनी चाहिये।

—संपादक- 'वैदिक धर्म'

×इन भाव और संस्कारों का बीजरूप रहना गीता तक को अभिप्रेत है-
"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः॥"

(२)

भूत नहीं हैं !

पूज्य पंडितजी,

'वैदिक धर्म' का अंक एक पवित्र अंक है। इस पवित्र अंक के अंदर ऐसे वैसे भ्रांतिकारक लेखों को स्थान नहीं मिलना चाहिये, क्योंकि ऐसे कपोलकल्पित लेखों से भ्रांति फैलती है, इसलिये इस विषय में मेरे चालीस वर्षों के अनुभव को मैं आपके सम्मुख रखता हूं।

इस समय मेरी आयु ५० वर्ष की है। १२ वर्ष का अनुभव इन्डीया का और २८ वर्ष का अफरीका का कुल ४० वर्ष का, इसके अंदर जो मैंने किया, वह सेवा में रखता हूं।

मुझको छोटी आयु के अंदर ही क्रीबन १० वर्ष की आयु में ही धार्मिक विषयों पर बातचीत करने का शोक पड गया था, खास कर भूतप्रेत की वातों को सुनने का शौक ज्यादा था। जहां कहीं भी ऐसी घटना का पता मिलता था, वहां जाया करता था और खास कर जो मांत्रिक इनके यंत्र-मंत्र जानते थे, उनके साथ बातचीत करता था। बडे प्रेम भाव से उन लोगों के साथ बर्ताव किया करता था, जहां तक मुझसे बन सका, मैंने की कि भूतप्रेत का पता मिले मगर इसके (मूर्खता) धोखा और धूर्तपन इसके सिवाय कुछ न पाया।

इसके बगैर मैं रातको मसानों के अन्दर और जलती हुई चिता के पास बैठकर भी मगर वहां भी कुछ न मिला।

अब इधर अफरीका में भी २८ साल के चार पांच घटनायें मेरे सामनें हुई, उनकी मैंने अच्छी तरह से पडताल की, मगर अन्दर भी वही मूर्खता और दिल की ... को ही प्रधान पाया। इसलिये आप वेदवेत्ता पूर्ण ज्ञानी हैं, आप इस पर अच्छी तरह ... करके थोडासा अपना विचार इस विषय में पत्र में दे दें, ताकि जनता में धोखा न फैले। मैं ४० वर्ष के अंदर मेरे अनुभव के अंदर ... मैंने आपकी सेवा में रख दिया। आगे आप उचित समझें वैसा करें।

भवदीय गुरांदित्ता आर्य, नैयरो...

युग-योग्य।

(लेखक- श्री० वसिष्ठजी)

आज भारतवर्ष अन्य देशों के समान पृथिवी के तमाम देशों के साथ नत्थी है। लन्दन, पेरिस बर्लिन, न्यूयार्क तथा मास्को आदि स्थानों की कोई ईजाद इसके शरीर को विना स्पर्श किये नहीं रहेगी। इसलिए जो कुछ भी भलाबुरा करना अभीष्ट है, वह युग-प्रणाली के अन्तर्गत प्रवाह का लिहाज रखते हुए ही किया जा सकता है। जिसे जीवित रहना अभीष्ट है, उसे ग्रीष्म ऋतु में गरमी के अनुकूल तथा शीत ऋतु में सर्दी के अनुकूल नियमों को अपनाना पडेगा।

यह कह देना तो सरल है कि मनुष्य अज्ञान में पाप करता है, किन्तु एक धनसम्पन्न वेश्या गंगा के तीरपर स्नान करते हुए यात्री का कम्बल चुराने की कल्पना भी नहीं करती, जब कि शीत से कांपता हुआ एक दरिद्र ग्रामीण किसी यात्री का कम्बल उठा भागता है। क्या सांख्याचार्य इस घटना पर यही व्यवस्था देंगे, कि वेश्या ज्ञानवती थी, उसके अन्तश्चक्षु खुले हुए थे, इस लिए उसने स्तेय पाप को नहीं किया और उस दरिद्र ग्रामीण के ज्ञानचक्षु बन्द थे, इसलिए वह चोरी कर बैठा ? 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं?' की उक्ति क्या व्यर्थ ही है? क्या परिस्थिति ही मनुष्य को कुपथगामी नहीं बनाती? आज जितना झूट, हिंसा व स्तेय है, इसका कारण 'अज्ञान' नहीं बल्कि 'अभाव' व 'प्रचुरता' है। एक ओर मनुष्य निर्वाह न मिलने के कारण पाप करते हैं, तो दूसरी ओर आवश्यकता से अधिक को भोगों में अपव्यय करके। यदि 'अज्ञान' ही पाप का कारण होता, तो धनसम्पन्न वेश्या और कंगाल ग्रामीण दोनों ही कम्बल चुरा भागते।

आर्यसमाज का जो ध्येय है, उसे व्यावहारिक बनाये विना न यह जी सकता है, न इसके जीने की जरूरत है। जिस आदर्श, जिस नियम को कार्य के रूप में न लाया जावे, उससे कुछ भी लाभ नहीं। रैमसे मैकडोनल्डने गुरुकुल का निरीक्षण करके उसके आदर्श को स्वीकार किया किन्तु आज तक न रैमसे मैकडोनल्ड ने अपनी सन्तान को गुरुकुल में भेजा और न इंगलैंड में ही गुरुकुल खुला। इससे प्रतीत होता है कि या तो गुरुकुल एक आदर्शहीन संस्था है. या रैमसे का वक्तव्य ढोंग था, जो केवल सभा प्रसन्न करने के निमित्त काम में लाया गया। या फिर विकृत परिस्थिति के कारण आदर्श स्वीकार करनेपर भी उसे ग्रहण करने में विवशता रही। हमें यह अन्तिम बात ही ठीक प्रतीत होती है। परिस्थितियें ही मनुष्य को, किसी आदर्श की ओर लालायित होने पर भी, उस ओर नहीं जाने देतीं। अतः परिस्थिति को अनुकूल बना देने से स्वतः पाप की ओर से प्रवृत्ति हट जाती है।

आर्यसमाज पृथिवीपर है और पृथिवी से अन्यत्र जाकर यह अपने आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः इसे इस युग में इस युग के ही साधन अपनाने पडेंगे। किसी ध्रुवपर पहुंचने के लिये अनेक साधन हो सकते हैं। देहली जानेवाले के लिए यह जरूरी नहीं, कि वह बैलगाडी को ही ढूंढे। सद्यः (latest) सवारी वायुयान को क्यों न अपनावे और खास कर तब जब कि बैलगाडियें डाकुओं, नदियों द्वारा नष्ट हो जाती हों और पहुंचना हो जरूरी आज शाम से पहले।

यदि निर्वाह ठीक ठीक निश्चिन्त चलता रहे, तो किसी व्यक्ति को पाप करने की जरूरत ही न पडे, क्योंकि निश्चिन्त व सुखी जीवन मनुष्य को आनन्द देता है। आनन्द मिल जानेपर किसी कृत्रिम-व्यसन-भोग की लालसा नहीं रहती। अतः मनुष्य किस प्रकार सुखी, निश्चिन्त, सदाचारी बने इसके लिए तीन बातों की जरूरत है। (१) व्यवस्थित निर्वाह, (२) सदाचार, (३) विद्या। यदि निर्वाह व्यवस्थित व निश्चिन्त है, तो शेष दो बातें स्वयं थोडे से प्रयत्न से प्राप्त हो जावेंगी।

यदि हम 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम्' के रहस्यका मूल्य समझते हैं, तो जरूरत है कि आर्यों की आजीविका शुद्ध हो। उन्हें निर्वाह के लिए झूंट, हिंसा, स्तेय आदि करना न पडे। आजीविका केवल शुद्ध ही न हो बल्की निश्चिन्त व पर्याप्त भी हो। निश्चिन्त से हमारा तात्पर्य 'मुफ्त की' 'हराम की' या 'पराई कमाई' से नहीं है, बल्कि जिसमें व्याघात न हो, अबाधित रूप से चलती रहे, उस आजीविका से है।

भारतवर्ष गांवों का देश है। यहां ग्राम ही मुख्य वस्ती है। ग्रामों से ही सदाचार का आरम्भ हो सकता है। अतः आवश्यकता है ग्रामिणों के निर्वाह को शुद्ध व निश्चिन्त करने की। जब तक नागरिक जीवन में पराई कमाई, मुफ्त की कमाई खाने की प्रथा है तब तक शहरों में आर्यसमाजी संख्यावृद्धि तो भले हो जावे, किन्तु 'आर्य' वृद्धि नहीं हो सकती। निर्वाह को शुद्ध व निश्चिन्त करने का साधन है ग्रामिणों के श्रम का सामूहिक संगठन और वह हो सकता है मिश्रित कृषि-कार्यद्वारा। मशीनों को अपनाया जाय और उन ग्रामिणों के श्रम को सामूहिक व संगठित किया जाय, यही इस युगयोग्य है।

यह युग देने का तो है, पर दान (खैरात व भिक्षा) का नहीं। इस युग में तो अपाहिजों को भी दान देते हुए लोग मुंह मोडते हैं, फि[र] प्रकार से तन्दुरुस्त मनुष्य को दान देना पसन्द करेगा? जो देगा भी, वह एक व अपमान के साथ, कुत्ते को एक फेंकने की तरह।

हमारी संस्थाओं ने लाखों रुपये की मांगी। उस याचना में लोभवश हां में हां मि[ला] की विनयशीलता दिखाकर अपनी अन्तरात्मा भी अपघात किया और इस पराश्रित नि[र्वाह] प्रदान के लाखों रुपयों को खापीकर बरा[बर] कर दिया।

दान कौन दे? और क्यों दे? ये प्रश्न विवाद[ास्पद] हैं। अतः क्यों न सब काम करें और सब स्वा[वल]म्बन में सुखी रहें। देश के गुरुकुलों ने ल[गभग] ८० या ९० लाख रुपया दान में लिया, जो [अब] तक उपार्जित होकर वापस नहीं लौटा। यदि ८० या ९० लाख रुपया ऋण या दान द्वारा [ले] करके बडे बडे कारखानों में लगाया गया [होता] तो उससे अब तक पूंजी ९ करोड हो गई [होती] और ८०,९० लाख की पूंजी से खडे किये [गये] वे आरम्भिक कलकारखाने भी जीवित र[हते।] शेष ८ करोड के लाभ से न जाने कितने गु[रुकुल] रहते। इन दान मांगनेवाली संस्थाओं ने 'या[चना] की पराकाष्ठा करके भी कुछ न कमाया। खा[कर] बराबर कर डाला।

प्रकृति का बडा सरल व मोटा नियम है, जिसको स्वस्थ शरीर और चार हाथपांव हैं, वह अपना निर्वाह अपने बाहुबल से उपा[र्जन] करे। यदि किसी को तेज बुद्धि इसलिए [दी] होती, कि वह बुद्धि के विचारशील कार्य [करे और] दूसरे शारीरिक श्रम करनेवालों की कमाई [से] अपना निर्वाह करे, तो प्रकृति ऐसे तीक्ष्ण [बुद्धि] महापुरुष को हाथ पैर ही न देती। महा प्रति[भा]शाली बुद्धिमान पुरुष को भी हाथ पांव दे[कर] प्रकृति ने यह प्रमाणित कर दिया, कि वह

उन हाथपावों से पूरा काम ले और दिनरात शारीरिक श्रम में मर खपनेवाले मजदूरों को भी अपनी बुद्धि से विचारने व ज्ञानोपार्जन का मौका दे, जब कि उन अभागे मजदूरों की खोपडी में भी उतनी ही तीव्र मेधा है, जितनी तेज किसी दार्शनिक विद्वान् के मस्तिष्क में। आज अपने को कुलीन, सभ्य कहनेवाले उच्च वर्णस्थ लोगों की इससे अधिक और क्या पशुता हो सकती है कि वे अपने जैसे मानव-जन्तु को अपने मैले गन्दे कपडे धोनेपर मजबूर करते हैं। स्वयं अपने घरों में हगते हैं और अपने ही सजात मनुष्य-जन्तु को मजबूर करते हैं, उस गू को उनके पुनीत मन्दिर से उठाकर बाहर ले जाने के लिए और साथ ही वह कहते भी नहीं लजाते, कि आर्य-सभ्यता में मेहतर भी ऋषि बन सकता है, जब कि सारे विश्व के द्विज-देव उस मेहतर को गू की टोकरी के नीचे से निकलने का अवसर ही नहीं देते।

अदूरदर्शी, गैर जिम्मेवार वेतनभोगी उपदेशकों के व्याख्यानों से आर्यत्व की स्थापना नहीं हो सकती। वे तो केवल 'धर्मं चर, सत्यं वद' कह देना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। वे केवल बीज बखेरना ही जानते हैं, क्षेत्र चुनना या बनाना नहीं। वे मारवाड की संतप्त शुष्क बालुकामयी भूमि में वैदिक ज्ञानरूपी केशर व कमल के बीज बखेर कर जनता को आर्यत्व की आशा दिलाने के लिए 'चढ जा सूली पै राम भला करेंगे' की पूर्ति के लिए 'इदम् इन्द्राय न इदं ममः' का निर्लेप शान्ति-पाठ पढ देते हैं, ताकि आशावादी आर्य जनता मरुभूमि में केशर की क्यारी और कमल-सरोवर के सुख-स्वपनों में निमग्न रहे।

मानव-प्रकृति पर विचार करनेवाले जानते हैं, कि मनुष्य कुकर्म से बचना चाहता है। और कुकर्म से बचना ही धर्म है। फिर पापकर्म क्यों किये जाते हैं? इसका उत्तर है 'बेबसी'से-। मनुष्य जीवन चाहता है। सुखी रहना और किसी सुलभ कार्य में लगा रहना चाहता है और चाहता है जिज्ञासा की पूर्ति। जब इन चार कार्यों में व्याघात होता है, मनुष्य आन्दोलन करता है और अक्षम होने के कारण असत्य, हिंसा आदि पापों का आश्रय लेता है।

गायत्री का जाप क्यों करना चाहिये, इसका उत्तर अथर्ववेद में इस प्रकार दिया है -

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।

वेदने स्पष्ट कर दिया है, कि मनुष्य की इच्छायें हैं दीर्घ जीवन, मित्रादि के सहित पूर्ण निर्वाह द्वारा सुखी जीवन, ज्ञानोपार्जन तथा परलोक। अतः जिस जीवन-सुख के लिए मनुष्य जीना चाहता है और जिस सुख से वह वंचित किया जा रहा है, यदि वह जीवन-सुख उसे फिर से प्राप्त होने लगे, किये हुए कार्य का उसे पूरा पुरस्कार मिलने लगे, तो उसके तीन चौथाई कुकर्म बन्द हो जावें। यह हो सकता है, इस युगयोग्य कार्य को करने से। हम यदि राजनैतिक, विश्वव्यापी तथा अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि की उपेक्षा करके केवल सदाचार व धार्मिक दृष्टि से ही विचार करें, तो आज भी वही सदाचारी बन सकता है, जो न किसी को लूटता है न किसी से लुटता है। आज ९९ प्रतिशत पाप आर्थिक कष्ट के कारण हैं।

आज 'त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' पर आचरण करने के लिए कोई आर्य-समाजी महात्मा तक तैयार नहीं। साधारण दयानन्दी तो उद्यत होने ही क्यों लगा और दण्ड के आतंक से आचरण करानेवाले मनु महाराज 'भस्मान्तꣳ शरीरम्' को प्राप्त कर चुके। अतः अब एक मार्ग है कि कमानेवाले कृषकों का, जो अन्तपर जीनेवालों के अन्नदाता, जीवनपिता हैं, संगठन कर दिया जाय। उनके श्रमको सामूहिक व संगठित करके उन्हें पर्याप्त

आजीविका देकर सुखी, दीर्घजीवी और निश्चिन्त बनाया जावे। इतना हो जानेपर वे सुखी-जीवन किसान विना उपदेश के ही सदाचारी बन जावेंगे, उसके बाद जरूरत पडेगी ज्ञान की जो सदाचारी जीवन में इतनी जल्दी उत्पन्न होकर फल फूल सकेगा, जितनी जल्दी वर्षाऋतु में घास। इसलिए याचना जैसे आत्मघातक कर्म करके पराई कमाई को अपहरण करनेवाले परान्नमुखापेक्षी हमारे ज्ञान गुरुकुल व कालेज जहां कमानेवालों का शोषण कर रहे हैं, वहां श्रमिकों के सामूहिक व संगठित होनेपर उनकी शिक्षा-संस्थाएं स्वावलम्बी होंगी और यह सम्भव होगा 'आर्यगांव' बसाकर वहां के वासियों के सामूहिक श्रमको संगठित करने से। 'आर्यगांव' ही घोषणा कर सकेगा 'मुझमें रहनेवाला कोई मानवप्राणी ऐसा नहीं है, जो भरपेट अन्न व गोरस न पाता हो। जिसके पास आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त वस्त्र व अन्य उपकरण न हों। मुझ में रहनेवाले के पास जब आवश्यकता के अनुसार सब चीजें मौजूद हैं, तब कोई चोरी क्यों करे? अनाचारी क्यों हो? झूट क्यों बोले?'

क्या आर्यसमाज इससे अधिक आर्यत्व की स्थापना कर रहा है?

असफल हो जानेपर दान मांग कर चलाई हुई संस्थाओं का कार्य व मूलधन दोनों नष्ट हो जाते हैं किन्तु सफल संस्थाओं का कार्य तो रहता है, मूलधन नहीं। खर्च के लिए फिर दान मांगना पडता है और इस 'याचना' के फैशनेबुल पेशेको चलाना पडता है। परन्तु मेरी 'आर्यगांव' की योजनामें, असफल होनेपर, कार्य व मूल धन का कुछ नाश होता है, किन्तु सफल होनेपर कार्य, मूलधन, लाभ दिन दूने रात चौगुने बढते हैं। मेरी योजना के 'आर्यगांव' की नियामक कमेटी व संचालक को भीखपर चलनेवाली संस्थाओं के कर्णधारों की तरह दानदाताओं की इच्छाओं व आदेशों के समक्ष झुकना नहीं पडेगा। उन्हें तो ऋणदाता साहूकार के आदेशानुसार ... मशीनरी में फेरफार करने की तनिक भी ... नहीं पडती। और ऋण के अदा कर देने... कमेटी व संचालक को उनके आदर्श की ... चना करनेवाले विश्वकुबेर तक का कान ... कर बाहर निकालने का अधिकार हो जाता ... इसी का नाम है 'अर्थशुद्धं सर्वशुद्धम्।'

यदि धनाढ्य दानदाता देवतुल्य सदा... भी हो, तब भी संस्था संचालकों को पर... की एक असह्य वेदना से गुजरना पडता है ... वे अनुभव करते हैं, कि धन की आवश्यक... कारण दान के लोभ से दानदाता की ... के प्रति वे 'एवमस्तु' कह रहे हैं, चाहे दा... की वह इच्छा लाभदायक ही क्यों न ... विवशता व लोभ से स्वीकार की हुई भला... मनुष्य के आत्मिक विकास को रोकती है। ... उस समय की दयनीय दशा कितनी म... होगी, जब धनपति दानदाता का जीवन वि... अनार्य हो, उसकी इच्छामें संकर मतो... विषाक्त सत्त्व हों और संचालक के साम... संस्था की आवश्यकताएं और उनकी पूर्ति... लिए धन मिलने का उपरोक्त अनार्य से प्र... इसी लिए 'आर्यगांव' की नेक कमाई से ... हुआ आर्यप्रचार कर्मकाण्ड व व्यावहारिक ... ही वैदिक यथार्थ जीवन है और यह इसी ... शुद्धं सर्वशुद्धम्' पर अवलम्बित है। इस ... गांव' में लगाया हुआ धन ठीक उसी ... वापस लौट आवेगा जिस प्रकार एक पूंजी ... का धन किसी फैक्टरी में लगाया जाकर ... से लाभसहित वापस लौट आता है और ... लाभ 'आर्यगांव' वालों के लिए सदाचार, ... जीवन, नागरिकता, मानवचरित्र की ... दीक्षा चिरकाल तक सतत देता रहेगा। ... आर्यप्रतिनिधिसभा, पंजाब, अपने गुरुकुल ... दशांश व्यय करके भी ऐसा 'आर्यगांव' बसा... जो १००० मनुष्यों का शुद्ध पवित्र १० नमूने

कमाई का (पराई कमाई के सभ्य अपहरण का नहीं) प्रचुर निर्वाह देकर उन्हें सदाचारी, सत्य-निष्ठ, कर्मकांडी आर्य बनावे और उनकी सन्तान की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध करके अनृत की कमाई करनेवालों के भिक्षा-दान पर निर्वाह करनेवाले पराश्रमुखापेक्षी गुरुकुल के स्नातकों से अधिक सदाचारी व योग्य विद्वान् उत्पन्न करे? सब से अद्भुत व नवीन बात यह होगी, कि जो धन आर्यप्रतिनिधिसभा इस 'आर्यगांव' पर खर्च करेगी, वह सब उसके कोश में पांच वर्ष के भीतर लौट आवेगा, जब कि उनकी समस्त शिक्षा-संस्थाओं ने लाखों रुपया खाकर एक फूटी कौडी आज तक वापस नहीं की। क्या आर्यप्रतिनिधिसभा, लाहौर' इस पर कान देगी? जिनको मेरी इस योजना की सफलता अथवा व्यावहारिकता में आशंका हो, उनके लिए 'वैदिक धर्म' के कालम खाली हैं, वे अपने विरोधी विचारों को प्रकट करें।

ओ३म् की ध्वजा या यज्ञिय अग्नि।

(लेखक- श्री आचार्य अभयदेव संन्यासी)

गुरुकुल कांगडी के गत जन्म- दिवस की सभा में एक स्नातक (पं० चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार) ने कुछ ऐसी शिकायत की थी, कि गुरुकुल में राष्ट्रीय झंडे की कद्र बहुत है, पर ओम्की ध्वजा को उपेक्षा की जाती है। इस का उत्तर देते हुए श्रीमान् मुख्याधिष्ठाताजी ने श्रोताओंका समाधान करा दिया था और बताया था, कि गुरुकुल में ओम् की पताका तो सब से ऊंचे स्थानपर और सुदृढ ढंग से लगाई हुई है। श्रीमान्य पं० इन्द्रजीने भी इन दोनों झण्डों का गुरुकुल में कितना सुन्दर और उचित समन्वय किया गया है, यह बतलाया था। इन दोनों महानुभावों के कथन का समर्थन करने के अतिरिक्त मैंने एक नयी बात अग्नि के वास्तविक झंडा होने के विषय में कही थी। उस बातपर और अधिक प्रकाश डालने की मांग गुजरात के एक प्रतिष्ठित आर्य की तरफ से आई है और वैसे भी आजकल जब कि अपने अपने झंडे सार्वजनिक स्थानोंपर लगाये जाने की एक होड सी चल पडी है, अपने वे विचार प्रकट कर देना कुछ उपयोग पर लिखा जाना लाभ का हो सकता है, यह सोच कर, मैं पाठकों के लिये इन्हें लेखबद्ध कर रहा हूं।

मेरी समझ में आर्य-समाज की तरफ से ओम् के झण्डे का, ध्वजा या पताका का फहराया जाना स्पष्ट रूप से आजकल के बाह्य प्रभाव के कारण है, यह राजनैतिक प्रचारप्रणाली का अनुकरण है, धार्मिक तरीका नहीं। बाह्य चिह्न द्वारा अपने को उद्बोधन देना- इसे मैं बुरा नहीं करता-यह तो किसी अंशमें जरूरी है। पर ऐसा ही करने का धार्मिक तरीका कुछ और होता है। हम जो हवन की अग्नि प्रज्वलित करते हैं, वह भी तो एक मुख्य अंश में बाहरी चिह्नद्वारा अपने को उद्बोधन देना ही है। इसलिये मैं कहता हूं कि हमारा झण्डा अग्नि है। मैं ने प्रथम बार गुरुकुल का आचार्यपद स्वीकार करते समय कोशिश की थी, कि हम गुरुकुल में स्थायी रूप से अग्नि को स्थापित करें और उसी से लेकर नित्य की

आहवनीय अग्नि बना कर अग्निहोत्र किया करें। पर यह चल नहीं सका। महाराज शाहपुराधीश ने तो इस कार्य के लिये-जिस में ऐसी अग्नि स्थापित हो, ऐसी यज्ञशाला बनवाने के लिये-धन भी गुरुकुल को दे रखा है। जिस दिन इस तरह गुरुकुल में यज्ञिय नित्य अग्नि की स्थापना हो जायगी, उस दिन मैं समझूंगा कि गुरुकुल में सच्चा ओम् का झण्डा गड गया। वेद में तो अग्नि या सूर्य को ही असली झण्डा, केतु बताया गया है। ये ही हमारे प्रकृतिमाता के दिये हुए, जीते जागते स्वाभाविक झण्डे हैं। मैं ऐसे बहुतसे मंत्र पेश कर सकता हूं, जिनमें अग्नि को यज्ञ का केतु कहा गया है। तो हम क्यों अपने इस केतु को भुलाकर औरों की नकलमें कपडे के झंडोंपर इतना आग्रह करें। अतः जब पं० चन्द्रगुप्तजीने भाषण के बाद यह एलान किया था, कि मैं १०) ओम् के नए और बडे झण्डे के लिये देने को तैयार हूं- तो मैंने यह सलाह दी थी, कि वे ये रुपये अपने पास ही रखें और इन का उपयोग प्रतिदिन अग्निहोत्र करने में करें, तो इस से जहां उन का अपना कल्याण हो सकता है, वहां इस से गुरुकुल व आर्यसमाज का भी भला हो सकता है, न कि गुरुकुल में एक और ओम् का झण्डा लगा देने से।

कई आर्यभाई न समझने के कारण मुझे गुरुकुल में या आर्यसमाज में राजनैतिकपन लानेवाला मानते रहे हैं। पर असल में राज-नैतिकपन लाने का एक उदाहरण यह है, कि हम भी राष्ट्रीय झण्डे के अनुकरण में ओम् पताका का फहराने और ध्वजागीत गाने की रस्म करने लगें। देश की स्वाधीनता की इच्छा करना और उसे पाने के लिये शुद्ध बलिदान करना, यह तो सच्चे धर्मभाव से भरे हुए हृदय से स्वभावतः निकलनेवाली वस्तु है, पर चूंकि तिरंगे झण्डे की वन्दना राजनैतिक क्षेत्र में बडे उत्साह से की जाती है, इस लिये हम भी ओम् के झ[ण्डे के] सामने वैसी ही धूमधाम और आकर्षण करें, इस दृष्टि से आर्यसमाज में यह न[ई] चलाना राजनैतिकपन से भरे हुवे दिमा[ग से] निकली वस्तु है।

दूसरी तरफ देखिये कि राजनैतिक क्षे[त्र में] काम करनेवाले जो स्वभावतः धार्मिक पु[रुष हैं] वे क्या कर रहे हैं? पाठकों का ध्यान उधर [गया] है कि नहीं, पर मुझे तो बडी खुशी हुई जब अखबारों में पढा कि फैजपूर कांग्रेस के अवस[र पर] बम्बई से (जहां कि कांग्रेस का जन्म हुआ) अग्निशिखा पैदल स्वयंसेवकों द्वारा फैजपू[र लाई] गई और स्वागत के साथ स्थापित की गई। तो यह प्रथा (भारत जैसे धर्मप्राण देशकी नीति को शोभा देनेवाली यह प्रथा) चल[ती] प्रतीत होती है, क्योंकि सुना है, उस के हरिपुरा कांग्रेस में भी यह अग्निशिखा उसी लाई गई और स्थापित की गई। ऐसा कर[ने की] प्रेरणा चाहें ओलंपिक खेलों की ऐसी अ[ग्नि]शिखा से ली गयी हो, पर मूलतः धार्मिक है और भारतीय संस्कृति के स[र्वथा] अनुकूल है। मैं देखता हूं इस अग्नि[शिखा] के रिवाज को ठीक तरह चलाने से ह[मारी] राजनीति और अधिक धार्मिक ऊंचाई में जायगी, जहां कि ओम् की ध्वजा को खडा के और उस के चारों ओर 'राष्ट्रपताकागीत' बिलकुल नकल में बनाए हुए गीत के गाने जय बोलने की प्रथा पूरी करने से धर्म [राज]नैतिक नाचाई में उतर आता है। कांग्रेस हमारे असली झण्डे, अग्नि को अपना रही है हम उस के कपडे के झण्डे, ध्वजारोहण नकल करनेमें संमान समझ रहे हैं।

झण्डे को मैं राजनैतिक वस्तु इसलिये क[हता] हूं, क्योंकि इस का कुछ लडाई के साथ सम[्बन्ध] है। यह ठीक है कि धर्म भी एक प्रकार की ल[डाई]

लडता है पर वह लडाई और तरह की होती है। उस में राजनैतिक लडाई की तरह का जोश खरोश व राजसिकता नहीं होती किन्तु उसमें एक दृढ किन्तु शान्त सङ्कल्प तथा सात्विकता होती है। इस लिये इस लडाई का चिह्न अग्नि ही शोभा देता है। अग्नि को ऊपर उठने वाले शान्त प्रबल सङ्कल्प का प्रतीक सब जगह माना गया है। इस के अतिरिक्त वैसे भी, जैसे मैं ने ऊपर कहा है, कपडे कागज टीन आदियों के बने झण्डे झण्डियों की अपेक्षा अग्नि बहुत अधिक जीता जागता स्वाभाविक और उज्ज्वल केतु है।

इस से मेरा यह भी मतलब नहीं कि गुरुकुल में जो ओ३म् का झण्डा लगा हुआ है उसे उतार दिया जाय। वह जिन परिस्थितियों और अवस्थाओं में लगाया गया है, वे ठीक थीं। उस झण्डे से अब भी बहुत लोगों को उद्बोधन मिलता है। उसे उतारना उस का अपमान करना होगा परन्तु इस झण्डे के साथ और झण्डों की नकलमें कुछ और प्रक्रिया जोडना, इस से तो हमें अवश्य बचना चाहिये। हमें इसे साम्प्रदायिक झण्डा न बना देना चाहिये। आज कल की भाषा में कहूं, तो इसे मुस्लिम लीग का झण्डा नहीं बना देना चाहिये। ओ३म् का झण्डा कोई राष्ट्रीय झण्डे के मुकाबिले की चीज नहीं है। राष्ट्रीय झण्डा-झंडा-तो देश में एक ही होना चाहिये। ओम् का या परमात्मा के नाम का झंडा (केतु-प्रतीक) किसी देशविशेष से, परिमित देश से संबंध रखने वाली वस्तु नहीं, किन्तु सार्वभौम वस्तु है। असल में तो, जैसे कि मैंने ऊपर कहा, वह झण्डे का विषय ही नहीं है। इस लिये उसे अन्य झंडों की बराबरी में इतने नीचे उतार लाना बहुत अशोभाजनक प्रतीत होता है। अभी अखबारों में पढा था कि खुर्जा की म्यूनिसपेलिटी पर कांग्रेस का झण्डा लगा हुआ था, उसपर मुस्लिम लीगवालों ने अपना झण्डा लगा दिया; उन्हें देखकर सिखों, सनातन धर्मवालों और महावीर दलवालों ने भी अपने अपने झण्डे लगा दिये। मुझे आशा है कि हमारे आर्यसमाजी भाई ऐसा तो नहीं करेंगे कि ऐसे समय पर वहां ओम् का झंडा ले जाकर लगा दें। पर हम जिस तरफ झुक रहे हैं उन से अन्देशा होता है कि कहीं हम भी उसी तरफ न चले जाएं। यदि हमारे अग्निहोत्र की अग्नि के झण्डे में ऐसी शक्ति नहीं आई है कि वह सच्चा धार्मिक आकर्षण पैदा कर सके, तो हमें ठहरना चाहिये और अधिक तपस्या करनी चाहिये; पर ओम् के पवित्र झण्डे के साथ यह खिलवाड शुरू न कर देनी चाहिये।

हमें पूरे निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये कि हमारा असली झंडा-जिसमें आकर्षण करने की शक्ति किसी भी राजनैतिक झंडे की अपेक्षा सहस्रगुणा अधिक है, चूंकि स्वयं धार्मिक क्षेत्र ही राजनैतिक क्षेत्र की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है-अग्नि है। इस झंडे का, अग्नि का, प्रभाव जगद्व्यापक है। बेशक इस झंडे को फहराना, इस की स्थापना व आराधना करना, और हृदय से निकले वेदमंत्रों द्वारा इसकी सच्ची उपासना करना बडा कठिन है, बहुत तपस्या और आत्म-बलिदान को चाहता है। पर हमारा असली धार्मिक (असांप्रदायिक, सार्वभौम) झंडा (और प्रार्थना) है यही।

यह कपडेका ओम्का झंडा भी चूंकि आज-निरापद है इस लिये भी कुछ लोग इस को महत्त्व देते हैं, इसे राष्ट्रीय झंडे के मुकाबिले में रखकर इसे बढाने में धार्मिक जोश दिखलाते हैं। परन्तु यदि कभी जैसे राष्ट्रीय झंडा खतरे की वस्तु रहा है और आगे भी हो सकता है, वैसे यह ओम्की ध्वजा भी खतरनाक वस्तु हो जाय तो इस की रक्षा करनेवाले, इसके लिये जान तक दे देनेवाले, शायद वे ही आर्यवीर निकलेंगे जो कि राष्ट्रीय झंडे के लिये या देश के लिये कष्ट उठा चुके हैं, कुछ बलिदान कर चुके हैं या बलिदान करने को वस्तुतः तैयार हैं (दूसरे तो शायद तब इसे कपडे का

टुकडा कह कर इसके लिये आग्रह करना, लडाई झगडे में पडना मूर्खतापूर्ण कार्य समझेंगे)। अस्तु। मतलब यह है कि ये दोनों झंडे वस्तुतः कोई मुकाबिले की वस्तु नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं।

सच्चा आर्य आज वह है जो प्रतिदिन दैनिक अग्निहोत्र द्वारा, जगद्व्यापक प्रभाव रखने वाले महायज्ञद्वारा, अग्नि के झंडे की उपासना करता है तथा राष्ट्रीय महासभाद्वारा अवसरोंपर अपने राष्ट्रीय तिरंगे झडे की द्वारा राष्ट्र-यज्ञ की इस प्रक्रिया में भी सम्मि होता है। उसे अग्नि में अपने राष्ट्र के पाप भी भस्म करने वाली पवित्र शक्ति अनुभूत है और चर्खे से चिह्नित तिरंगे राष्ट्रीय झंडे 'ओम्' का प्रकाश नजर आता है।

'आर्य-गांव'

(लेखक-- श्री० वसिष्ठजी)

(१) चार हजार से छे हजार बीघे मध्यम श्रेणी की जमीनके एक चक में एक गांव बसाया जावे, जिसका नाम "आर्यगांव" हो। उस गांवमें रहनेवालोंके निर्वाह, सुख, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा मनोरंजन के लिए कृषिके फारम, फलोंके बाग, पुष्पवाटिकाएं, क्राथ—फैक्टरी, चिकित्सालय, विद्यापीठ, कुञ्ज, टाकीभवन, रेडियो, ग्रामोफोन, व्यायाम-शाला, परिवारगृह, वस्तुभण्डार, पशुशाला, आदि होवें।

उद्देश्य।

(२) "आर्यगांव" के निवासियों को सदाचारी, संयमी, सत्यनिष्ठ, निरामिष, सात्विक कर्मकांडी बनाना।

(३) हर प्रकारकी आधुनिक मशीनों की सहायतासे कम से कम व्यय करके अधिक वस्तुएं सामूहिक श्रम द्वारा तैयार करना।

(४) मोटरों तथा आधुनिक मशीनों की सहायता से कम से कम व्यय करके अधिक से अधिक कृषिवस्तुएं सामूहिक श्रम द्वारा तैयार करना। अर्थात् अन्न, ईख, कपास, तथा शाकादि सामूहिक श्रम द्वारा तैयार करना।

(५) आधुनिक वैज्ञानिक साधनों की सहायतासे कम से कम व्यय करके अधिक से अधिक दूध उत्पन्न करनेवाली दूधशाला (Dairy Farm) सामूहिक श्रम द्वारा खोलना।

(६) (क) प्रचलित स्थानीय बागीचोंके साथ साथ वैज्ञानिक पद्धति तथा यन्त्रोंकी सहायतासे कम से कम व्यय करके उन फलदार वृक्षोंका आरोपण भी करना जिनके फल वहां सुदूर स्थानों से आते हैं, तथा ऐसे वृक्षारोपणका आर्थिक संतुलन करना।

(ख) प्रचलित स्थानीय वृक्षों के बागीचे लगाना।

(७) निवासियों की नैतिक, सामाजिक तथा शारीरिक उन्नति करना।

(८) निवासियों को जिन्दा दिलीका अभ्यास कराना।

(९) निवासियों के मनोरंजन के लिए संगीत का अनिवार्य अभ्यास कराना।

(१०) आत्मरक्षा के लिए तैरना, पटा, बनैटी, जुज्सु आदिका अभ्यास कराना।

(११) सत्य, अहिंसा, सदाचार तथा सादगी का अभ्यास कराना।

(१२) आधुनिक यन्त्रों की सहायता से केवल स्त्री-मजदूरों को लगाकर छोटीसी क्राथफैक्टरी खोलना।

(१३) केवल स्त्रियोंके कार्य करनेके लिए औषध-निर्माण-शाला तथा दर्जीखाना खोलना।

नियम।

(१४) सामाजिक शृंखला में संकलित होकर रह सकें, ऐसे व्यक्ति उक्त गांव में बसाये जावेंगे।

(१५) 'आर्यगांव' में रहनेवाला प्रत्येक नरनारी 'वासी' 'वासिनी' कहलावेगा।

(१६) (क) प्रत्येक "वासी को उसकी सेवा के परिश्रम का वेतन रुपयों में मिलेगा। कार्य योग्यता के अनुसार तथा वेतन आवश्यकता के अनुसार होगा।

(ख) प्रत्येक बालक के भरण, पोषण तथा शिक्षण का भार 'आर्यगांव' की आय तथा संचालक के प्रबन्ध के जिम्मे होगा। अतः आवश्यकता से तात्पर्य दम्पति का निर्वाह ही होगा, क्योंकि 'आर्य-गांव' की नीति में विलास, शौकीनी, नशे व फैशन के लिये कोई स्थान नहीं है।

(१७) "आर्यगांव" के वासी को कृषक, माळी, ग्वाला, मजदूर, वैद्य, अध्यापक, चौकीदार, कातकाता, यन्त्रक (Mechanic), चालक (Driver), लेखक (Clerk), शिल्पी आदिके स्थान (Post) अपनी अपनी योग्यता के अनुसार मिलेंगे, परन्तु संचालक का निर्णय अन्तिम होगा।

(१८) प्रत्येक विभाग के प्रथम नियम होंगे। प्रत्येक विभाग का कर्मचारी अपने अपने विभाग के अन्तर्गत उत्तरदाता होगा।

(१९) कोई भी अंगहीन, रोगी, मोहताज स्त्रीपुरुष "आर्यगांव" की सेवा में नियुक्त न किया जावेगा, किन्तु जो स्त्रीपुरुष सेवाकाल में रोगग्रस्त अथवा किसी दुर्घटना विशेष से अंगहीन, रोगी, मोहताज हो जावेगा, उसका भरणपोषण 'आर्यगांव' की अतिथिशाला में होगा, तथा उसे उतना ही काम करना पडेगा, जितना उसके विकृत शरीरद्वारा किसी कष्ट विशेष के विना पूरा हो सके।

(२०) ५० वर्ष से अधिक आयुके 'वासी' तथा 'वासिनी' विद्यार्थियों को कृषि, गोपालन, बागवानी, आयुर्वेद, शिल्प, यन्त्रचालन, नैतिक शिक्षा, पढना, लिखना आदि का क्रियात्मक शिक्षण देंगे। इस आयु के "वासी" अपने यौवन के सेवाकाल से आधा समय सेवा करेंगे। ये विद्यापीठ परिवार के "सहयोगी" (वानप्रस्थी) कहलावेंगे।

स्त्रियों के कार्य।

(२१) कपडे धोना, सीना, रंगना, अतिथि–शालामें भोजन बनाना, फुलवाडी लगाना, क्लाथफैक्टरी में सरल मशीनोंपर कार्य करना, इलैकट्रिक मोटर चलाना, ट्रैक्टर व मोटर चलाना। सिंचाई, फल बीनना, दूध दुहना, गोशाला की सफाई, सम्मेलनसंगीतों की उत्सवरचना। आटा, चावल व तेलकी पावर–मशीनोंपर कार्य करना। चिकित्सा, शिक्षा, सुश्रुषा करना, पढाना। बालकबालिकाओंका पालन-पोषण आदि तथा अन्य ललित कार्य।

पुरुषों के कार्य।

(२२) हल चलाना, खेती के तमाम कार्य, बागवानी, चौकीदारी, चिकित्सा, शिक्षण, मशीनों के कठिन कार्य, बढई का काम, मकान बनाना, जंगल के कठिन प्रबन्ध। समस्त कठिन कार्य।

संचालक के अधिकार।

(२३) गांव का प्रबन्ध, व्यवस्था, अनुशासन योग्य व्यक्ति के हाथ में रहेगा, जो गांव का सं कहलावेगा, तथा जिसका वेतन ६०) मासिक होगा

(२४) किसी व्यक्ति के रखने वा पृथक् करने अधिकार संचालक को होगा।

(२५) "आर्यगांव" की समस्त भूमि, पा सम्पत्ति तथा मकानादि एक कमेटी के अधीन होंगे, उस भूमि में मकान बनाने का अधिकार संचाल ही होगा।

(२६) संचालक तथा "आर्यगांव" के वासि शारीरिक श्रम व दमागी विचार से जो उत्पत्ति उ में होगी, उससे बांटने का पूरा पूरा अधिकार संचाल होगा।

(२७) आर्यत्व के आदर्श की रक्षा के लिए सं को अधिकार है, कि वह 'आर्यगांव' के किसी व्यक्ति को, जिसने संचालक की आज्ञानुसार कार्य किया है, या जिसने नियमों का उल्लंघन किया है संचालक की दृष्टि में अयोग्य है, आर्यगांव से पृथ देवे।

(२८) ऐसा पृथक् किया हुआ या किया जावे व्यक्ति अपने पिछले सेवाकाल के वेतन के अ किसी प्रकार के लाभादि के हिस्से का अधिकारी होगा।

नियामक कमेटी।

(२९) "आर्यगांव" की योजना को मूर्त करने के एक कमेटी होगी, जो अपनी जिम्मेवारीपर "आर्य की योजनाओं के लिये किसी सम्पत्तिशाली व्यक्ति व्यक्तियोंसे धन, ऋण वा दान के रूप में लेकर 'आर्य के कार्योंपर व्यय करेगी और उसके प्रबन्ध के लिए योग्य संचालक को नियुक्त करेगी।

(३०) यह कमेटी अपनी ओरसे एक योग्य कोषा

चुनकर "आर्यगांव" में भेज देगी, जो रोजाना के विविध व्ययको चलावेगा।

(३१) यह कमेटी सब धन (जो उसे ऋण अथवा दानमें प्राप्त हुआ है) बैंक में रखेगी और "आर्यगांव" के संचालक की प्रस्तावित उन तमाम छोटी बडी मशीनों उपकरणों को, जो आर्यगांव में आवश्यक होंगे, मंगाकर देगी। संचालक केवल उसी व्ययको चलानेका अधिकारी होगा, जो चालू खर्च (Running Charges) के रूप में लगेगा।

(३२) कोषाध्यक्ष के अधिकारमें एक निश्चित धन चालू खर्च (Running Charges) की पूर्तिके लिए रहेगा।

(३३) भण्डारी के अधिकार में 'आर्यगांव' की समस्त उत्पत्ति तथा संपत्ति होगी।

(३४) इस उत्पन्न संपत्ति को मंडी में बेचकर उसकी आय से वेतन, वस्तुक्रय, लगान आदि दिया जाया करेगा।

(३५) तमाम ऋण के अदा हो जाने पर कमेटी को "आर्यगांव" से केवल लगान लेने का अधिकार रहेगा।

(३६) ऋणकी समाप्ति हो जानेपर वासियों की अपनी कमेटी होगी जो "उत्तराधिकारिणी कमेटी" कहलावेगी।

(३७) हर दशा में लगान नियामक कमेटी को और नियामक कमेटी द्वारा जमींदार को दिया जावेगा।

(३८) नियामक कमेटी का कर्तव्य होगा, कि वह उत्तराधिकारिणी कमेटी को प्रांतीय सरकार से Recognise करा दे।

प्रतिबन्ध।

(३९) (क) "आर्यगांव" में कोई भी नशे की चीज उत्पन्न न की जा सकेगी।

(ख) कोई 'वासी" वा "वासिनी" किसी नशीली वस्तु का उपभोग न कर सकेगा। तम्बाकु आदि तक के व्यसन को छुडाने का प्रयत्न किया जावेगा।

(४०) कोई मांसाहार न कर सकेगा।

(४१) असत्य, हिंसा, दुराचार, चोरी, अनधिकार तथा अनावश्यक संग्रह करनेवाला "विद्यापीठ" से पृथक् कर दिया जावेगा।

(४२) कर्तव्यपालन में प्रमाद करनेवाला तथा नियम-भंग करनेवाला दण्डित किया जावेगा।

(४३) 'आर्यगांव' के किसी 'वासी' अथवा 'वासिनी' का 'आर्यगांव' की किसी 'चर' 'अचर' सम्पत्ति पर कोई अधिकार न होगा।

चिकित्सा।

(४४) रोगी होनेपर रोगी को चिकित्सालय में औषधि मुफ्त मिलेगी। जब रोगी चिकित्सालय में रहेगा, तब उसे भोजनादि भी चिकित्सालय से मुफ्त मिलेगा, तथा इस अवधि का वेतन आधा मिलेगा।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता।

(४५) प्रत्येक 'वासी, वासिनी' को आठ घंटे दैनिक सेवाकार्य करना होगा। इसके बाद प्रत्येक वासी अपने निजी स्वाध्याय व अन्य कर्मों के लिए जो 'आर्यगांव' के नियमों के प्रतिकूल न हों, स्वतन्त्र होगा, उत्पत्तिके बढनेपर कार्य के घंटे घटाये जावेंगे।

(४६) प्रत्येक 'वासी' के लिए अनिवार्य होगा, कि वह अपने पारिवारिक भोजन के लिए दूध का केवल एक पशु (गाय वा भैंस) पाले। किन्तु किसी को भी उस पशु के दूध वा दूध से बने किसी पदार्थ को कहीं भी बेचने का अधिकार न होगा।

(४७) कोई भी 'वासी' एक से अधिक पशु न पाल सकेगा। उसे दूध न देनेवाले तथा जिन्होंने दूध चूखना छोड दिया है, ऐसे पशु गोशाला में भेज देने होंगे।

(४८) कोई भी 'वासी' अपने पशु के गोबर के उपले न बना सकेगा। पशुओंका सब गोबर खाद में जायगा।

(४९) वासियों के पशु 'आर्यगांव' के चरागाह में चर सकेंगे, जिनका कुछ कर न लगेगा।

(५०) किसी प्रकार का साम्प्रदायिक खण्डनमण्डन करने का अधिकार किसीको न होगा।

(५१) प्रत्येक श्रमजीवी (Physical labourer) को रात्रि पाठशाला में पढना अनिवार्य होगा।

शिक्षा ।

(५२)आरम्भ में प्रत्येक निरक्षर वासीको साक्षर करने के लिए रात्रि विद्यालय खोले जावेंगे, जिनमें उन्हें कम से कम दो घंटे दैनिक पढना अनिवार्य होगा।

(५३) ६ वर्ष की आयुसे १६ वर्ष की आयु तक लडकियें तथा १८ वर्ष की आयु तक लडकों के लिए विद्यापीठमें विद्याध्ययन करना अनिवार्य होगा।

(५४) ६ वर्षसे ११ वर्ष तकके बालक-बालिका एक साथ पढेंगे, किन्तु बालिकाओंके सोनेका स्थान बालकों से पृथक होगा। इन बालकबालिकाओं के पालनपोषण, शिक्षण तथा संरक्षण का कार्य केवल स्त्रियोंके अधीन रहेगा।

(५५) ११ वर्षसे १८ वर्ष तक की आयुके लडकों का शिक्षण, पालन, पोषण पुरुषों के हाथमें होगा। इस अवधि में लडके पुस्तकज्ञानके अतिरिक्त खेती, बागवानी, गोपालन को मुख्य रूपसे तथा अन्य कलाओं को गौणरूपसे क्रियात्मक सीखेंगे। लडकों की शिक्षा साहित्यादि में हिन्दी साहित्यसम्मेलन की प्रथमा के बराबर होगी, किन्तु विज्ञान, आयुर्वेद, इतिहास का शिक्षण विशारद के बराबर होगा।

(५६) ११ वर्षसे १६ वर्ष तक लडकियों का शिक्षण, पालन, पोषण लडकों से सुदूर स्थानपर केवल स्त्रियोंके हाथ में रहेगा। इस अवधि में लडकियें लोअर मिडिल की योग्यता प्राप्त कर लेंगी। उन्हें नियम २१ की उन तमाम पद्धतियों का क्रियात्मक अभ्यास कराया जायगा, जिनमें उनकी रुचि होगी।

(५७) शिक्षाकी प्रगति व्यावहारिक होगी। व्यावहारिक अभ्यासके बाद वही बात किताबी होगी।

(५८) धर्मशिक्षा भी व्यावहारिक ही होगी, जिसमें यम-नियमों का पालन का अभ्यास मुख्य रूपसे, संध्या, हवन गौण रूप से होगा। शेष बौद्धिक ज्ञान (दार्शनिक शिक्षा) प्रारम्भिक रूप में दी जायगी।

(५९) संस्कृत वैकल्पिक विषय होगा। संस्कृत पढनेवालों को कर्मकाण्ड भी सीखना होगा।

(६०) प्रत्येक वासीको संध्या, हवन तथा पर्व यज्ञ करना अनिवार्य होगा। यज्ञ न करनेवाला पतित करके बाहर निकाल दिया जावेगा।

(६१) संवत्सर, दर्शपूर्णमास (अमावस्या पूर्णि चातुर्मास्य, नवसस्येष्टि, अग्निष्टोम, गोमेध (भूमि में चलानेवाले दिन का यज्ञ), श्रावणी, हरि-तृतिया, शुचि, (विजयादशमी), जन्मभूमि-पूजा (दीपमालि के यज्ञ समष्टिरूप से हुआ करेंगे।

(६२) जिन विद्यार्थियों की प्रवृत्ति लेखन, भाषण उच्च ज्ञानोपार्जन में होगी, उन्हें दर्शन, विज्ञान, हास, संस्कृत, वेद आदि की उच्च शिक्षा दी जाय निर्लोभी, सहिष्णु, परिश्रमी तथा कुशाग्र बुद्धि को काण्ड तथा आयुर्वेद की शिक्षा दी जायगी।

(६३) जहां ६ वर्ष से १६ वर्ष तक आयु की कन तथा ६ वर्ष से १८ वर्ष तक आयुके बालक शिक्षा प्राप्त 'आर्यगांव' की ऐसी शिक्षा-संस्था का नाम 'विद्या होगा।

(६४) विद्यापीठ के प्रत्येक विद्यार्थी के आहार आधा भाग दूध तथा दूध के बने पदार्थ, चौथाई ताजे फल व शाकादि, तथा शेष भाग अन्न होगा। प्रकार के संस्कारों, कृत्रिम साधनों द्वारा बने मि भोजन मिठाइयें यहां वर्जित होंगी। खट्टी चीजों में नींबू अनार व आमलों के अतिरिक्त किसी अचार आदि का उपयोग विद्यापीठ में न होगा। तेला पक्वान्न पूर्ण रूपसे तथा घीके पदार्थ आंशिक रूप से होंगे।

(६५) विद्यार्थियों के वस्त्रों में आराम व सुविधे पूरा पूरा ध्यान रक्खा जायगा, किन्तु सजावट व फैशन कोई स्थान न मिलेगा। वस्त्रादि के बनाने में इस का ध्यान रक्खा जायगा, कि जहां वस्त्र शरीर की सज न करे, वहां नंगे शरीर को कुरूप भी न बनावे।

(६६) 'आर्यगांव' की पशुशाला में गाय, भैंस, ब भेड, घोडा, कुत्ता, गदहा, शूकर, व मुर्गा पाले जावें

अपवाद।

(६७) केवल भिक्षा करके आहार करनेवाले वि संन्यासी इस भूमि में आनन्दी परिव्राजक कुटीर सकेंगे, जो स्वेच्छा से यथा रुचि यथा समय उपदेश वे 'आर्यगांव' के किसी कार्य में अनिवार्य रूप से न किये जा सकेंगे।

(६८) वैदिक जीवन व्यतीत करनेवाला ऐसा निर्लोभी संयमी विद्वान् पण्डित जो दान लेकर सब हवि कर देता हो 'आर्यगांव' में अवैतनिक पुरोहित नियुक्त किया जावेगा, जो गृहस्थोंके यज्ञादि संस्कारों में प्राप्त दक्षिणापर निर्वाह करेगा।

(६९) यह पुरोहित दम्पति निम्न बातों में क्रियात्मक व्यसनी होगा--

(क) हाथ के कते बुने खादी के सूती ऊनी बिला सिले वस्त्र सपरिवार पहनेगा।

(ख) दाढी केश न कटावेगा।

(ग) पञ्च-यज्ञ नित्य प्रति करेगा।

(घ) सात्विक भोजन करेगा।

लाभ का बंटवारा।

(७०) (क) "आर्यगांव" की सामूहिक खेती, बागों, वृषशाला तथा क्लाथ-फैक्टरी से सब खर्च, कर्मचारियोंका वेतन, लगान आदि देकर जो बचत होगी, आरम्भ में उसका आधा भाग उस ऋण की अदायगीमें दिया जावेगा, जिससे मशीनें तथा अन्य सामान खरीदा गया है, तथा जिससे काम चालू किया गया है। चौथाई भाग स्वास्थ्य रक्षा तथा शिक्षापर, शेष भाग परिवारगृह निर्माणपर।

(ख) ऋणके बेबाक हो जानेपर एकतृतीयांश शिक्षा, एकचतुर्थांश परिवारगृह-निर्माण, एकषष्ठांश स्वास्थ्य रक्षा, एकअष्टमांश मनोरंजन तथा एकअष्टमांश नैतिक संगठन पर व्यय होगा।

(ग) वासियों की आवश्यकतानुसार मकान बन जानेपर एकतृतीयांश शिक्षा, एकषष्ठांश स्वास्थ्य, एकषोडशांश मनोरंजन, एकषोडशांश नैतिक संगठन और शेष का आधा आवश्यकताओं के लिए कोष में जमा रखकर शेष वासियों के वेतने के अनुपातसे उन्हें बांट दिया जावेगा।

उत्सव व मनोरंजन।

(७१) मनोरंजनके तीन स्थान व तीन विभाग होंगे।

स्थान

(क) समाज-कुञ्ज (Public Parks)

(ख) समाज-भवन (Public Hall)

(ग) क्षेत्र-कोण (Field Corners)

विभाग।

(क) वाक्चित्रपट (Talkies), ग्रामोफोन, रेडियो।

(ख) क्रीडा,

(ग) संगीत

(७२) फिल्म व रिकार्डों का चुनाव संचालक की इच्छा पर होगा, जिससे दर्शक व श्रोताओं में संकीर्णता, कामुकता तथा विलासिता के द्वारा नैतिक जीवन का ह्रास, दुराचार की स्थापना न हो।

उत्सव।

(७३) नव वर्ष, श्रावणी (विद्यापीठप्रवेश) पूर्णिमा, रविवार, महापुरुषों के जन्मदिवस, वर्षाविहार, गृहसफाई (विजयदशमी), जन्मभूमि-पूजा (दीपमालिका), वसंत-विहार के उत्सव सामूहिक होंगे। इन पर विद्यापीठ में अवकाश रहेगा।

(७४) नव-वर्ष, श्रावणी, वर्षाविहार, वसंतविहार, जन्मभूमि-पूजा पर विद्यापीठ में विद्यापीठ की ओर सहभोज हुआ करेगा।

(७५) मरने पर मृत प्राणी के कुटम्बियों को आश्वासन देने व शोक दूर करने के लिए 'आर्यगांव' की ओर से 'जलयान' व जीवन पहेली पर सभा हुआ करेगी।

(७६) पुंसवनसंस्कार से लेकर यज्ञोपवीत-संस्कार तक के सब संस्कार वासियों के गृहों में निजी (व्यक्तिगत) पारिवारिक संस्कार होंगे।

(७७) वेदारम्भ, समावर्तन, विवाहसंस्कार विद्यापीठ में विद्यापीठ की ओर से होंगे।

(७८) नियम ७३ के उत्सव सामूहिक व पारिवारिक दोनों होंगे।

विवाह-नियम।

(७९) प्रत्येक युवक व युवती के विवाह का खर्च विद्यापीठ के जिम्मे होगा, जो अधिक से अधिक ३०) होगा।

(८०) वर कन्या-पक्ष के स्त्री-पुरुषों को स्वतन्त्रता होगी कि वे विवाहित वर-वधू को घर लेकर सहभोज का

उत्सव अपने व्यय से करें, जिसका व्यय ३०) से अधिक न होगा।

(८१) २४ व ३० वर्ष की आयु के बीच प्रत्येक पुरुष को विवाह करना पडेगा। जो विवाह करना न चाहेगा, उसको संचालक की आज्ञानुसार समाजभूमि के विशेष कार्य में विशेष नियमों के अन्तर्गत रहना होगा, अन्यथा वह 'आर्यगांव' से पृथक् कर दिया जावेगा।

(८२) १६ व २० वर्ष की आयु के बीच प्रत्येक युवती को विवाह करना होगा। जो विवाह करना न चाहेगी, उसको संचालक की आज्ञानुसार कन्याविद्यापीठ में रहना होगा, अन्यथा वह 'आर्यगांव' से पृथक् कर दी जावेगी।

(८३) अविवाहित स्त्रीपुरुषों, विधवा व विधुरों को पूर्ण अधिकार होगा कि वे जब चाहें ४० वर्ष की आयु से पूर्व विवाह कर लें, किन्तु उन्हे नियम ८४, ८५, ८६ व ८७ के विपरीत विवाह करने का अधिकार न होगा।

(८४) १६ वर्ष की आयु से पहले स्त्री व २४ वर्ष की आयु से पहले पुरुष का विवाह न होगा।

(८५) ३० वर्ष से अधिक आयु का पुरुष अपनी आयु से आधी से कम उम्र की स्त्रीसे विवाह न कर सकेगा।

(८६) पुरुष की आयु स्त्री की आयु से कम से कम ८ वर्ष अधिक जरूर हो।

(८७) जिस स्त्रीपुरुष को चिकित्सक अयोग्य समझेगा, उनका विवाह न होगा।

(८८) विवाह करने में मुख्य मर्जी स्त्रीपुरुष की होगी, किन्तु 'आर्यत्व' के आदर्श की रक्षा के लिए संचालक का निर्णय अन्तिम होगा।

परिवारगृह।

(८९) प्रत्येक परिवार के ६ वर्ष से अधिक आयु के बालकबालिका 'आर्यगांव' की विद्यापीठ में भेज दिये जावेंगे। रोगी चिकित्सालय में रहेंगे। ५० वर्ष से अधिक आयु के स्त्रीपुरुष विद्यापीठ में सहयोगी का कार्य करेंगे, अतः परिवार में पतिपत्नी व ६ वर्ष से कम आयु के बालक ही होंगे, जिनके लिये २५×५० फीट क्षेत्रफल का परिवार-गृह पर्याप्त होगा, जिसमें दो कमरे, एक बराम[दा] (हवनस्थान के सहित), एक स्नानगृह, एक रसोई, [एक] पाखाना, पशु के लिए टीन छपरा व एक ईंधन[घर] होगा।

(९०) मकान सब पक्के व स्वास्थ्य कर होंगे।

अन्य नियम।

(९१) किसी वासी के मर जाने, भाग जाने अथ[वा] जेल आदिके चले जाने पर उसके आश्रित परिवारको 'आर्य[गांव]' गांव से बाहर न निकाला जायगा। प्रत्युत उसकी सं[तान] का पालन, पोषण, शिक्षण अबाधित रूप से विद्यापीठ[में] चलता रहेगा। 'वासी' की स्त्री को संचालक के निश्च[यान]ुसार पारिश्रमिक लेकर अपने परिवार का निर्वाह कर[ना] होगा।

(९२) विद्यापीठ में शिल्पके ऐसे कारखाने खोले जावें तथा प्रत्येक विद्यार्थीसे शिक्षणकालमें सुभीते अनुसार [...] आदिका इतना कार्य कराया जावेगा, जिससे शिक्षणका [व्यय] विद्यापीठ के इन विभागों से वसूल हो सके।

(९३) स्वास्थ्यविभाग व चिकित्सक का कर्तव्य हो[गा] कि वे चिकित्सा करने से पूर्व ही उन तमाम नियमों को [...] जिससे रोग होने की सम्भावना ही न हो। अतः सम[स्त] वासियों के स्वास्थ्य का उत्तरदाता चिकित्सक होगा।

(९४) विद्यापीठ व "आर्यगांव" के कार्यक्षेत्रमें वासि[यों] व विद्यार्थियों को अपने काम व 'आर्यगांव' की सब प्रका[र] की न्यायोचित उन्नति में उत्साही व तल्लीन बनाने के लि[ए] पुरस्कार, छुट्टियें आदि दी जाया करेंगी। उन्हें पुरस्कार [के] रूपमें यात्रा के लिए मार्गव्यय व लम्बी छुट्टियें दी जा[या] करेंगी।

(९५) कोई अतिथि वा किसी का रिश्तेदार संचाल[क] की अनुमति विना "आर्यगांव" में न ठहर सकेगा।

(९६) "आर्यगांव" की ओरसे एक बडा वस्तुभंडा[र] होगा, जहां से प्रत्येक वस्तु मोल मिलेगी। कोई भी 'वासी' विना संचालक की अनुमति के कोई वस्तु बाहर से [मंगा न] सकेगा।

(९७) सिंचाई के लिए बिजली के मोटरपम्प होंगे। उन्हीं के द्वारा परिवारों के लिए टंकी व वाटरपाइपोंका प्रबन्ध होगा, जिससे मुख्य स्थानों के अतिरिक्त परिवार-गृहों में भी जल होंगे।

(९८) परिवारगृहोंमें बिजली की रोशनी का प्रबन्ध होगा।

(९९) बुद्धिजीवी (दमागी काम करनेवाले) को दो घंटे दैनिक ऐसे शारीरिक श्रम में अनिवार्य रूप से लगाना होगा जिससे मनुष्योपयोगी कोई आवश्यक वस्तु उत्पन्न हो। इसके लिये वाटिका का कार्य मुख्य होगा।

(१००) (क) वासियों के प्रदत्त धन से तथा यथाशक्ति 'आर्यगांव' के फण्ड से सार्वजनिक प्रचारकों को निर्वाह व आश्रय प्रदान किया जावेगा।

(ख) दान में आनेवाले धन से दूसरे 'आर्यगांव' बसाने का प्रबन्ध किया जावेगा।

(ग) संचालक का कर्तव्य होगा, कि वह उद्योग-शाला की उत्पत्ति-साधन को इतना मितव्ययी बनावे कि 'आर्यगांव' के कारखाने की प्रत्येक वस्तु मंडी में विदेशी वस्तुओं से भी सस्ती बेची जाकर लाभ दे।



वैदिक धर्मियोंके लिये

वेद स्वतःप्रमाण हैं।

१ वेदमंत्रोंके ऋषि निश्चित हैं,

२ वेदमंत्रोंके देवता निश्चित हैं,

३ वेदमंत्रोंके छन्द निश्चित हैं,

४ (कूटमन्त्रोंको छोडकर शेष) वेदमंत्रोंका अर्थ भी प्रकरणानुकूल निश्चित और एकहि है, (और अर्थ करनेवालेपर एक एक पदके अर्थका पूर्ण उत्तरदायित्व है। मर्जी चाहे वैसा वेदमन्त्रोंका अर्थ कभी बदला नहीं जा सकता।)

५ वेदमन्त्रोंमें पाठभेद भी नहीं हैं। (खोजपूर्वक पाठभेद दृग्गोचर हुए तो उनको हटानाही चाहिये। पाठभेद अनर्थकारी समझने चाहिये।)

इसी कारण वैदिक धर्मियोंके लिये वेद शाश्वत प्रमाणके ग्रन्थ हैं, उसमें किसी प्रकार की अस्थिरता बिलकुल नहीं है। तथापि कई लोग अपना मतलब सिद्ध करने के लिये ऐसा नया पक्ष खडा कर रहे हैं कि जिससे जनताको यह प्रतीत हो जावे कि—

१ वेदमंत्रों के ऋषि बदलते हैं,
२ मंत्रोंके देवता मंत्रका अर्थ करनेवालेकी इच्छासे बदलते हैं,
३ छन्द भी अनियत हैं,
४ अर्थ भी बदला जाता है, अतः अस्थिर है,
५ पाठभेद भी घुसेडे जाते हैं, (जैसा अजमेर मुद्रित ऋग्वेदमें 'देवृकामा' घुसेडा गया है।)

इतना माननेपर वेदका स्वतःप्रामाण्य कहां रहेगा? यदि वैदिक धर्मियों के लिये वेद स्वतःप्रमाण, माननीय तथा शाश्वत धर्म के ग्रंथ हैं, तो निःसन्देह सोचिये, शान्तिसे विचारिये और इस अनर्थकारी मत का स्वीकार न करिये।

वैदिक धर्मका सेवक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
संपादक वैदिक धर्म औंध (जि. सातारा)

विचारमहत्त्व

(२ ×)

(लेखक- श्री० रामचन्द्रजी, रि० हेडमास्तर, अम्बालाशहर)

पिछले लेख में यह सम्पादन किया जा चुका है कि मनुष्य विचारों का ही पुतला है । जैसे विचार वह रखता है, वैसा ही वह बनता जाता है। तथा जो विचार हमारे मन में उपस्थित होता है, वह अपनी हि तरह के अन्य विचारों को बाहर के विचार-मंडलसे खींचकर अपनी शक्तिको बढाता रहता है। इत्यादि । इस लेखमें हम विचार के सम्बन्ध में कुछ और बातें जो बडी मर्म की हैं, अपने पाठकों के सम्मुख रखने की चेष्टा करेंगे ।

(१) विचार स्पन्दनात्मक हैं। जिस तरह जब कोई वस्तु किसी जलाशय में फेंकी जाती है, तो वह उस जलाशय में स्पन्दन (लहरें) उत्पन्न कर देती हैं। इन लहरों की बडाई, छोटाई, गहराई इत्यादि उस वस्तुके वजन तथा वेगादि पर निर्भर है। इसी तरह से जब किसी वस्तुको देखकर हमारे मनमें विचार उत्पन्न होता है, तो समझे कि हमारे मानसिक मसाले के आशय में तरंगें उठी हैं । बस, जितने विचार हमारे मन में हैं, उतनी ही समझे तरंगें हमारे मानसिक तत्त्वाशय में उपस्थित हैं। यदि किसी तालाव में एकही समयमें बहुत से मनुष्य या पशु-पक्षी विविध दिशाओं से घुस जावें तो आप जानते हैं, कि उसके जलमें किस प्रकार की लहरें विविध प्रकार से उठकर उस जलाशय में क्या कोलाहल मचा देती हैं। बस यही हाल साधारण मनुष्यों के मनोंका है, जिनके भीतर विविध प्रकार के विचार उठ उठकर कोलाहल मचा रहे हैं । इसी से मनमें चंचलता है। स्मृति में अस्थिरता और बुद्धि में व्याकुलता रहती है। इसी से मनोनिग्रहमें कठिनाइयां आती हैं। इन लहरों को यौगिक परिभाषा में वृत्तियां कहते हैं। इन वृत्तियों के निरोध से ही योग का कार्य आरंभ होता है।

जो हाल एक मनुष्य के मन रूपी तालाव का है वही अन्य सभी मनुष्यों के मनरूपी तालावोंका है। और यह भी ध्यान रहे कि जो मानसिक मसाला हमारे मानसिक कोष में बह रहा है, वही मसाला बाहर के जगत् में भी बह रहा है +। उसका संबन्ध हम सभों के मानसिक मसाले से है। अतः सब मनुष्यों के विचार आपस में टकराते रहते हैं। यही कारण है, कि किसी क्रियाविशेष के प्रयोग से मनुष्य दूसरों के मानसिक विचारों को दूर देश से भी उनके बिना कहे ही जान सकता है, जिसको अंग्रेजी में (Thought-reading) कहते हैं ।

(२) जिस तरहसे लहरें जलाशय में अपना अस्तित्व रखती हैं। वहां अपना कार्य करती हैं, अर्थात् जल को गदला करती हैं। जलकी सतह पर स्थित वस्तुओं को वहां ले जाती हैं इत्यादि। इसी तरह से हमारे विचार भी अस्तित्व रखते हैं। हमारी वाणीपर, हमारे चेहरेपर, हमारे रक्तप्रवाह पर, हमारे मस्तिष्ककी ज्ञानतन्तुओं पर, हमारे पाचक शक्तिपर, किंबहुना हमारे सारे आचार, विचार, उच्चार, शील-स्वभावपर-सभी पर अपना प्रभाव डालते हैं।

(३) यही नहीं कि उनका प्रभाव हमारे तक

× लेखांक १ ‘ सङ्कल्प-महत्त्व ’ ‘ वैदिक धर्म ’ क्रमांक २२४, पृ० ६४९ पर देखिये ।

+ यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः । उभे अस्मिन् द्यावा-पृथिवी अन्तरेण समाहिते। उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ। विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्॥ (छां० ८।१।३) अर्थात् यत् ब्रह्माण्डे तत् पिंडे ॥

ही खतम हो जाता है। अपितु वह भी उनके प्रभाव से वच नहीं सकते, जो हमारे संग में रहने सहते हैं।

इन उपरोक्त तीनों नियमों का यह मतलब है, कि हमारे विचार न केवल हमारे स्वास्थ्य, हमारे आचार, विहार और शीलादि को ही बिगाड या संवार रहे हैं, अपितु सारे संसार में भी वह अपना प्रभाव डाल रहे हैं। आप जानते हैं, आरम्भ में धूम्रपान किसी एक आद्य मनुष्य ने ही शुरू किया होगा। उसने इस व्यसन के प्रचार के लिए कोई उपदेशक और प्रचारक भी नहीं रक्खे। कोई इश्तिहार भी नहीं निकाले। फिर भी यह व्यसन अनेक रूप में सारी दुनिया में ही फैल गया है। यही बात अन्य व्यसनों पर भी लागू है। आजकल का तो कहना ही क्या है, जब कि एक विचार मन में आते ही अखबारों, इश्तिहारें, और रेडियो द्वारा सारे संसार में फैल जाता है। अतः आजकल सारे जगत् के ही विचारमंडल में बडा कोलाहल मचा हुआ है।

फिर क्या यह कोलाहल सारे जगतपर अपना कुछ प्रभाव नहीं दिखावेगा? दिखावेगा और अवश्य दिखावेगा। हमारे शास्त्र तो कहते ही है, कि जब मनुष्यों के मलिन विचारों से जगतका विचार-मंडल विकृत हो जाता है, तो जगतमें अनेक प्रकारके उपद्रव, भूकम्प, बीमारी अकाल, लडाई आदि फैलकर मनुष्यों को पीडित करते हैं *। जिस तरहसे जल-वायू विकृत होने से देश में बीमारी फूट पडती है इसी तरह से मनोविकार से विकृत हुआ विचार-मण्डल भी उपद्रव उत्पन्न करता है।

शायद आजकल के लोग यह विश्वास न करें, कि हमारे विचारों का जगत के उपद्रवों के साथ भी कुछ सम्बन्ध हो सकता है। वे शायद शास्त्र वचनों पर भी कुछ श्रद्धा न करें, अतः उनके निश्चय कराने के लिये आधुनिक फिलासफर के वचन यहां उद्धृत करते हैं। महाशय जेम्स अलन (James Allen) अपनी पुस्तक (मेन अँड सिस्टमज्) Men & Systems में यह लिखते हैं।

"And not alone poverty, disease an[d] famine, but ever earth-quake, volcani[c] eruptions, floods and all such extern[al] happenings, would be found in thei[r] original cause, tobe intimately related t[o] man's moral life. That external accident[s] have a moral cause is plainly seen in th[e] case of violent persons bringing abo[ut] fatal accidents to themselves throug[h] their folly or recklessness.

"Man's body, both by chemical an[d] gravitational affinity, is a portion of th[e] Earth, as his mind, both spiritually an[d] ethically, is a portion of the mora[l] order of the Universe. His life, bein[g] interwoven with, and inseparable fro[m] the very nature and constitution o[f] things and being a moral entity an[d] therefore a reasonable agent, it i[s] within the domain of his power t[o] discover and work with the Divi[ne] Law, instead of striving again[st] it.

"All man's pains, afflictions, disaster[s] calamities are the shock resulti[ng] from running, either percipiently o[r] blindly against the Moral Law, as [a] reckless rider or blind man is hurt whe[n] he runs up against a wall.

And their sorrows are not th[e] arbitrary visitations and punishmen[ts] of an offended Deity, but are matters o[f] cause and effect, just as the pain o[f] burning is the effect of coming int[o] for close a contact of fire."

* देखो 'चरक-संहिता' विमानस्थान अध्याय ३, जनपदध्वंस वर्णनम्॥

अर्थात् " न केवल गरीबी (निर्धनता), बीमारी, दुर्भिक्ष, अपितु भूकम्प, ज्वालामुखी पहाडोंका फूट जाना, बाढ अर्थात् पानी के रौ, इत्यादि बाह्य उपद्रवों के कारण मनुष्य के आचार व्यवहार के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। यह बात कि बाह्य उपद्रव मनुष्य के आचरण के साथ सम्बन्ध रखते हैं, इस बात से स्पष्ट हो जाती है, कि बहुधा ऐसा देखा गया है कि क्रोधी या क्रूर पुरुष अपनी अन्धादुन्ध कारखाइयों से बहुत सी आपत्तियों को अपने ऊपर ले आते हैं।

मनुष्य का शरीर सृष्टिनियमों के अधीन है। यह प्राकृतिक पदार्थों अर्थात् पंचभूतों का बना हुआ है। पृथिवी की आकर्षणादि शक्तियों के अधीन है, अतः यह भी एक प्रकार पृथिवी का भाग या टुकडा है, जिस तरह से कि उसका मनोमय कोष जगत के ऋत और सत् नियमों के अधीन है। अतः मनुष्यका जीवन तथा अस्तित्व जगत् की प्रकृति और तत्त्वों से ऐसा मिला जुला है, कि यह उनसे पृथक् नहीं किया जा सकता। और चूंकि मनुष्य एक बुद्धि रखनेवाला जीव है। अतः यह उसका धर्म है, कि वह ईश्वरीय सृष्टिनियमों को समझे और उनके अनुकूल आचरण करे न कि ईश्वरीय नियमों को उल्लंघन करे। अतः जब वह किसी ईश्वरीय नियम के साथ टकराता है, तो जिस तरह किसी दीवार से टकरानेवाले अन्धे पुरुष को चोट आती है, इसी तरह उसकी भी ईश्वरीय नियम को तोडने से यह सब आपत्तियें आवेंगी ही।

बस यह आपत्तियें और उपद्रव किसी देवता विशेष के कोपादि से नहीं, बल्कि मनुष्य के अपने ही कर्मों का फल है। कार्य-कारण का सम्बन्ध सदा अटूट ही हैं। "

(४) हमारे विचारों या संकल्पों की लहरें न केवल उन्हीपर अपना प्रभाव डालती, जो हमारे संगत में आते हैं, अपितु दूरदेशस्थ मनष्यों, पशु-पक्षियों और मृत शरीरों के मनोमय कोषों पर भी प्रभाव उनका पडता है। हां, हम लहरों की फैलावट या वेग हमारे विचारों की व्यक्तता और तीव्रता पर निर्भर है। व्यक्त और तीव्र विचार की लहरें बहुत दूर तक मार करती हैं जब कि मध्यम विचार की लहरें थोडी दूर जाकर बलहीन हो जाती है। एक महात्मा एक पहाड की कन्दरा में बैठा हुआ अपने संकल्पमात्र से ही संसार भर में सुख और शान्ति की लहरें भेज सकता है। परन्तु उनको ग्रहण वही करेंगे जो अपने मन में पहिलेसे उन शुभ विचारों के अंकुर रखते होंगे। जिनके मन शुभ विचारों से शून्य है, वह उन लहरों से फायदा नहीं उठा सकते।

अब यह बात विचारने योग्य है, कि हम उपरोक्त विचार नियमों को ध्यान में रखते हुए हम अपने विचारों को किस तरह लाभदायक बनावें।

हमारे विचार प्रायः तीन प्रकार के होंगे-

(क) वह विचार जो विशेष रूप से किसी दूसरे मनुष्य या मनुष्यों की तरफ हमने उद्दिष्ट किये हुए हैं।

(ख) वह विचार जो केवल हमारे अपने ही सम्बन्ध में है।

(ग) वह विचार जो न किसी दूसरे की ओर ही उद्दिष्ट हैं और न हमारे अपनी सम्बन्ध में उठे हैं।

अब हम उनका क्रमशः विचार करते हैं- (क) जो विचार हमने दूसरों के सम्बन्ध में उठाए हैं, वह या तो रागात्मक होंगे या द्वेषात्मक। अर्थात् या तो हम प्रेम, मोह, आदि के वश होकर या शत्रुता, नफरत इत्यादि के वश होकर उन विचारों को हम अपने मन में उठा रहे हैं। यह तो हम पहिले कह ही चुके हैं कि विचार एक प्रकार की लहरें उत्पन्न करते हैं, जो अपना प्रभाव उन सब पर डालती हैं, जो उन लहरों के दायरे में आ जाते हैं। परन्तु वह विचार जो हमने किसी विशेष उद्देश से अपने मन में उठाया है, वह सीधा उस मनुष्य

के मनोमय कोष के पास पहुंचता है जिसके लिये वह उठाया था। और वहां जाकर वह उसके शारीरिक औरा (aura) [विचारसमूह की लहरें जो लगातार प्रत्येक मनुष्य के चारों तरफ निकलती रहती हैं, जो साधारण मनुष्यों में १८ से २४ इंच तक दूरी तक पहुंचती हैं। वह एक प्रकार का धुंधला बादल सा परन्तु प्रकाशमय वस्तु है, जो स्थूल शरीर को चारों तरफ से लेपटे हुए हैं। यह दृष्टिगोचर नहीं होता हो जिनकी दृष्टि विशेष रूपसे उन्नत हो गई है, उनको वह दिखाई देता है। इसके सम्बन्धमें आगे चलकर विचार करेंगे] के साथ मिल जाता है। अब यदि वह मनुष्य जिसके लिए वह उदिष्ट था, किसी कार्यविशेष में व्यग्र नहीं है या पहिले ही उसी किस्म के विचार अपने मन में उठा रहा है, तो यह आपके विचार की लहर झट उसके विचारमण्डल में संमिलित हो जायगी और उसके विचार को सुदृढ अथवा उद्वग्नि कर देगी। और यदि वह किसी काम में लगा हुआ है, तो यह लहर उचित समय का इन्तीजार करेगी। पर यह ध्यान रहे कि यह लहर अपना मुद्दा तभी पूरा करेगी जब कि उसको उस पुरुष के औरा में अपने अनुकूल मसाला मिल गया है, नहीं तो वह लौटकर उसी पुरुष के पास आ जायगी, जिसने कि उसे भेजा था।

जैसे आप एक गेंद को किसी मनुष्य की ओर फेंकते हैं। यदि वह उसको बोच नहीं लेता, बल्कि हाथ से या बल्लेसे रोक देता है, तो वह लौट आती है। कभी कभी वह बडे जोर से भी वापिस आती है जब कि उसको रोकने में उसने कुछ बल लगाया है। इसी से कहा है कि 'गाली जावन एक है उलटत हुए अनेक।'

अंग्रेजी में भी यही कहावत है, 'Curses come home to roost' बस इस से यह सिद्ध हुआ कि हमें कभी किसी के सम्बन्ध में बुरे द्वेषात्मक भाव अपने मन में नहीं उत्पन्न करने चाहिये। इन से अपनी ही हानि है। प्रथम तो द्वेषात्मक विचार उठाने से अपने ही मनोमय जलाशय गन्दा हुआ है, द्वितीय यदि दूसरा मनुष्य जिसके प्रति हमने द्वेषभाव उठाया है शांति धारण कर ले, तो हमारा विचार द्विगुण वेगसे लौटकर हमें ही दुःख दे है। यही कारण है कि द्वेषी का मन बडा मलीन बलहीन, क्षीण दशा को प्राप्त होता रहता है।

यदि हमारे विचार दूसरों के सम्बन्ध में प्रेम शुभ इच्छाओं, उदारभावों के होंगे, तो वह उस दूसरे पुरुष को भी जा कर सुख देंगे, उसके भीतर भी उस प्रकार के शुभ भावों को जागृत करेंगे और फिर भी आपके सम्बन्ध में शुभ विचार उठाकर आप शुभ विचारों को सुदृढ करेगा। अतः शुभ विचार सदा परस्पर को लाभदायी होते हैं।

अब यदि हम इस नियम को समझकर इसके अनुकूल अपने जीवन को बनावें, तो सैंकडो प्रकार के कष्ट और चिंताएं जो द्वेषमूलक हैं हमारे मन से दूर होकर मनको निर्मल कर देंगी। जिससे मनकी चंचलता दूर होकर मन शीघ्रही एकाग्र हो सकता है। हजरत ईसा मसीह ने एक बडी सचाई प्रकट की है, जब उन्होंने अपने शिष्यों को यह कहा 'कि जब तुम मन्दिर में प्रार्थना के लिए जावो, तो पहिले देखो कि तुम्हारे मन में किसी दूसरे के बारे द्वेषात्मक वैरभाव या नफरत के विचार तो नहीं यदि हैं तो जाओ लौट जाओ। पहिले उस मनुष्य से अपनी सलाह करो और फिर मन्दिर में जाओ। निस्सन्देह जब तक रागद्वेषात्मक विचार हमारे मन में कोलाहल मचा रहे हों, हमारा मन कैसे एकाग्र हो सकता है और कैसे हम ईश्वराधीन कर सकते हैं।

आजकल प्रायः यही हाल हो रहा है। मनुष्य मनुष्य में, मतमतांतर में, राष्ट्रराष्ट्र में, देशदेशांतर में द्वेष, घृणा, छल, कपट की ज्वाला जल रही है सब तरफ से हाहाकार की पुकार आ रही है, हजारों व्याख्यान, सैंकडो लिकचर, उपदेश, सरमन, मन्दिरों में, मसजिदों में, गुरुद्वारों में, गिरजाघरों में हो हैं, पर शान्ति का नाम नहीं। क्योंकि हमने इस ए सद्विनियम को समझा हुआ नहीं है। हम रो

संध्या-मन्त्रों में पढते हैं 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः' परन्तु कोई विरलाही इसके भाव को समझकर अपने मन को द्वेषाग्नि से साफ करता होगा। हम प्रतिदिन 'ओम् वाक् वाक्' इत्यादि मंत्रों को पढते हैं, परन्तु कभी भी इनको विचारते नहीं, इसी से हमारी आत्मिक उन्नति एक इंच भर भी नहीं होती।

पाठक महोदयो! इस एक नियम को अपने जीवन के प्रत्येक पहलू में लगाईए और देखिए कि हम जीवनपथ से कितने दूर पडे हैं। कहने को धार्मिक हैं, विद्वान् हैं, पंडित हैं, महात्मा हैं, परन्तु हा शोक! यदि हमारी विचारों के रंगरूप को देख कर हमारी परीक्षा की जावे तो, मैं सच कहता हूं, कि हमको स्वयं अपनेसे इतनी घृणा होगी, कि हम उस रूपमें अपने को देख भी नहीं सकेंगे। प्रभु, यह विचार हमारे सब पाठकोंके हृदय में आ जावे, ऐसी आप की कृपा हो।

(ख) दूसरे, वह विचार जो हम अपने ही सम्बन्ध में उठाते हैं। यह विचार चूंकि किसी दूसरे की ओर उद्दिष्ट नहीं हैं, अतः यह हमारे ही निकट घूमते रहते हैं। या तो यह अपनी किसम के अन्य विचारों को विचारमण्डल से खेंचते रहते हैं। या पुनः पुनः उसी किसम के विचारों को हमारे मनमें उठा उठाकर हमारा औरा को उसी रंगमें रंगते रहते हैं। अब यदि यह विचार कामातुरता के हैं, तो हमारे भी कामातुरताके भाव को दृढ कर रहे हैं। यदि स्वार्थता के हैं, तो हमारे भीतर स्वार्थता के भाव को बढा रहे हैं। यदि भय के हैं, तो हम को प्रतिक्षण भीरु बना रहे हैं। यदि निर्लज्जता के हैं, तो हमको कुछ दिनमें ऐसा निर्लज्ज बना देंगे, कि हम फिर अपने पिता, माता, भाई, गुरु आदि किसी की भी परवाह नहीं करेंगे। और यदि यह भाव प्रेम, उदारता, सेवा, श्रद्धा, धर्म इत्यादि शुभ गुणों के हैं, तो यह प्रतिक्षण हम को इन्हीं शुभ भावों में सुदृढ कर रहे हैं। बस समझ लो कि हमारे विचार प्रतिक्षण हमको या तो उन्नत कर रहे हैं या नीचता के गढे में ले जा रहे हैं। हम नीच विचारों को चित्त में रखते हुए, दिखाने के लिये कितने ही शुभ काम (जैसे दान देना, समाजमें या मन्दिरमें जाना, सन्ध्या, लम्बी लम्बी नमजे पढना, लेकचर देना, इत्यादि) करें, वह हमको एक इंच भी उन्नत नहीं कर सकते। उलटा दम्भ का एक और अवगुण हमारे भीतर संचार कर रहे हैं।

पापी पापसे बचाया जा सकता है, परन्तु दम्भी पापी को कौन बचावे, जो पाप को पाप जानता हुआ पाप पर प्रणय का मलम्मा चढाने की चेष्टा कर रहा है? याद रखो हम सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी ईश्वर को धोका नहीं दे सकते। प्रथम तो मनुष्य भी हमारे धोकेमें बहुत दिन नहीं आ सकते। परन्तु ईश्वर तो कभी आही नहीं सकता। सच पूछो तो हम धोका अपने आपको ही दे रहे हैं। अहो! क्या अच्छा हो यदि हमारे पाठकों में से एक भी इस अटल नियमको समझ कर अपना जीवन बनाना आरम्भ करे।

इस कार्य को करने के वास्ते केवल सावधानी की आवश्यकता है। प्रतिक्षण अपने मन का पहरा देते रहो। देखते रहो कि क्या क्या विचार इस मन में उठते हैं। यदि बुरे विचार उठ रहे हैं, चाहे वह कैसेही सुहावने क्यों न हों, उन को एकदम परे हटा दो। जिस तरह आप अपने भोजन पर से मक्खियां परे हटाते हो, जिस तरह अपने बालों परसे गर्द घट्टेको कंधे से दूर करते हो, जिस तरह अपने कपडों को मैल से साफ करते हो, जिस तरह अपने मुख चेहरे को साबुन से साफ करते रहते हो, इस से भी कहीं जरूरत इस बात की है कि हम अशुभ विचारों से अपने मन को साफ रक्खें। यह हम पहिले ही लेख में कह चुके हैं, कि विचार ही हमारा भविष्य बनाते हैं।

"शीशए दिल की यही है सूरत, कि न आने पाए इस में जरा कदूरत कि बैठ जाएगी बिल जरूरत, इस आइने में यह जंग होकर॥" बस यह सिद्ध हुआ कि हम को अपने मन की ऐसी ही पहरादारी करनी होगी, जैसे हम अपने द्रव्यकोषकी करते हैं, अपितु इस से भी अधिक यह पहरादारी किस प्रकार करनी चाहिये, इस पर तो पूरा विचार आगे चलकर करेंगे। परन्तु यहां इतना कह देना उचित है कि इस नटखट मन की यही पहरादारी सर्वोत्तम है, कि

इस को एक क्षण भी खाली न छोडो। नहीं तो यह अपनी ऐसी रचना रचनी शुरू कर देगा, कि उसके जाल से निकलना आप के लिये दुस्तर हो जावेगा। जब कोई काम न हो तो कोई खेल ही खेलो। कोई अच्छी पुस्तक पढो। किसी अच्छे प्राकृतिक दृश्य को देखने लग जाओ। कुछ लिखना शुरू कर दो और कुछ भी न हो सके तो रस्सियां ही वाटने लग जाओ। चरखा कातो, या कोई अन्य घरका धन्धा करना शुरू कर दो। परन्तु मनको खाली मत छोडो। खाली मत शैतान की हाट बन जाता है। और जब कोई अशुभ विचार बाहर से या भीतर से मनपर आक्रमण करना चाहे, तो उस को झिडक कर धिक्कार दो। एक दो बार ऐसा करने से वह नहीं आवेगा, जिस तरह एक कुत्ता धिक्कारनेसे डरता है, ऐसे ही यह विचाररूपी कुत्ते भी धिक्कारने से डरते हैं। बात असल में यह है कि ऐसा करने से हम अपनी सात्त्विकी बुद्धि जो मन के काबू गई हुई है, शनैः शनैः ज़गाते हैं। और जब सात्त्विकी बुद्धि जग गई फिर वह आप ही मन को काबू कर लिया करेगी। आप फिर बेफिकर हो जावेंगे।

(ग) अब हम उन विचारों पर ध्यान देते हैं, जो न तो किसी दूसरे के उद्देश्य से उठे हैं और न अपने ही सम्बन्ध में हैं। ऐसे विचार न तो किसी दूसरे के पास जाते हैं, न विचार उठानेवाले के ही निकट रहते हैं, परन्तु योंहि वायुमण्डलमें घूमते रहते हैं। यदि उनको अपने अनुकूल कोई विचार मिल गया या तो वह उस से मिल जाते हैं, या किसी मनोमय कोष में जो उनके अनुकूल लहरें रखना हो। स्थित हो जाते हैं। नहीं तो कुछ समयके पीछे छिन्नाभ्र की भांति नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं। इस तरह के बहुत से विचार साधारण मनुष्य उठाता रहता है। परन्तु यह हमें ध्यान रहे कि चाहे सीधे तौर पर ऐसे विचार हमारी कोई हानि या लाभ नहीं करते, परन्तु यदि वह किसी सरल स्वभाव मनुष्य के हृदय में घुस जावें और उस को प्रभावित करें तो उसके हानि या लाभ की जिम्मेवारी हमारे पर भी आ जाती है। बस इस से यह सिद्ध हुआ, कि ऐसे विचार भी हमारे अशुभ नहीं होने चाहिये।

इस नियम को समझ जानेसे हमारी गप्पगोष्टी छूट जावेगी। बहुधा ऐसा देखा है, कि शाम के समय कई यार दोस्त मिलकर चरचा छेड देते हैं। फलाना ऐसा है। फलाना अच्छा है। फलाना स्वार्थी है इत्यादि। यह गप्पगोष्टी भी बडी हानिकारक है। प्रथम तो समय का नाश है। जीवन-समय बहुमूल्य वस्तु है। यह थैलीके रुपयों अपितु अशरफियों से भी बहुमूल्य बात है। एक मिनट के सत्प्रयोग से मनुष्य चांडाल से ऋषि बन सकता है। और उस के दुरुपयोग से ऋषि भी राक्षस बन गए हैं। पुराणों में ऐसे अनेक इतिहास भरे पडे हैं। आप लोग रोज उनको सुनते ही रहते हैं, पर शोक है कि कभी उस पर ध्यान से विचार नहीं किया।

दूसरी हानि यह है कि यदि हम वहां गप्पगोष्टी में किसी मनुष्य के सम्बन्ध में कोई रिमार्क दे रहे हैं, तो हम एक बडी जिम्मेवारी को भुला रहे हैं। भला हमारा क्या अधिकार है कि हम किसी के आचरण पर आक्षेप करें। क्या हमने उस के व्यवहारका ठीक तौरपर समझ लिया है? क्या हमने उसके अन्दर का हृदय देखा लिया है? यदि नहीं, तो फिर हमारा क्या अधिकार है, कि हम उस में हस्ताक्षेप करें। याद रखो ऐसा करनेसे हम उसकी बडी हानि कर रहे हैं और अपनी भी। उसकी हानि यह है, कि यदि वह दुर्गुण जो हम उस में आरोपण कर रहे हैं, उस में हैं नहीं, तो हम उसको बदनाम करके उसको कष्ट दे रहे हैं और अपने पापके भार को बढा रहे हैं। और यदि वह दुर्गुण उसमें है भी, तो हम उस की विचारवृत्ति (Thought-form) बनाकर उस के दुर्गुण को और भी बढा रहे हैं। बस बडे सावधान रहो कभी इस वृथा निन्दास्तुति में शामिल न हो। गप्प वानी से सदा दूर रहो। समय का सदुपयोग करो। यदि चार आदमी मिलकर बैठना चाहते हैं, तो अच्छे विचारों का आन्दोलन करो। उत्साहपूर्ण, दयार्द्र, भावशाली, स्वार्थत्याग, सेवाभावुक, प्रेमवर्धक भावों और विचारोंपर बातचीत छेडो। यदि ऐसा किसी गोष्टी में नहीं हो रहा

है, तो तुरंत उसको छोडकर बाहर जंगलमें मनन करते हुए सैर करने चले जाओ। ऐसी गोष्टियों को प्लेग और हैजेके कीटाणुओं से भी बढकर हानिकारक समझो।

अब यदि इस नियम कोही मनुष्य समझ कर इस पर आचरण करे, तो बहुतसे झगडे, लडाइयां, मुकदमे बाजियां इन जो गप्पगोष्टियों से उत्पन्न होती हैं, नष्टप्राय हो जावेंगी। मन को कितनी स्थिरता, एकाग्रता, निश्चलता प्राप्त हो जावेगी। बहुत से भाई पृच्छा करते हैं कि मन को किस तरह एकाग्र करें। उन से मेरी यही विनय है कि पहिले वह इन मानसिक नियमों को पूरे तौर पर समझें, तो फिर उन को मन की एकाग्रता के नियम स्वयं ही समझ में आ जावेंगे।

धर्म और देशप्रेम

(लेखक- श्री० रघुनाथप्रसाद पाठक)

प्रायः ईसाई आचारशास्त्री धर्म और देशभक्ति में संगति बिठाते समय बहुत परेशान रहते हैं। धर्म, प्रेम, सत्य, न्याय, सहानुभूति, आत्मसमर्पण और प्राणीमात्र से प्रेम और उनके कल्याण की श्रेष्ठ भावनाओं और आचरण की शिक्षा देता है। देशप्रेम जो वस्तुतः एक पवित्र गुण है, बहुत निकृष्ट अर्थों में व्यवहृत होने लग गया है। साधारणतया लोग देशप्रेम को घृणा, युद्ध और प्रत्येक प्रकार के अत्याचार और हिंसा का प्रतिपादक समझने लग गये हैं। ऐसी अवस्था में देशप्रेम और धर्म में विरोध का दीख पडना स्वाभाविक है। यही कारण है लोग देशप्रेम का अर्थ "युद्ध" मानने लग गये हैं और युद्धविरोधी लोग देशप्रेमविषयक इस प्रकार की परिभाषाओं का समर्थन करने लग गये हैं कि 'देशप्रेम धूर्तों का आश्रयस्थान है" (Patriotism is the last refuge of a scoundrel; परन्तु क्या वस्तुतः देश-प्रेम धर्म-विरोधी है ?

देश-प्रेम विश्व-प्रेम का दूसरा रूप है। इसका वास्तविक रूप मानवता का प्रसार तथा उसका संरक्षण करना, सब को समान रूप से जीने तथा हर प्रकार की लौकिक और पारलौकिक उन्नति कर देना, संसार के प्राणीमात्र का कल्याण सम्पादन करने की सुविधा प्रदान करना तथा समाजमें सुख और शान्ति का वातावरण स्थापित करना है। दूसरे शब्दों में इसे ही हम धर्म का स्वरूप कह सकते हैं। देश-प्रेम का अर्थ यह नहीं है, कि मनुष्य देश-प्रेम के वशीभूत हो मानवता के नाते उचित और अनुचित का विचार किए बगैर आचरण करे और अपने देश से भिन्न देशों से घृणा करे, तथा पापाचार से समाज की सुखशान्ति और समृद्धि का विनाश करे। देश-प्रेम का जो रूप ऊपर रक्खा गया है, वस्तुतः वह धार्मिक ही है और देश-प्रेम और धर्म में कोई विरोध नहीं है। इस का अर्थ यह नहीं है कि देश-प्रेम के इस विशाल दृष्टिकोण को दृष्टि में रखकर मनुष्य अपने देश को या उसके प्रति अपने कर्तव्यों को भूल जाय या उन की उपेक्षा करे। मनुष्य को अपने देश की सेवा जो कुछ बन पडे, अवश्य करनी चाहिए, परन्तु मानवता के विशाल भाव से उसकी रक्षा करते हुए और इस इच्छा के साथ कि देश अपनी जो सर्वश्रेष्ठ वस्तु मानवसमाज को अर्पण कर सकता है, अवश्य करे। तथा अपने देश, समाज की सुखशान्ति और अभिवृद्धि में श्रेष्ठ योग देवे।

श्रीयुत लुइस-यल-मैन (Mr. Louis L. Mann) ने पिछले दिनों 'यूनिटी' (Unity) नामक सुप्रसिद्ध अङ्ग्रेजी पत्र में इस विषय पर अच्छा विचार किया था। उन्हों ने सिद्ध किया था कि देश-प्रेम धर्मविरोधी नहीं है। वरन् धर्म का ही दूसरा रूप है। उनके लेख में कुछ आवश्यक अंश इस प्रकार है। —

"There is the patriotism that is true and the patriotism that is false. The latter embrace Chauvinism, Jingoism, Deocaturism, by which is meant- "My country right or wrong- " imperialism and nationalism conceived not as a means but as an end. Our generation has been wrongly conditifoned upon the subject of Patriotism. We are totally blind to its peaceful implications, whenever the word is uttered it at once calls up the picture of war in our mind; as if peace did not have her victories no less renowned than war! As if peace did not have need of patriotism as demanding and exacting as that of war.

As if those great souls who struggle to abolish poverty, to alleviate disease, to reduce crime, to elimina te ignorance, to free schools from the control of politics, who fight against graff and corruption and dishonesty in government, to say notihng of the 'microbe-hunters' and the 'Death-fighters and the Red Cross and the Salvation army who struggle to redeem the victims of misfortune from their lowly estate are not patriotic. Patriotism must not be defined as a love for one's country in terms of a willingness to die for one's country. It must be efined as a love for one's country- to live for one's countrymen."

ये अर्थात् देश-प्रेमके दो रूप हैं। एक सच्चा और दूसरा झूठा। सच्चा देश-प्रेम धर्म की अवज्ञा नहीं करता। दूसरा अर्थात् झूठा देश-प्रेम सैनिक-वाद, और युद्धवाद को स्वीकार करता है। जिस का अर्थ- 'मेरा देश सही हो या गलत-साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता (Nationalism) है। हमारी वर्तमान सन्तति का देश-भक्ति के गलत रूप पर निर्माण हुआ है। हम देश-भक्तिके शान्त, गूढ भावों के प्रति नितान्त अन्धे हैं। देश-भक्ति शब्द का नाम लेते ही मस्तिष्क में 'युद्ध' का चित्र आ जाता है। मानो शान्ति संसार से कूच कर गई है। मानो शान्ति का देश-प्रेम पर कोई अधिकार नहीं है। सब कुछ अधिकार 'युद्ध' का ही है। मानो संसार के वे महान् व्यक्ति देश-प्रेमी नहीं है। जो निर्धनता के विनाश, महामारियोंके उन्मूलन, अपराधोंके निराकरण और अज्ञान के निवारण के लिए जद्दोजहद कर रहे हैं। जो राजनीति के पाश से स्कूलों को बेईमानी, धूर्तता, मक्कारी, शोषण, दोहन और लूटखसोट से शासनों को मुक्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। दार्शनिकों, धर्मजीवियों और जनोपकारक संस्थाओं की तो गणना ही क्या जो दुःखी और पीडित समाज के कष्टों के निवारण के उपाय कर रहे हैं वा बतला रहे हैं। देश के लिए मरने की इच्छा के रूप में देश-भक्ति की परिभाषा नहीं होनी चाहिए। वरन् इस की परिभाषा देशवासियों के लिए जीने की इच्छा के प्रकाश के रूपमें होनी चाहिए, जिससे देश-विशेष समस्त मानवसमाजके कल्याण-सम्पादनमें जो योग दे सके देवे। इस प्रकारके देश-प्रेम और धर्म में कोई विरोध होगा वरन् वह स्वयं धर्मकाही दूसरा रूप होगा।

इन विचारों से कौन समझदार व्यक्ति होगा, जो सहमत न होगा। इस में संसार भर को कुटुम्ब समझने की वैदिक शिक्षा की स्पष्ट झलक है।

वस्तुतः जबतक समाज का इस प्रकार की वैदिक शिक्षाओं पर पुनर्निर्माण नहीं होता, तबतक इस प्रकार की गलत फहमियां दूर न होंगी और न उस का अभीष्ट कल्याण ही सिद्ध होगा। हर्ष है वह समय तेजा के साथ आ रहा है, जब संसार वैदिक शिक्षाओं की ओर घूमेगा और अपना कल्याण सम्पादन करेगा।

षष्ठ नियम ।

(२)×

(लेखक- पंडित मदनमोहन विद्याधर, विझगापट्टम)

विशेष राजा और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपानादि दुष्ट कामों में न फंसे और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त गुणकर्मस्वभावों में सदा वर्त्त के अच्छे अच्छे काम किया करें ।
(स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २४२)

(युद्ध में अशक्त जनों का संहार न करते हुए) ...उनको पकड के जो अच्छे हों, बंदीगृह में रख दे और भोजन, आच्छादन यथावत देवे और जो घायल हुए हों उनकी औषधादि विधिपूर्वक करे। न उनको चिडावे, न दुःख देवे। जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इसपर ध्यान रक्खे कि स्त्री, बालक, वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनके लडकेवालों को अपने सन्तानवत् पाले और स्त्रियों को भी पाले। उनकी अपनी बहिन और कन्या के समान समझे, कभी विषयासक्ति की दृष्टि से भी न देखें। जब राज्य अच्छी प्रकार जम जाय और जिस में पुनः पुनः युद्ध करने की शङ्का न हो, उनको सत्कारपूर्वक छोडकर अपने अपने घर वा देश को भेज देवे और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना सम्भव हो, उनको कारागृह में रक्खे।... जो कोई युद्ध में मर गया हो, उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे, उसकी स्त्री तथा असमर्थ लडकों का यथावत् पालन करे ।
(स. प्र. षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २५४, २५५)

(राजा) अपने मन से एक भी काम न करे, कि जबतक सभासदों की अनुमति न हो।
(स० प्र० षष्ठ स. मु० द० ग्र० प्रथम भाग पृ० २६१)

जो धार्मिक राज्य हो, उससे विरोध कभी न करे, किन्तु उससे सदा मेल रक्खे और जो दुष्ट प्रबल हो, उसी के जीतनेके लिए...प्रयोग करना उचित है।
(स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भा० पृ० २६४)

(शत्रु को) जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे, तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञाके अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके अनुसार चल के न्याय से प्रजा का पालन करना होगा, ऐसा उपदेश करे और ऐसे पुरुष उनके पास रक्खे, जिससे पुनः उपद्रव न हो और जो हार जाय, उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो. जो उस को बन्दीगृह करे, तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रक्खे, जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे। क्योंकि संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति और देना प्रीति का कारण है और विशेष करके समय पर उचित क्रिया करना और उस पराजित के मनोवांछित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है और कभी उसको चिडावे नहीं, न हंसी और ठट्ठा करे, न उसके सामने हमने तुझ को पराजित किया है, ऐसा भी कहे, किन्तु आप आप हमारे भाई हैं, इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करे।
(स० प्र० षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भा० पृ २६८)

(प्रश्न) जो राजा व राणी अथवा न्यायाधीश वा उस की स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे, तो उसको कौन दण्ड देवे?

× इसका प्रथम लेख वैदिक धर्म के अक्तूबर मासके अंकमें पृ० ७८७ पर है।

(उत्तर) सभा अर्थात् उनको तो प्रजापुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिए ।... राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है, जब उसी को दण्ड न दिया जाय और वह दण्ड ग्रहण न करे, तो दूसरे मनुष्य दण्ड क्यों कर मानेंगे ? और जब सब प्रजा और प्रधान राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहें, तो अकेला राजा क्या कर सकता है, जो ऐसी व्यवस्था न हो तो राजा, प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूबकर न्यायधर्म को डुबा के सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जाएं ।

(स. प्र. षष्ठ समु० द० ग्र० प्रथम भा० पृ० २८० २८१)

... तीन प्रकार की सभा को ही राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं । वे तीनों ये हैं, प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिए एक आर्यराजसभा कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य ही सिद्ध किए जावें । दूसरी आर्यविद्यासभा कि जिससे सब प्रकार कि विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी आर्यधर्मसभा कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे ।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५३१)

हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिए और हम लोग आपके पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर आपके राज्य को सत्य-न्याय से सुशोभित करें ।

हे परमेश्वर ! आप ही सब संसार के अधिराज और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक, आप ही सदा नित्य स्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य, ऐश्वर्य के देनेवाले आपही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय करानेवाले हैं । हे जगदीश्वर ! आपका राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले, इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्यप्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उसकी आज्ञापालन करते हैं, उनको वह आशीर्वाद देता है कि मेरे रचे हुए भूगोलका राज्य तुम्हारे आधीन है । (ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५४०)

अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है ।

(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५४४)

जैसे पूर्ण वर्णाश्रमव्यवस्था में लिख आए हैं, वैसे ही गुण, कर्म, स्वभावसे वर्णव्यवस्था माननी अवश्य है । इनमें मनुष्यकृत् तत्व उनके गुण, कर्म, स्वभावसे पूर्वोक्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करनी राजा और विद्वानोंका काम है ।

(स० प्र० ११ समु० ग्र० भा० द० ग्र० पृ० ५२६)

आदिसृष्टि में ... एक मनुष्यजाति थी ।... पश्चात् श्रेष्ठों का नाम आर्य विद्वान्, देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू, मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुए । आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चार भेद हुए । द्विज विद्वानों का नाम आर्य और मूर्खों का नाम शूद्र और अनार्य अर्थात् अनाडी नाम हुआ । (३४१)

...आर्य नाम धार्मिक विद्वान् आप्त पुरुषोंका और इन से विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है । तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, द्विजों का नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य अर्थात् अनाडी है ।

(स प्र. अष्टम समु. प्र. भा. द. ग्र. पृ. ३४२)

प्रथम मनुष्यजाति सब की एक है । ... मनुष्य-जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्ण कहाते हैं । वेदरीतिसे इन के दो भेद हैं, उन एक आर्य और दूसरा दस्यु । ... ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुणकर्मों से किये गये हैं । इनका नाम वर्ण इसलिये है कि जैसे जिसके गुणकर्म हों, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिये । ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मणवर्ग होता है । परमैश्वर्य बल वीर्य के होने से मनुष्य क्षत्रिय-वर्ण होता है । ...

[ऋग्वेदादि. द. ग्र. द्वितीय भा. पृ० ५५२, ५५३]

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रय कहाते हैं। इन में से पांच व आठ वर्ष की ऊमर से अडतालीस वर्ष पर्यंत ब्रह्मचर्याश्रम का समय है। वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम, जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नतिसे सन्तानों की उत्पत्ति और उन को सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ, जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा संन्यास, जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है। इन मेंसे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है, उस के ठीक ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगडने से नष्ट हो जाते हैं। ...
(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भा० पृ० ५५४, ५५५)

जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य परमेश्वर के नियम में स्थित हो के सब लोकों का प्रकाश करनेवाला हुआ है, वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य से प्रकाशित होके सब को प्रकाशित कर देता है। इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है।
(ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भा० पृ० ५५८)

...शीघ्रही (ब्रह्मचारी) विद्या को ग्रहण करके पूर्व-समुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है, उसके पार उत्तर के उत्तर समुद्रस्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है। (ऋ० द० ग्र० द्वितीय भा० पृ० ५५७)

गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह सम्पूर्ण विद्या पढ चुके तब अपने तुल्य स्त्रीसे स्वयंवर करे। गृहस्थ स्त्रीपुरुषों को धर्म, उन्नति और ग्रामवासियोंके हित के लिये जो जो काम करना है, तथा वनवासियों के साथ हित और सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिए जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए, जो जो सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें। पाप करने की वुद्धि को हम लोग मन, वचन और कर्म से छोडकर सर्वथा सबके हितकारी वनें।... जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक ठीक चलना है, यही गृहस्थ की परम उन्नतिका कारण है।... किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें। क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सब के हितकारी काम करते हैं, उनकी सदा उन्नति होती है। (ऋग्वेदादि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५६०, ५६१)

सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढने में व्यतीत करना चाहिए और पूर्ण विद्या को पढकर उससे संसार की उन्नति करने के लिए गृहाश्रम भी अवश्य करें, तथा विद्या और संसार के उपकार के लिए एकांत में बैठकर सब जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है, उसका ज्ञान अच्छी प्रकार करें और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें, फिर उनके सब संदेहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय करानेके लिए संन्यासाश्रम भी अवश्य ग्रहण करें। (ऋग्वेद दि द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० ५६६)

जिस पुरुष व स्त्री को विद्या, धर्म, वृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो, वह विवाह न करे। ... विद्या पढने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिए ब्रह्मचर्य, सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ, विचारध्यान और विज्ञान बढाने, तपश्चर्या करनेके लिए वानप्रस्थ और वेदादि सत्य शास्त्रों का प्रचार, धर्मव्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सबको निःसन्देह करने आदिके लिए संन्यासाश्रम है। परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते, वे पतित और नरकगामी हैं। इससे सन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश, शङ्कासमाधान, वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।... जो स्वयं धर्ममें चल कर सब संसार को चलाते हैं जिससे आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्तमान जन्म में

परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं, वे ही धर्मात्मा जनसंन्यासी और महात्मा हैं।'

(स० प्र० ५ म० समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० २३७,२७८)

संन्याससंस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण पक्षपात छोड के विरक्त होके सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे।

(स० वि० द० ग्र० द्वितीय भाग पृ० २२१)

संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें और उस की आज्ञा अर्थात् पक्षपातरहित न्यायधर्म में स्थित होकर सत्योपदेश, सत्यविद्याके प्रचारसे सब मनुष्योंको सुख पहुंचता रहे। चाहे निन्दा चाहे प्रसंशा; चाहे मान, चाहे अपमान; चाहे जीना, चाहे मृत्यु; चाहे हानि, चाहे लाभ हो; चाहे कोई प्रीति करे चाहे कोई वैर बान्धे; चाहे अन्न, पान, वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत, उष्ण कितना ही क्यों न हो, सब का सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करते रहे। ... परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे। ... जिस जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, वहिन, मित्र, पडौसी, नौकर बडे और छोटोंमें विरोध दूर कर प्रेम बढे, उस उसका उपदेश करे।

विद्वानों और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव तथा विद्यायोगाभ्याससत्संग और सत्यभाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ और विद्वानों की मूर्तियों से भिन्न पाषाणादि मूर्तियों को न माने न मनवावे। वैसे ही गृहस्थों को मातापिता, आचार्य अतिथि स्त्री के लिए विवाहित पुरुष और पुरुष के लिए विवाहित स्त्री की मूर्ति से भिन्न किसी की मूर्ति को पूज्य न समझावे। ... आप शुभ गुणकर्म स्वभावयुक्त होकर सबको इसी प्रकार के करने में प्रयत्न किया करे।...इस प्रकार कर्म करता हुआ स्वयं आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खे।

(स. वि. द. ग्र. द्वितीय भाग- पृ. २४७, २४८)

रजवीर्य के योग से ब्राह्मणशरीर नहीं होता, किंतु ...पढने पढाने... विचार करने, नानाविधके होमके अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध स्वरोच्चारणसहित पढने पढाने, पौर्णमासी इष्टि आदि के करने विधिपूर्वक धर्म से सन्तानोत्पत्ति, पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ बलिवैश्य देवयज्ञ और अतिथियज्ञ, अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का संग, सत्कार, सत्यभाषण परोपकारादि सत्य कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ के दुष्टाचार छोड श्रेष्ठाचार में वर्तने से यह शरीर ब्राह्मण का किया जाता है। ... किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे! क्या जिस का पिता अन्धा हो, उस का पुत्र भी अपनी आंखों को फोड लेवे! जिसका पिता कुकर्मी हो, क्या उसका पुत्र भि कुकर्म ही करे! नहीं नहीं किन्तु जो जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों, उन का सेवन और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सब को अत्यावश्यक है।

जो कोई रजवीर्य के योग से वर्णव्यवस्था माने और गुणकर्मों के योग से न माने, तो उस से पूछना चाहिये, कि जो कोई अपने वर्ण को छोड नीच अन्त्यज अथवा क्रश्चीन मुसलमान हो गया हो, उस को भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड दिये, इसलिये वह ब्राह्मण नहीं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं, वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुणकर्मस्वभाव वाला होवे, तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे तो उस को नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्रथम. भा. पृ. १७९, १८०)

जैसा मुख सब अंगों में श्रेष्ठ है, वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण, कर्म, स्वभावसे युक्त होने से मनुष्य जाति में उत्तम ब्राह्मण कहाता है। ... जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुणकर्मस्वभाववाला हो, तो वह शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाय, वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय

और वैश्यकुलमें उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण, कर्म, स्वभाव शूद्र के सदृश हों, तो वह शूद्र हो जाय, वैसे क्षत्रिय व वैश्य के कुलमें उत्पन्न होके ब्राह्मण, ब्राह्मणी वा शूद्र के समान होनेसे ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस जिस वर्ण के सदृश जो जो पुरुष वा स्त्री हों, वह वह उसी वर्णमें गिनी जावे ॥

अधर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम उत्तम वर्णों को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे, कि जिस जिसके योग्य होवे।

वैसे अधर्माचरणसे पूर्व पूर्व अर्थात् उत्तम उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचेवाले वर्णोंको प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे। जैसे पुरुष जिस जिस वर्ण के योग्य होता है, वैसे ही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिये। ... इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने अपने गुणकर्मस्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं, अर्थात् ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं, अर्थात् वर्ण-संकरता प्राप्त न होगी। ... यह गुणकर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये। ...

ब्राह्मण के पढना पढाना, यज्ञ करना कराना, दान लेना देना, ये छः कर्म हैं; परन्तु (प्रतिग्रह) लेना नीच कर्म है।...

न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड के श्रेष्ठोंका सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना सब प्रकार से सबका पालन (दान) विद्याधर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना व कराना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढना और पढवाना, विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रह के सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना (क्षत्रिय)।

गाय आदि पशुओं का पालन, वर्धन करना (दान) विद्याधर्म की वृद्धि करने कराने के लिये धनादि का व्यय करना, अग्निहोत्रादि यज्ञ करना, वेदादि शास्त्रों का पढना, सब प्रकार के व्यापार करना, (व्याज लेना तथा देना) खेती करना, ये वैश्य के गुणकर्म हैं।

शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों के छोड के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन करना, यही एक शूद्र का गुणकर्म है।

जिस जिस पुरुष में जिस जिस वर्ण के गुणकर्म हों, उस उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे, तो शूद्र हो जायेंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चालचलन और विद्यायुक्त न होंगे, तो शूद्र होना पडेगा। और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिये उत्साह बढेगा। विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना, क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि व विघ्न नहीं होता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है, क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिये है, कि वह विद्यारहित मूर्ख होने से विज्ञानसम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता। इस प्रकार वर्णों को अपने अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि का काम है।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्र. भा. पृ. १८१-१८२)

...वर्णव्यवस्था गुणकर्मों के अनुसार होनी चाहिये, जन्ममात्र से नहीं। जो पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारी, जितेन्द्रिय, मिथ्या भाषणादि दोषरहित, विद्या और धर्मप्रचार में तत्पर रहे, इत्यादि उत्तम गुण जिस में हो, वह क्षत्रिय, क्षत्रिया। और विद्वान् होके कृषि, पशुपालन व्यापार देशभाषाओं में चतुरत्वादि गुण जिस में हो, वह वैश्य, वैश्या। और जो विद्याहीन, मूर्ख हो वह शूद्र, शूद्रा कहावे।

धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और उस वर्ण में जो जो कर्तव्य अधिकाररूप कर्म हैं, वे सब गुणकर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें। वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम उत्तम वर्ण नीचे नीचे के वर्ण को प्राप्त होवे और वेही उस उस वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें। उत्तम गुणकर्मस्वभाव से जो शूद्र है, वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण और वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण; तथा क्षत्रिय, ब्राह्मणवर्णके अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है, वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है, वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र; और क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र; तथा वैश्य, शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते और उत्तम बनने में प्रयत्न करते और उत्तम वर्णभय से कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊं, इसलिये बुरे कर्म छोड उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं, इससे संसार की बडी उन्नति है।"

(सं. वि, द. ग्र. द्वितीय भाग पृ. ११८, ११९)

[वैश्यों के कर्म ब्रह्मचर्यादि से वेदादि विद्या] पढ (विवाह करके) देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापार की रीति, उनके भाव जानना, बेचना, खरीदना, द्वीपद्वीपान्तरमें आना जाना, लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशु-पालन और खेती की उन्नति चतुराई से करनी करानी, धन का बढाना, विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना, सत्यवादी, निष्कपटी होकर सत्यतासे सब व्यवहार करना सब वस्तुओं की रक्षा ऐसी करनी, जिससे कोई नष्ट न होने पावे। शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाकविद्या में निपुण, अतिप्रेम से द्विजों की सेवा और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे और द्विजलोग उसके खान-पान, वस्त्र, स्थान, विवाहादिमें जो कुछ व्यय हो, सब कुछ देवें। अथवा मासिक कर देवें। चारों वर्णों को परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख, दुःख, हानि, लाभ में एकमत्य रह कर राज्य और प्रजा की उन्नति में तनमनधन का व्यय करते रहना।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्र. आ. पृ. २०८, २०९)

(एक) निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढावें। (दो) पूर्ण विद्या पढें। (३) अग्निहोत्रादि यज्ञ करें। (४) यज्ञ करावें। (५) विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रोंको दान देवें। (६) न्यायसे धनोपार्जन करनेवाले गृहस्थोंसे दान लेवे भी। इनमें से तीन कर्म पढना, यज्ञ करना, दान देना धर्म में। और तीन कर्म पढाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका है। परन्तु जो दान लेना है, वह नीच कर्म है। किन्तु पढाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है। (शमः) मन को अधर्म में न जाने दे, किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने दे। (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे, दूर रख के धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे (तपः) ब्रह्मचर्य, विद्या, योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीतउष्ण, निन्दास्तुति, क्षुधातृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना (शौचम्) रागद्वेष मोहादि से मन और आत्मा को तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना (क्षान्तिः) क्षमा अर्थात् कोई निन्दा, स्तुति आदि से सतावे, तो भी उन पर कृपालु रह कर क्रोधादि का न करना। (आर्जवम्) निरभिमान रहना, दम्भ स्वात्मश्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र, सरल, शुद्ध, पवित्र भाव रखना (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ के विचार कर उनके शब्दार्थसम्बन्धों को यथावत् जानकर पढाने का पूर्ण सामर्थ्य करना। (विज्ञानम्) पृथ्वी से लेके परमेश्वरपर्यंत पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् कर के यथावत् उपकारग्रहण करना कराना। (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक पर-जन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना। ये नव कर्म और गुणधर्म में समझना। सब से उत्तम गुणकर्मस्वभाव को धारण करना। वे गुणकर्म जिन व्यक्तियों में हों, वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी हों। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुणकर्म

स्वभावों को मिला ही के करें। मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मणवर्ण का अधिकार होवे।

दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) सांगोपांग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढना। (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना। (दानम्) सुपात्रों को विद्या, सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना। (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वथा यथावत् पालन करना, यह धर्म क्षत्रियों के धर्मके लक्षणों में और शस्त्रविद्या का पढाना न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है। (विषयेव प्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त होके सदा जितेंद्रिय रहना, लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना। (शौर्यम्) शस्त्रसंग्राम, मृत्यु और शस्त्रप्रहारादि से न डरना। (तेजः) प्रगल्भ उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना।

(धृतिः) चाहे कितनी आपत्, विपत्, क्लेश, दुःख प्राप्त हों, तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना (दाक्ष्यम्) संग्राम, वाग् युद्ध, दूतत्व, विचारादि सब में अति चतुरबुद्धिमान् होना। (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबराकर शत्रु के वश में कभी न होना। (दानम्) ... (ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सब के ऊपर दया करके, पितृवत् वर्तमान, पक्षपात छोडकर, धर्माधर्म करनेवालों का यथायोग्य सुखदुःखरूप फल देता और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सब का अन्तर्यामी होकर सबके अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्तकर गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा व राजपुरुषों के अच्छेबुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना, रातदिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना और सब प्रकार से अपने शरीर को रोगरहित, बलिष्ठ, दृढ, तेजस्वी, दीर्घायु रख के आत्मा को न्यायधर्म में चलाकर कृतकृत्य करना आदि गुणकर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो, वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे। इन का भी इन्हीं गुणकर्मों के मेल से विवाह करना। और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढावे, वैसे ही राजा पुरुषों और राणी स्त्रियों की न्याय तथा उन्नति सदा किया करे। जो क्षत्रिय राजा न हों, वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें।

(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढना। (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना। (दानम्) अन्नादि का दान देना; ये तीन धर्म के लक्षण और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना, उनसे दुग्धादि का बेचना। (वणिकपथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना (कुसीदम्) व्याज का लेना (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्नादि की रक्षा, खाद और भूमि की परीक्षा, जोतना बोना आदि व्यवहार का जानना ये चार कर्म वैश्य की जीविका। ये गुणकर्म जिस व्यक्ति में हों, वह वैश्य वैश्या। और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिए।

(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिसको पढने से भी विधान आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिए (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (अनुसूयया) निन्दा से रहित, प्रीति से सेवा करना, (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है। ये मूर्खत्वादि गुण और सेवादि कर्म जिस व्यक्तिमें हों, वह शूद्र और शूद्रा है। इन्ही की परीक्षा से इनका विवाह और इनको अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिए। इन गुणकर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें, तो उस कुलदेश और मनुष्यसम्प्रदाय की बडी उन्नति होवे और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुणकर्मस्वभाव हों, तो अति विशेष है।

(सं० वि० द० ग० द्वितीय भाग पृ० १९९-२०३)

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है, वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्यापढ पूर्ण जवान हो परस्पर परीक्षा करके, जिससे जिसकी विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो, उसी से उसका विवाह होना अत्युत्तम है। जो कोई युवावस्था में विवाह न कराके बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वरकन्या का विवाह करावेंगें, वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादुःखसागर में क्यों कर न डूबेंगे।...(प्रश्न) विवाह अपने अपने वर्ण में होना चाहिये वा अन्य वर्ण में भी? (उत्तर) अपने अपने वर्ण में, परन्तु वर्णव्यवस्था गुणकर्मानुसार होनी चाहिए, जन्म-मात्र से नहीं।... इसी क्रमसे विवाह होना चाहिये, अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या, और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द होता है, अन्यथा नहीं।

(सं. वि. द. ग्र. द्वितीय भाग पृ० ११७, ११८)

विवाहवर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था भी गुणकर्मस्वभाव के अनुसार होनी चाहिये।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्रथम भाग पृ. १६८)

यह गुणकर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मणवर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रियवर्ण का क्षत्रिया, वैश्यवर्ण का वैश्या और शूद्रवर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिये तभी अपने अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी।

स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्रथम भाग पृ. १८२)

सोलहवें वर्ष से लेके चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेके अडतालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाहसमय उत्तम है। इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे, तो निकृष्ट, अठारह बीस की स्त्री तीस पैंतीस वा चालीस के पुरुष का मध्यम, चौबील वर्ष की स्त्री और अडतालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है। जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य, विद्याभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य, विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगडने से बिगाड हो जाता है।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्रथम भाग पृ. १७२, १७३)

(प्रश्न) विवाह करना मातापिता के आधीन होना चाहिये वा लडकालडकी के आधीन रहे! (उत्तर) लडकालडकी के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो मातापिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लडकालडकी की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिये। क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, मातापिता का नहीं।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्रथम भाग पृ. १७५)

जैसी स्वयंवर की रीति आर्यावर्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है। जब स्त्रीपुरुष विवाह करना चाहें; तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीरका परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये, जब तक इनका मेल नहीं होता, तबतक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता। (स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्र. भा. पृ. १७६)

जब तक इसी प्रकार सब ऋषिमुनि, राजामहाराजा आर्यलोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ ही के स्वयंवर विवाह करते थे, तबतक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् मातापिता के आधीन विवाह होने लगा, तबसे क्रमशः आर्यावर्त देशकी हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड को सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवरविवाह किया करें। (स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्र. भा. पृ. १७८)

इसलिये यही निश्चय रखना चाहिये कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिये, क्योंकि युवावस्था में स्त्रीपुरुष का एकान्त-वास दूषणकारक है। परन्तु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो, अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्याश्रय और विद्या पूरी होने में शेष रहें, तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिविम्ब अर्थात् जिसको फोटोग्राफ कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओंकी अध्यापिकाओं के कुमारों की, कुमारों के अध्यापकोंके पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें। जिस जिस का रूप मिल जाय, उस उस के इतिहास अर्थात् जो जन्म से लेके उस दिन पर्यंत जन्मचरित्र का पुस्तक हो, उनको अध्यापक लोग मंगवा के देखें। जब दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव सदृश हों तब जिस जिस के साथ जिस जिस का विवाह होना योग्य समझें, उस उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें, कि इस में जो तुम्हारा अभिप्राय हो, सो हमको विदित कर देना।

जब इन दोनों का निश्चय परस्परविवाह करने का हो जाय, तब उन दोनों का समावर्तन एक ही समय में होवे। जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें, तो वहां, नहीं तो कन्याके माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों, तब उन अध्यापकों वा कन्याओं के मातापिता आदि महापुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ करना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी सभा में लिखके एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें। जब दोनों का दृढ प्रेम विवाह करने में हो जाय तब से उनके खानपान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए।

(स० प्र० चतुर्थ समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० १८६-१८७)

गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं, बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। जिस से ब्रह्मचारी, दानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि दे के प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है। ... इसलिए जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। ... जितना कछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहाश्रम है। ... परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है, जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर-प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवरविवाह है।

(स० प्र० चतुर्थ समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० २२१,२२२)

जो कन्या माता के कुल की छः पीढियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है।... दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र व माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो, उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिए। निकट और दूर विवाह करने में गुण ये हैं।

(१) एक- जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं, परस्पर क्रीडा, लडाई और प्रेम करते, एक दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव, बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते और जो नङ्गे भी एक दूसरे को देखते हैं, उनका परस्परविवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

(२) दूसरा- जैसे पानी में पानी मिलाने से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे एक गोत्र, पितृ व मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदलबदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती।

(३) तीसरा- जैसे दूध में मिश्री वा शुण्ठ्यादि औषधियों के योग होने से उत्तमता होती है, वैसे ही भिन्न गोत्र, मातृपितृकुल से पृथक् वर्तमान स्त्री-पुरुषों का विवाह होना उत्तम है।

(४) चौथा- जैसे एक देश में रोगी हो, वह दूसरे देश में वायु और खानपान के बदलने से रोग-हित होता है, वैसे ही दूर देशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है।

(५) पांचवें- निकट सम्बन्ध करने में एक दूसरे के निकट होने में सुखदुःख का मान और विरोध

होना भी सम्भव है, दूर देशस्थों में नहीं।

(६) छठे- दूर दूर देशके वर्तमान और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होनेमें सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होनेमें नहीं। कन्या का नाम दुहिता इस कारण से है, कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है, निकट में रहने में नहीं।

(७) सातवें- कन्याके पितृकुल में दारिद्र्य होने का भी सम्भव है, क्योंकि जब जब कन्या पितृकुल में आवेगी, तब तब इसको कुछ न कुछ देना ही होगा।

(८) आठवां-कोई निकट होनेसे एक दूसरे को अपने अपने पितृकुल के सहाय का घमण्ड और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा, तब स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जावेगी, एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी, क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है। इत्यादि कारणों से पिताके एक गोत्र, माता की छः पीढी और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं।

(स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र. प्र. भा पृ. १७०,१७१)

(प्रश्न)- स्त्री और पुरुष का बहुविवाह होने-योग्य है वा नहीं? (उत्तर) युगपत् न अर्थात् एक समय में नहीं। (स. प्र. चतुर्थ समु. द. ग्र प्र. भा. पृ. २०९)

जब विद्या, हस्तक्रिया, ब्रह्मचर्यव्रत भी पूरा होवे, तभी गृहाश्रम की इच्छा स्त्री और पुरुष करें। विवाह के स्थान दो हैं। एक आचार्य का घर, दूसरा अपना घर। दोनों ठिकानोंमें से किसी एक ठिकाने आगे... सब विधि करे।

(स. वि. द. ग्र. द्वि. भा पृ. १०३)

विवाह उसको कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत विद्याबलको प्राप्त तथा सब प्रकारसे शुभ गुण- कर्म-स्वभावोंमें तुल्य परस्पर प्रीतियुक्त हो के...सन्तानोत्पत्ति और अपने अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है। (स. वि. द. ग्र. द्वि. भा. पृ. १०९)

जितना सामर्थ्य २५ (पच्चीसवें) वर्ष में पुरुष के शरीरमें होता है, उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीर १६ (सोलह) वर्ष में हो जाता है। यदि शीघ्र विवाह करना चाहे, तो २५ (पचीस) वर्ष पुरुष और १६ (सोलह) वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्यवाले होते हैं। ...इस अवस्था में जो विवाह करना, वह अधम विवाह है, जो १७ (सत्रह) वर्ष की स्त्री और ३० (तीस) वर्ष का पुरुष, १८ (अठारह) वर्ष की स्त्री और ३६ (छत्तीस) वर्ष पुरुष विवाह करे, तो इसको मध्यम समय जानो और जो २० (बीस), २१ (इक्कीस), २२ (बाईस) वा २४ (चौबीस) वर्ष की स्त्री ४० (चालीस), ४२ (बयालीस), ४६ (छयालीस) और ४८ (अडतालीस) वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे, वह सर्वोत्तम है ...जो मनुष्य अपने सन्तान कुलसम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें, वे इन...बातों का यथावत् आचरण करें॥ (स. वि. द. ग्र. द्वि. भा पृ. ९

वधू और वर की आयु कुल, वास्तव्यस्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा करे, अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करनेवाले हों। स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्योढी और अधिक से अधिक दूनी होवे। (स. वि. द. ग्र. २ य पृ. ११०)

यथावत् उत्तम रीतिसे ब्रह्मचर्य और विद्या ग्रहण कर गुरु की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री से विवाह करे। (स. वि. द. ग्र. द्वितीय भा पृ. ११२)

(प्रश्न) "अष्टवर्षा भवेद् गारी नववर्षा रोहिणी" इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी? (उत्तर) इन श्लोकों और उनके माननेवालों की दुर्गति। अर्थात् जो इन श्लोकों की रीतिसे बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर करा, उनको नष्ट, भ्रष्ट, रोगी, अल्पायु करते हैं, वे अपने कुल का जानों सत्यानाश कर रहे हैं। इसलिये यदि शीघ्र विवाह करें, तो वेदारम्भ में लिखे हुए १६ (सोलह) वर्ष से न्यून कन्या और (पच्चीस) २५ वर्षसे न्यून

पुरुष का विवाह कभी न करें करावें। इसके आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे, उतना ही उनको अधिक आनन्द होगा। (स. वि. द. ग्र. द्वितीय भा. पृ. ११४)

जितना दूर देश में विवाह होगा, उतना ही उनको अधिक लाभ होगा। (प्रश्न)- अपने गोत्र व भाईबहिनों का परस्परविवाह क्यों नहीं होता? (उत्तर)- एक दोष यह है कि इनके विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती, क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है, उतनी प्रत्यक्ष में नहीं। और बाल्यावस्था के गुणदोष भी विदित रहते हैं। तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। दूसर जबतक दूरस्थ एक दूसरे कुलके साथ संबंध नहीं होता तबतक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। तीसरा दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति, उन्नति, ऐश्वर्य बढता है, निकट से नहीं।

(स. वि. द. ग्र. द्वितीय भा. पृ. ११५)

आर्यावर्त देश में जब तक ऐसी वर्णव्यवस्था (अर्थात्) पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण उत्तमता से स्वयंवरविवाह होता था तभी देशकी उन्नति थी, अब भी ऐसा ही होना चाहिए, जिससे आर्यावर्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे।

(स. वि. द. ग्र. द्वितीय भा. पृ. ११९)

पूर्ण युवावस्था यथावत् ब्रह्मचर्य का पालन और विद्याभ्यास करके अर्थात् न्यून से न्यून १६ (सोलह) वर्ष की कन्या और २५ (पच्चीस) वर्ष का पुरुष अवश्य हो और इससे अधिक वयवाले होनेसे अधिक उत्तमता होती है।...

(स. वि. द. ग्र. द्वितीय भा. पृ. २७)

... यदि शीघ्र विवाह करना चाहें, तो कन्या १६ (सोलह) वर्ष की और पुरुष २५ (पच्चीस) वर्ष का अवश्य होना चाहिये। मध्यम समय कन्या का २० (बीस) वर्ष पर्यंत और पुरुष का ४० (चालीस) वर्ष और उत्तम समय कन्या का (चौबीस) वर्ष और पुरुष का अडतालीस वर्ष पर्यन्त का है। जो अपने कुलकी उत्तमता उत्तम सन्तान दीर्घायु सुशील बुद्धि, बल पराक्रमयुक्त विद्वान् और श्रीमान् करना चाहें, वे १६ (सोलह) वर्षसे पूर्व कन्या और २५ (पचीस) वर्ष से पूर्व पुत्र का विवाह कभी न करें। यही सब सुधार का सुधार, सब सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों की उन्नति करनेवाला कर्म है कि इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रखके अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिससे उत्तम सन्तान होवें। (सं० वि० द० ग्र० द्वितीय भा० पृ० २९)

बडी बडी बिरादरियों के अन्दर बहुत सी फिकी बन्दियों के कारण बिरादरियों के सम्बन्ध में खर्च बहुत बढता जाता है। चाहे कोई मरे, चाहे किसी का विवाह हो।... ऐसा खर्च किस काम आवेगा? एक का मरना और मूष्टण्डों का पेट भरना। मरे हुए पुरुष के सम्बन्धी पुत्रादिकों को कर्ज में डुबाना इससे बढकर दीवानापन और क्या हो सकता है? (उपदेशमंजरी, पृ० १३५, आर्यपुस्तकालय, बरेली, द्वारा सन् १९२१ में छठी वार मुद्रित)

विवाह में परस्पर स्त्रीपुरुषों की यह प्रतिज्ञा होती है, कि दोनों के मन, चित्त आदि एक होंगे और वे कभी एक दूसरे के विरुद्ध कोई काम न करेंगे। बचपन में विवाह होने से भला लडका लडकी इन बातों को क्या जान सकते हैं?

(उपदेशमंजरी, पृ० १३९)

अब अभाग्योदयसे और आर्यों के आलस्यप्रमाद परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है।... दुर्दिन जब आता है तब देशवासिओं को अनेक प्रकार के दुःख भोगना पडता है। कोई कितना ही करे, जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतांतर के आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजा पर पितामाता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न भिन्न भाषा,

पृथक् पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।

(स० प्र० अष्टम समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ३४४)

इसलिए जो उन्नति करना चाहो तो 'आर्यसमाज' के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिए, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा। क्योंकि हम और आपको अति उचित जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तनमनधन से सब जने मिलकर प्रीतिसे करें। इसलिए जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता। यदि इस समाज को यथावत् सहायता देवें, तो बहुत अच्छी बात है, क्योंकि समाज का सौभाग्य बढाना समुदाय का काम है, एक का नहीं। (स० प्र० ११ समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ५३१, ५३२)

उस समय सर्व भूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसीमें सब की निष्ठा की और एक दूसरे का सुख-दुःख, हानिलाभ आपस में अपने समान समझते थे, तभी भूगोल में सुख था। अब तो बहुत से मतवाले होने से बहुत सा दुःख और विरोध बढ गया है, इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सब के मन में सत्यमत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्यामत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों, इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोधभाव छोडके आनन्द को बढावें।

(स० प्र० १० समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ३९७)

... भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश का अन्न जल खाया, पिया, अब भी खातेपीते हैं और अपने मातापिता, पितामहादि के मार्ग को छोड दूसरे विदेशी मतोंपर अधिक झुक जाता, इंग्लिश भाषा पढ के पण्डिताभिमानी होना... स्थिर और बुद्धिकारक काम क्यों हो सकता है?

(स० प्र० ११ समु० द० ग्र० प्र० भा० पृ० ५२७)

इन्होंने [ब्रह्मसमाजी तथा प्रार्थनासमाजी] समझा होगा कि खानेपीने और जातिभेद तोडने हम और हमारा देश सुधर जावेगा। परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहां उलटा बिगाड होता (प्रश्न) देखो यूरोपियन लोग मुण्डे जूते, कोट पतलून पहिरते, होटल में सब के हाथ का खाते इसीलिये अपनी बढती करते जाते हैं? (उत्तर) तुम्हारी भूल है, क्योंकि मुसलमान, अन्त्यज सब के हाथ का खाते हैं, पुनः उनकी उन्नति नहीं होती? जो युरोपियनों में बाल्यावस्थामें विवाह न करना, लडकालडकी को सुशिक्षा करना कराना स्वयंवर विवाह होना बुरे बुरे आदमियों का उपदेश नहीं होता, वे विद्वान् होकर जिस किसी के पाखण्ड में नहीं फसते, जो कुछ करते हैं वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित करके करते हैं, अपनी स्वजाति की उन्नतिके लिये तन-मन-धन व्यय करते हैं, आलस्य को छोड उद्योग किया करते हैं। देखो

अपने देश के बने हुए जूते को आफिस और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं इतने ही में समझ लेओ कि अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान तथा प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते। देखो! सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज तक यह लोग मोटे कपडे आदि पहिरते हैं, जैसा कि स्वदेशमें पहिरते थे, परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोडा और तुममेंसे बहुत से लोगों ने उनकी नकल कर ली, इसीसे तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं।...जा जिस काम पर रहता है, उसको यथोचित करता है। आज्ञानुवर्ती बराबर रहते हैं। अपने देशवालों को व्यापार आदि में सहाय देते हैं, इत्यादि गुणों और अच्छे अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है। जो कुछ करना, वह सोच विचार कर करना चाहिये, जिसमें पुनः पश्चात्ताप न करना पडे। देखो! वैद्य और औषध की आवश्यकता रोगीके लिये है, निरोगी के लिये नहीं। विद्यावान् निरोग और विद्यारहित अविद्यारोगसे ग्रस्त रहता है। उस रोग

छुडाने के लिये सत्यविद्या और सत्योपदेश है। उनको अविद्या से यह रोग है कि खानेपीने ही में धर्म रहता है और जाता है । जब किसी को खाने में पीने में अनाचार करता देखते हैं, तब कहते और जानते हैं कि वह धर्मभ्रष्ट हो गया।। उसकी बात न सुनते और न उसके पास बैठते, न उसको अपने पास बैठने देते।...परमार्थ तो तभी होता जब तुम्हारी विद्या से उनको लाभ पहुंचता।

[स.प्र. ११ समु द. ग्र. प्र. भा. पृ.५६७-५२८]

सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्तना उचित है। मनुष्यजन्म का होना सत्यासत्यके निर्णय करने कराने के लिये है, नकि वादविवाद, विरोध करने कराने के लिये । इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब तक इस मनुष्यजाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड, सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना कराना चाहें, तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सब को विरोध-जाल में फंसा रक्खा है । यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फंसकर सब के प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें, तो अभी ऐक्य मत हो जायें ।...सर्व शक्तिमान् परमात्मा एकमत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करे।

[स.प्र. एकदश समु. द.ग्र प्र.भा. पृ. ४००]

...हमारे लिये चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य धनको ...सुख से प्राप्त कर अर्थात् आपकी करुणा से हमारा राज्य और धन सदा वृद्धि को प्राप्त हो।

[आर्याभि० विनय पृ.२८]

हे रुद्र भगवन्! आपकी आज्ञा का प्रणय अर्थात् उत्तम न्याययुक्त नीतियों में प्रवृत्त हो के वीरों के चक्रवर्ती राज्य को आपके अनुग्रह प्राप्त हों।

[अर्याभि विनय पृ. २२]

दिव्य गुणों के सह वर्तमान हमारे हृदय में आप प्रकट हो, सब जगत् में भी प्रकाशित हों, जिससे हम-और हमारा राज्य दिव्यगुणयुक्त हो, वह राज्य आपका ही है, हम तो केवल आपके पुत्र तथा भृत्य, वान् हैं ।

[आर्याभि० विनय पृ. ५]

हे कृपानिधे! हमको विद्या, शौर्य, धैर्य, बल, पराक्रम चातुर्य, विविध धन, ऐश्वय, विनय, साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति, स्वदेशसुखसम्पादनादि गुणोंमें सब नरदेह-धारियों से अधिक उत्तम करो, तथा सबसे अधिक आनन्द, भाग, सब देशों में अव्याहत गमन (इच्छानुकूल जाना आना), आरोग्य, देहशुद्ध मानस बल और विज्ञान इत्यादि के लिये हमको उत्तमता और पालनायुक्त करो, विद्यादि उत्तमोत्तम धन, विद्वानों के बीच में प्राप्त करो, अर्थात् विद्वानों के मध्य में भी उत्तम प्रतिष्ठायुक्त सदैव हमको रक्खे ॥

(आर्याभिवि० पृ. ११-१२)

हे सहनशीलेश्वर! आप और हम लोग परस्पर प्रसन्नता से रक्षक हों,... आपके अनुग्रह से हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान् रक्षक, सहायक, परम पुरुषार्थी हों, एक दूसरे का दुःख न देख सकें, स्वदेशस्थादि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर प्रीतिमान् पाखण्डरहित करें... हम लोग परस्पर हित से आनन्द भोगें... आपकी कृपादृष्टि से हम लोगों का पठनपाठन परम विद्यायुक्त हो तथा संसार में सब से अधिक प्रकाशित हों और अन्योन्यप्रति से परम वीर्य पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हम में सब नीतिमान् सज्जन पुरुष हों... हम लोग नाना पाखण्ड, असत्य, वेदविरुद्ध मतों को शीघ्र छोडके एक सत्यसनातन मतस्थ हों, जिस से समस्त वैरभाव के मूल जो पाखण्डमत वे सब सद्यः प्रलय को प्राप्त हों।

हे जगदीश्वर! आपके सामर्थ्य से हम लोगों में परस्पर विद्वेष अर्थात् अप्रीति न रहे, जिससे हम लोग कभी परस्पर विद्वेष न करें, किन्तु सब तन, मन, धन, विद्या इनको परस्पर सब के सुखोपकारमें परम

प्रीति से लगावें- हे भगवन् ! तीन प्रकार के सन्ताप जगत् में हैं। एक आध्यात्मिक (शारीरिक) जो ज्वरादि पीडा होने से होता है, दूसरा आधिभौतिक जो शत्रु सर्प- व्याघ्र- चौरादिकों से होता है और तीसरा आधिदैविक जो मन, इन्द्रिय, अग्नि, वायु, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिशीत, अत्युष्ण इत्यादिसे होता है। हे कृपासागर ! आप इन तीनों तापों की शीघ्र निवृत्ति करें, जिस से हम लोग अत्यानन्द में और आपकी अखण्ड उपासना में सदा रहें। ... हे जगन्मङ्गलमय ! सब दुःखों से मुझ को छुडा के सब सुखों को प्राप्त कर। हे प्रजापते ! मुझ को अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्व, गवादि, उत्तम पशु, सर्वोत्कृष्ट विद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य जो स्थिर परमसुख कारक उसको शीघ्र प्राप्त करा।

[आर्याभिवि० पृ. ३७, ३८]

जब तक जीवें तब तक सदा चक्रवर्ती राज्यादि भोग से सुखी रहें और मरणानन्तर भी हम सुखी ही रहें। [आर्याभिवि० पृ. ४८]

वैदिक ज्ञान का स्वरूप- यज्ञ।

(लेखक- स्व० वा० पं० रघुनन्दन शर्माजी।)

हमने दिखलाया है कि आदि नैमित्तिक ज्ञान प्रावेशिक होता है और उसमें पारलौकिक ज्ञान विशेष तथा लौकिक ज्ञान साधारण होता है। पारलौकिक ज्ञान परमात्मा की प्राप्ति तक जाता है और लौकिक ज्ञान संसार के समस्त कार्यों को करके पारलौकिक सिद्धि में मदद देने तक पहुँचता है। इतने ज्ञान से मनुष्य की बुद्धि विकसित हो जाती है और वह बहुत दूर तक ज्ञान-विज्ञान में उन्नति कर लेता है। परमात्मा के ज्ञान लेने पर— प्राप्त कर लेने पर-तो उसे कुछ ज्ञातव्य ही नहीं रहता। हर एक विषय हस्तामलक हो जाता है।

अतः हम यहाँ वेदों के समस्त ज्ञानभंडारका थोड़ा सा नमूना दिखलाना चाहते हैं। वेदों का समस्त ज्ञानभंडार अकेले एक ' यज्ञ ' ही में चरितार्थ है। वेद में जो कुछ कहा गया है, वह यज्ञ के ही लिए है। वैदिक ज्ञान यज्ञों में ही ओतप्रोत है। इसलिए हम यहाँ थोड़ासा यज्ञ विषय का वर्णन करते हैं और देखते हैं कि उसका स्वरूप आदि ज्ञान के स्वरूप से मिलता है या नहीं।

यज्ञ शब्द ' यज् ' धातु से बनता है। यज् धातु का अर्थ देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान है। अपने से जो बड़े हैं, वे देवसमान हैं। उनकी पूजा करना यज्ञ है। बराबरवालों के साथ संगति करना और छोटों को कुछ देना भी यज्ञ ही है। यह छोटाई बड़ाई केवल मनुष्योंमें ही न समझनी चाहिये, प्रत्युत संसार का चाहे जो पदार्थ हो, चाहे जो शक्ति हो और चाहे जो गुण हो, यदि वह बड़ा है तो पूजनीय है, यदि बराबरवाला है तो मिलने के योग्य है और यदि छोटा है तो कुछ पाने का अधिकारी है। जिस प्रकार उक्त तीनों व्यक्ति हम से पूजा, सङ्गति और दान पाने के अधिकारी हैं, उसी तरह हम भी दूसरों के द्वारा योग्यतानुसार पूजा, मेल और दान पाने के अधिकारी हैं। इस प्रकार से समस्त जड और चेतन जगत् को परस्पर एक दूसरे से लाभ पहुँचाना ही यज्ञ है। ऐसे महान् यज्ञ को शतपथब्राह्मण १-७-४५ में ' यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म ' अर्थात् यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि जितने श्रेष्ठतम कर्म हैं, सब यज्ञ ही हैं। इन यज्ञों के तीन विभाग हैं— कर्मयज्ञ, ज्ञान-यज्ञ और उपासनायज्ञ। षोडश संस्कार (विवाह, सन्तान), शिक्षा, आहार, वस्त्र, गृह, समाज, राज्य, कृषि, पशुपालन, संगीत, गणित, भूगोल, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन, इमारत, यन्त्र, शस्त्र, वाहन और युद्धविद्या आदि पदार्थ और विद्याएँ कर्मयज्ञ से सम्बन्ध रखती हैं। ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, कर्मफल, सृष्टि, प्रलय, वर्ण, आश्रम और स्वाध्याय आदि ज्ञानयज्ञ से सम्बध रखते हैं। और सदाचार, दया, प्रेम, दर्शन, भक्ति, वैराग्य, योग और समाधि आदि क्रियाएँ उपासनायज्ञ से सम्बन्ध रखती हैं। इन्हीं तीनों प्रकार के यज्ञों में वेद का लौकिक और पारलौकिक ज्ञान चरितार्थ होता है। अतः यहाँ हम पहिले कर्मयज्ञ का वर्णन करते हैं।

कर्मयज्ञ।

इस यज्ञ को आर्यों ने बड़ी ही उन्नत दशा तक पहुँचाया था। इसके स्थूल और सूक्ष्म विज्ञानों को देखकर हमारी यह बात बहुत अच्छी तरह पुष्ट हो जाती है कि वैदिक ज्ञान से मनुष्य काल्पनिक ज्ञान की बहुत बड़ी उन्नति कर सकता है। ऋषियों ने वैदिक ज्ञान के द्वारा यज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाले उच्च से उच्च भौतिक विज्ञान में अपनी गति कर ली थी। यद्यपि ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में इन यज्ञों के अनेकों प्रकार बहुत विस्तार से वर्णित हैं, परन्तु बीज रूप से अथर्ववेद ११-७ में कुछ यज्ञों का वर्णन इस प्रकार है—

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥ ७ ॥
अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सहः ॥ ८ ॥
अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः ॥ ९ ॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः ॥ १९ ॥
(अथर्व० ११।७)

इन मन्त्रों में राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अश्वमेध, अग्निहोत्र, अग्न्याधान और चातुर्मास्य का वर्णन आता है । इस वेद का गोपथब्राह्मण इन यज्ञों का जो क्रम बतलाता है, उस क्रम में अग्न्याधान, पूर्णाहुति, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण (नवसस्येष्टि), चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, दक्षिणावाले, बहुत दक्षिणावाले और असंख्य दक्षिणावाले यज्ञों का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि जो इन यज्ञकर्मों को जानता है, वह यज्ञों के साथ एक आत्मा होकर और एक निवास होकर दिव्य गुणोंको पाता है ॐ । इन यज्ञों का विवरण इस प्रकार है-

अग्न्याधान।

अग्नीन् आधाय पूर्णाहुत्या यजेत् ।
(गोप० ५।५।८)

अर्थात् पूर्ण आहुति पर्यन्त अग्न्याधान करे । यह अग्न्याधान है।

अग्निहोत्र।

अग्नये एव सायं सूर्याय प्रातः एव ह वै अग्निहोत्रं जुहोति । (शतपथ २।२।४।१७)

अर्थात् अग्नि के लिए सन्ध्यासमय और सूर्य के लिए प्रातःकाल जो हवन किया जाता है, वह अग्निहोत्र है।

दर्शपूर्णमास।

सुवर्गाय हि वै लोकाय दर्शपूर्णमासौ इज्येते।
(तैत्ति० सं० २।२।५)

अर्थात् अमावस्या और पूर्णिमा के दिन के हवन को दर्शपूर्णमास कहते हैं।

चातुर्मास्य।

फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुनी पौर्णमासी।
(गोप० ३।१।११)

अर्थात् फाल्गुणी पूर्णमासी, आषाढ़ी पौर्णमासी और कार्तिकी पौर्णमासी को जो यज्ञ किये जाते हैं, वे चातुर्मास्य कहलाते हैं।

आग्रहायण वा नवसस्येष्टि ।

उत्तरायण दक्षिणायन के आरंभमें जो यज्ञ होते हैं, वे आग्रहायण या नवसस्येष्टि कहलाते हैं।

अग्निष्टोम।

एष वै ज्येष्ठो यज्ञानां यदग्निष्टोमः, (तस्मात् उह वसन्ते वसन्ते) ज्योतिष्टोमेन एव अग्निष्टोमेन यजेत्।(ताण्ड्य ब्रा० ६।३।८; शत० १०।१।२।९)

अर्थात् जो प्रति वर्ष वसन्तमें वार्षिक यज्ञ होता है, उसे अग्निष्टोम कहते हैं। इस के अग्निष्टोम, उक्थ, वाजपेय, अतिरात्र आदि अनेक प्रकार हैं। यह उपर्युक्त सब यज्ञों में श्रेष्ठ कहलाता है ।

पितृयज्ञ।

अथ यत् प्रजां इच्छते यत् पितृभ्यो निपृणाति।
(श० ६।७।३।७)

अर्थात् जो पुत्र चाहता है और जो पितरों को तृप्त करता है। पुत्रार्थी को पितृयज्ञ आवश्यक है। यही पुत्रकामेष्टि है।

पञ्च महायज्ञ।

पञ्च वै एते महायज्ञाः सततिप्रतायन्ते।
(तैत्ति० आ० २।१०)

अर्थात् ये पञ्च महायज्ञ हैं, जो सदा आरंभ किए जाते हैं।

राजसूय और अश्वमेध यज्ञ।

राज्ञः एव सूयं कर्म। राजा वै रायसूयेन इष्ट्वा भवति। (शतपथ १३।२।२।१)

ॐ अथातो यज्ञक्रमाः। अग्न्याधेयमग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेरग्निहोत्रमग्निहोत्रात्, दर्शपूर्णमासौ दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रहायणमाग्रहायणाच्चातुर्मास्यानि चातुर्मास्येभ्यः पशुबन्धः पशुबन्धादग्निष्टोमः अग्निष्टोमाद्राजसूयो राजसूयाद्वाजपेयः वाजपेयादश्वमेधः अश्वमेधात्पुरुषमेधः पुरुषमेधात् सर्वमेधः सर्वमेधाद्दक्षिणावन्तो दक्षिणावद्भ्योऽदक्षिणा अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्ठंस्ते वा एते यज्ञक्रमाः स य एवमेतान् यज्ञक्रमान् वेद यज्ञेन स आत्मा सलोको भूत्वा देवानप्येतीति ब्राह्मणम्। (गोप० ब्रा० १।५।७)

अर्थात् राजसूय से ही राजा होता है। यह राजगद्दी के समय का यज्ञ है।

राजा वै एष यज्ञानां यद् अश्वमेधः।
(१३।२।२।१)

सर्वाः वै देवताः अश्वमेधे अन्वयत्ताः तस्माद् अश्वमेधयाजी सर्वदिशो अभिजयन्ति।
(शत० १३।१।२।९।३)

अर्थात् सब देवता अश्वमेध में आते हैं। अश्वमेध करनेवाला सब दिशाओं का जीतनेवाला होता है।

श्रीर्वैराष्ट्रं। राष्ट्रं वै अश्वमेधः।
तस्माद्राष्ट्री अश्वमेधेन यजेत्।

ऐश्वर्य ही राज्य है। राष्ट्र ही अश्वमेध है, इसलिए सम्राट् अश्वमेध करे। इसे अश्वमेध यज्ञ कहते हैं।

गोमेध यज्ञ।

पृथिवी का उर्वरा बनाना, नई भूमि तय्यार करना और नये नये टापू तलाश करना, इस यज्ञ का प्रधान कार्य है। इसे गोमेध यज्ञ कहते हैं।

सारांशरूप से यज्ञों का यही क्रम और प्रकार है। इस सारांश में बतला दिया गया है कि किस यज्ञ के बाद कौनसा यज्ञ करना चाहिये और कितने यज्ञ विशेष रूप से महत्त्ववाले हैं। अतः हम चाहते हैं कि इन यज्ञों से निष्पन्न होनेवाले फलों के नाम से जो आधुनिक ग्रन्थों में नाम दिए गए हैं, उन नामों के साथ कुछ यज्ञों की उपयोगिता का वर्णन भी कर दें, जिससे विषय स्पष्ट हो जाय। क्योंकि वैदिक आर्यों का वह सनातन विश्वास है कि यज्ञों से आरोग्यता, सन्तति, वर्षा का नियन्त्रण, राज्य, विद्या, सेवा और परमात्मा की प्राप्ति होती है। इन सिद्धियों के प्राप्त हो जाने पर मनुष्यजीवन में फिर कोई ऐसी काम्य वस्तु शेष नहीं रह जाती, जिसके लिए वह लालायित होता रहे। इनके द्वारा लोक परलोक के सभी सुख प्राप्त हो जाते हैं। इन यज्ञों का खुलासा विवरण इस प्रकार है—

आरोग्यता।

आरोग्यता दो प्रकार की है। एक व्यक्ति की, दूसरी समाज की। जुकाम, बुखार, दस्त और शरीरपीड़ा आदि मौसमी, तथा चेचक हैज़ा, प्लेग और इन्फ्लुएंज़ा अथवा अन्य ऐसी ही सामयिक बीमारियाँ होती हैं, जो सब पर आक्रमण करती हैं। अतः जो बीमारियाँ एक व्यक्ति को होती हैं, उनके निवारण का नाम चिकित्सा अर्थात् आयुर्वेद है और दूसरे प्रकार की सार्वजनिक बीमारियाँ जिस सामूहिक रीति से निवारण की जाती हैं, उसका नाम 'भैषज्य यज्ञ' है।

सन्तान।

सन्तान न होती हो, तो सन्तान उत्पन्न करनेवाले, मनमानी सन्तान उत्पन्न करनेवाले, तथा सन्तान को दीर्घजीवी बनानेवाले यज्ञ का नाम '**पुत्रकामेष्टि यज्ञ**' है। इस यज्ञ का कुछ भाग गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारों में तथा कुछ भाग पितृयज्ञ में मिला हुआ है। इसका कुछ वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त में दिया हुआ है।

वर्षा का नियन्त्रण।

पूर्व समय में ऋषियों ने अवर्षण के समय यज्ञों द्वारा उसी तरह पानी भी बरसाया था, जिस प्रकार यज्ञों के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराया था। वेद का '**निकामे निकामे पर्जन्यो वर्षतु**' अर्थात् इच्छानुसार वर्षा हो, यह वाक्य इसी बात की सूचना देता है। इसको 'अवर्षण यज्ञ' कहते हैं।

सम्पत्ति।

आवश्यक पदार्थों का नाम सम्पत्ति है। आजकल क अर्थशास्त्र भी सम्पत्ति का यही अर्थ करता है। रुपया तो केवल क्रयविक्रय का साधन है। जब अधिक धन होता है, तब रुपया काम नहीं देता। वहाँ नोट, चेक अथवा बदले के माल से ही काम चलता है। संसार में जितना माल है, उतने मूल्य के लिए सोना और चाँदी नहीं है। इसलिए वैदिकोंने आदिम काल ही में पशुओं, अन्नों और अन्य आवश्यक पदार्थों को ही सम्पत्ति माना था। यज्ञों में अन्न, घृत, मेवा, औषधि और काष्ट आदि पदार्थों की आवश्यकता होती है। इस लिए कृषि, इष्टापूर्त (जिसमें कुँवा, ताल, बाग़, बग़ीचे सम्मिलित हैं), जंगल और अनेक प्रकार के पशुओं की आवश्यकता होती है। यही सम्पत्ति है। यज्ञानुष्ठान का मन में

संस्कार होते ही सम्पत्ति की आवश्यकता होती है। इसे 'गोमेध यज्ञ' कहते हैं। देशों की बनावट, नये टापू तलाश करना और भूमि को उर्वरा बनाना इसका प्रधान उद्देश्य है।

राज्य— आर्यसभ्यता में अश्वमेध अर्थात् चक्रवर्ती राज्य की अभिलाषा भी एक विशेष उपज है। सबसे बड़ा यज्ञ यही है। एक राष्ट्र में संसार भर के मनुष्यों का सुखदुःख सम्मिलित करके **'सबसे सबको लाभ पहुँचाना'** इस यज्ञ का अभिप्राय है। यज्ञ की कामना करनेवाले के मन में तुरन्त ही राज्य का अंकुर उत्पन्न होना, स्वाभाविकसी बात है। इस यज्ञ के लिए शौर्य और युद्धकौशल्य उत्पन्न करना प्रथम कर्तव्य होता है। युद्ध से मुँह छिपानेवाला आर्य नहीं समझा जाता। अर्जुन को ऐसा देखकर कृष्णने कहा था कि-

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं अकीर्तिकरमर्जुन।

अर्थात् 'हे अर्जुन ! तेरी ये कायरपने की बातें अनार्यों की हैं'। इस यज्ञ का नाम **'अश्वमेध यज्ञ'** है।

सेवा— पंच महायज्ञों के द्वारा सौर और चान्द्र संसार को आप्यायित करके अतिथिओं, वृद्धों, रोगियों, पतितों, पशुपक्षियों और कीटपतङ्गों तक को आहार पहुँचाने से बड़ी, संसार की और क्या सेवा हो सकती है ? इसी को **'पंच महायज्ञ'** कहते हैं।

ईश्वर— जो मनुष्य इतना सब कुछ करके भी निःस्वार्थभाव से कहता है कि **'इदं न मम'** अर्थात् यह मेरा नहीं है, उससे बढ़कर ईश्वरार्पणबुद्धि और क्या हो सकती है ? ऐसे कर्म करनेवाले को **'न कर्म लिप्यते'**। अर्थात् कभी कर्मबन्धन नहीं होता। वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। यह **'उपासनायज्ञ'** है।

उपर्युक्त यज्ञों के यही प्रकार और लाभ हैं। ये समस्त लाभ, भैषज्य, यज्ञ, पुत्रकामेष्टि यज्ञ, अवर्षण यज्ञ, गोमेध यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ और पंच महा यज्ञों से प्राप्त हो जाते हैं। इनमें से पुत्रेष्टि और अवर्षण यज्ञों पर हम यहाँ अधिक कुछ नहीं कहना चाहते। पर यदि रामायण की कथा सत्य है, तो जनक ने अवर्षण दूर करने के लिए और दशरथ ने अपुत्रत्व मिटाने के लिए यज्ञ किये थे और दोनों में सफलता हुई थी। रामायण की ये दोनों घटनाएँ निकाल डालने पर रामायण का ऐतिहासिक भाग हिल जाता है। अतएव इन घटनाओं को असत्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु अब तो वह ज़माना है कि जब सन्तान प्रतिरोध का बन्दोबस्त हो रहा है और नहरों से आबपाशी का सिलसिला जारी है। पुराने ज़माने में भी लोगों ने दत्तक पुत्र और संन्यास तथा इष्टापूर्त अर्थात् कुवाँ, ताल, नहर बनवाकर इन दोनों बातों को सरल कर लिया था। इसलिए यदि इन दोनों यज्ञों को छोड़ भी दें, तो शेष छे प्रकार के यज्ञ ही ऐसे हैं कि जिनके फलों के प्राप्त होने पर हर प्रकार की कृतकृत्यता हो जाती है।

इसीलिए समस्त संसार ने यज्ञों को स्वीकार किया था और अबतक संसार के प्रायः सब संप्रदायों में वे प्रचलित हैं। यह सब **'फिज़िकेल रिलीजन'** में मैक्समूलर ने भी स्वीकार किया है। संसार में क्या नये और क्या पुराने जितने धर्म प्रचलित थे और हैं, सबमें यज्ञ का कोई न कोई प्रकार अवश्य स्वीकार किया गया है। आर्यों की समस्त प्राचीन शाखाओं में यज्ञ प्रचलित था। प्राचीन समय में ग्रीकों और रोम-निवासियों के यहाँ भी यज्ञ प्रचलित थे। पारसियों और वैदिक आर्यों में यज्ञ अब तक प्रचलित हैं। जैनियों में भी धूपदीप, जो यज्ञ का ही अवशिष्ट और सूक्ष्म रूप है, प्रचलित है। यह तो आर्यशाखा की बात हुई। सेमिटिक शाखा के भी इस समय तीन धर्म—यहुदी, ईसाई और मुसलमानी—प्रचलित हैं। इनमें से यहूदियों के यहाँ यज्ञ होते थे। वे कुंड को 'कैर' कहते थे। ईसाई और मुसलमानों में भी ऊदबत्ती और लोबान आदि जलाने का रिवाज अबतक मौजूद है। भले, उनके रूप बिगड़े हुए हैं, पर इससे इनकार नहीं हो सकता कि वह यज्ञ का अपभ्रष्ट रूप नहीं है। इस तरह से मनुष्यजाति की यह दूसरी सेमिटिक शाखा भी यज्ञ को पुराकाल से लेकर अबतक करती और मानती जाती है। तीसरी तुरानी शाखा में भी यज्ञ के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। चीनवाले यज्ञ को 'घोम' कहते हैं, जो होम के सिवा और कुछ नहीं है। इस प्रकार से मनुष्यजाति के तीनों विभागों में यज्ञ जारी थे और जारी हैं। मिश्रकी प्राचीन जातियों

में तथा अमेरिका के रेड इंडियनों में भी यज्ञ की प्रथा जारी थी । कहने का मतलब यह कि यज्ञ मनुष्य का आदिम धर्म है। यज्ञ इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण है कि सब मनुष्य एक ही वंश की शाखा उपशाखा हैं और यह यज्ञ उस समय उत्पन्न हुआ था, जब संसार में थोड़े से मनुष्य पैदा हुए थे और वे सब एक ही स्थान में रहते थे। एक विज्ञानवेत्ता ने लिखा है कि अग्नि का उत्पन्न करना ही मनुष्य का आदिम वैज्ञानिक आविष्कार है। यहीं से उसकी बुद्धि का विकास हुआ है । लकड़ियों को घिसकर अग्नि उत्पन्न करना भौतिक विज्ञान में प्राथमिक आविष्कार है और मौलिक है । हमारा तो यह दावा है कि मनुष्य में यदि यज्ञ का ज्ञान न होता, तो वह इस उन्नति को पहुँचता ही नहीं, जिसमें वह इस समय मौजूद है।

गत पृष्ठ में हमने यज्ञों की व्यापकता दिखलाते हुए, उनकी प्राचीनता पर भी कुछ लिख डाला है । किन्तु प्रश्न यह है कि आर्यों में इसका रिवाज कबसे आरंभ हुआ। हम देखते हैं कि आर्यजाति का कोई संस्कार, कोई धार्मिक कृत्य और कोई त्योहार ऐसा नहीं है, जिसमें होम न होता हो । जहाँतक लिखित प्रमाण मिलता है, वहाँतक आर्यजाति में यज्ञों का होना पाया जाता है। हम इससे पूर्व में दिखला आये हैं कि वेद लाखों वर्ष के प्राचीन-आदिम-और अपौरुषेय हैं। विदेशी भी मानते हैं कि वेदों से प्राचीन संसार में कोई लिखित पुस्तक नहीं है। उन वेदों में यज्ञों का वर्णन है। अतः यज्ञ वेदकालीन हैं, इसमें सन्देह नहीं। ये वेद चार हैं। चारों में ऋग्वेद प्रथम है। इस सर्व प्रथम ऋग्वेद के सर्व प्रथम मन्त्र में—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं ।
होतारं रत्नधातमम् ॥

इस प्रकार यज्ञ, पुरोहित, ऋत्विज् और होता का स्पष्ट वर्णन है। इसलिए यज्ञ उतने पुराने हैं, जितना पुराना ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र है।

यज्ञों के तीन संसार और तीन प्रकार ।

वेदों में तीन संसारोंका वर्णन है। एक आकाशीय है। जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारा, वायु, जल और विद्युत् आदि हैं। इस आकाशीय संसार में राजा, पुरोहित, सेना, नगर, ग्राम, वीथी, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, नदी, समुद्र, जंगल, पशु, पक्षी, आदि सभी कुछ है। वहाँ शत्रु हैं, बड़े बड़े युद्ध हैं और जो कुछ यहाँ संसार में दिखाई पड़ता है, वह सब आकाशीय संसार में मौजूद है । जिस प्रकार यह आकाशीय संसार है, उसी प्रकार का दूसरा संसार मनुष्य का शरीर है, जिसमें नगर, द्वार, राजा, ऋषि, शत्रु, ब्राह्मण, युद्ध और उसी प्रकार के समस्त पदार्थ हैं, जिस प्रकार के आकाशीय संसार में हैं। तीसरा यह पृथिवीस्थ संसार है, जिसमें उक्त सभी पदार्थ मौजूद हैं। वेदों के ये तीनों संसार आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक कहलाते हैं।

इनमें से आकाशीय संसार और मनुष्यशरीरस्थ संसार दोनों परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध रखते हैं। आकाशीय संसार का एक एक पदार्थ शारीरिक संसार का आधार है। आकाशीय संसार में जिस प्रकार अन्य समस्त पदार्थ विराजमान हैं, उसी तरह वहाँ यज्ञ भी हुआ करता है और जिस प्रकार आकाश में यज्ञ हुआ करता है, उसी तरह शरीर में भी यज्ञ हुआ करता है। ये पिण्ड और ब्रह्माण्ड के यज्ञ निरन्तर जारी रहते हैं। किन्तु परिवर्तनों के कारण कभी कभी दोनों में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। इसलिए भौतिक यज्ञों से दोनों का सामञ्जस्य करना ही वैदिक यज्ञों का मुख्य उद्देश्य है। हम चाहते हैं कि यहाँ थोडासा पिण्ड ब्रह्माण्ड के यज्ञ और उनका परस्पर सम्बन्ध वर्णन कर दें, जिससे विषय स्पष्ट हो जाय और ज्ञात हो जाय कि किस प्रकार यज्ञ वैज्ञानिक नींव पर स्थित हैं और पिण्ड ब्रह्माण्डसे सम्बन्ध रखते हैं।

पिण्ड व ब्रह्माण्ड का संबंध ।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड का परस्पर संबंध बताते हुये एक वेदमन्त्र कहता है कि—

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् । अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिव्यां गोपीथाय ॥
(अथर्व० ५।८।७)

अर्थात् सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अन्तरिक्ष मेरी आत्मा (हृदय) है और पृथिवी मेरा शरीर है । मैं अपने आपको अपराजित समझकर द्यावा और पृथिवी के बीचमें सुरक्षित रखता हूँ । यह मन्त्र पिण्ड और ब्रह्माण्ड का स्पष्ट सम्बन्ध बतलाता है । यजुर्वेद के दूसरे स्थानों में है कि—

शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत; यस्य वातः प्राणाप्राणौ;
नाभ्याऽसीदन्तरिक्षꣳ,दिशः श्रोत्रं, पद्भ्यां भूमिः॥

अर्थात् द्यौ शिर, वायु प्राण, अन्तरिक्ष नाभि, दिशा कान और भूमि पैर हैं । यहाँ भी वही सम्बन्ध वर्णित है । वेदों में इस प्रकार के बहुत वर्णन हैं । इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पिण्ड के साथ ब्रह्माण्ड का घनिष्ठ सम्बन्ध है । यह बात प्रत्यक्ष भी है कि विना सूर्य के हम देख नहीं सकते, विना वायु के साँस नहीं ले सकते और विना पृथिवी के खड़े नहीं हो सकते । कहने का मतलब यह कि पिण्ड ब्रह्माण्ड के साथ नत्थी है । जैसे यह दोनों का आधार आधेय वर्णित है, वैसे ही वेदों में दोनों जगह के यज्ञों का भी वर्णन है । ब्रह्माण्ड यज्ञ के विषय में लिखा है कि—

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ।
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥
(यजुर्वेद ३१।१५,१४)

अर्थात् यज्ञवेदी की सात परिधियाँ हैं । उसमें इक्कीस समिधा हैं । ऐसे यज्ञ को देवताओं ने फैला रक्खा है, जिसमें पुरुष पशु बँधा हुआ है । पुरुष के द्वारा हवि से देवता जिस यज्ञ को फैलाते हैं, उस यज्ञ में वसन्तऋतु घी है, ग्रीष्मऋतु ईंधन है और शरद् ऋतु हवि है । गोपथब्राह्मण में लिखा है कि—

तमाहरत येनायजत तस्याग्निर्होताऽऽसीत् वायुरध्वर्युः । सूर्य उद्गाता चन्द्रमा ब्रह्मा पर्जन्यः सदस्यः ॥ (गोपथ० १।१३)

अर्थात् अग्नि होता, वायु अध्वर्यु, सूर्य उद्गाता, चन्द्रमा ब्रह्मा और वर्षा सदस्य है । यह ब्रह्माण्ड यज्ञ है । पिण्डयज्ञ के लिए वेद में लिखा है कि—

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥
(अथर्व० ११।८।२९)

अर्थात् हड्डियों की समिधा बनाकर, रेत का घी करके और आठ प्रकार के रसों को लेकर सब देवताओंने पुरुष में प्रवेश किया । शतपथब्राह्मण में लिखा है कि—

पुरुषो वै यज्ञः । पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मात् पुरुषो यज्ञः ।

अर्थात् पुरुष ही यज्ञ है । क्योंकि वह यज्ञ को करता है वह उतना ही सत्कर्म करता है, जितना वह स्वयं होता है । इसलिए पुरुष ही यज्ञ है । इसी तरह छान्दोग्य उपनिषद् में भी पुरुष को यज्ञ कहा है । वहाँ लिखा है कि—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंꣳशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं यानि चतुश्चत्वारिंꣳशद् वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं, यान्यष्टाच त्वारिंꣳशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनम् ।
(छान्दोग्य० ३।१६)

अर्थात् पुरुष ही यज्ञ है । इसके जो चौबीस वर्ष हैं वह प्रातःसवन है । जो चवालीस वर्ष हैं, वह माध्यन्दिन सवन है और जो अड़तालीस वर्ष हैं, वह तृतीय सवन है ।

इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि ऊपर जिस सूर्य आदि देवताओं का ब्रह्माण्ड यज्ञ के नाम से वर्णन हुआ है, वे देवता मनुष्यशरीर में प्रवेश कर गये और मनुष्यशरीर के पदार्थों को यज्ञ की सामग्री बनाकर वहाँ भी यज्ञ करने लगे । गोया पिण्डब्रह्माण्ड के यज्ञ और उन दोनों का सम्बन्ध दृढ हो गया और इस प्रकारसे यह विश्व सम्बन्ध स्थापित हो गया । इसी सम्बन्ध के अनुसार पिण्ड और ब्रह्माण्ड के दोनों यज्ञ, यज्ञ के तीनों अर्थ— देवपूजा, संगति और दान— निरन्तर कर रहे हैं । सूर्य, सर्दी, जल, हवा, प्रकाश और अन्धकार से ब्रह्माण्ड सदैव हमारी सबकी पूजा, संगति और दान किया करता है । मनुष्यशरीर भी सर्दी, गर्मी, प्रकाश आदि से संगति करता है । इन्द्रियाँ परस्पर पूजा करती हैं और दान देती हैं । इसी तरह मनुष्यशरीर भी अन्य प्राणि

के साथ पूजा, संगति और दान का व्यवहार करता है। इस तरह पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों, यज्ञ का कार्य बराबर सम्पादन करते हैं। हम कह आये हैं कि ब्रह्माण्ड पिण्ड का आधार है। शरीर बिलकुल ही ब्रह्माण्ड के आधीन है। आँख सूर्य की, श्वास वायु का और पैर पृथिवी के मोहताज हैं। पर जब सूर्य चला जाता है, वायु का चलना बन्द हो जाता है और पृथिवी ठंडी या गर्म हो जाती है, अर्थात् जब दोनों संसारों में विषमता उत्पन्न हो जाती है, तब हम तीसरी भौतिक यज्ञ से दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न करते हैं। हम चिराग़ जलाकर सूर्य का काम लेते हैं, पंखा झलकर वायु का काम लेते हैं और जूता पहनकर या ऊँचे मंच पर खड़े होकर पृथिवी की सर्दी गर्मी को अनुकूल कर लेते हैं।

यह अनुकूलन ही यज्ञ का सङ्गतिकरण, पूजा और दान है। अर्थात् विषमता उपस्थित होने पर पृथिवीस्थ पदार्थों को लेकर वैज्ञानिक सिद्धान्त से पिण्ड-ब्रह्माण्ड में सामञ्जस्य उत्पन्न कर देना ही यज्ञ का प्रधान कार्य है। इसी लिए वेद में कहा गया है कि-

'यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्,
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'

अर्थात् यज्ञ से यज्ञ कल्पित हुए हैं। देवता भी यज्ञ से यज्ञ कर रहे हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है, कि 'यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा इति।' अर्थात् मैं यज्ञ से यज्ञ का निर्माण करता हूँ। इस सब वर्णन का यही मतलब है कि पिण्ड ब्रह्माण्ड के यज्ञों की विषमता का भौतिक यज्ञों से सामञ्जस्य करते रहना चाहिए।

यद्यपि सत्कर्म मात्र यज्ञ के नाम से कहा गया है, पर भैषज्य यज्ञ, पुत्रेष्टि यज्ञ, अवर्षण यज्ञ, गोमेध यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ और पंच महायज्ञ आदि स्थूल और व्यावहारिक यज्ञ प्रधान हैं। ये सभी यज्ञ अपने अपने ढंग के निराले हैं। अतएव इन सबके साधन भी निराले हैं। अपने अपने यज्ञ के अनुकूल साधन अलग अलग होने पर भी अन्न्याधान, हवनीय पदार्थ, समयनिरूपण और यज्ञदेश का विचार आदि सबमें हैं। सबों में यज्ञकर्ता, यज्ञमण्डप आदि एक समान ही होते हैं। परन्तु कुण्डों की बनावट, पात्र, हवनीय पदार्थ और अन्य विधियाँ अलग अलग हैं। इसी तरह और भी बहुत सी बातों में अन्तर है। जैसे अश्वमेध में अमुक प्रकार का घोड़ा, युद्धसामग्री, सेना आदि विशेष रूप से आवश्यक होते हैं, किन्तु पुत्रेष्टि में इनकी बिलकुल ही आवश्यकता नहीं होती। तात्पर्य यह कि यज्ञों में सामान्य विशेष भाव सदैव बना रहता है। इसीलिए सबके उपकरण भी सामान्य विशेष रूप से पृथक् पृथक् और एक समान भी होते हैं। आगे हम यज्ञों का वर्णन करते हुए यह भी बतलाते जायँगे कि किन किन यज्ञों में कौन कौन सी चीज़ें विशेष रूप से आवश्यक होती हैं। यज्ञों को सफल बनाने के लिए बहुत से पदार्थों के साथ अनेक प्रकार की विद्याओं की भी आवश्यकता होती है। मनुष्य से सम्बन्ध रखने-वाली ऐसी एक भी आवश्यक विद्या नहीं है, जिसकी यज्ञ में ज़रूरत न होती हो। आर्यलोग इसीलिए यज्ञों को धर्म का मूल बतलाते हैं और थीबो साहब कहते हैं, कि **'आर्यों के पुरातन धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी विद्याएँ हैं, सब उनकी निज की उपज हैं' +।** भैषज्य यज्ञ आर्यों का पुरातन धर्म है और उसका सम्बन्ध आयुर्वेद से है। अतः आयुर्वेद भी आर्यों की ही उपज है।

हम पहिले ही बता आये हैं कि यज्ञ के लाभों में सबसे बड़ा लाभ सार्वजनीन आरोग्यता है। सफ़ाई, सड़क, रोशनी, अस्पताल आदि जिस प्रकार सार्वजनीन आरोग्यता के साधन हैं, उसी प्रकार यज्ञ भी हैं। आरोग्यता का सम्बन्ध ज़िंदगी से है। संसार में जीवन सबसे अधिक मूल्यवान् है। अतः सार्वजनीन जीवनरक्षा का श्रेय होने के कारण यज्ञ का आरोग्यसम्बन्धी विषय प्रथम और प्रधान है। क्योंकि आरोग्यता नष्ट होने पर शरीर रोगी हो जाता है और रोग से मृत्यु का भय रहता है। मृत्यु कोई पसन्द नहीं करता। एक व्यक्ति का जीवन चाहे सबके लिए मूल्यवान् न हो, पर सबका जीवन तो सबके ही लिए मूल्यवान् है। इसलिए जिसमें सार्वजनीन आरोग्यता का

\+ Science is closely connected with the ancient Indian Religion and must be considered as having sprung up among the Indians themselves.

विधान हो, वही यज्ञ सब यज्ञों में अधिक उपयोगी, आवश्यक और वर्णन करने योग्य है। अतएव हम यहाँ आयुर्वेद से सम्बन्ध रखनेवाले भैषज्य यज्ञ का वर्णन करते हैं।

यज्ञों में आयुर्वेद।

भैषज्य यज्ञ आयुर्वेद से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें देशकाल और पदार्थों के गुणों का ज्ञान होना आवश्यक होता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि '**भैषज्ययज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्माहतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते**' अर्थात् ये भैषज्य यज्ञ कहलाते हैं। ऋतुओं की सन्धि में व्याधियाँ पैदा होती हैं, इसलिए इनका प्रयोग ऋतुसन्धियों में होता है। छान्दोग्य ४।१७।१८ में भी लिखा है, कि '**भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति।**' अर्थात् जिनमें वैद्यकशास्त्रज्ञ ब्रह्मा होता है, वे भैषज्य यज्ञ हैं। इन दोनों प्रमाणों में ऋतुसन्धि और भैषज्य का स्पष्ट वर्णन है। इसलिए वनस्पतियों के गुण और समय का ज्ञान होना आवश्यक है। ओषधियों के लिए स्पष्ट लिखा है, कि '**यस्य देशस्य यो जन्तुः तत्तस्यौषधं हितं**' अर्थात् जो प्राणी जिस देश का होता है, उसके लिए वहाँ की ही उत्पन्न ओषधियाँ हितकर होती हैं। इसके अतिरिक्त ओषधिओं पर ऋतुओं का प्रभाव देशभेद से अलग अलग होता है। इसलिए देश का भी ज्ञान बहुत आवश्यक होता है। देश, काल और पदार्थों के गुणों का ज्ञान आयुर्वेद से ही संबंध रखता है। इसमें शारीरिक ज्ञान और निदान मिला देने से ही पूरा आयुर्वेद बन जाता है। शारीरिक, निदान, त्रिदोष, नाडीज्ञान और अन्य ऐसी ही अनेक बातें हैं, जो व्यक्तिव्यक्ति से सम्बन्ध रखती हैं और वेदों में विस्तार से वर्णित हैं। किन्तु हम यहाँ सार्वजनीन व्याधियों के सार्वजनीन उपचार का ही वर्णन कर रहे हैं। इसलिए उन विषयों का वर्णन करना उचित नहीं समझते। सफ़ाई, रोशनी, सड़क और अस्पताल आदि म्युनिसिपालिटी के काम जिस प्रकार सार्वजनिक हैं, उसी तरह यह यज्ञ भी है। होली ऐसा ही सार्वजनिक भैषज्य यज्ञ है, जो संवत्सर के अन्त में किया जाता है। यह नवसस्येष्टि भी कहलाती है। 'नवसस्य' का नाम होला है। हरे चनों को भूनकर लोग होला खाते हैं। इसीलिए होली में भुने हुए हरे चने ही होला कहलाते हैं। यह होली एक प्रकार का भैषज्य यज्ञ ही है।

संसार में सर्दी और गर्मी दो ही हैं। सर्दी की दवा गर्मी और गर्मी की दवा सर्दी है। यजुर्वेद २३।१० में स्पष्ट कहा है कि '**अग्निर्हिमस्य भेषजम्**' अर्थात् अग्नि शीत की दवा है। अर्थापत्ति से समझ लेना चाहिए कि सर्दी भी गर्मी की दवा है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यं। अग्नीषोमयोर्ह वै तावती विभूतिः प्रजातिः। सूर्य एवाग्नेयः चन्द्रमा सौम्यः। (शतपथ०)

अर्थात् सूखा और गीला दो ही हैं, तीसरा नहीं। अग्नि ही सूखा है और सौम्य ही गीला है। इस प्रकार अग्नि और सौम्य की उत्पादक शक्ति विविध प्रकार की है। सूर्य ही अग्नि है और चन्द्रमा ही सौम्य है। अग्नि और जल से ही पित्त और कफ की उत्पत्ति हुई है। तीसरी चीज़ वायु है, जो न शीत है न उष्ण। वायु धूप के संयोग से उष्ण और जल के संयोग से ठंडी हो जाती है और दोनों के प्रभाव को प्रबल कर देती है। यही सिद्धान्त आयुर्वेद में भी वर्णित है। वेदों में अग्निषोमौ का विस्तारपूर्वक वर्णन है, जो अग्नि और जल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अर्थात् संसार में सर्दी और गर्मी दो ही असर हैं। यही दो असर संसार के समस्त पदार्थों में हैं। किसी पदार्थ में गर्मी अधिक हैं और किसी में सर्दी। इसीलिए कोई पित्तकर है और कोई कफकर। परन्तु बादी करनेवाले पदार्थों का कोई लक्षण नहीं किया जा सकता। गर्म पदार्थ भी बादी करते हैं और सर्द भी। अर्थात् जिन पदार्थों में गर्मी सर्दी से अधिक होती है, वे भी बादी होते हैं और जिनमें सर्दी गर्मी से अधिक होती है, वे भी बादी होते हैं। पर जिन पदार्थों में गर्मी सर्दी बराबर होती है, वे बादी नहीं होते। उन्हीं का नाम मातदिल और त्रिदोषघ्न है। इस सबका कारण स्पष्ट है कि वायु निज में कुछ भी असर करनेवाली नहीं है। वह प्रबल गुण के

साथ मैत्री करके उसके बल को बेहद बलवान् कर देता है। संसार के सर्द और गर्म पदार्थ वायु के सहचार से अधिक बलवान् हो जाते हैं। इसीलिए कहा है कि कफ और पित्त पंगु हैं। वायु जहाँ उनको ले जाता है, वहाँ वे उसी तरह जाते हैं, जैसे हवा पाकर मेघ भागते हैं।

परन्तु यह न समझना चाहिए कि वायु उनका कारण भी है। इस सर्दी गर्मी का कारण तो ऋतुएँ हैं। ऋतुओं के योग से पदार्थों में प्रायः ऋतुओं के गुण आया करते हैं। इन ऋतुओं का जन्म सूर्य और पृथिवी की चाल पर है। इसलिए देशभेद से ऋतुओं में और ऋतुभेद से पदार्थों के गुणों में अन्तर पड़ जाता है। इस सब वैज्ञानिक भेद के जाननेवाले को भिषक् कहते हैं। छान्दोग्य के अनुसार भैषज्य यज्ञों में जो ब्रह्मा होता है, वह इस विद्या का जाननेवाला होता है। उसके पास वे ओषधियाँ जो भैषज्य यज्ञ में काम आती हैं, बहुतायत से तैयार रहती हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः।

(ऋग्वेद १०।९७।६)

अर्थात् जिसके पास नाना प्रकार की अनेक ओषधियाँ राजा की सभा की भाँति खूब सजी हुई, मिसिले से इकट्ठी रखी हों, वह **रक्षोह** अर्थात् रोग का नाशक और **अमीवचातन** अर्थात् रोगबीजों का दूर करनेवाला भिषक् है। अथर्व० ५।२९।१ में लिखा है कि '**त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता**'। अर्थात् ओषधियों का बनानेवाला तू वैद्य है। बात स्पष्ट हो गई कि भैषज्य यज्ञों के लिए ऐसे वैद्य की आवश्यकता है, जो देश, काल और पदार्थों के गुण जानता हो, तथा हवनीय ओषधियाँ अपने पास रखता हो। भैषज्य यज्ञों में जिन ओषधियों की आवश्यकता होती है, वे बहुत हैं। उनकी एक सूची स्वामी दयानन्द ने रोगनाशक, पुष्टिकारक, बलवर्द्धक और मिष्ट तथा सुगंधित पदार्थों के नाम से दी है। वेदों में बहुत सी ओषधियों का वर्णन है, जो अमुक अमुक यज्ञों में काम आती हैं। पर यहाँ हम कुछ ऐसी ओषधियों का वर्णन करते हैं, जिनका अब पता नहीं लगता। यजुर्वेद में हवनीय ओषधियों को अम्ब कहा गया है। वहाँ लिखा है कि—

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रतो यूयमिमं मे अगदं कृत॥

(यजु० १२।७६)

"हे अम्ब! तुम्हारे सैकड़ों स्थान हैं और तुम हज़ारों प्रकार से उगती हो! तुम मेरे यज्ञ में आओ और सबको आरोग्य करो। दूसरे स्थान में कहा गया है कि '**एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व**'। अर्थात् यह तेरा रुद्र भाग है, उसको अम्बिका की बहनों के साथ होम कर। यहाँ अम्बा की तरह अम्बिका का भी वर्णन आया है और तीनों बहनों का ज़िक्र भी है। अन्य मन्त्र में है कि—

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा।
अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन॥

(यजु० २२।१८)

अर्थात् हे अम्बे, अम्बिके, अम्बालिके! तुम्हारा प्राण, अपान, व्यान के लिए हवन करते हैं। इनके लिए निम्न लिखित प्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है कि—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(यजु० ३।६०)

अर्थात् सुगन्धि और पुष्टि के बढ़ानेवाली तीनों अम्बिकाओं को हवन करता हूँ, जिससे मृत्यु के दुःख से उसी तरह छूट जाऊँ, जिस तरह पका हुआ फल अनायास अपने बन्धन से छूट जाता है, परन्तु मोक्ष से न छूटूँ।

इस वर्णन से मालूम हो गया कि अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका अर्थात् तीनों बहनों को रोगनाश करने और जीवनरक्षा के लिए हवन करने को कहा गया है। ये ओषधियाँ हैं, मनुष्य नहीं। किन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि इनकी पहिचान किसी को नहीं है। बहुत कुछ अन्वेषण करने पर यह तो पता लग गया है कि ये ओषधियाँ हैं और इनके पर्याय नाम अमुक अमुक हैं, परन्तु इनका पहिचाननेवाला आज कोई नहीं है। इनका आज यदि पता मिलता, तो बड़ा काम निकलता। क्योंकि यजुर्वेद ३।५७ में जहाँ इन तीनों बहनों का हवन करना लिखा है, वहाँ चूहे का भी वर्णन है ×।

× एष ते रुद्र भागः आखुस्ते पशुः। (यजु० ३।५७) अर्थात् यह तेरा रुद्र भाग है, तेरा पशु चूहा है।

सम्भव है, ये प्लेग की दवाएँ हों और सार्वजनिक रोगों के दूर करने के लिए भैषज्य यज्ञ में प्रयुक्त होती हों। पर आज तो लोग इन्हें भूल गए हैं। भूल जायँ, इस बात का यहाँ ज़िक्र नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही कहना है कि यज्ञों में वैद्यक के ज्ञान की आवश्यकता है। कोई यह नहीं कह सकता कि यज्ञोंके लिए आयुर्वेद के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है और वैदिक काल के आर्य विना वैद्यकज्ञान के ही यज्ञ किया करते थे, अथवा केवल कार्बन फैलाते थे। हम देखते हैं कि आजकल चेपी बीमारियों के लिए बड़े बड़े डॉक्टरों ने भी आग जलाना, शक्कर जलाना और नीम की पत्ती जलाना आरम्भ कर दिया है। यह उन में भैषज्य यज्ञ का आरम्भ है। इस आरम्भ से हम आशा करते हैं कि वर्तमान विज्ञान भी कभी यज्ञों की सार्थकता पर प्रकाश डालेगा। यहाँ तक के वर्णनसे देखा गया कि ऋतुसंधियों में व्याधियाँ होती हैं, तभी भैषज्य यज्ञों का प्रयोग होता है। अतः प्रश्न होता है कि क्या यज्ञों में ऋतुसन्धियों को जानने के लिए ज्योतिष् का ज्ञान आवश्यक है ?

यज्ञों में ज्योतिष्।

यज्ञों में ज्योतिष् की आवश्यकता अनिवार्य है। आर्यों के दो विश्वास ऐसे हैं, जिनके कारण ज्योतिष् का सूक्ष्म ज्ञान आवश्यक है। एक तो भैषज्य यज्ञ के लिए ऋतुओं की सन्धियाँ जानना, दूसरे दक्षिणायन और उत्तरायण में मरनेसे दो प्रकार की गतियाँ मानना। वे मानते थे कि उत्तरायण में मरने से मोक्ष होता है और दक्षिणायन में मरने से पुनर्जन्म होता है। जिसका यह विश्वास हो कि उत्तरायण में मरने से मोक्ष होता है, वह भला उसके बारीक ज्ञान के विना कैसे रह सकता है? देशी और विदेशी विद्वान् एक स्वर से कहते हैं कि आर्योंमें ज्योतिष् का प्रादुर्भाव यज्ञों का समय देखने के लिए ही हुआ है। भास्कराचार्य 'सिद्धांतशिरोमणि' में कहते हैं कि वेदों में यज्ञों का वर्णन है और यज्ञ काल के आश्रित हैं। इसलिए जिसमें काल का वर्णन हो वह ज्योतिष्शास्त्र वेद का अङ्ग कहलाता है※। ज्योतिष् वेद का नेत्र इसी कारण कहलाता है कि ज्योतिष् से समय दिखलाई पड़ता है। इसीलिए जर्मन का प्रसिद्ध विद्वान् थीबो कहता है कि यज्ञों का ठीक समय जानने के लिए ही आर्यों में सबसे पहिले ज्योतिष्शास्त्र के सूक्ष्म अवलोकनों की आवश्यकता हुई+। यह बात बिलकुल सत्य है कि यज्ञ, चाहे छोटे हों या बड़े, संधियों में ही होते हैं। संधि के लिए दूसरा शब्द पर्व है। गाँठ, जोड़ अथवा सन्धि को पर्व भी कहते हैं। प्रातः सायं की सन्धि में हवन होता है×। पक्ष की संधि, मास की सन्धि ऋतु की संधि, चातुर्मास्य की संधि, दोनों अयनों की संधि पर ही यज्ञ (हवन) होते हैं। यही सब संधियाँ पर्व भी कहलाती हैं। इनका सूक्ष्म ज्ञान ज्योतिष् से ही होता है। पक्ष और मास की संधि चाहे चन्द्रमा के स्थूल अवलोकन से अमावस्या और पूर्णिमा के दिन मालूम हो जाय, पर ऋतु, अयन, संवत्सर का संधिज्ञान जब तक सायन गणनानुसार ज्योतिष् का ठीक ठीक ज्ञान न हो, तब तक नहीं हो सकता।

※ वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञा प्रोक्तास्तेषु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात्कालबोधो यतः स्याद्वेदांगत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्।

\+ The want of some rule by which to fix right time for the sacrifices gave the first impulse to astronomical observation.

× प्रातर्प्रातर्गृहपतिर्नो०। सायं सायं गृहपतिर्नो०। ये सुबह शामके सवन कहलाते हैं। इन्हीं के कारण उदय से उदय तक के समय को सावनदिन कहते हैं।

ऋतुओं में ही यज्ञ करने से यज्ञकर्ता का नाम ऋत्विज अर्थात् ऋतुओं में यजन करनेवाला है।

वेदों में ऋतुओं के हिसाब से १२ महीनों के नाम दिये हुए हैं ※। अतः प्रश्न है कि इन महीनों की संधियों को वे कैसे जानते थे? वे कैसे जानते थे कि मधुमास आज बीत गया और माधव लगा, तथा आज माधव बीतने पर वसन्तऋतु ख़तम हुई? वेदों में इसी तरह दोनों अयनों का भी वर्णन है※। यह भी कैसे जाना जाता था कि आज उत्तरायण समाप्त हुआ और दक्षिणायन लगा? इसके लिए तो उनको अयनों का बहुत ही सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिये। अयनों का सूक्ष्म ज्ञान इसलिए भी होना चाहिये कि वे उत्तरायण को मोक्षदाता मानते थे। वे हमेशा कहते थे कि 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात् उत्तरायण के लिए परमेश्वर की भक्ति के सिवा और कोई दूसरा पन्थ नहीं है। दोनों पन्थ शास्त्रों में कहे गये हैं। दक्षिण अयनवाले चन्द्रलोक को जाकर फिर जन्ममरण के फेर में पड़ते हैं, परन्तु उत्तरायणवाले सूर्यलोक को जाते हैं और फिर नहीं आते। ऐसे बड़े काम के मुहूर्त (क्षण) को जिसमें दोनों अयन जुदा होते हैं, उन्होंने न जाना हो यह नहीं कहा जा सकता।

ऐतरेय ब्राह्मण की भूमिका में मार्टिन हाग कहते हैं कि 'जो यज्ञ साल भर चलता है वह सौर जगत् की वार्षिक परिक्रमा का रूप ही है। यह यज्ञ दो बराबर भागों में बाँट दिया जाता है, जिसका प्रत्येक भाग तीस अंशों में छे छे मास का होता है। दोनों के बीच में जो दोनों अयनोंको काटता है, वह 'विषुवान्' नामी दिन है'+। इससे ज्ञात होता है कि आर्यों को दोनों अयनों का और वर्ष समाप्त होनेवाले दिन का सूक्ष्म ज्ञान था। इसी से उन्होंने उसका नाम विषुवान् रक्खा था, क्योंकि यज्ञ सौर जगत् की आकृति के ही होते हैं। कहा भी है कि **'यज्ञो वै संवत्सरः'** अर्थात् यज्ञ संवत्सर ही है। यज्ञों में स्थापित इन्द्र, वरुण, कुबेर, गणेश और गौरी क्रम से अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथिवी के रूप ही हैं। इन के प्रतिनिधि दीपक, कलश, अन्न, नवग्रह और गौरी आदि हैं। यह गौरी पृथिवी की प्रतिमा ही है। इसकी बनावट में अब तक पृथिवी के ध्रुवप्रदेश दवे हुए होते हैं। यज्ञों में अन्य ग्रह भी बनाए जाते हैं, जिनके स्थान में मन्थिन आदि पात्र रक्खे जाते हैं, जो ग्रहों के ही रूपक हैं। इस तरह से यज्ञ जगद्रूपी वर्ष का रूप ही है। वर्ष को अनुकूल बनाने के लिये ही यज्ञ होता है। अतः हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि आर्यों को ज्योतिष् का सूक्ष्म ज्ञान था और उसका उपयोग यज्ञों में होता था।

पाश्चात्य विद्वान् और कुछ एतद्देशीय विद्वान् कहते हैं कि 'सायन गणना आर्यों की उपज नहीं है। क्योंकि आर्यों के प्राचीन साहित्य में राशियों के नाम नहीं हैं। बारह राशियाँ, उनके मेष वृषादि रूप और ३६५ दिन ६ घण्टे का वर्ष आदि आर्यों के नहीं हैं। आर्यलोग चान्द्र वर्ष और नाक्षत्र वर्ष जानते थे। नाक्षत्र वर्ष सायन वर्ष से कुछ मिनट बड़ा है। इसलिये २००० वर्ष में एक महीना आर्यों को पीछे खिसकाना पड़ता था। उनको विषुववृत्त और क्रान्तिवृत्त में जो 'नति' या तिर्यक्त्व है, उसका

※ मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू (१३।२५)। शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू॥ (१४।६)
नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू (१४।१५)। तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू॥ (यजु० १५।५७)

※ द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत०। (यजु० १९।४७)
षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत। (अथर्व० ८।९।१७)

+ The satras which lasted for one year were nothing but an imitation of the sun's yearly course. They were divided into two distinct parts, each consisting of six months of 30 days each. In the midst of both was the Vishuvan i.e. the equator or the central day, cutting the whole satra into two halves. (Ait. Brah. Intro., p. 48.)

ज्ञान नहीं था। यहाँ के प्राचीन साहित्य में बारह राशियों के नाम नहीं मिलते हैं। इसलिये मेष, वृष आदि गणना ग्रीकों की है।'

इन बातों में से केवल इतना तो हमें भी स्वीकार है कि मेष, वृष आदि नाम हमारे पुराने ग्रन्थों में नहीं मिलते, पर इतने से क्या यह सिद्ध हो गया, कि हमको बारह राशियों के रूपों और उनके द्वारा उत्पन्न हुए वर्ष का ज्ञान नहीं था? वेदों में बारह राशियों के रूपों का वर्णन आया है*। अभी हमने बारह सायन महीनों के नाम दो दो ऋतुओं के साथ फुटनोट में लिखे हैं। वेदों में बारह आदित्यों के नाम प्रसिद्ध हैं। शतपथ में आया है कि बारह आदित्य हैं, ये सबको देते हैं, इसलिए आदित्य कहलाते हैं+। पं० सत्यव्रत सामश्रमी इन बारह आदित्यों के नाम सविता, भग, सूर्य, पूषा, विष्णु, विश्वानर, वरुण, केशी, वृषाकपि, यम, अजएकपात् और समुद्र बतलाते हैं। यही बारह राशियों के नाम हैं। इस तरह से राशियों के नाम, उन के रूप और उन के मधु माधव आदि महीनों के नाम वेदों में लिखे हुए हैं। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक आर्य सायन वर्ष जानते थे। अयनज्ञान जब उनको था, तो सायन का ज्ञान अवश्य ही था। क्योंकि सायन का अर्थ ही अयन के साथ होता है। अयनज्ञान के लिए पृथिवी का घूमना, राशिपथ, उसके बारह भाग, अधिमास, ग्रहण, ध्रुवों में छे मास की रात और दिन, क्रान्तिवृत्त, विषुववृत्त, नति और विषुवान् आदि का ज्ञान होना ही चाहिए। यदि इतनी बातें वेदों में हों, तो समझना चाहिए कि वैदिकों को सायन गणना याद थी। अतः हम दिखलाना चाहते हैं कि ये बातें वेदों में हैं। सबसे पहिले हम वेदों से पृथिवीके गोल होने और घूमने का वर्णन दिखलाते हैं। ऋग्वेद में लिखा हैं कि--

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः। न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण। (ऋ० १।३३।८)

अर्थात् पृथिवी गोलाकार है। इस का आधा भाग सूर्य से प्रकाशित होता है और आधा भाग अन्धकारावृत रहता है। यह सूर्य के ही आकर्षण से ठहरी है। पृथिवी सूर्य के ही आधार पर है, इस बात का वर्णन ऋग्वेद में दूसरी जगह इस प्रकार है कि 'उक्षाधार पृथिवीं उत द्याम्' अर्थात् पृथिवी सूर्य के आधार पर ठहरी है। वेद में दूसरी जगह स्पष्ट ही लिखा है कि 'दाधार पृथिवीमभितो मयूखैः'। अर्थात् किरणों से सूर्य पृथिवी को धारण किये हुए है। तीसरी जगह ऋ० १०।१४९।१ में है कि 'सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात् अस्कम्भने सविता द्यामदृंहत'। अर्थात् निराधार प्रदेश में सूर्ययन्त्र द्वारा पृथिवी घूम रही है और उसी ने ग्रहों को दृढ किया है। अथर्ववेद में पृथिवीके घूमने के विषय में है कि-- (अथर्व० १२।१।५२)

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि। वर्षेण भूमिः पृथिवी वृत्तावृत्ता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि। (अथर्व)

अर्थात् जो पृथिवी के दैनिक एवं वार्षिक वृत्तावृत्ता होते हैं और जिसके ३० दिन और १२ महीने धाम हैं, वह हमारी रक्षा करे। यहाँ स्पष्ट भूमि और पृथिवी के साथ वृत्तावृत्ता दो बार आया है, जिससे दैनिक और वार्षिक गतियाँ स्पष्ट होती हैं। यहाँ इस वृत्त शब्द का अर्थ चक्कर ही है। जिस मार्ग होकर पृथिवी साल भर में घूम आती है, वही राशिपथ है। उस को वैश्वानर कहते हैं। वेद में लिखा है कि--

*'पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं'। यह मेष वृषादि १२ आकृतियों का वर्णन है। इससे अनुमान होता है कि मेष, वृष आदि नाम यहाँवालों ने ही रक्खा होगा और यहाँ से ही ग्रीकों ने लिया होगा।

+कतम आदित्या इति, द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या, एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदं सर्वमाददाना यन्ति, तस्मादादित्या इति। (शतपथ ब्राह्मण ११।६।३।८)

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः। ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः। (अथर्ववेद-८।९।१६)

अर्थात् वैश्वानर राशिपथ के ऊपर जो स्थान है, उससे सूर्य छे भाग एक ओर और छे भाग दूसरी ओर रहता है। इसी से ध्रुवों में छे मास की रात और छे मास का दिन होता है। इस वैश्वानर नामी राशिचक्र का वर्णन वाल्मीकि रामायण में भी आया है कि—

गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ ते तु ज्योतिषु जाज्वलन्।
(बाल० सर्ग ६०)

अर्थात् गगन में वैश्वानर पथ के बाहर बहुत से चमकीले नक्षत्र हैं। इस पर राम नामक टीकाकार कहता है कि ज्योतिष्चक्रमार्ग से बाहर सब नक्षत्र प्रकाशित हैं। यह ज्योतिष्चक्रमार्ग राशिचक्र ही है। इस राशिपथ के १२ भाग हैं। ऋग्वेद में है कि-

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन् साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः। (ऋग्वेद १।१६४।४८)

अर्थात् १२ भागों में विभक्त ३६० अंश का एक चक्र (संवत्सर का क्षेत्र) होता है। जिसमें सर्दी, गर्मी, वर्षा तीन नाभियाँ हैं। मन्त्र कहता है कि इस चक्र के ३६० अंश अचल हैं। इससे ये सावनदिन नहीं, प्रत्युत सायनदिन प्रतीत होते हैं। यही मन्त्र अथर्व में पाठभेद से इस प्रकार आता है।

तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये। (अथर्व०१०।८।४)

इसमें शङ्कु और खीला बताकर स्पष्ट कर दिया गया है कि यह ज्योतिष् का चक्र बिलकुल सायन है। इस चक्र का वर्णन महाभारत में भी इस तरह है-

चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्णाभि द्वादशप्रधि।
तत्त्रिषष्टि शतं वै तु चक्रं पातु सदागतिः॥
(वनपर्व अ० १३३)

अर्थात् हे राजन्! वह चक्र तुम्हारा कल्याण करे, जिसमें २४ पर्व, ६ नाभियाँ, १२ घेरे और ३६० आरे हैं। यह वही चक्र है, जिसका वर्णन वेद में किया गया है। इसके विषय में प्रसिद्ध विद्वान् रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य कहते हैं कि 'यह चक्र बहुत पुराना है और वैदिक साहित्य में पाया जाता है। इस चक्र से आकाशस्थ ग्रहों के वेधने का चक्र उत्पन्न होना असंभव नहीं है। ऐसे एकाध चक्र के बिना सूर्य की प्रदक्षिणा और उत्तर गति का सूक्ष्म ज्ञान एवं दिशाओं का भी सूक्ष्म ज्ञान होना संभव नहीं है। इतिहास से सिद्ध है कि भारतकाल में आर्यों को इन दोनों बातों का सूक्ष्म ज्ञान हो गया था'। इसी चक्र से चान्द्रवर्ष का अन्तर ज्ञात होता था और तेरहवें महीने की योजना हुई थी। क्योंकि राशिचक्र का यदि सूक्ष्म ज्ञान न हो जाता, तो वैदिक आर्यों को अधिक मास या १३ वें मास का ज्ञान न होता। ऋग्वेद में लिखा है कि 'वेद मासो धृतव्रतो' और अथर्व० १३।३।८ में है कि 'अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते'। अर्थात् ३० दीन का महीना मानने से १३ वाँ महीना मानना पड़ता है। इस वर्णन से ऊपरवाले चक्र को नहीं कहा जा सकता कि वह चान्द्र है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में सूर्य को बारह दिन और बारह रात्रि तक ठहरकर साल पूरा करने की विधि लिखी है ×। इसलिए वैदिक आर्य सायन गणना जानते थे। यदि वे सायन गति न जानते, तो ग्रहण न जान सकते। परन्तु वेदोंमें ग्रहण का वर्णन है। ऋग्वेद में लिखा है कि-

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥
स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्। गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः। (ऋ० ५।४०।५-६)

अर्थात् हे सूर्य! तुम्हें चन्द्रमा ने जो अन्धकार से घेर लिया है, इससे ज्योतिष् और रेखागणित न जाननेवाले मुग्ध हो रहे हैं। द्यौलोक में तुम्हारा प्रकाश है, उसको

× द्वादश द्यून् यदगोह्य। (ऋग्वेद ४।३३।७)

*

चन्द्रमा ने आच्छादित कर दिया है। इसलिए विद्वान् लोग सूर्य को तुरीययन्त्र से देख सकते हैं। यहाँ साफ़ कह दिया है कि जो रेखागणित नहीं जानता, वह अक्षेत्रविद् है और ग्रहण से मुग्ध हो जाता है। पर जो विद्वान् है, वह गणित करके देख लेता है कि किस दिन चन्द्र सूर्यके ऊपर आ जावेगा और यह घटना पृथिवी के किस स्थान से दिखेगी। ग्रहण का समय किसी प्रकार नहीं मालूम हो सकता, जब तक पृथिवी और चन्द्रमा की चालें ठीक न मालूम हों और जब तक अक्षांशज्ञान न हो। इस ऋग्वेद की घटना का वर्णन समस्त प्राचीन ग्रन्थों में आया है। यहाँ हम उनमें से नमूने के लिए कुछ प्रमाण लिखते हैं।

स्वर्भानुर्ह वाऽआसुरः। सूर्यं तमसा विव्याध।
(शतपथ ५।३।२।२)

स्वर्भानुर्वा आसुरः सूर्यं तमसाविध्यत्।
(गोपथ ३।१९)

स्वर्भानुर्वा आसुरः आदित्यं तमसाऽविध्यत्।
(ताण्डय। ४।५।२)

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
(ऋग्वेद ५।४०।५)

अभ्यधावत काकुत्स्थं स्वर्भानुरिव भास्करम्।
(वाल्मीकि० यु० स० १०२।३)

ये पाँचों वाक्य उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्रों का ही आशय कह रहे हैं। इन सब का मतलब यही होता है कि सूर्य को स्वर्भानु (चन्द्रमा) अपने अन्धकार से छिपा देता है। सारांश यह कि वैदिकों को ग्रहण का पूर्ण ज्ञान था। ज्ञान ही नहीं था, किन्तु जिस प्रकार उन्होंने सायनगणना के लिए वेधशाला के राशिचक्र का निर्माण किया था, उसी तरह ग्रहण देखने के लिए तुरीययन्त्र का भी आविष्कार कर लिया था। इस तुरीययंत्र का वर्णन भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि में किया है + और शिल्पसंहिता में तो दूरबीन बनाने का भी विस्तारसे वर्णन है। वहाँ लिखा है कि-

मनोर्वाक्यं समाधाय तेन शिल्पीन्द्र शाश्वतः।
यन्त्रं चकार सहसा दृष्ट्यर्थं दूरदर्शनम्॥
पलालाग्नौ दग्धमृदा कृत्वा काचमनश्वरं।
शोधयित्वा तु शिल्पीन्द्रो नैर्मल्यं क्रियते च।
चकार बलवत्स्वच्छं पातनं सूपविष्कृतं॥
वंशपर्वसमाकारं धातुदण्डप्रकल्पितम्।
तत्पश्चादग्रमध्येषु मुकुरं च विवेश सः॥
(शिल्पसंहिता)

अर्थात् दूर तक देखने के लिए इस प्रकार का यन्त्र बनाना चाहिए कि पहिले मिट्टी को जलाकर काँच तैयार करे। फिर उसको साफ़ करके उस स्वच्छ काँच को बाँस या धातु की नली में (आदि, मध्य और अन्त में) लगाकर देखे। यह तुरीययन्त्र की भाँति ही ग्रहों के देखने में काम आता है। इस तमाम वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिकों को ग्रहण जानने का ज्ञान था। यदि ग्रहण न जान सकते होते, तो उन्हें कैसे मालूम होता कि सूर्य को चन्द्रमा ढकता है? क्योंकि सूर्यग्रहण हमेशा अमावास्या को ही होता है, जिस दिन चन्द्रमा का कहीं पता ही नहीं रहता, सो भी दिन के समय और हर अमावास्या को नहीं, किन्तु कभी कभी। कभी किसी अमावास्या के रोज़ दिन के समय सूर्य को चन्द्र से ढकनेवाले सूर्यग्रहण की कल्पना, सो भी तुरीययन्त्र के द्वारा, क्या कभी आकस्मिक हो सकती है? कभी नहीं। इसके सिवा वेदों में ध्रुवप्रदेश में होनेवाले छे छे मास के दिनरात का भी वर्णन है, जिससे प्रकट हो जाता है कि याज्ञिक ज्योतिषियों को सायन गणना का पूरा ज्ञान था।

अभी हमने दिखलाया था, कि अथर्ववेद ८-९-६ के 'वैश्वानरस्य प्रतिमा' मन्त्र में बतलाया गया है, कि वैश्वानर राशिपथ पर घूमती हुई, पृथिवी में छे मास की रात और छे मास के दिन होते हैं। इसी विषय का स्पष्ट वर्णन तैत्तिरीयसंहिता में आया है, कि 'एकं वा एतद्देवानामहः यत्संवत्सरः' अर्थात् मनुष्यों का संवत्सर देवताओं के एक दिन के बराबर है। यह

+ दृगुच्चमूलं नलकं निवेश्य वंशद्वयाधारमथास्य रन्ध्रे।
विलोकयेत्खेचरं किलैवं जले विलोमं तदपि प्रवक्ष्ये॥ (सिद्धांतशिरोमणि)

देवताओं का दिन ध्रुवप्रदेशों में ही होता है। वैदिक काल में ही आर्यों को इसका ज्ञान था। किन्तु ईस्वी सन् पूर्व ४५० वर्ष तक ग्रीकों को इस बात का ज्ञान नहीं था। 'आर्यों का उत्तरध्रुव-निवास' में लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'हीराडोटस् नामक ग्रीक इतिहासज्ञ के समय (४५० ई० पूर्व) में लोगों को यह बात असत्य मालूम होती थी कि इस पृथिवी पर लोग छे मास की भी रात मानते हैं'। इससे ज्ञात होता है कि ध्रुवों में छे मास की रात और छे मास का दिन मालूम करना ज्योतिष् और भूगोल के महान् सूक्ष्म ज्ञान पर ही अवलम्बित है। जब तक क्रान्तिवृत्त और विषुववृत्त के चलाचल का ज्ञान न हो, तब तक ध्रुवका का हाल मालूम ही नहीं होता। क्रान्तिवृत्त राशिचक्र है, जो अचल है। परन्तु विषुववृत्त पृथिवी की गोलाई की रेखा है, जो नति अर्थात् पृथिवी के झुकाव के कारण चला करती है। इन्हीं दोनों से रातदिन का घटाव बढ़ाव, रातदिन की बराबरी और सायन वर्ष होता है। वैदिक आर्यों में ध्रुव का ज्ञान होने से इन सब बातों का ज्ञान पाया जाता है। अतएव सिद्ध है, कि वैदिक आर्य सायनगणना अच्छी तरह जानते थे।

उनको नति का भी ज्ञान था। विषुववृत्त और क्रान्तिवृत्त के बीच में लगभग २२॥ अंश का जो कोण है, उसे नति कहते हैं। लोकमान्य तिलक कहते हैं, कि 'प्रोफ़ेसर लड्विगके कथनानुसार ऋग्वेदमें क्रान्तिवृत्त और विषुवृत्तकी नति अर्थात् तिर्यक्त्व का उल्लेख है' ×। नति का सूक्ष्म ज्ञान होने पर ही ध्रुवों का हाल मालूम हो सकता है और तभी सायन गणना ठीक हो सकती है। ग्रीक लोगों को ध्रुव का ज्ञान नहीं था। इससे पाया जाता है कि वे क्रान्ति वृत्त का रहस्य नहीं जानते थे, किन्तु आर्य लोग जानते थे। ऐसी दशा में कैसे कहा जाता है कि आर्यों ने सायन गणना ग्रीकों से सीखी?

वैदिक आर्यों का वर्ष हमेशा सायन था और वह वसन्त ऋतु से ही आरम्भ होता था। तैत्तिरीय में लिखा है कि 'मुखं वा एतदृतूनां यद्वसन्तः'। अर्थात् वसन्त ऋतु सब ऋतुओं का मुख है। इसके विषय में 'ओरायन' में लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'यह मानने में लेशमात्र हरज नहीं है कि प्राचीन वैदिक काल में, जब सूर्य वसन्तसम्पात में होता था, तभी वर्ष का आरम्भ होता था'। इससे सिद्ध है कि वैदिक आर्यों का वर्ष सायन था। क्योंकि सायन गणना में ही वर्ष ऋतुओंवाला होता है और ऋतुएँ अयनोंवाली होती हैं। हम पहिले ही कह आये हैं कि ऋतुओं की सान्धियों में यज्ञ करने के लिये और उत्तरायण को मोक्षसाधक मानकर उसकी प्रतीक्षा करने के लिए उनको अयनचलन का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त हो गया था। सूक्ष्म ज्ञान से ही वे वर्ष के मध्य का दिन निकाल सकते थे और उसी दिन से वसंत ऋतु का आरम्भ मान करके वर्ष का आरंभ करते थे। यह सब कुछ विना अयनगति और राशिचक्र के ठीक ठीक ज्ञान के हो ही नहीं सकता।

ग्रीकों को इतना सूक्ष्म ज्ञान नहीं था। उनके विषय में लोकमान्य तिलक 'ओरायन' में कहते हैं कि 'दूसरे सर्व राष्ट्रों से पूर्व और विशेष सूक्ष्मता से अयनगति को भारतवासियों ने ही जाना था। ग्रीक ज्योतिष्शास्त्रज्ञ हिपार्कस्ने इस अयनगति को प्रतिवर्ष कम से कम ३६ विकला माना है, परन्तु इस समय वह ठीक ५०। विकला है और भारतीय ज्योतिर्विदों के हिसाब से वह ५४ विकला है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीयों ने अयनगति ग्रीकों से नहीं लिया। इस अयनगति को भारतीय ज्योतिषियों ने स्वयं ढूँढ निकाला है, इसमें ज़रा भी शक नहीं।' हमारा तो विश्वास है कि यह ज्ञान ग्रीकों ने भारत से ही सीखा है। भारतवासी 'पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिं' के अनुसार बारह राशियों की आकृतियों को जानते थे। वे उन्हें प्रतिमा अर्थात् नाप बतलाते हैं। इससे हम कह सकते हैं कि निस्संदेह मेष, वृष आदि राशियों के नाम भी यहाँवालों ने ही रक्खे हैं

× Prof. Ludwig goes further and holds that the Rigveda mentions the inclination of the ecliptic with the equator (1. 110. 12) and the axis of the Earth (10. 89. 4). (Orion, p. 158.)

और पीछे से उन आकृतियों के नामों का ग्रीकों ने अनुवाद कर लिया है। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि यहाँवाले राशिचक्र, अयनगति और सायन वर्ष वैदिक काल से ही जानते थे। क्योंकि उनको यज्ञ में ज्योतिष्के सूक्ष्म विचारों की आवश्यकता होती थी।

इस वैदिक ज्ञान से ऋषियों ने अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा ज्योतिष्सम्बन्धी जो सूक्ष्म ज्ञान आविष्कृत किया था, वह समय की अस्थिरता है। समय जिसे काल कहते हैं, वह पानी की धारा की भाँति अटूट बहता है। उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान की रेखा नहीं खींची जा सकती। कोई नहीं कह सकता कि इतने बजकर इतने मिनट और इतने सेकंड पर वर्ष समाप्त हुआ और नया लगा। क्योंकि काल प्रवाह का अबाधित गति से बह रहा है। यज्ञों के लिए ऋषियों को वर्ष का कोई एक ऐसा दिन मुकर्रर करना पड़ता था, जिससे वे छे छे महीने के दोनों अयनों को बाँट दें। उन्होंने उस दिन का नाम विपुवान् रक्खा था और उसको निश्चित भी कर दिया था। पर कालप्रवाह अस्थिर है, यह सोचकर उन्होंने गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि संवत्सर का विपुवान् आत्मा है और दो महीने अंग हैं। जहाँ आत्मा वहाँ अंग और जहाँ अंग वहाँ आत्मा है। आत्मा अंगों से अलग नहीं और अंग आत्मा से अलग नहीं। इसी तरह इधरवाले दिनों का वह पसीना है जो उधरवाला है और उधरवाले दिनों का यह पसीना है जो इधरवाला है। यही संवत्सर है ॐ।

कितना सूक्ष्म विज्ञान है? वे यह मानते हैं कि दो महीनों के बीच में कोई स्थान है, जो दोनों का आत्मा है। पर उसका नियंत्रण नहीं हो सकता, इसलिए कभी जरासा इस ओर और कभी जरासा उस ओर हो जाता है। क्योंकि दोनों खण्ड एक दूसरे का पसीना हैं। रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य कहते हैं कि 'यज्ञों में प्राची दिशा का साधना आवश्यक है और वर्षसत्र करते समय विषुवदिवस जानने का बडा माहात्म्य है। उस दिन सूर्य ठीक पूर्व के उदय होता है'। इस तरह से जहाँ वर्ष स्थिर करने के लिए, विपुवान् दिन नियत करने के लिए, वसंतसम्पात कायम करने के लिए और मोक्षदायक उत्तरायण जानने के लिए इतना सूक्ष्म विचार हो, वहाँ कौन कह सकता है कि वेदों की पूर्ण शिक्षासे आगे बढने, विचार सकने और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों के निश्चित करने का ज्ञान नहीं होता?

दूसरी सूक्ष्मता है सूर्य के उदय अस्त की। आधुनिक विद्वान् मानते हैं कि सूर्य का उदयास्त वैदिक काल में आजकल की भाँति ज्ञात नहीं था, परन्तु यह बात नहीं है। ऐतरेय और गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि न सूर्य कभी अस्त होता है और न उदय होता है। वह सदैव बना रहता है। परन्तु जब पृथिवी से छिप जाता है, तब रात्रि हो जाती है और जब पृथिवी उसकी आड से हट जाती है, तो दिन हो जाता है। यही बात डॉक्टर हॉगने ऐतरेय ब्राह्मणके अनुवादमें स्वीकार की है ×। ऐसी दशामें कौन कह सकता है कि खगोलिक भूगोल का सूक्ष्म ज्ञान उन्होंने नहीं आविष्कृत किया था? इसी तरह पृथिवी का आकर्षण भी उन्होंने ज्ञात कर लिया था। भास्कराचार्य स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि कोई भी भारी पदार्थ ऊपर की ओर फेंकने से वह नीचे गिर जाता है।

ॐ आत्मा वै संवत्सरस्य विपुवानङ्गानि मासौ, यत्र वा आत्मा तदङ्गानि यत्राङ्गानि तदात्मा। न वा आत्माऽङ्गान्यतिरिच्यते नोऽङ्गान्यात्मानमतिरिच्यन्ते। इत्येवमु हैव तदपरेषां स्विदितमह्नां परेषामित्यपरेषां चैव परेषां चेति ब्रूयात्स वा एष संवत्सरः। (गोपथ० ४।२९)

× स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति......अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रिरेव तदन्तमित्वा अथात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिम् परस्तात्। स वा एष न कदाचन निम्लोचति न ह वै कदाचन निम्लोचति। (ऐतरेय० ३।४।६)

The Aitareya Brahmana explains that the sun neither sets nor rises, that when the Earth, owing to the rotation on its axis is lighted up, it is called, and so on. (Haug's Aitareya Brahmana, Vol. II, p. 243.)

इससे सिद्ध है कि पृथिवी में आकर्षण है +। लोग इस आकर्षणके आविष्कार का श्रेय न्यूटन् को देते हैं, पर न्यूटन् के सैकडों वर्ष पूर्व यह ज्ञान यहाँ उत्पन्न हो चुका था। इसी तरह ग्रहों के आकर्षण की जो दूसरी बात समुद्र में ज्वारभाटे की है, वह भी आर्यों को ज्ञात थी। विष्णुपुराण में लिखा है कि यथार्थ में ज्वारभाटा से समुद्र का जल कम और अधिक नहीं हो जाता, प्रत्युत अग्नि पर थाली में जल रखने से जिस प्रकार वह उमड पडता है, उसी तरह चन्द्रमा के आकर्षण से ज्वारभाटा होता है। ॐ ज्योतिष् का सूक्ष्म गणित बीजगणित के विना सरलता से नहीं हो सकता। अतः आर्यों ने याज्ञिक ज्योतिष् के लिए उसका भी आविष्कार किया था। मोनियर विलियम् लिखते हैं कि 'बीजगणित और रेखगणित का आविष्कार तथा ज्योतिष् के साथ उनका उपयोग सबसे प्रथम हिंदुओं के ही द्वारा हुआ है' ॐ।

यज्ञों में प्रयुक्त होनेवाले ज्योतिष्ज्ञान की बदौलत ऋषियों को सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ज्ञान प्राप्त हुआ था। यज्ञों में जिस प्रकार पदार्थों के गुण और समय के प्रभाव के ज्ञान की आवश्यकता होती थी, उसी तरह यज्ञके लिए दिशा और देशके ज्ञान की भी आवश्यकता होती थी।

यज्ञों में कला--कौशल्य, कृषि और पाकशास्त्र।

आजकल जिसको 'इण्डस्ट्री' कहते हैं, वैदिक काल में उसी को शिल्पशास्त्र अथवा कलाज्ञान कहते थे। इसके जाननेवाले विश्वकर्मा या शिल्पी कहलाते थे। यज्ञमण्डप, कुण्ड, यज्ञपात्र, शस्त्रास्त्र, शकट और रथ आदि जितने कारीगरी से सम्बन्ध रखनेवाले याज्ञिक पदार्थ हैं, सबका समावेश उक्त शास्त्र में किया जा सकता है। यज्ञपात्र मिट्टी, काष्ठ, पत्थर, वांस्य लकड़ी, ताँबा, पीतल, सोने और चाँदी आदि के होते थे। यज्ञों में अनेक प्रकार के अन्नों और ओषधियों की भी आवश्यकता होती थी। इसलिए उनके उत्पन्न करने में जिन औज़ारों की आवश्यकता होती थी, वे भी बनाये जाते थे। हल, फाल आदि जोतने के, चक्र आदि पानी निकालने के, और ज़मीन खोदने, काटने, पीटने, पीसने, कूटने आदि के सभी यंत्र बनाये जाते थे। इसी तरह यज्ञरक्षा के लिए बाणों से लदी हुई गाड़ियाँ और रथ भी होते थे। उनके बनाने के भी सब साधन थे। पंच महायज्ञों के स्रुवा, प्रणेता से लेकर अश्वमेध यज्ञ के युद्ध उपकरणों तक सभी कारीगरी के पदार्थ बनाये जाते थे। वीणा, मृदङ्ग आदि संगीत के, शङ्ख, घण्टा आदि उत्सव के और रणभेरी आदि युद्धों के वाद्य भी बनाए जाते थे। कहने का मतलब यह कि वैदिक काल के याज्ञिक पदार्थ संख्या में बहुत थे। एक चक्रवर्ती राजा से लेकर एक साधारण किसान तक के आवश्यक यंत्र और शस्त्रास्त्र तैयार होते थे। कपास और ऊर्ण वस्त्रों की भी यज्ञों में आवश्यकता होती थी। क्योंकि पुरुषों और स्त्रियों को अधो और उत्तरीय वस्त्र पहनकर यज्ञ में आना पड़ता था। इसी तरह सत्तू छानने के लिए ऊर्ण सूत्र से मढ़ी हुई तितउ (छानती) और शूर्प की भी आवश्यकता होती थी। वस्त्रों के बुनने और सूत कातने के औजार भी बनाये जाते थे। कहाँ तक गिनावें, सभ्यता से सम्बन्ध रखनेवाले सभी पदार्थ उपस्थित थे और सब यज्ञों के ही लिए थे, शौक़ के लिए नहीं।

उन दिनों में कारीगरी का मान भी बहुत था। यजुर्वेद में 'कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः' के अनुसार कुम्हार और बढ़इयों से लेकर जितने कारीगर हैं, सबके लिए आदर और अन्न की व्यवस्था बतलाई गई है। शिल्पियों और रथकारों को यज्ञ में शरीक होने का भी आदेश है और इनका दर्जा ब्राह्मणों के बराबर दिया गया है। इसीलिए उस समय के आर्य कलाकौशल के द्वारा

+ आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत् स्वस्थं गुरुः स्वाभिमुखं स्वशक्त्या। आकृष्यते तत् पततीति भाति समं समन्तात् क पतत्वियं खे। (गोलाध्याय)

ॐ स्थालीस्थमग्निसंयोगादुद्रेकि सलिलं यथा। तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्भोधौ मुनिसत्तम। (विष्णुपुराण)

ॐ To the Hindus is due the invention of Algebra and Geometry and their application to Astronomy. (Indian Wisdom, p. 185.)

विश्वविजयी होकर 'अश्वमेध' कर सकते थे। क्योंकि कलाकौशल की महिमा महान् है। इस कलाकौशल में यज्ञों के पात्रों की बड़ी महिमा है। उनके बनाने में बड़ी कारीगरी है। वे पदार्थों के रखने और यज्ञ का काम चलाने के लिए बनाये जाते थे। इसलिए इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खा जाता था कि उनका अच्छी तरह उपयोग हो सके। इन पात्रों में बहुत से खाद्य द्रव्य भी रक्खे जाते थे। क्योंकि यज्ञों में पाकशास्त्र का भी विशेष स्थान है। पाक का सम्बन्ध कृषि से है, इसलिए यहाँ कृषि और पाक का वर्णन भी होना आवश्यक है।

यज्ञोंमें ओषधियों के अतिरिक्त जौ, चावल, तिल, सत्तू, हवि, करम्भ, मालपुवा और भात आदि का भी हवन होता है। बगीचोंके अनेक मेवों और जंगलों की अनेक जड़ी बूटियोंका भी हवन होता है। दोनोंका कृषिसे सम्बन्ध है, इसलिए यज्ञोंके प्रकरणमें कृषि का स्थान बहुत विशेष है। वेदों में खेती का वर्णन विस्तार से आया है, तथा अनेक प्रकार के अन्नों के नाम भी आते हैं। वहाँ लिखा है कि 'सीरा युञ्जन्ति कवयः, अर्वाची सुभगे भव सीते, युनक्तु सीरा, शुनं वाहा शुनं फाल।' अर्थात् बड़े बड़े विद्वान् हलों को गोड़ते हैं। हे हल की फाल! हमारे लिए कल्याणदायक हो। हल को चलाओ, बैलों और हलकी फाल को चलाओ। इसी तरह शतपथ ब्राह्मण में है कि 'यत्र वा अस्यै बहुलता ओषधयः तदास्या उपजीवनीयतमम्' अर्थात् जहाँ ओषधियों की बहुलता होती है, वहीं जीवन का साधन-अन्न-उत्पन्न होता है। कृषि के अतिरिक्त बाग़बग़ीचे लगाना भी एक प्रकार का यज्ञ ही कहा गया है। इस यज्ञ का नाम 'इष्टापूर्त' है। इष्टापूर्त में कुँवा और तालाब बनवाना तथा बाग़बग़ीचे लगाना सम्मिलित है। बागों से ही काष्ठ और यज्ञोपयोगी फल मिलते हैं। रहे जंगल, वे तो यज्ञों की जान ही हैं। वेदों में जंगलों का विस्तृत वर्णन है। ऋग्वेद में अरण्यानी सूक्त बड़े महत्त्व का है। आर्यों का एक आश्रम ही जिसका नाम वानप्रस्थ आश्रम है, बिलकुल ही जंगलों के आधार पर स्थित है। वनस्थों को नित्य फलमूल से यज्ञ करने का विधान किया गया है। अरण्यानी सूक्त में लिखा है कि 'स्वादोः फलस्य जग्ध्वा, वसतय कृषीबलम्' अर्थात् जंगलों से सुस्वादु फलों की और विना खेती के ही बहुत से अन्नों की प्राप्ति होती है। इसलिए यज्ञ के साधनों में खेती, जहाँ से हवनीय अन्न मिलते हैं, बग़ीचे, जहाँ से समिधा मिलती हैं और अरण्य, जहाँ से ओषधियाँ और नाना प्रकार की मेवा प्राप्त होती हैं, बहुत आवश्यक हैं। अन्न, समिधा और मेवों ही पाक बनते हैं। अतः यज्ञोंमें पाकशास्त्र का भी महत्त्व कम नहीं है।

यज्ञों के लिए वेदों में हवि, करम्भ, सत्तू और मालपुवा तथा ओदन बनाने का वर्णन आता है। यजुर्वेद २०।२९ में 'धानावन्तं करम्भिणं' मन्त्र आया है, जिसका अर्थ यह है कि हे इन्द्र! प्रातःकाल हमारे धानवाले पदार्थ, दहीमिश्रित सत्तूवाले करम्भ और मालपुएवाले उत्तम के पुरोडाश का सेवन कीजिये। अथर्ववेद में ओदन तथा यजुर्वेद में हवियों का वर्णन भी आता है। इसलिए वैदिक याज्ञिक पाकशास्त्र में बहुत ही कुशल प्रतीत होते हैं। इसका कारण यही है कि आर्यों के धर्मानुसार और उनकी प्रवृत्ति के अनुसार तो जो कुछ पकाया जाय वह यज्ञ के ही लिए पकाया जाय, अपने लिए नहीं क्योंकि लिखा है कि 'जो केवल अपने लिए पकाता है, वह निरा पाप खाता है'। अतः यज्ञशिष्ट ही खाना चाहिए। यज्ञ का प्रसाद ही अपनी खुराक है। यह भी इसलिए कि यदि इसमें इतना भी मनुष्य का स्वार्थ न होगा, तो वह हवनीय पदार्थों को उत्तमता के साथ न पकावेगा। अर्थात् जैसे तैसे बना डालेगा। पर पुरोडाश-प्रसाद-पाने के लोभ से उत्तम बनावेगा। पाक की उत्तमता खाने से ही मालुम होगी और यदि त्रुटि होगी, तो वह दूसरे दिन दूर की जा सकेगी। इसलिए प्रसाद के तौर पर यज्ञान्न खाया जाता है। अन्यथा वैदिकों की असली खुराक तो फल और दूध ही है। दूध के बिना घृत और दधि प्राप्त नहीं हो सकता और बिना दूध घृत के हवि, अपूप, करम्भ आदि बन नहीं सकते हैं। दूध, घृत आदि पशुओं से प्राप्त होते हैं, अतः यज्ञ में पशुपालन भी एक प्रधान कार्य है।

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद्वशी ।
तरांसि यज्ञा अभवन्तरसां चक्षुरभवद्वशा ॥२४॥
वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद्वशा सूर्यमधारयत् ।
वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥२५॥
वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते ।
वशेदं सर्वमभवद्देवा मनुष्याऽ३ असुराः पितर ऋषयः ॥२६॥
य एवं विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात् ।
तथा हि यज्ञः सर्वपाद्दुहे दात्रेऽनपस्फुरन् ॥२७॥

अर्थ- (एकः युधः संसृजति) एक योद्धा व्यवस्थाको उत्पन्न करता है। (यः अस्याः इत् वशी एकः) जो इस गौका एक ही वश करनेवाला है। (यज्ञाः तरांसि अभवन्) यज्ञ पार करनेवाले हैं, और (तरसां चक्षुः वशा अभवत्) पार होनेवालों की आंख गौ बनी है। गौकी सहायतासे सब लोग दुःखोंसे पार होते हैं ॥ २४ ॥

(वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णात्) वशा गौ यज्ञ स्वीकारती है, (वशा सूर्यं अधारयत्) वशा गौने सूर्य धारण किया है। (वशायां ओदनः अविशत्) गौमें भात अन्न प्रविष्ट है और वह (ब्रह्मणा सह) ज्ञानके साथ प्रविष्ट हुआ है। गौके आधारसे यज्ञ, अन्न और ज्ञान सुरक्षित रहते हैं ॥ २५ ॥

(देवाः वशां अमृतं आहुः) देव गौको अमृत कहते हैं, (वशां मृत्युं उपासते) गौको मृत्यु समझकर उपासना करते हैं। (वशा इदं सर्वं अभवत्) गौ हि यह सब हुई है, अर्थात् (देवाः मनुष्याः असुराः पितर ऋषयः) देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषि यह वशाकाही रूप है ॥ २६ ॥

(यः एवं विद्यात्) जो यह तत्त्वज्ञान जानता है, (सः वशां प्रतिगृह्णीयात्) वह वशा गौका दान लेवे। तथा वशा गौके दाता को (यज्ञः सर्वपात् अनपस्फुरन् दुहे) यज्ञ सब प्रकारसे सफल होकर विचलित न होता हुआ सुयोग्य फल प्रदान करता है ॥ २७ ॥

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि ।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥२८॥
चतुर्धा रेतो अभवद्वशायाः ।
आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम् ॥२९॥
वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः ।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये ॥३०॥
वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये ।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥३१॥

अर्थ- (वरुणस्य आसनि अन्तः तिस्रः जिह्वाः) वरुण के मुखमें तीन जिह्वाएं (दीद्यति) चमकती हैं। (तासां मध्ये या राजति) उनके बीच में जो विशेष चमकती है, (सा वशा) वह वशा गौ ही है, अतः वह (दुष्प्रतिग्रहा) दानमें स्वीकार करना कठिन है ॥ २८ ॥

(वशायाः रेतः चतुर्धा अभवत्) वशा गौका वीर्य चार प्रकारसे विभक्त हुआ है। (आपः तुरीयं) आप् चतुर्थ भाग है, (अमृतं तुरीयं) अमृत अन्न चौथा भाग है, (यज्ञः तुरीयं) यज्ञ चौथा भाग है और (पशवः तुरीयं) पशु चौथा भाग है। यह सब वशा का चतुर्धा वीर्य है ॥ २९ ॥

(वशा द्यौः) वशा द्यौ है, (वशा पृथिवी) वशा ही पृथिवी है, (वशा प्रजापति विष्णुः) वशा ही प्रजापालक विष्णु है। ये साध्याः वसवः च) जो साध्य और वसु हैं, वे (वशायाः दुग्धं अपिबन्) वशा गौका दूध पीते हैं ॥ ३० ॥

(ये साध्याः वसवः च) जो साध्य और वसु हैं वे (वशायाः दुग्धं पीत्वा) वशा गौका दूध पीकर पश्चात् (ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि) वे स्वर्गके स्थानमें (अस्याः पयः उपासते) इसके दूधकी प्राप्ति करते हैं ॥ ३१ ॥

सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते।
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ॥३२॥
ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वांल्लोकान्त्समश्नुते।
ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ॥३३॥
वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत।
वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति ॥३४॥ (३५)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५॥

॥ इति दशमं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ-(एनां सोमं एके दुह्रे) इससे सोमका कईयोंने दोहन किया है,(एके घृतं उपासते) कई इससे घृतकी प्राप्ति करते हैं। (एवं विदुषे वशां ददुः) जो इस प्रकारके विद्वान् को गौका प्रदान करते हैं, (ते दिवः त्रिदिवं गताः) वे स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३२ ॥

(ब्राह्मणेभ्यः वशां दत्वा) ब्राह्मणोंको वशा गौ देकर (सर्वान् लोकान् सं अश्नुते) सब लोकोंको प्राप्त करते हैं। (अस्यां ऋतं ब्रह्म अथो तपः हि आर्पितम्) इसमें ऋत, ज्ञान, तप आश्रित होते हैं ॥ ३३ ॥

(देवाः वशां उपजीवन्ति) देवताएं वशा गौपर उपजीवन करती हैं (उत मनुष्याः वशां) और मनुष्यभी वशा गौपर ही जीवित रहते हैं। (वशा इदं सर्वं अभवत्) वशा गौ ही यह सब हो गयी है (यावत् सूर्यः विपश्यति) जहां तक सूर्य का प्रकाश पहुंचता है ॥ ३४ ॥

पंचम अनुवाक समाप्त।

दशम काण्ड समाप्त।

सर्वाधार श्रेष्ठ ब्रह्म।

सूक्त ७ से सूक्त १० तक का स्पष्टीकरण किया नहीं, वह अब संक्षेपसे करना है।

सूक्त ७ और ८ में सर्वाधार श्रेष्ठ ब्रह्मका वर्णन है और यह विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखने योग्य है।

प्रथमके २२ मंत्रोंतक 'कतमः स्वित् एव सः' वह देव कौनसा है? ऐसा प्रश्न किया है। उस एक सर्वाधार देवताके विषयमें किसीको संदेह नहीं है, उसका वर्णन पूर्व मंत्रभागमें करते हैं और अन्तमें पूछते हैं, कि 'वह देव, जिसका की यहांतक वर्णन हुआ है, वह कौनसा है।' इस उपदेश की अपूर्व विधिका तात्पर्य यह है कि, जिसका वर्णन पूर्व मंत्रभागमें अथवा मंत्रभागोंमें किया गया है, वह देव कहां है, उसका अनुभव पाठक लेवें। जो श्रेष्ठ ब्रह्म है, उसका वर्णन मंत्रों में किया है, वह अनुभवमें आने योग्य है, मनुष्यका जन्म ही इस कार्यके लिये है। अब देखिये इस वर्णन का अनुभव कैसा आ सकता है।

प्रथम मंत्रमें "तप, ऋत, व्रत, श्रद्धा, और सत्य किस अंग या अवयवमें रहता है," यह पूछा है। मनुष्यके किस अंगमें 'सत्य' रहता है? पाठक सोचें और अपने अन्दर देखें, तथा अनुभव लें, कि अपने अन्दर कहां किस स्थानमें सत्य रहता है, वही आत्मा है, यह निश्चयसे पाठक जान सकते हैं, आत्म-बुद्धि-मन-चित्त इस अन्तःकरणचतुष्टय में हि सत्य श्रद्धा आदिका निवास है।

आगे मंत्र २, ३ और ४ इन तीन मंत्रोंमें विश्वात्माके किस अंगमें अग्नि, वायु, चन्द्रमा, भूमि, अन्तारिक्ष, द्युलोक, उत्तर द्युलोक, जलप्रवाह ये रहते हैं इसकी पृछा की है।

पाहिले मंत्र में सत्य श्रद्धा आदिका स्थान मानव-व्यक्ति में पूछा है और अगले इन तीन मंत्रोंमें विश्वात्माके देहके अग्नि वायु आदि देव किस अंगमें और किस अवयवमें रहते हैं, यह प्रश्न पूछा है। वेदमें व्यक्तिगत आत्मतत्त्व और विश्वगत आत्मतत्त्वका विचार विभिन्न रीतिसे नहीं होता है, यह पाठक यहां देखें। विश्वव्यापक आत्मतत्त्व का ज्ञान यथार्थ रीतिसे होनेके लिये इस वर्णन की शैली को यथावत् जानना चाहिये।

आगे मंत्र ५ और ६ कालस्वरूपका वर्णन है। इस कालस्वरूप के मास, पक्ष, ऋतु, अयन, अहोरात्र, पर्जन्यधाराएं (वर्षाकाल) सर्वाधार परमात्माके आधार से रहते हैं।

यहांतक पाठक देख सकते हैं कि प्रथम मंत्रमें वैयक्तिक सत्य श्रद्धा आदि गुण, आगेके तीन मंत्रोंमें पृथिव्यादि विश्वके पदार्थ और आगेके दो मंत्रोंमें काल के सब अवयव उसी एक सर्वाधार परमात्माके आधार से रहते हैं, ऐसा कहा है। यहां वैयक्तिक श्रद्धादि गुण व्यक्तिगत आत्माके आधारसे रहते हैं, ऐसा नहीं कहा, प्रत्युत येभी विश्वात्माकेहि आधारसे रहते हैं, ऐसा कहा है।

जो संपूर्ण लोकलोकान्तरोंको धारण कर रहा है, वह प्रजापतिभी उसी सर्वाधार स्कंभमें आश्रित है, यह कथन मंत्र ७ में है। यहां प्रजापति नाम सर्वाधार विश्वात्माके आधार से रहनेवाले लोकपालक का है। अष्टम मंत्रमें कहा है, कि प्रजापति उच्च, मध्यम और कनिष्ट (सात्त्विक, राजस और तामस) विश्वके पदार्थ निर्माण करता है और इस तरह त्रिविध विश्वकी उत्पत्ति होते ही स्कंभ नामक जो सर्वाधार आत्मा है, वह उस त्रिविध विश्वमें प्रविष्ट होता है और अन्दर व्याप कर रहने लगता है। ऐसा होनेपर मंत्रमें प्रश्न पूछा है, कि इस तरह सर्वाधार आत्माका प्रवेश त्रिविध विश्वमें होनेके पश्चात् उस विश्वात्माके कितनेसे अंशने इस विश्वको व्यापा है और कितना विश्वात्माका भाग अवशिष्ट रहा है, जो इस विश्वके साथ संबंधित हि नहीं हुआ? अर्थात्—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ (ऋ० १०। ९०)

एक अंशमात्रमें ये सब भूत हैं और शेष सब परमात्मा अपने स्वरूपमें विराजता है। यह अनंत विश्व यद्यपि हमारी दृष्टिमें अनन्त और अगाध है, तथापि परमात्मा की दृष्टिसे वह अत्यंत अल्प, अंशमात्र है। यही बात समझाने के लिये इस अष्टम मंत्रमें ये दो प्रश्न किये हैं, कि विश्वमें इसका कितना अंश प्रविष्ट हुआ है और इसका शेष अंश कितना है? इसका उत्तर यही है, कि विश्व एक अल्पसा अंश है और शेष अनन्त परमात्मा है, जो इस विश्वसे बाहर है।

नवम मंत्रमें फिर पूछा है, कि भूतकालके विश्वमें कितना परमात्मा प्रविष्ट हुआ था, और भविष्यकालके विश्वमें कितना प्रविष्ट होगा, और वर्तमानकालीन विश्वमें कितना प्रविष्ट हुआ है? अर्थात् इसका उत्तर यही है, कि भूत, वर्तमान और भविष्य-

कालीन सब मिलकर विश्व एक अल्प अंशके बराबर है, विश्वके बडेपनसे परमात्माका बडापन अनंतगुणा है, यही यहां कहनेका तात्पर्य है। इस मंत्रमें तीसरा चरण अत्यंत महत्त्वका है, वह यह है—

यत् एकं अंगं सहस्रधा अकरोत्॥ (मं० ९)

" जो अपने एक अंगको सहस्रों भागोंमें विभक्त करता है।" जैसा सूर्यका विभाग होकर ग्रह और उपग्रह बने, पृथ्वीके विभाग हो कर स्थावर, जंगम, वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य बने। एक अंगके सहस्रों पदार्थ इस तरह बनते हैं। यही बात इसी सूक्तके २५ वें मंत्रमें इस तरह कही है—

बृहन्तो नाम ते देवाः ये असतः परिजज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य असदाहुः परो जनाः॥ २५॥

" वे बडे देव असत् से उत्पन्न हो चुके हैं और यह असत् सर्वाधार परमात्माका एक अंग ही है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं॥"

स्कम्भ नाम सर्वाधार परमात्मा है, इसके दो अंग हैं। एक का नाम सत् और दूसरे का नाम असत् है। इन दोनों अंगोंका मिलकर नाम स्कम्भ अर्थात् सर्वाधार परमात्मा है। इस स्कंभ के एक अंगसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु आदि सब लोक-लोकान्तर बने हैं, इसीका अर्थ "इसने अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त कर दिया।' इस ९ म मंत्रमें स्पष्ट कह दिया है। पाठक इस तरह मंत्रका आशय जान सकते हैं। शतपथादि ब्राह्मणमें कहा है कि

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च॥

'ब्रह्मके दो रूप हैं, मूर्त और अमूर्त'। इनका अधिक स्पष्टीकरण ऐसा किया है, कि मूर्त शरीर और इन्द्रियां हैं और अमूर्त प्राण, मन आदि हैं। यह मूर्त और अमूर्त मिलकर ब्रह्म होता है। यही आशय स्कंभ नाम सर्वाधार परमात्माके असत् नामक एक अंगसे सब लोकलोकान्तर बने हैं, इस मंत्रमें प्रकट हुआ है, और वे कैसे बने हैं, इसका स्पष्टीकरण 'इस स्कंभ नामक विश्वात्माने अपने एक अंगको सहस्र-धा विभक्त करके यह विश्व बनाया, इस ९ म मंत्रमें हुआ है।

दशम मंत्रमें इस स्कम्भ नामक सर्वाधार में लोक, कोश, आप, असत् और सत् रहते हैं और ये वहां हैं, यह बात ब्रह्मज्ञानी लोग यथावत् जानते हैं, ऐसा कहा है, वह उक्त बात उक्त दृष्टिसे हि समझना चाहिये।

आगे ११ और १२ इन दो मंत्रोंमें वही बात दुहराई है, कि जो पहिले १ से ४ मंत्रोंमें कही है। स्कम्भ नामक विश्वाधार के अंग में अर्थात् शरीरमें अग्नि आदि देवताएं अपने अपने स्थानमें रही हैं। अर्थात् अग्नि, आप्, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र मिलकर उस सर्वाधार का शरीर है। आगेके चार मंत्रोंमें अर्थात् मंत्र १३ से १६ तक यही बात कही है--

मं० १३ = जिस सर्वाधारके शरीरके अंगोंमें ३३ देवताएं रही हैं।

मं० १४ = सब पहिले उत्पन्न हुए ऋषि, भूमि, ऋचा, साम, यजु, एक मुख्य ऋषि ये सब उसी सर्वाधारमें रहते हैं।

मं० १५ = पुरुषमें अमृत और मृत्यु रहते हैं। समुद्र जिसकी धमनियां हैं।

मं० १६ = चारों दिशा-उपदिशाएं जिसमें नाडियां हैं, जहां यज्ञ विशेष महत्त्व का स्थान पाकर रहा है।

इस तरह सर्वाधार परमात्माके शरीरके अंग बनकर ये सब पदार्थ रहे हैं। इसका ही स्पष्टीकरण पाठक आगे देख सकते हैं।

मं० १८ = इस सर्वाधारका मुख अग्नि है, चक्षु अंगिरस हैं, अन्य अवयव यातु-जन्तुमात्र है,

मं० १९ = ब्राह्मण जिस सर्वाधारका मुख है, जिह्वा मधुकशा- गौ है, जिस का दुग्धाशय विराट् विश्व है।

मं०२० = उससे ऋग्वेद, यजुर्वेद हुए और साम जिसके लोम है और अथर्वा-ब्रह्मा-जिसका मुख है।

पाठक इस वर्णनकी तुलना १३ से १६ मंत्रोंके साथ करें। मंत्र १३ से १६ तक जो कहा है, वही अधिक सुदृढ करनेके लिये मंत्र १८ से २० तक के मंत्र हैं। विश्वरूपी परमात्माके ये सूर्यादि अवयव हैं, यह विश्वही उसका शरीर है, वेद ही उसकी वाणी है, वेदके द्वारा वही सब मनुष्योंके साथ बोल रहा है। जो वेदवेत्ता ब्राह्मण है, वही उसका मुख है। इस तरह परमात्मा प्रत्यक्ष हो रहा है, पाठक इस रूपमें परमात्माका साक्षात्कार करना सीखें।

१७ वे मंत्रमें परमात्मसाक्षात्कार करनेकी और एक विशेष युक्ति दी है, वह यह है कि—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्॥ (१७)

"जो पुरुषमें-मनुष्यके अन्दर ब्रह्म जानते हैं वे ही परमेष्ठी परमात्माको जानते हैं। यहां व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी का भेद देखना चाहिये। व्यष्टि एक व्यक्ति है, समष्टि व्यक्तिसमूहका नाम है, और परमेष्ठी स्थिरचर विश्वसंपूर्णका नाम है। मनुष्य विश्वव्यापक परमेष्ठी को किस तरह जान सकता है? मनुष्यका इन्द्रियसमूह अल्प शक्तिवाला है, उससे विश्वसमष्टिका आकलन कैसे हो सकता है? उत्तरमें कहते हैं कि मनुष्य अपने अन्दर वही विश्वकी बातें अनुभव करे। मनुष्य अपने अन्दर देखे, कि मेरा आंख सूर्य ही है, अग्नि शरीरमें उष्णतारूप धारण किये हैं, जलतत्त्व रक्तरूपसे मेरे शरीरमें है और नाडियों में प्रवाहित हो रहा है, वायु मेरा प्राण बना है, पृथ्वी भी हड्डियोंके रूपसे शरीरमें है, दिशाएं कान में रहीं हैं, इसी तरह ३३ देवताएं मेरे इस छोटेसे शरीर में अंशरूपसे आकर रही हैं और यहां मुझे सहायता दे रहीं है। मैं आत्मा हूं और ये ३३ देव यहां मेरे सहायक होकर इस शरीरमें मेरे वशवर्ती हो रहे हैं। यही ज्ञान पुरुष—मनुष्य—के शरीरमें लेने योग्य है। यही शरीरमें मूर्त और अमूर्त ब्रह्म रहता है। इसको यथावत् जाननेसे विश्वमें-विश्वात्मामें- येही ३३ देव वैसे रहे हैं, यह साधक जान सकता है और अपने शरीर के अंशरूप देवोंका विश्वव्यापक परमात्मदेहमें रहनेवाले देवोंके साथ क्या संबंध है, यहभी देखा जा सकता है। जैसा आंखका सूर्य से संबंध इ०। इस तरह विचार करनेसे साधक अपने आपको परमात्माके विश्वव्यापक देहमें एक अंश- अल्प अंशरूप देख सकता है। जो इस तरह अपने शरीरमें अनुभव कर सकेंगे, वेही ब्रह्माण्डदेहमें ब्रह्मका अनुभव और साक्षात्कार कर सकते हैं। यह ब्रह्मसाक्षात्कार की साधना है।

जो इस तरह मनुष्य अपने अन्दर ब्रह्म देख सकते हैं, वे परमेष्ठी, प्रजापति और ज्येष्ठ ब्रह्मको भी क्रमशः जान सकते हैं और अन्ततः सर्वाधार परमात्माको जान सकते हैं।

कई साधक असत्को ही श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना करते हैं, और दूसरे साधक सत् को ही श्रेष्ठ मानकर उपासना करते हैं। इस तरह दोनों उपासनाएं मनुष्यों में शुरू हैं। यह मंत्र २१ में वर्णन है। परंतु आगे (मं० २२ में) कहा है, कि जिसमें आदित्य, रुद्र और वसु रहते हैं, और जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य काल के सब लोकलोकान्तर रहे हैं, वही सर्वाधार परमेश्वर सबका उपास्य देव है॥

(मं० २३ =) जिस परमात्माके निधिका संरक्षण सब तैंतीस देव करते हैं,

उस निधिको कौन जानता है? इस मंत्रका अनुभव पाठक अपने अन्दर भी देख सकते हैं, क्योंकि सब ३३ देवों द्वारा—देवताओंके अंशोंद्वारा-ही यहांके आत्माकी रक्षा हो रही है। यहां सूर्य,चन्द्र,वायु,अग्नि,पृथ्वी आदि आये हैं,रहे हैं और यहांके निधिकी रक्षा कर रहे हैं। इसी का वर्णन आगेके २४ वें मंत्रमें कहा है कि ब्रह्मज्ञानी और देव जहां श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं,यह जो जानता है,वही ज्ञानी होता है। २५ वे मंत्रमें सर्वाधार परमात्मा का एक अंग असत् है,जिससे अग्न्यादि सब देवताएं बनी हैं, ऐसा वर्णन है, अर्थात् यह बात यहां स्पष्ट हो चुकी है कि सर्वाधार परमात्माके शरीर के दो अंक हैं, एक सत् और दूसरा असत्। दोनों मिलकर सर्वाधार परमात्मा होता है, जिसका आधार सब विश्वको है। इसी बातका अधिक स्पष्टीकरण मंत्र २७ में करते हैं— जिसके शरीरमें ३३ देव एक एक अवयवमें रहते हैं, अर्थात् जिसके शरीरके अवयव इन देवताओंके हि बने हैं, वही सर्वाधार परमात्मा है, इसको ब्रह्मज्ञानीहि जानते हैं।

इस स्थानपर परमात्मा मूर्त-अमूर्त, दोनों रूपोंवाला है,यह बात स्पष्ट हो चुकी है। परमात्माका प्रत्येक गात्र एक एक देवताका बना है। वस्तुतः मनुष्यके गात्रभी सब देवताओंके हि बने हैं। क्या हमारे गात्रों और अंगोंमें पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु आकाश ये देवताएं नहीं हैं? हैं और अवश्य हैं। इसी तरह विश्वाधार परमात्माके विश्वदेहके प्रत्येक अंगभी देवताओं के ही बने हैं। इस तत्त्वज्ञानको ब्रह्मज्ञानीहि जानते हैं, अन्य मूढ क्या जानेंगे?

२६ वे मंत्रमें एक विशेषहि महत्त्वकी बात कही है, वह यह कि—

स्कंभः पुराणं प्रजनयन् व्यवर्तयत्॥ (२६)

"सर्वाधार परमात्मा अपने पुराणे अंगको पुनः जन्म देता हुआ, उसको परिवर्तित करता है, अर्थात् नया ही बनाता है।" यह इस सर्वाधारका अंग पुराणा होनेपर भी उसीकाही समझना चाहिये। उसीका है ऐसा ज्ञानी जन मानते हैं। यही बात आगे अगले सूक्तमें दर्शायेंगे—

एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः। (सूक्त८।२८)

'एकही देव जो मनमें प्रविष्ट हुआ है, वह पहिले जन्मा था, वही पुनः गर्भमें आ गया है।' यह नया बननेके लिये ही गर्भमें आ गया है। यही बात अन्य वेदोंमें भी है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥
(वा० यजुः० ३२।४)

" यह देव सब दिशाओंमें व्याप्त है, यही पहिले जन्मा था, और यही अब गर्भमें आ गया है, यही भूत कालमें हुआ था और यही भविष्य कालमें जन्म लेनेवाला है, तात्पर्य यह कि यही सब-अनंत मुखवाला प्रत्येक मनुष्यमें रहता है। " अतः यही पुराणा हो जानेपर पुनः पुनः जन्म लेता है और नया बनता है क्योंकि मृत्युभी यही है और जन्म भी यही है। यम (मृत्यु) भी वही है और प्रजापतिभी अथवा पिताभी वही है।

मं० २८ में हिरण्यगर्भ भी उसी स्कंभ-- सर्वाधारसे सामर्थ्य प्राप्त करके हुआ, यह बात दर्शाइ है। तात्पर्य यह कि इस सर्वाधार परमात्मामें सब लोक, सब तप, सब ऋत, अर्थात् सब कुछ समाया है। इसीका नाम इन्द्र है और इसी कारण इन्द्रमें यह सब कुछ है, ऐसा कहा जाता है। (मं० २९-३०) इस परम देवका नाम प्रातःकालमें सूर्योदयके पूर्व और उषःकालके पूर्व ध्यानद्वारा स्मरण करनेसे अपना आत्मिक स्वराज्य प्राप्त होता है, जो सबसे श्रेष्ठ मनुष्यका प्राप्तव्य है। यह नामजप एक प्रकारका वाग्यज्ञ ही है।

ईश्वरका शरीर।

आगे ३ मंत्रोंमें (अर्थात् मं० ३२--३४ इन मंत्रोंमें) ईश्वरके शरीरका वर्णन है। भूमि उसके पांव हैं, अन्तरिक्ष पेट है, द्युलोक सिर है, सूर्य आंख है, नया नया बननेवाला चन्द्रमा भी उसका दूसरा आंख है, अग्नि मुख है, वायु प्राण और अपान है, अंगिरस आंख बने हैं, दिशाएं कान हैं। इस तरह इस सर्वाधारका ब्रह्माण्ड देह है। पाठक इस तरह इस परमात्माका साक्षात्कार करें। इसी परमात्माने यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, सब दिशा उपदिशाओं का धारण किया है, वह सब भुवनोंके अन्दर व्याप कर रहता है। सबका धारण करता है। (मं० ३५)

इस परमात्माने हि ' सोम ' नामक दिव्य औषधि बनायी है, वायु और मन को चञ्चल बनाया है, जलोंको प्रवाही बनाया है। इसी भुवनोंके बीचमें वर्तमान देवताके

आश्रयसे सब देवताएं रहती हैं, जिस तरह शाखाएं वृक्षके आश्रयसे रहती हैं। हाथ, पांव, वाणी, कान, चक्षुसे जिसको उपहार पहुंचाया जाता है, सब देवता जिसकी उपासना करके उपहार पहुंचाते हैं, वही अनन्त ईश्वर सबका उपास्य है। (मं० ३६-३९)

उसमें अन्धकार नहीं है, पाप उससे दूर है, तीनों ज्योतियां उसीमें हैं। वही सर्वत्र गुप्त रहनेवाला प्रजापति है। दिनप्रभा और रात्री ये दो स्त्रियें छः ऋतुवाला संवत्सररूपी वस्त्र बुन रहीं हैं, न ये कभी थकती हैं और न अपना कार्य समाप्त करती हैं। इनपर अधिष्ठाता एक पुरुषभी है, जो धागा देता है और कार्य करवाता है। सब ताना और वाना यह काल ही है। यह उसी परमात्माकी शक्तिका एक महिमा है। (मं० ४०--४४)

पाठक इस तरह इस सूक्तका मनन करें और परमात्माका साक्षात्कार करनेको सीखें। इसी लिये मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है। अब इसी परमात्माके वर्णनपरक आगेका मनोरम सूक्त देखिये—

सूक्त ८, ज्येष्ठ ब्रह्म।

पूर्व सूक्तमें जिस स्कंभ-स्तंभ-सर्वाधार परमात्माका वर्णन हुआ है, उसीका वर्णन करके पुनः इसी सूक्तमें वही विषय समझाते हैं—

भूत, वर्तमान और भविष्य कालमें जो कुछ विश्व है, उस सबका अधिष्ठाता वही परमात्मा है, वही सबका प्रकाशक है, वही सबका उपास्य है (मं० १)। इसी परमात्माने पृथ्वी और द्यु धारण किये हैं, इतनाही नहीं परंतु—

स्कंभः इदं सर्वं, आत्मन्वत्, यत् प्राणत्, यत् निमिषत्।

(मं० २)

यह सर्वाधार परमात्माही यह सब कुछ विश्व है, जिसमें आत्मा है और जो प्राणापान लेताछोडता है और निमेषोन्मेष करता है। देखिये—

स्कंभ इदं सर्वं। (अथर्व० १०।८।२)
पुरुष एवेदं सर्वं। (ऋ० १०।९०।२)
एकं अंगं सहस्रधा अकृणोत्। (ऋ० १०।७।९)
वासुदेवः सर्वं। (भ० गीता ७।१९)

विश्वं विष्णुः। विष्णुसहस्रनाम (म० भारत)

' स्कंभ ही सब कुछ है, पुरुष ही सब कुछ है, उसके एक अंगसे सहस्रों वस्तुएं बनी हैं, वही सब कुछ है। ये सब वर्णन विश्वात्माके ही हैं। यदि वही सब कुछ है,तो जो दीखता है, वह भी सब उसीका रूप है। यह सिद्ध है।

(मं० ३) तीन प्रकारकी प्रजाएं हैं, एक सत्त्वगुणी, दूसरी रजोगुणी और तीसरी तमोगुणी। सब विश्व इन तीनों गुणोंसे भरपूर है, कोई वस्तु इन गुणोंसे रहित नहीं है। सत्त्व-गुणी प्रकाशमें रहते हैं, रजोगुणी भोगमें विराजते हैं और तमोगुणी अन्धकारमें जाते हैं।

(मं० ४-५) बारह महिने, तीन काल अर्थात् गर्मी, वृष्टी और सर्दी, और तीन सौ साठ दिवस यह सुस्थिर कालचक्र है। इसमें ६ ऋतु हैं, एक अधिक मास है, वह अकेलाहि रहता है।

(मं० ६-८) एक पुराणकालसे विद्यमान महत्पद है; उसी पदके साथ स्थावर जंगम सब कुछ संबन्धित है। कोई वस्तु उससे संबंध न रखनेवाली यहां नहीं है। एक चक्र है जो आगेपीछे चलता रहता है, उसके आधे भागसे यह सब विश्व उत्पन्न हुआ है,जो दूसरा आधा भाग है वही गूढ है,वह हरएक जान नहीं सकता। इसकी गति दीखती नहीं है, परंतु उसकी जो स्थिति है, वही दीखती है। गतिमें भूतकाल गया है, इसलिये दीखता नहीं, और भविष्य काल आया नहीं है, इस कारण दीखता नहीं है, वर्तमान काल अति अल्प है, वह अंशरूप दीखता है।

(मं० ९) मनुष्यका सिर एक पात्र है, उसका मुख नीचे है, इसमें सब विश्वरूपी यश रहता है, सब मनुष्यका सामर्थ्य इसीमें रहता है। मस्तक बिगड गया तो मनुष्यत्व ही नष्ट होता है। वहां सात ऋषि साथ साथ रहते हैं, दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सात ऋषि हैं। ये ही इस खजानेके बडे संरक्षक हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह इस का महत्त्व जाने और इसकी उत्तम रक्षा करे। क्योंकि संपूर्ण मानवता यही है।

एकही है।

यत् एजति, पतति, यत् च तिष्ठति, प्राणत्, अप्राणत्, निमिषत् च यत् भुवत्। तत् विश्वरूपं पृथिवीं दाधार, तत् संभूय एकं एव भवति। (मं० ११)

'इस विश्वमें कंपन, पतन, स्थिरत्व से युक्त, प्राणयुक्त, प्राणरहित, निमेष करनेवाला ऐसे अनेक वस्तुमात्र हैं। यह सब मिलकर एकही सत् तत्त्व होता है और वही तत्त्व विश्वरूप है अर्थात् सब रूपोंका धारण करता है, उसीने इस पृथ्वीको धारण किया है।' वही एक तत्त्व है, शेष जो है, वे सब उसके रूप हैं।

(मं० १२) एक अनन्त सत् तत्त्व है, वही सर्वत्र व्याप्त है। अनन्त और सान्त ये दोनों अन्तमें एकदूसरेमें मिले हुए हैं। इसका भूत भविष्य देखता हुआ विद्वान् ही आगे बढता है, उन्नति करता है।

(मं० १३) एक प्रजापति है, वह वस्तुतः अदृश्यमान है, वह गर्भमें संचार करता है और गुप्त रूपसे अनेक रूपोंमें उत्पन्न होता है। उसके एक आधे भागसेहि यह सब विश्व उत्पन्न हुआ है, उसका जो शेष भाग है, वह गुप्त है, वह पहचानना कठिन है।

सब लोग इस सत् तत्त्वको आंखसे देखते हैं, परंतु सब इसको मननसे जानते नहीं। (मं० १४) जो दिखाई देता है, वह भी उसीका रूप है, परंतु यह सबको समझमें नहीं आता है। (मं० १५) वह सत् तत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण है, वह दूर भी है और पास भी है, वह पूर्णभी है और हीनमें भी वही है। यही बडा पवित्र और उपास्य है, सब इसीके पास उपहार पहुंचाते हैं। (मं० १६) जिसके बलसे सूर्य उदयको प्राप्त होता है और जिसमें अस्त को प्राप्त होता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्म है, उससे और दूसरा कोईभी श्रेष्ठ तत्त्व नहीं है। (मं० १७) वेदवेत्ता जिसकी प्रशंसा करते हैं, वही प्रकाश देनेवाला आदित्य है, जो सबका आदान करता है। वही सबका आधार है। उसी के आधारसे सब अन्य देव हैं। सबको प्रकाशित करनेवाला वही एक देव है। (मं० १८)

एकही ज्येष्ठ ब्रह्म है। सत्य, ज्ञान और प्राण उसीसे संबंधित हैं। जैसा दोनों अरणियोंसे अग्नि निकलता है, वैसा ही सर्वत्र वही सत्तत्त्व है और प्रकटभी होता है। गर्भमें (अपाद) पादरहित ही गर्भ सर्वप्रथम होता है, वही आगे (स्वर) प्रकाशको प्राप्त करता है, और वही चतुष्पाद—दो हाथों और दो पावोंसे युक्त— हो कर सब प्रकारके भोग भोगता है। (मं० १९--२१) वह भोग्य होता है, भोक्ता होता है, बहुत अन्न प्राप्त करता है और वही सनातन देवता की उपासना करके कृतकृत्य होता है। (मं० २२)

यही एक सनातन सत् तत्त्व है। जो फिरसे नया नया होता है, जैसे वारंवार दिन और रात होते हैं, इसी तरह यह उत्पत्ति और लय होता है। (मं० १३) सौ, हजार, दशलक्ष, अर्बुद असंख्य शक्ति इसमें है, इसकी यह शक्ति कोई जान नहीं सकता। यही देव इस सबको प्रकाशित करता है। (मं० २४) बालसेभी सूक्ष्म यह है, सबको घेरनेवाली ही यह देवता है और वही प्रियरूप है। (मं० २५) यही कल्याण करनेवाली, अजर और अमर है। इस मृत देहमें यह न मरनेवाली देवता है। यह स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, वृद्ध आदि सब रूपोंमें होती है,इसी लिये इसको विश्वतोमुख कहते हैं। (मं० २६--२७)

यही पिता और यही पुत्र है, यही ज्येष्ठ है और यही कनिष्ठ है। यही एक देव मनमें प्रविष्ट हुआ है, वही एक बार जन्मकर फिर गर्भमें पुनर्जन्म के लिये आता है। (मं० २८)

पूर्ण परमात्मासे हि यह पूर्ण विश्व बना है, क्योंकि जैसा वह पूर्ण है, वैसा यहभी पूर्ण है। इसको जीवन उसीसे मिलता है। जहांसे इसको जीवन मिलता है,उस मूल स्रोत को जानना चाहिये। (मं० २९) यही सनातन है, और यही सब कुछ बन गयी है। यही वडी देवता है। (मं० ३०) एक देवता है जो ऋतसे युक्त है,उसकी ही शक्तिसे ये वृक्ष हरेभरे दीख रहे हैं। (मं० ३१) पास होनेपर भी दीखता नहीं और पास होनेपरभी उसका त्याग नहीं किया जाता। उसी ईश्वरका यह काव्य है, जो नाशको नहीं प्राप्त होता और जीर्णभी नहीं होता। (मं० ३२)

अपूर्व देवताने प्रेरित हुई वाणी सब कोई बोलते हैं; इस वाणीकी मूल प्रेरणा जहांतक पहुंचा देती है, वही वडा ब्रह्म है। ब्रह्मको प्राप्त करनेका यही साधन है कि वाणीका मूल देखो। (मं० ३३) जहां देव और मनुष्य नाभिमें आरे रहनेके समान आश्रित हुए हैं, वही माया से छिपा हुआ सत्तत्त्व है, उसीको जलका पुष्प कहते हैं, क्योंकि उसी फूलसे विश्वका बीज उत्पन्न होता है। (मं० ३४) वायुका संचलन, दिशाओं का अवकाश, तथा अन्यान्य कार्य उसीसे हो रहे हैं। (मं० ३५)

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में जो रहता है वह वही एक देव है, इसीके ये रूप हैं, प्रत्येक दिशामें वही भिन्नभिन्न दीखता है। (मं० ३६) जो इस फैले हुए विश्वव्यापक सूत्रात्मा को जानता है, जिस सूत्रमें सब विश्वके लोकलोकान्तर पिरोये हैं, सब प्राणी उसीमें हैं और कोई उससे बाहर नहीं है। (मं० ३७--३८)

विश्वको जलानेवाला अग्नि पृथ्वीपर है, उसका सहायक वायुभी अन्तरिक्षमें हैं, द्युलोकमें सबको प्रकाश देनेवाला सत्यधर्मा सूर्य है। यह सब एकके ही सामर्थ्यसे कार्य हो रहा है। (३९--४२)

एक कमल है, तीन गुणोंसे वह बंधा है, नौ द्वार हैं, उनमें वह कमल रहता है। यही हृदयकमल है, नौ द्वारोंवाला स्थान यह शरीर ही है। इस कमलमें जो पूज्य देव है, वही ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। (मं० ४३)

निष्काम, धैर्ययुक्त, अमर, स्वयंभू, रससे संतुष्ट होनेवाला, कहीं भी न्यून नहीं, सर्वत्र ओतप्रोत भरा हुआ वह देव है। उसको यथावत् जाननेसे हि मृत्युका डर दूर हो जाता है; यही आत्मा अजर,अमर और सदा तरुण है। यही सब शक्तियों का केन्द्र है। यही आनंद देनेवाला है। उसको यथावत् जाननेके लिये हि मनुष्य यहां उत्पन्न हुए हैं।

गौ।

आगे सूक्त ९ और १० में गौका वर्णन है। गौका यहां नाम ' शतौदना ' है। सैंकडों मनुष्योंका अन्न देनेवाली गौ शतौदना कहलाती है। कल्पना करिये कि प्रतिदिन १० सेर दूध गौ देती है। इस हिसाबसे प्रतिदिन पांच मनुष्योंका पेट भरती है, एक मासमें १५० मनुष्यों का पेट भरती है और छः सात महिनोंमें एक सहस्र मनुष्योंका पेट पालन करती है। इस हिसाबसे एक आयुमें गौ दस हजार मनुष्योंका पेट पालन कर सकती है और उसकी संतानसे और आधिक। गौका यह महत्त्व है। गौका दूध बीमारों और अशक्तोंको तो अमृत जैसा है, बालकोंके लिये तो गौ माताका स्थान धारण करती है। गौके दूधसे बल मेधा और बुद्धिकी वृद्धि होती है। शतौदना गौका यह महत्त्व है।

यह गौ स्वर्गीय वस्तु है। कामधेनु यही है,जो गौ जिस समय चाहिये उस समय दूध देती है, उसका नाम ' कामदुघा ' है। कामधेनु यही है। गौ विद्वान ब्राह्मण को दान देनेसे बडा लाभ है, यह दान अन्न और सुवर्ण के साथ (अपूप, हिरण्य) होना चाहिये। (मं० ७-८) यज्ञके शमिता, अन्नके पाचक, देवोंके वसु, मरुत और आदित्य ये सब गौ के संरक्षक हैं। देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व और अप्सरागण ये सब गौकी रक्षा करनेवाले हैं, क्योंकि गौके दूधसे हि अग्निष्टोम और अतिरात्र ये

यज्ञ होते हैं। (मं० ९)

जो शतौदना गौका दान विद्वान् को करता है, उसको अन्तरिक्ष, भूमि, दिशा, मरुत् तथा अन्य सब लोकोंमें उत्तम स्थान प्राप्त होता है (मं० १०)। सबकी पवित्रता करती हुई यह गौ देवोंको यज्ञद्वारा प्राप्त करती है। त्रिलोक में जो देवताएं हैं वे सब गौके दूधसे तृप्त होती हैं; दूध, घी इसीसे उनको प्राप्त होता है। (मं० ११--१२)

आगे मं० १३ से २४ तक कहा है कि इसी तरह गौका वर्णन है कि यह गौके अवयव और गौ दाताका कल्याण करे और दूधदहीघृत आदि सब वस्तु उसको पर्याप्त प्राप्त हों और दाता स्वर्गको प्राप्त हो।

आगे २७ मंत्र तक ब्राह्मणोंको पृथक् पृथक् गौ दान करनेका वर्णन है।

दशम सूक्तमें भी ऐसा ही गौका वर्णन है। गौका दान लेनेका अधिकारी कौन है, इस विषयमें द्वितीय मंत्रकी सूचना अत्यंत महत्त्वकी है। जो यज्ञका तत्त्व जानता है, वही गौका दान लेवे। गौ अपने भोग के लिये लेनी नहीं है, प्रत्युत यज्ञके लिये लेनी है, यह जो जानता है, वही दान लेवे और उसीको दान दिया जावे। (मं० १--३)

इस सूक्तमें गौका नाम वशा है। वशा गौ वह है कि जो सुखसे दोहि जाति है। दूसरी ' सूतवशा ' है, अर्थात् जो नौकर को वश रहती है। अन्य गौवे वशमें नहीं रहतीं। वशा गौ सबमें उत्तम है, क्योंकि वह न मारती है, न लाथें लगाती है और हर समय दूध देती है।

संपूर्ण पृथ्वी, तथा आप इन सबकी रक्षा यह गौ करती है। सहस्र धाराओंसे दूध देकर यह गौ हरएक का संरक्षण करती है। (मं० ४)

गौका उत्सव।

जो उत्तमसे उत्तम गौ होती है, उसका महोत्सव करते हैं, गौ आगे चलायी जाती है, उसके पीछे सौ मनुष्य पात्र लेकर चलते हैं; सो मनुष्य दोहन करनेवाले चलते हैं, सौ मनुष्य उसकी रक्षा करनेवाले गोपके रूप में चलते हैं; गौके पीछे इस तरह ३०० मनुष्य बडे आनंदसे चलते हैं। (मं० ५) बडबाजे बजाये जाते हैं और नगर भरमें इसका यह उत्सव मनाया जाता है। यज्ञद्वारा गौके दूधसे सबका जीवन उत्तम रीतिसे होता है, इसलिये उत्तम गौका यह वार्षिक उत्सव किया जाता है।

गौको 'यज्ञपदी' अर्थात् यज्ञका आधार कहा जाता है, क्योंकि इसके दूध और घृतसे यज्ञ होता है, पर्जन्य से घास की उत्पत्ति होकर इस गौकी रक्षा होती है (मं० ६)। सोमवल्ली गौ खाती है, और उसका परिणाम दूध पर होता है, वह दूध पीनेसे मनुष्यमें भी सोमका बल प्राप्त होता है। दूध दही घृत तो गौके अधीनही है, परंतु बैलसे खेती होती है, जिससे सब राष्ट्रकी रक्षा होती है, इस तरह गौही सबकी रक्षा करती है। (मं० ७--१७)

गौ क्षत्रियकी माता है, अन्न की भी वही माता है (मं० १८), ब्रह्मकी विशेष बलवत्तर शक्तिसे गौकी उत्पत्ति हुई है (मं० १९), गौके अवयवोंको विशेष बल प्राप्त होता है, उससे सब विश्व का धारण होता है। गौ यज्ञ ही का रूप है (मं० २०--२५)।

गौ अमृत का धारण करती है, जो मृत्युके मार्गपर होते हैं वे गौकी उपासना करके दीर्घजीवी होते हैं। गौही सब कुछ बनी है; देव, मानव, असुर, पितर और ऋषि गौके दूधसेहि पुष्ट होते हैं (मं० २६)। इस तरहका सब ज्ञान जो जानता है वही वशा गौका दान लेवे (मं० २७)।

(मं० २८) वरुण राजाकी जैसी जिह्वा बडी तेजस्विनी होती है, कोई उसका विरोध नहीं कर सकता, उसी तरह वशा गौ प्रतिग्रह करनेके लिये कठिन होती है। अज्ञानी मनुष्य उसका दान नहीं ले सकता (मं० २९)। विश्वात्माका वीर्य चार वस्तुओंमें विभक्त हुआ, उसमें एक वशाके रूपमें प्रकट हुआ है। अन्य तीन भाग यज्ञ, जल और पशुके रूपमें प्रकट हुए हैं।

साध्य वसु, आदि देव वशाका दूध पीकर हि सिद्धि को प्राप्त हुए। वशा गौ ही पृथ्वीपर भूमि द्यौ और प्रजापतिका कार्य कर रही है (मं० ३०–३१)। यह सब ज्ञान जो जानते हैं वे ज्ञानी को गौ दान देकर स्वर्गके भागी हुए हैं। (३२–३३)

वशा गौपर देव उपजीवन करते हैं, गौका दूध पीकर मनुष्यभी जीवित रहते है। जहां तक सूर्य प्रकाशता है वहां तक का विश्व मानो वशाका ही रूप है, इतना महत्त्व गौका है। पाठक इस तरह गौका महत्व जानें और गोपालन तथा गौसंवर्धन करके अपनी पुष्टि प्राप्त करें और दीर्घायुका सेवन करके यशस्वी बनें।

अथर्ववेदका स्वाध्याय

दशम काण्डकी विषयसूची।

वैदिक धर्म

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.
[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको 'वेदाङ्क' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

वर्ष २०] [अङ्क १

विषयानुक्रमणिका

श्रीमद्भगवद्गीता

[पुरुषार्थबोधिनी भाषा-टीका]

सम्पूर्ण तैयार है ।

इसके १८ अध्याय ३ भागोंमें विभाजित किए हैं। प्रत्येकका (सजिल्द) मू० ३) रु० और डा० व्य० ॥=) है। एकही समय तीनों भाग अर्थात् सम्पूर्ण गीता मंगानेवाले १०) रु० भेजें।

भगवद्गीता-लेखमाला

'गीता' मासिक में प्रकाशित गीताविषयक लेखोंका यह संग्रह है। इसके ७ भाग तैयार हैं, जिनका मू० ५।) रु० और डा० व्य १॥) है। तथापि ६॥) रु० म० आ० से भेजनेवालों को सब भाग भेज देगें।

मन्त्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

शुद्ध चार वेद-संहिता ।

चारों वेद अत्यन्त शुद्ध छापनेका कार्य स्वाध्यायमंडलमें शुरू है। ऋग्वेद और यजुर्वेद छपकर तैयार हैं। अगले महिने में अथर्ववेद तैयार होगा और अगले चार महिनों के पश्चात् सामवेद भी तैयार होगा। चारों वेदसंहिताओं के मूल्य इस प्रकार हैं-

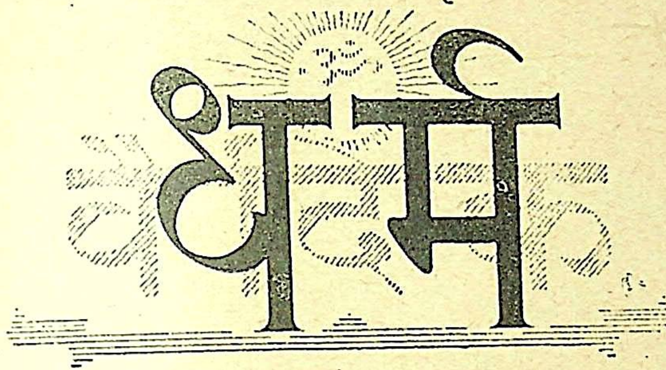
वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशके लिए डाकव्यय
ऋग्वेद	३)	१)	॥)	१॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
सामवेद	२)	॥)	।)	॥।)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१०)	३)	१॥)	४॥)

तथापि चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ५) रु० है तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिये डाकसे मंगवानेवाले ८) आठ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकों के जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेल से चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ५) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सलसे भेजेंगे।

सामवेद छपनेतक ही चारों वेदसंहिताएं ५) रु० में मिलेंगी। तत्पश्चात् मूल्य बढेगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

मंत्री, स्वाध्याय--मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वर्ष २०
अंक १
क्रमांक २२१



पौष
संवत् १९९५
जनवरी
सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

परमपूज्य देव।

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कंधः परित इव शाखाः ॥ (अथर्व० १०-७-३८)

"(भुवनस्य मध्ये महत् यक्षं) इस विश्वमें एक परम पूजनीय देव है, वह (तपसि क्रान्तं) तेजस्वियोंमें बडा भारी तेजस्वी है और उसका शासन (सलिलस्य पृष्ठे) जलके ऊपर भी है। (देवाः तस्मिन् श्रयन्ते) जो कुछ देवताएं हैं, वे सब उसीके आश्रयसे रहती हैं, जिस तरह (वृक्षस्य स्कन्धः शाखाः परितः) वृक्षका स्कन्ध मध्य में होता है और उसकी शाखाएं चारों ओर फैलती हैं।"

मध्य आधार में परमेश्वर है, उसको वृक्ष समझो और उसकी शाखाएं अन्य देवताएं हैं, ऐसा मानो। यहां ईश्वर और देवताओं का सम्बन्ध है। सब देवताओंमें उसी एक अद्वितीय ईश्वर की शक्ति कार्य कर रही है।



वैदिक धर्म का बडा विशेषांक

वेदाङ्क



गतवर्ष के अनुसार इस वर्ष भी 'वैदिक धर्म' मासिक का 'वेदांक' प्रकाशित होगा। इसका प्रकाशन इस अंक के प्रकाशित होनेके चार मास के पश्चात् होगा। जो वेदके मनन करनेवाले सज्जन हैं, वे इस 'वेदाङ्क' के लिए लेख लिखकर भेजें। इन लेखों में केवल वेदके मंत्रोंके आशय प्रकट करनेवाले ही लेख मुद्रित होंगे। अन्य किसी भी प्रकारके लेख इसमें प्रकाशित नहीं होंगे। वेदाङ्क में मुद्रित होनेवाले लेखों में किसी प्रकार भी वैयक्तिक उच्च-नीच भाव प्रकट करनेवाले लेख कदापि प्रकाशित नहीं होंगे। केवल वेदके मंत्रों के अर्थ प्रकाशित करनेवाले और उनसे मानवधर्म का प्रकाशन करनेवाले लेख ही इस अंक में प्रकाशित होंगे, अतः कृपा कर लेखक इस तरह के वैदिक तत्त्वज्ञानसंबंध के लेख भेजकर वैदिक धर्म की सेवा करें।

सहूलियत।

इस वैदिक धर्मके विशेषाङ्क "वेदाङ्क" का मूल्य २) होगा, परन्तु जो ग्राहक ५) वार्षिक चन्दा भेजकर "वैदिकधर्म" मासिकके ग्राहक बनेंगे, उनके लिए यह "वेदाङ्क" विनामूल्य ही मिलेगा। इसके अतिरिक्त वैदिक धर्म के प्रचार के लिये हमने ग्राहकों को आगामी वर्ष के लिये एक दो विशेष सहूलियतें देनेका विचार किया है, वे सहूलियतें ये हैं-

जो सज्जन पांच नये ग्राहक बनाकर उनका वार्षिक चन्दा प्रतिग्राहक का चन्दा ५) के हिसाब से पांच ग्राहकों का चन्दा २५) रु. म. आ. द्वारा [विदेश के लिये ३५ रु] भेज देंगे, उनको एक वर्षतक विशेषांक के साथ वैदिक धर्म मासिक विनामूल्य मिलेगा। पुरुषार्थी सज्जन इस सहूलियत से लाभ उठावें।

दूसरी सहूलियत।

जो सज्जन १६) रु के स्वाध्यायमण्डलद्वारा प्रकाशित पुस्तक मूल्य म. आ. द्वारा भेज कर मंगायेंगे, उनको २०)के पुस्तक और ५)का 'वैदिक धर्म' मासिक मिलेगा और डा० व्य० माफ होगा। इनको भी यह वेदाङ्क मिलेगा। विदेश के लिये ३५) के पुस्तक मंगानेसे 'वैदिक धर्म' मासिक विनामूल्य दिया जायगा।

इन दो सहूलियतों से पाठक लाभ उठावें। उक्त सहूलियत में जो पुस्तकें मंगवानी हैं, उनमें मूल वेद का समावेश नहीं होगा और यदि इसमें मूल वेदोंका समावेश करना हो, तो उनका मूल्य सहूलियत का लगाया नहीं जायगा।

विदेश के ग्राहकों के लिये वैदिक धर्म का मूल्य ७) है, क्योंकि विदेश में अंक भेजनेके लिये एक वर्ष में २) डा. व्य. होता है। भारतवर्षमें 'वैदिक धर्म' मासिक का वार्षिक चन्दा केवल ५) है। यह मासिक पूर्वोक्त सहूलियतों के अनुसार पाठक विना मूल्य भी प्राप्त कर सकते हैं।

ये सहूलियतें केवल वैदिक धर्म के प्रचार के लिये ही दी हैं, इसलिये धर्मजाग्रति करनेवाले सज्जन इस से धर्म के प्रचार के साथ साथ, धर्म की सेवा भी होती है और अपना आर्थिक लाभ भी है, यह देख कर अपने इष्टमित्रों में इसका प्रचार करें।

प्रबंधकर्ता

स्वाध्यायमण्डल, औंध (जि० सातारा)

क्या परमेश्वर का साक्षात्कार मनुष्य कर सकता है ?

इस विषय में वेदका संदेश क्या है ?

मनुष्य परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है वा नहीं? मनुष्यजन्म में मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है या नहीं? इस विषय में जो अनेक मिथ्या और भ्रांत कल्पनाएं फैलीं हैं, और जो उपदेशकों के द्वारा तथा लेखों और ग्रंथों के द्वारा फैलायीं जा रहीं हैं, वह देखनेसे मनमें अत्यंत आश्चर्य हो जाता है !!! इन मिथ्या कल्पनाओं का विचार इस लेख में करना है, और इस लेखमालाके अन्तमें वेद का इस विषय में आदेश क्या है, इसका वेदमंत्रों के आधारसे हि स्पष्ट शब्दों में निर्देश करना है। अतः पाठक इस लेखमाला का विचार मननपूर्वक करें।

पाठकों से निवेदन।

इस लेखमालामें कई लेख लिखे जायंगे, कमसे कम दस पंद्रह लेख तो लिखे ही जायंगे और प्रत्येक लेखमें नये ढंगसे विचार किया जायगा। जो सिद्धान्त इन लेखों में हम प्रस्थापित करेंगे, उनके लिए वेद, ब्राह्मण और उपनिषदादि ग्रंथोंके पर्याप्त प्रमाण हम देंगे। तथापि किसी कारण कोई लेख पढनेपर किसी पाठक के मनमें कुछ आशंकाएं उठ खडीं हुईं, तो उनको उचित है कि, वह अतिसंक्षेपसे अपनी आशंका को लिखकर हमारे पास भेजे, ऐसी जो जो शंकाएं हमारे पास आ जायगीं, उनका विचार हम द्वितीय लेख के पहिले करेंगे और पश्चात् आगे का लेख मुद्रित होगा। इससे पाठकों की शंकाएं भी निवृत्त होंगी और ईश्वरसाक्षात्कार का विषय भी उनके ध्यान में सुगमता से आता जायगा।

आशंका लिखते समय पाठक जितना संक्षेपसे लिख सकेंगे, उतना अच्छा रहेगा। विस्तारपूर्वक बडे बडे लेख लिखेंगे, तो वह शास्त्रार्थ बनेगा, जिसमें पडनेकी हमें रुचि नहीं है। इतना भूमिका के रूपमें लिखने के पश्चात् हम इस प्रस्तुत विषयके संबंधमें लिखने का प्रारंभ करते हैं।

क्या ईश्वरका साक्षात्कार कभी नहीं होगा?

बहुत से लोग ऐसा मानते हैं, बोलते हैं, व्याख्यान देते हैं और सचमुच दिलसे समझते हैं कि, निःसन्देह ईश्वर है, परन्तु मनुष्य उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता ! हजारों जन्म तक योगसाधनादि अनुष्ठान, जपतपादि कर्म करते रहने, पर किसी पवित्र आत्मा को ईश्वरसाक्षात्कार होगा तो होगा। यह साक्षात्कार सर्वसाधारण मनुष्यों के लिये साध्य नहीं हो सकता।

इस तरह का विचार सर्वसाधारण मनुष्यों में सुस्थिर हुआ है। उपदेशक लोग यही प्रतिपादन करते हैं, धार्मिक प्रवचनकार इसीका प्रवचन करते हैं, ग्रंथोंमें यही लिखा जाता है, और ऐसा लिखा, तो ही वह सत्य है, ऐसाहि सर्वसाधारण जनता मानती है। तात्पर्य यह है कि, सबका यही निश्चय हुआ है कि, ईश्वरका साक्षात्कार होनेवाला नहीं है, किसी विरले महात्मा योगीको साध्य होनेवाली यह बात है।

इतनी दुष्प्राप्य वस्तु होनेपर भी उपदेशक यही कहते हैं कि " स्त्रीपुरुषो ! ईश्वरभक्ति करो, ईश्वर

की प्रार्थना करो, उसकी स्तुति करो और उसीके पास इष्ट की याचना भी करो !! "

कैसी अजब बात है देखिये, ईश्वर है वा नहीं है, इसका पता नहीं, और वह है ऐसा माननेपर भी उसका साक्षात्कार हजारों जन्म योगसाधन करनेपर भी होगा या नहीं, इसका भी कोई नियम नहीं, जो वस्तु सहस्रों जन्मों के पश्चात् कदाचित् दीख सकेगी, उसकी भक्ति आज ही करनी चाहिये !! जिसका बिलकुल अनुभव नहीं, उसका ध्यान किस तरह किया जा सकता है? हमेशा अनुभूत वस्तुका ही ध्यान होना संभव है। परमेश्वर यदि सहस्र जन्मों की तपस्या के पश्चात् अनुभव में आनेवाला होगा, तो उसका अनुभव होनेके पश्चात् हि उसका ध्यान होना सम्भव है। सेवा, भक्ति, प्रार्थना, उपासना और उससे विनय करना होगा, तो उसका साक्षात्कारके पश्चात् हि सम्भव है, उससे पूर्व ध्यान भी असंभव है, फिर गुणवर्णन तो कैसे संभव हो सकता है?

पाठकों! कल्पना करिये कि आपने 'आम' देखा ही नहीं और इस जन्म में आप आमको देख भी नहीं सकते। फिर आप आमका ध्यान किस तरह कर सकेंगे? सोचिये तो सही! न देखी, न खायी, न चखी, न अनुभव ली वस्तुका आप ध्यान कैसा करेंगे? कभी कोई अनुभव न की हुई वस्तुका ध्यान कर हि नहीं सकता। आपने अपने मातापिता को देखा होगा, तोही उनका ध्यान आप कर सकते हैं, परन्तु राणाप्रताप, छत्रपति शिवाजी महाराज, वसिष्ठ ऋषि अथवा श्रीरामचन्द्र का ध्यान आप किस तरह कर सकेंगे? उनकी मूर्तियोंका ध्यान होना, तो सर्वथा असम्भव है, क्योंकि उनमें से किसी का साक्षात्कार आपको नहीं हुआ और आगे भी नहीं होगा। हां जितना उनका इतिहास आपने जाना है, उतनाही आप उनका स्मरण कर सकते हैं। इस से यही सिद्ध हुआ कि, सर्वप्रथम जिसका ध्यान करना होगा, उसका साक्षात्कार करना चाहिये। अग्नि न देखते हुए आप अग्निका स्मरण कर नहीं सकते,

एक बार देखी या अनुभव में आयी वस्तुकाहि आ[प] उतनाही ध्यान कर सकते हैं कि, जितना उ[स] विषय में आपको अनुभव हुआ है। यदि विश्व[के] उत्पन्न वस्तुओं के विषय में यह बात सत्य है, [तो] विश्वनियामक का भी ध्यान उसका अनुभव कि[ये] विना कैसा हो सकता है? निःसन्देह अनुभवके वि[ना] ध्यान नहीं हो सकता है।

इसीलिये उपनिषदों में ऋषिश्रेष्ठोंने लिखा है कि-

आत्माका दर्शन।

आत्मा वो अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यः। मैत्रेयि! आत्मनि खलु अरे
दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।

(बृ० उ० ४।५।६)

'हे प्रिय शिष्य! निःसन्देह आत्माका पहिले दर्शन करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन और निदिध्यास करना चाहिये। निश्चयपूर्वक यह सत्य है कि, 'आत्मा का दर्शन' श्रवण, मनन, निदिध्यासन होनेसे यह सब ज्ञात हो जाता है।'

याज्ञवल्क्य ऋषि का यह कथन है कि, "आत्मा का सबसे पहिले दर्शन होना चाहिये" और पश्चात् उसके गुणोंका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। आत्मा का दर्शन किये विना उसके गुणोंका श्रवण, मनन अच्छी तरह नहीं हो सकता। व्यवहार में भी देखिये, आपने एक वायुयान देखा, तो देखने से आपके मनमें कुतूहल उत्पन्न होगा कि, यह क्या है, यह आकाश में कैसे चल रहा है, ऐसा आश्चर्य उत्पन्न होनेके पश्चात् किसी गुरुके पास आप जा सकते हैं और उस विषयमें आप अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किसी नास्तिक ने आपके मनमें वायुयान मिथ्या होनेके विषयमें सौ बातें भी कहीं, तो आप उनको नहीं मानेंगे, क्योंकि आपने एक बार उस वायुयान का साक्षात्कार किया है। आप उस नास्तिक की युक्तियोंका खण्डन यद्यपि न कर सकेंगे, तथापि आप इतना तो उसको कह सकते हैं कि मैंने वायुयान आकाश में चलते हुए देखा है, उसमें

दोचार आदमी बैठे थे और इंजिन से वह चलाया जाता था और चलते समय आवाज भी बडा भारी होता था। मैं आपकी युक्तियों का खण्डन नहीं कर सकता, तथापि प्रत्यक्ष वायुयान देखने के कारण मैं उसको असत्य भी नहीं मान सकता। प्रत्यक्ष देखने के कारण आपकी जैसी श्रद्धा और आपका जैसा अटूट विश्वास होगा, वैसा साक्षात्कार के विना नहीं हो सकता।

क्यों नास्तिकों को डरते हो?

अब ईश्वर के विषयमें देखिये, किसीने ईश्वर देखा ही नहीं, परंपरा से कहा, सुना, विश्वासहि चला आ रहा है, इसलिये नास्तिकों का एक युक्तिपूर्ण लेख आस्तिकों के मनके विश्वास को हिलाने में समर्थ हो जाता है! हां कोई ऋषिवाक्यपर विश्वास रखे, तो बात दूसरी है, तथापि इस तरह के शब्दपर विश्वास रखनेवालेका विश्वास अटल और सुदृढ नहीं हो सकता, वह शिथिलसाहि होता है। परन्तु जैसा कि ऊपर उपनिषद्वाक्य में कहे हुए उपदेश के अनुसार यदि ईश्वर का साक्षात्कार सबसे प्रथम हो जाय, तो फिर नास्तिकों के हजारों लेख प्रकाशित हुए, तो भी वे लेख आपका विश्वास किस तरह शिथिल कर सकेंगे? इसलियेहि श्रवण, मनन और ध्यान के पूर्व ईश्वरका साक्षात्कार होना अत्यंत आवश्यक है और वैसाहि उपनिषद् का आदेश भी है।

उपदेशकों को, लेखकोंको और प्रवचनकारों को पहिले साक्षात्कार हो सकता है, इस बातका बिलकुल पता तक नहीं होता, इसलिये वे ऊपर के वचन के शब्द इस तरह परिवर्तित करते हैं—

ऋषिवचनको मत् बिगाडो।

मूलवचन–

आत्मा वा अरे "द्रष्टव्यः" श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

उपदेशकोंके द्वारा परिवर्तित वचन–

आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य, (पश्चात्) "द्रष्टव्यः"।

(मूल ऋषिका वचन) "आत्मा का पहिले दर्शन करो, पश्चात् उसका श्रवण, मनन, निदिध्यास करो।" परन्तु इस वचन को ठीक न समझनेवाले उपदेशक इसको परिवर्तिक करके, ऐसा अर्थ करते हैं– "आत्मा के गुणों का श्रवण, मनन, निदिध्यास करो, (पश्चात् कभी होगा तो उसका) साक्षात्कार करो।"

यदि आजकल के उपदेशकों के मतानुसार हि याज्ञवल्क्य ऋषिको कहना होता, तो उसको अपना वाक्य इस तरह परिवर्तन करके कहने में किसीने प्रतिबंध तो नहीं किया था!! यह एक ही बार नहीं, परन्तु बृहदारण्यकोपनिषद में थोडेसे हेरफेरसे चार बार यही वाक्य इसी क्रमसे आया है और चारहि बार आत्मा का दर्शन सबसे प्रथम करनेका ही उपदेश निश्चित रीतिसे हुआ है। क्या यह विचारणीय विषय नहीं है?

आजकल के उपदेशकों का ज्ञान याज्ञवल्क्य ऋषि से अधिक नहीं है। फिर भी इनको ऋषिवाक्य को तोडमरोडकर अर्थ बदलने में थोडासा भी संकोच नहीं होता, यह कितना आश्चर्य है? यदि ये लोग कहेंगे कि, इस ऋषिवाक्य का ज्ञान हमें नहीं हुआ, तब तो ठीक होगा, परन्तु जैसा वाक्य ये उपदेशक मानते हैं वैसा ही वास्तव में ऋषिको अभीष्ट होता, तो ऋषि वैसाही वाक्य लिख लेता, परन्तु वैसा ऋषिने लिखा नहीं है। अस्तु, इस तरह उपदेशकों की कारवाई है, जिससे ऋषिके वाक्य उलटपुलट किये गये हैं और ऋषियों की प्रणाली तोडी गयी है और सत्य कहनेवाले के पीछे येही पडते हैं, इसका कारण स्पष्ट ही है।

इसी कारण यदि इस समय किसीने कहा कि, सबसे पहिले ईश्वर का अथवा आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये, तो उसपर विश्वास रखने के लिये भी आज कोई तैयार ही नहीं है!!! जो बात उपनिषत्काल में सहजसी थी, वही बात उपनिषदों के वचन सामने रहनेपर भी आज असंभवसी प्रतीत हो रही है और उसे मानने के लिये आज कोई तैयार नहीं है, तथापि आज सभी वैदिकधर्मीहि

बने हुए हैं। सबका यही निश्चय हुआ है कि ईश्वर का साक्षात्कार होना जन्मजन्मान्तर में भी असंभव है, फिर आज तो नितान्तहि अशक्य है। अतः जो पण्डित ईश्वर का साक्षात्कार सहस्रों जन्मों में होनेवाला भी नहीं है, ऐसा कहेगा, वही सत्य है और जो पण्डित कहेगा कि, नहीं ईश्वर का साक्षात्कार इस समय भी होना संभव है, वह असत्यवादी है। उपदेशकोंकी असत्य कल्पना के कारण इतना असत्य विश्वास जनता के मनों में सुदृढ हो चुका है !!!

वैदिक मार्ग से हम कितने दूर चले गये हैं और आध्यात्मिक अपसिद्धान्तोंको हमने कितना अपनाया है, इसका यह एक उत्तम उदाहरण है। इसी का नाम भ्रम है। ईश्वरसाक्षात्कार होनेमें यह बडा भारी प्रतिबंध है। अब हमारे समझ में नहीं आता कि, इस भ्रमको हम किस तरह दूर कर सकेंगे? क्योंकि जितना जितना ईश्वरका साक्षात्कार होनेकी संभावना अधिक वर्णन की जायगी, उतने अधिक विरोधी मार्गपर चलनेवाले उपदेशक विरोध खडा करेंगे, और उतने पाठक ईश्वरस्वरूपसे दूर होते जायंगे !!!

ईश्वरका साक्षात्कार।

पाठकों को पता है कि, विना विशेष अनुष्ठानके ही वीर अर्जुन को युद्धभूमिपर आध घण्टे के अन्दरहि परमेश्वर का साक्षात्कार हुआ था। आज भी हम पढते हैं कि श्रीपरमहंस रामकृष्ण महाराजने स्वामी विवेकानन्दजी को साक्षात्कार सब से प्रथम नासिक होनेकी अवस्था में करवाया था, इसी तरह पं० गुरुदत्तजी को इसी तरह का साक्षात्कार श्री० स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी की मृत्यु के समय वे स्वयं नास्तिक थे, तो भी हुआ था, जिससे पं० गुरुदत्तजी नास्तिक के आस्तिक क्षणमात्र में हि हुए थे। ऐसे सैंकडों वृत्तान्त हैं कि जिनमें उपनिषद्वचन में कहे उपदेश के अनुसार हि प्रथम साक्षात्कार होने की बात अनुभव में आ गयी थी। परन्तु इन बातों को आज मानता कौन है? सब मानते तो यही हैं कि जन्मजन्मान्तरों में साक्षात्कार होगा तो होगा, परंतु इस जन्ममें तो नहीं होगा !! यह मानना ऋषियों के अनुभव के सर्वथाविरुद्ध है।

यहां हम पूछना चाहते हैं कि मान लिया जाय कि सहस्र जन्मों के उपरान्त ईश्वरसाक्षात्कार होना सम्भव है। वैसाहि हो, परन्तु हमारा यही हजारवाँ जन्म नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है। हजार जन्म व्यतीत हो चुके हैं और यही जन्म साक्षात्कार के लिये ही मिला है, ऐसा क्यों न माना जाय? किसने सहस्रों जन्मोंका हिसाब रक्खा है? अतः इसी जन्म में ईश्वरसाक्षात्कार नहीं होगा, ऐसा मानना अयुक्त है।

उपनिषद्वचन का यह तात्पर्य नहीं है कि, जरूरहि हजार जन्म तपस्या में व्यतीत होने चाहिये, पश्चात् ईश्वर का साक्षात्कार होगा। नहीं, प्रत्येक मनुष्यजन्म ईश्वर के साक्षात्कार करनेके लिये ही हुआ है, केवल उसने अपनी दृष्टीका रुख बदलना है। यह कार्य हरएक मनुष्य कर सकता है। हजार जन्मोंकी दिवार हमारे और ईश्वरके बीचमें है, ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है और ऐसा मानना वेदविरुद्ध भी है।

मनुष्ययोनिको छोडकर अन्य योनि में जो प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनको यह साक्षात्कार साध्य नहीं है, परन्तु मनुष्ययोनि इसी कार्य के लियेहि है। फिर इस योनिमें आये मनुष्योंको उनका वह साध्य सहस्र जन्मों के बाद होगा तो होगा, ऐसा कहकर निरुत्साहित करना सर्वथा अयोग्य है। परन्तु जिनको स्वयं पता नहीं, वे लोग उपदेश करने लगे, तो दूसरा क्या कहेंगे, वे तो ऐसाही कहेंगे कि, 'भाई यह तो दुःसाध्य है।' परन्तु पाठक यह समझें कि उनका जन्म ही इस साध्यको सिद्ध करने के लिये हुआ है और प्रयत्न करनेपर यह ईश्वरसाक्षात्कार उनको हो सकता है। वेद स्पष्ट कह रहा है-

सूर्य के समान ईश्वरका साक्षात्कार।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ (ऋ० १।२२।२०-२१)

"विष्णु- व्यापक परमेश्वर-का जो परमपद है, उसको विद्वान् (सदा पश्यन्ति) सदा देखते हैं, जिस तरह सूर्यको आकाशमें (मनुष्य देखते हैं)। जो विष्णु का परमपद है, उसको ज्ञानी सत्कर्मकर्ता और जाग्रत रहनेवाले प्रदीप्त हुए के समान देखते हैं।"

इन मंत्रों में स्पष्ट कहा है कि परमेश्वरका साक्षात्कार वैसा होता है कि, जैसा दिनमें आकाश के अन्दर सूर्यका दर्शन होता है। क्या सूर्य को कोई पाठक देख नहीं सकता ? यदि सब आंखवाले लोग सूर्य को देख सकते हैं, तो वे उतनीहि स्पष्टतासे परमेश्वर को भी देख सकते हैं, परन्तु इसके लिये चार ही शर्ते हैं। 'सूरि, विप्र, विपन्यु और जागृवान्' होना चाहिये। विद्वान्, ज्ञानी, सत्कर्मशील और जाग्रत रहेंगे, तो लोग (सदा पश्यन्ति) सदोदित ईश्वर को साक्षात् देखते रहेंगे, परन्तु दूसरेके सहारेसे थोडा साक्षात्कार होनेके लिये इतनी शर्तोंकी भी आवश्यकता नहीं है। जैसा बालक स्वयं नहीं चल सकने की अवस्थामें दूसरे की सहाय्यता लेकर चल सकता है और चलनेके आनन्द का स्वयं अनुभव कर सकता है, ठीक इस तरह जो लोग स्वयं ईश्वर को सदा नहीं देख सकते, वे किसी न किसी प्रकार से क्षणमात्र क्यों न सही, परन्तु परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं। इसीलिये ऋषि याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि, 'आत्मा का साक्षात् दर्शन प्रथम करना चाहिये और तत्पश्चात् आत्मा के गुणोंका वर्णन सुनना चाहिये, तत्पश्चात् उन गुणोंका मनन और सतत ध्यान करना चाहिये। इतना करनेपर ईश्वर का सतत साक्षात्कार हो सकता है।'

जो पहिला साक्षात्कार है, वह सतत नहीं है, वह होगा थोडासा, पश्चात् होनेवाला साक्षात्कार सतत होनेवाला है। दोनों साक्षात्कारों में यह भेद है, परंतु सर्वप्रथम साक्षात्कार हो ही नहीं सकता, यह बात नहीं है। किस तरह सर्वप्रथम साक्षात्कार हो सकता है, यह बात वेदों के योग्य मननसे स्वयं स्पष्ट होनेवाली है। यह कोई कहने की बात नहीं है, यह स्वयं अनुभव करनेकी बात है। यही वेद में बल है कि जो अपने उपदेश से साधक को परमेश्वरसाक्षात्कार सुगमता के साथ करा देता है। वेदका योग्य बोध इसलिये ही होना चाहिये। जबतक वेदका सुबोध बोध होता था, उस समय ईश्वरसाक्षात्कार सब को होता था, आज वेदकी ओर दुर्लक्ष्य हुआ है अथवा वेदका विपरीत अर्थ प्रसृत हुआ है, इसलिये सरल से सरल बात भी कठीन से कठीन बन चुकी है!! और यहां तक ख्याल हो चुका है कि, ईश्वर तो कभी दीखनेवालाहि नहीं है। परन्तु वैदिक जमाने में परमेश्वर साधकों को वैसा दीखता था कि जैसा दो दो पहरका सूर्य हरएक मनुष्यको दीख सकता है।

अदृश्य आत्मा।

दूसरी एक बात ऐसी प्रचलित हुई है कि, परमात्मा अदृश्य है, इसलिये उसका साक्षात्कार होना असंभव है। पूर्व स्थलमें वर्णन किये उपदेशक लोग सहस्र जन्मों के पश्चात् परमात्मा का साक्षात्कार होना संभव है, ऐसा मानते थे, उनके मतसे कुछ न कुछ आशा साधकों के लिये थी, परन्तु इन अदृश्यवादी लोगों के मतमें तो परमात्मसाक्षात्कार की कोई आशा ही नहीं रही। साधक एक जन्म साधन करे अथवा दस हजार जन्म साधन करे, उसके लिये परमात्मा सदाके लिये दूर रहेगा और यह साधक परमात्मा के दर्शन के लिये सदाही तडफता रहेगा। क्योंकि परमात्मा तो स्वरूपतः हि अदृश्य माना गया है।

पूर्वोक्त ऋग्वेदमन्त्र में (सदा पश्यन्ति सूरयः) सदा ज्ञानी उसको "देखते हैं," ऐसा कहा है। इस मन्त्रमें 'पश्यन्ति' शब्द है, "देखते हैं," ऐसा कहा है। क्या मन्त्र के शब्द अनुभव से शून्य होंगे? हमारे ख्याल से कभी नहीं होंगे। मन्त्रके शब्द साधक के लिये सहाय्यक होनेवाले हैं। जैसा मन्त्रमें 'पश्यन्ति' शब्द है, उसी तरह पूर्वोक्त उपनिषद्वचनमें भी कहा है कि, 'आत्मा द्रष्टव्यः' अर्थात् 'आत्माका दर्शन

करना चाहिये'। क्या कभी किसी उपायसे न दीखनेवाले आत्मा का दर्शन करने का उपदेश हो सकता है? या कभी नहीं हो सकता है? यह विचारणीय बात है।

परन्तु आजकल ऐसा माना जाता है, उपदेशा जाता है और प्रवचनोंमें बोला जाता है कि, परमात्मा तो नेत्रका विषय कभी हो ही नहीं सकता, जो दिखाई देता है वह परमेश्वर नहीं, क्योंकि यह विश्व में रूपविषय है, यह जगत् है जो दीखता है। परमेश्वर अरूप है, इसलिये वह दीखेगा कैसे? फिर उपनिषदमें याज्ञवल्क्यने "द्रष्टव्यः" (देखना चाहिये, देखनेयोग्य है) ऐसा प्रयोग कैसे किया? और वेदमन्त्र में प्रत्यक्ष विष्णुदेवताके मन्त्रों में (सदा पश्यन्ति सूरयः) सदा ज्ञानी विष्णु अर्थात् व्यापक ईश्वर को देखते हैं, यह प्रयोग किस तरह हुआ? क्या वेदमन्त्र और उपनिषद् का उपदेश अशुद्ध है और आजकलके उपदेशक उनसे अधिक ज्ञाता हैं?

इसपर दूसरी आपत्ति भी है, मान लिया जाय कि परमेश्वर अरूप होनेसे नेत्रद्वारा दीख नहीं सकता, अशब्द होनेसे उसका कानद्वारा श्रवण हो नहीं सकता, अगन्ध होनेसे उसको सूंघकर उसका नाकद्वारा सुवास नहीं लिया जा सकता, वह रुचिरहित होनेसे उसका जिह्वाद्वारा ग्रहण हो नहीं सकता और इसी तरह उसका ज्ञान हमारे स्पर्शेन्द्रियसे भी नहीं हो सकता। यह ठीक है, यदि इन पांचों ज्ञानेंद्रियों से उसका ग्रहण नहीं हो सकता, तो निःसन्देह पांचों कर्मेन्द्रियोंसे तो उसका ज्ञान होना सुतरां असम्भव है। अर्थात् हमारे ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय उसका साक्षात्कार करने में असमर्थ सिद्ध हुए। फिर परमात्मा का साक्षात्कार किससे होना सम्भव है? यह एक बडा विचारणीय प्रश्न है।

अब रहा मन और बुद्धि। मन भी उसका मनन नहीं कर सकता, ऐसा ही सब मानते हैं। भला जिस को पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, पञ्च कर्मेंद्रियां और मन नहीं जान सकते, उसका ज्ञान बुद्धिसे-केवल बुद्धिसे कैसे हो सकता है। बुद्धि तो उस समय कार्य करेगी, जब ये अन्य इन्द्रिय कुछ न कुछ मसाला बुद्धि के सामने उपस्थित करेंगे। जब इनमेंसे कोई इन्द्रिय परमात्मा का कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकते, तो बुद्धि के पास कुछ भी मसाला नहीं उपस्थित रह सकता, जिससे बुद्धि परमात्मा की कुछ न कुछ कल्पना कर सके? फिर परमात्मा का साक्षात्कार कौन करता है? या परमात्मा का साक्षात्कार होता ही नहीं?

स्थूल का दर्शन।

यहां प्रश्न हो सकता है कि, हम किस का साक्षात्कार कर सकते हैं? जब कोई कहेंगे कि विश्व का या जगत् का साक्षात्कार हम कर सकते हैं। परन्तु यह भी भ्रम ही है। देखिये आप के सामने समीपका हराभरा वृक्ष है और दूर का नीला सुन्दर पर्वत है। आप यह मान रहे हैं कि ये पदार्थ आपको दीख रहे हैं। सभी लोग मानते हैं, इन जगत् की वस्तुओं का साक्षात्कार होता है। मनुष्य, वृक्ष और पर्वत का साक्षात्कार कर सकता है। क्या सचमुच हम वृक्ष और पर्वत को देख सकते हैं?

हमारा आंख किस का ग्रहण कर सकता है? जरासा सोचिये तो सही। वृक्ष का हरा रंग और पर्वत का नीला रंग तथा उन के आकार जो आंख के रूपविषय में आ सकते हैं, उन का ग्रहण हमारा आंख कर सकता है। परन्तु क्या रंग और आकार ही वृक्ष और पर्वत हैं, कदापि नहीं। फिर आपके आंख ने वस्तु का ग्रहण किस तरह किया? हमारा आंख वृक्ष का गंध ले सकता है, परन्तु कदापि सम्पूर्ण वृक्षका ग्रहण आंख नहीं कर सकता। हमारा हाथ वृक्ष का स्पर्श कर सकता है, परन्तु कदापि सम्पूर्ण वृक्ष का ग्रहण हाथ से नहीं हो सकता। पाठक इस तरह सोचेंगे, तो जान सकते हैं कि हमारा एक एक इन्द्रिय एक एक गुण को ही ले सकती है, सम्पूर्ण वस्तु को नहीं ले सकती। अर्थात् इन्द्रियों को जगत् के किसी संपूर्ण वस्तु का कभी पूर्ण साक्षात्कार नहीं हो सकता, केवल एक एक गुण का अनुभव होता है। हमारे मन के सामने वे पांचों इन्द्रियोंने प्राप्त किये गुण रक्खे जाते हैं और

मननद्वारा ये इतने गुण वृक्ष या पर्वत में होंगे, ऐसी कल्पना मन करता है जिससे हमें वृक्ष या पर्वत का अथवा अन्य वस्तुका ज्ञान होता है। मन तो इंद्रियों की सहाय्यता के बिना किसी वस्तुको कभी साक्षात् कर हि नहीं सकता। देखना, सुनना आदि करनेवाले इन्द्रिय हैं। और ये इन्द्रिय भी किसी वस्तुको पूर्ण रूपसे ग्रहण करने में असमर्थ हैं। फिर किसने जगत् की वस्तुओं का साक्षात्कार किया? और हम जो कहते हैं कि हमें जगत् का साक्षात्कार होता है और ईश्वर का नहीं होता, इस में सत्यांश कितना है?

हमारे इन्द्रिय किसी एकहि गुणका ग्रहण करते हैं, इतनीहि बात सत्य है—

इन्द्रिय	तत्त्व	गुण			
नासिका	पृथ्वीतत्त्वके	गन्ध	का ग्रहण	करती	है।
जिह्वा	जलतत्त्व के	रस	,,	,,	,,
नेत्र	अग्नि ,,	रूप	,,	,,	,,
त्वचा	वायु ,,	स्पर्श	,,	,,	,,
कर्ण	आकाश ,,	शब्द	,,	,,	,,

परन्तु किसीके गन्ध का ग्रहण होनेसे उस पूर्ण वस्तुका ग्रहण हुआ, ऐसा मानना असंभव है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में ये सभी गुण होते हैं, अतः सभी गुणोंका ग्रहण होनेसे उस वस्तुका ग्रहण होना संभव होगा। परन्तु सभी गुणों का ग्रहण करने का कोई इन्द्रिय हमारे पास नहीं है। अब सोचिये हमारे पास गुलाब का फूल है, उसका सुगन्ध नाकने लिया, परंतु नाक संपूर्ण फूल का ग्रहण करने में असमर्थ है, जिह्वा ने उसके पत्ते चखे और कहा कि इनका स्वाद यह है, नेत्रने उसका आकार और रंग कहा, त्वचाने स्पर्श करके मृदुत्व का अनुभव किया, कर्णने कहा कि इसमें शब्द नहीं है, इतना होनेपर भी इनमें से किसी भी इंद्रियने संपूर्ण गुलाबके फूलका ग्रहण ही नहीं किया, क्योंकि किसी भी इन्द्रियके पास कोई ऐसा साधन नहीं है, जिससे वह संपूर्ण वस्तु का ग्रहण कर सके। यदि हमारे इन्द्रिय साधारण से साधारण स्थूल वस्तु का संपूर्ण ग्रहण करने में असमर्थ हैं, तो फिर उन्होंने संपूर्ण ईश्वरका ग्रहण न किया, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? अतः यहां पाठक यह समझें कि, जो कहा जाता है कि ईश्वर नेत्रकर्णादि इन्द्रियों का विषय नहीं है, उसमें संपूर्ण सत्य नहीं है, और वैसा कोई स्थूल पदार्थ भी संपूर्णतया नेत्रकर्णादि इन्द्रियों का विषय नहीं है, यह हमने इससे पूर्वहि देख लिया है, इसलिये नेत्रकर्णादि इन्द्रियों का विषय न होना, यह बात जैसी स्थूल वैसीहि सूक्ष्म तत्त्वके विषयमें समानतया ही सत्य है। इसलिये उसको ईश्वरके विषय में हि वैसा मानना सर्वथा अयोग्य है।

इंद्रियां मर्यादित शक्तिवाली हैं।

स्थूल पदार्थ भी मनुष्य के दृष्टिगोचर पूर्णतया नहीं होता है। आंख सूर्यको देखता है, परन्तु सूर्यके अनेक गुणोंमें से आंखने रूपका ही ग्रहण किया है, परन्तु संपूर्ण सूर्य केवल रूपयुक्त ही है, ऐसी बात नहीं है। इसी तरह अन्य वस्तुओं के विषयमें समझना योग्य है।

हमारे इन्द्रियों की शक्ति मर्यादित है, प्रत्येक इंद्रिय अपनी मर्यादा में हि कार्य कर सकता है, दूसरे क्षेत्र में वह जाही नहीं सकता, फिर वहां कार्य करना, तो उसके लिये असंभव ही है। नासिका का गन्धक्षेत्र, जिह्वाका रसक्षेत्र, नेत्रका रूपक्षेत्र, त्वचाका स्पर्शक्षेत्र, कानका शब्दक्षेत्र नियत है। ये अपने कार्यक्षेत्र से बाहर जाकर अन्यके क्षेत्रमें कार्य करहि नहीं सकते। यदि मनुष्यको केवल नेत्र इंद्रिय ही रहा और अन्य इंद्रिय न रहे, तो वह समझेगा कि, विश्वमें केवल रूप ही रूप है और कोई अन्य गुण नहीं है। कभी आंख गन्धादिकों का ग्रहण नहीं कर सकती।

वस्तु तो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धवाली होती है, इसलिये वस्तुका ग्रहण मनुष्य की कोई एक इंद्रिय किस तरह कर सकेगी? और जो इन्द्रिय किसी स्थूल वस्तुका पूर्णतया ग्रहण नहीं कर सकती, वह सूक्ष्म सर्वव्यापक ईश्वर का ग्रहण करने में समर्थ नहीं, ऐसा बार बार कहने की भी क्या आवश्यकता है? वह तो स्वयं सिद्ध ही बात है।

मनुष्य की पांचों इन्द्रियां अपने अपने आंशिक अनुभव मनके सामने रखती हैं और मन मननद्वारा

निर्धारित करता है कि, फलानी वस्तु विश्वमें है, यह निश्चय बुद्धि में ज्ञानरूप होकर उस वस्तु का ज्ञान कराता है। हरएक वस्तु के विषय में यही प्रक्रिया होकर वस्तु का ज्ञान होता है।

इन्द्रियां वस्तु का आंशिक गुण लेती हैं, परन्तु संपूर्ण वस्तु का ग्रहण नहीं कर सकतीं। पांचों ज्ञानेंद्रियों के इस तरह के आंशिक अनुभव मन के मननक्षेत्र में पहुंचते हैं, मन स्वयं किसी वस्तु का ग्रहण-इन्द्रियों की सहाय्यता के बिना-कर नहीं सकता। मननक्षेत्र में आये इन्द्रियानुभवों की संगति लगाकर बुद्धिके क्षेत्र में निर्णय होता है कि यह वस्तु बाहर है। यहां निर्णय करनेवालेको वस्तु का साक्षात् पता नहीं है और जिन इन्द्रियोंको साक्षात् पता है, वह उनका आंशिक अनुभवहि केवल है। इसी तरह हमें वस्तुज्ञान हो रहा है। यदि इसी तरह वस्तुज्ञान होना है, तो वही रीति ईश्वर के ज्ञान होनेमें क्यों नहीं काम में लायी जा सकती ?

ईश्वर का ग्रहण होगा।

प्रत्येक इन्द्रिय किसी वस्तुका संपूर्ण ग्रहण करनेमें असमर्थ है, इसी तरह वह ईश्वरके संपूर्ण ग्रहण करने में असमर्थ रहे। यह दोनों में समानता ही है। अब सोचना यह है कि जिस तरह प्रत्येक इन्द्रिय किसी वस्तु के आंशिक गुणका ग्रहण कर सकती है, उसी तरह यदि वह ईश्वरके गुणका भी आंशिक ग्रहण करने में समर्थ होगी, तो साधक ईश्वरका भी वैसाही साक्षात्कार कर सकेगा, जैसा दोपहर के सूर्यका वह कर सकता है।

वेदमें स्पष्ट कहा है कि मनुष्य ईश्वर का वैसा साक्षात्कार कर सकता है, जैसा वह दोपहर के सूर्य का करता है। उपनिषद् में भी कहा है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य।" आत्मा देखना चाहिये। ये वचन ऐसे हैं कि जो घोषणा कर करके कह रहे हैं कि, 'हे मनुष्य! तुम ईश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं।' इन वचनों में कोई किसी प्रकार का संदेह ही नहीं है, तथापि वचन और चाहिये, तो ये देखिये।

गीतामें ईश्वरदर्शन।

१. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्०। गी० २।२९
२. परं दृष्ट्वा निवर्तते० ॥ गी० २।५९
३. यो मां पश्यति सर्वत्र०। गी. ६।३०
४. द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम। गी. ११।३
५. ०दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ११।४
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो। (गी. ११।४)
६. पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। (गी. ११।५)
७. दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्। गी ११।९
८. पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्। गी. ११।१६
९. दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं०। गी. ११।२०
१०. अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा०। गी. ११।४५
११. सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि०। गी. ११।५२
१२. ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप। गी. ११।५४
१३. समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्। (गी. १३।२८)

इस तरह 'श्रीमद्भगवद्गीता' में ईश्वर के दर्शन होने के विषय में असंदिग्ध रीतिसे कहा है। (१) इस आश्चर्यकारक आत्मा का दर्शन करते हैं, (२) पर (ब्रह्म) का दर्शन होनेपर (वासना दूर होती है), (३) ईश्वर को सर्वत्र देखता है, (४) ईश्वर का रूप देखना चाहता हूं, (५) अपने अव्यय आत्मा का रूप दिखाओ, यदि मैं उसे देख सकता हूं, तो बताओ, (६) मेरे सैंकडों और हजारों रूप ये देखो, (७) ईश्वर का रूप भगवान् ने अर्जुन को दर्शाया, (८) अनन्तरूपी ईश्वर को मैं सर्वत्र देखता हूं, (९) उसका अद्भुत रूप देख लिया, (१०) पहिले न देखा हुआ ईश्वर का रूप देखकर आनन्द हुआ, (११) जो तूने देखा, वह रूप सहज ही से देखना असम्भव है, (१२) ईश्वर के रूप का ज्ञान होता है, वह देखा जाता है और उस रूप में तत्त्वतः प्रवेश भी कर सकते हैं, (१३) ईश्वर सर्वत्र सम भाव से है, यह मनुष्य देख सकता है।

गीता में और भी ऐसे वचन हैं, जिन में ईश्वर के देखने का उल्लेख है । तथापि इतने वचनों में स्पष्ट ही ईश्वर के दर्शन होने का और उस ईश्वर में तत्त्वतः प्रविष्ट होने के अनुभव का उल्लेख है। कितना अच्छा होगा कि, यदि हम सब ईश्वर को किसी युक्तिसे देखेंगे और उसी में विचरेंगे । इसी का इस लेखमाला में विचार करना है । यहां पाठक इन वचनों में देखें कि भगवद्गीता में ईश्वर के दर्शन होने का उल्लेख स्पष्ट है । भगवद्गीता ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिस का यौंहि परित्याग हो सकता है। तथापि हम जानते हैं कि, कई लोग ऐसे हैं कि, जो इस विषय में उपनिषदों का प्रमाण मांगेंगे; उन के लिये हम यहां उपनिषद्वचन देते हैं-

उपनिषदोंमें आत्मदर्शन ।

१. एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति । छां० ३।६।१
२. नान्यदात्मनोऽपश्यत् । बृ० १।४।१
३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः। बृ० २।४.५
४. आत्मन्येवात्मानं पश्यति । बृ० ४।४।२३
सर्वमात्मानं पश्यति । बृ० ४।४।२३
५. यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
बृ० ५।१५।१, ईश० १६
६. तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः । कठ० २।२०
७. अपश्यन्देवात्मशक्तिम् । श्वेता० १।३
८. देवं पश्येन्निगूढवत्। श्वेता० १।१४
९. यदा पश्यः पश्यति रुक्मवर्णम् । मैत्री० ६।१८,
मुण्ड० ३।१।६२
१०. यदात्मनात्मानं पश्यति । मैत्री० ६।२०
११. ब्रह्म तमसः परमपश्यत् । मैत्री० ६।२४
१२. स्वे महिम्नि तिष्ठमानं दृष्ट्वा । मैत्री० ६।२८
१३. स्वे महिम्नि तिष्ठमानं पश्यति । मैत्री० ६।३८
१४. यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः । मुण्ड० ३।१।५
१५. वेनस्तत्पश्यन् परमं गुहा यत् । महानारा० २।३
१६. तदपश्यत्, तदभवत् । महानारा० २।६
१७. तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा । गौड० २।३८
१८. स्वात्मानं दर्शयति । नृ० पू० ४।२
१९. स देवं पश्यति । नृ. पू. ४।३
२०. परमं ब्रह्म पश्यति । नृ० उ० ६
२१. अन्तः पश्यति सत्त्वस्थम् । चूलि० उ० २
२२. पश्यन्त्यस्यां महात्मानम् । चूलि० उ० ८
२३. दृश्यते पुरुषोत्तमः । ध्यान० उ० २
२४ एवं पश्येन्निगूढवत् । ध्यान० उ० २०
देवं पश्येन्निगूढवत् । ,,
२५. स्वं आत्मानं पश्यन् । वासुदे० उ० २

उपनिषदोंमें ये वचन हैं, जिनमें यह स्पष्ट कहा है कि, परमात्मा देखा जाता है । साधक उसे देख सकते हैं । इन वचनों का आशय यह है-

(१) इस अमृत (अमर आत्मा) को देखकर तृप्त होता है, (२) आत्मा से भिन्न दूसरा कुछ भी उसने नहीं देखा, अर्थात् केवल आत्मा को ही उन्हों ने देखा, (३) आत्मा का दर्शन करना चाहिये, (४) आत्मा का दर्शन करता है, सर्व आत्मा का दर्शन करता है, (५) जो तेरा (आत्मा का) कल्याणमय रूप है, उसे मैं देखता हूं । (६) उसे शोकरहित होकर देखता है, (७) देव-आत्मा की शक्ति को देखता है, (८) देव का गुह्य जैसा दर्शन करता है, (९) द्रष्टा तेजस्वी आत्मा का दर्शन करता है, (१०) आत्मा का दर्शन करता है, (११) अन्धकार के परे परब्रह्म का दर्शन करता है । (१२-१३) अपनी महिमामें विराजनेवाले आत्माका दर्शन करता है, (१४) दोषों का नाश होने के पश्चात् यति उस का दर्शन करते हैं, (१५) वेन उस गुहानिवासी आत्मा का दर्शन करता है, (१६) उस को देखता है और वैसा होता है, (१७) आध्यात्मिक तत्त्व का दर्शन होता है, (१८) आत्माको दर्शाता है, (१९) देव को देखता है, (२०) परब्रह्म का दर्शन करता है, (२१) अन्दर आत्मा का दर्शन करता है, (२२) महान् आत्मा को देखते हैं, (२३) पुरुषोत्तम दीखता है, (२४) गुप्त देव को देखते हैं, (२५) अपने आत्मा को देखते हैं ।

इन में पहिले १४ वाक्य मुख्य ग्यारह उपनिषदों के हैं, जिन को मुख्य उपनिषदोंके वाक्य चाहिये, वे

इनका विचार करें, जिन को अन्य उपनिषद् भी विचारणीय हैं, ऐसा प्रतीत होता है, वे अन्य वाक्य भी देखें। पूर्वस्थान में श्रीमद्भगवद्गीता के १३ वचन दिये हैं और ये उपनिषदादि ग्रन्थों के २५ वचन हैं। इन सब में आत्मा का साक्षात्कार होने का स्पष्ट कथन है। स्पष्ट कथन जैसा है, वैसा ही साधकों को लेना योग्य है। किसी के समझ में नहीं आता, इसलिए ऐसे वचनों के विपरीत अर्थ करना, तोडमरोड कर के खींचातानी करना, किसी को भी उचित नहीं है। इन उपनिषद्वचनों के विषय में लोक मर्जी चाहे कहते हैं, परन्तु हम यह मानते हैं कि, ये वचन अनुभवी महान आत्माओं के तो निःसन्देह हैं, इसलिये इन को वैसाहि त्यागना सर्वदा अयोग्य है। अर्थात् इन का प्रामाण्य मानना योग्य है।

अस्तु। यहां तक के वचनोंमें परमात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होने के विषय में निःसन्देह घोषणा है। अब जो लोग केवल वैदिक संहिता के हि मंत्र इस विषय में चाहते हैं, उन की संतुष्टि के लिये भी हमें यहां कुछ प्रमाण उपस्थित करने चाहिए। अतः इस विषय के वेदमंत्र देखिए—

वेद में परमपद का दर्शन।

(१) तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥ ऋ० १।२२।२०

(२) वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यत् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ॥ अथर्व० २।१।१

(३) परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ अथर्व० २।१।५

(४) परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्, तदभवत्, तदासीत् ॥ वा० यजु० ३२।१२

(५) यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
काण्व यजु० अ० ४०।१६

वेदमन्त्र बहुत ही दिये जा सकते हैं, परन्तु आ[ज] के अपने विचार के लिये इतने ही प्रमाण पर्या[प्त] हैं, इन का अर्थ देखिये–

(१) उस विष्णु के परमपद को ज्ञानी लोग स[दा] वैसा देखते हैं, जैसा मनुष्य सूर्य को आकाश [में] देखते हैं, (२) ईश्वर का भक्त गुहानिवासी पर[म] पद को देखता है, जहां सब विश्व एक घोसले [में] रहने के समान रहता है, (३) जिस में सब देव[ता] अमृत को प्राप्त करती है, उस फैले हुए अमृत [के] आनन्दमय सूत्र (आत्मा) को मैंने सब भुवनों [का] पर्यालोचन करनेके पश्चात् देखा, (४) द्यावापृथि[वी] दिशा और सब लोकलोकान्तरोंका सर्वतः आलोच[न] करनेके पश्चात् सत्यके फैले हुए सूत्र (आत्मा) [को] देखा और देखनेके पश्चात् वैसा ही हुआ, जैसा [था] (५) तेरा कल्याणमय रूप मैं देखता हूं।

इत्यादि वेदवचनों में स्पष्टताके साथ यह घोष[णा] है कि, परमेश्वर का रूप देखा जाता है। इन [...] वचनों में 'दृश्' (देखना) इसी धातु के [...] प्रयुक्त हुए हैं। दृश् धातु प्रायः रूप के विषय में [...] प्रयुक्त होता है। क्वचित् अलंकारिक अर्थ [...] अर्थात् अनुभवअर्थ में भी इसका प्रयोग होता है [...] परन्तु इन सब वचनों में आलंकारिक अर्थ हि है [...] और स्पष्टार्थ नहीं है, ऐसा कहना असम्भव है [...] इसलिये परमात्मा देखा जा सकता है, ऐसा ही [...] वचनों का अर्थ स्पष्टतासे विदित होगा।

ईश्वरको देखोंगे।

परमात्मा को किस तरह देखना है? यह प्र[श्न] यहां पाठक पूछेंगे, यह प्रश्न इस स्थानपर यो[ग्य] ही है, इसी का उत्तर आगेके लेखों में देने का य[त्न] करना है। इस समय हमें इस विषय में पता न[हीं] हैं, हमारा सहारा वेदमन्त्रोंपर है। वेदमन्त्रों [के] सहारे से हम इस प्रश्न का उत्तर देने का यत्न करें[गे] और यदि सम्भव हुआ, तो पाठकों के साथ हम [...] परमात्मा का साक्षात्कार वेदमन्त्रों के दर्शाये मार्ग [से] जाकर करेंगे।

(क्रमशः)

देवताविषय में

पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुका महान् भ्रम !

" जिज्ञासुजी का वेद और ऋषि दयानन्द पर हमला ! "

उनके अकल्पित एवं असंगत सिद्धान्त ।

(लेखक- श्री० द्विजेन्द्रनाथजी, शास्त्री, अध्यक्ष- वृन्दावन गुरुकुल)

वेदमन्त्रों के देवताविषय में आर्यमित्रादि समाचारपत्रों में बहुत दिनों से एक प्रकार का कोलाहल मचा हुआ है। इस विषयमें अनेक विद्वानों तथा अविद्वानों ने पक्ष तथा विपक्ष दोनों में ही लेख लिखे और अभी तक लेख लिखे ही जा रहे हैं, परन्तु अब तक कुछ निर्णय नहीं हुआ।

ऐसे अव्यवस्थित लेखपरम्पराओं के झमेले में ऐसे गम्भीर विषय का निर्णय भी क्या हो सकता था, जैसा कि वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध वेदविशेषज्ञ पं० नरदेवजी शास्त्री ने प्रथम ही लिखा था कि लेखों द्वारा ऐसे विषयों का निर्णय नहीं हो सकता, वह ठीक ही उतरा। निर्णय की बात तो दूर रही, इस प्रकार के लेखों से लाभ भी कुछ नहीं हुआ, परन्तु जनता में भ्रम ही फैला। देवताविषय जनता के लिए एक हव्वा ही बन गया। वास्तव में देवता-विषय इतना स्पष्ट है कि अन्य आचार्यों को जाने दीजिए, एक निरुक्तकार आचार्य यास्क का ही उक्त विषयक लेख इतना विषद एवं पूर्ण तथा पर्याप्त है कि यदि उस को पूर्ण रीतिसे समझने का कष्ट किया जाय, तो देवताविषय में कोई मतभेद का अवकाशही नहीं रहता, जैसा कि प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्री पं० प्रियरत्नजी आर्य ने भी अपने एक बहुत सुन्दर एवं शास्त्र-सम्मत लेखमें प्रकाशित किया था।

ऋषि दयानन्दजी ने भी देवताविषय में यास्क के ही लेख को प्रणाम माना है। यास्क का उदाहरण देकर उसी की पुष्टि की है। जब कि श्री पं० सातवलेकरजी ने भी ता० २१ जौलई १९३८ के " आर्यमित्र " में देवताविषय में अपना मन्तव्य प्रकाशित कर दिया था, जिस को यास्क तथा ऋषि दयानन्द दोनों के ही देवताविषयक मन्तव्यों का निष्कर्षही कहना चाहिए, तो देवताविषयक वाद-विवाद वहीं समाप्त हो जाना चाहिए था। यदि इतने पर भी मतभेद रह जाता है, तो उनसे मिल कर अथवा पत्रोंद्वारा या विशेष विद्वत्सभाद्वारा निर्णय किया जा सकता था। परन्तु ऐसा न होकर लेखों की जो झडी लगी, लेखों का ऐसा नशा सवार हुआ कि कई महानुभावों ने तो आर्योचित सौजन्य एवं सभ्यता तथा शिष्टाचार को भी दूर फेंक दिया।

आर्यसमाज ने, आर्यसमाज की प्रतिनिधि-सभाओं में, जिन सातवलेकरजी को इतना मान दिया कि जन्म शताब्दी के अवसर पर उन के द्वारा वेदामृत लिखवाया और उन की प्रशंसा की भरमार कर दी; पंजाब में प्रतिनिधिसभा की स्वर्णजन्ती में वेदसम्मेलन होता है, तो सभापतिका आसन श्री पं० सातवलेकरजी को दिया जाता है; गुरुकुल कांगडी के उत्सवों में वेदविषय पर क्या पंडितजी ने अनेक गंभीर व्याख्यान नहीं दिये? यू० पी० की स्वर्णजन्ती में वेदसम्मेलन होता तब भी सभापतिका आसन पं० सातवलेकरजी ही सुशोभित करते हैं। लगभग ३०-४० वर्ष से हिन्दी तथा मराठी में वैदिक साहित्य की जो सेवा उक्त पंडित-जी ने की है, वह किसी से अप्रकट नहीं है; उन्हीं

पं० को उन सब अमूल्य सेवाओं एवं प्रतिष्ठाओं पर पानी फेर कर आज दोचार आदमियों ने मिलकर उनकी पगडी उछालनी शुरू कर दी। क्या तमाशा है।

अरे भाई, यदि किसी विषय में मतभेद था, तो शान्तिपूर्वक, सभ्यतापूर्वक, सौजन्यपूर्वक, आर्योचित रीतिसे भी तो उसका निर्णय हो सकता था, आज लगभग साल भर से इस प्रकार के लेखों में जो छीछालेदर हो रही है, उससे भ्रम फैलने के अतिरिक्त और कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इनसे आर्यजनता में भ्रान्तियां ही फैली हैं। विशेषतः पण्डित ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के लेखों से अनेक सिद्धान्तसबंधी भ्रान्तियां फैली हैं, जिनका यहां दिग्दर्शन कराना हम उचित समझते हैं।

पण्डित ब्रह्मदत्तजी का जो यह मत है कि मन्त्रों के देवता अनियत हैं, यह नितान्त भ्रमपूर्ण है। ऋषि दयानन्द ने अपने किसी भी लेख में- " मन्त्रों के देवता अनियत हैं- " यह नहीं माना और न ही किन्हीं प्राचीन आचार्योंने कहीं इसका उल्लेख किया है। यह ब्रह्मदत्तजी के अपने मौलिक मस्तिष्क का ही आविष्कार है। परन्तु वे नहीं समझते कि देवता को अनियत मान कर वे वेदों पर कुठाराघात कर रहे हैं। जब कि यह सर्वानुमत है कि देवता मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को कहते हैं और मन्त्र सर्वांशतः ईश्वरीय हैं, ईश्वरीय रचना है। जैसा कि सभी वैदिक मानते हैं। फिर ईश्वर ने मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय को क्या नियत नहीं किया? क्या वह अनियत हो रहा? जिस रचना का प्रतिपाद्य विषय अनियत हो, उस रचना को क्या कोई अस-न्दिग्ध, सु-संगत अथवा बुद्धि-संगत कह सकता है? कदापि नहीं।

यदि पण्डित ब्रह्मदत्तजी मन्त्ररचना ईश्वरीय मानते हैं, तो तत्प्रतिपाद्य विषय भी अवश्यमेव ईश्वर से नियत किया हुआ मानना पडेगा। अन्यथा मन्त्र-रचना तो ईश्वर की किन्तु उसमें प्रतिपाद्य विषय नियत नहीं किया, इन दोनों बातों में त्रिकाल में भी सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता। अतः यही मानना पडेगा कि मन्त्रवत् देवता भी ईश्वरीय हैं, नियत हैं, निर्धारित हैं, निश्चित हैं, अनियत नहीं। कारण किसी प्रतिपाद्य विषय का उपदेश करने के लिये ही तो ईश्वर ने मन्त्ररचना की होगी, या यह सोच कर कि चलो शब्दात्मक मन्त्र ऋषियों के हृदयों में फूंक दो, देवता तो ऋषि स्वयं ही निर्धारित कर लेंगे।

यदि ऐसा ही है तो वेद का ईश्वरीय होना या न होना बराबर ही हुए। फिर वेद को ईश्वरीय ही मानने से क्या लाभ? क्योंकि वेद में प्रतिपाद्य विषय तो ईश्वरीय है ही नहीं, वह तो ऋषियों की बुद्धि की सूझ है, तो फिर वेदका वेदत्व या ईश्वरीयत्व क्या रहा? इसलिये पण्डित ब्रह्मदत्तजी ने मन्त्रके देवताओं को अनियत मान कर निःसन्देह ऋषि के वेद के ईश्वरीय होने के मुख्य सिद्धान्त पर कुठाराघात किया है। पण्डित सातवलेकरजी का देवतावाद में यदि कुछ मतभेद है, वह आर्यसमाज के लिये इतना घातक नहीं, जितना जिज्ञासु महोदयजी का देवताविषयक अनियत देवतावाद। इतना ही नहीं इस अनियत वाद से न केवल वेदों की ईश्वरीयता का खण्डन होता है अपितु शब्द के एक महान् सर्वतन्त्र मौलिक सिद्धान्त पर भी कुठाराघात होता है।

पाठक सावधान, होकर देखें कि शब्दशास्त्र का सिद्धान्त है कि, " सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे " (महा-भाष्य) अर्थात्-शब्द, अर्थ तथा इन दोनोंका सम्बन्ध ये तीनों सिद्ध अर्थात् नित्य हैं। जिसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि शब्दार्थसम्बन्ध नित्य होते हैं। शब्दसे अर्थ कभी पृथक् नहीं हो सकता। इस सार्व-भौम सिद्धान्त के अनुसार यदि जिज्ञासुजी मन्त्रोंको ईश्वरीय मानते हैं, तो तत्प्रतिपाद्य अर्थ (देवता) भी अनिवार्यतया ईश्वरीय ही होने चाहियें। परन्तु पण्डित ब्रह्मदत्तजी का कथन है कि, केवल शब्दमय मन्त्ररचना तो ईश्वरीय और तत्प्रतिपाद्य विषय ऋषिप्रोक्त हैं। वह कितना अनर्थ है। जिज्ञासुजी ने अपनी वैय्याकरणहानिकी दुन्दुभी बजवा रहे हैं, पर

व्याकरण के इस मौलिक महत्त्व पूर्ण सिद्धान्त की अवहेलना कर रहे हैं, जिसका भाष्यकार पातंजलि ने पस्पशाह्निक में प्रतिपादन किया है। महावैय्याकरणजी, व्याकरण के इस मौलिक सिद्धान्त पर, अपना ही समझ कर कुछ दया की होती।

वाचकवृन्द, जिस प्रकार शब्द शब्दार्थ से, नियतवृत्ति से अविच्छिन्नतया सुसम्बद्ध है. ठीक उसी प्रकार मन्त्र भी, मन्त्र प्रतिपाद्य अर्थसे सुतरां सम्बद्ध है। शब्द एव अर्थ के साहचर्य की भांति मन्त्र एवं तत्प्रतिपाद्य अर्थ (देवता) का भी साहचर्य अनिवार्य है। इस सर्वतन्त्र एवं सर्वमान्य सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रों के साथ मन्त्र प्रतिपाद्य अर्थों का साहचर्य एवं सहोदर्य है। यदि हम मन्त्रों को ईश्वरीय मानते हैं, तो हमें अनिवार्यतया मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय, देवता भी अवश्य ईश्वरीय अर्थात् ईश्वर के द्वारा नियत किये गये हुए मानने पड़ेंगे। अन्यथा न केवल शब्दशास्त्र के सिद्धान्त की अवहेलन होगी, अपितु हम वेदों को मानवीय भ्रान्त हस्ताक्षेपों से कदापि न बचा सकेंगे। इस बात को क्या कोई बुद्धिशाली पुरुष स्वीकार करेगा कि, रघुवंश में पद्यरचना तो कवि शिरोमणि कालिदास की है. किन्तु उसका प्रतिपाद्य विषय उसके प्रसिद्ध टीकाकार मल्लीनाथ का है? कदापि नहीं। जिस कवि की कृति है, उसमें प्रतिपाद्य विषय भी उसी का है। उसके विपरीत मानना तार्किकों के सामने उपहास का पात्र बनना है। जब कि वेद ईश्वरीय कृति हैं, तो तत्प्रतिपाद्य विषय (देवता) भी ईश्वरीय होना चाहिये। यही बात युक्तिसंगत है। परन्तु पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुजी कट्टरता के नाम पर इसी पर अड़े हैं कि देवता ईश्वरीय नहीं। कमाल है किसी ने ठीक ही कहा है—

'परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा।'

जिस दोष से आप दूसरों को दोषी ठहरा रहे हैं, उसी दोष में श्रीमान् स्वयं बुरी तरह फंसे हुए हैं। जिज्ञासुजी ने तो वेद तथा ऋषि दयानन्द दोनों पर ही हमला बोल दिया। यहीं तक नहीं आपने ता० २० नवम्बर के 'आर्यमित्र' में और भी अपनी वैदिक सिद्धान्त की अनभिज्ञता का परिचय दिया है। आप लिखते हैं कि "अतः मन्त्रोंके देवता नियत हो हैं, यह बात नहीं। परम देव परमात्मा ने आदि सृष्टि में चारों वेद दिये, जिसको आर्यसमाज अपौरुषेय मानता है। ऋषि, देवता, छन्द भी परमात्मा ने दिये (जैसा कि पं० सातवलेकरजी मान रहे हैं) आर्यसमाज ऐसा नहीं मानता। यह ऋषि, देवता और छन्द तो ऋषियों ने बताये। ये सर्वानुक्रमणियां तो थोड़े काल की बनी हैं। वेद तो इनसे भी पहिले से वर्तमान है. ऐसी अवस्था में मन्त्रोंके देवता नियत (महदूद, सीमित) कैसे माने जा सकते हैं।"

क्या खूब, अब तक तो केवल देवता ही आप के मत में ईश्वरीय नहीं थे, अब आप फरमाते हैं कि, छन्द भी ईश्वरीय नहीं हैं। अर्थात् जिन छन्दों में मंत्र दिये गये हैं, वे छन्द भी ईश्वरप्रदत्त नहीं हैं। पीछे से ऋषियों ने बताये। यदि ऐसा ही मान लिया जाय, तो श्रीमान्, मन्त्र किस चिड़िया का नाम रहा। यदि आप छन्द के स्वरूपको समझते, तो कदापि ऐसी अनर्गल बात न लिखते। छन्द तो कहते ही अक्षर परिमाण को हैं। "यदक्षर परिमाण तच्छन्दः।" अक्षरों के परिमाण को ही तो छन्द कहते हैं। अथवा यों कहिये- "मात्राक्षर संख्या नियता वाक् छन्दः" अर्थात् मात्रा एवं अक्षर संख्या से नियन्त्रित वाणी का ही नाम तो छन्द है। आपके कथनानुसार यदि वेदों के छन्द अर्थात् अक्षर परिमाण या मात्रा, अक्षर, संख्या से सुसंबद्ध मन्त्र, रूप, वाणी ही यदि ईश्वरीय नहीं, तो इसके सिवाय वेद रह ही क्या जाता है? और ईश्वर ने किस वस्तुको रचा? आपके उस कथन से छन्द अर्थात् मन्त्ररचना भी ऋषिकृत ही ठहरी। क्या यह आर्यसमाज के वेदविषयक मूल सिद्धान्त पर ही कुठाराघात नहीं? अतः ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के दोनों मत—

१-वेदों के देवता नियत नहीं, अपितु अनियत हैं! और

२-छन्द और देवता भी परमेश्वर ने दिये! यह आर्यसमाज नहीं मानता, यह नितान्त भ्रमपूर्ण

और स्वकपोलकल्पित है। अन्यथा जिज्ञासुजी उक्त दोनों मन्तव्यों की पुष्टि में ऋषि का कोई ऐसा लेख दिखावें कि, जिसमें ऋषि ने उक्त दोनों बातों का प्रतिपादन किया हो। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि, ऋषि ने कहीं भी उक्त बातों का प्रतिपादन नहीं किया है। ऋषि ऐसे असमंजस एवं असंगत तत्त्वों का प्रतिपादन कर भी कैसे सकते थे ? और कोई भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माननेवाला उक्त बातों को नहीं मान सकता ! न जाने जिज्ञासुजी इन स्वकल्पित एवं असंगत सिद्धान्तों को आर्यसमाज के मत्थे मढनेका क्यों दुस्साहस कर रहे हैं ? हमें बडा आनन्द होगा, यदि जिज्ञासुजी ऋषि का कोई ऐसा लेख दिखाने की कृपा करेंगे, कि जिसमें ऋषि ने मन्त्र के देवताओं को अनियत माना हो और यह स्वीकार किया हो कि देवता एवं छन्द तो ऋषियोंने पीछे से लिख दिये हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मदत्तजी ने नियत शब्द के अर्थ महदूद और सीमित करके तो और भी अपने पाण्डित्य पर प्रकाश डाला है। क्या आप किसी भी वैदिक और लौकिक कोष में नियत शब्द के अर्थ सीमित तथा महदूद दिखा सकते हैं ? कदापि नहीं। यह भी आपके विमल मस्तिष्क की ही आविष्कृति है।

यह भी ज्ञात होता है कि जहां ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकामें अपने देवताविषयक मन्तव्य का उल्लेख किया है, उस स्थल को भी आपने भली भांति देखने का कष्ट नहीं किया। यदि उसे देखते और यथावत् रीति से समझ लेते, तो ऐसी भूल कदापि नहीं करते। देखिये स्वामीजी ने तो देवता ईश्वरीय हैं, अर्थात् ईश्वर के ही संकेत हैं, ऐसा स्पष्टतया प्रतिपादन किया है। जैसा कि उनके निम्न लेख से सिद्ध होता है-

" यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्तते स एव मन्त्रोऽग्नदेवतो गृह्यते। एवमेव वातः सूर्यः... तेषामपि तदर्थस्य द्योतकत्वात् (परमाप्तेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ")

इसमें रेखांकित वाक्य ध्यान देनेयोग्य है। जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मन्त्रों के देवता भी परमेश्वर के ही संकेत हैं।

" परमाप्तेश्वरेणकृतसंकेतत्वात् "

इससे अधिक और स्पष्ट और क्या हो सकता है ? यहीं तक नहीं आगे चल कर ऋषि दयानन्द ने निरुक्तकार यास्क मुनि के देवतानिर्णायक

" यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्देवतः स मन्त्रो भवति। "

इस प्रसिद्ध वचन का जहां अर्थ किया है, वहां ऋषि शब्द का मन्त्रद्रष्टा अर्थ न कर ईश्वर ही अर्थ किया है।

' ऋषिरीश्वरः सर्वदृक् '

यहां ऋषि शब्द सर्वदृष्टा ईश्वर परक ही लिया है। मन्त्रदृष्टा ऋषि परक नहीं। इससे भी सिद्ध है कि ईश्वर ने ही मन्त्र के देवताओं का विधान किया है। वे कल्पित नहीं। अतः मन्त्रों की भांति देवता भी ईश्वरकृत ही हैं। यही ऋषि तथा आर्यसमाज का सिद्धान्त है, परन्तु खेद है कि पण्डित ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु अपने को कट्टर ऋषिभक्त कहते हुए भी किस प्रकार इस लेख का साक्षात् खण्डन कर रहे हैं।

यह लेख हमको वैदिक सिद्धान्त की अवहेलना होते हुए देख कर ही लिखना पडा है। आशा है वेद के विशेषज्ञ विद्वान् हमारे लेख पर विचार करेंगे और आर्यजनता उक्त विषय में ऋषिसिद्धान्त के यथार्थ स्वरूप को समझ भ्रम में न पडेगी।

गीता का व्यावहारिक दर्शन।

(लेखक- श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून)

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की सामाजिकता को सुरक्षित रखे बिना मनुष्य का मनुष्यत्व भी असुरक्षित है। मनुष्य शब्द के निर्वाचन में 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' सीव्यति पद से ज्ञात होता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व एक बडी माला का मनका है। इसीलिये समाज की शुचिता और सक्रियता के लिये प्रत्येक व्यक्ति की शुचिता और सक्रियता अनिवार्य है। 'समाज' का शब्दार्थ भी इसी बात का द्योतक है। 'सम् सम्यक् अजन्ति, गच्छन्ति गतिं कर्म कुर्वन्ति अत्रेति, जिसमें प्रत्येक मनुष्य सम्यक्-भले प्रकार से अपना अपना कार्य करता है- चलता है- ठहरा नहीं रहता- गतिमान रहता है उसे ही समाज कहा जाता है। यह समाज का शब्दार्थ है। जिस मानवसमुदायमें यह सम्यक् सामंजस्य नहीं, उसे समाज नहीं, 'विपरीताज' कहा जाएगा। इसी सामंजस्य को स्थापित करना ही समाजशास्त्र का उद्देश्य है। थोडा विचार से देखें, तो ज्ञात होगा कि सामंजस्य काही दूसरा नाम जीवन है। चित्शक्ति अथवा जीवनतत्त्व पिंड और ब्रह्माण्ड में इसी सामंजस्य को बनाए रखती है। यही चित्शक्तिका मुख्य उपयोग है। भारतीय साहित्य में धर्म यज्ञ आदि शब्दों का भी यही अर्थ है और श्रीमद्भगवद्गीता के 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य' का भी।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥

आदिवचनों का यही अर्थ है। धर्म शब्द का महाभारत में धारणात्मक शक्ति अर्थ किया है। भारतीय दर्शन, धर्मशास्त्र आदि मानवसमाज के इस सामंजस्य का प्रतिपादन कर रहे हैं। यही इन का उद्देश्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता का तो जन्म ही इस सामंजस्य को स्थापित करने के लिये हुआ है। गीताकारने हिन्दूधर्म के विविध अंगों के आपाततः प्रतीयमान भेद को दूर करके सब विचारों का सामंजस्य सफलतापूर्वक किया है। इसलिये मेरे विचार से गीता एक विशिष्ट समाजदर्शन है। हम उसे भारतीय दर्शन भी कह सकते हैं।

गीता क्या है ? अर्जुन को दी गई एक दिव्य दृष्टि ? 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः।' नैमिषारण्य में नर और नारायण तपस्या करते थे। वही दोनों गीताश्रोता और गीताप्रवक्ता के रूप में अर्जुन और कृष्ण बने, अवतीर्ण हुए, ऐसा आख्यान है। इस आख्यान का चाहे जो अर्थ हो- यह तात्पर्य तो स्पष्ट है कि गीता का उपदेश 'नर' के लिए है- मनुष्यमात्र इस का अधिकारी है। अर्जुन नर का प्रतिनिधि है।

प्रस्तुत लेख में हम संक्षेप से देखेंगे कि गीताकार ने सामाजिक सामंजस्य को स्थापित करने के लिए क्या दर्शन 'नर' के सम्मुख रक्खा है? साथ ही संक्षेप में हम इस बात का प्रतिपादन करेंगे कि, वर्तमान कालमें उस 'दर्शन' का भारत और संसार की प्रगति के लिए क्या उपयोग है।

गीता का दर्शन।

गीताकार की दृष्टि से क्रिया-कर्म-जीवन का चिन्ह है। जगत् की स्थिति कर्म से है। मनुष्य न चाहता हुआ भी इस नियम का पालन करने पर बाधित है। इसलिये इस नियम का निग्रह

करना व्यर्थ है। संसार की यह क्रिया ऋत अथवा सत्य के बल पर चल रही है। इसलिए जो मनुष्य यह सोचता है कि, अमुक कार्य मैं करता हूं, यह सोचना उस की अनधिकार चेष्टा है। मनुष्य तो उस ऋत का एक औजार ह। इसलिए उसे इच्छापूर्वक इस प्रकार का औजार बनना चाहिए। किसी कार्य के लिए सोचना कि 'मेरे बिना वह कार्य चलेगा नहीं,' मनुष्य की मूर्खता है।

अहंकार विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥

साथ ही कर्म न करना भी ऋत के विपरीत है। गीताकार के मत से कर्म करना ही मनुष्य का अधिकार है- 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'। जब मनुष्य में अहंकार आता है, तब वह दूसरे के अधिकार में हस्ताक्षेप करता है। फल देनेका अधिकार सत्य का अथवा ऋत का है। यह सत्य ही मूल रूप में ब्रह्म है। फल के सम्बंध में चिन्ता किये बिना अहंकर्ता की भावना हो ही नहीं सकती। इस प्रकार गीताकार ने सामंजस्य के लिए कर्मोंके सम्यक और असम्यक्त्व का भी निर्णय कर दिया है। जो कमफल के सम्बंध में चिन्ता किये बिना होही नहीं सकते, वे सब कर्म त्याज्य हैं—

काम्यानां कर्मणां न्यासम्।

गीता ने इस प्रकार संन्यास का अर्थ किया है। काम्य कर्मों का त्याग और योगका अर्थ किया है-

'समत्वं योग उच्यते' समता-सामंजस्य।

वास्तव में सामंजस्य का क्षेत्र बुद्धि है। शरीर नहीं। गीता के—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

आदिवाक्यों का यही तात्पर्य है। इसलिए गीताकार की सम्मति में कोई कर्म बुरा नहीं, यदि वह लोकसंग्रह की दृष्टि से किया जाता है। गीता ने गुणकर्मविभाग के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का भी प्रतिपादन किया है, जो कर्म जिस को स्वभावतः प्राप्त है, उसे अंत तक न छोडना चाहिए। स्वभावतः प्राप्त उस कर्म को करता हुआ भी कोई व्यक्ति मनुष्य के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। गीताकार के शब्द हैं-

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

अपने अपने कर्मों को करते हुए कोई मनुष्य भगवदर्पणभाव से कर्म कर के मुक्त हो सकता है। मुक्त होने का अर्थ है कर्तव्यता की अशेषता। गीताकार के मत से मनुष्य को वही कर्म करने चाहिएं, जिन को भगवान् जिस प्रकार करता है। भगवान् का मुख्य कार्य है। धर्मसंस्थापन-धारणात्मिका शक्ति का सामंजस्य।

'मत्कर्मकृन्मत्परमः — यः समामेति पाण्डव।

अर्थात् भगवान् के कर्म करनेवाला भगवान् को पाता है। भगवान् सब कर्मों को समभाव से कर रहा है।

समोऽहं सर्वभूतेषु, न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

इसी प्रकार गीता के अनुसार कर्म करनेवाले को भी समभाव से सब कार्य करने चाहिएं। यही समत्वयोग है। समत्वयोग उच्यते। योग कर्म करते हुए भी अलिप्त रहने का अनुपम प्रकार है। जिस समुद्र में प्रतिक्षण लाखों टन पानी आ रहा है, तब भी समुद्र की मुद्रा में अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार २४ घंटे कर्म करते हुए संसार के विविध व्यापारों को चलाते हुए भी जो व्यक्ति सम रहता है, 'न अपेक्षा और न उपेक्षा का सिद्धान्त मानकर चलता है, वह गीता के शब्दों में स्थितप्रज्ञ है। उस की प्रज्ञात्मक स्थिति स्थिर हो गई, ऐसा समझना चाहिए। स्थितप्रज्ञ की स्थिति ही मनुष्य की चरम स्थिति है। स्थितप्रज्ञ ही जीवन्मुक्त है।

कर्मफल की इच्छा छोडकर कर्म करने का अर्थ बिना विचारे काम करना नहीं है। गीताकार ने बिना विचारे कर्म करने को तामस कर्म कहा है

'अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य-यत्तत्तामसमुच्यते।' कर्म करने से पूर्व खूब सोचना, पर कर्म कर चुकने पर उसे भगवदर्पण कर देना कर्मयोग है। क्योंकि काम हो चुकने पर उस के सम्बन्ध में सोचना व्यर्थ है, शक्ति का अपव्यय है, सब से बढ कर अनधिकार चेष्टा है।

संक्षेप से गीतादर्शन का आधार कर्मयोग और कर्मफलत्याग है। इस को प्राप्त करने का साधन है 'कर्तृत्वाऽहंकार त्याग' इस का भी साधन है भगवदर्पणभाव।

व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय, तो गीता मनुष्यसमाज को अवसाद और निष्क्रियता से हटाकर संघर्ष और सक्रियता में लाना चाहती है। गीता सब पापों की जड अकर्मण्यता को समझती है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि, गीता इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अहिंसा, विश्वास, परिश्रम, ब्रह्मचर्य और सबसे बढ कर भगवद्विश्वास को मुख्य साधन समझती है।

गीता का दर्शन संन्यासियों के लिए है, उसका पालन संसार में रहकर नहीं हो सकता, यह विश्वास बहुतों को है। परन्तु जिस गीता का उपदेश अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए हुआ है, उस को सन्यासधर्म का ग्रंथ समझना गजनिमीलिका नहीं, तो क्या है?

कोई भी धर्मनियम व्यवहार के लिये होता है। यदि कोई नियम व्यवहार में आही नहीं सकता अथवा व्यवहार में आने से उस के द्रवित होने का भय है, तो मैं उसे धर्म हीं नहीं कह सकता। गीता के अंत में संजय ने तो गीताप्रवक्ता और गीताश्रोता को विजयमूर्ति श्री और ध्रुवनीति का कारण माना है।

इस का तात्पर्य यह हुआ कि, गीतादर्शन किसी भी राष्ट्रको इन गुणों और विभूतियों से भूषित कर सकता है। व्यावहारिक दृष्टि में गीता का कर्मयोगवाला दर्शन सामाजिक जीवन को शुद्ध बना सकता है। व्यवहार में क्या होता है? मैंने कोई कार्य किया, मैं अपने कार्य का मूल्य यदि पूरा रुपया आंकता हूं, तो इस का अर्थ यह कदापि नहीं कि, बाजार में भी उस की उतनी ही कीमत समझी जायेगी। कार्य के उस अनुमानिक दामों के भेद से व्यवहार में कुटिलता आ जाती है। इसी कारण लोग आज भारत में बिना स्वार्थ के कार्य करने की बात सोच ही नहीं सकते। इसके विपरीत यदि मैं किसी कार्य को फल की इच्छा के बिना करूं, तो उसका जो और जितना फल मिलेगा, वह मुझे दूसरे के प्रति कृतघ्न बनाने का साधन होगा। भारतीय सामाजिक जीवन में यदि आज यह कर्मयोग का सिद्धान्त घर कर जाय, तो हमारा देश स्वर्ग बन सकता है।

आज विश्व में फलप्राप्ति की इच्छाने मनुष्य को यंत्रों का गुलाम बना दिया है। आज परिश्रम का मूल्य ही नहीं समझा जाता। मनुष्य केवल रोटी और कपडे के लिए काम करे, यह सिद्धान्त घातक है। कर्म करना आवश्यक है।

इसीलिए मनुष्य को कर्म करना चाहिए। आज मशीनयुग में यंत्रोंद्वारा अधिक से अधिक कार्य ले कर जहां मनुष्य प्रकृति को विकसित कर रहा है, वहां वह चेतन यंत्रों की- मनुष्यों की शक्ति का ह्रास कर रहा है। वास्तव में मनुष्यसमाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए यह आवश्यक है कि, मनुष्यमात्र में कर्म करने की रुचि पैदा की जावे। बिना कुछ किये अथवा कम काम किये फलप्राप्ति की भावना मनुष्यत्व को विकास की ओर नहीं ले जा सकती।

इस प्रकार देखा जाय, तो गीतादर्शनसमाज की समाजता को स्थापित करने के लिए जो उपाय बता रहा है, उस की आवश्यकता आज भारत और विश्व को है।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।
(गीता-)

अपना विजय कैसे होगा?

(संपादकीय)

प्रत्येक मनुष्यको अपने विजय के लिये यत्न करना चाहिये। छोटेसे छोटा बालक भी अपना पराभव सह नहीं सकता. पराभवकी आशंका हो गयी, तो बालक भी रोता है, पीटता है और पराभवसे दूर भागनेकी चेष्टा करता है। इसी तरह मनुष्यके अन्दर भी पराभवका स्वागत करने की इच्छा नहीं होती। सदा अपना विजय हो, अपना यश बढे, अपनी कीर्ति दिगन्तमें फैले, यही इच्छा मनुष्य करता रहता है। अतः मनुष्यको यह विजय कैसे प्राप्त हो, इसका विचार करना चाहिये। अथर्वके विजयसूक्तके ९ पर्यायसूक्तों में विजयप्राप्तिके लिये अत्यन्त आवश्यक तत्त्वोंका विचार किया है। अतः अपना विजय चाहनेवाले पाठक इसका मनन करें और लाभ उठावें।

विजयके प्रकार।

विजयके बहुत प्रकार हैं। एक आध्यात्मिक क्षेत्रमें विजय है, दूसरा आधिभौतिक क्षेत्रका विजय है और तीसरा आधिदैविक क्षेत्रके संबंधका विजय है। ये मुख्यतः तीन प्रकारके विजय हैं। तथापि इस प्रत्येक क्षेत्रके विजयोंके भी अनेक प्रकार हैं, उन सबका विचार यहां नहीं किया जा सकता, तथापि सुबोधताके लिये उनका थोडासा स्वरूप बताया जाता है।

आध्यात्मिक विजय।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें शरीर, इंद्रियां, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार, चित्त, काम, आत्मा, प्रकृति और सब प्रकारकी विकृति आदि का संबंध है। इनको निर्दोष रखना, इनको अपनी निज शक्तिसे परिपूर्ण करना और इन सबको आत्मोन्नतिमें निर्विघ्नतया लगानेसे आध्यात्मिक क्षेत्रका विजय होता है। यहां प्रत्येक इंद्रियकी प्रकृति, उसकी विकृति, उसमें होनेवाले दोष और रोग, उनके गुण आदि सबका विचार आता है। मानो सभी वैद्यशास्त्र, आरोग्यशास्त्र, मानसशास्त्र आदि शास्त्र, आध्यात्मिक विजयकी सिद्धता करनेके लिये ही मनुष्यों के पास आ गये हैं। इसकी सूचना देनेके लिये अथर्ववेदमें कहा है कि—

निर्दाहः तनूदूषिः मनो-हा आत्म-दूषिः इदं तं अतिसृजामि। (अथर्व० १६।१।३-४)

'शरीरकी जलन, शरीरके सब दोष, मनके नाशक भाव और आत्माका घात करनेवाले सब विचार, इन सबको मैं दूर करता हूं।' इन चारों में प्रायः आत्माका पराजय होनेके कारण आ गये हैं; विविध रोगोंके कारण अपने शरीरमें दाह, पीडा, कष्ट अथवा दुःख होते हैं, शरीरमें जब दोषका संचय होता है, तब ही कष्ट उत्पन्न होता है, तभी विविध रोग होते हैं। मनके बुरे भावोंसे मनकी निर्बलता होती है और इन सबसे आत्माका अधःपतन होता है। पाठक इन चार शब्दोंका विचार करें और जाने कि इन चारोंसे आध्यात्मिक क्लेश कैसे होते हैं। यदि ठीक प्रकार मनन किया जाय और इन चारोंके क्षेत्रोंकी व्याप्तिका विचार किया जाय, तो यह बात पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार जम जायगी, कि मनुष्यके सब वैयक्तिक क्लेशोंकी ये चारही जडें हैं। यदि इनके विषयमें योग्य प्रतिबन्ध किया जाय, तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त होगा। पूर्वोक्त चार शब्दोंके प्रति शब्द जाननेसेही विजयके साधन ज्ञात हो सकते हैं—

शमः तनूशुद्धिः, मनःशुद्धिः, आत्मशुद्धिः।

ये चार शब्द हैं, जिनसे पूर्वोक्त चार दोष दूर हो सकते हैं। इंद्रियदमन, इंद्रियशमन आदिसे

शरीरका दाह दूर होता है और शरीरमें सर्वत्र शान्ति होती है, तनुशुद्धिसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं, मनकी पवित्रतासे मनका बल बढ जाता है और आत्मशुद्धिसे आत्मोन्नति होती है। इस तरह विचार करनेपर ज्ञात होगा कि, अध्यात्मोन्नति के ये चार साधन हैं और इसीलिये पूर्वोक्त चार दोषोंको दूर करनेकी सूचना अथर्ववेदमें दर्शायी है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी उद्देश्यसे कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥६५॥
(भ० गी० २)

'विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मूढता, मूढतासे बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से मनुष्यका सर्व नाश होता है। परंतु जिसका मन वशमें है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित हैं, वह इंद्रियोंसे कार्य कराते हुए भी प्रसन्न रहता है, चित्त प्रसन्न रहनेसे सब दुःख दूर होते हैं और उसकी बुद्धि भी स्थिर होती है।' इन श्लोकोंमें आध्यात्मिक दुःखोंके कारण कहे हैं और उनके दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। अतः ये श्लोक आत्मविजयके विषयका विचार करनेके समय बडे बोधप्रद हो सकते हैं। अस्तु इस प्रकारके जो जो दोष शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि और आत्मामें होते हैं, वे क्या करते हैं देखिये—

रुजन्, प्रमृणन्, म्रोकः, खनः।
(पर्याय सू० अथर्व० कां० १६।१।२-३)

जहां दोष होते हैं, वहां वे तोडते हैं, मरोडते हैं, कुचलते हैं, फोडते हैं, काटते हैं, खोदते हैं, गढा करते हैं।' इस तरह अनेक रीतिसे नाश करते हैं। पाठक काम और क्रोधके समय अपने अन्दर देखेंगे, तो उनको स्पष्टतया पता लग जायगा, कि ये काम और क्रोध मनुष्यके शरीरमें किस प्रकार तोडने, मरोडने, खोदने और नाश करनेके कार्य करते हैं। काम तो शरीरका आधारभूत जो वीर्य, वही नष्ट करता है, क्रोधसे तो खून के जीवनबिंदु ही नष्ट होते हैं; इसी प्रकार सब विकार तोडने, मरोडने, और नाश करनेवाले होते हैं। इसलिये आध्यात्मिक भूमिकाके इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। अतः कहा है—

यं वयं द्विष्मः, तं अभि अतिसृजामः।
(अथर्व० कां० १६।१।५)

म्रोकं खनिं तनूदूषिं अतिसृजामि॥
(अथर्व० १६।१।७)

'जिस रोगादिका और विविध दोषोंका हम द्वेष करते हैं, अर्थात् उनको अपने पास रखना नहीं चाहते, उनको हम दूर करते हैं। घातक, खोदक और शरीरमें दोष बढानेवाले सब दोषोंको हम दूर करते हैं।' यह दोषोंको दूर करना इसीलिये है कि, अध्यात्मक्षेत्रके सब दोष दूर हों और वहां शांति और प्रसन्नता विराजे। इसी विषयमें और देखिये—

यत् वः घोरं तत् (अतिसृजामि)।
(अथर्व० १६।१।८)

अरिप्राः आपः अस्मत् एनः प्रवहन्तु।
(अ० १६।१।९-१०)

आपः शिवया तन्वा मा उपस्पृशत।
(अ० १६।१।१२)

इन्द्रस्य इन्द्रियेण अभिषिञ्चेत्।
(अ० १६।१।९)

'जो आपके अंदर भयंकर हानिकारक दोष हो, उसको मैं सबसे प्रथम दूर करता हूं। दोष दूर करनेके लिये जलसे चिकित्सा करना योग्य है। शुद्ध जल हमारे शरीरोंसे सब दोष और सब पापोंको दूर करें। जल अपने शुभगुणसे मेरे शरीरको स्पर्श करे। इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्तिसे अभिषेक किया जावे।' यहां जलचिकित्सासे शरीरके सब दोष दूर करनेका उपदेश है, वह अत्यंत महत्त्वका है। शरीरमें जो कोई दोष होंगे, उनको जलके विविध प्रयोगोंसे दूर करनेका नाम जलचिकित्सा है। शरीरको शीत जलका स्पर्श सुख देनेवाला जब लगता है, तब समझना चाहिये कि शरीर स्वस्थ है। जब शुद्ध शीत जलका स्पर्श कष्ट देने लगता है, तब जानना चाहिये कि कुछ दोष शरीरमें घुसे हैं। ये सब दोष जलचिकित्सासे दूर करने चाहिये और इन्द्रकी शक्तिके जलसे स्नान करना चाहिये। जिस प्रकार जलके स्नानसे सब शरीर भींगता है, उसी प्रकार आत्माकी शक्तिसे सब शरीर संचारित होना चाहिये। सब शरीरभर आत्मशक्तिका सुखसे संचार होना चाहिये। इससे-

मयि क्षत्रं वर्चः आधत्त। (अ० १६।१।१३)

'मनुष्यमें क्षात्रबल और तेजस्विता बढेगी।' जल ही यह सब कार्य करेगा। जलचिकित्सासे हि वीर्य बढेगा, दोष दूर होंगे और शरीरकी कान्ति भी बढेगी। इस प्रकार शरीर का उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होगा। यह स्वास्थ्य मनुष्योंको प्राप्त हो इसीलिये—

अपां वृषभः अतिसृष्टः।

दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः॥ (अ० १६।१।१)

'जलोंकी वृष्टि करनेवाला मेघ अपने स्थानसे मुक्त हुआ, अर्थात् उससे वृष्टि हो गयी, दिव्य अग्नि जो बिजलियां हैं, वे भी खुली रीतिसे प्रकाशित हो रही हैं।' अर्थात् विशेष वृष्टि हो गयी है। परमेश्वरीय नियमसे जो वृष्टि हो रही है, इसका हेतु यह है कि, मनुष्य उससे स्वास्थ्य प्राप्त करें और अपनी आध्यात्मिक उन्नति सि[द्ध] करें। यहां आत्मिक उन्नतिका उपदेश देते हु[ए] मेघके दृष्टान्तसे सब लोगोंको कहा है कि, जै[से] मेघ जगत् की भलाईके लिये पूर्णतासे आत्म-समर्पण करता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको जगत्की भलाईके लिये आत्मयज्ञ करना चाहिये। इतने विचार इस काण्डके प्रथम पर्यायसूक्तमें मुख्यतः कहे हैं। अपनी उन्नति चाहनेवाले पाठक इसके मननसे पर्याप्त बोध प्राप्त कर सकते हैं।

इंद्रियशुद्धि।

आत्मोन्नतिके लिये इंद्रियकी पवित्रताकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पवित्रताके विना किसीकी उन्नति होना सर्वथा असंभव है। अत[ः] द्वितीय पर्यायसूक्तमें अपनी पवित्रताका विषय संक्षेपसे कहा है। सबसे पहिले सब मनुष्योंको एक अत्यंत उत्तम उपदेश दिया है, वह पाठक देखें और स्मरण रखें—

दुः+अर्मण्यः निः। (अ० १६।२।१)

'दुष्ट रीतिकी गति अर्थात् बुरा चालचलन दुष्ट व्यवहार दूर हो, हमसे निःशेषतया दुष्ट व्यवहार दूर हो।' हमारे अन्दर दुष्ट गति करनेवाले भाव न रहें और हमारे समाजमें दुराचारी मनुष्य न रहें। इस प्रकार एक व्यक्तिका सुधार हो और उसी नियमसे समाजका भी सुधार हो। व्यक्तिके सुधारका और समाजके सुधारका नियम एक ही है। व्यक्तिके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंको दूर करना होता है और समाजके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंसे युक्त मनुष्योंको दूर करना होता है। दुष्ट मनुष्योंको दूर करनेका अर्थही समाजसे दु[ष्ट] गुणोंके आश्रयस्थान दूर हों, एवं सर्वत्र उन्नतिका नियम दुष्टताको हटाना ही है। इस तरह सब साधारण उन्नतिका उपदेश करके पश्चात् विशेष स्पष्टीकरण करनेके उद्देश्यसे कुछ इंद्रियोंका नाम निर्देश करके आत्मसुधारका मार्ग दर्शाया है—

ऊर्जा मधुमती वाक् । मधुमतीं वाचं उदेयम् ॥
(अ० १६।२।१-२)

'वाणी मीठी हो और बलशालिनी हो. मनुष्य मीठी और बलयुक्त वाणीसे आपसमें बातचीत करें।' मनुष्योंके अन्दर जो झगडे फिसाद होते हैं, उसका कारण कटु शब्दोंका प्रयोग है । मनुष्य के मनमें विष भरा रहता हैं, वह कटु शब्दों द्वारा बाहर आता है और सब स्थानमें विषैला वायुमंडल उत्पन्न करता है । इसलिये मनुष्य अपनी अन्तःशुद्धि करेगा, तो उससे कदापि कटु शब्दोंके प्रयोग नहीं किये जायंगे ।

मनुष्य ऐसे शब्दोंका प्रयोग करें कि वे मीठे हों, शत्रुओंमें मित्रता हो और उत्पन्न हुई मित्रता सुदृढ हो जाय । केवल शब्दोंकी मधुरता ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत शब्दोंमें (ऊर्जः) बल चाहिये । उत्साह की वृद्धि करनेवाले शब्द उच्चारने चाहियें। नहीं तो कई मनुष्य अपने ही पुत्रको 'गुलाम' करके पुकारते हैं, दूसरेको 'तू मरेगा' करके कहते हैं, 'तू बडा हराम है,' ऐसा कहते हैं । ऐसे शब्दोंसे अपनी वाणी तो मलीन होती ही है, परंतु ये शब्द जो जो सुनते हैं, उनके मनमें भी निर्बलता का वायुमंडल उत्पन्न होता है । इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह उत्साहपूर्ण, बलशाली, प्रभावपूर्ण शब्दोंका प्रयोग करें । अपने पुत्रको 'तू इन्द्र है,' ऐसा कहें, 'तू अमर होगा,' ऐसा बोलें, 'तू सत्यस्वरूप है,' तू स्वयं आनन्दघन है,' ऐसा कहें । ऐसा बोलनेसे सब सुननेवालोंके मनोंमें उत्साह का वायुमंडल उत्पन्न होता है। मनुष्योंके नाम भी 'कूडाराम' रखनेके स्थानमें 'निर्भयराम' ऐसे रखें । जिससे प्रत्येक समय वह शब्द उच्चारनेसे शुभविचार उत्पन्न हों। प्रत्येक पाठक निश्चयपूर्वक ऐसा यत्न करे कि, अपनी वाणीसे कदापि अशुभ विचार न प्रकट हों और सदा उत्साहमय विचार ही प्रकट हों। इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर यहां केवल दो ही शब्दोंद्वारा दिया है । 'गो-पा, और गो-पीथः' ये दो शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं । मनुष्योंका संपूर्ण सत्यधर्म इन शब्दोंमें आ चुका है। 'गोप' का अर्थ है, इंद्रियोंकी रक्षा और 'गोपीथ' का अर्थ है, इंद्रियोंकी पालना। एकसे शक्तिवर्धन करनेका उपदेश मिलता है और दूसरेसे इंद्रियोंके संयमका बोध मिलता है। जैसे गोरक्षा करनेवाले गौको उत्तम घास आदि खानेके लिये देते हैं और पुष्ट करते हैं और उनको इतस्ततः घूमने नहीं देते हैं, इसी तरह मनुष्य अपनी इंद्रियोंकी शक्ति बढावे और उनको वश भी रखे। मनुष्यकी उन्नतिके लिये इस प्रकार इंद्रियसंयम और मनोनिग्रह की अत्यंत आवश्यकता है । पाठक यह बोध इन दो शब्दोंसे लें। जो ऐसा संयम करनेवाले होंगे, वे ही (उपहूतः) पास बुलाने योग्य हैं । और जो लोग अपने इंद्रियोंको स्वेच्छाचारी करते हैं, वे समाजमें आदरसे बुलाने योग्य नहीं हैं । पाठक इसका विचार करें और इस वेदोपदेशसे अपना वैयक्तिक और सामाजिक आचरण सुधारें। आगे कानों के विषयमें बडा उत्तम उपदेश दिया है-

भद्रश्रुतौ कर्णौ । सुश्रुतौ कर्णौ । भद्रं श्लोकं श्रूयासम् । सुश्रुतिः उपश्रुतिः च मा मा हासिष्टाम् । (अ० १६।२।४-५)

'मेरे कान अच्छे उपदेश सुनें, अच्छे उपदेशोंसे मेरे कान सुने हुए हों । कल्याण करनेवाली वाणी मैं सुना करूंगा । उत्तम उपदेश सुनने और दूरसे अच्छे शब्द सुननेकी शक्ति मेरी कभी क्षीण न हो ।' यहां कानों की सार्थकता का साधन दर्शाया है। ईश्वरने मनुष्यको कान इसीलिये दिये हैं कि, उनसे मनुष्य सदा उत्तम उपदेश सुने, कभी बुरे शब्द न सुने। ऋग्वेद में भी कहा है-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । (ऋ० १।८९।८)

'हम कानोंसे कल्याणकारक उपदेश सुनें और आखोंसे कल्याणकारक वस्तु देखें।' ये सब उपदेश इसीलिये हैं कि इनसे मनुष्य का सुधार हो, मनुष्य पवित्र बने और उन्नत हो। इस प्रकार कानोंके विषयमें कहनेके पश्चात् नेत्रके विषयमें भी कहा है-

सौपर्णं चक्षुः अजस्रम्। (अ० १६।२।५)

'गरुडके समान मेरी तीक्ष्ण दृष्टि हो' और वह उत्तम कल्याण की वस्तुएं देखें। इस प्रकार इंद्रियशुद्धिके विषयमें अथर्ववेदमें कहा है। यही-

ऋषीणां प्रस्तरः असि। दैव्याय प्रस्तराय नमः। (अ० १६।२।६)

'तू ऋषियोंका प्रस्तर है। इस दिव्य प्रस्तरके लिये नमस्कार है।' ऋषियोंकी चट्टाण आत्मा है। यदि दिव्य चट्टाण है। इसके विषयमें प्रत्येकने अपने अन्तःकरणमें पूज्य भाव धारण करना चाहिये। इसी आत्माकी उपासनासे सब का हित होनेवाला है।

आधिभौतिक विजय।

पूर्वोक्त प्रकार मनुष्यकी आध्यात्मिक और वैयक्तिक उन्नति होनेके पश्चात् उसको अपना आधिभौतिक विजय संपादन करनेका यत्न करना चाहिये। वह बोधप्रद उपदेश पाठक अब देखें।

अहं रयीणां मूर्धा भूयासं। समानानां मूर्धा भूयासम्। (अ० १६।३।१-२)

अहं रयीणां नाभिः भूयासं। समानानां नाभिः भूयासम्। (अ० १६।४।१-२)

'मैं धनोंका स्वामी और केन्द्र बनूं। मैं समान दर्जेके लोगोंमें मुखिया और उनका मध्य केन्द्र बनूं।' अपनी योग्यता नेता बनानेयोग्य होनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्य नेता नहीं हो सकता, तथापि यदि बहुगुणसंपन्न बननेका यत्न प्रत्येक मनुष्य करेगा, तो उसका अवश्य सुधार होगा। इस दृष्टिसे इस प्रकारकी इच्छा मनुष्य अपने मनमें धारण करे और धर्मानुकूल उन्नतिका यत्न करे। ऐसा नेता बननेके लिये जो गुण मनुष्यको अपने अन्दर बढाने चाहियें, उनकी सूचना इसी सूक्तमें अगले मंत्रोंमें दी है, देखिये—

रुजः, वेनः, मूर्धा, विधर्मा, उखः, चमसः, धर्ता, धरुणः, विमोकः, आर्द्रपविः, आर्द्रदानुः, मातरिश्वा च मा मा हासिष्टाम्॥ (अ० १६।३।२-४)

'तेजस्विता, महत्त्वाकांक्षा, मस्तिष्क की शक्ति, विशेष गुणधर्म, यज्ञसाधन, धारक शक्तियां, बन्धमुक्तिकी इच्छा, सिद्ध शस्त्र, दान करनेकी इच्छा और प्राण ये मेरा त्याग न करें।' ये गुण मनुष्यमें रहेंगे और बढेंगे, तो ही वह मनुष्योंका केन्द्र और मुखिया बन सकता है। ये गुण विशेष महत्त्वके हैं, अतः इनका विचार अधिक करना चाहिये। (रुजः) तेजस्विता, इसमें शरीर, इंद्रियां मन, बुद्धि और आत्माकी तेजस्विताओंका अन्तर्भाव होता है, मनुष्य सब प्रकारसे तेजस्वी बने। (वेनः) इच्छा अर्थात् अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय महत्त्वकी इच्छा। इसी इच्छासे मनुष्य पुरुषार्थी होता है और विशेष श्रेष्ठ कर्म करता हुआ अपना और समाजका उद्धार करता है। (मूर्धा) सिर, अर्थात् मस्तिष्क। मनुष्यकी योग्यता उच्च वा नीच होना, उसके मस्तिष्ककी शक्तिपर निर्भर है। अतः मनुष्यको उचित है कि वह अपनी मस्तिष्क की शक्ति बढावे। (वि-धर्मा) विशेष धर्मोंसे युक्त बनना। साधारण गुणकर्मों और धर्मोंसे युक्त होनेसे मनुष्य साधारण ही हो सकता है, परंतु उसकी विशेष योग्यता होनी हो, यदि वह समाजका और राष्ट्रका केन्द्र बननेका इच्छुक हो, तो उसको उचित है कि वह अपने अन्दर विशेष धर्मोंकी वृद्धि करे। सामान्य मनुष्योंमें जो धर्म नहीं होते, ऐसे उच्च धर्म तपस्यादिसे अपने अन्दर बढाने चाहिये। (उखः चमसः) ये यज्ञपात्र हैं, ये यज्ञके सब साधनोंके

उपलक्षण हैं। सब प्रकारके यज्ञ करनेसे और यज्ञमय यज्ञरूप जीवन होनेसे हि मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। मनुष्य क्रतुरूप होना चाहिये। शतक्रतु बनना मनुष्यका ध्येय है। (धर्ता) धारण करनेवाला, समाजकी धारणा, राष्ट्रकी धारणा, धर्मकी धारणा करना मनुष्यका कर्तव्य है। दूसरे प्राणियोंको अपनी शक्तिका आधार देना धर्ता होना है। (धरुणः) इसका भी धारक ही अर्थ है, इसमें बल अधिक है। स्वयं स्थिर रहकर दूसरोंको दुःखसमुद्रसे पार करनेके लिये अपना आधार देनेका कार्य करना मनुष्यको योग्य है। मनुष्यको अपने अन्दर इतनी शक्ति प्राप्त करना चाहिये। (वि-मोकः) विमोचन करनेवाला, मनुष्यों को मुक्त करनेवाला, मनुष्योंको बन्धनसे पार करनेवाला, मनुष्योंको स्वतंत्रता देनेवाला जो नेता होगा, वही सबसे श्रेष्ठ समझना योग्य है। यही लोगोंका परित्राण, सज्जनों की रक्षा, दुर्जनोंका निर्दालन और धर्म की स्थापना करनेका अर्थ है। (आर्द्र-पविः) पवि का अर्थ है तलवार, खड्ग किंवा शस्त्र। शत्रुके रक्तसे जिसका शस्त्र गीला होता है अथवा शत्रुका नाश करनेके लिये जिसका शस्त्र आर्द्र अर्थात् गीला होनेके लिये सिद्ध है, उसका यह नाम है। धर्मयुद्ध करनेके लिये जो तैयार होता है, उसका यह नाम है। (आर्द्र-दानुः) आर्द्रता, स्नेहसे आर्द्रभाव का जो दान करता है, जिसका मन स्नेहसे सदा आर्द्र रहता है, जो दयार्द्र रहता है, उसका यह नाम है। (मातरि-श्वा) अपनी माताके अन्दर जिसका आश्रय होता है, जो मातृभक्त है, मातृभूमिके अन्दर इसीलिये रहता है कि अपने जीवनसमर्पणसे मातृभूमिकी सेवा होवे, इसलिये जो मातृभूमिमें संचार करता है।

ये बारह शब्द मनुष्यके विशेष कर्तव्य बता रहे हैं। मनुष्य ये कर्तव्य करें ये कर्तव्य मनुष्यसे कदापि दूर न हों। इन कर्तव्योंके विषयमें मनुष्य कदापि विमुख न हों। इन धर्मोंसे और इनसे बोधित होनेवाले कर्तव्योंसे जो पुरुष युक्त होते हैं, वहि श्रेष्ठ और उच्च होते हैं। यहां कई निर्बल मनुष्य कहेंगे कि, हम निर्बल हैं, हम इन गुणधर्मोंका धारण नहीं कर सकते, इनके लिये आत्माका स्वभाव कैसा है, यह बात अथर्ववेद स्वयं कहते हैं-

आत्मा बृहस्पतिः नृमणः हृद्यः।
(अ० १६।३।५)

विधर्मणा समुद्रः अस्मि। (अ० १६।३।६)

मर्त्येषु अमृतः सूषा। (अ० १६।४।२)

'आत्मा ज्ञानयुक्त है, मनुष्योंके हृदयमें निवास करता है, मनुष्योंके अन्दर मनन करनेवाला है, अपने विशेष धर्मसे वह समुद्र जैसा फैला हुआ गंभीर है। मरण धर्मवाले शरीरमें वह अमर हैं और उत्तम तेजसे युक्त है।' ये अपने आत्माके गुणधर्म हैं. यह जानकर, विचारसे और मननसे इन गुणोंका साक्षात्कार करे। इस ज्ञानसे मनुष्यकी निर्बलता दूर होगी और वह पूर्वोक्त गुणोंको अपने अंदर बढानेमें समर्थ होगा। इस तरह आत्मिक बल प्राप्त होनेसे-

असंतापं हृदयं। उर्वी गव्यूतिः।
(अ० १६।३।६)

'हृदय संतापरहित अर्थात् शान्त होता है और गोनाम इंद्रियोंकी गति बडी विस्तृत होती है।' अपनी सब शक्ति बढती है। प्रभावशाली जीवन हो जाता है। आत्माकी शांति उसके सब व्यवहारमें दीखती है और वह कैसेही भयंकर प्रसंगमें शान्त और गंभीर होकर कार्य करता है। कभी अशान्त नहीं होता। शरीरके नाश होनेपर भी मैं अमर हूं, यह उसका विश्वास उसको निडर करता है और महान् सत्कर्म उससे कराता है। ऐसी अवस्थामें सब देव उसके रक्षक होते हैं-

सूर्य ··वायु···अग्निः···यमः··· सरस्वती···पातु। (अ० १६।४५) 'सूर्य, वायु, अग्नि, यम और सरस्वती उसकी रक्षा करते हैं।' सूर्य नेत्रस्थानमें, वायु प्राणके स्थानमें, अग्नि वाणी के स्थानमें, यम

शिश्नस्थानमें, सरस्वती बुद्धिस्थानमें रहकर उसको हरएक प्रकारकी सहाय्यता देते हैं और उसको अपनी दिव्य शक्तिसे पवित्र करते हैं। आत्मशक्तिसे युक्त पुरुषको इस तरह सब देव सहायक होते हैं। यह विषय इससे पूर्व भी आ चुका है और वेदमें यह वारंवार कहा गया है। इसलिये जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है और अपना जीवन यज्ञरूप बनाता है, उसको सब देवताओंकी सहाय्यता होती है, यह विश्वास पाठक मनमें धारण करें। ऐसा मनुष्य निर्भय होकर व्यवहार करता है और इसीलिये यह मनुष्य सबका नेता बननेयोग्य होता है। यह कहता है कि—

प्राणः मां मा हासीत् अपानः अवहाय मा परागात्। (अ० १६।४।३)

'मेरा प्राण और अपान मुझे छोड कर न दूर जावे।' यह ऐसा इसलिये कहता है, कि उसने अपना सब जीवन ईश्वरकी भक्ति और सेवाके लिये समर्पित किया होता है, वह अपने जीवनसे जनताकी सेवा करना चाहता है। अपना प्राण वह ईश्वरके लिये हि समर्पित करना चाहता है। अन्य कार्यका उसको स्मरण भी नहीं है। वह जानता है कि-

मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ। शक्वरीः आपः स्वस्ति। (अ० १६।४।७)

'अपने प्राण और अपान ये अब प्रत्यक्ष मित्र और वरुण देवता हैं और जल के अन्दरका सब सामर्थ्य मेरा कल्याण करता है।' इस तरह वह देखता है और अनुभव करता है कि अपना सब देह और जीवन देवतामय हुआ है। इस समय वह दुष्ट कल्पनासे पूर्णतया दूर होता है, सब उसका देवतारूप स्वरूप बनता है, वह सहजही गतिसे प्रशस्त कार्य करता है, उसको वैसे कार्य करनेके लिये कोई प्रयास नहीं होते, क्योंकि वह विश्वरूप बना होता है। इस समय वह अनुभव करता है कि—

अग्निः मे दक्षं। (अ० १६।४।७)

'अग्नि अपने में बल धारण करता है।' अ देव अन्यान्य सामर्थ्य धारण करते हैं। इसक आत्मा प्रत्यक्ष ईश्वरीय गुणोंसे प्रभावशाली हुअ होता है। ऐसे महात्माकी धन्य है, वही प्रभावशाल नेता हो सकता है और वही लोकसंग्रह करने समर्थ होता है और यही मनुष्य जगत्‌को सच्च मार्ग बता सकता है। युगयुगमें ऐसे सत्पुरुष आ हैं और जनतामें प्रत्यक्ष कार्य करते हैं और बंधनो पडकर सडनेवालोंको बन्धननिवृत्तिका मा बताते हैं।

स्वप्न ।

आगे पंचम् और षष्ठ इन दो पर्यायसूक्तों स्वप्नका विषय कहा है। इस सूक्तमें दुष्ट स्वप्नके जो कारण दिये हैं, वे ये हैं–

ग्राह्याः···निर्ऋत्याः···अभूत्याः···निर्भूत्याः··· पराभूत्याः देवजामीनां पुत्रः स्वप्नः। (अ० १६।५।१-८)

'रोग, दुरवस्था, दारिद्र्य, दुर्गति, पराभव और इंद्रियदोष इनके कारण दुष्ट स्वप्न आते हैं। दुष्ट स्वप्न मानो मृत्युका संदेश होते हैं। सलि दुष्ट स्वप्न होते ही मनुष्यको उचित है कि अप अन्दर जो रोगबीज घुसे हों, उनको दूर करने यत्न करें। दुष्ट स्वप्नके जो कारण यहां दिये हैं उनका भी थोडासा अधिक विचार यहां कर चाहिये। (ग्राही) भयानक रोग जो शरीर आनेपर सहसा शरीरको छोडते नहीं और दुः देते देते अन्तमें प्राणहरण कर लेते हैं। ऐसे रो शरीरमें होनेपर वारंवार दुष्ट स्वप्न होते हैं, अ यदि इन रोगोंसे दुष्ट स्वप्न होते हों, तो उन दूर करनेके लिये चिकित्साद्वारा रोगबीजोंको द करना चाहिये। शरीर निर्दोष और नीरोग कर चाहिये। इस कार्य के लिये इसी काण्डमें प स्थानमें जलचिकित्साका उपाय बताया है (निर्ऋति) शब्दका अर्थ है उन्नति, अभ्युद

समर्थता और सामर्थ्य। इसके विरुद्ध अर्थ निर्ऋति का है। अवनति, अधःपात, क्षीणता और निर्बलतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इनको दूर करनेके लिये जो आवश्यक उपाय हों, उनको कार्यमें लाना चाहिये। (अभूति) ऐश्वर्यसे हीन होना और (निर्भूति) महासंकटमें पडना तथा (पराभूति) पराभव होना, परतंत्र, पराधीन और परवश होना, इन कारणोंसे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इन कारणोंको दूर करनेके लिये बहुतसे उपाय है, प्रत्येकके लिये विभिन्न उपाय होते हैं। अतः उनका अवलंबन योग्य रीतिसे करना चाहिये। मुख्य उपाय स्वावलंबनसे स्वाधीनता प्राप्त करना है। (देवजामी) अपने शरीरमें देव नाम इंद्रियोंका है, उनकी शक्तियां विविध हैं। इनकी न्यूनाधिकतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इस कारण संयमादिद्वारा अपने इंद्रियोंको निर्दोष, नीरोग और स्वस्थ रखना अत्यंत आवश्यक है। अर्थात् इस तरह अपने अन्दर और अपने राष्ट्रमें जो जो दुष्ट स्वप्नके कारण उत्पन्न हों, उनको दूर करना मनुष्योंका कर्तव्य है।

मनुष्यकी परीक्षा स्वप्नसे होती है। मनुष्यको कैसे स्वप्न होते हैं, इसपर वह स्वस्थ है वा रोगी है, सदाचारी है वा दुराचारी है, शुभविचार वाला है वा अशुभ विचारवाला है, इसका निश्चय होता है। मनुष्यको ऐसे स्वप्न आ जांय, तो अच्छा है- कि 'मैं ईश्वर-उपासना कर रहा हूं, ऋषि आश्रममें ऋषियोंके वार्तालाप सुन रहा हूं, सत्पुरुषोंका समागम हो रहा है।' ऐसे शुभ स्वप्न आने लगे अथवा बिलकुल स्वप्न ही न हुए, तो समझना चाहिये कि, उसका शरीर स्वस्थ है। अन्यथा बुरे स्वप्न आने लगे, तो स्वास्थ्यमें कुछ न कुछ बिगाड है, ऐसा मानकर उसके सुधारका यत्न करना चाहिये। अतः कहा है—

यस्मात् दुष्वप्न्यात् अभैष्म तत् अपउच्छतु।

(अ० १६।६।२)

'जिस दुष्ट स्वप्नसे हमें भय होता है, वह दुष्ट स्वप्नका कारण हमसे दूर होवे। वह कारण किसी दूसरे स्थानपर जावे, हमारे पास न रहे। इस प्रकार अपने आपकी निर्दोषता सिद्ध करनेपरही वह निर्दोष मनुष्य कह सकते हैं कि-

अद्य अजैष्म, अद्य असनाम, वयं अनागसः अभूम। (अ० १६।६।१)

'आज हमने विजय प्राप्त किया है, आज जो हमारा प्राप्तव्य था, वह प्राप्त किया है, क्योंकि हम निष्पाप हो चुके हैं।' निष्पाप होनेसे हि सब प्राप्तव्य हो सकता और विजय प्राप्त होता है। विजय प्राप्त करनेकी यह कूंजी है। पापसे जो उन्नति प्राप्त होनेका भास होता है, वह केवल भासमात्र है। उसमें गहरी अवनतिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि, वेदकी आज्ञाके अनुसार निष्पाप धर्माचरणसे जो उन्नति प्राप्त होती है, वही प्राप्त करनी चाहिये और वही चिरस्थायी होगी।

आगे सप्तम सूक्तमें द्वेषीको दूर करना अथवा नाश करनेका विषय कहा है। वह सूक्त स्पष्ट होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। यह शत्रु अध्यात्मभूमिकामें कुविचार, रोग आदि हैं, आधिभौतिक भूमिकामें दुर्जन शत्रु हैं। दोनों स्थानोंमें जो जो शत्रु निवास करता हो, उसको हटाना चाहिये। तभी विजय प्राप्त हो सकता है।

विजय।

अष्टम सूक्तमें अपने विजयप्राप्तीका एक मंत्र है, वह प्रत्येक वैदिकधर्मीको कण्ठ करनेयोग्य है, वह मंत्र अब देखिये—

अस्माकं जितं, उद्भिन्नं, ऋतं, तेजः, ब्रह्म, स्वः, यज्ञः, पशवः, प्रजाः, वीराः, ॥

(अ० १६।८।१)

इस मंत्रका प्रत्येक शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण भावसे युक्त होनेके कारण यहां प्रत्येक शब्दका विशेष विचार करते हैं—

(जितं) यह सब प्रकारके शत्रुओंपर विजय है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी शक्ति बढानेसेही हो सकता है। (उद्भिन्नं) यह अपने सब प्रकार के अभ्युदयसे साध्य होनेवाली बात है, अपनी संघटना, अपना शक्तिविकास, अपने अन्दर की शान्ति, अपनी तेजोवृद्धि आदिसे यह सिद्ध हो सकता है। पहिला विजय शत्रुपर संपादन किया जाता है, यह अपनी आंतरिक सुस्थितिपर निर्भर होता है। (ऋतं) ऋतका अर्थ है, ठीक मार्ग, सरलता, योग्य व्यवहार, जिसमें टेढापन नहीं है। प्रत्येक व्यवहार में इस प्रकारकी सरलता रहेगी, तोही पूर्वोक्त विजय साध्य होगा। (तेजः) तेजस्विता, प्रभाव, उग्रता आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं। (ब्रह्म) सत्य ज्ञान, आत्मसामर्थ्य, विज्ञान, वेदज्ञान, यह तो निःसन्देह ऋतके साथ ही रहेगा। अनृतके साथ इसका होना सर्वथा असंभव है। (स्वः, स्वर्) आत्माका प्रकाश, अपना यश, अपने पुण्यकर्मसे प्राप्त होने वाला पुण्य लोक। (यज्ञः) देवपूजा, संगतिकरण और दान, रूप, श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञसे हि सब की स्थिति और उन्नति होती है। (पशवः) गौ, बैल, घोडे आदि पशु मनुष्यका वैभव बढाते हैं। (प्रजाः) संतति, पुत्रपुत्री आदि अथवा प्रजाजन। (वीरः) वीर पुत्र तथा वीर्यवान् लोग अथवा शूरवीर। पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग सकता है कि, ये सब विजयके सहचारी गण हैं। पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे इस मंत्रको कण्ठ करें और सायंप्रातः वे इस मंत्रसे ईश्वरकी प्रार्थना करें और अपना वैयक्तिक और सामुदायिक विजय इस प्रकार होने योग्य परिस्थिति शीघ्र प्राप्त हो, ऐसी उस प्रभु के पास प्रार्थना मनोभावसे करें।

इस अष्टम पर्यायसूक्तमें जो आगे कथन हैं, वे तो शत्रुको कुचलनेका प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवादके मंत्र हैं, अतः उनके विषय में विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक स्वयं पढकर उनका आशय समझ सकते हैं। इसके पश्चात् अन्तिम नवम पर्यायसूक्तमें चारही वचन हैं, परंतु वे नित्य स्मरण रखनेयोग्य महत्त्वपूर्ण हैं—

जितं अस्माकं, उद्भिन्नं अस्माकं, विश्वा अरातीः पृतनाः। (अ० १६।९।१)

' हमारा विजय, हमारा उदय और हम शत्रुकी सब सेनाओंका पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर बढाते हैं।' तथा—

पूषा सुकृतस्य लोके मा धात्। (अ० १६।९।२)

"ईश्वर मुझे पुण्यलोकमें धारण करे," ऐसा मैं सदाचारी शुद्ध पूत और पवित्र बनूंगा। तथा-

स्वः अगन्म, सूर्यस्य ज्योतिषा अगन्म॥ (अ० १६।९।३)

"आत्माका तेज प्राप्त करें, सूर्यकी ज्योतिसे मिलें। तथा—

वस्योभूयाय वसुमान् भूयासम्। वसुमान यज्ञः। वसु वंशिषीय। (अ० १६।९।४)

'बहुत धन प्राप्त करना चाहिए, मैं धनयुक्त हो जाऊं। क्योंकि धन से यज्ञ होता है, इसलिए यज्ञमें व्यय करनेके लिए मुझे धन चाहिए।'

ये सब चारोंके चारों मंत्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं, इतने सरल हैं और इतने सुबोध हैं कि, मानो यही इस सब काण्डका सार है। पाठक इन का मनन करेंगे, तो उनको भी अत्यंत आनन्द होगा और इनके मननसे उनकाभी आत्मा उल्हसितही होगा।

आशा है कि पाठक इस रीतिसे मनन करके जो उच्च भाव वेद में है, वह अपने मनमें स्थिर करेंगे और इस विजयपथसे चलकर अपना, अपने समाजका, अपनी जातीका, और अपने राष्ट्रका विजय संपादनके कार्यमें कृतकृत्य होंगे।

खोजके पथ पर

(ले०- श्री० ज्यो० गोपीनाथ शास्त्री चुलेट, एलिचपूर-सिटी, बरार)

[पूर्व अंकसे आगे, (क्रमांक २२७ देखो)]

देवता और भद्रमण्डल पूजा।

यह किसी भी याज्ञिक विद्यार्थीसे छिपा हुआ नहीं है। बिना देवताओं आव्हाहनके किसी प्रकारकी धार्मिक विधि नहीं होती। यही कारण है कि गणपतिपूजनसे लेकर बडे मकानोंके वास्तु-स्वाहाकार और मूर्ति-प्रतिष्ठा, प्राण-प्रतिष्ठा, कूवा-बावडी-देवालय-शिवालय, धर्मशाला और ऊंचीसे ऊंची यज्ञविधि आदि क्यों न हो, उनमें हमारे बताये देवताओंका आवाहित करना अनिवार्य है।

यही बात संस्कारोंमें भी भरी पडी है। इन्हीं देवताओं-के आवाहन-स्थापन-पूजन-पंचामृत स्नपन, शुद्धोदक-स्नपन, अनुलेपन, अक्षता, पुष्प, धूप, दीप, आदि समर्पण कर देवताओंकी प्रीति और श्रेयकी आकांक्षासे स्तवन तथा बलिदान करनेकी विधिसे पाली गई है। इनके आवाहनका तरीकाभी वैज्ञानिक तरीकोंसे भरा पडा है। जो भद्र और मण्डलरूपमें सुन्दर रंगोंसे सुसज्जित किया जाता है।

ग्रहमण्डल, मातृका पीठ, क्षेत्रपाल-योगिनीपीठ, वास्तु-मण्डल, एक लिंगतो भद्र, चतुर्लिंगतो भद्र, अष्टलिंगतो भद्र, द्वादश लिंगतो भद्र, सर्वतो भद्र मण्डल आदि अनेकों मण्डल प्रथम तैय्यार किये जाते हैं। तत्पश्चात् अन्य कार्य आरंभ होता है। वास्तवमें मण्डल यह एक अंतरिक्षका नकशा है। इसमें देवताओंके आवाहनके कायदे ठीक वैसेही बंधे हैं, जैसे किसी बडी कौंसिलोंमें आज बांधे जाते हैं।

अर्थात् हर एक देवताओंकी योग्यताको जांच करही उनकी जगह मुकर्रर करी गई है, जो आकाशमें देखनेपर प्रत्यक्ष उसी तरीकेसे पाये जाते हैं; जैसे कि हम आवाहन करते हैं। वास्तवमें आकाशीय मूल स्थिति की स्मृति मण्डलरूपमें ठीक ठीक स्थिर की गई है। इन देवताओंके दाहिनी ओर बांई ओरके देवता क्रमके हिसाबसे दक्षिण पार्श्व और वाम पार्श्वके नामसे तथा आधि देवता प्रत्याधि देवताके हिसाबसे ही देवादिकोंका आवाहन करनेका क्रम समस्त याज्ञिक लोग आजतक करते आते हैं। इसका आरंभ वैदिक कालसे आजतक अव्याहत चला आ रहा है और अखण्ड रूपमें इसकी नीव गहरी है। जो अटल और अमिट हैं।

स्मरण रहे कि देवताओंके केवल पूजनमात्रही में आचार्योंने छुट्टी नहीं पाई है। तो इन्हींके नाममन्त्र से यज्ञकुण्ड में हवन किये जानेका विधि-विधान इसीके साथ सलग्न कर रक्खा है। इसको विधिवत् बनाने के लिये कई स्वतन्त्र ऐसे शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ निर्माण किये हैं। जो अपने आपके विषय प्रतिपादन करनेमें भरसक सामग्रीको लेकर हैं। कुण्ड-मण्डप-तोरण खम्बे-द्वार-आदि अनेकों बातें ऐसी हैं, जिनके स्वतंत्र कायदे बना रखे हैं, जो कुण्डोंके-कुण्डकल्पद्रुम कुण्ड रत्नाकर-कुण्ड ग्रंथ विंशति-आदि अनेकों ग्रन्थ कुण्डोंकी वास्तविकता समझाने में परिपूर्ण हैं।

भद्र मण्डलपूजामें अनेकों देवता सप्तऋषि, गन्धर्व, अप्सरादेवोंके आयुध, सर्प, यक्ष, दानव, भौगोलिक वनस्पति तथा प्रसिद्ध स्थल जैसे विश्वनाथ-ओंकारेश्वर-सोरठी-सोमनाथ-केदारेश्वर-रामेश्वर-महाकालेश्वर आदि १२ ज्योतिर्लिंग-समुद्र-पर्वत, तमाम पवित्र नदियां और अंतरिक्षके आते हैं। इसी प्रकार पवित्र दिशा और दिशाओं के स्वामी भी आये हैं।

हमारा आशय उपरोक्त उदाहरण से यह स्पष्टतया दिखा देना है कि, भद्रमण्डलपूजा केवल देखनेमात्र ही की पूजा नहीं है, वह भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोकको स्थितिस्थापकता दिखानेवाली एक अटल स्मृति है, जो आज लाखों वर्ष उलटपुलट होने परभी ज्योंकी त्यों कायम है! इसके भीतरमें वैज्ञानिक तत्व भरा हुआ है। साराका सारा यहां स्थलाभावसे दिखाना शक्तिके बाहर है, तो भी संक्षेपमें इतनाही कहना बस होगा कि सारे विश्वको जिस प्रकार हम एक नकशेमें सीमित करते हैं। ठीक उसी प्रकार हमारे पूर्वाचार्य महर्षियोंने अद्वितीय ज्ञान की सहाय्यता प्राप्त कर हमारे लिए विश्वमहिमापर पूज्यत्वभाव और प्रभुत्व माननेके लिए कोई स्मृति कायम रखी होगी, तो यही एक भद्रमण्डल पूजा है। इसीसे हमारे अभीष्ट सिद्धिके मार्ग सुगम और सरल बनते है। बात इसमें अधिक ध्यान पुराने योग्य इतनीही है कि, तमाम कार्यकी क्रिया अनेक प्रकारांतरसहित विधिविधानयुक्त होना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा अविधीका कार्य भूसा बोकर फलप्राप्ति की आशा रखनेकी तरह अज्ञानपन है।

नरमेध।

संसारमें दोही जाति प्रधान हैं। पहिली मादी और दूसरी नर। इनके लैंगिक सम्बन्धसे सारा संसारका परिवार चला है। फिर वह चाहे स्वेदज-अण्डज-उद्भिज इनमेंसे कोई भी क्यों न हो, सबके सब जीव-प्राणी-स्थावर-जंगम, अफाट समुद्र, पर्वत तथा अणुरेणु-परिमाण सर्वोमें लेने और देनेवाली अर्थात् धन और ऋण ऐसी दो शक्तिपर ही आज समस्त ब्रह्माण्ड टिका हुआ है। ऊषा-किरण-जोत्स्ना-रति आदि जो भी खगोलस्थित घटनाओंके नाम आते हैं, इनका भी-उषापति-अनिरुद्ध-प्रद्युम्न कामदेव आदिसे सम्बन्ध होनेके सैकडों पुरावे पुराणोंमें पाये जाते हैं। ऐसी अवस्थामें नरप्रक्रियाके तमाम तत्वोंके जानने तथा उनके निर्माण होनेवाली संगठनक्रियाको समझने और वैज्ञानिक तत्वोंसे उसकी गर्भाधारणमें होनेवाली क्रिया-प्रतिक्रियाको वैज्ञानिक रूप से समझने ही का नाम नरमेध है। जो वेदों ही में पाया जाता है।

अश्वमेध।

यहां अश्वका अर्थ अश्विन्यादि नक्षत्रसे सम्बन्ध रखता है। जो कि २७ नक्षत्रमालामें समस्त आकाशको घेर रखा है। इनका स्थानप्राबल्य-शक्ति-दीप्ति-ओज-तेज-वीर्य-सामर्थ्य-आदि तमाम बातें विविध प्रकारोंसे नापी और तौली जाती हैं। इनके तौलकी ठीक ठीक तरकीबें वेदोंमें जहां जहां बताई गई हैं, उस विभागको अश्वमेध कहते हैं। एकाश्व-सप्ताश्व-शताश्व-सहस्राश्व-लक्षाश्व यह तमाम नाम उनके शक्तिके नापकी सीमाके उल्लेखमें योजना किये हुए हैं। प्रत्यक्षमें जिस प्रकार घोडे खींचनेकी ताकद अजमाई जा सकती है, उसी प्रकार इनकी ताकद अतींद्रिय ज्ञान के बलपर हमारे महर्षियोंने अजमाअजमा-कर हमारे लिये नियम की पाबन्दी कर रक्खी है। आकाशव्याप्ति वातमय वस्तुओं को लाने, ले जाने और बहाने का काम इन्हींके जरिये होता है। उसके संग्रह करने के प्रकारोंको ही भग-योनि— आदि नामोंसे सम्बोधन किया है और रजःकणों का वर्षाव करनेवाला जो स्थल है, उसको पिता-आकाश लिंग आदि नामों से सम्बोधित किया है।

वाजपेय।

इस स्थल पर वाज शब्दका अर्थ बाणकी तरह साड कक्षामें चलनेवाले वेगसे है। यही शक्तिमय शर है, जो ठीक ठिकाने विविक्षत स्थल पर जाकर अपना प्रबल और विलक्षण कार्य कर दिखाते हैं। तमाम शक्ति (Bitamin) प्राप्त कराने और पिलाने का काम यही करते हैं।

'वाजो निःस्वनपक्षयोः। वेगे पुमानथ क्लीबे
धृतयज्ञान्नवारिषु (इति मेदिनी)
स वाजपेयेनेष्ट्वा-सम्म्राट्-इति नामाधत्त
सोऽन्तमेवापश्यत्।

(गोपथ-ब्रा०)

सम्राट् ज्योति जिस जगह ठीक ठीक नापी जाती है, उसके नापतौलकी क्रिया, प्रतिक्रिया वाजपेय कहलाती है। ज्योतिका नाप सूर्य के दक्षिणायन और उत्तरायन होनेवाली जगहसे होता है। लिखा भी है कि 'राजसूयाद् वाजपेयो, राजसूय यज्ञ प्रक्रियावाले प्रयोगोंसे वाजपेय

जाना जाता है। अतः यह भी प्रयोगद्वारा समझी जाने-वाली समस्या है।

सारांश।

नरमेध-अश्वमेध-राजसूय-वाजपेय-पुरुषमेध-सर्वमेध आदि जितने भी प्रकारसत्र के बताये गये हैं, यह सारीकी सारे आकाशके नापतौलाके विविध प्रकार हैं। इसका समावेश इसीसे श्रौत यज्ञमें किया है। और इसका विशद वर्णन वेदोंमें भरा पडा है।

आकाशके नापकी सच्ची जानकारी न होने हीका कारण है कि, लिंग-योनि-अश्व-चतुरपदरेत-वीर्य आदि कतिपय शब्दोंका वास्तविक अर्थ न समझनेसे-उवट महीधर आदि आचार्योंने इसे जानवर,सचमुचके पशु मानकर अर्थ करनेका प्रयत्न किया है। जो प्रकृति और शारीरक शास्त्रसे सर्वथा विपरीत है। अतः यह बात कदापि न भूलना चाहिये कि वेदोंमें पशु शब्द शक्तिवाचक है। प्राणिवाचक नहीं। इससे हमें प्रयोगसे जांचनेके पीछे लगना चाहिये।

समुद्रमंथन का सच्चा रहस्य।

समुद्रमन्थनकी कथा अमृतकी खोज में बनाया हुआ एक कथानक है। देव और दानव दोनों शक्तियों के पारस्परिक सिद्धान्तों के हल करने हीका नाम मंथन है। यह मंथन शब्द चुनाव करनेके निस्बत प्रयोजित किया है, क्योंकि वेदों में आकाशको समुद्र कहा है। 'द्यौः समुद्रसमम् सरः' आकाश समुद्रके समान बड़ा सरोवर है, इससे स्पष्ट ही होता है कि, यह समुद्र शब्द आकाश हीके अर्थका है। और अचल मन्दर जो नक्षत्रमालिका है, उसे पर्वतका रूपक देकर वह मन्दर-अचल-पर्वत नामसे सम्बोधन किया है। अब जरा वासुकीको भी देखिये, वसु शब्द का अर्थ वास्तवमें वसन्तसंपात का मुख्य मूर्धि (पाइटेड) विभागका नाम है। अमरकोषमें-वसु-रत्नं के मूर्ध्नि यस्य ऐसा स्पष्टीकरण है।

जैसे सर्प शब्द के दो अर्थ व्यवहारमें मुख्य हैं। एक तो प्राणीवाची और दूसरा गत्यर्थमें चलने के लिए रेंगने आदि में वापरा जाता है। ठीक इसी प्रकार क्रांतिवृत्तके ध्रुवको कदम्ब कहते हैं। हमारे पृथ्वीका ध्रुवस्थान इसी कदम्बके चारों ओर २६००० वर्षमें एक पूरा चक्कर लगा लेता है। कदम्ब अचल के अनुसार इसी एकही स्थानपर हजारों वर्षतक स्थिर हैं। इसमें गतिमान् वसन्त है। खगोल-शास्त्रके गणितज्ञ यह अच्छी तरह जानते हैं कि वसन्त की गति है।

हमारे वेद—काल-निर्णय नाम ग्रन्थमें इसका विषद रूपसे वर्णन है। तो भी संक्षेप में यहां इतना कहना पर्याप्त है कि, सवा दो हजार वर्षके मियाद में वसन्त एक मास पीछे को खिसक जाता है। इस प्रकार हर सवा दो हजार वर्षमें एक मास इस हिसाब से २६ हजार वर्षमें संपातकी गतिका पूरा चक्कर होता है। अर्थात् आज जो वसन्तसम्पातकी स्थिति फाल्गुन-चैत्रमें है, वह सवा दो हजार वर्ष बाद माघ-फाल्गुनमें और फिर सवा दो हजार वर्षके बाद पौष-माघमें इस क्रमसे पीछे को खिसकती जाती है।

आज यवनों की मासगणना हमारे अधिमासके आने पर एक मास पीछे को खिसकती है और इन के मोहरम धूपकाला-बरसात और सियाला आदि मोसममें फिरता हुआ आता है। ठीक इसी प्रकार हमारा वसन्त हर संक्रांतिमें घूमता हुआ २१ हजार वर्षमें एक मास पीछेको जाता है। यह ऊपर बताई हुई घटना वासुकी सर्पकी है। और यह सब आकाशकी है।

देवासुरं विषुवति क्षितिजस्थं दिवाकरम्।
पश्यत्यन्योन्यमेतेषां वामसव्ये दिनक्षये॥१॥
(४७)

सव्यं भ्रमति देवानां अपसव्यं सुरद्विषाम्।
उपरिष्टात् भगोलेयं व्यक्षे पश्चान्मुखः
सदा॥२ (५१)

(सू० सि० अ० १२)

इन्हीं देवासुरोंने मिल कर जो समुद्रमंथन किया, उसमेंसे मिले हुए रत्नोंको भी कृपया देखिये—

१. हलाहल	विष	थोडेसे श्रमसे साध्य वस्तु और तत्त्व ।
२. उच्चैःश्रवा	अश्व	आकाशीय खगोलका तत्त्व ।
३. चन्द्रमा	ज्योति	प्रकाशमय ओषधिमें शक्तिदाता तत्त्व ।
४. ऐरावत	हस्ति	खगोलमर्यादाके शक्तिमय तत्त्व ।
५. कौस्तुभ	मणि	समुद्रमर्यादामें प्राप्त होनेवाला तत्त्व ।
६. पारिजातक	वृक्ष	पुष्पोंमें सुकुमारता दिखानेवाला तत्त्व ।
७. गंधर्व	गायन	संगीतमें विदेहावस्थाजनक तत्त्व ।
८. अप्सरा	नर्तकी	खगोलमें देवोंमें रंजितकारक तत्त्व ।
९. लक्ष्मी	सम्पत्ति	भू-श्री-वनश्री-समुद्रश्री और नभश्रीतत्त्व ।
१०. शार्ङ्गधनुष	आयुध	त्रिधनुमें सर्वाकाश बन्धन तत्त्व ।
११. कौमोदकी	गदा	कुमुद मास वसन्तसे ऋतुतत्त्व ।
१२. सुरा	मदिरा	उन्माद पैदा करनेमें मादक तत्त्व ।
१३. अमृत	विशिष्टतत्त्व	आकाशव्यापी देवताओंका खाद्यतत्त्व ।
१४. मोहनी	भ्रम	एकाएक भ्रम उत्पन्नकर्ता अज्ञानी तत्त्व ।

बस ऐसे जो ऊपर दिखाये गये रत्नोंका चुनाव किया है, वास्तवमें इन्हींका नाम मंथन है । यह ऊपर दिखाये अनमोल तत्त्वमंथनके प्रथम भी ये मंथनके बाद भी और आज भी मौजूद हैं

वैदिक देवतावाद और महर्षि दयानन्द।

महर्षि के देवता निश्चित तथा शुद्ध हैं।

महर्षि के नाम पर घोर अनर्थ !

(लेखक- श्री० कपिलदेवशास्त्री, गु० कु० महाविद्यालय, ज्वालापूर।)

आजकल लगभग ८।१० मास से "वैदिक देवतावाद" विषय पर वेदज्ञ विद्वानों में वादविवाद चल रहा है। इस विषय पर इस समय कुछ भी लिखना नहीं चाहता था। कई बार मन में तरंगें उठीं, परन्तु यही विचार कर कि दिग्गज विद्वानों के मध्यमें आना ठीक नहीं, साहस नहीं किया। किन्तु कुछ समय से महर्षि के सिद्धान्त पर निरन्तर कुठाराघात होते देख कर न रहा गया। आंखों देखी मक्खी न निगली गई, अन्तःकरण से प्रेरणा हुई कि सत्य को छिपाना पाप है, सत्यका सहाय्यक परमात्मा है, यही विचार कर महर्षि के सत्य सिद्धान्त को जनता के सन्मुख लाने का निश्चय किया। "नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन निवार्यते।" सचाई छिप नहीं सकती। महर्षि के सिद्धान्तों पर जितना विचार करता हूं, उतनी ही गहराई पाता हूं। इसलिए "सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोडने में सर्वदा उद्यत" गुणग्राही विद्वज्जन गुणोंपर ही दृष्टि रक्खेंगे।

इस वाद-विवाद का कारण केवल यही है कि कुछ विद्वान् महर्षि दयानन्दद्वारा निर्दिष्ट देवताओं को सर्वानुक्रमणी आदि से भिन्न होने के कारण अशुद्ध बताते हैं। आर्यसमाज का मत है कि महर्षिद्वारा निर्दिष्ट देवता शुद्ध हैं। इस विषय में आर्यसामाजिक विद्वानोंद्वारा महर्षि निर्दिष्ट देवताओं को शुद्ध मानने के लिए "अनिश्चित देवतावाद" का एक असत्य सिद्धान्त महर्षि के नाम से जनता के सन्मुख लाया जा रहा है। कतिपय विद्वानों का कथन है कि, महर्षि वैदिक मन्त्रों के देवता अनिश्चित मानते थे, परन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि, महर्षि दयानन्द वैदिक देवताओं को निश्चित मानते थे।

अनिश्चित देवतावादका आधार।

अबतक के प्रायः सभी लेखों के पढने से ज्ञात होता है कि केवल महर्षि दयानन्दद्वारा निर्दिष्ट देवताओं को शुद्ध मानने के लिए ही इस सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है। इस के लिए दो वाक्य विशेषतः महर्षि के ग्रन्थों से उद्धृत किये जाते हैं, परन्तु दोनों वाक्यों का अर्थ संस्कृतज्ञ विद्वान् यदि महर्षि के संस्कृतभाष्य में देख लेते, तो इस प्रकार महर्षि के नाम से कल्पित असत्य सिद्धान्त को न अपनाते। दोनों वाक्यों के अर्थ के पश्चात् महर्षि का वास्तविक सिद्धान्त कि, "मन्त्रों के देवता निश्चित हैं।" इस विषय का महर्षि के शब्दों से निरूपण किया जायगा।

निरुक्त के दैवत-काण्ड का एक वाक्य देवता-निर्णय के लिए 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के वेद-विषयविचारप्रकरण में ६३ पृष्ठ १७ पङ्क्ति में उद्धृत किया है-

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।"
(नि० अ० ७, पा० १)

इस यास्कीय वाक्य का अर्थ अनिश्चित देवता-परक किया जा रहा है, परन्तु इस का अर्थ महर्षि स्वयं निश्चित देवतापरक ६४ पृष्ठ, २१ पंक्ति में करते हैं—

" ऋषिरीश्वरः सर्वद्दक्, यत्कामः यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्तनं प्रयुक्तवानरिति स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति । "

अर्थात्- सर्वद्रष्टा परमेश्वर जिस अर्थ के उपदेश की कामना करता हुआ, जिस देवता में उस अर्थ के स्वामित्व की इच्छा रखता हुआ, उस के गुणों का प्रयोग करता है, वह मन्त्र उस देवता का होता है। इस वाक्य में "ऋषि" शब्द का अर्थ 'परमेश्वर' करके स्पष्ट देवताओं को ईश्वरोक्त तथा अर्थ-बोधक सिद्ध किया है। जिस मन्त्र में, जिस शब्द-द्वारा जिस देवता का नामनिर्देश किया गया है, वह मन्त्र उसी देवता का होगा, उस के पर्यायवाची या उस के अर्थ देवता नहीं हो सकते।

दूसरा वाक्य "यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति, स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते।" (ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका प्रश्नोत्तर-विषय, ३७३ पृष्ठ, १ पङ्क्ति)

इसका अर्थ किया जा रहा है कि " जिस जिस मन्त्र का जो जो अर्थ होता है, वही उस का देवता है, " परन्तु इस वाक्य का यह अर्थ करना जनता की आंखों में धूल डालना है। महर्षि के शब्दों पर थोडा भी ध्यान से दृष्टिपात करें, तो हम इस अनर्थ से बच जाएं। महर्षि के कथन का अभिप्राय स्पष्ट है कि " जिस जिस मन्त्र का जो जो अर्थ है, वह वह अर्थ उस उस (मन्त्र) के देवता-शब्द से (अभिप्रायबोधनार्थ) प्रकाशित किया जाता है, अतः देवता-शब्दों का उल्लेखन किया गया है। " इस वाक्य के समस्त-पद ' देवता-शब्देन' में से 'देवता' पद को अलग पढकर ऐसा अर्थ करने का प्रयत्न किया गया है। ऐसा करना महर्षि की आत्मा के साथ अन्याय है, क्योंकि इस प्रकार छेद करने से आगे का वाक्य निरर्थक हो जायगा। सम्पूर्ण मुद्रित पुस्तकों में ' देवताशब्देन ' ऐसा समस्त-पद ही दिया गया है। इस प्रकार महर्षि के वाक्य में एक भी ऐसा पद नहीं, जिससे कि अनिश्चितता की गन्ध भी आती हो। अब महर्षि दयानन्द के सिद्धान्त का उल्लेख करने से पूर्व देवताओं की आवश्यकता तथा देवता-ज्ञान का माहात्म्य क्यों है, इसका प्रतिपादन कर देना चाहता हूं।

देवताओं की आवश्यकता।

प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन के समय हमें अनेकों स्थलोंपर पढने को मिलता हैं कि-

'अविदित्वा ऋषिं छन्दो, दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि, पापीयान् जायते तु सः॥
(बृहद्देवता)

अर्थात्- जो ऋषि, देवता, छन्द और योग(उनका सम्बन्ध तथा विनियोग) को बिना जाने मन्त्र का अध्ययन या जप करता है, वह पापी होता है। ऐसा ही एक वाक्य कात्यायन ऋषि का है-

" एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति, अथान्तराश्च गर्तं वा पद्यते, स्थाणुं वर्च्छति, प्रमीयते वा पापीयान् भवति। "

अर्थात्- " जो देवता आदि के ज्ञान के बिना मंत्रों को पढता, बोलता है, जप, यज्ञ आदि करता है, उस का आत्मा निर्वीर्य होकर पतित हो जाता है, या स्थाणुवत् रह जाता है, पापी तो हो ही जाता है। "

इसी प्रकार यास्काचार्य ने निरुक्त-प्रणयन के प्रयोजनों में " अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम् । " इत्यादि शब्दों से देवता-ज्ञान निरुक्त का प्रधान प्रयोजन बताया है। इस प्रकार के अनेकों वाक्य वैदिक ग्रन्थों में देवता-ज्ञान के महत्त्व के द्योतक हैं। यदि देवता-ज्ञान निरर्थक होता, तो क्योंकर अनेकों ऋषि, मुनि इस प्रकार लिखते। उनके लेखों में गम्भीर्य तथा सार है। देवता-ज्ञान मंत्रों के साथ इतना ही सम्बद्ध है, जितना कि अर्थ। जिस प्रकार शब्द और अर्थ का अभेद सम्बन्ध है, उसी प्रकार देवता भी मन्त्रों से

अभिन्न ही हैं। महर्षि का एक वाक्य जो कि पूर्व उद्धृत किया गया है, "यस्य यस्य मंत्रस्य..." आदि उससे स्पष्ट है कि, देवता मंत्रार्थ के बोधक सूचक होते हैं।

मन्त्र और अर्थ को संयुक्त करनेवाला पदार्थ ही देवता है। देवता अगाध वेद-वारिधि का द्वीप-स्तम्भ है, जो कि हमारा मार्ग प्रदर्शन कराता है। देवता के बिना मन्त्रार्थ-ज्ञान का मार्ग दुर्ज्ञेय तथा संकटों से व्याप्त है। वेद का एक एक मंत्र नहीं नहीं एक एक पद (शब्द) ज्ञान का अगाध सागर है, निधि है। उदाहरणार्थ- जैसे एक ग्रन्थप्रणेता ग्रंथ के ऊपर उस का नाम-निर्देश करता है। यदि ग्रंथ का नाम-निर्देश किए बिना ही पुस्तक छपवा देता है, तो यह ग्रंथकार की भूल या त्रुटि ही समझी जायगी। इसी प्रकार वेद-ज्ञान के साथ में तदर्थबोधक देवताओं का निर्देश न करना परमात्मा के लिए कलङ्क की बात होगी। साथ ही पुस्तक के ऊपर उसका नाम न होने से उसके विषय का ज्ञान शीघ्रता से नहीं हो सकता, अनेकों बार पुस्तक के पूरे पन्ने उलटने पर भी तत्त्व समझ में नहीं आ सकता। एक अपरिचित ग्रंथ जिस में विज्ञान या इतिहास का विचार है, यदि उस पुस्तक के मुखपृष्ठपर उसका नाम नहीं है, तो बडे से बडा विद्वान् भी उस पुस्तक को हाथ में लेकर सहसा नहीं बना सकता कि क्या पुस्तक है।

परन्तु यदि मुखपृष्ठपर नाम लिखा हुआ है कि, 'यूरोप का इतिहास' या 'एशिया का इतिहास' तब साधारण शिक्षित भी निःसङ्कोच पुस्तक का नाम पढ़ते ही कह देगा कि, अमुक स्थानका इतिहास है। इसी प्रकार एक अपरिचित मनुष्य के फोटो को जिसपर नामस्थान न लिखा हुआ हो, कोई भी उस का नामस्थान नहीं बता सकता। परन्तु यदि नामस्थान लिखा हुआ हो, तो हमें कोई भी कठिनता नहीं होगी। इसी प्रकार वेदों में अनेकों प्रकार का भौतिक, आत्मिक आदि विज्ञान भरा हुआ है। जिस प्रकार कि अगाध सिन्धु के अन्तस्तल में असंख्यों रत्न भरे हुए हैं, यदि हमें रत्नों का ज्ञान या प्रयोग-ज्ञान नहीं, तो हमारे लिए रत्न निरर्थक-तुल्य हो जाते हैं। उसी प्रकार देवताज्ञान के बिना वेदार्थ-ज्ञान असंभव है। अतएव सङ्केत रूप से वेदार्थ-ज्ञानके लिए देवताओं का निर्देश किया जाता है।

देवता-ज्ञान का प्रकार।

देवताओं का निश्चय किस प्रकार से करना चाहिए, इसके लिए सबसे पूर्व मीमांसादर्शन की ओर दृष्टि देते हैं। वैदिक ग्रंथियों को सुलझाने के लिए मीमांसा-दर्शन मुख्य शास्त्र है। मीमांसाकार महर्षि जैमिनि देवता-ज्ञानके लिए एक सूत्र लिखते हैं-

"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां
समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।"
(मी० अ० ३, पा० ३, सू ४०)

अर्थात्- श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या, इनके एकत्रित होने पर पूर्व पूर्व में बलवत्ता है। यह विषय मीमांसा में बहुत विस्तार से है, यहाँ संक्षेप में भाव लिखता हूँ। सर्व-प्रथम 'श्रुति' से देवता का निश्चय होता है, अर्थात् जहाँ जिस देवता शब्द का नामानर्देश है, वहाँ वही देवता होगा। यदि कोई देवताशब्द स्पष्ट नहीं है, तब 'लिङ्ग' अर्थात् तद्बोधक शब्दों से उसका निश्चय होगा। जिस प्रकार 'अग्निमीळे' मन्त्र में 'अग्नि' शब्द स्पष्ट श्रूयमाण है, इसलिए 'अग्नि' ही देवता होगा। ऋग्वेद प्रथम मण्डलका सम्पूर्ण प्रथम सूक्त 'आग्नेय' सूक्त है। ९ मन्त्रों में से प्रारम्भ के ७ मन्त्रोंमें तथा ९ वें मन्त्र में अग्नि शब्द है। ८ वें मन्त्रमें 'अग्नि' शब्द नहीं। परन्तु उसके विशेषण पद विशेष्य 'अग्नि' पदके 'लिङ्ग' (बोधक) हैं, इसलिए उस मन्त्र का भी देवता 'अग्नि' ही है। श्रुति और लिङ्गके अभाव में वाक्य, प्रकरण आदि से देवताओं का निश्चय होता है। इस प्रकार जिस मन्त्र में जिस देवता का प्रधानतः निरूपण किया हुआ है, वह मन्त्र उसी देवता का होता है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि पर्यायवाचक शब्द तथा उसके अर्थ देवता होते हैं। यह सिद्धान्त

सर्वथा अशास्त्रीय है। मीमांसाकार लिखते हैं कि मन्त्रों में जिस शब्द से देवता का नामनिर्देश है, वही उसका देवता होता है, अर्थ या पर्याय नहीं—

विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्तेन चोदना।
(मी० १०,४,२३)

इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है, कि जिस शब्दसे जिस देवता का निर्देश किया गया है, वही उसका देवता है। शबर स्वामी इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट लिखते हैं कि, पर्यायवाची देवता नहीं हो सकते, अर्थों का तो कहना ही क्या? शङ्का करते हैं कि—

सन्ति अग्नेरभिधेयानि. अग्निः, शुचिः, पावकः, धूमकेतुः, कृशानुः, शाण्डिल्य इत्येवमादीनि। ... सा तेन शब्देन शक्यते उद्देष्टुम्, तेनोद्देशनीया।

अर्थात्- अग्नि के अग्नि, शुचि, पावक आदि अनेकों पर्यायवाची नाम हैं, इसलिये 'अग्नि' देवताका मन्त्रों में जिस किसी पर्यायशब्द से देवता का निर्देश कर लेना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं-

"विधिशब्देनैव अग्निशब्देनोद्देष्टव्या, नान्येन शुच्यादिना इति। कुतः. तेन चोदना. तेन विधिशब्देनास्य हविषः सम्बन्धश्चोदना भवति। कथमिव आग्नेयः कर्तव्य इति अग्निरस्य देवता कर्तव्येत्यर्थः॥"

अर्थात्- जिस शब्द से जिस देवता का मन्त्र में निर्देश किया गया है, वही शब्द उस मन्त्र का देवता होगा। जिस प्रकार 'अग्निमीले-' मन्त्र का देवता 'अग्नि' ही होगा। न पर्यायवाची वह्नि आदि शब्द, न उसके अर्थ ही। यही सिद्धान्त माधवाचार्य ने 'अधिकरणन्यायमाला में लिखा है।

शतपथ ब्राह्मण में भी देवताज्ञान का यही प्रकार बतलाया गया है—

यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता।
(श० ७,५,१,४)

अर्थात्- जिस देवता को ऋचा या यजुर्वेद का मन्त्र कहता है, वही उसका देवता होता है। इससे स्पष्ट है कि मन्त्रगत शब्द ही देवता होता है, अन्य नहीं। निरुक्तकार यास्काचार्य का सिद्धान्त दिखलाने के पश्चात् यह दिखाया जायगा कि, महर्षि दयानन्दने इसी (निश्चित देवतावाद) सिद्धान्त को मानते हुए मन्त्रों के देवता लिखे हैं।

यास्काचार्यका सिद्धान्त।

महर्षि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में निरुक्तको वेदार्थ-ज्ञान के लिए प्रमुख साधन माना है। तदनुसार ही वेदभाष्य भी किया है। देवतानिर्णय विषय भी महर्षि ने यास्काचार्य की शैली से किया है। यास्काचार्यका एक वचन "यत्काम ऋषि..." महर्षिने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में उद्धृत किया है। इसका अर्थ पूर्व किया जा चुका है। इसमें स्पष्ट निर्देश है कि, "ऋषि (परमात्मा) अर्थज्ञान मन्त्रगत देवताओं में स्तुति प्रयुक्त करता है, वही (मन्त्रगत देवता) उस मन्त्र का देवता है।" इसका महर्षि दयानन्दकृत संस्कृतार्थ पढने से 'अनिश्चित देवतावाद' की गन्ध भी नहीं आती। इस प्रकार जिन मन्त्रों में देवता शब्दतः पढे हुए हैं, उनमें किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं है। जिन मन्त्रों में देवता शब्दतः पढे हुए नहीं हैं, उनके लिए लिखते हैं कि—

यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवति, अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिकाः, नाराशंसा इति नैरुक्ताः, ... (नि० ७,१)

अर्थात्- जहां पर देवता निर्दिष्ट नहीं है, वहां 'यज्ञ' अथवा 'यज्ञांग' देवता होते हैं। जो यज्ञ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, वहां 'प्रजापति' देवता होता है। निरुक्तकार का मत है कि वे मनुष्य-देवताक मन्त्र हैं। अथवा वहां पर मनुष्यों की कामना, प्रार्थनादि का वर्णन होता है, इसलिए वह 'काम' देवताक मन्त्र हैं।

इन वाक्यों का कुछ विद्वान् अनिश्चित देवतापरक अर्थ करते हैं, परन्तु यह असत्य है; क्योंकि इन वाक्यों का अभिप्राय यह है कि जहां पर देवता शब्द निर्दिष्ट नहीं, वहां पर कुछ मन्त्रों का 'यज्ञ' अथवा यज्ञाङ्ग' देवता होता है। जो यज्ञादि परक नहीं हैं, उन का देवता 'प्रजापति' है। इन बातों से

ज्ञात होता है कि चाहे 'यज्ञ,' 'यज्ञाङ्ग' देवता हों, अथवा 'प्रजापति' देवता हो। यह यज्ञ, प्रजापति आदि भी सब निश्चित ही हैं। जिस मन्त्र का जो चाहें, वह देवता नहीं हो सकता। नित्य वेदों के साथ अनित्य देवताओं का समन्वय कभी नहीं हो सकता। ऋषि, देवता, छन्द आदि सभी नित्य तथा निश्चित हैं। जिस प्रकार मन्त्रभाग निश्चित है, उसी प्रकार यह भी निश्चित ही है। महर्षि दयानन्द तथा यास्काचार्य एवं अन्य प्राचीन महर्षियों का भी यही सिद्धान्त रहा है। इसका अपलाप करना जनता को धोखा देना है।

देवताज्ञान की दुष्करता।

कुछ विद्वानों का मत है कि देवता-ज्ञान बहुत साधारण कार्य है। परन्तु निरुक्त पढने से ज्ञात होता है कि देवता-ज्ञान बहुत दुष्कर तथा गूढ है। यदि देवता-ज्ञान इतना सरल होता, तो यास्काचार्य जैसे ऋषि निरुक्त का विशेष प्रयोजन देवता-ज्ञान न लिखते और न इस व्यर्थ कार्य को इतना महत्त्व देते। ऋषि यास्क ने नि० अ० २, पा० ३ में देवता-ज्ञान की दुष्करता का एक दृष्टान्त लिखा है। जिस का भाव यह है। "एक बार शाकपूणि आचार्य को यह अभिमान हुआ कि मैं सम्पूर्ण देवताओं को जानता हूं, उसके सामने 'अयं स शिङ्क्ते ...' आदि ऋग्० १।१६४।२९ का मन्त्र आया। वह इस मन्त्र का देवता न जान सके।

इस मन्त्र में विद्युद्देवता के दो लिङ्ग प्रतीत होते हैं। (१) स्तनयित्नु- जो कि गर्जता है, (२) विद्युत्- जो चमकता है। इस प्रकार इस मन्त्र का देवता 'विद्युत्' प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक देवता 'विश्वेदेव' है।" इस से समझ सकते हैं कि मन्त्रों के देवताओं का जानना टेढी खीर है। वस्तुतः देवता जानना 'तलवार की धार पै धावन है।' उदाहरणार्थ जैसे- 'इन्द्रं न त्वा शवसा-' इस अग्नि देवताके मन्त्रमें वायु और इंद्र भी देवता प्रतीत होते हैं। 'अग्निरिव मन्यो-' इस मन्यु देवताके मंत्रमें अग्नि भी देवता प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि

देवताज्ञान अति दुष्कर है। यदि किसी भी मन्त्र का कोई भी देवता हो सकता होता, तो इस प्रकार का व्यर्थ परिश्रम ऋषिमहर्षि भी क्यों करते। कोई भी विद्वान् किसी मन्त्र के देवता को बदलने का अधिकार नहीं रखता। ऋषिमुनियों का परिश्रम सिद्ध करता है कि देवता निश्चित हैं। उनको उग्र परिश्रमसे जानना चाहिए। यही बात महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में सिद्ध की है कि, "स्वाध्यायादिष्ट-देवतासम्प्रयोगः।" उग्र स्वाध्याय से ही वैदिक इष्ट देवताओं का ज्ञान होता है।

क्या महर्षि-निर्दिष्ट देवता अशुद्ध हैं ?

कुछ विद्वान् इस निश्चित देवता-वाद का नाम सुनते ही चौंक उठते हैं। उनका विचार है कि यदि निश्चित देवता मान लिए जायेंगे, तो सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता को परम प्रणाम मानना पडेगा और इस प्रकार महर्षि दयानन्द के देवता अशुद्ध हो जाएंगे। उदाहरण के लिए यजुर्वेद का प्रथम अध्याय दिया जाता है। इसके ३१ मन्त्रों में से २ मन्त्रों के ही देवता सर्वानुक्रमणी से मिलते हैं, २९ के नहीं। इसलिए अनिश्चित देवतावाद मान लो, इसमें खुली छुट्टी है, जो मन में आवे देवता बनाओ बिगाडो। परन्तु यह सरासर भूल तथा अज्ञान है। महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों में कुछ गूढ रहस्य है, सार है। जिसके बिना जाने उसका अभिप्राय समझ में नहीं आता। महर्षि दयानन्द के देवता आर्षपद्धति के अनुसार 'नित्य देवतावाद' को मानते हुए ही सर्वथा शुद्ध हैं।

महर्षि का सिद्धान्त।

महर्षि दयानन्दने इस विषय पर 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका' के वेदोत्पत्ति विषय में पर्याप्त विचार किया है। लेख के विस्तारभय से संक्षेप से सिद्धान्त का निर्देश करूंगा। महर्षि लिखते हैं—

"यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते? याश्च वेदोक्ताः। अत्र प्रमाणानि अग्निर्देवता वातोदेवता सूर्योदेवता चन्द्रमादेवता ...... ' आदि यजु० १४.२०। ... यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्तते, तस्मिन् मन्त्रेऽग्निर्देवो गृह्यते। एवमेव वातः सूर्य-

श्चन्द्रमा ... ... वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते।"

इन वाक्यों का अर्थ स्पष्ट है। अर्थात्- यज्ञ में देवताशब्द से मन्त्रों में निर्दिष्ट अग्नि, वायु, सूर्य आदि ही देवता लिए जाते हैं। यह देवता-निर्देश केवल यज्ञके लिए ही नहीं, अपितु समस्त देवता-ज्ञान के लिए है। आगे के वाक्य यही बताते हैं। जिस मन्त्र में अग्निशब्द के अर्थ का प्रतिपादन हो, वह मन्त्र ही 'अग्नि' देवता का होता है। इसी प्रकार वायु, सूर्य आदि पदों से युक्त मन्त्र उस उस देवताके होते हैं। इससे स्पष्ट है कि देवता से अर्थ का ज्ञान होता है। जो मन्त्र में पढा गया पद (शब्द) है, वही देवता होगा, अर्थ नहीं। यदि अर्थ को देवता मानना स्वप्न में भी महर्षि को इष्ट होता, तो वह ऐसा ऐसा न लिखते। इससे स्पष्ट है कि अर्थ या पर्यायवाची शब्दों को देवता मानना महर्षिके सिद्धान्त पर कुठाराघात है। महर्षि के सिद्धान्तों के रक्षक कहलानेवाले विद्वान् महर्षि के सत्य सिद्धांतों को समूल नष्ट करने पर कटिबद्ध दीखते हैं। यदि ऐसा न होता, तो इस प्रकार का असत्य सिद्धांत कभी भी महर्षि के नाम से अपनाया नहीं जाता। महर्षि इससे भी स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं-

"यानि नामानि मन्त्रोक्तानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते, तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवंति। तद्यथा- 'अग्निं दूतं पुरोऽधे...' अत्राग्नि शब्दो लिङ्गमस्ति। अतः किं विज्ञेयम्? यत्र यत्र देवतो च्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति। यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छन्दोऽस्ति तदेव दैवतमिति।"

अर्थात्- मन्त्रों में जो जो नाम (संज्ञाशब्द) अर्थों के बोधक होते हैं, वही उन मन्त्रों के देवता होते हैं। जिस प्रकार 'अग्निं दूतम्- ' मन्त्र का देवता 'अग्नि' है, क्योंकि यहाँपर 'अग्नि' शब्द मन्त्र में पढा हुआ है। जहाँ जहाँ पर मन्त्र का देवता कहते हैं, वहाँ उस मन्त्र में उसका नाम या लिङ्ग होना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि त्रिकाल में भी महर्षि का सिद्धांत यह नहीं था कि, देवता अनिश्चित हैं। महर्षि ने देवताविषय में दो हेतु दिए हैं, जो विशेष ध्यान देनेयोग्य हैं-

(१) तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्,

(२) परमाप्तेश्वरेण कृतसङ्केतत्वाच्च।

अर्थात्- देवतामन्त्र के अर्थों के द्योतक (सूचक) हैं। देवता सूत्ररूप से होते हैं, देखने में बहुत छोटे लगते हैं, परन्तु उनका अर्थ बहुत विस्तृत है। अतः नाना प्रकार के अर्थ हो सकते हैं, जैसा कि महर्षिने सहस्रों स्थलों पर किया है। उदाहरणार्थ- 'अग्नि' देवता के मन्त्रों में 'अग्नि' शब्द के परमात्मा, जीवात्मा, वह्नि, विद्वान्, सभापति, राजा, दूत आदि अनेकों अर्थ किए हैं। परन्तु सब स्थानों पर देवता 'अग्नि' ही माना है। तोप, बन्दूक, बारूद, गैस आदि यथेच्छ, तथा अर्थों को देवता नहीं माना। "यदि अर्थ को देवता माना जाय, तो महर्षि के भाष्य में कम से कम २००० दो हजार नहीं नहीं कमसे कम ९५ प्रतिशत या इससे भी अधिक देवताओं की अशुद्धि माननी पडेगी। फिर कोई भी अनिश्चित (अर्थ) देवतावादी विद्वान् शुद्ध सिद्ध नहीं कर सकता। इस अनिश्चित देवता-वाद के सिद्धांत को अपना कर महर्षि के सिद्धान्तों के रक्षक कहलानेवाले विद्वान् महर्षि दयानन्द को अनृषि या प्रकारान्तर से मूर्ख ही सिद्ध करना चाहते हैं। जरा हृदयपर हाथ धर कर सोचें। इस प्रकार का अनुचित प्रयास कब तक सहा जा सकता है। यह ऋषि की आत्मा के साथ उसके अनुयायियों का घोर अनर्थ है, इसलिए सतर्कता की आवश्यकता है।

अर्थ- देवतावादियों का कथन है कि जब 'अग्नि' शब्द का अर्थ विद्वान् होता है, तब 'अग्नि' देवता के स्थान पर 'विद्वान्' ही देवता क्यों न मान लें। इसका उत्तर महर्षि दयानन्द के ही शब्दों में देना चाहता हूँ। ऋग्वेदादि के प्रश्नोत्तरविषय में महर्षि शङ्का लिखते हैं कि, "यदि अग्नि आदि शब्दों से मन्त्रों में परमात्मा का ग्रहण इष्ट था,

मन्त्रों में 'अग्नि, वायु' आदि शब्दों के स्थान पर स्पष्टार्थता के लिए 'परमात्मा' ही पढ देते," यह प्रश्न ठीक ऐसा ही है, जैसा कि आधुनिक, 'अनिश्चित (अर्थ) देवतावादी' विद्वानों का है। इसका उत्तर महर्षि (३७८ पृ०, ३ पंक्ति) लिखते हैं कि, 'ब्राह्मणादि ग्रंथों में अग्नि आदि वैदिक शब्दों के अनेकों परमात्मा, भौतिक अग्नि, वाणी, मन, प्राण आदि अर्थ किए गए हैं। उन अनेकों अर्थों का ग्रहण केवल एक 'अग्नि' शब्द से हो जाता है। यदि 'अग्नि' शब्द के स्थान पर उन अनेकों अर्थों को रक्खें, तो सहस्त्रों ग्रन्थों में भी इस विद्या की पूर्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जितना अर्थ मन्त्रगत एक 'अग्नि' शब्द बोधित कर सकता है, उतना अर्थ सैकडों तदर्थक शब्द नहीं कर सकते।" यहा उत्तर हमारा भी अर्थदेवतावादी विद्वानों के लिए है। क्योंकि दूसरे हेतु में महर्षि ने स्पष्ट लिख दिया है कि, 'यह देवता परमेश्वरकृत संकेत हैं'। यही मत मीमांसाकार महर्षि जैमिनि लिखते हैं-

'अन्यायश्चानेकशब्दत्वम्।' (मी० १,३, २६)

अर्थात्- नित्य एक शब्द के स्थान पर अनेक शब्दों की कल्पना करना अयुक्त है। इससे सिद्ध होता है कि, देवता निश्चित ईश्वरीय संकेत हैं। कुछ विद्वानो का कथन है कि, देवता नित्य तथा ईश्वरीय नहीं हैं। उनको महर्षि के द्वितीय हेतु पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसलिए जिस प्रकार मन्त्रों में एक भी अक्षर न्यून, अधिक अथवा परिवर्तित नहीं कर सकते, इसी प्रकार देवता भी नित्य, निश्चित, अपरिवर्तनीय हैं। मन्त्रों के पदों के तुल्य देवता भी अनेकार्थक तथा सूत्ररूप से लिखे हुए हैं। इसीलिए कहते हैं कि, "या तेनोच्यते सा देवता।" अर्थात्-मन्त्र से जो देवता कही जाती है, वही देवता है। इससे स्पष्ट है कि मन्त्रगत शब्द ही देवता हो सकते हैं। यदि यहाँ पर अर्थ को देवता कहना होता, तो "या" के स्थान में "यः" पढते, क्योंकि अर्थ शब्द नित्य पुल्लिंग है।

शास्त्रकारों के अनुकूल महर्षि की देवताएं।

पूर्वप्रकरणमें यह दिखा दिया गया है कि, दर्शनकार, ब्राह्मण तथा निरुक्त का क्या सिद्धान्त है, तथा महर्षि का उनके सिद्धान्त के साथ कितना समन्वय है। महर्षि का 'नित्य देवतावाद' सिद्धान्त कपोलकल्पित नहीं, अपितु सम्पूर्ण सिद्धान्त ऋषि, महर्षियों के सिद्धान्त के अनुकूल ही है। महर्षि के इस गूढ रहस्य को जाने बिना उसके सिद्धान्तों की थाह नहीं मिल सकती। मीमांसा, शतपथ तथा निरुक्त की प्रक्रिया से ही महर्षिने देवताओंका निश्चय किया है। श्रुति, लिंग, वाक्यादि के अनुसार ही देवता माने, तथा लिखे हैं। जहाँ पर श्रुति या लिंग नहीं है, वहाँ पर यास्कीय प्रक्रियाके अनुसार यज्ञ, प्रजापति आदि देवता माने हैं। इस प्रकार महर्षिका सम्पूर्ण देवतावाद शास्त्रीय तथा निश्चित है। कुछ प्रेससम्बन्धी त्रुटियों अवश्य हैं, उसको दूर करने के लिए आर्यजगत् के विद्वान् कई वार लिख चुके हैं।

सर्वानुक्रमणी आदि परम-प्रमाण नहीं।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि, 'नित्य देवतावाद में सर्वानुक्रमणी आदि को परम प्रमाण मानना पडेगा। यह कथन नितान्त अनुचित है, क्योंकि बृहद्देवता सर्वानुक्रमणी आदि के देवताओं पर दृष्टिपात करने से उनमें असत्यता प्रतीत होती है। लिङ्गोक्त देवताओं को छोडकर शाखा, स्त्रुचा, शूर्प, हविः, मुसल आदि देवता मानना अशास्त्रीय है। यज्ञिय देवताओंके विषय में महर्षि का सिद्धान्त स्पष्ट लिख दिया गया है कि, 'यज्ञ में लिङ्गोक्त अग्नि, वायु, सूर्य आदि ही देवता होते हैं, शाखा आदि देवता नहीं हो सकते।' महर्षि के इसी सिद्धान्त की पुष्टि मीमांसा० अ० १०, ४, २३ के भाष्यमें शबर स्वामी ने की है। देवता-विषयक उहापोह के पश्चात् देवता का निर्णय लिखते हैं कि- "तस्मात् सूक्तभाजो हविर्भाजश्च देवताः।" अर्थात् जो सूक्त को या हवि को धारण करनेवाले हैं, वे देवता हैं। इस पर शंका करते हैं कि "यदि हविर्भाक् को देवता मानेंगे,

कपालादि भी देवता होने लगेंगे।" इस का उत्तर लिखते हैं कि-

एवं तर्हि सा हविर्भाक् देवता, यां प्रति तादर्थ्यं हविषः। सूक्तस्याप्येवमेव। अत्र हि देवता शब्दः स्मर्यते, अग्निदेवत्यं सूक्तम्, अग्निदेवत्यं हविरिति ॥

अर्थात्- हविर्भाक् वही देवता होगा, जिस के लिए हवि दी जाती है। इसी प्रकार सूक्त का भी वही देवता होगा, जिस का नाम मन्त्रों में दृष्ट होगा। इससे सिद्ध है कि केवल विनियोगमात्र से 'देवता' नहीं होता। उदाहरणार्थ- अतिप्रसिद्ध 'शन्नो देवीः-' आदि मन्त्र को ही लेता हूं. महर्षि ने इसका विनियोग आचमन में किया है, क्या इतने से 'आचमन' देवता हो जायगा? नहीं, महर्षि स्पष्ट यजु० ३६, १२, में इस मन्त्र का 'आपः' देवता लिखते हैं। परन्तु इस का अर्थ 'परमात्मा' परक किया है।

यहां पर सर्वानुक्रमणी आदि को प्रमाण माननेवाले तथा अर्थ देवता माननेवाले विद्वानों की सत्यता की परीक्षा है। 'हाथ कङ्गन को आरसी क्या?' महर्षि का मन्तव्य यहां स्पष्ट है कि 'न विनियोग से ही देवता होता है, न अर्थ ही।' सर्वानुक्रमणी आदि में लिङ्गोक्त देवताओं का जानबूझकर अपलाप किया गया है। इसलिए उनपर प्रामाणिकता नहीं है। लिंगोक्त देवताके रहते हुए शाखा आदि कभी भी देवता नहीं हो सकते। 'चत्वारि शृङ्गा ...' मन्त्र का लिङ्गोक्त 'वृषभ' ही देवता होगा। उसके अर्थ यज्ञ, शब्द आदि नहीं। मन्त्रों में 'ऊह्य' आदि से काल्पनिक देवता माने जाते हैं वे परम प्रमाण नहीं हो सकते। परम प्रमाण देवता केवल श्रुति, लिंगादि द्वारा सिद्ध ही होते हैं।

अनित्यता-बोधक वाक्यों का अर्थ।

यद्यपि अनित्यताबोधक वाक्यों को वास्तविक अर्थ पूर्व दिया जा चुका है, कुछ वाक्यों से फिर भी सन्देह प्रतीत होता है कि देवता अनित्य हैं। उव्वट यजुर्वेदभाष्य के प्रारंभ में लिखते हैं-

गुरुतस्तर्कतश्चैव, तथा शातपथश्रुतेः।

ऋषीन् वक्ष्यामि वेदानां, देवता छन्दसं च यत्

अर्थात्- गुरुपरम्परागत, शतपथोक्त तथा तर्क द्वारा मन्त्रों के ऋषि, देवता तथा छन्दों को कहूंगा। इससे स्पष्ट है कि जो गुरुपरम्परागत या शत[...] की प्रक्रिया से देवता कहे गये हैं, वे निश्चित हैं, केवल तर्कपद सन्देहजनक है। यहाँ पर त[र्क] का अभिप्राय मनु० १२, १०६ के अनुसार वेदानु[कूल] चिंतन तथा विचारसे है। क्योंकि जहाँ पर देवता पद स्पष्ट नहीं पढा गया है, वहाँ पर किस देव[ता] का लिङ्ग है, इसके लिए पूर्ण विचार की आवश्य[क]ता है ही, अन्यथा देवताज्ञान नहीं होगा। [...] तर्क का अभिप्राय यह कभी भी नहीं है कि, ऐच्छि[क] देवताओं की सृष्टि करूं। जो कि विरोध प्रा[...] आचार्यों के उपस्थित किए जाते हैं। वह भी अ[...] दिष्ट देवताके मन्त्रों में विचारभेद हैं। जिस प्र[कार] 'चत्वारि शृङ्गा' मन्त्र का लिङ्गोक्त देवता 'वृष[भ]' ही है। उसी प्रकार उन मन्त्रों के भी लिङ्गो[क्त] नित्य ही देवता होंगे। जहाँ पर देवता निर्दिष्ट [हैं] वहाँ पर तो सन्देह ही नहीं है। लेख के विस्तार [भय] से विरोधसूचक पदों तथा आचार्यों के लेखों [पर] विचार नहीं किया जा सका है। अन्य लेख में उन[पर] भी विचार किया जायगा।

महर्षि के देवताओंमें पौराणिकता।

कुछ विद्वानों का विचार है कि यदि देवताओं [को] निश्चित मान लेंगे, तो पौराणिकता आ जायगी। [...] महर्षि के निर्दिष्ट नित्य देवताओं में भी [...] पौराणिकता की गन्ध आने लगी, तो वह समय [दूर] नहीं, जब मन्त्रों के नित्य पदों को भी नित्य मा[नने] में पौराणिकता प्रतीत होने लगगी। इस प्रकार [...] महर्षि के सिद्धांतों की लीपापोती कर महर्षि को पौराणिक सिद्ध करना चाहते हैं, तो आर्यज[नों] को ऐसे अर्धविद्वानों से सावधान रहना चाहि[ए]

'घर का भेदी लङ्का ढावे ।' इस लोकोक्तिके अनुसार महर्षि की दुहाई देनेवाले विद्वान् ही महर्षि के सिद्धांत पर कुठाराघात कर रहे हैं। इसलिए आर्य-जनता को अपनी बागडोर सतर्कता के साथ विद्वानों के हाथों में देनी चाहिए ।

हमारा दावा है कि "महर्षिके देवता सर्वथा शास्त्र शुद्ध हैं, महर्षि का देवतावाद नित्य तथा निश्चित है। वे बदले नहीं जा सकते, उनका स्थान कोई भी अर्थ या पर्यायदेवता नहीं ले सकता।

अन्तमें समस्त आर्यविद्वानों से विनीत प्रार्थना है कि, यदि इस लेखमें कुछ सन्देह या असत्यता प्रतीत होती हो तो वे विद्वान् वैयक्तिक राग द्वेष, मनोमालिन्य को दूर फेंक कर शान्त, पवित्र हृदय से सिद्धान्तनिर्णय के लिए प्रत्येक पंक्तिका खण्डन लिखें। वितण्डावाद या वैयक्तिक आक्षेपों से लेखों तथा समाचारपत्रों को दूषित न करें।

अमृत-बिन्दु

अर्थात्

माताजी के वचन ।

पोंडिचेरी में स्थित श्री अरविन्द-आश्रम की पूजनीया श्री माताजीके ये कुछ वचन हैं, गांधीजी के शब्दों में 'अमृत-बिन्दु' हैं, उस अमृत-सागर के कुछ छींटे हैं, जिसमें माताजी स्वयं स्नान कर चुकी हैं और अन्य सब जगत् को भी स्नान कराना चाहती हैं। जैसे अमृत की एक बूंद भी सेवन करनेवाले को अमर कर सकती है, वैसे इन वचनों में से एक भी वचन ग्रहण किया हुआ मनुष्य को अमृतपद प्राप्त करा सकता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। यही समझ कर हिन्दीभाषाभाषियों के लिये इन्हें सुलभ किया जा रहा है।

श्रीअरविन्दाश्रम, अभय
५-१२-३८. हिन्दी भाषान्तरकार

भगवान् के विना जीवन एक दुःखमय धोखा है, भगवान् के साथ सब कुछ आनन्द है।

❀

भगवान् के विस्तृत बाहुओं में आश्रय ग्रहण कर लेने से सब कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं, कारण उनके बाहु-प्रेम के साथ हमें अपनी शरण में ले लेने के लिये सदा खुले हुए हैं।

❀

भगवान् की ओर अभिमुख होओ, तुम्हारे सब दुःख-दर्द विलीन हो जायंगे।

❀

यह भगवान् के चरणों में सच्चे भाव से अपने आपको अर्पित कर देना है, जिससे हम अपने अनगिनत मानवीय दुःखदर्दों से छुटकारा पा सकते हैं।

❀

शान्ति असीम होनी चाहिये, अचंचलता गहरी और प्रशान्त; इसी तरह स्थिरता अविचल होनी चाहिये और भगवान् में भरोसा नित्य बढ़नेवाला।

❀

भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने का इ[...] अधिक अच्छा और कोई तरीका नहीं कि, चुपचाप आन[...] मग्न रहा जाय।

❀

उसे सदा प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करो; जो कुछ [...] भगवान् की तरफ से दिया जाता है।

❀

ओ प्रभो ! यह जो भी कुछ है और जो भी कुछ [...] होगा, उस सबकी गहराई में तेरी दिव्य और [...] मुसकाहट विद्यमान है।

❀

सब तरफ सुवर्ण, सुवर्ण, सुवर्ण ही था, सु[...] ज्योति का एक प्रवाह निरवच्छिन्न धारा में ऊपर से [...] रहा था और मुझ में इस चेतना को जागृत कर रहा था [...] देवताओं का मार्ग एक ऐसा ज्योतिर्मय मार्ग है, [...] कठिनाइयों की सब वास्तविकता विलीन हो जाती है।

❀

ऐसा वह मार्ग हमारे सामने खुला है, यदि हम [...] अवलम्बन करना पसन्द करें।

एक मुस्कराहट का कठिनाइयों पर वही असर होता है, जो कि सूर्य का बादलों पर—वे उन्हें छिन्नभिन्न कर देते हैं।

❀

अपने सुख के लिए चिन्ताशील होना, दुःखी होने का निश्चिततम उपाय है।

❀

सुख जीवन का लक्ष्य नहीं है। साधारण जीवन का लक्ष्य अपने कर्तव्य को पूरा करना है, आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य भगवान् को प्राप्त करना है।

❀

यदि हम चाहते हैं कि, हमारा सुख अक्षुण्ण और पवित्र बना रहे, तो हमें इस बात के लिए अपना पूरा प्रयत्न रखना चाहिये कि, हमारे सुख पर किन्हीं अमैत्रीपूर्ण विचारों का ध्यान आकर्षित न हो।

❀

शान्ति और अचंचलता रोगों को दूर करने के लिये महान् औषध हैं।

जब हम अपने शरीर के अणुओंमें शान्ति ले आ सकेंगे, तो हम रोगमुक्त हो जायँगे।

❀

शरीर को चाहिये कि वह रोग को वैसी ही प्रबलता के साथ त्याग देवे, जैसे कि हम मनमें से झूठ को त्यागते हैं।

❀

अभीतक सुख और उत्तम स्वास्थ्य इस संसार में सामान्य अवस्था कीं वस्तुएँ नहीं बनी हैं।

हमें बड़ी सावधानी के साथ इन (सुख और स्वास्थ्य) की रक्षा करनी चाहिये कि, कभीं कहीं इनके विरोधी भाव बीच में न आ घुसें।

❀

निरन्तर सुख का जो स्रोत है, वह अन्तरात्मामें है।

❀

इस पार्थिव प्राणी के अन्दर कुछ भी नित्य व स्थिर नहीं है, सिवाय अन्तरात्मा के।

❀

यदि कला का उद्देश्य दिव्य जीवन के विषय में कुछ अभिव्यक्त करना है, तो वहाँ (उस कला में) भी एक विशाल और प्रकाशमय शान्ति अवश्य अपने आपको प्रकट करेगी।

❀

भगवान् में हमारा भरोसा किन्हीं बाहिरी परस्थितियों पर निर्भय नहीं होना चाहिये।

❀

यदि हमें भगवान् को जानना है तो हमें किसी प्रकार की पसंदगियां रखना छोड देना होगा।

❀

यदि हमें सचमुच भगवान् से प्रेम करना हैं, तो हमें आसक्तियों से ऊपर उठ जाना होगा।

❀

बिचारा भगवान्! उसे न जाने कितने भयंकर भयंकर कृत्यों का दोषी ठहराया जा सकता है।

यदि ये आरोप सच्चे हों, तब तो वह कितना भारी दैत्य होगा, वह (भगवान्) जो असलमें दयामय ही है।

❀

हमारे सब विचार, हमारी सब भावनाएँ भगवान् की तरफ जायँगीं, जैसे नदी समुद्रकी तरफ जाती है।

❀

भगवान् का साक्षात्कार करना, यह जीवन में हमारी एक आवश्यकता हो जावे।

❀

एकमात्र भगवान् को ही अपने आत्मा का विश्वसनीय साथी रखो।

❀

वही संकल्प करना, जो कि भगवान् का संकल्प है–यह है परम रहस्य।

❀

केवल भगवान् का चिन्तन रखो, तो भगवान् तुम्हारे साथ हो जायेंगे।

❀

हमारा सम्पूर्ण ही जीवन भगवान् के प्रति की गई प्रार्थनारूप होना चाहिये।

❀

भगवान् के लिये कर्म करना, शरीरद्वारा उनकी उपासना करना है।

❀

हमें किसी भी अन्य की सेवामें नहीं रहना चाहिये, सिवाय एक भगवान् की सेवा के ।

❀

भगवान् के लिये तुम्हारा उससे अधिक कुछ भी मूल्य नहीं है, जितना कि तुम भगवान् को दे चुके हो ।

❀

यहाँ की प्रत्येक वस्तु किसी न किसी हल करनेयोग्य असम्भवता का ही प्रतिनिधित्व करती है, पर यदि तुम्हारी दिव्य दया की तरफ देखें तो, हे प्रभो! उसकी कृपा से सब कुछ ही संभव है । क्या तुम्हारा कार्य यही नहीं होगा, कि इन सब असम्भवताओंका दिव्य वास्तविकताओं में रूपान्तर करके, जहाँ समूचे रूप में वहाँ अंशअंश में भी, इन्हें पूरा कर देना ?॥

❀

चाहे कितनी लम्बी यात्रा हो और कितना महान् यात्री हो, अन्तमें भगवान् की कृपा पर ही एकमात्र भरोसा सदा पाया गया है ।

❀

जब हम एक सुनिश्चित आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर लेते हैं, तो भगवान् के अदृश्य शत्रु सदा बदला लेने की चेष्टा करते हैं और जब वे हमारी आत्माको हानि नहीं पहुँचा सकते, तो वे हमारे शरीर पर प्रहार करते हैं। परन्तु उनके ये सब प्रयत्न व्यर्थ होते हैं और अन्त में परास्त कर दिये जायँगे, क्योंकि भगवान् की कृपा हमारे साथ है ।

❀

एकमात्र भगवत्कृपा पर ही आश्रित रहना, और सभी परिस्थितियों में इसकी सहाय्यता का आवाहन करना, यह हमें सीखना होगा; तब यह निरन्तर चमत्कार करके दिखलायेगी ।

❀

आओ हम अपने संकल्प भगवत्कृपा के प्रति अर्पित कर देवें, भेंट चढ़ा देवें; यह कृपा ही है, जो सब कुछ पूरा करती है ।

❀

हमारा भगवान् में जितना भरोसा है, उसके ही अनु-पात में भगवत्कृपा हमारे लिए काम कर सकती है और सहाय्यता पहुँचा सकती है ।

❀

भगवत्कृपा के सामने कौन पात्र है या कौन अपात्र? सब उस एक ही अभिन्न माता के पुत्र हैं ।

उसका प्रेम उन सब पर एक बराबर बरस रहा है।

परन्तु वह हर एक को उसकी प्रकृति और ग्रहणसामर्थ्य के अनुसार देती है ।

❀

आओ, हम अपने आपको, बिना कुछ भी बचाए रखे भगवान् को सौंप दें, इससे ही हम सर्वोत्तम प्रकार से भगवत्कृपा को प्राप्त कर सकेंगे ।

❀

उस परम पुरुष ने अपनी कृपा को इस जगत् में भेजा है, इसकी रक्षा के लिए ।

❀

पर्वतीय पथ सदा हमें दो दिशाओं में ले जानेवाला होता है, ऊपर की तरफ और नीचे की तरफ ।

सब इस बात पर निर्भर करता है कि, हम अपनी पीठ पीछे किसे रखते हैं ।

❀

अन्धकारभरी भौतिक प्रकृतिपर जब हम कोई विजय प्राप्त करते हैं, तो ऐसी प्रत्येक विजय एक आनेवाली अधिक बड़ी विजय की आशा बँधानेवाली होती है ।

❀

इस विश्व के निरन्तर आगे आगे बढ़ते जाने की क्रिया में जो कुछ भी कार्य पूरा (सिद्ध) हुआ है, वह एक नई और अधिक महान् दिव्य सिद्धि का केवल प्रथम रूप है ।

❀

कामना को तृप्त कर लेने की अपेक्षा कामना पर विजय पालेना कहीं अधिक सुखदायक होता है ।

उस सब बात से बचने के लिए हमें अवश्य ही बहुत सावधान रहना चाहिये, जो हमारे अन्दर दिखावे के भाव को प्रोत्साहन दे सकती हो।



सच्चे साहसमें न तो अधीरता होती है, न जल्दबाजी।



ईर्ष्या, अपनी परिरक्षिका असूया के साथ, दुर्बल और लघु मनुष्यों में ही उपजती है।

यह हमारे क्रोध की अपेक्षा हमारी दया की ही अधिक पात्र होती है और हमें, अपनी अविचल निश्चितता के आनन्द में मगन रहते हुए, इस (ईर्ष्या) के प्रति सर्वथा उदासीन ही बने रहना चाहिये।



बुरा लगने या निरादर होने से ऊपर उठ जाना मनुष्य को सच्चे अर्थों में महान् बना देता है।



सदा सत्य बात ही बोलना, उच्च कोटि का पुरुष होने की सर्वोत्कृष्ट पहिचान है।



कलामें भी हमें सदा ऊँचाई पर ही रहना चाहिये।



सुरुचि कला की नवाबी है।



सौन्दर्य के द्वारा भगवान् भौतिक जगत् में अभिव्यक्त होते हैं, मानसिक में ज्ञानद्वारा, प्राण में बल के द्वारा और अध्यात्म में प्रेमद्वारा।

जब हम काफी ऊँचे उठ जाते हैं, तो हम देखते हैं कि, वहाँ इन चारों रूपों के एक दूसरे में घुल मिल जाने से एकही चेतना बन गयी है, एक अकेली प्रकाशमयी, बलशालिनी, सौन्दर्यपूर्ण, सर्वसंग्राहिक, सर्वव्यापिनी, प्रेममयी चेतना हो गयी है।

यह केवल विश्वकी लीला चलाने के लिये हुआ है कि, यह एक अकेली दिव्य चेतना अभिव्यक्ति के इन कई रूपों या दिशाओं में विभक्त हो गई है।



देवों तक को उस परम पुरुष के प्रति आत्मसमर्पण करना होगा, यदि दिव्य सृष्टि को इस पृथिवी पर मूर्त्त रूपमें ले आना है।



अज्ञानावस्था में मानसिक सम्मतियाँ सदा एक दूसरे की विरोधिनी होती हैं।

सत्य की अवस्था में ये सम्मतियाँ एक ही उच्चतर ज्ञान की परस्पर पूरक-रूप होती हैं।



प्रत्येक स्त्री या पुरुष को बात उसके समझने के सामर्थ्य के अनुसार ही कही जाती है।

इसका यह मतलब होता है कि, जो ज्ञान एक को दिया गया है, वह दूसरे के लिये उपयोगी या अच्छा न हो, यह हो सकता है। यही कारण है कि अपने को वैयक्तिक तौर पर दिया गया गुरु का उपदेश दूसरों को प्रकट करना उचित नहीं होता।



नये सिरे से उसे भरा जा सके, इसके लिये बरतनको कभी कभी खाली किया जाना आवश्यक होता है।

यह तभी होता है कि हम अपने को खाली अनुभव करते हैं, जब कि हम अधिक बड़े ग्रहण-सामर्थ्यके लिये तैय्यार हो रहे होते हैं।



तथाकथित 'प्रकृति की शक्तियाँ' इसके सिवाय और कुछ नहीं कि ये उन सत्ताओं की बाह्य हलचल हैं, जो अपने परिमाण में या अपने वशवर्ती बलों में मनुष्य की अपेक्षा बहुत अधिक बढी चढी हैं।



एक सूक्ष्म जगत् है, जहाँ तुम चित्रलेखनों, उपन्यासों, सब प्रकार के नाटकों, सिनेमा तक के लिये सब संभवित विषय देख सकते हो।

उसी जगत् से यह होता है कि बहुत से रचयिता अपनी रचनाओं के लिये प्रेरणा प्राप्त करते हैं।



इस विश्व के आश्चर्यों का कहीं अन्त नहीं।

ज्यों ज्यों हम अपने तुच्छ 'अहं' की मर्यादाओं से मुक्त होते जाते हैं, त्यों त्यों अधिकाधिक ये आश्चर्य हमारे सामने प्रकट होते जाते हैं।

❁

अपने 'अहं' को अतिक्रमशा कर जाना कोई सुगम कार्य नहीं।

सांसारिक चेतना में इस पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद भी, आध्यात्मिक चेतनामें यह फिर एक बार-अधिक बढे हुए रूपमें- हमारे सामने आता है।

❁

हमारी अभीप्सा का सूर्य अहंकार के बादलों को छिन्न-भिन्न कर देवे।

❁

हृदय की नीरवता में अभीप्सा की स्थिर अग्नि जल रही है।

❁

प्रत्येक ध्यान एक नवीन प्रकाश का लानेवाला होना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक ध्यान में कुछ न कुछ नयी बात होती है।

*

प्रत्येक नया प्रभात एक नयी उन्नति की संभावना को लानेवाला होता है।

*

बिना जल्दी मचाये हम आगे आगे चल रहे हैं। कारण, हम अपने भविष्य के बारे में सुनिश्चित हैं।

❁

जो प्रतीक्षा करना जानता है, वह कालदेव को अपने पक्ष में रखता है।

❁

मनुष्य उस ही के समान होता जाता है, जिससे कि वह प्रेम करता है।

हम सदा उन वस्तुओं से घिरे रहते हैं, जिनका चिंतन करते हैं।

❁

विरोधी शक्तियों का निरन्तर चिंतन करना और डरना एक बडी खतरनाक कमजोरी है।

❁

मांसपेशियों की तरह एकाग्रता और संकल्पशक्ति भी समुन्नत किया जा सकता है; ये भी नियमित और अभ्यासद्वारा बढती हैं।

❁

हमारी चेतना एक नवजात पक्षी की तरह है। अपने पंखों का इस्तेमाल करना सीखना पडता है।

*

वह दिव्य उपस्थिति दिनरात निरन्तर विद्यमान है। केवल हम चुपचाप अपने अन्दर में प्रविष्ट होवें- इतने से उसे हम खोज लेंगे।

❁

मेरे प्रभो! तूने आज रात मुझे यह परमज्ञान दिया।

हम जीरहे हैं, केवल इसलिये कि ऐसी तेरी इच्छा ......हम मरेंगे केवल यदि यह तेरी इच्छा होगी।

❁

यह नये वर्ष का जन्म हमारी चेतना का नया होवे।

आओ, आज हम भूतको सुदूर पीछे छोडे जाते हुए प्रकाशमय भविष्य की तरफ दौडें।

प्रभो! यह संवत्सर मर रहा है और हमारी तुम्हारे चरणों में नीचे झुकती है।

प्रभो! संवत्सर फिर जन्मा है, हमारी प्रार्थना पहुँचने के लिये ऊपर उठती है।

ऐसा करो कि यह हमारे लिये भी एक नवजीवन प्रभात सिद्ध होवे।

वेदोंकी उपेक्षा और उसके परिणाम

(लेखक— स्व० पंडित रघुनन्दन शर्माजी।)

हमने वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करते हुए कहा है कि इसी वैदिक ज्ञान की बदौलत आदिमकालीन आर्य ऋषियों ने यज्ञों की उन्नति के लिए बड़े बड़े आविष्कार किए थे। किंतु जब से उनमें मिश्रित दर्शन, मिश्रित विश्वास और मिश्रित विचारों का समावेश हुआ, तब से परस्पर भयङ्कर अनैक्यता का साम्राज्य हो गया और उनका हर प्रकार से पतन हो गया। आज उन वैदिक आर्यों के वंशजों की वर्तमान दशा को देखकर कौन कह सकता है कि ये उसी अपौरुषेय ज्ञान के माननेवाले हैं, जिसने समस्त संसार को ज्ञानी और सदाचारी बनाया था ? इनकी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक अवस्था को देखकर कौन कह सकता है कि ये उन्हीं ऐश्वर्यवान् ऋषियों और राजाओं की सन्तति हैं जिन्होंने समस्त भूमण्डल को अपने विज्ञान, कला और शौर्यकौशल से चकित कर दिया था ? इसमें सन्देह नहीं कि आर्यों का याज्ञिक काल बड़ा ही भव्य, तेजस्वी और विशाल था। उस समय कला, विज्ञान और सेना का महान् आयोजन था। आमोद, प्रमोद और विलास का साम्राज्य था और बल, शौर्य तथा साहस का समुद्र उमड़ रहा था, इसलिए आवश्यक था कि उनकी गिरावट आरम्भ हो।

अपने समय के सबसे महान् पुरुष स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्य ही कहा है कि 'यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुतसा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है, तब आलस्य, पुरुषार्थरहितता, ईर्ष्याद्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढता है।' वही हुआ, आर्यों में आलस्य और प्रमाद बढा। उनके उज्ज्वल समाज में छोटे छोटे काले दाग़ दिखलाई पड़ने लगे। जहाँ तहाँ आलसी, अनाचारी और मूर्खों का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस अनाचार के आरम्भ का कारण वैदिक शिक्षा है ? और क्या जिन वेदों की इतनी प्रशंसा की जा रही है, उन्हीं वेदों के अनुसार इस समय हमारा आचार-व्यवहार, धर्म-कर्म और रीति-रस्म चल रहे हैं? क्या वर्तमान हिन्दुत्व, जिसके सुधारने का प्रयास चारों ओर से हो रहा है, उसी वैदिकता से उत्पन्न हुआ है, जिसका इतना लम्बा गुणानुवाद गाया जाता है? और क्या उसी अपौरुषेय वैदिकता ने हमारा अधःपतन किया है, जिसका प्रादुर्भाव आदिसृष्टि में परमात्मा की ओरसे हुआ था ? इन प्रश्नों का उत्तर दिए विना, वेदों की अपौरुषेयता की कोई खूबी समझ में नहीं आती। हम इस लेख में इन्हीं सब बातों का खुलासा करना चाहते हैं। हमारा विश्वास है कि आर्यों का पतन दर्शनमिश्रण और विश्वासमिश्रण से ही हुआ है। उनके पतन का कारण न वेद हैं और न वैदिक ऋषि। किन्तु उनके पतन का कारण केवल विदेशी ही हैं। अतः हम इस समस्त विवरण का पता लगाने के लिए आर्यों का सामाजिक बन्धन, उनका विदेशगमन, विदेश से पुनरागमन, आर्यों के दर्शनों में विदेशियों के विश्वासों का मिश्रण और उनके पतन का आरम्भ आदि समस्त विषय विस्तार से लिखते हैं।

आर्यों में अवैदिकता का संचार और प्रसार कैसे हुआ, इसका भी उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती के वाक्यों में ही भरा हुआ है। समाज में चाहे जितना अच्छा और दृढ प्रबन्ध हो, पर कुछ या अधिक काल के बाद प्रबन्ध में शिथिलता आ ही जाती है और दुष्ट मनुष्यों का प्रादुर्भाव हो ही जाता है। आर्यों में भी इसी स्वाभाविक नियमानुसार आलस आया, शिथिलता ने दुष्ट मनुष्यों को उत्पन्न किया और चारों वर्णों में एक साथ ही प्रमा

उत्पन्न हुआ। परन्तु विचक्षण आर्यों ने तुरन्त ही इस बात को ताड़ लिया और उपाय भी करने लगे। सबसे बेहतर और आर्योचित उपाय यही हो सकता था कि दुष्ट, दुर्जन अर्थात् अनार्य लोग समाज से बाहर निकल दिये जाएँ। अतः समाज से पृथक् करने के कई एक मार्ग सोंचे गये। सबसे पहिले यह स्थिर किया गया कि अमुक समय तक यज्ञोपवीत कराके यदि कोई आर्य आचार्यकुल में दाखिल न हो जाय, तो वह समाज से पृथक् कर दिया जाय। इसी तरह यदि कोई आर्य किसी को अकारण सताये, तो वह भी असुरदस्यु स्वभाववाला समझा जाय और समाज से निकाल दिया जाय। यदि कोई द्विज वेद न पढ़कर अन्यत्र श्रम करे, तो शूद्र समझा जाय। यदि कोई दोनों समय सन्ध्या न करता हो, तो वह भी शूद्र समझा जाय। यदि कोई आर्य सवर्णा स्त्री के अतिरिक्त अनुलोम प्रतिलोम विवाह करके प्रजा उत्पन्न करे, तो वह प्रजा भी चातुर्वर्ण के अन्दर स्थान न पावे। और यदि माता, पिता, आचार्य, राजा और अन्य माननियों की आज्ञा न माने, तो वह भी समाज से निकाल दिया जाय। इस प्रकार से समाजशुद्धि के अनेकों द्वार खोले गये और चुन चुनकर नियमभङ्ग करनेवालों को जाति से – समाज से – बाहर निकाल दिया गया। चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्री हो अथवा वैश्य हो, यदि वह मूर्ख और अनाचारी है, तो तुरन्त ही जातिबहिष्कार के योग्य समझा गया।

समाज को स्वच्छ रखने के तीन ही उपाय हैं। पहिला और सर्वप्रधान उपाय यही है कि समाज में ऐसी एक भी व्यक्ति न रहने पावे, जिसने गुरु के पास रहकर विद्या, सदाचार और सभ्यता न सीखी हो। दूसरा मार्ग यह है कि यदि कारणवश विद्या, सदाचार और सभ्यता सिखलाने पर भी वह बदमाश हो जाय, चोर, व्यभिचारी, अत्याचारी और हत्यारा हो जाय, तो उसको जाति से निकाल दिया जाय। इन दो प्रधान नियमों से समाज में न तो कोई मूर्ख ही रह सकता है और न अत्याचारी ही। इन दोनों की रक्षा के लिये तीसरे उस मार्ग की आवश्यकता होती है, जिससे सब लोग ईश्वर की उपासना, वेदद्वारा सृष्टि का ज्ञान और बड़ों का आदर करने का अभ्यास रक्खें, जिससे पहिले दोनों प्रधान नियमों के पालन करने में असुविधा न हो। आदर्श आर्य बनाने के येही मार्ग हैं और पूर्वकाल में इन्हींका अवलम्बन किया गया था। इन्हीं से उस आदर्श आर्यजाति की प्राप्ति हो सकती थी, जिसका वर्णन हमने पहलेही किया है। जातिबहिष्कार के अतिरिक्त उस समय दूसरी सज़ाएँ भी थीं, प्रायश्चित्त भी थे, जेल और जुर्माने भी होते थे। पर उस समय के महान् सभ्यताप्राप्त आर्यों में जातिअपमान की सज़ा सबसे कड़ी समझी जाती थी। सच भी है, एक मनुष्य इसलिए आर्य न कहलाने पावे कि वह मूर्ख अथवा बदमाश है, इससे बढ़कर और क्या सज़ा हो सकती थी? सभ्य समाज से जिसका सम्बन्ध तोड़ दिया जाय, जिसके साथ कोई सभ्य मनुष्य किसी प्रकार का व्यवहार न रक्खे, उसके लिए इससे बड़ी और क्या सज़ा हो सकती थी और आदर्श आर्यत्व कायम रखने के लिए इससे अच्छा और क्या उपाय हो सकता था? पर हरएक खूबी में कुछ खराबी होती है, हरएक बन्दोबस्त में त्रुटि होती है और हरएक सुधार में ऐब छिपा होता है। इस अद्भुत नियमानुसार इस बहिष्कारपद्धति में भी आगे चलकर विष के फूल फूले। हम यहाँ सारांशरूप से उन जातियों के बहिष्कार का वर्णन कर देना चाहते हैं, जो पहिले आर्य थीं और फिर अनार्य हो गईं। तथा जातिच्युत होकर दस्यु, दास, राक्षस, असुर, महिष, कपि, नाग आदि नीच नामों से पुकारी जाने लगीं और आर्यों के पतन का कारण हुईं।

पहले हम दिखला आये हैं कि आदिसृष्टि में समस्त गुणगणालंकृत आर्यजाति का ही जन्म हुआ था और उसी से मूर्ख और असभ्यों ने निकल निकलकर दस्यु और राक्षसादिकों की उत्पत्ति की थी। क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है कि ब्राह्मणों के पास न पहुँच सकने के कारण क्षत्रियों की जातियाँ क्रियालुप्त होने से पतित हो गईं। वही पौंड्र, औंड्र, द्रविड, काम्बोज, पारद, खस, पह्लव, चीन, किरात, झल्ल, मल्ल, दरद और शक नामधारिणी अनार्य जातियाँ हो गईं। यह सत्य है कि पहिले इसी प्रकार के व्रात्य ही जातिच्युत किए जाते थे। परन्तु कुछ दिन के बाद जातिबहिष्कार का रूप ज़रा उग्र हो गया। महाभारत हरिवंश और विष्णुपुराण में यह कथा

है कि राजा हरिश्चन्द्र के बाहु नामी सातवाँ वंशज हुआ। वह हैहा और तालजंघा नामी राक्षसों से पराजित हुआ और अपनी गर्भिणी स्त्री के सहित जंगल में भाग गया। उससे सगर पैदा हुआ। सगर ने अपने बाप के शत्रु शक, यवन, काम्बोज, चोल, केरल आदि को जीतकर उनका समूल नाश करना चाहा, परन्तु अपने गुरु वसिष्ठ के कहने पर उन सबको वेदभ्रष्ट करके, दाक्षिण देश के अरण्यों में निकाल दिया +। आगे चलकर इस प्रथा ने और भी अधिक उग्र रूप धारण किया। नहुष के पुत्र ययाति ने अपने पाँचों पुत्रों में से तुर्वसु से युवा अवस्था माँगी, पर उसने देने से इनकार कर दिया। इससे पिता ने नाराज़ होकर उसको सपरिवार जातिभ्रष्ट करके जहाँ अगम्यगामी, मांसाहारी और पशुवृत्तिवाले म्लेच्छ रहते थे, उस दक्षिण दिशा में हँकाल दिया ×। ये घटनाएँ क्षत्रियों में हुईं।

इसी तरह ब्राह्मणों में भी जातिबहिष्कार हुआ। महर्षि विश्वामित्रजी ने कहीं से एक लड़का प्राप्त किया और उसे अपने सौ पुत्रों में सबसे मुख्य ठहराया। किन्तु पचास लड़कों ने पिता की इस आज्ञा को मानने से इनकार कर दिया, इसलिए द्विजदेव विश्वामित्र महाराज ने क्रोधित होकर उन्हें दक्षिण के जंगल में निकाल दिया। वही सब आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द आदि राक्षस हो गये *। यह ब्राह्मणों का हाल हुआ।

वैश्यों का हाल इससे भी आधिक विचित्र है। कहते हैं कि अति प्राचीन काल में आर्यलोग लोभी वणिक् को 'पणिक्' कहते थे। वणिक, पणिक या पणि लोभी होते ही हैं। अतः आर्य जनता इन पर भी नाराज़ हुई और विवश होकर इनको भी उसी दक्षिण दिशा में जाना पड़ा। इस प्रकार से आर्यों द्वारा पृथक् की हुई, यह समस्त टोली दक्षिणी प्रांत से भारत के अन्य सीमाप्रांतों में जा जाकर आबाद हुई। पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण में ये जातियाँ बसीं, बढ़ीं और पुष्ट होकर आर्यों से लड़ीं, तथा परास्त हो होकर अन्य अन्य देशों को चली गईं। आन्ध्र लोग आन्ध्रालय अर्थात् आस्ट्रेलिया को गये, झल्ल लोग अफ़रीका में जाकर जूलू हो गये, चीनी लोग चीन में जाकर बसे और किरात बलूचिस्तान में बस गये। नट, कंजर, बेड़िया आदि बहुत सी जातियाँ इसी देश के जंगलों में रह गईं। इसी तरह अन्य पतित जातियाँ भी पृथिवी के अन्य अन्य भागों में जाकर बसीं और अपने अपने नामों से उन उन देशों का नाम रखकर बहुत दिन के बाद स्वयं उस उस नाम से प्रसिद्ध हो गईं। अति प्राचीन काल में सबसे प्रथम जो जातियाँ भारत से निकलीं जाकर अन्य अन्य भूभागों में जा जाकर बसी हैं, उनका यह दिग्दर्शन मात्र है।

इनके अतिरिक्त व्यापार करने के लिए, धर्मोपदेश करने के लिए और शासन, सभ्यता और आचार प्रचार करने के लिए भी कई बार यहाँ से आर्य लोग पूर्वोक्त देशों तथा अन्य अन्य भूभागों में जाकर बसे हैं। उन सब का वर्णन अगले पृष्ठों में विस्तारपूर्वक किया जायगा पर यह स्मरण रखना चाहिये कि चीन, यवन और शक आदि शब्द विदेशी नहीं, किन्तु भारती हैं और बहुत पुराने हैं। चीन शब्द के विषय में प्रो० हीरन कहते हैं कि चीन शब्द हिन्दुओं का है और हिन्दुस्थान से ही आया है।' पञ्चतन्त्र की एक कथा में लिखा है कि एक

+ शकाः यवनकाम्बोजाः पारदाः पह्लवास्तथा। कौलिसर्पाः समहिषा दार्वाश्चोलाः सकेरलाः।
सर्वे ते क्षत्रियास्तात धर्मस्तेषां निराकृतः। वसिष्ठवचनाद्राजन् सगरेण महात्मना। (महाभारत)

× यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयस्स्वं न प्रयच्छसि। तस्मात् प्रजासमुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति।
संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च। पिशिताशुशिजात्येषु मूढराजा भाविष्यति।
गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्यग्योनिगतेषु च। पशुधर्मिषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि। (महाभारत)

* तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः। पंचाशदेव ज्यायांसो मधुच्छंदसः। पञ्चाशत्कनीयांसस्तत् ये ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे। ताननु व्याजहारं तान्वः प्रजाभक्षीष्टेति। त एतेऽन्ध्राः पुंड्राः शबराः पुलिंद्राः मुतिवा इत्युदंत्या बहवो भवंति। विश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः। (ऐतरेय ब्राह्मण ७।४।१८)

७

कौलिक विष्णुरूप धारण करके किसी राजकन्या के पास जाया करता था। वहाँ उस कन्या के सर्वाङ्गसुन्दर वर्णन में 'चीना नाभिः' लिखा हुआ है। यहाँ चीना शब्द का अर्थ गहरा है। अमरकोश में मृगों का भेद वर्णन करते हुए एक प्रकार के मृग को भी चीन कहा गया है। इन प्रमाणों से मालूम होता है कि चीन शब्द के असली अर्थों के कारण ही– गहराई में रहने और तेज़ तबीयत होने से ही– चीनवालों को चीनी कहा गया है। इसी तरह यवन शब्द भी पुराना है। पुराणों में 'तुर्वसो यवना जाताः'। अर्थात् तुर्वसु से यवन पैदा हुए, लिखा है। तुर्वसु ययाति का पुत्र था। इससे ज्ञात होता है कि यवन शब्द भी नवीन नहीं है। इस शब्द के विषय में स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि मिश्र और बेबिलनवाले भी बहुत समय पूर्व, शक ग्रीक लोगों को यवन ही कहते थे। शक भी पुराना शब्द है। 'नरिष्यन्तः शकाः पुत्राः' वाक्य से प्रकट होता है कि शक इक्ष्वाकु का पौत्र था। शक इतना पुराना शब्द है कि यह ऋग्वेद में भी आया है। कहने का मतलब यह कि आर्यों ने अपने अन्दर से जिन पतित आर्यों को निकालकर दस्यु, राक्षस आदि कहा है और चीनी, यवन, शक आदि शब्दों से पुकारा है, वे शब्द आर्यों के पास आदिम काल में भी उपस्थित थे और उनका कुछ अर्थ था। उसी अर्थ के अनुसार जिनमें जैसे गुण देखे, उनके वैसे ही नाम रख दिये और उन्होंने भी वे नाम अपने साथ ले जाकर अपने नवीन देशों के भी वही नाम रक्खे और स्वयं भी अब तक उन्हीं नाम को स्वीकार किये हुए हैं।

आर्यों का विदेशगमन।

पश्चिम एशिया।

भारत से पश्चिम की ओर सबसे प्रथम अफ़रीदी, काबुली और बलूचीयों के देश आते हैं। इन देशों में इसलाम प्रचार के पूर्व आर्य ही निवास करते थे। यहीं पर गान्धार था। जहाँ की गान्धारी राजा धृतराष्ट्र की रानी थी। गान्धार को इस समय कन्धार कहते हैं, जिसका अपभ्रंश कन्दार और खन्धार भी है। इसी के पास राजा गजसिंह का बसाया हुआ ग़ज़नी नगर अब तक विद्यमान है। काबुल में जो पठान जाति रहती है, वह प्रतिष्ठान (झूसी) राजधानी की रहनेवाली चन्द्रवंशी क्षत्री जाति है। झूसी से आकर पहिले यह सरहद (फ्रंटियर) में बसी और वहाँ इसने प्रजासत्ताक शासनपद्धति स्थापित की। प्रजासत्ताक शासनपद्धति को उस समय गणराज्य कहते थे। अफ़रीदी लोग उस समय के गण लोग ही हैं। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने महाभारतमीमांसा नामी ग्रन्थ में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। आप कहते हैं कि "महाभारत में लिखा है कि 'गणान् उत्सवसंकेतान् दस्यून् पर्वतवासिनः। अजयन् सप्त पाण्डवाः' अर्थात् सप्त गणों को पाण्डवों ने जीत लिया। इन्हीं गणों ने आगे बढ़कर 'उपगण' या 'अपगण' राज्य स्थापित किया। इसी को इस समय अफ़ग़ान कहते हैं और उनके स्थान का नाम अफ़ग़ानिस्तान है। इसका असली उच्चार 'उपगणस्थान' है। यह पहिले गणराज्य का मातहत था। ये गण (अफ़रीदी) आर्यों से द्वेष रखने के कारण ही आर्यों के शासन से अलग रहते थे। इसी तरह बलूचिस्तान भी बलोच्चस्थान शब्द का अपभ्रंश है। इसमें केलात नामक नगर अब तक विद्यमान है। यह केलात तब का है, जब किरात नामी पतित आर्य क्षत्री यहाँ आकर बसे थे। ये क्षत्री होने से ही बल में उच्च स्थान प्राप्त कर सके थे। मनुस्मृति में जहाँ अन्य पतित क्षत्रियों के नाम गिनाये गये हैं, वहाँ 'किराताः यवनाः शकाः' कहकर किरात भी गिनाये गये हैं। हम आगे विस्तारपूर्वक इनका वर्णन करेंगे और दिखलावेंगे कि ये किरात नैपाल और भूटान आदि में जाकर मङ्गोलिया जाति के मूल पुरुष भी बने हैं।

अफ़ग़ानिस्तान के आगे ईरान है, जिसको पारश्य देश भी कहते हैं। यहाँ पहिले वह जाति आबाद थी, जो आजकल हिन्दुस्थान में पारसी नाम से प्रसिद्ध है। यह जाति अति प्राचीन काल में ही आर्यों से जुदा होकर ईरान में आबाद हुई थी। मैक्समूलर कहते हैं कि "यह बात भौगोलिक प्रमाणों से सिद्ध है कि पारसी लोग फारस में आबाद होने के पहले भारत में आबाद थे।

उत्तर भारत से जाकर ही पारसियों ने ईरान में उपनिवेश बसाया था'। वे अपने साथ यहाँ की नदियों के नाम ले गये। उन्होंने सरस्वती के स्थान में 'हरहवती' और सरयू के स्थान में 'हरयू' नाम रक्खा। वे अपने साथ शहरों के भी नाम ले गये। उन्होंने भरत को 'फरत' किया और वही फरत 'यूफ़रत' हो गया। उन्होंने भूपाल (न) को बेबिलन और काशी को कास्सी (Cassoci) तथा आर्यन को ईरान नाम से भी प्रसिद्ध किया। इस वर्णन से ज्ञात हुआ कि पारसी भी भारती आर्यों की ही शाखा है।

ईरान के पास ही अरब है। वैदिक भाषा में अर्वन् घोड़े को कहते हैं और जिस जगह घोड़े रहते हैं, उस स्थान को अर्व कहते हैं। जिस प्रकार गौओं के बड़े चरागाह को व्रज और भेड़ बकरीवाले देश को गन्धार कहते हैं, उसी तरह जहाँ अच्छी जाति के घोड़े रहते हैं, उसको अर्व कहते हैं। अब भी अरबी घोड़ा सर्वोपरि समझा जाता है। उत्तम घोड़े उत्पन्न होने से ही आर्यों ने इस देश का नाम अर्व रक्खा था। स्मृतियों के पढ़नेवाले जानते हैं कि आर्यों से उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति को 'शैख' कहते हैं। यह संकरजाति ब्राह्मण के योग से उत्पन्न होती है ×। मालूम होता है वही शैखजाति अरब में बसकर शेख हो गई है। क्योंकि शेखों का अरब में वही मान है, जो भारत में ब्राह्मणों का है। यह प्रसिद्ध बात है कि मुसलमान होने के पहिले वहाँ के निवासी अपने को ब्राह्मण ही कहते थे। अरब से ही रामानुज सम्प्रदाय का मूल प्रचारक यवनाचार्य बहुत करके यहाँ नवीं शताब्दी में आया था। क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य का जन्म हुआ है। इनके दो सौ वर्ष पूर्व मद्रास प्रान्त में शूद्र जाति पर महान् अत्याचार था। उसी समय इस अरबदेशनिवासी ब्राह्मणकुलोत्पन्न दयालु यवनाचार्य का आना हुआ। उस समय वहाँ महात्मा शटकोप आदि आन्दोलनकर्ताओं को यवनाचार्य ने मदद दी।

'एशियाटिक रिसर्चेज़' भाग १० में 'विलफोर्ड' नामी विद्वान्लिखित एक निबन्ध छपा है। उसमें लिखा है कि 'यवनाचार्य का जन्म अरबदेश के एक ब्राह्मणकुल में हुआ था और अलेक्ज़ेंड्रिया के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में उन्होंने शिक्षा पाई थी'। अरब में अब तक बहुत से आर्य निवास करते हैं, पर उनका आचार यहाँ के हिंदुओं का सा नहीं है। जर्मन युद्ध के समय यहाँ के कई फ़ौजी सिपाही बग़दाद, बसरा और मेसोपोटामिया आदि में रहकर यहाँ वे आये हैं। बतलाते हैं कि वहाँ अब तक पुराने हिन्दुओं के चिह्न पाये जाते हैं। इन घटनाओं से अच्छी तरह सिद्ध होता है कि अरबनिवासी आर्य ही हैं। इस अरब से आगे चलने के पूर्व, हम उन स्थानोंके प्राचीन नाम और पते बतला देना चाहते हैं, जिनका इस समय एशिया माइनर या नियर ईस्ट में समावेश होता है। आजकल के नक़शे के अनुसार फ़ारस, मेडिटेरेनियन समुद्र, अरब और मसोपोटामिया को सब जानते हैं। इसलिए नीचे लिखे देशों की कल्पना कर लेना सहज होगा। फ़िनीशिया पश्चिमी एशिया में मेडिटेरेनियन समुद्र के किनारे पर है। सीरिया देश फ़िनीशिया से मिला हुआ पूर्व की तरफ़ है। बेबिलोनिया सीरिया के दक्षिण, फ़ारिस के पश्चिम और अरब के उत्तर है। चालडिया भी इसी के पास है। जुडिया को सीरिया भी कहत हैं, वह भी यहीं पर है और मेसोपोटामिया असीरिया के पश्चिम में है। इन देशों के निवासियों का परिचय इस प्रकार है—

फ़िनीशिया प्रदेश मेडिटेरेनियन समुद्र के किनारे पर स्थित है। पूर्व पृष्ठों में हम आर्यजाति के वैश्यवर्णान्तर्गत पणि नामक आसुरी वृत्तिवाले बनियों का वर्णन कर आये हैं। वैदिक भाषा में वैश्यधर्ण के बदमाश, ठग, धोखेबाज़ और धनलोलुप गिरोह को पणि कहते हैं। ये पणि आर्यों द्वारा निकाल दिये गये और दक्षिण प्रदेश में एक अच्छा बाज़ार बनाकर बस गये। इस बज़ार को लोग पण्य कहते थे। कुछ दिन में यही पण्य पाण्ड्य कहलाने लगा और इन्हीं पणियों के नाम से पाण्ड्य प्रदेश क़ायम हो गया +।

× व्रात्यस्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः। आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च॥ (मनु)

+ पणियों के लिए ऋग्वेद ७।६।३ में लिखा है कि 'अक्रतून् ग्रथिनः मृध्रवाचः अश्रद्धान् पणीन्' अर्थात् गाँठ काटनेवाले पाकेटमार पणि।

इन्हीं की एक दूसरी शाखा चोर होने के कारण इनसे भिन्न स्थान में बसी और 'चोल' कहलाने लगी। इसी के नाम से चोल प्रदेश प्रसिद्ध हुआ। ये पाण्ड्य और चोल दोनों प्रदेश मद्रास प्रान्त में अब तक विद्यमान हैं। ये पणि लोभी थे और बहुत बड़े व्यापारी थे। जहाज़ बनाना भी जानते थे। मद्रास प्रान्त में सागवन की लकडी अधिक थी ही। अतः उसके जहाज़ बना बनाकर ये पणि दूर देशों को रवाना हुए और पश्चिमी एशिया में मेडिटेरेनियन समुद्र के किनारे पर आबाद हुए।

जिस प्रकार इनके नाम से यहाँ पाण्ड्य और चोल प्रदेश प्रसिद्ध हुए थे, उसी तरह पणियों से फ़िनीशिया और चोलों से चाल्डिया देशों के नाम भी प्रसिद्ध हो गये। फ़िनीशियावाले पणि अथवा पणिक ही हैं, इस में सन्देह नहीं है। क्योंकि बेबिलोनियावालों के मूल पुरुषों के विषय में 'हिस्टोरिकल हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड' में लिखा है कि 'बेबिलोनियावालों के वायु देवता का नाम 'मतु' या 'मर्तु' है। यह हमें वैदिक शब्द 'मरुत्' ही प्रतीत होता है। यह पणियों और चोलों के द्वारा ही बेबिलोनियामें लाया गया है'। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि पणियों का चोलों के साथ सम्बन्ध है और यह भी निश्चय हो गया कि इन्होंने ही बेबिलोनिया को भी आबाद किया था। राजनिघण्टु में लिखा है कि **'वैशस्तु व्यवहर्ता विट् वार्तिकः पणिको वणिक्'** अर्थात् व्यवहर्ता, विट, वार्तिक, पणिक और वणिक वैश्य के ही भेद हैं। इस प्रमाण से सुलझ गया कि वे आर्य ही हैं। इसके अतिरिक्त तिलक महोदय ने लिखा है कि वैदिक 'मना' और फ़िनीशिया का 'मनह' शब्द एक ही है और वहाँ भारत से ही गया है। मन के लिए ऋग्वेद ८।७८। २ में आया है कि **'आ नो भर व्यंजनं गामश्व-मभ्यञ्जनम्। सचा मना हिरण्यया'**। यह मन वज़न के लिए काम में आता था और अब भी आता है। इसको लेटिन में मिन, ग्रीक में मिना, बेबिलोनियन में मि[illegible] और वर्तमान अँगरेज़ी में माउण्ड कहते हैं'। इसी तरह फ़िनीशिया की भाषा में ऊँट को जिमल कहते हैं। वही अँगरेज़ी में केमल कहलाता है। यह संस्कृत के क्रमेलक शब्द का ही अपभ्रंश है। क्रमेलक का कमेलक और कमेलक का केमल तथा केमल का जिमल हो गया है×। परन्तु यह अफ़रीका का प्राणी नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि ऊँट और उसका वाचक शब्द दोनों भारतसे ही गये हैं और इनके ले जानेवाले पणिक ही हैं।

इन समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पणि और चोल ही फ़िनीशिया और चाल्डिया में आबाद हुए। इस समस्त वर्णन का सारांश यह है, कि आदि में वैश्यों से पणि हुए और वही पणिक हो गये। उन्होंने ही दक्षिण में जाकर पण्य अर्थात् पाण्ड्य नाम का बाज़ार बसाया, जो कुछ दिन में उसी नाम का व्यापारी प्रदेश हो गया। इसी तरह अपने पड़ोस में चोलों-गांठ काटनेवालों- को भी चोल प्रदेश में आबाद किया। वहां से ये लोग पश्चिम दिशा को गये और वहाँ पाण्ड्यों ने प्यूनिक या फ्यूनिक देश बसाया, जो अब फ़िनीशिया कहलाता है और चोलों ने चाल्डिया बसाया, जो बहुत दिन तक इस देश के साथ व्यापार करता रहा। इस तरह से आर्य लोग अपनी आर्यसभ्यता के साथ पूर्व से पश्चिम में पहुँचे।

अभी ऊपर हमने तिलक महोदय के जिस निबन्ध का प्रमाण दिया है, उसमें उन्होंने अथर्ववेद और चाल्डियन वेद के कई शब्दों का मिलान करके बतलाया है, कि दोनों की भाषा एक दूसरे से मिलती है। इस मिलान का नमूना इस प्रकार है—

संस्कृत	चाल्डियन	अर्थ
सिनीवालि	सिनबुब्बुलि	अमावास्या
अप्सु	अब्जु (जु–अब)	पानी
यह्व ॐ	यहवे	महान्

× फ़िनीशिया लिपि के अबजद का 'जीम' ऊँट के ही आकार का है। इस जीम को पहिले फ़िनीशिया भाषामें जिमल (ऊँट) कहते थे। क्योंकि यह अक्षर ऊँट से ही लिया गया है। अबजद का अँगरेज़ी में 'A B C D' (अबसद) हुआ है। परन्तु 'सी' का उच्चारण 'क' भी होता है। इसलिए जिमल का केमल हुआ है।

ॐ यह शब्द ऋग्वेद ९–७५–१; ३–१–१२ और ८–१३–२४ में 'महान्' अर्थ में आया है और ज़ेन्द में यही 'यज़ु' हुआ है। हज़रत मूसा का जिहोवा शब्द इसीसे निकला है। ग्रिफ़िथ ने इसका अर्थ 'Lord' किया है।

ऋतु	इतु	मौसिम
परसु	पिलक्कु, बलगु ×	शस्त्र
अलिगीविलगी ※	विलगी ※	सर्पदेव
तैमात	तिआमत +	देवता
उरुगुला	उरुगुल +	देवता

इस शब्दसाम्य के अतिरिक्त, चालिडया की डैल्यूज़ टेबलेट अर्थात् मनु के तूफ़ान की कथा भी ज्यों की त्यों यहाँ के अनुसार ही लिखी हुई मिलती है। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि वे आर्य ही हैं। हम अभी फ़िनीशियावालों के वर्णन के साथ लिख आये हैं, कि बेबिलोनिया में पणियों और चोलों ने ही उपनिवेश बसाया था। ये चाल्डियन उन चोलों के अतिरिक्त और कोई दूसरे नहीं हैं, जो आर्यों से जुदा होकर पहिले चोल देश में बसे थे। इसलिए चाल्डियानिवासी भी भारतवासी आर्य ही हैं।

जुडिया यहूदियों का देश है। इसी में हज़रत मूसा और हज़रत ईसा जैसे जगत्प्रसिद्ध धर्माचार्य उत्पन्न हुए हैं। बाइबल में लिखा है कि पश्चिम में आनेवालों की एक ही भाषा थी और वे सब पूर्व ही से आये हैं। इनके विषय में पोकाक नामी विद्वान् अपने 'इण्डिया इन् ग्रीस' नामी ग्रंथ में लिखता है, कि युडा (जुडा) जाति भारत की यदु अर्थात् यदुवंशीय क्षत्रिय जाति ही है। इसके अतिरिक्त अभी हमने तिलक महोदयके लिखित शब्दसाम्य के हवाले से दिखलाया है कि यहूदियों का यहोवा शब्द संस्कृत के यह्व शब्द का ही अपभ्रंश है। बाबू उमेशचंद्र विद्यारत्न कहते हैं कि ज्यू शब्द संस्कृत का ही है। आप मेदिनी कोष का यह वचन उद्धृत करते हैं कि '**जूराकाशे सरस्वत्यां पिशाचे यवनेऽपि च।**' अर्थात् 'जू' शब्द यवन शब्द का ही अपभ्रंश है। 'मानवेर आदि जन्मभूमि' पृष्ठ ३ में आप कहते हैं कि 'राजा सगर की आज्ञा से यवनों ने जिस पल्ली स्थान में निवास किया था, वही पेलेस्टाइन हो गया है और यवन शब्द का ही विकार (यवन-जोन) 'जू' है' ※। इस वर्णन से सिद्ध होता है कि यदुवंशी क्षत्री ही राजा सगर के द्वारा यवन करके निकाले गये, जो पेलेस्टाइन में बसे। यही बात बाइबल और पोकाक के वचनों से भी सिद्ध होती है। बाइबल का नूह का वर्णन भी मनु के तूफ़ान की ही सूचना देता है। अतएव यहूदियों के आर्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि वे भारत से ही जाकर वहाँ बसे हैं।

हम फ़िनिशिया के वर्णन में ऊपर लिख आये हैं कि बेबिलोनियावालों का वायु देवता जिसको वे मतु या मर्तु कहते हैं, वह वैदिक आर्यों का 'मरुत्' ही है। यह पणियों और चोलों के द्वारा बेबिलोनिया में गया है। अतः सिद्ध है कि पणिक और चोल ही फ़िनीशिया और चाल्डिया से जाकर बेबिलोनिया में आबाद हुए हैं। ए० बेरीडल कीथ महोदय कहते हैं कि 'ख़ास ध्यान देने योग्य शब्द 'सूरिआस' है, जो इनमें सूर्य के ही अर्थ में बोला जाता है' और ई० मेयरसाहब ने मान लिया है कि यह 'सूरिआस' वैदिक 'सूर्या (स) ही है।' यह सूरिआस शब्द बिलकुल ही 'सूर्याः' का रूप है। क्योंकि विसर्ग का उच्चारण सकार ही होता है। इसके अतिरिक्त बेबिलोनियां की एक बहुत पुरानी फ़ेहरिस्त में सिन्धु नामक बारीक मलमल का नाम आता है। बेबिलन में इस सिन्धु शब्द का कुछ भी अर्थ नहीं है। जिस तरह कालीकट ग्राम से जाने के कारण योरप में एक छीट का नाम केलिको प्रसिद्ध है, उसी तरह सिन्धु हैदराबाद से जाने के कारण इस वस्त्र का भी सिन्धु नाम हो गया था। यही सिन्धु वस्त्र पुरानी बाइबल में सेडिन् (Sadin), ग्रीक में सिण्डम् (Sindam) कहा गया है और अब अँगरेज़ी में साटिन् (Satin)

× 'पिलक्कु' अकेडियन और 'बलगु' सुमेरियन भाषा का है।

※ यह शब्द अथर्ववेद ५-१३-१७ में आया है।

※ यह शब्द असीरियन भाषा का है।

+ ये शब्द अकेडियन भाषा के हैं।

※ सगर आदेशे हिंदू यवनगन प्रथमतः ये पल्लीस्थानेर प्रतिष्ठा करेन, ताहा Palastine बलिया प्रख्यात हय एवं उक्त यवनगन, यवन शब्देर विकार (यवन-जोन-जू) क्रमे 'जू' नामे प्रख्यात लाभ करेन। (मानवेर आदि जन्मभूमि)

नाम से बाज़ारों में बिकता है ।

कहने का मतलब यह कि इन वर्णनोंसे यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि पूर्वातिपूर्व काल में इस देश के साथ बेबिलन का घनिष्ठ सम्बन्ध था और सिन्धु नामक वस्त्र अपने नाम के साथ वहाँ पहुँचता था। हम जिन चोलों का वर्णन पहिले कर आये हैं, वे दक्षिण से सागौन की लकड़ी भी अपने नवीन देशों में ले जाया करते थे । अभी कुछ रोज़ हुए मुंघेर के खण्डहरों से पाँच हज़ार वर्ष की पुरानी सागौन की लकड़ी का टुकड़ा मिला है । बेबिलोनिया के प्रथम बादशाह की बनवाई हुई इमारत से इस टुकड़े का प्राप्त होना यह सूचित करता है कि ये निस्सन्देह भारतवासी ही हैं- आर्य ही हैं और दक्षिण के पाण्ड्य और चोल से ही यहाँ जाकर अपने वंश और सभ्यता का विस्तार किया है ।

असीरिया में भी आर्यों का ही निवास था। ए० बेरीडेल कीथ ने वहाँ के सुवरदत्त, जशदत्त और सुबन्धि आदि राजाओं के नामों से सिद्ध किया है कि वे आर्य ही थे। इन देशों के निवासियों को आर्य लोग असुर कहा करते थे । इसीलिए ये सदैव अपने नाम के साथ असुर शब्द का प्रयोग करते रहे हैं । प्रसिद्ध बादशाह असुर नासिरपाल और असुर वाणीपाल इस बात के उदाहरण हैं । इनके नाम असुर शब्द के साथ आर्यभाषा के ही हैं । हमने आरम्भ में ही कहा था कि आर्यों ने जिन गुणदोषों के सूचित करनेवाले नामों को रखकर दुष्ट आर्यों को अपने से अलग किया था, वे नाम उन्होंने भी क़ायम रक्खे थे। तथा उन्हीं नामों से अपने देशों को भी प्रसिद्ध किया था। जैसे **चीना से चीन, आन्ध्र से आन्ध्रालय (आस्ट्रेलिया)** आदि । कहने का मतलब यह कि असीरियानिवासी भी आर्य ही हैं और भारत से ही जाकर वहाँ बसे हैं।

मेसोपोटामिआवाले भी आर्य ही हैं। इनके विषय में ए० बेरीडल कीथने लिखा है कि दसरथ नाम का मितानी राजा इजिप्ट के एक राजा का साला था। यह आर्य था और ई० सन् के १३००-१४०० वर्ष पूर्व राज्य करता था। इसी प्रकार मितानियों के दूसरे राजा का हरितान भी आर्यों का ही सिद्ध होता है। अभी हाल में मेसोपोटामिया के पुराने मकानों की खुदाई से मिट्टी की पकी हुई लिखित ईंटें प्राप्त हुई हैं, उन ईंटों में **मितानी और हिट्टाई राजाओंका इक़रारनामा लिखा हुआ मिला है, जिसमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य आदि वैदिक देवताओंके नाम लिखे हुए हैं।** इस घटना से बिलकुल ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि ये दोनों जातियाँ आर्य ही थीं। क्योंकि हिटी (Hittite) लोगों के लिए अब सिद्ध हो गया है कि वे क्षत्री थे। क्षत्री का ही अपभ्रंश 'खत्ती' है। जिस प्रकार पंजाब के रहनेवाले खत्री अपनी उत्पत्ति क्षात्रियों से ही बतलाते हैं, उसी तरह ये खत्ती भी जो इस समय हिट्टी (Hittite) लिखे जाते हैं, क्षत्री ही हैं।

इस प्रकार से हमने यहाँ तक एशिया माइनर के तमाम प्राचीन देशों को देखा, तो मालूम हुआ कि वहाँ प्राचीन काल में ही आर्यजाति जाकर आबाद हुई है और उसी ने अपनी सभ्यता का वहाँ प्रचार किया है । यही थोड़ासा पश्चिमी एशिया में आदिकालीन आर्यों के गमन का इतिहास है।

उत्तरी एशिया ।

हम आरम्भ में लिख आये हैं कि किरात लोग पतित क्षत्री हैं। ये दो भागों में बँट गये थे। एक दल बलूचिस्तान में जाकर बसा और दूसरा हिमालय पर जाकर बसा। हम अभी पहिले दल का वर्णन कर आये हैं। अब दूसरे दल का वर्णन करते हैं। नैपाल में जितने

× एशिया माइनर के बग़ज़कोई (Baghazkoi) स्थान पर हिटीशिया (Hetitia) के बादशाह सुब्बिलुलिउमा (Subbiluliuma) और मितानी (Mitai-Modern Mesopotamea) के बादशाह मुट्टीवुज़ (Muttivuza) के बीच के (ई० सन् पूर्व १४०० के) कुछ सन्धिपत्र मिले हैं, जिनमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य आदि वैदिक देवताओं की वन्दना की गई है। (रॉयल एशियाटिक सोसाइटी का सन् १९१० का जर्नल पृ० ७२१ और ४५६)

ब्राह्मण बसते हैं, सब कान्यकुब्ज हैं और जितने क्षत्री हैं, सब रामचन्द्र के वंशज सूर्यवंशी हैं। कहा जाता है कि इनका सम्बन्ध महाराणा उदयपुर से है। इसलिए इनके आर्य होने में तो कोई शंका ही नहीं है। किन्तु नैपाल में एक चपटे चेहरेवाली मंगोलियन जाति भी रहती है। यह जाति अति प्राचीन काल में आर्यों की ही एक शाखा थी। परन्तु यह दीर्घातिदीर्घ काल पूर्व ही आर्यों से पृथक् होकर चीना नामक हिमालय के उत्तर ओरवाली गहराई में बस गई थी, इसलिए अब उसके आकार, रंग और भाषा आदि में बहुत अन्तर आ गया है। बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने लिखा है कि किरात लोग नैपाल के उत्तर-पश्चिम में बसते थे और पतित क्षत्री थे और हमने बतलाया है कि चीना हिमालय के नीचे उत्तर-पूर्व में रहते थे और ये भी क्षत्री ही थे। इन्हीं दोनों के मेल से मंगोलिया जाति के पूर्वजों की उत्पत्ति हुई है। यही नैपालनिवासी चपटे मुँहवाली जाति है। यही जाति मंगोलियन विभाग की जननी है। उमेश बाबू कहते हैं कि इस नवीन जाति का रंग वाल्मीकि रामायण में सुवर्ण का सा लिखा है। जिस समय की यह बात है, उस समय जिस प्रकार ज़रा साँवले रंगवाले श्याम और श्यामा बड़े सुन्दर समझे जाते थे, उसी तरह ये पीत अर्थात् सुवर्ण के से रंगवाले भी बहुत उत्तम समझे जाते थे। महाभारत-मीमांसा में रावबहादुर चिन्तामणी विनायक वैद्य ने महाभारत के प्रमाणों से लिखा है कि कौरवपांडव की गौरवर्ण स्त्रियों का रंग तप्त सुवर्ण का सा था। यह उस समयके रंगकी खूबी का बयान है। दक्षिणके गुजराती और महाराष्ट्र आदिकों का भी प्रायः यही रंग है। वे न तो सफ़ेद हैं और न सुर्खीमालय ही हैं। आदिम काल में आर्यों ने ज़रा साँवले और ज़रा पीले रंगको ही अपने मन में उत्तम समझा था, इसीलिए माताओं के संस्कार प्रबल हुए और अधिक प्रजा इसी रंग की हो गई। हम देखते हैं कि नैपाल में बसनेवालों का भी प्रायः यही रंग है। वहाँ चपटे चेहरे और पीतवर्णवालों में कुछ ताम्रवर्णके श्याम लोग भी पाये जाते हैं। अभी हमने जिस श्याम रंग का वर्णन किया है, ये लोग उसी रुचि के परिणाम हैं। कहने का मतलब यह है कि ये चपटे चेहरे और पीले तथा श्याम रंगवाले मंगोलियन आर्योंसे भिन्न किसी अन्य जाति के मनुष्य नहीं हैं।

नैपाल से आगे हिमालय के नीचे रूसी तुर्किस्थान है। वहाँ बहुत पूर्व काल से आर्यों का निवास है। इसके आगे बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने आर्यों का मूल वतन मंगोलिया के अलताई पहाड़ पर सिद्ध करने के लिए 'मानवेर आदि जन्मभूमि' नामक ग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ के पढ़ने से अधिक तो नहीं, पर इतना अवश्य भासित होता है, कि पूर्वातिपूर्वकाल में आर्यलोग अलताई अर्थात् इलावृत में रहते थे और यह अलताई शब्द इलावृत का ही अपभ्रंश है। 'मानवेर आदि जन्मभूमि' पृष्ठ ११९ में वायुपुराण अध्याय ३८ के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिनसे ऊपर की बात पुष्ट होती है। उनमें से दो श्लोक ये हैं—

वेद्यर्द्धे दक्षिणे त्रीणि त्रीणि वर्षाणि चोत्तरे।
तयोर्मध्ये तु विज्ञेयं मेरुमध्यमिलावृतम् ॥
तत्र देवगणाः सर्वे गन्धर्वोरगराक्षसाः।
शैलराज्ये प्रमोदन्ते शुभाश्चाप्सरसाङ्गनाः॥

अर्थात् इलावृतवर्ष के दक्षिण हरिवर्ष, किम्पुरुषवर्ष और भारतवर्ष ये तीन वर्ष हैं और उत्तर की ओर रम्यकवर्ष, हिरण्यवर्ष और उत्तरकुरुवर्ष ये तीन वर्ष हैं। इनके बीच में इलावृतवर्ष है। इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि मंगोलिया में आर्यलोगों ने ही अपना उपनिवेश बसाया था।

सिथिया देश किसी समय भारत से निकाले हुए शक नामी पतित क्षत्रियों द्वारा बसाया गया था। इन शकों के विषय में पुराणकार लिखते हैं कि—

इक्ष्वाकुश्चैव नाभागो धृष्टः शर्यातिरेव च।
नरिष्यन्तश्च विख्यातो नाभानेदिष्ठ एव हि॥
करुषश्च पृषध्रश्च वसुमान् लोकविश्रुतः।
मनोर्वैवस्वतस्यैते नव पुत्राश्च धार्मिकाः॥
(विष्णुपुराण)

अर्थात् वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, नाभानेदिष्ठ, करुष, पृषध्र, वसुमान् और नरिष्यन्त ये नव पुत्र थे। हरिवंश अध्याय १०, श्लोक २८ में लिखा है कि—

नरिष्यन्तः शकाः पुत्रा नाभागस्य तु भारत।
अम्बरीषोऽभवत् पुत्रः पार्थिवर्षभसत्तमः॥
(हरिवंश)

अर्थात् नरिष्यन्त के पुत्रों का ही नाम शक है। इन शकों को राजा सगर ने 'अर्धमुण्डान् शकान्' (विष्णु-पुराण अं० ४, अ० ३, श्लोक २१), अर्थात् आधा शिर मुंडवाकर निकाल दिया था। यही लोग सिथिया (जिसको शकावस्था कहना चाहिए) में जाकर बस गये। इसलिए इनके आर्य होने में कोई सन्देह नहीं है।

उत्तर कुरुप्रदेश साइबीरिया से लेकर आगे तक है। इसके विषय में वायुपुराण अध्याय ८५ के ये श्लोक पढ़ने लायक हैं। वहाँ लिखा है कि--

उत्तरस्य समुद्रस्य समुद्रान्ते च दक्षिणे।
कुरवस्तत्र तद्वर्षं पुण्यं सिद्धानिसेवितम्।
देवलोकात् च्युतास्तत्र जायन्ते मानवाः शुभाः।

अर्थात् उत्तर महासमुद्रके दक्षिण किनारे पर अति पवित्र उत्तरकुरुवर्ष है, जहाँ देवलोक से गये हुए उत्तम पुरुष निवास करते हैं। यह देवलोक हिमालय के सिवा और कुछ नहीं है। आर्यलोग हिमालय से जाकर उत्तर समुद्र अर्थात् शीतकटिबंध के इस पार तक और साइबीरिया के उस पार तक कुरु देश में निवास करते थे। जिस प्रकार भारत में कुरुक्षेत्र था, उसी प्रकार उतनी दूर जाने पर भी उन्होंने कुरु नाम से ही उस देश को सम्बोधित किया था। आर्य लोग सदैव ही अपने साथ अपने अपने स्थानों के नाम ले गये हैं। उसी तरह उत्तरकुरु का नाम भी कुरु शब्द से ही रक्खा गया है।

यहाँ तक हमने एशिया की उत्तरी सीमा को देखा, तो वहाँ सर्वत्र आर्यजनता को ही भारत से जा जाकर बसते हुए पाया। परन्तु उत्तर कुरु से आगे जहाँ ध्रुवप्रदेश है, वहाँ आर्यलोग कभी नहीं जाते थे। वहाँ उनको यज्ञयाग करने का सुभीता नहीं था। वहाँ महा विकट अँधेरा था और वह आसुरी भूमि आर्य स्वभाववालों के लिए अनुकूल नहीं थी। यही कारण है कि सुग्रीव ने वानरों को उत्तर तरफ़ रवाना करते समय कह दिया था कि तुम लोग उत्तरध्रुव में मत जाना। यह वैदिक आदेश था। क्योंकि वेदों में दीर्घरात्रि और उस रात्रि में पड़े हुए रोनेवालों के अलङ्कार से उपदेश दे दिया गया है कि वहाँ किसी को न जाना चाहिए। परन्तु वहाँ एक 'Navya Zimala' अर्थात् नव्य हिमालय का पता मिलता है, जिससे सूचित होता है कि कभी ईरानियों के बुजुर्गों ने वहाँ जाकर उपनिवेश बसाया था। उनकी भाषा में संस्कृत के 'ह' का 'ज़' हो जाता है, इसीलिए प्रतीत होता है कि 'नव्य ज़िमालय' नाम उन्हीं ने रक्खा है और पुराने हिमालय के साथ मिलाया है। यदि वैदिक आर्य नाम रखते, तो 'नव्य हिमालय' ही रखते। इस नव्य जिमालय को उर्दू ज्योग्रफ़ी में 'नवज़ुमला' लिखा हुआ है। इसका वर्णन इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटेनिका में भी आया है।

आइसलैंड और ग्रीनलैंड यद्यपि योरप से उत्तर की ओर हैं, पर वहाँ के बाशिन्दों का संबंध आर्यों से ही है। अतः कुरु के इन पड़ोसी देशों का भी वर्णन कर देना चाहिए। इसके विषय में प्रोफ़ेसर हीर्ट नामक विद्वान् कहता है कि आइसलैंड और ग्रीनलैंड के निवासियों की भाषा जर्मन भाषा से मिलती है। अतः अनुमान होता है कि वे भी आर्य ही हैं। हमने इन लोगों के विषय में अधिक स्वाध्याय नहीं किया। संभव है ये योरप से गये हों। पर चूँकि योरप की प्रजा स्वयं आर्यों की भाषा बोलनेवाली भी निग्रो, तुरानी प्रजा है, इस से अनुमान होता है कि आइसलैंड और ग्रीनलैंडवाले भी निग्रो, तुरानी ही होंगे, जो निश्चय ही पतित आर्य हैं।

यहाँ तक हमने उत्तरी एशिया से सम्बन्ध रखनेवाले उन आर्यों का वर्णन किया, जिन को इस समय मंगोलिया या तुरानी टाइप के कहा जाता है। पर हमारे अब तक के विवेचन से यही ज्ञात होता है कि वे आर्य ही हैं। उनकी सभ्यता, भाषा, रूप और रंग बदल जाने से अब उनको चाहे जो कुछ कहा जाय, पर उनके मूल में आर्यों का ही रुधिर प्रवाहित है।

पूर्वी एशिया।

भारतवर्ष से पूर्व सबसे नज़दीक जो पहिला देश है, वह बर्मा है। इसको संस्कृत में ब्रह्मदेश कहते हैं। वामनपुराण में लिखा है कि तिब्बत में रहनेवाले असुरों के द्वारा सताये जाने पर पूर्वकथित पीतवर्ण कुछ आर्य ब्रह्मदेश में जाकर आबाद हुए। ये असुर भी कोई दूसरे

नहीं थे। वायुपुराण में लिखा है कि असुर आर्यों के दायाद बान्धव ही हैं॥। दायाद बान्धव उन्हीं को कहते हैं, जिनका पैतृक सम्पत्ति में हक हो। इनके विषय में महाभारत में लिखा है कि जो कुरुक्षेत्र में बसते हैं, वही तिब्बत में बसते हैं +। इससे स्पष्ट हो गया कि ये आर्य ही हैं, जो पतित होकर तिब्बत में गये हैं। रामायण में इनका सुवर्ण का सा रंग लिखा है। वामनपुराण में इन का तिब्बत से ब्रह्मदेश का जाना भी पाया जाता है×। इससे ज्ञात होता है कि ये भी वही किरात नामी क्षत्री ही हैं, जो नैपाल से लेकर तिब्बत तक बसते थे। इन्होंने ही बर्मा में जाकर अमरावती और मिथला नामी नगरी बसायी हैं, जो अब तक हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये आर्य ही हैं और उक्त नगरों के बसाते समय तक इनकी भाषा संस्कृत ही थी। इतना ही नहीं, प्रत्युत बुद्धधर्मप्रचार के समय भी ये हिंदूधर्म के अभिलाषी थे, इसीसे ये सबके सब बौद्ध हो गये। ब्रह्मदेश नाम से भी ज्ञात होता है कि वह वैदिक आर्यों के ही द्वारा रक्खा गया है और ब्रह्मनिवासी आर्य ही हैं।

चीन देश के विषय में लिखा जा चुका है कि आर्यों के प्रारम्भिक काल में ही कुछ लोग पतित होकर चीना (नीचे दर्जे के) हो गये थे और हिमालय से नीचे चीना — गहराई—में जा बसे थे। समस्त भाषाओं के एक ही व्याकरण के विषय में हम लिख आये हैं कि सामोपेडिक भाषा जो चीन देशान्तर्गत पैतिसी और ओब नदियों के किनारे पर बसनेवालों में बोली जाती है, उसमें आर्य भाषाओं की तरह तीन वचन और आठ विभक्तियाँ हैं। इससे पाया जाता है कि चीन में बसनेवाले मूल पुरुष आर्य ही थे। चीनियों के विषय में टाड हन्टर साहब ने अपने राजस्थान के इतिहास, परिशिष्ट, अध्याय दूसरे में इनके वंश का हाल लिखा है। उसका सारांश यह है कि 'मोगल तातार और चीनी लोग अपने को चन्द्रवंशी क्षत्री बतलाते हैं। इनमें से तातार के लोग अपने को 'अय' का वंशज कहते हैं। यह अय पुरुरवा का पुत्र आयु ही है। इस आयु के वंश ही में यदु था और उसका पौत्र हय था। चीनो लोग इसी हय को ह्यु कहते हैं और अपना पूर्वज मानते हैं। उक्त अय की नवीं पीढ़ी में एलखाँ के दो पुत्र हुए। उनके नाम काइयान और नगस थे। इसी नगस से नागवंश की उत्पत्ति प्रतीत होती है। चीनवालों के पास यू की उत्पत्ति इस तरह लिखी है कि एक तारे का समागम यू की माता के साथ हो गया। इसी से यू हुआ। यह बुध और इला के समागम की सी बात ज्ञात होती है। इस तरह से तातारों का अय, चीनियों का यू और पौराणिकों का आयु एक ही व्यक्ति है। इन तीनों का आदिपुरुष चन्द्रमा था और ये चन्द्रवंशी क्षत्री हैं, यह अच्छी तरह सिद्ध होता है'।

चीनियों के आदि पुरुष के विषय में प्रसिद्ध चीनी विद्वान् यांगत्साई ने सन् १५५८ में एक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ को सन् १७७६ में हूया नामी विद्वान् ने फिर सम्पादित किया। उसी पुस्तक का पादरी क्लार्क ने अनुवाद किया है। उसमें लिखा है कि 'अत्यन्त प्राचीन काल में भारत के मो० लो० ची० राज्य का आह० यू० नामक राजकुमार यूनन प्रान्त में आया। इसके पुत्र का नाम ती० मोगंगे था। इसके नौ पुत्र पैदा हुए। इन्हीं के सन्ततिविस्तार से समस्त चीनियों की वंशवृद्धि हुई है'। इसके अतिरिक्त चीन देश में होम (हवन) को घोम कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि उनमें आर्यों का कर्मकाण्ड मुद्दत तक प्रचलित था। चीनवालों का भारत से इतना अधिक सम्बन्ध रहा है कि यहाँ से ब्राह्मण लोग धर्मप्रचार के लिए चीन को जाते थे और चीननिवासी यहाँ आकर फिर से आर्यों के समाज में मिल जाते थे।

हिन्दी विश्वकोश पृ० ३१८ में उपनिवेश शब्द पर लिखा है कि 'चीन देश की पुरातत्त्व आलोचना से यह

॥ असुरा ये तदा आसन् तेषां दायादवान्धवाः। (वायुपुराण)
+ ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे। (महाभारत)
× ततोऽसुरा यथाकामं विहरन्ति त्रिविष्टपे।
ब्रह्मलोके च त्रिदशाः संस्थिता दुःखकर्षिताः॥ (वामनपुराण)

सिद्ध होता है कि ई० सन् पूर्व ८ वीं शताब्दी में भारतीय आर्य वणिकों ने चीन देश के बहुत से स्थानों में अपना प्रभाव फैलाया था और बहुतसे स्थानों में उपनिवेश भी किया था'। तभी तो दारुचीनी जिसे दालचीनी कहते हैं, वहाँ से आती थी। दारु लकडी को कहते हैं, इसलिए एक खास प्रकार की चीन की लकड़ी को दारुचीनी कहा जाता था। यह लगभग तीन हज़ार वर्ष के पूर्व की बात है। परन्तु हमने चन्द्रवंश और आर्यभाषा की जो बात लिखी है, वह तो उस समय की है, जब सर्वप्रथम आर्य लोग 'चीनी' होकर चीन गये थे, इसलिए चीनियों के आर्यवंशज होने में ज़रा भी सन्देह नहीं है।

लोग कहते हैं कि जापान में जो जाति निवास करती है, वह चीन से ही जाकर वहाँ बसी है, क्योंकि दोनों की भाषा आदि में बहुत अन्तर नहीं है। यह बात ठीक है। पर हमारा अन्वेषण इतना और बतलाता है कि चीन की तरह जापान में भी अभी उस आर्यजाति की एक शाखा मौजूद है, जिसकी अन्य शाखाओं से जापानियों की उत्पत्ति हुई है। उस मूलवासिनी जाति का नाम 'ऐन्यू' है। इसको काकेशियन विभाग के अन्तर्गत समझा जाता है। ऐन्यू लोग अब तक प्राचीन ऋषियों के भेष से रहते हैं। अर्थात् डाढ़ी और केश नहीं निकालते। इसीलिए इनको आजकल Hairy Men अर्थात् बालवाले लोग कहा जाता है। चाहे जापानी इन काकेशियन की सन्तती हों और चाहे चीनीयों की दोनों सूरतों में वे आर्य क्षत्रिय ही हैं। जापानियों का 'बुशिडो' अर्थात् क्षात्रधर्म अब तक प्राचीन क्षत्रीयपने का स्मरण दिला रहा है। ऐन्यू लोगों का प्रस्तुत होना, जापान की स्त्रियों में भारतीपन का होना और पुरुषों का क्षात्रधर्म आदि बातें एक स्वर से पुकार रही हैं कि वे आर्यवंशज ही हैं।

अफ्रीकामें ।

(२)

(ले०— पं० तडित्कांतजी वेदालङ्कार, साहित्यमनीषी.)

मोम्बासा ।

मोम्बासा पहुंचनेपर मुझे ज्ञात हुआ कि, मुझे अपने कार्य का प्रारंभ सबसे पहले युगांडा प्रांत में करना है । मुझे जिन सज्जनों की ओरसे अफ्रीका आने के लिए खास आमंत्रण दिया गया था, उन सज्जनों की ऐसी इच्छा थी कि, स्वाध्याय-मंडल की प्रवृत्तियों का प्रारंभ पहलेपहल युगांडा से हो। इसकी वजह यह थी कि, मैं जिन दिनोंमें मोम्बासा उतरा था, उन दिनोंमें युगांडाकी रुई की सीझन प्रारंभ होती थी और युगांडामें कार्य करने का उचित अवसर भी यही समय माना जाता है। प्रायः सभी लोग, चाहे वे गौशालाओंके लिए मांगने आए हों, चाहे किसी स्कूल या पाठशाला के लिए धन इकट्ठा करने आए हों या चाहे किसी और बात के लिए चंदा करने आए हों, युगांडा में इसी मौकेपर आते हैं । यही नहीं व्यापारी लोग, वीमे-वाले, खेलतमाशा करनेवाले और इसी प्रकार के अन्य लोग भी इसी सीझन में वहां आते हैं और कुछ न कुछ कार्य कर ही जाते हैं । सीझन में आया हुआ आदमी खाली चला जाय, ऐसा हो नहीं सकता । युगांडा की रुई की सीझन को, व्यापारियों का वीमेवालों का, चंदा करनेवालों का, खेलतमाशा करनेवालों का तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों का जिन्हें कि युगांडा से धन कमाने की अभिलाषा होती है फिर चाहे वे वहीं के हों, या विदेश से आए हों, उन सब का एक प्रकार का मेला कह सकते हैं । क्योंकि ये सब उस समय वहां पर पाये जाते हैं । कई बार एकही शहर में एकही समय पर वीमेवाले, चंदे-वाले तथा खेलतमाशेवाले सभी आपस में टकरा



पं० तडित्कान्तजी ।

जाया करते हैं । परंतु ज्यों ज्यों अफ्रीका बसता जा रहा है, त्यों त्यों अन्य प्रान्तों की तरह युगांडा में भी पैसे की आवक कमती होती चली जा रही है । अतः लोग जिस उत्साह और उदारता के साथ पहले बाहर से आनेवाले लोगों का स्वागत करते थे, वैसा अब नहीं करते । इस में वहां आर्थिक अवस्था एक मुख्य कारण है । वहां दो मुख्य कारण और भी हैं । एक तो यह कि ज्यों ज्यों जनसंख्या

बढती जा रही है, त्यों त्यों वहां की स्थानीय आवश्यकतायें (जैसे कि खेलकूदके लिए संस्थायें खडी करना, वाचनालय तथा पुस्तकालय बनाना, लडकेलडकियोंकी पाठशालायें चलाना, धार्मिक संस्थाओंको बनाना तथा बढाना, वगैरा वगैरा) बढती चली जा रही हैं। इन स्थानिक जरूरियातों को पूरा करना वहां के निवासियों के लिए अत्यंत जरूरी है। उन्हें इच्छा या अनिच्छासे भी इन संस्थाओंको आर्थिक सहाय्यता देनी ही पडती है।

दूसरा कारण जिसको हरकोई पेश करता रहता है, वह है हिन्दूस्थानसे आजतक आए हुए डेपुटेशनोंमेंसे बहुतसोंके कार्यपर अविश्वास। यहांपर आजतक अनेक संस्थाओंके प्रतिनिधि चंदा इकट्ठा करने के लिए आ चुके हैं। उनमेंसे कई संस्थाओंने अनेक तरह की बातें बनाकर पैसा इकट्ठा किया। परंतु उन्होंने हिन्दुस्थान पहुंचकर जैसा कहते थे, वैसा न किया, ऐसी प्रायः साधारण जनताकी शिकायत है। इस कारण से भी लोग ज्यादातर हिन्दुस्थानकी संस्थाओंपर अविश्वास कर बैठे हैं और अब पैसा देते हुए आनाकानी करते हैं। हिन्दुस्थानकी संस्थाओंके प्रति यहां के लोगोंमें अब विश्वास और सन्मानकी मात्रा बहुत ही थोडे अंशमें विद्यमान रह गई है। अब वेही पैसा ले जा सकेंगे, जो कि अधिकांश लोगोंमें अपना विश्वास पैदा कर सकेंगे। अस्तु।

युगांडा प्रांतमें जानेके लिए मोम्बासा से केनिया-युगांडा रेलवे एण्ड हारबर्स की गाडियां जाती हैं। हप्तेमें दो दफा ही युगांडाके लिए गाडियां चलती हैं। इन गाडियोंके डब्बे बहुतही छोटे होते हैं। रेलवेलाईन भी बहुत छोटी है। हरेक गाडीमें मुख्य रूपसे पहले तथा दूसरे दर्जेके डब्बे ज्यादा होते हैं। ये प्रथम तथा दूसरे दर्जे के डब्बे भी सच पूछिए तो किसी काम के नहीं होते। इन्हें इन्डियाके मध्यम दर्जे (Inter class) से कुछ ही अच्छा कहा जा सकता है। एक दो खासियतें निकाल दी जांय, तो भारत के तीसरे दर्जेसे इनका मुकाबला किया जा सकता है। जब पहले और दूसरे दर्जेकाही यह हिसाब है, तो फिर तीसरे दर्जेके बारेमें लिखना ही फजूल है। पाठक उसका स्वयंही ख्याल कर लें। पहलेपहल तो तीसरा दर्जा यहां के असली निवासियोंके लिए ही बनाया गया था। हिन्दुस्थानी प्रायः सभी दूसरे दर्जेमें मुसाफरी करते थे और अब भी अधिक संख्यक लोग दूसरे दर्जेमें ही मुसाफरी करते हैं परंतु ज्यों ज्यों गरीबी बढती जा रही है, बहुतसे हिन्दुस्थानी भी तीसरे दर्जेमें मुसाफरी करने लग गये हैं। यह सब होते हुए भी किराया बहुत ही ज्यादा है। दुनियाभरमें इतनी ज्यादा महंगी रेलें शायद ही कहीं हो। मोम्बासासे नैरोबी ३०० मीलसे कुछ ज्यादा है, पर इतनेका किराया ८) रुपये से कुछ ज्यादा तीसरे दर्जेका है और ३४) रुपये के करीब दूसरे दर्जेका है। १९३८ के प्रारंभसे २५) फी सदी किराया घटाया गया है, तब यह हाल है। उससे पहले तो इससेभी ज्यादा था। इसी तरह पारसल आदि रेलवेसे भेजनेमें भी बहुत भारी खर्च आता है।

मैं जब मोम्बासा उतरा तो मालूम हुआ कि वहां की स्थानीय आर्यसमाज का कुछ दिनों में जलसा है। मैं जलसेके लिए कुछ दिन वहां ठहर गया और जलसा समाप्त होनेपर युगांडाके लिए चल पडा। मोम्बासा से युगांडा (कंपाला) पहौंचते पहौंचते गाडीको लगभग दो रात और दो दिन लग जाते हैं। रास्तेमें पहाड पडनेसे काफी चढाई भी आती है। एक तो गाडी छोटी दिखाई पहाडोंकी चढाई। इसलिए गाडीकी चाल बीचमें तो बहुतही धीरी हो जाती है। मोम्बासा से कंपाला ८०० मीलके करीब है। रास्तेमें जंगली पशुओंके लिए सुरक्षित रक्खे हुए जंगल पडते हैं जहां जिराफ, जिब्रा, हरिण आदि पशु इकट्ठे होते हैं। इन जंगलोंमें सिंह, चीता आदि हिंसक पशु भी काफी हैं। परंतु वे मोटर से मुसाफर

करनेवालों को ही नजर आते हैं। गाडीसे जानेवालों को ये प्राणी बहुत कम नजर आते हैं, क्योंकि वे गाडीकी आवाज से दूर भाग जाते हैं।

मोम्बासा से नैरोबी को जाती हुई रेलके लाईन मसाई के जंगलमें से गुजरती है। पहले इस जंगलमें बेशुमार शेर पाये जाते थे। जब पहले पहल रेलवे लाईन बनी, तब इन सिंहोंने बडा हैरान किया। प्रायः रोज रातको रेलवे लाईनपर काम करनेवाले हिन्दी मजदूरोंमेंसे एक दो को सिंह उठा ले जाया करते थे। रातमें मजदूरों की रक्षा के लिए किसी भी प्रकार के सुरक्षित साधन नहीं थे। भयंकर जंगलों में सादे तंबुओंमें ही रात गुजारनी पडती थी। मारे डर के सारी रात जागते ही कटा करती थी। न जाने आज सिंह किसको उठा ले जायगा, इसी चिंता और सोच में सबेरा हो जाया करता था। सबेरे उठ कर जब मजदूरों की गिनती की जाती थी, तो उनमें से एक दो नित्यप्रति कम पाये जाते थे। इस तरह दिनमें भी कभी कोई मजदूर अकेला पडा कि, निश्चित शेरका शिकार हुआ समझ लो। इस प्रकार इस रेलवे के बनाने में इतने अधिक हिन्दी मजदूर काम आये हैं कि, उसकी कोई हदही नहीं। इस बारेमें यहां एक जनश्रुति भी है कि, इस केनिया-युगांडा रेलवे को बनाते हुए इतने हिन्दी मजदूर सिंहोंद्वारा खाये गये हैं, जितने कि पटरीके नीचे स्लीपर (Sleepers) बिछे पडे हैं।

सिंह की शिकार।

जहाँपर सिंहों का बहुत जादा त्रास था, वहां के स्टेशन का नाम 'सिम्बा' रखा गया। सिम्बा का स्वाहिली भाषा में अर्थ होता है 'सिंह'। इस स्थान के दो एक सिंहों की कथायें तो अब भी आम जनता के मुखसे सुनने को मिलती हैं। उन दो सिंहों का शिकार भले भले शिकारियों के लिए भी मुश्किल हो गया था। जो भी शिकारी उनके शिकार का निश्चय करके आता था, वह खुदही शेरों का शिकार बन जाता था। प्रायः यहां के नेटीवों का ऐसा ख्याल है कि, कई नेटीव जादूगर रात को सिंह या 'मिसी' का स्वरूप धारण करके शिकार के लिए रातको निकला करते हैं। इन दो शेरोंके बारेमें भी ऐसा ही माना जाता था।

ये रोज नियमित मजदूरोंका शिकार कर जाते थे। किसी भी प्रकार के भय के विना वे किसी न किसी तरह छावनीमें घुस आते थे और ऐसी चालाकी तथा युक्ति से काम लेते थे कि, हर किसी को यही विश्वास हो गया था कि, ये सिंह के रूपमें दैत्य या राक्षस ही होने चाहिए। इनके बारेमें जो दंतकथायें आज भी प्रचलित हैं, उन्हें सुननेपर ऐसा आभास होता है कि मानो अरेबियन नाईट्स की कथायें सुन रहे हैं। परन्तु वे हैं सत्य। चाहे उनमें अब अत्युक्ति की मात्रा बढ गई हो। अब धीरे धीरे बहुतसे शेर मार दिए गये हैं, तथा बाकीयोंको सुरक्षित जंगलों में भगा दिया गया है। अतः अब बिलकुल नाममात्र ही खतरा रह गया है।

अफ्रीकामें सिंह समूहमें पाए जाते हैं। यहांपर ये भी भेंडबकरियों के झुण्ड की तरह ज्यादा संख्या में इकट्ठे रहते हैं। एक वन में एक ही सिंह रहनेकी बात यहांपर चरितार्थ नहीं होती। शुरू शुरू में सिंहोंने जो त्रास पहुँचाया था, वैसा अब नहीं पहुँचाते। अब तो सिंहोंके पास से मोटर, आदमी आदि शांति से गुजर जाते हैं। इस तरह गुजरते हुए की तरफ वे दृष्टिपात करनेकी धृष्टता भी बहुत कम करते हैं। या तो मस्त पडे रहते हैं, अथवा तो शांति से जहां मन में आया रास्ता देकर चले जाते हैं। वैसे भी सिंह मनुष्यपर न छुटके ही आक्रमण करता है। जिन दिनोंमें रेलवे बनी, उन दिनोंमें सिंहोंने क्यों तंग किया होगा, इसका जवाब देना मुश्किल ही है। पर हाँ, यदि एक बार मनुष्य का खून उसने चख लिया, तो फिर मनुष्य के शिकार में वह अवश्य चक्कर लगाता रहता है और उस अवस्था में वह आदमी को कभी नहीं छोडता। अतः संभव है कि उन दिनों में उन सिंहोंको एक बार आदमी का खून चखना मिल गया हो और उसपरसे वे आदमी के खूनके चटोरे बन गये हों। अस्तु। अब ज्यों ज्यों वस्ती बढती जा रही है, त्यों त्यों धीरे धीरे जंगल कटते

जा रहे हैं। पर इसका परिणाम यह हो रहा है कि, दिनबदिन बारिश कम होती जा रही है। यदि यही हाल रहा, तो भविष्यमें खेतीके लिए पानीकी समस्या उपस्थित हो जायगी।

यहां पर प्रायः कूएं नहीं हैं और नहीं खोदे जा सकते हैं। क्योंकि यहां की जमीन में प्रायः पानी बहुत नीचे तक नहीं मिलता। बारिश ही सबके लिए एकमात्र आधार है। यहांपर प्रायः थोडी थोडी बारिश बारह महीने पडती रहती है। बीचबीचमें एक एक, दो दो मास खाली जाते हैं। वैसे सालमें दो दफा बारिश की ऋतु आती हैं। यहां पर गन्ना भी इसी प्रकार बारिश के पानीसे ही होता है। आमको साल में दो बार मौर आते हैं। आमकी दो बार मोसिम आती है, अतः लगभग बारह महीने आम मिलता है। यही हाल और भी बहुत से फलफूलवाले पेडोंका है। परन्तु यह सब होते हुए भी यहां के उत्पन्न पदार्थों को खाते हुए वह स्वाद नहीं आता जो, कि हिन्दुस्थान में उत्पन्न पदार्थों के खाने में आता है। अफ्रीका बिलकुल भूमध्यरेखा (Equater) पर होनेसे यहांपर ऋतुयें सर्वथा अनियमित रहती हैं। कभी कभी तो एकही दिनमें तीनों ऋतुयें गरमी, सरदी और बरसात के दर्शन हो जाते हैं। हिन्दुस्थान से यहांपर सूर्योदय भी लगभग ३ घंटे पीछे होता है। यहां आठ बजते हैं, तब हिंदुस्थान में लगभग ११ बजे होते हैं। इसी तरह ऋतुयें भी पीछे हैं। यह देश भूमध्यरेखापर होनेसे यहां के असली लोग अत्यन्त काले होते हैं। उनके रंगको छोड भी दिया जाय, तो भी उनके चेहरोंकी बनावट भी कुछ आकर्षक नहीं होती। उन्हें बदसूरत ही कहा जा सकता है। पता नहीं इसकी क्या वजह है! यहां के लोगों के सम्बन्ध में विस्तार से फिर लिखूंगा। यह एक स्वतन्त्र लंबा विषय है।

ब्रिटिश पूर्व अफ्रिका तीन प्रांतोंमें बँटा हुआ है। (१) केनिया (Kenya), (२) युगांडा (Uganda) और (३) टांगानीका (Tanganyika)। इन में से तीसरा प्रांत टांगानीका महायुद्धसे पहले जर्मनी के पास था। परन्तु महायुद्ध में हारनेके पश्चात् यह प्रांत जर्मनीसे छीनकर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला दिया गया।

युगांडा प्रांत।

ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीकाके तीनों प्रांतोंमें युगांडा प्रांत सब तरहसे, सबसे ज्यादा समृद्ध कहा जा सकता है। इस प्रान्तपर प्रकृतिमाताकी भी अपार कृपा है। साराका सारा प्रान्त बारह महीने प्राकृतिक शोभाका नमूना बना रहता है। बारह मास हरियावल एकसी नजर आती है। सूखी घास ढूंढनेसे भी मिलनी मुश्किल है। इसी तरह नदी, नाले, पहाड, झरने तथा झीलोंकी भी भरमार है। युगांडा ठीक भूमध्यरेखा (Equator) पर स्थित है। इसकी राजधानी एन्टेबे (Entebbe) मेंसे भूमध्यरेखा गुजरती है। इस वजह से यह प्रांत बहुत गरम है। परन्तु इसमें स्थित दुनियाभरमें सबसे बडी मीठे पानी की झील विक्टोरिया न्यांझा इसकी उस सूर्य के सीधे किरणों से पहुँचनेवाली सख्त गरमी से रक्षा करती रहती है। इस बातका और भी अच्छी तरह ख्याल आ जाता है, जब कि हम युगांडा की जमीन तथा पानी के क्षेत्रफलपर दृष्टिपात करते हैं। युगांडा का कुल क्षेत्रफल ९४२०४ वर्ग मील है। जिसमें से ७१६९ वर्ग मीलमें पानी है। अर्थात् कुल क्षेत्रफल के १३ वें भाग जितना पानी है।

इस प्रांत में तीन बडे बडे पहाड हैं, जिनमें से रुवेन्झोरी पर्वत (Ruwenjori Mountain) सबसे ऊंचा १६७९१ फीट है। दूसरा म्फुम्बीरो पर्वत १४७८० फीट ऊंचा है। यह पर्वत ज्वालामुखी पर्वत है। इसके बहुतसे शिखरोंमें से अकसर अग्नि की ज्वालायें प्रदीप्त होती रहती हैं। दूरदूरसे लोग इसे देखने के लिए आते रहते हैं। तीसरा एलगन पर्वत (Mount Elgon) ४१४० फीट ऊंचा है। इसकी घाटियां अत्यंत रमणीय तथा उपजाऊ हैं।

इस प्रांतमें पानीका भाग तथा वनस्पति और जंगल प्रमाण से ज्यादा हो नेसे जहां गरमी से बचाव

होता है, वहां यह प्रांत मलेरिया का घर है। यहां पर मलेरिया का प्रमाण बहुत ही ज्यादा है। यहां का मलेरिया बहुत ज्यादा खराब होता है। यदि मलेरिया की थोडी भी परवाह न की जाए, तो वह ब्लेक वोटर (Black water) में तबदील हो जाता है। ब्लेक वोटर अत्यन्त प्राणघातक बीमारी मानी जाती है। ब्लेक वोटर रोग की निशानी यह है कि रोगी को एकदम लाल कालासा रंग लिए हुए पेशाब (मूत्र) आने लगता है। जब शुरू शुरूमें युगांडा प्रांत बसा था, तब ब्लेक वोटर अक्सर लोगों को हो जाया करता था और उस समय ब्लेक वोटर का रोगी बहुत ही कम बचता था। इस रोगका लोगों में इतना आतंक छाया हुआ था कि, रोगी को मालूम होते ही वह अधमरासा तो पहले से ही हो जाता था। उसके सगेसम्बन्धी भी ९० प्रतिशतक आशा छोड दिया करते थे। उस समय इस रोगकी योग्य चिकित्साका भी पता नहीं था।

परन्तु अब ज्यों ज्यों प्रांत बसता चला जा रहा है, तथा बहुतसी झाडियां तथा जंगल काटकर स्वच्छ मैदान बनाये जा रहे हैं, त्यों त्यों मलेरिया-तथा ब्लेक वोटर भी कम होते चले जा रहे हैं। अब तो प्रायः ५ प्रतिशतक ही ब्लेक वोटरके रोगी मरते होंगे। अब युगांडा के हवापानी भी पहले से कहीं ज्यादा सुधर चुके हैं। और कुछ वर्षोंमें तो यह प्रांत बहुत ही ठीक हो जायगा। मलेरियासे बचने के लिए युगांडा के लोग आजकल भी आम तौर पर क्विनाईन की गोलियां हफ्ते में कई बार सोते हुए खाते हैं। युगांडा में नये नये आये हुए आदमी को प्रायः हरेक इसी तरह क्विनाईन खाते रहने की सलाह देता रहता है। मुझे भी प्राय: रात को सोते हुए इसी तरह क्विनाईन लेते रहने को कहा जाता था। परन्तु मैंने अपनी ६ महीनेकी अवधिमें ढाई ग्रेनकी १२ गोलियों से शायद ही ज्यादा खाई होंगी। कहनेका मतलब यह है कि अब उतना खतरा नहीं रहा, जितना कि पहले किसी समय था। मलेरिया का प्रभाव होते ही जो उसका इलाज कर लेता है, उसे कुछ नहीं होता। अब तो सिर्फ बेपरवाह ही ब्लेक वोटरके शिकार बनते हैं।

मैंने यहां पर एक और भी बात देखी और वह यह कि यहां पर छोटेसे लेकर बडे सबके सब दवाई खानेकी अपेक्षा इन्जैक्शन खानेके ज्यादा शौखीन हैं। एक इन्जैक्शन के १० शिलिंग [(७) रुपये के लगभग] देने पडते हैं, फिर भी गरीब और अमीर इन्जेक्शन ही लगवाते हैं। पीनेकी दवाई बहुत कम पसंद की जाती है। इसकी वजह शायद यह हो कि यहां पर हिन्दुस्थानकी अपेक्षा पैसा सस्ता है। हरेक आदमी आसानी से हिन्दुस्तानकी अपेक्षा ज्यादा पैसा कमाता है। यद्यपि अब तो यहां भी दिन बदिन हिन्दुस्थान-किसी अवस्था होती चली जा रही है। कुछ भी हो, डाक्टरलोगोंकी जेबें इस इन्जैक्शन के कारण ज्यादा गरम रहती हैं। प्रायः जनता इन्जैक्शन के पीछे इतनी ज्यादा पागल हुई हुई है कि, जबतक रोगी इन्जैक्शन न खा ले, उसे यह विश्वास नहीं होता कि, उसका रोग इसके बिना भी मिट जायगा। इस संबंध में एक डाक्टर से मेरी बातचीत होते हुए, एक ऐसा ही किस्सा सुनने को मिला।

एक बार एक रोगी अपने किसी सम्बन्धी को लेकर डाक्टर के पास आया और कहने लगा कि मेरी तबियत अच्छी नहीं रहती; अतः आप मुझे कोई इन्जैक्शन लगा दें, जिससे मेरे शरीरका रोग दूर हो जाय। डाक्टरने उस रोगी को देखा, तो उसके शरीर में कोई खास रोग नहीं था। डाक्टर बडी असमंजस में पडे। वे मन में सोचने लगे कि इसे रोग तो कोई है ही नहीं। मैं इसे इन्जैक्शन कैसे लगाऊं? और लगाऊं भी तो काहेका लगाऊं? आखिरकार डाक्टरने सोचा कि इसे किसी भी तरह, किसी भी चीज का इन्जैक्शन नहीं लगाया जा सकता। उन्होंने उस के सम्बन्धी को अलग बुलाकर कह दिया कि, उसे कोई रोग नहीं है और इसवास्ते मैं इन्जैक्शन नहीं लगा सकता। इसपर उस रोगी के सम्बन्धीने डाक्टर से कहा कि डाक्टरसाहेब! इसके मनमें यह वहेम घुस गया है

कि, मेरा शरीर दिन बदिन दुर्बल होता चला जा रहा है और इसके लिए जबतक मैं डाक्टर के पास जाकर इन्जैक्शन न खा लूं मेरे शरीर में ताकत नहीं आ सकती। यह सुनकर डाक्टरजी को बडी हैरानी हुई । अन्तमें उन्हें एक रास्ता सूझा । उन्होंने उस रोगीके सम्बन्धी से कहा कि मैं और तो कुछ नहीं कर सकता, पर ऐसा करता हूं कि, उसे एक दो इन्जैक्शन शुद्ध पानी के ही लगा देता हूं । तुम उससे यह भेद खोलना मत । इसी प्रकार किया गया और वह रोगी ठीक हो गया !!!

युगांडा का पूर्व इतिहास ।

अफ्रीका में गोरे शोधकों के आनेके बाद १९ वीं शताब्दि के पिछले भाग में क्रिश्चियन पादरी इस देश में आये और युगांडा की प्रजा में ईसाईयत का प्रचार करने लगे। उस समय में युगांडामें 'म्वांगा' नाम का राजा राज्य करता था । वह मुसलमान था, अतः उसने ईसाई पादरियों के विरुद्ध वायुमण्डल खडा किया। इधर ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका कंपनी से इम्पीरियल सरकारके हाथोंमें युगांडा आनेपर 'म्वांगा' की हरकतोंपर देखदेख शुरू हो गई। म्वांगा की राजधानी कंपाला थी । उसका एक 'काकुगुरु' नामक ग्वाला था, जिसने आखिरकार म्वांगा को पकडवा दिया। उसको पकडकर विलायत भिजवा दिया, तथा उसके स्थानपर उसके लडके 'दाउदी' को गादीपर बैठाया गया। यह नेटिव राज्य अब भी विद्यमान है। इसकी वही स्थिति है जो कि हिन्दुस्थानमें किसी एक देशी रियासतकी। इसका राजा आजकल हमारे देशी नरेशों जितने अधिकार भोग रहा है, तथा नये सुधरे हुए ढंगसे राज्य कर रहा है।

युगांडाके राजा म्वांगा का नमकहराम ग्वाला जब खतरे में आ पडा, तो वह कंपालासे ५६ मील दूर जिंजामें अपने सहाय्यक साथियोंको लेकर भाग गया। परन्तु वहां पर भी वह शांति से न रह सका और उसे झीन्झासे लगभग ११५ मील दूर मबाले भागना पडा । मबाले आकर उसने वहां के नेटिवों पर अपनी सत्ता जमाई और वह उनका राजा बन बैठा। अंग्रेज लोग कंपाला की योग्य व्यवस्था करने के बाद युगांडा के अन्य बडे बडे शहरों को अपने तावे में करते हुए मबाले पहोंचे। उन्होंने इसकी सत्ता कबूल कर ली और एक अपना थाना वहांपर कायम किया। वहां से आगे चलकर उन्होंने एबिसीनीया की सरहद्पर 'कोरोमेज' नामक स्थान पर भी एक थाना कायम किया। इस प्रकार धीरे धीरे तमाम युगांडा पर अंग्रेज सरकार का राज्य कायम हो गया ।

ई० सन १८९० में केनिया, टांगानिका और युगांडा की एंगलो जर्मन सरहद निश्चित हुई और १८९१ में जर्मन पोर्तुगीज सरहद तय हुई । फ्रेंच तथा बेजलीयम की कोंगो सरहद भी पोर्टुगीज के साथ इसी साल ठहराई गई । इसी तरह केनीया, युगांडा और सोमीलीलेन्ड की सरहदें भी इटली के साथ तय कर दी गईं । १८८९ में ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका कंपनी को लीझ दी गई और अतएव युगांडा का कबजा भी उसे ही सौंपा गया । परन्तु १८९३ में यह प्रांत फिर इम्पीरियल सरकार को वापस सौंप दिया गया। १९३१ की जनसंख्या की गिनती के अनुसार युगांडा की वस्ती निम्न लिखित है-

युरोपियन	हिन्दी (भारतीय)	नेटीव (यहांके असली निवासी)
२००१	१५२६६	५३,५३,५६४

जिंजा ।

मैं ता० ९।१।३८ को मोम्बासा रवाना होकर रास्ते में दो दीन नकुरु ठहरता हुआ १४।१।३८ को जिंजा पहोंचा। युगांडा में मुझे सबसे प्रथम यहींसे कार्य प्रारंभ करना था । युगांडा में जिंजा तथा कंपाला ये दो शहर रूईके व्यापार के बडे भारी केन्द्र हैं। अधिकांश रूपमें इन्हीं दो शहरोंमें रूईके बडे बडे व्यापारियों की पेढियां हैं । ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीकामें मोम्बासा, नैरोबी, कंपाला, दारेसलाम तथा झांझीबार और ऐसे ही एकाध शहर को छोडकर शेष जो शहर हैं, उन्हें भारत के शहरों के मुकाबले में शहर कहना मुश्किल



डायरेक्टर्स

मे० विट्ठलदास हरिदास एन्ड कम्पनी लि०

जिंजा (युगाण्डा) ब्रि० ईस्ट आफ्रिका ने

ग्रन्थ मुद्रणके लिये १००१) रु० का दान दिया है।

है। उन सबको बडे बडे गांव कह सकते हैं। परन्तु इन सब में एक विशेषता है, जो कि भारत के कुछ बडे बडे नये ढंगसे बसे हुए शहरोंके अलावा शायद ही किसी शहरमें पाई जाय और वह यह कि ये सब बाकायदा एक खास तरतीबसे बसाये गये हैं। रास्तों की बनावट, मकानों की रचना आदि खूब आकर्षक हैं। छोटेसे छोटा गांव भी खूब स्वच्छ और सुन्दर मालूम होता है। हिन्दुस्थान में भी इसी ढंगसे सब छोटे बडे गांव तथा शहरों को बसानेकी खास जरूरत है। जब तक इस प्रकार से वे बसाये नहीं जायेंगे, तब तक उनमें स्वच्छता आदि रखना बहुत मुश्किल है और लोगोंका स्वास्थ्य सुधरना भी कठिन है।

विक्टोरीया सरोवर के रिपन प्रपात से निकलती नाईल नदीके उगमपर जिंजा शहर बसा हुआ है। केनिया युगांडा रेलवेके प्रारंभ होनेसे पहले जिंजा विक्टोरिया सरोवर का बंदरगाह होनेसे तमाम प्रांतका व्यापार यहींसे होता था। परन्तु जबसे रेलवे बनी है, तबसे बंदरगाह के तौरपर इसका उपयोग बंद हो गया है। जिंजा केनिया-युगांडा रेलवेपर मोम्बासासे ८२८ मीलपर स्थित है। यहांसे एक ब्रांच रेलवे लाईन भी कियोगा झीलकी तरफ गई हुई है। उससे सुदान होकर मिसर में जाया जा सकता है।

सारे युगांडा प्रांतमें दोही सरकारी स्कूल हैं, जिनमें से एक यहांपर जिंजा में है। ई० सन १९३३ से पहले यह स्कूल इंडियन ऐसोसियेशनके हाथमें था। परन्तु इसके बादसे उसे एजुकेशन डिपार्टमेन्टने अपने हाथ में ले लिया। अफ्रीकामें भारतियों के लडकों को जो शिक्षा दी जा रही है, वह उनके लिए कहां तक उपयोगी है और उस शिक्षा में सरकार कहां तक रस ले रही है, इत्यादि बातोंपर स्वतन्त्र रूपसे लिखने का विचार है। अतः इस सम्बन्ध में विशेष रूपसे नहीं लिखा जायगा।

जिंजाके आसपास की जमीन काफी दूरतक समतल होनेसे तथा ऐसी ही और भी बहुतसी सुविधाओं के कारण वहांपर तरह तरहके कारखाने खोले जानेके लिए काफी स्कोप है। इस दृष्टि भविष्य में जिंजा बहुत बडा व्यापारका केन्द्र हो जायगा। इस वर्षसे शहर में बिजली भी प्रारंभ हो गई है। इससे शहर की शोभा और भी बढ गई है। दिन-ब-दिन नये मकानात बनते चले जा रहे हैं और शहर का विस्तार बढता चला जा रहा है। शहर की और भी अधिक शोभा बढानेके लिए तथा लोगों को शाम सबेरे टहलनेके लिए मेससे विठ्ठलदास हरिदास एण्ड कंपनी की ओर से लगभग २५ हजार शिलिंग (साडे सोलह हजार रुपयों से कुछ ज्यादा) लगाकर रिपन प्रपातके पास नाईल नदी के किनारे जिंजा कंपाला के रस्तेपर एक विशाल बाग तैयार कराया जा रहा है। यह सार्वजनिक बाग ऐसे अच्छे स्थलपर बनाया जा रहा है कि, जहांपर प्रायः सभी लोग शामको हवाखोरी करने के लिए आसानी से जा सकते हैं तथा सैरके साथ साथ प्राकृतिक सौन्दर्य का भी मजा लूट सकते हैं। इस बगीचे में टहलते हुए सामने से गिरता हुआ रिपन प्रपात भी थोडी ही दूरीपर अच्छी तरह से दृष्टिगोचर होता रहेगा। जिंजा में वस्तुतः इस तरह के उद्यान की जरूरत भी थी। इसवास्ते इस उत्तम कार्य के लिए श्री विठ्ठलदास हरिदास एण्ड कंपनी के भागीदारों को जितना धन्यवाद किया जाय, थोडा है। उन्होंने अपने धनका सदुपयोग करके जहां अन्य श्रीमानों के सामने आदर्श रखा है, वहां सेठ विठ्ठलदास हरिदास एण्ड कंपनी का नाम भी अमर कर दिया है। परम पिता परमात्मा की कृपासे यह कंपनी दिन दूनी रात चौगुनी फूलती फलती रहे, ताकि उसके धनका सदुपयोग सर्वदा ऐसे ऐसे लोकोपयोगी कार्यों में और भी ज्यादा होता रहे।

(क्रमशः)

वैदिक शाखाएँ वेदव्याख्यान ही हैं !

(लेखक— श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून।)

वेदों की शाखाएं।

१- शाखाओं की संख्या में मतभेद ।

क-महाभाष्यकार पतञ्जलि वेदों की ११३० शाखाएं बतलाते हैं।

एक शतमध्वर्युशाखा सहस्रवर्त्मा सामवेदः।
एकविंशतिधा बाहृच्यं नवधाऽथर्वणो वेदः।

(महाभाष्य पस्पशान्हिक)

अर्थात्-	शाखा	
(१) ऋग्वेद	२१	इक्कीस
(२) यजुर्वेद	१००	एक सौ
(३) सामवेद	१०००	एक हजार
(४) अथर्ववेद	९	नौ
कुल योग	११३०	

(२) चरणव्यूह ग्रन्थ प्राचीन शाखानिर्णायक पुस्तक है, उसके अनुसार वेदों की शाखाएं इस प्रकार हैं—

(अ) ऋग्वेद	५	पांच
(आ) यजुर्वेद	८६	छयासी
(इ) सामवेद	१०००	एक हजार
(ई) अथर्ववेद	९	नौ
कुल योग	११००	

(३) इसी प्रकार सर्वानुक्रमणीकार ११३७ शाखाएं चारों वेदों की मानते हैं।

चरणव्यूहके प्रमाण ।

(अ) ऋग्वेदस्य शाखाः पञ्च भवन्ति आश्वलायनी शांखायनी शाकला बाष्कला माण्डूकेया चेति।

(आ) यजुर्वेदस्य षड्शीतिर्भेदाः भवन्ति।

(इ) तत्र सामवेदस्य शाखा सहस्रमासीत्। अनध्यायेष्वधीयानाः सर्वे ते शक्रेण विनिहताः।

(ई) तत्र ब्रह्मवेदस्य (अथर्ववेदस्य) नव भेदाः भवन्ति।

(४) कूर्मपुराण के अनुसार चारों वेदों की कुल शाखाएं ११३० हैं।

अ- ऋग्वेद	२१	इक्कीस
ब- यजुर्वेद	१००	सौ
स- सामवेद	१०००	एक हजार
द- अथर्ववेद	९	नौ
कुल योग	११३०	

कूर्मपुराण का प्रमाण ।

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा।
शाखानान्तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाऽकरोत् ॥१॥
सामवेदं सहस्रेण शाखानाञ्च विभेदतः।
अथर्वाणामथो वेदं विभेद नवकेन तु ॥२॥
भेदैरष्टादशैर्व्यासः पुराणं कृतवान् प्रभुः ॥

(कूर्मपुराण १।५१)

इस प्रकार--

शाखाओं की संख्या के सम्बन्ध में कूर्मपुराण और महाभाष्य में ऐकमत्य है।

कुछ लोग महाभाष्य के 'एकशतमध्वर्यु शाखाः' इस उद्धरण का अर्थ १०१ शाखाएं यजुः की हैं, ऐसा करते हैं। वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि महाभाष्य के अनुयायी कूर्मपुराण ने यजुः की १०० ही शाखाएं बताई हैं।

शाखाओं का तत्व।

शाखाओं की संख्या के सम्बन्ध में इस प्रकार विरोध बता कर अब हम शाखातत्त्व के भी सम्बन्ध में कुछ लिखना चाहते हैं।

इस विषय में भी ऐकमत्य नहीं है।

(क) पौराणिकों का- अथवा पुराणों का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि, वेदों की शाखाएं वेदों के भिन्न भिन्न प्रकरण हैं।

अर्थात्- जिस प्रकार एक ही पुस्तक के विभिन्न अध्याय, समुल्लास, निःश्वास अथवा परिच्छेद आदि होते हैं। इनके विचारानुसार किसी वेद की सारी शाखाएं ही सम्पूर्ण वेद हैं और क्योंकि इस समय वेद की पूरी शाखाएं उपलब्ध नहीं होतीं, अतः कुछ पौराणिकों का मत है कि, पूर्ण रूप से इस समय वेद भी उपलब्ध नहीं होते। इसीलिए पौराणिक सम्प्रदाय में यह भी माना जाता है कि, जिन विधियों का प्रतिपादन वर्तमान श्रुति में नहीं मिलता, उन श्रुतियों का अनुमान करना चाहिए और ऐसा किया भी जाता है।

परन्तु इस मत के अनुसार तो वेद पूर्ण रूपसे उपलब्ध होते ही नहीं अथवा यों कहिए कि, जो वेद उपलब्ध होते हैं, वे पूर्ण वेदों के एक आध्र आध्यायमात्र हैं। बस सब झगडा तय होता है- फिर क्या आवश्यकता है कि, वेदों का अध्ययनाध्यापनादि हो और वेदों को प्रमाण माना जाय। क्योंकि वेद के प्रतिपाद्य आदेशों का पूरा पूरा पता ही नहीं लग सकता। और जो लुप्त श्रुतियों के अनुमान कर लेने आदि की बात है, वह भी युक्तियुक्त नहीं। इस प्रकार तो स्मृतिग्रन्थों के अनुसार श्रुतियों की कल्पना होगी, अर्थात् वेद स्वतः प्रमाण न रह सकेंगे। दूसरा अमुक विधि की श्रुति का अनुमान किया जाए, अमुक का नहीं, इसका विनिगमन - निश्चय - असम्भव होगा। यदि स्मृतिग्रन्थों के अनुसार श्रुतियों की कल्पना होने लगे, तब तो सभी अनुचित भी स्मृतिग्रन्थोक्त विधियों को वेद प्रतिपाद्य बताया जा सक[ता] है।

दूसरा विचार।

वर्तमान समय के प्रायः सभी प्राच्य औ[र] पाश्चात्य पण्डितों का शाखातत्त्व के सम्बन्ध में य[ह] विचार है कि, प्राचीन काल में लिपि का प्रचा[र] नहीं था। प्राचीन ग्रन्थों में तो लिखनेवाले [की] निन्दा सुनी जाती है। इसलिए वेदों का तब श्रव[ण] ही किया जाता था, पठन नहीं। इसीलिए वेदों [का] एक नाम अनुश्रव अथवा श्रुति है। तब स्मर[ण] द्वारा ही वेदों को स्थिर रक्खा जाता था। अ[तः] देशकाल आदि के भेद से उसमें अर्थात् मू[ल] संहिता में कुछ भेद होना स्वाभाविक है, य[ह] थोडा थोडा भेद ही भिन्न भिन्न शाखाएं हैं[।] शाखाएं पुराणोक्त रीतिसे वृक्ष की शाखाओं [की] तरह नहीं।

उदाहरणार्थ- जब प्राचीन काल में कुछ शि[ष्य] अपने अपने गुरुसे वेद पढने जाया करते होंगे और अपने अपने यहां जाकर अध्यापन कर[ते] होंगे, तब मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरी [के] कारण उनके स्मरण में भेद पड जाया कर[ता] होगा। उसीको ही शाखाभेद कहा जाता है[।] इसी बात को श्री सत्यव्रतजी सामश्रमी ने अ[पने] निरुक्तालोचन ग्रन्थ में इन शब्दों में लिखा है।-

"वस्तुतोऽतिप्राचीनकाले लिपेरभावात् लिखितपाठकस्य निन्दाश्रवणाद्वा वेदानां लिखितपाठ्यत्वाभावादासीदानुश्रविकत्वम्। ततः कालभेद, देशभेद, व्यक्तिभेदादिभिरध्ययनक्रमोच्चारणादिभेदात् क्रमभेदा पाठभेदाश्च सम्पन्नाः। तत एवैकस्य वेदस्य बहुनामतो बह्यः संहिताः प्रसिद्धिङ्गताः। तासु न्यूनातिरिक्तता च किञ्चित् सञ्जाता।

आचार्याणां प्रकृतिवैषम्यात् तत्तद्देशकाला- द्यनुरोधाच्च अनुष्ठेयभेदाः प्रयोगभेदाश्चा-

भवन्निवार्याः। तत एव ब्राह्मणबाहुल्यं कल्पबाहुल्यञ्च सुतरां समुपन्नम्। इदमेव शाखाभेदनिदानम्। तदित्थमेकैकस्य वेदस्य बहु शाखत्वेऽपि एकैकस्याः शाखाया अध्ययनत एव अवेदधीत एवैकेको वेदः सर्वास्वेव शाखासु मूल संहितैक्यदर्शनात्। किञ्चित् पाठ न्यूनातिरिक्तत्वेन किञ्चित् पाठक्रमोच्चारणभेदेन किञ्चिदनुष्ठानपद्धति भेदादिना च न ह्येवाऽभवत् वास्तविकः संहिताभेदः। (ऐतरेयालोचन पृ० १२३)

(ख) तस्वतो नहि वेदशाखा वृक्षशाखेव नापि नदीशाखेव प्रत्युताध्येतृभेदात् सम्प्रदायभेदजन्याध्ययनविशेषरूपैव अत एव शिष्यशाखा परम्परेति वचनमद्यापि इह महाभारते प्रसिद्धम्।

(ऐतरेयालोचन पृ० १२४)

(ग) तदत्र पुनरपि ब्रूमोऽध्ययनादिभेद एव शाखाभेदनिदानं न तु ग्रन्थभेद इति।

(ऐतरेयालोचन पृ० १२५)

इस प्रकार इन विद्वानोंके विचारानुसार पाठ-भेद को अथवा पठनपाठन की विशेष शैली को ही शाखातत्त्व कहा जाता है। अर्थात् भिन्न भिन्न शाखाएं भी पूर्ण वेद हैं, जहां तहां कुछ कुछ भेद अवश्य ही हो गया है।

शाखातत्त्व के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द।

परन्तु ऋषि दयानन्द का शाखाओं के सम्बन्ध में विभिन्न विचार है। उन्होंने ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका में लिखा है कि "एकादश शतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदव्याख्यानान्यपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्तीति।

अर्थात् ११२७ वेद की शाखाएं भी वेदों के व्याख्यान हैं। अतः वे भी वेदानुकूल होने पर ही प्रमाण हैं।

इस सिद्धान्त को भी कुछ विद्वान् पुराणोंकी सी गप्प मानते हैं। सत्यव्रत सामश्रमी यद्यपि ऋषि दयानन्द के परम भक्त प्रतीत होते हैं, उन्हें गुरु मानते थे, तथाऽपि ऋषि के विचारों से सहमत नहीं। वे लिखते हैं—

क- 'वेद-वैदिकमत-प्रचारार्थोत्सर्गीकृत जीवनेनाद्यतनसर्वार्यवर्येण अस्मच्छ्रद्धाभाजनेन आचार्यदयानन्दस्वामिनाऽपि शाखानां वेदव्याख्यानरूपत्वेन वेदभिन्नत्वञ्च मत्वैव शोच्यते त्वोल्लिपि सन्निधौ नूनं पौराणिकी शाखाभेदकथाऽप्युपास्तेति मन्यामहे वयम्।' अर्थात्- वेद और वेदानुकूल सिद्धान्तों के प्रचारार्थ स्वामी दयानन्द ने अपना जीवन तक अर्पण कर दिया। वे वर्तमान समय के सब आर्योंमें शिरोमणि थे। अतः आचार्य दयानन्द स्वामी हमारे श्रद्धेय हैं- परन्तु दुःख है कि वे भी वेद की शाखाओं को वेदों का व्याख्यानरूप मानते हैं। परन्तु यह हमारे विचारों में पौराणिक विचारों की भांति माननीय नहीं। इसी स्थल में श्री सत्यव्रतजी सामश्रमीने ऋषि दयानन्द की शाखासंख्या पर भी कुछ लिखा है—

'यदुक्तं पाताञ्जले पस्पशायां 'एकविंशतिधा बाहृच्यं एक शतमध्वर्यु शाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः नवधाथर्वणो वेदः तदेतत्संकलनयैवोक्तं स्यादिदं परिगणनमेकादशशतानीत्यादि परं तत्राऽपि किञ्चित् पार्थक्यं प्रतीयते।'

अर्थात् ऋषि दयानन्द ने वेदशाखाओंकी संख्या ११२७ जो लिखी है, वह महाभाष्यके उपर्युक्त वचनाऽनुसार ही लिखी होगी, परन्तु महाभाष्यकार की संख्या से यह कम है, अर्थात् भाष्यकार की संख्या ११३० अथवा ११३१ प्रतीत होती है। इस पर हमें इतना ही लिखना है कि, ऋषि दयानन्द गणितशास्त्र के भी पण्डित थे, इसका उनके अनेक ग्रन्थों से पूर्ण परिचय मिलता है। अतः यह कल्पना करना कि, यहां योग करने में वे गलती कर गए, यह ठीक नहीं और अन्याय है। सम्भवतः कुछ शाखाओं को आर्य शाखा न मान कर ऋषि ने ऐसा लिखा होगा। उदाहरणके लिये

यजुर्वेद की वर्तमान पांच शाखाओंमेंही ३ शाखाएं कृष्ण यजुर्वेदकी हैं और वे आसुरी शाखाएं होनेसे आर्य शाखाएं नहीं। कृष्ण यजुर्वेद, शुक्ल यजुर्वेद में बहुत अन्तर होने से एकही वेद की भिन्न भिन्न प्रकार की दो आर्य शाखाएं नहीं हो सकती। और ऋषि दयानन्द शाखाओंको वेदों का व्याख्यान मानते हैं, अतः सम्भवतः कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओंको वे शाखाही न मानते होंगे। वस्तुतः कृष्ण यजुर्वेद का नामकरण ही बतलाता है कि, इस के निर्माण पर द्राविड जाति का अधिक प्रभाव पडा है। इस पर अधिक आगे लिखेंगे।

सम्भवतः इसीलिए ही श्री विद्वद्वर्य सत्यव्रत सामश्रमीजीने ऐसा लिखने के बाद ही यह लिखा है। "अस्तु तत्तथैव" अथवा यह ठीक होगा।

श्री सत्यव्रतजी सामश्रमी स्वामी दयानन्दजी को आचार्य कहते हैं। आपने आचार्यउपाधि से इनके अतिरिक्त अन्य किसी को भूषित नहीं किया।

उपर्युक्त प्रकार से शाखातत्त्व के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द के मत की आलोचना करके, वे पुनः समाधान करके मनःसन्तोष का प्रयत्न करते हैं, जिससे ऋषि के प्रति उनके किस प्रकार उच्च भाव हैं, यह पता चलता है—

"तदत्र सम्भाव्यते विमिश्रमन्त्रब्राह्मणयोस्तत एव वान्तप्रसिद्धयोः प्रथितयोस्तैत्तिरीयशाखीयसंहिता ब्राह्मणग्रन्थयोर्विशेषतस्तदारण्यकग्रन्थीयखिलकाण्डदर्शनादेव तस्याऽशेषशेमुषीसम्पन्नस्यापि स्वामिन एवं भ्रमः सञ्जात इति। अपिवा शाखातत्त्वानभिज्ञेन केनचित्तच्छिष्येण तत्रैवं स्याद् विनिवेशितमिति।"

(ऐतरेयालोचन पृ० १२६)

अर्थ- सम्भव है कि मन्त्रब्राह्मणरूप में मिश्रित-वान्त नाम से ख्यात तैत्तिरीय शाखा के संहिता-ब्राह्मणग्रन्थों के देखनेसे और विशेष कर आरण्य-ग्रन्थ के सारे खिल प्रकरण को देखने से ही सन्दिग्ध विचारवान् भी-सर्वतन्त्र, स्वतन्त्र, विद्वान् भी- स्वामिजीको भ्रम हो गया होगा।

अथवा शाखातत्त्व के अनभिज्ञ किसी शिष्यमहानुभाव ने पश्चात् ही उनके ऋग्भा[ष्य] भूमिका नामक ग्रन्थ में उस भाग को जोड दि[या] होगा। ऋषि के प्रति कितनी अपार श्रद्धा है!

श्री सत्यव्रतजी सामश्रमी के ग्रन्थों के अ[व]लोकन से प्रतीत होता है कि, वे अपूर्व पण्डि[त] हैं, प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। उनकी संस्कृत भा[षा] बडी मधुर और विचारगम्भीर है। इन्होंने [इस] प्रकार से ऋषि के पक्ष को पुष्ट ही किया है और आगे हम भी इस पर अधिक लिखेंगे। तात्प[र्य] यह है कि ऋषि दयानन्द वेदों की विभिन्न शाखा-ओं को व्याख्यानरूप मानते हैं। ऋषि के विचा[र] की पुष्टि के लिए मीमांसा का निम्न सूत्र उ[प]स्थित किया जाता है।

"आख्याप्रवचनात्।" (मीमांसा)

अर्थात् काठक, कलाप, कौथुमीय आदि शाखाओं के नाम पड गए हैं, इसका कारण य[ह] है कि कठ आदि ऋषियों ने वेद का जो व्याख्या[न] किया, उसे ही उस उस नाम से कहा जाता है।

भावाशय- इस प्रकार शाखातत्त्व के सम्बन्ध [में] पुराण, श्री सत्यव्रत सामश्रमी, ऋषि दयान[न्द] तीनों के आशयों को संक्षेप से लिखा है, अब [इन] को विस्तार से लिखेंगे और अन्त में अप[ने] विचार भी लिख कर इस निबन्ध को समा[प्त] करेंगे।

शाखातत्त्व और पुराण।

क- वेदव्यास और वेद की शाखाएं।

विष्णुपुराण में लिखा है—

वेदद्रुमस्य मैत्रेयशाखाभेदाः सहस्रशः।
न शक्तो विस्तराद् वक्तुं संक्षेपेण शृणुष्व तम्॥
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुनिः।
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितः॥

वीर्यं तेजोबलञ्चाऽल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च।
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान् करोति सः ॥३॥

अर्थ- हे मैत्रेय! वेदरूप वृक्ष की हजारों शाखाएं हैं। मैं उन्हें विस्तार से नहीं कह सकता, अतः संक्षेपसे ही मैं कहूंगा, तुम उसे सुनो।

प्रत्येक द्वापरयुग के प्रारम्भ में विष्णु भगवान् महामुनि व्यास का रूप धारण करके जगत् की हितभावना से एक वेद को अनेक भेदों में विभक्त कर देते हैं।

मनुष्यों के वीर्य, तेज और बल को अल्प समझ कर सब प्राणियों के हित से वेदके कई भेद कर देते हैं।

इससे यह भी प्रतीत होता है कि, एक ही वेद के चार भेद किए गए हैं।

वायुपुराण।

इसमें भी इस सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है। "वीर्यं तेजो बलं वाक्यम्।"

द्वापरे तु परावृत्तेः मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे।
ब्रह्मा मनुमुवाचेदं तद्वदिष्ये महामते ॥१॥
परिवृत्ते युगे तात स्वल्प वीर्या द्विजातयः।
संवृत्ता युगदोषेण सर्वं चैव यथाक्रमम् ॥२॥
भ्रश्यमानं युगवशादल्पशिष्टं हि दृश्यते।
दशसाहस्रभागेन ह्यवशिष्टं कृतादिदम् ॥३॥
वीर्यं तेजो बलं वाक्यं सर्वं चैव प्रणश्यति।
वेदभेदाः हि कार्याः स्युर्मा भूद्वेदविनाशनम् ॥४॥
वेदे नाशमनुप्राप्ते यज्ञो नाशं गमिष्यति।
यज्ञे नष्टे देवनाशस्ततः सर्वं प्रणश्यति ॥५॥
आद्यो वेदः चतुष्पादः शतसहस्रसंमितः।
पुनर्दशगुणः कृत्स्नो यज्ञो वै सर्वकामधुक् ॥६॥
एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा मनुर्लोकहिते रतः।
वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः ॥७॥

अर्थ- स्वायम्भुव मन्वन्तरान्तर्गत द्वापरयुग में ब्रह्माजी मनुजीसे बोले। जो कुछ उन्होंने कहा, मैं वही तुम्हें सुनाऊंगा।

युगों के परिवर्तन के साथ साथ ब्राह्मण भी स्वल्प शक्ति बोल रह गए, इसी प्रकार युगदोष से सभी में परिवर्तन आ गया।

यह मन्त्रभाग भी दस हजार मन्त्रात्मक अवशिष्ट है, जो कि बहुत अल्प है।

बल-वीर्य-तेज-वाक्य सब कुछ नष्ट हो जावेगा, अतः वेदों का भेद करना चाहिये, जिससे कहीं वेदों का नाश न हो जाय।

वेद के नष्ट हो जाने पर यज्ञ का नाश अवश्यम्भावी है और यज्ञ के नाश से देवों का भी नाश हो जावेगा। अनन्तर सर्वस्व नष्ट हुआ, ऐसा निश्चय जानो।

प्रथम वेद चतुष्पादात्मक था। सौ हजार उसमें मन्त्र थे। उससे यज्ञ दशगुणा अधिक था। जब मनु से ब्रह्मा ने इस प्रकार कहा, तब उस बात को स्वीकार करके प्रजा के हित की भावना से प्रेरित होकर मनु महाराज ने चतुष्पाद एक ही वेद को चार भागों में विभक्त किया।

इससे भी यह प्रतीत होता है कि, प्रारम्भ में वेद एक ही था। पुनः चार भागों में विभक्त किया गया और भी उसी को अन्य भागोंमें शाखारूप में विभक्त किया गया।

आलोचना।

उपर्युक्त पुराणों के प्रमाणों से द्योतित यह विचार अशास्त्रीय है कि, सर्वप्रथम एक ही वेद था, वेद व्यास ने अथवा किसी अन्य मुनि-ऋषि ने उसे चार भागों में विभक्त किया। चूंकि वेदों से लेकर मनुस्मृति आदि स्मृतिग्रंथ तथा सूत्रग्रंथों तक किसी ने भी इस सिद्धांत का पोषण नहीं किया। प्रमाण लीजिए—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत॥
(वेद)

यह मंत्र ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तीनों वेदों में आता है इसमें चारों वेदों का निर्देश है।

बृहदारण्यक ।

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यत् ।
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥

इत्यादि वेद और ब्राह्मण, तथा इसी प्रकार अन्य ग्रंथों से भी यह स्पष्ट है कि, प्रारम्भ से ही वेद चार संख्याओं में थे और परम प्रभुने अग्नि-वायु-सूर्य-अङ्गिरा ऋषियों के हृदय में उनका पृथक् पृथक् रूप में प्रकाश किया ।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं मृग्यजुः सामलक्षणम् ॥
(मनुः)

एक दृष्टि—

अतः पुराणों की यह बात कल्पनामात्र ही है । हां यदि वेद का अर्थ ईश्वरीय ज्ञान समझा जाए, जैसा कि है भी, और उसकी एकता मान कर ऋग्-यजु - साम-अथर्व को उसके चार पाद समझे जाए, तो कोई हर्ज नहीं । सम्भव है प्रारम्भ में आर्यद्विज-चतुर्वेदी ही होते होंगे । महामुनि व्यास ने यह देख कर कि अब लोग अल्पबुद्धि हो गए हैं, चारों वेदों का ग्रहण नहीं कर सकते, अतः एक एक वेद के पठनेपठाने का आंदोलन किया होगा और वह सफल भी हो गया होगा । तब से उन्हें वेद व्यास कहा जाने लगा होगा । वास्तव में वेद व्यास किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं, ऐसा मेरा विचार है ।

प्रत्येक युग में जो वेदों का विद्वान्, वेदों का अधिक पण्डित पारङ्गत हो, तथा वेदाध्यायी सभी द्विजों को वेद के सम्बंध में शिक्षा दे और भ्रम आदि दोषों से वेदों के परिणाम में जो दोष आ गए हों, उनका परिहार करे, अर्थात् वेदों की गुत्थियों का व्यास करे-खुलासा करे- उन्हें स्पष्ट करे-उसे ही वेदव्यास कहा जाता है । यदि ऐसा अर्थ किया जाए, तो पुराणों की उक्त कल्पना भी सत्य ही है ।

जिस प्रकार पुराणों ने वेदों को चतुष्पाद् कहा है, इसी प्रकार ब्राह्मणों में एक मन्त्रराज का वर्णन है, उसे भी ब्राह्मणग्रंथों में चतुष्पाद् कहा गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद यही वेद उस मन्त्रराज के चार पाद हैं ।

ऋग्यजुः सामाऽथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाः सरहस्याश्चत्वारः पादा भवन्ति ।

इसी प्रकार यदि चतुष्पाद् वेद का भी अर्थ समझा जाए और मैं समझता हूं कि, पुराणकार ने भी ऐसा ही अर्थ लिया है, तो ठीक है। चतुष्पाद का अर्थ-वेद-के-ज्ञानके चार भाग होने से भी माना जा सकता है ।

शाखाएं और ब्राह्मण ।

ज्ञान—विज्ञान—कर्म-उपासना ।

शाखाओं के सम्बन्ध में पुराणों का ऐसा ही विचार है, अर्थात् जिस प्रकार एक ही वेद के सर्वप्रथम चार भेद किये गए, उसी प्रकार आगे चलकर जब मनुष्यसमाज की शक्ति और क्षीण हो गई, तब चारों का भी और व्यासविस्तार कर दिया गया और उन्हें ही शाखाएं कहते हैं। अब पुराणों के इस विचार की भी विस्तृत आलोचना की जाती है। शाखासम्बन्धी कथा विष्णुपुराण तथा भागवतपुराण में विशेष रूप से कही गई हैं ।

ऋग्वेद का शाखाविभाग ।

विष्णुपुराण ३।४।१६-२५। में ऋग्वेद के शाखा विभाग में लिखा है ।

बिभेद प्रथमं विप्र पैल ऋग्वेदपादपम् ।
इन्द्रप्रमितये प्रादाद् बाष्कलाय च संहिते ॥
चतुर्धा स बिभेदऽथं बाष्कलिर्निजसंहिताम् ।
बोध्यादभ्योददौ तास्तु शिष्येभ्यः स महामुनिः ॥
बोध्याग्निमाठरौ तद्वत् याज्ञवल्क्यपराशरौ ।
प्रति शाखास्तु शाखायास्तस्यास्ते जगृहुर्मुने ॥
इन्द्रप्रमतिरेका तु संहितां स्वसुतं ततः ।

माण्डुकेयं महात्मानं मैत्रेयाध्यापयत् तदा ॥१९॥
तस्य शिष्यप्रशिष्येभ्यः पुत्र शिष्यान् क्रमाद्ययौ।
वेदमित्रस्तु शाकल्यः संहितां तामधीतवान् ॥२०॥
चकार संहिताः पंच शिष्येभ्यः प्रददौ च ताः।
तस्य शिष्यास्तु ये पंच तेषां नामानि वै शृणु ॥२१॥
मुद्गलो गालवश्चैव वात्स्यः शालीय एव च।
शिशिरः पञ्चमश्चाऽऽसीत् मैत्रेय: सुमहामुनिः॥२२॥
संहितात्रितयं चक्रे शाकपूणिरथेतरम्।
निरुक्तमकरोत्तद्वत् बलाकश्च महामतिः ॥२३॥
निरुक्तकृच्चतुर्थोऽभूद्वेदवेदाङ्गपारगः।
इत्येताः प्रति शाखाभ्योऽप्यनुशाखा द्विजोत्तम ॥२४॥
वाष्कलिश्चापरः तिस्रः संहिताः कृतवान् द्विज।
शिष्यः कालायनिर्गार्ग्यस्तृतीयश्च कथाजवः।
इत्येते बहृचाः प्रोक्ता संहिता यैः प्रकीर्तिताः ॥२५॥

भागवतपुराण।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतपुराण।

१ स्कन्ध, ४ अध्याय, २३ श्लोक में लिखा है—
त एव ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्॥

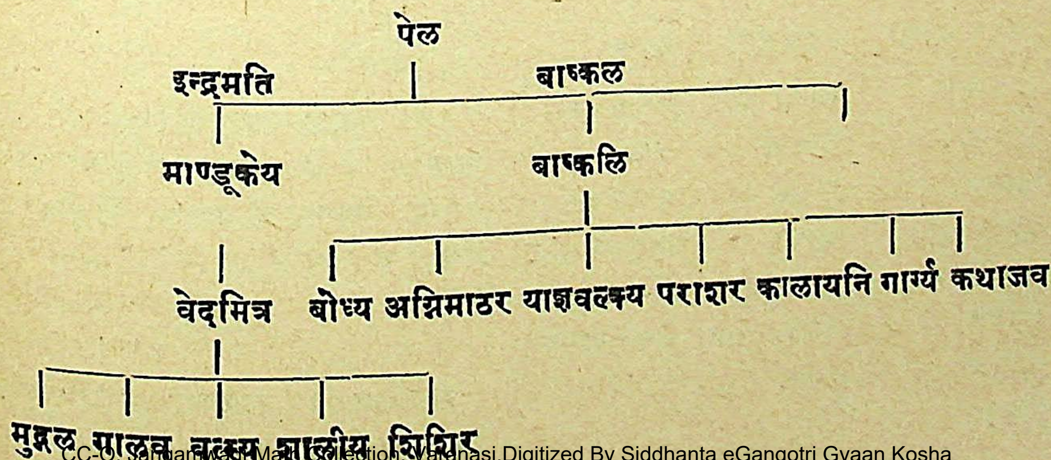
अर्थ— इन ऋषियों ने अपने अपने वेद का अनेक प्रकार से व्यास अर्थात् विस्तार किया। इसी प्रकार उन ऋषियों के शिष्योंप्रशिष्यों और उनके शिष्योंने वेदव्यास किया है और इसी कारण वेदवृक्ष-शाखी-अर्थात् अनेकों शाखाओंवाले-हो गये।

विष्णुपुराण की ही शिष्यपरम्परा और शाखा-भेद का वर्णन भागवतपुराण ने भी स्कन्ध १२, अध्याय ६ में किया है—

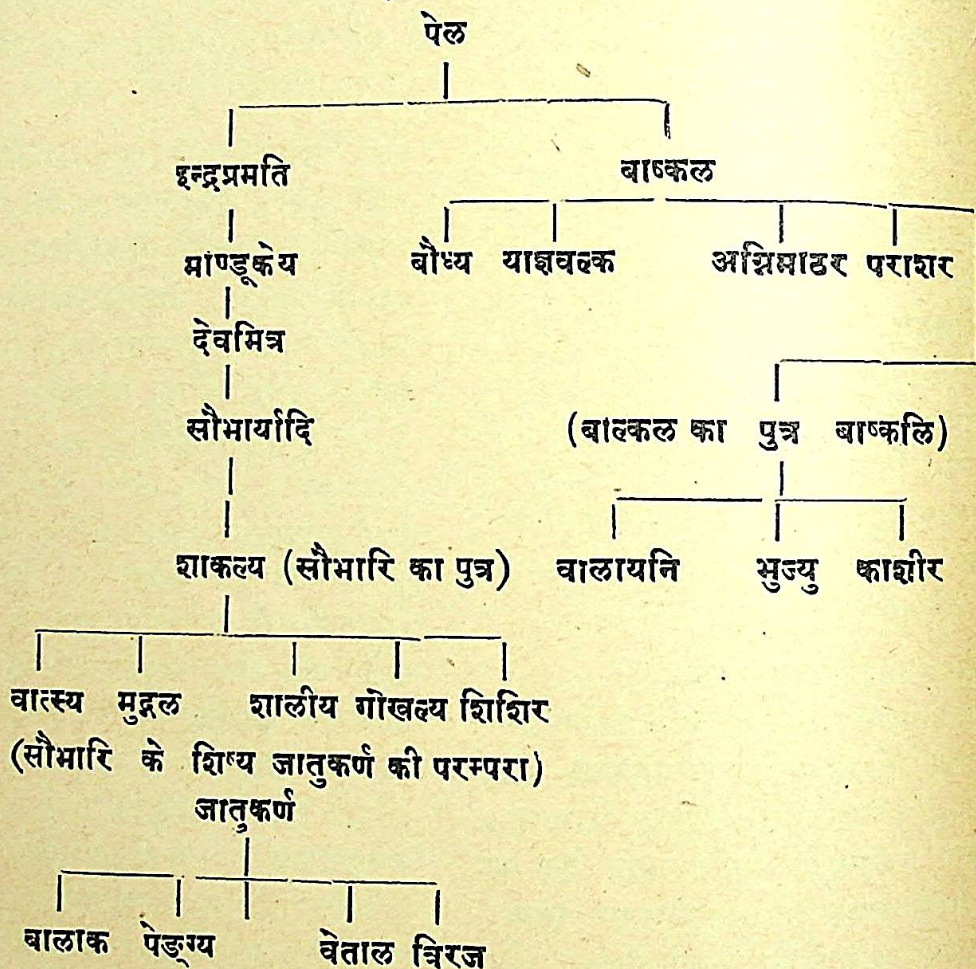
पेलः स्वसंहितामूचे इन्द्र प्रमितये मुनिः। वाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम् ॥१॥ चतुर्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञवल्क्याय भार्गव। पराशरायाग्निमाठरायेन्द्र प्रमतिरात्मवान् ॥२॥ अध्यापत् संहितां स्वां माण्डुकेयमृषिं कविम्। तच्छिष्यो देवमित्रश्च सौभार्यादिभ्य ऊचिवान् ॥३॥ शाकल्यस्तत्सुतः स्वां तु पंचधा व्यस्य संहिताम्। वात्स्यमुद्गलशालीयगोखल्यशिशिरेष्वधात् ॥४॥ जातूकर्णश्च तच्छिष्यः स निरुक्तां स्वसंहिताम्। बलाकापैङ्ग्यवैतालविरजेभ्यो ददौ मुनिः ॥५॥ बाष्कलिः प्रतिशाखाभ्यो बालखिल्याख्यसंहिताम्। चक्रे बालाय निर्भुज्य काशीरश्चैव तां दधौ ॥६॥ बहृचाः संहिता ह्येता एतैर्ब्रह्मर्षिभिः कृताः। श्रुत्वैतं छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥७॥

विष्णुपुराण और भागवतपुराणके शाखा-तत्त्व को स्पष्ट करनेके लिये उपर्युक्त श्लोकों का निम्न प्रकार से अध्ययनपरम्पराप्रदर्शनद्वारा समझते हैं।—

विष्णुपुराण।



सारणी में भागवतपुराण के शाखातत्त्व का अर्थ-



यजुर्वेद का शाखातत्त्व ।

विष्णुपुराण में वाजसनेय व मैत्रायणीय-चरक शाखाओं के निम्न नाम उपलब्ध होते हैं ।

वाजसनेय शाखा	मैत्रायणीय	चरक
१. वाजसनेय	मानव	चरक
२. जाबाल	वाराह	कठ
३. बौधायनीय	दुन्दुभ	प्राच्य कठ
४. काण्व	छागेय	कपिष्ठल काठ
५. माध्यन्दिन	हारिद्रवीय	श्वेताश्वतर
६. शापेय	श्यामापनीय	मैत्रापण
७. कपाल	श्याम	
८. पौण्डव		
९. रसारविक		
१०. परमारविक		
११. परावर		
१२. नमद्ध		
१३. बौधेय		

इसी प्रकार वायुपुराण में भी भिन्न भिन्न शाखाओं के भेद आदि का वर्णन प्राप्त होता है। अधिक विस्तार के भय से लिखना उचित नहीं समझा ।

सामवेद ।

सामवेद की परमम्परा को विष्णुपुराण में निम्न प्रकार से लिखा गया है—

सामवेदतरोः शाखा व्यासशिष्यः स जैमिनिः।
क्रमेण येन मैत्रेय बिभेद शृणुतन्मम ॥१॥

सुमन्तुस्तस्य पुत्रोभूत् सुकर्माऽस्याप्यभूत्सुतः।
अधीतवन्तावेकैकां संहितां स महामुनी ॥२॥

सहस्रं संहिताभेदं सुकर्मा तत्सुतस्ततः।
चकार तं च सच्छिष्यौ जगृहाते महाव्रतौ ॥३॥

हिरण्यनाभिः कौशल्यः पौष्यञ्जिश्च द्विजोत्तमः।
उदीच्याः सामगाः शिष्याः तस्य पञ्चशताः स्मृताः॥४॥

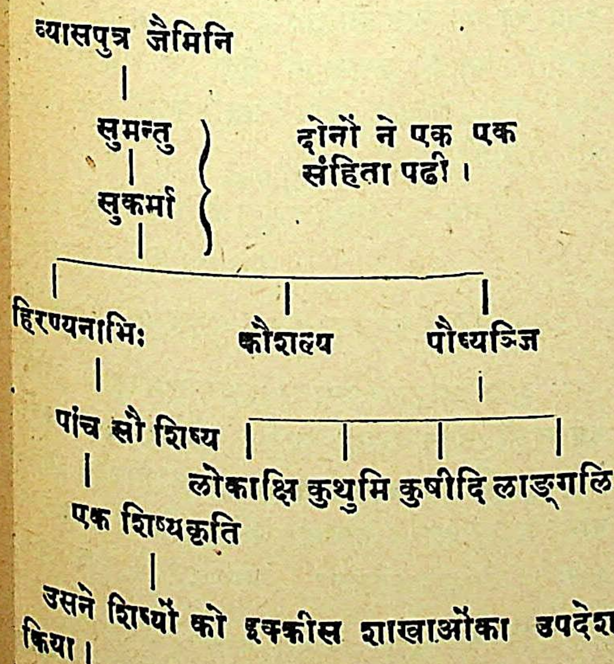
हिरण्यनाभात्तावत्यः संहितायैर्द्विजोत्तमः।
गृहीतास्तेपि चोच्यन्ते पण्डितैः प्राच्यसामगाः ॥५॥

लोकाक्षिः कुथुमिश्चैव कुषीदिर्लाङ्गलिस्तथा।
पौष्यंजिशिष्याद् भेदाः संहिता बहुलीकृताः ॥६॥

हिरण्यनाभः शिष्यश्च चतुर्विंशति संहिताः।
प्रोवाच कृतिनामाऽसौ शिष्येभ्यस्तु महामतिः।
तैश्चाऽपि सामवेदोऽसौ शाखाभिर्बहुलीकृतः ॥७॥

विष्णुपुराणे ।

सारणी में विष्णुपुराणोक्त सामवेद के शाखा-भेद—



इस प्रकार सामवेद की अनेकों शाखएं हो गईं।

अथर्ववेद ।

विष्णुपुराण में—

अथर्वणामथो वक्ष्ये संहितानां समुच्चयम्।
अथर्ववेदं स मुनिः सुमन्तुरमितद्युतिः ॥१॥

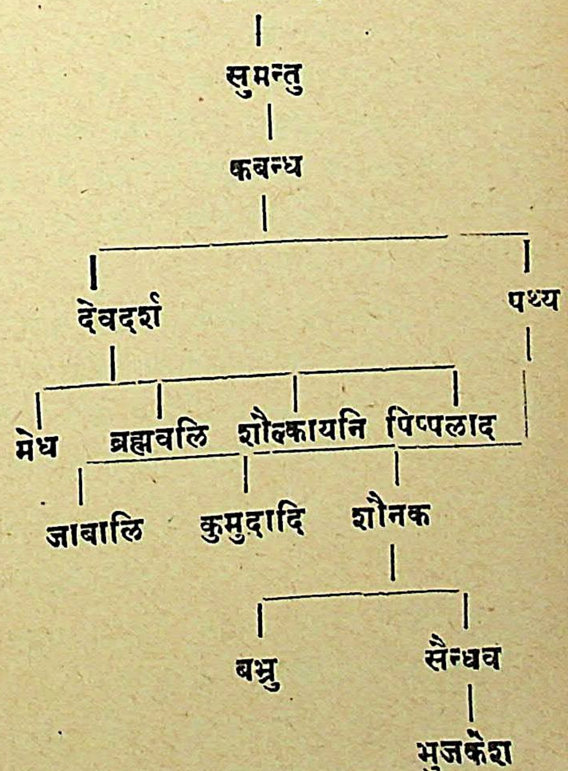
शिष्यमध्यापयामास कबन्धं सोऽपि तं द्विधा।
कृत्वा तु देवदर्शाय तथा पथ्याय दत्तवान् ॥२॥

देवदर्शस्य शिष्यास्तु मेधो ब्रह्मबलिस्तथा।
शौल्कायनिःपिप्पलादस्तथान्यो द्विजसत्तमम्॥३॥

पथ्यस्याऽपि त्रयः शिष्याः कृतायैर्द्विजसंहिता।
जाबालिः कुमुदादिश्च तृतीयः शौनको द्विजः॥४॥

शौनकस्तु द्विधा कृत्वा ददावेकां तु बभ्रवे।
द्वितीयां संहितां प्रादात् सैंधवाय च संज्ञिने॥५॥

सैन्धवभुजकेशाभ्यां भिन्नो वेदो द्विधा पुनः।



इस प्रकार पुराणोक्त मतानुसार वेदोंके व्यासको लिखकर इस पर विचार करना चाहिए। उपर्युक्त पुराणवचनोंसे प्रतीत होता है कि, वेदकी शाखाएं वृक्षकी शाखाओं की तरह हैं, अर्थात् जिस प्रकार एक ही वृक्ष की १०० शाखएं पूरा वृक्ष नहीं अपितु वृक्ष के अवयव हैं। इसी प्रकार वेद भी वस्तुतः एक था। वेदव्यास आदि ने उसे भागों में विभक्त किया; जिनका नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद पडा।

तदनन्तर जब मनुष्यों की बुद्धि और और भी क्षीण हो गई और वे एक एक वेद को स्मरण करने तथा समझने में असमर्थ हो गए, तब ऋषियों ने अपने पुत्रों और शिष्यों में उसके भाग कर करके बांट दिये। जिससे कि सम्पूर्ण संहिता सुरक्षित रह सके। जिस प्रकार वर्तमान काल में एक गुरु देखता है कि, मेरे शिष्य इतने योग्य नहीं है कि, मेरी सारी विद्या का ग्रहण कर सकें, अत: वह अपनी विद्याओं में से दर्शनविद्या एक शिष्य को तथा व्याकरणविद्या दूसरे को तथा इतिहासज्ञान तीसरे को, इसलिए दे दे कि मेरी विद्या का सम्प्रदाय किसी प्रकार विच्छिन्न न हो जाये, उसी प्रकार वेदों की शाखएँ भी अर्थात् एक ही वेद का बहुधा विभाग भी इसीलिये किया गया कि, किसी प्रकार वैदिक सम्प्रदाय का विच्छेद न हो जाए।

उपर्युक्त पुराणों के उद्धरणों से इस बात का यद्यपि भले प्रकार से ज्ञान हो जाता है कि, पुराणों का यही अभिप्राय है, तथापि मैं कुछ प्रतीक दे कर इस को स्पष्ट कर देना चाहता हूं-

(क) 'त एत ऋषियो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।'
(भागवतपुराण)

इन ऋषियों ने अपने अपने वेद का बहुत रूप से व्यास-विस्तार-विभाग किया।

(ख) एकविंशति भेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा।
भेदैरष्टादशैर्व्यासः पुराणं कृतवान् प्रभुः॥

उसने ऋग्वेद के इक्कीस खण्डभेद किये। [इसी] प्रकार एक ही पुराण के अठारह भेद उसने कि[ये]

नोट- इससे यह भी प्रतीत होता है कि, जिस प्र[कार] पुराणों का एक ही कर्ता है, इसी प्रकार वेदों [की] अनेकों शाखाओं का निर्माण भी एकही ने किया [है] और यह तब सम्भव है, जब शाखाअर्थ उपर्यु[क्त] ही लिया जाये।

(ग) शौनकस्तु द्विधा कृत्वा ददावेकस्तु बभ्रवे।
(विष्णुपुराण)

शौनक ने एक ही संहिता के दो भेद [कर] करके एक बभ्रु को और दूसरी सैन्धव को दे दी।

(घ) तैश्चाऽपि सामवेदोऽसौ शाखाभिः बहुलीकृ[तः]
(विष्णुपुराण)

उन शिष्योंने भी शाखाओं से एक ही साम[वेद] को बहुत कर दिया, अर्थात् बहुत भागों में विभक्त कर दिया।

परन्तु ऊपर हम बता आये हैं कि, पुराणों की [यह] बात मान्य नहीं हो सकती कि, सर्वप्रथम आदि सृष्टि में वेद एक ही था। ईश्वर ने भी एक [ही] वेद का ज्ञान ऋषियों के हृदय में दिया। क्यों[कि] स्वयं वेद यह बात बतलाते हैं कि, हमारा निर्मा[ण] चतुर्धा हुआ है। व्यास ने वेदों का चतुर्धा [विभाग] नहीं किया। ब्राह्मण और उपनिषदादि आर्षग्र[न्थ] भी इसी की साक्षी देते हैं।

२- शौनक की अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है-
' गौतमादौशिजः कुत्सः'

इसकी टीका करते हुये षड् गुरुशिष्यने लिखा है

" अथ वाष्कलकेऽस्य विशेषमाद्यमण्डले आ[द्ये] उपप्रयन्तो नासत्याभ्यां अग्निं होतारं इमं स्तो[मं] वेदिषद् इति वाष्कलकः क्रमः। उपप्रयन्त इमं स्तो[मं] नासत्याभ्यां अग्निं होतारं वेदिषद इति शाकल[कः] क्रमः अथैवमुक्तेरुत्तर मण्डलनवके न क्र[म] विपर्यस्त। इति।"

इस टीकाकार ने बताया कि शाकल, वाष्क[ल]

शाखाओंमें प्रथम मण्डल में कुछ भेद हैं। परन्तु आगे के नौ मण्डलमें कुछ भी भेद नहीं। इससे पता लगता है कि, उनके विचारानुसार शाखाएं वेद का भाग नहीं, अपितु वेद ही हैं। इससे भी पता चलता है कि, पुराणोक्त शाखातत्व माननीय नहीं।

३- महामुनि वेदव्यास ने छोटासा चरणव्यूह नामक ग्रन्थ भी लिखा है। उसमें एक स्थान पर कहा है-

'तेषामध्यायाश्चतुः षष्ठिः।'

अर्थात् उन शाखाओं के ६४ अध्याय हैं। इस के टीकाकारने भी लिखा है—

" तेषामाश्वलायनादिशाखानां समानाध्ययनं सूच्यते इति। "

अर्थात् इससे पता चलता है कि, उन " आश्वलायन " आदि शाखाओं का अध्ययनक्रम एक जैसा है।

इससे भी प्रतीत होता है कि, पुराणों का विचार मान्य नहीं।

४- कौषीत की आरण्यकवंश ब्राह्मणमें कहा है-

" अथ वंशो नमो ब्रह्मणे नम आचार्येभ्यो- गुणाख्याच्छाङ्खायनादस्माभिः स्फीतं गुणाख्याऽशाङ्खायनः कहोलात्। "

अर्थात् अब वंश ब्राह्मण का आरम्भ करते हैं- प्रभुको नमस्कार करके तथा आचार्यों को नमन करके—

गुणाख्या शाङ्खायन से हमने पढा है। गुणाख्य शांखायन ने कहोलसे पढा था।

इन्हीं शाङ्खायन के नाम से ऋग्वेद की एक शाखा शाङ्खायनी भी हो गई थी और वह बहुत प्राचीन शाखा है। आश्चर्य है, विष्णुपुराण और भागवतपुराण दोनों में इस का संकेत तक भी नहीं किया गया।

इससे भी पुराणोक्त विचार अमान्य है। यह सिद्ध होता है।

५- एक और भी बात है, यदि भिन्न भिन्न शाखाएं भी वेदों के भाग हैं, अध्याय हैं। तब तो सारे वेदों का अथवा एक ही वेद का अध्ययन सारी आयुभर तथा विशेषकर नियत समय में तो असम्भव ही है। परन्तु स्मृत्यादि इसके विरुद्ध कह रही हैं-

'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः।' (मनुस्मृति २-१६५)

अर्थात् सारा वेद पढना चाहिये। इस प्रकार पुराणों के विचारानुसार तो सामवेदियों के लिए अपनी आयुभर भी सहस्र शाखा के सामवेद का अध्ययन असम्भव है। परन्तु मनु ने लिखा है कि, प्रत्येक वेद को १२ साल में समझ कर लेना चाहिये।

'षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।' (३।१)

और भी कहा है-

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्। (३।२)

अर्थात् चार, तीन, दो अथवा एकही वेद पढकर के ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें। इससे प्रतीत होता है, पौराणिक विचारमन्वादि धर्मशास्त्रों के भी सर्वथा विपरीत हैं!

६- पुराणोक्त शाखातत्व के अमान्य होने में यह भी प्रमाण है कि, पुराणकारों ने ऋषियों के नाम भी बहुत अशुद्ध लिखे हैं। वाष्कल को वाष्कलि आदि।

७- वेदों की शिष्यपरम्परा के सम्बन्ध में वायुपुराण, भागवतपुराण, विष्णुपुराण आदि में ऐकमत्य भी नहीं है।

इससे प्रतीत होता है कि, पुराणोक्त शिष्यपरंपरा विचारपूर्वक नहीं लिखी गई। पौराणिकों का यह भी विचार है कि, सभी पुराण एक ही वेदव्यास भगवान् के बनाये हुए हैं। परन्तु उपरोक्त शिष्यपरम्परा के अध्ययन से प्रतीत होता है कि, यह विचार भ्रममूलक है। एक ही के बने होने पर इतना भेद नहीं हो सकता।

८- उपर्युक्त उद्धरण से यह भी पता चलता है कि, पुराणकार को केवल एक ही निरुक्तकार शाकपूणिका पता है। यास्क आदि का उसे बोध नहीं था। शाकपूणिका भी वास्तविक नाम शाकपूणि है, शाक-

*

पूर्ण नहीं। इसे सभी विज्ञ जानते हैं। इससे निश्चित ही है कि, पुराणों का शाखातत्वविषयक विचार आत्मविडम्बनामात्र ही है। वेदादि सच्छास्त्रों और प्रत्यक्षत: भी इसकी अमान्यता सिद्ध होती है। वर्तमान समय में भी जो शाखाएं उपलब्ध होती हैं, उनके दर्शन से भी यही प्रतीत होता है कि, शाखाएं भी वेद ही हैं। उनमें बहुत थोडा थोडा भेद जान पडता है। इसलीये पौराणिकों का यह मत है कि, " वेदांशाः शाखाः " शाखाएं वेद का अंश हैं, सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। अतः अमान्य है, यह सिद्ध हुआ।

पौराणिक विचारों की संगति।

एक प्रकार से पुराणों के उपर्युक्त विचार की भी संगति की जा सकती है। क्योंकि मैं मानता हूं कि, पुराणों में बहुत कुछ उपादेय अंश है। सम्भव है, पुराणों का बहुत कुछ अंश बहुत पुराना न हो। बहुत पुराण एकान्ततया अनुपादेय नहीं हैं। अब भी पुराणों से वेदार्थ करने में बहुत सहायता मिलती है। इस बात को तो स्वीकार करना ही चाहिये। भवतु।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वेदव्यास का अर्थ वेदों का अपूर्व पण्डित है। वह किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं। ऐसे वेदव्यास प्रत्येक युग में हुआ करते हैं। और वैदिक प्रतिष्ठा को स्थापित कर जाते हैं। ऐसा मान लेने पर शाखाएं वेदांशरूप हैं। इस का यह अर्थ हुआ कि, प्राचीन काल में सभी आर्य चारों वेद पढते थे, पश्चात् एक वेद के पढने की परिपाटी तत्कालिक किसी वेदव्यास ऋषि ने चलाई। आगे चल कर सारे वेदों के भी पण्डित लोग कम हो गये, तब कुछ कुछ अंशों के ऋषि होते थे। अर्थात् जहां पहिले एक एक वेद के सब ऋषि होते थे, वहां आगे चलकर एक एक मण्डल अथवा अध्यायके ऋषि होने लगे और आगे चलकर इससे भी कम वेदांश के ऋषि होने लगे। इसी का नाम वेदों का विभाग करना है। इसी प्रकार विभाग करते करते ही वेदों के अध्याय, मण्डल, अनुवाक,

सूक्तादि विभाग बने, जो कि आजकल वेदसंहिता पर निर्दिष्ट हैं। यह विभाग आदिसृष्टि में न था। ऋषियों ने सुविधानुसार इसका निर्मा किया है। यदि वेदांशरूप शाखातत्व का यही है, तो मेरे विचार में यह युक्तियुक्त है। पर यदि शाखाएं जो वर्तमान समय में उपलब्ध हो हैं, उन से अभिप्राय है। तो वे वेदांश नहीं हैं। प्रत्यक्ष सिद्ध है, प्रमाणसिद्ध और युक्तिसिद्ध है

पुराण और सत्यव्रत सामश्रमी।

पुराण एकदम अनुपादेय नहीं है, ऐसा विच हम ऊपर लिख आये हैं।

आचार्य दयानन्दने पुराणों को मधुविषसम्पृक्त न्नवत् त्याज्य माना है। सम्भवतः ऋषि ने वेद ओर प्रवृत्ति कराने के लिये ही ऐसा कहा होगा परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि, वर्तमान पुरा ग्रन्थ सर्वथा निर्भान्त नहीं है। श्री सत्यव्रत सत्याश्रमी एक निष्पक्षपाती विद्वान् हुये हैं, उन पुराणों के सम्बन्ध में क्या विचार हैं? संक्षेप से लिख देना भी अनुचित न होगा।

(क) ऐतरेयालोचन पृ० १६, प्रकरण द्वितीय-

" विश्वामित्रस्याऽस्य जन्मतः क्षत्रियत्वं वसिष्ठ धेर्धेनुः प्रार्थनम्, तदलाभात् तच्छतपुत्रनाशनं ततस्तपःप्रभावात् ब्राह्मणत्वलाभ इति। पौराणि कथाऽपि स्यादन्योपयोगित्वेनादारणीया, किन्तु नूनमामूलकल्पितैव न स महर्षिः कदाप्यास ब्राह्मणः नाऽपि कदाऽपि तेन वसिष्ठस्यधेर्धेनुप्रार्थ कृतम् न च तच्छतपुत्रनाशस्तथाविधस्य मह कथमपि युज्यते? नैव स तपःप्रभावाद् ब्राह्मणत्वम ति सर्वमेवेदमसङ्गतमनृतं क्व: पौराणिकाना वेदमूलकत्वाभावाद् अंशशो वेदविरुद्धत्वाच्चे वेदानुशीलिनां सुविदितमेवेति दिक्।

अर्थ- विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय था। उ वसिष्ठ से धेनु की प्रार्थना की, उसके प्राप्त न हो से विश्वामित्र ने वसिष्ठ के सौ पुत्रों को मार डा और पुनः तपस्या के प्रभाव से ब्राह्मण हो गया यह पौराणिक कथा भी यद्यपि गुणकर्मानुसारि

वर्णव्यवस्था है, इस बात की पुष्टि के लिये प्रस्तुत की जा सकती है। परन्तु यह सर्वथा गप्प है और कल्पित है। वह महर्षि कभी ब्राह्मणेत्तर नहीं था और नहीं कभी उसने वसिष्ठ ऋषि से धेनु की प्रार्थना की और नहीं यह कभी सम्भव है कि उस प्रकार का महर्षि वसिष्ठ के सौ पुत्रों का वध करे। और नहीं वह पुनः तपप्रभाव से ब्राह्मण हुआ है।

वस्तुतः पौराणिकों का यह कथन सर्वथा असंगत और असत्य है। अतः यह वेदमूलक नहीं, अपितु वेदविरुद्ध है। इस बात को वेदपाठी विद्वान् भले प्रकार से जान सकते हैं।

इससे प्रतीत होता है कि श्री सामश्रमीजी पुराणों को प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मानते। यहां प्रसंगशः पाठकों को इतना संकेत कर देना भी अनुचित न होगा कि श्री सामश्रमीजी वर्णव्यवस्था को गुण-कर्मानुसारिणी ही मानते हैं। अतः विश्वामित्र की उपर्युक्त कथा को भी वे अपने पक्ष की पुष्टि में उपस्थित कर सकते थे। परन्तु पौराणिक होने से अविश्वस्त जानकर उन्होंने उसकी उपेक्षा की है। उपर्युक्त उद्धरण का यही आशय है।

(ख) "विलीयेत च तदा वेदांशा शाखा इति पौराणिकं मतं सूर्योदये यथाऽन्धकारः प्रत्यक्षदृश्यं हयेतत्।" (ऐतरेयालोचन पृ. १२३)

अर्थ- शाखाएं वेद का अंश हैं। ऐसा पौराणिक विचार नष्ट हो गया, ऐसा समझना चाहिये। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है।

श्री सामश्रमीजी ने यहां भी पौराणिक विचारों को अन्धकार की उपमा दी है। जिससे उनकी अप्रामाणिकता की ध्वनि होती है।

(ग) 'अथाऽस्य देवराजयज्वनो व्याख्यानशैलीत्व-जटिलेति प्रशस्यैव विपश्चिताम्।'

परं पौराणिकमतप्रबलकालप्रभवत्वादस्य बहुत्रैव पौराणिकमताऽनुसृता अपि व्याख्या सन्दृश्यते। तद् यथा—

(क) 'पञ्चाशत् कोटियोजनविस्तीर्णेति पृथिवी।' १।१।११

(ख) पर्वतोऽपि पक्षच्छेदात् पूर्वमन्तरिक्षे व्रजति स्म।

(१।१०।११ निरुक्तालोचन पृ. २७७)

अर्थात् श्री देवराज यज्वा की व्याख्यानशैली सरल है। अतः उसकी प्रशंसा करनी चाहिये। परन्तु उसकी व्याख्या पर पौराणिक मत का प्रबल प्रभाव है। अतः उस के निघण्टुव्याख्यानमें पौराणिक मतानुसारिणी भी व्याख्या बहुत स्थलों पर है। उदाहरण के लिये—

(क) पृथ्वी पचास करोड योजन लम्बी है।

(ख) पहाड भी पंख काटने से पूर्व आकाश में उडते थे। आदि आदि।

इससे भी प्रतीत होता है कि, पुराणों को श्री सामश्रमीजी प्रमाणिक नहीं मानते। इस प्रकार पुराणों को काव्य की दृष्टि से तथा अन्य दृष्टियों से भी उपादेय मानते हुये, हम उन्हें निर्भ्रान्त नहीं मान सकतें। ऋषि दयानन्द का पुराणों के विरुद्ध किया गया आन्दोलन इसी अभिप्राय से है। हमारे विचारों से तो पुराणनामक प्राचीन ग्रन्थ की शैली पर ये नवीन पुराण बने हैं, इनमें बहुत कुछ मिलावट भी हो गई है। वेद का अर्थ करते हुए, इनका अध्ययन भी काम आता है। विशेषतः वैदिक आख्यानों की व्याख्या के अवसर पर।

वेद की शाखायें, वेदवृक्ष की शाखायें हैं। और पुराणों का विचार तो अग्राह्य है, प्रत्यक्ष विरुद्ध है। वर्तमान उपलब्ध होनेवाली शाखायें वेद का भाग न होकर पूरा वेद हैं। जहांतहां अपाततः भेद अवश्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार पुराणोंके शाखातत्वविचारकी समीक्षा करके हम नवीन विचार पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

१. शाखातत्व और नवीन विचार।

ऊपर शाखातत्व के सम्बन्ध में श्री सत्यव्रत सामश्रमीजी के विचार उनके ग्रन्थके उद्धरणसहित

लिखे गये हैं। संक्षेप से उनके विचारानुसार उनके मन्तव्य की पोषक युक्तियां निम्न प्रकारसे हैं-

(१) प्राचीन काल में लिपि न थी; अतः वेद भी अनुश्रुव ही कहलाते थे। अर्थात् वेदों को सुना ही जाता था, पढा नहीं। इसीलिये आगे चलकर मूल संहिताओं में कुछ भेद होता गया। यहीं भेद शाखा-भेद का कारण है।

(२) देशकालादि के भेद से भी मूल संहिताओं में भेद होना आवश्यक है।

(३) आचार्यों के प्रकृतिभेदसे भी संहिताओं में भेद आ जाना आवश्यक है।

(४) अध्ययनक्रमके भेदसे-मूल संहिता के पाठ की न्यूनाधिकता से और यज्ञादि के अनुष्ठानभेद से शाखाओं में भेद हुआ है।

अब क्रमसे इन युक्तियों पर विचार करना है कि, यह कहांतक उचित और मान्य हैं। इन युक्तियों पर विचार करने से पूर्व हम यह लिखना आवश्यक समझते हैं कि, पाश्चात्य और पौर्वात्य विचारकों में यह भेद क्यों है ? भेद का मूलतत्व क्या है ?

मूलविचार में भेद।

नवीन विचारकों और पुरातन विचारकों में अथवा वर्तमान नव्य ऋषियों और पुराने ऋषियों में मुख्य विचारभेद ही है। नवीन विचारक मानते हैं कि, सब बातों का विकास हो रहा है, अर्थात् भाषा, ज्ञान, सभ्यता आदि सभी मनुष्यसम्बन्धी बातें विकास का परिणाम हैं। इतना ही नहीं, पाश्चात्य विचारक तो यह भी मानते हैं कि, मानवजगत् में ही नहीं जडचेतन सभी प्रकार के विश्व में विकास का क्रम काम कर रहा है। उनके विचारानुसार तो मनुष्य भी क्रमिक विकास का ही परिणाम है। यद्यपि विकासवादियों में इस विकास के सम्बन्ध में एकता नहीं कि, मनुष्य वानर अथवा वनमनुष्य का ही विकास है। अथवा वानर मनुष्य का विकास है। तात्पर्य यह है कि, विकासवाद का पाश्चात्य विचारकों पर अथवा उसी ढंग के विचार करनेवाले भारतीय विद्वानों पर गहरा प्रभाव पडा है।

हम यह मानते हैं कि, प्राचीन आर्य भी विकास-वाद को मानते थे और हम भी मानते हैं। परन्तु इन दोनों विचारों में मौलिक भेद है। नवीन विचारों के विद्वान् उपर्युक्त विकासवादके सिद्धान्तानुसार मानवीय भाषा-ज्ञान-लिपि आदि सभी को क्रमिक विकास का परिणाम मानते हैं। परन्तु प्राचीन ऋषि तथा उनके विचारानुसारी भारतीय ऐसा समझते हैं कि, आदिम भाषा और ज्ञान अपौरुषेय है। अर्थात् सृष्टि के आदिमें परम पिता परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा द्वारा उस ज्ञान तथा भाषा को दिया, जिसे वेदज्ञान तथा वैदिक भाषा कहते हैं। प्राचीन विचारकों का ऐसा भी सिद्धान्त है कि, वेद-ज्ञान ही पूर्ण है और वेदमें सब सत्य विद्याएं साक्षात् अथवा परम्परासे आ गई हैं। संसार की सभी सच्चाइयां वेद से गयीं हैं।

इसी प्रकार भाषा के सम्बन्ध में भी प्राचीन विचारकों का ऐसा निश्चय है कि, आदिम भाषा क्रमिक विकास का परिणाम नहीं, अपितु आदिम भाषा भी ज्ञान की भान्ति अपौरुषेय अथवा ईश्वर-प्रदत्त है। भाषा और ज्ञानका अभेद अथवा अति निकट सम्बन्ध है। महाकवि कालीदास ने रघुवंश के आरम्भ में कहा है कि-

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ।" अर्थात् शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। महाभाष्य में लिखा है-

" सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। "

अर्थात् शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थका सम्बन्ध, तीनों नित्य है- सिद्ध हैं। शब्दार्थ का सम्बन्ध ज्ञानवाला ज्ञानरूप ही है। भाव यह है कि भाषा के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये गूंगे और बहिरे को ज्ञान नहीं होता। मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में मुख्य भेद है कि, मनुष्य का ज्ञान और भाषा स्वाभा-विक नहीं, नैमित्तिक है। जिस प्रकार कुत्ते का बच्चा बिना सिखाये ही नदी में अथवा जल में डाल देने पर तैरने लग जाता है और बोलनेयोग्य होते ही बोलने लग जाता है, इस प्रकार मनुष्य का बच्चा

करता। तात्पर्य यह है कि, मनुष्य सामाजिक प्राणी हैं, अत: भाषा और ज्ञान को समाजद्वारा ही किसी के संसर्ग से आते हैं, स्वाभाविक नहीं। इस नियम के अनुसार प्रारम्भ सृष्टि में चाहे वह तिब्बत में हुई हो, उत्तरी ध्रुव में हुई हो, अथवा भारतवर्ष में ही हुई हो, जो भी आदिम मनुष्य उत्पन्न हुये उनमें भी ज्ञान और भाषा नैमित्तिक ही आये, अर्थात् किसी अन्य मनुष्यद्वारा उनमें ये गुण आये। स्वभावत: विकास के अनन्तर नहीं, ऐसा आर्यों का विश्वास है। इस सम्बन्ध में आर्यों का यह भी विश्वास है, क्योंकि परमात्मा मनुष्यों को उनके शुभाशुभ कर्मानुसार पापपुण्य का अच्छा और बुरा फल देता है और परमात्मा को ऐसा करने का तत्व न्यायानुसार अधिकार न होना चाहिये, जबतक कर्तव्य की विधि और अकर्तव्य का निषेध वे मनुष्यों को न बता दें। अर्थात् जबतक धर्म की चोदना न कर दें और ऐसा करना आदिसृष्टि में ही उचित है और यह आदिज्ञान पूर्ण ही होना चाहिये, क्योंकि प्रभु भी पूर्ण है और अपूर्ण होने का कोई प्रयोजन भी नहीं हो सकता। कुछ भी हो, इतना माने विना तो कोई चारा नहीं कि, आदिम ज्ञान विकास का परिणाम नहीं। यदि ज्ञान भी विकास का परिणाम है, ऐसा माना जाये, तो इसके अनुसार अफ्रिका के जंगली मनुष्यों में उसके परिणाम दृष्टिगोचर होने चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। इस प्रकार के असभ्य पुरुषों ने आजतक असंख्यों वर्षों में (जबतक कि वे आर्यों से पृथक् हो कर भिन्नभिन्न स्थानों पर आ बसे) कुछ नैमित्तिक ज्ञान की वृद्धि होनी चाहिये थी, परन्तु अबतक वह स्वाभाविक खाना-पीना-सोना आदि ज्ञानके अतिरिक्त-आयुर्वेद-वास्तुविद्या, काव्य आदि कलाओं से पूर्ववत् सर्वथा अनभिज्ञ ही हैं। अतः आदिम ज्ञान भी विकास का परिणाम नहीं, अपितु नित्य अपौरुषेय ही है।

भाषा।

इस प्रकार भाषा भी क्रमिक विकास का परिणाम नहीं। प्राचीन पुरुषों ने संकेत आदि से कार्य का निर्वाह न होते देखकर ही भाषा का निर्माण किया। ऐसा कथन तो युक्ति के विपरीत है। संकेतों का निर्धारण करना तो भाषा के अनन्तर की चीज है। जबतक कि भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनियों का ही उत्पादन नहीं हुआ, तबतक संकेतों का किस प्रकार निर्माण होगा।

उदाहरण के लिये- हम यह सोचते हैं और निश्चय करते हैं कि, आज से घास पदार्थ को "हुश शब्द" से पुकारेंगे। इसी का नाम संकेत है। परन्तु जबतक (ह. उ. श.) इन ध्वनिया का निर्माण नहीं हुआ, तबतक संकेत किस प्रकार होगा और फिर संकेत निर्धारित करने के लिए भी तो भाषा की आवश्यकता होगी। मनुष्य तो ध्वनियोंका निर्माण भी समाज से ही सीखता है। ऐसा अकबर आदिने परीक्षाद्वारा निर्धारित किया है। यदि भाषा के सम्बन्ध में यह कहा जाये कि, कौवा आदि पक्षियों और पशुओं की ध्वनियां सुनकर ही आदिम मनुष्यों ने "क" आदि भिन्न ध्वनियों का निर्माण किया।

तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पहिले तो कोई भाषा बोल नहीं सकता, जब तक उसे उस ध्वनि के उच्चारण का अभ्यास नहीं हुआ अथवा बचपन उसने उस ध्वनि को अनेकों बार नहीं सुना। जिस प्रकार अर्बी भाषा में 'त' की ध्वनि नहीं होती और मैंने देखा है कि, अरब के मनुष्य 'त' की ध्वनि उच्चारण नहीं कर सकते। जिस प्रकार अङ्ग्रेज भी 'त' को 'ट' ही बोलते हैं। और यदि कहा जाय कि, पक्षियों की 'कांय कांय' आदि ध्वनि सुनते सुनते आदिम मनुष्य ऐसे ही बोलने लग गए होंगे, तो हम कहेंगे कि यह भी ठीक नहीं—

एक ही पक्षी के उच्चारण को एक रूपसे नहीं समझा जाता-जिस प्रकार कुक्कुट (मुर्गे) की आवाज को हम 'कुकडूं कुडूं' समझते हैं, इसी प्रकार इङ्गलिस्तान के वासी उसे 'डाडिलडू' समझते हैं। अतः इससे भी कुछ निश्चय नहीं हो सकता, जिस प्रकार बाजे की एक स्वर से नाना भाषा और

ध्वनियोंवाले गीत गाए जा सकते हैं, उन गीतों को न जाननेवाला मनुष्य उनसे गीत की ध्वनियों को नहीं जान सकता, उसी प्रकार किसी भाषा को न जाननेवाला मनुष्य भी इन पशुपक्षियों की ध्वनियों से किसी प्रकार भी भाषा का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यह मानना चाहिये कि आदिम भाषा भी अपौरुषेय ही है। पाश्चात्य इस सिद्धांत को इसलिए भी नहीं मान सकते, क्योंकि वे ईश्वर को नहीं मानते, अतः वह इस बात की तो सम्भावना भी नहीं कर सकते कि, ज्ञान और भाषा भी ईश्वरीय हो सकते हैं। परन्तु उपर्युक्त रीति से यह सिद्ध हो सकता है कि, आदिम भाषा क्रमिक विकासका परिणाम नहीं।

ज्ञान की पूर्णता।

क्योंकि आदिम ज्ञान और भाषाविकास का परिणाम नहीं, अतः आर्यों का यह भी विश्वास है कि, आदिम भाषा और ज्ञान भी पूर्ण हैं, क्योंकि वे ईश्वरीय है और ईश्वर पूर्ण हैं। अब हमें यह विचार करना चाहिये कि, वह आदिम भाषा और ज्ञान कौनसे हैं।

आदिम भाषा।

भाषाओं के विकास में यह मुख्य नियम होता है कि, देशकालअवस्थादि के अनुसार मूल भाषा को कम करके अन्य भाषा की उत्पत्ति करली जाती है- इस नियम के अनुसार तो वही भाषा मूल होनी चाहिये, जो सबसे अधिक उच्चारणोंवाली हो और इस प्रकार आदिभाषा वैदिक भाषा ही सिद्ध होती है, चूंकि सब भाषाओं से अधिक उच्चारण उसी में ही हैं।

इससे यह प्रतीत होता है कि, वह पूर्ण भी है और ऊपर जो आर्यों का यह सिद्धान्त बताया है कि, आदिम भाषा पूर्ण भी है, क्यों पूर्ण ईश्वर से उसकी उत्पत्ति हुई है, वह भी ठीक प्रतीत होता है।

आदिम ज्ञान।

ऊपर यह लिखा है कि, आदिम भाषा वेद की भाषा है। अन्य भाषाएं उससे ही उत्पन्न हुई हैं (अधिक विस्तार के भय से इसे अधिक लिखना उचित नहीं समझा।) उस भाषा में जो आदिम ज्ञान दिया गया, वह कौनसा ज्ञान है? आर्यों का मत है कि, वह ज्ञान वेद है। सामवेद में पूर्वार्चिक ६।३।१०।१ में परमात्मा ने कहा है कि, आदिज्ञानका देनेवाला मैं ही हूं।

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वन्देवेभ्यो अमृतस्य नाम।"

अर्थात् मैं आदिज्ञान का उत्पादक हूं और देवों से पूर्व अमृत का केन्द्र हूं। साथ ही यह ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान है, अतः वह पूर्ण भी है। पाश्चात्य विद्वान् यह बात किसी भी प्रकार नहीं मान सकते कि वेदज्ञान पूर्ण है, यद्यपि अब वेदों का कुछ आदर भी करने लग गए हैं, तथापि वेदों को सब सत्य विद्याओं का भण्डार मानना उनके लिए कठिन है। भविष्य में ऐसा हो जाय, तो सम्भव है।

विशेषता।

वेद और वेद की भाषा की जो सबसे बडी विशेषता यह है कि, वेदमें जिस पदार्थ के लिए जो संज्ञा निर्धारित किया गया है, वह यों ही नहीं रख दिया गया। उसके गुणकर्मादिक को देख कर ही रखा गया है और वेद की भाषा में यह भी एक विशेषता है कि, जिन धातुओं से जो शब्द बनता है और उस धातु के अर्थाऽनुसार उसका गुणकर्मादिक जिस पदार्थ में मिलता है, उसका नाम निश्चित किया गया है, उस धातु का यह अर्थ क्यों हुआ, इसका उत्तर भी वैदिक भाषा ही दे सकती है, अन्य भाषा नहीं।

(क्रमशः)

अष्टाङ्गयोगमें अद्भुत शक्ति

(ले० श्री० **योगिराज उमेशचन्द्रजी**, संचालक, श्रीरामतीर्थ योगाश्रम, बम्बई)

प्रत्याहार ।

जब साधक अष्ट प्रकारके प्राणायामका शनैःशनैः अभ्यास कर परिपक्व होता है, तब प्रत्याहारके लिये अधिकारी बन जाता है। प्रत्याहारमें मुख्यतया मनको निरोध करनेका उपाय किया जाता है। प्रत्याहार सिद्ध होनेके समयमें साधकको अष्ट सिद्धियोंकी उपलब्धि होना सम्भव है। परन्तु अपने कल्याण (आत्मकल्याण) चाहनेवालेको उन सिद्धियोंका सहारा नहीं लेना चाहिये। सिद्धि सीमित वस्तु है। सीमित वस्तुओंका स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण शरीरसे सम्बन्ध रहता है। स्थूल शरीर आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी एवं पंच महाभूतोंके मिलनेसे बनता है और उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होनेसे नाशवान् है। इस शरीरके नाशवान् होनेसे स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीरके साथ रहनेवाली सिद्धियां भी नाशवान् हैं। उन्नीस तत्त्व (पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय; पंच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और महाकारण शरीर आत्मासे भिन्न हैं और जड हैं। स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु परवश हैं। आत्माकी सत्तासे उनका सर्व कर्म चल रहा है। आत्माके प्रकाशसे उसमें प्रकाशका अस्तित्व है। एवं आत्माके आनन्दसे उन सर्वमें आनन्दका भास होता है। योगाभ्यासमें निरत रहनेवालोंके पास अनायाससे सिद्धि प्राप्त होनेपर भी उन सिद्धियोंकी ओरसे अपनी दृष्टिबिन्दु हटाकर साधकको आगे बढना चाहिये। महात्मा निश्चलदासजीने अपने विचारसागरमें वैराग्यके सम्बन्धमें बडी महत्त्वकी बातें लिखी हैं। देखिये—

" **ब्रह्मलोकलौं लोग जो,**
करै सबनको त्याग।
वेद अर्थ ज्ञाता मुनि,
ताहि कहत वैराग ॥ "

सर्व प्राणियोंका विष्ठा कौवा ग्रहण करता है; परन्तु कौवाका विष्ठा कोई ग्रहण नहीं करता। इसी तरहसे मृत्यु लोकसे ब्रह्मलोक तकका सर्व सुख (भोग) काकविष्ठावत् त्यागना चाहिये। साधककी परीक्षा इसी अवसर पर होती है। जो सच्चे साधक होते हैं, वे इस नश्वर सुखके पीछे अपनी अमूल्य जिंदगीको व्यतीत नहीं करते हैं। देखिये—जैसे व्यवहारमें मामूलीसे मामूली कुछ व्यापार, उद्योग अथवा नौकरीमें सफलता प्राप्त करनेके लिये अनेक विधानोंसे कई बरसों तक कष्ट सहन करना पडता है, ऐसेही विषयसुख-त्यागरूपी दुःख विना सहन किये उस परमपद अथवा अखण्डानन्दकी उपलब्धि सर्वथा असंभव है। इसके सम्बन्ध में साधु निश्चलदासजीका यह दोहा याद रखना चाहिये—

" **जो सुख नित्य प्रकाश विभु,**
नामरूप आधार।
मति न लखे जिहि मति लखे,
सो मैं अपरंपार ॥ "

और सुनिये—

" **न तद् भासयते सूर्यो**
न शशांको न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते
तद्धाम परमं मम ॥ "

यह श्रीकृष्ण भगवानका कितना सुन्दर वाक्य है। जहां सूर्य और चन्द्रका प्रकाश नहीं जा सकता, जहां अग्नि और वायु पहुँच नहीं सकते, जहां पहुँचनेके बाद महा दुःखरूपी जन्म-मरण नहीं है, ऐसा उत्तम स्थान प्राप्त करनेके लिये किस तरहसे अभ्यास और वैराग्य रखना चाहिये ? वे सूज्ञ पाठक ही विचार करें। प्रत्याहारांतर्गत मुद्रा, षट्चक्र-भेदन क्रियाके अभ्यासकालमें नव प्रकारके विघ्नोंका उपस्थित होना स्वाभाविक सा है; किन्तु सद्गुरु द्वारा सब विघ्न दूर हट जाते हैं और साधनमें सफलता मिलती है। उन विघ्नोंके नाम और उनका निवारण आगे यथा-योग्य लिखा जायगा।

आगे हम सुविज्ञ पाठकोंके लाभार्थ शरीर-स्वास्थ्यके कुछ सारांशरूपमें योगका बहिरङ्गसाधन यथा-

योग्य बतलानेका प्रयत्न किया था। आज हम योगके अन्तरङ्गसाधन, जिनके द्वारा अखण्ड आनन्दकी उपलब्धि होती है, उन्हें यथाक्रम बतलाना चाहते हैं। प्राणायामके बाद पांचवां अङ्ग प्रत्याहार कहा जाता है।

प्रत्याहार।

" स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।"

(योगदर्शन २-५४)

अर्थात्, अपने-अपने विषयोंके सङ्गसे रहित होनेपर इन्द्रियों का चित्तके रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' कहाता है।

सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जावे, तो प्रत्याहारका पालन करना अत्यन्त दुस्तर भी है और अत्यन्त सुलभ भी है। वर्तमान समयमें पंच कर्मेन्द्रिय और पंच ज्ञानेन्द्रियोंको क्षणिक आनन्द देनेवाले विशेष रूपसे बड़े-बडे शहरोंमें सिनेमा, नाटक, सर्कस, वेश्यागृह, भोज्य पदार्थ, बहुमूल्य वस्त्र वगैरहका अस्तित्वसे मनको स्वाधीन रखना दुस्तर-सा हो गया है; किन्तु जिनको अपना परम कल्याण, परम लक्ष्य, परम धाम, परमानन्दस्वरूप आत्मदर्शनका एक मात्र लक्ष्य-बिन्दु होता है, उनके लिये चाहे शहर हो अथवा गहन जङ्गल, एकान्त सर्वत्र माया नगरी ही दीखती है। अनेक मनुष्य यह शंका किया करते हैं कि योगका सांगोपांग अभ्यास वे ही कर सकते हैं, जो घर बार त्याग दिये हैं, ब्रह्मचारी हैं, व्यवहारके झंझटोंमें न रहनेवाले, पर्वत, नदी, गंगा तटके निवासी और सर्वसंगोंसे रहित हों। उनका यह कथन एकदेशीय और संकुचित है। कारण यह है कि जिनका मन अपने स्वाधीन नहीं, वे घरद्वार छोडकर जङ्गलमें रहें, तो भी अनेक प्रकारकी मानसिक कल्पनाओंसे युक्त होकर निश्चित कार्य करनेमें असमर्थ रहेंगे। अत्यन्त सूक्ष्म गतिसे पता लगावे, तो वर्तमान कालमें भी बडे-बडे राजेमहाराजे सर्व व्यवहार चलाते हुए अपने कल्याणको देनेवाला परम अहैतुक कर्तव्य कर रहे हैं। पांच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय और एकादशवीं इन्द्रिय मनको जागृत अवस्थामें सर्व कार्य करते हुए भी उस सत्-चित्त-आनन्दरूपी आत्म-केन्द्रसे नहीं हटाना, उसीका नाम प्रत्याहार है। प्रत्याहारदशामें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धजनित त्रिविध ताप (दुःख) का सर्वथा अभाव होता है, जैसा कि गीतामें बताया है —

" निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययंतत्॥
(गीता अ० १५,-श्लोक ५)

जिसका अभिमान और मोह नष्ट हो गया हो, जिन्होंने विषयासक्तिरूपी मोहको जीत लिया हो, जो नित्य आत्म-ज्ञानके विषयमें निरत हों, जिनकी सर्व वासना नष्ट हो गई हो और जो मनुष्य सुखदुःखरूपी द्वन्द्वसे मुक्त हुए हैं, वे ही उस शाश्वत पदको पा सकते हैं। वर्षा ऋतुके नष्ट होते ही जैसे बादल आकाशको त्याग देते हैं, उसी प्रकार प्रत्याहारके पंथमें पैर रखते ही साधकका अन्तःकरण मोह और मानको त्याग देता है।

कुण्डलिनी उत्तान करनेका उपाय।

प्रथम यह अनुभूत कर लेनेकी जरूरत है कि कुण्डलिनी क्या है। हमारे शरीरमें किस स्थानपर विद्यमान है, उसका मुख्य कार्य कौनसा है। हमारे (आत्मा) से और कुण्डलिनीसे क्या सम्बन्ध है। उसको जागृत करनेकी आवश्यकता है या नहीं, है तो किस कारणके लिये, आदि अनेक आशंकाओंका स्पष्टीकरण करनेके बाद ही ऐसे गहन विषयोंके ग्रहण करनेकी आन्तरिक तीव्र इच्छा रखनेवाले अपने आत्मकल्याण चाहनेवाले आत्मानुरागी प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इस लेखद्वारा अत्यन्त लाभ होगा।

कुण्डलिनी किसे कहते हैं ?

एक नाडीका नाम कुण्डलिनी है, वह नाडी अत्यन्त सूक्ष्म है। साढेतीन अंगुल लम्बी है। योगशास्त्रमें उस नाडीके नाम नागिन, बालरण्डी और कुण्डलिनी शक्ति आदि हैं।

मुख्य रहनेका स्थान।

मणिपूरक चक्र (नाभि स्थान) से चार अंगुल नीचे और लिंगमूल (शिश्नेंद्रिय) से चार अंगुल ऊपर जो स्वाधिष्ठान चक्र नामसे प्रसिद्ध है, उसी स्थानमें कुण्डलिनी विद्यमान है। हमारे शरीरमें मुख्य सात चक्र (नाडि-योंका समूह) उपस्थित हैं। इन सात चक्रोंमेंसे एक

'स्वाधिष्ठान' चक्र है, स्वाधिष्ठान चक्रका दूसरा नाम 'कन्द-स्थान' है। उसी कन्द-स्थानमें कुण्डलिनी शक्ति समस्त नाडीसमूहको वेष्ठित करती हुई साढेतीन आंटे देकर अपनी पूंछ मुखमें लिये हुए सुषुम्णा नाडीके छिद्रको अवरोध करती हुई सर्पके समान सोई हुई है।

मनुष्यमात्रके मेरु दण्डके उभय पार्श्वमें सूर्य, चन्द्र नामक दो नाडियां हैं। इन दोनों नाडियोंके मध्यमें अति सूक्ष्म एक दूसरी नाडी है, जिसका नाम 'सुषुम्णा' है। सुषुम्णा नाडीके नीचेके स्थानमें 'आधार-चक्र' (चतुर्दल पद्म) है। उसके ऊपरके भागमें रहनेवाले दूसरे स्वाधिष्ठान (षट्दल पद्म) पर कुण्डलिनी शक्ति सर्पाकारमें कुण्डली बनाकर विद्यमान है।

कुण्डलिनी शक्तिको किसलिये उत्तान करना चाहिये ?

संसारमें जो कुछ कार्य हो रहा है, वह सब कुछ न कुछ कारणके सम्बन्ध रखता है। कारण विनाकार्य नहीं हो सकता। कुण्डलिनी शक्तिको जागृति करनेका मुख्य कारण यह है कि विशुद्ध चक्रमेंसे टपकते हुए चन्द्रामृतको कुण्डलिनी शक्ति खा जाती है। अतएव चन्द्रामृत शरीरके सर्व अवयवोंमें एवं सप्त धातुओंमें न पहुँचनेके कारण यह स्थूल शरीर शक्तिहीन होकर अनेक रोगोंसे संयुक्त रहता है। किन्तु जब कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर सहस्र दल, पद्ममें प्रवेश करती है, तब शरीर देदीप्यमान, तेजोयुक्त सशक्त एवं सर्वरोगोंसे मुक्त होता है।

कुण्डलिनी शक्ति जागृत करनेका दूसरा कारण यह है कि गत असंख्यात जन्मोंका सूक्ष्म विचार (बीजरूपसे) हमारे स्वाधिष्ठान चक्रमें 'कर्माशयकोष' नामसे उपस्थित है। उस कर्माशयकोषका जबतक नाश नहीं होता, तबतक अनिवार्य रूपसे जन्म लेना ही पडेगा। परन्तु कुण्डलिनी शक्ति जागृति होनेके बाद कर्माशय कोषके नष्ट होनेसे हमारे जन्ममरणका भी अन्त आ जाता है। 'हठयोग-प्रदीपिका' ग्रंथने इस विषयका विस्तृत रूपसे विवेचन किया है।

"कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥"

अर्थात् कन्दके ऊपरी भागमें कुण्डलिनी शक्ति शयन कर रही है, जो योगी इसे जागृत करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है और जो मूढ (अज्ञानी) मायामें फँसकर विषयान्ध हो रहे हैं, वे कदापि जागृत नहीं कर सकते, उनके लिये कुण्डलिनी शक्ति बन्धन (जन्म-मरण, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक) का कारण होती है। जो कुण्डलिनी शक्तिको जगानेकी युक्ति (उपाय) जानता है, वही योगको यथार्थ जानता है।

यद्यपि स्वयंसिद्ध आत्मा तो निरञ्जन, निर्विकार, अज, अमर और कमल पत्रके सदृश बन्ध और मोक्षसे रहित है; फिर भी जैसे महाकाशका सर्वत्र अस्तित्व होने पर भी मठके अन्दरके आकाशको मठाकाश कहते हैं। आकाशमें कुछ परिवर्तन नहीं होता; परन्तु मठरूपी परिणित स्थलमें प्रवेश करते ही अपरिमित आकाशको भी परिणित नामको धारण करनेकी प्रथा है, वैसे ही नामरूपसे रहित सत्-चित्-आनंद-स्वरूप आत्माको महाकारण, कारण सूक्ष्म और स्थूल शरीरमें प्रवेश करते ही अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान् और बन्धमोक्ष माननेकी रूढि हो गयी है।

खेदकी बात है कि आज हम हमारी परमहितैषी अत्यन्त आदरणीय और सर्वश्रेष्ठ जन्ममरणसे रहित करनेवाली योगविद्या हमारे भारतवर्षमें विद्यमान होनेपर भी हम उसको तिरस्करणीय दृष्टिसे देख रहे हैं। और सर्वतो-मुखेन विषयेन्द्रियसुखके साथ संलग्न हो रहे हैं। इसीसे तो पूर्णरूपसे सर्व समृद्धिमान, सर्व शक्ति एवं ब्रह्मविद्यासे भरी हुई हमारी भारतभूमि आज परवश, बलहीन, निः-शक्ति एवं अनेक संकटोंसे भरी हुई दिखाई दे रही है और जबसे अमेरिका, जर्मनी और इंग्लैण्ड आदि पाश्चिमात्योंने इस विद्यामें रहनेवाली शक्तिको पहँचानकर आदरपूर्वक ग्रहण करने लगे हैं, तबसे सर्व प्रकारसे उन्नतिके शिखरपर पहुँचाने लगे हैं। आज अमेरिकादि पाश्चिमात्य देशोंमें एक नहीं अनेकों अध्यात्मविद्या यानी योगविद्याके प्रचार करनेवाली संस्थाएं विद्यमान हैं।

मुझे इतना तो जरूर कहना पडेगा कि, लोककल्याणकी दृष्टिसे यदि किसी पत्र-पत्रिकाके सम्पादकद्वारा योग-विद्याका लेख प्रकट करनेपर भी अनेक स्त्रीपुरुष उसको पढकर तात्पर्य समझनेके लिये उत्सुक नहीं होते, किन्तु विषय,

वार्ता, नोविल, कादम्बरी, सिनेमा, नाटक आदि विषयों-के लेखोंको पढनेके लिये रात्रिको जागरण और दिनको उपवास करने तक तैयार हो जाते हैं। उन्नतिअवनतिका मार्ग और किसीके पास नहीं है, सब अपने पास ही हैं,परन्तु उस उन्नतिके मार्गमें प्रथम श्रम करना पडता है।

सूज्ञ पाठक महोदय ! जैसे सामान्यतः किसी भी पर्वत या उच्च प्रदेश अथवा घरकी सीढियोंपर चढते वक्त अधिक श्रम मालूम पडता है, किन्तु नीचेकी तरफ उतरनेके वक्त सुभीता हो जाता है। ऐसे ही इन्द्रिय सुखरूपी अवनतिके मार्गमें अल्प समय तक अवश्य अत्यन्त सुखका आभास होता है; परन्तु परिणाममें अनेक दुःखोंका सामना (अनुभव) करना पडता है। किन्तु उन्नतिके मार्गमें प्रयाण करते समय प्रथम आपको अल्प समय तक अवश्य श्रम उठाने पडेंगे। श्रम उठाने पडेंगे, तो क्या हुआ, परिणाममें शुभ है। चारों ओरसे सुख है। एक वक्त आपके अन्तःकरणमें उन्नतिके मार्गमें चलनेकी आन्तरिक अभिरुचि हो जायगी,तो फिर कभी भी आप उस मार्गको नहीं छोड सकते, क्योंकि प्रथम थोडे दिनों तक उन्नतिके मार्गको प्रेमके साथ ग्रहण करनेपर उन्नतिके मार्गमें रही हुई शक्ति स्वयं आपको सर्वतोभावेन सहाय्यता कर और भी आगे बढनेके लिये प्रेरणा करेगी।

वैदिक अनुसन्धान

[लेखक-श्री० विश्वबन्धुजी शास्त्री, M. A., M. O. L., D. A.V., कालेज, लाहौर]

भारतीय साहित्यका मूलस्रोत वेद। यहांके कर्म और धर्मका, दर्शन और विज्ञानका, रीति और नीतिका परमाधार वेद ही है। इसलिए श्रीस्वामिजी ने इस बातका विशेष रूपसे प्रचार किया कि. भारतीय साहित्य की रक्षाका परम पवित्र कार्य वेदरक्षासे ही आरम्भ होना चाहिये। रामायण और महाभारत, गीता और उपनिषद्, इतिहास और पुराण, तथा दूसरे धर्मशास्त्रादि ग्रन्थ अपने-अपने रूपमें अच्छे हैं। उनका यथायोग्य आदर होना चाहिए, परन्तु वे सब वेदके ही आधार पर बने हैं, इसलिए वेदप्रचार को सबसे पहले लेना चाहिए। इससे दो उद्देश्य पूरे होंगे। एक तो उपरोक्त प्रकारके साहित्यकी ठीक प्रतिष्ठा हो सकती है और दूसरे वेदके प्रेमके सांचे संबन्धके आधार पर अलग-अलग पन्थ और मतके वैर-विरोध दूर होकर एकता और संगठनके सूत्रमें लोग पिरोये जा सकेंगे। हिन्दुओंका प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आपको वैदिक कहता है, परन्तु कितने शोककी बात है कि किसी भी सम्प्रदायमें वस्तुतः जैसा होना चाहिये, न तो वेदका प्रचार ही किया जाता है और न उसकी रक्षाके लिये अनुसन्धानका ही कोई प्रबन्ध दिखाई देता है। जहां कहीं देशमें संस्कृत विद्याके लिए पाठशालायें हैं, वहां भी व्याकरण, काव्य, नाटक, आयुर्वेद, ज्योतिष् और थोडा बहुत न्याय तथा वेदान्तका तो प्रचार है, परन्तु वेदके प्रति उपेक्षा ही की जाती है।

आर्यसमाजसे संसार यह आशा करता था कि श्री स्वामिजीके उपदेश पर यह सबसे बढकर ध्यान देगा और इसके अन्दर वेदविद्याका खूब प्रचार बढेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्यसमाजमें वेदोंके विषय में चर्चा आरम्भसे ही चल रही है, परन्तु बडे दुःखके साथ यह कहना पडता है कि, पिछले पचास वर्षोंमें जितनी चर्चा वेदोंके सम्बन्धमें हुई है और जितना रुपया वेदों के नाम पर इकट्ठा किया गया है, यदि उसका सहस्रांश भी वेदोंकी रक्षा और वैदिक-साहित्यकी वृद्धिपर व्यय किया जाता, तो एक ठौस मिशन की नींव डाल दी गई होती। खेदकी बात है कि लाखों रूपया इकट्ठा तो हुआ, पर खर्च हुआ वार्षिक उत्सवों और जयन्तियोंके मनानेमें। वेद-प्रचार के नामसे पार्टी-प्रचार पर और स्कूलोंकालेजों तथा गुरुकुलों पर जहां कि मौजूदा ढंगकी शिक्षा प्रधानरूपसे दी जाती है, बेचारे वेदके दस-बीस मन्त्र याद करा दिये जाते हैं और ढिंढोरा पीटा जाता है कि, इन संस्थाओंमें वेद पढाया जाता है।

श्रीस्वामिजीके अनुसार वेदविद्याके प्रचारके लिये यह अत्यावश्यक है कि, वेदको समझनेके लिए और प्रामाणिक भाष्य तैयार करनेके लिए जितने प्राचीन आर्षग्रंथ हैं, उनका आश्रय लिया जाये। सबसे पहले इन आर्षग्रन्थोंके आधार पर एक सम्पूर्ण साधनग्रन्थका साधन होना चाहिए, जिसमें सामग्रीको ठीक तरहसे उपस्थित कर दिया जाये। प्रत्येक शब्दका अमुक आर्ष-ग्रन्थमें क्या-क्या अर्थ बताया गया है, यह पहले मालूम होना चाहिए। पिछले हजार वर्षोंमें यहांपर जितने आचार्य हुए और पिछले डेढसौ वर्षोंमें पश्चिममें जितने आचार्य हुए, उन्होंने प्रत्येक शब्दको कैसे समझा है? मुकाबलाके लिए यह भी मालूम होना चाहिए। प्राचीन ऋषियोंके अनुसार यौगिक प्रक्रियाका स्वरूप क्या है? मीमांसाके नियम क्या-क्या हैं? व्याकरण और निरुक्तके और भाषाविज्ञानके नियम क्या हैं? उन सब बातोंका पता होना चाहिए।

इस सारी तैय्यारीके साथ वैदिक अनुसंधान का कार्य ठीक तरहसे आरम्भ हो सकता है, परन्तु उसके लिये दो बातें हैं, प्रथम तो रुपयोंका इतना प्रबन्ध हो कि उपर्युक्त विषयोंके तीसचालीस विद्वान् इस कार्यके लिए निश्चितरूपसे बैठ सकें, दूसरे उन विद्वानोंको कहा जाये कि वे इसी कार्य में लगे रहें जबतक कि वह पूरा न हो जाये। वे किसी प्रकारकी दलबन्दी में शामिल न हों। इसी तरह उनपर किसी प्रकारका बाहरी दबाव भी न डाला जाय। यह कार्य शान्ति तथा धैर्यसे सिद्ध होनेवाला है। घबराहट और दलबन्दीसे कुछ नहीं बन सकता। हर एक प्रकारके अनुसन्धानकी तरह वैदिक अनुसन्धानका उद्देश्य भी सत्यतक पहुंचता है, वह तपके बिना असम्भव है। आज-कल वैदिक अनुसन्धानके साथ जैसा मखौल हो रहा है, उसमें जो थोडा बहुत रुपया लगाया भी जाता है, वह नष्ट हो जाता है। कमसे कम मेरा अनुभव यही कहता है और अनुभव पिछले १५ वर्ष चलकर और लगभग दो लाख रूपया खर्चकरके हुआ है। यदि कुछ सज्जन ऐसे हुए हों, जिनके अन्दर इस विषयमें अधिक जाननेकी भावना पैदा हुई हो, तो वे बडे शौकसे पत्र-व्यवहारद्वारा विस्तारपूर्वक परिचय प्राप्त कर सकते हैं। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि अबतक वेदका नाम तो बहुत लिया जा चुका है। अब उसके लिये यथार्थ रूपमें कार्य भी आरम्भ होना चाहिये। हां इस बात का ध्यान जरूर रखना चाहिये कि जो काम किया जाये, वह उपर्युक्त प्रकारसे शास्त्रोंसे बताये हुए ढंगसे किया जाये। इस तरहसे किया हुआ कार्य ही स्थिर और अमर साहित्य बनकर उसके करनेवालोंकी स्मृति को स्थिर और अमर बना सकेगा।

साध्य और साधन

(लेखक- श्री० मदनमोहन विद्याधर, विजगापट्टम)

आपके भेजे 'साध्य और साधन' शीर्षक लेख को मैंने अनेकों बार अत्यन्त मनोयोगपूर्वक पढा। असीम आनन्दका अनुभव किया। आपने श्री० स्वा० दयानन्द की महिमा और कार्यको एक विशेष संकुचित दायरे से बाहर निकाल, उसे विश्व के सम्मानयोग्य बना दिया है। स्वामिजी का उद्देश्य संसार के समस्त प्रचलित धर्मों का आदिस्रोत ढूंढ कर मानवजाति को उसका पता देना था, ताकि संसार में एक विश्वधर्म की स्थापना हो सके। उसका जो उत्तम उपाय ऋषि ने संसार को बताया, वह अब तक ९९ प्रतिशत आर्य-भाइयों से छुपा ही था। " भारतीय राष्ट्र पुनरुद्धार-कर धार्मिक सुधार करना और इस साधन से आर्योंका [आर्य समाजियों का नहीं, हिन्दुओं का नहीं, प्रत्युत सार्वभौम वैदिक धर्म में विश्वास रखनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंका] वैदिकानुशासन से चलाया जानेवाला आसमुद्रक्षितीक सार्वभौम साम्राज्य अतिशीघ्र स्थापित करना ही, " उस अनुपम विश्व के महान् नेता का चरमध्येय था। आपने इस लेखमें इसे अत्यंत सुगम, सरल तथा उत्तम रीतिसे स्पष्ट करके आर्यसमाजके लिये उदार होकर कार्य करने का मार्ग खोल दिया है, आर्यसमाज के कार्य को अत्यंत विशाल रूप दे दिया है।

श्री० स्वामिजी का धर्मार्यसभा, न्यायार्यसभा तथा विद्यार्यसभा खोलनेका जो आपने काँग्रेस के वर्तमान कार्यक्रमसे तुलना करके जो सर्वथा नई बात रक्खी है, वह न केवल आर्यसमाजियोंको कांग्रेस के अत्यन्त समीप ला देगी, अपितु अन्योंके हृदय श्री स्वामिजी की दूरदर्शिता का सिक्का बैठा देगी और आर्यसमाज को अब कडुवे आंखसे नहीं देख सकेंगे। मेरे ऊपर तो इस बातका बहुत गहरा असर हुआ और मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि, गंभीर धार्मिक भावना लिये हुए महात्मा गांधी ऋषिके राजनैतिक रूपान्तर ही हैं। और अपने कमरे में टंगे दोनों के चित्रों को देखकर आप ही आप भक्तिभाव से मेरा सिर उनके चरणों में श्रद्धा से नत हो गया।

पर प्रश्न तो यह है कि क्या मेरे आर्यभाई इन बातों पर ध्यान देंगे, इन अनुपम विचारों को आदर की दृष्टि से देखेंगे? क्योंकि आर्यसमाजियों को विशेष तौरपर आर्यनेताओं तथा विद्वानों को तो अपने आन्तरिक झगडोंसे ही सिर उठाने की फुर्सत नहीं।

कहां तो वह भारत की दुर्दशा पर संसार की अशान्ति पर आंसू बहाती थी और कहां वह अब उनकी मतिमन्दता और उद्दंड प्रकृति पर शोक करती है, जिनके हाथमें कि उसने सब कार्य की बागडोर दी थी। कहां तो स्वामिजी ने संसार में शान्तिस्थापन के हेतु 'गरलपान' किया और मृतप्राय जगत् को वैदिक सोमसुधा पिलाकर संजीवित किया और कहां, उसके शिष्य अपने अपने स्वार्थ ले सारा का सारा श्रेय और वैदिक सोमसुधा का लाभ उठानेके नाम पर अपने घरमें ही महाभारत मचा बैठे। मैं तो यह अनुभव करता हूँ; आशा करता हूँ कि शायद मेरे आर्यभाइयों का ध्यान आपके लेखसे इन आयसी संकुचित कलहों के क्षेत्रसे वंटकर ऋषिके सच्चे 'साध्य' और उसके एन उपयुक्त 'साधन' की ओर चला जावे। अपने धर्मके नाते भाई सेभी अधिक प्रिय और घनिष्ठ स्नातक बन्धुओंसे कहूंगा कि वे कमसे कम इस दलबन्दी में पडें और ऋषियों के ऋण को चुकाना न भुलावें।"

इस असाधारण प्रयत्न और अनुपम स्फूर्ति-दायकलेख पर धन्यवाद देने के लिये मेरे पास उपयुक्त और पर्याप्त शब्द भी तो नहीं।

बौद्धकालमें विषैली गैसका प्रयोग

(ले०- श्री० मिहिरचन्द्रजी धीमान्, 'कुसुमाकर' हिन्दीभूषण)

यह भारत हजारों बार उन्नतिशिखरारूढ होकर फिर पतन को प्राप्त हुआ। रामायण और महाभारत आदि हमारे विकास और पतनके इतिहास हैं। इसके अनन्तर एक और शक्ति आती है और अपने विकास और लयका दृश्य उपस्थित करती है। वह है, बौद्धकालका उत्थान और पतन। भगवान बुद्धने विश्वको अपने अहिंसाव्रतसे अनुप्राणित कर लिया था। इसीसे आज भी उनका सिक्का संसारपर जमा हुआ है। भगवान बुद्धने अहिंसाके पवित्र सिद्धान्तके प्रचारद्वारा सारे राष्ट्रकी मनोवृत्तिको परिवर्तित कर दिया; बडे बडे राजा-महाराजा तक अहिंसाव्रती भिक्षु बन गये थे।

सम्राट् अशोकके पुत्र तथा कन्या, भिक्षु और भिक्षुनी बन गये, हजारों वर्षोंतक बौद्धोंने भारतमें राज्य किया। नालन्दा, सारनाथ और तक्षशिला जैसे विश्व-विख्यात विश्वविद्यालय खोलकर विश्वकी जहालत दूर की। अविद्याके अन्धकारको दूर कर विद्याका प्रकाश फैलाया, लेकिन अन्तमें उसी कुक्कनस जानवरकी तरह अपने नाशकी चिता तैय्यार कर और उसीकी तरह दीपक राग गा कर चलता बना। इन अहिंसाव्रती बौद्धोंने कलिंग देशकी चढाईके समय लाखों निर्दोष नरनारियों को मौतके घाट उतार दिया।

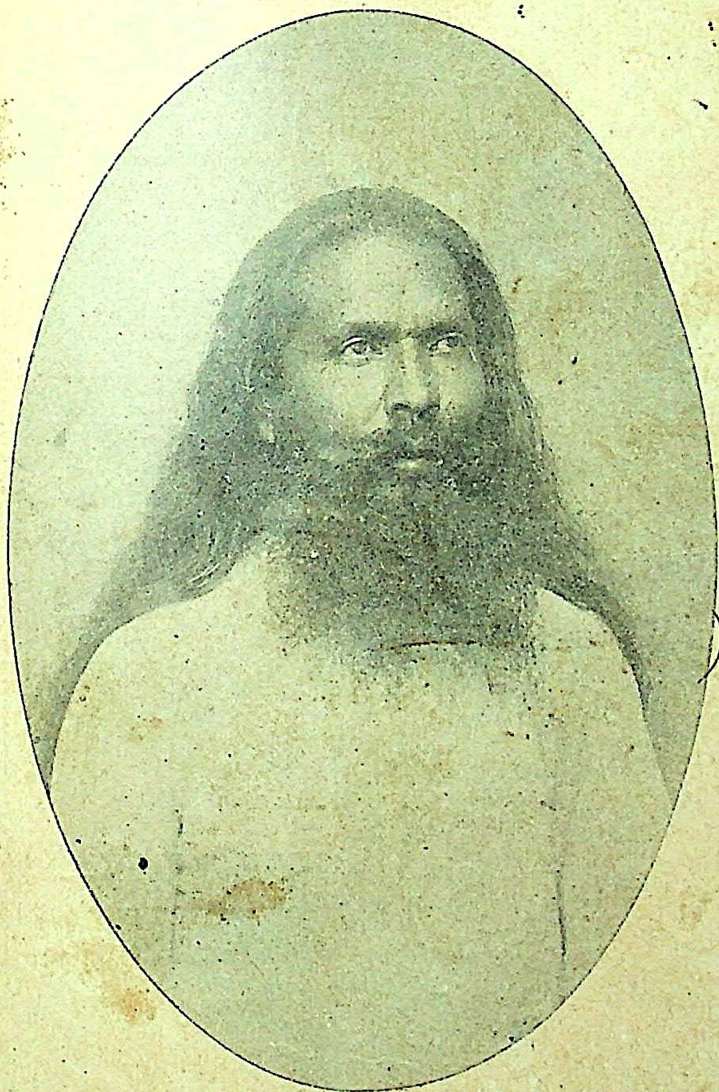
विपक्षियोंके दम घुटकर मर जानेके लिये आज युरोपवालोंने जैसी विषाक्त गैस तैय्यार की है, वैसीही विषाक्त गैस बौद्धकालमें भी तैय्यार हुई थी और आजकलकी तरह ही निहत्थे नर-नारियों तथा पशुपक्षियोंपर उसका प्रयोग भी हुआ था। यह कोई गौरवकी बात नहीं कि हमारे प्राचीन कालमें हमारे यहां भी ऐसी गैस तैयार की जाती थीं। बल्कि यह तो राष्ट्रके नाशके लक्षण थे। पण्डित चाणक्य जो सम्राट् चन्द्रगुप्तके प्रधान सचिव थे, उन्होंने ही अपने कौटिल्य अर्थशास्त्रमें ऐसे बहुतसे उपायोंका वर्णन किया है, जिनके द्वारा शत्रुओंको बडी आसानीसे मारा जा सकता है।

सम्राट् चन्द्रगुप्तके राजत्वकालमें विष-कन्याओं की सृष्टि की गई थी, जिससे सहवास करनेवालेको जीवन से हाथ धो बैठना पडता था। ऐसी विष-कन्यायें तैय्यार करनेके योग कौटिल्य अर्थशास्त्रमें पढनेको मिलते हैं। आधुनिक विषैली गैसकी तरह का धुआँ तैय्यार करनेका योग भी कौटिल्य अर्थशास्त्रमें लिखा हुआ है। मैं उन योगोंको यहां उद्धृत करना उचित नहीं समझता। जो सज्जन देखना चाहें, वे कौटिल्य अर्थशास्त्रका औपनिषदिक चतुर्दश अधिकरण पढकर देख सकते हैं। उन्हें पता चल जायेगा कि शत्रुओंको आसानी से नष्ट करनेके कैसे-कैसे योगोंका आविष्कार कौटिल्यने किया है। इन्हीं जीवन-नाशक उपायोंके प्रयोगद्वारा शत्रुओंको नष्ट करते हुए स्वयं भी नष्ट हो गये! कौटिल्यने लिखा है कि इन वस्तुओंका धुआँ करनेसे तत्कालही प्राणहानि की जा सकती है। कहने का तात्पर्य केवल इतनाही है कि प्राचीन भारतमें भी विज्ञानचर्चा थी। उन्होंने जहरीले धुएंका भी आविष्कार किया था।

(जाग्रति)

वैदिक धर्म ।

फर्वरी १९३९
माघ १८६०



स्व. पं. रघुनन्दन शर्मा,
"वैदिक सम्पत्ति" के लेखक ।

वर्ष २०, अंक २] [क्रमांक २३०

वैदिकधर्म

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

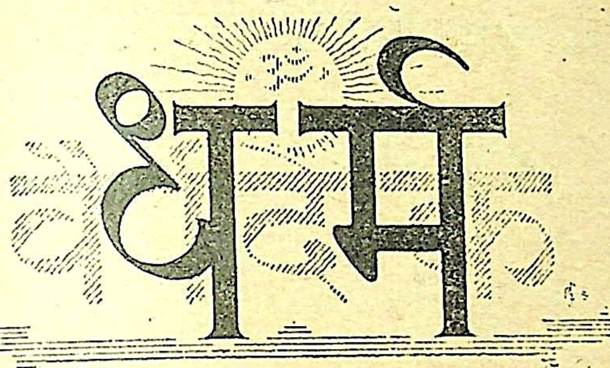
वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.
[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको 'वेदाङ्क' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है।]

वर्ष २०] [अङ्क २

विषयानुक्रमणिका

वर्ष २०
अंक २
क्रमांक २३०

माघ
संवत् १९९५
फर्वरी
सन १९३९



संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

ईश्वर कहां है?

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

(अथर्व. १०।७।३९)

"हाथों और पावोंसे, वाणी, श्रोत्र और आंखसे देवताएं जिस अतुल शक्तिवाले ईश्वरके लिये सदा अपरिमित बलि अर्पण करती रहती हैं, वह सर्वाधार परमेश्वर कह कि, वह कौनसा देव है और कहां है।"

सबके हाथ, पांव, वाणी, कान, आंख आदि सभी इंद्रिय जिसकी सेवा करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं, वह सर्वाधार परमेश्वर कहां है, उसका रूप क्या है, उसका साक्षात्कार कैसा होता है, उसकी सेवा हम किस तरह कर सकते हैं, इस विषयमें, हे सद्गुरो, हमें आदेश दो।



स्वाध्याय-मण्डलमें वेदोंका मुद्रण।

अथर्ववेद का मुद्रण

स्वाध्याय-मण्डलमें वेदोंका शुद्ध मुद्रण बडी खोजके साथ हो रहा है। ऋग्वेद और यजुर्वेद तैयार हो चुके हैं और अथर्ववेद छप रहा था, उसका मुद्रण इसी मासमें समाप्त हो चुका है, उसकी जिल्दें बन रही हैं और मार्च महिनेके प्रारंभमें ग्राहकोंके पास अथर्ववेद भेजा जायगा।

इसकी विशेषता।

अजमेर वैदिक यंत्रालयमें जो अथर्ववेद छापा है, उस के पृष्ठ २९८ हैं और हमारे अथर्ववेद्के ४८० से अधिक पृष्ठ हो गये हैं, इसके कारण ये हैं-

१. सब मंत्र खुले छपे हैं,

२. पुनःपुनः आये हुए मंत्र भी संपूर्णहि छपे हैं, उनका संक्षेप नहीं किया (जैसा कि अजमेरवाले अथर्ववेदमें किया है।)

३. सब सूक्तोंके शीर्षक देकर, प्रत्येक सूक्तके ऋषि-देवता-छन्द दिये हैं। (जो अजमेर-वाले अथर्ववेदमें नहीं हैं।)

४. विविध मंत्रोंके पाठभेदोंका एक विस्तृत परिशिष्ट दिया है। जिससे शाखान्तरित अथर्ववेदके पाठका ज्ञान होना संभव है।

इस कारण पृष्ठोंकी संख्या ४८० हो चुकी है। तथापि हम प्रचारार्थ चारों वेद केवल ५) में ही दे रहे हैं। पाठक इस सस्तेपनका विचार करें, और इस वेदमुद्रणकी उचित सहायता करें। ऐसे कार्य वारंवार नहीं होंगे और इतना सस्ता देना तो सर्वथा असंभवही है।

ये पुस्तक कितने सस्ते हैं।

चारों वेद ५) में देना करीब असंभव ही है, इसका कारण देखिये और इसका हिसाब भी देखिये—

१. चारों वेदोंकी सुनहरी जिल्दोंकाही केवल मूल्य १॥) है,

२. शेष ३॥) में मूल वेदोंको देना कहांत संभव है, इसका पाठक ही विचार करें ऋग्वेद पृष्ठसंख्या ७६८ है, अथर्ववेदकी ४८० यजुर्वेदकी १८० है और सामवेदकी २०० सब मिलकर चारों वेदोंकी पृष्ठसंख्या १६ सोलह सौसे अधिक है। इसका मू विनाजिल्द का ८) रु० आठ कोई बहुत न होगा, परंतु हमने जिल्दसहित केवल ५ ही रक्खा है। इसका उद्देश्य यही है कि पवि वेदके ग्रंथ हरएक वैदिक धर्मीके घरमें र

इस उद्देश्यकी पूर्तता करना ग्राहकोंपर हि निर्भर चार वेद ५) में देनेसे हमारा नुकसान प्रति सेट करीब हो रहा है, तथापि चारों वेदोंकी छपाई होने तक य मूल्य हमने लेनेका निश्चय किया है। जो पाठक 'पवि वेदोंको' अपने पास रखना चाहते हैं, वे मूल्य भेज दें और अपना नाम ग्राहकश्रेणीमें लिखवा सामवेदछपाई होनेतक ही यह सहूलियत है, तत्प चारों वेदोंका मूल्य अधिक होगा।

डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है।

चारों वेदोंका डाकव्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। चारों वे का डाकव्यय ३) है और रेलकिराया १॥) है। जि मार्गसे ग्राहकोंको सुविधा हो, उस मार्गसे ग्राहक पुस् मंगावें और मूल्यके साथ मार्गव्यय भी भेज दें। मा व्ययका हिसाब यह है—

वेज	मूल्य	डाकव्यय	रेलव्यय	विदेशके लि डाकव्य
१ ऋग्वेद	३)	१)	॥)	१॥)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	२)	॥)	।)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१०)	३)	१॥)	४॥)

चारों वेदोंका मूल्य १०) होनेपर भी पेशगी मूल्य ५) ही लिया जायगा और यह सहूलियत केवल सामवेदका मुद्रण होनेतक ही रहेगी। शेष डा० व्यय, रेलव्यय आदि ऊपर बताया है, वही होगा। **मूल्य भेजनेके समय पाठक मार्गव्ययके समेत हि मूल्य भेज दें।**

यदि अनेक ग्राहक मिलकर चारों वेदोंके कई सेट इकट्ठे रेलद्वारा अधिक संख्यामें मंगावेंगे, तो उनको रेलसे मंगानेमें मार्गव्ययकी थोडा बचत होगी। इस तरह रेलसे मंगानेवाले अपने समीपका रेलस्टेशन और रेलका नाम लिखें और पेशगी मूल्य भेजकर अधिक सेट मंगवाकर लाभ उठावें।

कई लोग केवल मूल्य ५) ही भेजते हैं और वेद मंगाते हैं। उनको पुनः डा० व्य० भेजना पडता है। इस तरह उनकी दुबारा म० ऑर्डरव्यय की हानि होती है। यदि ग्राहक इकट्ठा मूल्य और मार्गव्यय भेजेंगे, तो उनकी उतनी बचत होगी। किसी सूरत से ५) में हि मार्गव्यय नहीं है, क्योंकि उतना लाभ इस व्यवहारमें नहीं है। प्रत्युत हानि ही है। इसलिये ग्राहक मार्गव्यय के साथ मूल्य भेजें।

ऋग्वेदका पुनर्मुद्रण।

ऋग्वेद छप चुका है, ऐसा हमने ऊपर लिखा, परंतु छपनेपर केवल ४ महिनोंके अन्दर हि सब कापियां लग चुकीं, ग्राहकोंकी मांग बहुत बढी है, और प्रतिदिन वेदोंकी मांग आ रही है, इसलिये हमने ऋग्वेदका पुनःमुद्रण करनेका कार्य पुनः प्रारंभ किया है।

इस द्वितीय वारके मुद्रण में हमने ऋग्वेदमुद्रण में कई सुधार किये हैं। छन्दोंका संदेह मिटानेके लिये मंत्रोंके चरण अलग बता दिये हैं, इस कारण छन्दोंके विषयमें आगे कोई संदेह ही नहीं रहेगा और कौनसे मंत्र का छन्द कौनसा है, इसका निर्णय स्वयं मंत्रपादकी अक्षरसंख्यासे हो सकेगा। चरणोंके न्यूनाधिक अक्षरोंके कारण हि मंत्रोंके छंद निश्चित होते हैं। यह न समझनेके कारण अजमेर वैदिक यन्त्रालयवाले पण्डितोंने मन्त्रोंमें अशुद्ध छन्द मुद्रित किये हैं। यह अशुद्धि हमने बतायी, परंतु पं० ब्रह्मदत्त जैसे कई पंडितोंने उनको शुद्ध सिद्ध करनेका साहस किया।

हमारे समझमें नहीं आता है कि, अशुद्ध बात किस तरह शुद्ध होगी। जो हो, इस गडबडको और इस अज्ञानको दूर करनेके लिये हमने इस मुद्रणमें मंत्रोंके चरण बतानेका उपाय सोचा है, जिससे छन्दविषयक संदेह हमेशाके लिये शास्त्रीय रीतिसे दूर होंगे, और शास्त्राधारसे छन्दोंका सच्चा निर्णय हो जायगा।

पादबद्ध मन्त्रोंके छंद मंत्रकी कुल अक्षरसंख्यासे निश्चित नहीं होते, प्रत्युत प्रत्येक पादके न्यूनाधिक अक्षरोंके द्वारा निश्चित होते हैं। जिनको इसका पता नहीं है, वे याजुष मंत्रोंकी छन्द निश्चित करनेकी रीतिहि पादबद्ध मंत्रोंको लगाते हैं और मनमाने छन्दोंकी कल्पना करते हैं। इससे कितना अनर्थ होनेवाला है, यह हम किसी अन्य लेखमें बतावेंगे। यहां केवल इतना ही बताना है कि, हमारे ऋग्वेदमें मंत्रोंके पाद बताये जांयगे, जिससे छन्दनिर्णय के लिये सुविधा रहेगी। यह हमारे इस ऋग्वेदकी विशेषता रहेगी।

दूसरी विशेषता यह होगी कि, हम मंत्रोंके संदिग्ध देवताओंको अधिक खोलकर मुद्रित करेंगे, जिससे देवताविषयक संदेह दूर होनेमें सहायता होगी। जैसा कई जगह "ऋतुदेवताः" ऐसा लिखा होता है, उसका तात्पर्य "ऋतुसहित देवताः" है, परंतु यह न समझनेके कारण वैदिक यंत्रालयके पंडितोंने "ऋतवः" देवता मुद्रित की है। स्वयं मंत्रहि इस तरहके संदेह किस तरह दूर करते हैं और ऋतुसहित देवता मंत्रोंमें हि किस तरह हैं, यह सब हम बतावेंगे। स्वयं मंत्रोक्त देवताका प्रदर्शन करनेपर किसीको संदेह रहेगा नहीं और भ्रान्त देवताका प्रदर्शन करनेका साहस भी इसके पश्चात् कोई नहीं कर सकेगा।

हम जो इस समय ऋग्वेदमुद्रण कर रहे हैं, उस में ऋषिनिर्णय के भी प्रमाण दे रहे हैं, जिससे ऋषिविषय में कभी कोई भ्रान्ति नहीं रहेगी। ऋषि-देवता-छन्द ये मंत्रज्ञान के लिये आवश्यक हैं और निश्चित भी हैं। अतः इस विषयमें भ्रान्त विचारोंका फैलाव करनेवालोंको अवसर बिलकुल न मिले, ऐसा करना अत्यंत आवश्यक हि है। वे सब बातें हम इस मुद्रणमें कर रहे हैं, इसलिये यह ऋग्वेद खोज की दृष्टिसे एक अपूर्व बात होगी।

अतः सुविज्ञ पाठक वेदोंके ग्राहक शीघ्र बनें और

अपने इष्टमित्रोंको भी ग्राहक बननेका उत्साह दें। इस वार इस ऋग्वेद का मुद्रण हम ५००० करना चाहते हैं, तथापि जिस वेगसे ग्राहक बढ रहे हैं, उस वेगसे अनुमान होता है कि, यदि शीघ्र ही जो ग्राहक न बनेंगे, उनको हम इसकी कापियां भी नहीं दे सकेंगे। इसलिये अच्छे और सुंदर वेदोंके ग्रंथ अपने संग्रह में रखनेके इच्छुक पाठक इन वेदोंके अति शीघ्र ग्राहक बनें और अपने इष्टमित्रोंको भी अति शीघ्र इस अपूर्व सहूलियत की सूचना दें।

वैदिक यंत्रालयका सामवेद।

अजमेरके वैदिक यन्त्रालय'ने सामवेदका मुद्रण कई वार किया है। ऋग्वेद और यजुर्वेदके समान हि इसमें अशुद्धियों की भरमार है। ऋग्वेदकी अशुद्धियां हमने बतायीं। अब सामवेदकी अशुद्धियोंको दर्शाना है, ये सबकी सब बताना इस समय असंभव है। तथापि वेदकी सेवा करनेके लिये एकदो नमूने यहां बताना आवश्यक ही है। जिससे अजमेर वै० यंत्रालयवालोंने कितना अनर्थ किया है, इसका पता लगेगा।

हमारे पास अजमेर वैदिक यन्त्रालमें मुद्रित सामवेद चार वारके मुद्रित हैं। उसमें आग्नेय पर्वके आन्तिम पृष्ठ ८ पर छपे 'प्र मंहिष्ठाय' इस सूक्तमें वास्तवमें मंत्रोंकी संख्या ८ है, वैसाही इस सूक्तके ऊपर दिये ऋषिनामोंमें लिखा भी है, जैसा-" ७ सौभरिः। ८ विश्वमनाः।" अर्थात् ७ वां मंत्र सौभरि ऋषिका और ८ वां मंत्र विश्वमना ऋषिका है। परंतु किसी भी वैदिक यंत्रालयमुद्रित सामवेदमें ८ वां मंत्र मुद्रितहि नहीं हुआ है !!! देखिये अजमेर वैदिक यन्त्रालयद्वारा मुद्रित सामवेद पृ० ८, द्वितीय सूक्त जिसका प्रारंभ 'प्र मंहिष्ठाय०' है।

[१] संवत् १९५७ में मुद्रित सामवेदमें "कश्चिदत्रिणम्॥" तक हि मंत्र मुद्रित हैं, यहां ७ वां आधा मन्त्र हि हुआ है। अर्थात् इसमें केवल साढे छः मंत्र हि छापे हैं। शेष डेढ मन्त्र मुद्रित ही नहीं हुआ !!!

[२] संवत् १९६८ में ग्यारह वर्षोंके पश्चात् उसी यंत्रालयमें सामवेद पुनः छापा है, इसमें भी ६॥ ही मन्त्र छपे हैं और अन्तिम डेढ मन्त्र नहीं मुद्रित हुआ !!! अर्थात् इस ग्यारह वर्षोंकी अवधिमें वैदिक यन्त्रालयस्थ पंडितोंको यह सूक्त ८ मंत्रोंका है, इसका ज्ञान नहीं हुआ। ... आश्चर्य की बात यह है कि, ८ मंत्रोंके ऋषि देनेपर ... सूक्तमें ८ मंत्र नहीं रखे हैं! इतनी अन्दाधुन्दी ... कार्यालयमें है।

[३] आगे संवत् १९७५ में पुनः सामवेद वैदिक यंत्रालयमें छपा है। इस बारके मुद्रणमें ७ वे मंत्रका उत्तरार्ध " मन्युं जनस्य दूढ्यम् ॥ ७ ॥" इतना अधिक मुद्रित हुआ है। प्रथम वारके मुद्रणको इस समय ... वर्ष हुए। बीचमें एक मुद्रण होकर समाप्त भी हुआ। इस अवधिमें ७ वां मंत्र पूर्ण छापनेका कार्य हुआ॥ ... पंडितोंको इस वार ७ वां मंत्रका उत्तरार्ध हस्तगत हुआ, उनको इस वार भी ८ वां मंत्र मिला नहीं, यह कितने आश्चर्यकी बात है ?

[४] तत्पश्चात् सं० १९८२ में चौथी वार सामवेद मुद्रण वैदिक यंत्रालयमें हुआ। इस वार भी ८ वां ... इन पंडितोंको छापनेकी बुद्धि नहीं हुई। ऊपर ऋषि ... ८ मंत्रोंके दिये हैं और मंत्र ७ ही छापे हैं। इतने ... वारके मुद्रणमें एक मन्त्र बिलकुलही नहीं छापा है।

सामवेद तो लाहौरमें पं० गुरूदत्तजीद्वारा मुद्रित हुआ है, पं० तुलसीराम स्वामीद्वारा मेरठ में मुद्रित हुआ है, पं० जयदेव शर्माजीद्वारा अजमेर में मुद्रित हुआ है। ... वर्ष पूर्व जर्मनीमें तथा इंग्लद में अर्थात् यूरोपमें ... मुद्रित हुआ है, कलकत्ते में पं० सत्यव्रत सामश्रमी ... सामवेद छापा है। इन सब में इस सूक्त में पूर्ण ... मंत्र छापे हैं। परंतु अजमेरके वैदिक यंत्रालयवालों ... केवल चार वार गत ३० वर्षोंमें सामवेद मुद्रित ... उन में से पहिली दो वारवाले पुस्तकोंमें अन्तिम डेढ ... नहीं है और आगेके दो वारवाले पुस्तकों में अन्तिम ... मंत्र नहीं है। (सामवेद पृ० ८ देखिये)

पं० ब्रह्मदत्तजी इस का समर्थन किस तरह करते ... यह हम देखना चाहते हैं। इसको वैदिक यंत्रालय ... की भूल मानेंगे या नहीं, यह एक देखनेका विषय ... सचाईकी जीत होगी, या हार होगी, यहभी यहां ... है।

वैदिक यंत्रालय के सामवेद में ऋषिदेवताओं ...

अशुद्धियां भी वैसी ही अनंत हैं और यदि वैदिक यंत्रालय के छन्द माने जायगे, तो सामगान गाये ही नहीं जा सकेंगे, यह बडा मनोरंजक खोजपूर्ण विषय हम आगे किसी समय विस्तारपूर्वक दर्शायेंगे। यहां केवल प्रथम बारके दो मुद्रणों में देह तथा आगेके मुद्रणों में एक संत्रके न होने की ही बात पाठकों के सामत रखी है।

वेदोंके मुद्रणमें अशुद्धियां होने की संभावना अधिक होती है। हम यहां इतना यत्न करते हैं, दस बारह वार प्रूफ देखी जाती हैं, अनेक विद्वानों के द्वारा संशोधन होता है, अशुद्धि दर्शाने के लिये हम ईनाम देते हैं, इतना होने पर भी अशुद्धि रह जाती है। इसका उपाय हमने यह सोचा है कि, एकदो वार इस तरह प्रयत्नपूर्वक छपाई करनेके पश्चात् वेदके पृष्ठों के ब्लाक बना देने हैं। यदि किसी ब्लाक में अशुद्धि रही, तो उतना पृष्ठ नया बनाकर उसका नया ब्लाक बनाना, जिससे एक भी अशुद्धि आगे नहीं होगी। मनुष्यके प्रयत्न में अशुद्धि रह जाती है, इसलिये ही मनुष्यको ऐसा यत्न करना चाहिये कि, जिससे अशुद्धि न रहे। टाइपका कंपोज छापने समय भी टाइप उड जाता है और अशुद्धि बनती है, इसलिये ही ब्लाक बनानेकी युक्ति सोची है।

अजमेर वैदिक यन्त्रालयके पास श्री स्वामिजीने लाखों रु० केवल वेदोंके शुद्ध मुद्रण के लिये ही रखे हैं। चार वार सामवेद वहीं छापा जाता है। पहिले दो वार के मुद्रणमें १॥ मन्त्र ही नहीं छापा जाता और अगले दो वार के मुद्रणमें एक मंत्र रह जाता है, इस को क्या कहा जाय, इसका विचार पाठक ही करें। यह अन्दाधुंदी शोभादायक नहीं है, इतनाही यहां कहना है।

स्वाध्याय-मण्डलका सामवेद।

स्वाध्याय-मण्डलमें सामवेदछपाईका कार्य चल रहा है। कौथुमी, राणायणी और जैमिनीय सामवेदकी संहिताएं सामने रखी हैं, उनके पाठभेदोंकी विचारपूर्वक खोज की जाती है। आजतक प्राचीन ऋषिमुनियोंने सामगान में कौनसा पाठ शुद्ध माना है, इसकी पडताल हो रही है, इस समय तक की मुद्रित संहिताएं तथा हस्तलिखित पुस्तक लाये गये हैं, वेदपाठीयों की संमति ली जाती है और इस तरह सामवेद का मुद्रण हो रहा है। इस में म्हैसूर, मद्रास, गुजरात, काठियावाड, मथुरा, काशी आदि स्थानोंके अच्छे सामवेदी सहायता दे रहे हैं।

इस सामवेदमें प्रत्येक मंत्रके साथ यह मंत्र ऋग्वेदमें कहां है और सामवेदमें कहां है, इसका पता दिया गया है। विशेष पाठभेद के लिये स्वतंत्र परिशिष्ट दिया है और ऋग्वेदमें न आये मंत्रोंकाभी एक परिशिष्ट जोडा है। ऋषिदेवताछन्दकी छानबीन करके उस की निर्दोषता जहां तक हो सके, वहांतक साधन करने का यत्न किया जा रहा है। इसलिये यह सामवेद इस समयतक की खोज से परिशुद्ध स्थितिमें हम ग्राहकों को देंगे।

आशा है इस तरह यह ग्रंथ पाठकोंको ऋग्वेद और यजुर्वेद जैसा ही प्रिय होगा।

'देवृकामा या देवकामा ?'

(ले०—पं० मदनमोहन विद्याधर, विजगापट्टम।)

मैंने श्री माननीय श्री० प्यारेलालजी वैश्य की 'देवृकामा' पद के विषय में दी गई युक्तियों को ध्यानपूर्वक पढा । मैंने भरसक प्रयत्न किया है कि, उनके समझने में भूल न हो । अन्ततः मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूँ कि, ऋ० १०।८५ के ४४ वें मंत्र में इसके स्थान पर 'देवकामा' पद ही अधिक उपयुक्त है ।

प्रथम यह कि विरजानन्दयंत्रालय लाहौर में सम्वत् १९६६ वि० में प्रकाशित; वैदिक यंत्रालय अजमेर से छपी तथा आर्यसाहित्यमण्डल, अजमेर से निकली ऋग्-संहिता में 'देवृकामा' पद स्वीकृत किया गया है। साथ ही श्री स्वामि दयानन्दजीने संस्कारविधि के विवाहप्रकरण में १०।८५।४४ में इसी पद को मानकर नियोगपरक मंत्रार्थ किया है ।

द्वितीय युक्ति उनकी यह है, क्योंकि अथर्ववेद १४।२।१७ के सायणभाष्य में 'देवृकामा' पद मानकर ही मंत्रार्थ विचार किया गया है, सो ऋग् में भी यही होना चाहिये ।

तृतीय युक्ति में श्री वैश्यजी का कहना है कि, यदि 'देवकामा' पद मानेंगे तो इस मंत्र में 'नियोग' विषय से बदलकर 'देवकी इच्छा रखनेवाली' ऐसे भाव आ जावेंगे ।

समालोचना ।

सामवेद ब्राह्मण पारस्कर गृह्यसूत्र (१।४।१५) तथा हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र (१।२०।२) और इसी प्रकार के अन्यान्य बहुत से ग्रन्थोंद्वारा भी (ऋ० १०।८५।४३) में 'देवकामा' शब्द ही सिद्ध होता है ।

हम प्राचीन ह० लि० पाठों तथा घनपठियों की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि पदपाठों के निर्णय में ये ही दृढ तथा सत्य-प्रमाण हैं।

यदि इस पर भी श्री वैश्यजी को उपरोक्त तीन यन्त्रालयों से प्रकाशित प्रतियां ही प्रामाणिक हैं, तो 'पूना में प्रकाशित सायणभाष्यसहित ऋग्वेद', 'निर्णयसागर प्रेस बम्बईद्वारा प्रकाशित', 'कुम्भकोणम् ... प्रकाशित', 'मैक्समूलरद्वारा सम्पादित' और 'ग्रिफि... तथा एच्. एच्. विलसनद्वारा अनूदित ऋग्वेद' ... स्वीकृत देवकामा पर अप्रामाण्यापत्ति कैसे ? ... 'देवृकामा' पद माननेवाली, यंत्रालयोंद्वारा प्रकाशि... ऋग्संहिताओं का प्रामाण्य है, तो 'देवकामा' पद ... माननेवाली प्रतियों का प्रामाण्य क्यों नहीं ?

पं० जयदेवजी भी 'ऋग्' में निश्चयपूर्वक 'देवृका...' पद मानने को तैय्यार नहीं । उन्होंने वहाँ कोष्ठक ... देवकामा पद देकर उसका अर्थ भी साथ दे दिया है ।

दूसरी युक्ति सायणभाष्य अथर्ववेद के आधार पर ... यदि कोई "क्योंकि सायणऋग्भाष्य में 'देवकामा' ... है, इसलिये अथर्ववेद में भी 'देवृकामा' के स्थान ... 'देवकामा' पाठ होना चाहिये"—ऐसी स्थापना करे, ... श्री वैश्यजी इस में क्या दोष निकाल सकते हैं ?

क्योंकि सायणकृत ऋग्भाष्य में 'देवकामा' पद ही ... गया है । श्री वैश्यजी, जिसके नाम से प्रमाण दे रहे हैं, ... वह स्वयं ही वहां (जहां कि श्री- वैश्यजी देवृकामा ... चाहते हैं । 'देवकामा' मानता हो, तो उस के (... किसी के) अथर्ववेदभाष्य में 'देवृकामा' देखकर ... सातवळेकरद्वारा सम्पादित ऋग् में भी 'देवृकामा' ... होना चाहिये, यह एक अजीब युक्ति है। सायण तो ... ही ऋग् में 'देवकामा' पद मानता है । तब उसके ... भाष्य से, श्री० सातवलेकर जी के ऋग् में 'देवृका...' पद को सिद्ध करना मुझे तो एक युक्ति का चमत्कार ... होता है ।

साथ ही आश्चर्यकारक बात यह भी है कि, जिस ... वेद के पाठ को प्रामाणिक माना जा रहा है, वहां ... 'देवृकामा' पाठ असन्दिग्ध नहीं है । क्योंकि अथर्व...

की पिप्पलाद-संहिता (१४।२।१७) में 'देवकामा' पद ही है। श्री विटनी महोदयने अपनी 'अथर्वपदसूचि' में दोनों पद उद्धृत किये हैं। पृष्ठ ७५६ में उन्होंने ऐसा लिखा है कि, "हमारे पास जो अथर्ववेद की ह० लि० मू० प्र० हैं, उनमें से कईयों में, ऋग् के पाठ के समान 'देवकामा' ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है।" यहां पर 'ऋग् के पाठ के समान' यह वाक्य ध्यान करने-योग्य है। इस उपरोक्त वाक्य से दो बातें पता चलती हैं कि—

१. ऋग में 'देवकामा' पाठ है तथा—

२. अथर्व वेद में 'देवृकामा' पाठ सन्दिग्ध तथा अनिश्चित है।

सम्भव है अथर्ववेद में 'देवृकामा' पाठ-जैसा कि उक्त महोदयने माना है— ही हो, परन्तु इस पर विवाद है, इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। ऐसी दशा में इस सन्दिग्ध तथा विवादग्रस्त अ० वेद के पाठ को लेकर ऋग में 'देवकामा' पद को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

तीसरी युक्ति मुझे सबसे अधिक निर्बल मालूम पडती है। 'देव की इच्छा रखनेवाली' क्या यह सचमुच पौराणिक भाव है? हम को 'देव' शब्द के सुनते ही पौराणिक भावों की गन्ध नहीं आनी चाहिये। श्री स्वामिजीने स० प्र० प्र० समु० में इसका अर्थ परमेश्वर माना है। ईश्वर, शुभ-दिव्यभाव, इन्द्रियां, प्राकृतिक शक्तियां तथा विद्वानादि नाना देव के साधारण सार्वभौमिक अर्थ हैं। पत्नी के प्रसंग में प्रकरणानुसार इसका विशेष अर्थ "कान्त = पति" किया जाता है। इस दशा में 'विद्वानों को वा अपने कान्त पति को सदा चाहनेवाली' (श्री पं० जयदेवजी-कृत) और 'परमेश्वर की भक्ति करती हुई मन में शुभ भाव धारण कर' (श्री सातवलेकरजीकृत) ऐसा 'देवकामा' पद का अर्थ मान लिया जावे, तो पौराणिक भावों की तो कल्पना ही क्या, एक अत्यन्त सुन्दर ऋषिसम्मत वैदिक अर्थ की सृष्टि हो जाती है।

श्री० वैश्यजी 'देवकामा' पद मानने से इसलिये भी डरते हैं कि, ऐसा मानने पर वेदों से नियोगसिद्ध नहीं हो सकेगा। हमें ऐसा प्रयत्न कभी भी नहीं करना चाहिये कि, एक सिद्धांत पहले से ही मन में रखते हुए हम उसको वेदों में से निकालने का यत्न करें। इस प्रकार से वेदार्थ का अनर्थ हो जावेगा। वेदों से यदि नियोग प्रतिपादित होता हो, (शब्दों में विना खैंचातानी किये) तभी मानना चाहिये, अन्यथा नहीं। इस प्रकार यदि चलने लगे, तो यह उन सपेरों का खेल हो जावेगा कि, किसी के घर में सांप डालकर फिर उसको बाहर निकालना।

दूसरे यदि यह प्रमाण न भी मिला, तो क्या हुआ? नियोग के पोषक तो 'विधवेव देवरम्' आदि अन्य भी अधिक स्पष्ट प्रमाण वेदों में हैं।

आगे दोनों पदों के अर्थों की तुलना करके पाठकों की सेवा में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। पूर्वापर सम्बन्ध देखने से पता चलता है कि, इस मंत्र के ऊपरले मंत्रों से आशीर्वादों की निरन्तर अमृतधारा सी प्रवाहित होती चली आ रही है। जिस 'देव' की अंतिम कामना सब प्राणियों ने करनी है, वह विवाहित नवदम्पती को कहता है कि, "सम्पूर्ण आयुभर पुत्र पोते आदियों के साथ इस घर में आनन्द मनाते हुए निवास करो। [१०।८५।४२] प्रजापति शक्ति तुम्हारे लिए संतति और अर्यमाशक्ति 'दीर्घायुत्व' प्रदान करे। पतिलोक में प्रविष्ट होती हुई, यह वधू संसार के समस्त दुपाये तथा चौपाये प्राणियों के लिये कल्याण-कारिणी होवे। (४३ मंत्र) यह वधू कभी गुस्से से आंखें घोर अर्थात् भयानक लाल न करे, पति को कष्ट न देवे। घर के पशुओं के लिये सुखदायिनी, सुमनस्विनी और सुवर्चस्विनी होती हुई (वीरसूः) उत्तम पराक्रमी पुत्रों को उत्पन्न करनेवाली तथा (देवकामा) प्रभु, दिव्यशुभभाव, विद्वान् तथा इन सबका घर में प्रतिनिधित्व करनेवाले देव अर्थात् पति, उस की ही सदा कामना करनेवाली...... (४४ मंत्र)।"

इस आशीर्वादों की उमडती धारा में स्नान करती हुई एक नवयुवती पत्नी के हृदय में (उसके नवप्रिय पति की मृत्यु की कल्पना करके, उसे) देवर की कामना के भावों का संचार क्या ऐसे शुभावसर पर उचित है? यह तो उसके मन की उमंगों को तोड देना है। कहां तो ऐसे ऐसे शुभावसरों पर रोगी स्वस्थ हो जाया करते हैं,

और कहां 'देवृकामा' पद मानकर नवविवाहि दम्पती में से 'पति' को मृत्यु की मानसिक कल्पना भी होने लगी ? 'देवर की कामना करनेवाली' इस अर्थ के बोधक पद तो पति की मृत्यु होने जाने पर पत्नी को सांत्वनार्थ कहे जा सकते हैं।

श्री स्वामिजी ने स० प्र० की भूमिका में लिखा है कि, "विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढकर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने जो स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है।" फिर स० प्र० उत्तरार्ध अनुभूमिका प्रथम में लिखते हैं-"यह निश्चय है कि, इन विद्वानों के विरोध ने ही सब को विरोधजाल में फँसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फँस कर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें, तो अभी ऐक्यमत हो जावे।"

श्री पं० सातवलेकरजी ने वेदों के लिये इतना अधिक कार्य किया है कि, यदि वे आर्यसमाजी न भी होते, तब भी वह कार्य ही उनके सत्कार के लिये पर्याप्त है। भारतवर्ष में इस समय बहुत सारी प्रति निधिसभायें हैं। क्या कोई भी सभा इस बात का दावा भर सकती है कि, उसने उससे आधा भी वैदिक साहित्यप्रकाशनसंबंधी कार्य किया है, जितना कि इस एकाकी विद्वान् ने किया है?

वेदों का प्रकाशन सिनेमा का व्यवसाय नहीं, जो रुपये के लोभ से इसको चलाया जावे। इसका काम करके किसने आर्थिक लाभ उठाया है?

हमारे उपदेशक पुराणों की उस अजामिल की कथा की प्रायः हँसी उडाया करते हैं, जिसमें कि अन्तसमय में पापी के मुख से पुत्रके धोखे में भूलसे उच्चरित नारायण नाम से विष्णुलोक की प्राप्ति का वर्णन है। हम आर्यसमाजी भी अब इसी मार्ग को पकडने लग गये हैं। पौराणिकों तो भूल से भी उच्चरित नारायण नाम से विष्णुलोक समर्पित कर दिया और हम एक व्यक्ति को [किसी विशेष व्यक्ति की दृष्टि में अशुद्धि करनेवाले, मेरी नम्र सम्मति में अशुद्धि (अविद्या) का निराकरण (नाश) कर शुद्धि (विद्या) का प्रचार करने में सतत प्रयत्नशील] एक अशुद्ध्याभास करने के कारण जानता कि, निगाह में गिराने का प्रयत्न करते हैं। उसने जो अपने महान् परिश्रमसे जाति तथा धर्म की सेवा की, उसका प्रतिफल व्यंगरूप में देकर उसके किये उपकार को भूल जाना चाहते हैं। पुराण ने तो पुण्य की एक चिनगारी से ही जीवन के समस्त पाप समुद्रों को सुखा दिया और हम पापरूप अशुद्ध्याभास की एक बूंद से पुण्यरूप वेदशोधन की अशुद्धिभस्मकारक वह्नि को बुझाया चाहते हैं। क्या इसी ढंग से सत्य के 'जिज्ञासु' सत्य के पीछे 'पागल' होने का दावा भरा करते हैं ?

दोनों पक्षवालों को विषय से सम्बद्ध युक्तियों तक ही अपनी समालोचना को सीमित रखना चाहिए और वह भी व्यक्तिगत, द्वेषशून्य हृदय से। प्रेमपूर्वक किये गये विवादों से ही सत्यार्थ प्रकाशित हुआ करता है और इस प्रकार के व्यंग्यात्मक विवादों से तो सत्य दबकर असत्य का अन्धेरा फैला करता है।

सत्य ज्ञानमय परमेश्वर हमारे हृदयों में वस्तुतत्त्व की प्राप्ति के लिए स्नेह का दीप जगावे, जिसका उजेला शत्रुत्व तथा द्वेषभावों को हमसे दूर करे और हम उस के द्वारा 'अन्तिम सत्य' की झांकी ले सकें।

क्या मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है?

इस विषयमें वेदका संदेश क्या है?

(द्वितीय लेख ×)

गत लेखमें वेदके पांच मंत्र, उपनिषदोंके २५ वचन और गीताके १३ वाक्य, मिलकर ४३ प्रमाण दर्शाकर बताया कि, ईश्वर देखा जाता है, अर्थात् वह आंख का विषय हो सकता है और इस सिद्धिके लिये सहस्रों जन्मों की तपश्चर्या की आवश्यकता नहीं, प्रत्युत यह सिद्धि यम-नियम से रहनेवाला मनुष्य इसी जन्ममें, जीतेजी, वेद, उपनिषद् और गीताको यथायोग्य रीतिसे समझनेका और मनन से ठीक ठीक जाननेका यत्न करेगा, तो और पूर्वग्रह-दोषोंसे दूर रहेगा, तो हो सकती है।

मनुष्य इसी सिद्धि को प्राप्त करने के लिये जन्म धारण करके इस विश्वमें उत्पन्न हुआ है, परन्तु अनेकविध मिथ्या ज्ञानों की दिवारों के अन्दर रहने के कारण, अज्ञानी उपदेशोंके भ्रान्तियुक्त उपदेशोंके कारण, न समझनेवालों के लेखों और ग्रंथोंके पठनपाठन के कारण, तथा विविध भ्रमजाल बढनेके कारणहि अनेकविध अज्ञानों में फंस गया है। यदि उक्त अज्ञान उससे दूर किये जाय और उत्तम ज्ञानी गुरू से योग्य रीतिसे ईश्वरदर्शन का मार्ग विदित किया जाय, तो वह इतना कठिण नहीं कि, जितना इस समय कठिन माना जाता है और सचमुच कठिन प्रतीत होता है।

ईश्वर का दर्शन।

गत लेख में जो ४३ वचन दिखाये हैं, वे सबके सब सुस्पष्टतया ईश्वर के दर्शन के विषयमें ही बोल रहे हैं। उन सब में 'दृश्, पश्य्' इसी धातु का प्रयोग हुआ है। और यह बात सब ही जानते हैं कि, 'दृश्, पश्य्' धातुका उपयोग आंखसे देखनेके कार्यके लिये ही केवल होता है।

१. परमं पदं सदा पश्यन्ति। (ऋ० १।२२।२०)
२. वेनस्तत् पश्यत्। (अ० २।१।१)
३. तत् अपश्यत्। (वा० य० ३२।१२)
४. तं पश्यति। (कठ०उ० २।२०)
५. देवं पश्येत्। (श्वे० उ० १।१४)
६. आत्मानं पश्यति। (मै० उ० ६।२०)
७. दर्शयामास पार्थाय रूपं ऐश्वरम्। (गी० ११।९)

उक्त सब वचनों का सार यही है। यहां कितने सरल और सीधे शब्द हैं? क्या कभी किसीको शंका हो सकती है, जिसको शंका होती हो, वह इन वचनों का स्वयं मनन करे और सबसे प्रथम यह समझने का यत्न करे कि, इन वचनों के शब्दों का अर्थ 'तं देवं (साधकः) पश्यति' इतना ही है वा नहीं, उस ईश्वर को साधक देखता है अथवा देखनेकी युक्ति ज्ञात होने तक हम ऐसा इनका आशय समझें कि, 'साधक उस ईश्वर को देख सकता है।' यदि इनका यही अर्थ है और इन वचनों का कोई दूसरा अर्थ नहीं है, तो किसको क्या अधिकार है कि, वह इससे विपरीत लिखे, बोले, उपदेश देवे और समझे? तथा समझावे?

हम सब वेदको स्वतः प्रमाण माननेवाले लोग हैं और यह भी हम मानते हैं कि, वेद उपनिषद का सिद्धान्त एक ही है, अथवा यों कहियें, जो भी वचन वेदमंत्र के विरुद्ध नहीं हैं, वे सब हमें प्रमाण हैं। तब ऊपर के वचनों को कमसे कम शब्दप्रामाण्यकी व्याप्ति जितनी हो सकती है, उतने तक तो हमें माननाहि चाहिये। परन्तु यदि वेद तो

× लेखांक १ वैदिक धर्म क्रमांक २२० पृष्ठ ३ पर देखो।

कहे 'ईश्वर देखा जा सकता है' और हम मानने लग जाय कि, वह कदापि देखा नहीं जा सकता, वह तो वेद को स्वत: प्रमाण मानना नहीं हुआ।

और यदि हम अपने मतके अनुसार वेदमंत्रों के अर्थ तोडमरोड कर विपरीत ही कर दें, तब तो वेद का प्रामाण्य हमारे लिये कुछ भी नहीं, ऐसा ही सिद्ध होगा। इसलिये सर्वप्रथम पाठकों को पूर्वोक्त वचनों का अच्छा विचार करना चाहिये और निश्चय करना चाहिये कि, उक्त वचनोंमें 'ईश्वर देखा जा सकता है' ऐसा ही स्पष्ट कहा है वा नहीं। पाठक जितना विरोध करना चाहते हैं, उतना सब इसी समय, इन वचनोंके अर्थोंके विषयमें हि करें, जो मर्जी चाहे युक्तियां करें, व्याकरणनिरुक्तादिकों की जितनी सहायता लेनी हो, उतनी लेवें, जो उपदेशक वैसा मानते और कहते हैं, उनसे वार्तालाप करें और अपना निश्चय कर लें कि, इन वचनों का भाव क्या है? क्या इनका भाव यह नहीं है कि, 'आत्मा ब्रह्म ईश्वर तत् सत्।' आदि नामोंसे जिस एक अद्वितीय वस्तुका बोध होता है, वह वस्तु देखी जाती है। इन वचनोंके आधारसे हमारा निश्चय है कि, वह वस्तु देखी जा सकती है। जिसको शंका हो, वह अपना पक्ष सिद्ध करे और सिद्ध करने से पूर्व उक्त वचनों का अर्थ बदल देवे और पश्चात् अपना पक्ष दर्शावे।

अस्तु दूसरा पक्ष सामने आने तक हम इन प्रमाणों से सिद्ध होनेवाला पक्षहि मानते हैं कि, **ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, सत्, तत् आदि अनेक नामों से जिसका वर्णन होता है, वह वस्तु देखी जा सकती है।** और देखना तो सिवाय आंखों से हो ही नहीं सकता, अतएव उक्त वचनों से भाव यही प्रकट होता है कि, **"जैसा आंख से दो पहर का सूर्य देखा जाता है, ठीक उस प्रकार आंखसे ईश्वर का साक्षत्कार मनुष्य कर सकता है।"** (ऋ० १।२२।२०)

पाठकोंकी कठिनता।

निःसन्देह इस समय ऐसा मानना पाठकों के लिए कठिन होगा, यह भी हम समझते हैं, परंतु वेद ही वैसा कह रहा है, इसलिये हमें उक्त प्रकार घोषणा करने में कोई संकोच नहीं होता। और हमारा विश्वास है कि, जो वेद कह रहा है, वैसा ही सत्य सिद्ध होगा और वेद के ... शानुसार ही चलकर हरएक पाठक ईश्वर का साक्षात्... कर सकेगा।

परंतु क्या पाठक अपने दोषमय पूर्वग्रह छोडने ... तैयार होंगे? यह तो हरएक पाठक ने अपने क्षेत्र ... विचार करके निर्णय करने की बात है। हम क्रमशः ... येंगे कि, अज्ञानी उपदेशकोंके मिथ्या ज्ञानयुक्त उपदेशों... कारण कितनी अशुद्ध कल्पनाएं पाठकोंके मनमें स्थिर ... चुकी हैं, जबतक वे वहां रहेंगी, तबतक पाठक ईश्वर ... साक्षात्कार करने में असमर्थ ही रहेंगे।

इस कारण उस अशुद्ध ज्ञान को सर्वप्रथम दूर क... चाहिये। अत: अब विपरीत कल्पनाएं देखिये, कितनी ... कैसी हैं।

आंख बंद करना।

संध्या करनेका अर्थ 'ईश्वरका सम्यक् ध्यान कर... यह सब मानते ही हैं। इस ध्यान के समय अवश्य ... आंख बंद करने चाहिये, ऐसा विचार सार्वत्रिक है। ... से दीखनेवाली वस्तुएं ईश्वर नहीं है, अथवा ... ईश्वर नहीं है, अत: उनको हटाने के लिए अपने ... बंद किये जाते हैं। इसमें विपरीत कल्पना यही है ... ईश्वर अन्दर ही है, उसको दृष्टि अंतर्मुख करने से, वृत्ति... को अंतर्मुख करने से देखना आसान होगा, ... खयाल यहां सार्वत्रिक है। **वेदने कहीं भी आंख ... करके ही ईश्वर देखा जाता है, ऐसा नहीं क...** प्रत्युत ऐसा कहा है कि-

तत् दूरे तदु अन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। (वा० यजु० ४०।५)

'वह आत्मा (दूरे) दूर भी है और (अन्तिके) ... भी है, वह (सर्वस्य अंतः) सबके अन्दर भी है ... (सर्वस्य बाह्यतः) सबके बाहर भी है।' अर्थात् वह आ... ब्रह्म, ईश्वर, सत् आदि शब्दोंद्वारा बताया जानेवाला ... जैसा अपने अन्दर है, वैसा ही अपने बाहर भी है। ... वह ईश्वर अन्दर और बाहर समानतया है, तब तो ... बंद करके अन्दर ही अन्दर देखनेकी क्या आवश्य... है?

यदि ईश्वर केवल अन्दरहि अन्दर होता, तब तो आंखें बंद करके अन्दर देखनेका यत्न करने की आवश्यकता रहती, परन्तु वह तो जैसा अन्दर है, वैसाही बाहर है और जैसा बाहर है, वैसा ही अन्दर है, अर्थात् अन्दर और बाहर समान और एकरस है, तब तो परमेश्वर का ध्यान करनेके समय अवश्यही आंखें बंद ही करनी चाहिये, ऐसा आग्रह क्यों किया जाता है? यदि आंख बंद करने से हि ईश्वर का साक्षात्कार होना संभव होता, तो ५० वर्ष तक प्रतिदिन दो बार आंखें बंद करनेवालों को अभीतक वह दीखता, परंतु आंखें बंद करके घण्टा आधा घण्टा बैठनेवालों में से एकभी ऐसा नहीं कहता कि, इतने वर्ष आंखें बंद करनेसे मैंने ईश्वर को देख लिया। तथापि सभी संध्या के समय आंख बंद ही कर लेते हैं और समझते हैं कि, हमने ईश्वर का ध्यान कर लिया। कितना वेद-विरुद्ध आचरण है, देखिये तो सही !!

खुला वायुमण्डल।

जो तो लोग अपने तंग गलियोंके, तंग मकानों के, तंग कमरेमें आंखें बंद करके बैठते हैं, उनके विषयमें हम कुछ भी नहीं कहेंगे, क्योंकि वे तो तंगीमें हि रहते हैं, अतः बंद कमरों में और आंखें भी बंद करेंगे, तो उन की क्या हानि होगी? उनका तो जीवन ही तंग हो चुका है। परंतु वेद कहता है कि–

उपह्वरे च गिरीणां संगथे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत। 　　(ऋ० ८।६।२८)

"पर्वत के शिखरपर अथवा नदियोंके संगमोंपर की जानेवाली (धिया) बौद्धिक उपासनासे (विप्रः) विशेष प्राज्ञ होता है।" अर्थात् वह ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। वेद तो इस तरह की घोषणाओं से तंग स्थानोंको छोडो और दृष्टि का क्षेत्र विस्तृत करो और ईश्वर को देखने का यत्न करो, ऐसा कहता है !! तंग नगरोंकी, तंग गलियोंके, तंग मकानों के अन्दर के, तंग कमरोंमें बैठ कर ईश्वर–उपासना करनेवालों के मनोंकी अवस्था की तुलना उन उपासकोंके मनों के साथ करिये कि, जो पर्वतशिखरपर बैठकर प्रभुकी उपासना करते हैं, अथवा नदीकिनारे अथवा नदियोंके संगमोंपर उपासना करते हैं !! दोनों की परिस्थितिमें कितना अंतर है ! क्या कोई तुलना हो सकती है? मकानों की तंगियों में सडनेवालों को और गृहचिन्ताओं में डूबनेवालों को वह आनंद कहां मिलना संभव है कि, जो पर्वतशिखरपर अथवा नदीसंगम पर किये ध्यानसे मिलना संभव है !

विस्तृत क्षेत्र।

इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टिका क्षेत्र कितना विस्तृत होता है, वह भी देखिये। तंग कमरे में बैठनेवाले की दृष्टि अधिक से अधिक दसबारा हाथ दूरीतक पहुँचेगी, परन्तु पर्वत के रमणीय शिखरपर बैठनेवाला उपासक कम से कम दोतीन सौ मैल दूर तक तो देख ही सकता है, इसी तरह नदीके संगमपर बैठनेवाला उपासक तो कम से कम नदीप्रवाह को देखता हुआ इतना तो ख्याल कर ही सकता है कि, यह प्रवाह कहां से आया और कहां जाता है। प्रवाह से अखंडता तो उसके अनुभव में आ ही जायगी, जो अत्यंत आवश्यकही है।

वेद कहता है पर्वतशिखर पर बैठकर उपासना करो अथवा नदीकिनारे वा संगम के स्थान पर बैठकर ध्यान करो। वेदने कहा, परन्तु सुना किसने? सभी तो तंग कमरोंमें ही बैठते हैं और विशेष तंगी करनेके लिये अपनी आंखें भी बंद ही कर लेते हैं!! वेदको यदि आपके दृष्टि के सामने का दृश्य बंद करना मंजूर था, तो वह भी वैसाही आपको आदेश दे देता कि, अंधेरे कमरे में आंख बंद करके बैठो, पर वेद तो कहता है कि, घरमें भी न बैठो, जाओ पर्वत पर और नदीकिनारे और वहां बैठो और वहां भी अंधेरेमें मत जाओ, प्रत्युत सूर्योदय और सूर्यास्त का समय साधन करो। नक्षत्रदर्शन तक ही संध्याकाल का समय है, गाढ अंधकार शुरू हुआ, तो संध्याका समय नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि, संध्या के लिये वेदके आदेशानुसार सूर्य का प्रकाश चाहिये। रात्रि का गाढ अन्धकार नहीं चाहिये, यह क्यों? यदि आंखें बंद करनी आवश्यक ही होती, तो सूर्य के बिंब के होनेकी क्या अवश्यकता है? कुछ विचार तो करिये, हमारे आजकल के विचार और वेद का आदेश इसमें कुछ भी तो संबंध रहे, बिलकुल ही विरोध

होनेसे किस तरह सिद्धि प्राप्त हो सकेगी। और इतना विरुद्ध आचरण करनेसे आप ईश्वरको देख भी कैसे सकते हैं?

आप कल्पना करिये कि, आप ब्राह्म मुहूर्त में उठे हैं और शहरके बाहर पर्वतशिखरपर या नदीकिनारे गये हैं; यथायोग्य शौच, मुखमार्जन, स्नान आदि करके संध्या के लिये आप बैठ रहे हैं, ऐसे समय में अंधेरा कम होने लगता है और प्रकाश अधिकाधिक होने लगकर आपके गायत्री जप के समय सूर्यबिंब ऊपर आने लगता है, यह सबेरे की संध्या है। शाम की संध्या भी आकाश में किसी तारका का दर्शन होतेहि समाप्त होनी चाहिये, अतः इस संध्या के समय के गायत्री जप के समय भी सूर्यबिंब क्षितिज पर ऐन आप के सामने दिखाई देता है। कल्पना करिये कि, आप पर्वतशिखर पर बैठे हैं, आपके चारों ओर नितान्त, शांत और गंभीर दृश्य है आपके चारों ओर दोतीन सौ मील की दूरी तक का दृश्य सुंदर रीतिसे दीख रहा है, घरकी तंगी दूर होकर मन के फैलाने के लिये आप को उचित और पर्याप्त अवकाश मिल रहा है, दूरके निसर्ग-रमणीय सुंदर दृश्य दीख रहे हैं, सूर्य का उदय आप के सामने हो रहा है, सूर्य अपने अमृतकिरणों से संपूर्ण विश्व में नवीन प्राण संचारित कर रहा है, क्या यह दृश्य देखना चाहिये कि, इस समय आप के आंख बंद करके आपको इस पवित्रतम दृश्य से वंचित रहना चाहिये? कहिये आप का अन्तरात्मा इस समय आंखें बंद करना चाहेगा या आंखें खोलकर सूर्यकिरणोंद्वारा विश्वमें प्राण संचारित होने का अद्भुत दिव्य दृश्य देखना चाहेगा?

इसी तरह आप नदीकिनारे या नदीसंगमपर गये हैं, सर्व प्रकार शुचि होकर आप संध्या करने लगे हैं, सूर्य आपके सामने अपने किरणोंद्वारा संपूर्ण विश्वपर अमृत की वर्षा कर रहा है, नदी का सुरम्य जल ऊपर से आकर नीचे जा रहा है, दो नदीयों का पवित्र संगम होकर वहां मित्रत्व का दिव्य अद्भुत दृश्य आपके सामने दीख रहा है, क्या आप गायत्रीमंत्र पढते हुए आंखें बंद करके उस अनुपम दृश्यसे वंचित रहेंगे, अथवा इस दैवी घटना में ईश्वर का कर्तृत्व अपने आंख से देखने की इच्छा करेंगे? जो अन्तरात्मा सच कह रहा है, वही कहिये।

यदि ऐसे सुरम्य दृश्य में शरीर को रखते हुए भी अपनी आंखें बंद करके दैवी दृश्य से वंचित ही रहना है, तो फिर आपने इतने कष्ट क्यों उठायें? इससे बे[illegible] यही है कि, आप अपने तंग कमरेमेंहि बैठते! बे[illegible] आपको आदेश दिया कि, इस दैवी ब्राह्ममुहूर्त में [illegible] तंगीमें न रहें, भूमाप्रदेश में आकर भूमा का दर्शन [illegible] आप तो भूमाप्रदेश-विस्तृत खुले प्रदेश में आये, पर [illegible] भी वहां आप आंखें बंद करके सब सुरम्य विस्तृत [illegible] हारी दृश्य को आप से दूर करने के लिए आंख बंद [illegible] हि चाहते हैं? आपका ख्याल है कि, इस सुरम्य [illegible] में परमेश्वर नहीं है और परमेश्वर आपके अन्दरही है, [illegible] इस दृश्य से आपका अन्तःकरण अधिक पवित्र है? [illegible] आपका ख्याल होगा कि, इस सुरम्य विश्व में भी ईश्व[illegible] तो निःसंदेह आप इतने कष्ट उठाकर ऐसे मनोहारी [illegible] में आकर अपने आंख खोलते और उसमें ईश्वर का [illegible] आप देखते। जप करते समय आपके सामने सूर्य [illegible] हो रहा है और आप कह रहे हैं कि-

ओम्। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

"ओम्! विश्वव्यापक ईश्वर सर्वत्र है। इस सूर्य के इस अद्भुत प्राप्त करनेयोग्य तेज का हम ध्यान [illegible] हैं, जो तेज हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है।" ओं[illegible] वाच्य परमात्मा सर्वत्र है, वह जैसा पास है, वैसाही [illegible] है, वह जैसा अन्दर है, वैसा ही वह बाहर भी [illegible] उसीका तेज इस सूर्य में कार्य कर रहा है, जिस सूर्य[illegible] तेज ऐसा सुरम्य है, फिर सूर्यका भी सूर्य जो है, उ[illegible] तेज कैसा विलक्षण होगा, वह तो सबको प्रेरणा [illegible] है, जैसा सूर्य का तेज मनुष्यपशुपक्षियों को उन[illegible] कार्य में प्रेरणा करता है। इत्यादि प्रकार मनन करते [illegible] सूर्य के अमृतरूप किरणों का कार्य देखकर सूर्यके सूर्य[illegible] अर्थात् प्रभुकी कल्पना करने का अभ्यास करेंगे, तो [illegible] शुभ संस्कार आपके मनपर होते रहेंगे। परंतु आंख [illegible] करेंगे, तो क्या बनेगा? आप अपने आपको ईश्वर से [illegible] रखेंगे, यही आजकल किया जा रहा है!

हमारे समझ में नहीं आता कि, संध्या में आंखें [illegible] करने का प्रघात किस तरह घुस गया है, जिससे [illegible] रीतिसे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि, बाह्य विश्वमें परम[illegible] है ही नहीं और जो कुछ है, वह अपने अन्दर ही है।

श्रुतिस्मृति के वचन देखे जाय, तो प्रतीत ऐसा होता है कि, वे ऋषि इस शोभन संध्यासमय के सुरम्य दृश्य से परमात्माकी अद्भुत शक्तिकी कल्पना मनुष्य के मन में स्थिर करनेके यत्न में थे। परंतु अब तो इससे विरुद्धही बात चल पडी। और इतना विरुद्ध प्रघात शुरू हो चुका है कि, अब उसको विपरीत कहना भी पाप समझा जायगा !!!

आंखें बंद करनेका प्रयोजन।

पाठक यहां पूछेंगे कि, आंखें बंद करने का कुछ मूल्य है वा नहीं? यह प्रश्न उत्तम है और योग्य भी है। आंखें बंद करने का मूल्य निःसन्देह है। परंतु परमात्म-दर्शन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने जो यहां बताया, वह इतना ही बताया कि, परमात्मदर्शन करने के लिए आंखें बंद करनी चाहिये, ऐसा जो माना जाता है, वह अशुद्ध है।

जैसा मौन धारण करनेसे लाभ होता है, मन शांत होने में सहायता मिलती है, उसी तरह आंखें बंद करने से शान्ति मिलती है। आंखें खुली रहने से अन्दर की शक्ति प्रतिक्षण बाहर जाकर क्षीण होती है और जगत् के दृश्य का भार मनपर अत्यधिक बढता जाता है, इस कारण आंखें बंद करते ही वह भार कम होने लगता है और मन शान्त होने लगता है। वाणीद्वारा सतत बोलते रहने से भी शक्ति क्षीण होती है, अतः मौन धारण करनेसे उस शक्तिकी रक्षा होती है और उस प्रमाण से मनकी शान्ति प्राप्त होती है। इसी तरह ब्रह्मचर्यरक्षा से वीर्यरक्षा होनेसे शक्ति शरीर में स्थिर रहती है। हाथपांव तथा शरीर न हिलाते हुए एकासनपर सुस्थिर रहने से भी अपनी शक्ति क्षीण नहीं होती और मन शान्त होनेमें सहायता होती है। आसन, मौन, ब्रह्मचर्य, (जननेंद्रिय की निष्क्रियता) से ईश्वर प्राप्त नहीं होता, केवल अपनी शक्ति जो व्यर्थ क्षीण हो रही है, उसकी रक्षा होती है, उसी तरह आंखें बंद करनेसे भी अपनी शक्ति की सुरक्षा होती है, मन शान्त होने में सहायता होती है। यदि कोई कहे कि, 'आसन' करनेसे ईश्वर प्राप्त होगा, ईश्वर दिखेगा, तो वह भूल है। आजन्म-आसनाभ्यास करनेपर भी शरीरकी शक्ति सुरक्षित रहने के सिवाय कुछ भी अधिक नहीं प्राप्त होगा। इसी तरह आंखें बंद करने से भी आंख के द्वारा होनेवाला अपना शक्तिक्षय नहीं होगा, इससे अधिक कुछ भी नहीं लाभ होगा।

जिससे जितना हानिलाभ होने की संभावना होगी, वही बात बोलनी चाहिये। न्यूनाधिक बोलना ज्ञान का लक्षण नहीं कहलायेगा। इसीलिए इससे पूर्व कहा कि, संध्याके समय यदि ईश्वर का ध्यान करने की इच्छा है और सचमुच वही आपका ध्येय है, तो उस समय आंखें बंद करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ईश्वर जैसा अन्दर है, वैसाही बाहर है, अंदरबाहर एक जैसा एकरूप होनेसे जैसा ईश्वर बाहर दीख सकता है, वैसा ही अन्दर भी दिखाई देगा। आंखें बंद करनेसे उसको शीघ्र देख सकते हैं, ऐसी बात नहीं, इतनाही नहीं, प्रत्युत आंखें बंद करनेसे कुछ हानि भी होगी, क्योंकि बाहर के विश्व में व्यापक रहनेवाले ईश्वर से दूर होनेका यत्न इस प्रयत्न में किया जाता है, जो अनवश्यक है।

इंद्रियोंको अन्तर्मुख करना।

ऐसा ही इंद्रियोंको अन्तर्मुख करनेका उपदेश किया जाता है, उस संबंधमें कहना उचित है। इंद्रियों को अन्तर्मुख करनेके विषय में बहुत शब्दजाल लोग बोलते हैं। वेदके किसी मंत्र में ऐसा कहा नहीं है। पाठक जरा अपने कानों को अंतर्मुख करने का यत्न करके तो देखें। जो उपदेशक इंद्रियों को अन्तर्मुख करने की भाषा बोलते हैं, उनसे पूछना चाहिये, कि आपने कौनसा इंद्रिय अन्तर्मुख करनेकी सिद्धता प्राप्त की है? उपदेशकों को और लेखकों को न समझते हुए और स्वयं न करते हुए ऐसे भ्रमजाल फैलानेवाले उपदेश लिखने और कहने का अभ्यास हुआ है और ऐसे सारहीन उपदेशों से जनता को ईश्वरसाक्षात्कार के मार्ग से दूर रखनेका पाप हो रहा है, यह भी उनको ख्याल नहीं होता, कितना आश्चर्य है! हरएक वक्ता बोलेगा कि, इंद्रियों को अन्तर्मुख करना चाहिये और श्रोता उसको सुनेगा, परंतु वक्ताने कभी किया न होगा और श्रोता तो कभी करनेवाला भी नहीं। परंतु ऐसे भ्रमजाल के उपदेश करने और सुनने से वक्ता और श्रोता दोनों खुष होते हैं। कैसा आश्चर्य है!

क्या कर्मेंद्रिय अन्तर्मुख हो सकते हैं ?

इंद्रियोंको अन्तर्मुख करनेके उपदेश में प्रश्न हो सकता है कि, कौनसे इंद्रिय अन्तर्मुख हो सकते हैं। कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय ऐसे दो प्रकार के इंद्रिय हैं। इनमें क्या कर्मेंद्रिय अन्तर्मुख हो सकते हैं? हाथ, पांव, मुख, गुदा और जननेंद्रिय ये पांच कर्मेंद्रिय हैं। क्या हाथ और पांव अन्तर्मुख होंगे? मुख, गुदा और जननेंद्रिय भी अन्तर्मुख होनेवाले नहीं हैं। अतः कर्मेंद्रियों के विषय में अन्तर्मुख होनेकी भाषा बोलना सर्वथा अनुचित ही है।

ज्ञानेंद्रियों का अन्तर्मुख होना।

अब रही बात ज्ञानेंद्रियों की। उनके विषय में देखिये. नासिका, जिव्हा, नेत्र, त्वचा और कर्ण ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं। त्वचा को अन्तर्मुख करने का तात्पर्य क्या है? कैसा यह इंद्रिय अन्तर्मुख हो सकता है? क्या बाहर की खाल, त्वचा अन्दर की जा सकती है, यह स्पर्श करनेका इंद्रिय है, इसको अन्तर्मुख करना असंभव है, इसी तरह कानों को अन्तर्मुख करनेका अर्थ ही क्या होगा? किस तरह कान अन्तर्मुख किये जायंगे? यदि अन्दर की आत्माकी आवाज सुनने का तात्पर्य कानों के अंतर्मुख होनेसे है, तो अंतरात्माकी आवाज इन कानों को सुनाई देनेवाली नहीं है। वह मनमें होनेवाली प्रेरणा है, इन कानोंसे सुनाई देनेवाले अंतरात्मा के शब्द नहीं होते। कोई पाठक अपने कानों को अन्तर्मुख करनेका यत्न करके तो देखे, क्या कभी यह बात साध्य होनेवाली है? कभी नहीं, क्योंकि कान अंतर्मुख होनेके लिये बने ही नहीं हैं। उनको क्या किया जाये?

इसी तरह जिव्हा-रसना-को अंतर्मुख करनेका क्या तात्पर्य है? किस तरह जिह्वा अंतर्मुख होगी? बाहिर्मुख रहते समय जिह्वा जैसा स्वाद का ग्रहण करती है? क्या वह अंतर्मुख होनेसे स्वाद नहीं लेती? और दूसरा कुछ करती होगी, तो किसी जिव्हा को अंतर्मुख करनेवाले अनुभवी पुरुषने बताना चाहिये। हमारे समझमें नहीं आता कि, जिह्वा अंतर्मुख किस तरह होती है? और उस समय क्या होता है? योगमें खेचरी मुद्राके अनुष्ठान में जिह्वा को उलटा करके, जिह्वा की धमनी काटकर उसे लंबा करके तालुमें लगाने का विधान है, परंतु यह अनुष्ठान करनेसे जिह्वा अन्तर्मुख होती है और ईश्वर प्रा होता है, ऐसा तो योगग्रंथ नहीं बोलते। आन्तरिक ग्रं का स्राव उस युक्ति से मिलता है, जिससे युवावस्था दीर्घ कालतक रहती है, इतनाही इसका फल है, इससे अधि ऐसे हठयोगकी किसी क्रियासे ईश्वरप्राप्ति होनेका दावा तो किसीने भी नहीं किया है और समझदार लोक कहते हैं हैं कि, किसी अष्टांगयोगकी ऐसी क्रियाओंसे शरीरस्वास्थ्य भले ही प्राप्त हो, परंतु इससे ईश्वर का साक्षात्का तो कदापि नहीं होगा। योगदर्शनने तो साफही क है, ये हठयोग की क्रियाएं और उनकी सिद्धि परम सिद्धिमें बाधक हैं। फिर जिह्वा को अंतर्मु करने का तात्पर्य क्या है? यदि जिह्वा की रुचिलोलुप में न डूबनेका तात्पर्य है, तो वह अर्थ अंतर्मुख होने किसी के भी ध्यान में नहीं आता। कृपया पाठक जिह्वा इंद्रियको अन्तर्मुख करनेका यत्न करके देखें, जब सचमुच इसका यत्न करेंगे, तब उनको इस विषय में भ्रम फैला है, उसका सहज ही से पता लग जायगा।

इस तरह त्वचा, कान और जिह्वा के अंतर्मुख होने कुछ भी तात्पर्य नहीं है और ये इंद्रिय अंतर्मुख हो नहीं सकते। नाक के अन्तर्मुख होनेकी दशा भी वैसी है। अब शेष रहती है बात केवल आंख की और उस अन्तर्मुख करने के ही लिए ध्यान के समय आंखें बंद क हैं और समझते हैं, इस तरह नेत्र-इंद्रिय अंतर्मुख जाता है। इस तरह आंखें बंद करनेसे किसके नेत्र अंतर्मु हुए हैं, उन को उचित है कि, वे अपने अनुभव दें। हम परीक्षा करके देखेंगे कि, उनको क्या लाभ हु है और उसका मूल्य क्या है।

ये इंद्रियां बनी ही हैं बाहिर्मुख, एक भी इंद्रि अंतर्मुख होनेके लिए बना नहीं है। जो अन्तर्मु होनेके लिए बना ही नहीं, उनको अंतर्मुख कौन कैसे बनावेगा?

प्रकाशादिका अनुभव।

योगमें एक क्रिया है। प्राणायाम करते करते नेत्रादिकों के मज्जाकेंद्रपर इच्छा का दबाव आ जाता है तब प्रकाशदर्शन, सुगंधानुभव, मधुर स्वादका अनुभ

सुन्दर कर्णमधुर शब्द का श्रवण, सुखस्पर्शका अनुभव इस तरह हरएक इंद्रिय के विषयोंका अनुभव विषय सामने न होते हुए भी होता है। प्रकाश ऐसा दीखता है कि, उसके सामने अपना दिनका प्रकाश कुछ भी नहीं, शब्द ऐसा सुनाई देता है कि, मन उसी नादमें घण्टोंतक रममाण हो जाता है। यह एक हठयोग की सिद्धि है। शरीर निर्मल, निर्दोष हुआ, सर्व प्रकार से शुद्ध हुआ, तो अन्दर से ही सुगन्ध आने का भास होता है। ये सब अनुभव किसी भी साधक को होना संभव है। इसमें कोई कठिन बात नहीं है। जिस तरह आंख बंद करके आंखों की ढकनोंपर उंगली से दबाव डाला जाय, तो आंखोंके सामने प्रकाश दीखता है, इसी तरहके ये मस्तिष्कके अन्दर दबाव होनेसे आनेवाले अनुभव हैं। यदि कोई इनको देखकर अपने इंद्रिय अंतर्मुख हुए, ऐसा मानने लगे, तो वह उनका भ्रम है। यह तो विशिष्ट मज्जा-केन्द्रपर विशेष दबाव आनेसे अनुभव में आनेवाली बात है। ये सबही सिद्धियां अपनी उन्नति में बाधक हैं। इनके विषय में सर्वत्र सावधानीकी सूचनाएं दी हैं कि, कोई साधक इनमें न फंसे। इसका नाम इंद्रियों का अन्तर्मुख होना नहीं है।

इस तरह के अनेक भ्रमजाल इंद्रियोंके अन्तर्मुख होनेके संबंध में कई उपदेशकोंने फैलाये हैं। ये सब बोलने और सुनने के लिये अच्छे लगते होंगे, परन्तु इनका कुछ भी फल नहीं है। प्रकाशदर्शन तो एक मामूली अनुभव है। कोई यह न समझे कि, इस तरह का मार्ग ईश्वरसाक्षात्कार की सीढी है। उलटा यह मोह में फंसने का मार्ग है। अतः इस से सदा सावधान हि रहना चाहिये।

मनका अन्तर्मुख।

हां, केवल मन के अन्तर्मुख होने में कुछ सत्यका अंश है। अपना मन सदा ही दूसरों के दोष देखता रहता है। देखिये, दो मनुष्य बातें करने लगे, तो प्रायः किसीकी निन्दा करेंगे, इसने यह गलती की, उसने यह दोष किया, अखबारोंके लेख प्रायः किसी न किसीकी निन्दा के लिये ही होते हैं। मनुष्यको कई मित्र होते हैं और कई शत्रु रहते हैं, अतः मनुष्य अपने शत्रुओं की निन्दा करता रहता है, इसको निन्दा सुननेका बडा प्रेम होता है। मन दूसरों के दोष देख सकता है, परन्तु वह अपने दोष नहीं जान सकता। मनुष्य में यह बडा भारी दोष है। इससे मनुष्य की बडी भारी हानि होती है। इस हानि से बचने के लिये मनको अन्तर्मुख करनेका उपदेश किया जाता है। मन जो दूसरों के दोष देखता है, वही मन अपने दोष देखे और उनके सुधार का यत्न करे। मनके अन्तर्मुख होने का इतना ही अर्थ है और इसकी बडी भारी आवश्यकता भी है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है, कि सभी इंद्रियां अन्तर्मुख करनी हैं। केवल मनको अन्तर्मुख करने का तात्पर्य ऊपर बताया है, उतना ही इस सब में सत्य और अत्यावश्यक है।

आत्मपरीक्षा।

मन दूसरों के दोष देखता है, इसकी अपेक्षा वह अपने दोष देखे और उनको दूर करने का यत्न करे, अपना दोष होने पर उसको माने, कभी हठसे अपने दोष को गुण सिद्ध करने का यत्न न करे। दूसरों के गुणों का वर्णन करे, अपने दोष से ही विश्व में दोष हो रहे हैं, अपनी पूर्ण निर्दोषता सिद्ध होने पर विश्व में दोष नहीं रहेंगे, ऐसा भी चाहे, तो माने। परन्तु कभी अपने दोष न छिपावे। इसका अर्थ यह है कि, **अपना मन दूसरों की परीक्षा में जो लगा रहता है, वह अपनी परीक्षा में लगे, अपने दोष होनेपर अपने आपको स्वयं दण्ड देवे, स्वयं अपने दिया हुआ दण्ड भोगने लगे।** इस तरह आत्म-शुद्धी का मार्ग खुल जाता है, अतः इस प्रकार का मार्ग योग्य है और इस तरह की अन्तर्मुख वृत्ति होना अत्यावश्यक भी है।

मनकी अन्तर्मुखता का यह एक अत्यंत बडा भारी उपयोग है, यह एक आवश्यक तप है, परन्तु जो सामान्यतः सब इंद्रियोंकी अन्तर्मुख वृत्ति करने के विषय में शब्द-जाल बोलते रहते हैं, वह उनका शब्दजाल कुछ भी काम का नहीं। वह एक भ्रममात्र है। अतः इस विषय में जितना जिसने किया है और जितना जिसको मालूम है, अनुभव है, उतनाही वह बोलेगा, तब कभी ऐसे दोष नहीं हो सकेंगे, परन्तु धंदेवाले उपदेशक होने के कारण रुचिकर वाक्य बोलने और सुनने का अभ्यास बढ चुका है। इसका यही परिणाम होता है।

आत्मशुद्धि।

ऊपर कहा ही है कि मनको अन्तर्मुख करनेसे आत्मशुद्धि हो सकती है। अपनी पवित्रता करनेसे मनुष्यकी उन्नति होगी। परंतु अपनी शरीर-इंद्रियां-मन आदिकी पवित्रता होनेसे परमेश्वर का साक्षात्कार होगा, ऐसी बात नहीं है। शरीर-इंद्रिय-मन की अपवित्रता रहनेसे मनुष्यका राक्षस बनता है और पवित्रता बननेसे मनुष्य का महात्मा बनता है। परंतु ईश्वर का साक्षात्कार होनेकी बात और ही है। देखिये-

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥ नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥
>
> (मुण्ड० ३।२।३-४)

'केवल बहुत प्रवचनोंका श्रवण करनेसे' केवल तर्क बढानेसे केवल बडे अध्ययन से यह आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। बलहीन मनुष्य, प्रमादी, या तप करनेवाला अथवा कुछ न करनेवाला इस को प्राप्त नहीं कर सकता। जिसको यह स्वयं वरता है और इन उपायों से जो यत्न करता है, उसी को आत्मसाक्षात्कार होता है।'

यह आत्मसाक्षात्कार का अनुभवसिद्ध नियम है। ऊपर संध्या के समय आंखें बंद करनेके विषयमें लिखा ही है, उस का यह आशय नहीं कि संध्या के समय कोई आंखें बंद न करें, परंतु उसका यह आशय है कि जिसकी इच्छा आंख के द्वारा मन को विश्राम देना मंजूर हो वह आंखें बंद करनेके समय यह न समझे कि यह ईश्वर का साक्षात्कार करनेका मार्ग है। क्योंकि ईश्वर अन्दर बाहर एक जैसा है और यदि किसी जगह ईश्वरका साक्षात्कार होनेवाला होगा तो वह बाहरहि होगा अन्दर कदापि नहीं, क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार विश्वरूपमें होता है। और जो विचार में होता है, मनमें दीखता है, वह ईश्वर का गुणमय भाव होता है।

इंद्रियों के अन्तर्मुख करनेके संबंधमें जो ऊपर लिखा है, वह भी विशेष विचारपूर्वक देखिये। अशुद्ध विचारों को पास रखने से किसी का लाभ होनेवाला नहीं है। मनको अपनी परीक्षामें-आत्मपरिक्षामें-लगाने का नाम उसको अन्तर्मुख करना है यह अत्यंत आवश्यक बात है, इसको कोई न भूले। परन्तु अन्य इंद्रियों के अन्तर्मुख करनेकी बात कोई कहे तो उसको भ्रम समझनाही अच्छा है; क्योंकि वह बात बनने वाली नहीं है। अनुभव न किये मनुष्य वैसी बातें बोलते हैं, उनकी ओर ध्यान न दे[...] उचित है।

ईश्वर का साक्षात्कार।

पूर्व के लेख में बताया ही है, कि (आत्मा दृष्टव्यः) आत्मा या ईश्वर देखा जाता है, अर्थात् आंख का [...] विषय हो सकता है। वेदमंत्रों के प्रमाण और उपनिष[...] के प्रमाण हमने पहिले लेख में पर्याप्त दिये हैं। उनमें से प्रत्येक मंत्रवचन का आशय यही है कि, ईश्वर देखा जा[...] है। हम आगे बतायेंगे कि इसकी प्रक्रिया कैसी है, और ईश्वर किस युक्ति से देखा जा सकता है। वेदमंत्रों में इस के पर्याप्त और पूर्ण आदेश हैं, उनकी ओर दुर्ल[...] होने से ही हमारी यह अवस्था हो चुकी है। अब या[...] बताना इतनाही है कि यदि किसी युक्ति से ईश्वर [...] साक्षात्कार विश्व में हो सकेगा, तो उसी युक्ति से अन्[...] इंद्रियों द्वारा भी ईश्वर का अनुभव हो सकेगा, इस विष[...] में किसी को संदेह नहीं हो सकता। क्योंकि यदि ईश्[...] आंखों का विषय होने की संभावना मान ली जाय, तो उ[...] युक्ति से नाक, कान, जिह्वा (रसना), त्वचा आदि इंद्रियों[...] भी उसका अनुभव हो सकना क्यों अशक्य होगा? और [...] किसी इंद्रियसे ईश्वर न दीखनेवाला होगा, तो [...] आंखोंका भी विषय नहीं होगा और ऐसी स्थिति में [...] ऊपरोक्त वेदमंत्रों का क्या अर्थ होगा, इसका विच[...] करना पडेगा। परन्तु इस समय हमारा निश्चय यही है कि ऊपरोक्त वेदादि वचनोंमें कहा आदेशही सत्य है और आंख से ईश्वर दीखने वाला है, यह भी सत्य है, [...] इससे जो अनुमान किया जाता है कि अन्य इंद्रियोंसे [...] ईश्वर का साक्षात्कार होगा, वह भी संभवतः सत्यही हो[...] इसका विचार यथासमय आगे किया जायगा।

अन्तिम सिद्धि या प्रथम सिद्धि ।

कई लोग कहते और मानते हैं कि ईश्वर का साक्षात्कार होना अन्तिम सिद्धि है, इससे मनुष्य कृतकृत्य होता है और पश्चात् उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता । परन्तु यह बडा भारी भ्रम है । ईश्वर का साक्षात्कार होना यह वैदिक धर्म के दृष्टि से अन्तिम सिद्धि नहीं है परन्तु यह पहिली सिद्धि है । क्योंकि हम वेद में स्पष्ट देखते हैं कि गुरुकुलों में अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण होकर स्नातक होनेके समय ईश्वर का साक्षात्कार हुआ होता था, ब्रह्मज्ञान होने के पश्चात् ब्रह्मचारी स्नातक होकर गृहस्थी होने का अधिकारी होता था । अर्थात् विवाहसंस्कार के पूर्वहि वैदिक समय में ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म का साक्षात्कार और पूर्णज्ञान हो जाता था । ब्रह्मचर्य इसी कार्य के लिये था। ब्रह्मप्राप्ति के लिये जो व्रताचरण, जो चालचलन होता था उसी का नाम ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मप्राप्ति होने से पूर्व ब्रह्मचर्य की समाप्ति होने से पूर्व विवाह-संस्कार कभी नहीं हो सकता। हां, कोई ब्रह्मचर्य-व्रत को असफल होने की अवस्था में भी गुरुकुल से भाग जावे तो बात दूसरी है । अथर्ववेद में कहा है—

यो वै तां ब्रह्मणो वेद अमृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥
(अथर्व० १०।२।२९)

"अमृत से आवृत ब्रह्म की नगरी को जो यथावत् जानता है, उसको ब्रह्म और ब्रह्म से उत्पन्न हुए अन्य देव नेत्रादि इंद्रिय, प्राण और प्रजा देते हैं । "

इस मंत्र में कहा है ब्रह्मज्ञान होने से ब्रह्म की कृपा होती है और उस ब्रह्मकी कृपा से उत्तम इंद्रिय, उत्तम प्राण अर्थात् दीर्घ आयु और प्रजा अर्थात् उत्तम सन्तान होता है । पाठक कल्पना करे कि ब्रह्म प्रसन्न होकर, ब्रह्म-का साक्षात्कार होने के पश्चात् जो शुभ सन्तान होता है, वह औरसहि संतान है, क्योंकि दत्तक संतान के लिये ब्रह्मकी कृपा किस लिये चाहिये ! इससे स्पष्ट हो जाता है कि संतति होने योग्य आयु के पूर्वहि ब्रह्मका साक्षात्कार होना चाहिये । शुभ इंद्रिय, शुभ शरीर और बलवान् प्राण की प्राप्ति होने का ही अर्थ तारुण्य की अवस्था है । स्नातक होने के समय यदि परमात्मा का साक्षात्कार हो सकेगा, तो उसको नेत्रादि उत्तम इंद्रिय, बलवान् प्राण, दीर्घ आयु और निरोग शरीर मिलेगा और सुसंतान भी प्राप्त होगा । इसलिये हमने ऊपर कहा कि तारुण्य में ही ईश्वर-साक्षात्कार होना चाहिये ।

वैदिक समय की गुरुकुलीय शिक्षापरिपाठी ऐसी ही होती थी, कि जिससे गुजरा हुआ युवा ब्रह्मचारी ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करके गुरुकृपा से सिद्ध होता था और पश्चात् गुरुकी आज्ञा से विवाह करके गृहस्थी होता था ।

इस तरह विचार करने से पता लग सकता है कि ब्रह्म का साक्षात्कार यह कोई हौवा नहीं है कि जो वृद्धावस्था तक न होनेवाली बात हो, न उसको जन्मजन्मन्तरों की आवश्यकता है । दस पंदरह वर्षोंके ब्रह्मचर्यपूर्वक अनुष्ठान से सिद्ध होनेवाली बात है । हम उपनिषदादि ग्रन्थों में देखते हैं कि कई ऋषिकुमारों को युवावस्था के समय ब्रह्म-ज्ञान हो चुका था । और प्रतीत ऐसा होता है कि वह एक उस समय विद्याकी पठन पाठन की प्रणालीहि ऐसी थी कि जिससे गुजरनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत की मर्यादामें इस को प्राप्त कर सकता था ।

मान लीजिये कि ऐसा ही होता था, तो ब्रह्मचर्य-व्रत की मर्यादा में जिन्होंने ईश्वर-साक्षात्कार किया है, क्या आगे उनको गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास में कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता है ? आज कल की विचारप्रणाली तो यही कहती है कि ईश्वर-साक्षात्कार होनेके पश्चात् वह तो जड भरत जैसा मूढवत् आचरण करेगा । सब लोग यही बोल उठेंगे कि ईश्वरप्राप्ति के पश्चात् मनुष्य के लिये कोई कर्तव्य रहता ही नहीं । आज कल ऐसा क्यों मानते हैं, इस का उत्तर यही है, कि आज कल लोग कर्तव्यकर्म से घबराते हैं, वैदिक काल के लोग कर्तव्य से घबराते नहीं थे, इसी कारण वे उन्नत होते थे और इसी कारण हम अवनत हो रहे हैं ।

ब्रह्मज्ञानके पश्चात् सच्चा कर्तव्य ।

वास्तविक बात यह है कि ब्रह्मज्ञान और ईश्वर-साक्षा-त्कार होनेसे उसको सत्यज्ञान हुआ और सत्यज्ञान का

अनुभव भी मिला, इसी लिए उसी को सत्य कर्तव्य का पता लगना संभव है। अज्ञानी लोग क्या जानेंगे कि, कर्तव्य निर्दोष रीतिसे कैसा करना चाहिये? ज्ञानी आत्म-साक्षात्कारी लोग ही ठीक रीतिसे जान सकते हैं कि, योग्य कर्तव्य क्या है और उसको निर्दोष रीतिसे किस तरह करना चाहिये। अतः आत्मसाक्षात्कारी के लिए कोई कर्तव्य नहीं है, ऐसा मानना भूल है। वही ठीक देख सकता है और वही ठीक कर्तव्य कर सकता है, और उसीका उदाहरण सामने रखकर अन्य मनुष्य अपना आचरण सुधार सकते हैं।

आजकल सबही प्रथा बिगड चुकी है। आत्मज्ञानी होनेसे विश्वसे मनुष्य उठ नहीं जाता, जैसा आजकल समझा जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण, विदेही जनक, शुकाचार्य, श्री रामचन्द्रजी ये सब आत्मसाक्षात्कारी महात्मा थे, क्या श्रीकृष्णचन्द्रजी, श्रीरामचन्द्रजी और श्री जनकजी ने राजकार्य उत्तम रीतिसे नहीं किये? क्या इनके उपदेश आज भी जनता को मार्गदर्शक नहीं हो रहे हैं? क्या शुकाचार्य सिद्ध हो जाने पर उत्तम उपदेशक नहीं थे? क्या सनत्कुमार उत्तम प्रवक्ता नहीं थे? ये सब महापुरुष ब्रह्मचर्याश्रम में ही ईश्वरसाक्षात्कार किये हुए थे। जनक राजाकी कर्तव्यपरायणता तो विशेष ही थी, जिसका आज भी उदाहरण दिया जाता है। ऋषिकाल के ऐसे कई महापुरुष हैं कि जो ईश्वरसाक्षात्कार होनेके पश्चात् आत्मज्ञानी होकर उत्तम कर्तव्यपरायण रहकर आदर्श पुरुष बने हैं। इसलिए ईश्वर-साक्षात्कार होनेपर वह कुछ काम का नहीं रहता, यह विचार बिलकुल ही अवैदिक है, प्रत्युत वही साक्षात्कारी मनुष्य उत्तम कर्तव्य करनेवाला आदर्श पुरुष होता है।

इसी कारण विद्याध्ययन-क्रम ऐसा होना चाहिये कि जिसमें गुजरते हुए विद्यार्थी ईश्वर का साक्षात्कार करे और महात्मा बनकर जगत् में आदर्श पुरुष के समान कर्तव्य करनेके लिए व्यवहारक्षेत्र में आजावे।

अनाडी कामुक मनुष्य संतान उत्पन्न करते हैं, और ऐसे आत्मसाक्षात्कारी महात्मा सुयोग्य गृहस्थाश्रम करते हुए प्रजा उत्पन्न करेंगे, तो किनकी प्रजा उत्तम होगी? वैदिक धर्मका आदर्श यही है कि ऐसे साक्षात्कारी पुरुषों द्वारा सुसंतान पैदा हो और यही पृथ्वी इन सुसंतानोंसे स्वर्गधाम बने, यहां इसी पृथ्वीपर परमात्मा का राज्य हो जावे, और जो चारों ओर सैतान का राज्य चल रहा है वह बंद होवे। वैदिक धर्म का ध्येय यही है। और ईश्वर-स्वरूप के ज्ञान होनेके विना यह ध्येय कदापि सिद्ध नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्याश्रम २५ वर्ष की आयु के समय पूर्ण होता है, ऐसा माना जाय तो उस समय ईश्वर का साक्षात्कार होता है और पश्चात् गुरु की आज्ञा से वह स्नातक गृहस्थ बनकर विश्वव्यवहार में प्रविष्ट भी होता है। यदि ऐसे सच्चे महात्मा लोग नगरों में अधिक संख्या में हो जावें तो ग्रामों और नगरों का वायुमण्डल ही दिव्य बनेगा, इसमें किसको क्यों संदेह हो सकता है?

इस लेख से पाठकों को पता लग जायगा कि स्वयं अन-भिज्ञ उपदेशकों के भ्रमोत्पादक उपदेशों से बहुत ही भ्रम फैल गया है। जिसको दूर किये विना ईश्वर-साक्षात्कार का मार्ग खुला नहीं हो सकता। (क्रमशः)

वैदिक शाखाएँ वेदव्याख्यान ही हैं !

(लेखांक २)

(लेखक- श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून ।)

अब मैं कुछ वैदिक शब्दों को लिखकर यह बतलाने का प्रयत्न करूंगा कि, उपर्युक्त प्रकार से वेद में किस प्रकार विद्याएं भरी पडी हैं और वह किस प्रकार सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है–

१- 'वसु'- शब्द। अर्थ पृथिवी, जल, नक्षत्र आदि हैं। 'वसु' शब्द 'वस्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'निवास,' तो इस प्रकार 'वसु' इसका अर्थ हुआ, जिस में प्राणी निवास करते हैं। इसी 'वसु' शब्दसे ही पता चला कि, नक्षत्रोंमें भी मनुष्य निवास करते हैं। वसु शब्द का निरुक्तकारने भी ऐसा ही अर्थ किया है। नक्षत्रोंमें मनुष्य रहते हैं, ऐसा विज्ञान-वेद में भी है। यदि हम ऐसा कहें, तो पाश्चात्यों को नाराज न होना चाहिये।

(ख) गन्धर्व- शब्द का अर्थ स्वयं वेद करता है- 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः।' अर्थात् चन्द्रमा ही गन्धर्व है। गन्धर्व शब्द का शब्दार्थ है- गां रश्मिं धारयतीति-किरण को धारण करनेवाला। यहां गो शब्द का अर्थ रश्मि अथवा किरण ही क्यों किया जाय? अन्य क्यों न किया जाय, ऐसी शंका करना व्यर्थ है। उपर्युक्त वेदमन्त्र में ही स्पष्ट कहा गया है कि, सुषुम्णनामक सूर्य की एक रश्मि है। उस रश्मि को धारण करने के कारण ही चन्द्रमा को गन्धर्व कहा जाता है।

इस प्रकार गन्धर्व शब्दसे ही यह विज्ञान निकला कि, चन्द्रमा में जो प्रकाश है, वह सूर्य की एक सुषुम्ण नामक रश्मि का ही है।

(ग) विमान- शब्द चारों वेदोंमें आया है, उसके अनेक अर्थोंमें विमान-हवाई जहाज भी एक अर्थ है। हवाई जहाज के लिये विमान शब्द का प्रयोग क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर ही बताता है कि, वेद में विमानविद्या है। विमान शब्द के दो अवयव हैं- वि और मान, जिस का अर्थ है पक्षीके किस्म की चीज। वि पद का निर्वचन करते हुए यास्क मुनि ने लिखा है- 'विरिति पक्षिनाम वेतेर्गतिकर्मणः।' वि पक्षि का नाम है, क्योंकि वह आकाश में गति करता है। वर्तमान हवाई जहाज भी तो पक्षि के आकार के होते हैं, इस के निर्माताने भी तो पक्षियों की गति से शिक्षा ली है। जब विमान शब्दका मोटा अर्थ ही उक्त प्रकारसे है, तब यदि कोई विद्वान् वेदमन्त्रों से विमानविद्या को भी वेद में बताए, तो इस में क्या पाप है अथवा इसे पक्षपात क्यों कहा जाय।

(घ) शरीर- शब्द भी एक वैदिक शब्द है। यजुर्वेद के अन्त में यह शब्द आया है। शरीर शब्द का धात्वर्थ है, नष्ट होनेवाला। यह नाश कई प्रकार से हो सकता है। आगमें जलाने से, पानी में बहा देने से, जमीन में गाढ देने से, यहां किस प्रकार से नाश अभिप्रेत है? इस का समाधान वेद स्वयं करता है। 'भस्मान्तं शरीरम्।' अर्थात् शरीरका अन्त भस्म है। यदि इस प्रकार शरीर शब्द से और उस की उपर्युक्त व्याख्या से कोई यह आशय निकाले कि, वेद में मुर्दों के जलाने का विज्ञान है, तो वह क्यों पक्षपाती समझा जाय। यद्यपि ये सब बातें वेद में हैं, तथापि पाश्चात्य पंडितों के विचार में ये सब बातें क्रमिक विकासविकास का परिणाम हैं और आज से पहिले इन का नाम भी किसी को पता भी

न था। अतः वे इस को स्वीकार नहीं करते कि- आजसे अनेकों वर्ष पूर्व ये सब बातें वेदों में सूक्ष्म रूप से विद्यमान थीं। इसलिये वे ऐसे स्थला का अन्य प्रकार से अर्थ करने का प्रयास करते हैं। अब पाठक गण ही विचार करें कि, वेद के अर्थों में वे लोग खेंचातानी करते हैं अथवा हम।

परन्तु इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि, यदि इस प्रकार सभी बातें वेदों में हैं, तो इन विज्ञानों के आविष्कार से पूर्व वेदों से उन आविष्कारों को क्यों नहीं निकाला गया। और दूसरा यह भी प्रश्न होता है कि, विमान आदि के नाम से यह निश्चय कैसे किया जाता है कि, वेदों में ये विद्याएं हैं। यदि इस प्रकार की विद्याएं वेदों में हैं, तो उनका पूरा पूरा विवरण भी वेद में होना चाहिये- पूरा नक्शा भी होना चाहिये और ऐसा विवरण वेदों में नहीं है।

इस पर संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि, विमानादि की भावनाएं भारतीयों में किसी न किसी रूप में वर्तमान विमानादि के निर्माण से पूर्व ही विद्यमान हैं और प्राचीन सम्प्रदाय के मध्यकाल में विविच्छन्न होने से इसका ज्ञान लुप्त हो गया। विचारणीय तो यह है कि. हम जो अर्थ करते हैं, वह ठीक है अथवा गलत, यदि ठीक ही है तो इस बातके मानने से इनकार करना चाहिये कि, वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।

दूसरे प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि, वेदोंमें सब सत्य विद्याओं का संकेत आ जाता है, यदि पूरी एक भी विद्या लिखी जाती, तो चारों पुस्तकें उस के लिये भी पर्याप्त नहीं थीं। और फिर पूरा निर्देश किसे कहना चाहिये. इसका भी तो निर्णय नहीं किया जा सकता। जितना निर्देश विद्वान् पुरुषों के लिये पर्याप्त है और उनसे अधिक पण्डितों के लिये अधिक है, उतना ही उन से कम विद्वान् के लिए अपर्याप्त है। कभी समय था, जब दर्शकों के सूत्रों से ही उनका तात्पर्य समझ लिया जाता था, परन्तु अब तो टीकाओं पर भी होतीन टीकाएं और हो गईं, परन्तु फिर भी समझने मे कठिनता होती है। अतः वेदों में संकेतमात्र से सभी विद्याएं आ गई हैं और साथ ही प्रभु ने मस्तिष्क भी उसे समझने का दे ही रक्खा है। और साथ ही सभी अग्नि आदि प्राकृतिक पदार्थों का रासायनिक विश्लेषण उनके लाभ आदि का भी निर्देश वेद में परमात्मा ने कर दिया है और इतने पर भी आदिसृष्टि में प्रभुने चार ऋषियों को भी भेजा और उन्हों ने सब मनुष्यों को उन्हें समझा दिया।

इस सबके लिखने का तात्पर्य यह है कि, नवीन विचारों के विद्वान् ज्ञान, भाषा, लिपि आदि सभी बातों पर विकासवाद की दृष्टि से विचार करते हैं, परन्तु प्रारंभ सृष्टि में और वर्तमान में बहुत अन्तर होता है और उसके बिना काम नहीं चल सकता, इस बातकी ओर वे विचार नहीं देते- यही एक सब से बडा पाश्चात्य पद्धति से विचार करने में दोष है। इसका दिग्दर्शन हमने ऊपर करा दिया। अब प्रकृत पर आते हैं।

प्राचीन आर्य और लिपि।

उपर्युक्त नवीन विकासवाद के सिद्धांतानुसार पाश्चात्य विद्वान् और उन की शैली के भारतीय विचारक भी यह मानते हैं कि, प्राचीन आर्य लिखना न जानते थे, तबतक लिखने के बिना भी उनका काम चल जाता था और यह सिद्धान्त है कि—

'जरूरत ही ईजाद की मां है।' क्योंकि प्राचीन आर्यों का काम 'लिपि' के बिना भी चल जाता था, अतः उन्होंने लिखने के सामान का भी उद्भव नहीं किया था। यह सब लिपिकला वर्तमान समय की ही चीज है। इसी बात में यह युक्ति भी वे प्रस्तुत करते हैं कि, प्राचीन ग्रंथों में ब्राह्मणादिक में लिखनेवाले की निन्दा की गई है, अतः प्रतीत होता है कि, तब लिखने का प्रचार नहीं था। इसी के लिये वे यह भी युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि, वेद को इसीलिए ही अनुश्रव कहा

जाता है, अर्थात् वे सुने जाते थे पढ़े नहीं, क्योंकि तब लिखने का, लिपि का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था। अब हम इन युक्तियों पर क्रम से विचार करेंगे-

१. ऊपर बताया गया है, आदिम ज्ञान अपौरुषेय ही होने चाहिएं और साथ ही यह भी सिद्ध किया गया है, वह ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण ही है। सब से प्रथम देखना यह चाहिए कि, वेद में लेखन-कला का वर्णन है या नहीं-

(क) यजुर्वेद ५ अध्याय के ४३ वें मंत्रमें 'लेखीः' पद मिलता है, जिससे पता चलता है, लिखने की कला वेद में है।

(ख) अथर्ववेद काण्ड १२, सूक्त ३, मंत्र २२ में 'लिखितम्' पद है।

(ग) अथर्ववेद काण्ड १४, सूक्त २, मंत्र ६८ में 'लिखात्' पद है।

(घ) अथर्ववेद काण्ड २०, सूक्त १३२, मं० ५ में 'लिखत्' पद आता है।

इस सम्बन्ध में श्री हीराचंद्रजी ओझा महानुभाव ने वेद के मंत्रों से ही सिद्ध कर दिया है कि, प्राचीन आर्य लिखना जानते थे।

(२) और जो यह कहा जाता है कि, लिपि की तब आवश्यकता ही नहीं थी। 'जरूरत ईजाद की मां है' की उक्ति-अनुसार लिपि का तब प्रादुर्भाव ही न हुआ था। यह युक्ति भी वास्तविक नहीं-

क्योंकि ऊपर के आदिम ज्ञान और भाषा के अपौरुषेय सिद्ध करने से यह ज्ञात होता है कि, आदिम मनुष्य जंगली नहीं थे। अपितु बहुत सभ्य थे और आगे सभ्यता का ह्रास ही हुआ होगा। और इस प्रकार ह्रास और उन्नति का क्रम कई बार बीत चुका हो, ऐसा संभव है। और नहीं तो उपर्युक्त वेद के प्रमाणों से इतना तो ज्ञात होता है कि, आदिमकालीन आर्यों को लेखनकला का ज्ञान अवश्य था, क्योंकि आदिम मनुष्यों को वही पूर्ण ज्ञान ऋषियों के द्वारा प्राप्त हुआ था।

कहा जा सकता है कि, यह मान लेने पर भी कि, आदिम मनुष्यों को लिपि का निर्विशेष ज्ञान था कि, लिखा भी जाता है- यह सिद्ध नहीं हो सकता कि, ये आद्य मानव उस ज्ञान को व्यावहारिक रूप भी देते थे।

इस के सम्बन्ध में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि, ऊपर कहा जा चुका है कि, आद्यकाल के मनुष्य असभ्य और जंगली थे, यह बात नहीं, अपि तु वे बहुत सभ्य थे। भला जब स्वयं परमात्मा ने ऋषियोंद्वारा उन्हें अपौरुषेय ज्ञान दिया, तब वे जंगली क्यों हों। अथवा पूर्व सृष्टिका अंतिम योन्यनुसार जिस प्रकार की योनि जिस जीव को मिलनी चाहिये, वैसी योनि इस सृष्टि में भी प्रभु ने दे दी। उन में से जो मनुष्य होने चाहिये थे, उतने ही मनुष्य भी बना दिये गये। परन्तु इतना भेद अवश्य है कि, यह सृष्टि अमैथुनी सृष्टि थी, ऐसा आर्यसिद्धान्त है और ऐसा युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है, जो मनुष्य हुए यदि उन्हें अपने पास पुण्य का फल भोगने के लिये उचित परिस्थिति न मिले, तो यह महा अन्याय है। क्योंकि पूर्व सृष्टिमें अन्तिम योनिमें से जो मनुष्य प्रलयकाल में बहुत समय तक सुषुप्ति की सी अवस्था में रहे, उन में हर प्रकार के मनुष्य हो सकते हैं, विद्वान् और मूर्ख सभी। कोई भी ऐसे भी जीव हो सकते हैं, जिन को मुक्त होने में कुछ ही योनि अवशिष्ट हों- और फिर दूसरी सृष्टि के प्रारंभ में जब तक उनके अनुकूल सृष्टि की परिस्थिति न हो, तो वे उन्नति किस प्रकार कर सकते हैं, अथवा अवनति किस प्रकार कर सकते हैं। अतः आदिसृष्टि में भी मनुष्यसमाज एकदम असभ्य ही नहीं हो सकता-उस समय भी सभी प्रकार के भेद होंगे, ऐसा प्राचीन शैली से विचारने पर निष्कर्ष निकलता है। जब यह सिद्ध हो गया कि, आद्य मनुष्य असभ्य नहीं थे और ऊपर यह भी बताया गया है कि, आद्यकालीन मनुष्यों को ऋषियोंद्वारा अपौरुषेय ज्ञान

और भाषा भी दी गई, तो और उसमें लिखने की कला का निर्देश है, तो यह बात कहां तक संभव है कि, सभ्यता का मुख्य चिह्न लेखनकला प्राचीन आर्यों में नहीं थी। प्राचीन आर्यों में ही क्यों? आद्यकालीन मनुष्यों में भी लेखनकला थी। यह भी उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है।

प्राचीन आर्यों को लिखने की आवश्यकता ही न पडती थी, यह बात भी ठीक नहीं। प्राचीन आर्यलेखनकला बिना वेद की धरोहर का रक्षण किस प्रकार कर सके, जो अनेकों वर्षों से पुराना होता हुआ भी आज तक अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है। आजतक जितने भी अन्वेषण हो चुके हैं, उन से यह प्रतीत होता है कि, जबसे मनुष्यकी सृष्टि हुई लिखना भी, तभी से चला आता है। स्मरण करने के लिए भी लिखने की आवश्यकता होती है और जब प्राचीन काल में एक एक गुरु के पास १० सहस्र विद्यार्थी वेद पढते थे, तब वे इतनी संख्या में लिखने के बिना अर्थसहित स्वर आदि सहित वेदों को किस प्रकार पढ सकते हैं, इस को विज्ञ लोग ही जान सकते हैं। हमें तो ऐसा मालूम होता है कि, मनुष्यों की सृष्टि के साथ ही लिपि का भी निर्माण हुआ है। अतः प्राचीन आर्यों को लिपि की आवश्यकता थी, ऐसा प्रतीत होता है।

(३) लिपि के अर्वाचीन होने में एक यह भी युक्ति दी जाती है कि, ब्राह्मणग्रन्थों- लेखक की निन्दा की गई है।

हम कहते हैं, यह निंदा करना ही इस बात में प्रमाण है कि, लेखनकला तब विद्यमान थी, यदि लिखने का तब प्रचार न हो, तो लेखक की- लिखनेवाली-की निंदा नहीं की जा सकती। निषेध ही निषेध्य की सत्ता का अनुमापक है।

लेखक की निंदा लेखकका अभाव नहीं बताती- अपि तु उसकी किसी कारण अनावश्यकता अथवा अनौचित्य का ज्ञान कराती है। लेखक की निंदा उसकी विस्मृति आदि के कारण भी तो हो सकती है।

(४) वेद को अनुश्रव अथवा श्रुति कहने से भी यह प्रतीत नहीं होता है कि, प्राचीन आर्य लिपि से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

वेद का श्रुति अथवा अनुश्रव इसलिए नहीं कहा जाता कि, वे सुने ही जाते हैं, पढे नहीं अपितु किस लिये कहा जाता है, इसको श्री सत्यव्रत सामश्रमीजी के ही शब्दों में सुनिये-

(क) 'एष हि वेदश्चिरमेव श्रूयते गुरुपरम्परानुसारेण केनाऽपि कदाऽपि एकस्याऽपि मंत्रस्य प्रणयनकालनिर्णये कथमपि न समर्थः अतएव यास्कादि वद् अपौरुषेयश्चेति स्तूयत एवाऽयमिति वृद्धाः।'

(निरुक्तालोचन पृ० १४०।१४

यतः इस वेद को गुरुपरम्परा से सुनते आ रहे हैं और किसी ने कभी एक भी मंत्र का निर्णय नहीं किया, अतः वेद को श्रुति कहते हैं। 'श्रुति' के समान अनुश्रव शब्द भी इसीलिये वेद का नाम है। वे ही कहते हैं—

वेदस्यानुश्रवनामाऽपि श्रुतिमूलकमेव। तथायुक्तं 'दृष्टवदानुश्रविकः' इतीश्वरकृष्णीय सांख्यकारिकाव्याख्यानावसरे वाचस्पतिना- 'गुरुमुखादनुश्रूयते इति अनुश्रवो वेदः इति।

अर्थ- वेद का अनुश्रव नाम भी इसीलिये पडा है। श्री वाचस्पति मिश्रने "दृष्टवदानुश्रविक" इत्यादि सांख्यकारिका की व्याख्या करते हुए सांख्यतत्त्वकौमुदी में लिखा है, क्योंकि गुरुमुख से ही वेद को सुनते आ रहे हैं, उसके कर्ता का पता नहीं, अतः अनुश्रव वेद को कहते हैं।

(ग) वे ही आगे लिखते हैं—

"लौकिकप्रवादवाक्यानामपि श्रुतिरपि व्यवहारो दृश्यते बहुत्र तदेवं यस्य कस्यचिद् वचनस्य प्रचारकालस्यादिर्न निर्णीयते कदा केन कथितमिदमिति। अपि च प्रामाणिक

तया गुरुपरम्परयोपदेशो लभ्यते तत्किल लौकिकं वा वैदिकं वा वचनं श्रुतिरित्युच्यते।

अर्थ- लौकिक वाक्योंको भी बहुत स्थानों पर श्रुति कहा गया है। तात्पर्य यह है कि, जिस किसी भी वैदिक अथवा लौकिक वचन के प्रचारकाल का प्रारंभ ज्ञात न हो कि, किस ने कब यह वचन कहा है। और प्रामाणिक होने से गुरुपरम्परा-द्वारा उसका उपदेश हो रहा हो, उसे श्रुति कहते हैं।

इस प्रकार श्री सत्यव्रतसामश्रमी महोदय ने अपने शाखातत्त्व की युक्तियुक्तता में जो यह प्रथम युक्ति कही थी कि, प्राचीन आर्य लिखना न जानते थे, अतः आगे चलकर स्मृतिदोष से मूल वेदों में कुछ कुछ भेद होता गया और उसे ही शाखा कहते हैं, यह युक्ति ठीक नहीं, ऐसा सिद्ध कर के अब उनकी दूसरी युक्ति के सम्बन्ध में भी विचार करते हैं।

द्वितीय युक्ति।

नवीन विचारक अपने सिद्धान्त की पुष्टि में दूसरी युक्ति यह बताते हैं कि— "देशकालादि के भेद से भी मूल संहिताओं में भेद होना आवश्यक है, परन्तु उपर्युक्त रीतिसे जब यह सिद्ध हो गया कि, प्राचीन आर्य लिखना जानते थे। तब यह युक्ति निर्बल हो जाती है। जब प्राचीन काल में गुरुकुल में विद्यार्थी वेद पढते थे, तो उपर्युक्त विचारानुसार वे लेखनकला में भी प्रवीण थे और इसलिए आवश्यक है कि, जो शिष्य जिस वेद को पढता था, उसे लिख लेता हो। और गुरु से विदा लेकर अपनी लिखित पुस्तक भी अपने साथ ले जाता होगा और उसी के अनुसार ही अपने शिष्यों को पढाता होगा। अतः प्राचीन काल में लेखनकला की सिद्धि होने पर देश-कालादि के भेद से भी मूल संहिताओं में भेद होना आवश्यक नहीं है।

तृतीय युक्ति।

नवीन विचारकों की तृतीय युक्ति यह है कि, 'आचार्यों' के प्रकृतिभेद से भी मूल संहिताओं में भेद हो गया होगा। यहां संभवतः आचार्यों के प्रकृतिभेद से तात्पर्य उनके स्वभावभेद से ही होगा। तो कुलपति अथवा आचार्यों के प्रकृति-भेद से संहिताओं में क्या भेद हो सकता है। किसी आचार्य का चाहे कैसा भी स्वभाव हो, आचार और व्यवहार हो, वैदिक शब्दों में इस से भेद होना असम्भव है- यहां तो यह अटल नियम है—

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।

अर्थात् मंत्रों में वर्ण, स्वर अथवा प्रयोग आदि का भेद न होना चाहिये। तो यह कहां तक संभव है कि, ऋषिलोग स्वयं ही इस नियम का उल्लंघन करें।

यदि कोई आचार्य ऐसा करने का साहस भी करें, तो शिष्य उसे ऐसा किस प्रकार करने देंगे। क्योंकि शिष्य पढने से पूर्व उन संहिताओं को पूर्व वह लिख ही लेते होंगे।

ऐसा होने पर यह कभी नहीं माना जा सकता कि, आचार्य इस सम्बन्ध में मनमानी कर सकता था।

चतुर्थ युक्ति।

(४) इस प्रकार जब नवीन विचारोंकी अयुक्तता सिद्ध हो गई, तब अध्ययनक्रम के भेद से-मूल संहिता के पाठ की न्यूनाधिकता से-यज्ञादि के अनुष्ठानभेद आदि से ही मूल संहिता में भेद होता गया और वही शाखाएं हैं, ये सब युक्तियां भी खंडित हो जाती हैं। क्योंकि प्राचीन ऋषियों और आर्यों ने वेद की मूल संहिताओं की रक्षा के निमित्त बहुत प्रयत्न किए हुए थे, जिन की विद्यमानता में इतना भेद असम्भव है।

और यज्ञादि का अनुष्ठानभेद तो नवीन है- मैं जहांतक समझता हूं, प्राचीन आर्य वर्तमान अदृष्टवादी याज्ञिक परिपाटी को न मानते थे। यज्ञों की अदृष्टार्थकता आज से बहुत थोडे समय पूर्वकी चीज है। यज्ञों में पशुहिंसाका तो वेद में गन्ध ही नहीं। यहांतक कि इधर के ग्रंथों में भी पशुहिंसा का बहुत कम मिश्रण है। गीता में भी यज्ञप्रकरण में पशुहिंसा का गन्ध भी नहीं।

सिद्धांतपक्ष की अवतरणिका।

जब यह निश्चित हो गया कि शाखातत्त्व के सम्बन्ध में पौराणिक विचार और नवीन विचार युक्तियुक्त नहीं, तब स्वभावतः यह शंका होती है कि—

(क) फिर शाखाएं आखिर हैं क्या ?

(ख) और यदि शाखातत्त्व के सम्बन्ध में नवीन विचार के अनुसार वर्तमान शाखाओं में जो थोडा थोडा पद, वाक्य आदिका भेद है प्रत्यक्ष गोचर होता है, उस का क्या समाधान है ?

(ग) तीसरा यदि शाखातत्त्व के सम्बन्ध में नवीन विचार ठीक नहीं, तो कौनसी शाखा को मूल और किन को शाखा समझा जाए, इस का आपके पास क्या विनिगमक है।

अब क्रम से इन प्रश्नों का संक्षेप से समाधान करेंगे। अधिक लिखने से पूर्व मैं पाठकों को निम्न विषय का ज्ञान करा देना आवश्यक समझता हूं-

आदिसृष्टिमें ईश्वर ने जब वेदों का ज्ञान ऋषियोंद्वारा दिया, तब वह पुस्तकाकार में भी परिणत हो गया, ऐसा ऊपर बताया जा चुका है। तब उसे संहिता कहा जाता था। संहिता शब्द का अर्थ है, पदों का प्रकृति। असली रूप, वास्तविक स्वरूप। ऋक् प्रातिशाख्य में संहिता का यह लक्षण लिखा है-

"पदप्रकृतिः संहिता" (ऋ० प्रा० २।२)

अर्थात् पदों की वैदिक भाषा की प्रकृ[ति] प्रारंभिक स्थिति का नाम संहिता है। यजु[:] प्रातिशाख्य में लिखा है कि—

"वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता।

(य० वा० प्रा० १।१५८)

अर्थात् वैदिक वर्णों का एक प्राण होना ही संहिता है। यदि इसको स्पष्ट किया जाय, तो कहा जा सकता है कि, जिस भी प्रकार अस[ली] रूप में वैदिक वर्ण हैं, उसी प्रकार ही उन्हें पढ[ना] संहिता है। उदाहरण के लिए—

"अग्निमीळे पुरोहितम्" इसी प्रकार ही पढ[ना] संहिता है, अवग्रह आदि करने पर नहीं। यही बात पाणिनि मुनिने भी कही। 'परः सन्निक[र्षः] संहिता।"

एक से अधिक वर्णों का ऐक्यसम्बन्ध ही संहिता है। यही वैदिक भाषा और ज्ञान का मूल रूप है, संहिता है। आदिसृष्टि में इसी का ही अध्ययन और अध्यापन होता था। उस समय अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा ऋषि विद्यमान थे और इसके बाद भी उन के योग्य शिष्य रहे। अत: इस वेद की प्रकृति से असली स्वरूप संहिता से ही मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त हो जाता था, क्योंकि संदेह आदि निवारण ऋषिलोग ही कर लेते थे।

परन्तु आगे चलकर यह अवस्था न रही। जब ऋषियोंने देखा कि, शिष्य प्रकृतिमात्र से वेदों को ग्रहण नहीं कर सकते, तब उन्हों ने उस प्रकृति की कुछ विकृति करनी प्रारंभ की। अर्थात् उसे समझाने के लिए सरल करने का प्रयत्न किया और उस समय की आवश्यकता के अनुसार सब से प्रथम मूलसंहिता, जिसे निर्भुज संहिता भी कहते हैं, क्योंकि वेद तब प्राकृतिक अवस्था में थे-जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में हस्तापादा[दि] होते हैं, परन्तु यदि उन्हें पृथक् पृथक् करके दिखाया न जाय, तबतक अव्यक्तावस्था अथवा प्रकृतिरूप में रहते हैं इसी प्रकार वेद में भी

कई पद हैं, परन्तु तबतक उन्हें पृथक् पृथक् बतलाने की आवश्यकता प्रतीत न हुई थी। परन्तु जब इतने से काम न चला, तब सरल करने के लिए और वैदिक भाषाकी रक्षा के लिए प्रतृण्ण-संहिता का निर्माण किया गया। बस! यहीं से शाखाओं का इतिहास चलता है। इसको भी अधिक विकृति न होने से संहिता ही कहा गया है। क्योंकि इन दोनों संहिताओं में इतना भेद था कि, निर्भुज संहिता में पदों की संध्यवस्था को संहिता को बदला नहीं गया था और प्रतृण्ण में उनको पृथक् पृथक् कर दिया था।

"अग्निमीळे पुरोहितम्" यह रूप निर्भुज संहिता का है और "अग्निं ईळे पुरः अहितम्" यह प्रतृण्ण का। इस अवग्रहभेद के कारण भी कई शाखाओं का निर्माण हुआ होगा, ऐसा अनुमान होता है।

अवग्रह का लक्षण लिखते हुए ऋक् प्रातिशाख्य में कहा गया है।

अन्तः पदं येषां स्याद् विकारोऽनन्यकारितः।
एतानि परिगृह्णीयात् वः मध्यगतानि च ॥

इस पर भाष्य करते हुए उव्वट ने लिखा है। "अवगृह्णाणिद्विः खण्डानि पूर्वोत्तर पद्यमूलानि।' अर्थात् जिस पद के दो खण्ड हों, उसका अवग्रह किया जाता है।

किस वर्ग आदि में कितने द्विः खण्ड आदि हैं, इन सबके ज्ञान के लिए भी प्राचीन ग्रंथ मिलते हैं- उदाहरण के लिये अयं देवाय- इत्यादि ऋग्वेद के प्रथमाष्टक के द्वितीयाध्याय के प्रथमाष्टक में ४३ पद हैं इतिकरण दो हैं- हरी इति और पुनरिति। द्विः खण्ड आठ हैं और वे ये हैं-

'रत्नधातमः'- यहां रत्नानां धातमः इस प्रकार है और यहां रत्न और धातम दो पद हैं। इसी प्रकार परिऽज्मानम्, सुऽखम्, सवःऽदुर्घा, सत्यऽमन्त्राः, ऋजुऽयवः, राजऽभिः, ये सब द्विखण्ड हैं, अर्थात् इन में अवग्रह हुआ है। अवग्रह का चिन्ह 'ऽ' है, इस प्रकार के अवग्रहभेद से भी शाखाभेद हुए होंगे।

आगे चलकर जब प्रतिपद, पाठ और अवग्रहादि के निर्देश के अनन्तर भी ऋषियों को यह ज्ञात हुआ कि, वेद के ज्ञान के लिए अब इतना ही पर्याप्त नहीं और साथ ही संभव है, इससे वेदों के अर्थों में भी समानता न रही हो, तब ऋषियों ने समयानुसार एक कदम इस सम्बन्ध में और बढाया और वह था मूल संहिताओं को प्रकरणशः पृथक् कर देना, इसमें यह भेद होने से शाखाभेद हुए और शाखाभेद में यह भी एक कारण है- उदाहरण के लिए ऋग्वेद की-

इक्कीस कही जानेवाली शाखाओं में अब केवल दो ही शाखाएं मिलती हैं, शाकल शाखा और बाष्कल शाखायें इसी प्रकार का अन्तर है।

शाकल ऋषिने ही सबसे प्रथम ऋग्वेद को दश मंडलों और एक हजार सूक्तों में बांटा। इस शाकल ऋषि के पांच शिष्य मुख्य हुए- (१) शिशिर, (२) बाष्कल, (३) शंख, (४) वाह और (५) आश्वलायन। शाकल के इन पांच शिष्यों में से बाष्कल ने ऋग्वेद का अष्टक-अध्याय और वर्गरूप से विभाग किया. बस! यही इन शाखाओंका भेद है।

तीसरा कारण।

इसी प्रकार इस वर्गीकरण के भेद से भी शाखाओं में बहुत भेद हुआ, जिस प्रकार अष्टक और मंडल के भेद से भेद किया गया, इसी प्रकार आगे चलकर सूक्त आदि के भेद से भी भेद होते गये। हम समझते हैं, इस वर्गीकरण में भी ऋषियों ने कुछ विशेषता रक्खी है। यद्यपि अभी तक मैं समझ नहीं सका, परन्तु इस के समझने का प्रयत्न अवश्य कर रहा हूं। किस अष्टक, अध्याय, अथवा मंडल में कितने सूक्त होने चाहियें उन में भी कितने मंत्र होने चाहियें, इस निर्वाचन में भी रुचिभेद से भेद होना आवश्यक था। परन्तु हम समझते हैं, ऐसा करते हुए भी मूल संहिता के मंत्रों में न्यूनाधिकता नहीं की गई। यह भेद भी शाखाभेद का एक कारण

है। उदाहरण के लिए शाकल के उपर्युक्त पांच शिष्यों में बाष्कल और शिशिर ऋषि में इस प्रकार का ही भेद है—

उदाहरण के लिए– "गौर्धयति, इत्याद्यनुवाक- शैशिरीय शाखा में दस सूक्तों का है और बाष्कल संहिता में पञ्चदश १५ सूक्तों का।

इस निर्वाचनभेद के कारण मंत्रों में पौर्वापर्य भेद भी हो गया। उदाहरण के लिए- शैशिरीय शाखा की अंतिम ऋचा– 'तच्छंयोः'' इत्यादि है। इसके कारण भी शाखाभेद हुआ। अथर्व- वेद के शाखाभेद में यह भी एक कारण है— शौनक संहिता का प्रारंभ 'स्तुवानमग्ने'- इत्यादि मंत्र से होता है, परंतु पैप्पलाद शाखा का "शन्नो- देवीरभिष्टय आपो भवंतु पीतये" इत्यादि मंत्र से।

चतुर्थ कारण।

इसी प्रकार जब सूक्त आदि का निर्माण हो गया और ऋषियों को, वेद को और स्पष्ट करना अभिप्रेत हुआ, तब मंत्रों के देवता, ऋषि, छन्द आदि भी लिखे जाने लगे।

इसलिए इस कारण भी भेद होना आवश्यक था। यही कारण बृहद्देवता १।१४ में लिखा है, "देवतार्षार्थ छन्दोभ्यो वैविध्यं तस्य जायते।" अर्थात् देवता, ऋषि, छन्द और अर्थ के भेद से भी भेद हुआ। और वह भी शाखाभेद का अन्य- तम कारण है।

पंचम कारण।

इस प्रकार ऊपर जो शाखाभेद के विविध कारण लिखे हैं, यद्यपि ये सब भी अर्थ की सुविधा के लिए ही हुए हैं– (इसको आगे स्पष्ट करेंगे) तथाऽपि अबतक मूल संहिताके मंत्रों, पदों, वर्णों आदि में किसी प्रकार का भेद नहीं होने पाया था और वास्तव में तबतक इतनी ही वेदों की व्याख्या पर्याप्त समझी जाती होगी। परन्तु समय- भेद से यह अवस्था न रही। हम जहां तक समझते हैं– वैदिक भाषा जब व्यावहारिक भा[षा] न रही और कोई अन्य भाषा जो वैदिक भा[षा] और वर्तमान संस्कृत भाषा के मध्य की थी व्यावहारिक भाषा हो गई। तब केवल संहिता- मात्र के पदों से और वर्णों से ही जनसाधारण वेदों की भाषा को न समझ सकते थे, अतः [उन] वैदिक पदों को उस समय के आचार्यों ने सम[झा] कि, ये पद मेरे शिष्य केवल संहिता के श्रव[ण] मात्र से नहीं समझ सकते। उन्हीं पदों अथ[वा] वर्णों के स्थान पर उन्होंने अन्य पद अथ[वा] वर्णादि जोड दिये उस समय के लिये, यही [एक] व्याख्यानप्रकार था, क्योंकि इतने मात्र की [ही] आवश्यकता थी।

परंतु यज्ञ आदि में मूलसंहिता के मंत्रों का [ही] प्रयोग होता था, क्योंकि यज्ञ को प्राचीन आ[र्य] पवित्र समझते थे और साथ उन का यह [भी] विश्वास था कि, वेद ईश्वरीय ज्ञान है। अतः क[दा-] यह संभव नहीं कि, अपने पदों को ही वे यज्ञ[ों] में भी प्रयुक्त करते हों। इस प्रथा का महाभा[ष्य] से भी पता चलता है—

यद्वानः तद्वानः नाम के दो ऋषि थे। उन्हें व्य[व-] हार में यर्वाणः और तर्वाणः कहा जाता था, प[रंतु] यज्ञ में वे यद्वानः और तद्वानः ऐसा ही बोलते [थे।] महा भाष्य पस्पशाह्निक।

अतः तबतक मूल संहिताओं को भी साथ [ही] साथ पढाया जाता था। परंतु आगे चलकर [इस] सम्बन्ध में दो विचारधाराएं हो गईं। नवी[न] विचारकों का यह विचार था कि, नए व्या[व-] हारिक पदोंवाली वेदसंहिताएं ही पढनी चाहि[ए] क्योंकि वही व्यावहारिक भाषा में लिखी [गई] हैं। प्राचीन संहिताओं को भी साथ में पढ[ना] उचित नहीं, इसमें कालक्षेप आदि होता है, पर[ंतु] प्राचीन विचारक ऐसे विचारों के नहीं थे। [वे] कहते थे कि, नहीं ईश्वरीय ज्ञान उसी भाषा [में] दिया गया है, अतः उसे अक्षुण्ण रखना चाहि[ए।] ये दोनों विचार अभीतक प्राचीन ग्रंथों में [...]

आते हैं, इन्हीं दोनों विचारों को दृष्टार्थवाद और अदृष्टार्थवाद कहते हैं। अब संक्षेप से इस पर भी कुछ लिखना अनुचित न होगा।

यहां अदृष्टार्थकता शब्द का अर्थ यह है कि, जिस का कोई प्रयोजन नहीं अनर्थक है। यदि अदृष्टार्थक शब्द का अर्थ यह भी किया जाय कि, जिस का अर्थ विवक्षित नहीं, अर्थात् केवल उच्चारणमात्र से मंत्र उपकारक हैं, अर्थ से नहीं तब भी यही अर्थ है कि, क्योंकि वैदिक भाषा अब व्यावहारिक नहीं रही. अतः उस का अर्थ विवक्षित नहीं, क्योंकि व्यावहारिक न होने से उस का जो उचित अर्थ भी ज्ञात नहीं हो सकता, अतः ऐसे होनेपर भी यदि मंत्रों का संहितारूप से ही उच्चारण किया जाय, तो वे केवल अदृष्टार्थ ही होंगे, अर्थात् यों कहा जाएगा कि, उन का कोई प्रत्यक्ष अर्थ नहीं है। निष्प्रयोजन हैं, क्योंकि भाषा का प्रयोजन अर्थज्ञान ही है और अब क्योंकि वैदिक भाषा अव्यावहारिक है, अतः उसे छोड देना चाहिये, ऐसा तब एक विचार था। निरुक्त के अनुसार कौत्स मुनि भी इसी विचार के पोषक थे, परन्तु प्राचीन ऋषि ऐसा न मानते थे, इस प्रकार के प्रश्नोत्तर मीमांसादर्शन के सूत्रों में संगृहीत हैं। संक्षेप से हम जिस प्रकार उनका अर्थ समझते हैं, लिख देना चाहते हैं—

प्रश्न (१) तदर्थशास्त्रात्।

(मीमां० अ० १, पा० १, सूत्र ३१)

अब नवीन व्यावहारिक भाषानुसारी पद संयुक्त संहिता के होने पर प्राचीन संहिता का रहना आवश्यक नहीं- वह अनर्थक है।

उत्तर (१) अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः।

(मी० अ० १, पा० २, सूत्र ४०)

जब दोनों में वही अर्थ है, तो यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि, नवीन ही ठीक है, प्राचीन नहीं।

प्रश्न (२) बुद्धशास्त्रात्।

(मी० अ० १, पा० २, सूत्र ३२)

इस पर यह प्रश्न हुआ कि, प्राचीन संहिता इसलिए अनर्थक है कि, दोनों में वही अर्थ है, तब प्राचीन संहिता को तो बुद्धशास्त्र अर्थात् पिष्टपेषण ही कहना होगा।

उत्तर (२) इसका उत्तर दिया, "गुणार्थेन पुनः श्रुतिः" प्राचीन संहिता के अप्रसिद्ध पद के अर्थ का गुण अवच्छेदक धर्म कहने के लिये पुनः दूसरे पद से कहा जाता है।

इसी प्रकार पूर्वपक्ष में एक यह भी युक्ति है कि, "स्वाध्यायवदवचनात्' अर्थात् प्राचीन संहिताएं अब उच्चारणमात्र से अर्थबोधिका नहीं रहीं और "वाक्यनियमात्" प्राचीन संहिताओं में जो वाक्यनियम कर दिया गया है, वह उचित नहीं। अर्थ की विवक्षा से किसी भी शब्द को प्रयुक्त किया जा सकता है। भाषा का नियम और फिर पौर्वापर्य का नियम आवश्यक नहीं, परंतु इन दोनों में से प्रथम प्रश्न का यह समाधान किया गया है कि, " विद्याऽवचनमसंयोगात्" "सतः परमविज्ञानं" अर्थात् उच्चारणमात्र से इसलिये बोध नहीं होता, क्योंकि उस भाषा का पूरा ज्ञान नहीं किया जाता और कभी कभी तो व्यावहारिक भाषा के शब्दों का भी मनुष्य को ज्ञान नहीं होता।

दूसरे प्रश्न का समाधान किया कि, 'अविरुद्धं परम्' अर्थात् वैदिक मंत्रों की नियत आनुपूर्वी और उनमें किसी प्रकार की तबदीली न आने देना, तो अविरुद्ध है, शास्त्र इस के पोषक हैं— मंत्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा-इत्यादि। और युक्ति के भी अविरुद्ध है- अनुकूल है- क्योंकि हम मानते हैं कि, वेद ईश्वरीय ज्ञान है और इस में ईश्वर के भाव गुप्त हैं, यह ईश्वर का महाकाव्य है और कवि जिस प्रकार जिस भाषा और भंगि में जो काव्य बनाता है, उसकी तद्रूपता में ही वह सब कुछ भाव सुरक्षित हैं। अन्यथा नहीं। वर्तमान समय में भी कालीदासादि का काव्य पढनेवाले को जितना आनन्द देता, है उतना उसका अनुवाद

नहीं। इसीलिए ही अंग्रेज जातिने अमर कवि शक्सपिअर के काव्यों की पुरानी भाषा को भी वैसा का वैसा ही रहने दिया है। उसमें भेद नहीं आने दिया। इस प्रकार जैमिनि मुनि के शब्दों में उपर्युक्त दोनों विचारों का इस प्रकार समाधान-समन्वय हुआ कि, मूल संहिता के पद, वर्ण, ज्ञान ईश्वरीय हैं, अतः इनमें भेद नहीं आने देना चाहिए। अतः जिसे किसी पद, वर्ण अथवा मंत्रका अर्थ लिखना अथवा बताना हो, वह पृथक् ग्रन्थ का निर्माण करे। मैं उपर्युक्त सूत्र का यही अर्थ समझता हूं। इसके बाद ही ब्राह्मणग्रंन्थों का प्रादुर्भाव हुआ। हमारी समझ में यही संक्षिप्त शाखातत्त्व का इतिहास है।

अदृष्टार्थवाद का मैंने जो अर्थ लिया है, यद्यपि उसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि, इसमें खेंचतान है, लिखते समय थोडा हृदय में मुझे भी संकोच हुआ, परन्तु-मेरी बुद्धि यह मानती नहीं। मुझे यह असम्भव सा प्रतीत होता है कि, प्राचीन ऋषियों में ऐसे भी कुछ ऋषि अथवा विद्वान् थे, जो यह मानते हों कि, वेदों का कुछ अर्थ ही नहीं, यदि वेदों का कुछ भी अर्थ नहीं, तब यह ईश्वरीय ज्ञान किस प्रकार हो सकते हैं और हम देखते हैं कि, प्राचीन आर्यों में इस सिद्धांत पर किसी प्रकार विप्रतिपत्ति मतभेद नहीं कि; वेद अपौरुषेय हैं आर ईश्वरीय ज्ञान हैं।

हां अदृष्टार्थकता जो अर्थ किया जाता है, वह भी एक प्रकार से ठीक हो सकता है- और वह इस प्रकार-मीमांसा का एक यह नियम है, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' जो शब्द जिस लिए कहा जाय, वही उसका अर्थ लेना चाहिए। जो बात जिस प्रयोजन से कही गई है, उसका वैसा ही अर्थ करना चाहिए। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसी-दासादि महात्माओंने समयानुसार भक्तिवाद आदि का प्रचार किया, वह तब के लिए अच्छा था। इसी प्रकार जब वैदिक संहिताओं में उनके पदों के स्थानपर उनके पर्यायशब्द डाले जाने लगे, तब कौत्स आदि ऋषियोंने मूल संहिताओं की रक्षाके लिए वेदों की अदृष्टार्थकता का प्रचार किया होगा कि, जिससे मूल संहिता की रक्षा की जा सके "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" अन्यथा स्वयं वेद जब स्पष्ट कह रहे हैं कि, हमारा अर्थ है और इसीलिए हम भेजे गये हैं कि, हमें जानकर, समझकर हमारे अनुकूल आचरण किया जाय, तब सूर्य के प्रकाश में यह किस प्रकार संदेह संभव है कि, "मेरा हाथ भी मेरे साथ है कि नहीं।"

प्रथम प्रश्न का उत्तर।

इस प्रकार शाखातत्त्व क्या है, इसका उत्तर इस प्रकार हुआ—

(क) प्राचीन आर्य लिपि आदि जानते थे, अतः मूल संहिता में स्मरण के कारण न्यूनाधिकता नहीं आ सकती, अतः मूल संहिताको स्पष्ट करना, उसको निःसंदिग्ध बनाना, तथा सुरक्षित करना ही शाखातत्त्व का मूल है। और उसका क्रम इस प्रकार है।

(अ) प्रारंभ में मूल संहिता के पदोंको पृथक् करने के लिये पदपाठ के लिए पदसंहिता और क्रमसंहिता का निर्माण हुआ।

(आ) आगे चलकर अवग्रहभेद से भी मूल में भेद हो गया।

(इ) अनन्तर मूल संहिता के मंडल, अध्याय, सूक्त आदि के वर्गीकरण निर्वाचन के कारण भी शाखाओं में भेद हो गया।

(ई) देवता, ऋषि, छन्द के भेद से भी भेद हो गया।

(उ) आगे चलकर जब वैदिक भाषा व्यावहारिक न रही अथवा संहितामात्र के श्रवण से ही शिष्य वेदों का अर्थ न समझने लगे, तब कठिन पदों के तथा वर्णों के स्थान पर सरल पदादि की योजना की जाने लगी। परंतु उस समय भी मूल संहिताएं अक्षुण्ण रहीं।

हेतुओं का एकीकरण ।

हमारे विचार से यही शाखातत्त्व है। इन उपर्युक्त पांच कारणों में एकता है। साधर्म्य है और वह है मूल का स्पष्टीकरण । उसका प्रवचन करना अथवा और स्पष्ट कहा जाय, तो व्याख्यान करना और इस प्रकार जिस ऋषिने भी वेद को वेदके गूढाशय को स्पष्ट करने के लिए कुछ भी प्रयत्न किया और उसके शिष्यों ने उसका ग्रहण किया बस ! वह उसकी शाखा हो गई । वेदों की शाखाएं स्मृतिदोष, कालभेदादि कारणों से नहीं हुई। यद्यपि प्राचीन काल में एक स्थान से दूसरे स्थानपर जाने के उपाय अधिक न थे, परन्तु प्राचीन वर्णाश्रमव्यवस्थानुसार ब्राह्मण और सन्यासीप्रचार का ही कार्य करते थे और उन का काम ही यही था कि, वैदिक व्यवस्था का प्रचार हो। भला इस प्रकार जागरूक रहते हुए यह किस प्रकार संभव है कि, मूल संहिताओं में भेद हो जाये अथवा हो जाने पर भी उसका प्रतिविधान न कर दिया जाय ? अतः स्मृत्यादि के दोष के कारण मूलसंहिता में भेद नहीं हो सकता। अतः शाखाओं का मूल कारण संहिताओं का स्पष्टीकरण ही है और स्पष्टीकर अथवा व्याख्यान दोनों शब्द समानार्थक हैं ।

प्रश्न हो सकता है, व्याख्यान अथवा व्याख्या तो अन्वय, व्याकरण- पर्यायशब्दादि योजन इत्यादि विशिष्ट ही होते हैं । भला इस प्रकार प्रति-पद-पाठक्रम-निर्देश-वर्गीकरण-अवग्रह आदि व्याख्या किस प्रकार हुए ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि, व्याख्या का प्रयोजन किसी बात को समझा देना ही है और समझने की शक्ति मनुष्य के मस्तिष्क का गुण है और मनुष्यों के मस्तिष्क एक प्रकार नहीं होते, अतः व्याख्या भी एक सी नहीं होती। जिस बात को अर्जुन युद्धस्थल में उस समय जब कि, उसका रथ दोनों सेनाओं के बीचमें ठहरा है, लड़ाई होने ही वाली है, 'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते' कृष्णजी के उपदेश-द्वारा समझ गया था कि, आज उसी गीतोपदेश को हम सालों भी नहीं समझ सकते । रसायन-शास्त्र की जिस बात को रासायनिक संकेतमात्र से समझ लेता है, उसे ही एक गंवार अथवा साधारण नागरिक सारी आयु भी नहीं समझ पाता और योग्य विद्वान् भी घण्टों समझाने पर ही समझ पाता है । अतः अधिकारीभेद से व्याख्या में भी भेद होता है, इसी प्रकार प्राचीन काल में इस प्रकार के भी अधिकारी थे कि, उन के लिए पद-पाठ, अवग्रह, आदि का निर्देश ही काफी था और उन से प्राचीनों के लिए तो इस की भी आवश्यकता न थी। अब प्रातिपद, पाठ आदिक व्याख्याप्रकार हैं- इसको संक्षेप से लिख देना चाहते हैं, जिस से इस बात को समझने में सहायता हो।

प्रतिपदपाठ ।

ऊपर जिस प्रतृण-संहिताका निर्देश किया गया है, उसके दो भाग होते हैं-पदपाठ और क्रम-पाठ ।

पदपाठ का उदाहरण— ऋग्वेद का मंत्र है—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥ (ऋ० १।१।२)

इस का पदपाठ इस प्रकार होगा । अग्निः । पूर्वेभिः । ऋषिभिः । ईड्यः । नूतनैः । उत सः देवान् । आ इह । वक्षति ।

इसी को वर्तमान व्याख्याप्रकार में पदच्छेद कहते हैं। यह प्रकार अर्थ करने में सहायक है, इस को सभी जानते हैं।

क्रमपाठ ।

क्रमपाठ का उदाहरण-ऋग्वेद का प्रथम मंत्र है 'अग्निमीळे पुरोहितम्—इत्यादि इसका क्रमपाठ इस प्रकार होगा। "अग्निम्, ईडे, ईडे पुरोहितम्, पुरोहितमिति पुरः अहितम्" यह भी एक प्रकार का व्याख्याप्रकार ही तो है। इस से विशेषण, विशेष्य आदि ज्ञान होता है, जो कि व्याख्या में

सहायक है और कभी इतनी ही व्याख्या पर्याप्त होती थी।

अवग्रह

अवग्रह का लक्षण ऊपर लिखा गया है। इस अवग्रह के भेदसे भी शाखाभेद हुआ है। अवग्रह भेदसे एक ही पदके अनेक अर्थ होते हैं और वह भी एक प्रकार का व्याख्यान ही है, इसको उदाहरणद्वारा स्पष्ट करेंगे।

(क) पुत्र शब्द में अवग्रह है कि नहीं, इसमें एकमत्य नहीं है। ऋग्वेद ५।१।२१।६ में पुत्र शब्द आया है, परन्तु ऋग्वेदके पदपाठमें 'पुत्रेभ्यः' इस पर अवग्रह के विना ही उस को पढा गया है, परन्तु सामवेद (सा० छ० प० ३।२।२।७ के मंत्रमें 'पु त्रेभ्यः' इसपर अवग्रह करके उसे पढा गया है। इस प्रकार पुत्र शब्दके दो अर्थ हुए, इस बात को निरुक्तकार ने भी लिखा है।

"पुत्रः पुरु त्रायते। निपरणाद्वा पुन्नरकं ततस्त्रायते इति वा।" इस प्रकार यास्क मुनिने भी उपर्युक्त दोनों विचारों से पुत्र शब्दके दो अर्थ किये हैं।

(ख) सूर्य शब्दमें भी अवग्रह करना चाहिये अथवा नहीं, इस सम्बधमें मतभेद है— ऋग्वेदके पदपाठमें सूर्य का कहीं भी अवग्रह नहीं किया, परन्तु सामवेदके पदपाठग्रंथोंमें 'सु। अर्यः।' इस प्रकार अवग्रह किया है, इस मतभेदसे सूर्य शब्दके भी दो अर्थ होंगे। जब अवग्रह न होगा, तब सूर्य शब्द 'सृ' धातु अथवा 'सु' धात् से बनेगा; परन्तु अवग्रहपक्षमें 'सु' उपसर्गपूर्वक 'ऋ' धातुसे सूर्य शब्द निष्पन्न होगा और इस प्रकार सूर्य शब्दके अनेक अर्थ होंगे।

(ग) सखि शब्दमें यास्कने अवग्रह माना है। परिशिष्टमेंभी ऋग्वेदके मंत्रकी व्याख्या करते हुए यास्कने सखि शब्दको समान उपपद ख्या धातुसे निष्पन्न किया है। महाभाष्य में भी— "सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि"। (ऋ. १०।(।२।)

मंत्र की व्याख्या करते हुए सखि शब्द को अवगृहीत किया है। परंतु वर्तमान ऋग्वेदके प्रतिपदग्रंथों में सखि शब्दका कहीं भी अवग्रह नहीं किया; अतः मानना चाहिये कि, महाभाष्यकारके समयतक ऋग्वेदकी प्रतिपद-प्रतिपादक बहुतेरी शाखाएं थीं, परन्तु वे सब अब नहीं रहीं। इस प्रकार अवग्रहभी व्याख्यानशैली है, ऐसा सिद्ध होता है।

ऋषि-देवता-छन्द।

ऋषि-देवता-छन्द आदि भेद से भी शाखाएं भिन्न भिन्न हुईं ऐसा ऊपर लिखा जा चुका है। ऋषि देवता आदि अर्थ करने मे सहायक होते हैं, इस बात को वेदका स्वाध्याय करनेवाले जानते हैं।

वर्गीकरण।

वर्गीकरण भी अर्थप्रकाशनार्थ ही हुआ, इस बातको ऊपर लिखा जा चुका है। क्योंकि ऐसा करने में वेदों को सरल करना तथा समान विषयवाले मंत्रों को एकत्र संगृहीत करना ही अभिप्रेत था।

थोडा थोडा भेद।

भिन्न भिन्न शाखाओं में जो थोडा थोडा भेद प्रतीत होता है, वह भी अर्थ करनेके लिये है, ऐसा ऊपर लिखा गया है।

ऋषि दयानंद का सिद्धान्त— इस सब विवेचन से सिद्ध होता है कि, ऋषि दयानन्द यह सिद्धान्त ही ठीक है कि, वेद "व्याख्यानानि शाखाः" शाखाएं वेदव्याख्यान ही हैं।

इसी बात को कुछ उदाहरणोंसे स्पष्ट करेंगे। सब उपलब्ध शाखाओं का उदाहरण न देकर हम पैप्पलादशाखा से ही कुछ उदाहरण उद्धृत करेंगे।

१. इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत् । (अथर्व०-१०।४।१६)
इन्द्रो मेऽहीनजस्मयत् (पैप्पलाद)
२. जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ।
(अथर्व० १०।५।३)

जिष्णवे योगाब्रयोगैर्वो युनज्मि । (पैप्पलाद)
३. ये अर्वाङ् मध्य उत वा...
सर्वे अग्नि द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ।
(अथ० १०।८।१७)

पैप्पलाद-संहिता में त्रिवृत के स्थान पर 'तृतीयं च हंसम्' पाठ है।

४. अथर्व० १०।८।२८का चतुर्थ पाद–"प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः।" है। पैप्पलाद-शाखा में पूर्वोजातः स उ गर्भे अन्तः पाठ है।

५. अथर्व० ११।४।२४। का चतुर्थ पाद–
"प्राणो मान् तिष्ठतु" है। पैप्पलाद-संहितामें 'प्राणो माऽभिरक्षतु' है।

६. अथ० ११।५।२ मंत्र इस प्रकार है—
"ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे। गंधर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः। सर्वान्त्स देवाँस्तपसा पिपर्ति।
पैप्पलाद-शाखामें यही मंत्र इस प्रकार है–
"पितरो मनुष्या देवजना गंधर्वा अनुसंयन्ति सर्वे। त्रयस्त्रिंशत् त्रिशतं शतसहस्रान् सर्वान् स देवांस्तपसा बिभर्ति।

७. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
(अथ० ११।५।२९)
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमाजयन्।
(पैप्पलाद-शाखा)

८. विश्वानादित्यान्ब्रूमस्ते०--। (अथ० ११।६।५)
आदित्यान् सर्वान् ब्रूमस्ते नो...। (पैप्पलाद शाखा।)

९. ये च यज्ञा गुहाहिताः। (अथ० ११।७।१५)
ये च यज्ञा दिविश्रिता। (पैपलाद-शाखा)

१०. यत्तच्छरीरमशयत्। (अ० ११।८।१६)
यत्तच्छरीरमदधत् । पैप्पलाद-शाखायाम्

११. अदितिः कामदुघा पप्रथाना। (अ० १२।१।६१)
अदितिः कामदुघा विश्वरूपा। (पैप्पलाद)
१२. शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीः। (अ० १२।२।२३)
ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः। (पैप्पलाद)
१३. एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः। (अ० १२।३।३४)
इमं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः। (पैप्पलाद)
१४. ते हेतिं परि यन्त्यचित्त्या। (अ० १२।४।५२)
ते हेतिं परि यन्त्यचेतसः। (पैप्पलाद)
१५. अग्नेस्तेजोभिरेदिषि। (अ० १३।१।३१)
अग्नेस्तेजोभिरादधे। पैप्पलाद शाखायाम्
१६. तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाऽवरुन्धते।
(अ० १३।२।१५)
तेनामृतस्य भक्षणं देवानां नाऽवरुन्धते।
(पैप्पलाद)
१७. रोहितो दिवमारुहत्। (अ० १३।२।२५)
रोहितो दिवमाक्रमीत्। (पैप्पलाद-शाखा)
१८. पश्याम त्वा सवितारं यमाहुः। (अ०१३।२।३६)
पश्येम त्वा सवितारं यमाहुः। (पैप्पलाद)
१९. रोहितो लोकोऽभवत्। अ० १३।२।४०)
रोहितो भूतोऽभवत्। (पैप्पलाद)

सामवेद की हजारों शाखाएं।

वेदोंमें सबसे अधिक शाखाएं सामवेद की हैं। क्या इन शाखाओं का भी वही मूल है, जो ऊपर लिखा गया है। अर्थात् स्पष्टीकरण अथवा कोई और यदि और ही है, तो सामवेद की शाखाएं कितनी हैं? इन प्रश्नों परभी कुछ लिख देना हम उचित समझते हैं।

इसका कोई कारण नहीं दीखता कि, सामवेद के इतने सबसे अधिक व्याख्यान हों और अन्य प्रमाणों से यह भी प्रतीत होता है कि, सामवेद की इतनी शाखाएं नहीं. अतः साम की सहस्र शाखाएं नहीं।

वस्तुतः सहस्र शब्दका अर्थ अनेक हैंऔर क्योंकि सामगान के अनेक प्रकार हैं, अतः सामवेद को सहस्रशाख कहा जाता है। इसी बात को श्री सत्यव्रत सामश्रमीने लिखा है—

" वस्तुतः सामवेदस्य गीति कौशल बहुत्वादेव बहुशाखत्वम्।" (ऐतरेयालोचन, पृ० १२६) अर्थात् वस्तुतः सामगायन के बहुत प्रकार हैं अतः सामवेद की बहुत शाखाएं हैं, ऐसा कहा जाता है ।

इसीलिये महाभाष्य में भी ' सहस्रवर्त्मा सामवेदः' ऐसा कहा गया है ।

ऋषि और सहस्र शाखाएं ।

ऋषि दयानंद के इस सम्बंध में क्या विचार थे, इस पर ऐतरेयालोचन में श्री सत्यव्रत सामश्रमीने ऐतिहासिक बात लिखी है, जिससे उनके विचारों का पता लगता है । " परमहो काश्यानन्दोद्यानविचारे यत्र वयमास्म मध्यस्थाः विशेषतो वादिप्रतिवादिवचसामनुलेखनेऽहमेक एवोभयपक्षनो नियुक्तस्तत्र तेनैव स्वामिनोक्तम्," "सहस्रवर्त्मा सामवेदः, इत्यस्य सहस्रं गीत्युपाया इति भावः" इति । अर्थात् काशी में जब आनंद-बाग में विचार हुआ था, तब हम ही मध्यस्थ थे और विशेषकर वादिप्रतिवादियोंके वचन लिखने में तो हमें ही केवल नियुक्त किया गया था। तब स्वामिजी ने कहा था कि, सामवेद की सहस्र शाखाएं हैं, इसका यही अर्थ है कि, "हजारों गाने के उपाय हैं " इति ।

मीमांसादर्शन अ० ९, सूत्र २८- " अर्थैकत्वाद-विकल्पः स्यात् । ' की व्याख्या करते हुए श्री शबर मुनि ने लिखा है-

"सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः ।" अर्थात् सामके हजार गीत्युपायें हैं ।

यदि इस प्रकार सामगान अनेक प्रकार होनेसे ही सामवेदको सहस्रवर्त्मा कहा जाता है तो सामवेद की कितनी शाखाएं हैं, इसके उत्तरमें श्रीसत्यव्रत सामश्रमीजीका विचार है कि, १३ शाखाएं ही सामवेदकी हैं । यद्यपि इसपर भी कुछ लिखा जा सकता है, परन्तु हमारा तो विचार है कि, वेदोंकी चाहे जितनी भी शाखाएं हों, परन्तु वे सब हैं व्याख्यानमूलक ही । यह बात उपर्युक्त प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुकी है।

यह बात शाखाके लिये प्रयुक्त होनेवाले और शब्दोंसेभी सिद्ध होती है ।

क (वर्त्म)

शाखा के लिये एक वर्त्म शब्दभी प्रयुक्त हुआ है, जिस प्रकार- " सहस्रवर्त्मा सामवेदः।" महाभाष्य जिसका अर्थमार्ग है, इससे यह प्रतीत होता है कि, जिस प्रकार मार्ग उद्देश्य नहीं होता, अपितु साधन, इसी प्रकार शाखाएं संहिता नहीं, अपितु संहिताओंतक पहुंचने के मार्ग हैं, साधन हैं।

अध्व

इसी प्रकार शाखा के लिये अध्व शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, जिसका भी उपर्युक्त अर्थ है। जैसा कि षड्गुरु शिष्यने प्रयुक्त किया है-

एकविंशत्यध्वयुक्तमृग्वेदमृषयो विदुः ।
सहस्राध्वा सामवेदो यजुरेव शताध्वकम् ॥
नवाध्वाऽथर्वणोऽन्ये तु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम्।

यहां अध्व शब्द शाखा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ जिस का भी उपर्युक्त तात्पर्य है ।

चरण ।

चरण शब्दभी शाखाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ। " गोत्रचः चरणैः सह " इस सूत्र पर कैयट ने लिखा है- " चरण शब्दोऽध्ययवचनः इह तू-पचारात अध्येतृषु वर्तते ।

अर्थात् चरण शब्द का अर्थ अध्ययन है और यहां उपचारसे चरण का अर्थ अध्येता है। भाव यह है कि, चरण वेदकी शाखाओं को इसलिये कहते हैं कि, उनके अध्येता, प्रवक्ता, व्याख्याता भिन्न भिन्न ऋषि हैं, इसी बात को पतंजलि मुनिने " चरणाद्धर्माम्नानयोः " इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा-" कठानां धर्म आम्नायो वा काठकं पैप्पलादकमिति ।" यहां आम्नाय का अर्थ वेद नहीं, इसी बात को नागेशभट्टने लिखा- " आम्नायः सम्प्रदायः " जो पतंजलि मुनि का अभिप्राय है, वही तो '. आख्या प्रवचनात् ' इस सूत्र से जैमिनिको भी अभिमत प्रतीत होता है। इस सूत्रमें प्रवचन शब्दकी व्याख्या ही अर्थ है।

व्याख्या शब्द वि-आ उपसर्गपूर्वक ख्या धातुसे बना है और प्रवचन प्र उपसर्गपूर्वक वच् धातुसे इन दोनों धातुओं का भी अर्थ एक है और उपसर्गों का भी ।

उपसंहार ।

इस सब विवेचन से यह सिद्ध होता है कि, शाखातत्त्वके सम्बन्धमें ऋषि दयानंद के विचार ही युक्तिसंगत हैं, अर्थात् शाखाएं वेदों के व्याख्यान-रूप ही हैं। हां आगे अनार्यों के आक्रमण के समय जो कुछ शाखाभेद हुआ, वह जानबूझकर वेदों के दूषित करने के अभिप्राय से हुआ। आर्य शाखाओं का तत्त्व यही है। पौराणिक विचार तथा सत्यव्रत सामश्रमी के विचार युक्ति नहीं। अब एक प्रश्न का समाधान कर के हम इस विषय को समाप्त करना चाहते हैं--

श्री सत्यव्रत सामश्रीने- ऋषि दयानंदके उपर्युक्त विचारपर आक्षेप करते हुए निरुक्तालोचनमें लिखा है-

"हन्त का नाम संहिताशाखेति व्यपदेशशून्या तेन महात्मनोररीकृता यस्याः मूलवेदत्वं मत्वा शाखेति प्रसङ्गानामन्यासां तद् व्याख्याग्रंथत्वम्।"

अर्थ- पता नहीं दयानंदने उस महान् आत्माने किसको संहिता है, जो शाखा न हो और जिसे मूलवेद मान कर अन्योंको शाखा समझा जाय, तथा वेदका व्याख्यान बताया जाय? तात्पर्य यह है कि, जिन्हें आज संहिता समझा जाता है, वह भी एक न एक शाखा ही है।

वस्तुतः यही प्रश्न ही नवीन विचारोंका उत्पादक है। वे देखते हैं कि सभी वेद कोई न कोई शाखा ही हैं, अतः शाखाओंकी उत्पत्ति भी वे अपने विचार से ही करते हैं।

इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि, यह ठीक है कि वर्तमान सभी वेद शाखारूपसे ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु पूर्वोक्त प्रकारसे जब शाखाएं बन रही थीं और उनका प्रचार हो रहा था, तब जो ऋषि मूल संहिताओंका अध्ययन, अध्यापन करते, कराते होंगे अथवा उसी विचारके होंगे, जिसे ऊपर अदृष्टार्थवाद कहा गया है। पार्थक्यके लिये उन मूल संहिताओंकी उन्हींके नामसे प्रसिद्धि हो गई, यह ठीक है।

' साध्य और साधन '

(ले०- श्री० पं० लक्ष्मणसिंहजी वेदालंकार, अजमेर)

आपका भेजा हुआ लेख " साध्य और साधन " तथा "वेदमंत्रों के वर्गीकरण" दोनों लेख मुझे प्राप्त हो गये थे।

आपने " साध्य और साधन " जो लेख लिखा है, उसकी मौलिकता तो स्वयं सिद्ध है-ऋषि कौन होता है और ऋषि दयानन्द ऋषि क्यों थे? यह विश्लेषण अत्यन्त ही बुद्धि को रुचिकर है। आपने यह लेख लिखकर हमारे आचार्य की भावना को हमारे सामने रखने का जो प्रयत्न किया है- वह हम आर्यों के लिये एक नेतृत्व का कार्य करना चाहिये। आर्य सज्जन भारत के स्वातन्त्र्य-युद्ध में बडा भाग ले रहे हैं, इसमें शक नहीं- परन्तु उनमें से कितने ऐसे हैं, जिन्हों ने स्वामिजी के इस दृष्टि-कोण को दृष्टि में रख कर कार्य किया है ? यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर समय हमसे मांग रहा है। परन्तु इसका उत्तर देने को हमारे पास समय नहीं। हमें आपस के वैमनस्य से ही फुर्सत नहीं मिलती। परमात्माका धन्यवाद है कि, हम आज इस प्रकार से विचार करनेवाले निर्भीक विद्वान् भी हमारे में पाते हैं। हमें स्वामिजी के इस दृष्टिकोण का प्रचार करना चाहिये।

" वेदमंत्रों के वर्गीकरण " लेख जो वेद के सम्बन्ध में आपकी कलम से लिखा गया है, उसके विषयमें किसी प्रकार की सम्मति देना उचित प्रतीत नहीं होता- आपकी कलम से लिखा होना ही, इसकी सार्थकता सिद्ध करना है।

यदि हम इस प्रकार से वेदों का अभ्यास करने के आदि हो जायें, तब सचमुच वेदों का उद्धार हो सकता है- वेदमंत्रों के वर्गीकरण की आज कितनी आवश्यकता है, यह तो वे ही अनुभव कर सकते हैं, जो वेद के अन्दर विचार का प्रयन्त कर रहे हैं। इसकी कीमत वे विद्वान नहीं अनुभव कर सकते, जो वेद के बहिरंगभाग का अध्ययन कर रहे हैं, अर्थात् वेद कब बने ? वेदमंत्रों की संख्या कितनी है ? आदि आदि ! अन्तरंगपरीक्षकों के लिये तो वह स्वयं-सिद्ध है। उसकी उनको जरूरत नहीं।

यदि आपका यह प्रयास सफल हो सका, तो कोई सन्देह नहीं- वेदार्थ करने में बहुतसी कठिनाई हल हो जायेगी। प्रार्थना है, उस परमात्मासे और धन्यवाद है, उस दिनको जब हमारे हाथमें इस प्रकारका 'वेदमंत्रों का वर्गीकरण' होगा ?

अफ्रिकामें।

(३)

(लेखक— श्री० पं० तडित्कान्त वेदालङ्कार)

रिपन प्रपात।

(Ripon Falls)

विक्टोरिया झीलके उत्तर किनारेपर स्थित जिंजा शहरके सामने यह प्रपात है। यह जिंजा के इतनी ज्यादा नजदीक है, कि प्रायः बहुतसे जिंजा-निवासी शामको इसी तरफ घूमने जाते हैं। रिपन प्रपात के जलकी आवाज रातके समय जिंजा शहर में सुनी जा सकती है। अफ्रीका की प्रसिद्ध व सबसे बडी नदी नाईल (Nile) जो कि ४००० मील लंबी है, इसी प्रपात से प्रारम्भ होती है। वह यहांसे निकलकर कीयोगा तथा एलबर्ट सरोवर बनाती हुई सुडान तथा मिसर के प्रदेशको अपने पानीसे सींचती हुई भूमध्य सागर में जाकर लीन हो जाती है।

रिपन प्रपात तीन अलग अलग स्थानोंसे गिरता है। इन तीनों में एक को जरा बडा कह सकते हैं। यों तो तीनों ही करीव करीव बराबर ही हैं। थोडासा जो फर्क है, वह यही कि कोई ऊंचा ज्यादा है, तो कोई चौडा ज्यादा है। ऊंचाई की दृष्टिसे इन प्रपातों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। ये प्रपात अधिक से अधिक २० से ३० फीट ऊंचे कहे जा सकते हैं। इनकी चौडाई काफी है। पानी की मात्रा कि जो हजारों वर्षों से अनवरत पडती चली आ रही है; पानी का महान् वेग और प्रपात की चौडाई ये तीन बातें ऐसी हैं, कि जिनसे रिपन प्रपात का महत्त्व विशेष बढ जाता है। इतना ज्यादा पानी बडे भारी वेगके साथ सतत पडता रहता है कि देखकर हैरानी होती है।

रिपन प्रपात के किनारेपर बैठकर गूंजते हुए पानीको सुन सुनकर दिलमें गुदगुदी पैदा होती है, तथा कुदरतकी महिमा के आगे सिर झुक जाता है। परन्तु अगले ही क्षणमें जब अचानक दिलमें यह ख्याल पैदा हो आता है कि, यदि अभी यहांसे पैर फिसल जाय तो...। बस, यह ख्याल आते ही एकदम सारे दिलमें कंपकंपी छूट जाती है। सामान्य मानवों के लिए मृत्यु कितनी भयानक वस्तु है! उसका विचार मात्र भी दिल दहला देता है। परन्तु वीर और वीतरागी पुरुष तो उसेभी हंसते मुखसे भेटते हैं! उनके लिए तो वह भी एक अद्भुत प्रकार का आनंद ही है!!! अस्तु।

इन प्रपातोंमें यदि कोई गिरे, तो शायद ही उसका पता चले। कभी कभी कुछ अवयव मिल जाते होंगे, पर वे भी बडी मेहेनत से। इन प्रपातोंके नीचे बहुतसे मगर आदि प्राणी रहते हैं, अतः संभव है कि वे भी शरीर के अवयव खा जाते हों और इस कारण भी साराका सारा शरीर न मिल पाता हो, तथापि पानी का वेगभी इसमें मुख्य कारण माना जा सकता है। उसमें गिरनेवाले प्राणी का शरीर शायद ही दोतीन मिनिट तक संपूर्ण रहता होगा। पानीकी मात्रा तथा वेग को देखते हुए इस बातका हर कोई सुगमता से अनुमान कर सकता है कि, गिरनेवाले के कितनी जल्दी टुकडे टुकडे हो जाते होंगे। पहले पहल इन प्रपातों को देखनेवाले को थोडा बहुत भय जरूर मालूम देता है। इन तीन प्रपातोंमें से एक प्रपात जो कि मुख्य है, वही अच्छी तरह से पासमें जाकर देखा जा सकता है। शेष दो दूरसे ही देखकर संतोष मानना पडता है।

दुर्भाग्य से जिंजा तथा आसपास में बसनेवाले हमारे बहुत से भारतीय भाईयोंने (Indians) इन प्रपातों को अपनी आत्महत्या का साधन बना रक्खा है। किसी को कोई दुःख हुआ कि वह वहां जाकर उनमें कूदकर अपना अन्त कर लेता है। हरसाल दोचार ऐसी कमनसीब घटनायें हुआ ही करती हैं।

पिछले कुछ सालोंसे तो शायद ही कोई वर्ष खाली जाता होगा।

अभी पिछले दिनोंमें मेरे जिंजा में रहते रहते ही ऐसी दो दुर्घटनायें हुईं। ऐसी कमनसीब घटनाओं को कैसे दूर किया जा सकता है, यह बात वहांके रहनेवालों के लिए एक सोचने जैसी बात है। यदि इसी तरह आत्महत्याओं का तांता जारी रहा, तो मेरा ख्याल है कि ये प्रपात वहां की जनताके लिए आपद्रूपही साबित होंगे !

इन प्रपातोंका पहले पहल इ० स० १८५७ में पता किया गया, ऐसा वहांपर लगाये हुए पत्थरपरसे जान पडता है। Mr. Speke और Mr. Grant नामक दो अंग्रेजों ने इन प्रपातोंका सबसे पहले पता किया। परन्तु भारतीय व्यापारियों को इनका तथा नाईल नदी और उसके आसपास के प्रदेशों का इनसे भी सदियों पहले पता था, ऐसा इन्हीं शोधकोंके लेखोंसे ज्ञात होता है। परन्तु गुलामदेश की प्रजाको शोध का महत्व कितना हो सकता है यह लिखनेकी कोई जरूरत प्रतीत नहीं होती। अस्तु।

प्रपातों के आसपासका स्थल अत्यंत रमणीय है। शामको घूमनेफिरने के लिए बहुत उपयुक्त स्थल है। प्राय: बहुत से जिंजा के निवासी वहां शामको सैरके लिए जाते हैं। प्रपातों के नीचे थोडी दूरपर जहां कि पानीका वेग कुछ कम हो जाता है, मगर तथा किबोका (Hypopotamus- समुद्रीय हाथी) रहते हैं। प्रपातों के ऊपर कुछ दूरीपर सरोवरमें तो ये बहुत ज्यादा प्रमाण में रहते हैं। प्रपातों की ओर बहते हुए जल का नीचे तलमें इतना ज्यादा खिंचाव होता है कि, उस बहाव में कोई प्राणी आ जाय, तो वह घसीटा जाकर प्रपातों में गिरे बिना रह नहीं सकता। इन प्रपातों को देखते हुए एक और आश्चर्य-जनक परन्तु मझेदार घटना देखने को मिलती है और वह यह कि बडी बडी मछलियों का उछलउछलकर प्रपात के वेगमें जा पडना। उन्हें देखकर ऐसा जान पडता है कि मानो [illegible] जा रही हों ! उन्हें इसमें क्या मझा आता होगा, यह कहना कठिन है और साथही में यह भी अनुमान करना निहायत मुश्किल है कि. वे प्रपात के वेग में पडकर चकनाचूर हो जाती होंगी या फिर यथावत् बाहर निकल आती होंगी !

ककीरा शुगर फेक्टरी।

(खांडका कारखाना)

जिंजासे ९ मील ऊत्तर की तरफ मेसर्स विठलदास हरिदास और कंपनी लिमिटेड का बडा भारी खांडका कारखाना है, जो एक खास देखनेलायक चीज है। कारखानेके आसपास ११००० एकड जमीन है, जिसमें बहुतायतसे गन्ना बोया जाता है। उसे देखनेसे ऐसा जान पडता है कि, मानो गन्नेके जंगलके जंगल खडे हों। युगांडा आदिमें गन्नेकी खेती करनेमें बडा भारी सुख यह है कि, हिन्दुस्थान की तरह हर आठवें दिन पानी नहीं देना पडता। यहां गन्ना कुदरती बारिश से होता रहता है। पानी के लिए कृत्रिम साधनों की जरूरत न पडने से जहां बहुतसा खर्च बच जाता है, वहां गन्ना [illegible] के लिए एकसां समतल जमीन की [illegible] नहीं पडती। ऊंची नीची या पहाडी [illegible] भी यहां गन्ना बोया जाता है, अतः जमीन को [illegible] बनाने का भी खर्च नहीं आता। इन [illegible]। एक और भी बात है कि जिसका [illegible] हिन्दुस्थान में गन्ना बोनेवालों को नहीं मिलता और वह यह कि यहांपर एक बार गन्ना बो देनेपर वह तीन सालतक चलता रहता है।

अर्थात् हरसाल एक बार काट लेनेपर उसीमें से फिर दुबारा फूट आता है और इस तरह तीन साल तक फूटता रहता है। तीन सालके बाद उसे जडसे उखाडकर उसके स्थान में फिर नया बीज बोया जाता है। ऐसेही बहुतसे कारणों की वजहसे यहांपर खांड की आयात बाहरसे नहीं हो सकती। क्योंकि यहांके कारखानों के मुकाबले में बाहरसे भेजनेवाले कारखाने खडे नहीं हो सकते। वे इतनी सस्ती खांड नहीं दे सकते, जितनी यहांवाले। खांडके बनने के प्रारंभके दिनों में यहांपर खांडका भाव बहुत ज्यादा ऊंचा था। कहा जाता है कि जो खांडकी बोरी आज १८ से ?

शिलिंग (१२ से १३ रुपये) में मिलती है, वह प्रारंभ-प्रारंभ में १०८ शिलिंग (७२ रुपये) में मिलती थी। खांडवाले उस समय मालामाल हो गये थे। आज कल जो बोरी १८ शिलिंग में बेची जाती है वह कारखाने में १० से १२ शिलिंग में या इससे भी कुछ कममें तैयार होती है, ऐसी किंवदन्ती है। मालूम नहीं, इसमें तथ्य कितना है। इस विषय में अनुमान ही लगाया जा सकता है। क्योंकि यह व्यापारिक रहस्य होने से हरेक व्यापारी उसे गुप्त ही रखता है, अतः ठीक ठीक पता लगाना कठिन ही है। परन्तु यदि मान भी लिया जाय कि, १० से १२ शिलिंग में एक बोरी तैयार होती है और वह १८ से २० शिलिंग में बेची जाती है, तो मेरे ख्याल में बोरी की यह कीमत उचित ही है। क्योंकि कारखाने के खर्चों का ख्याल रखते हुए इतनी कीमत रखे बिना कंपनियां कमा नहीं सकतीं।

यहांपर इस विषय में साधारण चर्चा करने का अभिप्राय यही है कि, हमारे पाठकोंको साधारणतया यह ख्याल आ सके कि, हिन्दुस्थान से यहांपर खांड कितनी सस्ती है और क्यों है? दूसरी बात यह कि यहांवालों का बाहरवाले क्यों मुकाबला नहीं कर सकते। तीसरी बात यह कि हिन्दुस्थान में गन्ने के काश्तकारों को क्या क्या तकलीफें हैं और यहांवाले उनसे कैसे बचे हुए हैं।

ई० सन् १९३० में मेसर्स विटलदास हरिदास की कंपनीने ककीरामें पहले पहल खांडके कारखानेकी शुरुआत की। शुरुशुरुमें इस कारखानेमें ४० टनके हिसाबसे रोज खांड तैयार होती थी, पर ता. १९-३-३७ से उसका विशेष विस्तार किया गया है और अब रोज ८० टनके हिसाबसे खांड तैयार होती है। ११००० एकडमेंसे ९२०० एकडमें गन्ना बोया जाता है। इस गन्नेको कारखानेतक पहोंचानेके लिए ३५ मील लंबी अपनी रेलवे तैयार की गई है। कारखाने में आवश्यक पानीको पहोंचानेके लिए विक्टोरीया सरोवर (झील) के किनारे उक्त कंपनीने अपना पम्पिंग स्टेशन बनाया है। उस पंपसे प्रति घण्टा ७०००० गैलन पानी खेंचा जा सकता है। किनारेसे ढाई मील दूर कारखानेकी सतहसे ८० फीट ऊंचे स्थान पर एक टांकी बना रखी है, जिसमें ७ लाख गैलन पानी रह सकता है। इस टांकी से बगीचेको तथा कारखानेको पानी पहोंचाया जाता है।

कारखानेमें तथा बगीचेमें कुल मिलाकर ५००० नेटीव (आफ्रीकाके असली निवासी) तथा २०० भारतीय, युरोपियन और मोरीशियन काम करते हैं। इन सबको जो मासिक वेतन मिलता है, वह १,२०,००० शिलिंग = ६ हजार पाउण्ड = ९० हजार रुपये) है। इसका मतलब यह हुआ कि यह हिन्दी कारखाना ७२ हजार पाउण्ड सालाना वेतन नोकर तथा मजदूरोंको चुकाता है।

बारिशकी मौसममें कुछ मास यह कारखाना बंद रहता है। अतः इस कारखानेमें वार्षिक २० हजार टन खांड तैयार होती है, जिसकी कीमत चालू भाव के अनुसार लगभग ढाई लाख पाउण्ड होती है।

जिंजासे कंपाला जाते हुए रास्तेमें आधेसे कुछ इधर लुगाझी में श्री शेठ नानजी कालिदास का भी इसी तरह का बडा भारी खांडका कारखाना आता है। युगांडामें श्रीयुत सेठ नानजी कालिदासने सबसे पहले खांडके उद्योग का प्रारंभ किया था।

कंपाला।

युगांडामें कार्य करनेके लिए मैंने अपना स्थिर मुकाम जिंजा तथा कंपाला इन दो शहरोंको बनाया हुआ था। जिंजाका लगभग काय समाप्त कर मैं कंपाला गया। जिंजासे कंपाला लगभग ५५-५६ मील है। जिंजासे कंपाला जानेके लिए बाकायदा मोटर सर्विस तथा हफ्तेमें दो दफा रेलवे गाडी मिलती है। वैसेभी प्रायः रोज व्यापारियोंकी मोटरगाडियां जातीआती रहती हैं। अतः जिंजासे कंपाला जाने-आनेके लिए कोई खास तकलीफ नहीं पडती।

कंपाला छोटी ७ पहाडियोंपर बसा होनेसे कुदरती शोभासे भरपूर है। एक पहाडीसे दूसरी पहाडियों पर बसा हुआ शहर बहुत सुंदर दिखलाई देता है।

कंपालाकी यह शोभा अत्यंत आकर्षक है। दिन तथा रात दोनोंहीमें कंपालाकी शोभा का मझा लूटा जा सकता है। तिसपर अभी फिलहालही में कंपाला में बिजली की रोशनी आई है। इसके साथ ही साथ कंपाला को और सुंदर बसानेके लिए बढिया रास्ते तथा मकानात बनाये जा रहे हैं। इन सबकी बजहसे अब कंपाला पहलेसे कहीं ज्यादा आकर्षक बन गया है। कंपाला जिन सात पहाडियों पर बसा हुआ है, उसका विवरण इस प्रकार है—

(१) नकासरो हिल- व्यापारीवर्ग के ज्यादातर दफतर तथा हिन्दीयों के निवासभवन आदि।

(२) ओल्ड (पुराना) कंपाला हिल- कारखाने, हिन्दियोंके खास रहनेके मकानात, बंगले, खेलने-कूदने के मैदान तथा नेटिव संग्रहस्थान।

(३) नमीरंबे हिल- प्रोटेस्टंट चर्च तथा सी. एम. एस्. हसपताल (Hospital)

(४) रुबागा हिल- रोमन केथोलिक चर्च आदि।

(५) मेंगो हिल- 'कबाका' (युगांडाका नेटिव राजा) का महेल तथा उसकी कचेरी आदि।

(६) नसांबिया हिल- सरकारी हसपताल बसाया गया है।

(७) मकरेरे हिल- नेटिव एज्युकेशन कोलेज।

कंपाला जिला तथा प्रांतका सबसे बडा व पुराना शहर तथा रेलवे स्टेशन है। ई० सन १८९०में केप्टन लुगार्डने ब्रिटीश ईस्ट आफ्रिका कंपनीके समयमें इस शहर को बसाकर एक किला भी बांधा था। इस प्रांत का नेटिव राजा भी यहीं रहता है। नेटिव राजा को कबाका कहा जाता है।

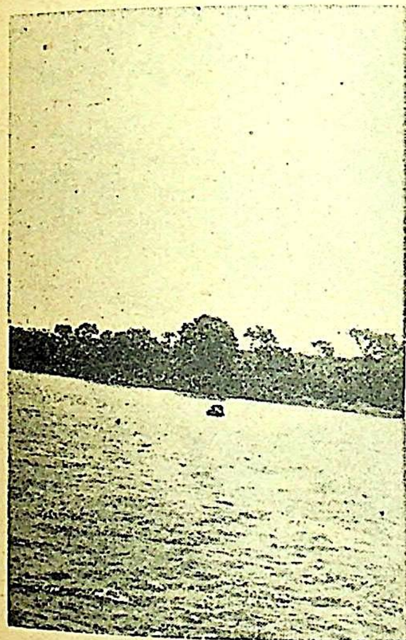
नेटिव राज्यप्रबंध (Native Administratiion) -नेटिव सरकारके अलग अलग भागोंके छोटे छोटे राजा हैं, जिन्हें 'मामी' कहा जाता है और जो सबसे बडा राजा है, उसे नेटिव 'कबाका' कहते हैं। कबाका को राज्यव्यवस्थामें मदद करने के लिए एक काउन्सील होती है जिसे यहां की भाषामें 'लुकीको' (Lukiko) कहते हैं। उसके महामंत्री (प्राईम मिनिस्टर) को कटीकीरो (Katikiro) वाईस प्रेसीडेन्ट या नेटिव मुख्य न्यायाधीशको ओम्युलामुझी (Omulamuzi) खजानचीको ओम्युवानीका (Omuwanika) कहते हैं। इनके अलावा हरेक छोटे छोटे प्रांतके एक एक साझा (Saza=सरदार) तथा अन्य सदस्य इस काउन्सीलमें होते हैं। इस प्रकार इस Lukiko Parliament में कुल मिलाकर ८९ सदस्य होते हैं।

रोटेम्बे (मगर)

कंपालासे एन्टेबेके रास्तेमें लगभग १४-१५ मीलपर विक्टोरिया सरोवरके किनारेपर एक नेटिवने एक बडा भारी मगर (नाका) पाल रखा है। उसको देखनेके लिए प्रायः शनिरवि के दिन लोगोंकी खासी भीड जमा होती है। उस नेटिवको इससे खासी आमदनी भी होती है। वह साधारणतया लोगोंसे १ शिलिंग मगर का तमाशा दिखानेके लिए लिया करता है। बात यह है कि, वह मगर उस नेटिवके बुलानेपर पानीमेंसे बाहर आता है और उसे मांस या मछली खिलानेके बहाने वह नेटिव दर्शकोंसे एक एक शिलिंग लेता है। कभी कभी युरोपियन दर्शक दस शिलिंग तक भी दे दिया करते हैं।

मैंने कंपाला में जब इस मगरके बारेमें सुना, तो मुझे भी उसे देखने की उत्सुकता हुई। एक रविवार के दिन हम ४-५ मिलकर एन्टेबे पिकनिक करनेके लिए निकले। हमने पहले पहले एन्टेबे जाकर वहां के बडे भारी बगीचे में एक सुंदरसा स्थान ढूंढकर भोजन किया। तत्पश्चात् थोडासा वहीं बगीचेमें आराम कर एन्टेबेका एक चक्कर लगाया और फिर कंपाला की तरफ चल पडे। रास्तेमें हम रोटेम्बेको देखनेके लिए गये। झीलमें जिस स्थानपर मगर निकलता है, वह मुख्य रास्तेसे डेढ दो मील अन्दर को है। बारिशके दिनोंके अलावा वहां तक मोटर जा सकती है। हम जिस वख्त वहां पर पहोंचे, उस समय वह मगर पानीसे बाहर आया हुआ था और उसे बहुतसे लोग घेरे खडे थे। हमसे पहले कुछ युरोपियन दर्शक वहां पहोंचे हुए थे, जिनके लिए पहलेसे उस नेटिवने उसको बुला रखा था।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि, मगर शिकार के लिए पानी में दूरतक चला गया हो और उसे बुलाने की आवाज न सुनाई दे, तो वह घण्टोंतक नहीं आता और इस प्रकार बहुतों को निराश होकर भी लौटना पडता है।



नाईल नदी में हाथी नहाकर किनारेकी ओर जा रहा है।

उस मगर को जब बुलाना होता है तो वह नेटिव रोटेम्बे! रोटेम्बे! ऐसी आवाज लगाता है। वहां की मगाण्डी भाषा में रोटेम्बे का अर्थ मगर होता है। ज्यों ही वह मगर रोटेम्बे का नाम सुनता है, तो तीर की तरह तैरता हुआ किनारे पर चला आता है, तथा पानी से बिलकुल बाहर जमीन पर आकर ठहर जाता है। दर्शक उसे घेरकर ३-४ फीट के अन्तर खडे रहते हैं। वह चुपचाप पडा रहता है। किसी को कुछ नहीं करता। अपनी कांटोंवाली पूंछ जो कि आरीकी तरह होती है, उसे धीरे धीरे हिलाता रहता है। जब उसे खाने को मांस या मछली दी जाती है, तो अपने विकराला दीर्घ मुख खोल कर उसे ले लेता है और उसे शीघ्र ही निगलकर फिर उसी तरह पडा रहता है। आखिरकार जब वह नेटिव उसे वापिस जानेको कहता है, तब वह फिर उस सरोवर में दूर अपने निवासस्थान पर चला जाता है।

वह मगर अत्यंत विशालकाय तथा भयंकर प्रतीत होता है। ऐसा कहते हैं कि एक बार किसी नेटिवने उसे जब तंग किया था तो इसने उसका हाथ पकड लिया और उसको पानीमें घसीट कर ले जाने लगा। आसपास के लोगों की मदद से उस नेटिव का हाथ काट डाला गया, तब जाकर कहीं उसकी जान बची। परन्तु यह घटना बहुत पुरानी है। उसके बाद फिर कभी उसके बारे में ऐसा नहीं सुना गया।

आजकल कभी कभी उस मगर के साथ उसका एक बच्चा भी साथ में आया करता है। वह किनारे तक तो आता है पर रहता पानीहो में है। वह अभी लोगोंसे डरता है। शायद आगे चलकर वह भी इसी तरह पल जाय। अस्तु। उस मगर को देखने की मेरी इच्छा पूर्ण हुई, अतः परम आनन्द हुआ। हम उस मगर को देखकर शामको कंपाला वापस लौट आये।

मरचीसन प्रपात।

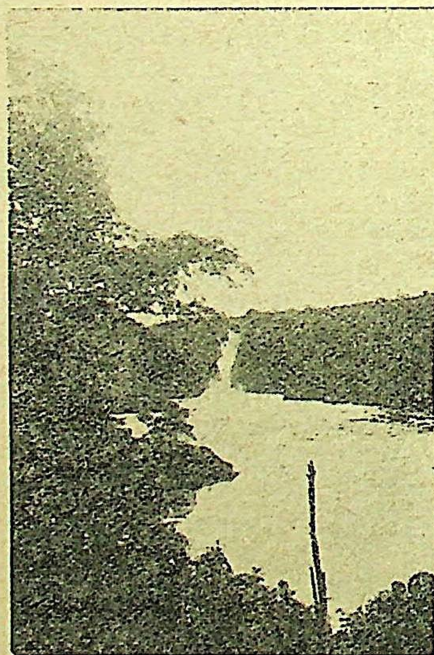
(Murchison Falls)

जिंजा के विक्टोरिया सरोवर के रिपन प्रपात से नाइल नदी निकलकर उत्तर दिशा में बहती हुई कियोगा झील में जा गिरती है। वहां से फिर निकल कर पश्चिम की ओर बहती हुई एलबर्ट झील में जा पडती है। कियोगा झीलसे एलबर्ट झीलको जाती हुई नाइल नदी बीचमें मरचीसन प्रपात बनाती है। यह प्रपात इतना अधिक मशहूर हो गया है कि, इस देशमें आया हुआ यात्री शायद ही उसे देखनेकी अपनी लालच को रोक सकता हो।

पिछले ५-७ वर्षों से तो इसको देखने के लिए अकसर लोग जाने लग गये हैं। इसकी बहुतसी प्रसिद्धि को सुनकर मैं भी अपनी इच्छाको न रोक सका और इस बात के प्रयत्न में रहने लगा। पहले पहल एकदो दफा तो कोई ऐसी सूरत नजर आती हुई नहीं दिखाई दी। परन्तु अन्तमें उसको देखनेका सद्भाग्य प्राप्त हो ही गया। इसकी वजह यह थी

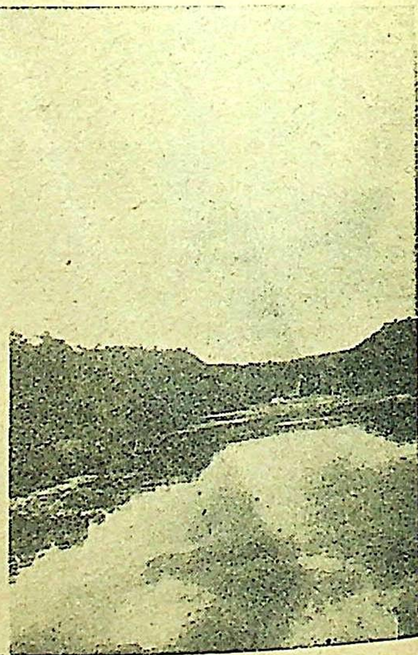
कि, यह प्रपात देखनेके लिए एक अकेला आदमी जा नहीं सकता। वैसे तो अकेला जानेमें कोई हर्ज नहीं है, पर अकेला जानेमें जहां मज़ा नहीं आता, वहां अकेले को जानेमें भी वही खर्च आता है, जितना कि कमसे कम ६ आदमियों के जाने में। ६ आदमियोंको ३०० से ३५० शिलिंग (करीबन २०० से २३४ रुपये) खर्च आता है। अर्थात् हरेक आदमी को ४० से ४१ रुपये खर्च लगता है। मरचीसन प्रपात जानेके लिए जो व्यवस्था है, उसमें एकसाथ कमसे कम ६ आदमी और अधिक से अधिक १९ आदमी जा सकते हैं। यह व्यवस्था यहां की 'केनिया युगांडा एण्ड हारबर' रेलवेके हाथ में है।

चार्टर करवानी पडती है यदि ६ आदमीयों का दल हो, तो उन्हें छोटी स्टीमर दी जाती है। इस स्टीमर में ६ से ज्यादा की गुंजाईश नहीं होती। अतः उस में ६ से कम जा सकते हैं, पर ज्यादा नहीं। कम जानेसे उतना खर्चा जितने होंगे, उतने पर बंट जायगा। अतः खर्चके खयाल से पूरे आदमी लेना ही ठीक होता है। इसी तरह यदि १९ आदमी हों, तो उन्हें बडी स्टीमर दी जाती है। छोटी से बडी स्टीमर में व्यवस्था बहुत ज्यादा अच्छी होती है। अतः आराम की दृष्टि से १९ आदमी तैयार कर बडी स्टीमर से जाना ज्यादा अच्छा है। दोनों हालतों में खर्चा उतना ही आता है, जब कि आराम बडी में ज्यादा रहता है। छोटी



(१)

(१) मरचीसन प्रपातके नीचे पहुँचकर नजदीकसे लिया गया फोटो।



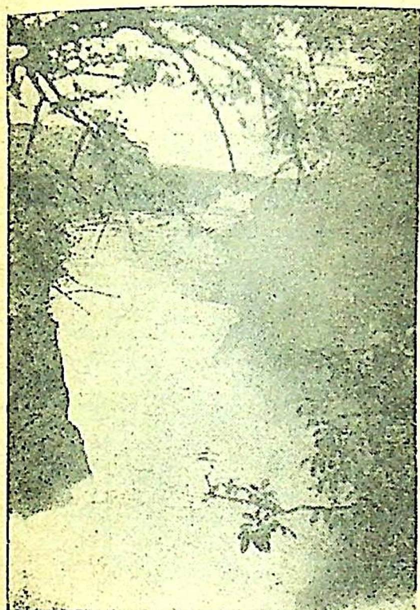
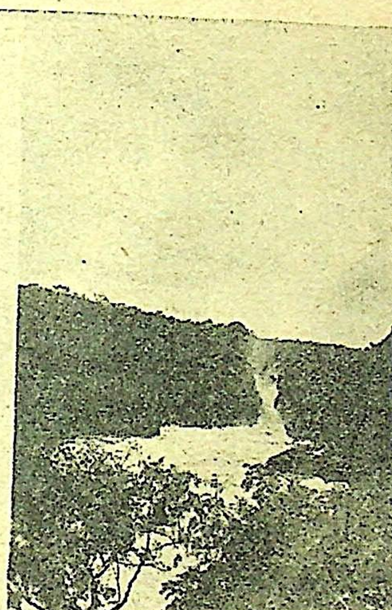
(२)

(२) नाईल नदीमें स्टीमरद्वारा मरचीसन प्रपातकी तरफ जाते हुए दूरसे प्रपातका दृश्य।

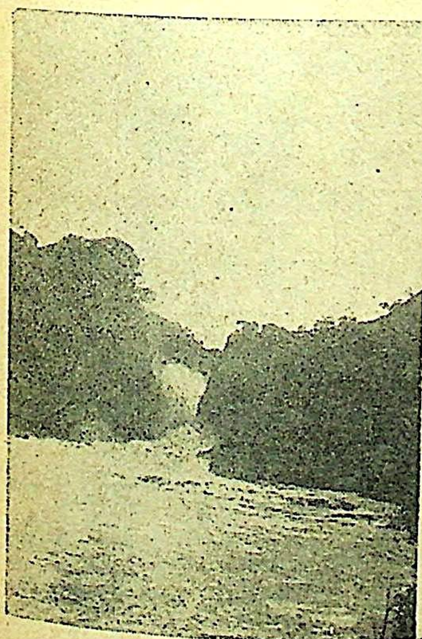
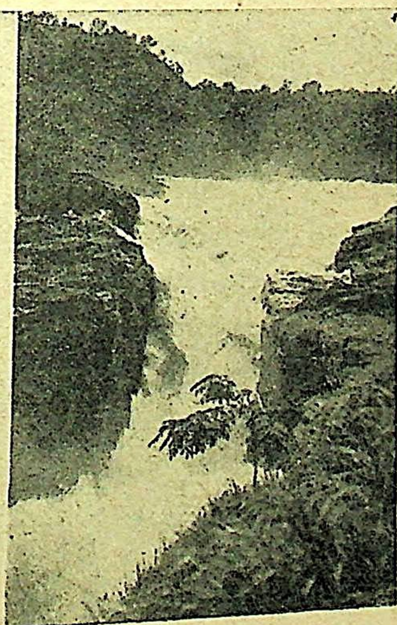
मरचीसन प्रपात जानेके लिए कम्पाला से एलबर्ट सरोवर के 'बुटियाबा' बंदरगाह तक १६६ मील मोटर से मुसाफरी करनी पडती है। फिर वहांसे ठेठ प्रपात तक स्टीमर (जहाज) जाती है। इस लिए जिन्हें वहां जाना हो, उन्हें पहले पहल कंपालामें रेलवे कंपनी को खबर देकर सारीकी सारी स्टीमर

स्टीमर में किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं होती, ऐसा कहा जा सकता है।

छोटी स्टीमर को चार्टर कराने में-सब तरह से अपने ताबे में लेनेमें २०० शिलिंग (१३४ रुपये) लगते हैं, जब कि बडी के लिए ८०० शिलिंग (५३३ रुपये) लगते हैं। इतना लेकर रेलवे बुटियाबा पर

(१)   (२)

(२) मरचीसन प्रपातपर चढते हुए रास्तेमें एक ओरसे लिया गया फोटो।
(१) जहां से प्रपात गिरना प्रारम्भ होता है वहां का दृश्य।

(१)   (२)

(१) यह प्रपातके दूसरे भागका दृश्य है। जहांपर पहाडको चीरता हुआ पानी बडे वेगसे नीचेको गिर रहा है। यह भाग अत्यंत ही सुन्दर है। यहांपर सूर्यकी किरणें पानीपर गिरती हुई नाना तरह के इन्द्रधनुष्य बनाती हैं।
(२) यह प्रपातका तीसरा भाग है, यहांपर ऊपरसे गिरता हुआ पानी नदीके रूपमें आगे बह जाता है।

स्टीमर तैयार कर रखती है। मुसाफिरों को बुटियाबा तक स्वयमेव अपना इन्तजाम करके पहोंचना होता है। रेलवेकंपनी सिर्फ बुटियाबासे मरचीसन प्रपात तक ले जाने तथा वहांसे फिर बुटियाबा तक ले आनेके लिए जवाबदार होती है। इतनी मुसाफरीके लिए वह उपर्युक्त पैसे लेती है। कंपाला से मरचीसन प्रपात तक जानेआने में ६०० मीलकी मुसाफरी अन्दाजन होती है, जिसमें ३३२ मील मोटर का (जमीन की) तथा शेष २६८ मील स्टीमर की (पानीकी) कही जा सकती है। यह मुसाफरी डेढ दिनमें हां पूर्ण हो जाती है। प्रायः लोग शनिवार की दुपहर को एक दो बजे निकलते हैं और रविवार की रात को १-२ बजे वापस आ जाते हैं।

हमारी पार्टी में सद्भाग्य से १९ आदमी जमा हुए थे, अतः हमने बडी स्टीमर चार्टर करवाई थी। बुटियाबा तक जाने के लिए मोटरों का इन्तजाम हमें स्वयं करना पडा था। मोटरें मांग ली थीं और पेट्रोलका खर्च हमने अपनी अपनी जेबसे दिया था। हम सब चार मोटरों में बैठकर बुटियाबा के लिए रवाना हुए। कंपाला से ठीक एक बजे निकलने का निश्चय किया था, पर ठीक समय पर हम भारतियों के लिए निकलना बहुत कम संभव होता है, तदनुसार हमें भी निकलते निकलते दुपहर को ढाई बजे। हमारेमें से दो मोटरें कुछ पहले निकली थीं। असल में कंपाला से जल्दी निकलकर सूर्यास्त से पहले बुटियाबा पहोंचने से सरोवरका प्राकृतिक दृश्य तथा सरोवर में सूर्यास्त का रमणीय दृश्य देखने का अपूर्व आनन्द मिलता है। दूसरी बात यह भी है कि, रास्ते में अगर बारिश की वजह से या किसी और मोटर के बिगड जाने आदि के कारण से रुक भी जाना पडे, तो भी पहले निकलने से समय पर पहोंचा जा सकता है। हम, एक तो वैसे भी निकले देर से थे और तिसपर कम नसीबी से हमारी मोटर का अपना ड्राईवर उस दिन बीमार होनेसे दूसरे एक सज्जन का ड्राईवर उधार मांगना पडा था। उससे वह मोटर ठीक ठीक चलती न थी, अतः हम और भी धीरे धीरे जाने लगे। इस प्रकार हम जहां सबसे पीछे रह गये, वहां पहोंचे भी इतनी देरमें कि हम से काफी पहले पहोंचनेवाले उन तीनों मोटरों के लोगों को हमारे लिए उलटी चिंता होने लगी। अस्तु। जैसे तैसे हम कोई आठ साडे आठ बजे बुटियाबा पहोंचे। वहां पहुंच कर हम सबने खाना खाया। भोजन हम अपने साथ ले गये थे। यदी स्टीमरवालों को पहले से खबर दी जाय, तो वे निरामिश भोजियों (Vegiterians) के लिए भी प्रबन्ध करते हैं। परन्तु हमने तो डेढ दिनकी खानेकी स्वयमेव व्यवस्था की थी। भोजन आदिसे निवृत्त होकर ज्ञात हुआ कि, रातके १२ बजे स्टीमर वहांसे चलेगी। बुटियाबा पर मच्छर इतने ज्यादा हैं कि, मच्छरदानी के विना खुलेम बैठना असह्य हो रहा था। यदि पवन चल रहा हो, तो अवश्य कुछ आराम मिलता है। स्टीमर को चलने में काफी देर थी, तथा रातका बखत था, अतः हम १० बजे अपनी अपनी केबिन में मच्छरदानी-वाले पलंगों में एक एक कर जा सोये। रातके ठीक बारह बजे हमारी स्टीमर उत्तरकी ओर नाईल नदी जहां पर आकर आलबर्ट सरोवरमें गिरती है, उस तरफ चल दी और कोई साडेतीन बजे सबेरे ही वहां जाकर खडी हो गई।

बात यह है कि वहांसे आगे नाईल नदी में स्टीमर को उसके प्रवाह के विरुद्ध जाना होता है। और नाईल नदी वहांपर इतनी चौडी नहीं है, कि उसमें यह बडी स्टीमर जा सके। अतः नदी में जा सके, ऐसी दूसरी स्टीमर वहांपर बदलनी होती है। यह स्टीमर चौडाई में कुछ कम तथा पानी में सिर्फ ढाई फांट ही डूबी हुई. हो ऐसी होती है। जब कि पहली स्टीमर आठ साडे आठ फीट पानी में नीचे होती है। इसके अलावा सूर्योदय से पूर्व भी नदी के मुख में प्रवेश करने की मनाई है। अतः छोटी स्टीमर भी ६ बजे से पहले वहांसे चल नहीं सकती।

हम चार बजे उठकर वहीं स्टीमर में नहाधोकर ६ बजेतक तैयार हो गये। उसी समय दूसरी स्टीमर में जा बैठे। यह स्टीमर पहलीसे बहुत थोडी छोटी

तो थी, पर इन्तजाम आदि की दृष्टि से पहिली से कहीं ज्यादा अच्छी थी। धीरे धीरे वह आगे बढने लगी और कोई आध घन्टे के पश्चात् उसने ठीक नदी के मुख में प्रवेश किया। नाईल नदी कई छोटी छोटी धाराओं के रूप में आलबर्ट सरोवर में आ गिरती है। उसमें एक जो मुख्य तथा गहरी धारा है, उसीसे हम आगे बढने लगे। कुछ दूरीपर जाकर ही वही एक मुख्य धारा रह गई। मरचीसन प्रपात तक नाइल नदी एक बडी भारी नहर (Canal) की तरह जान पडती है। दोनों किनारोंपर बडी बडी घास तथा झाडियां उगी हुई हैं। आगे चलकर बडे बडे जंगल आते हैं, जिन में तमाम तरह के जंगली प्राणी रहते हैं। नाइल नदीके दोनों किनारों को इस जंगल का बहुत बडा भाग सरकार की ओर से इन जंगली प्राणियों को बचाए रखने के लिए सुरक्षित रखा गया है। इस जंगल में किसी भी प्राणी का शिकार करने नहीं दिया जाता। इतने जंगल में जंगली प्राणियों को हर तरह की स्वतंत्रता दी गई है। मरचीसन प्रपातको देखने के साथ साथ इन जंगली प्राणियों को लूटसे समीप में देखने का मझा भी इस यात्रा में मिलता है, अतः दोनों दृष्टियों से लोग इस तरफ आते हैं।

हमारी स्टीमरने भी ज्योंही नदी में प्रवेश किया कि, हम भी इन जगली प्राणियों को देखने के लिए उत्सुक होने लगें। कुछ दूरतक तो हमारी आंखें प्रतीक्षा में इधरउधर दौडती रहीं, पर जब कहीं कुछ भी न दिखाई दिया, तो हम थोडे से हताश होने लगे। इधरउधर स्टीमरवालों से पूछनेपर पता चला कि, आठ साडे आठ तक सबेरे कुछ भी देखने को नहीं मिलता। जो प्राणियों के रहनेके खास स्थान हैं, वे अमुक देर बाद आयेंगे. तब सब कुछ खुदबखुद नजर आने लगेगा। असल बात भी यह है कि, जबतक नाइल के दोनों किनारे सुखी जमीनवाले नहीं आते और जबतक दोनों तरफ दूर दूरतक साधारण पानी और कीचड तथा दलदल रहती है, तबतक किसी भी प्रकार का कोई भी प्राणी नजर नहीं आता। हमारे साथ बहुतों के पास दूरबीनें तथा केमेरा थे। हम इन सब साधनों से समय पसार करने लगे। आखिरकार सूखे किनारे आने शुरू हुए और सबसे पहिले हमें दरियाइ घोडों के दर्शन हुए।

दरियाई घोडा (कीबोका- Hypopotamus) पानी में रहनेवाला जानवर है। यह जमीनपर जाकर घास चरता है, तथा पानी में आकर रहता है। इस की चमडी गैंडे जैसी ही डेढ दो इंच मोटी होती है। इस की चमडी की भी गैंडे की चमडी की तरह सोटियां बनाई जाती हैं। इस के पैर हाथी के पैरों की तरह ही भारी होते हैं। इसका मुंह बहोत चौडा होता है, तथा कान बिलकुल छोटे होते हैं। यह समूह में रहनेवाला प्राणी है। प्रकाश देखकर इतना ज्यादा चिडता है कि, आक्रमण करनेके लिए सामने आता है। यह रास्तेमें अगर मिल जाय, तो मोटर का प्रकाश बंद कर देना पडता है। यह प्रायः रात को ही घास चरने के लिए पानी से बाहर आता है। इसके झुंड के झुंड उथले पानी में भैंसोंकी तरह पडे रहते हैं और जलक्रीडा करते हैं। जब खतरा मालूम पडता है, तो एकदम गहरे पानी में गोता मारकर चला जाते हैं। यह हमारी स्टीमर या और किसी प्रकार का शोर सुनकर फौरन पानी में डुबकी लगा लेता था, अतः हमें हमारी बातचीत लगभग बंद कर देनी पडी। हमारी स्टीमर का केप्टन इस विषय में हमें समय समय पर सूचना देता रहता था। उसने हमें जंगली जानवरों के अच्छी तरह दिखाने में खूब सहायता पहुँचाई। कभी कभी वह चुपके से स्टीमर को ऐसा किनारे ले जाता था कि, खेलकूदमें मस्त प्राणियों को यह भी पता चलने न पाता था कि. उन को कोई बहुत नजदीक आकर देख रहा है। इसी तरह वह कभी कभी किबोका को ऐसा घेरने का प्रयत्न करता था की, वह डरकर बजाय गहरे पानीमें भाग जाय, बिलकुल बाहर निकल आता था और इस प्रकार हम उसे नजदीकसे पूरी तौरपर देख सकते थे। केप्टनकी सहायता के बिना शायद हमें जंगली प्राणी देखने का इतना ज्यादा मझा न आता।

धीरे धीरे किबोका इतने ज्यादा नजर आने लगे कि, हम उन्हें देखते देखते उकता से गये। मरचीसन प्रपात तक दोनों समय किबोका सबसे ज्यादा देखने को मिले। किबोका के बाद हमें पहले पहले पानी में तैरते हुए, बिलकुल नजदीक से मगर देखने मिले। कुछ और आगे जानेपर एक किनारे के छायेदार वृक्ष के नीचे २०-२५ मगर पडे हुए मिले। हमारी स्टीमर को देखकर कुछ तो शीघ्र ही पानीमें भाग गये, परंतु फिर भी काफी उसी हालत में बाहर पडे रहे। कुछ अपना विकराल मुख फाडे हुए सो रहे थे, जब कि कुछ आंखें मूंदे हुए शांत पडे हुए थे। कभी कभी कुछ मगर पानीमें से बाहर रेतीपर बैठनेके लिए उसी समय निकलते थे, जब कि अचानक हमारी स्टीमर वहींसे गुजरती थी। मगरको जमीनपर चलता हुआ देखने में बडाही आनन्द आता था। मगर का पेट नरम होता है, अतः वह उसे चलते हुए जमीनपर छूने नहीं देता। इसलिए वह उसे जमीन से जितना हो सके, ऊंचा रखने का प्रयत्न करता है। परन्तु उसका शरीर इतना भारी होता है कि, उसके पैर शरीरका बोझ बडी मुश्किल से संभाल सकते हैं। ऐसी अवस्था में वह अत्यंत धीरे धीरे तोल तोलकर पैर रखता था। कहां उसका पानीके अन्दर का वेग और कहां उसकी जमीनपर की यह चाल! बडी ही हैरानी होती थी। कभी कभी थोडी दूरसे डरका मारा इसी तरह पानीकी तरफ जल्दी जल्दी आनेकी कोशिश करता था, तो उसकी चालपर हँसी आती थी। परन्तु ज्योंही पानीके पास पहुँचा कि, तीरकी तरह उसमें कहांका कहां अदृश्य हो जाता था। नाईल नदीमें सर्वत्र मगर बहुत ही ज्यादा हैं। इस तरह मगरोंको देखते देखते भी जी भर गया। तब मनमें होने लगा कि अब कुछ और दिखना चाहिए। जलके ये दोही प्राणी हैं, जो कि वहां बहुतायत से नजर आते हैं।

अब हमारी जंगल के प्राणियों को देखने की उत्सुकता बढने लगी। हमें पहले पहले, हरिण, बंदर तथा बारहसींगे दिखाई दिए। यहांके हरिणों में बहुत से आधे काले रंग के भी थे। परन्तु ऐसे प्राणियों के देखने की हमारी अभिलाषा नहीं थी। हम तो चाहते थे कि, शेर, गैंडा, जंगली भैंसें तथा हाथी देखने को मिलें। जाते हुए सबेरेका समय था और साधारण ठण्डी भी थी, अतः इनमें से कोई भी प्राणी पानी पीनेके लिए किनारेपर आता हुआ नजर नहीं आया। धीरे धीरे मरचीसन प्रपात भी नजदीक आ रहा था, अतः हम निराश से होने लगे। परन्तु जब प्रपात कुछ दूर रह गया होगा, तब बहुत दूरसे ३०।४० हाथियों का यूथ दूरसे सामने पानीके पास आकर खेलता हुआ दिखाई दिया। हम अभी उसे अच्छी तरहसे देखनेका प्रयत्न ही कर रहे थे कि, इतने में उसने हमारी स्टीमर को आते हुए देख लिया और सबके सब भाग गये। अस्तु। इतनेमें सामनेसे प्रपात भी नजर आने लगा, अतः अब हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित होने लगा। धीरे धीरे हमारी स्टीमर प्रपात के सामने प्रपात से दो एक फर्लांगकी दूरी पर आ खडी हुई। स्टीमर इससे आगे नहीं जा सकती। क्योंकि आगे दोनों तरफ पहाडीवाली छोटीसी घाटी शुरू हो जाती है। उसीमें से प्रपात का पानी बहता हुआ आता है। इसके अलावा पानी साधारण उथला तथा बीच बीचमें बडी बडी चट्टानें आती हैं।

मरचीसन प्रपात जहांसे नीचे गिरना प्रारंभ होता है, वहांसे ऊपर का तमाम भाग पहाडी तथा ऊंचा है और जहां से गिरकर आगे बहना प्रारंभ होता है, वहां से कुछ दूरीपर जाकर मैदान शुरू हो जाता है। अतः प्रपात देखने के लिए मैदान से पहाडी चढनी पडती है। हमारी स्टीमर पानीके बीच में खडी हो गई। हम उससे छोटी नाव में बैठकर किनारे पर उतरे। उतरते हुए हमने खानेपीनेकी सामग्री साथ में ले ली। हमारी स्टिमरने ठीक साढेदस बजे लंगर डाला था। ५ मिनिट में हम सब किनारे पर पहुँच गये। हमारे साथ तीन नेटिव शरीररक्षक (Body-Guards) थे। उनके पास ६ गोलियोंवाली राईफलें थीं। वहांपर चलने के लिए रास्ता इतना

ज्यादा तंग है कि, दो आदमी भी एक साथ चल नहीं सकते। आगे पीछे भरी हुई राईफलों के साथ गार्ड रहते हैं और बीच में देखनेवालों को चलना होता है। जब तक प्रपात देखकर पुनः स्टीमर में न आ जायें, तब तक इसी प्रकार रहना पडता है। कभी कभी हाथी या और जंगली प्राणी आ जाते हैं, तो जानके खतरेका अन्देशा रहता है, अतः वह जंगल का रास्ता खूब सावधानी से पार करना होता है। एक दो बार हाथियों ने इस प्रकार हैरान भी किया है, अतः थोडासा खतरा वहां अवश्य है। तथापि इतना ज्यादा डरने की कोई बात नहीं है। क्योंकि ऐसा कभीही होता है। इसके अलावा कुछ ऊपर जाकर ऐसा विकट रास्ता आता है कि, वहां पर हाथी जैसे प्राणीका सहसा आ जाना सर्वथा असम्भव है।

स्टीमर से प्रपात तक जा आनेसे ६ मील होते हैं, ऐसा कहा जाता है, पर इतना प्रतीत नहीं होता। मेरा ख्याल है कि वह ४ मील से ज्यादा नहीं। ऊपर चढनेका आधा रास्ता सरल है. जब कि आधा रास्ता खूब भयानक है। वह इतना भयानक है कि, अगर असावधानी से पैर फिसला, तो सीधा नीचे पानीमें ही जा गिरेगा। चढाई बिलकुल सीधी है और नीचे रास्ता तंग तथा रेतीला है, अतः उतना रास्ता चढते हुए खूब सावधानी रखनी पडती है। रेतीमें अभ्रक खूब है। रास्ता दुपहर के समय इतना ज्यादा तपता है कि, गर्मी के मारे जी परेशान हो जाता है। इतने रास्ते की जब याद आती है, तो मरचीसन प्रपातका मझा थोडी देरके लिए तो किरकिरा हो जाता है। यह विकट रास्ता पार करनेपर पहाडीके ऊपर पहुँच जाते हैं। यहांपर पहुंचकर मरचीसन प्रपात से लगभग डयोढा ऊपर पहोंच जाते हैं। अतः वहांसे फिर दूसरी ओर प्रपातपर पहोंचने के लिए नीचे उतरना पडता है। परन्तु अब कोई तकलीफ नहीं रहती। थोडासाही चलनेपर प्रपात पर पहोंच जाते हैं। सारे रास्तेमें छाया के लिए और थोडीसी देर धूपसे बच कर आराम लेनेके लिए कोई पेड या अन्य साधन न होने से इतना थोडा मार्ग भी अत्यंत कष्टप्रद मालूम होता है। प्रपात के पास भी कोई ऐसा छायादार वृक्ष नहीं है कि, जिसमें खूब आराम से बैठा जाय। सिर्फ एक दो ऐसे पडे हैं जो कि साधारण छाया पहोंचाते हैं, पर प्रायः हाथी वहां आकर उनकी भी शाखायें तोडकर खा जाते हैं। अतः कामचलाऊ छाया ही उनसे मिलती है। अगर ये भी पेड वहां न हों, तो बहुत ही मुश्किल हो जाय।

मरचीसन प्रपात की ऊंचाई ४ सौ फीट बताई जाती है। परन्तु पहाड की चढाई इससे कहीं ज्यादा है। हम पंक्ति में धीरे धीरे पहाड चडने लगे। गरमी और पहाड की चढाईने हमारेमें से बहुतों की हिम्मत पस्त कर दी थी, परन्तु जैसे तैसे चलते, बैठते हम प्रपात के पास पहोंच गये। वहां जाकर जब हमने पानीसे हाथ पैर धोये, तथा कुछ जलपान करके छाया में विश्राम किया तब कुछ शान्ति हुई। हमने भोजन साथमें लिया हुआ था, अतः सबसे पहले खाना खा लिया। प्यास बुझाने के लिए संतरे तथा मोसम्बी (Sweet lemons) साथमें थे। गरमी तथा थकावट से उत्पन्न प्यास को बुझानेके लिए ये अमृत का काम दे रहे थे। खानेपीनेसे निवटकर हम प्रपात को अच्छी तरह देखने में प्रवृत्त हुए।

मरचीसन प्रपात को हम तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं। इसका पानी दो बार अलग अलग चट्टानों से टकराकर तीसरी बार नीचे जा गिरता है। जहांसे प्रपात गिरना शुरू होता है, वहांपर ऐसा मालूम होता है कि पानी पहाड के बीचमें से बडी बडी चट्टानों को चीरता हुआ निकल गया है। वहां पर प्रपात की चौडाई ज्यादा से ज्यादा १० फीट होगी। दोनों तरफ खूब ऊंची ऊंची चट्टानों की दीवार है और उसमें से पानी असीम वेग के साथ चट्टानों से टकराता हुआ जोर से २०-२५ फीट ऊपर को उछलता है। पानीकी यह बोछार (Shower) करीबन एकाध मील दूरसे स्टीमर में बैठे हुए भी नजर आती है। सारे प्रपातमें पानी इतनी जोरसे टकरता है कि, सिवाय झागके और कुछ भी नजर नहीं आता। सफेद झाग, पींजी हुई स्वच्छ सफेद रुईके मानो ढेर

पडे हुए हैं, ऐसी दूरसे मालूम देती है। इस प्रथम प्रपात से पानी उछलकर दूसरे प्रपात में जा गिरता है। यह दूसरा प्रपात एकदम गहरे कूंए जैसा है। मरचीसन प्रपात की असली शोभा तथा आकर्षण इसी दूसरे विभाग में है। इसमें जब पानी ऊपर ऊंचाई से आकर गिरता है, तो उसमें बहुतसा पानी बौछार के रूपमें ऊपर उडता है। पानी के बारिक बारिक कण सफेद चादरसी बना देते हैं। कोहरे की तरह पानी के असंख्य कण छाये हुए से दिखाई देते हैं। और इनपर जब दुपहरकी सूर्यकी किरणें पडती हैं, तो अत्यंत सुंदर इन्द्रधनुष्य (Rain Bow) बनता है। यह दृश्य अत्यंत सुंदर तथा मनोहारी है। इसको देखकर पिछली तमाम थकांद तथा गरमी की याद थोडी देरके लिए तो बिलकुल भूल जाती हैं। इस दृश्य को देखते हुए पेट नहीं भरता। यहां से पानी आखिरमें नीचे जा गिरता है, जहां कि प्रपात की समाप्ति होती है। दूरसे प्रपात की आकृति कुरसी जैसी दिखाई देती है। मानो पानी कुरसीकी आकृति से गिरता हो।

हम यह सब नजारा देखते हुए कोई दुपहर के एक बजे फिर वापस स्टीमर पर आनेके लिए लौट पडे। लौटते हुए फिर उसी असह्य गरमीका मुकाबला था। गरमी इतनी ज्यादा अनुभव हो रही थी कि, जूतोंमें से भी पैरों के तलुएं तप रहे थे। रास्ते में कोई भी छायादार पेड न होनेसे अगर कोई जरासी भी देर दूसरोंके लिए ठहरने को कहता था, तो आगबबूले हो जाते थे। इस तरह जैसे तैसे स्टीमर पर आ पहोंचे। वहांकर जब ठंडे जलसे स्नान किया, तब जाकर फिर कुछ शान्ति हुई। हमारी स्टीमर वहांसे वापस आने के लिए ३ बजे चल पडी। अत्यंत ताप होनेसे जंगली प्राणी नदीमें पानी पीनेके लिए अवश्य आयेंगे, इस आशासे हम फिर शांत होकर प्रतीक्षामें बैठ गए। असल बात भी ऐसी ही थी। इस बार हमें हाथी खूब अच्छी तरह पर्याप्त मात्रा में देखने मिले। उनके समूह के समूह जल के किनारे आकर क्रीडा कर रहे थे। कुछ हमें देखकर भाग भी जाते थे, परन्तु वे बहुत दूर न जाकर समीप में ही छीपे रहते थे। इस बार क्विबोका तथा मगरभी बहुत समीप से १५-२० फीट की दूरीपर से देखने को मिले। कईयों ने अपने केमेराओं के अन्दर उन्हें बंद भी कर लिया। इस तरह हम अभी कुछ ही दूर गए होंगे कि, हमें एक अत्यंत विशालकाय हाथी दिखाई दिया। वह अकेला ही था। उसकी लंबाई, चौडाई असाधारण थी। इतना बडा हाथी बहुत कमने देखा होगा। साधारण हाथी जैसे उसमें से दो ढाई निकल सकते थे। इतने बडे हाथी को देखने के पश्चात् हमारेमें से प्रायः सभी की हाथी देखने की उत्सुकता पूर्णसी हो गई। शेर तो प्रायः इस जंगल में बहुत ही कम नजर आता है, अतः उसकी तो आशा करना ही व्यर्थ था, परन्तु जंगली भैंसें तथा गैंडे देखने की उत्सुकता अब बाकी रह गई थी। यह अभिलाषा हमारी अन्ततक पूर्ण न हो सकी। हममें से कुछ जो कि स्टीमर के बिलकुल ऊपर फोटो लेनेके लिए गए हुए थे, उन्हें दो गैंडे दूरसे पानी पीने आते हुए नजर आए थे। परन्तु जब तक वे किनारे पर आयें, हमारी स्टीमर दूर जा चुकी थी, अतः हम सब उन्हें देख न सके। इस तरह फिर ज्यादातर मगर तथा क्विबोका देखते हुए हम शामके साडे पांच बजे अपनी बडी स्टीमर के पास आ पहोंचे। आध घंटेमें स्टीमर बदलकर ठीक ६ बजे हमारी बडी स्टीमर बुटियाबा की तरफ वापस चल पडी। चांदनी रात तथा ठंडे पवन का आनंद लेते हुए हमने शाम का खाना वहीं स्टीमर में खा लिया। रातके साडेनऊ बजे हम बुटियाबा पहोंच गये।

बुटियाबा से हम १० बजे कंपाला के लिए रवाना हुए। रातका समय होनेसे ऐसा निश्चय किया गया कि, चारों मोटरें थोडे थोडे अन्तर से एक दूसरी के पीछे चलें, ताकि किसी प्रकार की किसी को तकलीफ हो, तो एक दूसरे उसको सहायता पहोंचा सके। यह नियम कुछ दूरतक ही जारी रह सका। पहले पहल हमारी मोटर सबसे पीछे थी। हमारा ड्राईवर बहुत तेजीसे मोटर हांक नहीं सकता था, अतः हम

बहुत पीछे रह गये। हमारी मोटर पीछे पीछे न आती हुई देखकर 'होईमा' के ग्राम के पास सब हमारा इन्तजार करते हुए ठहर गये। हमारे पहोंचने पर फिर वहांसे सबने चलना शुरु किया। इस बार हमने हमारे नेटीव ड्राईवर को जरा उकसाया और उसे कमसे कम ४० मील प्रतिघंटा के हिसाब से मोटर हांकने को कहा। उसका हाथ भी धीरे धीरे बैठने लगा था, अतः वह ४० से ५० मील के हिसाबसे मोटर हांकने लगा। इस बार हम सबसे पीछे न रहकर दूसरे हो लिये।

इस तरह ५४-५५ मील हम बातेंचीतें करते हुए आनन्द से चले आए। इसके बाद धीरे धीरे थके हुए होनेसे कुछ को नींदसी आने लगी थी, अत: सब चुप-चप होकर आधे सोते हुए और आधे जागते हुए किसी भी तरह कंपाला पहोंचने की राह देखने लगे। इतने में कंपाला से करीब ७०-७२ मील पर रास्ते में एक मोड (Curve) आया। उस मोडपर एक छोटासा पुल भी था। उस पुलके नीचे बडा भारी गढा था और साथहीसे बडा भारी जंगल शुरु होता था। हमारी तरह से अचानक वहीं पर हमारे मोटर ड्राईवर को मारे नींद के थोडासा झोंका आ गया। बस फिर क्या था! ४०-४५ मील से आती हुई मोटर उस पुल तथा गढे की ओर बढी। हम सबके तथा ड्राईवर के होश हवास गुम! ड्राईवर तो इतना घबरा गया था, कि वह बजाय ब्रेक दबाने के और भी ज्यादा मोटर को पैट्रोल देने लगा। कोई दो एक मिनिटतक तो हम सब अर्धमूर्च्छितसी हालत में रहे। बीचमें एकदो बार मोटर उलटती हुईसी प्रतीत हुई। मैं ड्राईवर के पास अगली सीट पर बैठा हुआ था। अचानक मुझे एकदम भान आया और मैंने अपने पैर आगे को फैलाये तो वे ब्रेकपर जा पडे। मैंने खूब जोर से ब्रेक दबा दिया। ईश्वर की कृपा से उस समय तक हमारी मोटर इन सब आफतोंमें से गुजरती हुई एक नेटीव के खुदे हुए (जुते हुए) खेत में जा पहोंची थी। अत: ज्योंही जोर से ब्रेक दबा कि, मोटर के पहिये जमीन में गढ गये और किसी न किसी तरह वह वहीं रुक गई। मोटर के खडे होतेही हम सब के होश ठिकाने आए। हम सब मोटर से नीचे उतरकर उस दुर्घटना की भयंकरता का ख्याल करते हुए एकदूसरे की कुशल पूछने लगे। हमने जब सबको ठीक ठीक पाया, तो उस अपार दयालु परमात्मा का धन्यवाद करने लगे।

हमारी मोटर जहांपर जा खडी हुई थी, उस के चारों ओर का स्थान देखनेपर हमें ज्ञात हुआ कि, यदि हमारी मोटर थोडीसी भी आगे जाती, तो एकदम बडे भारी गढेमें गिरकर चूरचूर हो जाती। हम अब भी जब उसकी कल्पना करते हैं तो एक बार तो हम सबको कंपकंपी हो आती है। अस्तु। अब हमारे सामने यह सवाल उपस्थित हुआ कि, हम हैं कहां? हम चारों तरफ नजर दौडाने लगे। यद्यपि चांदनी रात थी, पर जंगल और झाडियों की वजह से कुछ पता न चलता था। हम अब भी रास्ता ढूंढने की कोशिश करते हैं कि, इतने में हमसे पिछली तीसरी मोटर का प्रकाश आता हुआ दिखाई दिया। हम उसे खडी करने के लिए रास्ते की ओर दौडे। आवाजें लगाईं। परन्तु रास्ते तक पहोंचते पहोंचते तो वह मोटर निकल गई। हमारी आवाजें भी उसे सुनाई नहीं पडीं। अब सिर्फ एक मोटर और पीछे बाकी थी। हम रास्ते पर खडे होकर उसकी प्रतीक्षा करने लगे। कोई १५ मिनिट के बाद वह भी आती हुई प्रतीत हुई। हमने उसे खडा किया और संक्षेप में हमारा वृत्तांत कह सुनाया। हम सबने मिलकर हमारी मोटर को रास्तेपर ले आनेका सोचा और तदनुसार उसे ले आनेके लिए सब वहांपर गये। हम ७-८ आदमी तथा मोटर के ऐंजिन ने मिलकर मोटर को किसी भी तरहसे अपनी जगह परसे हिला था। मोटर के थोडासा हिलने पर हमें कुछ कुछ आशा बंधी। आखिरकार जैसे तैसे बडी महेनत के पश्चात् मोटर को रास्तेपर ले आने में समर्थ हुए। इस तमाम धमाल की वजह से उस खेतका नेटीव मालिक भी हमारी मदद को आया। उसने ठंडा पानी मोटर को पिलाने के लिए मोटर में डालने के लिए ला दिया। मोटर रास्तेपर ले आने के पश्चात यह सवाल

उपस्थित हुआ कि अगर यह मोटर हमें अब आगे ले जाने में समर्थ है या उसे वहीं छोड दिया जाय और हम आगे जानेका कोई उपाय सोचें। यदि मोटर बिगड ही गई हो, तो हम पैदल चलकर वहां से ९-१० मील दूर एक जीनरी थी, वहांपर पहोंच जायें। हममें से बहुत से तो सिर्फ मोटर में बैठना ही जानते थे। अतः यदि कोई वहां तज्ञ हो सकते थे, तो वे हमारी दोनों मोटरों के नेटीव ड्राईवर और एक दो हममें से, जो कि थोडाथोडा मोटर हांकना जानते थे। किसी भी चीज में अर्धदग्ध आदमी से कितनी दुर्दशा होती है, इस बातका हमें पूर्ण रूपसे उस रोज अनुभव हुआ। असल बात यह थी कि, हममेंसे एक भी ऐसा न था कि, जो मोटर की मैकेनिक्सको ठीक तरह से समझता हो। हमारी मोटर का सिर्फ एक ओर का मडगार्ड ज्यादा पिचक गया था। वह पहिये से इतना ज्यादा छूता था कि, उससे पहिये के साथ विशेष संघर्षण होनेसे पहिया आराम से धूम नहीं सकता था। बस, इतनी ही खराबी हमारी मोटर में हो पाई थी। इस खराबी को दूर करने के लिए हमने मोटर का अगला पहिया खोलकर उसे ठोक पीटकर ठीक करने का प्रयत्न किया। हमारे पास किसी भी तरह के वहां साधन न होनेसे मडगार्ड जितना ठुकना चाहिए, उतना ठुक नहीं सका। हमने दो दो बार पहिया चढाया और उतारा पर मडगार्ड संतोषजनक स्थिति में न आ सका। इतने में दूसरी बार पहिया चढाते हुए हमारे नेटिव ड्राईवर के दिमाग को कुछ और दूसरी खराबी सूझी। उसने उस खराबी को इतने भयंकर बताया कि, उसके रहते हुए चाहे मडगार्ड ठीक हो जाय, तो भी मोटर हांकना ठीक नहीं। क्योंकि उस हालत में मोटर जरासा भी हांकने पर कहीं टेढीमेढी चली जायेगी और भयंकर दुर्घटना होनेकी सम्भावना बनी रहेगी। पहलेसे ही डरे हुओं के लिए यह डर काफी था। हम सब उस मोटर की आशा छोड बैठे। अब दूसरी मोटर के आदमियोंने हमें वहीं छोडकर जानेका निश्चय किया। उन्हें नींद सता रही थी. अतः वे किसी भी हालत में हमारे लिए ठहरने को तैयार नहीं थे। हमसे यह कहकर कि यदि कोई और मोटर या लौरी मिल जाय, तो उसमें चले आना। अथवा तो हम कंपाला पहोंचकर कल दुपहर तक दूसरी कोई लौरी भेजनेका इन्तजाम करेंगे!!! हम लाचार थे। मन मसोसकर रह गये। उनके जानेपर एक तरफ सरदी और दूसरी तरफ मच्छर, दोनों ने हमें परेशान करना शुरू किया। थोडासा समय भी वहां बिताना हमारे लिए दुश्वार हो गया।

ऐसी दशामें हम सबने यह निश्चय किया कि, अब चाहे कुछ भी हो जाय हम मोटर का मडगार्ड निकाल डालते हैं और धीरे धीरे ५ मील की चालसे कमसे कम १० मील दूरकी जीनरी तक पहोंचने का प्रयत्न करें। बस फिर क्या था। मडगार्ड निकालने लगे। कोई एक घण्टा लगातार प्रयत्न करनेपर भी मडगार्ड निकल न सका। आखिरी एक पेच ऐसा रह गया, जो किसी भी तरह निकलता न था। हमने उसे उसी हालत में ऊपर उठाकर ऐसा ऊंचा बांध दिया कि, जिससे वह पहिये को छूने न पावे। हम इस प्रयत्न में सफल हुए। इसके बाद सब मोटर में बैठ गये और ऐंजिन को चलाया। फौरन ऐंजिन भी चालू हो गया। धीरे धीरे मोटर चलने लगी। यहां तक कि वह ३० से ३५ मील की गतिसे चलाने पर भी वैसे ही चलती हुई मालूम दी, जैसी कि अच्छी हालत में चलती थी। यह देखकर हमारे हर्ष का पार न रहा। हम धीरे धीरे सबेरे ८-९ बजे कंपाला पहोंच गये।

(क्रमशः)

अहिंसा।

(लेखक- श्री० रामावतार विद्याभास्कर, रतनगढ, बिजनौर यू. पी.)

अहिंसाधर्म की विवेचचा प्रारंभ करने से प्रथम अहिंसा से भिन्न दूसरे दैवी धर्मों का यह स्वभाव अहिंसा के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिये कि, जिस प्रकार दूसरे सब धर्मों का केवल अपने आपसे सम्बन्ध है, इसी प्रकार अहिंसा का भी केवल अपने आपसे सम्बन्ध है, दूसरों से नहीं। अर्थात् अहिंसा अपने व्यक्तित्व तक ही सीमित रहती है।

मनुष्य की हिंसा या अहिंसा किन्हीं दूसरे मनुष्यों पर प्रयुक्त होनेवाले धर्म नहीं हैं। मनुष्य अपने आप ही अपनी हिंसा या अहिंसा कर सकता है। मनुष्यके ऊपर अपनी ही हिंसा या अहिंसा का उत्तरदायित्व है। मनुष्य से दूसरे की हिंसा या अहिंसा होने की कोई सम्भावना नहीं है। इससे दूसरे की हिंसा न हो जाय, इस वृथा बात के लिये किसी को भी चिन्ता मनाने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को केवल इतनी बातका ध्यान रखना चाहिये कि, कहीं मुझसे मेरी हिंसा न हो जाय! जब मनुष्य अपनी हिंसा या अहिंसा कर चुकेगा, तब दूसरों पर उसके चाहे जैसे बाह्य परिणाम पड जांय, उनको मनुष्य की अपनी ही हिंसाअहिंसा से दूसरा कोई भी नाम नहीं दिया जा सकता।

अहिंसाधर्म के जितने विवेचन मिलते हैं, उन में इस उपर्युक्त सिद्धान्तकी प्रायः उपेक्षा पायी जाती है। इन विवेचनों ने यह मान लिया है कि, अहिंसा दूसरों पर प्रयुक्त होनेवाला धर्म है। विचार से इन विवेचनों की असारता सिद्ध होती है। अहिंसा आत्मधर्म है। इस धर्म का दूसरों के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इतना ही नहीं, जिस हिंसा शब्द के संयोग से अहिंसा शब्द बना है, उस हिंसाका भी दूसरों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस बातको स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहना चाहिये कि, मनुष्य अपनी ही हिंसा या अहिंसा कर सकता है। दूसरे की हिंसा या अहिंसा से दूसरों का कोई सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। कोई भी मनुष्य न तो किसी दूसरे की हिंसा कर सकता है और न किसी दूसरेकी अहिंसा कर सकता है। जो मनुष्य दूसरों के साथ बुरा बर्ताव करता है, उसके बुरे वर्ताव के लिए 'हिंसा' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है। दूसरों के साथ बुरा बर्ताव करनेवाले की अपनी ही हिंसा होती है। बुरा बर्तात, बुरा बर्ताव करनेवाले की ही हिंसा अर्थात् पातित्य है।

हिंसाअहिंसाको पराश्रित या परसंबद्ध धर्म मानने-वाले विवेचनों ने इन धर्मों को दूसरों के जी दुखाने का पर्यायवाची शब्द सिद्ध करने की चेष्टा की है। उससे अहिंसा धर्म का प्राण नष्ट हो गया है। दूसरों का जी दुखाना हिंसा नहीं है, किन्तु दूसरोंका जी दुखाने की भावना आना हिंसा है और वह दूसरेकी नहीं अपनी ही हिंसा है। हिंसाअहिंसा दोनों भावना हैं। ये दोनों मानसधर्म हैं। हिंसाअहिंसा शब्दों के अर्थों में मारने या न मारनेरूपी शरीर-व्यापारका समावेश नहीं है। हिंसा पातित्य है, तथा अहिंसा धर्मारूढता है; इतनी बात तो सबही मानते हैं। इसी मन्तव्य के आधार से हिंसाअहिंसा की खोज की जानी चाहिए। यदि हिंसा शब्द का अर्थ मारना हो, तो मारने को निश्चित रूपसे पातित्य मान लेना पडेगा और तब रावण को मारनेवाले रामको भी पतित अर्थात् हिंसक कहना पडेगा। परन्तु रामके रावण को मारने को कोई भी पातित्य अर्थात् रामकी की हुई हिंसा माननेको उद्यत नहीं है। राम सर्वसंमत-रूप में धर्मारुढ माने जाते हैं। रावणदलन रामके जीवन का जगमगाता हुआ पहलू है। सम्पूर्ण संसार रामके इस कामका समर्थक है। समर्थन का यह अर्थ है कि, राम का रावण को मारना संसार की दृष्टिमें रामकी धर्मारूढता या अहिंसा है। इसी प्रकार यदि

अहिंसा शब्दका अर्थ 'न मारना' हो, तो इस न मारने की परिभाषाके अनुसार अहिंसक राम को अहिंसक नहीं कहा जा सकेगा। प्रत्युत हिंसाशील कहना पडेगा, जो कि कदापि अभीष्ट नहीं होगा। इस दृष्टि से मारना या न मारना ये दोनों अर्थ हिंसा-अहिंसा शब्दके अनर्थ माने जाने चाहियें।

मारना सदा अनुचित ही हो और न मारना सदा उचित ही हो, इस बातको सिद्धान्तरूप में मानने को कोई भी विवेकशील कदापि उद्यत नहीं हो सकता। राम-रावण के उदाहरण में रावण को मारना अनुचित नहीं है तथा न मारना उचित नहीं है। जब कोई डाकू आकर अधिकार को लूटने लगता है, तब उसे मारना पडता है और मारना ही चाहिये। उसे न मारना कदापि समर्थनयोग्य स्थिति नहीं है। मनुष्यत्व को तिलांजलि देनेवाला ही ऐसा कर सकता है। ऊपर के उदाहरण ने यह सिद्ध कर दिया कि. मारना हिंसा शब्द का अर्थ नहीं हो सकता, तथा न मारना अहिंसा शब्द का अथ नहीं माना जा सकता। अर्थात् अहिंसा को न मारने के साथ सीमित नहीं किया जा सकता।

यदि आततायियों को न मारने को भी सिद्धान्त-रूपमें अहिंसा का अर्थ मान लिया जायगा तो बडा भारी अनर्थ खडा हो जायगा। तब दुष्टों. दस्युओं तथा परद्रव्यापहारियों का बोलबाला हो जायगा। तब समाजव्यवस्था छिन्नभिन्न हो जायगी। इसीलिये समाज किन्हीं भी सिद्धान्तवादियों के कथन-मात्रसे समाजको सुव्यवस्थित रखनेवाले अपने दुष्ट-दमन के अधिकार को कदापि नहीं त्याग सकता। दण्ड अपराधी का नित्य साथी है। अपराधी ही दण्डका स्रष्टा है। वही अपराध करके दण्ड को बुलाता है। वह अपने कुकृत्यसे मनुष्यसमाज को अपने को शासित करने का निमन्त्रण देता है। उसे दण्ड मिलने में उसी का कर्तृत्व रहता है, दण्डदाता का नहीं। दण्डदाता उसे दण्ड देकर भी अहिंसक ही बना रहता है। यदि दण्डदाता किसी प्रकार की निर्बलता के वश में आ जाय, वह दण्ड न देने में भी कुछ भौतिक लाभ देखने लग जाय और अपने अपराधी को दण्ड न दे, तो वह अपना हिंसक हो जाय।

जब कभी शारीरिक बलप्रयोग के द्वारा दुष्टदमन करना आवश्यक कर्तव्य हो जाता है, तब "किसी को कभी न मारना," यह परिभाषा अहिंसा की दूषित परिभाषा हो जाती है। परिभाषा ऐसी होनी चाहिये, जो अपने सम्पूर्ण उदाहरणों में बिना अतिव्याप्ति, अव्याप्ति के लागू होती चली जाय। इन सब दृष्टियों को साथ रखकर हिंसा-अहिंसा का जो परिभाषा होगी, वही सर्वमान्य परिभाषा होगी।

प्रश्न होता है कि फिर हिंसा अहिंसा की अतिव्याप्ति, अव्याप्ति आदि दोषों से रहित निर्दोष परिभाषा क्या है? उत्तर यही है कि, अपने मनको पतित होने देना अपनी 'हिंसा' तथा अपने मनको पतित न होने देकर उत्थित रखना अपनी 'अहिंसा' है। जहां हिंसा कहा जाता, वहां उसका वास्तविक अर्थ अपनी हिंसा होता है। इसी प्रकार जहां अहिंसा कहा जाता है, वहां उसका अर्थ अपनी अहिंसा होता है। काम-क्रोध-लोभ-मद-मत्सर आदि आना मन के पतित होनेकी अवस्था है। अर्थात् कामी-क्रोधी-लोभी-मद-मत्सर-युक्त होना अपनी 'हिंसा' कर डालना है। इन सब मानसिक शत्रुओं को जीत लेना 'अपने को अहिंस्य रखना' है। काम आदि शत्रुओं पर विजय पाने से आत्मा की रक्षा होती है। यदि 'अहिंसा' कहाती है।

अपने आत्मा की रक्षा करना अर्थात् अपनी मानसिक अवस्था को सुरक्षित रखना 'अहिंसा'-धर्म है। अपने को पतित न होने देना, 'अहिंसा' है। स या असत्य का विचार करके जो सत्य प्रतीत हो, केवल उसी से अपना सम्बन्ध रखो, असत्यसे संबंध मत जोडो। जुडा हुआ हो, तो तोड दो, यही अपनी 'अहिंसा' है। जब मनुष्य के सामने इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित होता है कि, असत्य से नाता जोडें या सत्यसे नाता रखें? उस समय असत्य की उपेक्षा

करके सत्य की रक्षा करो, यही हिंसासे बचना या 'अहिंसा' है। संक्षेप में भूल करने से बचना ही 'अहिंसा' है।

सत्य मनुष्य का स्वरूप है। वह मनुष्य के भीतर सब समय स्वाभाविक रूपसे है। सत्यके साथ मनुष्य का स्वाभाविक संबन्ध है। इसलिये मनुष्य को सत्य के साथ रहना चाहिये और असत्य को त्याग देना चाहिये। क्योंकि असत्य से उसका संबन्ध अस्वाभाविक होता है। जब मनुष्य किसी ढंगकी भ्रान्तिमें फंस जाता है, तब ही उसके मनमें असत्य को ग्रहण कर लेनेका प्रश्न उठ खडा होता है। उस समय मनुष्य आत्मस्वरूप सत्यको भूल जाता है। सत्य को भूल जाना ही असत्य को ग्रहण करना है। असत्य को अपनाना हिंसा या आत्मघात है। अपने सत्यरूप में दृढ रहना अहिंसा है।

जिस भ्रान्ति से सत्यको भूल जाने की घटना होती है, वह भ्रान्ति काम क्रोध आदि शत्रुओं के रूपमें प्रकट होती है। मनुष्य अपने को इन रिपुओं से आक्रान्त न होने देनेके लिये सदा सावधान बना रहे, यही आत्मरक्षा या 'अहिंसा' है। रिपुओं के वशमें आ जाने से मनुष्य का अकल्याण होता है। अपना अकल्याण करना, अपनी 'हिंसा' करना, तथा अपना कल्याण करना अपनी 'अहिंसा' है।

अहिंसा का मार्ग कल्याण का मार्ग है। मनमें शुभ चिन्तन का प्रवाह बहता रहे, यही कल्याण का एक-मात्र मार्ग है। अपने को प्रत्येक क्षण पूर्ण अभ्रान्त तथा आनन्दस्वरूप रखना शुभ चिन्तन है। मन में शुभ चिन्तन का अखण्ड प्रवाह बहते रहना ही 'परमात्मा' है। शुभ चिन्तनमें दृढ रहना, तथा अपने स्वाभाविक सत्य रूपमें निवास करना दोनों एक बात है। स्वरूप में रहना आत्मा की स्वाभाविक अर्थात् हिंसाशून्य अवस्था है। जब आत्मा स्वरूपस्थ नहीं रहता और बाह्य प्रभावों से प्रभावित हो जाता है, तब उसे व्याकुलता आदि दुःखदायी भाव सताने लगते हैं। स्वरूप में अवस्थान किये बिना आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। आत्मा को शान्तिदायक स्वभाव में रखना, आत्मरक्षा या 'अहिंसा' है। इससे विचलित हो जाना, आत्महत्या या 'हिंसा' है।

अपनी पूर्णता, भ्रमशून्यता, पवित्रता, तथा आनंद-रूपता को किसी भी क्षण न भूलना ही सफल जीवन है। इस पवित्र विचारधारा को त्याग देना, सत्य-स्वरूप आत्मा से वियुक्त हो जाना है। यह मृत जीवन का चिह्न है। मनुष्य ने इसीलिये मनुष्यदेह धारण किया है कि, वह अपने में इस शुभ चिन्तारूपी परमात्मा को जगाये रखकर, जीवनके प्रत्येक अवसर या घटना में मृत्यु से बचा रहे। अर्थात् अमर रहकर अमरता की रक्षा करता रहे। इसी को मनुष्यता कहा जाता है। मनुष्यदेह इसी मनुष्यता की रक्षा करने के लिये बनाया गया है। यदि मनुष्य को मनुष्यता की रक्षाके नामपर इस देहको त्यागना भी पड जाय, तब भी मनुष्यता की रक्षा हो जाती है, जीवन की रक्षा हो जाती है, आत्मा की रक्षा हो जाती है और अहिंसक बने रहना आ जाता है। यदि मनुष्य अपने देह तथा उपकरणों की रक्षा करता हुआ, मनुष्यताको तिलांजलि दे बैठे, अर्थात् मनपर अशुभ चिन्तन को आधिपत्य जमा लेने दे, तो मनुष्य जीवितकालमें ही मृत हो जाता है। वह आत्मघात कर लेता है। उसकी हिंसा हो जाती है। पूर्णता, भ्रमशून्यता, पवित्रता तथा आनन्दरूपता का विरोध करनेवाली प्रत्येक चिन्ता अशुभ चिन्तन या 'हिंसा' है।

किसी को हानि पहुंचाना हिंसा शब्दका अर्थ इसी-लिये नहीं है कि, मनुष्य को किसी भी दूसरे को हानि पहुंचाने का अधिकार नहीं है। यद्यपि दूसरों को हानि पहुंचाना चाहनेवाले लोग संसार में हैं। परन्तु वे भ्रान्तमार्ग पर हैं, यह तो सारा ही संसार मानता है। ऐसा क्यों मानता है? उसका यही कारण है कि किसी को किसी दूसरे को हानि पहुंचानेका अधिकार नहीं है। अधिकार से बाहर पैर डालना ही भूल है। मनुष्य केवल दूसरों को हानि पहुंचाने की दुष्ट भावना को क्रियात्मक बाह्य रूप दे सकता है। दूसरे को हानि पहुंचना सृष्टिव्यवस्था की इच्छापर निर्भर होता है। अपने दुष्ट विचारों को बाह्य क्रिया-

रूपमें प्रकट करना ही 'किसी को हानि पहुंचाना' है। ऐसी क्रिया का बाह्य परिणाम चाहे जो कुछ हो, परन्तु उस दुष्ट भावना के आते ही मनुष्य की अपनी हिंसा हो चुकती है। मनुष्य अपनी ही रक्षा और अपनी ही हिंसा करने का अधिकार रखता है। आत्मरक्षा या आत्मनाश के साथ प्रत्येक मनुष्य का केवल अपना सम्बन्ध है। अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार करना मनुष्य का स्वधर्म है। दूसरों के कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार करना शुभ चिंतन का विरोधी है, अनधिकार है, तथा मनुष्य की हिंसा है।

यदि मनुष्य इस विचार में फंस जायगा कि, मेरे इस काम से औरों की हिंसा होगी या नहीं? अथवा मेरे इस काम से दूसरों की रक्षा होगी या नहीं? तो मनुष्य अपने हाथ से अपनी शांति को खो बैठेगा। ऐसे विचारों में पडते ही मनुष्य भ्रममें फंस जायगा, अनधिकार प्रवेश करेगा, तथा अपनी हिंसा कर लेगा। कहा जा चुका है कि, दूसरों की हिंसा-अहिंसासे दूसरों का कोई संबन्ध नहीं है। जब मनुष्य अपने मनमें दूसरों को हानि या लाभ पहुंचाने के विचार लाता है, उस समय वह अज्ञानी बनता है, अनधिकार करता है और अपनी हिंसा करता है। बात तो यहां तक है कि, मैं दूसरों को लाभ पहुंचाऊंगा, मैं दूसरों का कल्याण करूंगा, इस विचार से भी मनुष्य की हिंसा होती है। यह स्वरूप को भूल जानेकी अवस्था है। मिथ्या अहंकार से इस प्रकार की भावनाओं का उदय होता है। मनुष्य को दूसरों को हानि या लाभ पहुंचाने का न तो अधिकार है और न सामर्थ्य है। अधिकारहीन काम में हाथ डालना या दूसरों के अधिकार का अपहरण करना, अपनी हिंसा करना नाम का अपराध है।

मनुष्य अपने काम क्रोध आदि विकारों के वश में आ जानेका विचार या निर्णय स्वयं ही कर सकता है। दूसरों के काम आदि विकारों के वशमें आनेका विचार तथा निर्णय दूसरे ही कर सकते हैं और उन्हें ही इसका अधिकार है। इस विषयमें हमारा सामर्थ्य तथा अधिकार नहीं है। इस प्रकार के विचार करना हमारा कर्तव्य नहीं है। जब हम इस प्रकार के विचार करेंगे, तब आत्मचिन्ता या स्वविचार छोडकर पर-चिन्ता में फंस जायंगे। अपने उत्तरदायित्व से हट जाना आत्महत्या या हिंसा है। यही 'सत्य से च्युत हो जाना' है। यही 'मृत्यु' है। यही 'मनुष्यता से पतन' है। उदाहरण के रूपमें-यदि कोई व्याघ्र अरण्यवासी गाय या बकरे को खाय और हम उस व्याघ्र को हिंसक मान कर गाय तथा बकरे की रक्षा करनेरूपी अहिंसाधर्म में तत्पर होकर व्याघ्र को पकडवा कर, पींजरे में बन्द करके, उसे घास खाकर जावित रहने के लिये विवश करें, तो हमारी अहिंसा व्याघ्रहत्या के रूपमें परिवर्तित हो जायगी। हां, कभी कभी ऐसा अवसर आता है, जब हमें व्याघ्र आदि के सम्बन्ध में अपने कर्तव्याकर्तव्य का विचार करना पडता है। वह तब आता है, जब कोई व्याघ्र आदि जन्तु हमारी पालतू गाय या बकरे आदिपर आक्रमण करे। उस समय हमें यह विचार करना पडता है कि, न तो हमने इस गाय या बकरे को व्याघ्र की पेटपूजाके लिये पाला है और न इस अवसर पर मिथ्या अहिंसक बनकर, उसका विरोध त्यागकर, अर्थात् उसपर उचित आक्रमण न करके उसके पेटमें चला जाना, हमारे जीवनका लक्ष्य है। ऐसे समय हमें यही समझना पडेगा कि, इस व्याघ्र का यह आक्रमण हम पर ही हुआ है। इसने हमारे न्यायसंगत अधिकार पर आक्रमण किया है। इसने हमारी मनुष्यता पर आक्रमण किया है। ऐसे अवसर पर व्याघ्र का विरोध करके गाय आदि की और अपनी रक्षा करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। ऐसे व्याघ्र को प्रसन्न करना हमारा कर्तव्य नहीं है। ऐसे समय छलबलकौशल आदि सबही उपायों को प्रयोग में लाकर व्याघ्र की हत्या करना हमारा उत्तरदायित्व-पूर्ण कर्तव्य हो जाता है। इसीको हमारी अहिंसा कहा जाता है। इस कर्तव्यको न पालना हमारी हिंसा है।

जब कोई मनुष्य कर्तव्यभ्रष्ट होकर दूसरे के अधिकार पर अनधिकार आक्रमण करता है, तब वह

कर्तव्यपालनार्थी पुरुष को अपने पर वार करने के लिये विवश करता है। दूसरों के अधिकार पर आक्रमण करनेवाला अपने आप अपनी मौत बुलाता है। ऐसे अवसर पर कर्तव्य की दृष्टि से किसीपर वार करना अहिंसा है। यह किसी भी प्रकार हिंसा नामक अपराध नहीं है। यह तो कर्तव्यपालन नामक श्रेष्ठ धर्म है। इससे अहिंसा का कोई विरोध नहीं है। जब कर्तव्य की दृष्टि से मारने का अवसर आता है, तब मारना पडता है और मारकर ही अहिंसा धर्म का पालन होता है। ऐसे समय मनुष्यके सामने अपनी मनुष्यता की रक्षा करनारूपी कर्तव्य आकर खड़ा हो जाता है। ईश्वरीय व्यवस्था ही ऐसे कर्तव्य भेजती है। ऐसे कर्तव्य से च्युत हो जाना, आत्महिंसा या हिंसा है। उदाहरण के रूपमें-यदि कोई अहिंसक मानी पुरुष व्याघ्र तथा उससे आक्रान्त गाय आदि के बीचमें खडा होकर हथियार छूनेके महापराध से बचाये हुए नंगे हाथों को जोडकर उससे प्रार्थना करने लगे कि, हे व्याघ्रप्रवर। आप इस घास खाने-वाली अहिंसक गायकी हत्या करनेरूपी हिंसक कर्म को छोड दीजिये और जंगल को लौट जाइये। यदि आप हमारी यह प्रार्थना स्वीकार न करो, तो हमारे शवको पददलित करके हमारी गाय को खा लीजिये।

ऐसे विचारहीन आचरणों का निश्चयपूर्वक यही अभिप्राय निकाला जायगा कि, वह व्याघ्र तथा उसके शिकारके बीचमें खडा हुआ प्रार्थी मनुष्य, आक्रमणकारी आततायी को प्रार्थना पूर्ण करनेवाले दयालु के गौरवपूर्ण आसनपर बैठाकर, अपनी क्लीबोचित नम्रतासे, उस दुष्टके घृणित पापका समर्थन करके, उस दुष्टसे अपनी अहिंसा का प्रमाणपत्र लेकर, अपनी यशोभिलाषा को तृप्त करके, उसके पाप का शिकार बन रहा है। ऐसा करना अपनी मनुष्यता की हिंसा करनारूपी हिंसा है। ऐसे आचरणों को अहिंसा का नाम नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार के आचरणोंसे मूढता बढती है और आत्मविस्मृतिरूपी हिंसा होती है। यदि अहिंसा शब्दको मूढता का पर्यायवाची होने से बचाना हो, तो इस आचरण को अहिंसा के अर्थ से बहिष्कृत रखना पडेगा। अहिंसा शब्दकी परिभाषा करते समय यह ध्यान रखना पडेगा कि, कहीं अप्रतिकार, अदक्षता, मूढता, स्वकार्यनाश या दुष्टोंकी दुष्टता का समर्थन आदि किसी भी प्रकार की निर्बलता, अहिंसा शब्द के अर्थ में प्रविष्ट न हो जाय। अहिंसाको निर्बलताओं का पर्यायवाची होनेसे बचाना ही पडेगा।

मनुष्यको यह बात स्पष्ट रूपसे जाननी चाहिए कि, शत्रुता करनेवालों के साथ मित्रबांधवों के समान विश्वास का सम्बन्ध नहीं रखा जा सकता। इसी कारण से इनके साथ विश्वासघात नाम का दोष नहीं लगता। जहां विश्वास का सम्बन्ध होता है, वहीं विश्वासघात का दोष लगता है। चोर, डाकू तथा शत्रुके साथ मनुष्य का अविश्वासका संबन्ध होता है। इसी कारण से इनके साथ छलबलकौशल आदि सब उपायों का प्रयोग करने पर भी इनसे मनुष्य की हिंसा नहीं होती। इनको धोका देकर भी आत्माकी रक्षा होती है। मनुष्य इन्हें ठगकर भी अधर्मात्मा नहीं हो सकता। प्रत्युत इन दुष्टों के साथ विश्वास का संबन्ध जोडने का इच्छुक मनुष्य भूल करता है। वह इन दुष्टों का विश्वास कमाने के लोभ में फंसकर अपने ही कार्य का नाशक, तथा अपने ही सत्य के प्रति विश्वासघाती बन जाता है। अनधिकारीको अनधिकारसे वंचित रखनेमें न कोई अपराध है और न कोई नियम है। उसे चाहे जिस उपाय से उसके अनधिकार से वंचित किया जा सकता है। ऐसा कर देने में कोई पाप नहीं है। प्रत्युत पुण्य है। पतन तो वहां होता है, जहां विश्वास के संबन्ध को तोडा जाता हो।

छलबलकौशलका यही अभिप्राय है कि, मनुष्य किसी को भी अपने को हानि पहुंचाने का अवसर न देकर अपना काम बना ले। यदि मनुष्य अपने भोलेपनसे अर्थात् धर्मात्मापनके आवेशमें फंसकर दूसरों को अपनी हानि करने का अवसर देता है,

तो यह उसकी बेसमझी है, अहिंसा नहीं। यह अकुशलता है। शक्ति से हीन हो बैठना आत्म-स्वरूपको अर्थात् अपने अधिकारोंको भूल जाना अथवा यशोभिलाषा जैसी किसी मानसिक निर्बलता से मस्तिष्क का चक्कर में आ जाना समझ की भूल है। जिस मनुष्य को ऐसी भूल करता देखो, समझो कि, वह किसी रिपुके अर्थात् किसी निर्बलता के अर्थात् किसी प्रकार के सांसारिक लालच के वशमें फंस गया है।

बहुधा मनुष्य सत्यवादीपन के भ्रम में फंसकर भूल से यह समझ लेते हैं कि, हमें अपने सब उपाय शत्रु के सामने खोलकर रख देने चाहियें। परन्तु इस मन्तव्य में सचाई का अभाव है। शत्रुको शत्रु होने के नाते हमारी कोई भी बात जानने का अधिकार नहीं है। शत्रु को अपनी बात बताने का हमारा भी कोई अधिकार नहीं है। किसी ढंग की मानसिक निर्बलताके आनेपर ही शत्रुसे इस प्रकार का अनुचित सम्बन्ध जोडने की इच्छा होती है। अपने सब उपाय शत्रु के सामने खोलकर रख देनेका अभिप्राय यही है कि, ऐसा करनेवाला मनुष्य या तो अपने शत्रु का विश्वासपात्र बनना चाहता है, या उसका प्रमाणपत्र लेना चाहता है।

इस प्रवृत्तिका हार्दिक भाव यह है कि, ऐसा करने-वाले मनुष्य को अपनी आत्मशक्तिपर कोई विश्वास नहीं है। उसका इस प्रकार की निर्बलता पर विश्वास जम गया है कि, यदि मेरा शत्रु मुझपर विश्वास करेगा, तो इससे मेरा कुछ भौतिक लाभ हो जायगा। इस प्रकार के विचार स्पष्ट रूपसे मनुष्य की हिंसा हैं। शत्रु हमें कुछ लाभ पहुंचा दे, यह विचार अपनी हिंसा है। यह विचार अपने स्वरूप का घोर अपमान है। शत्रु से भीख न मांगना, उससे कृपा न चाहना, उसे पराजित करना, उससे मित्रता न जोडना, उसे कभी क्षमा न करना, यही मनुष्य की 'अहिंसा' है। इसे न करना अपनी 'हिंसा' है। इसे न करना अपनी निर्बलता को स्थायी रखना, शत्रु की कृपापर निर्भर रहना, तथा आत्महत्या करना है। वास्तविक शत्रु बाहर नहीं है। मन की निर्बलता ही मनुष्य का वास्तविक शत्रु है। इस निर्बलतारूपी शत्रु को नष्ट कर देनेवाले मनुष्य अपने बाह्य शत्रुओं के साथ जो कुछ बर्ताव करते हैं, वही उनकी 'अहिंसा' अर्थात् निर्वैर अवस्था कहाती है। अपनी ओरसे निर्वैर रहना ही अहिंसक का उत्तरदायित्व है। दूसरे को अपनी निर्वैरता समझाना अहिंसकों का उत्तरदायित्व नहीं है।

निर्वैर रहना शक्तिमानों का काम है। शक्तिमानों की शक्ति का यही स्वरूप है कि, वे कभी किसी आततायी दुष्ट को अपने से अधिक शक्तिशाली स्वीकार नहीं करते। वे अपने प्रतिपक्षी बडे से बडे सम्राटों को भी मच्छर और भुनगे के समान समझते हैं। अपने विरोधी को अपने से अधिक शक्तिमान् स्वीकार न करना ही शत्रु के अस्तित्व को अस्वीकार करके निर्वैर हो जाना है।

शत्रु के प्राण हरने के साथ भी निर्वैर होने का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राणहरण से निर्वैर बनने की इच्छा अज्ञानियों की इच्छा है। ज्ञानी लोग शत्रु के अस्तित्वकी उपेक्षा करके, उसे मक्खी-मच्छर के समान मानकर, निर्वैर बनते हैं। वे संसार से शत्रुओं को हटाने की असंभव इच्छा के झगडे में न पडकर अपने मनमें से पशुबलके भयको कान पकडकर बाहर कर देते हैं। वे आततायी को मारकर अपनेको शत्रुहीन मानने की भ्रान्ति कभी नहीं करते। किन्तु जब कभी अपनी मनुष्यता की रक्षाकी दृष्टिसे उस शत्रु के शत्रुताचरणरूपी मूर्खतापूर्ण व्यवहार का उत्तर देना कर्तव्य बनकर आता है, तब कर्तव्यदृष्टि से उस का प्रत्युत्तर देकर अपनी मनुष्यतारूपी निर्वैर अवस्था की रक्षा करते हैं। वे किसी बाह्य शत्रु के शरीर में भौतिक शस्त्रों से चोट करके अपने भौतिक देह को शत्रुहीन या निर्वैर बनाने के भ्रम में कभी नहीं फंसते। ज्ञानी अपने शरीर को निर्वैर बनाने की भूल में न फंसकर अपनी ओरसे अपने मनको निर्वैर रखते हैं।

अपने से वैर करनेवालों की उपेक्षा करना, उनके

अस्तित्व को अस्वीकार करना ही निर्वैर होने का अभिप्राय है। मनुष्य जिसके अस्तित्व को अस्वीकार कर देता है, अर्थात् जिसे अपने मनपर से उतार देता है, जिसे वह उपेक्षा की आंखसे देखने लगता है, वह उसकी दृष्टि में मृत हो जाता है। वैरियों के अस्तित्व को अस्वीकार करने के अर्थात् उन्हें अपने चित्त से उतार देनेके अतिरिक्त निर्वैर होनेका दूसरा कोई भी मार्ग संसार में नहीं है। वैरी मारनेसे नहीं मरते। प्रत्युत मारने से बढते हैं। उपेक्षा की मार पडतेही वैरियों का बीज नाश हो जाता है। जो मनुष्य वैरीके शरीर पर चोट करके अपने को निर्वैर बनाना चाहता है, वह तो वैरी के अस्तित्वको स्वीकार कर लेता है। इस उपाय से, संसार से वैरियों का लोप नहीं होता। एक को मार देनेपर दूसरा वैरी आकर खडा हो जाता है। ऐसे उपाय से वैरी जीवित रह जाते हैं। यदि तुमने अपने मनमें वैर अर्थात् उस का भय रख छोडा है, तो तुमने अपने वैरियों को अमर बना दिया है। यदि तुम्हारे मन में वैरी के शरीर में आघात करके उसे मारकर निर्वैर बनने की कल्पना हो, तो समझ लो कि, तुम अपने आपको अपने से अधिक शक्तिमान् वैरियों के अधीन किए बैठे हो।

हां, यदि किसी शत्रुता करनेवाले मूढने अपनी मूढता से किसी निर्वैर मानसिक स्थिति रखनेवाले मनुष्य को अपने दुष्ट व्यवहार से अपने ऊपर अस्त्राघात करने के लिए विवश किया हो और वह (अपनी ओर से निर्वैर रहनेवाला मनुष्य) कर्तव्य समझकर उसपर अस्त्र का वार करके उसे आत्महत्या-रूपी मृत्यु के घाट पहुंचा दे, तो उस मृत्युका कर्तृत्व (अर्थात् उत्तरदायित्व) उस (निर्वैर) पर नहीं होता। किंतु जिसकी मूर्खता से उत्पन्न हुए कर्तव्यने उसे अस्त्राघात के लिए विवश किया हो, उसी आततायी पर रहता है। ऐसे आततायी को मारनेवाला मनुष्य हिंसक नहीं बनता, किंतु अहिंसक बना रहता है। क्योंकि इस परिस्थिति में उसकी मानसिक अवस्था का पतन नहीं होता। अपनी ओरसे दूसरे के अधिकारपर आक्रमण करनेवाले आततायीने ही स्वयं अपनी मौत बुलायी है। उसीने उसे छेडकर स्वयं आत्महत्या की है। यह मृत्यु आततायी की आत्महत्या नामसे याद की जायगी।

जब कभी सृष्टिव्यवस्थासे व्याघ्र आदि देहके द्वारा किसी अहिंसक की मृत्यु उपस्थित होती है, उस समय भी उस अहिंसक के मन में यह विचार नहीं आता कि, यह नरभक्षक व्याघ्र मेरी हिंसा या मुझसे वैर करता है। वह केवल इतना देखता है कि, यह व्याघ्र अपने स्वभावानुकूल भोजन ग्रहण करना चाहकर, मुझे उसी प्रकार अपना भोजन बनाना चाह रहा है, जिस प्रकार मैं अपने भोजन को खाता हूं। जिस प्रकार मेरा अन्न खाना अन्न से वैर नहीं है, इसी प्रकार व्याघ्र का मुझे खाना मुझसे वैर नहीं है। यही ज्ञानी के सब भूतों में निर्वैर होने का तात्पर्य है। ज्ञानी की निर्वैरता ज्ञानी के ही मन की स्वसंभोग्य सम्पत्ति है।

ज्ञानी की निर्वैरता का यह अभिप्राय नहीं लगाया जाना चाहिए कि, कोई मांसाहारी जन्तु अहिंसक पुरुषके भौतिक देह को नहीं खा सकता। ज्ञानी की निर्वैरता को देखना हो, तो उसे व्याघ्रों में न देखकर उसी की मानसिक दृढता में देखना चाहिए। कोई भी नरभक्षक जन्तु ज्ञानीको खाकर भी उसकी मानसिक निर्वैरता को खण्डित नहीं कर सकता। ज्ञानीके शरीरके खाये जानेपर भी ज्ञानी उस खादकके कामको अपने से वैर करना न मानकर, निर्वैर (निर्भय) बना रहकर, उसे उसके स्वभाव के रूपमें देखेगा और विचलित करनेवाले समझे हुए अवसर पर भी मनको अविचलित रखकर जीवन को सार्थक करेगा। वस्तुतः निर्वैरता ज्ञानी की ही उदार मनोदशा है।

क्योंकि निर्विरोध भावसे किसी के पेट में चला जाना ज्ञानी के जीवन का लक्ष्य नहीं है, इस कारण बिना कोई बचाव किए अपने को व्याघ्रको खा लेने देना, जैसी मूढता करना भी ज्ञानी का स्वधर्म नहीं है। जब कभी ईश्वरेच्छासे ज्ञानी के सामने व्याघ्र

आदि से खा डालने का अनिवार्य अवसर उपस्थित हो जाय, तब ऐसी उदार स्थितिमें रहकर मरना ज्ञानियों का कुलधर्म होता है, यही निर्वैर भाव का तात्पर्य है। निर्वैर भाव या अहिंसा का यह तात्पर्य नहीं कि, ज्ञानी लोग अपनी शरीररक्षाके प्रति कर्तव्य-हीन बनकर सूने हाथों जंगल में घुस जांय और व्याघ्रों के शिकार बनते फिरें।

कुछ लोग ज्ञानी की निर्वैरता को व्याघ्र आदितक फैलाना चाहते हैं। वे ज्ञानी की निर्वैरता से भौतिक लाभ उठाना चाहते हैं। वे व्याघ्र आदिको ज्ञानी से प्रभावित करके, उन्हें भी निर्वैर महात्मा देखना चाहते हैं। यदि कोई व्याघ्र आदि किसी मनुष्यको खा जाय, तो ये उस खादित मनुष्य की ही हिंसक मनोदशा का परिणाम मानना चाहते हैं। ये उस खादित मनुष्य को अहिंसारहित कहना चाहते हैं। वे व्याघ्रों से अहिंसकों की अहिंसा का प्रमाणपत्र दिलाना चाहते हैं। यह सब उनकी विचारभ्रान्ति है। व्याघ्रलोग ज्ञानियों के प्रभाव में आकर उन्हें अभक्ष्य मान बैठें, यह ज्ञानियों की निर्वैर स्थिति का प्रमाणपत्र नहीं है। मृत्यु से डरनेवाले लोग व्याघ्रोंके शिकार-वैराग्य की चाहे जितनी प्रशंसा करें, परन्तु निर्वैर स्थिति कुछ दूसरी ही वस्तु है। वह केवल अपने में ही देखने की वस्तु है। उसे अपने से बाहर किन्हीं नरभक्षकों में ढूंढना व्यर्थ है।

निर्वैर तथा निर्भय दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। यदि निर्वैर अवस्था को अपने में न ढूंढकर व्याघ्रों में ढूंढा जायगा, तो पहले व्याघ्रों को बलात् निर्वैर बनाकर फिर उनकी सहायता से अपनी निर्वैरता नामवाली कायरता या शरीरमोह को निभाने की मनोदशा बन जायगी। इस प्रकारकी मनोवृत्ति के साथ ज्ञानी की स्वाभाविक निरपेक्ष संपत्ति निर्वैर धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। जो लोग व्याघ्रों से यह आशा लगाये बैठे हों कि, निर्वैर महात्माओं को देखते ही व्याघ्रों को इतना उदार हो जाना चाहिये कि, वे ज्ञानियों के शरीरों को खाना छोडकर अनशनव्रत धारण करनेवाले महात्मा बन जांय।

जो लोग व्याघ्रों में इस प्रकार की उदारता को जगाकर उनकी उदारता से अपने शरीरों को बचवा कर, अपने अहिंसाधर्म के निर्वाह की दुराकांक्षा कर रहे हों, वे व्याघ्रोंको भूका रखकर उनकी मृत्यु की इच्छा करते हैं। यह अहिंसा का चोला पहननेवाली हिंसक मनोवृत्ति है। इस प्रकार की काल्पनिक बातों से अपने को अहिंसक मानने का कोई भी उचित तथा आदरणीय कारण नहीं है। ज्ञानी लोग यह समझते हैं कि, संसार चाहे जो कुछ करे, परन्तु इस संसारमें हमसे वैर करनेवाला, अर्थात् हमें डरा सकनेवाला कोई नहीं है। जब मनुष्य में इस प्रकारकी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तब उसे प्रेम, भक्ति या अहिंसा कुछ भी कहा जाता है।

यदि सृष्टिव्यवस्था के नियत किये हुए किसी कारण से ज्ञानियों के सामने व्याघ्र की हत्या करने का कारण उपस्थित हो जाय, उस समय उसे 'व्याघ्र-वैर' या 'व्याघ्रहिंसा' नाम नहीं दिया जायगा। उस समय उसे 'कर्तव्यपालन' कहा जायगा। सब के शरीरों को जीवित रहने का अधिकार है। जो जिसके जीवित रहने के अधिकार में बाधा डालता है, वह अपने आप अपनी मौत बुलाता है। उस मौत का उत्तरदायित्व अहिंसक पर किसी भी प्रकार नहीं डाला जा सकता। यदि किसी पर इस मौतका उत्तरदायित्व है, तो अनधिकार आक्रमण करनेवाले पर या आक्रान्त पुरुष के जीवनाधिकार पर है, अहिंसक पुरुष पर नहीं। वह तो सृष्टिव्यवस्था का आज्ञाकारी यन्त्रमात्र है। जीवनाधिकार देनेवाली सृष्टिव्यवस्था ही आततायी के वध का अधिकार देती है। इस जीवनाधिकार का पालन करते हुए जब किसी आततायी का प्राणवध करना पडता है, तब उससे अहिंसाधर्मपर लेशमात्र भी आंच नहीं आती। जब कभी इस प्रकार के विचार रखनेवाले मनुष्य का व्याघ्र से सम्बन्ध पड जाय, तब वह अपने मनकी अप्रभावित स्थिति को जीवित बनाये रहे, इसी में निर्वैरता का रहस्य छिपा हुआ है।

जो मनुष्य संसार से अपने विश्वासीपनका इस

प्रकार का प्रमाणपत्र लेना चाहते हैं कि, संसार का कोई भी मनुष्य हमारी ओर से वैर किये जाने की शंका भी न करें, वे निर्वैरता के मर्मको नहीं समझते। निश्चय है कि इस प्रकार के विचारकों को अपनी निर्वैरता से कोई संतोष नहीं है। इसीलिए संसारसे अपनी निर्वैरता का प्रमाणपत्र लेने के लिए आगे बढे हैं। जब कोई अपनी निर्वैरता से दूसरों का यहां तक कि अपने ही आततायी डाकू का विश्वास कमाना चाहता है, तब उसके इस विचारपर दया आती है। तब इसे उसकी फलाभिलाषा की दासता या सकाम मनोवृत्ति कहा जाता है। निर्वैरता सकाम धर्म नहीं है। वह निष्काम धर्म है। वह क्या जाने कि निर्वैरता से भौतिक लाभ उठाना किसको कहते हैं? दूसरों से ऐसी आशा करना कि, दूसरे हमें किसी की हानि न करनेवाला मान कर अपनी रक्षा की ओर से उदासीन हो जांय और हमारे हाथों में आत्मसमर्पण कर दें, वे हमारी इच्छानुसार काम करने लगें। इस प्रकार के विचारों में विचारहीनता भी है और दूसरों से भयभीत रहनेवाली दुर्बलोचित कायरता भी है। हो सकता है कि, दूसरे लोग भ्रममें पडकर हमें अपना शत्रु समझ लें। तब हम भी उन्हें शत्रु मान बैठें और शत्रुता करने के भ्रममें पड जांय। इस प्रकार की चिन्तायें अहिंसकों के मनमें कभी नहीं आयेंगी।

अहिंसक जानता है कि, यदि दूसरे मुझे शत्रु समझते हैं, तो समझा करें। वे मुझे शत्रु समझकर मेरी कोई हानि नहीं कर सकते। मुझे अपनी ओर से उनके इस विचार को हटाने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं ऐसा निर्बल कहां हूं कि, उनके इस विचार को हटाये बिना मेरा जीवननिर्वाह न हो सके? मैं अपने शत्रुओं को भी अपनीसी निर्वैर स्थिति प्राप्त कराने की ठेकेदारी या अधिकारहीन काम क्यों करूं? मेरे लिए केवल इतनी बात पर्याप्त है कि, मैं किसी को अपनी ओरसे शत्रु मानने की भ्रांति न करूं। यही मेरी निर्वैर अवस्था है। सब मुझे निर्वैर मानें या न मानें। सबके विचार के साथ मेरी निर्वैर स्थिति का कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा अपने आपको निर्वैर मानना ही मेरे पूर्ण सन्तोष की बात है।

जब मनुष्य अपने आपको निर्बल समझ लेता है, तब अपने से शत्रुता या अपनी हिंसा कर लेता है। इस विचार के अनुसार अहिंसक लोग सदा अपनी निर्बलतारूपी शत्रुसे लडाई छेडे रहते हैं। वे सदा उसका दमन करते रहते हैं। वे सबसे प्रथम अपनी निर्बलतारूपी घरेलू शत्रुका गला दबा देते हैं। उसके पश्चात् अपने से शत्रुता का बर्ताव करनेवाले की अनधिकारयुक्त कार्यवाही का अदम्य विरोध करते हैं और जीवनभर उस विरोध को नहीं छोडते। फिर उस शत्रु को पराभूत करना, उनके निर्वैर स्वभाव का तेजस्वी प्रदर्शन बन जाता है। अहिंसक अपने मन में सदा यह विश्वास रखता है कि, क्योंकि मैंने अपनी निर्बलतारूपी वास्तविक शत्रु को कुचल डाला है, इसलिये अब बाह्य संसारमें कोई भी मेरा शत्रु अर्थात् मेरा कुछ बिगाड सकनेवाला अर्थात् मुझे दबा सकनेवाला नहीं रहा।

जिन लोगों का यह विश्वास है कि, यदि अहिंसक से शेरकी भेट हो जाय, तो वह उसे न खायेगा, उनके शब्दों में वह उसकी हिंसा न करेगा, उनके इस विश्वास का कोई उचित आधार नहीं है। उन्हें विचारना चाहिये कि, जंगली शेरके मनमें किसीको खाते समय उसकी हिंसा का विचार कभी नहीं आता। किन्तु वह उसे हमारे भोजनके समान निर्विकार तथा निरपराध भावसे खाता है। यदि उसके सामने कोई अहिंसक महाशय पहुंच जांय, तो वह उन्हें अवश्य खा जायगा। किसी भी अहिंसक को अपने शरीर के मांसभोजियों के अखाद्य बनने के भ्रम में न पडना चाहिये।

जिन लोगोंने अहिंसा की समस्यापर गंभीरता से अनुशीलन नहीं किया, वे उससे अपने शरीर को अमर रखने का भौतिक लाभ उठाना चाहते हैं। दूसरे हमें न खायें, वे हमें न सतायें, वे हमारे धार्मिक

भावोंसे प्रभावित हो जांय, इन दृष्टिकोणोंसे अहिंसा-धर्म पालना, अहिंसा धर्म से बचना है। अहिंसा से भौतिक लाभ उठानेवाले चाहते हैं कि, यदि जंगल का भूका शेर हमें मिले, तो या तो वह भूका रहे या हमें छोडकर किसी दूसरे को खा जाय। उस शेरको भूका रखने की इच्छा या दूसरे किसी को उसका भोज्य बनाने की इच्छा अहिंसक नामधारी की हिंसा किए विना नहीं मानेगी। अर्थात् ऐसी इच्छा आते ही उसका मन पापी हो जायगा। ऐसी इच्छा मन की असत्य अवस्था है। अपने शरीर को बचानेकी आन्तरिक अभिलाषा रखकर अहिंसाधर्म का पालन करना अपने आत्मा की हिंसा करना है। यह शरीर-मोह है। यह अपने आपको निर्बल बनाना है। इस में अहिंसक मनोवृत्तिका गंध भी नहीं है।

अहिंसा से प्रतिपक्षी के मन बदलने का काम लेने का भी एक विचार पाया जाता है। परन्तु सच्चा अहिंसक इतना अधिक आत्मसन्तुष्ट होता है कि, वह प्रतिपक्षी की दुष्टता के कारण उसके अस्तित्व को फूटी आंखों से देखता है। वह उसे प्रतिपक्षी होने का गौरव भी देना नहीं चाहता। जो अहिंसक वीर दुष्ट, आततायी प्रतिपक्षी को अपना प्रतिपक्षी होनेका गौरव तक देना नहीं चाहता, वह अपने मन में उसी पतित का मन बदलकर अपना काम बनाने के विचार आने दे, यह एक असम्भव कल्पना है। अहिंसक पुरुष के मनमें प्रतिपक्षी के मन बदलने की भावना का आना अहिंसा को धक्का देकर हिंसा को अपना लेना है। जिन लोगों के मन में इस ढंगका अटल विश्वास होता है कि, संसार में हमारी निर्विकार मनोदशा को विकृत कर सकने-वाली कोई शक्ति नहीं है, वे दूसरों के मन बदलने के विचारों को अपने चिन्ताक्षेत्र में कदापि नहीं घुसने देते। जिन के मनमें औरों के मन बदलने के विचार आते हों, ऐसे मनुष्यों को अपने शत्रु की कृपासे ही अर्थात् अपने शत्रु को समझाबुझाकर उसे अपनी भौतिक हानि करने से निवृत्त कर देनेमें ही अपनी रक्षा दीखती हो, ऐसे लोग अपनी भौतिक संपत्ति या शरीर की रक्षा को ही आत्मरक्षा समझ लेते हैं। उनकी दृष्टि में मनकी रक्षा आत्मरक्षा नहीं रहती। परन्तु विचार से यह सिद्ध होता है कि, धन या शरीर की रक्षा, रक्षा नहीं है, किन्तु मनकी रक्षा ही रक्षा है। अपनी मनोदशा को अरक्षित हो जाने देकर की हुई धन या शरीर आदि की रक्षा को रक्षा का नाम नहीं दिया जा सकता। भौतिक मोहों में फंसकर इस प्रकार से अपने आत्मा का हनन करना स्पष्ट रूप से आत्महिंसा या हिंसा है।

दूसरों का मन परिवर्तन करने की भावना अत्यन्त निर्बल भावना है। मनुष्य को विचारना चाहिए कि दूसरों का मन परिवर्तन करने की इच्छा कब और क्यों होती है? हम पूछते हैं कि, मनुष्य को दूसरों का मन परिवर्तन करने का अधिकार कहां है? दूसरे लोग ही अपने अपने मनों के अधिकारी और उत्तरदाता होते हैं। यदि दूसरे लोग अपने मनको पतित बना रहे हैं, यदि वे अपने मनमें अनुचित, तथा अधिकारहीन भावनाओं को पाल रहे हैं और उन्हीं के अनुसार अनुचित कार्य कर रहे हैं, तो वे स्वयं अपनी ही हानि कर रहे हैं। अर्थात् वे अपनी ही मनुष्यता का निर्दय संहार करके पशुता का जीवन काट रहे हैं। पाप ही पाप का दण्ड होता है। उदाहरण के रूपमें विष्ठाभक्षण ही विष्ठाभक्षणरूपी पाप का दण्ड है। पापी होना ही पाप करने का पर्याप्त दण्ड है। पापियों को पापका दण्ड साथही साथ मिल रहा है कि, वे पापी हैं। पापी होना साधारण दण्ड नहीं है। यदि कोई पाप करता है, तो स्वयं ही हानि उठाता है। उससे दूसरे की कोई हानि नहीं हो सकती। दूसरे के पाप करने से न तो कभी किसी मनुष्य ने हानि उठायी है और न कभी उठायेगा।

यदि दूसरों की बुरी भावना से अपनी हानि होते के संकट के बादल दिखाई देते हों, तो दूसरोंमें दूसरों को हानि पहुंचाने की शक्ति का सिद्धान्त मानना पडेगा। इस का दूसरा अभिप्राय यह मानना पडेगा कि, इस विचारवाले मनुष्य में अपना कल्याण करने

तथा उसे स्थिर रखने की शक्ति नहीं है। इसी का तीसरा यह भी अभिप्राय लेना पडेगा कि, ऐसा मनुष्य अपने कल्याण के लिये दूसरोंपर निर्भर हो गया है। स्पष्ट शब्दों में ऐसा मनुष्य दूसरों का दास बन गया है। वह समझ बैठा है कि, यदि मैं दूसरों का मन बदलने में सफल हो सकूंगा, तो मुझे मेरा चाहा हुआ सुखी जीवन प्राप्त हो जायगा और यदि मैं उनका मन नहीं बदल सका, तो मेरा सुखी जीवन मुझे प्राप्त नहीं हो सकेगा। इस प्रकार की मनोदशा रखनेवाला अपने जीवन में दूसरों की दासता के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। उसका अभिप्रेत सुखी जीवन दूसरों की दासता से भिन्न नहीं है। दूसरों की दासताही हिंसा है।

दूसरोंका मन परिवर्तन करने की कल्पनामें दूसरों का डर काम कर रहा है। अर्थात् उस ने दूसरों को एक शक्ति मान लिया है। दूसरों को शक्ति मानना अपने को अशक्त मान लेना है। अपने को अशक्त मान लेना अपनी हिंसा करना है।

हम सत्यपक्षपर हैं, यही हमारी शक्तिका मूल स्रोत है। जो हमारा प्रतिपक्षी है, वह असत्य पक्षपर है. यही उसके अशक्त होने का सर्वसम्मत कारण है। अपने पक्षका असत्य होना मनुष्य की अशक्ति है। जिनके पक्ष में सचाई होती है, वे ही सच्चे शक्तिमान् होते हैं। जिनके पक्षमें सचाई नहीं होती, फिर चाहे वे कितना ही पशुबल क्यों न रखते हों, उन्हें निश्चयरूपमें अशक्त जानकर, मक्खी और मच्छरों के समान नगण्य मान लेना चाहिए, तब ही मनुष्यों की मनुष्यता सुरक्षित रहती है। जिनके पक्षमें सत्य नहीं है, उनको समझाने या उनका मन बदलने का प्रयत्न करना अनधिकारयुक्त कर्म में हाथ डालकर स्वयं अशक्त बन जाना है। हमारे पक्षमें सत्यके होनेसे ही हमें पूर्ण सन्तुष्ट हो जाना चाहिए, तथा इस प्रकार की कुचिन्तायें त्याज्य कोटि में फेंक देनी चाहिएं।

हम अपनी अहिंसासे दूसरों का मन बदलें, हम अपने मनको पवित्र करके दूसरों पर उसकी छाप डालें, यह विचार सर्वथा भ्रमयुक्त है। संसार में ऐसा आजतक कभी नहीं हुआ। संसारका अनुभव इस बात की साक्षी नहीं देता। संसारका इतिहास बता रहा है कि, अहिंसकों के अग्रणी प्रह्लादके पवित्र मन का प्रभाव उसके सांसारिक सम्बन्ध के पिताके मनको भी नहीं बदल सका था। फिर इस सिद्धांत में सचाई कहां है? निश्चय ही अहिंसा इस प्रकार का लाभ पहुंचाने का वादा नहीं करती। अहिंसा भौतिक लाभों को धूल में भी मिला सकती है। जो अहिंसा भौतिक लाभों का सर्वनाश भी कर डालती है, यदि उससे ऐसा लाभ उठाना चाहा जायगा, तो इससे अहिंसाधर्मका अपमान हो जायगा। तब यह धर्म धर्म न रहकर लेनदेन या फलाशा बन जायगा। इससे एक और अनिष्ट होगा कि, जब प्रतिपक्षी अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं करेगा, तब अहिंसक नामधारियों को भी इस धर्म से निराशा होगी और इसपर अश्रद्धा हो जायगी।

अहिंसाधर्म किसी के सामने हाथ जुडवानेवाला, किसी की चाटुकारिता करानेवाला, किसी अनधिकार भोगी आततायी को समझाने बुझानेकी स्वाभिमानहीन व्यर्थ चेष्टा करके दुष्टकी उदण्डता में सहायता देनेवाला दुष्टका मन बढानेवाला दीन धर्म नहीं है। ईश्वरने मनुष्य को जितने हथियार दिये हों, उन सबसे हिंसाका विरोध करो, यही 'अहिंसा' है।

भूतकालमें किसी राजा या साधुने अपने आपको अपनी इच्छासे किसी नरभक्षक जन्तुके भोजन-रूपमें समर्पित कर दिया था और उसने उसे नहीं खाया था, इस प्रकार की किसी कहानीलेखक की कल्पना को याद करके इसी को अहिंसा का सिद्धांत समझकर, इसी घटना की कसौटीपर अपने कर्तव्याकर्तव्य का विचार किया जायगा, तो अवश्य ही विचारभ्रांति होगी। किसी भी मनुष्य की कसौटी पर सत्यको नहीं परखा जायगा। सत्य की ही अभ्रांत कसौटीपर मनुष्योंकी परख की जायगी। क्यों-कि अमुक महापुरुषने ऐसा किया था, इसीलिए यह

सत्य है, इस प्रकार सत्यको किसी भी पुरुषके पराधीन नहीं बनाया जा सकता। सत्य स्वयंप्रकाश है। उसी की अमर कसौटी पर संसार भरके महा-पुरुष परखे जायंगे। जिसका जो व्यवहार सत्य की कसौटी पर ठीक उतरेगा, उसे ठीक माना जा सकेगा। शेष सबको असत्य कह देना पडेगा।

मनुष्य को चाहिये कि, सत्यकी अमर कसौटीपर अपने कर्तव्यों का निर्धारण करे। किन्हीं उदाहरणों के आधार से अपने कर्तव्योंका निर्धारण करना भ्रांति-रहित मार्ग नहीं है। किसी विशेष मत का अनुयायी बनकर उसका मण्डन करने के साथ सत्यान्वेषण का कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे प्रयत्नों से सत्यके लिए प्रेम प्रकट नहीं होता। किन्तु किसी विशेष मनुष्य या किसी विशेष मत के लिये मोह अथवा दासो-चित अनुकरणप्रीति की सूचना मिलती है।

व्याघ्र के सम्बन्ध में मनुष्य के कर्तव्य की जो कसौटी ऊपर बतायी जा चुकी है, व्याघ्रकासा स्वभाव रखनेवाले मनुष्यों के साथ व्यवहार पडने पर उसी कसौटी से काम लेना चाहिए। ऐसे अवसरोंपर विचार भ्रान्ति न हो जाय इस के लिये केवल इतनी बात देख लेनी चाहिये कि, हमारे अधिकार पर हस्तक्षेप करनेवाला दूसरा कोई मनुष्य है, या हमारीही निर्बलता हमारी मनुष्यता को कलंकित कर रही है ? इस बात की पूरी छानबीन कर लेने के पश्चात् मनुष्य देखेगा कि, हमारी निर्बलता ही हमारा अधिकार छिनवा रही है। यदि हमें अपनी ही निर्बलता अत्याचारी के वश में फंसने का कारण ज्ञात हो, तो हमें उस निर्बलताको ही भयानक व्याघ्र मानकर नष्ट कर डालना चाहिये। यदि हम ऐसा करेंगे, तो हमारी आत्मरक्षा हो जायगी और अत्या-चारी अपने आप हमें छोडकर दूर खडा हो जायगा। यदि हम अपनी निर्बलता को पालते रहेंगे और दूसरों को अपने ऊपर अत्याचार करने का दोषी ठहराते रहेंगे या उन्हें गाली देते रहेंगे, तो इससे आत्मरक्षा के स्थान पर हमारी आत्महत्या हो जायगी।

मनुष्य को अपने मनसे इस बात का स्पष्ट उत्तर लेना चाहिये कि क्या मैं दुर्बल हूं, इसीलिये अत्या-चारी लोग मुझपर अत्याचार कर रहे हैं ? या अत्याचारी लोग अत्याचार कर रहे हैं, इसलिये मैं दुर्बल बनकर अत्याचार सह रहा हूं ? यदि मनुष्य विचार करेगा, तो देखेगा कि अत्याचार का मुख्य कारण अत्याचार सहनेवाले मनुष्य की मानसिक दुर्बलता होती है। यदि मनुष्य को अपनी दुर्बलताही अत्याचार का मुख्य कारण ज्ञात हो जाय, तो उसे उस निर्बलता को ही नष्ट करनेयोग्य वस्तु मान लेना चाहिए। ऐसी अवस्था में दुष्टोंका अत्या-चार मनुष्य की चिन्ता का गौण विषय बन जाता है। मुख्य कारण को नष्ट कर देनेपर गौण कारण अपने आप नष्ट हो जाता है। दुर्बलता को त्यागते ही अत्याचारी शक्ति का लोप हो जाता है।

यदि मनुष्य अपनी दुर्बलता की ओर ध्यान नहीं देगा, अर्थात् उसे नहीं हटायेगा और दूसरों को अत्याचारी समझकर उन्हीं को हटाने या उन्हीं के शरीरोंपर चोट पहुंचाने का प्रयत्न करने में फंस जायगा, तो ऐसे मनुष्य की आत्मरक्षा नहीं होगी। उसका अत्याचारी उसके पास से नहीं हटेगा। ऐसा मनुष्य आत्मघात कर लेगा। अर्थात् ऐसे मनुष्य के विनाशका मुख्य कारण उसी के मन में बना रहेगा। अत्याचार का कारण अपने स्थान पर जमा रहेगा और मनुष्य को अत्याचार का शिकार का बनाता रहेगा। अपने में निर्बलता रखना आत्महत्या या हिंसा है।

जहां कहीं अत्याचार होता है, वहां सर्वत्र अत्या-चार सहनेवालों की निर्बलता ही अत्याचारों का मुख्य कारण होती हैं। सूक्ष्म विचार ने इस बात का निर्णय कर दिया है कि, संसार में अत्याचारी नामकी कोई शक्ति नहीं है। निर्बलों की निर्बलताही उनपर अत्याचार करती है। वही अत्याचार करनेवाली शक्ति बन जाती है। मनुष्य सबसे प्रथम अपनी निर्बलता को त्याग दे, यही अत्याचार के बन्द होने का एकमात्र उपाय है। इसी उपाय से मनुष्य की

आत्मरक्षा हो सकती है और वह अहिंसाधर्म को पाल सकता है।

अत्याचार करनेवाले मनुष्य दूसरों को अत्याचार सहने के लिये सन्नद्ध, सहमत या विवश नहीं करते। किन्तु अत्याचार सहने का स्वभाव रखनेवाले मनुष्य ही अत्याचारियों के जन्मदाता होते हैं। अत्याचार सहनेवालों को देखकर कोई भी देशी या विदेशी लोभी अत्याचार करने के लिये उत्तेजित हो जाता है। अत्याचार सहनेवालोंमें सेही कुछ लोग अत्याचारी बन जाते हैं। यदि अत्याचार सहनेवाले मनुष्य संसार से हट जांय, तो संसार में अत्याचारियों का अस्तित्व ही असम्भव बन जाय। अत्याचारी की यही परिभाषा है कि वह अत्याचार सहनेवालों की निर्बलता से लाभ उठानेवाला प्राणी है। वस्तुतः इस संसार में अत्याचारी नाम की कोई शक्ति नहीं है। अत्याचारी मनुष्य मनुष्यसमाज की निर्बलता का मूर्तिधारी रूप है। अत्याचारी एक प्रकार की अशक्ति या निर्बलता है। वह निर्बल लोगों की कृपा से अस्तित्व में आया है। उसे उन्हींने जन्माया है। अपनी हिंसा करनेवाले मनुष्य ही अत्याचारियों के जन्मदाता होते हैं। जब मनुष्य अपनी निर्बलता से अपने आत्मा की हिंसा कर लेता है, उस हिंसा में ऐसी अत्याचारियों का जन्म होता है। मनुष्यों की निर्बलता ही अत्याचारियों की माता है। यही अत्याचारी का नग्न रूप है।

यदि मनुष्य अत्याचारी को जन्मानेवाले सिद्धान्त को नहीं समझेगा, अर्थात् अपनी निर्बलता को नहीं हटायेगा, अर्थात् अपनी हिंसा को नहीं रोकेगा और उस स्वोत्पादित अत्याचारी को अपना प्रतिद्वन्द्वी मान बैठेगा, तथा उस की निर्बलतासे लाभ उठाकर आत्मरक्षा या विजय प्राप्त करना चाहेगा, तो अवश्य हार जायगा। मनुष्य को अपने प्रतिपक्षी की निर्बलता से विजय की असम्भव इच्छा नहीं करनी चाहिये। विजय की इच्छा तो आत्मशक्ति के सहारे से ही करनी चाहिये। जिस समय मनुष्य आत्मशक्ति से विजयी बनने का निश्चय ठान लेगा, तब देखेगा कि, उसके प्रतिपक्षी अत्याचारी का अस्तित्व लुप्त हो गया है।

सच्चे शक्तिमानों का विरोध कर सकनेवाली और अन्ततक विरोध में डट सकनेवाली विरोधी शक्ति संसार में नहीं है। विरोधी को मार कर आत्मरक्षा करने की अर्थात् उस के भौतिक अस्तित्व को मिटाकर आत्मरक्षा करने की दुर्बल कल्पना सच्चे शक्तिमानों के मन में कभी स्थान नहीं पाती। शक्तिमान् मनुष्य अपना विरोध कर सकनेवाली किसी शक्ति को नहीं मानते। जो कोई विरोधी शक्ति उनके अधिकारक्षेत्र में विरोध करने के लिए घुस आती है, वह अपना ही सर्वनाश करने के लिये आती है। शक्तिमान् मनुष्य अपने विरोधियों के अस्तित्व के सम्बन्ध में पूर्ण उदासीन रहते हैं। वे उन्हें फूटी आंखों से देखते हैं। वे जानते हैं कि, विरोधी शक्ति की भौतिक मृत्यु परमात्माके प्रबन्धसे चाहे जब हो, परन्तु उसकी मानसिक मौत तो मेरे सत्य का विरोध करते ही हो चुकी। क्योंकि वह असत्य है, इसलिये मैंने उसे तिरस्कार तथा उपेक्षा के पक्ष में फेंक दिया।

यदि किसी विरोधी शक्ति के विघ्न डालने से किसी स्वाधीन अहिंसक पुरुष का शरीर नष्ट हो जाय, तो भी उसकी कुछ हानि नहीं होती। भौतिक हानि, हानि नहीं है। मानसिक पतनही हानि है। भौतिक लाभ लाभ नहीं है। मानसिक उत्थानही सच्चा लाभ है। उसने जिस उदार मानसिक अवस्थामें रहकर शरीर छोडा है, उसी से वह अमर हो चुका है। अमरता मन की अवस्था है, शरीर की नहीं। शरीर का धर्म तो मृत्यु है। मृत्युभय का भाग जाना ही 'अमरता' है।

यहां तक के विचारसे यह सिद्धान्त हाथ आ गया कि, मनुष्यको केवल अपने कर्तव्यके विषयमें ही विचारना चाहिये। मनुष्यको दूसरोंके कर्तव्य-अकर्तव्य के संबन्धमें अधिकारहीन हस्तक्षेप कदापि न करना चाहिये। यदि मनुष्य इस सचाई को ध्यान में रखेगा, तो सत्यको पहचान सकेगा, नहीं तो नहीं। मनुष्यका कर्तव्य केवल इतना है

कि, स्वयं अपने जीवनव्यवहारमें अहिंस्य बना रहे। यही मनुष्यकी 'अहिंसा' है। दूसरों के व्यवहारों में हस्तक्षेप करना, दूसरों से कुछ आशा करना, उनके व्यवहारों के विषयमें कुछ सोचना, मनुष्य का कर्तव्य नहीं है। ऐसा करना अनधिकार चर्चारूपी 'हिंसा' है।

उदाहरण के रूपमें हम निरामिष भोजन करते हैं और अहिंसाधर्म की दृष्टिसे ऐसा ही करना उचित है या नहीं? इस प्रकारका विचार हम अपने ही विषयमें कर सकते हैं, दूसरोंके विषयमें नहीं। दूसरे मनुष्य मांसाहार करके या पशुवध करके अहिंसाधर्मको त्याग रहे हैं या नहीं? इस प्रकार की परचिन्तामें फंसनेका मनुष्यको कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकारकी अनधिकार चर्चा करना या औरों के अधिकार की बातमें हस्तक्षेप करना आत्मविस्मृति, आत्महिंसा या असत्य आचरण है। जिसे हम अपना कर्तव्य समझते हों, जिससे हमें सन्तोष होता हो, उसपर हमें स्वयं आचरण करना चाहिये, उसे हमें अपने जीवनव्यवहार में उतारना चाहिये। यही कर्तव्य का सरल मार्ग है। हमने अपने धर्मका पालन करके अपनी मनुष्यताको अक्षुण्ण बनाये रखा है या नहीं? हम सत्यानुमोदित मार्गपर डटे रहे हैं या नहीं? हमने कामक्रोध आदि रिपुओं को जीता है या नहीं? हमने अपने स्वतंत्रता नामके जन्मसिद्ध अधिकार की रक्षा की है या नहीं? हमने अपने निर्विकार अनुभावित आत्माको सुरक्षित रक्षा है या नहीं? हमें केवल इस प्रकारकी बातों के विचार करनेका ईश्वरीय अधिकार है। यदि हम इस ईश्वरदत्त अधिकार से बाहर भटक कर दूसरों के अधिकार में हाथ डालने लगेंगे, तो हम गेहूं की रोटी खाते हुए भी अपने मनकी रक्षारूपी स्वधर्म से च्युत होकर हिंसक हो जायंगे।

किसी को मारने या न मारने के साथ हिंसा-अहिंसा का कोई संबन्ध नहीं है। जीवन के साथ मौत लगी हुई है। ये दोनों अटल साथी हैं। प्रकृतिके प्रबन्ध से जन्म होता है और उसी के प्रबन्ध से मृत्यु होती है। जन्मप्रकृति के प्रबन्ध से हो और मौतका प्रबन्धक मनुष्य को मान लिया जाय, प्रकृति को न माना जाय, यह सिद्धान्त विवेकानुमोदित नहीं है। जन्ममृत्यु दोनों प्रकृति के ही काम हैं। वह प्रकृति किस देहको किसकी मृत्युका द्वार बनाती है, इसका कुछ ठिकाना नहीं है। यह बात सर्वथा प्रकृति के वशमें है। वह शत्रुमित्र दोनों से मनुष्य की प्राणरक्षा तथा प्राणनाश कराती हुई पायी जाती है। इसलिये किसी को जीवित रहने देने, या उसकी मृत्युका कारण बन जानेके साथ हिंसा-अहिंसा का कोई संबन्ध नहीं है। जो कर्म प्रकृति की अटल आज्ञासे अपरिहार्य रूपमें हो रहे हैं, उनमें से कुछ कर्मोंको हिंसा तथा कुछ को अहिंसा नाम देना समझने की भूल है। कर्म की अपनी कोई उपाधि नहीं है। कोई कर्म न तो हिंसा है और न वह अहिंसा है। हिंसा या अहिंसा कायिक वस्तु नहीं है। ये दोनों मानसिक स्थिति हैं। कर्म हिंसा या अहिंसा नहीं हो सकता। कर्म करानेवाली भावनाको ही हिंसा या अहिंसा कहा जा सकता है।

यदि कोई मनुष्य किसीपर क्रुद्ध होकर चोट करे, तो उसका चोट करना तथा दूसरे को चोट लगना, ये दोनों काम हिंसा शब्द के अर्थ नहीं हैं। इन दोनों कामोंको प्रकृतिका प्रबन्ध कहा जा सकता है। क्रोधी मनुष्यके क्रोध के वशमें आ जाने तक ही हिंसा का क्षेत्र है। क्रुद्ध होनेवाला क्रुद्ध होकर अपनी हिंसा कर लेता है। क्रोधी होना हिंसा है। लोभी होना हिंसा है। मोही होना हिंसा है। मत्सरी होना हिंसा है। कामी होना हिंसा है। भयभीत होना हिंसा है। इन सब हिंसाओंसे अपने मनको बचाये रहना अहिंसा है।

हिंसा-अहिंसा किन्ही हथियारों में छिपी हुई नहीं हैं। वे देहोंपर उडकर चिपटनेवाले रोग नहीं हैं। किन्तु जो भावना [illegible] आदि का प्रयोग कराती है, उस भावना में से हिंसा-अहिंसा को

ढूंढना चाहिये। इन दोनों को अपने बाहर न ढूंढकर अपनी भावनाओंमें ढूंढना चाहिये। भावना की ही हिंसा होती है और भावना की ही अहिंसा होती है। भावनामें ही हिंसा होती है और भावना में ही अहिंसा होती है। भावना से बाहर हिंसा-अहिंसाका क्षेत्र नहीं है। हिंसाअहिंसा के कायिक, वाचिक, मानस ये तीन भेद करना भ्रमपूर्ण विचार है। हिंसाअहिंसा केवल मानस होती हैं। हिंसात्मक समझे हुए, वाह्य व्यापार कामक्रोध आदि रिपुओं के वशवर्ती होकर किये जाते हैं। जिनके मन इन रिपुओंके वश में आ जाते हैं। वे आत्महिंसा कर चुकने के पश्चात् हिंसात्मक बाह्य आचरण करते हैं। उन का परिणाम किसी को मारना, या किसी के हाथसे मारे जाने के डरसे भागना, या किसी के हाथ से मारा जाना आदि सब कुछ हो सकता है। इस दृष्टिसे किन्हीं भी मरणरूपी या मारणरूपी क्रियाओंको हिंसा का निवास नहीं माना जा सकता। इसके साथ ही मरने और न मरने की अनुपस्थिति में अहिंसा के निवासको कैद नहीं किया जा सकता। किसी को शारीरिक हानि पहुंचाना या उसे रोकना मनुष्य के वशसे बाहरकी बात है। संसार का दैनिक अनुभव इस बातका साक्षी है। मनुष्य को केवल इतना अधिकार है कि, वह अपनी हिंसा करे या अपनी हिंसा करनेसे बचे। अपनी हिंसा कर लेनेके पश्चात् उसके वाह्य दिखावे भी अपनी हिंसा के ही अन्तर्गत होते हैं। इसी प्रकार आत्मरक्षा कर लेनेके पश्चात् उसके भी बाह्य दिखावे दूसरोंके हानि या लाभ दोनों रूपों में हो सकते हैं। यदि उनसे किसी की वाह्य हानि हो जाय, तो उसे 'दूसरों की हिंसा' यह नाम देना सर्वथा अनुचित है। इसी प्रकार यदि उससे किसीको बाह्य लाभ पहुंच जाय, तो उसे किसी की अहिंसा नाम देना सर्वथा अनुचित है। ये दोनों प्रकारकी घटनायें अपने आत्मा की रक्षारूपी अहिंसा से पृथक् नहीं हैं।

अहिंसा तथा हथियारों का जन्मवैर माननेवाला भी एक विचार संसार में पाया जाता है। इस विचारने अहिंसा और अप्रतिकार को पर्यायवाची शब्द बना डाला है। अहिंसा शब्दका अर्थ करते समय अप्रतिप्रकारमूढता, स्वकार्यनाश, दुष्टोत्साह-वर्धन आदि सबही संभावित आपत्तियों को अहिंसा शब्द के अर्थ में से बहिष्कृत रखना पडेगा। यदि शिवलिंगके समान मौन-मुद्रा और हाथ जोडना मात्र अहिंसा होगी, तो मनुष्य का जीवनाधिकारही अस्वीकृत हो जायगा। यदि अहिंसा शब्द का अर्थ जीवनाधिकारविरोधी होगा, तो सब ऐसी अहिंसा को दूरसे नमस्कार करके त्याग देंगे। किसी व्यक्ति की कसौटी से अहिंसा नहीं परखी जायगी। सत्य की कसौटी पर अहिंसा को परखा जायगा। अहिंसा तथा हथियारों का जन्मवैर माननेवाले मनुष्य शस्त्रयुद्ध के हिंसात्मक होनेकी घोषणा करना चाहते हैं। उनके मन्तव्यानुसार मनुष्यको शस्त्रयुद्ध न करना चाहिये। प्रतीत होता है कि, इस मन्तव्यवालोंने आत्मरक्षार्थ प्रतियुद्ध की परिस्थितिपर विचार न करके इस मन्तव्यकी घोषणा की है। माना कि कुछ युद्ध हिंसात्मक होते हैं, परन्तु युद्धमात्र का हिंसात्मक होना कदापि संभव नहीं है। हिंसा के विरोध के लिये जो प्रतियुद्ध करने पडते हैं, उन्हें भी हिंसात्मक कहना, हिंसा-अहिंसा दोनों का अपरिचय प्रकट करना है। जब कभी मनुष्यता के नाते हिंसा के विरोध में आततायीसे लोहा लेना पडता है, तब युद्ध शुद्ध अहिंसा की बाह्य अभिव्यक्ति बन जाता है।

युद्ध पापी लुटेरे की ही हिंसा है, लूट रोकनेवाले के युद्धको हिंसा कहना अविचार की बात है। वह तो अहिंसा अपातित्य या वीरधर्म है। यदि प्रतिकार करनेका अधिकारी प्रतिकारस्वरूप दुष्टसे प्रतियुद्ध न करे, और अपनी जान चुरा ले, तो उसकी हिंसा होती है। यदि उसे लूटका विरोध करने के लिये लुटेरे को मारना पड जाय, तो उसके वध को हिंसा का नाम नहीं दिया जा सकता। उसे तो 'हिंसा का प्रतिकार' यह पवित्र

नाम दिया जायगा। आक्रान्त पुरुषको आक्रमणकारी आततायी के प्राण हरने तक का अधिकार ईश्वरीय व्यवस्था की ओर से प्राप्त हो जाता है। इसीलिये संसारमें आत्मरक्षा के लिये आततायी के वध को अपराध नहीं माना जाता। यही कारण है कि, समाज कभी कभी ऐसे आततायी-वधोंपर बडे बडे पारितोषिक देकर इस कामके अहिंसा होने का प्रमाणपत्र भी देता है। आततायी को मारनेमें कोई अपराध या हिंसा नहीं है। वह तो आक्रान्त की आत्मरक्षा या जीवनाधिकार-रूपी अहिंसा है। आततायीको मारना आत्मरक्षक की अहिंसासे भिन्न स्थिति नहीं है।

सामाजिक अधिकारकी रक्षाके लिये छेडे हुए शस्त्रयुद्ध के समय इतनी बात अवश्य देखनी चाहिये कि, जब शत्रुसे शस्त्रयुद्ध करके आत्मरक्षा हो सकती हो, उस समय शस्त्रयुद्ध छेडना 'अहिंसा' तथा शस्त्रयुद्ध न छेडना 'हिंसा' है। परन्तु जब शत्रुसे शस्त्रयुद्ध छेडकर आत्मरक्षा की कोई भी संभावना न रह गयी हो, तब शस्त्रयुद्ध छेडना 'हिंसा' अर्थात् स्वकार्मनाश है, तथा शस्त्रयुद्ध न छेडकर राष्ट्रजागरण आदि उपायोंसे देशमें दूसरे प्रकार का मानसिक युद्ध छेड देना 'अहिंसा' है। अर्थात् अहिंसा का और युद्ध का जन्मवैर नहीं है। युद्ध की नीति तो बदली जा सकती है, परन्तु अहिंसा के नामपर युद्धत्याग का समर्थन कदापि नहीं किया जा सकता।

पापी की लूट उसी की हिंसा है। उसकी लूट के विरोधमें युद्ध न होना लूटनेवाले की 'हिंसा' है। मनुष्य अपनी ही हिंसा या अहिंसा कर सकता है। लुटनेवाला अपनी हिंसा कर सकता है और लूटनेवाला अपनी हिंसा कर सकता है। इन दोनों की दो पृथक् पृथक् हिंसा हैं। पापी दूसरे को लूट कर अपनी हिंसा करता है। लुटनेवाला दूसरे की लूट को सह कर, अपनी हिंसा करता है। लुटेरेने भी अपनी हिंसा अपने आप की है। लुटनेवाले की नहीं। इसी प्रकार लुटनेवालेने भी अपनी हिंसा अपने आप की है। लुटेरेने नहीं। यदि वह लुटेरा अपनी लूटको अकर्तव्य समझ जाय और अपनी ओरसे लूट त्याग दे, तो वह अपनी अहिंसा कर सकता है, लुटनेवाले की नहीं। इसी प्रकार के यदि लुटा जानेवाला अन्तिम चेतना तक लूट का विरोध न छोडे, तो वह लुटेरे के अत्याचारकेन्द्र में भी पूर्ण अहिंसक रह सकता है।

यदि शत्रुता करनेवाला लुटेरेने अपनी मूढतासे उस अहिंसक मनोवृत्ति रखनेवाले मनुष्यको अपने ऊपर वार करने के लिये विवश किया हो और वह कर्तव्यपालन समझ, उसपर वार करे या मार भी डाले, तब भी उस मृत्युका कारण वह अहिंसक मनुष्य नहीं है। किन्तु उसी की मूर्खता मृत्यु का कारण है। उसने अपनीही मूर्खता से उसे अपने ऊपर वार करने के लिये विवश किया है। ऐसे आततायियों को मारनेवाले अहिंसक ही रहते हैं। इस मृत्यु को आततायीकी आत्महत्या नाम दिया जा सकता है।

हिंसा या अहिंसा के विचार में ही सत्यासत्य का विचार भी समाया हुआ रहता है। जिसमें अपनी हिंसा है, वह 'असत्य' है। जिसमें अपनी अहिंसा है, वह 'सत्य' है। यही मनुष्यके कर्तव्याकर्तव्य विचार करनेका सीधेसे सीधा राजमार्ग है। कर्तव्य अकर्तव्य का विचार निरन्तर करते रहना, यह मनुष्यका स्वधर्म या स्वभाव है। परधर्मनिर्णय करने की धृष्टता करना 'हिंसा' है। जब मनुष्य कर्तव्य का काल उपस्थित होनेपर मुझे क्या करना चाहिये? इस आत्मधर्म का योग्य निर्णय करता है, तब वह 'अहिंसा' धर्मका पालन कर लेता है।

शारीरिक रोगों में योग का महत्त्व ।

(श्री स्वामी कुवलयानन्दजी)

श्रीयुत कुवलयानन्द का भाषण 'दैनिक जीवन में योग का स्थान' विषय पर दरबार के गणेशजी के सामने हुवा । ग्वालियर के सम्बन्ध में महाराष्ट्रवालों के अभिमान को प्रगट करते हुए आपने कहा कि मराठशाही गोब्राह्मणप्रतिपालन के लिये ही स्थापित हुई थी । ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मविद्या का अभ्यास करनेवाला और ब्रह्मविद्या का मूल है योगविद्या ।

अब यह योगविद्या परलोक के लिये ही है, या इस लोक के लिये भी, इस सम्बन्ध में आपने कहा कि, प्राचीन लोग यह लोक को भी तुच्छ नहीं मानते थे । इस लोक में सुखपूर्वक रहनेके लिए अच्छे स्वास्थ्य की जरूरत है, जो योगविद्या के द्वारा प्राप्त हो सकता है । आपने कहा कि आधुनिक सभ्यता का परिणाम शरीर पर बहुत बुरा पडा है। आजकल शरीर में कई 'सभ्यता की बीमारियाँ' उत्पन्न हो गई हैं और इनमें मुख्य हैं, कोष्ठबद्धता (constipation)। यह सब जगह फैला है और इसके परिणाम भयंकर होते हैं । ऐसा कोई भी रोग नहीं है, जो कोष्ठबद्धता के द्वारा उत्पन्न न हो सकता हो । इससे मनुष्य की रोग-निरोधक शक्ति क्षीण हो जाती है और वह बडी जल्दी बीमारियों का शिकार हो जाता है । इसके बाद आपने इस संबंध में अपने अनुभव बताते हुए कहा कि, इसका सबसे अच्छा उपाय योग के आसन ही हैं। आपने कहा कि, इस उपाय का अथवा इन आसनों का श्रेय मुझे नहीं है, बल्कि उस प्राचीन पद्धति को है, जो मानवजाति के कल्याण के लिए ही निकाली गई थी।

स्वास्थ्य के लिए आहार का महत्त्व भी आपने बताया । आहार शुद्ध होना आवश्यक है। विपरीत आहार एक प्रकार से मरने की तैयारी है । योगशास्त्र ने भी आहार पर बहुत ध्यान दिया है। क्या खाने से सुख मिलता है, क्या खाने से कष्ट, इसका उसमें विवेचन किया गया है। पर आजकल की सभ्यता में यह शुद्ध आहार कठिन ही हो गया है । चक्की का आटा और मशीन के चावल आदि सभी खाते हैं। यह चीजें भी कोष्ठबद्धता में सहायता पहुंचाती हैं । अतः जहां तक हो शुद्ध आहार पर भी सदा ध्यान देना चाहिये।

शरीरस्वास्थ्य से योग का सम्बन्ध बताते हुए आपने कहा कि, श्वासोच्छ्वास तो सब लोग करते हैं, पर यह बहुत कम लोग जानते हैं कि उसका पचन पर क्या प्रभाव पडता है । यहां आपने अपने साथ आए हुए एक योगाभ्यासी सज्जनको खडा करके पचनक्रिया समझाई। फिर अपने बताया कि, योग के कुछ बन्धों-नौलि और उड्डियान से पेट की स्नायुओं की किस प्रकार कसरत और मालिश होती है और उन्हें बल मिलता है। आपने कहा कि, उन बन्धों के जो एक्स-रे फोटो तैयार किए गये हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इससे पेट के रोगों पर क्या प्रभाव पडता है । इससे एपेन्डीसाइटीज और कोष्ठबद्धता को बडा लाभ पहुंचता है । यहां आपके साथवाले सज्जन ने नौलि और उड्डियान का प्रत्यक्ष दर्शन किया । इसी प्रकार आपने बस्ति का उल्लेख किया और बताया कि, उसके द्वारा किस प्रकार जल से पेट की और आंतों की सफाई हो जाती है और पानी पेट को साफ

करके निकल जाता है। वास्तवमें कहा गया है कि, जिसे वस्ति आ गई, वह आधा योगी हो गया। पानी पीकर मुख के द्वारा निकाल देने का भी आपने प्रदर्शन कराया और कहा कि, इस तरह शरीर के भी अंग साफ हो सकते हैं।

इस के पश्चात् आपने अपने आश्रम का थोडा परिचय दिया और बताया कि किस प्रकार कई प्रांतीय सरकारों ने उसमें दिलचस्पी ली है। अपने प्रयोगों के सम्बंध में कई डाक्टरों की आलोचना का भी आपने उल्लेख किया, जिन्होंने इस पद्धति को अशास्त्रीय बताया था और कहा कि, वास्तव में यह पद्धति अशास्त्रीय नहीं, शास्त्रीय है और अनेक पाश्चात्य डाक्टरों ने भी इसके लाभों को स्वीकार किया है।

अन्त में महल में व्याख्यान का अवसर प्राप्त होने पर आपने प्रसन्नता प्रगट की और कहा कि, शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की उन्नति का साधन योग है।

काया-कल्प।

(लेखक—पं० बालकृष्ण शर्मा वैद्यराज, जीवन-रसायन-कार्यालय, भोपाल

आयुर्वेद और रसायनशास्त्रों में आयुष्य बढाने-वाले सैंकडों प्रयोग छपी और हस्तलिखित पुस्तकों में हैं। परन्तु आज इसकी तरफ भारतीय और दूसरे देशवासियों का ध्यान नहीं पहुंचा, कारण कि पूज्य पं० मदनमोहन मालवीयजी के कायाकल्प से पहले कोई भी इस बात की चर्चा करते थे, तो भी किसी का लक्ष नहीं होता था, परन्तु श्री पं० मालवीयजी ने ही सबों का ध्यान इस कायाकल्प की तरफ आकर्षित किया, जिससे अधिकतर आयुर्वेदशास्त्र के आयुष्यवर्धक रसायनप्रयोगों पर देशीविदेशी जनसमाज की श्रद्धा उत्पन्न हो गई। श्री पं० मालवीयजी ने अपने ऊपर जो प्रयोग कराया है, उस प्रयोग का संपूर्ण वृत्तान्त प्रसिद्ध नहीं हुआ, याने आरंभ से अन्त का विवरण नहीं छपा है, उसके ऊपर से और उसका जो परिणाम निकला है, उसको देखते हुए मालूम होता है कि, यह प्रयोग पूर्ण सफल नहीं हुआ, जिसका कारण हमारी समझ में शास्त्रीय विधिकी अपूर्णता हो सकती है। या श्री०मालवीय-जी जैसे प्रसिद्ध पुरुष के ऊपर शंकित भाव से धीमे धीमे प्रयोग कराया होय, ऐसे अनुमान के लिए नीचे लिखे हुए पांच कारण हो सकते हैं-

(१) इस प्रयोग को करने के पहले स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि देहशुद्धि की क्रियाओं को करना चाहिये, जिसके पश्चात् औषधिसेवन करने के लिए कुटीप्रवेश करना। श्री मालवीयजी के ऊपर यह क्रियायें करके देहशुद्धि न की हो। 'अविशुद्धे शरीरे हि युक्तो रासायनो विधिः। वाजीकरो न मलिने वस्त्रे रंग इवाफलः॥' जिस तरह मैले कपडे पर रंग सुन्दर नहीं चढ सकता, ठीक उसी प्रकार देहशुद्धि-कर्म करने के बगैर रसायन या वाजीकरणप्रयोग निष्फल ही होते हैं।

(२) इस रसायनप्रयोगों के लिये हिमालय को बहुत उत्तम समझा है अथवा हिमालय-प्रदेश की वनस्पतियों को सेवन करने की आज्ञा है।

औषधीनां परा भूमिर्हिमवान् शैल उत्तमः।
तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि च॥

इस तरह पलास और आंवलों का मुख्य प्रयोग उन पर किया गया है, वही औषध हिमालयन नहीं होंगी, ऐसा मालूम पडता है।

(३) कुटीप्रवेश करने से पहले जो जो मंगल क्रियाएं करने का शास्त्रों में विधान है, उनमें शिखावशेष-मुंडन, डाढी, मूंछतक हजामत करने की शास्त्रों में आज्ञा है। श्री मालवीयजी अपना प्रयोग पूर्ण होने के पश्चात् बाहिर निकले, उस वक्त उनकी मूंछें पहले जैसीही सफेत थी, इससे मालूम होता है कि कुटीप्रवेश करने के पहले जो जो क्रियाएं शास्त्रकारों ने लिखी हैं, उनकी अवहेलना की गई है।

(४) जो प्रयोग आंवला और पलास का किया गया है, वह यदि विधिवत् होता तो-

एकादशोऽस्य ततो व्यतीते पतंति केशा दशना
नखाश्च॥

ग्यारह दिन बीतने पर उस पुरुष के बाल, दांत, और नख निकलकर नवीन ऊगने लगते हैं। ऐसा इस प्रयोग का गुण लिखा है, परन्तु श्री मालवीय-जी के शरीर में ऐसा कोई विशेष परिवर्तन देखने में नहीं आया, मात्र स्फूर्ति आ गई है, त्वचा की झुर्रियां कुछ कम हो गई हैं, तथा नेत्रों में कुछ तेज आ गया है। इस थोड़ेसे फेरफार से प्रयोग

की सफलता का चिह्न नहीं अथवा कायाकल्प के दूसरे प्रयोगों से भी इतना फेरफार हो सकता है।

(५) प्रयोग करनेवाले महात्माजी की १५० वर्ष की या इससे भी अधिक की उमर क्यों न हो, तथा उन्होंने ३-४ वार रसायनप्रयोग अपने ऊपर किया हो, परन्तु हमारी समझ में नहीं आता, कारण कि उनके शरीर पर सफेद बाल हैं। इसलिए रसायनप्रयोगी पुरुष जरा-वृद्धावस्था के प्रत्येक चिह्न से रहित होना चाहिए। यह उपरोक्त पांच या दूसरे कारणों को देखते हुए श्री पं० मालवीयजी के ऊपर रसायनप्रयोग सफल नहीं हुआ। उस प्रयोग के लिये समाचारपत्रों में कितना ही हल्ला मचा हो, परन्तु रसायनप्रयोग की पूर्ण सफलता नहीं मान सकते हैं।

इस विवेचन से हम रसायनप्रेमी लोगों का विश्वास हटाना नहीं चाहते हैं। प्रत्युत इसको उन्नत करना चाहते हैं। कारण कि इस प्रयोग के बाद श्री पं० मालवीयजी के दर्शनार्थ देशविदेश से सैंकडों मनुष्य दौडे आये होंगे, उस समय समाचारपत्रों में इसकी बडी चहलपहल थी, तथा बडी बडी प्रशंसाएं छपा करती थीं, वे प्रशंसाएं ठीक न दिखीं हों, तो उनके मन में आयुर्वेद-शास्त्र के रसायनप्रयोगों पर अश्रद्धा उत्पन्न होना संभव है। ऐसे अविश्वास को हटाने तथा वृद्धावस्था को दूर कर सैंकडों वर्ष की आयुवृद्धि की इच्छावालों के लिये सच्चा मार्ग क्या है? शास्त्रीय पद्धति क्या है? वह सब संक्षेप से बतलाने का प्रयत्न किया जायगा। वृद्धावस्था रोकने के और आयुष्य, बुद्धि, मेधा, बल, बढानेवाले प्रयोग चरकादि संहिताओं में वानस्पतिक हैं और रस-रत्नाकर आदि रसायनशास्त्र के ग्रन्थों में पारद, गंधक, धातुभस्मादिक के योगों का वर्णन है। वानस्पतिक प्रयोग मानुषी प्रयोग कहलाते हैं और पारदादि से बने प्रयोग दैवी देवताई प्रयोग कहलाते हैं। जो राजा, महाराजा अथवा श्रीमंत ऐसे शास्त्रीय रसायनप्रयोगों का सेवन कर अपने शरीर को दीर्घायु प्राप्त करने, वृद्धावस्था को नष्ट करने, बल, कान्ति, वीर्य और सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति तथा ओज तेज को कायम रखने की इच्छावाले लोगों को हम यथाशक्ति रास्ता बताने तथा कायाकल्प सफल हो, ऐसे साधनों का विवरण करने का विचार किया है। जिन प्रयोगों का हम नीचे वर्णन करते हैं, वह सभी प्रयोग निर्दोष तथा किसी भी प्रकार से शरीर को कष्टकर नहीं हो सकते हैं। हां उनके साथ साथ लिखे पथ्यापथ्य का ध्यान जरूर रखना चाहिये।

काया-कल्प।

कायाकल्प-रसायन।

इस छोटेसे लेख में विस्तारभय से श्लोकों को छोड देना पडा है, परन्तु जो जो वर्णन इस लेख में है, वह शास्त्र के आधार पर ही है।

हाल में रसायन शब्द से कायाकल्प अधिक प्रसिद्ध हो गया है, इसलिए जहां कायाकल्प शब्द आवे, वहां आयुष्य, बुद्धि, बल, कांति बढाने-वाले, वृद्धावस्था को रोकनेवाले रसायनप्रयोग जानना।

वृद्धावस्था क्यों आती है।

हलका खुराक, खट्टे, खारे, तीक्ष्ण क्षारवाले सूखे शाक-पत्र, मांस, तैल के पदार्थ, मेदा की वस्तुएं, नये अन्न, प्रकृति के विरुद्ध रूखे भोजन, शरदी, कफकारी पदार्थों के खानेवाले, सडे, बिगडे रात के बासे पदार्थों के खानेवाले, स्त्री और मदिरा में शराबोर रहनेवाले, अयोग्य और अधिक व्यायाम करके शरीर को शिथिल करनेवाले, भय, क्रोध, शोक, लोभ, अति परिश्रम करनेवालों का मांस लटक पडता है, संधियां ढीली पड जाती हैं, रक्त में उष्णता आ जाती है, चरबी बढने लगती है, हड्डियों में मज्जा जाना रुक जाता है, वीर्य बढना रुक जाता है, ओज क्षीण हो जाता

है, इसके बाद इस दशा को पहुंचे हुए मनुष्यों को चैन नहीं पड़ती है, कष्ट पाते हैं, निद्रा, तन्द्रा घेरे रहती हैं; सदा निरुत्साही होकर जीता है, मन व शरीर की परिश्रमशक्ति नष्ट हो जाती है, उसकी स्मरणशक्ति और कांति नष्ट हो जाती है, साफ साफ शब्दों में यह कहना ठीक होगा कि, शरीर रोगों का घर ही बन जाता है, जिसके कारण पूर्णायु तक जीवित रहना असंभव हो जाता है। इसलिए शरीररक्षा के लिए ऊपर के मिथ्या आहारविहार का विचार कर तथा उनका त्याग करके मनुष्यों को रसायन औषधियों का विधिवत् सेवन करना चाहिये।

इस प्रकार पुनर्वसु आत्रेय महाराज का उपदेश है।

रसायन-कायाकल्प की व्याख्या।

(चरक चि० स्था० अ० १)

लंबी आयु, उत्तम स्मरणशक्ति, आरोग्य, तरुणावस्था, कान्ति, रूपलावण्य, सुकोमल स्वर, शरीर तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों का बल, वाणी की सिद्धता, नम्रता, यह सब कायाकल्प के सेवन से प्राप्त हो सकते हैं।

कायाकल्प के पहिले की तैयारी।

प्राचीन ऋषियों ने रसायनसेवन करने के लिए दो प्रकार की विधि बतलाई हैं। कुटी-प्रावेशिक और दूसरी वातातपिक अथवा सूर्यमारुतिक। कुटी-प्रावेशिक प्रयोग कुटी में रहकर करने का है और दूसरा पवन, धूप आदि खुले स्थानपर रहकर करने का है।

कुटी-प्रावेशिक रसायन सेवन करनेवाला कैसा होना चाहिये?

(चरक० संहिता चिकित्सा स्थान अ० १)

जो सत्यवादी, क्रोधरहित, मदिरा और स्त्री-संग तजनेवाले, अहिंसक, अधिक परिश्रम और कसरत न करनेवाले, शांत वृत्तिवाले, प्रिय भाषण करनेवाले, पवित्र रहनेवाले, धीर, दानी, तप के प्रेमी, देव, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु और वृद्धों की सेवा करनेवाले, शांतिपरायण, दयालु, दिन में न सोनेवाले, रात्रि में न जगनेवाले, घी, दूध हमेशा खानेवाले, देशकाल को पहचाननेवाले, युक्तिप्रयुक्ति समझनेवाले, अहंकाररहित, सुन्दर आचरणवाले, कुलवान्, तत्त्वज्ञानपरायण, वृद्ध, आस्तिक और जितेन्द्रिय पुरुषों की सेवा करनेवाले, धर्मशास्त्र में रत ऐसे गुणवाले मनुष्य स्वयं रसायनरूप कहनेयोग्य हैं। अर्थात् ऐसे गुणवाले परन्तु उपरोक्त सद्गुणों को सेवन करनेवाले पुरुष ही रसायन औषधियों का फल पा सकते हैं।

कायाकल्प के लिए स्थान।

जिस देश में राजा, वैद्य, ब्राह्मण, साधु पुरुष, पुण्यवान् मनुष्योंका वास हो, ऐसे प्रदेशमें कायाकल्प साधना। जिस स्थान में निर्भय ही गुणवान् पुरुष रहते हों, आवश्यकीय वस्तुएं उपलब्ध हो सकती हों, ऐसे शहर के पास ही उत्तर दिशा की तरफ जो गांव हो तथा उस गांव में भी उत्तर दिशा की तरफ सुन्दर रमणीय स्थान पर कुटी बनावें।

कुटी की दीवारें ऊंची और १ हाथ मोटी ऐसी बनावें, जिसके तीन खंड हों, जिनमें छोटी छोटी खिडकियां रखना चाहिए, दीवारें मिट्टी की ही बनाना चाहिए। बाहर के अप्रिय शब्द कोठरी में न सुनाई देवें, इसका प्रबंध रखना; स्त्री, दुष्ट, अनिष्ट चाहनेवाले तथा कोई भी फालतू आदमियों को नहीं आने देवें तथा सब प्रकार के साधन-सामग्री और जरूरी चीजों को तैयार रखना। वैद्य, औषधी और वेदपाठी ब्राह्मणों को हाजिर रखना। धुंवा, सूर्य की धूप, घोडा, सर्प, मूर्ख मनुष्य कुटी के पास न आ सकें। कुटी की दीवारों को सफेद मट्टी से पोत देवें, गौ के गोबर से लीप देवें; अब यह कुटी कायाकल्प के लिए उपयुक्त हो गई। कुटी का १ खंड मलमूत्रादि के लिए

रखें, दूसरे में आवश्यक वस्तुएं रखें, तथा तीसरे खंड में कल्प करनेवाले को रखें।

कुटीप्रवेश करने के पहिले और पीछे के नियम।

कायाकल्प करनेवाले साधक को जब सूर्य उत्तरायण हो, तिथि, नक्षत्र, करण आदि शुभ हों, उत्तम दिन हो, शुभ मुहूर्त देखकर शिखा छोडकर उसतरे से क्षौर कराकर कुटी में प्रवेश करने के पहले शरीर पर तैल की मालिशविधि प्रमाण करावें, पीछे औषधीद्वारा स्वेद (पसीना) करावे। इसके बाद औषधी से वमन करावें, इसके बाद जुलाब करावें, कोठा शुद्ध होनेपर ३-५ या ७ दिन तक जौ का दलिया खिलावें, जिससे पुराना मल निकल जावे, इसके बाद स्नान कर श्वेत वस्त्र की धोती आधी पहन और आधी ओढकर कुटी में प्रवेश करें।

साधक को ब्रह्मचर्य धारण करना, धैर्य रखना, वैद्य और औषधियों पर श्रद्धा रखना, इन्द्रियों को वश में रखना, सुपात्र ब्राह्मणों को दान देना, दया रखें, सत्य बोलें, व्रती और धर्मपरायण रहना, देवीदेवताओं का स्मरण करते रहना, निद्रा नियमित रखना, मंद हास्य से मधुर भाषण करना, क्रोध, राग, द्वेष, ईर्षा, मत आदि मानसिक दोषों को त्याग देवें, प्राणीमात्र पर स्नेह रखना, ब्राह्मणों और देवताओं की पूजन-प्रदक्षिणा करके कुटी में प्रवेश करें।

इत्थं संशुद्धकोष्ठस्य रसायनमुपाहरेत्।
यस्य यद्योगिकं पश्येत्सर्वमालोच्य सात्म्यवित्॥

प्रथम साधक उदर शुद्ध करावे। बाद में मनुष्य की प्रकृति को देखकर जिस रसायन औषधी को उपयुक्त समझें, उसीका विधिवत् सेवन करावें, कुटी का द्वार उत्तर या पूर्व दिशा में रखें।

श्री पार्वतीपुत्र नित्यनाथ सिद्धजी अपने रसायन खंड में वर्णन करते हैं।

निर्वात स्थान में रहना, यदि सुविधा हो, तो जमीन में प्रकाश और थोडी वायु का आवागमन हो सके, ऐसी गुफा सी बनाकर रहना। चिन्ता, मानसिक उपाधि मन में न रखना; इन्द्रियों को वश में रखना। क्रोध न करना, दूध, भात, यव, गेहूं, मूंग का पानी, जंगली जानवर का मांस, (यह आज्ञा मांस खानेवालों के लिए है) अथवा केवल दूध का ही सेवन करें, हरी शाक और लवण नहीं खावें। दही का पानी शरीर पर मलकर उष्ण जल से स्नान करें, शरीर पर तैल का मर्दन करना नहीं, सिरका खारे, खट्टे पदार्थ तथा मदिरा, दही, तरबूज, करेला, खट्टे शाक, तैल, कुम्हडा, कद्दू, राई, बेलफल, बैंगन, दाल, मूली, लहसन, प्याज, तीक्ष्ण, गरम, भारी, ठन्डे आदि पदार्थों का त्याग करना। मैथुन, क्लेश, उद्वेग चिन्तादि से बिलकुल दूर रहना।

पण्डित श्री मालवीयजी की पलाशामलकीय रसायन।

(अष्टांगहृदय संहिता उ० स्था० अ० ३९)

ऐसा पलाश वृक्ष जिसको कीडों ने न खाया हो, तथा कोई मनुष्य ने काटा पीटा न हो, न उसकी जड खोदी गई हो, ऐसा निरोगी वृक्ष देखकर उसको जमीन से नापकर अन्दाजन तीन हाथ ऊंचा रखकर ऊपर का भाग आरा से काट देवे, तथा उस कटे हुए थड में डेढ हाथ गहरा छेदा करावे। यह छेदा चौडाई में ९-१० अंगुल होना चाहिए, तथा उसके चारों तरफ लाल व लकडी की मुटाई भी तीन तीन अंगुल रखना चाहिए। अब इसके खड्डे में जितने भी आ सकें, उतने बडे बडे और खूब पके हुए आंवले भरकर उसी लकडी में से निकले हुए बूरे से ढांप देवें, तथा उस सब पलास के थड पर डाभ (घांस) लपेटे याने चारों तरफ ३-३ अंगुल मोटा डाभ का लपेटा देकर, कमल पैदा होता हो, ऐसे तालाब की मिट्टी लाकर उसपर लेपे तथा उसपर पलास की जड का बक्कल लपेट देवे तथा चारों तरफ उसके चार दीवारें पेड पत्तों की इतनी ऊंची

बनावे कि पलास के थड को चारों तरफ से हवा न लगे तथा इतनी दूरी पर इन दीवारों को खडी करें कि, थड से चार चार हाथ दूर रहें। अब इस थड के चारों तरफ की मट्टी खोदकर जमीन से ॥।-२ हाथ गहरा गड्डा करके उसमें चारों तरफ अरने उपले इतने भरें कि, थड का ऊपरवाला भाग १ बालिश्त खुला रहे। अब इसमें चारों तरफ से अग्नि लगा देवें और अन्दाज रखें कि, अन्दर के आंवले पूरी तरह से उसीज जावें, परन्तु जलें नहीं।

जब अन्दाज हो जावे कि थड के ऊपर की मट्टी अग्नि से लाल होकर डाभ को जलाने लगी है, उसी वक्त लकडी के डन्डे से अग्नि को अलग कर देवे और यदि अग्नि कम मालूम होवे, तो उपले लगा दे। जब आंवले अच्छी तरह उसीजे समझें, तब निकालकर उसको तोले। उसकी तोल के बराबर शहद तथा आधी तोल घी गौ का मिलाकर चीनी के बर्तन में भरकर रख लेवे। अब इसमें से प्रातः सायं इच्छानुसार आंवले खाकर ऊपर से थोडी शकर मिलाकर दूध ताजा गौ का पियें (दूध को थोडा गरम करके ठंडा कर लें)। इस प्रकार यह मधुघृतयुक्त आंवले और दूध का बराबर एक महीना तक सेवन करें और कुछ भी न खावें न पियें। ठन्डे पानी को छुयें भी नहीं, तथा पांव धोने और स्नान करने के लिये गरम पानी ही इस्तेमाल करें।

इसका फल— उपरोक्त विधि से बराबर ग्यारह दिन सेवन करने से सफेद बाल, दांत और नख निकल जाते हैं और क्रम क्रम से नये काले बाल, दांत और नये नख निकलना आरंभ हो जाते हैं और थोडे दिन बाद हाथी जैसा बलवान् हो, तथा बुद्धि, बल, मेधा और पराक्रम बढता है। यदि शरीर में कोई असाध्य रोग हों, वे भी सब नष्ट हो सहस्र वर्ष की आयु प्राप्त होती है, ऐसा इसका महत्व महर्षियों ने लिखा है। हमारे विचार से प्रत्येक दस वर्ष में इसी प्रयोग को करनेवाले आरोग्य दृढ कायम रहकर बहुत समय तक जीवित रह सकते हैं।

कायाकल्प ब्रह्मरसायन ।

(अ० हृ० उ० अ० ३९)

बडी हड १००० नग, ताजे आंवले ३००० नग, पंचमल १००० तोला, सबसे दसगुने पानी में डालकर पकावें और दशांश भाग रहनेपर मलकर वस्त्रगाल कर लेवे। फिर उसमें इलायची, नागरमोथा, हल्दी, पीपल, अगर, चन्दन, ब्राह्मी, नागकेसर, शंखपुष्पी, वच, तगर, मुलेठी और वायविडंग प्रत्येक १६ तोले, शकर ४४०० तोले, घी गौ का ७६९ तोले, तिल का तेल ५१२ तोले इन सबको मिलाकर इतना पकावें कि, अवलेह से भी कठिन हो जावे। तब उतारकर ठन्डा होनेपर इसमें उत्तम मधु (शहद) १२८० तोला मिलाकर सबको एक जानकर चांदी के या चिकने मट्टी के बर्तन में रख लेवें। इसमें से प्रातःकाल इतनी मात्रा में खावें कि, क्षुधा नष्ट न हो जावे। इसके पचने के बाद दूधभात का भोजन करें।

वैखानस और वालखिल्य ऋषियों ने तथा अन्य तप करनेवाले ऋषि-मुनियों ने इस ब्रह्मरसायन का सेवन किया था, जिससे तन्द्रा, सुस्ती, श्रम, वलि, पलितरहित युवावस्थावाले तथा बुद्धि, मेधा, स्मृतियुक्त और दीर्घकाल तक अमर्याद आयुष्य और पराक्रमवाले हुए थे।

इसी प्रकार— (१) आंवले, हर्ड और पलाश, (२) आंवला, बहेडा और पलाश (३) हर्ड, बहेडे और पलाश, (४) हर्ड, बहेडे, आंवला और पलाश इनमें से कोई भी प्रयोग को विधि से पकाकर दही, घी, मधु, शकर के साथ सेवन करना और पचने पर दूधभातका भोजन करना।

यह ऊपर जितने भी प्रयोगों का वर्णन है, वे सभी कुटी-प्रावेशिक प्रयोग हैं। ऐसे ही सैंकडों प्रयोगों का वर्णन लिखा है। परन्तु ऊपर हमने जिन जिन प्रयोगों का वर्णन किया है, वह भी कम

महत्त्व के नहीं हैं। पाठकोंकी रुचि होगी, तो दूसरे प्रयोगोंपर भी प्रकाश डालनेकी चेष्टा की जावेगी।

वातातपीय कायाकल्प।

(अ० ह० अ० ३९. उ० स्था०।)

याने यह प्रयोग खुली हवा प्रकाश में सेवन कर सकते हैं। कुटी-प्रावेशिक रसायनप्रयोगों को राजेमहाराजे, श्रीमंत, सेठ, साहूकार और धनवान् पुरुष ही सेवन कर सकते हैं। कारण कि कुटी-प्रावेशिक प्रयोगों में यथोचित नियमपालन न किया जाय, तो उससे शारीरिक हानि की संभावना निश्चय है, तथा साधारण स्थिति के मनुष्य इनका सेवन नहीं कर सकते, परन्तु सामान्य स्थिति के मनुष्य खुल्ली हवा और प्रकाश में रहकर भी जिन प्रयोगों को सेवन कर सकते हैं, उन प्रयोगों के सेवनकाल में साधारण भूल से पथ्यापथ्यका उल्लंघन हो जावे, तब भी शरीरको कोई प्रकार की हानि की संभावना नहीं रहती।

ऐसे प्रयोगोंको वातातपीय अथवा सूर्य-मारुतिक कहते हैं। जिनमेंसे कुछ प्रयोग नीचे दिए जाते हैं।

प्रयोग सं० १— लोहभस्म, वायविडंग, मधु और घी इन सबों को बीजेसार घनसत्त्व से पोते हुए कोरे मट्टी के बर्तन में भरने का है, जिसका ठीक ठीक प्रमाण निम्न प्रकार समझें-

लोहभस्म २० तोला, वायविडंग ४० तोला, मधु १० सेर, घी ५ सेर, सबको भरकर मुख मुद्राकर १ वर्षपर्यन्त रखें और १ वर्ष बाद निकालकर शरीर और प्रकृतिके अनुकूल मात्रासे सेवन करे, तो सफेद बाल काले हों, सौ वर्ष की आरोग्यदृढ देह हो।

प्रयोग सं० २—विजयसार का घन सत्त्व २ मासे, त्रिफला ४ मासे तथा रुचि अनुसार घी, शकर और मधु मिलाकर १ वर्ष तक सेवन करने से अकालमें आई हुई वृद्धावस्था नष्ट हो जाती है।

प्रयोग सं० ३—भृङ्गराज (भांगरा) का स्वरस १ तोलेसे आठ तोलेतक नित्य १ महीना पियें और केवल दूधके आहार पर ही रहे, तो बलवीर्यकी वृद्धि हो निरामय १०० वर्षकी आयु प्राप्त होती है।

प्रयोग सं० ४—श्वेत पलाश का पंचांग ले छाया में सुखाकर चूर्ण बना नित्य १-१ तोला मधु में मिलाकर खावें और दुग्धभात का भोजन करें, तो १ वर्ष में मृत्यु (अकालमृत्यु) वृद्धावस्था पर विजय प्राप्त कर सिद्ध होता है। लिखा है कि-

मासान्मृत्यु। महायुर्जायते सिद्धो वर्षमात्रा-न्नसंशयः।

प्रयोग सं० ५—श्वेत पलाश बीज तैल को अल्प मात्रासे आरंभ कर आधा तोलातक मात्रा पहुंचे, तबसे बराबर १ महीना तक मधु-घीके साथ इस तैल का सेवन करे, तो योगीसमान प्रतापवान् हो, दीर्घायु प्राप्त कर देवासुरोंका प्रिय बनता है।

प्रयोग सं० ६—मालकांगणी का तैल दूध के साथ बराबर १२ मास पीवे, तो दिव्य देह हो यक्ष, गन्धर्व और देवताओं को प्रिय हो, सैंकडों वर्ष की आयु प्राप्त हो, महापराक्रमी हो। इसी प्रकार आश्चर्यकारी फल वनस्पतियों का विशद वर्णन आया है।

रसमाधव में भी रसायन के कई प्रयोगों का वर्णन है, उनमेंसे एक सीधासाधा प्रयोग निम्न है-

मृत्युंजय रस।

पारद गंधक के विशेष संस्कार करने के बाद वालुका यंत्र में ३ दिन की अखंड अग्नि दे तैयार करें, तथा इसमें से १-१ रत्ती मधु, घी के साथ १ वर्षपर्यंत सेवन करने से वृद्धावस्था नष्ट हो, युवावस्था प्राप्त होती है, तथा शरीर पुष्ट हो, ओज तेज बढकर कामदेवसा रूप होता है। इसी प्रकार आयुष्य, बुद्धि, बल बढानेवाले, वृद्धावस्था वलिपलित नष्ट करनेवाले, कांति, शक्ति, स्मृति बढानेवाले, आकाश में गमन करानेवाले, दिव्य दृष्टि देनेवाले सैंकडों प्रयोगों का वर्णन रसायनशास्त्र व तंत्रशास्त्र में लिखे हैं।

किन्तु कायाकल्प शब्द का आज दिन प्रयोग अधिक रूप में सुनाई पड रहा है, अतएव इसके लिए ग्रंथाधार आयुर्वेद में क्या है, वह जनता के सामने स्पष्ट रूप में रखने का एकमात्र प्रयोजन इस लेख के लिखने का है।

वेद आर्षेय ज्ञान है।

(वैयक्तिक मत।)

(लेखक- श्री० अर्जुनदेव अग्रवाल, मोगा-पंजाब)

मेरा संक्षिप्त जीवनचरित्र इस प्रकार है। मैं 'अग्रवाल' वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ। मेरा जन्म लगभग १९६० विक्रमी में हुआ। जन्मकालसे अस्वास्थ्य था। तीसरी श्रेणी में बाईं टांगपर (घमीर) नसूरका फोडा निकला और लगभग ८ वर्ष उसके दुःखसे कष्ट रहा। अधिक समय तक रोगी रहनेके कारण और माता-पिताके दूर रहने से विशेष कष्ट भोगना पडा। दिमाग कुछ चिड-चिडा हो गया और लाड-प्यार में न पलनेसे सम्बन्धियों में मोह कम हो गया, संसारसे कुछ उदासीनता हो गई। कुछ धर्मकी ओर रुचि हुई।

माता-पिताके विचार न ही सामाजिक और न ही सनातन धर्म के थे। कुछ 'जपजी-साहिब' तथा रौहरास का पठन आरम्भ कर दिया, क्योंकि मेरे चाचाजी जिनके पास प्रारम्भिक पांच श्रेणी तक पढा और पालनपोषण हुआ सिक्ख मतसे सम्बन्ध रखते थे।

इसी टांगके इलाज के लिये और विद्या भी मिलती रहे, डी. ए. वी. स्कूल लाहौर में छठी श्रेणी में प्रवेश किया। आर्य-समाज का पता लगा, हिन्दी संस्कृत पढनी आरम्भ कर दी। धर्म में रुचि प्रबल हो गई। मनमें विचार हुआ कि वेदादि सत्यशास्त्रों को पढकर समय व्यतीत करना चाहिये। पढनेमें बडा मन लगा। ७-९ वीं श्रेणी तक तो मोगा में पढता रहा और १० वीं श्रेणी में फिर डी. ए.वी. स्कूल में प्रवेश किया। ९, १० वीं श्रेणी में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का स्कालरशिप मिलता रहा। ऐफ. ए. की परीक्षा के सम्बन्ध में डी. ए. वी. कालिज कमेटी का स्कालरशिप (एफ. ए. की संस्कृत योग्यता में) थर्ड ऐण्ड फोर्थ ईअर में १०) रु० मासिक मिला। परन्तु संस्कृत में अधिक रुचि होनेके कारण बी. ए. में फेल हो गया और पास न कर सका। सन् १९२९ से १९३८ अर्थात् आज तक संस्कृतका स्वाध्याय बराबर जारी है। काशी, हरिद्वार आदि भी भ्रमण किये।

सन् १९२१ में, पूज्य बडे भाईने बैंककी नौकरी ६०-५-१०० रु० की लेकर दी। तीन वर्ष पर्यन्त बैंकमें काम किया। मन उक्ता गया, नौकरी छोड दी। रिश्तेदार, भाईबन्धु सब विरोधी बन गये। मन शान्त रहा, सब दुःख झीले परन्तु शास्त्रोंकी लग्न लगी रही। इस कालमें (सन् १९२३-१९३८ तक) चार पांच सौ पुस्तक गूढ विषयोंपर अच्छे अच्छे लेखकों के मैंने पढे। बी. ए. में पाश्चात्य दर्शन एक आधयेय विषय था, इसलिये अन्य पाश्चात्य विद्वानोंकी पुस्तकों का अच्छा स्वाध्याय किया। कालिजकी लायब्रेरीका तो क्या कहना, 'पंजाब यूनीवर्सिटी लाएब्रेरी' तथा 'पञ्जाब पब्लिक लायब्रेरी' छान मारी। 'पञ्जाब पब्लिक लाएब्रेरी' लाहौर का तो कई वर्षों तक मैं मेम्बर भी रहा हूं और सब शैल्फों की अच्छी देख भाल की हुई है।

पाश्चात्य विद्वानों डारविन, हीगल, कैन्ट आदिके विचारों का भली भान्ति अवलोकन किया। संस्कृत भाषाके अच्छे अच्छे ग्रन्थ भी देखे। ब्राह्मण सूत्र ग्रन्थ आदिको आंग्ल भाषा के अनुवादों द्वारा पढा। व्याकरण में सब से पहले लघुकौमुदी पढी। फिर लाहौर में सिद्धान्त पढता रहा। परन्तु मन चाहता था कि किसी प्रकार अष्टाध्यायी पढी जाये ताकि वेदके साहित्यको पढूं। स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। मनमें उत्साह बढता गया और काम चलता रहा। आज अष्टाध्यायी को भली प्रकार आधुनिक शिक्षा-प्रणाली

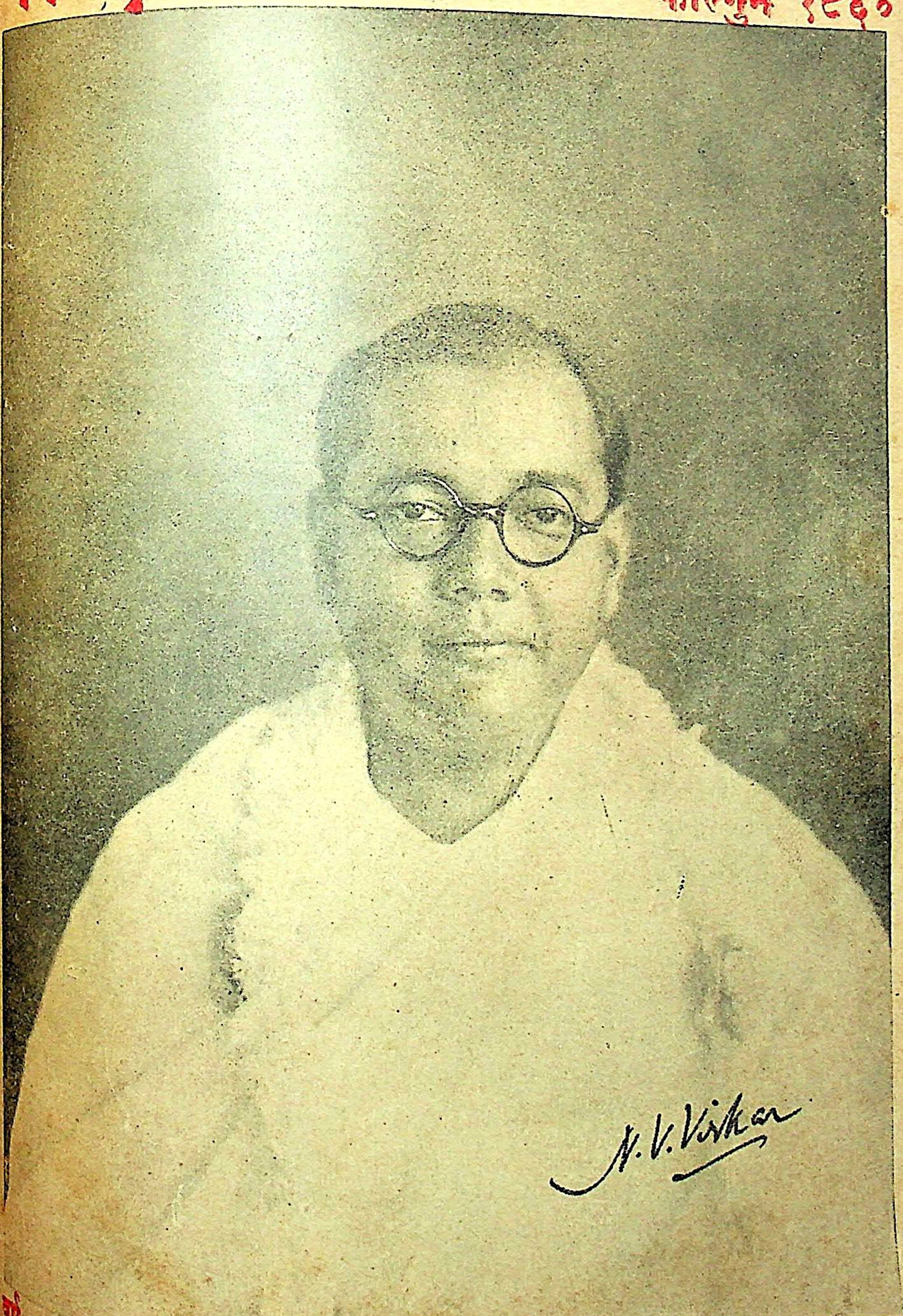
के सुगम सिद्धान्तों द्वारा लगभग दो वर्षों में पढा और बोध करवा सकता हूं । यदि हो सके तो कोई पब्लिशर मेरेको उसका हिन्दी अनुवाद करनेमें सहायता दे ताकि मैं आर्य जनता तथा वेदाभिलापियों को दिखला सकूं कि अष्टाध्यायी के पढे बिना वेदों तथा वैदिक साहित्य (ब्राह्मण, सूत्र-ग्रंथादि) का स्वाध्याय कितना कठिन और इसके पढनेसे कितना सुगम हो जाता है । जहांपर सिद्धान्त के विद्यार्थियोंको व्याकरण का प्रत्येक विषय अगम्य और अथाह दीखता है, वहांपर अष्टाध्यायी के पाठी को कैसे प्रत्येक विषय सीमाबद्ध और सुगम हो जाता है । किस प्रकार सारीकी सारी अष्टाध्यायी एक माला की भांति लडी से लडी गुंथी हुई प्रतीत होती है । मेरा अपना विश्वास है कि यदि अष्टाध्यायी मूल न भी कण्ठ की जावे तो भी उसी सुगमता से उसको पढ सकता है, बल्कि बिना विद्वान्के पढाये, स्वयं कण्ठ करनेवाला सूत्रोंका अशुद्ध पाठ कण्ठ कर लेगा और पढते समय अष्टाध्यायी के सूत्रोंका बोध क्रमपूर्वक रहेगा। हां! यद्यपि विद्वान्से उच्चारित की हुई कंठ की जावे तो अवश्यमेव ॥=) का लाभ होगा जो कि मूल अष्टाध्यायी का मोल है । प्रत्येक पुरुष अपनी प्रत्येक अवस्था में इसको पढ सकता है।

इस सारे कष्टमय जीवनको व्यतीत करता हुआ और इस स्वाध्याय के पश्चात् ऐसा समझता हूं और मानता हूं कि वेद ऋषिकृत, काव्य का ग्रन्थ है । वेदों में विशेष प्रकार से ईश्वरका दिया हुआ ज्ञान नहीं है, किन्तु ऋषिजनों के मनन किये हुए छन्दोबद्ध विचार हैं। सारे संसारकी लाएब्रेरियोंमें सबसे पहली पुस्तक वेद है और वह केवल ऋग्वेद है । उसके मन्त्रों को कांट छांट कर यथावश्यक अन्य तीनों वेद रचे गये । ब्राह्मण तथा सूत्र ग्रंथ याज्ञिक काल में विद्वान् लोभी तथा निर्लोभी ब्राह्मणों के समयानुकूल लिखे हुए हैं। अथर्ववेद में मनन करने योग्य विषय हैं। ऋग्वेद के गाये जानेवाले मन्त्रों का संग्रह सामवेद में है। यजुर्वेद प्राचीन आर्यों के यज्ञोंकी पद्धति है। ऋग्वेद में ऋषियों के विचार भिन्न भिन्न विषयोंपर छन्दोबद्ध हैं । ऋग्वेद से हमको प्राचीन आर्योंकी सभ्यताका दिग्दर्शन होता है। यदि फिर समय मिला तो प्रमाण सहित ऊपर के विचारों का मण्डन करूंगा।

यदि सम्पादकजी की अनुज्ञा हुई तो यह दिखलाने का प्रयत्न करूंगा कि आधुनिक आर्यसमाजें स्वामी दयानंद जी के विचारों तथा मंतव्यों से कितनी दूर हैं। हमारे गुरुकुलों, पूज्य संन्यासियों का उद्देश्य और उनके रचे हुए आडम्बर भी आपके सम्मुख रखूंगा ताकि आपको ज्ञान हो सके कि पञ्जाबकी आर्यसमाजें तथा उनके सभासद कहां तक वेदसे प्रेम रखते हैं। इतना अवश्यमेव कहना चाहता हूं कि पञ्जाबमें ऋषिका उद्देश्य पीछे छोड दिया गया है और प्रत्येक आर्य पार्टीबाजी में पडकर किस किस प्रकार सामाजिक टट्टीकी आडमें रुपै बटोरनेका खेल खेल रहा है । इस समय समाजकी नौका पञ्जाबमें अवश्यमेव मंझधार में पडी हुई है। संन्यासी पेटू बन चुके हैं। आर्यसमाज के नामपर बडे बडे मठ खडे हो चुके हैं।

वैदिक धर्म।

मार्च १९३९
फाल्गुन १९९५



श्री० बाबू सुभाषचन्द्र बोस

वर्ष २०, अंक ३] [क्रमांक २३१

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

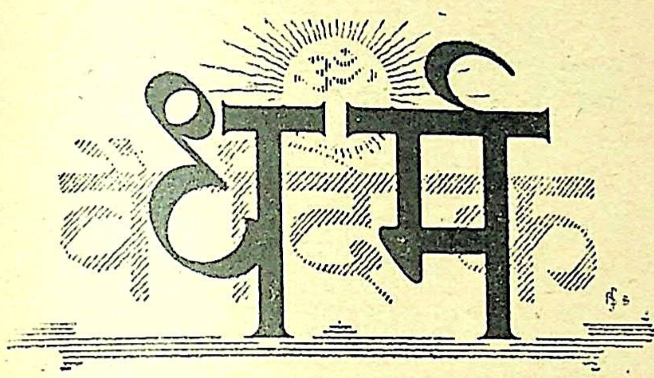
स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २०] [अङ्क ३

विषयानुक्रमणिका।

वर्ष २०
अंक ३
क्रमांक २३१



फाल्गुन
संवत् १९९५
मार्च
सन १९३९

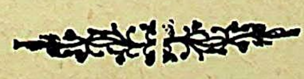
संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर । सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार ।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

ईश्वर का व्रत !

यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रत उपतिष्ठन्त आपः ।
यस्य व्रते पुष्टपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे ॥ १ ॥
(अथर्व० ७।४०।१)

जिसके नियम में सब पशु चलते हैं, जिसके नियम में सब जल बहते हैं, जिसके नियम में पोषणकर्ता कार्य करता है, उस जिवनदाता ईश्वरकी हम अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं ।

एक ईश्वर के आधीन सब स्थिरचर विश्व है, पशु-पक्षी, जल-वायु तथा राजा-प्रजा सभी उसीके आश्रयसे कार्य करते हैं, उसके अटल नियमोंका कोई उलंघन कर नहीं सकता । अपनी रक्षा के लिये उसीकी सहायता प्राप्त करनी चाहिये । अतः सब लोग उसीकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना करें ।



अथर्ववेद छप चुका है।

स्वाध्यायमण्डल में वेदों के शुद्ध मुद्रण का कार्य हो रहा है। ऋग्वेद, यजुर्वेद छप चुके थे और अथर्ववेद छप कर तैयार हुआ है। अब सामवेद का मुद्रण प्रारंभ होना है। इस अथर्ववेद में ये विशेषताएँ हैं—

सर्वप्रथम विस्तृत भूमिका में अथर्ववेद के अनेक नामों की व्युत्पत्तियां बतायी हैं, अथर्ववेद के परिमाण का विचार किया है, शाखाभेद का वर्णन किया है, अथर्ववेद में कहे कर्मोंका स्वरूप दर्शाया, तथा अथर्वपाठभेद के कारणों का विचार किया है।

पश्चात् विषयवार सूक्तसूची दी है। हरएक विषयके सूक्त एकत्रित करने से अध्ययनकर्ता को बडीहि सुविधा होगी, अतः लेखक, उपदेशक विचारक तथा प्रवचनकारों को यह सूची बडीहि उपयोगी हो सकती है।

इसके नन्तर काण्डानुसार अथर्ववेद की मन्त्रसंख्या दर्शायी है। प्रत्येक काण्ड में प्रपाठक, सूक्त और मन्त्र कितने हैं, इसका पता इससे विदित हो सकता है। इस अथर्ववेद में कुलमन्त्रसंख्या ५९७७ है।

पश्चात् १ से ४५६ पृष्ठतक मूल अथर्ववेद की संहिता है। जिस में प्रत्येक सूक्त का शीर्षक, ऋषि-देवता-छन्द आदि अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणीके आधार से दिये हैं।

इसके पश्चात् पृ० ४५७ से ५१९ तक के ६२ पृष्ठों में अथर्ववेदमन्त्रों के पाठभेद दिये हैं। इन पाठभेदों में कई पाठभेद केवल स्वरकम्प के हैं, कई उदात्तादि स्वर-भेद के हैं, कई पदच्छेद के हैं और कई शब्दभेद और वाक्यभेद के हैं। अथर्ववेद का अर्थ करनेवालों के लिये ये पाठभेद बडे सहायक होनेवाले हैं। इनमेंसे कई पाठभेद अन्य अथर्वशाखासंहिताओं के होंगे, ऐसा हमारा ख्याल है।

इन पाठभेदों में अन्य वेदों के तथा पिप्पलाद संहिता के पाठभेद दिये नहीं हैं। इनका विवेचन हम स्वतंत्र निबंध में करेंगे। ऋग्वेदयजुर्वेद में एकभी पाठभेद नहीं है और अथर्ववेद में ६२ पृष्ठ पाठभेदों से भरे हैं, इसके कारणोंका वर्णन हम स्वतंत्र निबंध में करेंगे।

इस तरह यह अथर्ववेद का पुस्तक ५२० पृष्ठोंका हुआ है। यह ग्रन्थ हमने स्वदेशी कागज पर छापा है और पूर्ववत् सुनहरी अक्षरोंवाली जिल्द बनवाकर ग्राहकों के पास भेज देंगे। इस समय जिल्द बननेका कार्य हो रहा है, अगले महिने में ये ग्रन्थ ग्राहकों के पास भेजे जायगे।

पहिले अनुमानकी अपेक्षा यह ग्रंथ डेढ गुणा बढा है, तथापि हम ग्राहकों को उतनेहीं मूल्यमें देंगे।

ऋग्वेद	३) रु०	डा० व्य० ग्राहकोंके जिम्मे।
यजुर्वेद	२)	,,
सामवेद	२)	,,
अथर्ववेद	३)	,,
	१०) रु०	

इन का १०) रु० मूल्य है, तथापि पेशगी मूल्य भेजनेवालों को ये ग्रंथ हम ६) रु० में देंगे। (डा० व्य० ग्राहकों के जिम्मे है)। जो ग्राहक इस समय डा० व्य० सहित मूल्य भेजेंगे, उनकोही यह सहूलियत मिलेगी, पीछे मूल्य बढेगा। चारों वेदोंका डा० व्य० ३) है और रेलवेपार्सल का व्यय १॥) है। मूल्य भेजने के समय ग्राहक यह प्रेषणव्यय भी भेज दें।

अनेक ग्राहक मिलकर अनेक सेट इकट्ठे मंगावेंगे, तो रेलसे मंगानेमें ग्राहकों का लाभ हो सकता है।

'ऋग्वेद' प्रथम वारका समाप्त हुआ है, द्वितीय वार का मुद्रण प्रारंभ हुआ है। छः महिनोंमें यह ऋग्वेद छपकर तैयार होगा। बहुत ग्राहक ऋग्वेद शीघ्र मंगा रहे हैं, समाप्त होने के कारण इस समय भेजने में हम असमर्थ हैं। छपकर तैयार होते ही भेजा जायगा।

सामवेद का मुद्रण

कौथुमी शाखा के ग्रंथ ।

(अ) संहिता ।

संहिता तीन भागों में विभक्त है- (१) पूर्वार्चिक, (२) आरण्यक (आरण्यकसंहिता+), (३) उत्तरार्चिक । इनसे संबद्ध चार गान-ग्रन्थ हैं — (१) (ग्राम) गेयगान, (२) आरण्य (गेय)— गान, (३) ऊहगान× (४) ऊह्यगान ।

ये सब ग्रंथ सत्यव्रत सामश्रमीने Bibliotheca Indica में प्रकाशित किये हैं । इन के अतिरिक्त श्री. बेन्फे तथा म. स्टीवन्सन के संस्करणों में भी पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक का मूलपाठ प्रकाशित हुआ है । आरण्यक का संस्करण गोल्डस्मिथ (Monatsber. der Kgl. Ak. zu Berlin 1868) तथा (Fortunatov) फार्चूनेटव (Moskau 1875) ने भी प्रकाशित किया है ।

पहला गानग्रंथ पूर्वार्चिक से सम्बद्ध है । इसमें १७ प्रपाठकों में साम (मंत्र) ठीक उसी क्रम से दिये गये हैं, जिस क्रमसे कि उनकी आधारभूत ऋचायें पूर्वार्चिक में दी गई हैं । इन सामोंके संपूर्ण नाम क्रमसे आर्षेय ब्राह्मण के प्रथम भागमें दिये हुए हैं । बर्नेल (Burnell) का संस्करण, पृ० 7—61) इस गान-ग्रंथका मूलपाठ Bibliotheca Indica (Vol. I, पृ० ९४ से, Vol. II, पृ० २४० तक) के संस्करण में मुद्रित है । ग्रामगेयगान का कृष्णस्वामी श्रौती (तिरुवदी, 1889) द्वारा ग्रंथलिपिमें प्रकाशित "सामवेदसंहितायां कौथुमशाखायाः गेयगानम् " एक अत्युत्तम संस्करण प्रकाशित हुआ है ।

आरण्यगान नामक दूसरा गानग्रंथ आरण्यकसंहितासे नहीं, अपितु पूर्वार्चिक ही से संबन्ध रखता है । आरण्यक-संहिता की ऋचाओं के आधारपर बने हुए जो साम हैं, वे आरण्यगानमें इधरउधर विखरे हुए मिलते हैं - हां उन सामों का क्रम वही है, जो कि आरण्यकसंहितामें ऋचाओंका । आरण्यगानका संस्करण Bibl. Ind. (Vol. II पृ.३८७—५१८) में प्रकाशित हुआ है । इन पृष्ठोंपर केवल वही साम दिये गये हैं, जो कि पूर्वार्चिक की भिन्नभिन्न ऋचाओं पर अवलम्बित हैं, क्योंकि आरण्यकसंहिता से संबन्ध रखनेवाले साम Vol. II, पृ० २४४—३८४ पर पहले ही दिये जा चुके हैं । यह ६ प्रपाठकों में विभक्त आरण्यगान, जिसमें कि कोई कोई **'महानाम्न्यः'** नामक. ७ वें को भी गिनते हैं, ४ पर्वों में हैं—**अर्कपर्व** (= प्रपाठक १—२. १); **द्वन्द्वपर्व** (= प्रपाठक २. २—३. २); **व्रतपर्व** (= प्रपाठक ४. १—५ .२); **शुक्रियपर्व** (= प्रपाठक ६). **परिशिष्ट**—महानाम्नी ऋचाओं के साम ।

ऊहगान तथा ऊह्यगान नामक दो अन्तिम गानग्रंथ उत्तरार्चिक से संबद्ध हैं । ऊहगान का मूल Bib. Ind. के Vol. III से Vol. V पृ० ३८० तक Vol. V के पृ० ६०२—६७३ तक छपा है ॐ सब सामोंकी क्रमबद्धसूची

+ आरण्यकसंहिता उत्तरार्चिकसे प्राचीन है, इस बातका प्रमाण हमको II. 814, 868 के उद्धरण के प्रकार से मिलता है और इसकी प्रतीक आर. सा. वे. १ (Ar. S. V. 1) को निर्दिष्ट करती है ।

× कोना Konow के मतानुसार **-सामविधानब्राह्मण**, पृ० १४-१६,**-रहस्यगान** । अन्यथा, **रहस्यगान** सर्वदा ऊह्यगान ही का द्योतक है । देखिये—A Catalogue of South Indian Mss. by Winternitz 1902, p. 237. किन्तु इस ग्रंथ के पृष्ठ ८पर भी देखो ।

ॐ वास्तव में तो Vol. V के ३८० पृष्ठ तक, क्योंकि **अप्रतिरथ-गान** वास्तव में छन्दोग-विधिसे संबद्ध नहीं है ।

Vol. V, भूमिका, पृ० **ट** से **घ** तक छपी है। ऊह्यगान Vol. V के पृ० ३८१ से ६०० तक छपा है। ※ दोनों गानों में से प्रत्येक ७ पर्वों में विभक्त है। यथा- **१. दशरात्रपर्व, २. संवत्सरपर्व, ३. एकाहपर्व, ४. अहीनपर्व, ५. सत्रपर्व, ६. प्रायश्चित्तपर्व, ७. क्षुद्रपर्व।** इसके अतिरिक्त ऊहगानमें २३ प्रपाठक हैं और ऊह्यगान में ६ प्रपाठक हैं। ऊहगान के ९ वें, २१ वें और २३ वें प्रपाठकों को जो कि तीन तीन भागों में विभक्त हैं, शेष प्रपाठक दो दो भागों में विभक्त हैं। ऊहगान तथा ऊह्यगान दोनों सोमयाग के अभ्यास में सामगायकों के काममें आते हैं। इस कारण सामों के, क्रम भी (और उनसे संबद्ध उत्तरार्चिक की योनियां भी) जिनके कि सब नाम सामवेदसंहिता के पहले दो भागों (पूर्वार्चिक तथा आरण्यकसंहिता) में दुहराये गये हैं, इनसे बिलकुल भिन्न हैं।

अब यह बतलाया जाता है कि पिछले दो गानग्रंथों का पहले दो से क्या संबन्ध है, तथा पूर्वार्चिक का उत्तरार्चिक से और ऊहगान का ऊह्यगान से क्या संबन्ध है।

ऊहगानका असली उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट है— इस में साम उसी क्रम से दिये गये हैं, जिस क्रमसे उनका यज्ञ-क्रिया में उपयोग होता है। इसी से पर्वोंके नामकरण (**दशरात्र; सांवत्सर** इत्यादि) की बात भी स्पष्ट हो जाती है। श्री शेषगिरि शास्त्री अपने Descriptive Catalogue of the Sanskrit Mss. of the Government Oriental Mss. Library, Madras, Vol.I, Vedic Literature, first part के ७३ वें पृष्ठपर लिखते हैं कि, उत्तरार्चिक की विशेषता यह है" कि साधारणतया यहां पर तीन तीन मंत्रों की एक एक ऋचा (अर्थात् एक तृच) बनी है और पहला मंत्र पूर्वार्चिक में दिया हुआ है और यह मंत्रसमूह प्रकृति (ग्रामगेय) में पठित सामों (अर्थात् रागोंके अनुसार) के साथ साथ भिन्न भिन्न रूपों में पढे जाते हैं।" पहले दृष्टिपात में यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि उत्तरार्चिक के पहले तृच की पहली ऋचायें, जैसे '**उपास्मै गायता नरः**' '**दविद्युतत्या**' इत्यादि, तथा दूसरे तृच की '**पवस्व वाचो**' नाम की ऋचा, और २. २, **३.** १, **३.** २, **४.** १, ५. १, ५. २ इत्यादि पूर्वार्चिक में नहीं मिलतीं। और यह बात भी निःसंदिग्ध है कि न तो ऊहगान में और न ऊह्यगान में इन तृचों से संबद्ध सामों का निर्देश मिलता है। यह बात मेरी समझ में बहुत दिन तक नहीं आई थी कि, किस कारण यह सामप्रयोगों में तो मिलते हैं, किन्तु गान-ग्रंथों में नहीं। परन्तु इस पहेली का उत्तर बहुत ही साधारण है। -जो साम कि प्रातःसवन के समय गाये जाते थे, वे गायत्र- राग× में गाये जाते थे और क्योंकि यह पहले ही बताया जा चुका है कि यह राग सावित्री मंत्रोंसे संबद्ध राग है। (यह **देवताध्यायब्राह्मण** ३ में बताया जा चुका है और Bibl. Ind संस्करण के Vol V, पृ० ६०१ पर छपा है) इसलिये इन तृचों के सामरूपोंका बतलाना व्यर्थ होता। ऊहगान का ग्रामगेयगान (तथा उत्तरार्चिक का पूर्वार्चिक) के साथ संबन्ध अब स्पष्ट हो जाता है-- उत्तरार्चिक के वे तृच, जिनके कि पहले मंत्र पूर्वार्चिक के कुछ विशिष्ट मंत्रोंसे अभिन्न हैं और जिनके कि राग ग्रामगेयगान में बतलाये गये हैं, (यानी उक्त तृचों के तीनों मंत्र) उसी राग में गाये जाने चाहियें। यह सब मामला यहीं तै हो जाता यदि ग्रामगेयगान और आरण्यगान में केवल वही राग होते जिनका प्रयोग सोमयागमें होता है और जो कि दो अन्तिम गानग्रंथों में पाये जाते हैं।

परन्तु बात तो यह है कि "पूर्वार्चिक में बहुतसी योनियां हैं और बहुत से गानप्रकार हैं, जो कि उत्तरार्चिक के गानों में नहीं मिलते।+" और इसी प्रकार "उत्तरार्चिक

※ दोनों गानग्रंथों के सामों की एक महत्त्वपूर्ण सूचि उषा में प्रकाशित सामप्रातिशाख्य (अर्थात्-फुल्लसूत्र) प्रपाठक १ तथा २ में दी हुई है, जहां कि सामों के नाम संक्षिप्त दिये हुए हैं। Bibl. Ind. के S. V. संस्करणमें ऊह, तथा ऊह्य गानों के साम मिलने अत्यन्त कठीन क्योंकि सूचीमें बहुतसी अशुद्धियां हैं।

× गायत्रं वै प्रातःसवनम्, ऐत० ब्रा० द. २.८; त. सं. २. २. ९. ५.

+ देखिये-Winternitz Geschichte der Indischen Literature I. p. 145

में बहुत से गान हैं, जिनका गानप्रकार पूर्वार्चिक में नहीं मिलता।" इस बात से यह सिद्धान्त निकाला गया है कि "उत्तरार्चिक की उत्पत्ति पूर्वार्चिक के अनन्तर हुई है+।" परन्तु मेरी रायमें यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, बल्कि मैं तो उत्तरार्चिक को पूर्वार्चिक से प्राचीन मानता हूं। क्योंकि छंदोगों के यज्ञविधान में केवल उन्हीं रागों का प्रयोग नहीं होता, जो केवल उद्गाताद्वारा गाये जाते हैं, अपितु बहुत सी **स्तोत्रीया** तथा **सामों** का प्रयोग होता है, जो कि अधिकतर प्रस्तोताद्वारा और कभी उद्गाताद्वारा अकेले (परिसाम) गाये जाते हैं और जिनका संकुचितरूपयुक्त सोमयागमें ही सिर्फ प्रयोग नहीं होता, बल्कि **प्रवर्ग्य, अग्नि-चयन, अग्न्याधेय** तथा अन्य स्थानों में भी प्रयोग होता है। इन गानप्रकारों का भी तो निर्देश होना चाहिये था। यद्यपि मैंने उन सब स्थलों को पूर्ण रूप से नहीं खोजा है, जनमें कि एक साम पहले दोनों गान-ग्रंथोंमें पाया जाता हो, तथापि यह मालूम कर सका हूं कि पहले गान-ग्रंथ में पाये जानेवाले सामों की एक बहुत बडी संख्या का प्रयोग केवल विशिष्ट याज्ञिक विधियों में ही होता है। इसके विरुद्ध जब Winternitz ऐसा कहते हैं, कि उत्तरार्चिक में बहुत से ऐसे 'गान' हैं, जिन का गानप्रकार पूर्वार्चिक में कहीं नहीं मिलता, तो यदि वे 'गान' का अर्थ 'योनि' रखें, तो ठीक हो सकते हैं। (आर्चिकों में 'गान' हैं ही कहाँ?)। परन्तु हम ऊपर बता चुके हैं कि इसका क्या उत्तर है— **उत्तरार्चिक की वे सब योनियां, जिन से संबन्ध रखनेवाले कोई साम पूर्वार्चिक में (या यों कहिये कि ग्रामगान या आरण्यगान में) नहीं मिलते, प्रातःसवन में काममें लाई जाती हैं** और क्योंकि ये सब योनियां **गायत्र-राग** में गाई जाती हैं, इसलिये इनके वास्ते किसी रागविशेष को अलग बतलाने की आवश्यकता नहीं हुई। यह माना कि ऐसे बहुतसे साम-लक्षण, विशेषकर ऊह्यगान में, मिलते हैं, जिनका पहले दोनों गान-ग्रंथोंसे ठीक इसी प्रकार निर्देश नहीं किया जा सकता, तथापि यदि मैं भूल नहीं करता हूं, तो ये साम बिलकुल नवीन नहीं हैं, अपितु पूर्वपरिचित सामों के रूपान्तरमात्र हैं।

चार गानग्रंथों में अभी तक मैंने ऊह्यगान का इतर गानग्रंथों से संबन्ध नहीं बतलाया है। ऊह्यगान का उद्देश्य भी, अपने पर्वों के नाम के अनुसार, वही हैं जो कि ऊहगानका है। मेरी समझमें Burnell (catalogue of a collection of sanskrit mss, part 1, vedic mss, p.48)ने ठीक कहा है कि 'ऊह्य' शब्द 'ऊहरहस्य' का संक्षिप्त रूप है। **जो ऊहगान का ग्रामगेयगान से संबन्ध है ठीक वही संबन्ध ऊह्यगानका आरण्य-गान से है।** ऊह्यगान की सूक्ष्म परीक्षा से यह पता चलता है कि यह गानग्रंथ ऊहगान का परिशिष्ट भाग नहीं है। सोमयागों में प्रत्येक साम, विना किसी अपवाद के, प्रयोग में आता है और उन सामों का क्रम निःसंदेह बिलकुल वही है, जो कि ऊहगान में है, लेकिन हां, उनमें ऊह्यगान के साम भी मिले रहते हैं। प्रारंभ के एक ही उदाहरण को लीजिये–ज्योतिष्टोम- अग्निष्टोम में प्रयुक्त होनेवाले लगभग सब सामों का क्रम वही है, जैसा कि ऊहगान में— बस एक साम की कमी रह जाती है और वह है **'रथन्तर'** और यह साम ऊह्यगान का सर्वप्रथम साम है। मैं इस समस्याको भी हल करने में समर्थ हुआ हूं। ऊह्यगान, इस-लिये सामों का एक विशिष्ट संग्रह है, क्योंकि इसमें दिये हुए साम अपने रागों (और नामों) के अनुसार आरण्यगान से संबद्ध हैं।

जिसने ऊपर लिखे वर्णन को ध्यान से पढा होगा वह अब एक प्रश्न कर सकता है— (गायत्र-राग में गाये जानेवाले सामों को छोडकर) यज्ञमें काम आनेवाले समस्त साम, जिनकी योनियां उत्तरार्चिक में दी हुई हैं, अगर ग्रामगेयगान तथा आरण्यगान में दिये हुए रागों के अनुसार गाये जाते हैं, तो भला ऊहगान तथा ऊह्यगान नामक दो अंतिम गानग्रंथों का प्रयोजन ही क्या रह गया? स्वयं प्राचीन भारतीयों की रायें भी इस बात पर भिन्न भिन्न हैं— कि ऊहगान मनुष्यकृत है अथवा नहीं— "**ऋषिकृतः स्विद् ऊहा३ अनृषिकृत इति वै खल्वाहुः।**" (निदानसूत्र २. १.)। सत्यव्रत सामश्रमी '**ऊषा**' में प्रकाशित '**त्रयीपरिचय**' नामक अपने लेख में १०५ पृष्ठपर सामवेद के किसी भाष्यसे निम्न-लिखित श्लोक का उद्धरण करते हैं—

ऊहग्रन्थोऽपौरुषेयः पौरुषेयोऽथवाग्रिमः।
वेदसामसमानत्वाद् विधिसार्थत्वतोऽन्तिमः॥

+ देखिये "विंटरनिट्ज़ पृ. १४५ (पृ० १५४ परकी अभिप्राय टिप्पणी)

अर्थात्— " क्या ऊहगान पौरुषेय है अथवा अपौरुषेय ? यज्ञविधि से संबद्ध होने के कारण यह पौरुषेय है और सामवेद के समकक्ष होने के कारण यह अपौरुषेय भी है।" (अर्थात् सूत्र पौरुषेय हैं)। सत्यव्रत सामश्रमी स्वयं तो इसको पौरुषेय मानते हैं। इस विषय में हमारे लिये सबसे महत्त्व की बात है, वह 'प्रकार' जिस के अनुसार क्षुद्रसूत्र (इस ग्रंथ पर आगे देखिये) में सामोंका निर्देश किया है और जो सबके सब साम हमें ऊहगान तथा ऊह्यगान में मिलने चाहियें और मिलते हैं। मैं इस ग्रंथ (क्षुद्रसूत्र) से दो उदाहरण लेता हूं। आरंभ में ही कहा है-

'नौधसस्यर्क्षु जनित्रं ब्रह्मसाम न हि वश्चरमं चनेत्येतयोः पूर्वम्।'

अर्थात्— " **नौधस-साम के मंत्रोंमें** (यानी- उत्तरार्चिक १. १. १३, १-२=३५-३६) (वह) जनित्र को, अर्थात् **'नहि वश्चरमं चन'** इस से प्रारंभ होनेवाले दो सामों में से पहले को, ब्रह्मसाम के रूप से (अर्थात् तीसरे पृष्ठस्तोत्र के रूपसे) (गाता है)। "

उद्धृत वाक्य पूर्वार्चिक ३. १.५. ९.=२४१ का निर्देश करता है। इस मंत्रमें वास्तव में दो जनित्रसाम हैं (ग्रामगेयगान ६. २. १७ और १८) और यहाँ पर पहले से अभिप्राय है। अब यह जनित्रसाम ऊहगान में (१३. १.५) तृच— उत्तरार्चिक ३५-३६— बन जाता है (एक भागको दुहरा कर दो सामों के तीन बन जाते हैं) क्षुद्रसूत्र १. ६ में लिखा है—

'अन्नाद्यकामस्येन्द्रा याहि धियेषित इति मध्यमां तृत्रस्य प्रभृतिं कृत्वा तासु कालेयम्।'

अर्थात्— " अन्न चाहनेवाले के लिये (वह) 'इन्द्रा याहि धियेषित' नामक मध्यभाग के मंत्र को तृच की पहली ऋचा बना कर, (इस क्रम से बनी हुई तीन) ऋचाओं द्वारा कालेय को (गाता है)। " यानी ४९६, ४९७, ४९८ ऋचाओं को ४९७, ४९६, ४९८ के क्रम से लेकर कालेय राग से (जो कि ग्रामगेयगान ६. २. ७ पर दिया हुआ है) गाना चाहिये। अब ऊहगान(२१.२. २.४.) में यह साम बिलकुल वैसा ही दिया हुआ है, जैसा कि सूत्रकार ने कहा है। मशककल्पसूत्र में इससे मिलताजुलता ही कहा है। वहां लिखा है (९.....)

'औशनसस्यर्क्षु वैश्वज्योतिषमन्त्यं यत्प्रगायतेति॥'

अर्थात्—"पूर्वार्चिक ५३५ को ग्रामगेयगान(१५.२.२०) के वैश्वज्योतिष-राग में उत्तरार्चिक २७-२९ के साम (बनाता है ?) " जो कि सचमुच ऊहगान में (१९. १.७) इसी रूप में मिलते हैं। मशककल्पसूत्र ११. १० में लिखा है-

'पुनानः सोम धारयेति.. ..सँसर्पमेकस्यां यत् तृतीयम्,...श्यैतस्यर्क्षु सँसर्पं यत् प्रथमम्,...... पुरोजिती वो अन्धसा इति......सँसर्पं त्रिषु यद् द्वितीयम्।'—

इसका अभिप्राय यह है—१. वह गान जिसका कि राग पहला सँसर्प है (आरण्यगान २. १.१) उत्तरार्चिक २. २६ में गाया जायगा। २. वह गान जिसका कि राग दुसरा सँसर्प है (आ० गा० २. १. २) श्यैतसाम के मंत्रों में (अर्थात् उत्तरार्चिक १६१-२) गाया जायगा। ३. वह गान जिसका कि राग तीसरा सँसर्प है (आ० गा० २. १. ३) उत्तरार्चिक २. ४७-९ में गाया जायगा। ऊपर लिखे सामों को हम क्रमसे ऊह्यगान ९. २. ६, ७, ८ में पाते हैं। यदि ऊह्यगान सूत्रकार के सामने होता, तो वह दूसरी प्रकार से इसी बात को कहता और 'यत् तृतीयम्, यत्प्रथमम्, यद् द्वितीयम्' इस क्रम के स्थान पर 'यत् प्रथमम्, यद् द्वितीयम्, यत् तृतीयम्' ऐसा क्रम बतलाता। इसी प्रकार ५. ९ में एक 'महासामत्र्याणां यत् प्रथमम्' और 'यद् द्वितीयम्' का निर्देश किया गया है, जो कि निःसंदेह ऊह्यगान में (३. २. २ और ३) आते हैं। टीकाकार के मतानुसार यहां अभिप्राय 'हा उ हा उ हा उ अस् फड् इत्यादि' इस साम (राग) से है। अर्थात् वास्तव में आरण्यगान २. १. ३६ का प्रारंभ और वह साम जिनका प्रारंभ इन शब्दों से होता है, **'त्रीणि रुद्रसामानि'** कहलाते हैं। और क्योंकि ऊह्यगान में केवल दो साम मिलते हैं, इससे पता चलता है कि मशक ने साक्षात् ऊह्यगान का निर्देश नहीं किया है। अतः दोनों अन्तिम गानग्रंथ अपनी वर्तमानावस्था में बाद के समय के बने हुए प्रतीत होते हैं। इसकी साधक यह बात भी है कि प्राचीन ग्रंथों में (ब्राह्मण, सूत्र) कहीं भी ऊह या ऊह्य का नाम नहीं मिलता। तथापि यह बात निर्विवाद है कि सोमयाग-प्रकरण में जिस साम को **'ग्रामे गेयम्'** या 'अरण्ये गेयम्' ऐसा कहा जाता है, उसका स्वरूप वह समझना

चाहिये, जैसा कि ऊहगान और ऊह्यगान में दिया हुआ है। उदाहरणार्थ–द्राह्यायण ९. ३. ८ (= लाट्यायन ३.६. २८) में कहे गये **'तस्य बृहत्यामरण्ये गेयानि तृचेषु'** इस वाक्य का अभिप्राय **ऊह्यगान** १. २-३-६ से है। 'ग्रामे गेयः श्येनः' (लाट्या० ७.४.१) का अर्थ है, वह जो कि ग्रामगेयगान १०. १. २२ में दिए हुए राग के अनुसार गाया जाता है, और यह ऊहगान १८. १.१८. में दिया हुआ है। **'अरण्ये गेयः श्येनः'** (लाट्या० ७.५.१३) का अर्थ है, वह साम जो कि आरण्यगान ३.१.१९ में दिये गये राग के अनुसार गाया जाता है और यह ऊह्यगान १. १. १९ में दिया हुआ है। गानग्रंथ का स्वयं नाम भी हमारे मत की पुष्टि करता है, क्योंकि 'ऊह' से पहले 'प्रकृति' होनी चाहिये। यहाँ पर द्राह्यायण १०.१.११ (= लाट्या० ३. ९. १२) कथन देखिये

'विश्वे देवा इति वासिष्ठस्य निहवं ऊहेत्।'

'वसिष्ठस्य निहव' नामक राग ग्रामगेयगान ८. १. ३६ में मिलता है। इसी राग के अनुसार अब **आरण्यक** संहिता (३. ९) में दिये हुए मंत्र गाने चाहियें। इस अवस्था को प्राप्त साम **ऊहगान** ९. ३. १२ में मिलता है। और सूत्रकार की यह कथनशैली भी हमारे इस मत की पोषिका है कि सूत्रकार के समय में दोनों अन्तिम गानग्रंथ नहीं बने थे। यदि ये उनके सामने होते, तो सूत्रकार की कथनशैली भिन्न होती। अतः न केवल कोनो (Konow) का ही मत (देखो पृ० १, नोट २), कि आरण्यगान का नाम 'रहस्य' है, ठीक है, अपि तु Burnell भी ठीक है जब कि वह ऊह्यगान का नाम 'रहस्यगान' बतलाता है। स्वरूपतः ग्रामगेयगान और ऊहगान, तथा आरण्यगान और ऊह्यगान एक ही हैं। या यों कहिये कि एक में दूसरे का पूर्ण अन्तर्भाव है।

तथापि मुझे यहां एक बात बतला देनी चाहिये, जो कि मेरे पक्षके विरुद्ध प्रतीत होती है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि मशककल्पसूत्र और क्षुद्रसूत्र, किसी ऊहगान तथा ऊह्यगान का पूर्ववर्तित्व मानते हैं। मशककल्पसूत्र ६.८. में लिखा है—

'आमहीयवद् उत्तराण्याशुभार्गवप्रभृतीनि षट्,' और **'अग्नेर्ध्वार्कादुत्तराणि सुरूपप्रभृतीनि चत्वारि'**

ऐसे वचन हम को बाधित करते हुए मालूम पडते हैं कि, हम यह मानें कि सूत्ररचनाकाल में कोई न कोई न ऐसा संग्रह रहा होगा, जिस में सोमयागप्रकरण में गाये जानेवाले साम क्रमशः दिये होंगे। किन्तु इस विरोध का परिहार इस प्रकार होना संभव है–उदाहरणार्थ यह असंभव नहीं कि मशककल्पसूत्र के प्राचीन संस्करण में यहां पर संगृहीत समस्त साम नामद्वारा निर्दिष्ट थे, किन्तु परकालवर्ती संस्करणकर्ताओंने, जिनके सामने ऊहगान मौजूद था, इन वचनों को संक्षिप्त कर डाला।

अब मैं सामवेद के प्राचीन भाग की उत्पत्ति के विषय में अपना सिद्धान्त संक्षेप में वर्णित करता हूं। सोमयाग और अग्न्याधान, अग्निचयन, प्रवर्ग्य, इत्यादि कर्मकाण्ड, ऐतिहासिक काल से बहुत पूर्वही जन्म ले चुके थे। इन अवसरों पर भिन्न भिन्न साम गाये जाते थे– सोमयाग में (साम) तृचों के स्वरूप में (प्रत्येक स्तोत्रीया उसी राग में), और दूसरे क्रियाकाण्डों में, एक एक स्तोत्रीया के स्वरूप में भी (किन्तु तीन तीन बार दुहरा कर) ऐतिहासिक काल से पूर्व ही, इन सब का आधारभूत एक मंत्रों का संग्रह बन चुका था जो कि भिन्न भिन्न शाखाओं के अनुसार भिन्नभिन्न था।

यह मंत्रसंग्रह एक संहिता के रूपमें लाया गया, जिसमें कि यज्ञमें काम आनेवाले क्रमके अनुसार मंत्रोंका क्रम रक्खा गया –यह बना **उत्तरार्चिक**। अब रागों को याद रखने की सुविधा तथा रागों को नियम–बद्ध करनेके अभिप्राय से, बहुत पूर्व ही ऋषियों द्वारा 'दृष्ट' गानप्रकारों के आधार पर एक सूची बनी, जिसमें कि तृच की केवल पहली ऋचा के रागको देने की आवश्यकता पडी। इस प्रकार **ग्रामगेयगान**, **आरण्यगान** और **योनियों** की सूची जिनमें कि इन रागों का प्रयोग होता था, (**पूर्वार्चिक** और **आरण्यक-संहिता**) उत्पन्न हुए। दोनों पहले गानग्रंथों में वे साम भी दे दिये गये, जो कि अन्य क्रियाकाण्डों में प्रयुक्त होते थे। वह प्रकार जिसके अनुसार ग्रामगेयगान तथा आरण्यगान में दिये हुए रागों का रूपान्तर किया जाता है और उनमें से वैसे साम बनाये जाते हैं, जैसे सोमयाग में प्रयुक्त होते हैं, यदि मैं [illegible] परकालवर्ती सूत्र-साहित्य द्वारा गलती नहीं करता, तो वह प्रकार

विशेषकर पुष्पसूत्रद्वारा, नियमित किया गया* । जो वेद का अध्येता छन्दोग बनना चाहता था, वह इन सूचियों का अध्ययन करता था । -- ग्रामगेयगान को पूर्वार्चिक के साथ **ग्राममें** (अध्ययन करता था); और आरण्यगान को आरण्यकसंहिता के साथ, पवित्रता तथा भय इत्यादि के कारण, **जंगल में** । इसीलिये ये भिन्न भिन्न नाम पडे । इस मत का कोई आधार नहीं है कि ग्रामगेयगान में केवल वह गान हैं जो कि ग्राममें किये हुए सोमयज्ञ में गाये जाते हैं और आरण्यगान में वह गान हैं, जो कि जंगल में किये जानेवाले सोमयज्ञ के समय गाये जाते हैं । (देखो Winternitz Gesebichte der Ind. Literatur I, पृ० १४५)

अतः अन्तिम दोनों गान-ग्रंथ (ऊह, ऊह्य,) इस साहित्य के अनन्तर, ऊपर लिखे हुए नियमों के अनुसार रचे गये और प्रकाशित किये गये । भारतीयों का यह सन्देह कि ऊह (तथा ऊह्य) **पौरुषेय** हैं अथवा **अपौरुषेय**, अत्यन्त कारणसङ्गत है । अपने उद्गम के दृष्टिकोण से ये **अपौरुषेय** हैं, और रचना के दृष्टिकोन से पौरुषेय हैं । और हमारी गवेषणा का यह परिणाम ऊपर उद्धृत किये हुए सामवेदभाष्य के श्लोक से पुष्ट होता है ।

जिस मूल-ग्रंथ का हम यहां पर वर्णन कर रहे हैं, वह कौथुम शाखा का है । हमारा यह वर्णन कहां तक **राणायनीय** शाखा को भी लागू है, इसकी सूक्ष्म गवेषणा करनी होगी । वेबर (Weber)ने पहले ही + कुछ पाठभेदों का निर्देश किया है, जो कि स्टीवनसन (Stevenson) और बेन्फे (Benfey) के संस्करणों में मिलते हैं-विशेष ध्यान योग्य निम्नलिखित हैं —

२. ७. २. १. १. (= 2. 885) जहां पर Benfey का पाठ है- 'को ह कस्मिन्नसि श्रितः।' किन्तु Stevenson का पाठ-' को ह रुक्मिन्नसि श्रितः । ' २. ७. ३. १०. ३ (= २. ९४२) यहां Benfey का पाठ है— 'रोचमानो वयो दधे । ' किन्तु Stevenson का पाठ है- 'रोचमानो गभस्तयोः । ' Stevenson का उत्तरार्चिक का पाठ भी कुछ कुछ Benfey के पाठ से भिन्न है । राणायनीयों और कौथुमों से सामों के स्वर तथा अंकनिर्देश में तो भेद है ही, यह बात सत्यव्रत सामश्रमीने अपने **त्रयीसंग्रह** नामक

* क्यों कि **पुष्पसूत्र** इतना कठिन है कि बिना टीका या भाष्य के समझ में नहीं आ सकता, इसलिये मैं इसका अच्छी तरह अध्ययन नहीं कर सका हूं, बल्कि सरसरी दृष्टि से देखा है । लेकिन मुझे यह प्रतीत होता है कि इस सूत्र का उद्देश शायद यह है—उन नियमों का प्रतिपादन करना जिनके अनुसार उत्तरार्चिक के तृच और प्रगाथ, ग्रामगेयगान तथा आरण्य गान में दिये हुए रागों में परिणत कर के अभ्यासार्थ बनाये जा सकें । इसमें संदेह नहीं कि सूत्र के प्रारंभ में दी हुई सूची में (१और २प्रपाठकों में) कभी कभी उन मंत्रों की भी प्रतीकें मिलती हैं, जो मंत्र केवल पूर्वार्चिकमें मिलते हैं । (उदाहरणार्थ ५२५. ५५६. ५६७. ५८४) । ये प्रतीकें शायद जैसा कि मशककल्पसूत्र में लिखा है, ग्रामगेयगान के सामों की नहीं हैं, बल्कि उन रागों की हैं, जिनके अनुसार कि उत्तरार्चिक के मंत्र गाने चाहियें । (देखिये १५७ पृष्ठ पर मशककल्पसूत्र ९.९ का उद्धृत वचन) । लेकिन एक स्थान पर बात बिलकुल भिन्न है । उदाहरणार्थ, पूर्वार्चिक के अन्तिम दोनों मंत्र (५८४, ५८५) जो कि शार्करसाम (ऊह ४. १. ११) और शंकुसाम (ऊह १८. ३. १) के आधारभूत हैं । क्या ऐसे स्थलों में यह समझना चाहिये कि उत्तरार्चिक संपूर्ण नहीं है ? इन दोनों मंत्रों के बारे में एक बात अवश्य पक्की है कि, ये दोनों जैमिनीय—शाखा में पूर्वार्चिक के स्थान पर उत्तरार्चिक (३. ४०, १-२) में पठित हैं । सामवेद के प्राचीन मूल के बारे में यदि मेरा मत सिद्ध माना जाय, तो यह प्रतीत होगा कि 'ऊह' तथा 'ऊह्य' के निर्माण के अनन्तर पुष्पसूत्र की व्यावहारिकता नष्ट हो गई है, इसका महत्त्व केवल साहित्यिक तथा ऐतिहासिक रह गया है । पुष्पसूत्र के अध्ययन में व्यापृत (R. Simon) सीमन की गवेषणायें यह बतलायेंगी कि मैं कहां तक ठीक हूं ।

+ Indische Studiem I, p. 63

लेखमें (जो कि 'उषा' नामक पत्रिकामें छपा है), विशेषकर सेतुसाम के बारे में, तथा उसपर त्रयी टीका में (पृ० २४९) साफ बतलायी है कि कौथुम इस साम को 'हा उ' से प्रारंभ करते हैं, किन्तु राणायनीय 'हाऽ वु' से। सायण, जिसको सब जानते हैं कि उसने राणायनीय शाखा का अनुसरण किया है, के द्वारा प्रणीत एक प्रयोगमें (देखिये Caland -- Henry lagnistoma, p. XX) मैंने सदा यह पाया कि भंग अथवा छेद का परित्याग किया गया है (जैसे 'रा इ' का प्रयोग न कर 'रायि' का प्रयोग किया गया है) और इस बात में सत्यव्रत सामश्रमी के कथन से संमति भी है। Burnell प्रणीत हस्तलिखित - ग्रंथसंग्रह में (देखिये Catal. of a Collection of Sanskrit Manuscripts, part I, 47 ff) केवल कौथुमों के ही गानग्रंथ नहीं अपि तु राणायनीयों के भी मिलते हैं। राणायनीयों के गानग्रंथ कौथुमों के गानग्रंथों से कहां तक भिन्न हैं, इस विषय का स्पष्टीकरण अत्यन्त महत्व का होगा।

आरण्यकसंहिता का कुछ ही भिन्न एक और शाखा-भेद मिला है, जिसका नाम **नैगेय** है। इस शाखा का कौथुम से केवल इतना भेद है कि 'आक्रन्दय' नामक मंत्र (सामवेद Bibl. I., Vol. II, 426-427) नैगेयशाखा में पहली दशति का दसवां मन्त्र है, + परन्तु कौथुमशाखा में यह मंत्र और इससे संबद्ध साम आरण्यगान में आये हैं।×

(आ) ब्राह्मण।

१. **ताण्ड्य**-या **प्रौढ**- या **पञ्चविंशब्राह्मण** (Biblio. Indica संस्करण)

२. **षड्विंशब्राह्मण** -विद्यासागरका संस्करण (कलकत्ता १८८१) प्रथम प्रपाठक K. Klemm का भी संस्करण (Gutersiot 1894)

३. **सामविधानब्राह्मण**, Burnell का (London 1873) तथा सत्यव्रत सामश्रमी का (उषा में प्रकाशित १८९१-१८९२) संस्करण।

४. **सामविधान ब्राह्मण**-Burnell (Mangalore, 1876) द्वारा तथा सत्यव्रत सामश्रमीद्वारा (उषा, कलकत्ता १८९५) प्रकाशित।

५. **देवताध्यायब्राह्मण**— Burnell द्वारा (Mangalore, 1873) तथा विद्यासागरद्वारा षड्विंश ब्राह्मण के साथ प्रकाशित।

६. **उपनिषद्ब्राह्मण**-जिसके पहले दो प्रपाठक **मन्त्र-ब्राह्मण** हैं। सत्यव्रतसामश्रमीद्वारा (उषामें १८९०) प्रकाशित; प्रथम प्रपाठक को K. Stonner (Halle a. s. 1901) ने भी प्रकाशित किया है। इसके ही अन्तिम ८ प्रपाठक छान्दोग्य उपनिषद् हैं, जिस उपनिषद् को Roer ने Bilbio. Indica में प्रकाशित किया है।

७. **संहितोपनिषद्ब्राह्मण**-Burnell (Mangalore 1877) द्वारा प्रकाशित।

८. **वंशब्राह्मण**- Burnell (Mangalore 1873) तथा सत्यव्रत सामश्रमीद्वारा (उषा १८९२ में) प्रकाशित.

अब तक की गवेषणाके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये ब्राह्मण कौथुम तथा राणायनीय दोनों शाखाओं के हैं।§

(इ) सूत्र तथा अन्य कर्मकाण्डात्मक ग्रंथ।

१. **मशककल्पसूत्र**— जिसका कि दूसरा नाम

+. Benfey's Samaveda, Nachtr. und Verb, Page 268

×. जब यह मैं लेख लिख चुका था, तब मुझे Oldenberg का दोनों सामवेदार्चिकों पर लेख (Z. D. M. G. XXXVIII, p. 464) पढने को मिला। मेरे विचार कुछ कुछ Oldenberg से मिलते जुलते हैं।

§ भविष्य में शायद गवेषणाद्वारा ब्राह्मणों में भी शाखाभेद मालूम पडे। मेरे विचार का आधार यह है कि अभी तक षड्विंशब्राह्मण के (कौथुम और राणायनीयों के अनुसार) दो भेद मिलते हैं। आर्षेय ब्राह्मण में भी भिन्न भिन्न पाठ मिलते हैं, जिनसे यही सिद्ध होता है।

आर्षेयकल्प भी है, केवल हस्तलिखित अवस्था में प्राप्त है। जो थोडा वहुत हमें इसके बारे में मालूम है, उसका आधार Weber का कथन है, जो कि हमें उसके द्वारा प्रकाशित Berlin के हस्तलिखित--संस्कृत-- ग्रंथों की सूची में मिलता है। इस ग्रंथ की सूक्ष्म गवेषणासे तथा इसकी लाट्यायन— द्राह्यायण सूत्रों के साथ तुलनासे यह पता चलता है कि यह कल्प अत्यन्त प्राचीन होना चाहिये, तथा इस श्रौतसूत्र का निर्माता प्रसिद्ध रहा होगा। इस (कल्प) से ब्राह्मण का पूर्ववर्तित्व होना सिद्ध होता है। यह (कल्प) निःसंदेह कौथुम या राणायनीय शाखा का है ×, जैमिनीय का नहीं। यह सामों के नाम से निर्विवाद सिद्ध है। मेरा विचार है कि सामवेदीय कर्मकाण्ड के इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का मैं एक संस्करण प्रकाशित करूं।

२. **क्षुद्रसूत्र**-इस ग्रंथ का तो अवतक केवल नाम ही मालूम है। देखिये-

Weder: Ind. Stud. I. 56, 58; Ind. Literaturgesch, 2, p. 92; M. Muller's A Histroy of ancient Sankrit Literature p. 210. जहाँ तक मुझे मालूम है, इस ग्रंथ की गवेषणा अभी तक कभी नहीं हुई। आर्षेयकल्प में वर्णित कर्मकाण्ड ऊहगान २० (वें तक) तथा ऊह्यगान ४. २. ८ तक मिलता है और अन्तिम दो पर्वों (प्रायश्चित्त तथा क्षुद्र) के कर्मकाण्ड का वर्णन वहाँ नहीं है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि क्षुद्रसूत्र आर्षेयकल्प का परिशिष्ट है। और जैसा कि मुझे India office की एक हस्तलिखित प्रति की गवेषणा से पता चला है, यह अनुमान ठीक ही है। क्षुद्र सूत्र में तीन प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक के दो दो भाग हैं। इस में किसी विशेष कामना से किये जानेवाले एकाह, अहीन और सत्र, अर्थात् काम्य अध्वरों का वर्णन है। यह ग्रंथ भी गानग्रंथों से अत्यन्त सम्बद्ध है और इसमें क्रम भी वही है, जो कि हमको परिचित है। इसकी शैली अत्यन्त प्राचीन तथा ब्राह्मण-ग्रंथों जैसी है और भाषा और विषय की दृष्टि से यह ग्रंथ बडे महत्त्व का है। दुर्भाग्य से इस पर कोई टीका नहीं मिलती। अतः इसका समझना अत्यन्त कठिन है। मेरा विचार है कि मशककल्प सूत्र के साथ इस ग्रंथ को भी प्रकाशित करूं।

३. **लाट्यायन श्रौतसूत्र**-(Bibliotheca India संस्करण)

४. **गोभिल-गृह्यसूत्र**— Knauer द्वारा प्रकाशित (Dorpat 1884) कुछ परिशिष्टों सहित Bibl. Ind. में भी छपा है।

५. **गोभिल** अथवा **वासिष्ठ**-विरचित **श्राद्धकल्प** (लेखक का Altindischer Ahnenkult पृ. ११३ देखिये)। Biblio. Ind. में गोभिलसूत्र के परिशिष्ट भाग में छपा है।

६. **कर्मप्रदीप** अथवा **छन्दोगगृह्यपरिशिष्ट**,-जीवानन्द विद्यासागरद्वारा (धर्मशास्त्रसंग्रह, कलकत्ता १८७६ में) प्रकाशित। इसका १ ला प्रपाठक fr, Schrader ने भी प्रकाशित किया है। (Halle a. s. 1889)। दूसरा प्रपाठक V. Stael-Holstein (Halle 1900) द्वारा प्रकाशित।

७. **गृह्यासंग्रह**-Bloomfield द्वारा Z.D.M.G.35 में गोभिल के संस्करण में प्रकाशित और उषा नामक पत्रिकामें भी मुद्रित।+ ऊपर लिखे समस्त ग्रंथ कौथुमशाखा के हैं। यद्यपि मशककल्पसूत्र और क्षुद्रसूत्र के बारे में यह बात अभी पक्की तौर पर नहीं कही जा सकती।

× टीकाकार वरदराज, इस बात को निश्चितरूप से प्रकट करता है कि वह राणायनीय शाखावलम्बी था, इसका प्रमाण वरदराजद्वारा किया हुआ अग्निष्टोम का वर्णन है जो कि द्राह्यायण की पद्धति के अनुसार है।

+ कौथुमशाखा के समस्त ग्रंथों की पूरी सूची बनारस १८८६ में प्रकाशित गोभिलीय गृह्यकर्म— प्रकाशिकका के १२वें पृष्ठ पर मिलती है।--

द्विपञ्चाशदिमे ग्रन्थाः शाखायाः कौथुमेरिह। प्रोक्ताः सामोदधौ यस्माच्छ्रौते स्मार्ते सुनिश्चिताः।
तस्माद्वै सामशाखायां ग्रंथभेदो निगद्यते। श्रौतस्मार्तोदिते यस्मान्न मुह्येत कथंचन॥
वे (गे?) यारण्यकमूहोऽत्र रहस्यं गानमुच्यते। छन्दस्यारण्यके चैवं मन्त्राः सोत्तरकाः स्मृताः॥
छन्दस्यादित्रयं स्तोमः सपदं स्याद्यतप्रयम्। ... सामविधानार्षेयके तथा॥

राणायणीय शाखा के ग्रंथ।

यह अभीतक पूर्णतया निश्चित नहीं है कि कौथुमशाखा की संहिता तथा गानग्रंथ राणायनीयों को भी उपयुक्त हैं या नहीं। आजतक की गवेषणाके आधार पर × यह कहा जा सकता है कि निम्नलिखित कर्मकाण्ड केवल राणायनीय शाखा के हैं।

१ द्राह्यायणश्रौतसूत्र-इसका कुछ भाग धन्विन् की महत्त्वपूर्ण टीकासहित Reuter के सुन्दर संस्करणमें छपा है।

२ खादिर-गृह्यसूत्र—Oldenberg द्वारा प्रकाशित तथा अनूदित (S. B. E. XXIX) इसका एक संस्करण दक्षिणभारतमें भी प्रकाशित हुआ है। देखिये Stonner, मन्त्रब्राह्मण, भूमिका p. XVI.

(पूर्व टिप्पणी-) देवताध्यायवंशाख्यः संहितोपनिषत्तथा । अष्टमोपनिषच्चैव ब्राह्मणे समुदीरिताः ॥
नारदी लोमशी शिक्षा गौतमी चेति वै त्रिधा। कल्पसूत्रं तथा क्षुद्रं लाट्यायनकमेव च ॥
उपग्रंथः पञ्चविधो निदानं ताण्ड्यलक्षणम् । अनुपत् स्याद् अनुस्तोत्रं कल्पानुपदमेव च ॥
एतद्दशविधं सूत्रं सामगेषु च विश्रुतम्। ऋक्तंत्रं सामतन्त्रं च संज्ञाकरणमेव च ॥
धातुलक्षणकं च स्यादिति व्याकरणानि च। अनुक्रमणिका चेति नैगेयं च ततः परम् ॥
फुल्ल गोभिलगृह्यं च मन्त्रलक्षणकं तथा । गायत्र्यादिविधानं च ततः स्तोभानुसंहारः ॥
छन्दोगपरिशिष्टं तु गृह्यासंग्रह एव च। श्राद्धकल्पं ततो वेद्यासाधनं गोभिलीयकम् ॥
स्नानविधिरूपाकर्म श्रावणेन परो विधिः । द्विपञ्चाशदिमे ग्रंथा वृषोत्सर्गान्तगाः स्मृताः ॥

अर्थात् वे ग्रंथ ये हैं— ग्रामगेय, आरण्यगान, ऊहगान, ऊह्यगान छन्दस्य (– पूर्वार्चिक), आरण्यक, उत्तरार्चिक तथा स्तोभ; पञ्चविंश ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, वंश, संहितोपनिषद् और उपनिषद्; नारदीय शिक्षा ('उषा'में), लोमशीय तथा गौतमीय शिक्षा (जो कि Burnell के हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह में मिलती हैं); आर्षेयकल्प, क्षुद्रसूत्र, लाट्यायन, उपग्रंथ ('उषा' में) पञ्चविध सूत्र (यहभी Burnell के संग्रहमें, देखिये- संहितोपनिषद्ब्राह्मण पृ०. १४), निदानसूत्र ('उषा' में), ताण्ड्यलक्षण, अनुपद, अनुस्तोत्र, कल्पानुपद (देखिये Ind.Stud. I,p. 43). ऋक्तन्त्र (Burnell-संहितापनिषद्, p.XVI) सामतन्त्र (Burnell आर्षे० ब्रा०; पृ. २४), संज्ञाकरण (पिछला Brack- et देखिये), धातुलक्षण, अनुक्रमणिका , नैगेय (Burnell – आर्षे० ब्रा०, पृ. २१), पुष्पं (फुल्ल) सूत्र (सामप्रातिशाख्यके नामसे छपा है। देखिये ऊपर पृ. २, नोट २), गोभिलगृह्य, मन्त्र- (या कहिये मात्रा-) लक्षण (Burnell के संग्रह का नंबर B.496 और दक्षिण भारत में मुद्रित), स्तोभानुसंहार (Burnell, संहितोपनिषद्, पृ. १६ और दक्षिण भारत में मुद्रित), छन्दोगपरिशिष्ट (देखिये Ind. Stud. I, p. ५९), गृह्यासंग्रह, श्राद्धकल्प, वेद्यासाधन (?), स्नानविधि (गृह्यसूत्रके परिशिष्टस्वरूप में Biblio. Ind. में मुद्रित), उपाकर्म, वृषोत्सर्ग (कोई एक परिशिष्ट !) । किन्तु संख्या ५२ पूरी नहीं होती। बहुत संभव है कि 'गायत्र्यादिविधान'में प्रस्तावसूत्र, प्रतिहारसूत्र तथा निधनसूत्रकाभी अन्तर्भाव है (देखिये Burnell- आर्षेयब्राह्मण, पृ. २५) मैं यहांपर ग्रंथाक्षरोंमें Tiruvadi में मुद्रित संस्करण की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूं, जिसमें निम्न लिखित ग्रन्थ अन्तर्भूत हैं- छलप्रक्रिया षड्वार्गिकम् , छन्द आर्चिक-पदस्तोमपद-वेयगान-छलाक्षराणि, आर्चिकलक्षणम्; अवग्रहहितवाद्यम्, अवग्रहव्याख्यानम्, मात्रालक्षणम्, गायत्रविधानसूत्रम्, स्तोभानुसंहारः, ...प्रश्नकम्, तृतीयचतुर्थधार्यः, उपनिदान-सूत्रम्, सामस्वर निर्णयः ।

× देखिये- Konow Samavidh. br. p. 82 ; Stonner, Mantrabrahmana, p.XXXV

३ गौतमपितृमेधसूत्र (Abh. f. d. Kunde d. Morgenl. X. 3. pp. 63 ff) में Caland द्वारा प्रकाशित. श्राद्धकल्प (Bijdragen tot de Taal-land-en volkenkunde van N. Inide में प्रकाशित) के साथ। और दक्षिणभारतमें पितृमेधकारिका सहित कृष्णस्वामी द्वारा प्रकाशित ।

४ गौतमस्मृति (देखिये-लेखक Altind. Ahnen-kult, पृ० १११) यह ग्रंथ तेलगूटीकासहित तेलगू अक्षरोंमें (पं० चेन्तसलराव) P. Chentsal Rao Puntulu द्वारा मद्रासमें सन् १८९० में प्रकाशित की गई है ।

ये चारों ग्रंथ एकही शाखा के हैं, यह आभ्यन्तर कारणों से स्पष्ट होता है । हां, यह अभी निश्चित रूपसे मैं नहीं कह सकता कि ये राणायनीयशाखा के ही हैं । Weber (Il × p. ९३) कहता है कि कर्मप्रदीप के टीकाकार आशार्क के मत में गोभिलीय गृह्यसूत्र, राणायनीय तथा कौथुमीय शाखा दोनों का है । अतः, यह असंभव मालूम पडता है कि कमसे कम खादिर-गृह्यसूत्र भी केवल राणायनीय शाखा का हो । हेमाद्रि भी (श्राद्धकल्प, पृ० १४६०, १४६८ देखिये पृ० १४२४) गोभिल को राणायनीयशाखा का सूत्रकार मानता है । इस संबन्ध में विशेष महत्व की बात तो यह है कि एक खादिरगृह्यसूत्र शार्दूल-सामगोंका भी मिलता है । देखिये—Report on a search for Sanskrit Mss. in the Bombay Presidency during the years 1891-95 by A. V. Kathavate, Bompay 1901, जहां पर ७९ नंबर पर शार्दूल-सामगोंका एक खादिरगृह्यसूत्र दिया हुआ है । यह ग्रंथ पूछने पर मुझे मालूम हुआ है, यत्र तत्र पाठभेदों को छोड कर Oldenberg द्वारा प्रकाशित खादिरगृह्यसूत्र से बिलकुल मिलता है। हेमाद्रि के श्राद्धकल्प से यह पता चलता है कि हेमाद्रिके समय में शार्दूलशाखाकी परंपरा जीवितावस्था में थी। श्राद्धकल्प के पृ० १०७८ पर एक वेदमन्त्र दिया हुआ है जो कि श्राद्धमें ब्राह्मण भोजन के समय, केवल कौथुम तथा राणायनीय शाखावलम्बियों द्वारा नहीं अपितु शार्दूलशाखावलम्बियों द्वारा भी पढा जाना चाहिये ।

३. अनिश्चित शाखाओं के ग्रन्थ।

निम्नलिखित ग्रंथ किस शाखा के हैं, यह जानना कठिन है ।

१, गौतम-धर्मसूत्र-Stenzler द्वारा London 1876 में प्रकाशित । देखिये Buhler (S. B. E. II, PP. XLVIff) जो कि इसे सामवेद से संबद्ध मानता है ।

२. (छान्दोग्य) परिशिष्ट-इसका नाम मुझे एक हस्तलिखित ग्रंथ से मालूम हुआ है (Burnell, a Catalogue of a collaction of Skt. mss. part I, p. 57, number CI. XXVIII) इसकी एक हस्तलिखित प्रति Whish के संग्रह में भी मिलती है (Winternitz, Catalogue of South Indion mss. p. 119)

३. एक छन्दोगगृह्यसूत्र जो कि मेरे परिचित ग्रंथों से सब से भिन्न है, और जिसके केवल उद्धरण मिलते हैं (देखिये लेखक का Altind. Ahnenkult p. 121)

४. निदानसूत्र-सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा 'उषा' में प्रकाशित ।

ऊपर नंबर २ का ग्रंथ कुल्लूक द्वारा मनु (२.४४) टीकामें उद्धृत परिशिष्ट नहीं है जैसा कि Burnell कहता है । यह न तो गोभिलसूत्र न खादिरसूत्र से साक्षात् संबद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें निम्नलिखित आठ व्रतों का उल्लेख है— उपनयन, गोदान, व्रातिक, आदित्यव्रत, महानाम्नीक, औपनिषद, भौतिक तथा ब्रह्मनामव्रत ।

ऊपर के ४ नंबरवाले निदानसूत्र का एक लम्बा वाक्य (इस पर देखिये Weber: Ind. Stud. I pp. 44-46) गौतमपितृमेधसूत्र से अक्षरशः मिलता है — निदा० सू० २,६ गौतम० पि० सू० १.७.१- ३७से बिलकुल भिन्न नहीं है । और क्योंकि वाक्य लाट्यायन (viii.8. 17) की अपेक्षा द्राह्यायण (xxiii. 4) से अधिक मिलता है; और क्योंकि निदा० सू० iv. 3 गोभिलीयसूत्र (iii.9) की अपेक्षा खादिर सूत्र (ii.5) से अधिक संबद्ध है इसलिये मुझे यह प्रतीत होता है कि यह विशिष्ट निदान-

× यह नाम किस आधार पर दिया गया है, इसकी खोज बडे महत्त्व की होगी ।

सूत्र, कौथुमोंकी अपेक्षा राणायनीय शाखासे अधिक संबद्ध है। यह बात विशेष उल्लेख के योग्य है कि ऊपर लिखे हुए (देखिये राणायनीय शाखाके ग्रन्थ, नं. ३) गौतमपितृमेधसूत्र के दक्षिणभारतीय संस्करणमें यह लिखा है कि निदा० सू० २,६ का उद्धरण पातञ्जलनिदानसूत्र से लिया गया है। वीरराघव-प्रणीत प्रयोगमुक्तावली (Burnell, Catal. of a cole. of skt. Mss, part I, p.55) मेंभी पातञ्जल ही का नाम दिया है। इसके अनुसार निदानसूत्र के रचयिता का नाम पातञ्जल मालूम पड़ता है।

एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि कण्ठभूषण-टीका सहित तेलगू अक्षरों में मुद्रित **गृह्यरत्न** (मैसूर १८८१) में **गौतमगृह्य** नामक ग्रंथ कई बार उद्धृत किया गया है। प्रत्येक उद्धरण के आदि या अन्तमें 'अत्र गौतमः' 'इति गौतमः' लिखा हुआ मिलता है। गौतम के नामसे संबद्ध जितने भी उद्धरण इस ग्रंथ में हैं, वे सब मुझे अक्षरशः वैसेही खादिरसूत्रमें मिले। पितृमेधसूत्र, जो कि खादिरसूत्र से अत्यन्त संबद्ध है, परंपराद्वारा गौतम-प्रणीत ही बतलाया जाता है। हमें गौतमस्मृति और गौतमधर्मसूत्र नामक ग्रंथ भी मिलते हैं। क्या यह संभव है कि ये ग्रंथ गौतमप्रणीत हों और सामवेदकी एक विशिष्ट शाखा निर्माण करते हों ? खादिरगृह्य राणायनीय शाखाका है, इस मतके समर्थन में मुझे कोई प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु इसके विरुद्ध यह भारतीय परंपरा है कि यह (**खादिरगृह्य**) शार्दूलशाखावलम्बियों का गौतमीयशाखावलंबियोंका है।

४. जैमिनीय शाखाके ग्रन्थ

कौथुमीयादि शाखासे संबद्ध उपरीनिर्दिष्ट ग्रन्थोंके अतिरिक्त एक और सामवेदीय शाखा का साहित्य है। इस शाखा का नाम '**जैमिनीय शाखा** है। सामवेद-साहित्य की सबसे महत्त्व की सेवा करनेवाले A. C. Burnell अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जैमिनीय ब्राह्मण की हस्तलिखित प्रतियां युरोप में लाये हैं, यह बात प्रसिद्ध ही है। इससे पूर्व इस ब्राह्मण का एक बहुत छोटासा भाग- अर्थात् तल्वकार या केनोपनिषद्— ज्ञात था। इसी विस्तृत ब्राह्मण में से, जिसका कि पूरा संस्करण Prof. Oertel तैयार कर रहे हैं। Oertel ने पूरी उपनिषद् का प्रकाशन 1894 में (Journ. Amer. Or. Soc. vol. xvi) किया है। समय समय पर इस ग्रंथके कुछ भाग विद्वानों ने प्रकाशित किये हैं, जैसे Burnell ("A legend from the Talavakara or Jaiminiya Samaveda, Mangalore 1878,) Oertel (J.A.O.S. xv, 233-251 xviii; 15-48, xix 97-125, xxiii 325-349; actes du xi me Congres des Orientalistes, Paris 1897 p. 226); Hopkins (J. A. O. S, xxvi, p. 58-65) इसके अतिरिक्त जैमिनीयशाखा का आर्षेय ब्राह्मण भी प्रकाशित हो चुका है (यह भी Burnell द्वारा, Mangalore 1878)। तबसे इस सामवेद—शाखा पर बहुत कुछ गवेषणायें हो चुकी हैं। Burnell के Catal. of a collection Sanskrit mss, part i p. 49, यह बात मालूम है कि जैमिनीय शाखा के ग्रामगेयगान तथा आरण्यकगान, गवेषणार्थ प्राप्य है। जैमिनीय गृह्यसूत्र, सुबोधिनी-टीकासे उद्धृत कुछ उद्धरणों सहित, मैंने प्रकाशित किया है। (Die literatur van den Samaveda en het Jaiminiyagrhyasutra" Verh der Koninkl. Akademie v. Wetensch. te Amsterdam Afd. Letterk. N. R. deel vi nr. 2, 1905) अनुवाद, कारिका तथा पदसूची सहित श्रौतसूत्र frl. Dr. Gaastra ने प्रकाशित किया है (" Bijdrage tot de Kennis van het Vedische Ritueel: het Jaiminiyasrautasutra, Leiden, Brill, 1906), इसी समय Burnell द्वारा लाये हुए और India Office में रखे हुए हस्तलिखित ग्रंथों में मुझे संहिता भी मिल गई है। इस विषयमें मैं एक लेख "Versl. en Meded. der Kon. Akad. v. Wetensch.", Afd. Letterk. IV. Reeks VII deel pag. 300-304 में लिख भी चुका हूं। अच्छा तो जैमिनीयशाखा में हमें निम्नलिखित ग्रन्थ मिलते हैं—

१. संहिता; २. ग्रामगेयगान तथा आरण्यगान; ३ ब्राह्मण ४. उपनिषद्; ५. श्रौतसूत्र; ६. गृह्यसूत्र।

इस सूचीमें केवल ऊह तथा ऊह्यगान नहीं उपलब्ध हैं; संभव है कि यह अब भी दक्षिण-भारत में उपलब्ध

होते हों। पहिले मैं जैमिनीय शाखाके गानग्रंथोंका वर्णन करता हूं।

जैमिनीय शाखाके गानग्रंथ।

प्रथम दो गानग्रंथ (ग्रामगेयगान तथा आरण्यगान) पूरे पूरे मुझे ३ हस्तलिखित प्रतियोंमें मिले हैं। Burnell की हस्तलिखित प्रतिमें, जो अभीतक सूचीपत्रमें नहीं दर्ज हुई, और अबतक बिलकुल अपरिचित थी, दोनों गानग्रंथ हैं। यह नीले कागजपर लिखी है, ग्रंथाक्षर लिपि है, त्रि (चनापली) से मिली है। इसके प्रारंभमें एक और ग्रंथ है जिसका नाम सभापतिविरचित धारणालक्षण है और यह लाल स्याहीसे शुद्ध किया हुआ है। धारणालक्षण जैमिनीय शाखाके साहित्यकी दृष्टिसे बडे महत्त्वका ग्रंथ है। अन्य बातोंके अतिरिक्त, इस प्रतिमें सामवेदकी इस शाखाके समस्त सामोंका वर्णन दिया है। तदनन्तर, दोनों आर्चिकों के भिन्न भिन्न मंत्रोंकी संख्या, उनके छन्द और सम्पूर्ण आर्षेय ब्राह्मण इसमें दिये हुए हैं। अन्तमें इस प्रतिमें सामलक्षण नामक एक ग्रंथ है, जिसमें भिन्न भिन्न स्वर-समूहोंका संस्कृत तथा तामिलमें विशदीकरण दिया हुआ है। इसमें प्रत्येक सामके उचित अक्षरोंपर स्वरनिर्देश भी किया हुआ है। Burnell की और जो दोनों गानग्रंथोंकी हस्त-लिखित प्रतियां हैं (Catal. of a Collection of Skt. Mss., I., Vedic Mss. p. 49., nos. cxlvii and cxlix, new numbers 61 and 62) वे उत्कृष्ट परंपराकी मालूम पडती हैं। इसमें प्रत्येक पर्व (सामोंका एक विभाग) के अनन्तर, उस पर्वसे संबद्ध स्वर क्रमसे दिये हुए हैं। क्योंकि Burnell की हस्त-लिखित प्रतियां नं. ४९७, जो कि नं. ६१ और ६२ से निर्दिष्ट हैं, स्वरनिर्देशकी दृष्टिसे एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न हैं और क्योंकि मेरे पास इस समय इस समस्या को समझनेका कोई साधन नहीं है, इसलिये इनको मुद्रित करनेका विचार मुझे छोडना पडता है।

ग्रामगेयगान का विभाग Burnell द्वारा प्रकाशित आर्षेयब्राह्मण से बिलकुल मिलता जुलता है। आग्नेय पर्व के १२ भाग हैं; ऐन्द्र पर्व में १२ भाग गायत्र के, ८ बार्हत के और ६ आनुष्टुभ के हैं— बिलकुल Burnell द्वारा प्रकाशित आर्षेयब्राह्मण के अनुसार। किन्तु हमारी एक हस्तलिखित प्रति में अवशिष्ट ऐन्द्रपर्व एक वर्ग में है, जिसके १० विभाग हैं। इसके अतिरिक्त ऐन्द्रपर्व में हमें प्रारंभ से प्रत्येक खण्ड की लगातार गणनसंख्या का भी पता चलता है। इस गणना के अनुसार यह पर्व ३६ भागों में विभक्त है (इसका प्रमाण इस बातसे मिलता है कि Burnell के आर्षेयब्राह्मण के संस्करण में १७ पृष्ठपर '६' से पहले '३३' संख्या भी मिलती है)। जैसे Burnell के यहां वैसेही यहांपर भी पवमान पर्व के ११ भाग हैं। Burnell की हस्तलिखित प्रति नं० ६२ के अनुसार आरण्यगान के पहले (व्रत–) पर्वमें १० भाग हैं, दूसरे (अर्कपर्व) में ६ तीसरे (द्वन्द्वपर्व) में भी ६। किन्तु दूसरी हस्तलिखित प्रति में (B. 497) प्रारंभ से अन्ततक सब भागों की लगातार गणना की गई है। इसके अनुसार संपूर्ण आरण्य-गान के शुक्रियपर्व तक २४ भाग हैं। औपनिषद्–पर्व परिशिष्टस्वरूप दिया हुआ है और इस पर कोई संख्या नहीं दी हुई है।

गानग्रन्थों के परिमाण के बारे में हमें ठीक ठीक पता दिया गया है। उपरिनिर्दिष्ट (धारणालक्षण में अन्तर्भूत) ग्रंथ में कहा है—

> **आग्नेयस्य शतं साम द्व्यशीत्यधिकमीरितम्।**
> **ऐन्द्रस्य षट्शतं त्रैकचत्वारिंशत्प्रकीर्तितम्॥**
> **पावमानस्य सामात्र नवाधिकचतुःशतम्।**
> **आरण्यस्यैकनवति द्विशतात्परमिष्यते॥**
> **त्रयोविंशाच्छिरः पञ्चशतोत्तरसहस्रकम्।**
> **प्रकृतेस्साम विज्ञेयं सामसागरचारगैः॥***
> **द्वादशाहस्य वै साम ह्यभ्यूहस्य× ततः परम्।**
> **एकत्रिंश (त्) शिरस्साम शतमेकाहसंज्ञिनः॥**
> **नवात्युत्तरपञ्चाशच्छतं साम विनिश्चितम्।**
> **अहीनस्य च चत्वारिंशाच्छिरश्चैकचतुश्शतम्॥**
> **आहत्योहस्य सामानि द्व्यधिकाष्टशतोत्तरम्।**

---

* ० चारकैः या ०पारगैः पढना चाहिये?

× Sic!

सहस्रमिति निर्णीतं प्रसंख्याय यथामति ॥
रहस्यस्य तु षट्पञ्चाशच्छिरस्कशतत्रयम् ।
प्रकृत्यूहरहस्यानां सामान्याहृत्य संख्यया ॥
एकाशीत्युत्तरोद्भाशी षट्छताधिकमिष्यते ।
त्रिसहस्रं जैमिनीयशाखायां वेदवित्तमैः ॥

ऊपर लिखे के अनुसार जैमिनीय शाखामें गानग्रंथों में सामों की निम्नलिखित संख्या है ।

ग्रामगेयगान	१२३२
आरण्यगान	२९१
ऊहगान	१८०२
ऊह्यगान	३५६
जोड	३६८१

कौथुमीय शाखाके गानग्रंथोंकी एक गणनाके अनुसार—
११९७+२९४+१०२६+२०५=२७२२ साम हैं । ×

जैमिनीय शाखाके गानग्रंथ, इस प्रकार, बहुत विस्तृत हैं और कौथुमशाखाके गानग्रंथोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर अवस्थामें उपसंक्रान्त हुए मालूम पडते हैं । कौथुमशाखाके आर्षेयब्राह्मण (Burnell का संस्करण, पृ. ३२) के अनुसार, पूर्वार्चिक नं. २५८ (बृहदिन्द्राय गायत) में चार साम हैं। किन्तु ग्रामगेयगानमें (ग्रंथलिपि के संस्करणमें भी) केवल दो ही साम दिये हैं । और लाट्या० ८. ८.१०–१३ में भी चार साम दिये हैं। जैमिनीय शाखाके गानग्रंथमें ठीक चार ही साम मिलते हैं, जो कि कौथुमशाखामें दो रह जाते हैं। सामविधान ब्राह्मण १.३ १० (देखिये Konow. Das Samavidh. br. Introdrction, p. 10) में भी चार ही साम मिलते हैं ।

क्योंकि मैं ग्रामगेयगानका संस्करण नहीं निकाल सकता, अतः उसके विषयमें कुछ थोडासा वर्णन करना अपना कर्तव्य समझता हूं। पहली बात तो यह है कि Burnell का आर्षेय ब्राह्मण का संस्करण बिलकुल शुद्ध नहीं है; इसका कारण हमें हस्तलिखित गानग्रंथोंमें उचित स्थानोंपर दिये हुए सामोंके नामोंसे चलता है। क्योंकि तलवकार ब्राह्मणको सामोंके नामोंकी एक बहुत बडी सूची देनी पडी है, तो इस लिये सबसे पहली आवश्यकता इस सूचीको शुद्ध कर लेने की है।

अतः मैं यहांपर आर्षेयब्राह्मणके (Burnell के संस्करणके) पाठभेद और संशोधित पाठोंकी सूची दूंगा । Burnell द्वारा प्रकाशित आर्षेय ब्राह्मण की सहायतासे हरेक आदमी सामोंकी ' योनि ' स्वरूप ऋचाओंका पता लगा सकता है । किन्तु आरण्यगानकी बात बिलकुल भिन्न है और क्योंकि आरण्यगानके सामोंकी ' योनियों ' का ज्ञान भी किसी किसी दशामें बडे महत्त्वका हो सकता है, अतः मैं कौथुमगानके साथ तुलना करता हुआ आरण्यगानके ऊपर भी दृष्टिपात करूंगा । इसका परिणाम यह निकला है कि जैसा हम आर्षेयब्राह्मणके आधारपर समझते थे, वैसा भेद दोनों गानग्रंथोंमें नहीं है, क्योंकि साम अधिकतर नामभेदमात्रसे भिन्न हैं ।

सबसे पहले मैं ग्रामगेयगानके आधारपर Burnell के आर्षेयब्राह्मणके संस्करणमें पाठभेद और संशोधन देता हूँ । दहिने हाथ पर लिखी हुई संख्या यह द्योतित करती है कि कितनी हस्तलिखित प्रतियोंमें ये पाठभेद मिले हैं।

१. वार्हिषीयम् २
६. संवर्गवार्त्रघ्ने (यही शुद्ध है) १
१७. भार्गवे च (नाद्वे नहीं चाहिये) १
३३. सौर्यवर्चस्य (यही शुद्ध है) ३
३४. गौर २
३५, ३७, ४१, ७९, १०८, १२२ भरद्व०(भारद्व०के स्थान पर)
३५. श्रुष्टीगवम् ३
४७. गाधिनश् २
५०. कार्ण०, कार्ष्ण, काष्ण०
६२. वाम्रस्य
७२ इति वा तम् (तन्)–यह नहीं चाहिये २
७८–७९ घृताचेराङ्गिरसस्य सामनी द्वे
८०. भरद्वाजस्य प्रासाहम् ।
८३, ८५ कौल्मदम् । दूसरा पाठ १
९०. सयोनि । १
९२. ऐषं चारूढवद् वाङ्गिरसम् । १
९९. श्रूध्ये १ श्रुध्ये १

× कलकत्तेके संस्करण (vol V, p. ६७४) के श्लोकोंमें भिन्न ही गणना दी हुई है ।

१०५. वृहदाग्नेयं च३; सौमक्रतवं वा १.
११२. साध्रं च, साद्धं च, स्याद्धयं च
१२३. गौरीवीतम् १.
१३३. ऐध्मवाहानि
१३४. अहेः पैण्वस्य २, अहेश्वैण्वस्य १; अभिहनो, अभिहेनो (sec. m. ऐहिनो); बैल्वस्य २; वैल्वस्य १.
१३७ संवेशीयं ३.
१३९ काक्षीवतम् ३ (०कांक्षी० १ secm.)
१५३ वाजदावर्यं च १.
१५६ गौरिवीतानि १.
१५८ श्रौतकक्षाणि ३.
१५९ वामदेवोदासं ३.
१६० औदले (स्तत्तौतले) १.
१६४ मैधातिथं १.
१६७ गौरिवीते १.
१६८ ०गौरिवीतं १.
१९५ इन्द्रस्य वा २.
२२२ विष्णोश्च साम ५. १.
२३१ अभी (अभि) वादस्य ५. १.
२४० कौल्मुल०, कौन्मुल०, कन्मुल०
२४५ कण्व० ३.
२४९ इन्द्रस्येन्द्रियम् २.
२५८ संश्रवसो, विश्रवसो, सत्यश्रवसो ५५. ११.
२६२ श्रुष्टीगवं ३.
२६८ व्राभ्रं २; वाभ्रं १.
२८० कौन्मुले २.
२८३ गौरिवीतः १.
३१३ निहवः १.
३२३ सौमरश्मे १.
३३२ आदित्यास् (सिच्, स्तत्त अदिन्यास्) सामनी १.
३३७ कश्यपस्य वानितोदौ १.
३५१ रयिष्ठे १.
३५२ कौन्मुद०, कौन्मल०.
३५४ कौन्मल० २.
३५५ मधुश्चुन्निधनं २.
३७९ श्येनः २.
४१९ सेनदे वा, सेनुदे वा, स्येन्वदे वा.
४२६ गोरयेश्० २
३८५ पुराधसश्० २ (स्तत्त प्रा०)
३८९ त्रैककुभानि त्रीणि ३.
३९० औक्ष्णोरन्ध्राणि त्रीणि (३) औक्ष्णोनियानानि वा (१) (कौकुथमीयार्षेयब्राह्मणे)
३९१ रेवच्चैव १.
४४९ सन्तनीके ३.
४६८ सुरूपे द्वे; शिल्पे द्वे; संहितं च (२) स्तत्त सुहितं च; संहितं चैव २.
४६९ इन्द्रसामनी द्वे.
४८१ कुम्भस्य २.
४८५ प्रक्रीडास्; संक्रीडा वा निक्रीडा वा.
४९८ वाश्रानि २.
५०० वैतदश्वेः १.
५११ उद्वेच; सदोविशीयं जमदग्नेः सवासीनी (स्वासिनी)
५१२ अधीवास० ३; गोष्ठापुंसिनी; पुंस्वीनी.
५१७ औक्ष्णोनियानानि १.
५२० चैवाङ्गिरसं.
५२३ ०प्रशस्य जानस्या० ३.
५२४ वाजजितौ
५४७ त्वाष्ट्री सामानि; त्वाष्ट्री सामानि चैव.
५५४ वाजसननी ५. १
५५८ दाशशीर्षे १
५६९ कार्ण०, काष्ण०
५८१ कौन्मल० ३
५८३ श्यैतेर्षाणि, श्येतेष्याणि, शैतेष्याणि.

अब मैं आरण्यगान की सूची देता हूं। इसका आधार जैमिनीय शाखाकी सूची है। प्रत्येक योनि-निर्देशक संख्या कौथुम-शाखाके आरण्यगान में मिलते हुए सामकी द्योतक है। ar. s. का अर्थ है, जैमिनीय शाखाकी आरण्यकसंहिता। रोमन तथा अरबी लिपिकी संख्यायें कौथुमार्चिककी लगातार गिनी हुई ऋचाओंको द्योतन करते हैं।

सामवेदकी संहिता

(नं.५०६ की) Burnell की हस्तलिखित प्रति (ग्रंथलिपि, दोनों ओर लिखे हुए ७० पत्र, नीला कागज, प्रत्येक पृष्ठपर २४ पंक्तियां) के ऊपर के कागज पर Burnell ने अपने हाथ से लिख रक्खा है— "सामवेद (तलवकार) जैमिनीयसंहितापाठ.

पूर्वार्चिक पृ० १.
आरण्यकसंहिता २६ ब.
उत्तर आर्चिक २९.

कहीं कहीं शुद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल पाठ किसी अल्पज्ञ विद्यार्थीने लिखा हो।"

पहले पृष्ठ पर भी Burnell के हस्ताक्षरों में यह लिखा है—

"सामवेद संहितापाठ जैमिनीय शाखा, Tinavelly की लगभग १७०० ई० की प्रति से (लिखा)- A.B. 1879."

पूर्वार्चिक तथा आरण्यक निःसंदेह संपूर्ण हैं। Burnell के जैमिनीय-आर्षेय-ब्राह्मण संस्करण के सर्वोत्तम नियामक हैं। दोनों के मूल पाठों में संपूर्ण ऐक्य है। दोनों शाखाओं के आर्षेयब्राह्मण के पाठों की तुलना से हमें यह मालूम हो जाता है कि कौथुमीयसंहिता की जैमिनीयसंहिता से कहां तक भिन्नता है। पूर्वार्चिक में दोनों का भेद किसी विशेष महत्त्व का नहीं है। अधिकतर यह भेद कहीं कहीं मन्त्रोंके क्रम का है। जहां पर आर्षेय ब्राह्मण के अनुसार मन्त्रोंका (या सामों का) दूसरा क्रम होना चाहिये, वहां पर संहितामें वास्तव में ऐक्य मिलता है। परन्तु दोनों संहिताओं के आरण्यक में भेद अधिक है—; जैसा कि दोनों शाखाओं के आर्षेयब्राह्मणों की तुलना से पहले ही प्रतीत हो चुका है, जैमिनीय आरण्यक में बहुत बडी भिन्नता है और यह Burnell की महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित प्रति से अब पूर्णतया सिद्ध हो गया है। दोनों शाखाओं के अनुसार आरण्यक में ५५ मन्त्र हैं (इन में 'महानाम्नी' का परिगणन नहीं किया गया है)। इन में से ४५ मन्त्र दोनों में समान हैं। यहां तक आर्षेयब्राह्मण, जो कि एक प्रकार की ग्रामगेयगान तथा आरण्यगान की अनुक्रमणी है, संहितापाठ के नियामक की हैसियत से हमारी सहायता कर सकता है। परन्तु उत्तरार्चिक के लिये हमें केवल Burnell की हस्तलिखित प्रति का सहारा लेना पडता है।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि, यह भाग हमको पूरा या अधूरा प्राप्त हुआ है। यदि यह मान लिया जाय कि हस्तलिखित प्रति अधूरी है, तो अन्त में ही मन्त्रोंकी कमी माननी पडेगी, क्योंकि इसमें खण्ड और मन्त्र लगातार संख्यामें बिना किसी कमी के परिगणित हैं। अब कम से कम यह अवश्य मालूम पडता है कि हमारे जैमिनीय उत्तरार्चिक में बहुतसे मंत्र नहीं पाये जाते, जो कि ग्रामगेयगान के स्तोत्रों की 'योनि' रहे होंगे। संहिता के इस भागमें, पहले दो भागों की अपेक्षा, कौथुमीयशाखा से बहुत भेद है। क्रम तो बहुत ही भिन्न है, और जैमिनीयशाखामें तीन तीन के समूह में 'योनि'-स्वरूप बहुतसी ऋचायें मिलती हैं, जो कि कौथुमीयशाखा की ऋचाओंसे बिलकुल भिन्न हैं। इस से यह सिद्ध होता है कि द्वादशाह इत्यादि यज्ञों में भी जैमिनीयों की विधि कौथुमों से भिन्न रही होगी। तलवकारसंहिता का प्राप्त होना वैदिक संहिता के इतिहास की दृष्टि से महत्त्व की बात है, क्योंकि वैदिक साहित्य के अपरिचित मन्त्र इस संहिता में अपेक्षाकृत बहुत कम मिल पाये हैं।

यह हम देख चुके हैं कि जैमिनीय तथा कौथुमीयशाखा का विभजन प्रधान प्रधान बातों में एकसा है। और इन प्रधान भागों का खंडों में विभजन भी, पूर्वार्चिक और आरण्यक में, लगभग एकसा ही है। पहले अग्निके मंत्र आते हैं, फिर इन्द्र के और फिर पवमान। जैमिनीय शाखा के आग्नेय पर्व में लगातार गणना मिलती है; किन्तु कौथुम शाखाके अनुसार गणना के सूत्र का भी पता चलता है। हां जैमिनीयशाखा का उत्तरार्चिक जो कि दो शाखाओं में विभक्त है, कौथुम शाखा के उत्तरार्चिक से भिन्न है। क्योंकि अभी तक हमें ऊह तथा ऊह्यगान प्राप्त नहीं हो सके हैं, इसलिये मैं यह नहीं बता सकता, यह दो भागों में विभजन किस तत्त्व के आधार पर हुआ है।

Burnell की हस्तलिखित प्रति में कुछ ऐसे मन्त्र हैं, जिनका ठीक ठीक विभाग नहीं किया गया है- अक्सर ऐसा

हुआ है कि पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध में मिल गया है; कहीं कहीं पर तो दो दो या तीन तीन मन्त्र एक एक करके गिने गये हैं। क्योंकि गानग्रंथ और आर्षेय ब्राह्मण की तुलना से पूर्वार्चिक तथा आरण्यक की अशुद्धियों का पता चल जाता है, इस लिये मैंने निम्नलिखित जैमिनीय संहिता के सारांश में ऊत्तरार्चिक की अशुद्धियों का भी निर्देश करना उचित समझा है। इस प्रकार आवश्यक तुलना से जैमिनीय संहिता और कौथुमीयसंहिता में निम्नलिखित मन्त्रसंख्या मिलती है।

	जैमि०	कौथु०
पूर्वार्चिक	५८७	५८५
आरण्यक	५९	५९
उत्तरार्चिक १	७४५	
२	२९६	१२२५
जोड	१६८७	१८६९

इसके अनुसार जैमिनीयसंहिता कौथुमीयशाखासे १८२ मन्त्र कम हैं +। यह हुई विस्तारकी बात। अब यदि मन्त्रोंके पाठ पर विचार किया जाय, तो यहाँ पर भी जैमिनीयसंहिता बिलकुल स्वतंत्र मार्ग का अवलम्बन करती है। क्योंकि यह संहिता हमें केवल एक हस्तलिखित प्रति (जो कि स्थान स्थान पर अत्यंत अशुद्ध है) के आधार पर मिली है, इसलिये यह कहना कठिन है कि दूसरा पाठ पाठभेद है या अशुद्ध पाठ है। यहांपर गानग्रंथों में दी हुई और गायन के लिये प्रस्तुत की हुई ऋचाओंकी तुलना बडे महत्त्व की है। मेरी की हुई तुलना से ऐसे बहुत से स्थलों का पता चलता है, जहांपर कौथुमशाखा से जैमिनीयशाखा भिन्न है; ये भेद कहीं कहीं पर पाठकी अशुद्धि के कारण हैं और बहुत सी जगह पाठभेद के कारण हैं। आरण्यगान में ऐसे बहुत से मंत्र मिलते हैं जो कि पहले ग्रामगेयगान में आचुके हैं। इनकी भी मैंने प्रत्येक स्थान पर तुलना की है। गानग्रंथों की तुलना हमें एक बारेके बारेमें अवश्य संदेह में डालती है, और वह है अंतिम स्वरोंका विस्तार। जहां जहाँ कौथुमीयशाखा में अन्तिम स्वर ह्रस्व आया है, यदि उसी स्थल पर जैमिनीयसंहितामें अन्तिम स्वर दीर्घ मिलता है तो मैंने वहाँपर प्रश्नसूचक चिह्न बना दिया है। अन्य जो पाठभेद हैं, कम से कम जो कि संहिता के दोनों प्रथम भागोंमें मिलते हैं, वे हरेक स्थान पर गानग्रंथों की तुलना से समर्थन किये जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित बातें निश्चयपूर्वक कही जा सकती हैं।

जैमिनीयसंहिता × में साधारण संधिनियम यह है कि स्वरके पहले अन्तिम **आन्** के स्थानपर **अं** हो जाता है। यदि हस्तलिखित प्रति ग्रंथलिपि के स्थानमें देवनागरी लिपिमें होती, तो इस स्थान पर शायद **अँ** होता। अन्तिमाक्षर का यह संधिनियम मैत्रायणीय और कपिष्ठल संहिताके मंत्रों में भी लागू है (देखिये—V. Schroder की भूमिका-मैत्रायणीय संहिता Vol. I p. XXIX, XXXIX, XLII; Wackernagel: Altind. Gramm. 1 २७९ b. a. note)– उदाहरणार्थ ऋग्वेद का यह मन्त्र **'महाँ इन्द्रः परश्च नो'** ऋ० १.८.५. (= सामवेद कौथुमशाखा १.२.२.३.२) जैमिनीयसंहिता में इस प्रकार मिलता है—**'महं इन्द्रः परश्च नो'**। ऋग्वेद ८.३.१. का **'वृधेऽस्माँ अवन्तु ते धियः'** (=सामवेद कौथुमशाखा १.३.१.५.७) मंत्र जैमिनीयसंहिता में इस प्रकार है-**'वृधे अस्मं अवन्तु ते धियः'**। ऋग्वेद ८.९७. १ का **'या इंद्र भुज आ भरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः'** (= सामवेद कौथुमशाखा १.३.२.२.२.) मंत्र जैमिनीयसंहिता में इस प्रकार है—**'या इंद्र भुज अभरः स्वर्वं असुरेभ्यः'**। ऋग्वेद १.२७.१. का **'मीढ्वाँ अस्माकं बभूयात्'** (= सामवेद कौथुमशाख २.७.१.७.२) मन्त्र जैमिनीय संहिता में इस प्रकार है—**''मीढ्वं अस्माकं बभूयात्''**। किन्तु यह अन्तिम स्वर का नियम प्रत्येक स्थानपर नहीं लगा है। उत्तरार्चिकमें कहीं कहीं **अं** के स्थानपर **आं** भी मिलता है। उदाहरणार्थ **' अग्ने देवां इह '** (= सामवेद कौथुम–२.२.१.६.३) इत्यादि। तथापि, ब्राह्मण और सूत्रों के उद्धरणों में ऐसे स्थलोंपर सर्वत्र **अं** के मिलने के कारण, इस विशेषता की समग्र संहितामें लागू नियम कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—देखिये, जैमिनीय ब्राह्मण (J.A.O.S. XXIII, p. 348 में उद्धृत)-**'परस्या अधि संवतो वरम्** (हस्तलिखित प्रति जिसमें 'वरं' है, ठीक

+ वास्तव में तो केवल १५५, यदि अप्रतिरथसाम को, जो कि छन्दोगकर्मकाण्ड से संबद्ध नहीं है, निकाल दिया जाय
× उद्धरणोंमें कौथुमीय शाखा की लगातार संख्या दी गई है।

ठीक है) अभ्यातर यत्राहमास्मि तम् ('तं' पढिये) अब।' किन्तु स्वयं ब्राह्मणों या सूत्रों में यह नियम बिलकुल लागू नहीं है, या इतना कम लागू है, जितना कि मैत्रायणीयसंहितामें । कहीं कहीं यह स्वर-ह्रस्वीकरण ऋन् के सबन्ध में भी मिलता है । उदाहरणार्थ- ' त्वमग्ने वसुँर् इह रुद्रं आदित्यं उत'(सामवेद कौथुमशाखा १.१. १.५.६- त्वमग्ने वसूँर् इह रुद्राँ आदित्याँ उत)। 'पिबा सोममृतुंर् अनु'(=सामवेद कौथुम-१.३.१.४.७ ऋतूँर् अनु)।

२. जैमिनीयसंहिताकी एक यह विशेषता है कि ड के स्थानपर तामिल-मलयालम् का ळ प्रयुक्त होता है(देखिये Burnell-जैमिनीय आर्षेयब्राह्मण, Introduction p. IX)। यह निम्नलिखित × स्थानोंमें मिलता है- मृळ (१. २३), मृळिम् (१. ३२७), वीळाव् (१, २०७), वीळाद् (२. ४२२), वीळावः (१.२९६), क्रीळन्तम् (२. २९१,४६८,५०३), क्रीळम् (२. ९६५), वह् (१. २७६), भूरिषाळ् (२. ८२२), सनीळा (१.४३३), ईळिष्व (१.४९, ९३, १०३, २. १०३८), ईळेन्यो (२. ८८८, ९१२), इळानाम् (१.५८२), इळाः (१. ४५५), इळाम् (२. १८२), इळया (१. ३३८), ईळे (आर्ष० १. १०, २. ८९३ और ऋग्वेद ३.२७.२), ईळते (१. १५१, २. ८९०), ईळित (२. ७००)। किन्तु अपवाद इसके भी मिलते हैं; जैसे- ईळते (१. ७०), उदानड् (१. ७१), ईड्यो (१. ७९) इन्द्र सड् उत (आर्ष० ३. ५= ऋग्वेद ८. ६१.१५), विराड् (आर्ष० ३. १०), मृड्या (२. १३८,१९६), ईड्यम् (२.९१८) और ये अपवाद और स्थानोंपर भी कई बार मिलते हैं। क्योंकि इस अक्षरका प्रयोग ब्राह्मण (आर्षेयमें भी) श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रमें भी मिलता है, इस लिये इसे जैमिनीयसंहिताकी विशेषता समझनी चाहिये ।

३. जो स्वर कौथुमीयशाखामें स्वरित हो जाते हैं, वे जैमिनीयशाखामें नहीं होते । जैसे-' ईड़िष्वा हि प्रतीव्या-म्' (१. १०३), यह मन्त्र जैमिनीय शाखामें, ऋग्वेदके समान, ऐसे पढा जाता है- ' प्रतीव्यां '। कौथुमशाखाका ' पाहयूइत ' (१. ३५), जैमिनीयशाखामें 'पाहयुत' हो जाता है ।

४. कुछ स्थलोंमें जैमिनीयसंहिता की शब्दलेखन-पद्धति कृष्णयजुर्वेद, अर्थात् तैत्तिरीयशाखासे मिलती है । पहली बात तो यह है कि व्यञ्जनोंके अनन्तर (कहीं कहीं) य के स्थान पर इय् मिलता है । जैसे— 'दुष्वप्नियम्' (१ १४१), ' शिप्रियन्धसः ' (१. २९७), 'हस्तिया ' (१. ३४५), ' क्रविया ' (१. ५५८), इत्यादि । किन्तु इसके साथ साथ- ' ऋग्म्यम् ' (१. ३७६) भी मिलता है। दूसरी बात यह है कि जहां जहां ऋग्वेद या कौथुमशाखा में 'पुरुवसु ' शब्द है, वहां ' पुरोवसु ' मिलता है (देखिये- १. १४६, १९३, २३५, २४४, २५०, ३०९, २. ९०४); तैत्तिरीयकों में भी ऐसाही है— देखिये- तैत्तिरीयसंहिता ३. २. ५. १, ३. २. १० ('मयि- वसुः पुरोवसुः' इसकी तुलना आश्वलायन श्रौतसूत्र ५.६.१- ' एष वसुः, पुरूवसुः' से कीजिये)। तीसरी बात यह है कि एक मंत्र तैत्तिरीयक (और मैत्रायणीय) शाखामें मिलता है— अर्थात् २. ८७० जैमिनीयसंहितामें दो वार इस रूपमें आया है— ' दधत् पोषं रयिं मयि।' किन्तु इसके विरुद्ध ऋग्वेद, कठ तथा कौथुमशाखामें इसका यह रूप है— 'दधद् रयिं मयि पोषम्।'

५. लगभग प्रत्येक स्थानपर किसी शब्दका आदिका ' न-'कार, यदि वह 'र-'कार अथवा 'ष-'कार का परवर्ती हो जाता है,तो मूर्धन्य में ('ण'-कार में) परिणत हो जाता है- जैसे- 'रेवतीर्णः ' (१. १५३, २. ४३४), 'रेवतीर्नः' के स्थान पर (ऐसाही गानग्रंथोंकी हस्तलिपि, ऋग्वेद तथा कौथुमीय सामवेदमें भी मिलता है)। 'वाजिषु नो' (ऋग्वेद तथा कौथुमीय) के स्थानपर ' वाजिषु णो ' (२. १४८) कौथुमशाखाके 'परि नः ' के स्थान 'परि णः' (२. २४७) ऋग्वेदियोंके समान मिलता है। कौथुम शाखाके ' प्र नः' + के स्थान पर, ऋग्वेदियोंके समान ' प्र णः ' (२. ५८०) मिलता है ।

इनके अतिरिक्त इस नई प्राप्त संहिता में किसी किसी मंत्र

× उदाहरणोंमें कौथुमीय शाखा की लगातार संख्या दी गई है।

+ देखिये— ' अप्सु षाडयेत् ' ([illegible] (. १८), ' यशेषां जरिमा ण यात् ' (वही, पृ० १०, लाइन ९), ' रक्षो णो ' (वही- पृ० ३, लाइन १)।

२ क.

में काथुमों की अपेक्षा बहुत पाठ-भेद मिलता है, और यह पाठ-भेद ऋग्वेद के पाठों से अधिक मिलते हैं। किन्तु इस जैमिनीयसंहिता में कुछ ऐसे महत्त्व के पाठभेद मिलते हैं, जो कि ऋग्वेद के मूल के लिये उपयोगी हैं। उदाहरणार्थ— ऋग्वेद ९. ८३.३ में 'बिभर्ति' पाठ है, किन्तु कौथुमशाखामें (२. २२७) तथा आर्षेयब्राह्मण (२. २) में 'मिमेति' पाठ है; जैमिनीयसंहिता में दोनों स्थलों में 'मिमाति' पाठ है। ऋग्वेद १०. १३४. ३ का जैमिनीयसंहिता में 'धूनुहि' के स्थान में 'धूनुषे' (जैसा कि ऋग्वेद १०. १३४. ४ में) पाठ है। ऋग्वेद ९. २८. २. का जैमिनीयसंहिता में 'विश्वा धामान्याविशन्' (ऋग्वेद और कौथुमशाखा का पाठ) के स्थान पर 'विश्वा वसून्याविशन्' पाठ है। ऋग्वेद ९. २८. २ का जैमिनीयसंहिता में 'विश्वा धामान्याविशन्' (ऋग्वेद और कौथमशाखा का पाठ) के स्थानपर 'विश्वा वसून्याविशन्' पाठ है। ऋग्वेद ९. २८. ६ का जैमिनीय संहितामें 'सोमः पुनानो अर्षति' (ऋग्वेद और कौथुमशाखा का पाठ) के स्थान पर 'सोमो वाजमिवासरत्' पाठ है। ऋग्वेद ९. १. ८ में 'त्रिधातु वारणं मधु' पाठ है, किन्तु जैमिनीयसंहिता में 'त्रिधातु सारघ (म्) मधु' यह पाठ है। यह केवल नमूने के तौर पर दिये गये हैं।

जैमिनीयसंहिता में (४. १०. ३ और ४, तथा ४. २५. ८) ऐसे दो मन्त्र आते हैं जिनमें से एक तो अथर्वसंहिता में और दूसरा केवल अथर्वसंहिता और तैत्तिरीय-ग्रन्थों में मिलता है।

फिर एक मन्त्र जो कि अबतक केवल मैत्रायणीयसंहिता में मिलता है, वही मन्त्र पाठभेद से जैमिनीयसंहितामें मिलता है। देखिये जैमिनीयसंहिता १. १. १२. १०

एक मन्त्र जो कि केवल तैत्तिरीयसंहिता में मिलता है, वही पाठभेद से जैमिनीयसंहिता में भी आया है। देखिये जैमिनीयसंहिता १. १. १२. ९

अब तक जो मंत्रसाहित्य परिचित है, उसके लिये निम्नलिखित मंत्र बिलकुल नये हैं– २. १. ५; २. १. ५; २. ४. ७; ३. ३८. १. २ ३। बहुत संभव है कि अधिक खोज करने पर इन ६ मंत्रों में से भी कोई परिचित मंत्र निकल आये।

जैमिनीयसंहिता के प्राप्त होनेके कारण हम को सामविधान-ब्राह्मण के बारे में कुछ कहने का अवसर मिल जाता है। इस जैमिनीयसंहिता में कुछ ऐसे उद्धरणों की प्रतीकें मिलती हैं जो कि सामसंहिता में नहीं मिलतीं। सामविधानब्राह्मण (कौथुमीयशाखा का) इस सामसंहिता का अंश ही है। देखिये—Konow की सामविधान ब्राह्मणके अनुवाद की भूमिका, पृ० १९। Burnell यह बता चुका है कि 'अयमग्निः श्रेष्ठतमः' यह उद्धरण जैमिनीयसंहिता का है। Konowके मतानुसार 'यदितस्तन्वो मम' इस प्रतीक का पता नहीं चलता। अब क्योंकि ये दोनों प्रतीक ऐसे मन्त्रों की हैं, जो कि जैमिनीयसंहिता में मिलती हैं, और क्योंकि सामविधान ब्राह्मण के और बाकी उद्धरण जैमिनीयसंहिता में मिलते हैं × इसलिये यह अनुमान लगाया जा सकता है कि

× कुछ ऐसे अपवाद मिलते हैं, जिनका सुलझाना भविष्य पर छोडना पडेगा, क्योंकि हमें अभी तक ऊह तथा ऊह्यगान नहीं मिले हैं। इन दोनों की खोज से अभी यह पता लगाना है कि क्या जैमिनीयों को कक्षवर्ग, सेतुषा (सा) म तथा भारण्डसाम मालूम थे? (देखिये Konow का उपरिनिर्दिष्ट ग्रंथ पृ० १९)। सामविधानब्राह्मण में आये हुए आपोहिष्ठीय मंत्र जैमिनीयसंहिता में नहीं मिलते, इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि, ये मंत्र श्रौतसूत्र में पूरे उद्धृत किये हैं। और इन मंत्रों का सामविधानब्राह्मण से विशिष्ट संबंध है, यह Konow के उपरिनिर्दिष्ट ग्रंथ, पृ० ५ पर के कथन से सिद्ध है। यहि बात कि सामविधानब्राह्मण में इसके अतिरिक्त अन्य सामों का प्रयोग अभिचार में ही होता है, मेरे इस अनुमान का पोषण करती है कि हमें प्राप्त सामविधानब्राह्मण पुनः संस्कृत हो चुका है। और Burnell का यह कथन (जैमिनीय-आर्षेयब्राह्मण, भूमिका, पृ० १८) कि 80, 232, 386 और 403 नंबर के मंत्र जैमिनीयों में नहीं मिलते, अशुद्ध है। नं० ३८६ जैमिनीयों की आरण्यकसंहिता में मिलता है और अन्य मंत्र अपने अपने स्थान पर हैं।

शायद सामविधानब्राह्मण वास्तव में जैमिनीयों का ही था और बाद में अन्य सामवेदियों ने उसका संस्करण किया है। किन्तु इस पुनःसंस्करण में इस वास्तविक रूप को उन्हों ने नहीं बदला है। इस बातके अन्य उदाहरण भी मिलते हैं, जैसे कि पैप्पलादशाखा का प्रायश्चित्तसूत्र, अन्य अथर्ववेदियों के भी काम आता है। *

जैमिनीयसंहिता के इस संस्करणमें, जिसका आधार कि Burnell की हस्तलिखित प्रति है, प्रत्येक मंत्र, जो कि ऋग्वेद या (कौथुमीयशाखाके) सामसंहितामें मिलता है, आदि तथा अन्त के पद द्वारा निर्दिष्ट है। इन दोनों पदोंके बीचमें (कौथुमीय) सामसंहिताकी लगातार गणनाके अनुसार संवादीमंत्र की संख्या दे दी गई है। यही लगातार गणना आर्षेय ब्राह्मणमें भी प्रयोग की गई है और Aufrecht ने भी अपनी ऋक्संहिताकी सूचीमें साम-मंत्रोंके उद्धरणके लिये इसी लगातार गणना का उपयोग किया है। इस प्रकार संहिताकी आर्षेयब्राह्मणके साथ तुलना सरल हो जाती है। प्रत्येक मंत्र के बादकी संख्या जैमिनीयसंहिता की है। नवीन आये हुए मंत्र पूरे कर दिये गये हैं, तथा अन्य शाखाओंमें आये हुए पाठभेद भी दे दिये गये हैं। पाठ-भेद गिने चुने ही दिये हैं ×, जो स्पष्ट अशुद्धियां हैं, वे नहीं दी गई हैं। जहां जहां मंत्र अशुद्धिसे जोड दिये गये हैं या अलग कर दिये गये हैं, वहां वहां शुद्धि कर दी गई है और तदनुसार हस्तलिखित ग्रंथ में दी हुई संख्या बदल दी गई है। संहिताकी अकारानुक्रमसे सूची दे दी गई है, जो कि Benfey की सूचीका आधार है। इस प्रकार जो जैमिनीय संहिताका अध्ययन करना चाहेगा, उसे हर प्रकारकी सरलता हो जायगी। प्रत्येक अध्याय के आदि या अन्त में आने वाली छंद, इत्यादि पर टिप्पणी जहां जहां संभव है, वहां वहां दे दी गई हैं और Burnell के ५०९ नंबरके खंडित हस्तलिखित ग्रंथ के साथ उनकी तुलना कर ली गई है। अतः निम्न-लिखित संक्षेपको Burnell की हस्तलिखित प्रति का परिशोधित संस्करण समझना चाहिये। (अपूर्ण)

---

* देखिये WZKM. XVIII, p.202 ff.

× जहां जहां ळ मिलता है, वे सब स्थल ३३ पृष्ठ पर उद्धृत कर दिये गये हैं और उनका दुबारा निर्देश नहीं किया गया है।

वेदमन्त्रोंका वर्गीकरण।

(१) पं० जयदेव शर्माजीका आक्षेप।

'वेदमन्त्रोंका वर्गीकरण' यह लेख 'वैदिक धर्म'के मार्गशीर्षके अंकमें प्रकाशित हुआ। इसको पढकर बहुत ही विद्वानोंने अपनी अनुकूल सम्मति लिखकर भेजी और साथ साथ यह भी लिखा कि यदि ऐसा वर्गीकरण किया जायगा, तब वेदमंत्रोंका अर्थ वेदमन्त्रोंके अन्तर्गत प्रमाणों-से हि सिद्ध हो सकेगा, इसमें संदेह नहीं। इतना महत्त्व इस वर्गीकरण का है और वह अनेक विद्वानोंको संमत भी हुआ है।

आज कल जो उठता है, वह वेदभाष्य करने लगता है!!! किसका भाष्य सत्य और किसका अशुद्ध यह एक विवादास्पद विषय हो रहा है। यदि वेदमंत्रोंका वर्गीकरण उक्त लेखके अनुसार एकवार प्रकाशित हो जाय, तब तो कौनसा अर्थ ठीक है और कौनका असत्य, यह आन्त-रिक प्रमाणोंसे हि सिद्ध होगा और कपोल-कल्पित भाष्योंकी और अन्दाधुन्दीसे भाष्य करने-वालोंकी पोल भी खुल जायगी। और भाष्य-कारोंपर इस बातका उत्तरदायित्व आवेगा, कि इस वाक्यका ऐसा अर्थ क्यों किया है, इसके प्रमाण दिये जाय।

आजकल अन्दाधुन्दी इतनी हुई है कि स्व० पं० क्षेमकरणदासजीने अपने अथर्ववेदानुवादमें 'मूत्र' शब्दका अर्थ 'परमेश्वर' कर डाला और पं० जयदेव शर्माजीके भाष्यमें कई द्विवचनी पदोंका, अर्थ 'स्त्रीपुरुष' लिखा गया है। पढनेवाले स्तब्ध होते हैं और ऐसे अर्थोंका आश्चर्य करते हुए चुपहि रहते हैं! स्व० पं० क्षेमकरणदासजी ने जो 'मूत्र' शब्दका भी परमेश्वर अर्थ किया, उसकी जड में यह गलत कल्पना भी कि वेदके सब शब्द ईश्वरवाचक हैं। यह अशुद्ध कल्पना मनमें रखकर जो अनुवाद किया गया है, उसमें ऐसी अशुद्धियां रहना स्वाभाविक ही है।

यहां शंका उपस्थित होती है कि क्या वेदका अर्थ निश्चित, निःसंदेह और सरल करनेके लिये कोई साधन है वा नहीं? या हरएक पण्डित मनमाने अर्थ करता जाय और अपनी मनकी बातें वेदसे कहलवाता जाय? क्या इस अनर्थका कोई परिहार है वा नहीं? सच्चे वेदके अर्थ के जिज्ञासु इस निर्णायक प्रमाणके अन्वेषणमें लगे हुए हैं।

हमने सबसे पहिले यह घोषित किया, कि उक्त प्रकार वेदोंके मन्त्रोंका वर्गीकरण किया जाय, तो वेदका अर्थ स्वयं वेद बोलेगा और वही सत्य अर्थ होगा, क्योंकि वह अन्तर्गत प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ है। आज ऐसा हो रहा है कि लेखक प्रथम मनमें किसी विषयकी धारणा करता है, उसके लिये वेदसे मंत्र लेता है और उसका अर्थ अपने मतानुसार घडता है और अपना मत वेदसे सिद्ध हुआ ऐसा मानता है!!

यह व्यवस्था नहीं, प्रत्युत यह अन्दाधुन्दी है। वेदने जो अर्थ स्वयं बताया है, वही मानवोंका धर्म हो सकता है। वेदके मन्त्रोंको तोडमरोड करके जो बनाया जाता है, वह धर्म नहीं हो सकता, वह तो अधर्म ही है। इसके लिये एक उदाहरण लीजिये। ये मंत्र और अर्थ पं० जयदेव शर्माजीके भाष्योंसे लिये हैं-

वीरसूर्देवृकामा स्योना॥ (ऋ. १०।८५।४४)

(पं० जयदेव शर्माजी का अर्थ) = (वीरसूः) उत्तम पुत्र को उत्पन्न करनेवाली (देवकामा) विद्वानों को वा अपने कान्त पतिको सदा चाहने-वाली (स्योना) सुखकारिणी (एधि) हो।

शंका— यहां मंत्रमें 'देवृकामा' रखकर अर्थ में 'देवकामा' लिया है, इसमें कौनसा सत्य है? अच्छा, देवकामा पद जो अर्थ में लिया है, उसका नियत अर्थ प्रकरणानुकूल क्या है ? विद्वानों को चाहनेवाली या पतिको चाहनेवाली ? अथवा इस पदका अर्थ अनिश्चित ही है ? ऋग्वेदका पाठ कौनसा सत्य है ? क्या इन शंकाओं का उत्तर प्रमाणोंसे किसीके पास है ?

हमारे मतसे यहां का पाठ 'देवकामा' ही निश्चित है और उसका अर्थ भी 'ईश्वरकी भक्ति करनेवाली' यह भी निश्चितहि है। परंतु इन विद्वान् भाष्यकारोंने उक्त प्रकार संदेह फैलाया है। इसीका अथर्ववेदमें इसी विद्वान् भाष्यकारने जो अर्थ किया है, वह देखिये—

वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि।

(अथर्व० १४।१।१७)

(पं० जयदेवशर्माजीका अर्थ)=(वीरसूः) वीर बालकोंको उत्पन्न करनेवाली (देवृकामा) पतिसे उतरकर देवरको संतान निमित्त चाहने-वाली (सुमनस्यमाना) उत्तम चित्तवाली हो !! तथा—

प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य । (अथर्व० १४।१।१८)

(पं० जयदेवशर्मा का अर्थ)– (प्रजावती) प्रजासे युक्त (वीरसूः) वीर बालकोंको प्रसव करनेवाली (देवृकामा) पतिसे सन्तानके अभाव में देवरकी कामना करनेवाली होकर (गार्हपत्यं) गृहपतिरूप (अग्निं) अपने गृहस्थके नेता पतिको (सपर्य) गार्हपत्याग्नि देवके समान ही पूजा कर॥

आगे येही भाष्यकार इस मन्त्रपर इस तरह टिप्पणी देते हैं– "पाणिग्राह पतिकी सन्तान नाश होनेपर नियोगविधिसे देवर, तद्भावमें सपिण्ड पुरुषसे स्त्री सन्तान प्राप्त करे। वाणीसे प्रतिज्ञा-मन्त्रोंद्वारा पतिको वर लेनेपर भी नियोगविधिसे हि देवर उस कन्याको स्वीकार करे।"

इस टिप्पणीसे पं० जयदेव शर्माजीका यह मत निश्चित है, कि इस मन्त्रमें पाठ 'देवृकामा' है और इसका अर्थ देवरसे संतान प्राप्त करना ही है। फिर यह अर्थ ऋग्वेदमें क्यों नहीं दिया ? या ऋग्वेदमें यह अर्थ नहीं है और केवल अथर्ववेदमें हि है ? यदि ऐसा माना जाय, तो ऋग्वेदमें इस सूक्तके जो ऋषि-देवता हैं, वेही अथर्ववेदमें हैं। न ऋषि दूसरा है और नाही दूसरा देवता । फिर ऋग्वेदका जो मन्त्रभाग 'देवृकामा' पदसे 'अपने कान्त पतिको चाहनेवाली' अर्थ दर्शाता है, वही मंत्रभाग अथर्ववेदमें 'देवरसे पुत्र उत्पन्न करनेकी आज्ञा' किस तरह देता है?

क्या वेदके शब्द इस तरह मनमाना अर्थ दर्शानेवाले हैं ? हमारे मतसे इस सूक्तमें ऋग्वेद और अथर्ववेद में दोनों स्थानोंका मंत्रपाठ 'देवकामा' हि निश्चित है और सर्वत्र अर्थ 'ईश्वरभक्ति करनेवाली' यह भी निश्चित ही है। किसी भी माननीय गृह्यसूत्रकारोंने इस मंत्रमें देवृकामा पाठ माना ही नहीं, चाहे वे ऋग्वेदके हों या अन्य वेदोंके !

क्या ऐसे स्थलोंमें भाष्यकारको अपने अर्थ के लिये सर्वथा उत्तरदायी नहीं होना चाहिये ? यहां हमने पं० जयदेव शर्माजीके तथा स्व० पं० क्षेमकरणदासजीके वेदानुवाद से उदाहरण दिये हैं, इसका यह मतलब नहीं है कि, उनके कार्यपर हमें आक्षेप करना है। ये उदाहरण केवल इसीलिये दिये हैं कि ऐसे स्थान बडे गंभीर विचारसे विचार करने योग्य होते हैं, और इनका अर्थ उत्तरदायित्वके भारके साथ करना चाहिये। ऊटपटांग अर्थ लिख मारनेसे वेदका भाष्य नहीं हो सकता। वैसा जो होगा वह वेदका अनर्थ ही होगा, जो इस समय हो रहा है।

आजकल जिन्होंने वेदानुवाद किये हैं, उनमें कुछ दोष हुए तो उनकी क्षमा ही करनी योग्य है। क्योंकि साधनग्रंथ अभीतक जैसे चाहिये वैसे बने नहीं, अतः उन ग्रंथोंके अभावमें जो कुछ बनाया जा रहा है, वह तब तक आक्षे-पणीय समझना नहीं चाहिये, जबतक साधन-ग्रंथ तैयार नहीं होते। इसी कारण भाष्य और

अनुवाद करनेके पूर्व साधनग्रन्थ निर्माण करने में सब बल लगाना चाहिए। इसी उद्देश्यसे हमने 'वेदमन्त्रोंका वर्गीकरण' यह लेख लिखा। यदि इस तरहका वर्गीकरण वेदाभ्यासके भावसे किया जाय, तब तो वेदका अर्थ करनेके प्रमाण स्वयं वेदमंत्रोंके अन्दरसे स्वयं प्रकाशित होंगे, और अर्थ करनेवाले उनकी सहायता से वदका अर्थ असंदिग्ध रीतिसे करनेमें समर्थ होंगे।

उस लेखमें जितने वर्गीकरण दिये हैं, उतनेही वर्ग हैं और अधिक नहीं, ऐसा हमारा आग्रह नहीं है, प्रत्युत कई अधिक वर्ग होना संभव है, जैसा समान उपदेश दनेवाले मंत्र, विषम उपदेश देनवाले मंत्र, प्रश्नार्थक मंत्र, उत्तरार्थक मंत्र, आदि अनेक वर्गीकरण और अधिक भी करने आवश्यक होंगे, जिनका बोध वर्गीकरण करनेके समय होना संभव है। अर्थात् हमने वह लेख किसीपर आक्रमण करने की इच्छासे नहीं लिखा था, अपितु वेदाभ्यास की दृष्टिसे ही लिखा था।

परंतु श्री पं० जयदेव शर्माजीने उसका करीब करीब 'आर्यमित्र' में उपहासहि किया है। प्रथम लेखमें हमने बताया था कि वेदमें 'वेद-श्रुति-निगम' आदि शब्द यद्यपि आधुनिक वाङ्मयमें समानार्थक माने जाते हैं, तथापि मूलमें उनके अन्दर अर्थका भेद है और उनके विभिन्न उदाहरण दर्शाकर बताया था कि इस तरह वर्गीकरण किया जाय, तो वेदार्थ करने में सुविधा हो सकती है।

इस लेखपर पं० जयदेव शर्माजीका सर्वप्रथम आक्षेप यह है कि 'श्रुति-वेद' ये शब्द विभिन्नार्थक किसी स्थानपर प्रयुक्त ही नहीं हुए हैं। इस विषयमें पं० जयदेव शर्माजी की संतुष्टि के लिये हम श्रीमद्भगवद्गीताकी साक्षी देना चाहते हैं- देखिये—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
(गी. अ. २।५३)

"श्रुतिसे विप्रतिपन्न हुई तेरी बुद्धि जब निश्चल होगी, तब याग सिद्ध होगा।" यहां श्रुतियोंके कारण बुद्धि विप्रतिपन्न, चञ्चल, अस्थिर, भ्रान्त होती है, ऐसा गीतामें कहा है। तथा--

वेदानां सामवेदोऽस्मि। (गी. अ. १०।२२)
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः॥ (गी. अ. १५।१५)

"वेदोंमें सामवेद ईश्वरका रूप है। और सर्व वेदोंद्वारा एक ईश्वरकाही ज्ञान होता है।"

यदि श्रीमद्भगवद्गीताकारके मत से श्रुति और वेद एक ही वस्तु के दो नाम हैं और जैसा कि पं० जयदेव शर्माजीका मत है, वैसे ये शब्द पर्याय ही हैं, तब तो 'श्रुति से मति विप्रतिपन्न होती है', इसका तात्पर्य वेदसे मति चञ्चल होती है, ऐसाही होगा और इस तरह, चञ्चलता बढानेवाले वेद ईश्वरका रूप दर्शाने में किस तरह समर्थ होंगे? यह एक बडा सदेहका स्थान होगा। परंतु श्रुति और वेदमें भेद माननेसे यहां अर्थका कोई भ्रम नहीं हो सकता। जिससे मतिमें चञ्चलता होती है वे श्रुतियां भिन्न हैं और जिन वेदोंसे ईश्वरका साक्षात्कार होता है और मन स्थिर होकर आत्मदर्शन होता है, वे वेद मंत्र भिन्न हैं, ऐसा माननेसे उक्त भगवद्गीता की आद्योपान्त संगति लगती है। श्रुति और वेदके जो लक्षण हमने अपने पूर्व लेखमें बताये, उनमें यह सब विवेचन किया है। अतः उनका पुनः विचार करनेकी आवश्यकता यहां नहीं है।

इसलिये पं० जयदेव शर्माजीके सन्मुख हम नम्र भावसे गीता की उक्त साक्षी रखना चाहते हैं और उससे दर्शाना चाहते हैं कि उस ग्रंथमें श्रुति और वेद इन शब्दोंका प्रयोग विभिन्न मन्त्रभागोंके उद्देश्यसे किया है। इसी तरह अन्य आम्नायादि के विषयमें भी बताया जा सकता है, परंतु हमारे मतसे इतना प्रतिपादन पं० जयदेव शर्मा जैसे विद्वानोंके लिये पर्याप्त है।

अनेक ग्रन्थोंमें श्रुति-वेद-समाम्नाय आदि शब्द एकार्थवाची प्रयुक्त हुए हैं, इससे उनका विभिन्न अर्थ लुप्त नहीं हो सकता। निरुक्तके एकार्थवाची अनेक शब्द भी भिन्नार्थक कैसे हैं

इसकाभी विवरण हमने अपने पूर्वलेखमें किया है। इससे हमारी स्थापना पुष्ट होती है। और यदि स्वयं पं. जयदेव शर्माजी भी इस तरह वेदमंत्रोंका वर्गीकरण करेंगे, अथवा हमारा किया हुआ मुद्रित करवा देंगे, तो उनका ही भाष्य वेदान्तर्गत प्रमाणोंसे पुष्ट होता है या विरुद्ध अर्थ बताता है, इसका निश्चय होनेमें यह संग्रह बडा सहायक हो सकेगा। अतः यह हमारा बताया हुआ वेदवर्गीकरण उनकोही बडा उपयोगी होनेवाला है। क्षणमात्र मानभी लें कि श्रुति-वेद आदि शब्द समानार्थकही हैं, तथापि पूर्वकथित वर्गीकरण करनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि वेदमंत्रोंका कैसा भी वर्गीकरण किया, तो भी उनका वेदत्व मारा नहीं जा सकता, अतः किसी तरह भी वर्गीकरण करनेपर डरनेका कोई प्रयोजन नहीं है।

अस्तु। इस तरह श्रीमद्भगवद्गीताकी साक्षीसे बताया कि वहाँ 'श्रुति और वेद' ये शब्द भिन्न वर्गोंके मन्त्रविभागों के दर्शक हैं। इतना पं० जयदेव शर्माजीके आक्षेप के लियें उत्तर पर्याप्त है।

श्री स्वा० वेदानन्दतीर्थजीका आक्षेप।

श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थजीने हमारे सामवेद-मुद्रण के विषयमें आक्षेप किये हैं। वे लिखते हैं कि "कलकत्तेमें स्व० पं० सत्यव्रत सामश्रमीजीने सामवेद और उसके गान छापे हैं और फिर पं० सातवलेकरजी क्या नया गान छापना चाहते हैं या यह उनका अज्ञान है ?"

पं० सत्यव्रत सामश्रमीजीने जो सायणभाष्य सहित सामवेद और उसके गान छापे थे, वे सब ग्रंथ स्वाध्यायमंडलमें हैं, अतः यह कोई नयी बात नहीं है। परंतु ये ग्रन्थ इस समय दुष्प्राप्य हैं अतः पुनर्मुद्रण करना अत्यंत आवश्यक ही है।

पं० सत्यव्रत सामश्रमीजीने जो सामवेदमुद्रण कलकत्तेमें किया था, जो अब अप्राप्य है, उसमें मंत्रोंकी, पदोंकी, गानोंकी अशुद्धियां अनेक हैं, और कई स्थानपर मंत्रक्रम और मंत्रगणनाकी भी अशुद्धियां हुई हैं। अतः इन सबकी शुद्धि करके सामवेद का पुनः मुद्रण करना अत्यंत आवश्यक है। अशुद्ध धर्मग्रंथोंको कहांतक गलेमें बांधकर रखेंगे? क्या यह लज्जाकी बात नहीं है कि वैदिक धर्मीयों के आधारग्रन्थोंमें से उपासना का प्रधान अंगभूत जो सामवेद वह शुद्ध स्थितिमें किसी जगह नहीं मिलता? इस कलंक को धोनेके यत्न "स्वाध्यायमण्डल" कर रहा है। इस प्रयत्न की सबको सहायता करना चाहिये।

अर्थात् कलकत्ते में ४० वर्ष पूर्व छपा हुआ सामवेद हमारे पास है। उसका पता हमें है। इतनाही नहीं; परंतु तंजावरके सुप्रसिद्ध सामवेदियोंके द्वारा छपा संपूर्ण गानों सहित सामवेद हमारे पास है, परंतु वह ग्रन्थलिपि में छपा है। अतः उसका पढना सबके लिये असंभव है। अर्थात् ये ग्रंथ होते हुए भी एक अप्राप्य और दूसरा अपाठ्य होनेके कारण देवनागरी अक्षरोंमें शुद्ध सामवेद का संपूर्ण गानोंके समेत मुद्रण होना अत्यंत आवश्यक है। यही अत्यावश्यक कार्य हम कर रहे हैं, इसमें श्री स्वामी वेदानंदजी को असमाधान क्यों हो रहा है?

सामवेदका जो हम मुद्रण कर रहे हैं, उसमें कई विशेषताएं भी हैं, वे ये हैं—

(१) कलकत्तेमें तथा अजमेरमें जो सामवेद छापे थे, उनकी संपूर्ण अशुद्धियां दूर करनेका यत्न किया है।

(२) कौथुमी, राणायणी, जैमिनी आदि शाखाओंकी संहिताओंका पाठभेद संग्रहित करके गानग्रन्थोंमें ये सब पाठभेद दिये जा रहे हैं। इस से तीनों चारों सामशाखाओंका परिचय पाठकों को होगा।

(३) सामगानोंके सभी शाखाओंके संपूर्ण गान हमारे गानग्रंथोंमें छापे जायंगे और मंत्रोंसे गानका विस्तार करनेका ढंग भी दर्शाया जायगा, और कई गानोंकी 'सा-री-ग-म' दर्शाकर समग्र गान किस तरह गाये जाने चाहिये, इस का ढंग भी बताया जायगा। आजतक सब शाखाओंके सब गान किसीनेभी इकट्ठे किये नहीं

और सामगानके गायनका भी शास्त्रीय ढंग किसीने किसी जगह दिया नहीं, जो सर्वप्रथम स्वाध्यायमण्डल द्वारा ही प्रकाशित हो रहा है।

(४) सामगानका नोटेशन सिद्ध करनेका प्रयत्न बिलकुल शास्त्रीय रीतिसे किया जा रहा है, जिसके लिये काशी, गुजराथ, म्हैसूर, मद्रास आदि स्थानोंसे परंपरासे पढे सामवेदी लाकर उनके गान देखकर उनका शास्त्रीय ढंग निश्चित करके सामगानके सब चिह्नोंका निर्णय किया गया है। सामपाठी उक्त स्थानों में हैं, परंतु सामगायक कहीं भी नहीं हैं, क्योंकि वेदपाठोंको वेद कण्ठ होता है, वैसा मंत्रगायन नहीं आता। इस न्यूनता को दूर करनेका यत्न किया जा रहा है।

(५) मामूलीसे मामूली बातके लिये कितना परिश्रम करना पडता है, वह देखिये। नारदीय शिक्षामें कहा है कि—

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।

'जो सामगानमें "१" एक अंक से स्वरका निर्देश है,वह वेणु (मुरली) का मध्यम स्वर है।' इससे अन्य स्वर किस तरह सिद्ध होते हैं, वह वैदिक धर्म में मुद्रित किये पूर्व लेखमें दर्शाया ही है (देखो वैदिक धर्म—आश्विन क्रमांक २२६)

यहां 'अंक१' का अर्थ 'म' स्वर निश्चित हुआ, परंतु अनेक प्रकारकी वेणुओंसे अनेक प्रकारके मध्यम स्वर उत्पन्न होते हैं, उनमेंसे कौनसा स्वर नारदीय शिक्षामें कहा है, जो सामवेद में गाया जाना चाहिये, यह एक बडा खोजका विषय है। इसका निश्चय करनेके लिये हमारे प्राचीन ऋषिमुनियोंने 'वेणु' का प्रमाण क्या निश्चित किया था, इसका निश्चय करना आवश्यक हुआ। इस विषयमें भरताचार्य का ग्रंथ प्राचीन से प्राचीन उपलब्ध है, इससे प्राचीन ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है। उसमें जो आर्ष वेणु का वर्णन और परिमाण दिया है, उसके अनुसार ठीक ठीक मापकी वेणु बनायी गई। इसके बनानेके लिये भी बहुत खोज करनी पडी और अनेक वार यत्न करना पडा। इस साधारण सी बातके लिये समय, व्यय और परिश्रम बहुत ही करने पडे। तब जाकर वह प्राचीन वेणु सिद्ध हुई। इसके सब स्वर ठीक हैं, ऐसा निश्चय कराकर, जब सब स्वर ठीक होनेका निश्चय हुआ, तब उसी वेणुका 'म' (मध्यम) स्वर सामका '१' अंक से गाया जानेवाला स्वर है, ऐसा निश्चय हुआ।

प्रत्येक विषयमें इस तरह खोज की जा रही है। प्रत्यक्ष सामगायक रखे हैं, जिनके स्वर इस तरह देखे जाते हैं। काशीसे मद्रास तक जो इसकी खोज के लिये भ्रमण करना पडा है, उसमें भी कितना व्यय हुआ है। इतने अथक परिश्रम से सामवेदकी प्रत्येक बात निश्चित की जा रही है। इसपर भी श्री० स्वा० वेदानन्दतीर्थजी पूछ रहे हैं कि 'यह अज्ञान है वा घमंड है?'

मैं स्वामिजीसे कहना चाहता हूं कि वेही इसका निर्णय करें। जिसको इस खोजका मूल्य समझता नहीं उसको हम नहीं समझा सकेंगे। जो समझेंगे वेही इसका महत्त्व जानेंगे और वेही सहायता करेंगे। अन्य लोग निंदा कर सकते हैं, वे वैसा करते जांय।

आगे स्वा० वेदानंदजी क्रोधसे पूछते हैं कि "पं० सातवलेकरजी अजमेरमुद्रित सामवेद की अशुद्धियां क्यों दर्शाते हैं ?" उत्तर में निवेदन है कि अशुद्धियां शीघ्रही दूर होनी चाहिये। अशुद्धियां छिपा छिपाकर रखनाही बुरा है। यदि उन्नति होगी, तो अशुद्धि को दूर करनेसे ही होगी। इसीलिये उनको बताया जाता है। इसमें कोई द्वेषभाव नहीं है।

धर्मपुस्तकमें एक भी अशुद्धि नहीं रहनी चाहिये। सब विद्वानों को इसके लिये हि यत्न करना चाहिये। अतः अशुद्धि का दर्शाना बुरा नहीं है। जो लोग स्वाध्याय-मण्डलके ग्रंथोंमें अशुद्धियां दर्शाते हैं, उनका हम स्वागत करते हैं, उनको धन्यवाद देते हैं। जो लोग अशुद्धियों को गुप्त रखना चाहते हैं, वे ही धर्मके विरोधी हैं।

चतुर्थ नियम

(लेखक— पं० मदनमोहन विद्याधर, विज्ञगापट्टम्)

"सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोडने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।"

हे विश्वगुरो ! मुझको असत् (मिथ्या) और अनित्य पदार्थ तथा असत् काम से छुडाके सत्य तथा नित्य पदार्थ और श्रेष्ठ व्यवहार में स्थिर कर। [हे जगन्मङ्गलमय ! सब दुःखों से मुझको छुडाके, सब सुखों को प्राप्त कर (करा)] (आर्याभि० द. ग्र. प्र. भा. पृ. ३८)

हे सच्चिदानन्द ! सत्यव्रतों का आचरण मैं करूंगा। मैं अनृत अनित्य दोहादि पदार्थों से पृथक् होके इस यथार्थ सत्य जिसका कभी व्यभिचार विनाश नहीं होता, उस विद्यादि लक्षण धर्म को प्राप्त होता हूं (आर्याभि० द. ग्र. प्र. भा. पृ०७१)

सब मनुष्यों को सब प्रकार से, सब काल में, सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं। ... हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में ... प्रीति कभी मत करो। (ऋग्वेदादि द. ग्र. द्वि. भा. पृ०३७८)

सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और युक्ति का उत्तम सुख मिलता है। (ऋग्वेदादि०द. ग्र. द्वि. भा. पृ० ३९६)
जो सत्य का आचरण करनेवाला है, वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण अर्थात् झूठे कामों का करनेवाला है, वह सदा पराजय और दुःख को ही प्राप्त होता है। ... सत्य से ही सुख को प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्यधर्म का आचरण और असत्य का त्याग सब मनुष्यों को उचित है। (ऋग्वेदादि० द. ग्र. द्वि. भा. पृ० ३९९)

सब दिन मिथ्यावाद को छोड के सत्य ही बोलना चाहिये। (ऋग्वेदादि० द. ग्र. द्वि. भा. पृ० ४४८)
हम लोग ... सर्वज्ञ सत्यस्वरूप सत्य न्याय करनेवाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा होके यथावत सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। (ऋग्वेदादि० द. ग्र. द्वि. भा. पृ० ४५३)

सत्याचरण का ठीक ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है, तब वह जो जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे वे सब सफल हो जाते हैं। (ऋग्वेदादि०द. ग्र. द्वि भा. पृ० ४७६)

जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता, जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थानमें सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना लिखना मानना सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य का भी सत्य और दूसरे विरोधी मतवाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है, इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसी लिये विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि, उपदेश वा लेखद्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग कर के सदा आनन्द में रहें। (स० प्र० भूमिका, द. ग्र. प्र. भाग पृ. ७८)

आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में वे पक्षपात छोड सर्वतंत्र सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सबके अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्तें वर्तावें, तो जगत् का पूर्ण हित होवे। क्योंकि विद्वानों के

विरोध से अविद्वानों में विरोध बढकर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है। इनमें से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य में धर प्रवृत्त होता है, उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु **सत्यमेव जयते नानृतं,सत्येन पन्थाः विततो देवयानः** अर्थात् सर्वथा सत्य का विजय और असत्य का पराजय और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है। इस दृढ निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थ प्रकाश करने से नहीं हटते। (स. प्र. भूमिका द. ग्र. प्र. भाग.)

अब तो बहुत से मतवाले होने से बहुत सा दुःख और विरोध बढ गया है, इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अङ्कुर डाले कि, जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोध भाव छोडके आनन्द को बढावें। (स. प्र. दशम समु० पृ. ३९७)

विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय कर के सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं। (स. प्र. दशम समु पृ. ३९८)

.. सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्तना उचित है। मनुष्यजन्म का होना सत्यासत्य के निर्णय करने कराने के लिये है, न कि वादविवाद विरोध करने कराने के लिये। इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो जो अनिष्ट फल हुए होते हैं और होगें उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तथा अन्योन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड सत्यासत्य का निर्णय करके सत्यका ग्रहण और असत्य का त्याग करना कराना चाहें, तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सब को विरोधजाल में फंसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फंसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें, तो अभी ऐक्यमत हो जायें। ... सर्वशक्तिमान् परमात्मा एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करे। (स० प्र० उत्तरार्ध, अनुभूमिका १, द० ग्र० प्र० भा० पृ० ४००)

जब तक वादीप्रतिवादी होकर प्रीति से वाद या लेख न किया जाय, तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वान् लोगों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता, तभी अविद्वानों को महा अन्धकार में पडकर बहुत दुःख उठाना पडता है, इसलिये सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना मनुष्यजाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो। (स० प्र० उत्तरार्ध, अनुभू० २, द० ग्र० प्र० भा० ५५१-५५२)

..सब मनुष्यों को उचित है कि, सबके मतविषयक पुस्तकों को देख समझ कर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें, नहीं तो सुना करें। क्यों जैसे पढने से पण्डित होता है, वैसे सुनने से बहुश्रुत होता है। यदि श्रोता दूसरे को नहीं समझा सके, तथापि आप स्वयं तो समझ ही जाता है, जो कोई पक्षपातरूप यानारूढ होके देखते हैं, उनको न अपने और न पराये गुणदोष विदित हो सकते हैं। मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है। जितना अपना पठित व श्रुत है, उतना निश्चय कर सकता है। यदि एक मतवाले दूसरे मतवाले के विषयों को जानें और अन्य न जानें, तो यथावत् संवाद नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी किसी भ्रमरूप बाडे में घिर जाते हैं। ... जो जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं, वे तो सब में एक से हैं ... यदि वादीप्रतिवादि सत्यासत्य निश्चय के लिये वादप्रतिवाद करें, तो अवश्य निश्चय हो जाय। (स० प्र० उत्तरार्ध, अनुभूमिका ३, द० ग्र० प्र० भा० ६३१, ६३२)

... यही सज्जनों की रीति है कि अपने व पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों को ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ दुराग्रह

न्यून करें करावें। क्योंकि पक्षपात से क्या क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं? सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंग जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है। (ऋ० भ० उत्तरार्धं अनुभूमिका ४ पृ० ७०३)

पितृयज्ञ से जब मातापिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा, तब उसका ज्ञान बढेगा। उससे सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। ... जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते, तब तक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य-विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। बिना अतिथियों के सन्देह-निवृत्ति नहीं होती, सन्देहनिवृत्तिके विना दृढनिश्चय भी नहीं होता। निश्चयके बिना सुख कहां? (स.प्र. ४ र्थसमु० पृ १९९)

जब सच्चा उपदेश न रहा, तब (आर्य्यावर्त्त में) अविद्या फैल कर परस्पर में लडने झगडने लगे। ... क्योंकि जब उत्तम उत्तम उपदेशक होते हैं, तब अच्छे प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं। और जब उत्तम उपदेशक और श्रोता नहीं रहते, तब अन्धपरम्परा चलती है। फिर भी जब सत्पुरुष उत्पन्न होकर सत्योपदेश करते हैं, तभी अन्धपरम्परा नष्ट होकर प्रकाश की परम्परा चलती है। (स. प्र. एकादश समु० पृ. ४०९)

हम तो यही मानते हैं कि, सत्य भाषण, अहिंसा, दया आदि शुभ गुण सब मतों में अच्छे हैं। बाकी वादविवाद, ईर्ष्या, द्वेष, मिथ्या भाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं। यदि तुमको सत्य मत ग्रहण की इच्छा हो, तो वैदिक मत को ग्रहण करो। (स. प्र. चतुर्दश समु० पृ.७८७)

यह मेला (चांदापुर) सत्य और असत्यनिर्णय के लिये किया गया है, इसलिये हम तीनों (आर्य, मुस्लिम, ईसाई) को उचित है कि, पक्षपात छोडकर प्रीतिपूर्वक सत्य का निश्चय करें, किसी से विरोध करना कदापि योग्य नहीं। (सत्यधर्मविचार, द. ग्र. प्र. सा.पृ. ८१७)

यह मेला (चांदापूर) केवल सत्यनिर्णय के लिये किया गया है और यह ही... प्रयोजन है कि देखें सब मतों में कौनसा मत सत्य है, जिसको सत्य समझें, उसी को अंगीकार करें, इसलिये यहां हार और जीत की अभिलाषा किसी को नहीं होनी चाहिये, क्योंकि सज्जनोंका यह ही मत होना चाहिये कि, सत्य की सर्वदा जीत और असत्यकी सर्वदा हार होती रहे। विद्वानोंके बीच यह नियम होना चाहिये कि अपने अपने ज्ञान और विद्या के अनुसार सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन कोमल वाणी के साथ करें कि जिससे सब लोग प्रीति से मिलकर सत्य का प्रकाश करें। एक दूसरे की निन्दा करना, बुरे वचनों से बोलना, द्वेष से ही कहना कि, यह हारा और मैं जीता ऐसा नियम कदाचित् न होना चाहिये। सब प्रकार पक्षपात छोडकर सत्य भाषण करना सबको उचित है। और एक दूसरेसे विरोधवाद करना, यह अविद्वानों का स्वभाव है, विद्वानों का नहीं। [सत्यधर्मविचार पृ. ८२४,८२५]

पक्षपात को छोडकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करके अर्थको सिद्ध करना चाहिये। सब अन्याय, अधर्म और पक्षपात से होता है। [सत्यधर्म-विचार पृ. ८३९]

जब सभा में जावे तब दृढनिश्चय कर लेवें कि, मैं सत्य को जिताऊं और असत्य को हराऊंगा [अभिमान न रक्खें, अपने को बडा न मानें। अपनी बात का कोई खण्डन करे, उस पर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न हो।] जो कोई कहे उस वचन को ध्यान देकर सुनके जो उसमें कुछ असत्य भाग हो, उस अंशका खण्डन अवश्य करें और जो सत्य हो, तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे, [बडाई छोटाई न गिने, व्यर्थ बकवाद न करें] कभी मिथ्या का पक्ष न करे और सत्य करे कदापि सत्यको न छोडें (ऐसी रीतिसे बैठे वा उठे कि जिस से किसी को बुरा विदित न हो। सर्वहित पर] दृष्टि रक्खे, जिसमे सत्य की बढती और असत्य का नाश हो, उसको करे। (सज्जनोंका संग करे और दुष्टोंसे अलग रहें।) जो जो सत्य से विरुद्ध न हो और उसको सर्वदा यथावत् पूरी करें। (व्यवहार पृ.७४०)

यदि सभामें प्रवेश करे, तो सत्य ही बोले, यदि सभामें बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनकर मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले, वह मनुष्य अति पापी है। (संस्कारविधि, पृ. २११)

पञ्चम नियम

(लेखक–पं० मदनमोहन विद्याधर, विझगापट्टम्)

"सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएँ ।"

जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपातरहित न्याय सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होनेसे सब मनुष्यों के लिये यही एक मानना योग्य है, उसको धर्म कहते हैं।... जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोडकर और पक्षपातसहित अन्यायी होके विना परीक्षा करके अपना ही हित करना है, जो अविद्या हठ क्रूरतादि दोषयुक्त होनेके कारण वेदविद्या से विरुद्ध है और सब मनुष्यों को छोडने के योग्य है, वह अधर्मी कहाता है। (आर्योद्दे. द. ग्र. प्र भा. पृ८९१, रत्न सं.२,३)

जो पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदोंसे अविरुद्ध है, उसको धर्म और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण मिथ्या भाषणादि ईश्वराज्ञा-भंग वेदविरुद्ध है, उसको "अधर्म" मानता हूं। (स्वमन्त० प्र. स. ३)

सब अन्याय, अधर्म और पक्षपात से होता है... पक्षपातसे ही नित्य अधर्म होता है। अधर्म से काम को सिद्ध करना, इसीको अनर्थ कहते हैं। ...ईश्वर की आज्ञा का पालन करना, इस को धर्म और उसकी आज्ञा का तोडना इसको अधर्म कहते हैं। सो धर्म आदि ही मुक्ति के साधन हैं। (सत्यधर्मविचार पृ. ८३९)

धर्मका स्वरूप न्यायाचरण है। न्यायाचरण उसको कहते हैं, जो पक्षपात को छोडकर सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना। (ऋग्वेदादि० पृ. ३१५)

जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्यका परित्याग पांचों परीक्षाओं (पृ. ७३८ में कथित) के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञापालन, परोपकार करना रूप धर्म, जो इससे विपरीत वह अधर्म कहाता है। क्योंकि जो सबके अविरुद्ध वह धर्म और जो परस्पर विरुद्धाचरण सो अधर्म। पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचार अधर्म। सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है। (व्यवहारभानु, पृ. ७३९)

जो पक्षपातरहित सत्याचरण करना है, वह न्याय और जो पक्षपात से मिथ्याचरण करना है, वह अन्याय कहाता है। जो न्यायाचरण सबके हित का करना आदि कर्म हैं, उनको धर्म जो अन्यायाचरण सबके अहित के काम करने हैं, उनको अधर्म जानो। (व्यवहार भानु, पृ. ७४६)

उत्तम संन्यासी अकेला भी जिस धर्मव्यवहार के करने का निश्चय करे, वही परम धर्म समझना, किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों लाखों और क्रोडों पुरुषों का कहा हुआ, धर्म-व्यवहार कभी न मानना चाहिये, किन्तु धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परम विद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सबको मानना चाहिये। (संस्कारविधि, पृ. २१०)

जिसको सत्पुरुष रागद्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी को तुम लोग धर्म जानो। (संस्कारविधि, पृ. २११)

धर्म, न्याय नाम पक्षपात छोडकर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना, इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं। (अहिंसा) किसी से वैरबुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न बर्तना। (धृतिः) सुखदुःख, हानिलाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोडना, किन्तु धैर्य से ही धर्म में स्थिर रहना। (क्षमा) निन्दा, स्तुति, मानापमान का सहन करके धर्म ही करना। (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना। (अस्तेयम्) मन कर्म वचन से अन्याय

और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना। (शौचम्) रागद्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना। (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटा के धर्म ही में चलाना। (धीः) वेदादि सत्यविद्या ब्रह्मचर्य सत्संग करने और कुसंग दुर्व्यसन मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढाते रहना। (विद्या) जिससे भूमि से लेके परमेश्वर-पर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना। (सत्यम्) सत्य मानना सत्य बोलना सत्य करना। (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोडकर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है और अन्याय पक्षपात-सहित आचरण अधर्म जो कि हिंसा वैरबुद्धि, अधैर्य असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीत कर अधर्म में चलाना, कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि को नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण अज्ञान है, उसमें फंसना, असत्य मानना, असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फंसकर, अधर्मी, दुराचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं, इनसे सदा दूर रहना चाहिये। (संस्कारविधि, पृ० २१०, २११)

वेद, स्मृति, वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेदद्वारा परमेश्वर-प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है, जैसा कि सत्य भाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माऽधर्म का निश्चय होता है, जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है। उसीका नाम धर्म और इससे विपरीत जो पक्षपात-सहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसीको अधर्म कहते हैं। (स. प्र, तृतीय समु. पृ० १३९)

(प्रश्न) सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है? क्योंकि जिसको एक सत्य कहता है, दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है, उसका निर्णय करने में क्या क्या निश्चय साधन हैं? (उत्तर) पांच हैं। उनमें से प्रथम ईश्वर, उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या; दूसरा सृष्टिक्रम; तीसरा प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण; चौथा आप्तों का आचार-उपदेश, ग्रंथ और सिद्धान्त; और पांचवा अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान। (आगे उदाहरण दिये गये हैं) जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रियामें, होने जानने जनाने की इच्छा, शुद्ध भाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिये। इन पांच प्रकार की परीक्षाओंमें पढते पढाने हारे तथा सब मनुष्य सत्याऽसत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें। (व्यवहार० पृ० ७३७, ३८, ३९) (तुलना करो स. प्र. तृतीय समुल्लास द. ग्र. प्र. भा. पृ.१४०)

परीक्षा पांच प्रकार की होती है। इसमें से प्रथम जो ईश्वर उसके गुणकर्मस्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवी अपने आत्मा की पवित्रता विद्या इन पांच परीक्षाओं से सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना, चाहिये। (स्वम. प्र. सं. ३९)

जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण वेदविद्या, आत्मा की शुद्धि और सृष्टिक्रम से अनुकूल विचार के सत्यासत्य को ठीक ठीक निश्चय करना है, उसको परीक्षा कहते हैं। (आर्योद्दे० रत्न सं० ५२, पृ. ८९९)

जो मनुष्य महामूर्ख हैं, वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश और झूठ से ही व्यवहार की सिद्धि होती है। परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठ समझ ले तो उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास सब नष्ट होकर उसके सब व्यवहार नष्ट हो जाते हैं और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोडकर सत्य ही कहते हैं, उनको लाभ ही लाभ होते हैं, हानि कभी नहीं। क्योंकि सत्य व्यवहार करनेका नाम धर्म और विपरीतका का अधर्म है। क्या धर्म का सुखलाभरूपी और अधर्म का दुःखरूपी फल नहीं होता? ... इसलिये जिस सत्य से चल के धार्मिक ऋषि लोग जहां सत्य की निधि परमात्मा हैं, उसको प्राप्त होकर आनन्दित हुए थे और अब भी होते हैं, उसका सेवन मनुष्य लोग क्यों न करें? यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म और न असत्य से परे कोई अधर्म है। इससे धन्य मनुष्य वे हैं

जो सब व्यवहारों को सत्य ही से करते और झूठ से युक्त कर्म किंचिन्मात्र भी नहीं करते हैं। (व्यवहारभानु पृ. ७५३)

धर्म तो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्यका परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियोंका का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है। (स. प्र. पंचम समु. पृ० २२८)

सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि-प्रमाणों से परीक्षण की गई हो वा की जाय, वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है। उसके आचरण में सब दिन प्रीति रखो और ''' अपने आत्मा, प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो। (ऋग्वेदादि० पृ. ३७८)

सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नही है। क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्योंको व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है। जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते। इसलिये सब मनुष्यों को सत्यमें ही रमण करना चाहिये।... जो न्याय और पक्षपात को छोडकर सत्यका आचरण और असत्यका परित्याग करना है, उसीको धर्म कहते हैं।...(ऋग्वेदादि पृ.३९६)

सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है, उस से सब लोगों का, प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति का सुख भी मिलता है। तथा सत्पुरुषोंमें सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है।... धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्मसे ही लोग पापों को छुडा देते हैं, जितने उत्तम काम हैं, वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसलिये सबसे उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। (ऋग्वेदादि. पृ. ३९७)

मनुष्यों को योग्य है कि काम से अर्थात् झूठ से कामना-सिद्धि होने के कारण से वा निन्दास्तुति आदि के भय से भी धर्म का त्याग कभी न करे और न लोभ से, चाहे झूठ अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो, तथापि धर्म को छोडकर चक्रवर्ती राज्य को भी ग्रहण न करें। चाहे भोजन, छादन, जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों, परन्तु जीविका के लिये भी धर्म को कभी न छोडें। क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं, तथा सुखदुःख दोनों अनित्य हैं।... धन्य वे मनुष्य, वे हैं जो अनित्य शरीर और सुखदुःखादि के व्यवहार में वर्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते। ... जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते, वे ही धीर पुरुष धन्य हैं। (संस्कार-विधि पृ. २१२, २१३)

जिस पुरुष ने जिसके सामने एकबार चोरी, जारी, मिथ्या भाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्युपर्यन्त नहीं होती। जैसी हानि मिथ्या प्रतिज्ञा करने-वाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी उसके साथ वैसे ही पूरी करनी चाहिये। ... सदा सत्य भाषण और सत्य प्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिये। (स० प्र० द्वितीय समु० पृ. ११७)

(मैंने परीक्षा करके निश्चय किया है कि) जो धर्म-युक्त व्यवहार में ठीक ठीक बर्तता है, उसको सर्वत्र सुख-लाभ और जो विपरीत वर्तता है, वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है। ... जब मनुष्य धार्मिक होता है, तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं और जब अधर्मी होता हैं, तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते। (व्यवहारभूमिका, पृ. ७२३)

सत्पुरुष का लक्षण है कि जैसा आत्मा का ज्ञान, वैसा वचन और जैसा वचन, वैसा ही कर्म करना और जिसका आत्मा से मन, उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म करना है, वही असत्पुरुष का लक्षण है। इसलिये मनुष्यों को उचित है कि सब प्रकार का पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक हों। (व्यवहार भूमिका पृ० ७४९)

...जैसा हमारे हृदय में ज्ञान हो, वैसा ही सदा भाषण करें। इससे विपरीत कभी नहीं। (आर्याभि० पृ. ४९)

धार्मिकों को सदा लाभ ही लाभ होता है और झूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं। इसलिये सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि, सर्वथा झूठ छोडकर सत्य

ही से सब व्यवहार करें, जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहें ।...

सत्य विद्या, सुशिक्षा, सत्पुरुषों का संग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्यादि शुभ गुणों के होने और लाभ के अनुसार व्यय करने से धर्मात्मा होता है और जो इससे विपरीत है, वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता। (क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से डरता और परमेश्वर से भय नहीं करता, वह क्यों कर धर्मात्मा हो सकता है? क्योंकि राजा आदि के सामने बाहर की अधर्मयुक्त चेष्टा करनेमें तो भय नहीं होता, क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते। (व्यवहारभानु, पृ. ७२७)

बहुत मनुष्य ऐसे हैं जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते, किन्तु दूसरोंके दोष देखने में अत्युद्युक्त रहते हैं। यह न्याय की बात नहीं, क्योंकि प्रथम अपने दोष देख निकाल के पश्चात् दूसरोंके दोषोंमें दृष्टि देके निकालें। (स.प्र. द्वादश समु० अनुभूमिका पृ. ५५२)

(प्रश्न.) जो माता, पिता, आचार्य और अतिथि अधर्म करें और कराने का उपदेश करें तो मानना चाहिये वा नहीं? (उत्तर) कदापि नहीं। कुमाता कुपिता सन्तानों को बुरा उपदेश करते हैं।— जो जो तुम्हारे उत्तम कर्म और उपदेश हैं, उन उन को तो हम ग्रहण करते हैं अन्य को नहीं। (परन्तु तुम कैसे ही हो हम को तनमनधन से तुम्हारी सेवा करना परम धर्म है, क्योंकि जैसी तुमने बाल्यावस्था में हमारी सेवा की है, वैसी तुम्हारी सेवा क्यों न करें?... उत्तम माता आदि उनसे कहते हैं कि ... तुमको चाहिये कि जो जो उत्तम चरित्र हैं, सो सो करो और कभी हम भी बुरे काम करें, उनको कभी मत करो।) इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और करानेहारे मातापिता आचार्य-श्रेष्ठ कहाते हैं। (व्यवहारभानु पृ. ७४१-४२-४३)

माता, पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रों! वा शिष्य-लोगों! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं, तुम उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं। जो हमारे बीचमें विद्वान् और ब्रह्म के जाननेवाले धर्मात्मा मनुष्य हैं, उन्ही के वचनों में विश्वास करो।... जब तुमको किसी बातमें सन्देह हो तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित धर्मात्मा मनुष्योंसे पूछ कर शङ्कानिवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस प्रकार से जिस जिस धर्म काम में चलते होवें, वैसे ही तुम भी चलो। (ऋग्वेदादि० पृ. ३९३)

माता, पिता, आचार्य अपने सन्तान और शिष्योंको सदा सत्य उपदेश करें कि जो जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन उन का ग्रहण करो और जो जो दुष्ट कर्म हों, उनका त्याग कर दिया करो। जो जो सत्य जानें उन उन का प्रकाश और प्रचार करें। किसी पाखण्डी, दुराचारी मनुष्य पर विश्वास न करें और जिस जिस उत्तम कर्म के लिये माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें उस उस का यथेष्ट पालन करें। (स० प्र० द्वितीय समु० पृ. ११६—११८)

जिस मार्ग से इसके पिता, पितामह चले हों, उसी मार्ग में सन्तान भी चले, परन्तु (सतां) जो सत्पुरुष पिता-पितामह हों, उन्हीं के मार्ग में चलें और जो पिता पितामह दुःष्ट हों, तो उनके मार्ग में कभी न चले, क्योंकि धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख नहीं होता। जो ऐसा न माने, तो उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे? क्या जिसका पिता अन्धा हो, उसका पुत्र भी अपनी आखों को फोड लेवे? जिसका पिता कुकर्मी हो, क्या उसका पुत्र भी कुकर्म करे? नहीं नहीं, किन्तु जो जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों, उनका सेवन और दुष्ट कर्मोंका त्याग कर देना, सब को अत्यावश्यक है। (स० प्र० चतुर्थ समु० पृ० १७९)

जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो, पर दुष्ट व्यवहारों को छोडकर धार्मिक हो के खानेपीने बोलने सुनने, बैठनेउठने, लेनेदेने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है, वह कहीं कभी दुःख को नहीं प्राप्त होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड के दुष्ट कर्मों को करता है, वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। (व्यवहारभानु पृ. ७६९)

अथर्ववेद।

(लेखक- स्व० पं० रघुनन्दन शर्माजी)

बहुतसे लोगों का ख्याल है कि, अथर्ववेद ऋगादि तीनों वेदों के बाद बना है । वे अपने इस विचार की पुष्टि में दो दलीलें पेश करते हैं। वे कहते हैं कि, एक तो अनेकों जगह त्रयीविद्या का ही नाम आता है और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ही के नाम कहे जाते हैं। दूसरे अथर्ववेद का नाम अथर्ववेद के सिवा अन्य तीनों वेदों में नहीं आता, इसलिए अथर्ववेद बाद का है।

हम यहाँ इन दोनों दलीलों की आलोचना करके बतलाना चाहते हैं कि, ये दोनों दलीले निस्सार हैं। जो लोग कहते हैं कि, त्रयीविद्या से अभिप्राय ऋक्, यजु और साम ही से है, वे ग़लती पर हैं। त्रयीविद्या का यह मतलब ही नहीं है। त्रयीविद्या का अभिप्राय तो ज्ञान, कर्म और उपासना है। ज्ञान, कर्म, उपासना ही का वर्णन चारों वेदों में आता है, इसलिए चारों वेद त्रयीविद्या कहलाते हैं, तीन ही नहीं। महाभारत में लिखा है कि—

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथाङ्गतः।
ऋक्सामवर्णाक्षरता यजुषोऽथर्वणस्तथा।

(महाभारत शांति० १३५)

अर्थात् ऋग्यजुस्साम और अथर्व में ही त्रयीविद्या है। यहाँ त्रयीविद्या के साथ चारों वेदों के नाम दिये गये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि, त्रयीविद्यासे अभिप्राय चारों वेदों से ही है। दूसरी बात यह है कि चारों वेदों में तीन ही प्रकार के मन्त्र हैं, इसलिए चारों वेदों का समावेश तीन में हो जाता है। सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये॥

अर्थात् विनियोग किये जानेवाले मन्त्र चारों वेदों में तीन ही प्रकार के हैं। मीमांसा में इन तीनों प्रकार के मन्त्रों का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि, जिन मन्त्रों के अर्थ के साथ पादव्यवस्था है वे ऋक्, जो गानेयोग्य हैं वे साम और जो इन दोनों के अतिरिक्त हैं वे सब यजु हैं ×। इससे ज्ञात होता है कि चारों वेदों को तीन ही विभागों में विभक्त करने का कारण मन्त्रों के तीन प्रकार और उन मन्त्रों में प्रतिपादित तीन (ज्ञान, कर्म, उपासना) विषय ही हैं। रहा यह कि प्राचीन ग्रन्थों में तीन ही वेदों के नाम कहे गये हैं, यह ग़लत है। समस्त ब्राह्मणग्रन्थों में तीनों वेदों के साथ अथर्ववेद का भी वर्णन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि, **'अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमतेद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः'**। यहाँ स्पष्ट अथर्व का नाम आया है। इसी तरह ताण्ड्य महाब्राह्मण १२।९।१० में लिखा है कि, **'भेषजं वा अथर्वणानि'** अर्थात् अथर्व में औषधि विद्या का वर्णन है। इसके अतिरिक्त यज्ञों में जो ब्रह्मा होता है, वह अथर्व का ही विशेष ज्ञाता होता है। उसके लिए सर्वत्र ही लिखा हुआ है कि- **'अथर्वैवा ब्रह्मा'** अर्थात् ब्रह्मा अथर्ववेदवाला ही हो। इन प्रमाणों से विदित होता है कि, तीनों वेदों के साथ अथर्व की गणना समस्त प्राचीनतम साहित्य में है। इसलिए त्रयीविद्या अथवा कारणवश केवल ऋग्यजुः और साम का ही नाम आ जाने से यह न समझना चाहिये कि अथर्ववेद तीनों वेदों के बाद बना है। अथर्ववेद उतना ही प्राचीन है, जितने प्राचीन ऋग्यजुः और साम हैं।

इस दलील के अतिरिक्त अथर्ववेद के नवीन होने में जो दूसरी दलील दी जाती है कि, अथर्ववेद का नाम ऋग्यजुः और साम में नहीं आता, वह भी निस्सार ही है। हम लिख आये हैं कि अथर्व में भी उसी त्रयीविद्या

× तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः।

का वर्णन है और उसी प्रकार के मन्त्रों का समावेश है, जिस प्रकार से अन्य तीनों वेदों में है, किन्तु अथर्ववेद के मन्त्र कुछ सरलार्थबोधक हैं इसलिए अथर्व का पृथक् अस्तित्व स्थिर किया गया है। मीमांसा में लिखा है कि 'निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्' अर्थात् विशेषता के कारण ही निगद नामक चतुर्थ वेद का अस्तित्व है। अथर्व का निगदत्व ही उसको तीनों से पृथक् किए हुए है। बाक़ी सब बातें चारों की समान ही हैं। यही कारण है कि अथर्व न तो तीनों से अलग ही हो सकता है, न तीनों में समा ही सकता है और न ऋग्यजुः और साम की तरह उसका कोई स्थिर नाम ही रक्खा जा सकता है।

वैदिक साहित्य में हमको अथर्ववेद के चार नाम– निगद, ब्रह्म, अथर्व और छन्द मिलते हैं। ये चारों नाम इसके चार गुणों के कारण पड़े हैं। निगद नाम इसका इसकी सरलता के कारण पड़ा है, जैसा कि हमने ऊपर मीमांसा के प्रमाण से लिखा है। इसका दूसरा नाम ब्रह्म है। अथर्ववेद १५।७।८ ही में लिखा है कि, 'तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म च' यहाँ ऋग्, यजुः और साम के साथ ब्रह्म का भी नाम है। यही बात गोपथब्राह्मण में इस तरह लिखी है कि, 'चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः' यहाँ स्पष्ट तीनों वेदोंके साथ ब्रह्मवेदका भी खुलासा कर दिया गया है। इसका यह ब्रह्मवेद नाम इसलिए पड़ा है कि, यज्ञ का अधिष्ठाता ब्रह्मा इसी वेद के साथ नियुक्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि 'ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदेनाध्वर्युः, सामवेदेनोद्गाता, अथर्वैर्वा ब्रह्मा' अर्थात् ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु, सामवेद से उद्गाता और अथर्ववेद से ब्रह्मा नियुक्त करे। अथर्ववेद से ब्रह्मा की नियुक्ति के लिए गोपथब्राह्मण में कहा गया है कि, 'अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्। अथर्वांगिरोविद् ब्रह्माणम्' अर्थात् अथर्व से ब्रह्मा होता है– अथर्व का जाननेवाला ब्रह्मा है। इसका अभिप्राय यही है कि चारों वेदों का जाननेवाला अर्थात् ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद तक का जाननेवाला ब्रह्मा होता है। इसी से ब्रह्मा चार मुखवाला कहलाता है। तात्पर्य यह कि, यज्ञ में ब्रह्मा की नियुक्ति अथर्व से ही होती है, इसलिए अथर्व का नाम भी ब्रह्मवेद रक्खा गया है। इसी तरह इसका तीसरा नाम अथर्व है। अथर्ववेद में विराट् का वर्णन करते हुए कहा गया है कि–

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वांगिरसो मुखम्।
(अथर्व० १०।७।२०)

इस मन्त्र में तीन वेदों से विराट् के अन्य अन्य अङ्ग बतलाये गये हैं, परन्तु अथर्व से विराट् का मुख बतलाया गया है। विराट् के मुख से ही अग्नि की उत्पत्ति हुई है। यजुर्वेद में लिखा है कि 'मुखादग्निरजायत' अर्थात् विराट् के मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। मालूम हुआ कि अथर्व भी अग्नि ही है। ऊपर के मन्त्र में स्पष्ट ही अथर्व के साथ अंगिरस शब्द आया है। अंगिरस अंगारों को कहते हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि, अथर्व अग्नि ही है। जिस प्रकार यज्ञ में ब्रह्मा विशेष वस्तु है, उसी तरह यज्ञ में अग्नि भी प्रधान वस्तु है। अग्निप्रधान होने से ही अथर्ववेद का यज्ञ में विशेष स्थान है। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि राजा दशरथ ने अथर्ववेद के ही अनुसार पुत्रेष्टि यज्ञ किया था ×। ऋग्वेद में भी अथर्व को यज्ञप्रधान कहा गया है। वहाँ लिखा है कि 'यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते' अर्थात् अथर्वा ने पहिले यज्ञ से धर्ममार्ग क़ायम किया, 'अग्निर्जातो अथर्वण:' अर्थात् अथर्वा से अग्नि उत्पन्न हुई और 'त्वमग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत्' अर्थात् हे अग्नि! तुझको पुष्कर (आकाश) में अथर्वा ने मथकर निकाला। इन प्रमाणों से पाया जाता है कि अथर्व यज्ञ का भी वाचक है। अग्नि और यज्ञ का वाचक होने से ही अथर्व नाम इस वेद के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद का चौथा नाम छन्द भी है। अथर्ववेद १८।४।२४ में ही लिखा हुआ है कि 'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह'। इस मन्त्र में ऋग्,

× इष्टिंतेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः। (वाल्मीकि बाल० ८६)

यजुः साम के साथ अथर्व को छन्दांसि कहा गया है। अन्य नामों की अपेक्षा इसका यह नाम अधिक युक्तिसङ्गत है। यह नाम इसके प्रधान निगद गुण के कारण पड़ा है। निगद सरलार्थ छन्दों को कहते हैं। इस वेद में हर प्रकार के छन्द हैं और सब सरलार्थद्योतक ही हैं, इसीलिए इसका नाम छन्दवेद है। इसका यह नाम जिस मन्त्र में आता है, वह मन्त्र चारों वेदों में आया है। यहाँ हम उस मन्त्र को उद्धृत करते हैं—

तस्माद्यज्ञान् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

यह मन्त्र पुरुषसूक्त का है और पुरुषसूक्त चारों वेदों में आता है, इसलिए यह मन्त्र चारों वेदों में आया हुआ समझना चाहिए और मानना चाहिए कि चारों वेदों में अथर्व को छन्द कहा गया है। कुछ लोग इस छन्द शब्द से वेदों में आये हुए अनेक छन्दों का ग्रहण करते हैं, पर यह उनकी भूल है। क्योंकि जब चारों वेद ही छन्दों में हैं ※ तब वेदों का नाम आने से ही छन्दों का नाम आ गया और अलग छन्द कहने की कोई आवश्यकता न रही, प्रत्युत सब छन्दवाले वेदों के साथ—ऋक्, यजुः, साम के साथ—छन्द का नाम आने से यही सिद्ध होता है कि, यहाँ यह छन्द शब्द अथर्व के ही लिए आया है। यह बात हमारी कल्पना नहीं है। अथर्ववेद का गोपथब्राह्मण स्वयं अथर्ववेद को छन्दवेद कहने का कारण बतलाता है। गोपथब्राह्मण में लिखा है कि, '**अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दांसि आपस्थानम्**' अर्थात् अथर्ववेद का चन्द्रमा देवता है, वही ज्योति है, सभी प्रकार के छन्द हैं और जलस्थान है। यहाँ सभी प्रकार के छन्द कहकर बतला दिया गया है कि, अथर्ववेद में सब प्रकार के सरलार्थबोधक छन्द हैं। इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् १।२।५ में लिखा है कि '**यदिदं किंचर्चो यजूंषि सामानि छन्दांसि**'। यहाँ ऋग्, यजुः, साम के साथ छन्दवेद का वर्णन किया गया है। यही नहीं, किन्तु

ऋग्वेद ९।११३।६ में स्पष्ट कर दिया गया कि, '**यत्र ब्रह्मा पवमानछन्दस्यां वाचं वदन्**' अर्थात् जहाँ यज्ञ में ब्रह्मा छन्दवाणी बोलता है। यज्ञ में ब्रह्मा अथर्ववेद से ही नियुक्त होता है। वही बात इस ऋचा में कह दी गई है। ऋचा कहती है कि, ब्रह्मा छन्दवाणी बोलता है। इसका मतलब यही है कि, ब्रह्मा अपने अथर्ववेद को पढ़ता है। इस तरह से स्पष्ट हो गया कि, छन्द अथर्ववेद ही है। पुराणों में तो यह बात बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दी गई है। हरिवंशपुराण में लिखा है कि—

ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांस्याथर्वणानि च।
चत्वारस्त्वखिला वेदाः सरहस्यास्सविस्तराः॥
(हरिवंशपुराण)

यहाँ ऋग्, यजुः साम के साथ '**छन्दांसि अथर्वणानि**' कहा गया है, जिससे अब निर्विवाद हो गया कि अथर्ववेद का ही नाम छन्दवेद है। इस छन्दवेद का वर्णन चारों वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और पुराणों में एक स्वर से अथर्ववेद के ही लिए किया गया है, इससे कह सकते हैं कि अथर्ववेद का वर्णन चारों वेदों में आता है। यही नहीं, किन्तु पारसी धर्म के प्राचीन धर्मग्रन्थ गाथा में भी अथर्ववेद को छन्द ही कहा गया है।

हम बचपन से यह बात सुनते आते हैं कि मुसलमानी, यहूदी और पारसी आदि धर्म अथर्ववेद से ही निकले हैं। परन्तु अथर्ववेद के पन्ने उलटने पलटने पर कहीं भी हमको अल्ला बिस्मिल्ला का पता न मिला। हमने समझा कि सम्भव है यह बात सत्य न हो, किन्तु पारसी धर्म की पुस्तकों और उन पुस्तकों के पढ़ने से जिनको योरोपीय विद्वानों ने ढूँढ़ तलाश के साथ लिखा है, यह बात खुल गई कि इसलाम आदि धर्मों का स्रोत अथर्ववेद ही से बहा है। अरबी भाषाके प्रसिद्ध पण्डित और कुरानशरीफ के ज्ञाता सेल साहब अपनी कुरान की भूमिका में लिखते हैं कि 'हज़रत मुहम्मद ने अपने विश्वास यहूदियों से लिए हैं और यहूदियों ने पारसियों से'+। पारसियों

※ तीनों वेद छन्दों में ही हैं। यजुर्वेद की कण्डिकाएँ भी किसी न किसी छन्द के ही नाम से लिखी हैं।

+ Mohammed borrowed from the Jews who learned the names and offices of those beings from the Persians, as they themselves confess. (Talmud Hieros and Roshbashan. Sale's Koran, p. 56.)

के विश्वासों के सम्बन्ध में मार्टिन हॉग कहते हैं कि 'पारसियों के पुराने साहित्य गाथा में महात्मा ज़रदुस्त एक पुराने ईश्वरीय ज्ञान को स्वीकार करते हैं, अथर्वा की प्रशंसा करते हैं और उसी अङ्गिरा की प्रशंसा करते हैं, जिसका वेदों में वर्णन है' ×। गाथा के जिस श्लोक में अङ्गिरा का वर्णन आता है, वह यह है—

स्पेन्तेम अतथ्वा मज्दा में गही अहुरा
ह्यत मा वोहु पइरि-जसत् मनंगहा
दक्षत् उष्या तुष्ना मइतिश वहिश्ता
नोइत् ना पोउरुश् द्रेग्वतो ख्यात् चिक्श्नुषो
अत् तो वीस्पेंग अंग्रेग अषाउना आदरे।

(गाथा, य० १८। १२)

अर्थात् हे अहुरमज्द! मैंने तुझे आबादी करनेवाला जाना। जब तेरा संदेश लानेवाला अङ्गिरा मेरे पास आया, तो उसने ज़ाहिर किया कि सन्तोष सबसे अच्छी चीज़ है। एक पूर्ण मनुष्य कभी भी पापी को राज़ी नहीं रख सकता। क्योंकि वह सत्य ही का पक्ष करता है। इस श्लोक में अंग्रेग शब्द अङ्गिरा के लिए आया है। अङ्गिरा अथर्व का ही वाचक है। क्योंकि अथर्ववेद में लिखा है कि 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' अर्थात् अथर्व-अङ्गिरा विराट् का मुख है। इस वाक्य में अथर्व और अंगिरा एक ही वस्तु बतलाये गये हैं। इसलिए जरदुस्त देव जिस अंगिरा के द्वारा परमात्मा का संदेश अपने पास आना बतलाते हैं, वह अथर्ववेद ही है। अथर्ववेद छन्दवेद कहलाता है, इसीलिए पारसी-धर्म का उपदेश जिस साहित्य के द्वारा हुआ है, वह भी ज़न्द अथवा ज़न्दावस्था कहलाता है। ज़न्द और ज़न्दावस्था छन्द और छन्दावस्था का ही रूपान्तर है। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि 'मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि ज़न्द शब्द संस्कृत के छन्द शब्द का ही अपभ्रंश है, जिसे पाणिनि और अन्य विद्वानों ने वैदिक भाषाके लिए कहा है'※। छन्द शब्द वैदिक भाषा में वेदों के लिए इसी कारण प्रयुक्त हुआ है कि, वेदों का चतुर्थ भाग अथर्व छन्दवेद ही कहलाता है। पारसियों का अथर्ववेद ही से अधिक सम्बन्ध है, इसलिए उनके साहित्य का छन्द नाम अथर्ववेद ही के कारण पड़ा है। अतएव अथर्ववेद के छन्दवेद होने में अब कुछ भी सन्देह नहीं है। इस प्रकार से हमने यहाँ तक देखा कि अथर्ववेद त्रयीविद्या के अन्तर्गत है और अथर्ववेद का नाम समस्त प्राचीन साहित्य तथा ऋग्यजुः और सामवेद में उसी तरह आता है, जिस तरह दूसरों का, इसलिए अथर्ववेद भी उसी तरह अपौरुषेय है, जिस तरह ऋग्यजुः और साम तथा अथर्ववेद को भी उसी तरह वेदत्व प्राप्त है, जिस प्रकार ऋग्यजुः और साम को।

× In the Gatha (which are the oldest parts of the Zend-Avasta) we find Zarthushtra alluding to old revelation and praising the wisdom of Saoshyants, Atharvas, fire-priests. He exhorts his party to respect and revere the Angra (yas. XVIII, 12) i. e. the Angiras of the Vedic hymns. (Haug's Essays, p. 294.)

※ I still hold that the name of Zend was originally a corruption of the Sanskrit word छन्दः Chhanda, which is the name given to the language of the Veda by Panini and others.

(Chips from a German Workshop, Vol. I, p. 84)

चार उपदेष्टा

(लेखक- आचार्य पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति, गुरुकुल महाविद्यालय, सोनगढ)

छान्दोग्योपनिषत् प्रपाठक चतुर्थ के तृतीय खंड में कथा आती है कि, जाबाला के पुत्र सत्यकाम ने ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होने से पूर्व अपनी माता से अपना गोत्र जानना चाहा। माता ने अनभिज्ञता बताई। सत्यकाम ने गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमत ऋषि के पास जा कर कहा कि मैं ब्रह्मचर्यव्रत को पालन करने के लिये आप की सेवा में आया हूं। गौतम ने सत्यकाम से गोत्र पूछा, तो उसने सच्ची हकीकत कह सुनाई। गुरु ने कहा-सोम्य! तू ब्राह्मण है, समिधा ले आ, तुझे उपनयन दूंगा। उपनयन के अनुसार गुरुने कृश, दुर्बल गौओंमेंसे चार सौ गायें निकालकर कहा कि, इन्हें वनमें ले जा। सत्यकाम उन्हें ले जाते हुए बोला, हे गुरो! इन्हें हजार किये विना मैं नहीं लौटूंगा। इस प्रकार वर्षोंतक वह जंगल में घूमता रहा। इस समय में ब्रह्मचारी सत्यकाम को 'ऋषभ' ने पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण दिशारूपी कलावाले चतुष्कलपाद प्रकाशवान् रूपसे प्रसिद्ध ब्रह्मके स्वरूपको समझाया, 'अग्नि' ने भूमि, अन्तरिक्ष, द्यु और समुद्ररूपी चार कलासे संपन्न 'अनन्तवान्' नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मका स्वरूप समझाया, 'हंस' ने अग्नि, सूर्य, चांद तथा बिजली इन चार कलावाले ज्योतिष्मान् ब्रह्मका स्वरूप बताया और, 'मद्गु' ने प्राण, नेत्र, श्रोत्र तथा मनकी कलाओंसे युक्त आयतनवान् नाम ब्रह्मके स्वरूप को समझाया।

उपनिषत्की उपरिलिखित कथामें ब्रह्म (पूर्णता) की ओर प्रमाण करनेवाले ब्रह्मचारीके चार उपदेष्टा बताये गये हैं। संसार तथा संसारके विविध पदार्थोंको गुरु बना कर उनसे ज्ञान प्राप्त करनेके विधान वैदिक सारस्वतमें बहुत मिलते हैं। "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।" ज्ञानी पुरुष पर्वतोंकी गुफाओं और नदियों के मनोरम संगमस्थल में पैदा हुआ करते हैं। अथर्ववेदके ब्रह्मचर्यसूक्त (अथर्व० ११।५ सूक्त) को देखनेसे प्रतीत होता है कि, सूर्य, चन्द्र, द्यु, पृथिवी, मेघ आदि आधिदैविक देव, बैल आदि पशु तथा पक्षी और औषधि वनस्पतियां आदि आधिभौतिक देव ब्रह्मचर्यके पथ पर चलते हुए ब्रह्मचारीके पथप्रदर्शक बताये गये हैं। यूरोपके महाकवि शेक्सपीयरने भी क्या ही सुंदर कहा है-

And this our life, exempt from public haunt,
Finds tongues in trees, books in the running brooks,
Sermons in stones, and good in
Everything I would not change it.

जंगलके मूक पत्थरों में-शांत वनराजियोंमें और बहते हुए नदीनालोंमें ज्ञानी लोग अमर सन्देश सुना करते हैं। ऐसाही मधुमय उपदेश गुरु गोविन्दने नर्मदा नदी के तट पर बैठकर उजियाली रातमें अपने शिष्य शंकरस्वामी को भव्य तथा सुन्दर दृश्यों को बताकर दिया था। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि दत्तात्रेय महाराजने पृथ्वी-समुद्र-पर्वत-भ्रमर आदि २४ गुरु बनाये थे। इसी प्रकार उपनिषद्में ब्रह्मचारी सत्यकामके ऋषभ-अग्नि-हंस और मद्गु ये चार गुरु बताये गये हैं। इन चारों का क्रमशः वायु ❀, अग्नि, सूर्य + तथा जल ×

❀ तमेतं श्रद्धातपोभ्यां सिद्धं वायुदेवता दिक्संबंधिनी तुष्टा सता ऋषभमनुप्रविश्यर्षभमापन्नानुग्रहायाथ हैनमृषभोऽभ्युवाद... [शंकरस्वामी)

+ हंस आदित्यः (शंकरस्वामी)

× मद्गुरुदकचरः पक्षी स चाप्संबंधात् प्राणः।

के साथ संबंध है। ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये इन चारों देवों से विशेष विशेष गुण का आधान करते हुए अग्रेसर होता जाता है। प्रबल प्रभंजन, पहाड, समुद्र किसीकी भी परवाह न करके वेग से आगे ही बढता जाता है। वायुके समान वेगसे चलनेवाला 'वृषभ,' अपने मार्ग से बालमात्रभी बिना हटे भार ले कर आगे ही आगे बढता जाता है-इसी प्रकार ब्रह्म के मार्ग का राहगीर कर्तव्यपरायण हो कर आगे आगे बढता जाता है। मानवजीवनके उत्तरदायित्व को समझता हुआ तीव्र संवेग से अपने मंजिले मकसूद तक दौडा जाता है- संसार के संकटोंकी परवाह किये बिना "देहं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि" के वीरघोष को गुंजाता हुआ शूलोंको फूलोंकी सेंज बनाता है- संसारके मरुस्थल को नंदनवन समझता है। इस अवस्था में ब्रह्मचारी की ऋतंभरा प्रज्ञा भगवान् सविता के 'वरेण्य भर्ग' का प्रकाश करती है- यही अभय पद है- " अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि " अब जीवन क्या और मरण क्या? प्रकाश क्या और छाया क्या? जीवन संग्राम है- There is but to do and die. कर्तव्यपथपर चलते हुए सुख आवे, दुःख आवे-फूलोंके समान हंसते हंसते खिलते खिलते जीना होगा-परंतु 'अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा। न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः' धीर पुरुष न्यायके-कर्तव्य के मार्गसे च्युत नहीं हुआ करते हैं। परिणाम विषमय हो- अमृतमय- परवाह नहीं, क्योंकि कर्तव्य की ज्योति आत्माको प्रकाशमान और स्वस्थ बनाया करती है- जिससे फलतः साधक का रोमरोम आनन्दसे पुलकित हो उठता है। जीवनकी अंधेरी रात्रिमें निष्कामकर्म(Duty clear of consequences) की मशाल ही इस पथिक का मार्ग रोशन किया करती है। इस अवस्था में साधक की आत्माके अन्तस्तल में धीर गंभीर समुद्र की शांतिका राज्य छा जाता है - जीवन के युद्ध लहरों के, समान उठ उठकर विलीन हो जाते हैं। उपनिषद् ने ऋषभ को गुरु बनाकर सत्यकाम जाबाल को कर्तव्य के आग्रहका, शक्तिके संचय का, उपदेश दिया है और " विपदि धैर्यं " का रहस्य समझाया है।

अग्नि की ज्वालायें आकाश को चूमती हुई अपनी भुजाओं से भगवान् का आलिंगन किया करती हैं-" अग्नेरूर्ध्वगमनम्"-अंधकार को छिन्नभिन्न करके ऊपर उठाना-नहीं नहीं आनन्दघन सच्चिदानन्द के अभिमुख हो कर अनेक शिखाओं से भगवान् की अपार महिमा का गान करना - यही जीवन की पवित्र ज्योति है। इस के बिना जीवन निर्जीव, निस्सार है। "असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्" जो साधक अपने से महान् को-भूमा- को नहीं मानते हैं, वे अहंकार की गागरमें सागर को भरनेका वृथा यत्न करते हैं। महती सत्त्वशक्ति के अभाव में अल्प सत्त्वशक्ति का अहंकार तुच्छसा है। सृष्टि के अणु अणु और रोम रोम चेतन की प्रतिमा है। जड संसार चैतन्य की भाषा है-प्रतीक है- विश्व ब्रह्माण्ड प्रभुका विलास है- यह जान लेना ही सच्चा प्रकाश है, ज्ञान है। प्रभुका सच्चा साक्षात्कार- To see God face to face- यही है। इस कोटिमें ज्ञाता-ज्ञेय का भेद कहां रहा ?

" विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता " इसी अखण्डता में-एकरस होने में सच्चे आनन्द का उद्रेक होता है-आनन्द की पराकाष्ठा इसी ब्रह्मानुभूति में है-"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" संसार के समस्त आनंद इसी ब्रह्मानन्द के अनुभव के सामने फीके पड जाते हैं। यह न हो तो जीवन निस्सार हो जावे। "क एष प्राण्याद्यद्येष आकाश आनन्दी न स्यात्।" सचमुच ज्ञानी पुरुष अग्नि के समान पार्थिव संसार के ऊपर उठ कर ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके प्रेरक सविता-स्वरूप परमात्माके श्रेष्ठ ज्ञानरूपी प्रकाश में (summum bonum

(तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य) आप्लावित हुआ करते हैं । और स्वभावतः आत्म-गान की-सावित्री की पवित्र सरिता को बहाते हैं। इस प्रकार भगवान् को आलिंगन करने के लिये दौडना 'अग्नि,' से सीखा जा सकता है।

उपनिषद् ने ब्रह्मचारी का तीसरा उपदेष्टा हंस बताया है । हंसके विषयमें पाश्चात्य कवि Doane ने सुंदर कहा है –

What is that, mother! swan, my love!
He is floating down, from his native grove;
No loved one him, no nestling high,
He is floating down, by himself to die:
Death darkens his eye, and unplumes his wings:
Yet his sweetest song is the last he sings;
Live so, my love, that when death shall come,
Swan-like and sweet, it may waft thee home.

पवित्र निर्मल हंस मौत की घडी में भी धीर गंभीर शान्तिका अनुभव करता है- मधुरतम गान गाया करता है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी के आत्मारूपी हंस का कोई असुर दमन नहीं करता- इस की जीवननौका कोई भी तूफान डावाडोल नहीं कर सकता । जीवन-मरण, यश-अपयश, हानि और लाभ में वह समान रहता है। त्रिलोकी का वैभव उसके लिये तिनकेके समान है- 'दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रय-सत्वसारा' (उ. रा.)। वैराग्य की दृढ भूमि पर ज्ञान तथा कर्म के पंखोंके द्वारा कोटि कोटि जन्मोंमें उडते हुए आत्मारूपी हंस को जन्म-मरण नहीं सताते- सुखदुःख का लेप नहीं चढता। जिस समय आत्मा की गुहामें परमात्माकी आनन्द-लहरियां प्रवेश करती हैं, उस समय हंस किसी अपूर्व दिव्य शांतिके मानस-सरोवरमें हिलोरें मारने लगता है। इस अवस्थामें संसारके पदार्थ क्षणभंगुर हो जाते हैं - यश, काफूर और धनदौलत राख हो जाती है। " पूर्वा भावा मर्त्यस्य " 'अपि सर्वं जीवितमल्पमेव' (कठ-उपनिषत्) " इति स्वप्नोपमान्मत्वा कामान्मागास्तदंगताम्" (किरातार्जुनीयम्) "आयुष्यं जललोलबिन्दुचपलं फेनोपमं जीवितम्" (भर्तृहरि) इनका रहस्य साधक के सामने इसी अवस्था में खुला करता है। इस प्रकार उपनिषद् ने हंस के दृष्टान्त से विवेक तथा सविराग शांति का उपदेश दिया है। जब साधक को राजहंस के समान मृत्यु के समय शांत, गंभीर शांतिका अनुभव होने लगता है, तब उसका जीवन कैसा दिव्य हो जाता है।

ब्रह्मचारी सत्यकाम को अंतिम उपदेश "मद्गु" से मिला है। यह जलचर पक्षी है। इस से प्रेम का-भक्तिका-पाठ सीखा जा सकता है। प्रेमकी सरितामें रागद्वेष की मैल बह जाया करती है । समस्त भूतों को यही प्रेम रसमय और उज्ज्वल बनाता है। परंतु भगवान् की अव्यभिचारिणी भक्तिके बिना मानवजाति पर ऐकान्तिक प्रेम की गंगा बहाना नितांत अशक्य है। अनंत विपदाओंमें प्रभु के प्रति क्षणमात्र के लिये तिल भर भी प्रेम शिथिल न होने देना चाहिये। प्रकृतिके पदार्थों से उत्पन्न सुखदुःख की तरंगोंसे आत्माको अस्पृश्य रखकर 'निस्त्रैगुण्य दशा' का अनुभव करना ही सच्चा प्रेम और सच्ची भक्ति है। इस अवस्था में दुःखका नाममात्र भी नहीं रहता है। प्रभुके प्रेम-पंथ की ज्वाला में जलते हुए साधक के लिये सुखदुःख का विचारमात्र भी सर्वथा अप्रासंगिक है। अब उसे तो भूतमात्र के सुख की न्यूनता से दुःख होता है- अपना दुःख दुःख नहीं लगता है। हम सब तो परमात्मा के विरहानल में नहीं जल रहे, घोर निद्रामें घूम रहे हैं। जिस समय प्रभु के अज्ञानकी घोर

निद्रा दूर होती है और प्रभु कहां है? इस प्रकार की स्वप्न की उत्कंठा उत्पन्न होती है, तब प्रभु हमें अपनी सहस्र भुजाओं से आलिंगन करने लगते हैं (ततः परिष्वजीयसी देवता ॥ अथर्व० "स परिष्वक्तः।" उपनिषत्) इस प्रकार भक्ति ज्ञान की अनुगामिनी बन जाया करती है। एवं मद्गु को गुरु मान कर सत्यकाम को सच्चे, एकनिष्ठ प्रेम का—पवित्र भक्तिका उपदेश दिया गया है। मद्गु पक्षी जलमें निमग्न होकर प्राणन किया करता है, ऐसे ही ब्रह्मचारी को भी प्रभु-भक्तिकी नदीमें डूबकर ही जीवन जीना चाहिये।

संक्षेपमें उपनिषत् की कथामें 'ऋषभ, अग्नि, हंस तथा मद्गु' को गुरु बना कर सत्यकाम जाबाल को 'कर्म, ज्ञान, विवेक और भक्ति' का उपदेश दिया गया है। इनसे परमार्थकी प्राप्ति हो सकती है और यही ब्रह्मचारीके सच्चे पथप्रदर्शक हैं। ये चारों साधन पृथक् होते हुए भी एक ही हैं। ब्रह्म (पूर्णता) की प्राप्तिमें ये चार ही मार्ग हैं। हम भी इन पर चल कर अपना कल्याण कर सकते हैं।

सोमलताका वैदिक स्वरूप।

(लेखक- श्री० वैद्य पं० रामगोपालजी शास्त्री वैद्यभूषण, लाहौर)

वेदों में सोम वनस्पति की सब प्रकार की ओषधियों से अधिक महिमा है।

सोम ओषधि नामाधिराजा। (गोपथ उ० १।१७)

केवल ऋग्वेद में ही सारा नवम मण्डल (जिस के ११४ सूक्त हैं,) तथा अन्य मण्डलों के ६ सूक्त सोम की महिमा में लिखे गये हैं। यह पर्वतस्थानीय वनस्पति है।

"शृङ्गे शिशानो अर्षति" (ऋग्वेद ९।५।२)

इस मन्त्र-पद में शृंगे-चोटी पर होनेवाला सोम स्पष्ट है।

सहस्सोमो न पर्वतस्य पृष्ठे। (ऋ० ५।३६।२)

पर्वत की पृष्ठ पर सोम उगता है।

सोममद्रौ। (ऋ० ५।८५।२)

सोम को पर्वत पर।

ऋग्वेद १।९३।६ में "अमथ्नात् अन्यं परिश्येनो अद्रेः।"

अद्रि (पर्वत) पर से श्येन (इस सोम को) (अमथ्नात्) बलपूर्वक ले आया, पाठ स्पष्ट करता है कि, यह पर्वत पर भी चोटीके स्थानोंमें ही उगता है। विशेष पर्वत मुंजवान् है, जहां इस की उत्पत्ति है-

'सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः' (ऋ० १०।३४।१)

इसका ऊँचा पौदा होता है, इसकी अनेक शाखायें और वे नीचे की ओर झुकी हुई होती हैं, ऐसा- 'दिविस्पृशे' (ऋ० ९।१११।४) आकाश को स्पर्श करनेवाला; 'अन्तरिक्षेण रारजत्' (ऋ० ९।५।२) जो अन्तरिक्षमें विरा जता है, सहस्रवल्शं (ऋ० ९।५।१०) अनेक शाखावाला, 'नैचा शाखं' (ऋ० ३।५३।१४)नीची ओर शाखावाला विशेषणोंसे सिद्ध है। सोम का वर्ण हरित है यह वनस्पति सुनहरी वर्ण की दीप्तिमति है, ऐसा-

हरितं भ्राजमानं हिरण्ययम्। (ऋ० ९।५।१०)

विशेषणों से स्फुट है। सोम का वर्ण बभ्रु अरुण भी लिखा है।

बभ्रवे नु स्वतवसेऽरुणाय (ऋ० ९।११।४)

प्रतीत होता है कि शाखाओं के दो वर्णों के कारण वनस्पति के ये दो नाम दिये गये हैं। सोम की शाखाओं के भार लाये जाते थे—

'भरासः कारिणामिव' (ऋ० ९।१०।२)

इन शाखाओं को कूट कर सोमरस का प्रयोग करते थे—

'अध्वर्यवो भरतेन्द्राय सोममात्रेभिः सिचता मद्य-मन्धः' (ऋ० २।१४।१) सोम धारया (ऋ० ९।१।१)

पाठोंसे प्रतीत होता है। सोमरस स्वाद में मधु, सुगन्धियुक्त तथा मदकारी होता है। तदर्थ देखो, विशेषण—

स्वादिष्ठया मदिष्ठया...सोम धारया। (ऋ० ९।१।१)

मन्द्रया सोमधारया। (ऋ० ९।६।१)

त्वं मद्यं मदं। (ऋ० ९।६।२)

मदच्युत। (ऋ० ९।१२।३)

मत्सरः। (ऋ० ९।१३।८)

वारणं मधु। (ऋ० ९।१।८)

सहस्रधारः सुरभिः। (ऋ० ९।९७।१९)

इसका रस कूट कर भेडों की ऊनके कपडेसे छानते थे।

अव्यये वारे। (ऋ० ९।१०३।३)

सोमरस इकेला तथा दूध, दही और यवों में मिलाकर भी पिया जाता था।

सोमाः शुक्राः। (ऋ० १।१३७।१)

तथा 'इमे शुचयः' (ऋ० १।५।७)
पद स्पष्ट करते हैं कि, इकेला पिया जाता था।
सोमासो दध्याशिरः। (ऋ० ।५।५)
दधियुक्त सोम।
'गाशिरः सोमः' (ऋ० १।१३७।१)
गोदुग्धयुक्त सोम।
यत्ते सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे।
(ऋ० १।१८७।९)
यवाशिरः। (श० ब्रा० ४।१।३।६)

पाठों से स्पष्ट है कि सोमरस में दुग्ध, दधि तथा यव मिलाकर पीने का वर्णन है। कभी कभी इस में मधु मिलाकर भी पिया जाता था, यह भाव इस मन्त्र से स्पष्ट होता है,

परिकोशं मधुश्चुतमव्यये वारे अर्षति।
(ऋ० ९।१०३।३)

सोमरस बहुत ही श्रेष्ठ, बलदायी, वीर्यवर्धक है, इसके पान के लिये प्रति दिन इस की स्तुति की जाती है और इसे मन का प्रिय माना है, तदर्थ देखो—

महिश्रवः। (ऋ० ९।४।१)
ईळेन्यः। (ऋ० ९।५।३)
वर्धन्तो अस्य वीर्यम्। (ऋ० ९।८।१)
नित्यस्तोत्रः। (ऋ० ९।१२।७)
मनश्चित् मनसस्पतिः। (ऋ० ९। ११।८)
शुष्मी। (ऋ० ९।२७।६)

इस के रसपान से योद्धा के अन्दर विशेष बल उत्पन्न हो जाता है, जिससे वह शत्रुओंपर विजयी होता है।

अस्येदिन्द्रो मदेष्वा विश्वा वृत्राणि जिघ्नते।
शूरो मघा च मंहते। (ऋ० ९।१।१०)

सोमरस सुरा नहीं थी, इस को मेधावी लोग भी पीते थे।

अनु विप्रा अमादिषुः। (ऋ० ९।८।४)
इसके पान से जननशक्ति बढती है।
भक्षीमहि प्रजाम्। (ऋ० ९।८।९)
सोमपान से प्रजा (संतान) को प्राप्त करें।
सोम के विशेषणा से तो सैंकडों नाम निश्चित किये जाते हैं, परन्तु उन में से कुछ एक नाम यहां संगृहीत किये हैं—

सोमः। (ऋ० ९।१।१)
रक्षोहा, विश्वचर्षणिः, अयोहतः। (ऋ० ९।१।२)
मदिष्ठः। (ऋ० ९।८।९)
इन्दुः। (ऋ० ९।१।५)
मधु। (ऋ० ९।१।८)
शिशुः। (ऋ० ९।१।९)
हरिः। (ऋ० ९।२।६)
गोषा, वाजसा, नृषा, अश्वसा। (ऋ० ९।२।१०)
सहस्रवल्शः, हरितः भ्राजमानः, हिरण्ययः।
(ऋ० ९।५।१०)
महिश्रवः, (ऋ० ९।४।१)
ज्योतिः, दक्षः, क्रतुः। (ऋ० ९।४।२-३)
योनिः। (ऋ० ९।१।२)
वृत्रहन्तमः। (ऋ० ९।१।३)
देववी। (ऋ० ९।२।१)
वृषा, द्युम्नवत्तमः। (ऋ० ९।२।२)
देवयुः, अस्मयुः। (ऋ० ९।६।१)
अमर्त्यः। (ऋ० ९।३।१)
पवमानः। (ऋ० ९।३।२)
पुरुव्रतः। (ऋ० ९।३।१०)
कविः। (ऋ० ९।७।४)
इन्द्रपीतः। (ऋ० ९।८।९)
नप्त्योर्हितः। (ऋ० ९।९।१)
सूनुः, शुचिः। (ऋ० ९।२।३)
वह्निः, क्रिविः। (ऋ० ९।९।६)
पुमः। (ऋ० ९।९।७)
अमित्रहा। (ऋ० ९।११।७)
विपश्चित्, मदच्युत्। (ऋ० ९।१२।३)
सबर्दुघः। (ऋ० ९।१२।७)
विप्रः। (ऋ० ९।१३।२)
गव्युः, हिरण्ययुः। (ऋ० ९।२७।४)
मत्सरः। (ऋ० ९।१३।८)

आदि आदि। सोमरस का अधिक प्रयोग वमन लाता है और विषूचिका रोगोत्पादक है, देखो

मैत्रायणी संहिता २।२।१३।

वैदिक काल में इतनी प्रसिद्ध वनस्पति, इस समय सर्वथा लुप्त है। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि, इस का प्रचार ब्राह्मणकाल में ही लुप्तप्राय था। शतपथ ब्राह्मण ४।५।१०।१-६ में लिखा है कि, "आदार" वनस्पति को सोम के प्रतिनिधिरूप में प्रयुक्त कर लेना चाहिये। प्रतिनिधि-द्रव्य उस समय डाला जाता है, जब वास्तविक द्रव्य लुप्त हो अथवा दुष्प्राप्य हो। तांड्य ब्राह्मण के

"यदि सोमं न विन्देयुः पूतीकानभिषुणुयुर्यदि न पूतीकानर्जुनानि। (ब्रा० ९।५।३)

इस पाठ में स्पष्ट है कि, इस तांड्य ब्राह्मण के समय सोम दुष्प्राप्य था और सोमाभाव में पूतीक वनस्पति का और पूतीकाभाव में अर्जुन वृक्ष का प्रयोग अभिषवण में लिखा है। सामयिक वेद-भक्त वैद्यों का कर्तव्य है कि, इस वनस्पति के अन्वेषण में बद्धपरिकर हों।

आयुर्वेदिक सोम।

आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थों चरक-सुश्रुतादियों में भी सोम का वर्णन मिलता है। जिस सोम रसायन का वर्णन सुश्रुत में बहुत विस्तार से किया गया है, "वह वैदिक सोम से सर्वथा भिन्न है।" चरक तथा सुश्रुत में लिखा है कि सोम ओषधियों का राजा है और उसके १५ पत्ते होते हैं, जो चन्द्रमा की भांति घटते बढते रहते हैं, पूर्णमासी को इस पर १५ पत्ते और अमावस को यह ओषधि निष्पर्णा हो जाती है।

"सोमो नामौषधिराजः पंचदशपर्णा सोम इव हीयते वर्धते च।" (चरक चिकि०)

तथा-

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पंच च।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ॥२०
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्ततः।
शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत् पञ्चदशच्छदः ॥२१
शीर्य्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः।
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला ॥ २२ ॥

वैदिक सोम से भेद में हेतु।

(१) वेद में सैंकडों मन्त्र सोम के सम्बन्ध में आये हैं, वहां कहीं भी नहीं लिखा है कि, इसके पत्ते घटते बढते हैं।

(२) सामयिक ग्रन्थ इसे लता कहते हैं, वेद सोम को नीचे की ओर शाखावाला अनेक शाखा-युक्त वनस्पति लिखते हैं, तदर्थ देखो सोम के विशेषणोंमें सहस्रवल्शः (ऋ० ९।५।१०) तथा नैचा-शाखः (ऋ० ३।५३।१४)।

(३) वेद सोम को हरिः तथा हरित् लिखता है, जिसका तात्पर्य है कि यह सदाही हरिद्वर्ण रहता है, इसके पत्ते घटते बढते नहीं।

(४) सुश्रुत कहता है कि, सोम के कन्द को सोने की सूई से विदारण करके उस कन्द का दूध लेवे। 'सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य पयो गृह्णीयात्' (सुश्रु० चि० स्था०अ० २९.) वेद सोमके कन्द मानता ही नहीं। वेद तो इसकी शाखाओं को कूट कर रस निकालने को लिखता है। सोम पत्थरों से कूटा जाता है और मूसल तथा उलूखल में भी कूट कर रस निकाला जाता था। देखो 'यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः॥ (ऋ० १।२८।१) सोम की शाखायें कूटने से पहले चर्म पर रखते हैं- "अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि" (ऋ० १०।९४।९)

(५) सुश्रुत लिखता है, कि-जीर्णे सोमे छर्दिरुप-पद्यते" (सु० चि०२९ अ०।) सोमरस जब जीर्ण हो जाता है, तो सोमसेवी को छर्दि होती है और उस छर्दि में कृमिमिश्रित रक्त निकलता है, 'ततः शोणिताक्तं कृमिव्यामिश्रं' परन्तु वैदिक साहित्य में इससे सर्वथा उल्टी बात लिखी है। वहां लिखा है कि, सोमरस यदि अधिक पान किया जावे, तो छर्दि (वमन) हो जाता है, देखो मैत्रायणी संहिता २।२।१३।

(६) सुश्रुत में लिखा है, कि सोमरस-पायी को पान के चतुर्थ दिन शोथ होता है, 'श्वयथुरुप-पद्यते' फिर सब अङ्गों से कृमि निकलते हैं, 'ततः

सर्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति' फिर सप्तम दिन में 'निर्मांसं त्वगस्थिभूतः' इसी प्रकार दन्त, नख, केश गिर जाते हैं, फिर इसके दशम दिन के अनन्तर त्वचा, केश, दन्त आदि सब लग जाते हैं और फिर सोमपायी नवशरीरी हो जाता है। वेद में सोम-सम्बन्धी छोटी से छोटी बात का वर्णन आया है, परन्तु सुश्रुतवाली बात का लेशमात्र भी वर्णन नहीं। वहां तो वारंवार यही लिखा है, कि इसके पान से मद हो जाता है, जिसका वर्णन सुश्रुत में नहीं है।

(७) सुश्रुत ने चौबीस प्रकार का सोम लिखा है, वेद में एक ही प्रकार लिखा है।

(८) सुश्रुत सोम को आज्य-गन्ध लिखता है। वेद सुरभि-सुगन्धियुक्त लिखता है, 'आज्यगन्ध' नहीं।

(९) तांड्य ब्राह्मण अपने काल के सोम के अर्जुन (धवल) वर्ण पुष्प लिखता है, सुश्रुत में पुष्प नहीं लिखे, 'सोमस्य यानि पुष्पाण्यवशीर्यन्ते तान्यर्जुनानि।' (तांड्य ८।४।१) इन पूर्वोक्त नौ हेतुओं से स्पष्ट है कि, सुश्रुतादि प्रोक्त वह सोम नहीं, जो वैदिक भिषकों को अभिप्रेत था।

प्रतीत होता है कि, मध्यकाल में वैदिक सोम की महिमा जान कर वास्तविक सोम की अन्वेषणा में ऋषिजन निकले थे, उन्होंने अनेक स्थानों में घूम घूम कर जब इस सोमको न पाया, तो सोम (चन्द्रमा) की भांति पत्तों से घटने बढने वाली लता सोम को× हिमालय, सह्य, महेन्द्र, मलय, श्रीपर्वत, देवगिरी, देवसह, पारिपात्र, विन्ध्य, देव, सुन्द, ह्रद आदि प्रदेशों में देखकर और गुणों में कुछ समानता अनुभव करके इस वल्लरी का नाम ही सोम रक्खा।

इस समय वेदोक्त तथा सुश्रुतोक्त दोनों सोम वनस्पतियों का लोप हो गया है।

वैदिक सोम वनस्पति बिकती थी—

चन्द्रं ह्येतच्चन्द्रेण क्रीणाति यत्सोमं हिरण्येन।
(श० ब्रा० ३।३।३।६)

शुक्रं ह्येतच्छुक्रेण क्रीणति यत्सोमं हिरण्येन।
(का० ३।३।३।६)

× हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रमलये तथा। श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा ॥ २७ ॥
पारिपात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा। उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः ॥ २८ ॥
पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः। हठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमाः सोमसत्तमः।
तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवानंशुमानपि ॥ २९ ॥ काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम्।
गायत्र्यस्त्रैष्टुभः प्रोक्तो जागतः शंकरस्तथा ॥ ३० ॥ अत्र सन्ति अपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः।
(सु० चि० अ० २९)

सोमः

(ले०- श्री० पं० विश्वेश्वरदयालुजी, प्रधान सम्पादक " माला ")

सोमवसुप्रभेदे कर्पूरे नीरे सोमलतौषधौ ।
हिमदीधितौ । इतिमेदिनी

सोम शब्द ऐसा व्यापक हो गया है कि आज इसका इकाइक निर्णय होना बहुत ही असम्भव हो गया है । वेदकालसे लेकर आज तक यदि इसपर विचार करें, तो अलग अलग ही निष्कर्ष निकलते हैं। चन्द्रमा के नामों को देखने से पता चलता है, कि सामंजस्य इससे बहुत मिलता है । ' चन्द्रं कर्पूरं सादृश्येन भाति तुलयतीति चन्द्रः । ' अथवा ' चदि आल्हादे । चन्द्रमाल्हादं मिमीते निर्मीतेऽति चन्द्रः । '

अब यह विचार करने की बात है कि, चन्द्र अथवा कर्पूर के समान श्वेत वर्णवाला पदार्थ सोम है । दूसरे चन्द्रमा के समान आनन्द देनेवाला वह पदार्थ है । तीसरे जल का मधुरत्व और द्रवत्व गुण इसमें होने से जल के नाम से भी सोम का नाम विहित किया गया है। इसके खाने से आयुष्मान् होता है, यह बात भी 'जैवातृकः चंद्र' शब्दके पर्यायसे साफ हो जाता है, यथा ' जैवातृकः पुमान् सोमे कृषकायुष्मतोऽस्त्रिषु । इति मेदिनी । '

सोम से आयुष्य भी बढती है । यह सभी बातें चन्द्रमा में भी हैं । इसलिए मालूम होता है कि सबसे प्रथम चन्द्रमा से लोगोंने इस सोम का व्यवहार किया हो और इसी से सोमरस का पान किया हो । चन्द्र से सोमप्राप्ति करने का विधान यत्र तत्र पुराणों में मौजूद है । देखें चन्द्रलोक का वर्णन, परन्तु कुछ काल बाद यह विधान लोगों के लिये बहुत ही कठिन एवं दुस्तर हो गया, तब फिर लोगों में सोम की आवश्यकता हुई और उसके लिए ढूंढ ढांढ की गई और वनस्पतियों का विश्लेषण किया गया । ढूंढते ढूंढते सोम नामक वनस्पति मिली. जिसका वर्णन सुश्रुत में आया हुआ है ! ऋषियों ने ब्रह्माजी से प्रार्थना की तब उन्होंने अमृत नामक सोम की उत्पत्ति की, जिसका वर्णन पुराणों में समुद्र के द्वारा हुआ और इसे देवताओं ने ही ग्रहण किया । फिर इसके तीन विभाग पीयूष, अमृत, सुधा के नाम से किये गये । पीयूष देवता लोग स्वर्ग में ले गये, सुधा को दानव लोग पा नागलोग में ले गये, मनुष्यों के लिये अमृतरूप सोम वनस्पतिरूप से पृथ्वी पर पैदा हुआ और इसकी २४ जातियां हुईं, यथा-

१ अंशुमान्, २ मुंजवान्, ३ चन्द्रमा, ४ रजतप्रभा, ५ दूर्वा सोम, ६ श्वेताक्ष, ७ कनकप्रभा, ८ प्रतापवान, ९ तालवृन्त, १० करवीर, ११ अंशुवान्, १२ स्वयंप्रभ, १३ महासोम, १४ गुरुडाहृत, १५ गायत्र्य, १६ अष्टुभ, १७ पांक्त, १८ जागत, १९ शांकर, २० अग्निष्टोम, २१ रैवत, २२ गायत्र्य, २३ त्रिषदा, २४ उडुपतिः । यह हुये । कुछ इनमें वानस्पतिक और कुछ वेदोक्त छांदस् माने गये हैं ।

पहिचान ।

अंशुमान् (घृत के समान गन्धवाला होता है) और यह कंद होता है । २ रजतप्रभ कदलीके समान कंदवाला होता है । ३ मुंजवान् के पत्ते लहसन के समान होते हैं । ४ चन्द्रमा सुवर्ण के समान रंगका होता है और सदा जल के ऊपर तैरता रहता है। ५ गुरुडाहृत और ६ श्वेताक्ष पाण्डुर वर्ण का होता है । यह दोनों सांपकी कंचुली के समान पेडों पर लटके हुये रहते हैं । अन्य समस्त मंडलयुक्त विचित्रता लिये हुये होते हैं और मानों इन्हें किसी ने लगाया है, ऐसे प्रतीत होते हैं । शेष समस्त १५ पत्तेवाले होते हैं, परन्तु कुछ कन्दवाले, कुछ लतावाले, कुछ दूधवाले होते हुये नाना तरह के देखने को मिलते हैं ।

स्थान ।

हिमालय, अर्बुद (आबू पहाड), सह्य (इस पर्वत

से कावेरी, तुंगभद्रा, गोदावरी, कृष्ण वेणुवा यह नदी निकली है, यह पूना के आस-पास समुद्र के किनारे पर है) महेंद्र यह उत्तम पहाड है, जिसका नाम २० उत्तम पहाड़ों में आया है। मलय यह मैसूर के पहाड़ का नाम है, जहां चंदन होता है। श्रीपर्वत यह स्वर्णश्रृङ्ग नामक पर्वत सुमेरके उत्तर में रहने-वाला पहाड है। देवगिरी यह कैलाशपर्वत है, सहस्र शिखर भी इसे कहते हैं; यह सुमेर के पश्चिम है, ऐसा मार्कण्डेय ने लिखा है।

देवसह-परिपात्र यह सुमेर से पश्चिम की तरफ है, ऐसा पुराणों में आया है। विन्ध्य विंध्याचल प्रख्यात पर्वत है। देवसुन्द नामक एक तलाब है, इस का वर्णन श्रीपर्वत पर ही पाया जाता है। यथा—

श्रीपर्वते महादेवो देव्यासह महाद्युतिः।
न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैः सह॥
तत्र देवहृदे स्नात्वा शुचिः प्रयत मानसः।
अश्वमेधमवाप्नोति परां सिद्धिं च गच्छति॥
(महाभारत व० अ० ८५)

उत्तर की तरफ बडे बडे पहाडों से निकलने-वाली जो सिंध नदी है, उसमें चंद्रमा नामक सोम तैरता हुआ मिलता है। उसी के पास मुंजवान और अंशुवान पाये जाते हैं। काश्मीर में मानससरोवर नाम का एक तलाब है, उसमें गायत्र्य, त्रैष्टुभ, पांक्त, शांकर तो वहाँ होते ही हैं, परन्तु और भी सब तरह के सोम वहां मिलते हैं। परन्तु इन सोमों के मिलने में एक कठिनता है कि यह साधारणतया नहीं मिल सकते।

न तान् पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ... ...॥

यह अधर्मी, कृतघ्न, भेषज द्रोही और ब्राह्मण-द्रोहियों को नहीं दिखाई देते। इसलिये समय पर मिलना कठिन देख। वैदिक सोम का आविर्भाव हुआ, जिसका विधान निम्न है—

भारत का वैदिक युग भी एक बडे महत्त्व का युग था, इस युग में कितने बडे बडे महत्त्वशाली, अद्भुत आश्चर्यजनक आविष्कार हुये थे, जिन्हें सुन कर दाँत, तले अंगुली दबानी पडती है, जो लोग आजकल के पाश्चात्य युग को आविष्कार का युग माने बैठे हुये हैं, उनसे प्रार्थना है कि वे एक बार वैदिक युग के साहित्य पर दृष्टि डालकर देखें कि आविष्कारक युग कौनसा श्रेष्ठ था और किस युगके आविष्कार आश्चर्यजनक और निरामय जनहितकारी थे, प्रत्येक विद्वान को वैदिक आविष्कारों पर दृष्टि डालना चाहिये और मनुष्यों के लिये प्रकट करने की उदारता करनी चाहिये, ताकि मनुष्य लाभ उठा सके।

प्रत्येक मनुष्य को अनिवार्य्य रूपसे इस आवि-ष्कार से लाभ उठाना चाहिये, कारण प्रत्येक मनुष्य बलवान्, कीर्तिवान्, वीर्यवान्, बुद्धिमान्, आयुष्मान् बनने की स्वाभाविक अभिलाषा रखता है, जो ऐसा चाहता हो, उसको चाहिये कि उत्तरायण सूर्य के शुक्ल पक्ष में उत्तम दिन, तिथि चंद्रादि को देख, इस विधि के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो। प्रथम द्वादश १२ दिन तक दूध ही पीकर रहे, फिर १३ वें दिन हस्तनक्षत्रमें गूलर वृक्ष के, गोलाकार पात्र में × व्रीही औषधियां और फलों की पिट्ठी भर कर दही, घृत, मधु मिलाकर मथानी से मथकर रख ले, पृथ्वी को शुद्ध कर लीप कर अग्नि स्थापन करे, उस अग्नि के चारों ओर इस प्रकार कुश बिछावे कि उनका अग्रभाग पूर्व या उत्तर की ओर रहें, फिर घृतका संस्कार करके हस्तनक्षत्र में गुलर के स्रुवे से घृत का हवन निम्न मन्त्रों से करे।

यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तर्य चोघ्नन्ति पुरुषस्य कामात् तेभ्योऽहंभागधेयं जुहोमि ते मातृप्राः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा।

या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति तात्वा घृतस्य धारया यजेस ॐ राजनीय मह ॐ स्वाहा। ज्येष्ठाय स्वाहा। प्रत्येक बार घृत हवन कर स्रुव में लगा घृत मन्थ में टपकावे।

प्राणायस्वाहा, वाचेस्वाहा, चक्षुषेस्वाहा, श्रोतायस्वाहा,

× साठी, जौ, तिल, चना, उडद, कंगुनी, गेहूं, मसूर, मटर, कुल्थी यह दश व्रीही अन्न है।

मनसेस्वाहा, रेतसेस्वाहा, अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वतः स्वाहा, भूर्भवः स्वः स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा, भूताय स्वाहा, भविष्यते स्वाहा, विश्वाय स्वाहा, सर्वाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा, वशिष्ठाय स्वाहा, सम्पदे स्वाहा, आयतनाय स्वाहा, प्रजापत्यै स्वाहा।

फिर मंथन के द्रव्यों के मथानी से मथ कर मंथ को निम्न मंत्र पढता हुआ स्पर्श करे।

भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसममसिहिं क्रियमाणमस्यु द्गीथ मस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसिप्रत्याश्रवितमस्या र्द्रे संदीप्तमसि विभुरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति॥

इस मन्त्र से शुद्ध कर चमस सहितमंथको हाथ में लेकर यह मंत्र पढे।

अथैन मुपच्छत्यामं & स्याम ॐ हिते महि सहि राजेशांन्योऽधिपतिः समा & राजे शानोधि पति करोत्विति।

फिर इस मन्त्र से चार ग्रास अलग करके रख ले और प्रत्येक ग्रास को निम्न मन्त्रों को पढकर भक्षण करे।

तत्सवितुर्वरेण्यं। मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा

भर्गो देवस्य धीमहि। मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधुद्यौरस्तुनः पिता। भुवः स्वाहा॥

धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पति मधुर्मांऽ अस्तुसूर्य्यः। माध्वीर्गावोभवन्तुनः। स्वः स्वाहेति।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् मधुवाता, मधुनक्त, मधुमान्नो।

इन तीनों ऋचाओंको पूर्ण पढकर अहमेवेद ॐ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वाहा॥ बादको वह पात्र धोकर पीले, फिर आचमनादि कर शुद्ध हो अग्नि से पश्चिम-पूर्व शिर करके सो रहे, फिर प्रातः उठ कर संध्या, आदि करके सूर्य्य की तरफ देखता हुआ यह मंत्र पढे।

दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेक पुण्डरीकं भूयासमिति॥

यह मंत्र पढ़कर अग्नि के पश्चिम तरफ बैठकर ईश्वर का ध्यान करे। इसके विषय में अनेक ऋषियों का मत है कि यदि यह मंथ सूखे वृक्ष में लगा दिया जाय, तो उसमें भी डाल निकल आती है। अन्य कर्मों में इसके असोघत्व की चिन्ता करना वृथा है, इसलिये प्रत्येक सत्कर्मी को इससे लाभ उठाना चाहिये।

सोमप्रयोग।

ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः।
दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम्॥

इस औषधिपति सोम के सेवन से दश हजार वर्ष तक नवीन देह को धारण करनेवाला मनुष्य होता है। अग्नि, जल, विष, शस्त्र, अस्त्र, उसके शरीर को नष्ट करने में समर्थ नहीं होते। उत्तम जाति के साठ वर्षवाले मद चुवानेवाले हजार हाथियों के समान बल होता है। क्षीरसागर, इन्द्रलोक, उत्तर कुरुदेशमें जाने की इच्छा होती है और वहां जानेके लिए उसकी गतिरुद्ध नहीं होती। कामदेव के समान रूप, चन्द्र के समान कान्ति, भूतों के मनों को हर्षित करनेवाला होता है। साङ्गोपाङ्ग वेद को जाननेवाला देवताओंके समान अमोघ संकल्पवाला होता है।

अंशुमान को स्वर्णपात्र में, चन्द्रमा को रौप्य पात्र में निचोडे, इसके सेवन से अष्ट सिद्धियां प्राप्त होती हैं और शिव का अनुगामी हो जाता है। शेष रहे सोमों को ताम्र, मिट्टी, रोहित, चाम के विस्तीर्ण पात्र में निचोडे और शूद्रों को छोड पान करावें। जिस दिन सोमपान किया हो, उस के चौथे महीने शुभ योग में पौर्णिमासी के दिन मङ्गलादि स्वस्ति वाचन कराके कुटी से बाहर निकले और अपना कार्य करें।

उत्तम सुन्दर देश में तीन मकानवाली गुफा बनवावे, उस में परिचारक और रसायनोपयोगी सभी सामान रख, पंच कर्मादिकों से निवृत्त होकर

उत्तम तिथि, कर्ण, मुहूर्त, नक्षत्र में यज्ञविधान से सोम को लेकर और हवन कर मङ्गलादि से सहित कुटि में प्रवेश करें और सोमकन्द को स्वर्ण की सूची से चीर कर स्वर्णपात्र में अंजलिप्रमाण दूध सोम का निकाल लें और उसे एक बार में ही पिला दें। इसका स्वाद न लें। शेष पीने से जो बचे उसे जल में मिलाकर पी लें और यमनियम से आत्मा को दृढ कर बैठें और अपने हित-चिन्तकों से रक्षित सुन्दर सुन्दर बातों से आमोदित हो, उसी कुटि के अन्दर विचरण करता रहे।

सायंकाल दूधपान कर वेदपाठ सुनता हुवा कुश शय्या पर या काले हरिण की छाल पर सोवें, प्यास लगने पर ठंडा पानी पीवें, सुबह उठने पर वेद का श्रवण एवं शान्तिपाठ सुनें और मांगलिक वस्तुओं का दर्शन कर गौ का स्पर्श करें, सोम जीर्ण होने पर वमन होता है इस वमन में रक्त लपेटे हुये कृमि निकलते हैं। रात्रि में श्रृतशीत दुग्धपान करें। तीसरे दिन कृमियुक्त अतिसार होता है। इस प्रकार शरीर शुद्ध हो जाने पर सायंकाल स्नान कर दूध पीवें। अब इस रोगी को रेशमी कपड़ोंवाली शय्या पर लिटावें. फिर चौथे दिन रोगी का समस्त शरीर शोथयुक्त हो जाता है और समस्त अंग से क्रिमि निकलने लगते हैं। ऐसा होने पर राखशय्यापर सुलावें। और रात्रिको बराबर दूध देते रहें। पांचवें और छठवें दिन ऐसा ही क्रम रखें, परन्तु दोनों समय दूध देते रहें। सातवें दिन केवल मांसरहित चमडी और हड्डीयुक्त देह सोम के प्रभाव के कारण केवल श्वास लेती हुई मिलेगी। उस दिन से देह को सुखोष्ण दुग्ध से देह का परिसिंचन करें या रुइके को दुग्ध में तरकर चमडी पर फेरें, और तिल, मोरेठी, चंदन को दुग्ध में पीस लेप फेरें और दूध पिलाते रहें। आठवें दिन दुग्ध और चंदनादि से लेपकर राख की शय्या को छोडकर रेशमीके मुलायम गद्दीवाली शय्यापर लिटावें। अब मांस बढ़ता हुवा दिखाई देगा और चमडी फटने लगेगी। दांत, नख, रोम सब गिर जावेंगे। नवमें दिन से अणु तैल की मालिश और सोम के छिलकों के कषाय से अभिषेचन करता रहे, यह क्रिया १६ वें दिन तक करें।

सत्रहवें दिन और अठारहवें दिनमें दांत निकल आते हैं सुन्दर वज्र के समान, बस अब षष्ठिक चावलों की बनी यवागू का सेवन करें, २५ वें दिन तक, फिर दुग्ध से मृदु पके हुये उत्तम चावल दें। दोनों समय, अब नख पैदा होंगे और काले बाल निकलेंगे और चमड़ी ठीक हो जावेगी। एक मास के बाद बालों को घुटा दें और उशीर, चंदन, काले तिलों का तेल शिर पर लगवा दें और दूध से स्नान करावें। बस ७ दिन के अंदर उत्तम काले केश हो जावेंगे। अब प्रथम कुटि को छोड दूसरी कुटि में उत्तम मुहूर्त में प्रवेश करें। वला तैल लगाने को, यव का आटा उबटन के लिये सुखोष्णजल परिषेकार्थ और अजकर्णकषाय उत्सादनार्थ (मैल साफ करनेके लिये) उशीरयुक्त कुंआंका पानी स्नानार्थ, चंदन अनुलेपनार्थ, आमलक रस मिश्रित यूष, सूप, मोरेठी से शोधित दुग्ध पीने को, कृष्ण तिल अवचारणार्थ, इस तरह दश रात्रि करे. फिर तीसरी कुटी में प्रवेश करें और दश रात्रि तक रहें थोडी थोडी हवा, धूप का सेवन करें, बाहर निकल फिर भीतर चले जांय। इस प्रकार दश रात्रि रहे, फिर दश दिन अधिक अधिक सेवन करें, परन्तु सीसेमें अपना रूप न देखें और क्रोधादि न आने दें, विशेष कर वल्ली प्रतान वान सोम का सेवन करें।

फिर इस सोम का आविर्भाव मन्त्रशास्त्र के अन्तर्गत हुआ, यहां मन्त्रजाप से जैसे गायत्री पुरश्चरण और केवल दुग्धपान करके आयुके बढाने का उद्योग किया गया, चरक में भी एक वर्ष गायत्री का जप और आंवलों के सेवन से आयुवृद्धिकर प्रयोग का उल्लेख मिलता है। देवी भागवत में भी काम्य प्रयोगों में गायत्रीजप के साथ हवन कर आयु बढाने के अनेक प्रयोग देखे गये हैं। सुश्रुत में भी बिल्वादि के योग हवन के बाद प्रयोग में आए हैं। इसके बाद इस सोम का आविर्भाव योग में हुआ और योगियों ने खेचरी आदि मुद्राओं के

द्वारा अमृतपान करने की विधि निकाल, सोम का प्रादुर्भाव कर अभीष्ट प्राप्ति की।

आजकल के समय में हम लोग सभी तरह के सोम से रहित हैं और अपनी इच्छा के विरुद्ध भी यमालय की तरफ जाने को प्रस्तुत हो रहे हैं। न हम में जप का ही सामर्थ्य है, न योग की, न सदाचार की, न धार्मिक कृत्यों की हो। इसीलिये हम से सोम भी हजारों मील दूर चला गया है। यदि हम सच्ची लगन के साथ इसको ढूंढें, तो अवश्य ही हमें सोम मिल सकता है। सुश्रुतकार का कथन है कि सोम या अन्य सोम के समान गुण करनेवाली दिव्य ओषधियां काश्मीर में क्षुद्र मानस नामक तालाब के आसपास हैं।

यह बात अक्षरशः सत्य मालूम देती है कि मैंने कुछ काल पूर्व "बालक" पत्र में पढा था कि, महाराज दरभंगा के दीवान महाराजा को ढूंढते ढूंढते रात्रि में जब मार्ग भूल गये, तो रात्रि को एक तपस्वी के स्थान में प्राप्त हुये, उसने इनको भूखा देख खिचडी बनानेको इन्हें दी। इन्होंने वहीं आश्रम के पास उसे पकाया और एक लकडी से चला कर परोसा और खाया। खाते ही यह बेहोश हो गये और प्रातः अपने में कायाकल्प देखा। अतः वैद्योंको उधर जाना चाहिये और वहां के साधुसन्तोंसे मिल पता चलाना चाहिये, इसके सिवाय सुश्रुतकार यह भी कहते हैं कि—

नदीषु शैलेषु सुरःसु चापि पुण्येष्वरण्येषु तथाश्रमेषु।
सर्वत्र सर्वाः परिमार्गतव्याः सर्वत्रभूमिर्हि वसूनिधत्ते॥

पृथ्वी वसुगर्भा है, इसमें जहां जो प्राप्ति हो, वह संभव है, अतः सभी पुण्यक्षेत्रों में और नदी-तालाबों तथा पर्वतों पर देखें। कौशिकी नदी जो बिहार में प्रसिद्ध है, वहां और आबू पर्वत, काश्मीर यह ऐसे निश्चित् स्थान हैं, जिनमें कोई भी तर्क-वितर्क की कल्पना नहीं, परन्तु श्रम करने की जरूरत है और धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान की आवश्यकता है, ये औषधियां भी सोम के समान ही प्रभावशाली हैं—

श्वेत कापोतकी, कृष्ण कापोतकी, गोनसी, अजगरी, वाराही, कन्या, छत्रा, अति छत्रा, करेणु, अजा, चक्रका, आदित्यपर्णिनी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महा श्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महा वेगवती यह अठारह सोम के समान गुणवाली औषधियां हैं। इनकी पहिचान आदि सभी सुश्रुत में मयस्थान के लिखी है। देखो सुश्रुतचिकित्सास्थान अ० ३०।

वैदिक-दिग्दर्शन।

(ले०- वैद्यरत्न पं० रमाकान्त झा, आ० शास्त्री, स० सम्पादक-'माला')

संस्कृत में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद है। पूर्वकाल में वेद विभाजित नहीं था, अर्थात् शृंखलाबद्ध नहीं होकर, सब मन्त्र, ब्राह्मण-अनुब्राह्मण सब एकहि जगह मिश्रित था। क्योंकि प्रतिभाकी अलौकिकता के कारण से तत्कालिक द्विजों के विभाग करना आवश्यक भी नहीं था। अपरकाल में आ गए जब लोगों (द्विजों) की वह अलौकिक प्रतिभा कम होने लगी और भविष्य में यह मन्द ही होती जायगी, यह जानकर भगवान् वेदव्यासजीने यज्ञादि कर्मसुविधाके हेतु इसका चार विभाग किया। यह विभाग पाठक्रम का ध्यान रखकर किया गया है। अर्थात् प्रथम ऋग्वेद, द्वितीय यजुर्वेद, तृतीय सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद इस पाठक्रम का वर्णन उपनिषदकारोंने भी इसी तरह किया है, यथा—

ऋग्वेदो भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम्। (छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२)

ऋग्यजुः सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः स शाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति॥

(नृसिंहतापनीयोपनिषद् १।२)

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद अथर्वणः।

(मुण्ड-उपनिषद् १२ ख १, म० ५)

यद्यपि—

यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्यदृचां तद् दृढम्। (तैत्तिरीय सं० ६।५।१०।३०)

इत्यादि प्रमाण से यज्ञसाधन में भी ऋग्वेदही का प्रधानता दिया गया है। तथापि उक्त श्रुतियों के अर्थवादपरक मानकर यज्ञसाधन में यजुर्वेदही को सर्वसिद्धांतसिद्ध प्राधान्यता दिया गया है। क्योंकि यज्ञानुष्ठान में वेदार्थज्ञान रहना प्रधान कारण है और वह प्राधान्यता यजुर्वेदहि में है। यथा—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जात

विद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥

(ऋ० २१।२४।५)

भावार्थ—होता नामका एक ऋत्विक (ऋग्वेदज्ञ) जिस जिस यज्ञमें जो जो क्रिया, द्रव्य तथा देवताप्रबोधार्थ जिन जिन ऋचायों की आवश्यकता देखते हैं। उन सबका संकलन करते हैं, जो शस्त्र कहलाता है और उद्गातानाम का एक ऋत्विक (सामवेदज्ञ) शक्वरीनामक ऋचाओंमें गायत्रनाम का मन्त्र मिला गायन करते हैं। जो स्तोत्र कहाता है। ब्रह्मा नामके एक ऋत्विक अन्यान्य ऋत्विजों के देखभाल में रहते हैं, कि यज्ञकर्ममें कहीं प्रमाद होनेपर उन्हें उचित उपदेश देते हैं। तथा प्रमादजन्य प्रायश्चित्त देते हैं।

ब्रह्मा वही होते हैं, जो सकल वेदशास्त्रका पूर्ण रूपेण तत्त्वावधान किए हुए रहते हैं।

ब्रह्मा सर्व विद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। (यास्कनि०)

एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी तयोरन्यतरां संस्करोति ब्रह्मा वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाता चान्यतराम्॥ (छां० उ० ६।१६।१)

सारांश यह है, जो यज्ञ के दो मार्ग हैं। एक वचनरूप और दूसरा मनरूप। उनमें वचनरूप मार्ग का संस्कार होता, उद्गाता, अध्वर्यु ये तीनों मिलकर करते हैं। परन्तु मनोरूपक मार्गका संस्कार ब्रह्माको अकेले ही करना पडता है। अध्वर्यु नाम का एक ऋत्विक् यज्ञ के शरीर का संपादन करते हैं।

विभक्त होनेपर भी जो बहुत से वेदमन्त्र एक वेद के होते हुए भी दूसरे वेद में मिलते हैं, वे तत्तच्छाखाभेद से भिन्न भिन्न यजमानादि को अपनी अपनी शाखोक्त आदि का अनुसरण करने के लिये जानना चाहिए।

यद्यपि—

ऋचं साम यजामहे यस्यां कर्माणि कुर्वते।

(साम० प्र०४, अ० प्र० २)

द्वारा अमृतपान करने की विधि निकाल, सोम का प्रादुर्भाव कर अभीष्ट प्राप्ति की।

आजकल के समय में हम लोग सभी तरह के सोम से रहित हैं और अपनी इच्छा के विरुद्ध भी यमालय की तरफ जाने को प्रस्तुत हो रहे हैं। न हम में जप का ही सामर्थ्य है, न योग की, न सदाचार की, न धार्मिक कृत्यों की ही। इसीलिये हम से सोम भी हजारों मील दूर चला गया है। यदि हम सच्ची लगन के साथ इसको ढूंढें, तो अवश्य ही हमें सोम मिल सकता है। सुश्रुतकार का कथन है कि सोम या अन्य सोम के समान गुण करनेवाली दिव्य ओषधियां काश्मीर में क्षुद्र मानस नामक तालाब के आसपास हैं।

यह बात अक्षरशः सत्य मालूम देती है कि मैंने कुछ काल पूर्व "बालक" पत्र में पढा था कि, महाराज दरभंगा के दीवान महाराजा को ढूंढते ढूंढते रात्रि में जब मार्ग भूल गये, तो रात्रि को एक तपस्वी के स्थान में प्राप्त हुये, उसने इनको भूखा देख खिचडी बनानेको इन्हें दी। इन्होंने वहीं आश्रम के पास उसे पकाया और एक लकडी से चला कर परोसा और खाया। खाते ही यह बेहोश हो गये और प्रातः अपने में कायाकल्प देखा। अतः वैद्योंको उधर जाना चाहिये और वहां के साधुसन्तोंसे मिल पता चलाना चाहिये, इसके सिवाय सुश्रुतकार यह भी कहते हैं कि—

नदीषु शैलेषु सरःसु चापि पुण्येष्वरण्येषु तथाश्रमेषु।
सर्वत्र सर्वाः परिमार्गितव्याः सर्वत्रभूमिर्हि वसूनिधत्ते॥

पृथ्वी वसुगर्भा है, इसमें जहां जो प्राप्ति हो, वह संभव है, अतः सभी पुण्यक्षेत्रों में और नदी-तालावों तथा पर्वतों पर देखें। कौशिकी नदी जो बिहार में प्रसिद्ध है, वहां और आबू पर्वत, काश्मीर यह ऐसे निश्चित् स्थान हैं, जिनमें कोई भी तर्क-वितर्क की कल्पना नहीं, परन्तु श्रम करने की जरूरत है और धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान की आवश्यकता है, ये औषधियां भी सोम के समान ही प्रभावशाली हैं—

श्वेत कापोतकी, कृष्ण कापोतकी, गोनसी, अजगरी, बाराही, कन्या, छत्रा, अति छत्रा, करेणु, अजा, चक्रका, आदित्यपर्णिनी, ब्रह्मसुवचला, श्रावणी, महा श्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महा वेगवती यह अठारह सोम के समान गुणवाली औषधियां हैं। इनकी पहिचान आदि सभी सुश्रुत में मयस्थान के लिखी है। देखो सुश्रुतचिकित्सास्थान अ० ३०।

वैदिक-दिग्दर्शन।

(ले०- वैद्यरत्न पं० सभाकान्त झा, आ० शास्त्री, स० सम्पादक-'माला')

संस्कृत में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद है। पूर्वकाल में वेद विभाजित नहीं था, अर्थात् शृंखलाबद्ध नहीं होकर, सब मन्त्र, ब्राह्मण-अनुब्राह्मण सब एकहि जगह मिश्रित था। क्योंकि प्रतिभाकी अलौकिकता के कारण से तत्कालिक द्विजों के विभाग करना आवश्यक भी नहीं था। अपरकाल में आ कर जब लोगों (द्विजों) की वह अलौकिक प्रतिभा कम होने लगी और भविष्य में यह मन्द ही होती जायगी, यह जानकर भगवान् वेदव्यासजीने यज्ञादि कर्मसुविधाके हेतु इसका चार विभाग किया। यह विभाग पाठक्रम का ध्यान रखकर किया गया है। अर्थात् प्रथम ऋग्वेद, द्वितीय यजुर्वेद, तृतीय सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद इस पाठक्रम का वर्णन उपनिषदकारोंने भी इसी तरह किया है, यथा—

ऋग्वेदो भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम्। (छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२)

ऋग्यजुः सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः स शाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति॥

(नृसिंहतापनीयोपनिषद् १।२)

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद अथर्वणः।

(मुण्ड-उपनिषद् १२ ख १, म० ५)

यद्यपि—

यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्यदृचां तद् दृढम्। (तैत्तिरीय सं० ६।५।१०।३०)

इत्यादि प्रमाण से यज्ञसाधन में भी ऋग्वेदही का प्रधानता दिया गया है। तथापि उक्त श्रुतियों के अर्थवादपरक मानकर यज्ञसाधन में यजुर्वेदही को सर्वसिद्धांतसिद्ध प्राधान्यता दिया गया है। क्योंकि यज्ञानुष्ठान में वेदार्थज्ञान रहना प्रधान कारण है और वह प्राधान्यता यजुर्वेदहि में है। यथा—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जात-

विद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥

(ऋ० २१।२४।५)

भावार्थ-होता नामका एक ऋत्विक (ऋग्वेदज्ञ) जिस जिस यज्ञमें जो जो क्रिया, द्रव्य तथा देवताप्रबोधार्थ जिन जिन ऋचायों की आवश्यकता देखते हैं। उन सबका संकलन करते हैं, जो शस्त्र कहलाता है और उद्गातानाम का एक ऋत्विक (सामवेदज्ञ) शक्वरीनामक ऋचाओंमें गायत्रनाम का मन्त्र मिला गायन करते हैं। जो स्तोत्र कहाता है। ब्रह्मा नामके एक ऋत्विक अन्यान्य ऋत्विजों के देखभाल में रहते हैं, कि यज्ञकर्ममें कहीं प्रमाद होनेपर उन्हें उचित उपदेश देते हैं। तथा प्रमादजन्य प्रायश्चित्त देते हैं।

ब्रह्मा वही होते हैं, जो सकल वेदशास्त्रका पूर्ण रूपेण तत्त्वावधान किए हुए रहते हैं।

ब्रह्मा सर्वं विद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। (यास्कनि०)

एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी तयोरन्यतरां संस्करोति ब्रह्मा वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाता चान्यतराम्॥ (छां० उ० ६।१६।१)

सारांश यह है, जो यज्ञ के दो मार्ग हैं। एक वचनरूप और दूसरा मनरूप। उनमें वचनरूप मार्ग का संस्कार होता, उद्गाता, अध्वर्यु ये तीनों मिलकर करते हैं। परन्तु मनोरूपक मार्गका संस्कार ब्रह्माको अकेले ही करना पडता है। अध्वर्यु नाम का एक ऋत्विक् यज्ञ के शरीर का संपादन करते हैं।

विभक्त होनेपर भी जो बहुत से वेदमन्त्र एक वेद के होते हुए भी दूसरे वेद में मिलते हैं, वे तत्तच्छाखाभेद से भिन्न भिन्न यजमानादि को अपनी अपनी शाखोक्त आदि का अनुसरण करने के लिये जानना चाहिए।

यद्यपि—

ऋचं साम यजामहे यस्यां कर्माणि कुर्वते।

(साम० प्र० ४, अ० प्र० २)

ऋचं वाचं प्र पद्ये साम मनो यजुः प्र पद्ये प्राणं प्र पद्ये। (यजु० ३६ अ०, १ म०)

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

(ऋ० १० मं०, ८०अ०, ९सू०)

इत्यादि मन्त्र सब में परस्पर एक वेदका मन्त्र दूसरे वेद में देखकर, कौन वेद पूर्वकालिक और कौन वेद परकालिक, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है।

तथापि ऋग्वेदोक्त वचन में और अन्य वेदोक्त वचन में कहींभी वैमत्य नहीं देखा जाता है। तथा बहुत पौरस्त्य और पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के सिद्धांत को मनन करने पर यही मानना पडता है कि, ऋग्वेद सबसे प्राचीन वेद है। सायणाचार्यने ऋग्वेद से पहले यजुर्वेद का भाष्य लिखा है। किंतु वह केवल यज्ञ में यजुर्वेद का प्राधान्यता की वजह से। जिसको वह स्वयम्—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते॥

इस प्रतिज्ञावाक्य से 'ऋग्वेदभाष्य-भूमिका' में स्पष्ट रूपेण प्रतिपादित किये हुए हैं। यहां 'अध्वर्यवस्य' शब्द का अर्थ है, यजुर्वेदसम्बन्धी कर्म का और 'व्याकृतः' का अर्थ है व्याख्यात।

वेदका अपौरुषेयत्व।

ऋग्वेद का समय पाश्चात्य विद्वानोंने ४००० वर्षसे कुछ और पूर्व मानते हैं। जर्मनका प्रख्यात प्रोफेसर 'जैकोवी' का कथन है कि, ऋग्वेदका वह मन्त्र, जिसमें ऋतु का संक्षिप्त वर्णन है, वह मन्त्र इस्वी सन् से ४००० वर्ष से पूर्व का है। "जैकोवी" साहब उस मन्त्र में वर्णित ऋतु-अवस्था को ज्योतिष्शास्त्र के हिसाब से विचार कर उपरोक्त समय निर्धारित किया है। अर्वाचीन विद्वान् अपनी अपनी सम्मतिद्वारा निम्न प्रकार से समय का निर्णय किया है।

नाम।	अल्पसे अल्पकाल।	अधिकसे अधिक काल
मोक्षमूलर	८००	१५००
मैग्डानल्ड	१०००	२०००
हॉग	१४००	२०००
ह्विटनी विल्सन ग्रिफथ	१५००	२०००
जैकोवी		
पार्जिटर	२०००	२२००
डॉ० प्राणनाथ	३०००	६०००
※ लोकमान्य तिलक	६०००	८०००
अविनाथ चन्द्रदत्त	२७०००	३००००
दीनानाथ शास्त्री	२००००	३००००
पावगी	२४०००	६००००

परन्तु वादी का मत है कि, केवल एकाध मन्त्र ही से वेदकी वर्ष संख्या नियतकर लेना असम्भव ही नहीं, बल्कि अविश्वसनीय भी है। तत्रापि जो सनातनधर्मी ईश्वर के श्वासप्रश्वास से वेदों की उत्पत्ति मानते हैं। अर्थात् किसी वादी का मत है कि, जैसे वैयासिक, महाभारत, रामायण आदि विशेषण तात्पर्यसे उपलब्ध होता है और उन्हें व्यास, वाल्मीकी आदि प्रणीत मानते हैं। उसी तरह यह वेदभी काठ, कुथुम, कलापी, तित्तिर आदिसे प्रणीत है। अतएव वाक्य होने के कारण-वेदवाक्य-पौरुषेय (पुरुषप्रणीत) है, जैसे कालिदासादिक वाक्य है।

किंतु यह वादीका मत सर्वथा अज्ञानमूलक है। क्योंकि काठक आदि शब्द का निर्वचन—

कठेन प्रोक्तम्, कुथुमेन प्रोक्तम्, कलापिना प्रोक्तम्, तित्तिरिणा (याज्ञवल्क्य-वान्त वेदग्रहणार्थ-'तित्तिरि' रूपधारिणा वैशम्पायन शिष्यगणेन) प्रोक्तम्। इत्यादि किया गया है और प्रोक्त अर्थ ही में अण्-छण् आदि प्रत्यय भी है। अतएव प्रोक्तका अर्थ होता है- प्रकर्षेण उक्त अर्थात् अच्छी तरह पढाया गया। तात्पर्य यह है कि जो जो ऋषि जिन जिन शाखाओं का अधिक अध्यापन कर शिष्योपशिष्यकी संख्याको बढाये, उन्हीं उन्हीं

※ लोकमान्य का यह 'वेदकाल' निर्देश, जब पाश्चात्य विद्वानों के साथ विवाद हुआ था, उस समय का है।

ऋषियों के नाम से वे वे शाखायें प्रसिद्ध हुईं। इस बात को 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) यह पाणिनीसूत्र के भाष्यमें "कथं काठकं कापालकमिति, यत्तेन प्रोक्तम् न तु तेन कृतमिति।" इत्यादि वाक्य से भगवान् पातंजलिने स्पष्ट किया है।

वादी के मत में कालिदासि का दृष्टांत दिया गया है। सो कालिदासादिक वाक्य में कर्ता का उपलब्ध होता है और वेद में यह बात कहीं नहीं है। अतएव वादी का मत असिद्ध समझना चाहिए और दृष्टान्तकर्ता की सिद्धि से कारण व्याभिचारमें अनुमान नहीं हो सकता है।

अतएव—

सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥
(शंकरभाष्य १।३।२८)

नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥
(मी० ना० स्मृति)

कल्पे कल्पे विनश्यन्ति तन्नामानो भवन्ति च।
(देवीपुराण)

अनादिनिधना नित्या स्वयं सृष्टा स्वयं भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
(स्मृति)

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः॥
(अथर्ववेद)

विशेषरूपेण ऋग्वेद में १०।७१।३ में कहा हुआ है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥

अर्थात्-विद्वान् लोग यज्ञेन (पूर्वपुण्य) द्वारा वाचः (वेदवाणी की) पदवीयम् (मार्ग को) आयन् (प्राप्त किये) और प्रथम उस वेदवाणीको दिव्य दृष्टिसे सब पदार्थों के साक्षात्कार करनेवाले योगीश्वरोंने (उच्छिष्ट विराट परमात्मा की प्रेरणा से) प्रवेश कर गुरु मुखद्वारा प्राप्त किया। फिर गुरू से प्राप्त कर शिष्योपशिष्यद्वारा उसको देशदेशान्तर में प्रचार किया, उसी वेदवाणी को सात छन्द (गायत्री, अनुष्टुप्, उष्णिक्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् जगति ये सातों छन्द हैं) द्वारा सब गान करते हैं।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
(ऋ० १० म०, ८० अ०, ९० सू०)

अर्थात्-उन यज्ञों में सबसे पूजनीय तथा सबसे हवनीय विराटरूप परमात्मा से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, गायत्री आदि छन्द सब उत्पन्न हुए।

वाचा विरूप नित्यया। (ऋ० ८।७५।६)

अर्थात् रूपरहित नित्य वेदवाणी से ही संसार के सब पदार्थों का प्रदर्शन हुआ है। इत्यादि अनेकानेक संगत वचन मिलता है।

इस प्रसंग का सविस्तर वर्णन—

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाऽऽख्या। (१।१।२७)
अनित्यदर्शनाच्च। (१।१।२८)
इन दोनों सूत्र से पूर्व पक्ष कर
उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्। (१।१।२९)
आख्या प्रवचनात्। (१।१।३०)
परन्तु श्रुति-सामान्यमात्रम्। (१।१।३१)
अतएव च नित्यम् (१।३।२९)
समान समानरूपत्वाच्चानृत्तावप्यविरोधः।
(१।३।३०)

इत्यादि सूत्र से उत्तरमिमांसा के देवताधिकरण में जगद्गुरू शंकराचार्य और--

स्वयम्भुवो वेद कर्तृत्वेऽपि न कालिदासादिवत्स्वतन्त्रत्वमपि तु पूर्वसृष्ट्यनुसारेण।

इत्यादि प्रमाण से भामतीमें षड्दर्शनाचार्य मैथिल वाचस्पति मिश्र स्पष्ट किये हुए हैं। वेदही के प्रमाण से वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने में आत्माश्रयदोष का शंका करना उचित नहीं है। क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण है, जैसे संसार के समस्त पदार्थों के प्रकाशक सूर्य है, किन्तु सूर्य का प्रकाशक कोई नहीं है। वे अपनेहि तेज से प्रकाशित होते हैं। इसी तरह 'वेद' भी भूत, भविष्य, वर्तमान, दूर, दूरतर,

दूरतम, व्यवहित, विप्रकृष्ट इत्यादि समस्त पदार्थका बोधक होकर अपना भी बोधक स्वयं ही है।

किसी किसी का मत है कि ऋग्वेद के मन्त्र में प्रायः अधिक स्थान में गंगा, चन्द्रभागा, (चनाव) विपाशा (व्यासा) सरस्वती, वेत्रवती (वेतवा, जो बुंदेलखंड में है) यमुना शतद्रु (सतजल) गण्डकी, वितस्ता, सिन्धु, इरावती, (रावी) पयोष्णी (उष्णजला), सवास्तु (स्वात), गोमती, हषद्वती (घाघरा), वेदवती, सरयू, क्रमू, चर्मणवती (चम्मिल) नर्मदा आदि नदियों का नाम आया है। अतएव सम्भव है कि उन उन नदियों के तट पर निवास करते हुए महर्षिगण उन उन मन्त्रऋचाओं के पाठ किये हैं। परन्तु यह बात असंगत मालूम पडती है, क्योंकि वेद में केवल नदियों के ही नहीं, बल्की पदार्थ-मात्रका ही उल्लेख आया है। तब यह निश्चय करना कठिन ही नहीं, बल्की असम्भव हो जायगा कि कौन मन्त्र का कहां आविर्भाव हुआ है।

पारसी लोगों के धर्मग्रंथ 'जेन्द आवस्ता' में बहुत से मन्त्र ऋग्वेद के मन्त्र से मिलते-जुलते हैं और उसी धर्मग्रंथानुसार वे लोग अपना कार्यक्रमभी करते हैं। तथा उस में अग्नियज्ञ एवं सूर्योपस्थानादि देखकर ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में वैदिक सभ्यता समस्त संसार-भरमें विस्तृत थी। जिसका ध्वस्तावशेषपालन आजभी पारसी लोग करते हैं।

ऋग्वेदपर भाष्य।

ऋग्वेद-संहितापर दो भाष्य हैं। एक 'यास्काचार्य' का, दूसरा 'सायणाचार्य' का। इन में यास्काचार्य का बहुत प्राचीन है। वैदिक 'निरुक्त (व्याकरण), जिसका पूर्वमें तीन अध्याय का प्रथम कांड (नैघण्टुक) एक अध्याय का द्वितीय कांड। नैगम तथा एक अध्याय का तृतीय कांड (दैवत) सब मिलाकर पांच अध्याय में विभक्त तीन कांड (सर्ग) था। उसको व्याख्यारूप से पल्लवित करने के लिए 'समाम्नायः समाम्नायः' यहां से प्रारम्भ कर 'तस्या-स्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति।' एतत्पर्यन्त तीन कांड को १२ आध्याय में विभक्त यास्काचार्य हीने किया। जो वर्तमानकाल में 'निरुक्त' शब्द से व्यवहृत है।

सायणाचार्य दक्षिणभारत के 'विजयनगर' ग्राम में रहते थे। ये महापुरुष आज से साढे पांचसौ वर्ष पूर्व हो गये हैं। इन्हीं के ज्येष्ठ भ्राता 'माधवाचार्य' संस्कृत के आजन्मसेवी 'बुक्कण' राज्य के प्रधान मंत्री थे। आपके विरचित दो ग्रन्थरत्न हैं। एक पूर्वमीमांसा और दूसरा माधवनिदान।

वेदभाष्य लिखने के लिए पहिले आपको ही 'बुक्कण' राजा ने आज्ञा दी, किन्तु सायणाचार्य वेद के विशेष ज्ञाता थे। अतएव माधवाचार्य की प्रार्थनापर बुक्कण राजाने सायणाचार्य से ही वेदभाष्य का निर्माण कराये। जिसकी भूमिका का उपोद्‌घात निम्न है। यथा—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं मनोहरम्॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् 'बुक्क' महीपतिः।
आदिशन् माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायति संग्रहात्।
कृपालुर्माधवाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः॥
स प्राह नृपतिं राजन् सायणाचार्यो ममानुजः।
सर्ववेत्त्येष वेदार्थव्याख्यातृत्वे नियुज्यताम्॥
(ऋग्वेद-भाष्य)

उपरोक्त दोनों भाष्यातिरिक्त एक दयानन्द 'भाष्य' है।

ऋग्वेद की टीका अंग्रेजी में सब से पहले विल्सन-साहब ने की। परन्तु 'ग्रिफिथसाहब' का अंग्रेजी अनुवाद गवेषणापूर्ण माना जाता है।

मोक्षमूलरसाहब का वैदिक पाण्डित्य जगत्प्रसिद्ध है। वेदांश के ज्ञाता जितने सायणाचार्य थे, उन्हीं के समकक्ष मोक्षमूलर को भी लोग मानते हैं; किंतु इस में कहां तक सत्यता है, ईश्वर जाने।

शाखा- ऋग्वेद में ५ शाखायें हैं। १ शाकल्य, २ वाष्कल, ३ आश्वलायन, ४ शांखायन, ५ माण्डूक्य, इन में आश्वलायन और शांखायन को शाकल्य से बहुत कम अन्तर है। अर्थात् कहीं कहीं एकादश वालखिल्य सूक्त के यज्ञसम्बन्ध में दिखाया गया है। कहीं इस से कुछ कम

इसी तरह माण्डूक्य तथा बाष्कल कोभी शाकल्य से बहुत कम भेद है। प्रायः इसीलिये वर्तमानकाल में भी-ऋग्वेद का केवल 'शाकल्य' शाखामात्रका ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है।

पाठ- ऋग्वेद में पाठ ४ हैं। पद १, २ क्रम, ३ घन, जटा, ४। पदपाठ में पदच्छेद रहता है और क्रमपाठमें प्रत्येक शब्द दो बार और जटा पाठमें प्रत्येक शब्द तीन तीन बार कहे जाते हैं। तथा घनपाठ में दो दो शब्द के स्थान में तीन तीन शब्द लिखा जाता है। किन्तु प्रथम दो दो शब्द क्रमपाठ के अनुसार ही होता है। इन सबों की विवेचना-अनुक्रमणिका में विस्तृत रूप से किया गया है।

स्वरभेद- सामवेद में १।२।३ अंकद्वार, उदात्तादि स्वर-भेद समझाया गया है। शतपथ में उदात्त का चिन्ह अधोमुख-(-) सतरिका रहता है और कृष्ण यजुर्वेद में उदात्त का चिन्ह ऊपर (।) सत्तर रहता है। ऋग्वेद में उदात्त का कोई नियत चिन्ह नहीं रहता है। सिर्फ स्वरित चिन्ह के ऊपर (।) सत्तरि रहता है और अनुदात्त चिन्ह का अधोमुख सत्तरि रहता है।

भेदगणना- ऋग्वेद में दश मण्डल, आठ अष्टक और १०२४ वर्ग हैं। एक-एक अष्टक में ८-८ अध्याय हैं। उसमें प्रथमाष्टक के प्रथमाध्यायमें ३७ वर्ग, दोसरे में ३८, तृतीयमें ३५, चतुर्थमें २९, पंचममें ३१, छठेमें ३२, सप्तममें ३७ और अष्टम में २६। कुलवर्ग प्रथमाष्टकका २६५ है। द्वितीयाष्टक के प्रथमाध्याय में २६, दोसर में २७, तेसर में २६, चौथे में २९, पांचवें में २१, छठवें में ३२, सातवें में २५ और आठवें में २७। कुलवर्ग द्वितीयाष्टक का २२१। तृतीयाष्टक के प्रथमाध्याय में ३४, द्वितीय में २६, तृतीय में ३१, चौथे में २५, पांचवें में २६, छठवें में ३०, सातवें में २७ और आठवें में २९। कुलवर्ग तृतीयाष्टक का २२१।

चतुर्थाष्टक के प्रथमाध्याय में ३३, द्वितीय में २८, तृतीय में ३१, चौथे में ३६, पांचवें में ३०, छठवें में २५, सातवें में ३४ और आठवें में ३२। कुलवर्ग चतुर्थाष्टक का २५०। पंचमाष्टक के प्रथमाध्याय में २७, द्वितीय में ३०, चतुर्थ में ३०, पांचवें में २७, छठे में २५. सातवें में ३३, और आठवें में ३६। कुलवर्ग पंचमाष्टक का २३८। षष्ठाष्टक के प्रथमाध्याय में ४०, द्वितीय में ४०, तृतीय में ३९, चतुर्थ में ५४, पांचवें में ३८, छठे में ३८, सातम में ३९, आठम में ३३, कुलवर्ग षष्ठाष्टक का ३३१। सप्तमाष्टक के प्रथमाध्याय में ४१, द्वितीय में ३३, तृतीय में २६, चतुर्थ में २८, पंचम में ३३, छठे में २८, सातवें में ३०, आठे में २९। कुलवर्ग सप्ताष्टक के २४८।

अष्टमाष्टक के प्रथमाध्याय में ३०, द्वितीय में २४, तृतीय में २८, चतुर्थ में ३१, पांचवें में २७, छठे में २७, सात में ३०, आठम में ४९। कुलवर्ग अष्टक के २४६ होते। टोटल संख्या उपर्युक्त २०२४ होती हैं।

मंडल	अनुवाक	सूक्त	मन्त्र	ऋषि
१	२४	१९१	२००६	प्रचुरतरकण्व
२	४	४३	४२९	गृत्समदगोत्री
३	५	६२	६१७	विश्वामित्रादि
४	५	५८	५८९	वामदेव आदि
५	६	८७	७२७	अत्रि
६	६	७५	७६५	भरद्वाज आदि
७	६	१०४	८४१	वसिष्ठ आदि
८	१०	१०३	१७१६	प्रचुरतरकण्व
९	७	११४	१००८	काश्यप आदि
१०	१२	१९१	१७५[illegible]	गृत्समद आदि

चरणव्यूह तथा शौनकीय अनुक्रमणिका के अनुसार इन वर्गों में, ऋचामें गणना कृतानुसार परस्पर कुछ भेद है। जो लेखविस्तारभय से हम यहां उद्धृत नहीं कर सकते हैं।

देवता-परिचय- ऋग्वेद के अष्टम और नवम को छोडकर और सब मण्डल के प्रथम सूक्त से विशेषतया अग्निही की स्तुति की गयी है। दशम को छोडकर सब मण्डल में कहीं एक, कहीं दो, कहीं इससे भी अधिक सूक्तसे पहले इन्द्र की स्तुति की गयी है। चतुर्थ, छठा तथा अष्टम से भिन्न मण्डल सब में कहीं एक, कहीं दो, कहीं तीन। 'आप्री' सूक्त बारह ऋचा का है और प्रत्येक ऋचामें अग्नि, तनूनपात्, इडा वार्षिक आदि भिन्न भिन्न देवताओंके लिए विनियुक्त है। विश्वामित्रक "मधुच्छन्दा।" बहुतों ऋचाके ऋषि हैं। यज्ञकांडोपयोगी सब ऋचायें-यजुर्वेद तथा सामवेद में निर्दिष्ट से विनियुक्त किये गये हैं। यद्यपि कहीं इन्द्र, कहीं वरुण, कहीं अग्नि, कहीं तनूनपात, कहीं रुद्र, कहीं विष्णु, इत्यादि अनेक देवताओं के उद्देश से ऋचाओं के विनियोग हैं। किन्तु वे सब देव परब्रह्मही के अनेक स्वरूप हैं, अतएव आराध्यमें विरोध नहीं कह सकते।

ऋग्वेद २।३।२२ मन्त्रवर्ण ४६ में—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेव उ ह्येव सर्वे देवाः।
(शतपथब्राह्मण १४।१२)

दोनों श्लोक का अर्थ स्पष्ट ही है।

ब्राह्मणग्रन्थ- प्रत्येक वेदसंहिता के साथ साथ उसका विनियोग तथा द्रव्य-देवता, हविष आदि का परिचय कराने के लिए पृथक् पृथक् ब्राह्मणग्रन्थ वर्तमान हैं। जिस का महत्त्व प्रत्येक सनातनधर्मी संहिता से कुछ कम नहीं समझते, क्योंकि दोनों ऋषिप्रोक्त हैं, तथा समानवाली और समकक्ष हैं।

अर्थात् जैसे-पाणिनीमुनिप्रणीत अष्टाध्यायी, कात्यायन मुनिप्रणीत वार्तिक तथा पातंजलि मुनिप्रणीत महाभाष्य इन तीनों की एकवाक्यता तथा ऋषिप्रणीतत्व मान्य होनेके वजह से, मूलभाष्य में भेद रहते हुए भी इन सब को व्याकरण ही कहा जाता है, इसी तरह संहिता की व्याख्या रहते हुए भी-ब्राह्मणभाग वेदहि कहाता है। इस विषयका सविस्तर वर्णन—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या। (२।१।३२)
शेषे ब्राह्मणशब्दः। (२।१।३३)

इन दोनों सूत्र से तथा पू० मी०में "मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्" इत्यादि तथा आपस्तम्ब प्रमाण के आधारपर जैमिनीय मुनिवर्णन किये हुए हैं। यज्ञकाण्ड की विधि इस में सविस्तर यथाक्रम है। इसका 'ब्राह्मण' नाम होनेका दो कारण हैं। एक यह कि 'ब्राह्म' कहते हैं वेदको इस वेदका तत्त्वविचार इस में तथा दूसरा यह कि यज्ञ करानेके अधिकारी ब्राह्मण ही हैं। और उस (ब्राह्मणग्रन्थ) में प्रधान तथा यज्ञहि का विधान ही है। अतएव ब्राह्मणोंके उपयोगी होने के वजह से ग्रन्थका भी नाम 'ब्राह्मण' रखा गया।

आरण्यक और उपनिषद् भी ब्राह्मण कहलाता है।

ऋग्वेद में ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीत की ब्राह्मण ये दोनों ग्रन्थ बहुत बडा है। ऐतरेय में ४० अध्याय तथा ८ पंजिका है और प्रारम्भ से १६ अध्याय तक अग्निष्टोम तथा सोमयाग का निरूपण है।

'गवामयन' यज्ञ, जो ३६० दिन में सम्पादित होता है। उसका निरूपण १७-और १८ म अध्याय में है। द्वादशाह यज्ञ (रात्रि सत्र) का तथा होता के कर्तव्य का वर्णन १९ से २४ अध्याय तक में है। फिर २५ में अध्यायमें प्रमाद, प्रायश्चित्त तथा अग्निहोत्र की विधि निर्दिष्ट है और २६ से ३० अध्याय तक होता के सोमयज्ञग्यांतर्गत सहायक तथा प्रसंगवशात् शिल्पशास्त्रका भी कुछ वर्णन है और ३३ से ४० अध्याय तक राजा को राज्यासनपर बैठाने तथा पुरोहित आदि के धर्मोपदेश करने का क्रम दिखलाया गया है।

कौषीतकी ब्राह्मणग्रन्थ ३० अध्याय का है। इस में भी बहुत विषय ऐतरेय ब्राह्मण ही जैसे हैं। किंतु प्रथम अग्न्याधान, तब अग्निहोत्र, फिर पौर्णमास आदि यज्ञका और विस्तृत रूपसे 'चातुर्मास्य' यज्ञ का वर्णन किया गया है।

ऐतरेय-आरण्यक १८ अध्याय कर पांच भाग में विभक्त किया है। प्रथम भाग में ५ अध्याय और २२ खण्ड

है। जिस में प्रधानतया सोमयज्ञका विचार किया गया है। द्वितीय भाग में ७ अध्याय तथा २६ खण्ड हैं। जिस के तीसरे अध्याय में प्राणपुरुष का तथा ४-७ अध्याय में ऐतरेय उपनिषद् (ब्रह्मविचार) का निर्णय है। तृतीय भाग में २ अध्याय और १२ खण्ड हैं। इस में अलंकारिक रीति से संहिता के पदपाठ तथा क्रमपाठ का विवेचन और अक्षरवर्णनप्रोक्त माना जाता है। पंचम भाग में ३ अध्याय, १४ खण्ड हैं, जो शौनक ऋषि से प्रोक्त है।

'कौषीतकि' ब्राह्मण के साथ एक 'कौषीतकि' अरण्य भी है। जिसमें १५ अध्याय हैं। प्रथम दो अध्याय में सोमका वर्णन है।

तथा ४।५।६ में कौषीतकि उपनिषद् और ७ तथा ८ अध्यायमें पूर्ववत् पदपाठका और क्रमपाठ का रहस्य अलंकारिक रूपसे निर्दिष्ट है।

इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चारों आश्रमोंके लिए क्रमशः मन्त्रभाग (संहिता) आरण्यक भाग, तथा उपनिषद्भाग किया गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकाशक प्रसंगसे सायणाचार्य ऋग्वेद-भाष्य के प्रारम्भ में लिखते हैं कि, एक ऋषि को बहुत स्त्रियां थी। जिनमें से एक का नाम 'इतरा' था। इनके पुत्र 'महीदास' नामके थे। एक रोज वह ऋषि सब पुत्रोंको अपने गोद में स्नेहभाव से बैठाकर प्यार करने लगे, किंतु महीदासको उन्होंने नहीं प्यार किया, जिससे दुःखी होकर 'महीदास' रोने लगे। यह देखकर इनकी माता 'इतरा' ने अपने कुलदेवता भूमिसे प्रार्थना की। भूमि प्रसन्न हो गई और प्रसन्न होकर वहींपर एक सुन्दर यज्ञमण्डप का निर्मा किया, जिस पर महीदास के वरदान देने को लिए बैठाया और बैठाकर यह वरप्रदान किया। कि तुम्हारे नाम से ४० अध्याय का 'ऐतरेय ब्राह्मण' संसार में प्रसिद्ध होगा।

उपनिषद्।

जैसे प्रत्येक वेदके ब्राह्मण पृथक् पृथक् हैं, वैसेही उपनिषदें भी भिन्न भिन्न हैं।

ऋग्वेदोपनिषद्-ऋग्वेदान्तर्गत दश उपनिषदें हैं। यथा १. अक्षमालिका, २. आत्मबोध, ३. ऐतरेय, ४. कौषीतकी, ५. त्रिपुरा, ६. नादबिन्दु, ७. निर्वाण, ८ मुद्गला, ९. बह्वृच १०. सौभाग्य।

(अपूर्ण)

वेदमन्त्रों के उपदेश।

(लेखक- श्री० स्व० पं० रघुनन्दनशर्माजी।)

मनुष्य की इच्छाएँ।

मनुष्य की इच्छाएँ सात भागों में विभाजित हैं। (१) बहुत दिन जीने की इच्छा। (२) स्त्री, पुत्र, रति, शोभा, श्रृंगार की इच्छा। (३) खाने पीने, पहिरने ओढ़ने, मकान, गृहस्थी, बाग बगीचे और खेत तथा पशुओं की इच्छा। (४) यश और मान आदि की इच्छा। (५) विद्या, ज्ञान, विज्ञान और मालमात की इच्छा। (६) अपने साथ कोई अन्याय न करे, अर्थात् न्याय की इच्छा और (७) बार बार जन्ममरण के दुःख से छूटकर मोक्षप्राप्ति की इच्छा मनुष्यमात्र को रहती है। वेदोंने गायत्री मन्त्र के द्वारा इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति के लिए नित्य परमेश्वर से प्रार्थना करने का उपदेश किया है। गायत्री का माहात्म्य वर्णन करते हुए अथर्ववेद १९।७१।१ में कहा गया है कि—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

अर्थात् प्रचोदयात् पदान्तवाली और द्विजों को पवित्र करनेवाली वेदमाता गायत्री की मैं इसलिए स्तुति करता हूँ कि वह मुझको आयु, बल, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन और वैदिक ज्ञान देकर ब्रह्मलोक अर्थात् मोक्षपद को पहुँचावे। इस आदेश से ज्ञात हुआ कि मनुष्यमात्र की ये इच्छाएँ स्वाभाविक हैं। फ्रीनॉलॉजीवाले भी बतलाते हैं कि मस्तिष्क में ज्ञान, मान, अर्थ, काम, आयु, विज्ञान और न्यायधर्म के ही प्रधान सात स्थान हैं। अन्य स्थान तो इन्हीं के अन्तर्गत इन्हीं की शाखाएँ हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये इच्छाएँ नैसर्गिक हैं। इन सबमें दीर्घ जीवन की इच्छा सर्वप्रथम है, इसलिए सबसे पहिले हम दीर्घजीवन के ही मन्त्रों का नमूना दिखलाते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि—

शतमिन्नु शरदो अंति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥ (यजु० २५।२२)

अर्थात् हे विद्वानो! मनुष्य की आयु सौ वर्ष नियत है, अतः जब तक हमारे शरीरों की जरा अवस्था न हो जाय और हमारा पुत्र भी पिता न हो जाय तब तक हम जिएँ अर्थात् सौ वर्ष के अन्दर हमारी आयु क्षीण न हो। इतना ही नहीं कि हम किसी प्रकार सौ वर्ष तक जिएँ, प्रत्युत आरोग्यता और बल के साथ जिएँ, जैसा कि लिखा है कि—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम
शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम
शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥
(यजुर्वेद ३६।२४)

अर्थात् ज्ञानियों का हित करनेवाला शुद्ध ज्ञाननेत्र उदित है। उससे हम सौ वर्ष देखें, सौ वर्ष जिएँ, सौ वर्ष सुनें, सौ वर्ष बोलें, सौ वर्ष तक दीन न हों और सौ वर्ष से भी अधिक दिन तक आनन्द से रहें।

वेद में दीर्घजीवन की इस इच्छा के आगे काम की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है—

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ (अथर्व० १९।५२।१)

अर्थात् जो 'काम' मन में बीजरूप से है, वह पहिले हुआ। हे काम! तूने बहुत बड़े काम का विस्तार कर दिया है, इसलिए अब धन दे।

प्रियः देवानां भूयासं; प्रियः प्रजानां भूयासं।
प्रियः पशूनां भूयासं; प्रियः समानानां भूयासं।
(अथर्व० १७।१।२-५)

अर्थात् देवों के लिए, प्रजा के लिए, पशुओं के लिए और समानों के लिए प्रिय होऊँ। कामना से सम्बन्ध रखनेवाले इन दोनों मन्त्रों में कहा गया है कि मन और रेत ही काम का मूल है। इस काम से ही आगे बड़ी बड़ी पुत्रादि की कामनाएँ उत्पन्न होती हैं और इसी से चुनाव, शोभा शृंगार और ठाटबाट की आवश्यकता होती है। इन सबका मूल मन और रेत अर्थात् रति ही है। रति ही प्रजा, पशु और अन्नादि धन की ओर विशेष प्रवृत्ति उत्पन्न कराती है। क्योंकि दीर्घजीवन और कामजन्य स्त्रीपुत्रादिकों के लिए ही धन की इच्छा होती है।

मनुष्य को इस धन की इच्छा किस प्रकार रहती है, उसका नमूना वेद ने निम्न मन्त्र में दिखलाया है—

एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः॥ (ऋ० १०।११७।८)

अर्थात् एक गुणा धन रखनेवाला अपने से दुगुने धन रखनेवाले के मार्ग का आक्रमण करता है, दुगुने धनवाला तिगुने धनवाले के पीछे दौड़ता है और चौगुने धनवाला करने से दूने धनवाले की महत्ता को प्राप्त होता है। अर्थात् मनुष्य धनवानों को देखकर स्पर्धा करते हुए अधिकाधिक धन प्राप्त करने की इच्छा रखता है।

इस धन की इच्छा के आगे मान की इच्छा होती है। वेद में मान की इच्छा का नमूना इस प्रकार दिखलाया गया है—

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम्। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १७॥ यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि। एवा०॥१८ यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिन् जातवेदसि। एवा० ॥१९॥ यथा यशः कन्यायां यथास्मिन् संभृते रथे। एवा ॥२०॥ यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः। एवा० ॥२१॥ यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः। एवा० ॥२२॥ यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ आहितम्। एवा० ॥२३॥ यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि। एवा० ॥२४॥ यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम्। एवा० ॥२५॥ (अथर्व० १०।३)

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य, चंद्रमा, पृथिवी, ब्रह्मचारिणी कन्या, मधुपर्क और सोमपानप्राप्त विद्वान्, अग्निहोत्री, यज्ञ करनेवाला यजमान, परमेष्ठी और प्रजापति यश और कीर्ति को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार की कीर्ति, तेज और यश मुझको भी प्राप्त हो। इन मंत्रों में यश, कीर्ति और मान के लिए प्रार्थना की गई है। क्योंकि लिखा है कि 'सर्वे नन्दन्ति यशसा' अर्थात् सबको यश से आनन्द मिलता है।

इस मान की इच्छा के आगे वेद में ज्ञान की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु॥
मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे॥
(यजु० ३२।१४-१५)

अर्थात् जिस मेधा (ज्ञान) की देवता और पितर उपासना करते हैं, उस मेधा से हे परमेश्वर! मुझे शीघ्र ही मेधावी कीजिये। वह मेधा मुझको वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु और परमात्मा देवे। अर्थात् इन सब पदार्थों का ज्ञान मुझे शीघ्र हो। इसलिए—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्
(अथर्व० ६।४१।१)

अर्थात् मन, अन्तःकरण, बुद्धि, विचारशक्ति, ज्ञानशक्ति, मति, श्रवणशक्ति और दृष्टिशक्ति की उन्नति के लिए हम सब यज्ञकर्म करें। ज्ञानेच्छा के आगे वेद में न्याय की इच्छा इस प्रकार बतलाई गई है—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते॥
(यजु० ३।५०)

अर्थात् मुझे दे और मैं तुझे दूँ। तू उत्तम गुण मुझमें धारण कर और मैं तुझमें धारण करूँ। यह मैं लेता हूँ

और यह तू ले, अर्थात् परस्पर न्याययुक्त व्यवहार हो। कैसा सुन्दर न्याय का आदर्श है! इसके आगे परमपद की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु० ३१।१८)

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते। कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि ॥ (ऋ० ९।११३।११)

अर्थात् मैं उस अन्धकार से परे महान् प्रकाशमय सूर्यतुल्य परमात्मा को जानता हूँ। उसी के जान लेने से अमृतत्व प्राप्त होता है, इसके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इसलिए जहाँ आनन्द ही आनन्द है और जहाँ सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, उस मोक्षधाम में मुझे अमर कीजिए। इन मन्त्रों में दीर्घातिदीर्घ जीवन अर्थात् अमृतत्व की महान् इच्छा वर्तमान है। संसार में बहुत दिन जीने की जो इच्छा पाई जाती है, वह इसी अनन्त जीवन की अभिलाषा है। इस प्रकार से मनुष्य की ये सातों स्वाभाविक इच्छाओं को दर्शानेवाले मन्त्र वेद में मौजूद हैं। परन्तु ये इच्छाएँ विना गृहस्थाश्रम के पूर्ण नहीं हो सकतीं।

गृहस्थाश्रम।

उपर्युक्त इच्छाएँ विना गृहस्थाश्रम के पूरी नहीं हो सकतीं, इसलिए वेदों में गृहस्थाश्रम का पर्याप्त वर्णन है। यहाँ हम नमूने के तौर पर गृहस्थाश्रम की ख़ास ख़ास बातें लिखते हैं। सबसे पहिले देखते हैं कि वेदमन्त्रों के अनुसार गृहस्थ की हालत कैसी होनी चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि—

इहैवस्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।
(ऋ० १०।८५।४२)

अर्थात् किसी से विरोध न करो, गृहस्थाश्रम में रहो, पूर्ण आयु प्राप्त करो, पुत्र और पौत्रों के साथ खेलते हुए और आनन्द करते हुए अपने ही घर में रहो और घर को आदर्शरूप बनाओ। इसके आगे यह दिखलाते हैं कि गृहस्वामी दंपति का परस्पर कैसा आदर्श होना चाहिये। ऋग्वेद उपदेश करता है कि—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥
(ऋ० १०।८५।४७)

अर्थात् संसार की समस्त शक्तियाँ और विद्वान् हम दोनों—पतिपत्नी—को अच्छी प्रकार जानें, हम दोनों के हृदय जल के समान शान्त हों और हम दोनों की प्राणशक्ति, धारणाशक्ति और उपदेशशक्ति परस्पर कल्याणकारी हो। यह वैदिक दम्पति का आदर्श है। अब देखना चाहिये कि इस वैदिक दम्पति का घर कैसा है। वेदमन्त्रों के आदेशानुसार सर्वसाधारण के घर बहुत ही सादे होना चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि—

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः॥
(अथर्व० ९।३।१६)

तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी। मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती।
(अथर्व० ९।३।१७)

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा या निमीयते। अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये।
(अथर्व० ९।३।२१)

अर्थात् उपजाऊ और पानीवाली भूमि पर छोटी सी निर्वाहयोग्य जिसमें समस्त आवश्यक अन्न भरे हैं, ऐसी हे शाला! तू अपने ग्रहणकर्ता (निवासी) को मत मारना। तृण से छाई हुई और तोरण बन्दनवारों से सजी हुई हे शाला! तू सबको रात्रि के समय शान्ति देने वाली है और लकड़ी के खम्भों पर हस्तिनी की भाँति थोड़ी सी ज़मीन पर स्थित है। जो शाला दो छप्परवाली, चार छप्परवाली, छे छप्परवाली और जो आठ तथा दश छप्परवाली बनाई जाती है, उस इज़्ज़त बचानेवाली शाला में मैं जठराग्नि और गर्भ के समान निवास करता हूँ। यह है वैदिक घरों की सादगी। अब देखना चाहिए कि इन घरों में खाद्य और पेय पदार्थों के तैयार करनेवाली गृहस्थी का कैसा वर्णन है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥१॥
यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता। उलू० ॥२॥
यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते। उलू० ॥३॥
यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव। उलू०॥४॥
यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥५॥
(ऋ० १।२८)

अर्थात् जहाँ बड़ा स्थूल पत्थर (चक्की) नीचे ऊपर चलता है, जहाँ दो जंघाओं के बीच में सिलबट्टा चलता है, जहाँ स्त्रियाँ पदार्थों का धरना, उठाना और राँधना पकाना जानती हैं, जहाँ मथानी को रस्सी से बाँधकर दही मथा जाता है और जहाँ घर घर में उलूखल मूसल चलता है, वे घर ऐसे प्रकाशित होते हैं, जैसे जय के समय दुंदुभी प्रकाशित होती है। इन वैदिक घरों में चक्की, सिलबट्टा, उखली मूसल और मथानी के शब्द दुंदुभी के समान अन्न चाहनेवालों को घोषित कर रहे हैं और गृहदेवियाँ पदार्थों के धरने उठाने और रांधने, पकाने में लगी हुई हैं। इन घरों में जिस प्रकार अन्नदान की धूम मची हुई है, उसी तरह घी-दूध की भी धारा बह रही है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णां उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः। (अथर्व० ४।३४।७)

अर्थात् चार चार घड़े दूध और चार चार घड़े पानी चारों ओर देता हूँ। ये सब अपको स्वर्ग में-सुखस्थान में-पोषण पहुँचावें।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्। इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥
(अथर्व० ३।१२।८)

अर्थात् हे स्त्री! तू दूध और घी को घड़ों में भरकर उनकी धारा से इन पीनेवालों को तृप्त कर और वापी कूप तड़ाग तथा दान आदि सब प्रकारों से इनकी रक्षा कर।

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ (यजुर्वेद २।३४)

अर्थात् बलकारक जल, घृत, दूध, रसयुक्त अन्न और पके हुए तथा टपके हुए मीठे फलों की धारा बह रही है, अतः हे स्वधा में ठहरे हुए पितरो! आप तृप्त हों। इन मन्त्रों के अनुसार वैदिक घरों में देव, ऋषि और पितरों की तृप्ति के लिए घी, दूध और फलों का विशाल आयोजन दिखलाई पड़ता है। इतना ही नहीं प्रत्युत वैदिक गृहस्थ अपने इष्टमित्रों, अतिथियों और क्षुधापीड़ित मनुष्यों को किस प्रकार अन्न, जल और सेवा से तृप्त करने के लिए बुला रहे हैं, वह भी देखनेयोग्य है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण। गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥१॥ इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः। पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥२॥ येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः। गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥३॥ उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः। अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥४॥ उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥५॥ सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः। अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥६॥ इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत। ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥७॥ (अथर्व० ७।६०।१-७)

अर्थात् हे वीर्य, धन, सम्पत्ति, मेधा, सुहृद्भाव और अच्छे मनवालो! आप लोग इन घरों में प्रेमपूर्वक आइये, डरिये मत। घरों में आनेवालों के लिए ये घर आरोग्यवर्धक, बलशाली, दुग्धवाले, लक्ष्मीवान् और श्रीमान् हैं। ये घर अमित धनवाले, मित्रोंके साथ आमोद-प्रमोद करनेवाले और क्षुधातृषा के हरनेवाले हैं, इसलिए आइये डरिये, मत। गौवें, बकरी और नाना प्रकार के रसीले अन्न हमारे घरों में भरे पड़े हैं। ये घर सत्यवालों, भाग्यवानों, धनियों, हसमुखों और भूखप्यास से रहितों के हैं, इसलिए डरिये मत। थके हुए पथिक जो इन

घरों का स्मरण करते हैं, उन्हें ये घर अपनी ओर बुलाते हैं, इसलिए कहीं मत जाइये, यहीं रहिये। ये घर अनेक प्रकार से पोषण करते हैं, इसीलिए हम भी यहाँ आ गये हैं, ठहरे हैं और सब प्रकार से सुखी हैं। इस उपदेश में गृहस्थाश्रम का कैसा भव्य वर्णन है और कैसे उदार गृहस्थों का चित्र खींचा गया है! इसका कारण यही है कि वेदों में अतिथिसत्कार न करनेवाले और क्षुधातुरों को अन्न न देनेवाले गृहस्थों की निन्दा की गई है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे । स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विंदते ॥२॥ स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥३॥
(ऋ० १०।११७)

अर्थात् जो अन्नवान् होता हुआ, अन्न चाहनेवालों और ग़रीबी से पास आये हुए दुखियों के लिए मन कठोर कर लेता है और आप मज़े में खाता है उसे सुख देनेवाला मित्र नहीं मिल सकता। जो अन्न चाहनेवाले दुबल याचक को अन्न देता है वही सच्चा भोजन करता है। ऐसे दाता के पास दान करने के लिए पर्याप्त अन्न आता है और कठिन समय में सहायक मित्र उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से इन वेदमन्त्रों ने आदर्श गृहस्थ का चित्र खींचते हुए बतलाया कि मकान तो सदैव साधारण ही हो, पर वह साधारण मकान अन्न आदि आवश्यक पदार्थों से भरा हो और मकान पर आनेवालों का उत्तम सत्कार किया जाय।

पर स्मरण रहे कि इस दानशीलता के कारण ऋण न होने पावे। ऋण मनुष्य को बहुत ही नीच बना देता है, इसलिए उतना ही ख़र्च चाहिये जितनी अपनी निज की आमदनी हो। अथर्ववेद में लिखा है कि—

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम । ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥
(अथर्व० ६।११७।३)

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम् । पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात् ॥
(अथर्व० १९।३१।५)

अर्थात् इस लोक, परलोक और तीसरे लोक में हम सब अऋण होवें और देवयान तथा पितृयान के जो मार्ग और स्थान हैं, उन सबमें हम अऋण होकर निवास करें। मैं चतुष्पाद पशुओं से, द्विपाद मनुष्यों से और धान्यों से प्राप्त पदार्थ स्वीकार करता हूँ और बृहस्पति तथा सविता देव परमात्मा ने जो मुझको पशुओं का दूध और औषधियों का रस दिया है, उसी से पोषण करता हूँ। इन मन्त्रों का यही तात्पर्य है कि जो कुछ अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हो, उसी के अनुसार ख़र्च किया जाय, ऋण लेकर नहीं। इस प्रकार से गृहस्थ की दशा का वर्णन करके अब गृहस्थ के नित्य करने योग्य पञ्चमहायज्ञों का वर्णन करते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे ॥
(यजुर्वेद० ३।४५)

अर्थात् ग्राम में, जंगल में और सभा में हमने इंद्रियों से जो पाप किया है, उसे इस यज्ञ में होम करके दूर फेंकते हैं। इस मन्त्र का मतलब यही है कि गृहस्थ से जो पाँच स्थानों में पाप होता है अथवा युद्धों और हिंसा पशुओं की हत्या से जो पाप होता है अथवा ग्राम में, जंगल में और सभाओं में जो मन, वाणी और कर्म से विना किसी इरादे के पाप हो जाता है, वह पञ्चमहायज्ञों और इष्टापूर्तादि लोकोपकारी कार्यों के करने से दूर हो जाता है, अर्थात् एक प्रकार से नित्य प्रायश्चित्त हो जाता है। इन पञ्चमहायज्ञों में सबसे पहिले वेदों का स्वाध्याय और प्राणायामपूर्वक गायत्री का जप है। यही ब्रह्मयज्ञ है। वेद में इस ब्रह्मयज्ञ के करने की ताकीद की गई है। वेद के स्वाध्याय के लिए यजुर्वेद में लिखा है कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय

चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु।
(यजुर्वेद २६।२)

अर्थात् जैसे इस कल्याणकारिणी वाणी को मनुष्यों के लिए मैं बोलता हूँ, वैसे ही ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, स्त्रियों और अनार्यों के लिए आप भी बोलिये और समझिए कि इस प्रकार के विद्यादान से मैं देवताओं में प्रिय होऊँ, मुझे परोक्ष सुख मिले और सब कामनाएँ पूर्ण हों। यह वेद के स्वाध्याय की महिमा है। पर वेद-स्वाध्याय का मतलब केवल वेदों का रटना ही नहीं है, प्रत्युत उनके अर्थों का जानना है। इसीलिए अथर्ववेद में लिखा है कि—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते॥
(अथर्व० ९।१०।१८)

अर्थात् ऋचाएँ परमव्यापक अक्षर में ठहरी हुई हैं, जिसमें वेद के देवता-अर्थ-ठहरे हुए हैं, अतः जो अक्षर और उनके अर्थों को नहीं जानता, वह केवल ऋचाओं से क्या लाभ प्राप्त कर सकता है? ठीक है, जो अक्षर और अर्थों को जानता है, वही अच्छी तरह वेद के तात्पर्य को पहुँचता है, इसलिए वेदों को अर्थसहित ही पढ़ना चाहिये। वेद-विचार के बाद प्राणायामपूर्वक गायत्री का जप करना चाहिये। अथर्ववेद में गायत्री की महिमा इस प्रकार लिखी है कि—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।
(अथर्ववेद १९।७१।१)

अर्थात् द्विजों को प्रेरणा करनेवाली पवित्र वेदमाता गायत्री की मैं स्तुति करता हूँ। वह मुझे आयु, बल, सन्तति, पशु, कीर्ति, धन और ब्रह्मवर्चस्व अर्थात् वेदज्ञान को देकर ब्रह्मलोक को पहुँचावे। यही ब्रह्मयज्ञ है। इसके बाद देवयज्ञ का अनुष्ठान है। देवयज्ञ का तात्पर्य दोनों समय हवन करना है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥ प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम॥
(अथर्व० १९।५५।३-४)

अर्थात् शाम का नित्य हवन प्रातःकाल के समय गृहस्थ के मन को प्रसन्न करनेवाला होता है और प्रातःकाल का नित्य हवन सायंकाल के समय मन को प्रसन्न करनेवाला होता है, इसलिए गृहस्थ को नित्य दोनों सन्ध्याओं में हवन करना चाहिये। यही देवयज्ञ है। इस देवयज्ञ के पश्चात् पितृयज्ञ का विधान है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषाँल्लोकः स्वधा नमोः यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥
(यजु० १९।४५)

अर्थात् यम के राज्य में जो पितर एक समान हैं और समान विचारवाले हैं, उन पितरों को देवतों के बीच में लोक, स्वधा, नमस्कार और यज्ञ प्राप्त होंॐ। इस पितृयज्ञ के बाद बलिवैश्वदेव का विधान है। उसके लिए यजुर्वेद और अथर्ववेद में लिखा है कि—

यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्वं याश्च दक्षिणाः।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥
(यजु० १८।६४)

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने॥
(अथर्व० १९।५५।६)

ॐ ये पितर सौम्य हैं, इसलिए इनका सत्कार प्रायः जल से ही होता है। उधर वृक्ष भी सौम्य कहलाते हैं, यही कारण है कि पितृजल वृक्षों में ही डाला जाता है। पञ्च महायज्ञों में जहाँ देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी और कीटपतङ्गों तक को भोज्य भाग दिया जाता है, वहाँ सौम्य पितरों का हक़ सौम्य वृक्षों को ही दिया जाता है। 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी बभूव' लिखकर पतंजलि ने महाभाष्य में इसी प्रकार का इशारा किया है।

अर्थात् जो अभी दिया है और जो इसके पहिले दिया है तथा जो आगे दिया है और जो पीछे दिया है, वह सब बलिवैश्वकर्म की अग्नि को प्राप्त हो। जिस प्रकार नित्य घोड़ा घास पाता है, उसी प्रकार प्रतिदिन प्राणियों को उनका भाग अर्थात् बलि देना चाहिये। इसके बाद अतिथियज्ञ है। अतिथियज्ञ के विषय में लिखा है कि—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥ श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥२॥

(अथर्व० १५।१०)

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥१॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥२॥ (अथर्ववेद १५।११)

अर्थात् जब विद्वान् और व्रतधारी अतिथि राजा के घर आवे, तो राजा को उचित है कि वह अतिथि को अपने से भी अधिक श्रेष्ठ माने। इससे राजा न तो क्षत्रियकुल में ही दोषी होता है और न राष्ट्र की ही ओर से दोषी होता है। जिसके घर में व्रतशील और विद्वान् अतिथि आ जाय, तो उसे चाहिये कि वह उठकर अतिथि से कहे कि हे व्रात्य! आप कहाँ से आ रहे हैं? आइये, लीजिये यह जल है, आप तृप्त हों और जो आपकी इच्छा हो, वह भी हाज़िर किया जाय तथा जो आज्ञा हो, वही किया जाय। यह वैदिक आतिथ्य का नमूना है। इस प्रकार से पञ्चमहायज्ञों के द्वारा गृहस्थ सबको अन्नजल पहुँचाता है और इसी प्रकार का गृहस्थ पहिले कही हुई आयु, बल, कीर्ति, विद्या, प्रजा, धन और मोक्ष आदि इच्छाओं को प्राप्त कर सकता है। परन्तु ये बातें गृहस्थ को तभी प्राप्त हो सकती हैं, जब उसका सामाजिक व्यवहार भी उत्तम हो।

सामाजिक व्यवहार।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। परन्तु उसका सम्बन्ध केवल अपने आप ही से नहीं है, प्रत्युत उसका संबंध दंपति, कुटुंब, जाति, समाज और समस्त संसार के मनुष्यों तथा समस्त संसार के प्राणिमात्र से है, इसलिए उसे सबके साथ प्रेम, दया और सहानुभूति से वर्तना चाहिए। वेद के निम्नलिखित मन्त्रों में वही उदात्त उपदेश दिया गया है। यहाँ हम पहिले दंपतिप्रेम का नमूना दिखलाते हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में लिखा है कि—

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः।
देवासो नि त्ययाशिरा ॥ (ऋग्वेद ८।३१।५)
स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ (अथर्व० १४।२।४३)

अर्थात् जो दम्पति एक मन होकर यज्ञ अर्थात् उत्तम कामों के लिए साथ साथ दौड़ते हैं और नित्य परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं, वे देवता हैं। हे दंपति! तुम दोनों इस सुखदायक घर में अच्छे प्रकार जागते हुए, हँसी खुशी के साथ, बड़े प्रेम से आनन्द मनाते हुए, सुन्दर सुपुत्रों और सुन्दर गृहस्थीवाले होकर प्रकाशयुक्त बहुत से प्रातःकालों को देखो, अर्थात् बहुत दिन तक जीओ। इन वेदमन्त्रों में दंपतिप्रेम का उत्कृष्ट नमूना यह बतलाया गया है कि दोनों एक मन होकर आनन्दपूर्वक उत्तम कर्मों में लगे रहें और परस्पर प्रेम और विनोद के साथ व्यवहार करें। इस दंपति कर्तव्य वर्णन के आगे कौटुंबिक व्यवहार का उपदेश इस प्रकार है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥
(अथर्व० ३।३०)

अर्थात् पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता का इच्छाकारी हो, तथा स्त्री पति से मधुर और शांत वाणी से बातचीत करे। भाई से भाई द्वेष न करे और न बहन से बहन ही ईर्षा करे। सब लोग अपने अपने व्रत अर्थात् मर्यादा में रहकर सदैव आपस में भद्रभाषा से ही बातचीत करें।

कैसा सुन्दर कौटुंबिक व्यवहार है! इन समस्त कुटुंबियों में माता का स्थान बहुत ऊँचा है, इसलिए वेद में माता की बड़ाई इस प्रकार की गई है कि—

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे। अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ ॥ (ऋ० ५।२।१)

अर्थात् युवती माता पुत्र को अपने ही गर्भ में धारण करती है, अपने तुल्य पिता को नहीं देती और न उसके बल को क्षीण होने देती है, इसीलिए विद्वान् पुरुष माता को प्रथम स्थान देते हैं । इस मन्त्र में माता का स्थान सर्वश्रेष्ठ इसीलिए कहा गया है कि वह बराबरी का दावा करनेवाले अपने पति का बल नष्ट न करके गर्भ को अपने ही पेट में धारण करती है और पति को उस कष्ट से बचा लेती है । इस मातृभक्ति के आगे घर के बड़ों बूढ़ों की सेवा से पवित्रता मानने का उपदेश इस प्रकार है—

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः
पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा ।
पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः ।
पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥३७॥
पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥३९॥
(यजुर्वेद १९)

अर्थात् सौम्य पिता मुझे पवित्र करें, सौम्य पितामह मुझे पवित्र करें और सौम्य प्रपिता-मह मुझे पवित्र करें, जिससे मैं सौ वर्ष जीनेवाला होऊँ । पितामह और प्रपितामह मुझे पवित्र करें, जिससे मैं सौ वर्ष की आयु प्राप्त करूँ । मुझे समस्त देवजन पवित्र करें, मेरा मन और बुद्धि मुझे पवित्र करे, समस्त पञ्चभूत मुझे पवित्र करें और अग्नि मुझे पवित्र करे। इन मन्त्रों में वृद्धों की सेवा से पवित्रता और दीर्घायु की प्राप्ति बतलाई गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक शिक्षा में बड़े बूढ़ों के मान और सेवा के लिए कितना ज़ोर दिया गया है। इस कौटुम्बिक व्यवहार के आगे हम दिखलाना चाहते हैं कि वेदों में अपने कुटुम्ब से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य जातिबन्धुओं के लिए किस प्रकार सुख की कामना करने का उपदेश है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः। ससंतु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः ॥
(ऋ० ७।५५।५)

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ।
(अथर्व० ९।५।३०)

अर्थात् माता, पिता, जातिवाले, नौकर, चाकर और कुत्ते आदि पशु सब सुख से सोवें । आत्मीय जन, पिता, पुत्र, पौत्र, पितामह, स्त्री, पितामही, माता और जो स्नेही हैं, उनको मैं आदर से बुलाता हूँ। इन कुटुम्बियों और जाति से सम्बन्ध रखनेवालों के साथ व्यवहार का वर्णन करके आगे मित्रों के साथ व्यवहार करने का उपदेश इस प्रकार है—

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः । किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥　(ऋ० १०।७१।१०)
न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः । अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥ (ऋ० १०।११७।४)

अर्थात् मित्र के सहवास और यश से सब आनन्दित होते हैं । मित्र धन देकर समाज के पापों को दूर करता है और सबका हितकारी होता है। वह सखा अर्थात् मित्र नहीं है, जो धनवान् होकर अपने मित्र की सहायता नहीं करता। उसका घर सच्चा घर नहीं है। उसके पास से तो सदैव दूर ही भागना चाहिये। इन दोनों मन्त्रों में मैत्री का भाव और कर्तव्य अच्छी तरह बतला दिया गया है और दिखला दिया गया है कि मित्र को भी कुटुम्ब और जाति की भाँति ही सहायता देना चाहिये। इसके आगे अब समस्त आर्यजाति के साथ व्यवहार करने का उपदेश इस प्रकार है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥
(अथर्व० १९।६२।१)

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥
(यजु० १८।४८)

अर्थात् मुझको ब्राह्मणों में प्रिय कीजिये, क्षत्रियों में प्रिय कीजिये, वैश्यों में प्रिय कीजिये और शूद्रों में प्रिय

कीजिये। हमारी ब्राह्मणों में रुचि हो, क्षत्रियों में रुचि हो, वैश्यों और शूद्रों में रुचि हो तथा इस रुचि में भी रुचि हो। इन मन्त्रों में आर्यजाति के चारों वर्णों के साथ रुचि रखने और उनके बीच में प्रिय होने का उपदेश है। इसके आगे समस्त मनुष्यजाति के साथ व्यवहार करने का आदेश इस प्रकार है—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ (अथर्व० ३।३०।६)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
(अथर्व० ३।३०।१)

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतं समाः ॥
(यजुर्वेद १९।४६)

अर्थात् तुम सब मनुष्यों के जलस्थान एक समान हों और तुम सब अन्न को एक समान ही बाँट चूँट कर लो। मैं तुमको एक ही कौटुम्बिक बन्धन से बाँधता हूँ, इसलिए तुम सब मिलकर कर्म करो, जैसे रथचक्र के सब ओर एक ही नाभि में लगे हुए आरे कर्म करते हैं। मैं तुम्हारे हृदयों को एक समान करता हूँ और तुम्हारे मनों को विद्वेषरहित करता हूँ। तुम एक दूसरे को उसी तरह प्रीति से चाहो, जैसे गौ अपने सद्यःजात बछड़े को चाहती है। जो जीव, मन, वाणी से इस प्रकार की समानता के पक्षपाती हैं, उन्हीं के लिए मैंने इस लोक में सौ वर्ष तक समस्त ऐश्वर्यों को दिया है। इन मन्त्रों में मनुष्यमात्र के साथ समता का व्यवहार करने का उपदेश किया गया है। इस उपदेश में अच्छी तरह बतला दिया गया है कि समस्त मनुष्यों की सम्पत्ति, विचार और रहनसहन एक समान होना चाहिये, तभी सौ वर्ष तक लोग सुख से जी सकते हैं। समस्त मनुष्यों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करने की आज्ञा के बाद वेदों में अच्छी तरह कह दिया गया है कि मनुष्यों के ही साथ नहीं, प्रत्युत प्राणिमात्र के साथ प्रेम, दया और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए। वेद उपदेश करते हैं कि—

यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति। ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वाँश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ (अथर्व० ९।१।२२।)

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।
(यजुर्वेद ३६।१८)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, धेनु, बैल, धान, यव और मिठाई, ये सात मिठाइयाँ हैं। जो मनुष्य ज्ञान के इन सात मधुओं (मिठाइयों) को जानता है, वह मधुमान् अर्थात् मधुर हो जाता है। हे दृष्टिस्वरूप परमात्मन्! मेरी दृष्टि को दृढ कीजिए, जिससे सब प्राणी मुझे मित्रदृष्टि से देखें। इसी तरह मैं भी सब प्राणियों को मित्रदृष्टि से देखूँ और हम सब प्राणी परस्पर एक दूसरे को मित्रदृष्टि से देखें। यहाँ तक हमने सामाजिक व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रों का संग्रह किया। इस संग्रह में अपने कुटुम्ब से लेकर समस्त संसार के मनुष्यों और समस्त प्राणियों तक के साथ प्रेम, दया, समता, सहानुभूति और मित्रता के भावों के दर्शानेवाले वेदोंपदेश प्रथित हैं। हम नहीं समझते कि समाज से सम्बन्ध रखनेवाले इससे अधिक उदात्त और व्यापक व्यवहार और कहीं संसार में होंगे। परन्तु ये सामाजिक व्यवहार जब तक सदाचार की सुदृढ भूमिका पर स्थिर न हों, तब तक स्थायी नहीं हो सकते।

सदाचार।

विना सदाचार के सामाजिक व्यवहार उत्तमता से निभ ही नहीं सकते। सदाचारी मनुष्य ही समाज में सुख से रह सकता है। सत्यता, शुद्धता, चरित्रशीलता और व्रत आदि के विना मनुष्य की समाज में गुज़र ही नहीं है। इसीलिए सदाचार से सम्बन्ध रखनेवाले अनेकों उपदेश वेदों में दिये गये हैं। यहाँ हम नमूने के तौर पर थोड़े से मन्त्र उद्धृत करते हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्। आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ (ऋ० १०।५।६)

अर्थात् हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुवा, असत्य भाषण और इन पापोंके करनेवाले दुष्टोंके सहयोग का नाम सप्त मर्यादा है। इनमें से जो एक भी मर्यादा का उल्लंघन करता है, अर्थात् एक भी पाप को करता है, वह पापी होता है और जो धैर्य से इन हिंसादि पापों को छोड़ देता है, वह निस्सन्देह जीवन का स्तम्भ (आदर्श) होता है और मोक्षभागी होता है।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र। (ऋग्वेद ७।१०४।२२)

अर्थात् गरुड़ के समान मद (घमंड), गीध के समान लोभ, कोक (चिड़ा) के समान काम, कुत्ते के समान मत्सर, उल्लूक के समान मोह (मूर्खता) और भेड़िया के समान क्रोध को मार भगाइये। अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि छे विकारों को अपने अंतःकरण से हटा दीजिये। इन हिंसा आदि बाह्य और कामादि अन्तर्दुर्वासनाओं के त्याग से ही मनुष्य उत्तम सामाजिक हो सकता है। इन सबमें सत्य की महिमा महान् है। वेद उपदेश करते हैं कि—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाची। (ऋ० १०।७१।२)

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ (यजु० १।५)

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धा मनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ (यजु० १९।७७)

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः॥ (अथर्व० १०।५।२२)

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ (ऋग्वेद ७।१०४।१२)

अर्थात् जिस प्रकार छाननी से सत्तू छाने जाते हैं, उसी तरह जहाँ विद्वान् लोग अपनी वाणी को मन से शुद्ध करके बोलते हैं, वहीं पर लक्ष्मी और मित्रता ठहरती है। हे परमेश्वर! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपनी शक्ति भर सत्य का पालन करूँगा, अतः इस असत्य से निकल कर सत्य में आता हूँ। प्रजापति ने सत्य और असत्य को समझ बूझकर अलग किया है और असत्य में अश्रद्धा तथा सत्य में श्रद्धा उत्पन्न की है। तीन वर्षों के इस पार जो हम झूठ बोले हों तो हे परमात्मन्! उन सब दुष्फल पापों से हमारी रक्षा कीजिये। मनुष्य की सुविधा के लिये सत्य और असत्य के विज्ञान को एक दूसरे के विरुद्ध कहा गया है। इन दोनों में जो सत्य है, वह सरल और सीधे स्वभाव से कहा जाता है, तथा उससे कोमलता आती है। पर जो असत्य है, वह तो हर प्रकार से सत्यानाश ही कर देता है। इन सत्य के प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों ने सत्य भाषण की समस्त खूबियों का सुन्दर वर्णन कर दिया है। अब आगे मधुर भाषण की खूबियों का वर्णन करते हैं।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदहक्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥२॥
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥३॥
(अथर्व० १।३४)

अर्थात् मेरी जिह्वा के अग्रभाग में मधुरता हो और जिह्वा के मूल में मधुरता हो। हे मधुरता! मेरे कर्म में तेरा वास हो और मन के अन्दर भी तू पहुँच जा। मेरा आनाजाना मधुर हो, मैं जो भाषा बोलूँ वह मधुर हो और मैं स्वयं मधुर मूर्ति बन जाऊँ। यहाँ तक सत्य और मधुर वाणी बोलने की शिक्षा देकर अब वेद उपदेश करते हैं कि अपनी किसी भी इन्द्री से अभद्र, असभ्य और अमङ्गल व्यवहार न होने दो, किंतु सब व्यवहार भद्र ही भद्र हों। यजुर्वेद उपदेश करता है कि—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ (यजु० २५।२१)

अर्थात् हे यज्ञ करनेवाले परमेश्वर के भक्त विद्वानो ! हम सदैव कल्याणकारी शब्द ही कानों से सुनें, कल्याणकारी दृश्य ही आँखों से देखें और अपने दृढ अंगों के द्वारा शरीर से यावज्जीवन वही कर्म करें, जिससे विद्वानों का हित हो। इसके आगे मनसा, वाचा, कर्मणा बुराई से बचने का उपदेश किया गया है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्। येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥४॥ इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता। ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥३॥ इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि। यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ (अथर्व० १९।९।३–५)

अर्थात् यह जो ज्ञान से तीक्ष्ण बना हुआ मन है और जिससे भयङ्कर प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं, वह हमें शान्ति दे। यह जो ब्राह्मण के द्वारा संस्कृत हुई परमेष्ठिनी वाणी है और जिससे भयङ्कर प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं, वह हमें शान्ति दे। ये जो पाँचों ज्ञान अथवा कर्मेंद्रियाँ हैं और जिनसे छठे मन के साथ भयंकर पाप हो पड़ते हैं, वे हमें शान्ति दें। इस प्रकार से इन मन्त्रों ने मनसा, वाचा और कर्मणा पापों से बचने और शान्ति से रहने का उत्तम उपदेश दिया है। इन सब मन, वाणी और कर्मों में मन ही प्रधान है। उसी से सब पापों की उत्पत्ति होती है, इसलिए मन को निष्पाप करने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर
गृहेषु गोषु मे मनः ॥ (अथर्व० ६।४५।१)

अर्थात् हे मेरे मन के पापो ! तुम मुझसे दूर हो जाव। मुझसे बुरी बातें क्यों करते हो ? मैं तुमको नहीं चाहता, इसलिये मेरे पास से दूर हो जाव और जहाँ वनवृक्ष हैं, वहाँ चले जाव। क्योंकि मैं अपने शरीर, इन्द्रिय और मनमें चित्त लगा रहा हूँ। इसी तरह मनसे सम्बन्ध रखनेवाले ईर्षाद्वेष से बचने का भी उपदेश दिया गया है। अथर्ववेद में है कि—

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥
(अथर्व० ६।१८।२)

अर्थात् जैसे पृथिवी मुर्दे से भी अधिक मननशक्तिशून्य है और जैसे मरे हुए का मन भी शून्य हो जाता है, उसी प्रकार ईर्षा करनेवाले का मन भी मुर्दा हो जाता हैं। इस उपदेश का यही मतलब है कि ईर्षाद्वेष करने से मन की विशालता नष्ट हो जाती है, वह अत्यन्त संकुचित हो जाता है, मर जाता है और निन्दा भी होती है। निन्दा से बचने के लिए वेद उपदेदश करते हैं कि—

अयुतोहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे। प्राणोयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः॥ (अथर्व० १९।५१।१)

अर्थात् मैं अनिन्दित होऊँ,मेरा आत्मा अनिन्दित होवे और मेरे चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान तथा व्यान अनिन्दित होवें। इस के आगे वेदमन्त्रोंमें व्यभिचार आदि दुष्ट कर्मों के त्याग करने की शिक्षा इस प्रकार दी गई है।

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः। अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः ॥ (ऋ० १।१२५।७)

अर्थात् दुष्ट कर्म मत करो और न प्रतिष्ठित तथा धर्मात्माओं में व्यभिचार ही करो, क्योंकि व्यभिचार करनेवालों के लिए दूसरा ही क़ानून है, जिससे वे शोक को प्राप्त होते हैं। इसके आगे हिंसा का निषेध इस प्रकार है।

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः। यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णल्लघीयसी भव॥ (अथर्व० १०।१।२९)

ये श्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते।
ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा॥
(अथर्व० १२।२।५१)

अर्थात् हे हिंसा! निर्दोषों की हत्या निश्चय ही महा भयानक है, अतः तू हमारी गौ, घोड़े और पुरुषों को मत मार। जहाँ जहाँ तू गुप्तरूप से छिपी है वहाँ वहाँ से हम तुझे निकालते हैं, अतः तू पत्ते से भी अधिक हलकी हो जा। श्रद्धावाले जो धन की कामना से मांस खानेवालों का साथ करते हैं, वे सदैव दूसरों की ही हंडी का खाते हैं

इन मन्त्रों में पशुवध और मांसभक्षण का निषेध किया गया है। इसके आगे मद्य का निषेध इस प्रकार है--

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥ (ऋ० ८।२।१२)

अर्थात् शराब को दिल खोल कर पीनेवाले दुष्ट लोग आपस में लड़ते हैं और नंगे होकर व्यर्थ बड़बड़ाते हैं, इसलिए शराब का पीना बुरा है। जिस तरह शराब का पीना बुरा है, उसी तरह जुवा खेलना भी बुरा है। वेद उपदेश करते हैं कि—

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्। ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमा-नोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति। (ऋ० १०.३४।१०)

अर्थात् जुवारी की स्त्री सदा कष्टमय अवस्था के कारण दुखी रहती है, गली गली मारे मारे फिरनेवाले जुवारी की माता रोती रहती है, क़र्ज़े से लदा हुआ जुवारी खुद सदा डरता रहता है और धन की इच्छा से वह रात के समय दूसरों के घरों में चोरी करने के लिए पहुँचता है, इसलिए जुवा खेलना निहायत ख़राब है। इसी तरह चोरी को भी बुरा बतलाया गया है। अथर्ववेद में है कि—

येऽमावस्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्रिणः।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत्।
(अथर्व० १।१६।१)

अर्थात् जो मुफ्तखोरे, भूखे और भटकनेवाले अँधेरी रात में बस्ती के भीतर चोरी करने और डाका डालने के लिए आते हैं, उनसे बचने के लिए राजपुरुष सबको सचेत करता है और उन्हें पकड़कर मार डालता है। इसलिए कभी किसी की चोरी नहीं करना चाहिये।

यहाँ तक स्थूल सदाचार का वर्णन करके अब सभ्यता-सम्बन्धी सदाचार का वर्णन करते हैं। सभ्यता में सबसे पहिली बात स्वच्छता और पवित्रता की है। इसलिए वेद उपदेश करते हैं कि--

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः।
(यजुर्वेद २०।२०)

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा।
(यजुर्वेद १९।३९)

अर्थात जैसे वृक्ष से सूखे पत्ते गिर जाते हैं, जैसे पसीना निकला हुआ आदमी स्नान से मल को धो डालता है और जैसे घी से पवित्रता होती है, उसी तरह हे जल! मेरे शरीर, वस्त्र और घर के मलों को शुद्ध कर दीजिये। मुझे विद्वान् पवित्र करें, मेरा मन और बुद्धि मुझे पवित्र करें, समस्त संसार के प्राणी मुझे पवित्र करें और यह अग्नि मुझे पवित्र करे। इस स्वच्छता और पवित्रता के उपदेश के आगे सदाचार से सम्बन्ध रखनेवाली दिनचर्या का उपदेश इस प्रकार है—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥
(ऋ० १०।१५१।५)

सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति। यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति॥ (ऋ० १।१२५।२)

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान्प्र-तिगृह्या नि धत्ते। तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः॥ (ऋ० १।१२५।१)

अर्थात् मैं प्रातःकाल श्रद्धा की पूजा करता हूँ, मैं मध्यदिन में श्रद्धा की पूजा करता हूँ और मैं सूर्य छिप जाने पर श्रद्धा की पूजा करता हूँ, इसलिए हे श्रद्धा! तू श्रद्धा के लिए आ। जो प्रातःकाल उठता है, उसे सुन्दर गौएँ, सोना, घोड़े और लम्बी आयु प्राप्त होती है और उसे सूर्यदेवता वसु के द्वारा इस तरह बाँध देता है, जैसे कोई रस्सी से बँधा हो। अर्थात् प्रातःकाल उठने का अभ्यास करने से सूर्य आप ही आप उठा देता है। प्रातःकाल उठनेवालों को अनेक प्रकार के रत्नों की प्राप्ति होती है, इसीलिए बुद्धिमान् मनुष्य उस समय को पकड़ कर रखते हैं, क्योंकि प्रातःकाल के जागरण से प्रजा, आयु, धन, पुष्टि बढ़ती है और बहादुरी आती है। इस प्रकार दिनचर्या का वर्णन करके अब सदाचार से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाली उदारता अर्थात् दान का वर्णन करते हैं—

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः। ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः। (ऋ० ५।४२।८)
अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम्।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यंति दिवमुत्तमाम्॥
(अथर्व० ९।५।२९)

अर्थात् हे बृहस्पते! जो आपकी रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले हैं, वे दुःखों से रहित, धनवान् और पुत्रपौत्रवाले होते हैं और जो गायों, घोड़ों और वस्त्रों का दान करनेवाले होते हैं, वे सौभाग्यवाले होते हैं और उनके घरों में अनेक प्रकार के धन सदा प्रस्तुत रहते हैं। जो जननेवाली गौ, बोझा ढोनेवाला बैल, शिर के नीचे रखनेवाली तकिया, वस्त्र और सुवर्ण का दान करते हैं, वे उत्तम गति को प्राप्त होते हैं। इस उदारता और दानसम्बन्धी उपदेश के आगे अब सदाचार के मूल सत्सङ्ग का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में आया है कि—

नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति। तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥
(ऋ० १।१२५।५)

अर्थात् जो सदा विद्वानों के साथ रहता है, वह सुखकारी स्वर्ग में निवास करता है, जहां अपतत्त्व (ईश्वर) स्थान देता है और सूर्यकिरणें दक्षिणा देती हैं। इस मंत्र में विद्वानों के सत्संग का फल बतलाया गया है। इसके आगे विद्वानों को दक्षिणा देकर उनकी सेवा करने का फल भी बतलाते हैं। ऋग्वेद में है कि—

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः। दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्र तिरन्त आयुः॥ (ऋ० १।१२५।६)
दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति। तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय। (ऋ० १०।१०७।५)
दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्। दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्।
(ऋ० १०।१०७।७)

अर्थात् दक्षिणावान् पुरुषों को नाना प्रकार के सुख, सूर्य के समान ऐश्वर्य और अमृत के समान फल तथा दीर्घायु प्राप्त होती है। जो सबसे प्रथम श्रेणी का दक्षिणावान् होता है, वह सबसे पहिले बुलाया जाता है, वही ग्राम का आगेवान होता है और वही राजा के यहाँ सम्मान पाता है। जो विद्वानों को दक्षिणा में अश्व, गौ, सोना, चाँदी और अन्न देता है, उसके लिए यह दक्षिणा कवच का काम देती है- उसकी रक्षा करती है। परन्तु यह सदाचारसम्बन्धी समस्त व्यवहार तभी सम्पन्न हो सकता है, जब मनुष्य व्रतवाला हो, जिसका सङ्कल्प दृढ हो और जो सदैव अपने सिद्धांत पर क़ायम रहे। इस व्रत का माहात्म्य बतलाते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥
(यजु० १९।३०)

अर्थात् मनुष्य व्रत से दीक्षावान् होता है, दीक्षा से दक्षिणावान् होता है, दक्षिणा से श्रद्धावान् होता है और श्रद्धा से सत्य को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार से यह व्रत ही सदाचार का मूल है। जो व्रतधारी हैं, दृढ प्रतिज्ञावाले हैं, वही सदाचार में सफलता प्राप्त करते हैं। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह दृढता और इस प्रकार का व्रत विना अभ्यास के नहीं हो सकता और न अभ्यास विना संस्कारों के हो सकता है।

इसलिए आगे देखते हैं कि संस्कारों के सम्बन्ध में वेद क्या उपदेश देते हैं।

विवाह और गर्भाधानादि संस्कार।

जिस प्रकार के सदाचार का वर्णन किया गया है, उस प्रकार के सदाचारी मनुष्य समाज में तब तक उत्पन्न नहीं हो सकते, जब तक वे उत्तम संस्कारों के द्वारा जन्मसे ही संस्कृत न किये जायँ। संस्कार का अर्थ है मन, वाणी और शरीर का सुधार। इसलिए मनुष्यों के जन्म से ही नहीं प्रत्युत जन्मके पूर्व गर्भ से भी संस्कार होना चाहिये। इतना ही नहीं प्रत्युत जिन स्त्री-पुरुषों के द्वारा गर्भाधान होनेवाला है, उनको भी अच्छी प्रकार सुसंस्कृत होना चाहिये। कहने का मतलब यह कि समस्त संस्कारोंका

मूल विवाह को ही समझना चाहिये। विवाह करनेवाले वरवधू की क्या योग्यता हो, उनकी क्या आयु हो और उनका क्या कर्तव्य हो, ये बातें संस्कारों के आरम्भ के पूर्व विवाहकाल में ही स्थिर हो जानी चाहिये। वेदों ने इन समस्त बातों को बहुत ही उत्तम रीति से स्थिर कर दिया है, इसलिए हम यहाँ इन बातोंका इसी क्रम से वर्णन करते हैं। वेदों की आज्ञानुसार सबसे पहिला संस्कार विवाह ही है और विवाह में सबसे पहिली बात वरवधू की योग्यता की है। अतएव हम वेद के वे मन्त्र उद्धृत करते हैं, जिनमें विवाह करनेवाले वरवधू की योग्यता का वर्णन है। अथर्ववेदमें लिखा है कि—

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि। यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥ (अथर्व० ६।१२२।५)

अर्थात् शुद्ध, पवित्र और पूजनीय इन स्त्रियों को मैं ज्ञानियों के हाथों में अलग अलग सौंपता हूँ और जिस कामना के लिए मैं यह तुम्हारा अभिषेक कर रहा हूँ, वह मेरी कामना सब देवता पूर्ण करें। इस मन्त्र में विवाह करनेवाली कन्या को शुद्ध, पवित्र और पूजनीय बतलाया गया है और जिसके साथ विवाह करना है, उसे ज्ञानी विद्वान् कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि हर प्रकार से योग्य कन्या और वर का ही विवाह वैदिक है, अयोग्यों का नहीं। क्योंकि अबोध कन्याएँ स्वयं अपने योग्य वर के लिए अपना अभिप्राय प्रकट नहीं कर सकतीं। पर वेद उपदेश करते हैं कि योग्य कन्याएँ अपना वर आप ही चुन लें। ऋग्वेद में लिखा है कि—

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण। भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित् ॥ (ऋ० १०।२७।१२)

अर्थात् वधू बननेवाली कितनी ही स्त्रियाँ जो भद्र और सुरूपा होती हैं, मनुष्यों की योग्यता को पसन्द करके अपने मित्र (पति) को जनसमूह से खुद चुन लेती हैं। इस मन्त्र में पतिवरण करने में कन्याओं की स्वतन्त्रता दिखलाई पड़ती है। इसके आगे विवाह के समय कन्याओं की आयु का उपदेश इस प्रकार है—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्। (ऋ० १०।८५।४०-४१)

अर्थात् पहिला पति सोम है, दूसरा गन्धर्व है, तीसरा अग्नि है और चौथा मनुष्य है। सोम गन्धर्व को देता है, गन्धर्व अग्नि को देता है और अग्नि धन और पुत्रों के लिए मुझको देता है। इन मन्त्रों के द्वारा बतलाया गया है कि सोम, गन्धर्व और अग्नि के उपभोगों के बाद केवल सन्तान के लिए ही विवाह होना चाहिए। इन मन्त्रों का अर्थ करते हुए अत्रिस्मृति में कहा गया है कि मनुष्य के पूर्व कन्या को सोम, गन्धर्व और अग्नि आदि देवता भोगते हैं, अर्थात् रोमकाल में सोम, स्तनकाल में गन्धर्व और रजोदर्शनकाल में अग्नि का प्रभाव रहता है। इसलिए कन्या का विवाह रोम, स्तन और रजोधर्म के बाद ही होना चाहिये ×।

इस तरह से कन्या की आयु को बतलाकर वर की आयु के लिए ऋग्वेद उपदेश करता है कि—

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयंति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥ (ऋ० ३।८।४)

अर्थात् जो युवावस्था को प्राप्त होकर, विद्या पढ़कर और यज्ञोपवीत तथा सुन्दर वस्त्रों को पहिने हुए आता है, वही श्रेय को पाकर प्रसिद्ध होता है और उसी को विद्वान् तथा धीर पुरुष अन्तःकरण से उन्नत करते हैं और बड़ा मानते हैं। इस मंत्र में समावर्तन के समय की आयु का वर्णन है। समावर्तन के बाद ही विवाह होता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि विवाह के समय पुरुष भी युवा ही होना चाहिये। क्योंकि यदि विवाह करनेवाले योग्य और युवावस्था को प्राप्त न हों तो वे अपना कर्तव्य समझकर परस्पर प्रतिज्ञा नहीं कर सकते। वरवधू की परस्पर

× पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः। पश्चात्तु मानवा भुञ्जते न तां दुष्यन्ति कर्हिचित्। रोमदर्शनसंप्राप्ते सोमो भुङ्क्ते तु कन्यकाम्। रजो दृष्ट्वा तु गन्धर्वः कुचौ दृष्ट्वा तु पावकः। (अत्रिस्मृति)

वैवाहिक प्रतिज्ञाओं को वेदमन्त्रों में बहुत ही अच्छी तरह दर्शाया गया है। विवाह के समय वर प्रतिज्ञा करता है कि—

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या
जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता
पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।
(अथ० १४।१।५०)

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥
(अथर्व० १४।१।५१)

अर्थात् भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि आदि देवताओं ने मुझको गार्हपत्य के लिए तुझे दिया है। अतएव मैं सौभाग्य के लिए तेरा हाथ पकड़ता हूँ। तू वृद्धावस्थापर्यन्त मेरे साथ रह। भग और सविता आदि देवताओं ने मुझे तेरा हाथ पकड़ाया है, इसलिए अब तू धर्म से मेरी पत्नी है और मैं धर्म से तेरा पति हूँ। वर की इस प्रतिज्ञा पर वधू प्रतिज्ञा करती है कि--

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन।
(अथर्व० ७।३७।१)

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामहं त्वं वद।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥
(अथर्व० ७।३८।४)

अर्थात् हे मननशील पुरुष! मैं तुझे अपने वस्त्रसे बाँधती हूँ कि जिससे तू मेरा ही रहे और दूसरी स्त्रियों की कभी बात न करे। मैं प्रतिज्ञा कर रही हूँ और इस सभा में तू भी प्रतिज्ञा कर कि जिससे तू मेरा ही होवे और अन्य स्त्रियों की कभी बात न करे। इस प्रकार के इन प्रतिज्ञावचनों के बाद ही विवाह हो जाता है। विवाह हो चुकने पर मातापिता को उचित है कि वे वरवधू को आवश्यक पदार्थ देवें। यह बात वेदमन्त्र ने सूर्या के अलङ्कार से इस प्रकार बतलाई है कि—

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम्।
(अथर्व० १४।१।६)

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्तां
अभितोऽददन्त। तास्त्वा जरसे सं व्ययंत्वा-
युष्मतीदं परि धत्स्व वासः॥ (अथर्व० १४।१।४५)
कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः।
अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखाद्।
(अथर्व० १४।२।६८)

अर्थात् जब सूर्या (कन्या) पति को प्राप्त हो, तो चैतन्यबुद्धि ही ओढ़नी हो, दर्शनशक्ति ही अञ्जन हो और ज़मीन आसमान का सम्पुट ही पिटारी हो। जिन स्त्रियों ने सूत काता है, जिन्होंने ताना किया है, जिन्होंने बुना है और जिन देवियों ने अंचल काढ़ा है, वे सब स्त्रियाँ कन्या को वस्त्र पहिनावें और कहें कि हे आयुष्मती वधू! तू इन्हें पहिन ले। कृत्रिम काँटों का बना हुआ अनेक दाँतोंवाला जो यह कंघा है, वह वधू के केशों और शिर के मलों को निकाल डाले।

इस प्रकारसे अञ्जन, पिटारी, ओढ़नी, काढ़े हुए वस्त्र और कंघा आदि आवश्यक पदार्थ वधू को दिये जावें और पति के घर को वह अच्छी सवारी में बिठलाकर रवाना की जावे। वेद आज्ञा देते हैं कि—

रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्।
आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम्॥
(अथर्व० १४।२।३०)

अर्थात् ज़री के बिछौनेवाली सेजगाड़ी जो अनेक प्रकार के पदार्थों से सजाई गई हो, उस पर सौभाग्यवती वधू पति के घर जाने के लिए चढ़े। जिस समय वधू सवारी में चढ़कर चलने लगे उस समय विद्वान् आशीर्वाद दें कि—

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो
ब्रह्म सर्वतः। अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा
स्योना पतिलोके वि राज। (अथर्व० १४।१।६४)
यथा सिंधुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य।
(अथर्व० १४।१।४३)

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥
(अथर्व० १४।१।४४)

अर्थात् ब्रह्म आगे, ब्रह्म पीछे, ब्रह्म मध्य में और ब्रह्म अन्त में समझकर हे वधू! तू अपने सुदृढ देवपुर-पतिगृह को-सुखदायिनी और कल्याणकारिणी होकर जा और विराजमान हो। जैसे बलवान् समुद्र ने नदियों का राज्य प्राप्त किया है, वैसे ही तू पति के घर की राजराजेश्वरी हो। श्वशुर की दृष्टि में रानी की भाँति, सास के निकट रानी की भाँति और ननन्द तथा देवरके लिए महारानी की भाँति होकर रह। इस प्रकार का आशीर्वाद पाकर वधू पतिगृह में पहुँचती है और पतिग्राम के स्त्रीपुरुष उसकी अगवानी करते हैं, तथा कहते हैं कि—

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्। सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः। (अथर्व १४।२।१४)

अर्थात् यह आत्मवान् और उपजाऊ नारी आई है, इसलिए हे नर! इसमें बीज बो और यह शुद्ध वीर्य को धारण करके अपने गर्भ से तेरे लिए पुत्र उत्पन्न करे। यहाँ तक वेदमन्त्रोंने अच्छी प्रकार बतला दिया कि विद्वान् योग्य युवा और धनधान्यसम्पन्न ही विवाह करने के अधिकारी हैं, अन्य नहीं। अयोग्यों के विवाह की निन्दा करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वो३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते॥
(अथर्व० १४।१।२७)

अर्थात् दरिद्री पुरुष जब स्त्री के वस्त्रों को पहनकर बाहर निकलता है, तब स्त्री का शरीर नग्न हो जाता है, इसलिए ऐसों के साथ विवाह न करना चाहिये। विवाह सदैव योग्य स्त्रीपुरुषों का ही होना चाहिये। वही गर्भाधानादि संस्कारों को अच्छी प्रकार कर सकते हैं और उन्हीं की सन्तान सदाचारी होकर समाज के योग्य हो सकती है और आरम्भ में बतलाई हुई सातों इच्छाओं को पूर्ण कर सकती है। उपर्युक्त वेद के मन्त्रों ने आदर्श विवाह का चित्र खींचकर बतला दिया है कि इस प्रकार के आदर्श विवाह के बाद ही गर्भाधान होना चाहिये। वेद का गर्भाधानप्रकरण प्रजननशास्त्र के बहुत ही सूक्ष्म नियमों का उपदेश करता है। वह इस रहस्य को एक उच्च श्रेणी के वैद्य की भाँति बतलाता है, जिससे सन्तान उत्तम पैदा हो और दम्पति उन व्याधियों और हानियों से बच जायँ, जो प्रायः अनजान युवकों और सद्योविवाहिताओं को भोगना पडती हैं। इन उपदेशों को अश्लील न समझना चाहिये।

गर्भाधानसंस्कार के बाद प्रातःकाल गाँव घर के वृद्ध पुरुष वधू का मुख देखते हैं और आशीर्वाद देते हैं। वेद आदेश करते हैं कि—

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छंतु॥
(अथर्व० १४।२।७३)

अर्थात् वधू के देखनेवाले पितर जो इस विवाह में आये हैं, वे सब पतिसहित वधू को उत्तम प्रजा के लिये आशिर्वाद दें। इस प्रकार से यह वैदिक विवाह और गर्भाधान समाप्त होता है, किन्तु कभी कभी दुर्भाग्य से पतिसंयोग के पूर्व ही कन्या विधवा हो जाती है। ऐसे आपत्काल के लिये वेद उपदेश देते हैं कि—

ग्राह्या गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत्॥
(अथर्व० १२।२।३९)

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेपरम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥२७॥
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥२८॥
(अथर्व० ९।५।२७-२८)

अर्थात् जब स्त्रियों के पति मर जाते हैं, तब घर उजड़ जाते हैं, इसलिये कन्या का पति सदैव वेदवेत्ता ही ढूँढना चाहिये, जिसने कभी मांस न खाया हो। जो स्त्री पहिले पति को पाकर दूसरे पति को प्राप्त होती है, वह पञ्चौदन के द्वारा उससे जुदा नहीं होती। दूसरा पति विधवा स्त्री के साथ पंचौदन-यज्ञ-द्वारा विवाह करके अपनी जाति में समानता से स्थान पाता है। यहाँ तक हमने वेदमन्त्रों से विवाह और गर्भाधानसंस्कार का वर्णन किया।

अब आगे पुंसवनसंस्कार से संबंध रखनेवाले मन्त्रों को लिखते हैं। इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य गर्भस्थ को

पुत्र बनाना है। यह कार्य एक औषधि के द्वारा किया जाता है। वेदमें लिखा है कि—

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि ॥१॥
पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनु षिच्यते।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत् ॥२॥
(अथर्व० ६।११।१-२)

अर्थात् जिस शमी वृक्ष पर अश्वत्थ वृक्ष उगा हो, उसकी जड़ को गर्भाधानके दिन से दो तीन मास तक स्त्री को देने से पुत्र की प्राप्ति होती है। जो वीर्य स्त्री में डाला जाता है, वह पुंसत्व (पुत्र) को प्राप्त हो जाता है और पुत्र की प्राप्ति होती है, यह बात प्रजापति-परमात्मा ने कही है। इस पुंसवनसंस्कार के आगे सीमन्तोन्नयन-संस्कार होता है। जब गर्भ चार पाँच महीने का हो जाता है तब मस्तिष्क उन्नत होता है और बुद्धि जागृत होती है। इसी को सीमन्त-उन्नयन अर्थात् शिर की उन्नति कहते हैं। शिर के विषय में वेद में लिखा है कि—

तद्वा अथर्वणः शिरोः देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥
(अथर्व० १०।२।२७)

अर्थात् ज्ञान का केन्द्र शिर है जो देवताओं का सुरक्षित कोश है। इस कोश की प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं। ऐसे ज्ञानकोश शिर की वृद्धि के समय से गर्भिणी को चाहिये कि वह वीरों की कथाएँ सुने, उत्तम चित्र देखे और उत्तम कर्मों (यज्ञों) का अनुष्ठान करे, जिससे गर्भस्थ का मस्तिष्क उत्तम संस्कारों से संस्कृत हो जाय। इस संस्कार के आगे जातकर्मसंस्कार है। यह संस्कार बालक के उत्पन्न होने पर किया जाता है। जिस समय बालक उत्पन्न होने लगता है, उस समय की प्रार्थना का अर्थात् कुदरत की वैज्ञानिक क्रिया का वर्णन वेदों ने इस प्रकार किया है—

यथा वातः पुष्करिणीं समिंगयति सर्वतः।
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः ॥७॥
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥८॥
दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥९॥
(ऋ० ५।७८।७-९)

अर्थात् जिस प्रकार हवा से छोटा तड़ाग सब ओर से हिलने लगता है, वैसे ही दश मास में तेरा गर्भ हिले और बच्चा बाहर आवे। जिस तरह हवा, वन और समुद्र हिलते हैं, वैसे ही हे बालक! तू जरायु के सहित आ। जीती हुई माता के जीवन पर जीनेवाला हे जीव (बालक)! तू माता के गर्भ में दश महीने सोकर अक्षत निकल। इन मन्त्रों के द्वारा बतलाया गया है कि गर्भिणी के पेट में जो चारों ओर से दर्द पैदा होता है, उससे विचलित होकर वह गर्भस्थ के प्रति बुरे भाव न सोचे कि जिसका प्रभाव बालक पर बुरा पड़े, प्रत्युत वह यह समझे कि यह दर्द बालक का पैदा किया हुआ नहीं है, किन्तु प्राकृतिक शक्तियों के कारण हो रहा है। इसके आगे सबसे प्रथम दुग्धपान की क्रिया पर वेद कहते हैं कि—

इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये। उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियं सदनमाविशस्व ॥ (यजु० १७।८७)
यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि। यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ (ऋ० १।१६४।४९)

अर्थात् हे अग्नितुल्य बालक! तू सम्बन्धियों के बीच में आकर इस जलीय रस से स्थूल हुए स्तन को पी और स्वादिष्ट, गतिशील तथा समुद्र के समान ज्ञान देनेवाले इस स्तन का सेवन कर। हे ज्ञानवती प्रसूता! तू अपना यह सुख देनेवाला शरीरस्थ स्तन जो बालक के अंगों को पुष्ट करनेवाला, दुग्धरूप रत्न का धारण करनेवाला और शोभा का देनेवाला है, इस बालक के मुँह में दे। इन मन्त्रों में आरम्भिक दुग्धपान की शिक्षा दी गई है। इस शिक्षा के द्वारा बच्चे में माता के दुग्ध के गुणों का संस्कार डाला जाता है, जिससे बच्चा आजीवन माताका भक्त बना रहे और प्रसव के समय माता के कष्ट के कारण जो बच्चे में ख़राब असर हुआ है, वह दूर हो जाय। इसीका नाम जातकर्म अर्थात् पैदा होनेका कर्म है।

(क्रमशः)

भक्त की भावना

(लेखक— श्री०लालचन्दजी।)

भक्त का जीवन भावमय है । भक्त अपने भगवान को अपने हृदय में, प्रत्येक प्राणि में और सारे जगत् में व्यापक अनुभव करता है । भक्त निःस्वार्थ जनसेवा भगवान् की पूजा के निमित्त करता है । अपने पुरुषार्थद्वारा परदुःख-निवारणको वह अपनी भक्ति की ही साधना समझता है । भक्त संसार में रहकर अपने जीवनभर शुभ कामना और पूरा यत्न करके निश्चिन्त हुआ हुआ अपना धर्म पालन करता है। अपने कर्तव्य से कभी च्युत नहीं होता । शुद्ध मन से सदा सब का हित चाहता हुआ, भक्त सदा अपने भगवान् के प्रेम में मग्न रहता है ।

भक्त के लिये भगवान् से बढकर संसार भर में कुछ भी नहीं। भक्त को भगवान् पुत्र से प्रिय, धन से प्रिय, सम्पत्ति से प्रिय, अन्य सब से प्रिय होता है। भक्त ही वास्तव में अद्वैतवादी है । उस के ध्यान में, चिन्तन में, मननमें, दर्शन में, केवल भगवान् रहता है ।

भक्त की भावना में निरंतर भगवान् की झलक, उन का सौन्दर्य, उन की सौम्य मंगलमय मूर्ति, विराजमान रहती है। भक्त अपने भगवान को परम कल्याणकारी शिवरूप में स्मरण करता है और साथ ही अपने प्रेमपूर्ण हृदय में भगवान् से अधिक किसी को सुन्दर भी नहीं मानता । भक्त अपने भगवान् को सनातन, अविनाशी और निरंतरका साथी अनुभव करता है । "सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्" उसका ध्येय होता है ।

भक्त ही प्रेमी हो सकता है, अन्य लोग प्रायः मोह ही को प्रेम कहते हैं और नकली चीज को असली के स्थान लिये फिरते हैं। साधारण लोग असली मोती और नकली मोती को नहीं पहचानते, उसी प्रकार भक्त के सिवा अन्य जन मोह में फंसे हुए अपने आपको बुद्धिमान् और विवेकी मानते हैं। परख जब होती है, जब उन की कोई ऐसी चीज जिस में उन का मोह होता है, उन से अलग की जाती है, तो वे चिल्लाते हैं । भक्त का प्रिय कभी नष्ट नहीं होता, क्योंकि उसका अनन्य प्रेम अपने भगवान् पर है और भक्तवत्सल भगवान् अविनाशी है ।

भक्त कभी आलस्य नहीं करता, प्रमाद नहीं करता, इस लिए अवसाद भी नहीं करता । भक्त सदा पुरुषार्थी, उत्साही और साहसी होता है। भक्त स्वयं सरल सीधा, सच्चा रहता हुआ भी सदा सावधान रहता है और अपने भगवान् को अपने अंगसंग अनुभव करता हुआ अभय रहता है । यही अवस्था कर्मयोगकी कही है । वास्तव में कर्मयोगी ही भक्त हो सकता है । भक्तही की प्रज्ञा स्थिर होती है । भक्त की बुद्धि निश्चयात्मक होती है। भक्त होना और स्थितप्रज्ञ योगी होना एकही है ।

निश्चयात्मिक बुद्धिद्वारा कर्तव्य करना और भरसक यत्न करके कर्तव्य पालन करते हुए परिणाम भगवान् के ऊपर छोड देना ही आस्तिकता है, यही कर्मयोग है। कर्तव्य में तन्मय होकर लगे रहना, भक्त ही पूरा कर सकता है। पूरे यत्न से, पूरे पुरुषार्थ से, मन और प्राण को भी बुद्धि के वश करके जो बुद्धि की विवेचना द्वारा स्थिर निश्चय से कार्य किये जाते हैं, वह अवश्य सफल होते हैं, पर भक्त वह सफलता भी भगवान् के चरणों में अर्पित कर देता है ।

व्यापक ब्रह्मके सहवासको भक्त ही अनुभव करता है और भगवान् को विभु जानकर वह कभी अशिव संकल्प नहीं करता । नित्य अपना जीवन उन्नत और सत्य पर अवलंबित रखता हुआ भक्त भगवान् का प्रेमभाजन बनता है और सदा प्रसन्न रहता है ।

भक्त के अन्दर यह दृढ विश्वास होता है कि भक्तवत्सल भगवान् का सहवास और उन का दर्शन करते हुए कर्तव्यपालन द्वारा जनसेवा करते रहना ही जीवन का ध्येय है । भगवान् स्वयं अपनी प्रजा में व्यापक रूप से निवास करते हैं। सदा अपनी प्रजा के अन्दर और बाहर रहते हैं; तो भगवान् को अपना आदर्श जानने-वाला साधक अनथक अनवरत कार्य करता हुआ सदा सजग रहता है और अपने जीवनद्वारा भगवान् की प्रसन्नता लाभ करता है । भक्त के लिए जनार्दनसेवा

अतिरिक्त कोई मनोरथ शेष नहीं। भक्त इसी में प्रसन्न मग्न रहता है, जब उसे यह विश्वास रहता है कि भगवान् उसके साथ हैं और उस के विचारों और कार्यों से प्रसन्न होकर उस से प्रेम करते हैं।

भक्त के अंदर प्रेम की निरंतर धारा बहती रहती है, जिसमें वासनाजनित पाप और प्रलोभन सब बह जाते हैं। संसार में एक-निष्ठा से अपने कर्तव्य निभाते हुए उस पर वासना अपना कुप्रभाव नहीं डाल सकती। भगवान् की भक्ति में रत, कर्तव्यपरायण पुरुष सदा आनंद और आत्मतृप्त रहता है। चिंता उस के मन को दुःखी नहीं करती। उसे यह निश्चय हो जाता है कि भगवान् अर्पण कर्म करने के पश्चात् भगवान् उस का योग और प्रेम स्वयं करते हैं।

भक्त होना बहुत कठिन है, किंतु भक्त कहलाना बहुत सुगम है। ऊपरी कुछ बातों के कारण लोग किसी को भक्त कहने लगें यह संभव है, पर भक्त होने के लिये अपनी बुद्धि को भगवान् की शक्ति द्वारा प्रेरित होने देना चाहिये। गायत्री मंत्र में यही भाव है। जब बुद्धि भगवान् से प्रेरित होकर कार्य करती है, तो परिणाम आनंद होता है। तृष्णा, द्वेष, क्लेश, चिंता आदि विकारों को फिर अंतःकरण में स्थान नहीं मिलता। हृदय में आनंदभेरी निरंतर बजा करती है और भक्त उसकी ध्वनि में मस्त रहता है। नित्य नूतन उत्साह उत्पन्न होता है और भक्त आत्मवान् होने के कारण अपने शरीर पर पूर्ण स्वत्व रखता है। भक्त भगवान् के भरोसे अपने आप को नित्य ऊंचा उठाता है, गिरता नहीं, वह अनायास संयम में अपने आप को साथे पाता है। उस के चरित्र में खिंचावट नहीं रहती। सब काम विना आलस्य और प्रमाद के करके पूर्ण निद्रा प्राप्त करता है। सुख और शान्ति मानो सदैव उसके समीप निवास करती हैं। यह सब क्यों होता है? क्योंकि भगवान् ने उसे अपना लिया है और अब उस के जीवन का नियंत्रण भगवान् कर रहे हैं।

भगवान् पर श्रद्धापूर्वक विश्वास करने से आत्मबल बढता है, आत्मशक्ति का पूर्ण विकास होता है और पुरुष बडे से बडे कार्य सहज ही में कर लेता है। भक्ति में विपुल शक्ति है। भक्त के ऊपर भगवान् का हाथ सदा रहता है। भक्त का यश बढता है और उसके द्वारा भगवान् का अपना यश महान होता है। भक्त और भगवान् का प्रेम अकथनीय है, यह रहस्य वाणी के अगोचर है।

भक्ति का प्रसाद विमल प्रेम है, निर्भयता है, सरलता है और उदारता है। भक्त की जीवनचर्या भ्रम और संशय-रहित हुआ करती है। भक्त के अंतःकरण में एक दिव्य प्रकाश रहता है, वह उसे मोह अंधकार से अलग रखता है। प्रलोभन में फंसते नहीं देता और सत्य मार्ग भक्त के स्पष्ट कर देता है।

भक्त ही यशमय जीवन व्यतीत करता है और सब लोग स्वार्थवश अपने लाभ के लिए दूसरे की हानि न करने में संकोच नहीं करते। भक्त में भगवान् के गुणों की आभा दिखाई देती है और हो भी क्यों न? निरंतर के सहवास से अवश्य अंतःकरण पर प्रभाव पडता ही है। भक्त का भगवान् के साथ संबंध प्रेम का हुआ करता है और भक्त गदगद होकर कहता है —

"तेरे अटल प्रेमबंधन में मुझे मुक्ति की चाह नहीं।" भक्त की इच्छा केवल यही रहती है कि भगवान् का उससे प्रेम रहे और उसकी श्रद्धा भगवान् पर बनी रहे।

भक्त का जीवन निरंतर उन्नति का जीवन है, प्रगति का जीवन है, सफलता का जीवन है।

वैदिक छन्दोंके नाम

(लेखक-पं० लक्ष्मणसिंह वेदालंकार 'प्रतिष्ठित स्नातक ' गुरुकुलकांगडी, M. R. A. S., अजमेर।)

ता.३ फरवरी के आर्यमार्तण्ड में एक लेख ' वेदसंस्थान के अध्यक्ष श्री पं. द्विजेन्द्रनाथजी शास्त्री की नई रिसर्च' शीर्षक से श्री पं. ब्रह्मदत्तजी के प्रिय शिष्य युधिष्ठिरजी का छपा है। हमने इस सम्पूर्ण वादविवाद में अभी तक बहस की दृष्टिसे भाग नहीं लिया है और नहीं हम लेना चाहते हैं । श्री पं. ब्रह्मदत्तजी के व अन्य भी कुछ विद्वानों के लेख जो पं. ब्रह्मदत्तजी की तरफ सेही लिखवाये गये मालूम होते थे, अच्छी तरह पढे। उनमें कितने हेत्वाभास (Fallacy) थे, इसका हमें न आज उल्लेख करना है और नहीं कभी भविष्यत् में। इसी कारण से हमने आजतक भाग नहीं लिया है। आज भी हम ऊपर संकेतित लेखपर किसी भी टीकाटिप्पणी न करेंगे, न हम कोई समालोचना करेंगे। क्योंकि इससे हमारा तात्पर्य नहीं।

दिल में कई बार विचार उठे कि जैसे देवता के सम्बन्ध में हमने गत वर्ष 'वैदिक धर्म'के आश्विन के अंक में लेख लिखा था, उसी प्रकार से ऋषि, छन्द और स्वर भी लिखते। परन्तु किन्हीं कारणों से नहीं लिखा। यदि सम्भव हुआ, तो आगे लिखेंगे।

सन १९३८ के आर्यविद्वानों का मत छन्द के विषय में क्या था और वह आज कहां पर खिसक आया है- यह एक देखने व विचारने की बात है। पर खैर, यदि वैसा ही मान लिया जाये, जैसा कि मार्तण्ड के ऊपर संकेतित लेख में दिया है, तो भी वह वेदके सम्बन्ध के अज्ञान की पराकाष्ठा है। थोडे से में वह मत इस प्रकार है कि (केवल सारांश)—

" गायत्री आदि नाम जो छन्दों के आज हैं, वे नाम अनिश्चित हैं। जैसे छन्दों में गायत्री सबसे छोटा है, अतः उसका नाम गायत्री न रखकर यदि ' लघु ' रख दिया जाये, तो वह भी ठीक है। "

हमें इसकी समालोचना नहीं करनी।

यदि वेद स्वतःप्रमाण हैं, तब तो हमारा ख्याल है कि छन्दों के गायत्र्यादि नाम निश्चित हैं और उनके स्थानपर ' लघु ' आदि छन्दों का नाम नहीं रख सकते। क्योंकि गायत्र्यादि नाम परमात्मा के द्वारा हमें प्राप्त हैं और वेही निश्चित हैं, उनके स्थानपर लघ्वादि छन्द बनाना वेद में हस्ताक्षेप करता है। जो कि उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से वेद का स्वतः प्रमाण नहीं रहता।

वेद ने हमें छन्दों के गायत्र्यादि नाम बतलाये हैं। मैं चारों वेदों में से सम्पूर्ण स्थलों को उद्धृत करना नहीं चाहता। केवल यजुर्वेद के त्रयोदश अध्याय के ५३ से ५८ तक मंत्रों को देखिये। केवल यहां एक उदाहरण पर्याप्त है। इसकी पुष्टिके लिये कि छन्द भी परमात्मा की तरफ से ही निश्चित हैं।

१ गायत्रेण त्वा छन्दसा...त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा, जागतेन त्वा छन्दसा,आनुष्टुभेन त्वा छन्दसा, पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा।

२. प्राणः, वसन्तः, गायत्री, रथंतरं, वसिष्ठ,

३. मनः, ग्रीष्मः, त्रिष्टुप्, बृहत्, भरद्वाजः,

४. चक्षुः, वर्षा, जगती, वैरूपं, जमदग्निः,

५. श्रोत्रं, शरत्, अनुष्टुप्, वैराजं, विश्वामित्रः,

६. वाक्, हेमन्तः, पंक्तिः, शाक्ररैवते,विश्वकर्म,

यही कारण है कि आजतक इनको किसी ने बदलने का न केवल प्रयत्न ही किया सो बात नहीं, किसी ने नाम भी नहीं लिया।

हमें यहांपर उस प्रकार से विवेचन नहीं करना है, जैसा कि देवताओंका। अतः अन्य पक्षादि को दिखला कर केवल इतना ही लिखा है।

फिर उसकी आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि सन १९३८ आर्य विद्वानों का मत भी पहले से बदल गया है और केवल मात्र संकेत पर आ गया है।

पं. सातवलेकरजीका विरोध !

(लेखक- पं० तडित्कांतजी वेदालंकार, साहित्यमनीषी, अफ्रीका)

प्रायः जनसमाजके अंदर एक ऐसी मनोवृत्ति पायी जाती है कि जब कभी उसे नये विचारों या सुधारोंको ग्रहण करनेका समय आता है, तो वह सहसा इतना ज्यादा बेचैन हो उठता है कि वह उस नये विचार या सुधारके प्रेरकको जीवित रहने देनाभी उचित नहीं समझता! उसकी बस चलतेही वह उसके खूनसे अपनी बेचैनी की प्यास बुझाता है। यदि इतनी दूरतक उसे सफलता न मिली, तो और अनेक तरीकोंसे वह उसे परेशान व हैरान करनेमें कोई कसर बाकी नहीं रखता। दुनियाका इतिहास इस सत्यका स्वयं साक्षी है।

मनुष्यजातिके इस स्वभावको उसका गुण कहा जाय या दुर्गुण, इसका सहसा निर्णय करना तो कठिन ही है, फिरभी इससे कई बार बजाय फायदेके नुकसानही ज्यादा-तर होता हुआ दिखाई दिया है। धार्मिक क्षेत्रमें यह मनो-वृत्ति अधिकतर अपना जोर दिखाती हुई प्रतीत होती है। धर्म इस वृत्तिका वस्तुतः पोषक है, या धर्मकी मर्यादा न समझनेकी वजहसे धर्मको बदनाम होना पड रहा है, यह एक गंभीर तथा विचारणीय विषय है। अस्तु। चाहे कुछ भी हो, पर आज तो जो कुछ हो रहा है, उससे तो आखिरकार धर्महीको बदनाम होना पडा रहा है।

पं० सातवलेकरजीकी अमूल्य सेवाओंपर जब कभी मुझे दृष्टिपात करनेका अवसर प्राप्त होता है, तब उनके साथभी धर्म और समाजके नामसे लोगोंकी वही मनोवृत्ति कार्य करती हुई नजर आती है। यों तो बहुतसी ऐसी घट-नायें पेश की जा सकती हैं, पर मैं उन सबका जिक्र न करता हुआ, यहां पर सिर्फ एक ही मुख्य घटना को रखूंगा कि जिसके साथ थोडाबहुत मेराभी संबंध था।

जहां तक मुझे याद है १९२८ की यह घटना है। उस साल मैंने लगातार डेढ सालके स्वाध्यायके पश्चात् 'वैदिक धर्म'मासिकमें'वेदोंमें यम और पितर'नामकी एक लेखमाला लिखनी प्रारंभकी थी। इस लेखमालाको प्रारंभ करनेसे पूर्व एक अत्यावश्यक प्रारंभिक निवेदन भी प्रकाशित किया था, जिससे कि पाठकोंको किसीभी प्रकारकी गैर समझ उत्पन्न न हो। परंतु मुझे खेदसे लिखना पडता है कि मेरे उस निवेदन की ओर किसीनेभी ध्यान न दिया और मेरा वह लिखना अरण्यरोदनसे बढकर ज्यादा साबित न हुआ। इस लेखके प्रकाशित होते ही सर्वत्र खलबली मच गई। बस फिर क्या था? छोटेसे लेकर बडे तक सारेके सारे महारथी चारों ओरसे अपना अपना वाग्वज्र तथा कलमकुठार लेकर पं० सातवलेकरजी पर टूट पडे! एकतरफा जंग शुरु हुआ। जवाबदार तथा बेजवाबदार सभीने वितण्डवाद शुरु किया और मूछोंपर ताव देते हुए अपनी अपनी विजयका डंका बजाने लगे! कुछ लोग तो यहांतक पहोंच गये कि उन्होंने आगे देखा न पीछा। वादविवादका विषय तो एक ओर रहा,उन्होंने इसीमें अपनी जीत समझी कि कैसे ज्यादा से ज्यादा व्यक्तिगत आक्षेप करके पं० सातवलेकरजीको जनता की दृष्टिमें ज्यादा से ज्यादा नीचा दिखाया जाय! जिन्होंने पंडितजीको शायद कभी रास्तेमें एकाध वार जाते हुए देख लिया होगा या कभी दो एक बातें करनेका अवसर प्राप्त हुआ होगा, ऐसे लोगभी उनके सिद्धांतों के बारेमें तथा सिद्धान्तों के आचरणके संबंधमें मनमाना लिखने लगे, जिसे कुछ संपादकोंने अपने प्रसिद्ध पत्रोंमें योग्य स्थान दिया!!! कुछने तो यहांतक लिख मारा कि'पंडितजी अंदर अंदरसे सनातनी हैं, तथा खुद श्राद्ध आदिमें न सिर्फ मानते ही हैं, अपितु स्वयं करते हैं और अतएव उसीका प्रचार आर्यसमाजकी आडमें रहकर करना चाहते हैं। और इसके लिये उन्होंने एक विद्वान् को (मुझको) बीचमें रखकर यह सब कार्य प्रारंभ किया है' इत्यादि।

यहांपर प्रसंगवश मैं यह भी लिख दूं कि ईश्वरकी कृपासे या अन्य किन्हीं कारणोंकी वजहसे इस सारे झगडेमें मेरे साथ बहुतही थोडी छेडखानी हुई थी। मेरे बदलेमें भी उन्हींपर बौछार हो रही थी। इस प्रकार पंडितजी पर

दुहरी मार पड रही थी। परंतु यह सब होते हुए भी उस समय जो पंडितजीने अपूर्व शांति धारण कर रखी थी, वह वस्तुतः असाधारण थी। वह समय स्वाध्याय-मंडलके ग्राहकों के लिए एक बडी भारी कसौटीका था। क्योंकि उसके पश्चात् स्वाध्याय-मण्डलके वही ग्राहक रह गये थे जो कि सत्यासत्यका निर्णय कर सकते थे, तथा जिनमें प्रतिपक्षीके कथन को भी सुनने की क्षमता थी। मैं तो उन्हें उन राजहंसोंसे उपमा देना चाहूंगा कि जो पानी में से दूधको पृथक् करनेकी योग्यता रखते हैं। अथवा कविराज जगन्नाथके शब्दोंमें उन राजहंसोंसे उपमा देना पसंद करूंगा कि जो छाती ठोककर कह सकते हैं कि–

गंगातीरमपि त्यजन्ति मलीनं
ते राजहंसा वयम्।

अर्थात् हम तो उन राजहंसोंमें से हैं जो कि गंगाका तीर भी अगर मैला हो तो छोड देते हैं।

उधर सार्वदेशिक सभा को भी घबराहट पैदा हुई। उसे ऐसा जान पडने लगा कि मानो आर्यसमाजके सिद्धांत रसातलको चले जायेंगे। उसने झटपट एक पंडित को रोककर उस लेखमालाके जवाबमें एक पुस्तक तैयार करवाई। उस पुस्तक को कितनी सफलता मिली, यह तो सार्वदेशिक सभाही जाने, पर मैं इतना अवश्य जानता हूं कि बहुतसे कार्यकर्ताओंको जिनसे कि मेरी बातचीत हुई थी, उससे जितना चाहिए, उतना संतोष नहीं हुआ था। वैसे तो उस पुस्तकके प्रारंभ में जो सम्मतियां दी गई हैं, वेही उस पुस्तककी सफलता बतलाने के लिए काफी हैं। उनको पढनेके बाद उस पुस्तकका जवाब देनेकी जराभी आवश्यकता नहीं रह जाती।

उस बडेभारी आन्दोलनके पश्चात् आज लगभग ९-१० वर्षोंके बाद फिर उसी तरहका ज्वालामुखी फूटा है। यों तो छोटेमोटे ज्वालामुखी फूटते ही रहे हैं। प्रारंभमें इस ज्वालामुखी का कुछ और रुख रहा। उस समय कुछ विघ्नसंतोषियोंने एक दानी महाशयको कुछ झूठे आधारोंपर बहकानेका प्रयत्न किया। उनकी ओर निर्देश करते हुए मैंने सितंबर १९३७ के वैदिक धर्ममें 'वेदमुद्रण और विघ्नसंतोषी' के शीर्षकमें बहुत कुछ खुलासा करनेका प्रयत्न किया था। तत्पश्चात् फिर काफी समय तक अंदर ही अंदर कुछ लोग आगबबूला होते रहे, परंतु ऊपरसे कोई कुछ न बोला।

पाठकोंको यहां एक बात याद दिला देना चाहता हूं कि शुद्ध वेदमुद्रण करनेसे पहले हमने सब प्रतिनिधियों, सार्वदेशिक सभा, परोपकारिणी सभा अजमेर तथा ऐसी ही अन्य सभाओं तथा भिन्न भिन्न व्यक्तियोंसे प्रार्थना की थी कि वे इस नितांत आवश्यक कार्यको हाथमें लें और हमसे जितनी हो सकेगी हम मदद देंगे। उनकी ओर से जो जो निराशाजनक तथा लज्जास्पद जवाब आये थे, वे हम यथासमय वैदिक धर्ममें प्रकाशित कर चुके हैं। इनमें से परोपकारिणी सभा के मंत्रीका जवाब आया था कि, उनकी सभा का अधिवेशन साल में एक ही दफा नवेंबर या डीसेंबर में हुआ करता है। उस समय आपके पत्रपर विचार किया जायगा। सभाका यथासमय अधिवेशन तो हो गया, परंतु हमें किसी भी तरह का कोई भी जवाब न मिला। पीछेसे पता चला कि ऐसे ही किसी जवाबदार विघ्नसंतोषीने सभा को अंटसंट समझाकर इस मामले को टलवा दिया था।

स्वाध्याय-मंडलने तो अपना कार्य प्रारंभ कर ही दिया था। शुद्ध वेद मुद्रणके संबंधमें स्वाध्यायमण्डलकी ओर से भिन्न भिन्न लेखभी यत्र तत्र प्रकाशित किये जा रहे थे। उन्हें पढकर कुछने इस कार्य की न सिर्फ सराहना ही की, बल्कि यह भी लिखा कि हम आपके कार्य के साथ सहमत हैं, तथा हमें भी ये भूलें महसूस हो रही हैं।

डीसेम्बरमें यू० पी० आर्यप्रतिनिधि सभा की मेरठमें रजतजयन्ती थी। उस अवसर पर वेदसम्मेलन रखा गया था और उसके अध्यक्षके लिए पंडितजी को चुना गया था। पंडितजी आवश्यक पत्रव्यवहारके बाद वहाँपर गये। वहांपर वेदमुद्रण के संबंधमें कुछ प्रतिपक्षियोंसे बातचीत हुई, जिसके परिणाममें पंडितजीने अमुक खास घोषणा की। इस संबंधमें वैदिक धर्मके सितंबर के अंकमें पं० नरदेवजी शास्त्री का पत्र छपा है, अतः मैं उस विषयका पिष्टपेषण न करता हुआ यही कहूंगा कि वे उन लोगोंकी चालमें आ गये और उसका परिणाम यह हुआ कि पीछेसे प्रतिपक्षियोंने मनमाने उनपर आक्षेप करते हुए लेख लिखे।

यह बात इतनेसे ही समाप्त न हुई । पं० ब्रह्मदत्तजीने तथा यू. पी. प्रतिनिधिकी ओर से श्रीयुत कालीचरणजी ने जोशमें आकर शास्त्रार्थ करनेके लिए पंडितजी को आह्वान दे मारा । उन्होंने शायद मनमें सोचा होगा कि जिस तरह आजतक और शास्त्रार्थ होते रहे हैं, उसी तरह दोचार घंटे पंडितजी से मुठभेड करके फिर हो हा मचाकर मामला समाप्त कर देंगे । कुछ अखबार भी अपने हाथमें हैं ही । अतः कोई डरकी बात नहीं है । परंतु उनकी यह नीति सफल न हुई । पंडितजीने इस शास्त्रार्थ के आह्वान को स्वीकारते हुए शास्त्रार्थ के ऐसे तरीके पेश किये कि जिनके अनुसार शास्त्रार्थ किया जानेसे इस झगडे का सर्वदाके लिए अंत हो सकता था । उन्होंने इस विषयमें बहुतसी चीजों को स्पष्ट करते हुए एक लेख वै० धर्ममें प्रकाशित किया था, जो पाठकोंकी स्मृतिपर अबभी ताजा ही होगा ।

परंतु असलमें तो शास्त्रार्थ करना ही किसे था ? पंडितजी के प्रत्याह्वान का आजतक किसीने योग्य उत्तर नहीं दिया । जहां सिर्फ वितण्डावादका ही आश्रय लेना हो, तथा जनताको किसीभी तरह अपने मनमाने सिद्धांतोंके नामसे या किसी बडी व्यक्ति अथवा महापुरुषके नामसे ही अपील करनी हो, वहां सच्चे शास्त्रार्थ होने संभव कैसे हो सकते हैं !!!

इस विरोध के सिलसिलेमें अजमेर के श्रीयुत भद्रसेनजीने तो लिखनेमें कमाल ही कर दिया । उन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण लेखोंके जो शीर्षक लिखे हैं, वे उनकी मनोवृत्तिका खूब अच्छा चित्र खींच रहे हैं । उन्होंने जो जो सैद्धान्तिक आक्षेप पंडितजीपर किये हैं, उन्हें या तो वे सिद्ध कर दिखायें, नहीं तो उन्हें चाहिए कि वे भले मानुस की तरह अपने लिखे हुए शब्दों को वापस लेते हुए उन्हीं पत्रों में जिनमें कि उन्होंने पंडितजीपर सैद्धान्तिक आक्षेप करते हुए लेख लिखे हैं, तथा जिनसे साधारण जनताको व्यर्थमें बहकाकर पाप किया है, पंडितजीसे सच्चे दिलसे क्षमा मांगें। अगर वे ऐसा करके इस विषयमें कोईभी बहाना ढूंढनेका प्रयत्न करेंगे, तो उसका स्पष्ट मतलब होगा कि उन्होंने जो कुछ किया है, वह तेजो. द्वेष की वजह से किया है न कि किसी सिद्धान्त विशेषकी रक्षाकी दृष्टिसे !

मुझे यहांपर अफ्रीकामें बहुतसे भाइयोंने आग्रह करके कहा है कि मैं इस विषयमें योग्य खुलासा करनेके लिए श्री भद्रसेनजीसे कहूं । असलमें तो यह कार्य उन संपादकों का था, जिन्होंने कि ये लेख छापे थे और इसलिए मैं उन संपादकमहोदयोंसे भी पूछता हूं कि, पंडितजीपर किये गये आक्षेपोंके लिये आपके पास क्या सबूत हैं ? यदि आपके पास कोई सबूत नहीं, तो आपने पंडितजीके बारेमें आर्य जनतामें जो गलतफहमी फैलानेमें एक बडा भारी हाथ बटाया है, उसके लिए आप क्या खुलासा करते हैं ?

स्वाध्याय-मंडल तथा पंडितजीकी स्थिति साफ करनेके लिए ऊपर पूछे अनुसार खुलासा किया जाना अत्यंत आवश्यक है । क्योंकि जब जब ऐसे अवसर आते हैं, तब पंडितजीको इसी बेहूदे तरीकोंसे नीचा दिखानेका अनिच्छनीय प्रयत्न किया जाता है । अतः इस वार इसका आखिरी फैसला हो जाना निहायत जरूरी है । 'प्रकाश'के अध्यक्ष म० कृष्णजीने पंडितजीसे कुछ सवालत पूछे थे। पंडितजीने उसका जो जवाब दिया था, वह उर्दूके प्रकाशमें प्रकाशित हो चुका है । पंडितजीके विरोधियोंने उसे अच्छी तरह पढा ही होगा । अब विरोधियोंका कर्तव्य है कि वे पंडितजीपर किये गये आक्षेपोंको सत्य सिद्ध कर पंडितजीके जवाबको भी गलत साबित करें, यदि वे अपनेको सच्चे आर्यसमाजी तथा ऋषि दयानंदके सच्चे अनुययी समझते हों।

मैं १९३७ के डीसेंबर आफ्रीका आया हुआ हूं । अतः लगभग १०—१२ माससे इस झगडेसे बहुत कुछ अनभिज्ञ हूं । मुझे इस झगडेका विशेष विकृत रूप यहां पर पहले पहले अगस्तमें नैरोबीमें आकर पता चला । कुछ लोगोंने मेरा इस ओर ध्यान खींचा । उन्होंने मुझसे कुछ इस विषयक सवालात भी किये, तथा प्रकाशके कुछ लेख भी दिखाये। मैंने वे लेख ध्यानसे सुने तथा खुदभी पढे । उनके पढने-सुननेके बाद इस बातका पूरी तौरसे खयाल आ गया कि इसीको कहते हैं, 'सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग ।'

इन सारे लेखोंको पढनेके बाद कोईभी समझदार व्यक्ति इस प्रकारका स्वयं परिणाम निकाल सकती है कि साधारण

जनताको आर्यसमाज तथा ऋषि दयानंदके नामसे किस तरह बहकाया गया है। प्रायः आजकाल जब किसीसे योग्य जवाब नहीं बन पडता, तो वह यही तरीका अख्त्यार करता है। यह एक ऐसा ब्रह्मास्त्र है कि जिससे अनपढ जनताके मर्मस्थलको वेधकर मनमाना परिणाम उपजाया जा सकता है। जब मैंने इन लेखकोंकी यह हालत देखी तो मैंने एक पत्र नैरोबीसे पंडितजीको लिखा है कि कृपया आप इस वादविवादमें न पडें तथा किसी भी प्रतिपक्षीके पत्र या लेखका जवाब देनेकी जरूरत नहीं। आप जितनाभी कैसाभी लिखेंगे, वह अरण्यरोदनके समान ही होगा। जिस तरीकेसे ये लोग जनताको अपील करना चाह रहे हैं, वह तरीका आप नहीं अजमा सकते, क्योंकि इसके लिए आपके पास आर्यसमाजकी कोई गद्दी नहीं है। आप सिर्फ अब उतनाही वैदिक धर्ममें लिखें, जिससे आपका अपना सिद्धांत ही पुष्ट हो, आप इन बातोंमें समय देनेकी अपेक्षा अपने कार्य पर ही विशेष ध्यान दें। आप इस बातकी परवाह न करें कि आपके कार्यकी कुछ लोग अनिश्चित समालोचना कर रहे हैं अथवा आपके प्रत्युत्तर आर्यसमाजके उदार (!) अखबार नहीं छाप रहे और यदि छाप रहे हैं, तो इस तरहसे कि उसका छापना न छापना बराबर है।

मुझे वैदिक धर्ममें पं० नरदेवजीका पत्र पढकर बडी खुशी हुई कि जिस बातको मैं अनुभव कर रहा था, उसी बातको देशके और विद्वान्‌भी उसी तरह अनुभव कर रहे हैं तथा चाहते हैं कि पं० सातवलेकरजी इस झगडे में न पडकर अपना तमाम समय वेदमुद्रणके अमूल्य कार्यमेंही बराबर लगाये रखें। मैं तो पंडितजीसे अबभी यही प्रार्थना करूंगा कि इस झगडेमें पडना आपके लिए उतना आवश्यक नहीं, जितना कि वैदिक साहित्यको शीघ्र प्रकाशित करना आवश्यक है। यदि मैं इतनी दूर परदेशमें न होता, तो शायद पंडितजीका यह अमूल्य समय बचा लेता, जो कि उन्हें इस वितण्डावादके पीछे न घुटके देना पडा है।

वेदादि शास्त्रोंको शुद्ध तथा सस्ता छापना बडी भारी परिश्रम तथा धनसे होनेवाला कार्य है। इस कार्यमें मनकी शांतिभी उतनीही आवश्यक है। इस कार्यका महत्त्व वही जान सकता है, जिसे करना पड रहा हो। वंध्या प्रसूतिकी वेदनाको क्या समझे ?

पंडितजी सच्चे ब्राह्मण हैं। वे इस मानापमानकी ओर कभीभी लक्ष्य नहीं करते। यदि उन्होंने ऐसा किया होता, तो निःसंदेह आज हमें उनकी अमूल्य सेवाओंसे वंचित रहना पडा होता। यह निष्ठुर व ऐहसानफरामोश संसार जीतेजी कभी किसीका आदर नहीं करता। अतः इन सब विरोधोंकी ओर थोडासाभी ध्यान न देते हुए पंडितजी अपना कर्तव्य करते जा रहे हैं, यही हमारे लिये सबसे बढकर खुश किस्मती की बात है। परमात्मा उनको चिरायु करे ताकि हम उनकी अधिकसे अधिक सेवाओंका लाभ उठा सकें।

मैं स्वाध्याय-मंडलके ग्राहकों, पाठकों तथा सहानुभूति रखनेवाले सज्जनोंसे प्रार्थना करूंगा कि जिन्हें वस्तुतः स्वाध्याय-मंडल या पंडितजीके बारेमें जाननेकी अभिलाषा हो, उन्हें चाहिए कि वे अपनी तमाम शंकाओंको पत्रद्वारा या रूबरू मिलकर पूछें तथा योग्य खुलासा प्राप्त करें। बाकी जिन लोगोंको ऐसे ही लेख पसंद हों अथवा उसीको मानना चाहते हों, जोकि उनके मनमाने अखबारमें प्रकाशित हो रहा हो, तो उनसे हमें कुछ नहीं कहना। वे बेशक उसीको मानते रहें। उनके उस अंधविश्वासको शायद परमात्माभी दूर न कर सके!

विरोधसे लाभ हुआ है या हानि ?

जहांतक मेरा अनुमान है, इस विरोधसे स्वाध्याय-मंडलको कोई खास आर्थिक नुकसान उठाना नहीं पडा। क्योंकि इस विरोधसे स्वाध्यायमंडलद्वारा प्रकाशित वेदोंकी खबर सर्वत्र पहोंच चुकी है और परिणामतः बहुतसे लोग पेशगी मूल्य भेजकर अपना नाम ग्राहकोंमें लिखवा रहे हैं। ग्राहकोंकी इस शीघ्रताकी वजहसे प्रथम वारका छापा हुआ ऋग्वेद आज सर्वथा समाप्त हो गया है, तथा इस थोडेसे समयके अंदरही फिर दुबारा ऋग्वेद छापना पड रहा है।

इस विरोधसे जो थोडाबहुत आर्थिक नुकसान हुआ हुआ कह सकते हैं, वह यही कि कुछ उर्दू जाननेवाले ऐसे सज्जन कि जिन्होंने आजतक किसी सत्-कार्यमें न दिया है और शायद भविष्यमें भी कभी न

देंगें, ऐसोंको न देनेके लिए यह एक और खासा बहाना मिल गया है।

इस विरोधने निःसंदेह स्वाध्यायमण्डलको औरभी विशेष प्रसिद्ध कर दिया है। जो लोग स्वाध्याय-मण्डलको विशेष रूपसे नहीं जानते थे, या जिन्होंने सिर्फ नामही सुन रखा था, वेभी अब इसे अच्छी तरह जानने लग गये हैं। दुनियामें कभी कभी विरोधभी अभीष्ट परिणामपर पहोंचा देता है, इसके लिए यह एक उत्तम उदाहरण कहा जा सकता है।

सच है कि- सत्कार्योंमें परमात्माका सर्वदा हात रहता है। अतः विरोधभी नुक्सान न पहोंचाकर लाभप्रद ही साबित हुआ करता है। इत्योम् ॥

देवृकामा और वेद।

[लेखक— पं० लक्ष्मणसिंह वेदालंकार, 'प्रतिष्ठित स्नातक' गुरुकुलकांगडी, M.R.A.S., अजमेर]

'देवकामाः' या 'देवृकामाः' शब्द का झगडा आर्यसमाज के सामने आज खडा हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। आयसमाज के सामने यह समस्या बहुत पुरानी है। परन्तु श्री पं० सातवलेकरजी के वेदमुद्रण के कार्य से वह जनता के सामने प्रकट हो गई है। अंतर केवल इतना ही हुआ कि यह प्रथम उपदेशकों व आर्यविद्वानों के सामने ही थी और अब यह संसार के सामने आ गई है। और फिर आज इसको करीब एक वर्ष से ज्यादा हो गया है, परंतु यह अभीतक हल नहीं हुइ।

यह ठीक है कि वेद से सम्बन्ध रखनेवाली कोई समस्या जल्दी से हल नहीं की जा सकती और उस पर एक दम निर्णय दे देना ठीक भी नहीं। परंतु इसका यह भी अर्थ नहीं कि हरएक बात में चाहे कोई आसान हो या कठिन हो, वहीं बरसों का समय लगाना और वह कवल इस कारण से कि वह वेद से सम्बंध रखती है— किसी बुद्धिमान् की समझ में नहीं आ सकता। यह ठीक है कि एक्च्यूरीयल कोर्स के सवालों को करने में या ज्योतिर्विज्ञान के समीकरण सरल करने में न केवल कुछ दिन ही या महीने ही लगते हो, परंतु कई वार बरसों भी लग जाते हैं, परंतु इसका यह मतलब नहीं कि हम हम और और को जोडने में भी दिन, महीने या बरस लगा दें केवल इसलिये कि वह भी गणित से सम्बंध रखता है।

आज मुझे इस पर लिखने की क्यों आवश्यकता महसूस हुई, यह भी जान लेना आवश्यक है।

अभी ता० १ फरवरी को श्री पं० सातवलेकर जी से एक दिन के लिये अजमेर की ओर आये थ, और हमारे यहीं ठहरे थे। एक दिन रात्रिको वार्तालाप करते हुए उनसे ज्ञात हुआ कि उन्होंने इस सम्बंध का एक पत्र सब आर्यप्रतिनिधिसभाओं व सार्वदेशिक सभा के पास भी भेजा था, परंतु उनका एक भी पत्र उत्तर में नहीं प्राप्त हुआ। केवल मात्र पत्र पहुंच की सूचना तो एक प्रतिनिधिसभा (राजस्थान व मालवा) की तरफ से पहुंचा। अस्तु।

इससे एक सज्जन क्या परिणाम निकालेगा, वह तो हम सब जान सकते हैं। परन्तु इससे इतना तो मालूम होता है कि आज आर्यसमाज में सत्य का कितना स्थान रह गया है। क्या आज आर्यसमाजें अपने दस नियमों में से चौथे नियम का, जो मेरी दृष्टि में आर्यसमाज का आधार है, पालन करती हैं? यह प्रश्न जरूर उपस्थित हो जाता है।

श्री० पं० सातवलेकरजी के पत्र का उत्तर न देने के तीन कारण हो सकते हैं—

१. हम अपने पंडितों द्वारा विचार करवा रहे हैं।

२. 'देवृकामाः' शब्द को पुष्ट करने के लिये उसके अर्थ में परिवर्तन करने की चेष्टा करना अथवा उसको पुष्ट करने के लिये नये 'अभूतपूर्व' साधनों की खोज करना तथा।

३. उपेक्षा।

इन तीनों कारणों में से पत्र का उत्तर न देने में कौनसा हेतु है, हमें अब यह विचार करना है। यद्यपि मैं यह कह सकता हूं कि इसका उत्तर न देने में तीसरा ही कारण है, अर्थात् 'उपेक्षा'। परंतु थोडी देर के लिये हम यह मान लें, क्योंकि

इससे आर्यसमाज की नैतिक अवस्था का घोर पतन होना है कि इसका यह कारण (उपेक्षा) नहीं है। तब प्रथम दो ही कारण शेष रह जाते हैं। इसमें से भी प्रथम कारण नहीं हो सकता, क्योंकि इतना दीर्घ समय इसके लिये पर्याप्त था, परन्तु उत्तर नहीं मिला। इस बात का हम आगे विचार करेंगे कि क्यों इतना समय इस पर विचार करने के लिये पर्याप्त था। फिर हमें यह विश्वस्त सूत्र से मालूम है कि अभीतक विविध प्रतिनिधिसभाओं ने इसके लिये कोई खास प्रयत्न नहीं किया, जिससे कि उनको इतना समय हो गया हो। परिशेषन्याय से हमें यही मानना चाहिये कि उत्तर न देने में यह दूसरा ही कारण मुख्य होना चाहिये। जिसके कारण से उनको इतना विलम्ब हुआ। असली कारण तो जैसा हमने ऊपर बतलाया, उपेक्षा है। परंन्तु यदि दूसरा ही कारण मान लिया जाय, तो हमें यह विचार करना है कि क्या यह हेतु ठीक है?

आज, आर्यसमाज वेद पर इस प्रकार से विचार करने लगेगी, तो वेद का अनर्थ होने में कोई सन्देह नहीं। आर्यसमाज की यह खोज कि मध्ययुग में प्राचीन साहित्य के अंदर स्थान स्थान पर पाठभेद घुसेडे गये हैं, अपना कोई मूल्य नहीं रखती। विविध स्थलों को हम प्रक्षेप क्यों मानते हैं, क्योंकि उसमें उद्धृत सिद्धांत ग्रंथलेखक के विचारों से विपरीत जाते हैं। केवल इसी नींवपर हम 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' जैसे वाक्यों को प्रक्षेप मानकर निकाल देते हैं।

यदि परस्परविरोधी सिद्धान्त भी एक ही ग्रन्थ के लेखकके विचारों के अनुकूल हो सकते हों, तो फिर किसी भी अंशको प्रक्षेप मानने में बडी कठिनाई का सामना करना होगा। और उस अवस्था में ग्रंथ का कोई मूल्य भी नहीं रहता।

दूसरा हम ऐसा करने को क्यों तैय्यार होते हैं, यह भी एक सवाल है। आर्यसमाज के सामने 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' का कोई मूल्य नहीं, और इसका हमारे आचार्य ऋषि दयानंद ने घोर विरोध किया है। दूसरे ग्रंथों के लिये तो हम स्वामीजीके इस प्रकार के विचार का अनुकरण करने लगते हैं, परंतु जब घर की खोज होती है, तब सब भूल-भाल जाते हैं।

आज हम ऐसा करने को क्यों तैय्यार होते हैं? वह इसलिये कि यह महर्षि दयानंद सरस्वती ने लिखा है, इसलिये इसमें अशुद्धि हो नहीं सकती। अभी तो यह भी एक प्रश्न है जो हल नहीं हुआ कि स्वामिजी के सम्पूर्ण ग्रंथ उनका एक-एक अक्षर स्वामिजीनेही हाथ से लिखा हुआ है, या उन्होंने उनके पण्डितों द्वारा लिखे हुए, पर यत्र-तत्र लेखिनी का उपयोग किया है और अन्त में केवलमात्र हस्ताक्षर कर दिये हैं। ऐसी अवस्था में क्या कोई सिद्धांत या अन्य अर्थ इस आधार पर मानना कि ऐसा स्वामिजी ने कहा है या लिखा है, हमारे अंदर के 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' के भावों को पुष्ट नहीं करता। और क्या हमारे अंदर आज पुनः वेही संस्कार उत्पन्न नहीं हो रहे जिनको हटाने के लिये महर्षि ने जन्म लिया था?

अच्छा हमने थोडी देर के लिये यह भी मान लिया कि अक्षर-अक्षर (उनके ग्रन्थों का) स्वामिजीके हाथ काही लिखा हुआ है। ऐसी अवस्था में भी हम उनके ग्रंथों को दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो ग्रंथ का स्वरचित भाग और दूसरा उन ग्रन्थों में दूसरे ग्रंथों के, वेद-ब्राह्मण, स्मृति-उपनिषदादि, उद्धृत वचन। प्रथम भाग तो स्वामिजी के ही मस्तिष्क का है, परन्तु क्या दूसरा भाग भी स्वमिजी के ही मस्तिष्क का है। क्या दूसरे भाग के उद्धृत वचनों में जो शुद्धि या अशुद्धि है, उसके लिये भी क्या स्वामिजी ही उत्तरदायी है।

दूसरे भाग में उद्धृत वचनों को हम पुनः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो वेदवाक्य जो स्वतःप्रमाण है और दूसरे अन्य सब वाक्य

परतःप्रमाण हैं। और क्या स्वामिजी इन दोनों के लिये उत्तरदायी हैं ? अब यदि आप यह कहें कि स्वामिजी क्योंकि ऋषि थे, इसलिये स्वतः-प्रमाण वेद के लिये तो वे उत्तरदायी हैं और परतःप्रमाण अन्य ग्रन्थों के लिये वे उत्तरदायी नहीं। उस अवस्था में हमारा विचार आगे चलता है और यदि स्वामिजी किसी के लिये भी उत्तरदायी नहीं, तो उनके नाम पर कोई बात क्यों थोपी जाती है। और उस अवस्था में विवाद समाप्त हो जाता है। परन्तु हम उनको उत्तरदायी मानने से प्रतीत होते हैं। हमारा तो यह दृढ विश्वास है कि वे उसके लिये भी उत्तरदायी नहीं।

अगर आप उनको उत्तरदायी मानते हैं, तो क्या आप मुझे यह बतला सकते हैं कि क्या स्वामिजी पर उसी प्रकार से वेद आविर्भूत हुए थे, जैसे सृष्टि के प्रारंभ में चार ऋषियों पर या ब्रह्मा पर हुए ? इसमें पुनः तीन अवस्थायें हो सकती हैं—

१. स्वामिजी पर अग्न्यादि चार ऋषियों की तरह से वेदों का आविर्भाव हुआ।

२. उस समय के छपे वेदों (जैसा उनके जीवन-चरित्र से मालूम होता है कि उन्होंने जर्मनी से मेक्समूलर के वेद मंगवाये) पर ही उनका आश्रय था और वे ही उनके पास थे। अथवा—

३. स्वामिजी ने जर्मनी से चारों वेद मंगवाकर उसमें स्वबुद्धि के प्रभाव से संशोधन किया और वे वेद हम तक छपवाकर पहुंचाये।

यह तीसरी बात तो हुई नहीं, क्योंकि न तो आर्यसमाज के किसी तत्कालीन सज्जन ने इस पर प्रकाश डाला और नाहीं यह बात उनके विस्तृत जीवनचरित्र में आती है। इसके अलावा स्वयं उनके हाथ से संशोधित वेदों की प्रतियें भी प्राप्त नहीं होती हैं। और नाहीं हमें ऐसा कोई वेद मिलता है, जिस पर महर्षि दयानन्द द्वारा संशोधित किया हो। ऐसी अवस्था में केवल दो ही बातें शेष रहती हैं। उनमें सेभी प्रथम को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि स्वामिजी ने इसका कहीं उल्लेख नहीं किया। फिर यदि उनको ऋषि होने के कारण वेदों का दर्शन आविर्भाव हुआ होता, तो उन्हें जर्मनी से वेदों को मंगवाने की जरूरत नहीं थी। परंतु उन्होंने जर्मनी से वेद मंगवाये-इसमें तो जरा संदेह नहीं। इसलिये यह तो माना नहीं जा सकता कि उन पर पुनः परमात्माने वेदों का आविर्भाव किया। पुनः ऐसा मानना एक हास्यास्पद बात भी होगी कि, परमात्मा के पुनः इस बीसवी सदी में वेदों को देने की आवश्यकता अनुभव हुई।

ऐसी अवस्था में एक ही बात शेष रहती है कि उन्होंने जर्मनी से वेद मंगवाये और वे ही उनके आश्रय थे और अगर यह ठीक है, तो हमें उनको उसी प्रकार से समझना चाहिये और इस कारण से यदि कहीं प्रक्षेप या परिवर्तन का ज्ञान हो, तो उसे हटाने व बदलने के लिये भी तैय्यार रहना चाहिये। इसी में उस महर्षि का सच्चा गौरव है। परन्तु आज हम इसका कहां तक पालन कर रहे हैं, यह हमें अपने दिलों से पूछना चाहिये।

वेद के एक शब्द पर विचार होता है और चाहे विपक्षियों की तरफ से अथवा अपने ही आदमियों की तरफ से। परन्तु विचार उठाया गया और वेद के एक शब्द पर सन्देह प्रकट किया गया, तो उस पर आर्यसमाज के विचार न करना अथवा करना तो जान-बूझकर गलत करना-हमारे दिलों के जो वेदका संदेश दूर दूर तक फैलाना ही अपने जीवन का उद्देश्य समझे बैठे हैं, कितने दुःख का कारण बनना चाहिये। परंतु हमें इस पर तनिक भी लज्जाका अनुभव नहीं होता। यदि आर्यसमाज में वेदों के विद्वान् नहीं हैं, तो हमें यही कह कर संतोष करना चाहिये ? परन्तु हम यह भी तो मानने को तैय्यार नहीं। धन्य है उन पाश्चात्य विद्वानों को जिन्होंने सत्य की खोज के लिये कोई कसर उठा न छोडी और सत्य को मानने के लिये अनेकों यातनायें भोगीं। धन्य है [illegible] को जिसने सत्य

सिद्धान्त को मानने के लिये जीवित अग्नि पर जलना स्वीकार किया। गैलिलियो जैसी महान् आत्मा को सत्य विचारों व सिद्धांतों को फैलाने के खातिर जेलों में सडना पडा। वास्तव किसी ने ठीक कहा है कि—

'सचाई छिप नहीं सकती कभी झूठे असलों से।
सुगन्धि आ नहीं सकती, कभी कागज के फूलों से।

विद्याप्रेम क्या है, यह तो हमें अभी अपने पाश्चात्य विद्वानों से सीखना है। केवल चिल्लाना मात्र विद्याप्रेम का चिह्न नहीं।

मैं आर्यसमाजियों से पूछता हूं कि भाई! वेद के अनुसार अपने को चलना है, या अपने अनुसार वेद को चलाना है? यदि वेदों को अपने अनुसार चलाना है, तब तो हमें कुछ नहीं कहना, परंतु यदि वेदों के अनुसार अपने को चलाना है, तो अपने सिद्धांतों को वेद पर नहीं मढना चाहिये और युक्तिपरम्परा को ठीक रखना चाहिये। नहीं तो वेदों की रक्षा करना एक कठिन कार्य हो जायेगा।

इसी प्रसंग में 'आर्यसमाज और वेद' पर इतना लिख कर अब हम 'वेद और देवृकामाः' तथा आर्यसमाज और देवृकामा पर प्रकाश डालेंगे।

अभीतक इस विवादके स्थलपर आर्यप्रतिनिधि-सभाओं के या यों कहना चाहिये कि रजिस्टर्ड पंडितों ने कुछ नहीं कहा है और नहीं लिखा है। यदि इसका अर्थ जैसा कहा जाता है।

'मौनं स्वीकारलक्षणम्'

हो तब तो ठीक–परन्तु उस अवस्था में भी पत्र-पत्रिकाओं में न सही, पं० सातवलेकरजी को उनके पत्र के उत्तर में उत्तर तो जरूर देना चाहिये था। परंतु–

'एक और खाई और उत्तर दूसरी ओर पहाड' वाली कहावत चरितार्थ होती है। आर्यप्रतिनिधि सभाओं अथवा अंधविश्वासी आर्यों के लिये एक कठिन समस्या है। एक ओर झुके तो वेद अशुद्ध होता है और दूसरी ओर झुके, तो स्वामी दयानंदजी का (So called) पाठ अशुद्ध होता है। मुझे पाठक क्षमा करें, मुझे सत्य के विषय में गोलमाल लिखने का अभ्यास नहीं। हमारी व स्वामी दयानंद के सच्चे अनुयायियों की दृष्टि में तो न खाई है न पहाड। हम तो समझते हैं कि जैसे सीधे रस्ते पर बच्चा फिसल जाता है, हम फिसल गये और पुनः रस्ता दिखलाये जाने पर सही मार्गपर चलने लग पडे। पर उनका क्या किया जाये, जो फिसल भी गये और फिर भी कहें, हम नहीं फिसले और जहां फिसल कर जा पडे, उसको ही वास्तविक रास्ता समझ बैठें। यह एक आर्यसमाज की परीक्षा का समय था, कि वह 'देवकामाः' और 'देवृकामाः' में से किसी एकको चुनती, पर नहीं। यहां तो

'सबसे भली चुप'

हम देखते हैं कि आर्यसमाज अभी उत्तीर्ण होने में समर्थ नहीं हुआ।

मुझे किसी पर कटाक्ष नहीं करना, क्योंकि मैं भी उन्हीं स्वामी दयानंद के अनुयायियों में से एक हूं, परंतु फिर भी एक नमूना, जिससे कि हमारी विचारधारा अशुद्ध न हो, उदाहरण के तौर पर रखना चाहता हूँ।

आर्यमित्र ता० ३० जून १९३८ के अंक में एक पत्र श्री० प्यारेलालजी वैश्य वानप्रस्थी का छपा है। उसमें उन्होंने ऋग्वेद में 'देवृकामा' ऐसा पाठ है, पुष्ट करते हुए अनेकों युक्तियों दी हैं। वे कितनी लचर हैं या अखंड हैं, मुझे इसकी समालोचना नहीं करनी। वैश्यजी अपनी ५ वीं युक्ति में ऋग्वेद के पाठ के लिये सायणकृत अथर्ववेद भाष्य का प्रमाण देते हैं, जब कि उसी सायण का इसी स्थान के पाठ के लिये उसका सायणभाष्य भी मोजूद है। इसमें क्या भावना कार्य कर रही है, इसकी विवेचना मुझे नहीं करनी। परंतु क्या इस प्रकार की युक्तियें देकर आर्यसमाज के रजिस्टर्ड पंडित दूसरे विद्वानों को निरा मूर्ख ही समझते हैं? मेरे विचारों में हो सकता है, स्व

प्रकार का भी एक प्रमाण पुष्टि में दिया जा सकता है, परंतु वह इस रूप से नहीं जैसे वैश्यजी ने दिया है। इस बात को तो कोई नहीं कह सकता कि, वैश्यजी पंडित नहीं हैं, क्योंकि जो अध्ययन व मनन करे वह पंडित हो सकता है, (जन्म से न भी हो), इसका किसी ने कोई ठेका नहीं ले रक्खा। यह लिखने से हमारी आर्य विद्वानों को चेतावनी है, कि यदि वे विचार कर रहे हों, तो इस प्रकार की असंगत युक्तियों को न रक्खें। और यदि विचार ही न कर रहे हों, तो वैसा लिखें, ताकि लोगों को भ्रम न हो। हमें शुद्ध रूप व पवित्र भावना से विचार कर इस बात का सदैव प्रयत्न करना चाहिये कि हम वेदों को शुद्ध रक्खें। अब भी चेतने का समय है और आर्यसमाज को इधर उधर बगलें न झांककर स्पष्ट सामने आना चाहिये। और जैसी बात हो, उसको कहनी चाहिये।

भाइयो! यदि केवल अर्थपरिवर्तन में ही इतना समय लग रहा हो, तो मैं आपको देवृकामाः का अर्थ बतला देता हूँ, जिसमें किसी को आक्षेप नहीं। 'देवृकामा' अर्थात् देवरकी कामना करनेवाली अर्थात् मेरे बहुत सारे देवर-पतिके भाई हों, जिससे मेरा परिवार हराभरा रहे। इसमें किसी को आक्षेप नहीं और इसमें भी शक नहीं कि स्वामिजी ने यदि इतना ही अर्थ किया होता, देवर की कामना करती हुई–तो आर्यसमाजी आज देवृकामाः' पाठ को बदलने के लिये कभी तैय्यार नहीं होता। और उस अवस्था में आर्य विद्वान् पं० सातवलेकरजी के पत्र का उत्तर भी तुरंत दे देते। परंतु कठिनता है स्वामिजी के अगले शब्दोंमें अर्थात्-नियोग की भी इच्छा करनेहारी- कि इनका क्या किया जाये, इसको पंडितों, लेखकों का प्रक्षेप मान लीजिये जैसा सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में हुआ, यह मैंने यों ही नहीं लिख दिया है, आज हम ऐसा कर रहे हैं।

जिस समय गुरुकुलकांगडी महाविद्यालय में हमें संस्कारविधि पढाई गई तब हमने इस ओर ख्याल नहीं किया और जब यह मंत्र 'देवृकामाः' पद सामने आता, हम इतना ही अर्थ कर आगे चल देते कि देवर की कामना करने वाली, हमने अगले शब्दों पर ख्याल ही नहीं किया। परंतु उन्हीं दिनों (ग्रीष्मावकाश) में हमें एक बार एक विवाहसंस्कार में जाने का अवसर प्राप्त हुआ और वहां हमने पुरोहित, जो संस्कार करवा रहा था के मुख से जब 'देवकामाः' सुना तब सबसे प्रथम हमारे हृदय में यह शक उत्पन्न हुआ और तब से हम व्यक्तिगत-रूपमें 'देवकामाः' पाठ ही मानते आये हैं। परंतु क्योंकि उन दिनों हमें यह ज्ञात नहीं था कि यह विवादास्पद स्थल है, नहीं तो शायद हम उसी समय इस पर कुछ लिखते। परंतु उसके बाद एक नहीं अनेकों विवाहसंस्कार देखे, और सब जगह हमने यही पाया, कि या तो पुरोहितजी मंत्र-भाग पढते हुए ही 'देवकामाः' पढते और उसका अर्थ करते 'देवों की कामना...' अथवा जो कुछ झिझकी हो, वे पढते तो देवृकामा पर अर्थ करते देवों की कामना करनेवाली, बहुत से ऐसे भी उपदेशक देखे, जो इस शब्द का उच्चारण ही नहीं करते, परंतु ऐसा उपदेशक शायद ही कोई मिला होगा, दो एक को छोडकर जो केवल समाज में पुरोहित का काम उस वक्त करते हैं, जब कोई अच्छा विद्वान् नहीं मिलता और संस्कारविधि लेकर उसको ज्यों का त्यों पढते हैं, जिसने 'देवृकामाः' उच्चारण कर अर्थ भी वही किया हो, जो संस्कार-विधि में छपा है।

मुझे समझमें नहीं आता कि यह कमजोरी क्यों? जिस बातको हम क्रिया में लाते हुए शर्माते हैं, उसको मानने से इन्कार करते हुए क्यों झिझकते हैं? यदि ऐसी बात नहीं और यदि हम वेदों में सच्चा विश्वास रखते हैं और मानते हैं कि वेद का वही पाठ है, तो फिर चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो, भगवान् की आज्ञा समझ कर करते जाना चाहिये। यदि हम सच्चे हैं, तो यह हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने संपूर्ण उपदेशकों

व पुरोहितों को यह हिदायत कर दें कि, वे उसे वैसा ही प्रयोग में और कार्य में लायें जैसा कि संस्कारविधि में छपा है। उस समय हम समझेंगे कि हम आर्यसमाजी सच्चे हैं। और हमें अपनी बहिनों, लडकियों व पुत्रवधुओं को भी इसी प्रकार के आशीर्वाद देने चाहिये। परंतु है कोई ऐसा करनेवाला? इसी को वेद ने उपद्धयुता (Duplicity) कहा है। इसे छोडना चाहिये। हमें स्वामी दयानन्द के नाम वेद में हस्ताक्षेप करने का अधिकार नहीं।

अब हम अपने लेख के तीसरे अंशपर विचार करेंगे कि वेद का, चाहे वह अथर्ववेद या ऋग्वेद हो, 'देवृकामाः' शब्दसे कोई सम्बंध है या नहीं। हमारा तो विचार है कि वेद में 'देवृकामाः' शब्द है ही नहीं। किसी बात को पुष्ट करने के लिये दर्शनकारोंने ८ प्रमाण माने हैं। और हम देखेंगे कि उनसे (जितने भी प्रमाण इसको पुष्ट करने के लिये उपयोग में आ सकते हों) क्या वेद से 'देवृकामाः' शब्द का सम्बंध जुडता है या नहीं?

पं० सातवलेकरजी अथर्ववेद छाप रहे हैं, परंतु उसमें उन्होंने क्या पाठ रक्खा है× या रक्खेंगे, यह तो जब वेद छप कर सामने आयेगा, उसी वक्त मालूम होता, परंतु हमारा विश्वास है कि यह शब्द परमात्मा की तरफ से वेद में नहीं हो सकता।

आज वेद के किसी पाठ को जांचने के लिये हमें जो साधन उपलब्ध हैं, उनको हम निम्न प्रकार से बांट सकते हैं और उनको हम ८ प्रमाणों में से कुछ के अन्तर्गत कर सकते हैं।

१. हस्तलिखित प्राचीन वेद।
२. वेदों की शाखासंहिताएं।
३. ब्राह्मण, आरण्यक व अन्य सूत्रादि प्राचीन ग्रन्थ।
४. विविध प्राचीन भाष्यकारों के भाष्य।
५. पाश्चात्य विद्वानों की खोज से निकाले गये परिणाम।
६. वेदों की जीवित मूर्तियें, अर्थात् वेद जिनके कण्ठ में निहित हैं।
७. तर्क।
८. प्रकरण।
९. इनके अतिरिक्त यदि किसी को हो तो परमात्मा के द्वारा प्रकट होना।

आगे कुछ लिखने से पूर्व हम दो एक शब्द यहां प्रथम सवाल कि क्या आर्यसमाज इसके लिये प्रयत्न कर रहा है, कि यहां पर ऋग्वेद में क्या पाठ है, एक वाक्य में दे देना आवश्यक समझते हैं।

पिछले लगभग एक वर्ष के समय में आर्यप्रतिनिधिसभाओं व सार्वदेशिक प्रतिनिधिसभा ने कितने हस्तलिखित वेदों का संग्रह इस निमित्त किया, कितनी शाखासंहिताओं को खोज कर पढा, कितने ब्राह्मण आरण्यक तथा सूत्रादि ग्रंथों को इस निमित्त से देखा, कितने पाश्चात्य विद्वानों के परिश्रम का लाभ उठाया, कितने वेदपाठी विद्वानों से पूछा, और कितना उक्त पाठ को तर्क के अनुसार पाया और क्या इतना कार्य हमारी सब सभायें मिलकर इतने समय में नहीं कर सकती थी? इसलिये यह कहना पडता है कि वे इस पर विचार नहीं कर रहे।

यहां मैं एक बात और पूछना चाहता हूँ कि जब स्वामिजी को वेद प्रकट नहीं हुआ तो स्वामिजीने जर्मनीसे वेद मंगवाकर उपरोक्त साधनों में से कितनों का उपयोग उठा कर उन्हों ने वेदों का शुद्ध मुद्रण करवाया? वास्तव में, पाठकवृन्द! उस महर्षि को इतना समय नहीं था, जो संसार में प्रभु का एक संदेश लेकर आया था, कि एक स्थान पर बैठ कर वे इस कार्य को करते। उन्होंने

× स्वाध्याय-मण्डलद्वारा प्रकाशित अथर्ववेदमें "देवकामा" पाठही स्वीकृत किया गया है। —संपादक "वै० धर्म"

नौ वर्ष में जो कार्य किया, वही बहुत है। और जो कार्य स्वामिजी अधूरा छोड गये, उसे पूर्ण करने को हमें कटिबद्ध होना चाहिये। यदि हम न भी करना चाहें, तो भी कम से कम हमें विरोध तो न करना चाहिये।

ऋग्वेद के पद 'देवृकामाः' के सम्बन्ध में तो 'वैदिक धर्म' के श्रावण (अगस्त) के अंक में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है और इसके अतिरिक्त यह शब्द वेदों में एक ही स्थान पर और आता है और वह है अथर्व वेद में।

अथर्ववेद के सम्बन्ध में इतना कार्य अभी नहीं हुआ है, जितना कि ऋग्वेद के संबंध में। और जो कार्य हुआ है, उसके अनुसार अथर्व में दोनों पाठ माने गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में हमारे लिये एक समस्या खडी हो जाती है।

यदि हमारा यह विश्वास सत्य है कि वेद ईश्वर की तरफ से आये हैं, तो यह तो मानना पडेगा कि परमात्मा ने हमें दो पाठ नहीं दिये। वहां से एक ही पाठ आया है। जब यह सत्य है, तो हमें यह भी मानना पडेगा कि अथर्ववेद में भी 'देवृकामाः' और 'देवकामाः' में से एक ही शब्द परमात्मा का उच्चारित है। और दूसरा शब्द क्योंकि उसकी तरफ से नहीं आया, अतः उसका स्वतःप्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। हमें वहां भी एक ही पाठ जो स्वतः प्रमाणित है, मानना चाहिये और उसे खोजनेका प्रयत्न करना चाहिये।

इस बात का अच्छी तरह से ध्यान रखना चाहिये कि, ऋग्वेद के संबंध में जरा भी संदेह नहीं है। और यदि ऐसा है, तो हमारा बहुत कुछ कार्य हलका हो जाता है।

यों तो यह एक स्वतंत्र विषय है, जिसपर प्रकाश डालने के लिये एक स्वतंत्र ही लेख की आवश्यकता है। परंतु फिर भी हम संक्षेप में उपरोक्त साधनों को ध्यान में रखते हुए अपना विचार लिखेंगे।

हमारा ऐसा दृढ विश्वास है (कम से कम अभी तक) कि अथर्ववेद में भी 'देवकामाः' ही पाठ होना चाहिये।

अथर्ववेद की शाखासंहितायें सबसे कम हैं और वे केवल नौ हैं। इसी प्रकार से ब्राह्मण, आरण्यक सूत्रादि ग्रंथों में ऋग्वेद का जितना उल्लेख है, उतना अन्य वेदों का नहीं। (इसमें भी एक बडा भारी कारण है, जिसपर विचार करना विषय से बाहर जाना होगा) इसलिये बहुत कुछ कठिनता अवश्य है। पाश्चात्यों की खोज का उपयोग इसलिये नहीं ले सकते कि, उन्हों ने प्रायः दोनों पाठों को स्वीकार किया है। ऐसी अवस्था में केवल तर्क और प्रकरण ही शेष रहते हैं। इन सबसे आगे जो एक मुख्य युक्ति है कि, जिसके सामने हमें अपना सिर झुकाना ही पडता है वह है वेदों की दैवत और आर्षेय संहितायें। वेदों की इन शाखासंहिताओं का तात्पर्य समझ लिया जाये तो यह प्रश्न हल हो सकता है कि वेदों में 'देवकामाः' पद होना चाहिये या 'देवृकामाः'। पर इनसे इतना तो निश्चय है कि दोनों मंत्रों का पाठ एक ही होना चाहिये। नहीं तो दैवतसंहिता और आर्षेय संहिताओं की कोई सत्ता नहीं रहती। ये दोनों संहितायें इस बात की द्योतक हैं कि एक मंत्र जो एक ही ऋषि और देवतावाला है, उनके पाठों में भी कोई अन्तर नहीं होना चाहिये। नहीं तो ये संहितायें बन ही नहीं सकतीं। इससे भी ऊपर हमारे पास तर्क और प्रकरण दो साधन और हैं, जिनसे हम दोनोंमें से कौनसा पाठभेद ठीक है यह निश्चय कर सकते हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों का मन्त्र "अघोरचक्षुः" एकही प्रकरणमें आया है। जितने भाष्यकारोंने इन दोनों वेदोंपर भाष्य किया है, उन्होंने अर्थ भी एक ही किया है, ऐसी अवस्थामें एक ही प्रकरणके होते हुए जिन युक्तियों से हमने एक स्थान का पाठ

निश्चय किया है, उन्हीं युक्तियों से हम दूसरे स्थान का पाठ भी निश्चय कर सकते हैं। अर्थात् अथर्ववेद में भी ऋग्वेद की तरह से 'देवकामाः' ही पाठ ठीक सिद्ध हो सकता है, 'देवृकामाः' नहीं। नहीं तो हमें उन्हीं सब हेतुओंका समधान करना होगा जो कि हम नहीं कर सकते।

प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार भी 'देवकामाः' शब्द को ज्यादा स्थान मिला है। आजतक किसी विद्वान् ने भी 'देवकामाः' के पक्ष में 'देवृकामाः' का तिरस्कार नहीं किया, परन्तु देवृकामा का 'देवकामाः' के पक्ष में तिरस्कार किया है। ऐसी अवस्थामें हमें वही पाठ 'देवकामाः' अथर्व में स्वीकार करना चाहिये। यदि हम आज नहीं करेंगे तो कल करना होगा।

यद्यपि हमने जीवित मूर्तियोंसे नहीं पूछा है, परन्तु यदि कोई अथर्ववेदपाठी हो तो मैं पं० सातवळेकरजी से निवेदन करूंगा कि वे उनसे जरूर पूछें और यथासाध्य इस स्थानपर एक ही पाठ 'देवकामाः' छापें। कुछ एक संहिताओंको छोडकर तथा आर्षेय, दैवत संहिता, तर्क तथा प्रकरण के अनुसार हमारा यह विचार और विश्वास है कि वेद का 'देवृकामाः' शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं।

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २०] [अङ्क ४

विषयानुक्रमणिका

श्रीमद्भगवद्गीता

[पुरुषार्थबोधिनी भाषा-टीका]

सम्पूर्ण तैयार है ।

इसके १८ अध्याय ३ भागोंमें विभाजित किए हैं। प्रत्येकका (सजिल्द) मू० ३) रु० और डा० व्य० ॥=) है। एकही समय तीनों भाग अर्थात् सम्पूर्ण गीता मंगानेवाले १०) रु० भेजें।

भगवद्गीता--लेखमाला

'गीता' मासिक में प्रकाशित गीताविषयक लेखोंका यह संग्रह है। इसके ७ भाग तैयार हैं, जिनका मू० ५॥) रु० और डा० व्य १॥) है। तथापि ६॥) रु० म० आ० से भेजनेवालों को सब भाग भेज देंगें।

मंत्री, स्वाध्याय--मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

शुद्ध चार वेद-संहिता ।

चारों वेद अत्यन्त शुद्ध छापने का कार्य स्वाध्यायमंडल में शुरू है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद छापकर तैयार हैं। अगले चार महिनों में सामवेद भी तैयार होगा। चारों वेदसंहिताओं का मूल्य इस प्रकार है—

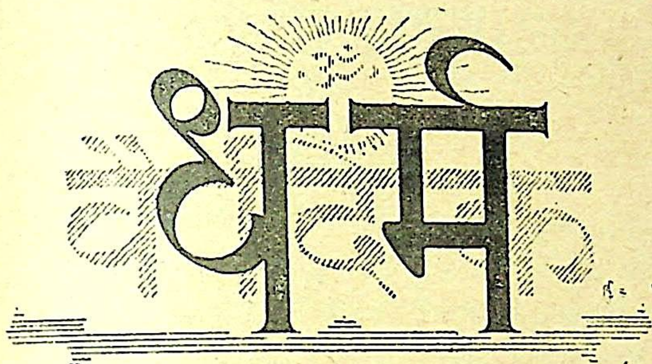
वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशके लिए डाकव्यय
ऋग्वेद	३)	१)	॥)	१॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
सामवेद	२)	॥)	।)	॥।)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१०)	३)	१॥)	४॥)

तथापि चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से सहूलियत का मू० ६) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिये डाकसे मंगानेवाले ९) नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकों के जिम्मे है, इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ६) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। उनके ग्रन्थ To Pay रेलवेपार्सलसे भेजेंगे ।

सामवेद छपनेतक ही चारों वेदसंहिताएं ६) रु० में मिलेंगीं। तत्पश्चात् मूल्य बढेगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें ।

मंत्री स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वर्ष २०
अंक ४
क्रमांक २३२



चैत्र
संवत् १९९५
अप्रैल
सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

अपना विजय।

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥
(अथर्व० ५।३।१)

"हे अग्ने! युद्धोंमें मेरा तेज विशेष रीतिसे प्रकट होवे, हवन में तुझे प्रदीप्त करते हुए हम सब अपने शरीरोंको बलवान् और कार्यक्षम बनाते रहें। सब चारों दिशाओंमें रहनेवाले विभिन्न देशोंके लोग हमारे आगे नम्र होकर रहें, मैं इस अपने राष्ट्रका अध्यक्ष होऊंगा और अपने राष्ट्रमें ऐसा चैतन्य उत्पन्न करूंगा कि जिससे हमारे मिलकर किये प्रयत्नसे शत्रुओंके संपूर्ण सैन्योंका सतत पराजय होता रहे और हमारा सतत विजय होता रहे।"

युद्धमें प्रचण्ड पराक्रम करना चाहिये। प्रतिदिन हवन करके ईश्वरभक्ति करनी चाहिये, तथा शरीर बलवान् रखने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। चारों दिशाओंके राष्ट्रोंमें ऐसा प्रभाव जमाना चाहिये कि जिससे वे लोग नम्र होकर रहेंगे। स्वयं अपने राष्ट्र में अध्यक्ष बनकर अपने राष्ट्रमें ऐसा क्षात्र तेज बढाना चाहिए कि जिससे शत्रुका पराभव और अपना विजय सदा होता रहे।

वेद-मुद्रण का कार्य ।

अथर्ववेद ।

अथर्ववेद छप चुका है। इसकी जिल्द बनवाईका कार्य चल रहा है। क्रमशः ग्राहकोंके पास जैसी जिल्दे हो रहीं हैं वैसी भेजी जाती हैं। मई मासके अन्ततक सब ग्राहकों के पास अथर्ववेद के ग्रन्थ भेजे जांयगे ऐसी आशा है। दस पंद्रह दिन अधिक लगेंगे, पर कम नहीं।

इसलिए पाठक अथर्ववेद न मिलने के पत्र दो मास तक न लिखें, क्योंकि हम क्रमशः भेज रहे हैं और सब रजिस्ट्री से या रेल से ग्रन्थ भेजे जा रहे हैं। इसलिये किसी को न मिलेंगे ऐसा हो नहीं सकता।

जिन ग्राहकों के पते बदले हों, वे अपने नये पतोंकी सूचना हमें दें, नहीं तो उनकी पुस्तक पुराने पते पर जायगी और वापस होगी। इसलिये अपने पते बदले होंगे, तो सूचना दें।

सामवेद ।

सामवेद की मांग बडी जोर शोर से आ रही है। अभी सामवेद छपकर तैयार नहीं हुआ। सामवेद की छपाई बहुत कठिण है। इस कार्य के लिये काशी, मथुरा, बंगाल, बडोदा, शुक्लतीर्थ, बंबई, पूना, बंगलोर, म्हैसूर, आदि स्थानों के सुप्रसिद्ध सामवेद-पाठियों की सहायता प्राप्त की है, तथा कौथुमी, राणायणी, जैमिनी आदि शाखा के ग्रंथ प्राप्त करके अत्यंत शुद्ध छापने का बडा यत्न किया जा रहा है।

इस कारण इसका मुद्रण धीरे धीरे हो रहा है और वह इससे शीघ्र होना असंभव है। सामवेद-संहिता इस दिन से आगे तीन मास में छपकर तैयार होगी। तब ग्राहकोंको भेजी जायगी।

यदि पाठक उपन्यास-मुद्रण और वेद-मुद्रण में कोई भेद नहीं मानते, तो हमारा दुर्भाग्य है। कृपा करके वे इस मुद्रण की कठिता का विचार करें और देरी की क्षमा करें।

ऋग्वेद मुद्रण ।

कई ग्राहक ऋग्वेद न मिलाने के कारण बडे क्रुद्ध हुए हैं और हमपर विश्वासघातका मुकदमा चलाने के लिये भी उद्यत हुए हैं !!! उनसे हमारा ऐसा विनय है कि, पहिली वार छपा ऋग्वेद ३।४ महिनों में हातों हात विक गया, जिसके विषय में हमारा ख्याल था कि यह २।३ वर्षों में भी नहीं बिकेगा। ऋग्वेद का शीघ्र विक जाना ग्राहकों की और साथ साथ ईश्वरकी भी दया ही है।

हमने अति शीघ्र द्वितीय वार उसका मुद्रण करने का कार्य सिद्ध शुरू किया है। इसमें (१) पाद-चरण-का निर्देश, (२) संकीर्ण देवताओं का विशेष स्पष्टीकरण, (३) विश्वे देवा का स्पष्टीकरण आदि अनेक सुधार जो अत्यावश्यक थे, वे किये जा रहे हैं। प्रति मंत्रपर विचार करना पडता है, इसलिये प्रत्येक फर्मे की छपाई थोडी देरीसे हो रही है।

जो पाठक इस कार्य का महत्त्व जानेंगे वे इसको देरी अवश्य लगेगी ऐसा स्वयं मान सकते हैं। अन्य ग्राहक जलदी न छपने के लिये हमपर मुकदमा भी चलाने को उद्यत हुए हैं ! उक्त कारण का ग्राहक विचार करें और जो करना हो वह करें। हम यहाँ दिन और रात दूसरा कुछ भी कार्य नहीं कर रहे हैं और सब शक्ति वेद-मुद्रण पर हि लगाई जा रही है। हमारा ख्याल है ऋग्वेद की छपाई छः महिनों में समाप्त होगी, तब हम उस ग्रन्थ को ग्राहकों के पास भेजने में समर्थ होंगे।

इस समय हम यह ऋग्वेद कम से कम पांच हजार छाप रहे हैं। ग्राहक बढनेपर भी उनको न मिलने की शिकायत करने का कारण इससे न रहेगा।

"संपादक"

क्या मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है ?

इस विषय में वेदका संदेश क्या है ?

(तृतीय लेख+)

पूर्वग्रहदोष।

गत दो लेखोंमें बताया है कि, यदि मनुष्य अपना पूर्वग्रह छोड देवे, और मन पूर्वग्रहदोषसे रहित करे, तो वह ईश्वरका साक्षात्कार वैसा कर सकता है, जैसा आंखवाला मनुष्य दोपहर का सूर्य देख सकता है (दिवीव चक्षुराततम्। ऋ० १।२२।२०) पूर्वग्रह ऐसे बलवान् होते हैं कि, वे छोडे नहीं जाते। जो जो उपदेशक और आचार्य आते हैं, वे पुराने पूर्वग्रह तो छुडवाते हैं, परंतु नये खडे कर देते हैं। इसलिए बडी मुश्कील हो रही है। प्रत्येक पंथमें कई नये पूर्वग्रहदोष सुदृढ हो गये हैं, सहसा कोई उनको छोडनेको तैयार नहीं होता। दूसरोंके पूर्वग्रह हानिकारक हैं, इतना तो सब मानते ही हैं, परंतु अपने अन्दर भी वैसेहि पूर्वग्रह-दोष हैं, इसको मानने के लिये कोई तैयार नहीं होता !! यह एक मानवी मनकी घटना का चमत्कार है। और इसी कारण सूर्य के समान सर्वत्र दीखनेवाला परमेश्वर अदृश्यसा बना है, अथवा नजर आते हुए भी उसको कोई देखता नहीं। !!!

पूर्वग्रहदोष की खराबी सभी पंथोंमें और सभी धर्मों में होने के कारण उसका इससे अधिक विशेष वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह बडा भारी विघ्न है, जो दूर होना महा कठिन कार्य है, और केवल इसी कारण मनुष्योंको ईश्वरका साक्षात्कार होता नहीं है। यदि मनुष्य इस दोष को दूर करेगा, तो उसी समय उसको परमेश्वर का साक्षात्कार होगा।

वेद का उपदेश।

पूर्वग्रहदोष के कारण वेदका स्पष्ट उपदेश भी लोग नहीं मानते और उस पवित्र वेदका अर्थ अपने पूर्वग्रह-दोष के अनुसार करने लगते हैं, और मानते हैं कि हम इस अर्थके आधारसे पार होंगे। महान् आचार्य इसीलिए कहते आये हैं कि, 'सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करना आवश्यक है।' यह तो आचार्य कहते ही हैं, पर मानता कौन है? पूर्वग्रहदोष दूर होने पर ही सत्य दीखेगा, नहीं तो दीखेगा कैसा ? इसलिए इस दोषसे जिनकी दृष्टि विकृत हुई है, वे उलटे को सीधा और सीधे को उलटा मानते हैं और इस कारण अज्ञान अधिक ही बढ जाता है। इस वेदोपदेशके संबंध के कुछ उदाहरण इस लेखमें देनेका यत्न करने का विचार है। इस विषयमें एक मंत्र देखिये।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि॥
(वा० यजु० १९।९)

'हे ईश्वर! तू तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु और सहोरूप हो, अतः इन तेज, वीर्य, बल, ओज मन्यु और सहोंको मेरे अंदर स्थापित करने की कृपा कर।'

+ द्वितीय लेख वैदिक धर्म क्रमांक २३०, पृ० ८९ पर देखो।

यह वेद का मन्त्र ईश्वर का स्वरूप बताता है और ईश्वर से उक्त तेजादिकों की अपने अन्दर स्थापना होने की संभावना निःसंदेह दर्शा रहा है। यहां एक उदाहरण लेना चाहिए और देखना चाहिए कि मानवी उन्नति की प्रक्रिया वेदानुसार कैसी है। उदाहरण के लिये समझ लीजिये कि जलरूपी मानव अग्निरूपी ईश्वर की उपासना करके कहता है कि 'हे अग्ने! तू उष्णतारूप हो, अतः मुझमें उष्णत्व की स्थापना करो'। अग्नि की उपासना से -अग्नि के सान्निध्य से-जल के अन्दर उष्णता आती है, और जल उष्ण हो जाता है। अर्थात् अग्नि का अंश जल में अवतीर्ण होता है, जल में अग्नि का अवतार होता है।

ठीक इस प्रकार तेज-वीर्य-बल-ओज-मन्यु-सह शक्तिवाला ईश्वर है, उससे उपासक इन को प्राप्त करना चाहता है। इसी उपासनाका यह मन्त्र है। इस में पहिला तेज है। संपूर्ण तेज तो ईश्वर का ही है, यह बताने के लिये इस मन्त्र में कहा है कि (तेजोऽसि) ईश्वर तेजः-स्वरूप है, सबको ईश्वर से ही तेज मिलता है, यह बात अन्य ग्रन्थों में इस तरह कही है—

सब तेज ईश्वर का है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
(भ० गी० १५।६)
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(भ० गी० १५।१२)

'सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि उस परमात्मा के पदको प्रकाशित नहीं करते। जो तेज सूर्य, चन्द्र और अग्नि में है, वह भी ईश्वरका-आत्माका-ही तेज है।' अर्थात् सूर्य, चन्द्र, अग्नि, दीप आदि में जो तेज है वह ईश्वर से ही उनको प्राप्त हुआ है। जो ईश्वर अग्नि, विद्युत, सूर्य, चन्द्रमा में अपना तेज रखता है, वही सच्चा तेजवाला है। उसके तेज से जो तेजस्वी होते हैं, उन परप्रकाशितों के तेज का विचार क्या करना है, जो उनको प्रकाशयुक्त करता है, वही सच्चा तेजस्वी उपास्य है। इसी हेतु से वेदमन्त्र में कहा है कि—

तेजोऽसि, तेजो मयि धेहि। (य० १९।९)

"हे ईश्वर! तू ही सच्चा तेजवाला है, अतः तुम्हारा तेज थोडासा मुझमें स्थापन कर, जिससे मैं तेजस्वी बनूं और कृतकृत्य होऊं।" ईश्वर सच्चा तेजस्वी है, इसीलिये यह प्रार्थना सुसंगत होती है। यदि उसके पास अपना निजी तेज न हो, तो यह प्रार्थना किस तरह सार्थक हो सकती है? दूसरे से तेज लेनेवाले, जो दूसरे के तेज से चमकनेवाले हैं, वे हमको कितनासा तेजस्वी कर सकते हैं? स्वयंप्रकाशी ईश्वरही हमें तेजस्वी कर सकता है। अतः यह वेद की प्रार्थना ईश्वरका सत्यस्वरूप दर्शाकर तेजस्वी बनने का सच्चा मार्ग बता रही है।

केनोपनिषद् में कहा है कि अग्नि को एक समय अपनी दाहक शक्ति की घमंड हुई, परन्तु जब आत्मा ने अपनी दाहकता अग्नि से वापस ली, तब अग्नि घासके तिनके को प्रयत्न करनेपर भी जला नहीं सकी, इसी तरह वायु भी अपनी वाहक शक्ति की घमंड से गर्व करने लगा, पर जब परमात्माने अपनी शक्ति वायु से वापस ली, तब वायु एक तिनके को भी उठा नहीं सका। यह है अग्नि-वायु की कथा। सर्वथा इन अग्नि, वायु, सूर्य, विद्युत, चंद्रमा आदि का सामर्थ्य परमात्मा के सामर्थ्य का ही चमत्कार है। इनका सामर्थ्य निजी सामर्थ्य नहीं है, ये देवतागण ईश्वर से सामर्थ्य लेते हैं और विश्व में देते हैं। इसी कारण सच्चा तेज तो परमात्माका ही है, अग्नि आदि में जो दीखता है, वह भी परमात्मा का ही तेज है। अतः कहा है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(श्वेताश्व० ६।१४)

"उस परमात्मा के प्रकाशित होनेसे सब प्रकाशित होता है, क्योंकि उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है।" परमात्मा का तेज अग्नि विद्युत सूर्य चन्द्र में जाता है और इस तेज से ये देव प्रकाश देते हैं। यदि चन्द्र सूर्य में भी उसी आत्मा का ही प्रकाश है, तब अग्नि का प्रकाश उसी आत्माका प्रकाश होने में संदेह कैसे हो सकता है? सच्चा तेज परमात्मा का है, अतः तेज की प्राप्ति की प्रार्थना करनी हो, तो परमात्मा से ही तेज की प्रार्थना करनी चाहिये, जो उक्त मन्त्र में कही है।

अस्तु। इतने विवरणसे यह सिद्ध हुआ कि 'तेज' परमात्मा का रूप है। जहां तेज है, वहां तेजके रूपसे परमात्मा ही वसता है। जिस तरह उष्ण जलमें उष्णता के रूप से अग्नि वसता है, जिस तरह शरीर में उष्णता के रूपसे अग्निका अस्तित्व माना जाता है, ठीक इस तरह जहां जहां तेजस्विता होगी, वहां वहां तेजके रूप से परमात्मा का दर्शन होगा। यह तो गुणरूप से परमात्माके साक्षात्कार करने की वैदिक रीति है। जहां तेज है, वहां उस तेज के रूपसे परमात्मा है।

अग्नि, विद्युत्, चन्द्र, सूर्य आदि में तेज है, यही परमेश्वर का रूप इन वस्तुओंमें है, इस तेजरूपसे परमेश्वर का साक्षात्कार हम इन वस्तुओं में कर सकते हैं। अग्नि जलायी गयी, ज्वालाएं धधकने लगीं, तो उस अग्निद्वारा प्रकट होनेवाले तेजसे परमात्माका साक्षात्कार मनुष्यको होता है, जो लोग हवन के समय अग्नि के तेज से परमात्मा के तेजका साक्षात्कार नहीं कर सकते और जो मानते हैं कि यह अग्नि जड और ईश्वर से विभिन्न ही वस्तु है, वे तो हतबुद्ध लोग हैं, उनके सामने तेजोरूप से परमात्मा प्रकट हुआ है, तो भी उसे वे अपने पूर्वग्रहदोषसे दूर करते हैं और हतभाग्यसे मानते हैं कि, हमें जन्मजन्मांतर में कभी ईश्वर का साक्षात्कार होगा, तो होगा!!! कितने अभागे ये लोग हैं देखिये।

मुखसे 'तेजोऽसि' इस मंत्रको बोलते हुए और अपने सामने धधगनेवाली अग्निके रूपमें परमात्मा का तेज प्रकट हुआ है, यह न देखते हुए, उसका तिरस्कार करते हुए, ये आंखें बंद करते हुए स्थिर बैठते हैं और मानते हैं कि, हम ईश्वरकी उपासना करते हैं !! यह हमारे समझमें नहीं आता कि इस वेदमन्त्रका अर्थ वे कैसा मानते हैं। यदि 'तेज' यह ईश्वर का सचमुच रूप है, तब तो जहां तेज होगा, वहां उस तेजके रूपसे ईश्वर ही साक्षात् हो रहा है। यह दूसरे किस का तेज है? सिवाय परमात्मा के सच्चा तेज धारण करनेवाला दूसरा कौन यहां है? सर्वत्र परमात्माकाही तेज भरा है। जहां तेज है, वहां तेजरूप से परमेश्वर हि है।

व्यापक तेज।

अग्नि, विद्युत, सूर्य, चन्द्र में ही तेज है और अन्य वस्तुओंमें तेज नहीं है, ऐसी बात नहीं है। वृक्ष, फल, फूल पशु, पक्षी, मनुष्य, इतर वस्तु आदि सब में न्यूनाधिक तेज है। कोई भी वस्तु तेजके विना नहीं है, अतः सर्वत्र तेजके रूपसे परमात्मा विराजमान है। जो ईश्वरका साक्षात्कार करना चाहते हैं, वे इस तेजके परमेश्वररूप को हरएक वस्तुमें देखकर वहां ईश्वरका साक्षात्कार करने का यत्न कर सकते हैं।

पाठक जानते ही हैं कि उक्त वेदमंत्रमें परमेश्वर का तेजोरूप सर्वत्र देखने और अनुभव करनेका आदेश है। **'तेजोऽसि'** कहते हुए हर एक वस्तुमें तेजोरूप से विराजमान होनेवाले ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना चाहिये। शीत जलमें उष्णतारूपसे घुसकर रहनेवाले अग्निके अंशका साक्षात्कार उष्ण जलमें हर कोई कर सकता है, इतना ही नहीं परंतु उष्ण जल की जितनी उष्णता अधिक होगी, उतना अग्निका कार्य भी वहां देखा जाता है, जैसा कि अति उष्ण जलसे चमडी का उबल जाना, उससे फोडे उत्पन्न होना आदि भी अग्निकार्य ही है। इससे जलमें भी अग्नि का साक्षात्कार होता है।

इसी तरह ईश्वर के तेजोरूप का साक्षात्कार हरएक वस्तु में हो सकता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में ईश्वर तेजोरूप से वसता है और प्रत्येक वस्तु में जो तेज दीखता है, जो तेज अनुभव में आता है, वह परमेश्वर का ही तेज है। यह हरएक वस्तु में ईश्वर का साक्षात्कार ही है। कौन इसका इन्कार कर सकता है?

ईश्वर का अवतार।

प्रत्येक पदार्थ में तेज के अंश से ईश्वर का अंशावतार हुआ है। इसका अनुभव करना मनुष्य का कर्तव्य ही है।

उक्त मन्त्रभाग का तीसरा मंत्रभाग है "बलमसि बलं मयि धेहि" हे ईश्वर! तू बलस्वरूप है, अतः तेरा थोडासा बल मेरे अन्दर स्थापित करके मुझे बलवान् बनाओ! ध्यान में रखिये कि ईश्वर का दूसरा स्वरूप 'बल' है। विश्व में बल को देखकर जहां बल का साक्षात्कार होगा, वहां बलस्वरूप ईश्वर को देखना चाहिये। मनुष्य,

घोडा, बैल, गौ, कीट, पतङ्ग आदि प्राणियों में, वृक्षादिकों में भूमि, पत्थर, आदि में, बल है, यह बल परमेश्वरका ही रूप है। बल को परमेश्वर का रूप मानकर, बलमें परमेश्वर का अनुभव करके विश्व की ओर देखेंगे, तो सर्वत्र बलरूप से विद्यमान ईश्वर का साक्षात्कार होगा। यही बात छांदोग्य-उपनिषद् में इस तरह कही है—

स यदा वली भवति, उत्थाता भवति,...द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति, बलेन वै पृथवी तिष्ठति, बलेन अन्तरिक्षं, बलेन द्यौः, बलेन पर्वताः, बलेन देवमनुष्याः, बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतंगापिपीलिकं, बलेन लोकस्तिष्ठति, बलमुपास्वेति। स यो बलं ब्रह्म इति उपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥

(छां० उ० ७।८।१-२)

"जब बलवान् होता है, तब उठता है, ... देखता है, सुनता है, मनन करता है, जानता है, कर्म करता है, विज्ञानी होता है, बल से पृथ्वी स्थिर हुई है, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पर्वत, मनुष्य, पशुपक्षी, घास, वृक्षवनस्पति, कीडे-मकौडे ये सब बल से ही रहते हैं; बल से ही सब लोक की स्थिति है, इसलिये बल की उपासना कर। जो इस बलरूपी ब्रह्म की उपासना करता है, उस का बल की गति जहां तक है, वहांतक संचार होता है। इसलिये बलरूपी ब्रह्म की उपासना करना चाहिये।"

यहां बल को ब्रह्मका, ईश्वरका, आत्माका रूप माना है। उक्त वेदमन्त्रमें (बलमसि) हे ईश्वर! तू बलस्वरूप है, ऐसा कहकर उसके बल-स्वरूप का वर्णन किया, इसी ईश्वर के बलस्वरूप का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् के इस विभाग में विस्तारसे किया है। मनुष्य से लेकर कीटपतंगपर्यंत के सब प्राणियों में, सब वृक्षवनस्पतियों में, तथा सब स्थिरचर पदार्थों में जो बल है, वह सब परमेश्वर का बल है। इसीलिये—

बलं असि, बलं मयि धेहि ॥

'हे ईश्वर! तू बलस्वरूप है, अतः कृपा कर उसमें से थोडासा बल मुझ में स्थापित कर, जिससे मैं बलवान् बनूं और उस बलसे इस विश्व में बलवान् होकर विचरूं।'

इस प्रार्थना में सब बल प्रभु का ही है, यह निश्चय दर्शाया है। भक्त को इस विषय में कोई किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

वैदिक धर्मी भक्त सब तेज और बल प्रभुका ही है, ऐसा मानता है, प्रभुकी उपासना से अपने अन्दर बल प्राप्त होने का अनुभव करता है, तथा जहां जहां बल दिखाई देता है, वहां बलरूपी परमेश्वरकी उपस्थिति है, ऐसा मानता है और वहां बलरूप से प्रभुका ही प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है।

बल तो प्रत्येक वस्तु में है, अतः बलरूप से प्रभु प्रेत्यक वस्तु में उपस्थित है, ऐसा वह भक्त देखता है और उसका वहां साक्षात्कार करता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है कि, जिस में बल न हो, सब वस्तुओं में बल है और यह बल अनुभव में भी आता है। यही बल प्रभुका रूप है, अतः वेद की प्रार्थना (बलं असि) प्रभु बलरूप है, यह सार्थ और अनुभव में आनेवाली ही है। जहां बल है, वहां बल के अंश से प्रभुका ही अंशावतार हुआ है। जो भक्त प्रभुसे बलप्राप्ति की प्रार्थना करता है, वह अपने अन्दर बल के रूपसे प्रभुका अंशावतार होने की ही प्रार्थना करता है। वेदमन्त्र ने भी यह निश्चय दिया है कि मनुष्य में तेज--वीर्य-बल-ओज-मन्यु-सह रूप से ईश्वरका अंशावतार होता है। मनुष्य अपने अन्दर इस प्रकार प्रभुका अंशावतार होने की सत्यता का अनुभव करे और वस्तुवस्तु में बलादि रूप से प्रभुका अवतार हुआ है, इसको प्रत्यक्ष देखे। इस तरह प्रभुका साक्षात्कार होना संभव है, यह तो विश्वव्यापी प्रभु के अनुभव करने की वैदिक रीति है। ये गुण तो मनुष्य के प्रतिक्षण के व्यवहार में आनेवाले हैं, और यदि इन गुणों को वेदने परमेश्वर का रूप कहा है, तब तो इन गुणों में प्रभु को पहचाननेका ही विश्वासपूर्वक अभ्यास साधकोंको

करना चाहिए । जो बात तेज और बलकी है, वही वीर्य, ओज, मन्यु और सह की समझनी चाहिये । ओज शारीरिक बल का नाम है, मन्यु उत्साह को कहते हैं और सह शक्ति वह है, जिससे शत्रु का हमला आया, तो उसको सह कर अपने स्थानपर सुस्थिर रहा जाता है । तप में होने-वाले कष्ट सहन करने की यह सह-शक्ति है । इस तरह इन गुणों में प्रभुका साक्षात्कार करने का उपदेश इस वेद के प्रार्थनामन्त्र ने दिया है ।

पहिली सीढी ।

यह तो सबसे प्रथम की सीढी है, जो सबको साध्य हो सकती है । हरएक के अनुभव में आनेवाली यह बात है । कितना सरल और सुगम नियम वेदने दिया है, जिस से सुगमतया ईश्वर का साक्षात्कार होना संभव है । परन्तु कितने लोग इस तरह चारों ओर ईश्वर को देखने का यत्न करते हैं । इसके विरुद्ध अग्नि और सूर्य के तेज को ईश्वरीय तेज न मानते हुए, इनको केवल जड, स्थूल और भौतिक मानकर इनमें विराजमान ईश्वरीय तेज की उपेक्षा ही बहुतों के द्वारा की जाती है । सर्वत्र बलका अनुभव करके उससे सर्वत्र प्रभु की उपस्थिति देखने का अनुभव करने के स्थानपर ये सब पदार्थ निरे जड हैं और इनका बल जड का ही बल है, ऐसा मानकर प्रभु को सर्वत्र न देखने का ही यत्न हो रहा है !! ऐसा विरुद्ध आचार करते हुए भी बहुत लोग उक्त मन्त्र का उच्चारण तो करते ही हैं, उस उच्चारण का उनको क्या उपयोग होगा ? जो वेद के तत्त्व को नहीं समझते (किं ऋचा करिष्यति) वह वेदमंत्र लेकर क्या करेगा ?

सत्यका सूत्र ।

अस्तु । इस पूर्वोक्त आशय को ध्यान में धारण करके निम्नलिखित दो मन्त्रों का विचार करनेसे ईश्वरसाक्षा-त्कार के वैदिक मार्ग का पता लग जायगा—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् ।
परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ॥
उपस्थाय प्रथमजामृतस्य ।
आत्मनात्मानमभि संविवेश ॥११॥

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा ।
परि लोकान् परि दिशः परि स्वः ॥
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य ।
तदपश्यत्, तदभवत्, तदासीत् ॥१२॥

'भूतों, लोकों और सब दिशोपदिशाओंको अच्छी तरह (परि इत्य) चारों ओर से देख कर ऋतके प्रथम प्रवर्तक की उपासना करके अपना अपने आत्मा के अन्दर हि प्रवेश किया । द्यावापृथिवी, सब लोक, दिशा और स्वर्गलोक को (परि इत्वा) चारों ओर से देख कर सर्वत्र सत्य का धागा ही व्याप रहा है यह देख कर, उसको देखा, इससे वह वैसा बना जैसा वह पहिले था ।'

इन मन्त्रों में (ऋतस्य प्रथमजाः) सत्यका पहिला प्रवर्तक और (ऋतस्य विततं तन्तुं) सत्यका सर्वत्र फैला धागा कहा गया है । यही परमात्मा, आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर है । जब उपासक प्रत्येक भूत में, प्रत्येक लोक में, प्रत्येक दिशा और उपदिशा में चारों ओर से सूक्ष्म दृष्टिसे देखता है और अनुभव करता है कि वह प्रभु तेजोरूप से, बलरूप से, वीर्यरूप से, ओज के रूपसे, सह और मन्यु के रूप से परमेश्वर प्रत्यक्ष हो रहा है और वही सत्य-स्वरूप है, ऋत स्वरूप है, और सब में व्यापक सब-का सूत्रात्मा एक जैसा है, तब वह उसे ठीक समझता, मानता और अनुभव करता है, और उसका सर्वत्र साक्षा-त्कार कर सकता है । जैसा वह सर्वत्र है, वैसा ही उसको सर्वत्र देखता है, कोई संदेह उसे नहीं रहता । इस तरह निःसंदेह होनेके पश्चात् ही उसको सच्चा साक्षात्कार हुआ, ऐसा समझना चाहिये ।

वेदका उपदेश कितना सरल है, परंतु उपदेशकोंने नये नये पूर्व-ग्रह उत्पन्न किये हैं, इसलिये यह सरल से सरल उपदेश भी जनता के समझमें आना कठिन हुआ है, उस कारण परमेश्वरसाक्षात्कार का सीधा मार्ग भी कठिन हुआ है, समीपका परमेश्वर बहुत दूर पहुंचा है और यहां तक वह दूर हुआ है कि जन्मजन्मान्तर में भी उसका साक्षात्कार होना कठिन और असंभव माना जा रहा है !!! परंतु वेदमन्त्र तो ऐसी युक्ति बता रहे हैं कि

जिससे वस्तु वस्तुमें मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता, उसकी सत्ता देख सकता और अपने अन्दर ही परमेश्वर का अनुभव कर सकता है। ब्रह्मचर्यअवस्था से हीं यह दृष्टि उत्पन्न होगी, तो वह स्नातक होने तक पूर्ण आत्मज्ञानी बनेगा, सिद्ध बनेगा और ईश्वरसाक्षात्कारी होवेगा। परंतु आज क्या है ? जो बात विद्याकाल में प्रथम आयु में ही सिद्ध होनेवाली बात थी, वह आज जन्मजन्मान्तर में भी सिद्ध न होनेवाली बन गयी है !!!

अपने अन्दर देखो।

प्रत्येक उपासक अपने अन्दर देखे कि क्या अपने अंदर तेज-वीर्य-बल-ओज-मन्यु-सह ये शक्तियां हैं वा नहीं, अर्थात् ये तो प्रत्येक में न्यूनाधिक प्रमाण से हैं, अर्थात् ये शक्तियां अपने अन्दर हैं। ये शक्तियां अपने अन्दर हैं, इस का अर्थ इन शक्तियों के रूप से परमेश्वर का अंशावतार हम सब में हुआ है और उसी परमात्मा का अपने अन्दर अनुभव करते हुए हम उसे कहते हैं कि—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।

'हे आत्मन्! तू तेजस्वरूप हो, अतः यह तेरा तेज मेरे अन्दर स्थापित कर।' ये तेजोवीर्यादि सब गुण अपने अन्दर हैं, अतः इनके रूप से परमेश्वर हमारे अन्दर है, इसी तरह इस विश्वके संपूर्ण पदार्थों में ये गुण हैं, अतः इन गुणों के रूप से परमेश्वर इन सब पदार्थों में है, जैसा बारीक सूक्ष्म सूत्र माला में रहता है, वैसा ही यह सूत्रात्मा सब वस्तुओं में है और इसी सूत्रात्मा के ही ये तेज-वीर्य-बलादि गुण हैं, इन गुणों को देखने से गुणी का ज्ञान हो सकता है। इस तरह वह उपासक मनन करता हुआ अपने अन्दर और अपने बाहर ईश्वर का साक्षात्कार करता है और सर्वत्र एक सूत्रात्मा देखकर और उसी का निवास अपने अन्दर देखकर उसे वैसा आनन्द मिलता है, जैसा दूसरे किसी के लाभ से उसे प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि अपने अन्दर प्रत्यक्ष ईश्वर का निवास अनुभव करने का सौभाग्य उसे इस समय प्राप्त होता है और इससे उसे ऐसी निर्भयता मिलती है कि जिसकी कोई तुलना नहीं है।

ईश्वर का अंशावतार।

अपने अन्दर और अपने बाहर प्रत्येक वस्तु में तथा सब वस्तुओं में एक जैसा ईश्वर है, उसको प्रत्यक्ष करने का यह सुगम से सुगम साधन है। श्री राममूर्ति में बल की प्रधानता थी, बल तो ईश्वर का ही रूप है, अतः राममूर्ति में बल के रूप से ईश्वर का अंशावतार हुआ था। क्या ऐसा कहने में किसका डर है ? जो राममूर्ति में बलरूप से परमेश्वर अवतीर्ण हुआ था, ऐसा न मानना चाहें, वे न मानें, परन्तु वेद कहता है कि बल ईश्वर का रूप है, जहां बल है वहां बल के रूप से ईश्वर विद्यमान है। यदि यह सत्य है, तो जहां बल है, वहां ईश्वर का अवतार निःसंदेह है। श्रीमहात्मा गांधीजी में तेज और सह ये शक्तियां प्रबल हैं, अतः इनके रूपसे परमेश्वर का अंशावतार उनमें हुआ है। इस तरह अन्यान्य मनुष्यों और प्राणियों में इन गुणों को देखने से उपासक परमेश्वर का अवतार वहां कैसा हुआ है, इसको प्रत्यक्ष करे। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में देखे और सत्य का सूत्र सर्वत्र देखकर सर्वत्र ईश्वर का साक्षात्कार करे। इसी तरह देखिये—

शर्मासि। (य० १।१४)
धरुणमसि। धर्त्रमसि। (य० १।१८)
तेजोऽसि। शुक्रमासि। अमृतमसि। (य० १।३)

वेदोऽसि। (य० २।२१)
स्वयंभूरसि। श्रेष्ठो... वर्चोदा असि। (य० २।२६)

तनूपा असि। आयुर्दा असि। (य० ३।१७)
शिवो नामासि। (य० ३।६३)
चक्षुर्दा असि (य० ४।३)
ऊर्गसि। (यजु० ४।१०)
शुक्रमसि। (यजु० ४।१८)
चिदसि, मनासि, धीरसि, दक्षिणासि, क्षत्रियासि (यजु० ४।१९)

आयुरसि। (यजु० ५।२)
ध्रुवोऽसि। ध्रुवक्षिदसि। (यजु० ५।१४)

स्वराद् असि सपत्नहा, सत्रराडस्यभिमातिहा,
जनराडसि रक्षोहा, सर्वराडस्यमित्रहा।
(यजु० ५।२४)

विभूरसि। पवमानोऽसि। (यजु० ५।३१)

ज्योतिरसि विश्वरूपं। (यजु० ५।३५)

अग्रेणीरसि। (यजु० ६।२)

संज्ञानमसि। (यजु० १२।४६)

क्षत्रस्य योनिरसि। (यजु० २०।१)

'हे देव! तू सुखस्वरूप है, तू धारण करनेवाला है, (शुक्र) बल और पवित्रता करनेवाला है, तू अमृत है, तू वेद अर्थात् ज्ञानरूप है, तू स्वयंभू श्रेष्ठ है, शरीररक्षक और आयु देनेवाला है, (शिवः) कल्याणस्वरूप है, चक्षु देनेवाला अर्थात् दिव्य दृष्टि देनेवाला है, बल और पवित्रता देनेवाला है, चैतन्य, मनन, बुद्धि, दाक्षिण्य, और क्षात्र बल देनेवाला है, तू स्वयं सुस्थिर है, तू हि स्वराट् (सत्रराट्) सर्वशासक, लोगोंका प्रिय राजा और सब शत्रुओं का नाश करनेवाला समर्थ शासक है, तू विभु-व्यापक और सब की पवित्रता करनेवाला है, विश्वप्रकाशक ज्योति तू हि है, तू सबको (अग्रेणी) अग्र भाग में ले जानेवाला है, (संज्ञानमसि) उत्तम ज्ञानरूप तू हि है, क्षत्रियका बल उत्पन्न करनेवाला तू है।'

ये सर्व वेदके वर्णन साधक को अनुभव में लाने योग्य है। जिस तरह पहिले दिये मंत्रके वर्णन विश्वमें देखकर ईश्वर के स्वरूप का अनुभव किया, इसी तरह इन सब मन्त्रोंको भी अनुभव में लाना चाहिये। इसी लिये ये मन्त्र हैं। ईश्वर का कार्य विश्वभर में किस तरह चल रहा है। यह देखना ही साधक का कर्तव्य है।

विश्व में देखो।

प्रत्येक वस्तु में धारण करने का गुण है, यह धारणगुण ईश्वर का है, देवता का है, ईश्वर का वास्तव्य उस वस्तु में होने से हि उस वस्तु में वह धारक शक्ति रही है। विश्वगत वस्तुओं में सर्वत्र यह धारक शक्ति देखना और वहां परमेश्वर की, दैवी शक्ति की प्रत्यक्षता करना साधक के लिए अत्यंत आवश्यक है। इतने इस विषय के सूचक मन्त्र होते हुए भी यदि साधक इस सुगम अनुष्ठान का अभ्यास न करेंगे, तो उनकी उन्नति होने का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

सामने गुलाब का फूल रखिये, उसमें तेजस्विता है, सुन्दर मधुर सुवास है, अप्रतिम सौंदर्य है, आकर्षकता है। इसका यह अप्रतिम सुमधुर तेज परमेश्वर का ही होने से वहां ईश्वरका तेज प्रकट हुआ है, क्योंकि एकमात्र (तेजोऽसि) तेजस्विता का स्रोत ईश्वर ही है और सब अन्य वस्तुओं का तेज उसी से फैला है, क्योंकि—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

उसीके प्रकाश से सब अन्य वस्तुएं प्रकाशित होतीं हैं, वह प्रकाशता रहा, तो ही सब का प्रकाश हो सकता है। तात्पर्य यह है कि गुलाब के पर्दे के पीछे ईश्वर का स्वरूप है, अथवा ईश्वर की अप्रतिम सत्ता ही गुलाब के पीछे कार्य कर रही है। जिस तरह कारीगरीकी वस्तु देखकर कारीगर के महत्त्व का ज्ञान होता है, नाटक या चित्रपट देखकर उसकी रचनाकर्ता की बुद्धिमत्ता का ज्ञान हो सकता है, उसी तरह वस्तुओं को देखकर उनके पीछे रह कर वस्तु के वस्तुत्व को प्रकट करनेवाली आत्मा की शक्ति का ज्ञान हो सकता है। यह सीधा नियम वेद ने यहां कहा है और ईश्वर के साक्षात्कार का सीधा मार्ग बताया है।

श्रीमद्भगवद्गीताने इसी पद्धति का आश्रय करके ईश्वर की विभूतियां कही हैं—

तेजश्चास्मि विभावसौ।
तपश्चास्मि तपस्विषु॥ (गीं० ७।९)
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।
तेजस्तेजस्विनामहम्।
बलं बलवतामस्मि॥ (गी० ७।११)
सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ (गी० १०।३६)
ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ (गी० १०।३८)

"सूर्य का तेज, तपस्वियों का तप, बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज, बलवानों का बल, सात्त्विकों का सत्त्व, ज्ञानियों का ज्ञान ईश्वर का रूप है।" यही गीता का आशय है। इस तरह गीता पूर्वोक्त वेदके मंत्रों से हि लिया है।

का उपदेश और वेद का आदेश परस्पर मिलताजुलता है, देखिये।

वेद	गीता
तेजोऽसि	तेजश्चास्मि
ज्योतिरसि	तेजस्तेजस्विनामहम्
बलमसि	बलं बलवतामस्मि
संज्ञानमसि	ज्ञानं ज्ञानवतामस्मि
धीरसि	बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि

इसी तरह अन्य विभूतियां वेद के आदेशों के साथ तुलना करके देखने योग्य हैं। इनमें जहां वेदमें 'असि' पद है, वहां गीता में 'अस्मि' पद है इतना ही भेद है। तथापि दोनों का आशय एक ही है।

प्रथम उपदेश।

यहां वेदमंत्र किस तरह ईश्वर का साक्षात्कार करने का आदेश देते हैं, इसका संक्षेप से विचार किया है। यह पहिला पाठ है, जो ब्रह्मचारी का उपनयन होते ही उसे सिखलाने का है। अग्निहोत्र के लिए अग्नि जला दी. तो उसका तेज परमेश्वर का तेज है, इस अग्नि में प्रकाश से परमेश्वर का साक्षात्कार करो, परमेश्वरका ही (अग्निमुख) मुख यह अग्नि है, इस अग्नि में ईश्वर के मुखका साक्षात्कार करो, इसी तरह आगे बिजुली में, सूर्य में और चन्द्र में प्रकाशरूप परमेश्वर का साक्षात्कार करने का अभ्यास ब्रह्मचारी को सिखाना होता है। यह बात उसके ध्यान में आते ही आगे हरएक वस्तु के प्रकाशगुण से उसमें ईश्वर को देखने का अभ्यास करना सुगम होगा। इस तरह संपूर्ण विश्व में परमेश्वर के गुण देखकर उसके अस्तित्व का परिचय किया जाता है।

गुणों से गुणी का साक्षात्कार करने का यही मार्ग है। हर जगह गुणों के अनुभव से गुणी को प्रत्यक्ष करना है।

आगे के पाठों में इससे भी प्रत्यक्ष ईश्वरको देखने का मार्ग वेदने बताया है, उसका मनन हम आगे के लेखों में करेंगे।

[सूचना— जिन पाठकों को इस लेखमाला के संबंध में कुछ आशंका करना हो, वे अपनी शंका स्पष्ट शब्दों में लिखकर हमारे पास भेजेंगे, तो उनकी शंका का निरसन हम आगेके लेखों में प्रथम करेंगे।

'संपादक']

वेदमन्त्रों के उपदेश।

(२)

(लेखक-श्री० स्व० पं० रघुनन्दनशर्माजी।)

जातकर्म के आगे नामकरणसंस्कार है। वेद में आया है कि—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो
वीरैः सुपोषः पोषैः। (यजु० ७।२९)

अर्थात् तू कौन है और तेरा नाम क्या है ? तू बड़े नामवाला हो और पृथिवी से लेकर अन्तरिक्ष और द्यौ तक पूजा और पोषण के साथ बढ़। इस मन्त्र में नामकरणसंस्कार की शिक्षा है। इस संस्कार का तात्पर्य बच्चे के नाम से है। नाम का मनुष्य पर बहुत बड़ा असर होता है। उत्तम, सार्थक और उच्चभाव का बोध करानेवाला नाम नामी को हर समय अपने नाम की सूचना देकर उसे अनेक दुर्व्यवहारों से बचाता है और उच्च बनने की प्रेरणा करता है। इसलिए वेद ने इस संस्कार की आज्ञा दी है। इस नामकरणसंस्कार के आगे निष्क्रमणसंस्कार है। इस संस्कार के द्वारा बालक घर से बाहर लाया जाता है। इसी संस्कार के द्वारा बालक का पहिलेपहिल संसार से परिचय होता है। इसके सम्बन्ध में वेद उपदेश करते हैं कि—

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥१४॥
शिवास्ते सन्त्वोषधय उतत्वाहार्षमधरस्या
उत्तरां पृथिवीमभिः।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥१५॥
(अथर्व० ८।२)

अर्थात् हे बालक ! तेरे लिए मन द्यौ और पृथिवीलोक दुःख न देनेवाले, कल्याणकारी और शोभा तथा ऐश्वर्य को देनेवाले हों। यह सूर्य तेरे लिये प्रकाश का देनेवाला हो, वायु तेरे हृदय को शान्त करनेवाला हो और जल तेरे लिए सुन्दर स्वादवाला हो कर बहे। तुझे भीतर से बाहर इसीलिए लाया हूँ कि तेरे लिए औषधियाँ कल्याणकारी हों और सूर्यचन्द्र दोनों तेरी रक्षा करें। इन मन्त्रों में निष्क्रमण के दो मतलब बतलाये गये हैं। एक तो बालक को पदार्थों का परिचय कराना। दूसरा शीतोष्ण सहन करने का अभ्यास कराना। इसलिए यह संस्कार आवश्यक समझा जाता है। इसके आगे अन्नप्राशन है। इस संस्कार के द्वारा पदार्थों के स्वाद का ज्ञान कराना और हानिकारक पदार्थों के तिरस्कार का संस्कार जमाना है। इसके सम्बन्ध में वेद उपदेश करते हैं कि—

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे
चतुष्पदे॥ (यजु० ११।८३)

अर्थात् हे अन्न के स्वामी परमात्मन् ! आप हमारे लिए, हमारे पशुओं के लिए और अन्य मनुष्यों के लिए रोगरहित और बलकारक अन्न को दीजिए और उसी को बढ़ाइये। इस प्रार्थना का यही मतलब है कि हम रोगरहित, बलकारक अन्नों का ही सेवन करें और उसी प्रकार के अन्नसेवन के संस्कार बालकपन से ही सन्तति में डालने का प्रयत्न करें। इस संस्कार के आगे मुण्डन-संस्कार है। वेद में उसके लिए इस प्रकार आज्ञा है कि—

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य
विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्व-
वानयमस्तु प्रजावान्॥ (अथर्व० ६।६८।३)

अर्थात् जिस प्रकार छुरे से सोम और वरुण का क्षौर सविता विद्वान् करता है, उसी तरह ब्राह्मण को चाहिये कि वह इस बालक का मुण्डन करे जिससे यह बालक

धनवान् और प्रजावान् हो। यहाँ बालक की हजामत का तरीका बतलाया गया है कि जिस प्रकार सोम अर्थात् जलतत्त्व पर सूर्य अर्थात् अग्नितत्त्व अपना संचार करता है, उसी तरह बालक की ठंढी खोपड़ी पर गर्म जल डालकर हजामत की जाय। यह मुण्डनसंस्कार गर्भ के अपवित्र बालों को काटने के लिये किया जाता है, जिससे शुद्धता आवे और आरोग्यता बढ़े। इस संस्कार के आगे कर्णवेध-संस्कार की आवश्यकता बतलाई गई है। कर्णवेध से अण्डवृद्धि की बीमारी नहीं होती और इसी से आरोग्यता के लिए सुवर्ण पहिनने का काम भी निकल जाता है। वेद उपदेश करते हैं कि—

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥
(अथर्व० ६।१४१।२)

अर्थात् दोनों कानोंमें अश्विन देवताओं ने पहिले ही चिह्न किया है, उसी चिह्न पर लोहे के शस्त्र से हे वैद्यो! बहुत सी प्रजा के देनेवाले छिद्र को कीजिये। इस छिद्र को सुश्रुत में 'देवकृते छिद्रे' लिखा हुआ है। कानों में तीन नसों के बीच में जो स्थान है, वही देवछिद्र है। उसी के छेदन करने से और उसमें सुवर्ण पहिनने से अण्डवृद्धि नहीं होती और अण्डदोष न होने से ही संतान होती है। इसीलिए यह संस्कार आवश्यक है। ये दोनों मुण्डन और कर्णवेधसंस्कार बालक में आरोग्यरक्षा के संस्कारों का प्रभाव डालना शुरू करते हैं। इस तरह से इन छोटे बड़े किन्तु महत्त्वपूर्ण संस्कारों के बाद उपनयनसंस्कार होता है। वेद में इस संस्कार का वर्णन इस प्रकार है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि सं यन्ति देवाः ॥३॥ इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥४॥
(अथर्व० ११।५)

अर्थात् आचार्य आये हुए ब्रह्मचारी को अपने समीप गर्भ की भाँति तीन दिन तक रखता है और सब लोग उस ब्रह्मचारी को देखने के लिये आते हैं। उसकी पहिली समिधा पृथिवी, दूसरी अन्तरिक्ष और तीसरी द्यौ के लिये होती है। वह समिधा से, मेखला से, श्रम से और तप से तीनों लोकों को पालता है। इन दोनों मन्त्रों में ब्रह्मचारी का आचार्यकुल में जाकर और आचार्य के घर पैदा होकर द्विज बनना बतलाया गया है और बताया गया है कि वह सादगी, यज्ञ, श्रम और तप से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ के ज्ञान-ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद -को प्राप्त करे। इसके आगे उसकी भिक्षावृत्ति का गौरव वेद में इस प्रकार बतलाया गया है कि—

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च। ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥
(अथर्व० ११।५।९)

अर्थात् ब्रह्मचारी ने पहिले विशाल भूमि और द्युलोक की भिक्षा प्राप्त की है। अब वह ब्रह्मचारी उनको ही समिधा बनाकर उपासना करता है, क्योंकि उन दोनों के बीच में सब भुवन स्थित हैं। इस मन्त्र में पृथिवी से द्यौपर्यन्त ईश्वर के उत्पन्न किए हुए पदार्थों की भिक्षा का उपदेश है। इसका यही मतलब है कि परमात्मा ने जीविका का बन्दोबस्त कर दिया है, इसलिए भिक्षा से उसे ग्रहण करो और विद्याध्ययन करो। इसके आगे वेद में ब्रह्मचर्य का माहात्म्य इस प्रकार वर्णित है—

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रो भवद् वशी ॥१६॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥१७॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥१८॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥१९॥
(अथर्व० ११।५।१६-१९)

अर्थात् ब्रह्मचारी ही आचार्य होता है, ब्रह्मचारी ही प्रजापति होता है और प्रजापति अर्थात् इन्द्र ही विराट् को वश में करनेवाला होता है। ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, ब्रह्मचर्य से ही आचार्य ब्रह्मचारियों को पढ़ा सकता है, ब्रह्मचर्य से ही कन्या युवा

प्रवृत्ति को प्राप्त करती है, ब्रह्मचर्य से ही बैल और घोड़े घास को हज़म कर सकते हैं, ब्रह्मचर्य और तप से ही देवता मृत्यु को हटा देते हैं और ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र देवताओं को सुख से भर देता है। इस प्रकार से इस सदाचार और सभ्यता के मूल तथा लोक और परलोक के साधनरूप ब्रह्मचर्य की महिमा वेदों में विस्तार से वर्णित है। इसलिए इस संस्कार की आवश्यकता बतलाई गई है। इस संस्कार के द्वारा मनुष्य उत्कृष्ट गुणों को पाकर ही समाज में मिलने के योग्य होता है। इस मिलाप का ही नाम समावर्तनसंस्कार है। समावर्तनसंस्कार की भी बड़ी महिमा है। क्योंकि यही समाज का मूल है। इसके लिए वेद आज्ञा देते हैं कि —

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ (अथर्व० ११।५।२६)

अर्थात् जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर होकर और उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य में निवास करके महातप को धारण करता है और वेदपठन, वीर्यनिग्रह तथा आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा करके और समावर्तन की स्नानविधि को करके उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों से प्रकाशित होता है, वही धन्यवाद के योग्य होता है। इस मन्त्र से समावर्तनसंस्कार का महत्त्व दिखलाया गया है। इसके आगे विवाह और गृहस्थाश्रमसंस्कार हैं, जिनका पूर्ण रूप से वर्णन हो चुका है। यहीं पर लौकिक संस्कारों की समाप्ति होती है। गृहस्थाश्रमसंस्कार के आगे परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले तीन संस्कार और हैं। इनके नाम वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टिसंस्कार हैं। बिना इन तीनों संस्कारों के मनुष्य का जन्म सफल नहीं होता। क्योंकि बिना वानप्रस्थ और संन्यास के मनुष्य अच्छी तरह परलोकचिन्ता नहीं कर सकता और न परमतत्त्व को ही पा सकता है। इसीलिए ऋग्वेद में अरण्यानी सूक्त का उपदेश किया गया है। अरण्यानी सूक्त में लिखा है कि—

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥
(ऋ० १०।१४६।५)

अर्थात् इस वानप्रस्थी को जंगल में कोई नहीं मारता और न कोई उसके पास जाता है। वह स्वादिष्ट फलों को खाकर सुख से जहाँ इच्छा होती है, वहाँ विचरण करता है। इस संस्कार के द्वारा एकान्त में रह कर तप और योग के द्वारा गृहस्थाश्रम अर्थात् लोक के संस्कारों को दूर किया जाता है और परमात्मा से मिलने की उत्कट अभिलाषा के पारलौकिक संस्कारों को बद्धमूल करने का प्रयत्न किया जाता है। इस संस्कार के आगे संन्यास-संस्कार है। परन्तु वैदिक संन्यास का अभिप्राय आजकल के संन्यासियों से नहीं है। आजकल के संन्यासी तो बौद्ध भिक्षुओं की नक़ल हैं। वैदिक संन्यासी इस प्रकार के न थे। वैदिक संन्यासी देव कहलाते थे और वे संसार से विरक्त होकर समाधि के द्वारा परमात्मा के दर्शनों का हर समय प्रयत्न किया करते थे। वेद में लिखा है कि **'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत'** अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप से ही समस्त देव मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिये देवसंस्कार का उपदेश वेद में इस प्रकार है—

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम् ।
तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे ॥
(अथर्व० ९।५।१७)

अर्थात् हे अग्ने-परमेश्वर! जिस गृहस्थाश्रम को हज़ारों आदमी धारण किये हुए हैं, उसको छोड़कर हम देवों में प्रवेश करने के लिए तैयार होते हैं। यही संन्यास धारण करने का संस्कार है। इस संस्कार के आगे अन्त्येष्टि-संस्कार है। वेद में अन्त्येष्टिसंस्कार की बड़ी महिमा है। इसको भी पितृयज्ञ के ही नाम से कहा गया है। इस क्रिया का वेदों में विस्तार से वर्णन है। हम यहाँ उस प्रकरण का केवल एक मन्त्र देकर इस संस्कारप्रकरण को समाप्त करते हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥
(ऋ० १०।१६।३)

अर्थात् चक्षु सूर्य में जावें, प्राण वायु में जावें, पृथिवी का अंश पृथिवी में जावें, जल का अंश जल में जावे और

औषधियों का अंश औषधियों में जावे। इस प्रकार से पैदा होने के पूर्व से लेकर मरने के बाद तक के संस्कारों का वर्णन वेदों में है। इन संस्कारों के द्वारा मनुष्य का मन, वाणी और कर्म सदाचारयुक्त बनाया जाता है, जिससे वह समाज में उत्तम गृहस्थ बन कर अपनी सातों इच्छाओं को पूर्ण कर सकता है। परन्तु मनुष्यसमाज का काम केवल सदाचरण से ही नहीं चल सकता। उसे सदाचार के साथ ही साथ जीविका की भी आवश्यकता होती है। इसलिए आगे देखते हैं कि वेदों में जीविका के विषय में क्या आज्ञा है।

जीविका, उद्योग और ज्ञानविज्ञान।

जीविका उत्पन्न करने के लिए सबको कृषि, पशुरक्षा और वाणिज्य का ही सहारा लेना पड़ता है। कृषि, पशुपालन और व्यापार पृथिवी की उपज से ही सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए विना भौगोलिक ज्ञान के जीविका का प्रश्न हल नहीं हो सकता। वेदों में भौगोलिक शिक्षा इस प्रकार दी गई है—

> पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥६१॥ इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥६२॥ (यजु० २३।६१-६२)

अर्थात् तुझसे इस पृथिवी का अन्त पूछता हूँ, भुवन का मध्य पूछता हूँ, सेचन करनेवाला अश्व का रेत पूछता हूँ और इस आकाशमयी वाणी को पूछता हूँ। यह वेदी ही पृथिवी की अन्तिम सीमा है, यह यज्ञ ही भुवन का मध्य है, यह सोम ही सेचन करनेवाला अश्व का रेत है और यह वेद ही आकाशमयी वाणी है। इन दोनों मन्त्रों में प्रश्नोत्तर की रीति से बतला दिया गया है कि यह यज्ञवेदी अर्थात् जहाँ खड़े हो, वही पृथिवी का अन्त है और यही स्थान भुवन का मध्य है। क्योंकि गोल पदार्थ का प्रत्येक बिन्दु (स्थान) ही उसका अन्त होता है और वही उसका मध्य होता है। पृथिवी और भुवन दोनों गोल हैं, इसलिए दोनों का प्रत्येक बिन्दु ही अन्त और मध्य है। इस भूगोलवर्णन के आगे पृथिवी के जल स्थल विभागों का ज्ञान कराने के लिए टापुओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि—

> वि द्वीपानि पापतन्तिष्ठद् दुच्छुनोभे युजन्त रोदसी। प्र धन्वान्यैरत शुभ्रखादयो यदेजथ स्वभानवः॥ (ऋ० ८।२०।४)

> नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेधि श्रिता दिवः। आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेहोरात्रे अपि तन्मयि॥ (अथर्व० ११।७।१४)

> एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय। समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्वन्तः॥ (अथर्व० ४।८।७)

अर्थात् जब पृथिवी और आकाश में आकर्षण होता है और कंपन होता है, तब कहीं न कहीं या तो नवीन द्वीप उत्पन्न हो जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं और समस्त स्थावर दुःख पाते हैं। नई भूमि समुद्र से बाहर निकलती है और सूर्य रातदिन अपना प्रभाव करता है। पृथिवी के स्थलभाग समुद्र से घिरे हुए हैं जिनमें सिंहव्याघ्रादि जन्तु गर्जते हैं। इन मन्त्रों में द्वीपों और टापुओं की उत्पत्ति और उनका समुद्र से घिरा रहना बतलाया गया है। इसके आगे पृथ्वी की पैदावार का वर्णन करते हैं। सबसे पहिले जंगलों का वर्णन इस प्रकार है—

> अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
> कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीम् ॥१॥
> वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
> आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥२॥
> उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते। उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥३॥
> गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत्।
> वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ॥४॥
> न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति।
> स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥५॥ आंजनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नाम-कृषीवलाम्। प्राहं मृगाणां मातरमरण्या-निमशंसिषम् ॥६॥ (ऋ० १०।१४६।१-६)

अर्थात् इस महावन में गौ आदि पशु घास चर रहे हैं। यह वन मकान के सदृश दिखता है। कोई गाड़ियों को भेज रहा है, कोई गायों को बुला रहा है, कोई सूखा काष्ठ काट रहा है और कोई सन्ध्या के समय घबरा रहा है। यदि कोई क्रूर जन्तु न हो, तो यह अरण्य किसी को नहीं मारता। अरण्य में स्वादिष्ट फल खाने को मिलते हैं, यह कस्तूरी और पुष्पों को सुगन्धि देता है और बिना खेती के बहुत सा अन्न देता है। अनेकों प्रकार के पशुओं का उत्पत्तिस्थान यह अरण्य महाप्रशंसा के योग्य है। इस जंगल के अतिरिक्त अनेक प्रकार के यज्ञान्नों का वर्णन इस प्रकार है—

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियंगवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

(यजु० १८।१२)

अर्थात मेरे धान, यव, उड़द, तिल, मूँग, चना, काकुन, कोदो, साँवाँ, पसाही, गेहूँ और मसूर आदि सब अन्न यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। इन अन्नों के आगे हर प्रकार के जलों का वर्णन इस प्रकार है—

या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयञ्जाः। समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥

(ऋ० ७।४९।२)

अर्थात् जो पवित्र जल बरसते हैं, जो खोदने से होते हैं, जो खुद (नदियों द्वारा) उत्पन्न होते हैं और जो समुद्र से बनाये जाते हैं, वे दिव्य जल यहाँ मेरी रक्षा करें। इस प्रकार से जलों के वर्णन के आगे खनिज पदार्थों का वर्णन इस प्रकार है—

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

(यजु० १८।१३)

अर्थात् मेरे ये पत्थर, मिट्टी, गिरि, पर्वत, बालू, वनस्पती, सोना, ईस्पात, लोहा, सीसा, जस्ता आदि सब यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार से पृथिवी की बनावट, द्वीपों की उत्पत्ति और पृथिवी में हर प्रकार की उपज का ज्ञान देकर पोषण करनेवाली मातृभूमि की वेद इस प्रकार प्रशंसा करते हैं और उपदेश करते हैं कि वेद के माननेवालों को मातृभूमि का गुणगान और अभिमान किस प्रकार करना चाहिये। अथर्ववेद में आया है कि—

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः। यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥ यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्। गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥ विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी। वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥ गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ॥ ११ ॥ शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः सन्धृता धृता। तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥ यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा। पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥ २७ ॥ यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः। युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः। सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥ यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमा पञ्चकृष्टयः। भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥ निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे। वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥ ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४७ ॥ ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्
॥ ६३ ॥ यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्य
ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः । तासु नो धेह्यभि नः
पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ॥ १२ ॥
(अथर्व० १२।१)

अर्थात् जिस भूमि पर समुद्र, नदी और कुएँ हैं, जिस पर अन्नों की खेती होती है और जिस पर प्राणी बसते हैं, वह रक्षा करनेयोग्य भूमि हमको स्थान दे। जिस पर हमारे पूर्वजों ने बढ़कर कर्तव्य किये हैं और जिस पर देवताओं ने असुरों को हराया है वह गौवों, घोड़ों और अन्नों की खान हमारी पृथिवी हमको ऐश्वर्य और तेज दे। सबको सहारा देनेवाली धन और सुवर्ण को अपनी छाती पर रखनेवाली और सुख देनेवाली हमारी भूमि हमको बल दे। तेरे पहाड़, तेरे हिमवान् पर्वत और तेरे जंगल हमको सुखकारी हों। जो पृथिवी शिला, पत्थर और धूलि को धारण किये हुए है और जो सुवर्ण को अपनी छातीपर लिए हुए है, उस मातृभूमि को नमस्कार है। जिस पर वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं और जो बड़े बडे वीरों द्वारा धारण की गई है, उस पृथिवी का हम स्वागत करते हैं। जिस पर एक भाषा को अनेक प्रकार से बोलनेवाले बसते हैं, जिस पर नाचनेवाले नाचते हैं, जिस पर युद्ध करनेवाले कोलाहल करते हैं और जिस पर नाना प्रकार के बाजे बजते हैं, वह हमारी पृथिवी शत्रुहीन हो। जिस पर अनेक प्रकार के जौ आदि अन्न होते हैं और जिसके सम्बन्धी पाँचों तत्व हैं, उस वर्षा से प्रेम करनेवाली और मेघों के द्वारा पालन की गई भूमि को नमस्कार है। अपने गुप्त ख़ज़ाने में अनेक प्रकार की निधियों को सुरक्षित रखनेवाली मातृभूमि हमें मणि और सुवर्ण देवे और हमारा पोषण करे। जिसमें बहुत से मनुष्य चलते हैं, जिसमें रथ और छकड़े दौडते हैं, जिसमें भले और बुरे सभी निवास करते हैं, वह शत्रुरहित और तस्कररहित मंगलमय भूमि हमको विजय देकर सुखी करे। तुझ पर जो ग्राम हैं, वन हैं, सभाएँ हैं, जो संग्राम और समितियाँ हैं, उन सब स्थानों में हम तेरा यश वर्णन करें। हे मातृभूमि ! हमको सुबुद्धि के साथ बड़ी प्रतिष्ठावाला बनाये रख और श्री तथा विभूतियों से सम्पन्न रख। हे पृथिवीमाता ! तू अपना मध्य, अपना कर्म और अपने शरीर का बल हमको दे। हे मातृभूमि! तू हमारी माता है और हम तेरे पुत्र हैं। इस प्रकार से इन मन्त्रों में मातृभूमि के महत्त्व का, उसकी उपज का, उसकी पोषक शक्ति का और उसके प्रति भक्तिभाव का उपदेश किया गया है, जिससे भौगोलिक और भौगर्भिक ज्ञान की अच्छी तरह उन्नति हो सकती है। अब इसके आगे जीविका से सम्बन्ध रखनेवाले वैश्यधर्म का वर्णन करते हैं।

वैश्यधर्म में कृषि, जंगल, खनिज पदार्थ, पशु और अन्य अनेकों वाणिज्य से सम्बन्ध रखनेवाले और जीविका प्रदान करनेवाले साधन सम्मिलित हैं। जब तक ये समस्त साधन न उपस्थित किये जाएँ और जब तक समस्त समाज को उसके व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार कारीगरी, श्रम और अन्य बौद्धिक कामों में न लगाया जाय, तब तक समाज की जीविका का प्रश्न अच्छी तरह हल नहीं हो सकता। इसीलिए वेद उपदेश करते हैं कि—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा
बभूवुः । आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव
स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ (ऋ० १०।७१।७)
समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा
चिन्न समं दुहाते । यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि
ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥
(ऋ० १०।११७।९)

अर्थात् नेत्र आदि इंद्रियों के एक समान होने से सब मनुष्य समान ही दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु मनोवेगों और बुद्धिबलों में सब असमान ही हैं। कोई मुख पर्यन्त सरोवर के समान है, कोई बग़ल पर्यंत सरोवर के समान है और कोई केवल स्नान कर लेने मात्र भर के जलाशयों के ही बराबर है। दोनों हाथ एक समान होते हुए भी वे समान कर्म नहीं कर सकते, एक ही माता से उत्पन्न दो गौवें भी बराबर दूध नहीं देतीं, साथ ही जन्मे हुए दो यमज भाई भी एक सा पराक्रम नहीं करते और एक ही जाति के होते हुए भी सब एक समान दान नहीं करते। इन दोनों मन्त्रों में बतलाया गया है कि यद्यपि

समस्त मनुष्य शारीरिक बनावट में समान हैं, परन्तु सबके मन की शक्तियाँ और कर्तव्य अलग अलग हैं। परमेश्वर को इस प्रकार की असमानता में भी अर्थ, काम और मान की समता समस्त मनुष्यों में एक समान रखना है, इसलिए उसने धन को समान रूप से बाँटते हुए उपदेश किया है कि—

विभक्तारꣳ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम् ॥ (यजु० ३०।४)

अर्थात् नाना प्रकार के सुखदायक धनों का जिसने विभाग किया है, उस सबके उत्पादक और ज्ञानदाता परमात्मा की हम लोग पूजा करें। इस उपदेश का तात्पर्य यह है कि समान भोगों के लिए सारा समाज यथायोग्य काम को करके जीविका उत्पन्न करे, जिससे समाज में दरिद्रता न आने पावे। दरिद्रता के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
शिरिंबिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥
(ऋ० १०।१५५।१)

अर्थात् हे धनहीन, विरूप, कुरूप, सदा आक्रोश करनेवाली दरिद्रे! तू निर्जन पर्वत पर जा। यहाँ हम दृढ़ अन्तःकरणवाले मनुष्यों के पुरुषार्थ से तेरा नाश करेंगे।

इस दरिद्रता के नाश करनेवाले सर्वप्रधान व्यवसाय खेती के लिए वेद उपदेश करते हैं कि—

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे ॥ १ ॥
क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो
अस्मासु धुक्ष्व। मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृ-
तस्य नः पतयो मृळयन्तु ॥ २ ॥ मधुमतीरो-
षधीर्द्याव आपोमधुमन्नो भवत्वंतरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं
चरेम ॥ ३ ॥ शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु
लांगलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रा-
मुदिंगय ॥ ४ ॥ अर्वाची सुभगे भव सीते
वन्दामहे त्वा। यथा नः सुभगाससि यथा नः
सुफलाससि ॥ ६ ॥ शुनं नः फाला वि कृषन्तु
भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः। शुनं
पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु
धत्तम् ॥८॥ (ऋ० ४।५७)

अर्थात् खेत के स्वामी के हित के लिए हम गाय, घोड़े और पोषक पदार्थ देते हैं, उसी तरह वह किसान भी हमें सुख देवे। हे कृषक! धनपति! आप गोदुग्ध की भाँति मीठा पवित्र जल, दूध और मीठे आम के फल हम लोगों में परिपूर्ण कीजिये। उत्तम औषधियाँ, द्यौलोक, जल और अन्तरिक्ष अनुकूल रहे, जिससे क्षेत्रपति हमारे लिए मधुर हो सके और सज्जन पुरुष उसके अनुकूल रहें। बैल, मज़दूर, हल के अंग, बरेत (रस्सी) आदि सब सुखकारी हों और खेती के अन्य अवयव भी सुखकारी होकर चलाये जायँ। हे सौभाग्यवती फाल! नीचे की चलनेवाली हो। जैसे तू हमारे लिए सौभाग्य देनेवाली और सुफला है, वैसे ही हम तेरी याचना करते हैं। हमारी सुख देनेवाली फाल ज़मीन को जोते, हमारा जोतनेवाला बैलों से सुख प्राप्त करे, वर्षा उत्तम जलों से तृप्त कर दे और खेती हम लोगों में सुख धारण करे। इस प्रकार खेती का वर्णन करके अब बाग़बग़ीचों का वर्णन करते हैं। वेद में वृक्षों को पशुपति कहकर उनका आदर बतलाया गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः।
(यजु० १६।१७)

अर्थात् हे हरिकेश वृक्षों! तुम पशुपति हो इसलिए हम तुम्हारा आदर अर्थात् पालन करते हैं। वनस्पति के आदर का यही कारण है कि समस्त मनुष्य और पशु वृक्षों से ही जीते हैं। वनस्पति न हो, तो न मनुष्य ही रह सकें और न पशु ही। इसलिए खेती के साथ बाग़बग़ीचे लगाना और जंगलों की रक्षा करना भी अत्यन्त आवश्यक है। वेद में वनस्पतिरक्षा के आगे पशुरक्षा बतलाई गई है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं
शता। दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां
दश गवां सहस्रा॥ (ऋ० ८।४६।२२)

अर्थात् साठ हज़ार घोड़ी, दश हज़ार ऊँट, तीन हज़ार भेड़ी, एक हज़ार गधी और दश हज़ार गौवें हों। इस प्रकार पशुधन की वृद्धि की जावे और इन्हीं को व्यापार का

माध्यम बनाया जावे। वेद उपदेश करते हैं कि—

एता धियं कृणवामा सखायोऽप या मातां ऋणुत व्रजं गोः। यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्॥ (ऋ० ५।४५।६)

अर्थात् हे मित्रो! आओ इकट्ठे होकर हम लोग धन के देनेवाले व्यापार को मिलकर करें और गौवें के बड़े बड़े व्रज बनावें। इस प्रकार व्यापार की बात कहकर ऐश्वर्य की बड़ाई करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

भग एव भगवाँ २ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम। तं त्वा भग सर्व इज्जो- हवीति स नो भग पुरएता भवेह। (यजु० ३४।३८)

अर्थात् ऐश्वर्य ही भगवान् हो और उससे ही देवता हमको भाग्यवान् करें, इसलिए हे ऐश्वर्य ! तुझको समस्त जन पुकारते हैं और तेरा मुह देखते हैं कि तू ही हमारा अग्रगामी हो। इस ऐश्वर्य देनेवाले व्यापार और व्यापारियों को उत्तेजन और सहायता देने के लिए वेद में राजा को इस प्रकार उपदेश दिया गया है कि—

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु। नुदन्नरातिं परिपंथिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्। (अथर्व० ३।१५।१)

अर्थात् मैं (राजा) उत्तम व्यापारी को अपने पास बुलाता हूँ और उसे अपना मुखिया बनाता हूँ, इसलिए हे धनदाता! इन अनुदार, बटमार (डाकू) और सिंहादि क्रूर पशुओं को दूर करके हमको धन दे। इसके आगे व्यापारी को अपने व्यापार में मन लगाने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धन- मिच्छमानः। तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः॥

(अथर्व० ३।१५।६)

अर्थात् धन से अधिक धन मिलाने की इच्छा से धन के द्वारा जो व्यापार करता हूँ, उसी व्यापार में मेरी रुचि रहने दीजिये। यह रुचि तभी बढ़ सकती है, जब अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार काम किया जावे। वेद उपदेश करते हैं कि लोग अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपने अपने धन्धों को ही करें-

नाना नं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्। तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वंतमिच्छति॥

(ऋ० ९।११२।१)

अर्थात् अपनी और अन्य लोगों की बुद्धि और कर्म सचमुच ही भिन्न भिन्न हैं। बढ़ई चीड़ने फाड़ने की, वैद्य रोगनिवृत्त की और ब्राह्मण यज्ञ की इच्छा करता है।

जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानां। कर्मारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवंतमिच्छति।

(ऋ० ९।११२।२)

अर्थात् परिपक्व औषधि लेकर वैद्य, पक्षियों के पङ्ख लेकर चीज़ें बनानेवाले कारीगर, चमकते हुये रत्न लेकर सुनार और अन्य चीज़ों को लेकर अन्य धंधादार अपनी अपनी दुकानों में बेचने की इच्छा करते हैं। इसके आगे वेद उपदेश करते हैं कि पूर्वसञ्चित कर्मानुसार एक ही कुटुम्ब में पैदा होते हुए और रहते हुए भी मनुष्यों को अलग अलग कामों में रुचि होती है और वे लोग अलग अलग अपने अपने धन्धों को करते हैं। निम्नलिखित मन्त्र में यही उपदेश किया गया है। यथा—

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम॥

(ऋ० ९।११२।३)

अर्थात् मैं बढ़ई हूँ, मेरा बाप वैद्य है और मेरी माता चक्की पीसती है, इसलिए इसी प्रकार के विविधबुद्धि और कलाकुशलतावाले लोगों में हम बसें। इसका यही अभिप्राय है कि स्वाभाविक रुचि और मनोवृत्ति (tendency) के अनुसार काम करने से ही कला और व्यापार में उन्नति होती है और सब लोक पर्याप्त जीविका प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए वेद में विविध प्रकार के कारीगरों को मानपान देने की आज्ञा इस प्रकार दी गई है-

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः॥

(यजु० १६।२७)

अर्थात् तक्षा, रथकार, कुलाल, बढ़ई, निषाद और अन्य छोटे बड़े कारीगरों का सत्कार हो। कारीगरों की इस प्रतिष्ठा से प्रतीत होता है कि भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थीसे सम्बन्ध रखने वाले सभी पदार्थ तैयार कराने का वेदों में आदेश है। कपड़ा बनाने के लिए वेद उपदेश देते हैं कि--

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति। अश्विना यज्ञꣳसविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन्॥

(यजु० १९।८०)

अर्थात् सीसा के यन्त्र से मननशील विद्वान् ऊन को उसी तरह बुनते हैं, जिस तरह दोनों बिजलियों को बरसात में वरुणदेव ओतप्रोत करते हैं। इसके आगे कवच सीने का उपदेश इस प्रकार है--

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि। पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम्॥ (ऋ० १०।१०१।८)

अर्थात् हे राजन्! बड़े बड़े गौवों के व्रज कायम करो, मोटे मोटे चमड़े के वर्म सिलवाओ और लोहे के क़िले बनवाओ, जिससे तुम्हारा हवन का चमचा न टपके-राज्य न नष्ट हो जायँ। यहा सीने का प्रयोग पाया जाता है, इसके अतिरिक्त नाव और विमान बनाने का उपदेश इस प्रकार है--

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः॥ (ऋ० १।२५।७)

अर्थात् जो पक्षी बादल आदि 'वी' के स्थान को और अन्तरिक्ष में उनके चलने की गति को जानता है, वह आकाश के विमान और समुद्र की नाव को जानता है। क्योंकि पक्षी जिस नियम से उड़ते हैं, उसी नियम से विमान और नौका भी चलाई जाती है। इसी लिए वि=पक्षी और मान=सदृश अर्थात् पक्षी के सदृश ही को विमान कहते हैं। इसके अतिरिक्त वेदों में हल, रथ, गाड़ी, धनुष बाण, यज्ञपात्र और गृहनिर्माण सम्बन्धी अस्त्र, शस्त्र, वस्त्र और औषधि आदि बनाने के समस्त औज़ारों का विस्तृत उपदेश है, इसलिए वेदों में कलाकौशल का पर्याप्त ज्ञान पाया जाता है। परन्तु बिना गणित के व्यापार का काम नहीं चल सकता, इसलिए देखते हैं कि वेदों में अङ्कगणित और रेखागणित का कैसा वर्णन है।

यजुर्वेद अध्याय १५ के मन्त्र ४ और ५ में अनेक प्रकार के छन्दों का वर्णन करते हुए 'अक्षरपंक्तिश्छन्दः' और 'अङ्काङ्कं छन्दः' का स्पष्ट उल्लेख है। इसमें अक्षर और अङ्क अलग अलग कहे गये हैं। इससे पाया जाता है कि वेदों में अङ्कविद्या है। अथर्ववेद में दश तक अङ्कों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि —

य एतं देवमेकवृतं वेद। (अथर्व० १३।४।५४)
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।

(१३।४।१६-१८)

इन्हीं नौ अङ्कों की दहाई बनाने का वैज्ञानिक क्रम अथर्ववेद काण्ड ५ सूक्त १५ के कई मन्त्रों में विस्तारपूर्वक इस प्रकार बतलाया गया है कि —

एका च मे दश च मे०, द्वे च मे विंशतिश्च मे०, तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मे०, चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मे०, पञ्च च मे पञ्चाशच्च मे०, षट् च मे षष्टिश्च मे०, सप्त च मे सप्ततिश्च मे०, अष्ट च मेऽशीतिश्च मे०, नव च मे नवतिश्च मे०, दश च मे शतं च मे०, शतं च मे सहस्रं च मे०।

(अथर्व० ५।१५।१-११)

इस मंत्र के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि वेदों के आदेशानुसार एक से लेकर नौ तक अङ्कों से ही दस, बीस, तीस, चालीस, पचास और नब्बे आदि दहाइयाँ बनाई गई हैं। दहाइयों के लिए कोई नवीन संज्ञा मुक़र्रर नहीं की गई। यही नहीं बल्कि जिस संकेत से दो का बीस, तीन का तीस और नौ का नब्बे बनता है, उसी से दश का सौ और सौ का हज़ार भी बनता। क्योंकि उपर्युक्त मन्त्र में 'दश च मे शतं च मे शतं च मे सहस्रं च मे' स्पष्ट कहा गया है। इस दहाई का क्रम बतानेवाला नीचे दिया हुआ यजुर्वेद का मंत्र बड़ा ही स्पष्ट है—

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च, दश च शतं च, शतं च सहस्रं च, सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च, नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके। (यजु० १७।२)

इस मंत्र में दहाई का चिह्न बढ़ाते हुए परार्द्ध तक की संख्या बतलाई गई है। संसार में इससे बड़ी संख्या का पता अबतक नहीं लगा। इसमें स्पष्ट ही कहा गया है कि एक का दश, दश का सौ, सौ का हज़ार हो जाता है और इसी तरह दहाई बढ़ाते हुए परार्द्ध तक हो जाता है।

इन नौ तक अङ्कों, बीस, तीस, चालीस तथा नब्बे तक की दहाइयों और दश, सौ, हज़ार आदि परार्द्ध तक की संख्याओं के संकेतों का वर्णन करके अब आगे दहाइयों और अङ्कों के संयोगों से जो संख्यायें बनती हैं, उनका नमूना दिखलाते हैं। इनका वर्णन यजुर्वेद और ऋग्वेद में इस प्रकार आया है—

एका च मे तिस्रश्च मे, तिस्रश्च मे पञ्च च मे, पंच च मे सप्त च मे; सप्त च मे नव च मे, नव च मे एकादश च मे, एकादश च मे त्रयोदश च मे, त्रयोदश च मे पंचदश च मे, पंचदश च मे सप्तदश च मे, सप्तदश च मे नवदश च मे, नवदश च मे एकविंशतिश्च मे, एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे, त्रयोविंशतिश्च मे पंचविंशतिश्च मे, पंचविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे, सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च में, नवविंशतिश्च मे एकत्रिंशच्च मे, एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।२४)

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ मे च द्वादश च मे, द्वादश च मे षोडश च मे, षोडश च मे विंशतिश्च मे, विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे, चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे, अष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे, द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे, षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे, चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे, चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।२५)

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव॥ (ऋग्वेद १।८४।१३)

यहाँ हमने तीन मंत्र उद्धृत किए हैं, जिनमें क्रम से दो दो और चार चार बढ़ाकर एक, तीन, पाँच, ग्यारह, तेरह, सत्रह, इक्कीस, पच्चीस, इकतीस और तैंतीस आदि तथा चार, आठ, बारह, सोलह, बीस, चौबीस, बत्तीस, चालीस, चवालीस और अड़तालीस आदि संख्याओं का वर्णन किया गया है। इसी तरह ऋग्वेदवाले मन्त्र में निन्यानवे का भी वर्णन है। जिससे पाया जाता है कि वेदों ने इस जोड़ और बाक़ी का ज्ञान देते हुए स्पष्ट कर दिया है कि एक से लेकर निन्यावे तक की जितनी संख्याएँ हैं वे सब उन्हीं नौ अंकों और दहाई के संकेतों से ही बनी हैं, इसके लिए किसी अन्य संकेत की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार से हमने यहाँ तक के वर्णन से देखा कि वेदों में दो ही प्रकार के संकेत हैं, एक तो एक, द्वि, त्रि, चत्वारि, पञ्च, षट्, सप्त, अष्ट और नव आदि इकाई के लिए और दूसरे दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्द्ध आदि दश के क्रम से बनी हुई संख्याओं के लिए। बस, इनके अतिरिक्त और किसी प्रकार के संकेत नहीं हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में इन्हीं दो प्रकार के संकेतों से सारी अङ्कविद्या फैलाई गई है। क्योंकि हमने मन्त्रों को लिखकर दिखला दिया है कि एक से लेकर निन्यानवे तक की संख्याएँ उन्हीं नौ तक अङ्कों और दश के संकेतों के ही उलटने पलटने से बनी हैं। जिस प्रकार एकादश, त्रयोदश, सप्तविंश, चतुश्चत्वारिंश और नवतिनव आदि संख्याएँ बनी हैं उसी तरह विंश, त्रिंश, चत्वारिंश, षष्टि, सप्तति, अशीति और नवति आदि दहाइयाँ भी उन्हीं द्वि, त्रि, चत्वारि, षट्, सप्त और नव से ही बनी हैं। तात्पर्य यह कि समस्त अङ्कजाल उपर्युक्त नौ तक अङ्कों और केवल दहाई के चिह्नों से ही फैलाया गया है, अनेकों मनमाने नामों से नहीं।

एक से लेकर दश तक अंकों में दश शब्द बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। विंश, त्रिंश, चत्वारिंश, षष्ठि और नवति आदि शब्द जिस प्रकार अपने उच्चारण से द्वि, त्रि, चत्वारि, षष्ठ और नव से बने हुए ज्ञात हो जाते हैं, उसी तरह बना हुआ यह दश सूचित नहीं होता। षष्ठ का षष्ठि के साथ और चत्वारि का चत्वारिंश के साथ जो सम्बन्ध सूचित होता है, वही सम्बन्ध एक और दश के साथ सूचित नहीं होता—एक का दश से कोई वास्ता ही प्रतीत नहीं होता। इसी तरह शत, सहस्र, अयुत और नियुत आदि का भी एक, द्वि, त्रि, चत्वारि अथवा विंश, त्रिंश आदि से वास्ता प्रतीत नहीं होता। वे भी दश की तरह स्वतंत्र ही मालूम होते हैं। परन्तु दश का संकेत अंकों की भाँति अकेला अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता। वह नौ अंकों को ही किसी विशेष सूचना से दशगुना कर देता है। इसका एक अच्छा उदाहरण अथर्ववेद में आया है। वहाँ लिखा है कि—

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥३॥
षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥४॥
द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः ॥५॥
(अथर्व० १९।४७)

इन मन्त्रों में ९९, ८८, ७७, ६६, ५५, ४४, ३३, २२ और ११ का क्रम से वर्णन है। एक ओर से ग्यारह ग्यारह की हानि है और एक ओर से ग्यारह ग्यारह की वृद्धि है। हर तरह से यह ग्यारह का पहाड़ा है, पर इसमें दहाई की (११ × १०=११०) संख्या नहीं है, जो निहायत आवश्यक थी। परन्तु हम लिख आये हैं कि दश के लिए वदों में किसी ख़ास अंक की आवश्यकता नहीं बतलाई गई। दश के लिए तो शून्य का ही चिह्न स्थिर किया गया है। इसीलिए इस मन्त्र में दहाई के लिए कुछ भी नहीं कहा गया। यह मन्त्र चूँकि ग्यारह से आरम्भ करता है और ग्यारह के पहिले दश हो चुके हैं, अतः जो दश पहिले क़ायम हो चुके हैं, वही यहाँ ग्यारह पर रख देने से ग्यारह दहाई बन जायँगी। दहाई न लिखने का यही कारण है। क्योंकि दहाई अंक नहीं है। वह तो केवल संख्या का चिह्न है। इसी से उस चिह्न को शून्य माना है। क्योंकि शून्य का अर्थ अंक का अभाव ही है।

उपर्युक्त तीनों मन्त्रों में जहाँ ग्यारह का पहाड़ा समझाया गया है, वहाँ प्रकारान्तर से ९ + ९ = १८, ८ + ८=१६, ७ + ७=१४, ६ + ६=१२, ५ + ५=१०, ४ + ४ = ८, ३ + ३ = ६, २ + २= ४ और १ + १=२, का जोड़ भी बतलाया गया है। इस जोड़ में २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६ और १८ अंकों की प्राप्ति होती है और मज़े से दो का पहाड़ा बन जाता है। इसके अतिरिक्त ऊपरवाली संख्या को ९ × ९ = ८१, ८ × ८ = ६४, ७ × ७ = ४९, ६ × ६=३६, ५ × ५=२५, ४ × ४=१६, ३ × ३ = ९, २ × २ = ४, इस प्रकार गुणित करने से ८१, ६४, ४९, ३६, २५, १६, ९, ४ ये संख्याएँ प्राप्त होती हैं। ये एक दूसरी से १७, १५, १३, ११, ९, ७, ५, ३ के क्रम से छोटी हैं। इन छोटाई के अङ्कों में नीचे से ऊपर की ओर जाने से ठीक दो दो की संख्या अधिक है और ऊपर से नीचे की ओर आने से ठीक दो दो की संख्या कम है। अर्थात् जब नीचे से चलते हैं, तो तीन और दो पाँच, पाँच और दो सात, सात और दो नौ आदि के क्रम का जोड़ प्राप्त होता है और जब ऊपर से नीचे की ओर आते हैं, तो सत्रह में से दो निकल गये तो पन्द्रह, पन्द्रह में से दो निकल गये, तो तेरह आदि के क्रम की बाक़ी प्राप्त होती है। इसी क्रम में गुणा भी सम्मिलित है। जब ९×९=८१ का क्रम चलता है, तब गुणन की विधि होती है, परन्तु जब ८१ से नौ नौ के निकालने का क्रम चलता है, तो वही भाग हो जाता है। क्योंकि जोड़ का विशाल रूप गुणा है और बाक़ी का विशाल रूप भाग है, जो उपर्युक्त मन्त्रों से पाया जाता है। इसी तरह 'इन्द्रो दधीचो' मन्त्र में नौ के नौ से गुणनफल को नै से ही वध करना कहा गया है, जिसका यह मतलब है कि नौ के पहाड़े की प्रत्येक संख्या फिर नौ होती हुई पाई जाती है। अर्थात् ९, १८, २७, ३६, ४५, ५४, ६३, ७२, ८१ और ९० की कोई संख्या जोड़ी जाय, तो नौ ही हो जायगी। जैसे १८ के एक और आठ मिलकर नौ, २७ के दो और सात नौ, ३६ के तीन और छे मिलकर

नौ हो जाते हैं, उसी तरह ८१ पर्यन्त समझना चाहिये। ८१ का उलटा १८, ७२ का उलटा २७, ६३ का उलटा ३६, और ५४ का उलटा ४५है। नौ के पहाड़े की पाँचवीं संख्या तक ९, १८, २७, ३६, और ४५ के अङ्क होते हैं और यही आगे उलट कर ५४, ६३, ७२, ८१ और ९० हो जाते हैं। इस मन्त्र में जोड़ के साथ साथ नौ तक अङ्कों की पूर्ण महिमा दिखलाई गई है और बतला दिया गया है कि समस्त अङ्कगणित नौ तक के मौलिक अङ्कों में ही भरा हुआ है। इसी तरह इन्हीं के द्वारा संख्या, जोड़, बाक़ी, गुणा और भाग बतलाया गया है, जो अङ्कविद्या का मूल है।

जिस प्रकार यह अङ्कगणित का नमूना है, उसी तरह रेखागणित के मौलिक सिद्धांतों का नमूना भी वेद ने बतला दिया है। रेखागणित के तीन सिद्धान्त हैं-नापने के साधन, त्रिकोण का सिद्धांत और वर्तुलक्षेत्र का गणित। नापने के साधनों को बतलानेवाला यह ऋग्वेद का मन्त्र प्रसिद्ध है—

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे॥

(ऋ० १०।१३०।३)

अर्थात् उस हवनकुंड का पैमाना क्या था, नक़शा क्या था, परिधि क्या थी, घी क्या था और किन मन्त्रों से उसका हवन किया गया था, जिसमें देवों ने समस्त देवों का यजन किया था? इसमें नाप, नक़शा और परिधि का वर्णन है। हम यज्ञप्रकरण में लिख आये हैं कि हवनकुण्ड रेखागणित के ही हिसाब से बनते थे। इसीलिए यज्ञप्रकरण में पैमाना, नक़शा और परिधि की बात कही गई है। इन रेखागणित के साधनों के आगे त्रिकोणक्षेत्र का वर्णन इस प्रकार है—

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः। वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः॥ (अथर्व० ८।९।२)

अर्थात् पानी के लेवल (सतह) को सच्चा मानकर और आधार तथा लम्ब को ठीक करके त्रिभुज चक्र (क्षेत्र) बनावे, जिसके भीतर वत्सरूप से क्षेत्रफल बैठा है। इस समकोण त्रिभुज का सिद्धान्त ३, ४ और ५ है। यदि लम्ब ३ और आधार ४ होगा, तो कर्ण ५ ही होगा और इन्हीं में गुणा बाक़ी करने से क्षेत्रफल ज्ञात हो जायगा, जिस प्रकार यह त्रिकोणक्षेत्र का सिद्धान्त बतलाया गया है, उसी तरह त्रित का वर्णन करते हुए गोल क्षेत्र का भी सिद्धान्त बतला दिया गया है। ऋग्वेद में तीन प्रकार के त्रितों का वर्णन है। पहिले त्रित के विषय में लिखा है कि—

अभि स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यतो रघ्वीरिव प्रवणे सस्रुरूतयः। इन्द्रो यद्वज्री धृषमाणो अन्धसा भिनद्वलस्य परिधीँरिव त्रितः॥५॥

(ऋ० १।५२।५)

अर्थात् वृष्टि की इच्छा से युद्ध करता हुआ इन्द्र अपने वज्र से बादलों का ऐसा भेदन करता है, जैसे नपी हुई परिधि को त्रित छेद देता है। यहाँ व्यास को त्रित कहकर परिधि का छेदनेवाला कहा गया है। व्यास परिधि का प्रायः तिहाया होता है, इसीलिए उसे त्रित कहा है। परिधि और व्यास का सम्बन्ध $\frac{22}{7}$ है। यदि परिधि २२ होगी तो व्यास ७ होगा ही। परन्तु परिधि उपर्युक्त ठीक तिहाया सच्चे व्यास से कुछ अधिक होता है। इसीलिये लिखा है कि त्रित ने परिधि को छेद दिया-वार पार कर दिया अर्थात् ठीक न निकला। दूसरे त्रित के विषय में लिखा है कि—

त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये। तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु०॥

(ऋ० १।१०५।१७)

अर्थात् त्रित कुएँ में गिर गया और उसने देवताओं को पुकारा, किन्तु उसकी आवाज़ को केवल बृहस्पति (ज्ञानवान्) ने ही सुना और उसे कुएँ से निकाल कर ठीक कर दिया। तात्पर्य यह कि यह भी ठीक न था पर गणितज्ञ ने तीसरे त्रित को $\frac{22}{7}$ करके ठीक कर दिया। रेखागणित के इस सिद्धान्त को प्राचीन ग्रन्थों में एक कथा के रूप में लिखा गया है जिसका मतलब यही है कि त्रित अर्थात् गोल वस्तु का तिहाया भाग यदि व्यास से

कुछ अधिक या कम होता है, तो वह गोल चीज़ को छेद देता है या उसमें समा जाता है। परन्तु पूरा २२/७ वाला व्यास न तो छेदता और न समाता है। प्रत्युत घेरे में ठीक बैठ जाता है-फ़िट हो जाता है। यही तीनों त्रितों की कथा का सार है और यही वेदों में त्रिकोण तथा क्षेत्रों के सिद्धान्तों का वर्णन है। रेखागणित के ये दोनों सिद्धान्त-कोण और वर्तुल-ही विस्तार से ज्यामितिशास्त्र में वर्णित हैं, इसलिए कह सकते हैं कि वेद रेखागणित के मौलिक सिद्धान्तों का उपदेश करते हैं।

जिस प्रकार वेदों में अंक और रेखागणित का उपदेश है, उसी तरह ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तों का भी उपदेश किया गया है, क्योंकि गणित का विशाल रूप ज्योतिष में ही दिखलाई पड़ता है। व्यापारियों को गणित की ही भाँति ज्योतिष की भी आवश्यकता होती है। नाविक ज्ञान, पदार्थों की उत्पत्ति का ज्ञान और देशदशान्तर की ऋतुओं का ज्ञान जो व्यापारियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है, वह ज्योतिषशास्त्र से ही जाना जाता है। इसीलिए वेदों में ज्योतिषशास्त्र का पर्याप्त वर्णन है। हम पञ्चप्रकरण में ज्योतिष का विस्तृत वर्णन कर आये हैं, अतएव यहाँ उसे सारांशरूप से ही लिखेंगे। ज्योतिष में सबसे पहिले ग्रहों की स्थिरता का वर्णन आता है। इसीलिये वेद कहते हैं कि—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥१॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥२॥
(ऋ० १०।८५।१-२)

अर्थात् पृथिवी निराधार केवल सत्य अर्थात् अपने नियम पर स्थित है, द्यौलोक सूर्य से ऊपर स्थित है और सोमशक्ति से बारहों आदित्य अपने पथ में स्थित हैं। सोमशक्ति से ही सूर्य बलवान् है, उसी से पृथिवी बलवान् है और उसी सोम से समस्त नक्षत्र ठहरे हुए हैं। इसके आगे सूर्य द्वारा पृथिवी के आकर्षण का वर्णन है—

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः। न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात्सूर्येण॥ (ऋ० १।३३।८)

अर्थात् बाँधनेवाली किरणों से सूर्य के द्वारा मणि की तरह पृथिवी अपने मार्ग का उल्लंघन न करती हुई चक्राकार फिरती है। इस मन्त्र में सूर्य के द्वारा खिची हुई और घूमती हुई पृथिवी का वर्णन है। इसके आगे चन्द्रमा के नवीन नवीन होने का वर्णन इस प्रकार है—

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्। भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥ (ऋ०१०।८५।१९)

अर्थात् यह चन्द्रमा रोज़ नया नया होता हुआ दिखलाई पड़ता है, जो हमें दीर्घजीवन देता है। इस चन्द्रमा के विषय में यजुर्वेद १८।४० में लिखा है कि 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य' जिस पर निरुक्तकार कहते हैं कि 'अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रतिदीप्यति' अर्थात् सूर्य की एक किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रमा में उसका निज का प्रकाश नहीं है, किन्तु वह सूर्य से ही प्रकाशित है। इसके आगे नक्षत्रों का वर्णन इस प्रकार है—

यानि नक्षत्राणि दिव्यऽन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु। प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥१॥ अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे। योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥२॥ (अथर्व० १९।८।१-२)

अर्थात् जिन नक्षत्रों को आकाश के मध्यलोक में, जिनको जल के ऊपर, भूमि के ऊपर, बादलों के ऊपर सब दिशाओं में चन्द्रमा समर्थ करता हुआ चलता है, वे सब मेरे लिए सुखदायक हों। अट्ठाईस नक्षत्र मेरे लिए कल्याणकारी और सुखदायक हों तथा योगक्षेम अथवा क्षेमयोग को मैं पाऊँ। यहाँ तक वेदमन्त्रों के द्वारा पृथिवी, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों का वर्णन हुआ। इन्हीं सूर्य, पृथिवी और चन्द्रमा तथा नक्षत्रों से ही वर्ष और कालविभाग होता है। इस समस्त विभाग की गणना इस प्रकार की गई है—

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरा-

मास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पतां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताᳬं संवत्सरस्ते कल्पताम्० ॥ (यजुर्वे० २७।४५)

अर्थात् तू संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर और वत्सर है। तूने प्रातःकाल, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु और वर्ष को बनाया है। इसके आगे अधिक मास अर्थात् लौंद मास का वर्णन इस प्रकार है--

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ॥ (अथर्व० १३।३।८)

अर्थात् उसके क्रोध से डरो जिसने तीस अहोरात्र और तेरहवाँ महीना निर्माण किया है। प्रत्येक वर्ष में लगभग १२ दिन अथवा १२ रात्रि का अन्तर पड़ता है, तभी तीसरे वर्ष में अधिक मास होता है। इन १२ दिनों और १२ रात्रियों का वर्णन इस प्रकार है-

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः ।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम् ॥
(अथर्व० ४।११।११)

अर्थात् ये बारह रात्रियाँ संवत्सर की यज्ञ के योग्य कही गई हैं। उनमें जो सूर्य का यज्ञ करता है, वही जीवन पहुँचानेवाले वर्ष को जानता है। इन बारह दिनों की बारह रात्रियों का वर्णन इस प्रकार है--

द्वादश द्यून्यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः। सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः ॥ (ऋ० ४।३३।७)

अर्थात् सोती हुई ऋतुएँ आकाश में प्रत्यक्ष आतिथ्य ग्रहण करने को १२ दिन अच्छी तरह ठहरती हैं। इससे नदियों का जल नीचे आता है, औषधियाँ खेतों में होती हैं और सब प्रकार के सुख होते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि १२ दिन साल में घट बढकर चान्द्र और सौर वर्ष बराबर हो जाते हैं, जिससे ऋतुएँ ठीक समय में पानी बरसाती हैं और फल फूल होते हैं। इस घटाव बढ़ाव से चान्द्रवर्ष और सायनवर्ष बराबर हो जाता है। सायनवर्ष के १२ मास और प्रत्येक मास के ३० अंशों का वर्णन इस प्रकार है--

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥

(अथर्व० १०।८।४)

अर्थात् वर्षचक्र के बारह मास पुट्ठी हैं, पूरा वर्ष पहिया है, तीन ऋतुएँ नाभि हैं और तीन सौ साठ दिन काँटे हैं, जो टेढ़े टेढ़े चलते हैं। इसके आगे इस सायनवर्ष के दोनों अयनों का वर्णन इस प्रकार है--

द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ (ऋ० १०।८८।१५)

अर्थात् देवयान और पितृयान दो मार्ग हैं, इन्हीं के द्वारा मोक्ष और आवागमन होता है। इन्हीं को उत्तरायण और दक्षिणायन कहते हैं। अथर्ववेद में इनके लिए लिखा है कि 'षडाहुः ऊष्णान् षडाहुः शीतान्' अर्थात् छे मास गर्मी और छे मास शीत होता है। इसी तरह वेद में अनेक ऋतुओं का वर्णन है। यजुर्वेद २२।३१ और ७।३० में छे ऋतुओं के अतिरिक्त एक सातवीं ऋतु 'अंहसस्पतय' का भी नाम आता है और अथर्व० ८।९।१८ में 'प्रभुनि सप्त' तथा 'ऋतवो ह सप्त' का वर्णन भी हुआ है। इसी तरह अथर्व० ८।९।१५में 'ऋतवोनु पञ्च' कहकर पाँच ऋतुओं का भी वर्णन कहा गया है। छे ऋतुएँ तो प्रसिद्ध हैं ही। इस प्रकार से संसार की अनेक परिस्थितियों के कारण अनेक प्रकार की ऋतुएँ बतलाई गई हैं। इसके आगे राशिचक्र का वर्णन इस प्रकार है—

नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्त। वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः ॥ (ऋ० ६।७।२)

अर्थात् यज्ञों की नाभि, धनों का घर, बड़े से बड़े अध्वरों का मार्ग और यज्ञ के पताका वैश्वानर को देवता जानते हैं और उसकी स्तुति करते हैं। भूमि के इस मार्ग में भ्रमण करने के कारण जो रातदिन में अन्तर पड़ता है-घट बढ़ होती है, उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सदृशीरद्य सदृशीरिदु श्वो दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम। अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परि यन्ति सद्यः॥ (ऋ० १।१२३।८)

अर्थात् आज भी एक समान और कल भी एक समान ही रात मालूम होती है, पर दोनों में महान् भेद होता है और वरुणस्थान में शीघ्रता के कारण एक एक से तीस तीस योजन का फ़र्क़ पड़ जाता है। तात्पर्य यह कि तीस योजन चलने में जितना समय लगता है, उतने ही समय के हिसाब से प्रत्येक रात्रि एक दूसरी से छोटी या बड़ी होती है। इस गणना के अनुसार ही ग्रहण जाने जाते हैं। ऋग्वेद में ग्रहण जानने के लिये यन्त्र बनाने का आदेश दिया गया है।

स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्। गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः॥ (ऋ० ५।४०।६)

अर्थात् चन्द्रमा की छाया से जब सूर्यग्रहण होता है, तब उसको तुरीययन्त्र से आँख देखती है। इस प्रकार से वेद ज्योतिषज्ञान के ख़ास ख़ास आवश्यक सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं। इन सिद्धान्तों के द्वारा मनुष्य अपनी समुद्रीय यात्रा और अनेक प्रकार के अन्नों की फ़सलें तथा देशदेशान्तर के मौसमों को जान सकता है और व्यापार तथा जीविकासंबंधी आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार के समस्त आवश्यक ज्ञानविज्ञानों और कलाओं में ललित कला की भी गणना है। ललित कला में काव्य और संगीत ही प्रधान है। वेदों में काव्य और संगीत का बहुत वर्णन है। अथर्ववेद में काव्य के लिए लिखा है कि 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति' अर्थात् परमेश्वर का संसाररूपी काव्य पढ़ो जो न कभी पुराना होता है और न कभी नष्ट होता है। इसी तरह काव्य और संगीत के लिए ऋग्वेद में लिखा है कि—

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥
(ऋ० १।१०।१)

अर्थात् हे शतक्रत! तुम्हारे गीत गायत्री आदि गाती हैं, सूर्य पूजा करते हैं और ब्राह्मण तुम्हारे वंश का बखान करते हैं। इस मन्त्र में ऐतिहासिक काव्य के गाने का एक साथ ही वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त चारों वेद कविता में ही वर्णित हैं और सामवेद तो बिलकुल ही गाने के लिए ही रक्खा गया है। वेदों में वीणावादन का भी वर्णन आता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में काव्य और संगीत की शिक्षा प्रचुर परिमाण में है। काव्य और संगीत भी जीवन प्रदान करनेवाले हैं, इसलिए जीविका में ही उनका भी समावेश है। इस प्रकार से जीविकासम्बन्धी विस्तृत ज्ञान वेदों से प्राप्त होता है और ज्ञात होता है कि वेदमन्त्रों के अनुसार उद्योग करनेवाला समाज धनधान्य से पूर्ण रह सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे सुखी, सदाचारी और सीधेसादे समाज की रक्षा का प्रबन्ध वेदों ने क्या बतलाया है।

समाज और साम्राज्य की रक्षा।

उपर्युक्त आदर्श वैदिक आर्यसमाज का पवित्र चित्र देखकर उसकी रक्षा का प्रश्न सामने आ जाता है और उस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि जहाँ जहाँ भय की सम्भावना हो, वहीं वहीं रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिये। वेदों में रक्षासम्बन्धी अनेकों प्रकार के उपदेश हैं, जो स्थूल रूप से चार भागों में बँटे जा सकते हैं। बीमारी से रक्षा, प्राकृतिक विप्लवों से रक्षा, समाज के भीतरी दुष्टों से रक्षा और बाहर के शत्रुओं से रक्षा। इन चारों प्रकार की रक्षाओं को आयुर्वेद, यज्ञ, प्रार्थना और राज्यप्रबन्ध के अन्तर्गत रक्खा गया है। इनमें सबसे पहिला आयुर्वेद ज्ञान है। आयुर्वेद दो प्रकार का है—व्यक्ति का और समाज का। व्यक्ति का आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र है और समाज का यज्ञ है। व्यक्तिगत व्याधियाँ वैद्यकशास्त्र से और ऋतुसम्बन्धी या महामारी आदि सामाजिक व्याधियाँ यज्ञों के द्वारा नष्ट होती हैं। वेदों में दोनों प्रकार का ज्ञान दिया गया है। यहाँ हम पहिले वैद्यक ज्ञान का नमूना दिखलाते हैं। वेद में सबसे पहिले जीवन का उपदेश इस प्रकार है—

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥ (ऋ०१०।१८।४)

अर्थात् मैं मनुष्यों के आयु की मर्यादा १०० वर्ष मुक़र्रर करता हूँ। इससे पहिले इस जीवनधन को न गँवाओ, सौ वर्ष जिओ और अपमृत्यु को पर्वत से दबा दो। इस मन्त्र में अपमृत्यु से बचने का उपदेश है। अपमृत्यु बीमारियों से ही होती है और बीमारियाँ दोषों के ही कोप से होती हैं। इसलिए वेद में दोषों का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता वर्धयन्ती ।
वाजेवाजे हव्या भूत्। (ऋग्वेद ६।६१।१२)

अर्थात् तीन स्थानों (कफ, वात और पित्त) में ठहरी हुई सात धातुएँ पाँच तत्त्वों से उत्पन्न होकर बढ़ती हैं और अन्न से पुष्ट होती हैं। इसका तात्पर्य यही है कि पाँचों तत्त्वों से बने हुए खानेपीने के पदार्थों से ही सातों धातुएँ उत्पन्न होती हैं जो वात, पित्त और कफ में स्थित हैं। इसके आगे हृदय और नाडी आदि के विषय में लिखा है कि--

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥
(ऋ० १०।१३५।७)

अर्थात् यह हृदय देवमान-नियमित गति का बतानेवाला-यम का घर है और यही नाडी को धौंकता है। इस मन्त्र में हृदय की चाल का नियमित रूप बतलाकर नाडीज्ञान का उपदेश किया गया है। इसके आगे पथ्याहार का वर्णन इस प्रकार है---

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्। आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन अर्पितानि॥ (अथर्व० १८।१।१७)

अर्थात् बुद्धिमानों ने अनेक प्रकार से निरूपण करने योग्य, अद्भुत गुणवाले, सबके जानने योग्य और आनन्द देनेवाले तीन पदार्थों को बहुत तरह से समझ लिया है। वे तीनों पदार्थ जल, वायु और औषधियाँ हैं, जो संसार को दी गई हैं और हर जगह में मौजूद हैं। यहाँ स्वास्थ्यरक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले और हर समय उपयुक्त होनेवाले वायु, जल और अन्नों का वर्णन किया गया है। क्योंकि मनुष्य का स्वास्थ्य इन्हीं के अधीन है।

इसके आगे आहार का नियम बतलाते हुए वेद उपदेश करते हैं कि---

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे ।
स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः ॥१॥
यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः ।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥२॥
यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः ।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥३॥
(अथर्व० ६।१३५ १-३)

अर्थात् जो कुछ मैं खाता हूँ उसे बल बना देता हूँ, तभी मैं शत्रु के कंधों का तोड़नेवाला वज्र उसी तरह ग्रहण कर सकता हूँ, जैसे वृत्र के लिए इन्द्र अपने वज्र को ग्रहण करता है। इसी तरह जो कुछ पीता हूँ वह भी यथाविधि ही पीता हूँ, जैसे समुद्र यथाविधि पीता है। इसलिए जो कुछ हम पीवें, वह उस पदार्थ के सारभाग को चूसकर पीवें। इसी तरह जो कुछ चबाता हूँ, वह यथाविधि चबाता हूँ जैसे समुद्र चबाकर पचा जाता है, इसलिए पदार्थों के प्राणस्वरूप सार को खूब दातों से पीसकर चबाना चाहिये। इन मन्त्रों में खूब चबाकर उतना ही खाने की आज्ञा है, जितना पच जावे और बल उत्पन्न करनेवाला हो। समुद्र के उदाहरण से बतला दिया गया है कि कभी अजीर्ण न होना चाहिये, क्योंकि समुद्र को जल से कभी अजीर्ण नहीं होता। इसके आगे संसार की दोनों ताक़तें-सर्दी और गर्मी-इस प्रकार बतलाई हैं।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥
(ऋ०१०।९।६)

अर्थात् मुझसे सोम ने कहा कि पानी में सब औषधियाँ हैं और अग्नि सबको आरोग्य देता है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि अग्नि और जल ही अर्थात् सर्दी और गर्मी ही दो दवाएँ हैं। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण १।६।२।८ में लिखा है कि 'अग्नि षोमावाभि सम्बभूव सर्वा विद्याः सर्वयशः सर्वमन्नाद्यं सर्वाश्च श्रीम्' अर्थात् संसार में अग्नि और

सोम (जल) दो ही पदार्थ हैं, इन्हीं से सब वैद्यविद्या, यश, अन्न और शोभा प्राप्त होती है। इसीलिए वेदमें सर्दी की दवा गर्मी और गर्मी की दवा सर्दी बतलाई गई है। वेद में लिखा है कि—

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
किं स्विद्धिमस्य भेषजं किस्वावपनं महत् ॥९॥
सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥१०॥
(यजु० २३।९-१०)

अर्थात् कौन अकेला चलता है? कौन बार बार पैदा होता है? सर्दी की दवा क्या है और बीज बोने का सबसे बड़ा स्थान क्या है? सूर्य अकेला चलता है, चन्द्रमा बार बार पैदा होता है, अग्नि (गर्मी) सर्दी की दवा है और पृथिवी ही बीज बोने का सबसे बड़ा स्थान है।

इस मंत्र में सर्दीकी दवा गर्मी बतलाई गई है, परन्तु अर्थापत्ति से यह बतला दिया गया है कि गर्मी की दवा सर्दी है। इसके आगे समस्त शरीर के भीतरी बाहरी अंगों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ। केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लखौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥ १ ॥

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य। जंघे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत ॥ २ ॥

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कवन्धम्। श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥ ३ ॥

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य। कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान्कति पृष्टीरचिन्वन् ॥४॥

को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति। अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिन्धे अध्यादधौ॥ ५॥

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षिणी मुखम्। येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ ६ ॥

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरुचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्। स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्। चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥
(अथर्व० १०।२।१-८)

अर्थात् किसने पैर की दोनों एड़ियों में मांस भरकर पुष्ट किया? किसने मांस जोड़ा? किसने दोनों टखने जोड़े, किसने उँगलियों के जोड़ों को जोड़ा, किसने नख और किसने पाँव के दोनों तलवों को जोड़ा है? किसने पैर के नीचे के दोनों टखने, ऊपर के दोनों घुटने, दोनों टाँगें और दोनों घुटनों के भीतर दोनों जोड़ों को जोड़ा है? किसने दोनों कूलों और जाँघों को चार प्रकार से सटी हुई नोकों के ऊपर इस ढीले धड़ को जोड़ा है? किसने मनुष्य की छाती और गले को मिलाया, किसने दोनों स्तनों को बनाया, और किसने दोनों गालों, कन्धों और पसलियों को एकत्र किया? किसने इन वीरकर्म करनेवाले भुजाओं को पुष्ट किया है और कन्धों के साथ मिलाया है? किसने शिर में दो आँखें, दो कान, दो नाशाछिद्र और एक मुख को बनाकर सात गोलकों में जोड़ा, जिसके सहारे द्विपद और चतुष्पाद प्राणी अपना अपना कार्यनिर्वाह करते हैं? किसने दोनों जबड़ों के बीच में बहुतसी बोलनेवाली जिह्वा को जोड़ा है? किसने इसके मस्तिष्क, ललाट, शिर के पिछले भाग और कपाल को दोनों जबड़ों के साथ मिलाया है? यहाँ तक इन मन्त्रों में मनुष्य के पैर से लेकर शिरपर्यंत समस्त आवश्यक अङ्गों का वर्णन है। इसी प्रकार का शारीरिक वर्णन वेद के और भी कई स्थलों में आया है, जिससे प्रतीत होता है कि वेद में शरीर के अवयवों का वर्णन है। इसीलिए सुश्रुत शारीरस्थान ५।१८ में लिखा है कि 'त्रीणि सषष्ठान्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते' अर्थात् वैदिक लोग शरीर की हड्डियों की संख्या तीन सौ साठ बतलाते हैं। इससे प्रकट होता है कि वेद में शरीर का पूरा वर्णन है। क्योंकि शरीर के अन्तर्भाग ही में तो वैदिक लोग जीव और ब्रह्म को भी ढूँढ निकालते थे। इसी शरीरप्रकरण के आगे लिखा है कि—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ २७ ॥

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ्नु सृष्टा:३ सर्वा दिशः
पुरुष आ बभूवां३। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः
पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै
ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां
हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो
विदुः ॥ ३२ ॥ (अथर्व० १०।२।२६-३२)

अर्थात् परमेश्वर ने मस्तिष्क को हृदय के साथ सी दिया है, जो अग्निविशेष के द्वारा शरीर को प्रेरित करता है। यह शिर देवकोश है। इसी में सब ज्ञानविज्ञान निवास करता है इसका प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं। परमात्मा ही इन उलटे, आड़े और साधे शरीरों को अपनी व्यापकता से बनाता है। इसलिए जो इस पुररूपी शरीर को जानता है, वही पुरुष कहलाता है। जो उस अमृत ब्रह्म से इस शरीरपुर को जानता है, वही वेद को, परमात्मा को, स्वास्थ्य को, बल को और सन्तति को प्राप्त होता है। उस मनुष्य के, बुढ़ापे के पूर्व, न नेत्र खराब होते हैं और न बल ही कम होता है, जो इस ब्रह्मपुर--शरीर--को अच्छी तरह समझता है। इस आठ चक्र और नव द्वारवाले अयोध्यानगर में प्रकाशमान कोश है, जो स्वर्गीय ज्योति से छाया हुआ है। उस तिहरे और तीन ओर से रक्षित कोश में जो आत्मा की भाँति महान् यक्ष बैठा है, उसी को ब्रह्म के ढूँढनेवाले प्राप्त करते हैं। इन मन्त्रों में शिर की विज्ञान की कोश बतलाकर और हृदय के साथ सिया हुआ कहकर बतला दिया कि शरीर के हृदयाकाश में ही वह, ज्योतिःस्वरूप परमात्मा विराजमान है, जिसको ब्रह्मज्ञानी ही ढूँढ पाते हैं। इस प्रकार शरीर मस्तिष्क और हृदय के स्थूल और सूक्ष्म अवयवों का वर्णन करके अब वैद्य का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि--

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः॥
(ऋ० १०।९७।६)

अर्थात् राजसभा में जिस प्रकार सभासद एकत्रित होते हैं, उसी तरह जिसके पास औषधियाँ एकत्रित रहती हैं, उसको विद्वान् लोग रोगों को दूर करनेवाला और अपमृत्यु का नाश करनेवाला—वैद्य-कहते हैं। वैद्य के पास इकट्ठी रहनेवाली सैकड़ों औषधियों का वर्णन वेदों में है। यहाँ नमूने के लिए दोतीन का वर्णन करते हैं। वेद में अपामार्ग-लटजीरा-के लिए लिखा है कि--

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥
(अथर्व० ४।१७।६)

अर्थात् क्षुधा मारनेवाले, तृषा मारनेवाले, निर्धनता और निर्वंशता दूर करनेवाले हे अपामार्ग (लटजीरा)! तुझे हम तलाश करते हैं। इस मन्त्र के द्वारा लटजीरा में उपर्युक्त गुण बतलाये गये हैं। इसके आगे पिप्पली के गुण इस प्रकार लिखे हैं—

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३ताति विद्धभेषजी। ता
देवाः समकल्पयन्निय जीवितवा अलम्॥
(अथर्व० ६।१०९।१)

अर्थात् विद्वानों ने पिप्पली को उन्मत्त की औषधि, बड़े घाववाले की दवा और जीवन देनेवाली माना है। पीपल के गुण इसी प्रकार वैद्यक में भी लिखे हैं। इसके आगे बालों को बढ़ाने, श्याम रखने और दृढ करने की औषधि का वर्णन इस प्रकार है—

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे। केशा
नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥
(अथर्व० ६।१३७।३)

अर्थात् हे औषधि! तू बालों की जड़ों को दृढ कर, नोक

को बढ़ा और मध्यभाग को लम्बा कर जिससे केश काले होकर लम्बी घास के समान बढ़ें। औषधियों के अतिरिक्त वायुसेवन के द्वारा रोगनिवृत्ति करने का उपदेश इस प्रकार है—

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः। घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥ ४ ॥ (ऋ० १०।१६८।४)

अर्थात् देवों का आत्मा और भुवन का गर्भ यह वायुदेव अपनी इच्छा से चलता है। इसका केवल शब्द ही सुनाई पड़ता है, रूप नहीं दिखता। उस वायु के लिए हम हविष देते हैं।

यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे ॥ (ऋ० १०।१८६।३)

अर्थात् हे वायु ! आपके घर में जो अमृत का ख़ज़ाना है, वह हमें जीने के लिए दीजिये।

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभुनो हृदे। प्र ण आयूँषि तारिषत् ॥ (ऋ० १०।१८६।१)

अर्थात् वायु आरोग्यता के लिए औषधि है। उससे हृदय की आरोग्यता बढ़ती है, बल प्राप्त होता है और आयु बढ़ती है।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि ॥ (ऋ० १०।१८६।२)

अर्थात् हे वात ! तू हमारा पिता है, हमारा भाई है और हमारा सखा है, अतः तू हमको जीवन के लिए तैयार कर। इसके आगे जल के द्वारा आरोग्य प्राप्त करने का उपदेश इस प्रकार है--

अप्स्वऽन्तरमृतमप्सु भेषजम् अपामुत प्रशस्तिभिः। अश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ॥ (अथर्व० १।४।४)

अर्थात् जल में अमृत है और जल में औषधि है, इसीलिए जल के इन श्रेष्ठ गुणों से गौ, बैल और घोड़े बलवान् होते हैं। जिस तरह जल से आरोग्यता होती है, उसी तरह सूर्यताप से भी आरोग्यता होती है। एक मंत्र में वेद उपदेश करते हैं कि—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्। हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥ (ऋ० १।५०।११)

अर्थात् आज और नित्य प्रातःकाल आनेवाले हे सूर्य ! मेरे हृदय के रोगों का और रात के समय चोरी करनेवालों का नाश करो। इसका तात्पर्य यही है कि सूर्य देवता उदय होकर हृदयरोग और चोर दोनों का नाश करते हैं। इसके आगे शल्यकर्म (सर्जरी) का उपदेश इस प्रकार है—

शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः। अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥ (अथर्व० ४।६।५)

अर्थात् शल्यकर्म से, लेप से, पर से, सींग से (सींगी से चूसकर), चाकू से और बाण से विष निकालता हूँ। इस मंत्र में चीर फाड़, पोल्टिस, सींगी और बाण की नोंक से मवाद निकालने का उपदेश है। इसके आगे रुके हुए पेशाब को खोलने के लिए इस तरह कहा गया है कि—

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्। तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ (अथर्व० १।३।१)

अर्थात् हम जानते हैं कि वृष्टि की अधिकता से सरकंडा होता है। उस सरकंडे से तेरे शरीर को आरोग्य करता हूँ। अब तेरे मूत्र का प्रवाह पृथिवी पर हो और बलबलाकर बाहर निकले। इसके आगे टूटी हुई हड्डियों के जोड़ने का उपदेश इस प्रकार है—

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ॥ ८६ ॥ संधाता संधिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥ ८७ ॥ (अथर्व० १४।२)

अर्थात् जो वैद्य टकराने से टूटी हुई ग्रीवा आदि जोड़ों की हड्डियों को यथास्थान चिपका कर जोड़ता है, वही टेढ़े और अकड़े हुए अङ्ग को भी सीधा कर देता है। इस मंत्र में बतलाया गया कि टकराने आदि से टूटी हुई हड्डियों को ठीक ठीक बाँधकर जोड़नेवाला ही टेढ़े अंगों को भी ठीक कर सकता है। इसके आगे बिना दवादारू के केवल रोगी के मन को उत्तेजना, उत्साह और प्रेरणा (Suggestion) देकर रोगों को निर्मूल करने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

अङ्गादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि। यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ (ऋ० १०।१६३।६)

अर्थात् मैं अपने आत्मबल से अङ्ग-अङ्ग, रोम-रोम, जोड़-जोड़ से यक्ष्मारोग को निकाल बाहर करता हूँ । इस प्रेरणा को आकर्षणशक्ति के साथ किस प्रकार करना चाहिये, उस क्रिया का उपदेश इस प्रकार किया गया है--

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥ (अथर्व० ४।१३।६-७)

अर्थात् मेरा यह हाथ प्रभावशाली है, मेरा यह हाथ अधिक गुणकारी है, मेरा यह हाथ सब रोगों की दवा है और मेरे इस हाथ के स्पर्श से आरोग्यता होती है। मैं प्रेरणात्मक वाणी और दशशाखा (अंगुली) वाले तथा आरोग्य देनेवाले दोनों हाथों से तुझे स्पर्श करता हूँ । इन मन्त्रों में पास के द्वारा प्रेरणात्मक वाणी से रोगी को आरोग्य करने का उपदेश है। इसके आगे वाजीकरण औषधियों का वर्णन इस प्रकार है--

यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः ।
एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥
(अथर्व० ६।१३९।५)

अर्थात् जैसे नेवला साँप को चीथकर फिर ज़ख्मों को भर देता है, वैसे ही मैं गुप्तेन्द्रिय की क्षीणता को ठीक करता हूँ ।

येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम् ।
तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥
(अथर्व० ६।१०१।२)

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।
यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत् ।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥
(अथर्व० ६।७२।२-३)

अर्थात् जिससे कृश रहता है और जल्दी पात हो जाता है, उस कारण को दूर करके तेरे उपस्थ को धनुष की तरह फैलाता हूँ । जिस तरह से वह स्थूल हो जाय और जितना आवश्यक है, उतना बढ जाय, वह उपाय करता हूँ। जितना समर्थ पुरुषों का होना चाहिये, उतना (गार्दभ) बड़ा (हास्तिन) स्थूल और (वाजिन) तेज हो जाय, वह उपाय करता हूँ ।

यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥
(अथर्व० ४।४।१)

अर्थात् जिस औषधि को मृत वरुण के लिए गन्धर्व ने खोदा था, उसी वाजीकरण औषधि को मैं खोदता हूँ । इस प्रकार से इन वाजीकरण उपचारों के द्वारा नपुंसकत्वादि दोषों को दूरकर पुरुषों को अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के योग्य बनाना वेद का तात्पर्य है । इसीलिए यह चिकित्सा सब चिकित्साओं से अधिक मूल्यवान् है । क्योंकि इसी के द्वारा भविष्य प्रजानिर्माण का कार्य सम्पादन होता है। इस प्रकार से हमने यहाँ तक वेदों से आयुर्वेदसम्बन्धी आवश्यक उपदेशों को इकट्ठा कर दिया है । इतने आयुर्वेदिक ज्ञान से मनुष्य आरोग्यता के नियम समझ सकता है और रोगों से आरोग्यता प्राप्त कर सकता है। यह व्यक्तिचिकित्सा का उपदेश हुआ । अब समाजचिकित्सा का वर्णन करते हैं।

व्यक्तिव्याधियों की आयुर्वेदिक चिकित्सा के बाद वेद में सामाजिक व्याधियों की निवृत्ति का भी उपदेश किया गया है। प्रायः देखा जाता है कि बहुत सी चेपी व्याधियाँ उठ खड़ी होती हैं, जो आयुर्वेदिक चिकित्सा से दूर नहीं होतीं और सर्वत्र फैलकर असंख्य मनुष्यों का संहार कर देती हैं । उनके दूर करने का उपाय केवल यज्ञ ही हैं । हम यज्ञों का विस्तृत वर्णन पहले कर आये हैं और बतला आये हैं कि यज्ञों का सिद्धांत शिल्प और विज्ञान की नींव पर स्थिर है। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड में यज्ञों के लिए नाना प्रकार के शिल्पों और विज्ञानों की आवश्यकता बतलाई गई है ×। शतपथ ब्राह्मण में बतलाया गया है

× ततोऽब्रवीद् द्विजान्वृद्धान्यज्ञकर्मसु निष्ठितान् । स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान् परमधार्मिकान् ॥
कर्मान्तिकान् शिल्पकारान्वर्धकीन् खनकानपि । गणकान् शिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान् ॥
तथा शुचीन् शास्त्रविदः पुरुषान्सुबहुश्रुतान् । यज्ञकर्मसमीहन्तां भवन्तो राजशासनात् ॥
इष्टका बहुसाहस्री शीघ्रमानीयतामिति । उपकार्याः क्रियन्तां च राज्ञो बहुगुणान्विताः ॥ (वाल्मीकि० बालकाण्ड)

कि ऋतु-सम्बन्धिनी सार्वजनीन बीमारियाँ यज्ञों से ही दूर होती हैं × । वेद स्वयं उपदेश करते हैं कि अज्ञात और सर्वत्र फैली हुई चेपी और मारक बीमारियाँ यज्ञों से दूर हो जाती हैं । अथर्ववेद में आया है कि—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात-
यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् । ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं
तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥
(अथर्व० ३।११।१)

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहा-
र्षमेनम् । इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य
दुरितस्य पारम् ॥ (अथर्व० ३।११।३)

अर्थात् हे मनुष्य ! तुझे मैं हवन के द्वारा अज्ञात महामारी रोग से और क्षयरोग से सुखमय जीवन के लिए छुड़ाता हूँ। इस रोगी को असाध्य रोग ने पकड़ रक्खा है, इसलिए हे इन्द्र और अग्नि ! आप इसे आरोग्य करें। मैंने इस हवनीय हविष को सैंकड़ों गुणदायक और आयु बढ़ाने वाली औषधियों को डालकर तैयार किया है, इसलिए हे यज्ञपति इन्द्र ! आप इस संसार में फैले हुए रोग को हटाकर इस बीमार को सौ वर्ष की आयु प्रदान करें।

इन मन्त्रों में अनेकों औषधियों का हवन करके अज्ञात और सर्वत्र फैले हुए चेपी और मारक रोगों को हटाने का उपदेश है। ऐसे यज्ञों का माहात्म्य वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय। आयुः
प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥
(अथर्व० १९।६३।१)

अर्थात् हे ब्रह्मणस्पते ! उठो और यज्ञों से देवताओं को जगा दो, जिससे आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति और राजा की उन्नति हो । यज्ञ का इस प्रकार माहात्म्य बताकर यज्ञ में सबसे प्रधान वस्तु अग्नि का वर्णन करते हैं । यजुर्वेद में लिखा है कि—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि
जातवेदाः । तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान
एनं जरते स्वाधीः ॥ (यजु० १२।१८)

अर्थात् पहिला अग्नि—सूर्य—द्यौ से पैदा हुआ, दूसरा जातवेद हमसे (पृथिवीपर) पैदा हुआ और तीसरा (विद्युत्) अन्तरिक्ष के जलों से पैदा हुआ। इस मन्त्र में अग्नि के तीन रूप तीन स्थानों में बतलाये गये हैं। इसके आगे अग्नि को देवताओं तक हुत द्रव्यों के पहुँचानेवाला दूत कहा गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे ।
देवाँ२ आ सादयादिह॥ (यजु० २२।१७)

अर्थात् पूर्व ही अग्निदूत को धारण किया गया है और यह हव्य पदार्थों का ढोनेवाला कहा गया है। यह देवता तक पदार्थों को पहुँचाता है, अतः यज्ञ के लिए इस अग्नि की स्थापना इस प्रकार बतलाई गई है कि—

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्ना-
द्यायादधे ॥ (यजु० ३।५)

अर्थात् जिस प्रकार आकाश में स्थित महान् सूर्य इस विस्तृत पृथिवी के ऊपर देवयज्ञ कर रहा है, उसी प्रकार भोज्य पदार्थों के लिए मैं भी इस अग्नि की स्थापना करता हूँ। इसके आगे अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए लिखा है कि—

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृ-
जेथामयं च । अस्मिन्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्
विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ (यजु० १५।५४)

अर्थात् हे अग्नि ! तू प्रदीप्त हो और हमको सतेज कर तथा तू और हम मिलकर इष्ट सुख की युक्ति और प्राप्ति करें, जिससे यहाँ हम और अन्य यजमान तथा दूसरे विद्वान् भी यज्ञ किया करें। इसके आगे समिधा में घी डालने की विधि बतलाते हैं।

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ (यजु० १२।३०)

अर्थात् समिधा से अग्नि को प्रदीप्त करो, घृतादि से उसे प्रज्वलित करो और उस प्रदीप्त हुए अग्नि में हवन करो । इसके आगे यह बतलाते हैं कि हवन किये गये पदार्थ किस प्रकार वायु की मलिनता को दूर करते हैं।

× भैषज्ययज्ञा वा एते । ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्माद्दतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। (शतपथ ब्रा०)

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य (यजु० ३।३)

हे अंगारो! बढ़ी हुई अग्निओ! तुम सब पदार्थों को (विष्ठ्य) छेदन-भेदन करके (बृहत्-शोचः) महान् शुद्धि करनेवाले हो। इसीलिए समिधाओं और घृत से हम तुम्हें बढ़ाते हैं। इन मन्त्रों में अग्नि को जलाने, प्रदीप्त करने और उसके द्वारा पदार्थों के छेदन-भेदन की क्रिया को बतलाकर अब यह बतलाते हैं कि यह अग्नि वायु को हुत पदार्थ देता है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथा वशं चरति
देव एषः। घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै
वाताय हविषा विधेम ॥ (ऋ० १०।१६८।३)

अर्थात् देवताओं का आत्मा और भुवन का गर्भ यह वायु अपनी इच्छा से चलता है। यद्यपि इसका शब्द ही सुनाई पड़ता है, रूप देखने को नहीं मिलता, तथापि हम उसके लिए हविष देते हैं।

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित।
मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः॥
(यजु० ८।२१)

अर्थात् हे हमारे मन के पति! इस यज्ञको सुहुत बनाकर हुत द्रव्यों को वायु पर स्थापित करो और मार्ग की खोज लगानेवाले हुत द्रव्यों से कहो कि वे अपने मार्ग से जायँ। इस मन्त्र में यज्ञ के हुत पदार्थों को वायु में जाने देने का उपदेश किया गया है। इसके आगे यज्ञ में किन किन पदार्थों की आहुतियाँ देनी चाहिए, वह बतलाते हैं—

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् इन्द्र।
प्रातर्जुषस्व नः। (ऋग्वेद ३।५२।१)

अर्थात् हमारे धानवाले, दधिदूधवाले, मालपुएवाले और स्तोत्रवाले ढेरों को हे इन्द्र! प्रातःकाल के समय सेवन कीजिए।

पूषण्वते ते चकृमा करम्भं हरिवते हर्यश्वाय
धानाः। अपूपमद्धि सगणो मरुद्भिः सोमं पिब
वृत्रहा शूर विद्वान्॥ (ऋ० ३।५२।७)

अर्थात् हे वृत्र के मारनेवाले विद्वान् शूर! तेरी पोषण करनेवाली किरणों के लिए हमने जो दिया है, उस दूध, दधि, धान और मालपुवा आदि को खा तथा मरुतों के साथ सोम को पी। इसके आगे हवन किए हुए पदार्थों के विषय में वेद उपदेश करते हैं कि जो धन यज्ञ में लगाया जाता है, वही सुकृत होता है। क्योंकि—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो
व्यथिरा दधर्षति। देवांश्च याभिर्यजते ददाति च
ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥
(ऋ० ६।२८।३)

अर्थात् जो देवों को दिया जाता है और जिससे यज्ञ किया जाता है, उसका न नाश होता है, न उसे चोर चुरा सकते हैं, न उसका कोई शत्रु होता है और न उस पर कोई आफ़त डाल सकता है। उसके द्वारा यजमान सदैव ही गोपति के साथ रहता है, अर्थात् वह धनवान् बना रहता है। सत्य है, ऐसे सार्वजनिक पुण्यकार्य में धन खर्च करने से ही धन का सदुपयोग कहा जा सकता है। धन के सदुपयोग से अधिक धन की वृद्धि होती है, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार से यज्ञों के द्वारा सार्वजनिक बीमारियों से रक्षा पाने की युक्ति बतलाकर अब प्राकृतिक उत्पातों से रक्षा प्राप्त करने का जो उपाय वेदों ने बतलाया है, उसका वर्णन करते हैं।

वैद्यक और यज्ञों के द्वारा व्यक्तिगत व्याधि और समाजगत चेपी रोगों की रक्षा हो सकती है, परन्तु इनके द्वारा प्राकृतिक विप्लवों से-भूकम्प, ज्वालाप्रपात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, पाला, पत्थर और वज्रपात आदि से-रक्षा नहीं हो सकती। इन उत्पातों से रक्षा करनेवाला परमात्मा ही है। इसलिए ऐसे समयों में परमात्मा की प्रार्थना करने का ही वेद में उपदेश है। यहाँ हम ऐसी प्रार्थनाओं के कुछ नमूने लिखते हैं, जो इस प्रकार हैं—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥२७॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥२८॥

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥२९॥
(यजुर्वेद १३।२७-२९)

अर्थात् हे परमात्मन्! संसार में वायु मधुर होकर बहे, नदियाँ मधुर होकर बहें, औषधियाँ मधुर होकर उगें। रात मधुर हो, प्रभात मधुर हो, पृथिवी मधुर हो और हमारा द्यौ पिता मधुर हो। वनस्पतियाँ मधुर हों, सूर्य मधुर हो और गौवें मधुर हों। इसके आगे फिर प्रार्थना है कि--

यतो-यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥

(यजु० ३६।२२)

अर्थात् जहाँ जहाँ हमारे लिए जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो, वहाँ वहाँ हमें हर प्रकार से अभय करिये तथा प्रजा और पशुओं की ओर से भी हमें सुखी और अभय कीजिये।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥५॥ अभयं मित्रादभयमित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥६॥

(अथर्व० १९।१५।५—६)

अर्थात् हमें अन्तरिक्ष अभय करे, द्यावा तथा पृथिवी हमें अभय करें और नीचे-ऊपर तथा आगे-पीछे से भी हमें अभय प्राप्त हो। मित्र से अभय हो, अमित्र से अभय हो। जाने हुए से अभय हो और अज्ञात से अभय हो। रात से अभय हो और दिन से अभय हो। अर्थात् हमारी समस्त आशाएँ वा दिशाएँ अभय हों। इसके आगे संसार की समस्त जड शक्तियों के कल्याण-कारी और शांत होने की अभिलाषा की गई है और परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि--

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न-इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥९॥ शन्नो वातः पवताᳬं शन्नस्तपतु सूर्यः। शन्नः कनिक्र-ददेवः पर्जन्यो अभि वर्षतु॥१०॥ अहानि शं भवन्तु नः शं रात्रीः प्रतिधीयताम्। शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या। शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुवि-ताय शं योः॥११॥ शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥१२॥ स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः॥१३॥ आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥१४॥ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳬं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्ति-र्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वᳬं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥१७॥

(यजुर्वेद अध्याय ३६)

अर्थात् मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु और उरुक्रम आदि देवता हमारा कल्याण करें। वायु की चाल कल्याणदायक हो, सूर्य का ताप कल्याणदायक हो और शब्द करते हुए पर्जन्यदेव की वर्षा भी कल्याण-कारी हो। दिन कल्याणकारी हो, रात्रि कल्याणकारिणी हो और इन्द्र, अग्नि तथा वरुण आदि देवता भी कल्याणकारी हों। पीने का जल कल्याणकारी हो और वर्षा का जल भी कल्याणकारी हों। पृथिवी हमारे लिए कंटकरहित और उत्तम बसने योग्य हो। पानी हमारे लिये सुखकारी हो, उसे हम बल के लिए धारण करें और प्राकृतिक युद्धों में हमारी विजय हो। द्यौलोक शांत हो, अन्तरिक्ष शान्त हो, पृथिवी शान्त हो, जल शान्त हो, औषधियाँ शान्त हों, वनस्पतियाँ शान्त हों, संसार की समस्त शक्तियाँ शान्त हों, ज्ञान शान्त हो, सब कुछ शान्त हो, शान्ति भी शान्त हो और वह शान्त शान्ति यावज्जीवन बनी रहे। इस प्रकार से जिस समय समस्त जनसमूह की सम्मिलित इच्छाशक्ति के द्वारा प्रार्थनापूर्वक प्रेरणा होती है, उस समय ईश्वर की इच्छा से बड़ी बड़ी प्राकृतिक शक्तियों में भी असर हो जाता है और विघ्न शान्त हो जाते हैं ※।

※ ये प्राकृतिक विप्लव जीवों के सामुदायिक पापों के कारण अज्ञात शक्तियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसलिए सिवा परमात्मा की प्रार्थना के इनसे बचने का और कोई उपाय नहीं है। प्रार्थना का मतलब उपाय और उद्योग है, किन्तु यहाँ प्रार्थना ही उपाय और उद्योग है। क्योंकि सामूहिक प्रार्थना का-जन समूह की सम्मिलित इच्छाशक्ति का-भी बड़ा असर होता है।

यहाँ तक वैयक्तिक व्याधि, सामाजिक व्याधि और प्राकृतिक उत्पातों से रक्षा प्राप्त करने का उपाय बतलाकर अब वेद मनुष्यों द्वारा उत्पन्न किए गए विघ्नों से रक्षा प्राप्त करने का उपाय बतलाते हैं। मनुष्यों द्वारा जो उत्पात होते हैं, उनके दो विभाग हैं। पहिला उत्पात सामाजिक है। यह ईर्षा, द्वेष, आलस्य, मूर्खता और विलासिता से उत्पन्न होता है और नाना प्रकार के पाप कराता है। दूसरा बाह्य शत्रुओं के द्वारा उत्पन्न होता है, जो नाना प्रकार के कष्ट देता है। वेदों में इन दोनों से बचने के लिये राज्यव्यवस्था का उत्तम उपदेश किया गया है।

राज्यव्यवस्था का उद्देश्य समाज की रक्षा करना है। रक्षित समाज ही उन्नत और आदर्शरूप होता है। समाज की रक्षा भीतरी और बाहरी दो प्रकार की है। भीतरी रक्षा समाज के दुष्टों से की जाती है और बाहरी रक्षा बाहर के शत्रुओं से। जिस समाज की इस प्रकार रक्षा होती है, वह बड़ा ही दिव्य होता है। वेद में ऐसे दिव्य समाज की कामना का वर्णन इस प्रकार है--

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ (यजु० २२।२२)

अर्थात्--

हे जगदीश दयालु ब्रह्म प्रभु ! सुनिये विनय हमारी। हों ब्राह्मण उत्पन्न देश में धर्मकर्मव्रतधारी॥
क्षत्रिय हों रणधीर महारथ धनुर्वेद अधिकारी।
धेनु दूधवाली हों सुन्दर वृषभ तुंग बलधारी॥
हों तुरंग गतिचपल अङ्गना हों स्वरूपगुणवाली।
विजयी रथी पुत्र जनपद के रत्न तेजबलशाली॥
जब ही जब जग करे कामना जलधर जल बरसावें। फलें पकें बहु सुखद वनस्पति योगक्षेम सब पावें॥ पूर्ण

परन्तु ये बातें तभी हो सकती हैं, जब शासन अच्छे राजतन्त्र के द्वारा हो। अच्छा राजतन्त्र तभी हो सकता है, जब राजा प्रजाद्वारा मनोनीत हो। प्रजा के द्वारा ऐसे राजा को चुनने के लिए वेद उपदेश करते हैं कि--

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवास्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥१॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतेवाविचाचलिः।
इन्द्र इवेह ध्रुवास्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥२॥
(ऋग्वेद १०।१७३)

अर्थात् हे महापुरुष ! हम तुझको लाये हैं, इसलिए अन्दर आ और चञ्चल न होकर स्थिर रह, जिससे तुझे समस्त प्रजा चाहती रहे और तुझसे राष्ट्र का कभी पतन न हो। यहाँ आकर पर्वत के समान स्थिर होकर ठहर जा और इन्द्र के समान स्थिर होकर राष्ट्र को धारण कर, जिससे कभी राष्ट्र का पतन न हो। इन मन्त्रों में प्रजा के द्वारा राजा के मनोनीत करने की आज्ञा है। आगे वेद उपदेश करते हैं कि किस प्रकार के पुरुष को राजा बनाना चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि --

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव। तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्॥ (अथर्व० ४।८।१)

अर्थात् वही सब प्राणियों का अधिपति होने योग्य है, जो समस्त संसार का दुग्धादि अन्नों से अच्छी तरह पोषण करता है। उसकी मृत्यु राजसूय को प्राप्त होती है, इसलिए वही राजा होकर इस राज्य को अङ्गीकार करे। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि जो महापुरुष प्रजापालन के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर हो, वही राजा होने योग्य है। ऐसे राजा को पाकर प्रजा को चाहिये कि वह उसे खूब बलवान् बनावे। इस विषय में वेद उपदेश करते हैं कि--

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्। निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु॥ (अथर्व० ४।२२।१)

अर्थात् हे इन्द्र ! तू हमारे इस क्षत्रिय को बलवान् बना, इसी एक को सब प्रजाओं का नेता कर, इसके शत्रुओं को दूर कर और उनका सदैव नाश किया कर। इस मन्त्र के द्वारा वेदों ने प्रजा की ओर से राजा को बलवान् बनाने की आज्ञा दी है। (क्रमशः)

ईश्वरवाची वैदेशिक नामोंकी

वैदिक आधारपर शुद्ध निरुक्ति ।

(लेखक- श्री० चौ० रामपालसिंह तेवतिया, 'रामाचार्य' बी.ए., एल्. टी., विशारद, जाट कालेज लखावटी, बुलन्दशहर, यू. पी.)

इस लेखमें हम संक्षेप रूप में निम्नलिखित ईश्वर-वाची नामों का वेदमन्त्रों के आधारपर शुद्ध निर्वचन करने का दिग्दर्शन कराते हैं। वे शब्द ये हैं, अल्ला (Allah), जेहोवा (Jehovah), गॉड (God), आमीन् (Amen), खुदा (Khuda), बॉग (Bog) तथा उर्मुज्द (Ormuzd).

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः । त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ (ऋ० १०।११०।३)

इस उपर्युक्त मन्त्र का देवता 'ईल' है। ईल शब्द का यौगिक अर्थ यहां पर स्तुति के योग्य ईश्वर है। कुरानशरीफ के इला (Ilah) तथा अल्ला (Allah) शब्द निस्सन्देह इसी ईल शब्द के रूपान्तरमात्र हैं। सैमिटिक भाषाओं के ईश्वर-वाचक 'ईल' 'ईलोआह', 'ईलोहिम्' आदि शब्द हमारे इसी ईश्वरवाची ईल शब्द से निकले हैं। ईल धातु के 'स्तुतिप्रेरणादीप्तिज्ञानगमनप्राप्तिषु' ये छः मुख्य अर्थ हैं। और इस एक धातुसे ही प्रायः 'ईड्, ईल्, ईळ्, ईर्, ईड् तथा इड्, इल्, इळ्, इर्, इड्' ये दश रूपान्तरित धातुएं भाषा-विज्ञान के नियमानुसार निकली हैं। अरबी का इल्हाम शब्द भी इनही उपर्युक्त धातुओंमें से ईल् अथवा इल्-प्रेरणे धातुसे निकला है। अरबी का अल्लाह (Al+Ilah Allah) शब्द संस्कृत के अल्लः अथवा अल्ला शब्द से नहीं निकला है, किन्तु संस्कृत के ईलः शब्द से निकला है।

उपर्युक्त अर्बी का अल्ला शब्द एक संयुक्त शब्द है, जो अर्बी के अल् (जो अंग्रेजी की डेफीनिट आर्टिकल दी 'The' का अर्थ रखता है) और अर्बी के इला (जो संस्कृत के ईलः अथवा इलः का रूपान्तर है) शब्दों के संयोग से बना है। अतः इला का अर्थ है केवल ईश्वर (God) और अल्ला का अर्थ है ईश्वरविशेष वा परमेश्वर (The God)। अल्+इला=अल्ला (अर्बी कायदे से सन्धि होकर)। फ्रैंच भाषामें इसी अल् आर्टिकिल के रूपान्तर ला, ली, ले अथवा ल होते हैं, जिन का अर्थ दी (The) है। ये संस्कृत के अल्-भूषणसामर्थ्यपर्याप्तिवारणेषु धातु से निकले हैं।

उपर्युक्त मन्त्र के 'त्वं देवानामसि यह्व होता' अंश का शुद्ध अर्थ इस प्रकार ह। 'O Lord Almighty! thou art the God of all divine beings.' यहांपर जो यह्व शब्द है, मेरे विचार में इसी का रूपान्तर यहूदियों का ईश्वरवाची शब्द जेहोवा (Jehovah, also Yahoweh) शब्द है। यज्-देवपूजा संगतिकरणदानेषु धातुसे औणादिक प्रत्यय वन लगकर निपातन से तथा जकार को हकार होकर यह्वः शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ है महायजमान (Almighty Lord)। ईश्वर ही महान् (Almighty) है, वही संसार का यजमान (Lord) है और उपर्युक्त मन्त्र ही में प्रयुक्त होता शब्द से निस्सन्देह मेरे विचार में अंग्रेजी का गॉड (God) शब्द निकला है। हु-दानादाना-दनहवनतृप्तिषु तथा ह्वे-आह्वाने धातुओं से होता शब्द सिद्ध होकर ईश्वरवाची होता है और इसी का रूपान्तर गॉड (God) शब्द है। होता को जेन्द भाषा में जओता (Zaota) बोलते हैं

और जओता का रूपान्तर गाथिक भाषा में गुथा (Gutta), गुथ (Guth) हुआ तथा जर्मन भाषा में गॉत्त (Gott) हो गया और फिर अंग्रेजी में गॉड (God) शब्द बन गया। इस प्रकार हमने यह दिग्दर्शन करानेका प्रयत्न किया कि इसी एक वेदमन्त्रमें वैदेशिक ईश्वरवाचक तीनों नामों का मूल आधार पाया जाता है। ये शब्द ईश्वरवाचक ईळः, यह्वः तथा होता वेदोंके अन्य अनेक मन्त्रों में भी प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु तीनों शब्द इकट्ठे बडी सुन्दरतासे यहां एक ही मन्त्र में प्रयुक्त हैं। अरबी का आमीन् शब्द तथा अंग्रेजीका Amen शब्द जो न्यूनाधिक ॐ शब्द के पर्यायवाची हैं, वैदिक ओमन् शब्द से निकले हैं, जिसका मूल आधार ऋ० १।६९।४ में पाया जाता है। इस वेदमन्त्रमें ओमना (=अवनेन-रक्षा से) शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो रक्षा आदि २१ अर्थवाली 'अव्' धातुसे मन् प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है। ओम् शब्द प्रायः मन्त्रादि के प्रारम्भ में तथा अन्त में भी उच्चारण करते हैं और आमीन (Amen) शब्द को कुरान तथा इंजील माननेवाले लोग प्रायः केवल अन्त में ही उच्चारण करते हैं। खुदा शब्द निस्सन्देह ष्वद् धातु से निष्पन्न स्वधा शब्द का रूपान्तरमात्र है।

जिस प्रकार ष्वप् धातु से 'ख्वाब' फारसी का शब्द निकला है, तथा स्वतः शब्द से फारसी का खुद शब्द निकला है, उसी प्रकार ष्वद् धातु से ष्वदा फिर स्वधा तथा खुदा शब्द निकले हैं। इस का वैदिक आधार ऋ० १०।१२९।२-५ में मौजूद है। यद्यपि वेदों में स्वधा को प्रकृति अथवा ब्रह्म की शक्ति माना गया है, किन्तु जो अद्वैतवादी लोग स्वधा को ब्रह्मही मानने लग गये थे, वे स्वधा को खुदा ही मानने लग गये थे। इस प्रकार स्वधा से खुदा शब्द अर्थभेद तथा उच्चारणभेद को प्राप्त हुआ।

स्लैविक भाषा में ईश्वर के लिये जो शब्द प्रयुक्त किया जाता है, वह बॉग (Bog) है। यह शब्द निस्सन्देह संस्कृत के भगः शब्द का रूपान्तर है और इस का मूल ऋ० १०।१५१।१ इत्यादि मन्त्रों में भगः शब्द पाया जाता है। भज्यते सेव्यते भोगार्थिभिः इति भगः। भक्त द्वारा सेवनीय भगवान् को ही परमैश्वर्ययुक्त 'भगः' कहा जाता है।

पारसियों का उर्मुज्द (Ormuzd) ईश्वरवाचक शब्द अहुरमज्द (Ahuramazda) से निकला है, जो कि असुरमहद् का रूपान्तरमात्र है। इस का आधार अनेक वैदिक मन्त्रों में पाया जाता है। असुरमहद् का अर्थ है महादेव वा परमेश्वर। यहां असुर शब्द अपने शुद्ध प्राचीनतम वैदिक अर्थ का द्योतक है, जिस का अर्थ है देव। अकेला महद् शब्द भी ईश्वरवाचक वेदों में प्रयुक्त हुआ है। महत् तथा महती शब्दों के ही रूपान्तर Might और Mighty तथा Almighty शब्द हैं। जैसे अकेला Almighty शब्द परमेश्वरवाचक है, उसी प्रकार महान्, महद् आदि अकेले शब्द भी महती शक्ति अर्थात् ईश्वर के वाचक हैं। और इसी प्रकार महदसुर (महादेव) अथवा महासुर वा असुरमहद् (अहुरमज्द वा हुर्मुज्द वा उर्मुज्द) परमेश्वर के वाचक हैं। ऋग्० २।१।६ में असुरः महः तथा अथर्व० ५।११।१ में महे असुराय शब्द महादेव अर्थात् परमेश्वर के वाचक हैं, इन्हीं का रूपान्तर असुरमहद् (अहुरमज्द) अथवा हुर्मुज्द तथा उर्मुज्द हैं। इस उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है, कि संसार के विभिन्न धर्म तथा भाषाओं के ईश्वरवाचक नाम वैदिक शब्दों के ही रूपान्तर तथा विकृत रूप हैं।*

* God (गोड) शब्द वैदिक 'गोदः' (गौ देनेवाला) इस शब्दसे उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। यह ऋग्वेद १।४।२में प्रयुक्त है। 'खुदा' शब्द 'शुद्ध' शब्दका रूपान्तर प्रतीत होता है। शुद्ध, पुद्ध, खुद्ध, खुदा। (संपादक वै०धर्म)

ईश्वरीय स्वरूपकी टटोल

(लेखक- पं० गोपीनाथजी शास्त्री, चुलैट, एलिचपूर)

जब यह बात हम अच्छी प्रकार समझ चुके कि 'शास्त्रीय प्रयोगचिकित्सा' ही विज्ञानशास्त्रकी मुख्य चेष्टा है और उस विज्ञानदीपकको प्रकाशसे जब हम देखने लगते हैं तब झट समझमें आता है कि त्रिसर्ग कैसे असत्य हैं, यह झटसे समझमें आ जाता है। जिन्हें हम कठिन, ठोस, जड, मजबूत, फौलादकी तरह पक्का देखते हैं, या पतले, नरम, मुलायम, तथा रूई पदार्थ जो हम मुलायम देखते हैं, वह उसका वास्तविक रूप न होकर उसमें कणोंका जमाव ही मुख्य पाया जाता है और वही उसे पदार्थ बनाता है। यही पदार्थों का धर्म विज्ञानशास्त्रसे सिद्ध है। सूक्ष्म कणोंकी उत्पत्ति परमाणुसे है। यह परमाणु परस्परमें जब संयोग प्राप्त करते हैं, तब कण बनता है और कणोंसे संयुक्त पदार्थ होता है और इसका न तो कोई नाश कर सकता है और न हुआ है, अतः यह अविनाशी अच्छेद्य और अदाह्य है, ऐसा वेदोंमें बारबार समझाया है।

इसी अणुसाम्राज्यका घर्षण, स्पर्शन, प्लावन, आगम, निर्गमका ही तमाशा हमको क्षण-क्षणमें दीख रहा है। किसी जल भरे तालावमें जिस प्रकार कंकड या पत्थर फेंकने पर जलका तरंग-मण्डल गोलाकार रूपमें होता हुआ, हट कर उस आये पत्थरको अपनेमें मिलाता है। यही उसके मिलानेकी क्रिया है। इस गोलाकार तरङ्ग-मंडल का फैलाव बडी तीव्र गतिसे होता है; वह तरंग-मंडल पहलेकी तरह ही होकर क्षणार्धमें तमाम जलमंडलको घेर लेता तथा विस्तृत होकर निर्मूलकी तरह हो जाता है। किन्तु पुनः देखने पर वह निःशेष नहीं होता, यानी पुनःपुनः उत्पन्न होता है। इससे हमको स्वीकार करना पडता है कि अस्तित्व नष्ट नहीं होता; यह दृष्टिभ्रम मात्र है। जिस जिस वस्तुको हम प्रत्यक्षमें सडना, जलना, गलना तथा विध्वंस होना देखते हैं, वह सब केवल हमारे ज्ञानचक्षुकी गति समाप्त होनेसे सत्य दीखता है; किंतु वास्तवमें देखा जाय तो संसारभरमें ऐसी कोई वस्तु या पदार्थ नहीं है, जो अविनाशी न हो। अर्थात् संसारमें किसी भी वस्तुका नाश नहीं है। मनुष्य चाहे उसे घन स्थितिसे द्रव स्थिति या वायुस्थिति किसीमें झोक दे, किंतु वास्तवमें वह उसका नाश नहीं होता।

स्थित्यंतर होना यह सृष्टिका निसर्गनियम है। आज जिस बडेबडे सुन्दर राजमहलको देखते हैं, कल वही चकनाचूर हुआ दीखता है। जलमय प्रदेशमें किसी द्वीप या बेटके उभर आनेसे स्थल-मय हो जाता है। स्थलमय जलमय हो जायगा। बडे-बडे गगनचुंबी महल, पर्वत, वृक्ष, आदि चूर-चूर हो जायँगे, किंतु अणुसाम्राज्य ज्योंका त्यों कायम रहेगा। कहनेका मतलब यह है कि वस्तु या पदार्थका नाश होते दीखना ही यह स्थूल दृष्टि है। सूक्ष्म दृष्टि या विज्ञानदृष्टि ही उसके देखनेकी पात्र है।

इसी प्रकार जिन नेत्रोंसे हम देख रहे हैं, जिन कर्णोंसे हम सुननेका काम ले रहे हैं, जिस जिह्वासे हम रसनेंद्रिय-सुख लेते हैं, जिस नासिकासे गन्धका अनुभव कर रहे हैं, एवं जो वायु हमारे शरीर में श्वासोच्छ्वासके साथ होकर पोषण कर रही है; इसमें जिस दिन स्थित्यंतर होता है या जैसे-जैसे परिवर्तन होता है, उसीका प्रभाव प्रकृतिपर पड जाता है।

तब इसमें संदेह नहीं कि नेत्र, कान, नाक, मुख और शरीर यह वास्तविक रूप नहीं है। जिस दिन नेत्रका रूप तन्मात्रा स्थित्यंतर करेगा, उस दिन आंख होते हुए भी नहीं दिखेगा। जिस कानोंकी शब्द तन्मात्रा विराट् शक्तिमें जाने के लिये कूच कर जायगी, उस दिन कान होते हुए भी सुननेमें मनुष्य असमर्थ हो जायगा। उसी प्रकार नासिकाकी गंधतन्मात्रा, जिह्वाकी रस-तन्मात्रा एवं शरीरकी स्पर्शतन्मात्रा विराट्की महत् शक्तिमें जानेके लिये प्रस्थान करेंगी, तब इंद्रियोंके होनेमें भी असमर्थता आ जावेगी। इससे तो यह स्पष्ट ही पाठकोंकी समझमें आने योग्य बात है कि—

न तो ये नेत्र वास्तविक नेत्र हैं और न ये कर्ण वास्तविक कर्ण हैं। ऐसे ही मुख, नासिका शरीर भी वास्तविक इन्द्रिय नहीं हैं। क्योंकि इसका स्थित्यंतर होनेवाला होनेसे यह धोकेकी टट्टी हैं और वास्तविकता इसकी निराली है। रूपतन्मात्रावाला समूह इकट्ठा होनेपर ही मनुष्यके नेत्र देखनेका काम आरम्भ करते हैं। फिर वह रूपतन्मात्रावाला समूह चाहे सूर्यके या चन्द्रके या बिजली, गैस, बत्ती, दीपक, मोमबत्ती आदि किसीके द्वारा फैलाया गया हो। कहनेका मतलब यह है कि समूह पहले होता है, पश्चात् देखनेका कार्य जारी होता है।

ईश्वरीय शक्ति, वीर्य, प्रभाव, सामर्थ्य, तेज और उसकी दीप्ति बिम्ब रूपमें आकाश नभ-मण्डलमें दर्शित है, जो नित्य पृथ्वीकी रक्षामें अहर्निश तत्पर रहता है। इसका विस्तृत वर्णन वेदोंमें पाया जाता है, जो आकाशीय नकशोंसे समझाया जा सकता है।

---

(१) व्यापक भगवान्।

इस जग में जब, मेरे प्रीतम !,
व्याप रहा तू सार॥
सदा सुमंगल, विजयमहोत्सव,
प्रीति प्रेम अपार॥१॥
मनुजहृदय में, मेरे प्रीतम !,
वास तेरा निष्काम॥
कहां अमंगल कहां पराजय,
कहां भीति, भगवान्!॥२॥
प्यारे ! प्रेम तेरे में जो जन।
रहता आठों याम॥
सब हितकर कारज में नित वह,
देता मन और प्राण॥३॥
निजहित परहित भेद तजे वह,
सत्य को ले पहचान॥
सत्यज्ञानयुत प्रीति भरा वह,
करे सदा कल्याण॥४॥

–लालचन्द

(२) आत्म-अर्पण भावना।

आत्म-अर्पण भावनापूरण, हृदय में प्रेम भर।
प्रेममय भगवान के संग, प्रेम भाजन मैं बनूं॥
नित प्रेम में होकर मगन, सद्भाव अन्दर आनकर।
संकोच तज निज हिये का, सुंदर समर्पण मैं करूं॥१॥

वह त्याग मेरे राग में, अनुराग इक जागृत करे।
सजग मैं नित प्रेमपूर्ण, मुदित मन जगमें रहूं॥
कर्तव्य अपना मैं करूं, सुन्दर सुखद भावों भरा।
प्रभु के निकट रहकर सदा, आनन्दमंगल मैं कहूं॥२॥

सत्ज्ञान और शुभ ध्यान में, सत्काममें लगकर यहां।
सबका सुमंगल, हित सभीका, अभय हो करता रहूं॥
धरता रहूं शुभ धारणा, सद्धर्म की, सत्कर्म की।
भगवद्भरोसे मैं रहूं, निज मानसे डरता रहूं॥३॥

–लालचन्द

सत्य-अहिंसासे

भारतीय स्वतन्त्रता की रूपरेखा।

[लेखांक १]

(लेखक— श्री० रामावतार विद्याभास्कर, रतनगढ, बिजनौर, यू. पी.)

समाजही समाज का राजा है।

आदर्श मनुष्यसमाजमें राजा नामका कोई मनुष्य नहीं होता। राम अर्थात् सब मनुष्योंकी मनुष्यता ही आदर्श समाज का राजा होता है। समाजवासी सब मनुष्यों के हृदय इस राम के सिंहासन होते हैं। इन सब सिंहासनोंपर विराजनेवाले राम 'राम की सामूहिक इच्छा' के रूपमें प्रकट होकर समाज में दैवी शक्ति की रक्षा करने के लिए समाजव्यवस्था या कानून बना लेते हैं। सार्वजनिक हितों के नियम बनाने का अधिकार भी सार्वजनिक ही होना चाहिए। संसार का सभ्य समाज इस अधिकार को अपने धर्मकामी निःस्पृह विद्वानों के द्वारा अपने ही हाथोंमें रखता है। वह इस अधिकार का किसी दूसरे के अधिकार में जाना नहीं सह सकता। जहां यह अधिकार दूसरे के हाथ में चला गया है; वहां की सभ्यता मर चुकी है। समाज की सामूहिक इच्छा ही समाज का कानून बन सकता है। दूसरे की इच्छा में दूसरे का लोभ घुसा रहता है, इस कारण दूसरे की इच्छा को दूसरे का कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं है। जहां दूसरे की इच्छा दूसरे का कानून है, वहां अधिकारवालेने अंधा बनकर अपना अधिकार खो दिया है। जिस कानून में समाज की इच्छा मिली हुई नहीं है, वह कानून समाज के पैरोंके नीचे रौंदा जाना चाहिए। उसे रौंदने में ही समाज का कल्याण है। उसे रौंदनेमें ही समाज के मोक्षका रहस्य छिपा हुआ है। उसे रौंदते ही समाजमोक्ष प्रकट हो जाता है।

समाज के हाथोंसे बनायी हुई समाजकल्याणकारिणी व्यवस्था ही राजशक्ति नाम पाने योग्य है। समाज के हाथों से बनी हुई व्यवस्था ही समाज का कल्याण कर सकती है। जिस प्रकार विमाता के हाथसे बालक पुष्ट नहीं होता, इसी प्रकार दूसरे राष्ट्र के हाथसे दूसरे का कल्याण होना असंभव है। ऐसी अवस्था में एक ही स्वार्थ पर दो राष्ट्रों की खेंचातानी चली रहती है और इस खेंचातानी में पराधीन राष्ट्र पिसता पिसता अत्यन्त पतित हो जाता है। उसका धन और मन दोनों खोये जाते हैं। समाजके मनको ऊंचा वीर स्वाभिमानी तथा प्रतिष्ठायुक्त बनाए रखना ही समाज का कल्याण है। यह कल्याण दूसरे के हाथसे होना सर्वथा असंभव है। समाजही समाज का राजा है। समाज से भिन्न दूसरा राजा समाज का लुटेरा है। देशमेंसे रुपया बटोरनेवाले देशके धन, ऐश्वर्य और उसकी उपजपर स्वार्थ के दांत गाडनेवाले को राजा कहना इस शब्द का घोर दुरुपयोग है। ऐसों को राजा समझना छोड देने पर ही अर्थात् उसके साथ राजाप्रजा का संबंध तोड देने पर ही समाज का कल्याण सुरक्षित हो सकता है। किसी भी मनुष्य या मनुष्य-समूह को दूसरे का राजा बनने या किसी भी दूसरे को अपना राजा बनने देने का कोई अधिकार नहीं है। यही 'सामाजिक सत्य' का स्वरूप है। जिस देशमें सत्यानुकूल अर्थात् अपनी ही समाजव्यवस्था नहीं है, वह पराधीन है। उसकी शासनव्यवस्था में जहर मिला हुआ होता है, जिससे देशकी जीवनी शक्ति नष्ट हो जाती है। जिस भूमिपर जो मनुष्यसमाज ईश्वरकी ओर से उतारा

गया है, उसपर उसीका न्यायोचित अधिकार है। उसपर उसीका अधिकार होना मनुष्योचित अवस्था है। इसी को स्वतंत्रता कहा जाता है। अपनी भूमिपर दूसरों का अधिकार होना और उसे सहना अमनुष्योचित अवस्था है। इसी को परतंत्रता कहा जाता है। परतंत्रता से असहयोगही स्वतंत्रता का स्वरूप है। परतंत्रताको अपनी ओर से किसी प्रकार की सहायता न देना, दी जा रही हो तो उसे तोड देना ही, स्वतंत्रता का जीता जागता रूप है।

पराधीन देशों का यह ईश्वरीय अधिकार है और उनका यह पवित्रतम कर्तव्य है कि वे प्रत्येक संभव उपाय से अपने अधिकारापहारी को अपने देशसे बाहर निकाल दें और अपनी समाज-व्यवस्था में अमृत मिलाने के लिए उसे अपनी देशकी हितकारी दृष्टि से और अपने ही हाथों से करें। यही उस देशकी 'सत्य की सेवा' मानी जाती है।

स्वतंत्रता का स्वरूप।

स्वतंत्र रहना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। अर्थात् स्वतंत्र रहना मनुष्य का स्वाभाविक कर्तव्य है। यदि मनुष्य सच्चा मनुष्य रहना चाहता हो, तो उसे अपने जीवन में स्वतंत्र रहने का कौशल दिखाना चाहिए। अर्थात् उसे परतंत्रता से लडकर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिये। यदि मनुष्य स्वतंत्र नहीं है, तो मनुष्य ही नहीं है। वह मनुष्य की सूरत का पशु है। स्वतंत्रताकी चमक ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है।

मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार ही स्वतंत्रता या स्वराज्य कहाता है। मनुष्यने जिस काम के लिए देह धारण किया है, उससे भिन्न उसका दूसरा कोई भी जन्मसिद्ध अधिकार नहीं हो सकता। जिस बातके विना मनुष्य का जन्म लेना उद्देश्यहीन तथा निरर्थक हो जाता है, उसी बातको 'मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार' समझना चाहिए। जिस प्रकार पशुने पशु रहने के लिए शरीर धारण किया है, इसी प्रकार मनुष्यने मनुष्यताको पानेके लिए, उसे खण्डित न होने देने के लिए, अर्थात् अपने को सच्चा मनुष्य सिद्ध करनेके लिए जन्म-धारण किया है। यदि मनुष्यमें मनुष्यता न हो तो उसका देह-धारण करना सृष्टि की निरर्थक घटना हो जाता है। स्वराज्य पाना और मनुष्यता का पाना एकही बात है। स्वराज्य की समस्या मनुष्यताके अन्तर्गत समस्या है। यदि स्वराज्य पाना मनुष्यता से बाहर की समस्या हो, तो हम उसे स्वतंत्रता नहीं कहेंगे। भोगों के नामपर झगडना मनुष्यतासे बाहर की समस्या है। भोग का झगडा स्वतंत्रताका झगडा नहीं है। स्वाभिमान का झगडा ही स्वतंत्रताका झगडा है।

जिन बातों से मनुष्य मनुष्य बनता है, उन्हीं को मनुष्यता कहा जाता है। यदि मनुष्य मनुष्य रहना चाहेगा, तो उसे सत्य, प्रेम, अहिंसा, न्याय, शान्ति, उच्च आदर्श, शुद्ध आचरण, धर्मपरायणता, (ईमानदारी), शूरता, वीरता, स्वतंत्रता आदि गुणों को अपने प्राणोंसे भी प्यारा बनाना पडेगा। अर्थात् सच्चे मनुष्य को इन्हीं गुणों के लिए जीना होगा और इन्हीं के नामपर मर जाना होगा। यही मनुष्यताका जीवित स्वरूप है। इन गुणों से भिन्न मनुष्यताका और कोई रूप नहीं है।

जबसे भारतने स्वतंत्रता खोयी है, तबसे इन सब गुणों को भी खो दिया है। अर्थात् भारतने मनुष्यता को खो दिया है। मनुष्यता को खोना ईश्वर को खोना है। इसी को नास्तिकता कहा जाता है। आजका परतंत्र भारत पूरा पूरा नास्तिक बना हुआ है। आज भारत ईश्वर-भक्ति के नामपर अपने को ठग रहा है। स्वतंत्रता तथा ईश्वरभक्ति एकही मनोवृत्ति के दो नाम हैं। भारत में नास्तिकता फैली हुई है। परतन्त्र लोग ईश्वरभक्ति करें, यह भारतकी विडम्बना है। प्रभु-की सृष्टि में से

नास्तिकता का नाश करनाही प्रभुकी सच्ची सेवा है।

यदि बन्धन में आए हुए मनुष्य बन्धनमुक्त होना चाहे, तो उन्हें चाहिए कि वे सेवा करने लगें। सेवा मनुष्य का बन्धन काट डालती है। उसमें मनुष्य के बन्धन को काटने का सामर्थ्य है। बन्धन क्या है? सेवा न करना या सेवा से बचने की इच्छा करना ही बन्धन है। इसी को अज्ञान भी कहा जाता है। व्यक्तिगत सुख सुविधाओं के मोह में फंसकर मनुष्यता के आदर्श को भुला डालनाही बन्धन है। सामूहिक अर्थात् सामाजिक जीवन की सेवा ही मुक्ति देती है। सेवा ही मुक्ति का मार्ग है। मुक्त पुरुषों का सारा जीवन ही सेवा होता है। व्यास, वसिष्ठ, नारद, शुकदेव, ध्रुव, प्रल्हाद, बुद्ध, शंकर, चैतन्य, कबीर, नानक, गोविन्दसिंह, तुलसीदास, रामदास, दयानन्द आदि सब महात्मा देशसेवाधर्म का पालन करके धन्य हो गए। सेवा टोटेका काम नहीं है। सेवा परमसुख की अवस्था है। सेवा मनुष्य का सौभाग्य है, इसीलिए प्रत्येक भारतवासी को अपनी स्वतंत्रता के लिए भारतमाता की स्वतंत्रता की सेवा करनी चाहिए।

मनुष्य नहीं जानता कि सृष्टि और मनुष्य की वंशपरंपरा कबसे चली आ रही है। मनुष्य आता है और चला जाता है। यहां सदा रहने के लिए कोई नहीं आता। देख रहे हैं कि इस संसार में मनुष्य सदा नहीं रहता। किन्तु मनुष्यजाति ही सदा रहती है। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्य को व्यक्तिगत जीवन की सुखसुविधा का मोहत्याग कर मनुष्यजाति के कल्याण की दृष्टि से ही अपना कर्तव्यमार्ग निर्धारित करना चाहिए। उसे अपनी देहसेवा को अपना जीवनलक्ष्य न बनाकर अपने मनकी अर्थात् मनुष्यता की अर्थात् मनुष्यजाति की सेवा करनी चाहिए। क्योंकि ईश्वर ही अनंत मनुष्यों के रूपमें प्रकट होकर मनुष्यताका आनंद लेने के लिए मानवलीला करता रहता है। मनुष्यता ही मनुष्य का आराध्य ईश्वर है। भोग मनुष्यत्वहीनता है। भोग ईश्वरविरोधी नास्तिकता है। भोगेच्छा से ही व्यक्तिगत जीवन के स्वेच्छाचार का जन्म हुआ है। जब मनुष्य अपने स्वरूप को भूल जाता है, तब व्यापक मनुष्यतासे पृथक् होकर व्यक्तिगत जीवन को अपनाता है। भोगने ही द्वैत या पार्थक्य को जन्माया है। भोगने मनुष्य को मनुष्य का खून तक पिलाया है। भोगने एकही आदिपुरुष की सन्तान को लडाया है। त्याग में एकता, समता, दृढता आदि सब मनुष्योचित गुण हैं। भोग में अनेकता, द्वेष, विषमता, अदृढता आदि सब पशुसुलभ अमनुष्योचित दुर्गुण भरे पडे हैं। भोग मनुष्यजातिका शत्रु है। त्याग मनुष्यजातिका पालक परमेश्वर है। मनुष्यजाति ने जब जब अपनी मनुष्यताका कौशल दिखाया है, तब तब त्याग से ही दिखाया है। त्याग को मनुष्यजातिने सदासे सिरपर रखा है। मनुष्यजाति त्यागी के चरणोंपर सदासे सिर रखती आयी है। त्यागियों के चरणों की धूलने अनन्तवार मनुष्यजाति का हार्दिक संताप मिटाया है। फिर न मालूम क्यों मनुष्यजाति इतनी अंधी हो गई है कि त्यागियों का आदर करके भी उनके त्याग को नहीं अपनाती और भोग में फंसी पडी है। आजतक मनुष्योंने सुखदुःख के न मालूम कितने उतार चढाव देखे हैं? उन सबकी आज स्मृतिचिन्ह भी कुछ नहीं है, उन सुखदुःखों की पीछे मरते फिरना मनुष्य का परम दुर्भाग्य है। दैवी संपत्ति ही मनुष्यजाति का सच्चा उपार्जनीय धन हैं। दैवी गुणों के लिए ही मनुष्यजाति बनी है। इन्हीं में मनुष्यजन्म की सफलता और शान्ति है। मनुष्यजातिकी जितनी पुरानी स्मृतियां हैं, वे सब मनुष्य के दैवी गुणों से भरी पडी हैं। ये दैवी गुण मनुष्यजाति के जन्म के साथ साथ चले आ रहे हैं। जब मनुष्य मर जायगा, तब भी ये दैवी गुण समाज के मनसे दूसरे मनपर पहुंचते रहेंगे, अर्थात् मनुष्य मरणशील है और मनुष्य के गुण–

अमर हैं। मनुष्य इसीलिए आया है, इन गुणों को धारण करे, इन्हे पाले, इनके अनुसार जीवन बिताए और इन गुणों को आनेवाली मनुष्य-सन्तान को देकर चला जाय। मनुष्य का मस्तिष्क यदि विकृत नहीं है, तो उसे केवल त्यागी, श्रेष्ठ, गुणवान जीवन बिताने का अधिकार है। भोगासक्त जीवन बिताना मनुष्य का अनधिकार है। इसीलिए मनुष्य को चाहिए कि सेवाधर्म को अपनाकर जीवनयात्रा करें। भोगसंग्रह में जीवन बिताना टोटे में जीवन काटना है। इसलिए प्रत्येक स्वाभिमानी भारतीय को अपने जीवन में त्याग के आदर्श को अपनाकर भारत में दैवी गुणों के प्रसार का वातावरण बनाना चाहिए, यही भारतमाता की स्वतंत्रता की सेवा का रूप है।

स्वतंत्रता की समस्यापर और अधिक विचार करने की आवश्यकता है। कारण यह है कि भोगों की सुविधा और यथेच्छाचार ही आज संसार की स्वतंत्रता बना हुआ बैठा है। वह स्वतंत्रता इस लेख की स्वतंत्रता नहीं है। आजका मनुष्य-समाज स्वतंत्रता के नामपर धोका खा रहा है। वह स्वतंत्रता के विषय में बहक गया है। वह स्वतंत्रता तथा स्वेच्छाचार को एक समझने के भ्रम में फंस गया है। वह स्वतंत्रता के नामपर भोगों की सुविधा चाहता है। वह स्वतंत्रताके सच्चे स्वरूप को भूलकर पतित प्रवाह में बह निकला है। उसने मनुष्यका मानसिक उत्कर्ष कहांतक होना चाहिए ? इस बात को भुला डाला है और मनुष्य को क्या क्या पाना चाहिए ? इस वृथा चिन्ता में फंस गया है। उसने इस फन्दे के 'समाजवाद' आदि बडे बडे मनोहर नाम रख लिए है। परन्तु हम इन सब वादों को 'रोटीवाद' इस एक ही नाम से कहना चाहते हैं। इन सब वादों में एकही भाषा प्रतिध्वनित हो रही है कि 'अच्छा खाओ, अच्छा पहनो और मौज उडओ'। भ्रान्त मनुष्यसमाज ने भोगों को ही मनुष्यजीवन का आदर्श घोषित कर दिया है। उसने मनुष्यताकी निर्मम हत्या कर डाली है। उसने मनुष्यों की बस्ती में से मनुष्यता को निर्वासित कर डाला है। उसने मनुष्य को मनुष्य के खूनका प्यासा बना दिया है। उसने मनुष्यों को भेडिया और बकरी बना डाला है। आज मनुष्यसमाज निर्लज्ज होकर खुल्लम खुल्ला भोगी बन गया है। बालक, युवा, वृद्ध सब भोगी जीवन को ढूंढ रहे हैं। वे भोगों का मोह भी छोडना नहीं चाहते और स्वराज्यरूपी स्वप्नराज्य को भी पाना चाहते हैं !!!

भोगविलास में फंसनेवाले लोगों को अत्याचारी शासकों की इच्छानुसार नाचना पडता है। भोगी लोग गरीब किन्तु सच्चे मनुष्य न रहकर पतित, अपमानित, तिरस्कृत और पददलित किन्तु अमीर जीवन बिताने के मोह में फंस जाते हैं। इनका आत्मा दास बन जाता है। आत्मा की दासता छुडाना ही देश को मुक्ति देना है। जो अपने देशसे दासता को भगाना चाहते हों, उन्हें अपने देश में से भोगों का मोह तथा आलस्य का प्रेम छुडाना चाहिए। देश को यह सिखाना चाहिए कि अपमानित सुखी जीवन से सम्मानित भूका, नंगा जीवन अधिक मूल्यवान और तेजस्वी होता है। देशका भोग मोह छोडना तथा आलस्य त्यागना ही संग्राम के लिए उद्यत हो जाना हो जाता है। भोगमोह संग्राम करने देनेवाली अवस्था है। जो देश की संग्रामविमुखता हटाना चाहें, उन्हें देशमें से भोगमोह हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। भोगमोह हटतेही देशमें कर्तव्यबुद्धि जाग उठेगी।

भोग ऐसी वस्तु है, जो मनुष्य को अपनी सुविधा के लिए कभी तो दूसरों के प्रति क्रूर राक्षस और कभी सबलका चरणचुम्बक बना देती है। भोग से मनुष्य युद्धविमुख हो जाता है। भोगी मनुष्य युद्धविमुख होकर अपने अधिकारों का सौदा (जुवा) करने लगता है। वह सम्मान बेचकर पेट भरने लगता है, भोग में स्थिर जीवन,

नीति, स्वाभिमान तथा मनुष्यता का नाम तक नहीं है। भोग की नीति वाह्य अनुकूलता पर निर्भर होती है। भोगार्थी का मन चूहे के समान निर्बल होता है। वह पद पद पर दबने को उद्यत बैठा रहता है। ऐसी अस्थिर तथा अनिश्चित नीति रखनेवाले सुख सुविधाके दास लोग स्वराज्य का पा सके और उसकी प्रसववेदना को सह सके, उसकी कठोर क्रीडाके समय धैर्यको थामे रहें, यह स्वप्नराज्य की बात है।

होना तो यह चाहिए था कि मनुष्य निर्बल का भेडिया, सबल का शिकार तथा भोगोंका कीडा न बनकर सच्चा मनुष्य बनता, अपने हृदय में पूर्ण मनुष्य बनने के आदर्श को प्रतिष्ठित करता, तथा विश्वव्यापी अमृत का आवाहन करके उसका स्वाद चखता। परन्तु हो यह रहा है कि मनुष्य मनुष्य का भेडिया बन गया है। उसने अपने मनमें भेडियों की भूकके समान भोगों की प्यासरूपी आग सुलगा रखी है। वह उस आगसे निर्बल का भेडिया, सबल का शिकार तथा भोगोंका कीडा बन गया है। निर्बल को पीटना और सबल से पिटना, यही आज के मनुष्यसमाज की नीति हो गयी है। आजके मनुष्य-समाजकी सम्पूर्ण शक्ति अपनी ही मनुष्यताका संहार करने में व्यय हो रही है। आज मनुष्यसमाज अपने को भोगी पशु बनाने की तयारी कर रहा है। जबतक मनुष्यसमाज अपनेको इस धोके से नहीं बचायेगा, तबकत उसे स्वतन्त्रता का मुंह नहीं दीखेगा। तबतक वह स्वच्छन्दताको स्वतन्त्रता समझकर स्वतन्त्रता से वंचित रहेगा।

जब मनुष्यसमाज में स्वतंत्रता आती है, तब आते ही सबसे पहले उसके भोगलोलुप स्वाभिमानहीन जीवनों को छीन लेती हैं, वह आते ही जीवनों में क्रांति उपस्थित कर देती है। यदि मनुष्य स्वतंत्रता के क्रान्तिकारी स्वभाव को देखकर न घबरा जाय, तो स्वतन्त्रता उसकी मुठ्ठी में आकर बैठ जाती है। स्वतन्त्रता आते ही देशके जीवन कुछसे कुछ हो जाते हैं। वह निर्बलों में जान फूंक देती है, कायरों को वीर बना देती है पतितों को पुण्यात्मा बनाती है और अन्त में विजित को विजेता बना कर छोडती है। परन्तु भोगी मनुष्य स्वतन्त्रता की क्रांतिको देखते ही अधीर हो उठता है। स्वतन्त्रता आते ही नीचे दबी हुई दास आंखों को ऊपर उठा कर उन में तेज भर देती है। वह आते ही भोगी जीवन की सुख सुविधाओं की उपेक्षा करती है। वह आते ही मनुष्य को स्वाभिमान के नशे में मस्त कर देती है। स्वतन्त्रता मनुष्य के जीवन को आमूल बदल डालती है। वह मनुष्य के जीवित रहने के दृष्टिकोण को बदल डालती है। स्वतन्त्र मनुष्य प्रलयोत्पातों का भी स्वागत कर सकता है। परन्तु वह स्वाभिमान का या अपनी मनुष्यता का अपमान नहीं सह सकता। इन्द्रियोंके भोग तथा भोजन वस्त्र आदि के दास मनुष्य मनुष्यता का अपमान तो सह लेते हैं, परन्तु उनसे इन्द्रियों के भोगों की हानि नहीं सही जाती।

भोगों के दास बनकर आहारनिद्रा आदि की सुविधा के लिये झगडने में ऐसा कौनसा महत्त्व है? कि इस झगडे को स्वतन्त्रता नाम देकर भोगों के पीछे दौडने, उन्हीं को ढूंढने तथा उन्हीं की प्रति-द्वन्द्विता (चढा ऊतरी) करने में ही वीरता, पुरुषार्थ तथा शक्तिका गौरव देखा जाता है। सत्य तो यह है कि इन बातों में कोई भी मनुष्योचित विशेषता नहीं हैं। उसका कारण स्पष्ट है कि पशुपक्षी भी तो दिनरात इसी जीवनव्यापी स्वधर्म को पाल रहे हैं। यदि मनुष्य भी इसी सीमा में कैद हो जायगा, तो वह 'पशुराज' बन जायगा।

आज मनुष्यने अपनी भूलसे पशुओं के धर्म को मनुष्यता का चोला पहना दिया है। जो मनुष्य इस पशुधर्म को अपना लेते हैं, वे कभी भी मनुष्यो-चित धर्म का पालन करने के अवसरों पर हिचकिचा जाते हैं। जो मनुष्य भोगों की सुविधा को मनुष्यता में सम्मिलित करना चाहते हैं, वे सत्यका अपमान करते हैं। मनुष्य ने मनुष्यता की रक्षा करते समय आजकल अनन्तवार भोगों की सुविधाको पैरों के तले रौंदा है। मनुष्यता की

रक्षा के समय मनुष्य को भोगों की उपेक्षा करनी ही पडती है। इसलिए भोगों की सुविधाको मनुष्यता में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। भोगों को मनुष्यता में सम्मिलित करना चाहनेवाली प्रवृत्ति को मनुष्यत्वहीनता या पशुता कहा जाता है। मनुष्यत्वहीन स्वार्थी लोग स्वराज्य पानेका उद्योग करें, यह स्वप्न की गाथा है!

अर्थ के लिये जीने की भावना ही स्वार्थ है। अर्थ और रोटी कपडे को ही जीवन का लक्ष्य समझकर उसी के पीछे पड जानेवाला मनुष्य अवश्य ही रुपये का गुलाम हो जायगा। ऐसा मनुष्य स्वतन्त्रता को कभी नहीं समझ सकेगा। वह अपने को रुपये के लिए जीवन भर बेचता फिरेगा, वह जीवनभर अपनी शक्ति के टके बनाता रहेगा। बोलचाल में रुपये को अर्थ कहा जाता है। परन्तु यह अर्थ नहीं है। यह पूरा पूरा अनर्थ है। यह मनुष्य को स्वतन्त्रतासे पृथक् रखनेवाला पदार्थ है। अत्याचारी इसी की नकेलको पकडकर मनुष्यके प्राणोंपर अधिकार जमाता है। जिसे संसार में दबकर रहना हो, उसे कुछ धनका मालिक बन जाना चाहिये। धन ही मनुष्य की स्वतन्त्रता छिनने का मार्ग है। धन मनुष्य की मनुष्यता हरनेवाली नकेल है। हम धन के उपयोग का विरोध नहीं कर रहे हैं। क्योंकि धनको अपना न मानकर भी उसका सदुपयोग किया जा सकता है। धन को अपना न मानकर उसका सदुपयोग करना ही स्वतन्त्रता है।

कुछ दिनसे देश में औद्योगिक स्वतन्त्रता नाम की अर्थहीन (बेमतलब) अलीक अवस्था को पाने की इच्छा जाग उठी है। यह देशसे स्वतन्त्रता को भुलवानेवाला वाग्जाल है। यह विदेशों की उधारी भावना है। इसे स्वतन्त्रता कहना दासता में मिठास उत्पन्न करके दासता को भी स्वतन्त्रता या स्वराज्य कहकर अपने को ठगना है। परन्तु दासता में स्वतन्त्रता का मिठास होना असम्भव है। इसी कारणसे विगत स्वराज्यसंग्राम रोकना पडा था। यदि वह न रुकता तो आश्चर्य होता। अभी भारत की ओरसे सच्ची लडाई छिडनी शेष है। सच्ची स्वतन्त्रता की लडाई असफलता नहीं जानती। शुद्ध स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता है। आर्थिक स्वतन्त्रता नाम की किसी स्वतन्त्रता का होना मनोविज्ञान के अनुसार असम्भव है। परतन्त्रता का ही दूसरा नाम आर्थिक स्वतन्त्रता है।

आर्थिक स्वतंत्रता का यही अर्थ है कि व्यय आयसे कम हो और हाथमें पैसा जमा रहे। परन्तु क्या हाथमें पैसा रहनेसे पैसे की प्यास मिट जायगी? जिनके हाथ में पैसा है, क्या उनकी पैसे की प्यास मिट चुकी है? क्या वे स्वतन्त्र हैं? जब कि करोडपति भी स्वतन्त्रता नहीं भोग रहे हैं, तब दोचार आने अधिक आयवाला कैसे स्वतन्त्र हो जायगा? पैसे की प्यास अर्थात् भोगों की अधीनता का मिट जाना ही स्वतंत्रता है।

आर्थिक स्वतंत्रता का अच्छे से अच्छा यही अर्थ हो सकता है कि मनुष्य अर्थ का दास अर्थात् अर्थ से कान पकडवानेवाला न रहे। अर्थवाले मनुष्य अर्थ के दास को ही अपना दास बना लेते हैं। वे उस को अर्थ के लिए अपना दास बनने के लिए विवश कर लेते हैं। परन्तु जो मनुष्य अर्थ की दासता छोड देता है, उसे दास बनानेवाली शक्ति आजतक संसारने नहीं जन्मायी।

अर्थ का दास न रहना तथा प्रचुर धन जमा करना, ये दोनों परस्परविरोधी अवस्था हैं। अर्थ का दास न रहने की अवस्था ऐसी अवस्था है कि इसके साथ किसी जमाखर्च का, गणित के हिसाब-किताब का, या पैसे के न्यूनाधिक होने का कोई संबन्ध नहीं है। मनुष्यता पैसों में आकने की वस्तु नहीं है। इन सब बातोंका सम्बन्ध तो केवल धनसंग्रह से है। जो मनुष्य रोटी, कपडे या रुपये पैसे का दास नहीं है, वह किसी का भी दास नहीं हो सकता। जो मनुष्य रोटी कपडे का दास है, उसे सर्वत्र सबका दास रहना पडेगा। दासता रोटी कपडे की दासता से ही प्रारम्भ होती है। सच्ची स्वतन्त्र मनोवृत्ति रोटी, कपडे या आराम की इच्छा से सर्वथा दूसरी प्रकार की है।

आज सारा भारत स्वतंत्र मनोवृत्ति से विपरीत

मनोवृत्तियों से भरा पडा है। आज इस देशमें ऐसी ही भावना काम कर रही है कि सूईके नकवे जितने स्थानपर खडा होने के लिये भी हमें किसी बन्दूक बन्द पशुशक्तिको मालिक मान लेना पडता है। बताओ कि ऐसे अभागे देशमें गोरों के दासमें तथा पशुशक्ति के दास में क्या भेद है? जब देशके मनमें से इस दासभावनाको हटाकर उसे सबके सच्चे मालिक परमात्मा से जोड दिया जायगा, तब भावना का रूप ही दूसरा होजायगा। तब भावना बदलकर यह हो जायगी कि, हमें संसार के स्रष्टा संसार के एकमात्र सम्राट् परमात्मा की भूमिपर अपनी ही संचारशक्ति से रहने का पूर्ण अधिकार है। हम इस पृथिवीपर सत्यरूपी परमात्मा की सेवा या दर्शन करने के लिएही जीते हैं। हम अपने जीवन में सत्य की रक्षा करते हुए उसी को प्रकट करने के लिये ही जीते हैं। हम अपने जीवनमें सत्यकी रक्षा करते हुए उसीको प्रकट रखने के लिए अपने देहका उपयोग करेंगे। हम सत्यको छोडकर अपना देह नहीं रखेंगे।

हम अपनी आंखोंसे सत्यकी विजय (सत्यको किसी से न दबनेवाला) देखने के लिए अपने देहों का बलिदान करके देहका सदुपयोग करेंगे। यही हमारी सिद्धि, सफलता, स्वराज्य, या जन्मसिद्ध अधिकार का आदर्श है। जब देश में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न होगी तब रोटी कमाने की भावना या उपार्जनवृत्ति को प्रतिष्ठित स्थान नहीं मिलेगा। इसलिए भारतीय सेवकों को देशवासियों की आय बढाने में शक्ति न लगाकर भारतीयों का चित्त दृढ करने में अपनी शक्ति लगानी चाहिए।

अपना शासन ही स्वराज्य शब्द का शब्दार्थ है। इस बात को विचारना चाहिये कि शासन में अपनापन क्या होता है? इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने के लिए गहरा उतरने की आवश्यकता है। संसार में एक सचाई राज्य कर रही है। वही सदा से मनुष्य बनती चली आ रही है। उसे आत्मा, ईश्वर या अपना आपा कहा जाता है। यहींसे अपनेपन का निकास हुआ है। मनुष्य में रहनेवाली अमर सचाई ही मनुष्य का अपनापन है। जिस समय मनुष्य इस अपने पन में, अर्थात् अपनी मनुष्यता में डट कर खडा हो जाता है, उस समय उसे ईश्वर दर्शन होता रहता है। उस समय वह अपने स्वरूप में होता है, वह अपने अधिकार में होता है। उस समय मनुष्य अनभिभवनीय होता है। कहावत है कि घर पर कुत्ता भी शेर हो जाता है। अपने अधिकार पर खडा होनेवाले के पास बल का अनन्त स्रोत बहकर आ जाता है। जो अपने अधिकार पर नहीं होता, उसे अन्त में मैदान छोडकर भागना पडता है। क्योंकि अनधिकारी पुरुष का, बल के स्रोत हार्दिक सचाईसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, इससे उसे अन्त में निरुत्साहित होना पडता है। वह अधिकारी के अधिकार पहचाननेतक ही बल की मिथ्या प्रदर्शनी करता है। सच्चे बल के सामने उस की प्रदर्शनी समाप्त हो जाती है।

अपने अधिकार पर डटने की अवस्था में संसार भर की शक्तियां सत्यारूढ मनुष्य की चरणवन्दना करने के लिये अपना माथा नवां देती हैं। यही 'शासन का अपनापन' या 'स्वराज्य का स्व' है। यही मनुष्य की सत्यावस्था है। सत्य और अपनेपन में कोई अन्तर नहीं है। शासनमें अपनापन ही मनुष्यसमाज की सत्यानुकूल अवस्था है। सत्य ही मनुष्य बना है। सत्य ही मनुष्य के भीतर राज कर रहा है। राज्य का अर्थ शासन करना है। सत्य ही इस संसार पर शासन करने योग्य वस्तु है। असत्य को संसार में कहीं भी शासन करने का अधिकार नहीं है। असत्य का शासन शासन नहीं है, वह अपहरण है। इस समस्त ब्रह्माण्ड पर सत्य का ही शासन तप रहा है। समस्त ब्रह्माण्ड का शासक सत्य ही मनुष्य के हृदय का राजा है। वही मनुष्य का स्वरूप है। उसी में से मनुष्य व्यक्त हुआ है। सत्यही सत्यारूढताका आनन्द लेनेके लिये मनुष्य बनता रहता है। इसलिए मनुष्यको चाहिये कि वह अपने जीवन में सत्यरूपी स्वरूपमें डटा रहे। वह तिलमात्र भी सत्य से न डिगे। जो बात एक मनुष्य को करनी चाहिये, वही बात सारे मनुष्यसमाज को करनी चाहिये। अर्थात् मनुष्यसमाज

को भी सत्य पर डटे रहना चाहिये। उसे सत्य से हटानेवालों का अदम्य तथा अत्याज्य विरोध करना चाहिये और अपने देशके शासन में अपनापन पैदा करना चाहिये। इस दृष्टि से स्वराज्य, सत्यका राज्य, अपना राज्य, मनुष्यता का राज्य, ये सब एक ही अर्थ को कहनेवाले शब्द हैं।

स्वराज्य मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है। यह स्वराज्य का महासूत्र है। इस सूत्रका सच्चा कर्तव्य-परायण अर्थ तो यह है कि जिसे मनुष्य रहना हो, उसे स्वराज्य लिए विना चैनसे नहीं बैठना चाहिए। परन्तु कुछ लोग इसके सच्चे अर्थ को न समझकर भारत के सम्बन्ध में इसका ऐसा समन्वय करना चाहते हैं कि क्योंकि भारतपर राज्य करना भारत-वासियों का जन्मसिद्ध अधिकार है, इसलिए इस सूत्रके अनुसार अंग्रेजों को हमारा अधिकार हमें देकर यहां से चला जाना चाहिए। आजकलके भारतीय स्वराज्यवादी इस सूत्रको अंग्रेजों के लिए उपदेशवाक्य बनाना चाहते हैं। इस सूत्रका यह अर्थ कदापि संगत नहीं है। कारण यह है कि अधिकारों की दुहाई को कोई नहीं सुनता। युक्तियों से निरुत्तर करने से ही स्वराज्य मिला करता होता, तो हम इस सूत्रका यह अर्थ मान लेते। परन्तु अनधिकारी के मुंह लगा खून अपने अधिकारों की रक्षा करनेवालों के पुरुषार्थ से ही छूटता है। जबतक अधिकार पहारी की लोभ की नसपर चोट नहीं पहुंचायी जाती तबतक कोई किसी का अधिकार छोडना नहीं चाहता। लोभी समझाने से नहीं मानता। उसपर युक्तियों का कोई प्रभाव नहीं होता। वह जबतक अपना प्रबल विरोध नहीं देख लेता तबतक अपने लोभ का संवरण नहीं करता। यदि समझाने से अनधिकारी मान जाते होते, तो अत्याचार का नाम संसार से लुप्त हो गया होता।

अत्याचारियों का लोभ बलात्कार से छुडाना पडता है। बलात्कार ही लोभ छुडाने का अनादिकाल से खुला हुआ राजमार्ग है। इसलिए इस स्वराज्य-सूत्रका अर्थ भी इस अनादि नियम के अनुसार ही होना चाहिए अर्थात् भारत को अपने ही पुरुषार्थ से स्वराज्यप्राप्ति की आशा बनानी चाहिए। भारत को भारतीय स्वराज्य के विषय में अंग्रेजों से तो एक भी शब्द नहीं कहना चाहिये। इस विषय में अंग्रेजों से कुछ कहने का भारत का कोई भी अधिकार नहीं है। बिचारे अंग्रेज तो भारतीय स्वराज्यके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कर सकते। वे बिचारे तो भारत की मौनाज्ञासे भारत पर राज्य कर रहे हैं। भारत चाहे तो अपनी इस मौनाज्ञा को लौटा सकता है। जिस भारत को विधाताने सब कुछ करने का अधिकार दिया है, वह भारत अनधिकारी के सामने हाथ फैलाकर गिडगिडाना फिरे, यह उसकी मस्तिष्कहीनता है। अंग्रेज भारत के सम्बन्ध में जो भूल कर रहे हैं, उसे सुधारने के उत्तरदाता स्वयं अंग्रेजही हैं। भारत को उन्हें उनकी भूल सुझाने का भी अधिकार नहीं है। यह अंग्रेजों के ही विवेक से संबन्ध रखनेवाली बात है कि वे भारत के साथ कैसा बर्ताव करें? स्वाभिमानी भारत उन से इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने को उद्यत नहीं है। क्योंकि उनसे कुछ कहना अपना अपमान करना और उनका अहंकार बढाना है।

हम भारतीय स्वराज्य को किसी भी रूपमें अंग्रेजों के वश की बात नहीं देख रहे हैं। भारतीय स्वराज्य केवल भारत के ऊपर निर्भर है। भारतने ही उन्हें यह अधिकार दे रखा है। भारत अंग्रेजोंकी अधिकार-रक्षा के लिए ७ लाख नौकर दे रहा है। यदि भारत असहयोगपर तुल पडे, तो अंग्रेजों का भारत शासन असम्भव हो जाय। भारतके निश्चय की देर है।

३५ करोड मनुष्या का निश्चय हिमालय को अपने स्थान से उठाकर भारतसागर में ले जाकर डुबो सकता है। यदि भारत सचेत हो, तो भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एक घंटे का काम है। भारत केवल अनुत्साह का रोगी। उसे अपने राष्ट्रबल की कल्पना नहीं है। जिस दिन भारत को अपने राष्ट्रबल की कल्पना हो जायगी, उस दिन अंग्रेज हाथ मलते

रह जायगे और भारत स्वतंत्र हो चुका होगा। जिस दिन भारत का विशाल राष्ट्रबल जागा हुआ होगा और भारत अपने जागे हुए राष्ट्रबल से स्वराज्य लेने का दृढ निश्चय कर लेगा, उस दिन भारत हाथ में फूंस का तिनका भी उठाये विना स्वराज्य ले लेगा। उस दिन स्वराज्य भारत की मुट्ठी में नाच रहा होगा।

अपने ऊपर केवल अपना अधिकार होना ही 'स्वराज्य' है। कोई भी अनधिकारी दूसरे से अपनी किसी भी प्रकार की आज्ञा न मनवा सके यही व्यावहारीक स्वराज्य है। अपने बल बूतेपर अपने पैरों खडा हो जाना ही स्वराज्य है। बल- कोई भीक नहीं है, जो किसी को मांगनेसे मिल जाती हो। बल तो मानसिक दृढता का नाम है। कोई किसी को मंगा हुआ मानसिक बल नहीं दे सकता। न तो मानसिक बल मांगने की वस्तु है और न देने की वस्तु है। बल को मांगने तथा देनेवाले दोनों मूर्ख तथा धोकेबाज हैं। दोनों दोनों को ठगना चाहते हैं। स्वराज्य तथा देश का मनोबल ये दोनों एक बात हैं। इसलिये बलके समान स्वराज्य भी मांगने या देने की वस्तु नहीं है। जो स्वराज्य मांगता और जो देता है, दोनों दोनों को ठगना चाह रहे हैं। स्वराज्य देना और मांगना एक दूसरे की आंख में धूल झोंकना है। जब से संसार बना है, तबसे आजतक भीखमंगों पर स्वराज्य कभी नहीं आया। भीख के खप्पर में स्वराज्य कभी नहीं दिया गया। स्वराज्य उन तेजस्वी लोगों के चरणों में अपने आप आकर लोटा है, जिन्होंने मांगना छोड दिया और अपने मनोबल को ही स्वराज्य माना है। जो स्वराज्य दूसरेके देने से आता है, वह दूसरोंके ही छीनने से भाग भी जाता है। वह दूसरों को ही हाथ की कठपुतली होता है।

इस स्वराज्यसूत्र के उपर्युक्त अर्थ ने भारत के स्वराज्यप्राप्ति के कर्तव्य को अंग्रेजों के ऊपर डाल दिया है और भारत का कर्तव्यहीनता की नींद लेने का एक और अवसर दे दिया है। इसने भारत की आंखों को अंग्रेजों की मुट्ठी की ओर लगा दिया है। स्वराज्य प्राप्त करना भारत का ही कर्तव्य है। स्वराज्य देना अंग्रेजों का कर्तव्य नहीं है। अंग्रेजों का दिया हुआ स्वराज्य स्वराज्य नहीं होगा। वह पानी में घुला हुआ दूध के रंग का आटा होगा। वह भी जब चाहे लौटाया जा सकेगा। यदि किसी आकस्मिक कारण से भारत की वर्तमान निर्बल मानसिक परिस्थिति में अंग्रेज भारत को स्वराज्य देकर भाग जांय, तो वह स्वराज्य विदेशी आक्रमण की विपत्ति को बुलानेवाला होगा। जो भारत अपने मनोबल से अंग्रेजों को हटाने में असमर्थ होगा वह भारत दूसरे राष्ट्र के आक्रमण को भी नहीं हटा सकेगा। इसलिये भारतीय मानसिक बलसे कमाया हुआ स्वराज्य ही स्वराज्य होगा। भारत की मानसिक चेतना को देखकर अंग्रेजों का अपने को भारत छोडने के लिये विवश देखनाही भारत का स्वराज्य होगा। वही मानसिक चैतन्य विदेशी आक्रमणों की रुकावट बनकर देशको सुरक्षित रख सकेगा।

जन्मसिद्ध अधिकार वह अधिकार है, जो मनुष्य को जन्म से ही प्राप्त रहता है। अर्थात् कभी वियुक्त नहीं होता, जिसे पाना नहीं पडता, जो कभी मनुष्य से पृथक् हो ही नहीं सकता, जिसे मनुष्य अपने साथ लेकर आता है, जिस अधिकार को छोडते ही मनुष्य मनुष्य नहीं रहता, किन्तु मनुष्य की सूरत का पशु बन जाता है।

जब कि स्वराज्य मनुष्य को जन्म से स्वभाव से ही मिला हुआ अधिकार है, तब स्वराज्यसे पृथक् या वंचित रहने की तो कोई अवस्था स्वीकार नहीं की जा सकती। उत्तरदायित्वहीन मनुष्यों की बात छोड दीजिये। प्रामाणिक मनुष्यों के ऊपर यह उत्तरदायित्व है कि वे अपने जन्मके साथ जिस अधिकार को लेकर आये थे, उन्होंने उस की रक्षा की? या उसे खो दिया?

सचमुच स्वराज्य के पाने का प्रश्न बडा झूठा प्रश्न है। मनुष्य केवल स्वराज्य को खो सकता है, पा नहीं सकता। स्वराज्य तो मनुष्य को जन्म से ही मिल

जाता है। मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ तथा उसके लिये डर इन दो बातों से जन्म से मिले हुए स्वराज्य को खो देता है। स्वराज्य नामका अधिकार मनुष्य को जन्म से ही मिलता है। वह जन्म लेने के पश्चात् कहीं बाहरसे नहीं आता। जिस दिन मनुष्य को होश आता है, उस दिन उसके सामने दो विरोधी प्रश्न आते हैं कि या तो अब तुम स्वराज्य की रक्षा करो और उसके लिये आत्मत्याग करो। और यदि यह न कर सको तो स्वराज्य को खो डालो। जिस मनुष्य को जन्म से ही स्वराज्य मिलता है, उसका कहीं बाहर से स्वराज्य आने की प्रतीक्षा में बैठे रहना मस्तिष्कहीनताकी सूचना है।

भारतमें स्वराज्य न होना, यह सिद्ध कर रहा है कि जो स्वराज्य जन्म से ही भारतवासियों के अधिकारमें होना चाहिये था, उन्होंने उसकी रक्षा नहीं की। अर्थात् भारत ने स्वराज्य के विना रहना स्वीकार कर लिया है। स्वराज्यविना रहना पसन्द करना मनुष्यता के विना रहना पसन्द करने के बराबर है। मनुष्यताके विना मनुष्यजीवन बिताना लुहार की धौंकनी के समान श्वास लेते रहना है। जिस वस्तु से जीवन सार्थक होता है, उसी के विना जीवित रहने से जीवन मूल्यहीन तीन कौडी का हो जाता है।

जिस समय मनुष्य को अपने में मनुष्यता का न होना खटकने लगता है, तब उसे मनुष्यता प्राप्त होने में विलम्ब नहीं होता। मनुष्यता के अभाव का अखरने लगना और उसे पा लेना, दोनों एक बात है। ये पृथक् बात नहीं हैं। ये दोनों एक ही साथ होती हैं। इन दोनों के बीचमें समय या कारण कोई नहीं है। जिसे अपने में मनुष्यता का न होना खटका है, उसने मनुष्यता को तत्क्षण पाकर छोडा है। जब सोया हुआ मनुष्य जागने की आवश्यकता अनुभव कर लेता है, उस समय उससे जागे विना नहीं रहा जाता। जब अन्धेरेवाले मनुष्य को प्रकाश की इच्छा होती है, तब वह अन्धकार को हटाये विना नहीं मानती।

यदि भारत में स्वतंत्रता की इच्छा मनुष्यता के नामपर हो तब ही हम उसे स्वराज्य की इच्छा कह सकते हैं। यदि भारत की स्वतंत्रता की इच्छा भारतीय मनुष्यता के नाम पर होगी, तो वह पूरी हुए विना नहीं रहेगी। मनुष्यता ही मनुष्यजाति का सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। मनुष्य मनुष्यताके नामपर जितने भी काम छेडेगा, वह उन सबमें अजेय रहेगा। कारण यह है कि उस में मनुष्य को अपने स्वभाव का सहयोग प्राप्त होगा। उसमें मनुष्य को अपने संपूर्ण गुणों को दिखाने का अवसर प्राप्त होगा। चोरी में मनुष्य मनुष्यता का वर्चस नहीं दिखा सकता। चोरी के विरोध मेंही मनुष्यता का गौरव (जौहर) देखनेको मिलता है। चोरीमें वीरता नहीं दिखाई जा सकती। चोरी रोकनेमें ही वीरता दिखाई जा सकती है। मनुष्यता मनुष्य का ऐसा साथी है, जो भयंकर से भयंकर उत्पातों में भी मनुष्य का साथ नहीं छोडती। जब भारत की स्वराज्येच्छा इसी सर्वशक्तिमती मनुष्यताके नामपर होगी, तब भारत की मनुष्यता यह सिद्ध करके दिखायेगी कि भारत में स्वराज्यकी अर्थात् मनुष्यता की सच्ची चाह उत्पन्न हो गयी है। जिस प्रकार जलता हुआ दीपक जलानेवाले की प्रकाश की अवन्ध्य इच्छा का पता देता है, इसी प्रकार स्वराज्य की लडाई लडनेवाले का स्वराज्यप्रेम उसकी मुट्ठीमें आये हुए स्वराज्य से ही जाना जाता है। जब स्वराज्यसंग्राम समग्र जीवनके लिये स्वराज्य-रक्षाका रूप धारण कर लेता है, तब स्वराज्य की लडाई किसी शिकार पीछे लगायी हुई दौडके समान अनिश्चित दौड नहीं रहती।

यदि ऐसा न हो और स्वराज्यके लडाकों को यह शिकायत करनी पडे कि हमें लडकर भी स्वराज्य नहीं मिला, तब यह मानना पडेगा कि वे स्वराज्य पाने के लिये नहीं लडे थे। यदि कोई मनुष्य अंधेरेमें से प्रकाश में जानेको कहकर फिर अंधेरेमें ही पडा रह जाय, तो वह अपने व्यवहारसे अंधेरेमें रहनेकी इच्छाको अपनाकर यह सिद्ध करता है, कि उसको कभी भी प्रकाशमें जानेकी

इच्छा न थी। किन्तु उसके मनमें यह था कि मुझे कुछ करना न पडे और किसी बाह्य सहायता से प्रकाश मिल जाय, तो अच्छा हो। मुझे प्रकाश के नामपर कोई साहस या त्याग न करना पडे। मुझे अपना वर्तमान साहसहीन जीवन भी न छोडना पडे और प्रकाश भी प्राप्त हो जाय। जो मनुष्य अंधेरेमें निष्क्रिय निरुद्योग होकर पडा रहना चाहता है, उसे अंधेरा बुरा नहीं लगता। उसे तो अंधकार निष्क्रियता (निकम्मापन) और आलस्य के लिये इतना प्रेम है कि वह कुछ न करके सब कुछ पाना चाहता है। अंधेरेमें आलसी रहकर प्रकाश में जाने की इच्छा अंधेरेकोही प्रकाशके रूपमें पानेकी असंभव इच्छा है।

जो मनुष्य अपने को सांसारिक सुखभोगों की दासतामें जकडकर स्वराज्यसंग्राम लडना चाहते हैं वे अंधेरेमें रहकर प्रकाश पाना चाहते हैं। वे अंधेरेकोही प्रकाश बनाना चाहते हैं. ऐसे लोग या तो संग्राममें ही नहीं जांयगे, जांयगे तो वीरता दिखाने का अवसर आते ही पीठ दिखाकर चले आयेंगे। उन्हें जब उनके सुखभोग याद आयेंगे तब उनके मनको निर्बल तथा उत्साहहीन कर डालेंगे। सुखभोग की लडाई को दासों की लडाई कहा जाता है। दासोंकी लडाईको चाहे स्वराज्य का नाम दे दिया जाय, परन्तु वे स्वतंत्रता के लिये नहीं लडते। वे तो अपने सांसारिक सुखों के अर्थात् स्वेच्छाचार के काटे को हटाना चाहते हैं।यदि स्वतंत्रता भी किसी तरह की दासता होती, तो हम इस लडाई को भी स्वतंत्रता की लडाई कह देते। परन्तु यह लडाई तो भोगों की रुकावट को हटानेकी इच्छा है। इस लडाई में स्वतंत्रता की झलक नहीं आ सकती।

स्वतंत्रता मनुष्यसे पूछती है कि इन्द्रियों के भोगोंको इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है? किसी की मनुष्यता की रक्षा के लिये सांसारिक भोग्य पदार्थों का मनुष्य के अधिकार में होना आवश्यक नहीं है, मनुष्य भोग्य पदार्थों के जमघट्ट के बिना भी मनुष्य रह सकता है। विलासिता (आरामतलबी) को मनुष्यता का नाम नहीं दिया जा सकता। मनुष्यता किन्हीं बाह्य साधनों का मुंह नहीं तक सकती। मनुष्योचित मनोदशाको सुरक्षित रखकर ही मनुष्यता का जीवन बिताया जा सकता है।

जिस क्षण स्वराज्य की मांग उत्पन्न हो जाती है, उसी क्षण स्वराज्य आ चुकता है। यह बात तो सर्वथा असंभव है कि संपूर्ण राष्ट्रमें स्वराज्य न चाहनेवाला कोई भी न रहे। परन्तु क्या केवल इस छोटेसे बहानेसे देशमें स्वराज्य आना असंभव रह सकता है? यदि स्वराज्य के साथ सब का चाहना आवश्यक माना जायगा, तो स्वराज्य आना असंभव हो जायगा। ऐसी कोई अवस्था नहीं हो सकती, जिसे सब स्वीकार कर लें। समाज के सर्वोत्तम कल्याण को दृष्टिमें रखनेवाले मनुष्य जिस बातको स्वीकार कर लेंगे, सारा लोकमत उसे कभी स्वीकार नहीं करेगा। कुछ अवस्थायें ऐसी होंगी, जिनका सन्त तो स्वागत करेंगे, परन्तु वे चोरों को स्वीकार नहीं होंगी। ऐसी अवस्थामें चोर चाहे उन्हें स्वीकार न करें, परन्तु उन्हें मनुष्य-मात्रको स्वीकार तो करना ही चाहिये। इस दृष्टिसे स्वराज्य की परिभाषा ऐसी होनी चाहिये. जो स्वराज्यका संपूर्ण अर्थ बतानेवाली हो। वह परि-भाषा ऐसी हो कि कोई भी जनकल्याण की आध्यात्मिक दृष्टिसे उसका विरोध न कर सके।

स्वराज्यकी परिभाषा।

'स्वराज्य उस राजव्यवस्थाका नाम है. जो देशके प्रत्येक मनुष्य के स्वीकार करने के योग्य हो, जो मनुष्यसमाजके सर्वोत्तम सार्वजनिक कल्याण को दृष्टि के सामने रखकर बनायी हो, जिस राज्यव्यवस्था से मनुष्यता के नैतिक आधार पर चोट न पहुंचती हो।' इस प्रकारके स्वराज्य की मांग सार्वजनिक न हो, तो पडीमत हो, उससे स्वराज्य की कुछ हानि नहीं है। स्वराज्यकी मांग-का सार्वजनिक न होना स्वराज्यकी रुकावट नहीं है। स्वराज्य तो वह चीज है, जिसे आंधा, लूला,

लंगडा अपायज मनुष्य भी भोग सकता हो। जिस स्वराज्यकी परिभाषा ऊपर लिखी है, यह स्वराज्य ऐसा ही स्वराज्य है। इसे एक दो या दस जितने मनुष्य चाहें भोग सकते हैं। दूसरे लोग उन एक दो या दसको सहयोग न दें तब भी वे उसे पा सकते हैं और तब भी उन्हें स्वराज्य का उद्योग चालू रखना चाहिये।

परन्तु इससे कोई यह न समझे, ये एक दो या दस पांच मनुष्य सारे देशके लिये अर्थात् सारे देशकी ओरसे स्वराज्य पा सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने ही लिये स्वराज्य पा सकता है। प्रत्येक मनुष्य केवल अपने को ही स्वतंत्र कर सकता है। भारतमें ३५ करोड मनुष्य हैं। आप इसके ३५ करोडवें भाग हैं। आप इस पैंतीस करोडवे भागको ही स्वतंत्र करने के उत्तरदाता हैं। आपपर इससे अधिक कोई उत्तरदायित्व नहीं है। जितनी शक्ति उतना कर्तव्य। शक्तिसे अधिक कर्तव्य नहीं होता। शक्ति ही कर्तव्यकी सीमा है। यदि आप अपने आपको स्वतंत्र कर चुके हो, तो आप स्वतंत्र भारत के निवासी बन चुके हो। तब आप पराधीन भारत में नहीं हो। भारतके शेष मनुष्य पराधीन रहें, तो उन्हें रहने दीजिये। उनकी पराधीनता से आपकी स्वाधीनता नहीं बिगड सकती। आप अपने आपको स्वतंत्र कर लेनेके पश्चात् जहां कहीं घूमोगे, वहीं आपका स्वतंत्र भारत आपकी जेबमें पडा पडा आप के साथ घूमेगा। अर्थात् आप पृथिवी के जिस किसी भागमें जाओगे, वहीं अपने जीवनको सत्यपर निछावर करके अपनी ही अकेली शक्तिसे अपने स्वतंत्र देशके सम्मान को सुरक्षित रखने के लिये उद्यत रहोगे। यदि आपने अपने आपको स्वतंत्र नहीं बनाया होगा और आप दूसरों के साथ मिलकर या दूसरों को अपने पीछे चलाकर स्वतंत्रता पाने की खिलवाड करते रहोगे, तो आप अपने आपको धोका दोगे।

स्वतंत्रताके लिए संगठनकी बडी रौल सुनी जाती है। परन्तु उसके लिए संगठन की आवश्यकता आजतक कभी नहीं हुई। स्वतंत्रता इन कृत्रिम संगठना के बुलानेसे कभी नहीं आई। रजिस्टरोंमें लम्बे चौडी गिनती लिखाकर बनाए हुए कृत्रिम संगठन स्वतंत्रता को न आने देने के लिए होते हैं। इसीसे विरोधी शक्ति ऐसे संगठन हो जाने देती है। स्वतंत्रता लानेवाले संगठन इन संगठनों से सर्वथा विपरीत स्वभाव के होते हैं। वे देश में स्वतंत्रता को आने के लिए विवश कर देते हैं। संगठन उस कठोर मिलन का नाम है, जब किसी काम को करने के लिए एकत्रित होनेवाले दस-पांच मनुष्य सौ हजार या लाख की डाट से भी अपना काम छोडकर पीछे नहीं हटते। वह काम इन दसपांच के शरीरों से पूरा हो या न हो; परन्तु इन प्रत्येक के मन में अपनी अन्तिम ऊष्मा (गरमी) तक इस काम को पूरा करने का दृढ, अजेय, अत्याज्य, अदम्य और अनभिभवनीय संकल्प होना चाहिये।

शक्ति मनुष्यों के शरीरों में नहीं रहती। वह मनुष्य के मन में रहती है। इसलिए मानसिक शक्तियों का संगठन ही संगठन हैं। शरीरों का एक साथ मिल बैठना और मनों का एक सिद्धांत पर न अडना संगठन नहीं है। निर्बल मनवाले मनुष्य एक साथ मिलकर शक्तिमान् नहीं बन सकते। वे तो अपनी अपनी निर्बलताओं को इकट्ठा कर लेते हैं। परन्तु बलवान् मन रखनेवाले मनुष्य सत्यकी रक्षा करने के लिए अर्थात् पवित्र कार्यों के लिए स्वभाव से ही संगठित होते हैं।

जो संगठन शिकायत करने तथा मांग पूरी करने के लिए होते हैं, वे संगठित दासता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। जो संगठन दासताको जड से उखाड फेंकने के लिए होते हैं, वे इस प्रकार झुंड बनाने से भिन्न प्रकार के होते हैं। निर्बल मनुष्य एक साथ मिलकर कोई बडा काम नहीं कर सकते।

दुर्भाग्य से भारत का वर्तमान स्वराज्यार्थी संगठन शिकायत और मांग के ही लिए है। वह

भीख मांगनेवाला संगठन है। जैसे भीख मांगनेवाला स्वाभिमान को ताकपर रखकर भीक मांग मांगकर अमीर बनना चाहता है, इसी प्रकार कांग्रेसका संगठन भारतीय स्वाभिमान को भुला कर ब्रिटिश सरकार के दरबार का भिखारी बना हुआ है। वह संगठन कहलाने योग्य नहीं है। इसमें स्वराज्य लाने की शक्ति नहीं है।

संसार की स्वराज्य की परिभाषा में ही दूषण है। वह स्वराज्य के तत्व को नहीं समझ रहा है। इसीसे संसार का ध्यान सच्चे स्वराज्य की ओर से हट गया है। संसार के लोग किसी देशपर उसी देशवासियों के शासन को स्वराज्य मानना चाहते हैं और इस स्वराज्यसूत्र को इसी अर्थ में सीमित करना चाहते हैं। संसार की यह धारणा भ्रमपूर्ण है। जब कि स्वराज्य को जन्मसिद्ध अधिकार बताया जाता है, तब बताइये कि जो अधिकार मनुष्य के पास जन्म से ही साथ आया हो, उसे कौन छीन सकता है? यदि वह छिन गया हो, तो वह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार कैसे है? जन्मसिद्ध अधिकार तो मनुष्य से कभी वियुक्त होना ही नहीं चाहिए। जो अधिकार वियुक्त हो जाता हो, उसे जन्मसिद्ध अधिकार मानना छोड देना चाहिए। देखते हैं कि देशों के शासनाधिकार छिन जाते हैं। जब छिन जाते हैं तब किसी देश का स्वयंशासित होना जन्मसिद्ध अधिकार कहां रहा? इससे प्रतीत होता है कि जन्मसिद्ध अधिकार कोई दूसरी ही बात है। यदि यही अधिकार जन्मसिद्ध अधिकार होता, तो कभी किसी देशपर किसी दूसरे देश का शासन न हो पाता। इसी कारण इस सूत्र का यह अर्थ ठीक नहीं है। मनुष्य के पाससे हट जानेवाले किसी अधिकार को उसका जन्मसिद्ध अधिकार कैसे मान लिया जाय? कहने का तात्पर्य यही है कि अपने देशपर अपना अधिकार होना, यह स्वराज्यका संपूर्ण अर्थ नहीं है। स्वराज्य नामक अवस्था इस अवस्था से बहुत ऊंची है। वह अवस्था इस अवस्था के बिना भी अर्थात् स्वयं-शासित न होने की अवस्था में भी रह सकती है। यदि घटनावश किसी देश की भूमि पर स्वदेशवासियों का अधिकार न हो, तबभी उसमें स्वराज्यभोगी लोग रह सकते हैं। तब भी उस देश के स्वतंत्र मनवाले मनुष्य स्वराज्य नामक जन्मसिद्ध अधिकार को भोग सकते हैं। इसलिए जन्मसिद्ध अधिकार की परिभाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसे इक्केदुक्के स्वराज्यसेवक लोग भी भोग सकें। इसलिये आइये जन्मसिद्ध अधिकार का संभावित अर्थ ढूंढें कि वह, क्या हो सकता है?

जन्मसिद्ध अधिकार।

जन्मसिद्ध अधिकार वह अधिकार है, जिसे भोगने में मनुष्य को किसी भी दूसरे के ऊपर निर्भर न रहना पडे, जिसे वह अकेला भी ले सके। भौतिक अधिकार ऐसा अधिकार है कि इसमें मनुष्य को दूसरों के अधीन रहना ही पडता है। इसलिए भौतिक अधिकार को जन्मसिद्ध अधिकार नहीं कहा जा सकता। मनुष्य को प्रत्येक बात में प्रकृति के हाथ के नीचे रहना पडता है, वह प्रकृति की घटनाओं के विषय में निपट अंधा है। वह नहीं जानता कब किस का क्या हो जानेवाला है, वह अपनी इच्छानुसार भोगों का संग्रह तथा उनका भोग करने में भी स्वाधीन नहीं है। इसलिये भौतिक पदार्थों का मालिक बन जाना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है। आध्यात्मिक अर्थात् मानसिक अधिकार ही ऐसा अधिकार है, जिस में मनुष्य को किसी के भी ऊपर निर्भर नहीं होना पडेगा। अकेला मनुष्य भी आध्यात्मिक तेज दिखा सकता है। मनुष्य के अधिकार में केवल एक बात है कि, वह अपने देह को अपने मनमाने उपयोग में लगाये और दूसरे के मनमाने उपयोग में लगाने का अवसर आते ही उस को दृढता से मना कर दे। केवल इसी बात में मनुष्य स्वतंत्र है। बस यही मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। अनधिकारी के अनधिकार को अस्वीकार कर देना, और इसके

लिए सारे संभावित कष्टों को ललकार देना ही मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।

मनुष्य का शरीर ही मनुष्य का किला है। वह इस किले का स्वामी दुर्गपाल बनकर संसार भरके शत्रुओं का विरोध अन्तिम क्षण तक करता रह सकता है। मनुष्य चाहे तो इस शरीर को सचाई का विमल आनन्द भोगने में भी लगा सकता है और चाहे तो विषयाधीन बनकर इसे सुखदुःख के अकाट्य बन्धन में भी डाल सकता है। मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार का यदि कोई सुन्दर से सुन्दर अभिप्राय हो सकता है, तो वह यही हो सकता है कि, वह अपनी पतित होने तथा महान् बनने की स्वतंत्रता का सदुपयोग करे। अर्थात् पतित न होकर महान् बने। अर्थात् सत्यपर डटकर खडा हो जाय, जीवन का आनन्द लूटे और कह दे कि आज से मुझपर मेरा ही अधिकार है, किसी दूसरे का नहीं। यही मनुष्य का एकमात्र जन्मसिद्ध अधिकार है। अपने ऊपर पराधिकार को न मानना और माना जा रहा, तो उसे अस्वीकार कर देना ही मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।

सम्मानित मनुष्यों का जीवन बिताना ही मनुष्य का जन्मजात अधिकार है। प्रत्येक मनुष्य को ईश्वरने यह अधिकार देकर भेजा है कि, जाओ संसार में सम्मान का जीवन बिताकर आओ। जब कोई तुम्हारे सम्मानपर चोट करे, तब अपनी मनुष्यता के नामपर उसका विरोध करके अपने सम्मान को बचाकर लाओ। जो मनुष्य या देश इस अपने जन्मसिद्ध अधिकार की रक्षा करने पर तुल जायगा, वह अपने को अनन्त शक्तिमान् पायेगा। क्योंकि उसके हृदय में बसनेवाले देवता इस काम में उसकी सहायता को दौड पडेंगे। यही वह अधिकार है, जिसे मनुष्य से संसार की सारी शक्ति मिल कर भी नहीं छीन सकती। इस अधिकार को पाने के लिए किसी बाह्य सहायता या संगठन की आवश्यकता नहीं पडती। क्योंकि मनुष्य इस अधिकार को तो जन्म से ही अपने साथ लाया है। इससे भिन्न अन्य किसी भी प्रकार का अधिकार मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार नहीं कहा जा सकता। जो होना चाहिए, उस बात पर डटकर खडे हो जाना और संसार भरके ललकारने पर भी विचलित न होना ही मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।

जो होना चाहिए, वही स्वराज्य है। जो नहीं होना चाहिए, वही स्वराज्य से विपरीत पराधीनता या परराज्य हैं। पराधीनता या परराज्य को स्वीकार करके जीवन के दिन काटना ही किसी राष्ट्र की हिंसा या आत्मघात हैं। इस आत्मघात के पाप को छोड देना ही राष्ट्र की अहिंसा हैं।

स्वराज्यसे देशको टुकडा मिलने लगेगा, देशको भौतिक आराम मिलेगा, इस प्रकार का स्वराज्यवाद भी भारत में जहां तहां सुनने में आता है। वह स्वराज्य नहीं है। इस स्वराज्य में मनुष्य के निर्बल बनने का पूरा अवसर है। देशको टुकडा और भौतिक आराम मिलेगा, यह बात केवल कहने और सुनने में ही अच्छी लगती है। इस मीठी बात से जनता को फुसलाकर अपने झुंड में सम्मिलित करना सरल होता है। परन्तु इस प्रकार लालचके बने झुंड स्वतन्त्रता का बडा विकृत रूप होते हैं। यह परतन्त्रता है। ऐसी लोगों की भीड सदा भागने के काम आती है। स्वराज्य मनुष्य को इसलिए नहीं चाहना चाहिए कि, इससे रोटी, कपडा मिलेगा। रोटी, कपडा तो अमीरोंके कुत्तों, घोडों तथा चपरासियों को भी बहुत बढिया मिल जाता है। क्या इस रोटी, कपडे को उनका स्वराज्य कहा जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं। रोटी, कपडे और स्वराज्यका कोई सम्बन्ध नहीं है। हो सकता है कि स्वराज्य लेने में लगा हुआ सारा देश स्वराज्य लेता लेता अपने

प्राणापर खेल जाय और उसके हाथमें अन्तिम श्वास तक भी भौतिक स्वराज्य न आय। परन्तु क्या स्वतन्त्रताके नामपर मिट जानेवाले उस देशने स्वराज्य नहीं पा लिया? या हम तो कहेंगे कि चाहे उस देशमें रोटी, कपडों के भोगके लिए एक भी मनुष्य शेष न न रहा हो, तब भी उस देशने स्वराज्य पा लिया। वह तो स्वराज्य पाकर ही स्वराज्य के लिए लडने चला था। बिना स्वराज्य पाये हुए लोग स्वराज्य-रक्षाके लिए नहीं लड सकते।

सचमुच भारतको रोटी, कपडे के लिए स्वराज्य की आवश्यकता नहीं है। किंतु स्वराज्य के बिना संमानित मनुष्य नहीं बना जा सकता, इसीलिए उसे स्वराज्य की आवश्यकता है। यह स्वराज्य ऐसा स्वराज्य है कि जिसके पीछे उत्साह, सामर्थ्य और निश्चित विजयका अनन्त खजाना लगा हुआ है। इस स्वराज्य का सैनिक रोटी के लिए लडनेवाले के समान संग्रामक्षेत्रसे पीठ दिखाकर नहीं लौट सकता। इसका सैनिक या तो विजय या जाज्वल्यमान मौत इन दोनों में से एकको वरता है। वह संग्राम-विमुखता को कभी नहीं अपनाता। जबतक भारत रोटीकपडे के लिए स्वराज्य का युद्ध छेडता रहेगा, तबतक रोटी-कपडेपर चोट आते ही विगत संग्रामके समान युद्ध छोडकर भागता रहेगा। परन्तु जिस दिन भारत स्वाभिमान, मनुष्यता अर्थात् अपनी अहिंसा के नामपर युद्ध छेडेगा, उस दिन युद्धको भारत को स्वतन्त्र किए विना कैसी भी प्रबल पशु-शक्ति के दबाव से बन्द नहीं किया जा सकेगा।

मनुष्य के समान पशुपक्षी भी अपने घरोंपर दूसरों का शासन स्वीकार करने को उद्यत नहीं होते। इस स्वभाव में मनुष्य के मन की उच्चता का आभास नहीं है। यह स्वभाव मनुष्यों और पशुओं के शरीरों की भोगेच्छा का परिणाम है। मनुष्य भी अपने घरमें अपने भोगकी स्वतन्त्रता में किसी दूसरे को बाधक देखना नहीं चाहता। इसीसे उसे अपने घर में दूसरे का शासन सहन नहीं होता। परन्तु दूसरे के असह्य होने में स्वतंत्रताकी झलक कहीं नहीं है।

स्वतंत्रता इस स्वभाव से बहुत ऊंची अवस्था है। स्वतन्त्रता का स्वभाव पशुओं में कहीं नहीं पाया जाता। स्वतंत्रता केवल मनुष्य के मन की चीज है। पशुस्वभावसे ही पराधीन बद्ध प्राणी है। उसके पास अपमान नाम की स्थिति नहीं है। परन्तु मनुष्य के पास अपमान का सवाल है। मानापमान का प्रश्न ही मनुष्य का अस्तित्व है। यदि यह प्रश्न नहीं, तो मनुष्यमनुष्य नहीं है। अपमान या तिरस्कार न सहना, अपमान या तिरस्कार को अस्वीकार करके स्वाभिमानकी रक्षा करना, यह केवल मनुष्य के ही मनकी विशेषता है। यही मनुष्य की स्वतंत्रता का अभ्रान्त रूप है।

दूसरे देशके लोग दूसरोंके देशोंमें जाकर वहां के भोगोंके बाधक बन जाते हैं। इसी से विदेशियों का प्रवेश बुरा माना जाता है। ऐसे प्रसंगोंपर सब देशवासी मिलकर विदेशियों को भगाते हैं। मिलकर विदेशियोंको भगाना ही 'राष्ट्रीय भाव' कहाते हैं। मनुष्यकी भोगाकांक्षाही राष्ट्रसंगठन का मूलाधार है।

जिस प्रकार मनुष्य अपने घरमें दूसरेका घुसना असह्य मानता है, इसी प्रकार मनुष्यसमाज अपने देशमें विदेशियों के प्रवेश को स्वभाव से ही बुरा मानता आया है। अब आगे यह दिखाया जायगा कि, जिस कारण से अपने देशमें दूसरों का प्रवेश असह्य होता है, उसी कारणसे अपने देशमें दूसरों को बुलाया जाता है।

जब राष्ट्रमें परस्परकलह और स्वार्थ फैल जाता है, तब देशमें मिलकर शत्रुविरोध करने का भाव ढीला पड जाता है। तब सब अपने अपने आराम तथा भोगों के लिये विदेशियोंसे सहायता लेने लगते हैं। तब पारस्परिक संगठन शिथिल तथा छिन्नभिन्न हो जाता है। मनुष्य सांसारिक

सुखोंकी अभिलाषा से दूसरोंके चरणों में मस्तक तक रख देता है। जब कोई विदेशी शक्ति आकर राष्ट्रपर आक्रमण करती हैं, तब राष्ट्र के पास जनता की शत्रुविरोध करनेवाली संगठित शक्ति न होनेसे उस राष्ट्रपर विदेशी शासन जम जाता है।

अब आप इस बात को देख लीजिए कि जो भोगाकांक्षा राष्ट्र में राष्ट्रीय भाव उत्पन्न करके उन्हें बाह्य आक्रमणों से बचाती है, वही भोगाकांक्षा फूट और स्वार्थ के राज्य में विदेशियों को बुलाकर ले आती है और देश को परतंत्र बनाती है। इस के साथ स्वतंत्रता का कोई सम्बंध नहीं है। अपने देशपर अपने शासन के सिद्धांत का मूलाधार भोगाकांक्षा हैं। वह इतना तुच्छ और अविश्वास्य हैं कि, उसे स्वतंत्रता नहीं माना जा सकता। जो आधार विदेशियों को बुलाकर भी ला सकता है और स्वतंत्रता को छिनवा भी सकता हैं, उसीको स्वतंत्रताका आधार बना लेना बडी भारी अविचारशीलता है। इस सिद्धांतको माननेसे स्वराज्य के सैनिकों में निर्बलता आ जायगी और वे संग्राम छोडकर भाग जांयगे। जबतक मनुष्य के मनमें भोगाकांक्षा रहेगी तबतक उसे सच्ची स्वतंत्रता तथा शान्ति नहीं मिलेगी।

जिस देश में सच्ची स्वतंत्रता की भावना जागी रहती है, अर्थात् जिस देशके लोग आराम से जीवन बिताने के लिए नहीं, किन्तु मनुष्य को स्वतंत्र रहना चाहिए, इसीलिए स्वतंत्रता की उपासना करते हैं, उस देश में कोई भी विदेशी शक्ति अपने पैर नहीं जमा सकती। सच्ची स्वतंत्रता का स्वरूप यही है कि राष्ट्र के घरघर में पूर्णता, मनुष्यता, स्वाभिमान, भ्रमशून्यता और आनन्दरूपता स्वभाव बन चुका हो। राष्ट्र का प्रत्येक मनुष्य सत्यरक्षा के लिए अपने को अजेय दुर्ग माननेवाला हो। राष्ट्र का अकेला अकेला मनुष्य भी असत्य के विरोध के लिए लाख का विरोध करने के लिये भी खडा हो जाने के उत्साह से भरपूर हो। राष्ट्र का कोई भी मनुष्य किसी अधिकारहीन पुरुष की आज्ञा मानना घोर पाप माननेवाला बन चुका हो। राष्ट्रका प्रत्येक मनुष्य अपने ऊपर केवल अपना ही अधिकार माननेवाला हो। जिस देश में ऐसी स्वतंत्रता लहर मारने लगती है, वह ही देश स्वतंत्रताका विमल आनन्द भोगता है।

यदि परतंत्र देश के निवासी इस भावना को अपना लें, तो वे एक ही क्षण में स्वतंत्र होने का आनन्द ले सकते हैं। जिस देश में सच्ची स्वतंत्रता की भावना जागी नहीं होती, वह चाहे अपने देश में स्वयं ही शासन क्यों न कर रहा हो, तब भी वह दास है। वर्तमान योरोप के एक एक घंटे में स्वतंत्रता खोनेवाले देश इस बात की साक्षी दे रहे हैं कि, वे सच्ची स्वत्रातंता नहीं भोग रहे थे। उनमें भोगाकांक्षा राज्य कर रही थी। उस भोगाकांक्षा ने आक्रामकके सामने झट घुटने टेक दिये। सचमुच वे देश विषयों के दास थे। विषयों के दास अपने विषयों के खो जाने के डर से देश की सामूहिक लूटका विरोध त्यागकर विषयलिप्त हो जाते हैं। आज सारे संसार पर भोगाकांक्षा का ही राज्य तप रहा है।

दासता विषयों से ही प्रारंभ होती है। विषयों के दास ही दास कहाते हैं। वे एक दूसरे का दास होना सह लेते हैं। आक्रामक लोग तो अपने भोगों के लिए मनुष्यता का अपमान करते हैं और आक्रान्त लोग अपने भोगों के लिये उसे सह लेते हैं। परन्तु जिन मनुष्यों के मनमें सच्ची स्वतंत्रताकी भावना आठ पहर जागी रहती है, वे तो परतन्त्र समझे जानेवाले देशोंमें रहकर भी स्वतंत्रता का आनन्द चखते रहते हैं। संसारकी बडी से बडी शक्ति न तो उनका अपमान कर सकती है और न उनके आनन्द को घटा सकती है।

जब तक सच्ची स्वतंत्रताकी भावना नहीं आती, तब तक देशपर विदेशी शासन जमा रहता है। क्योंकि मनुष्यसमाजने भोगोंको बडा भारी महत्व

दे डाला है, इसलिये सब देशोंपर सब समय बाह्य आक्रमणों की संभावना बनी रहती है। परन्तु जो देश सच्ची स्वतंत्रताको पहचानते हैं, वे न तो किसी की अधीनता स्वीकार कर सकते हैं और न किसी को अपने अधीन करना चाहते हैं।

भोगाकांक्षासे अर्थात् शरीरबन्धन से मुक्त मनुष्य ही भौतिक भयों के विरोध में डटकर खडे हो सकते हैं। स्वतंत्रता चाहनेवालों को सबसे प्रथम अपने शरीरसे अपने स्वजनों से, अपनी संपत्तिसे मुक्त होना चाहिये। स्वतंत्रतादेवी मनुष्य के इस त्याग मेंसे ही प्रारंभ होती है। यह त्याग ही स्वतंत्रता का सबसे पहला अंकुर है। यही स्वतंत्रता राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रसव करती है। जो लोग देशमें राष्ट्रीय स्वतंत्रता देखना चाहते हों, उनको देशमें विदेह जीवन्मुक्त ईश्वर के राज्यमें रहनेवाले स्वतंत्र मनुष्यों का निर्माण करना चाहिये।

ईश्वरको छोडकर दूसरे किसी के भी वश को स्वीकार न करना 'स्वतंत्रता' या 'स्वराज्य' है। अर्थात् अपने ईश्वरके भरोसे अपने पैरोंपर खडे होकर जीवन बिताना 'स्वतंत्रता' है। जो मनुष्य सत्यको कभी नहीं छोडता, वही ईश्वर का भरोसा कर सकता है। ऐसे मनुष्यों के पास ईश्वर की ओर से बल प्रवाहित होता रहता है। उनके जीवन में ऐसी अपूर्वता आ जाती है कि वे अपने को कभी निर्बल नहीं पाते। संसारकी कोई भी शक्ति ऐसे मनुष्योंपर भय या दबाव डालकर अपना प्रभाव नहीं जमा सकती। ऐसे मनुष्य कभी किसी के दास नहीं बन सकते। ऐसे मनुष्य न तो पराधिकार खाते हैं और न किसी अनधिकारी को निजाधिकार खाने देते हैं। वे हर्ष, ईर्ष्या आदि को अपने पास तक नहीं फटकने देते। आत्मतृप्ति, पवित्रता तथा आत्मदर्शन यही ऐसे लोगों का जीवनलक्ष्य होता है। इनके मनोराज्य में हर्ष, शोक, अवसाद, आलस्य, अकर्तव्य, आकर्षण, विकर्षण, प्रभाव, परवशता, पातित्य आदि को प्रवेश नहीं मिल सकता। ऐसे लोग अनुकूल, प्रतिकूल सब परिस्थितियों में स्थिर रहते हैं। ये सदा अनासक्तिरूपी अमृतपान करते रहते हैं। जब तक किसी युद्ध में इस प्रकार के विश्वविजयी वीर सम्मिलित नहीं होते, तबतक वह युद्ध नाटकमात्र रहता है। ऐसे युद्ध विजय पाये विना बन्द हो जाते हैं। आत्मविजय ही विश्व-विजय का मूल मन्त्र है। आत्मविजयी मनुष्यों द्वारा छेडे हुए युद्ध उनकी अन्तिम चेतना तक चलते हैं, तथा शत्रुका नाश किये विना नहीं रोके जाते।

जो मनुष्य सचाईको त्याग देते हैं, वे एक दूसरे को हानि पहुंचाने लगते हैं। एक दूसरे को हानि पहुंचानेसे परस्पर विरोध खडा हो जाता है। जहां परस्पर विरोध होता है, वहां निर्बलता आ जाती है। एकताही ईश्वरीय शक्ति है। स्वार्थ से एकता भाग जाती है। अपने को देशसे पृथक् समझकर केवल अपने हानिलाभपर दृष्टि रखना, तथा देशके हानिलाभ की उपेक्षा करना, अर्थात् देशकी हानि करके स्वयं लाभवान् बननेकी इच्छा करना 'स्वार्थ' कहाता है। सचाई तो यह है कि स्वार्थी मनुष्य अपनी सबसे बडी हानि करते हैं। स्वार्थी अपने शत्रु होते हैं। वे कभी लाभ नहीं उठाते। लाभ पहुंचानेवाली पद्धतिपर कुठार चलानाही स्वार्थसाधन है। स्वार्थी सदा अपनी हानि करते हैं। हानि उठानेवाला तथा स्वार्थी ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। स्वार्थी सदा अपने ही दुष्ट प्रयत्नोंसे लाभसे वंचित रहते हैं वे अपने दुष्ट प्रयत्नों से समाज तथा देशको भी लाभ से वंचित कर देते हैं। वे अपने आपको भी समाज तथा देशके प्रेमसे वंचित कर लेते हैं। जिसके हृदयमें स्वार्थ घुसा बैठा है, वह शैतान का दास है। स्वार्थ छोडना और स्वतंत्र होना एकही बात है। स्वार्थहीन मनुष्योंसेही स्वतंत्र देशों का निर्माण होता है।

जबतक देशमें ईश्वरदर्शी मनुष्यों की संख्या नहीं बढेगी, बताओ कि तब तक देश पराधीनता के विरुद्ध उठ खडा होने को साहस कहां से

लायेगा? सामर्थ्य का दर्शन ही ईश्वरदर्शन है। मनकी दृढता ही सामर्थ्य का स्वरूप है। असत्य का मानमर्दन और सत्यकी स्थापना ही मनकी दृढता है। असामर्थ्य से संग्रामही सामर्थ्य का स्वरूप है। निर्बल न रहना ही सामर्थ्य है। यही ईश्वरदर्शन है। जबतक मनुष्य अपने हृदयस्थ सत्यनारायण या अपनी मनुष्यता में से बल को बुलाना नहीं सीखेगा, तब तक संसारमें सबसे पिटनेको उद्यत हो जायगा। परन्तु जब वह अपने हृदयके देवता का अर्थात् आत्मबल का भंडार पा लेगा और वहां से बल बुलाना सीख जायगा तब उसकी आज्ञा पाते ही ईश्वरों को अपनी ईश्वरलीला खेलनी पडेगी।

ईश्वरभक्त ईश्वर के अधीन नहीं होते। ईश्वर ही भक्तों के अधीन होता है। उसे अपने भक्तों की इच्छानुसार उनकी सेवामें उपस्थित होना पडता है। जिस वीर प्रह्लाद बालक के दृढ मन की आज्ञा पाते ही नरसिंहावतारको खम्बे से निकलनेके लिये विवश होना पड़ा था, उस वीर बालक का ईश्वर को प्रकट होनेके लिये विवश करनेवाला वीर हृदय ही भगवान् था। जिस समय मनुष्य का हृदय अपने आपको अर्थात् अपने संसारको अपनी मनुष्यताके चरणों में भेट चढाता है, उस समय संसारमें ईश्वरीय लीला होती हैं। जिनजिनको आजतक ईश्वरदर्शन करने का यशस्वी नाम मिला है, उन सबके मन पवित्र थे। यही उनकी साधारण मनुष्यों से विशेषता थी। इसलिये हम क्यों न उनकी इस विशेष अवस्था कोही ईश्वरदर्शनकी अवस्था मानें? अर्थात् हम यह क्यों न मान लें कि मनुष्य का पवित्र मनही ईश्वर है ! ईश्वरदर्शी मनुष्यका अपने पवित्र मनके साथ समर्पण का संबन्ध रहता है। पवित्र मनहा मनुष्यका आराध्य देव है।

इस पवित्र मनके अतिरिक्त हमसे पृथक् शासक के रूपमें ईश्वर माननेवाला विचार भ्रमसे पूर्ण है। ऐसा ईश्वर आजतक संसारने नहीं देखा। मान लें कभी दीखेगा, तो भी उससे मनुष्य की मनुष्यता का क्या लाभ होगा? सो बताना चाहिये। निश्चय ही इस तटस्थ ईश्वर से संसार का कोई लाभ नहीं है। इस तटस्थ ईश्वर की कल्पनाने ही सम्प्रदायों के साथ मिलकर संसार में खूनकी नदी बहायी है। इस बातको आगे न बढने देकर हम फिर अपने प्रतिपाद्य विषयपर आते हैं कि ईश्वरदर्शी मनुष्यों की बढती से ही किसी समाज की प्रतिष्ठा बढती है। ईश्वरदर्शी की यही परिभाषा है कि, जो केवल अपनी पवित्रता का भक्त है, जो अपने आपको एक क्षण के लिये भी धोके में नहीं रखता, जो अभ्रान्त जीवन बिताता है। जो अपने दुःखों को अपनी अनासक्ति के प्रभाव से तिरस्कृत करता रहता है, जो रागद्वेष, ममता तथा अहंकार से रहित है, संयमी है, दृढनिश्चयी है, वह ईश्वरदर्शी है। जो पराधिकार न खानेवाला तथा निजाधिकार न खाने देनेवाला, हर्ष, ईर्ष्या तथा भयसे रहित है, स्थिरबुद्धि है, उसे ईश्वरदर्शन हो रहा है। उसका ऐसा होनाही ईश्वर-दर्शन है। जिसमें आत्मतृप्ति है, पवित्रता है, उदासीनता है, जो विरोधी तथा सहायक दोनों परिस्थितियों में स्थिर रहकर अनासक्तिरूपी अमृत पीता रहता है, उसे ईश्वरदर्शन हो रहा है।

जब कभी ईश्वर मनुष्यको दीखेगा, तब मनमें इन्हीं गुणों के विकास के रूपमें दीखेगा। वह कभी किसी भौतिक चेहरेके रूपमें नहीं दीखेगा। जब देशमें इस स्वरूपभूत ईश्वरदर्शियोंकी संख्या बढेगी, तब किसी भी लोभी का भारत पर गृध्रदृष्टि डालना असंभव हो जायगा।

बहुधा यह विश्वास पाया जाता है कि ईश्वरदर्शन जीवनयात्रामें कभी अकस्मात् होनेवाली कोई अलौकिक घटना है। परन्तु ईश्वरदर्शन का लौकिकपना और उसके दर्शन का कभी कभी होना दोनों घोर अज्ञान की कल्पना हैं। ईश्वरदर्शन कर्तव्यपालनसे पृथक् कोई स्थिति नहीं

है। कर्तव्य-पालन का यह स्वभाव है कि उससे मनुष्यको कुछ न कुछ भौतिक हानि उठानी पडती है। उस हानिको सहने के लिये एक विशेष तेज की आवश्यकता पडती है। वह तेजही मनुष्य का ईश्वर है। कर्तव्यपालन के समय सत्य नारायण अपनी कठोरता दिखाने लगते हैं। भौतिक सुखसुविधा कर्तव्यपालन को टालना चाहती है। कर्तव्यपालन के समय अपने को अकर्तव्य की ओर झुकानेवाली मनोवृत्ति को डाटना पडता है। तब मनुष्यको अपने आत्मबलके दर्बारमें से बल बुलाना पडता है। असत्य का विरोध करने के लिये जहां से बल आता है, वहीं 'ईश्वर का दरबार' है। यह बल अपने अपने पवित्र हृदयों में से आता है, इसलिये अपने हृदयकी पवित्रता ही 'ईश्वर का दरबार' है। असत्य का विरोध करने के लिये मनुष्यको बाहर कहीं से भी बल नहीं आता।

उसे बलके लिये अपनेही हृदय का द्वार खटखटाना पडता है। बलकी पुकार सुनते ही अन्दर से हार्दिक बल का स्रोत फूट पडता है। जिन्होंने संकट के अवसरोंपर बलके लिये बाहरकी ओर अपनी कातर आंखोंको नहीं फेंका, किन्तु बल के लिये अपनी मानसिक पवित्रता की शरण ली है, उन्होंने संसार को बल के स्रोत का पता देकर धन्य किया है। संसारके संपूर्ण महापुरुषोंने अपने हृदय से ही बल प्राप्त किया है। उन्होंने उस बलके सहारेसे अपने कर्तव्य का पालन किया है। अर्थात् उन्होंने कर्तव्यपालन में आनेवाली मानसिक निर्बलताओं को अपने हार्दिक बलसे परास्त किया है। मनुष्य की जो शक्ति मानवीय निर्बलताओंको कुचलवाती है, वही ईश्वर है उस शक्तिका व्यावहारिक जीवन में आ जानाही ईश्वर-दर्शन है। कर्तव्यपालनमें ही ईश्वर का दर्शन होता है। जिन्हें कर्तव्यपालन से पृथक् कर्तव्यहीन सूने जंगलमें ईश्वरदर्शन हुआ है, उन सब लोगोंने ईश्वरदर्शन के नामपर अपने को ठगा हैं। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

स्वतंत्र मनुष्यों की यही पहचान है कि वे किसी भी अवस्थामें परमात्मा अर्थात् सत्य को छोडकर किसी भी दूसरे की अधीनता मानने को उद्यत नहीं होते। उनका किसी अनीश्वर राज्य के शासन को स्वीकार करना असंभव बात होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि, असत्य के शासन को न मानना अर्थात् उसकी प्रत्येक आज्ञा को टाल देना ही 'स्वतंत्रता' की निष्कलंक परिभाषा है। पवित्र हृदयों की पवित्रताही सत्यका स्वरूप है। जो स्वतंत्र मन सत्य से भिन्न किसी भी शासन (हकूमत) को सहने को उद्यत नहीं हो सकते, वे अपनी पवित्रता के रक्षक और पवित्रता के ही आज्ञाकारी माने जाते हैं। यही पवित्र मनों की स्वतंत्रता का स्वरूप है। वे अपने पवित्र मनके सामने संसारकी संपूर्ण राक्षसी शक्तिको ठुकरा देते हैं। अपवित्रता को त्यागनेवाली अर्थात् अपवित्रता से रहित मनोदशाही 'पवित्रता' कहाती है। पवित्रता मनकी ही एक सत्कारणीय अवस्था है।

भौतिक संपत्ति तथा दूसरे देहों के आकर्षण के साथ बंधा जाना मनकी अपवित्रता है। क्योंकि यह कर्तव्यभ्रष्ट होनेकी अवस्था है। भौतिक संपत्तिके मोहमें फंसे हुए लोगोंको कर्तव्यहीन कर देना कौन कठिन है? इससे यह अभिप्राय हाथ आ गया है कि स्वतंत्रता पार्थिव वस्तु नहीं है। किन्तु मानसिक अवस्था है। अपने स्वाभिमानमें मस्त रहना, तथा इस मस्ती की उदात्तता को भोगनेके लिये अपने जीवनोपकरणों में आसक्ति उठा लेना ही स्वतंत्र मनुष्यों की स्वतंत्रता का स्वरूप है। अपनेको भौतिक पदार्थोंका मालिक मानना 'दासता' है। कुछ पदार्थोंका मालिक बननेकी इच्छा ही दासता का स्वरूप है। अन्य संपूर्ण प्रकारकी दासता इसी दासता से उत्पन्न होती हैं। हम इसी को नास्तिकता या ईश्वरविद्वेष नामसे कहना चाहते हैं। घर बाहर स्वजनबान्धव आदि ही भौतिक पदार्थ कहाते हैं।

जिस समय स्वतंत्रतारूपी अमृत-भंडार के भंडारी स्वाभिमानी मनुष्यों के सामने स्वतंत्रता की रक्षा करनेका प्रश्न उपस्थित होता है, तब वे भौतिक पदार्थोंकी मोहममता से अपने कान पकडवाने को उद्यत नहीं होते। यद्यपि सच्चे मनुष्य दूसरे मनुष्यों के समानही भौतिक पदार्थों से वेष्टित होकर अपने घरोंमें रहते हैं, परन्तु वे घर बाहर के मोहको यह अधिकार नहीं देते कि वह उनके स्वाभिमानपर चोट पहुंचा सके। वे स्वाभिमानका आह्वान होते ही घरोंके मोहको तोडकर स्वाभिमानकी चौकीदारी करने लगते हैं।

यह मनुष्य कुछ घरोंका तुच्छ मालिक नहीं है। सच्चा मनुष्य स्वतंत्रता के सर्वव्यापी अमृतभंडार का मालिक है, वह घरके बन्धन में कैसे रह सकता है? सच्चा मनुष्य अपनी मोहरक्षा के लिये दूसरों को अपने कान पकडने का अवसार कैसे दे सकता है? अमृत का पुत्र यह मनुष्य चाहे भी जहां रहे, यह सबही जगत् अपने सर्वशक्तिमान् पिताकी सर्वव्यापी गोदमें खेलता रहता है, तथा सत्यकी उस अक्षय, अनन्त संपत्तिका अधिकारी बना रहता है, जिसे न काल खा सकता है, न भूकम्प हिला सकता है, न राक्षस चाब सकता है, और न लुटेरा लूट सकता है।

यही वह अभौतिक संपत्ति है, जिसमें मनुष्यमात्र का सार्वजनिक अधिकार है। इसका भौतिक संपत्ति से कोई संबन्ध नहीं है। इसीको मनुष्य नामवाली मानसिक स्थिति कहा जाता है। जिस समय मनुष्य इस संपत्तिको अपना लेता है, उस समय उसे यह निश्चय हो जाता है कि जो संपत्ति मनुष्यको मनुष्य बनाती है वह तो सब यह मनुष्य के पास बराबर बराबर रहती है। जो संपत्ति बराबर बराबर नहीं रहती है, उसका लोभ मनुष्यको पशु बना देता है। यह मनुष्यसे मनुष्यको पृथक् करती है, लुटवाती है, पिटवाती है और एक दूसरे के खून का प्यासा बना देती है। इस लिये वह मनुष्य के अपनाने योग्य संपत्ति नहीं है। उसका होना या न होना मनुष्यता का सहायक नहीं है, परन्तु यह मानसिक संपत्ति ऐसी संपत्ति है जो सब मनुष्यों में बंटकरभी किसी के पास न्यूनाधिक नहीं पहुंचती। यह सब के पास पूरी पूरी पहुंचती है और अपने सब सेवकों को पूर्ण बनाकर छोडती है। पार्थिव संपत्तिमें तो न्यूनाधिक होनेका अनिवार्य महादोष लगा हुआ है। पार्थिव संपत्तिका यह दोष को प्रयत्नों से भी नहीं हटाया जा सकता। पार्थिव संपत्ति मनुष्य को निश्चित रूपसे स्वार्थान्ध तथा अज्ञानी बनाती है। उसका लोभी उस मनुष्य अपने जीवन भर न्यूनके लिये रोता और अधिक के लिये तरसता रहता है। उसके पास मनुष्यजीवनको सफल बनानेवाली अलम् (बस) या संतोष नामकी अवस्था कदापि नहीं आती। परन्तु अपार्थिव संपत्तिमें पार्थिव संपत्ति के इन दोषोंमें से कोई भी दोष नहीं पाया जाता।

जिस मनुष्यकी खोपडी स्वतंत्रता का ऊंचा नाम लेकर सब मनुष्योंमें भौतिक संपत्तिको समान भागमें बांटनेकी अपूरणीय निष्फल इच्छा में व्यग्र हो जाती है, वह अपने ही दूषित प्रयत्नोंसे स्वतंत्रताके दिव्य प्रकाशसे वंचित होकर दासमनोवृत्ति का शिकार बनकर दयनीय अवस्थामें फंस जाता है। इस प्रकार ये अविश्वासी लोग यह समझनेके अयोग्य बन जाते हैं कि सच्ची स्वतंत्रता या सच्ची मनुष्यता उन्हें तबही हाथ आ सकती है और वे तब ही ईश्वर की अतुल संपत्ति के मालिक बन सकते हैं, जब कि वे परमात्मा के उस राज्य के समान हिस्सेदार बन जांय जिस राज्यमें किसी से किसी के विरोध का प्रश्न उठना संभव नहीं है।

मनुष्यकी मनुष्यताही परमात्मा का राज्य है। मनुष्यताही सच्चे मनुष्यों का आराध्य देव सत्यनारायण रूपी परमात्मा है। जैसे सूर्य में परमात्मा तेजोरूप होगया है, इसी प्रकार मनुष्योंमें परमात्मा का वास मनुष्यताके रूपमें प्रकट होता है। जिस मनुष्यमें परमात्मा का वास होता है, उसमें

मनुष्यताका वास होता है । मनुष्यताके वासको ही परमात्माका वास कहा जाता है। परमात्मा स्वभावसे सर्व रूपमें व्यक्त होता रहता है। इस स्वभाववाला परमात्मा मानवदेहावतीर्ण होते समय मनुष्यताका रूप धारण कर लेता है । जो मनुष्य ऐसी मनुष्यताके गौरवको अपना लेता है, उसे पार्थिव संपत्तिके बोझों की आवश्यकता नहीं रहती । जिस प्रकार वमन को वान्तभोजियोंके लिये छोड दिया जाता है, इसी प्रकार मनुष्यताके उपासक तथा प्रेमी लोग भौतिक संपत्तिको इसपर लड़ मरनेवालोंके हाथोंमें छोडकर, इससे उदास रहकर अपनेको स्वतंत्रताकी उदार तथा उद्वेगरहित अवस्थामें प्रतिष्ठित कर लेते हैं ।

जो किसीसे लूटता है या जो किसीको लूटता है, वे दोनोंके भौतिक संपत्तिके झगडालू कीडे हैं। लूटनेवाला तथा लुटनेवाला दोनों दास मनोवृत्ति-के एक समान शिकार हैं । इन दोनोंके मनोंको पार्थिव संपत्तिकी भेडियोंकी सी भूक सताती रहती है । जिस प्रकार बकरीके बच्चेको खा डालनेवाला भेडिया पशुपनमें बकरीके बच्चेसे ऊंचा नहीं है, इसी प्रकार लूटनेवाले को लुटनेवालेसे ऊंचा मत मानो । लूटनेवाले दुष्टमें लुटनेवाले कायरसे अधिक मनुष्यता या सभ्यता है, इस भ्रममें कोई भी न रहे । जैसे किसी दुष्टसे लुट जाना निन्दनीय मनोदशा है। इसी प्रकार लूटनाभी उससे कम निन्दा और घृणा के योग्य बात नहीं है । ये दोनों मनुष्य नाम पानेके अयोग्य और मनुष्यतासे निर्वासित हैं ।

मनुष्यता नामकी ऊंची स्थिति उसी मनुष्यके पास है, जो न तो किसीको लूटता है और न अपने जीते जी किसीसे लूटा जा सकता है । मनुष्यता-नामवाली यह ऊंची अवस्था अर्थात् सत्यनामकी अक्षय संपत्ति उसी पुरुषके पास रह सकती है और वही पुरुष अपने को स्वतंत्र रख सकता है, जो भौतिक संपत्तिसे रहित या सहित दोनों अवस्थाओंमें अपने को भौतिक संपत्तिके बन्धनसे मुक्त रख सकता है । ऐसा पुरुषही स्वतंत्र पुरुष कहलाने को योग्य होता है । जिस देशमें ऐसे पुरुष बसते हैं वह देश स्वतंत्र देश कहाता है ।

जिस प्रकार स्वतंत्र मन किसी भौतिक वस्तु के बन्धनमें नहीं रहता, इसी प्रकार वह अपनेको किसी भौगोलिक सीमा या किसी भूखण्डके भीतर सुरक्षित या अरक्षित मानने की भूल कभी नहीं करता । वह स्वतंत्र होने में अपने देशकी ३५ करोड की जनसंख्याका ३५ करोडवां भागही क्यों न हो और चाहे देशकी शेष महती जन-संख्या स्वतंत्र रहने में उसका साथ देती हो या न देती हो, वह स्वयं स्वतंत्रताका पूर्ण अधिकारी बन कर उसीकी रक्षामें मग्न रहता है ।

स्वतंत्र पुरुषके मनमें इस प्रकारके बहाने को स्थान नहीं मिल सकता कि क्योंकि देशके सब लोगोंने बन्धन को स्वीकार कर रखा है, इसलिये मुझेभी लाचार होकर उनके साथ पराधीन ही रहना पडेगा । जो मनुष्य सब दासों तथा दास-मनोवृत्तियोंसे नाता तोड चुकने के पश्चात् संसार भरके विरोध को उपेक्षा कर सकनेवाली अजेय अनन्त शक्तिको अपने हृदयसिंहासन पर अधिकार जमाकर बैठी हुई पा रहा है,वह संसारके चाहे जिस भागमें चला जाय, उसका स्वतंत्र देश उसी के साथ साथ घूमता है । उसके स्वतंत्र देशपर संसारकी कोई शक्ति शासन नहीं कर सकती ।

स्वतंत्र समझा जानेवाला कोई सारी भूमि खण्ड (देश) किसी दासमनोवृत्ति रखनेवाले मनुष्यको स्वतंत्र नहीं बना सकता । किरायेपर रखे हुए हत्यारों की बडीसे बडी संख्या जो किसी कायर के शरीरकी रक्षा के लिये रखी जाती है, कायर की कायरता को नहीं हरा सकती, वह उसे वीर नहीं बना सकती ।

स्वतंत्र मनुष्य इस बातपर कभी विश्वास नहीं करता, कि मनुष्यकी मनुष्यता या स्वतंत्रता किसी

भूखण्ड की सीमामें या अस्त्रशस्त्रों की अनकूलता पर निर्भर रह सकता है। स्वतंत्र मनुष्य पूर्ण रूपसे ईश्वरके हाथमें समर्पित होकर ऐश्वरी शक्तिसे पूर्ण शक्तिमान् बनकर, अपने लिये संसारकी सब महिमाओंको तुच्छातितुच्छ जानकर केवल 'ईश्वर का 'होने में ही गौरव मानता है।

सत्यके साथ अटूट संबन्ध रखना ही स्वतंत्रता का मूल मन्त्र है। परमात्मासे अखण्ड्य संबन्ध जुड जाना ही ईश्वरभक्ति या अध्यात्म है। जैसे सत्य स्वतंत्र मनुष्यकी स्वतंत्रता है, इसी प्रकार वह आध्यात्मिक की आध्यात्मिकताभी है। स्वतंत्र मनुष्य अपने को कदापि सत्यसे च्युत असत्यका उपासक या शैतान का दास बननेवाली पतितावस्था में जाना कदापि नहीं सह सकता। न तो आध्यात्मिकतासे हीन स्वतंत्रता हो सकती है और न स्वतंत्रतासे रहित ईश्वरभक्ति हो सकती है।

जो लोग आध्यात्मिकताको तिलांजलि देकर स्वतंत्रता कमाना चाहते हैं, वे बिना बुनियादका महल चिनना चाहते हैं। इसी प्रकार जो स्वतंत्र हुए बिना ईश्वरभक्ति करना चाहते हैं, वे भी अपने को धोका देते हैं। भारतका स्वतंत्रताहीन ईश्वर-विश्वास धोके की टट्टी बना हुआ है। भारतके ईश्वरविश्वासने ईश्वरको विषयभोग बांटनेवाला भंडारी बना दिया है। उसने समझा है कि कोई दया, क्षमा, तथा प्रार्थना सुननेवाली विशालकाय सत्ता मनुष्य की दयाभिक्षा, क्षमाप्रार्थना तथा विषयों की मांग पूरी करनेके लिये उद्यत बैठी है मनुष्य उसका भिखारी है और वह भीखका भंडारी है। यही भारतका वर्तमान ईश्वरविश्वासका रूप है। भारत की वर्तमान ईश्वरभक्ति भोगोंकी मांग के बिना कुछ नहीं है। यहभी ईश्वरकी पराधीनता है। जिस दिन भारतीय स्वतंत्रता तथा भारतीय ईश्वरविश्वास दोनों बात मिलकर एक वस्तु हो जायगे उस दिन भारत आस्तिक कर स्वराज्यभोगी बनेगा।

इसी प्रकार आध्यात्मिकतासे रहित स्वतंत्रता नामकी भी कोई स्थिति नहीं होती। अंग्रेजोंके आनेसे प्रथम भारतमें भारतवासियों का ही शासन था। क्या उसे भारतकी स्वतंत्र अवस्था कहा जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं। अपने देशमें अपने देशवासियों का शासन होने मात्रसे हम किसी देशको स्वतंत्र देश मानने को उद्यत नहीं हैं। वर्तमान योरोपकी घटनाओंने युद्धके आह्वानमात्रसे पराधीनता स्वीकार करके अपनी स्वशासित होने की स्वतंत्रताका खोखलापन सिद्ध कर दिया है। हम स्वातंत्र्यसूत्रको ढूंढनेके लिये भारतके विगत इतिहासपर ही दृष्टि डालना चाहते हैं। अर्जुन जबतक भोगवादी रहा, तबतक अपने अधिकार परसे शत्रुको हटानेमें असमर्थ रहा, अर्थात् आनाकानी करता रहा। परंतु जब श्रीकृष्णने उसे आत्मदर्शन कराया तब वह अनधिकारीसे लोहा लेनेको उद्यत हो गया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भोग स्वतंत्रता का बाधक है, तथा आध्यात्मिकता स्वतंत्रताकी साधक है। आध्यात्मिकतासे हीन स्वतंत्रता हो सकती है, इस बातपर हम विश्वास नहीं कर सकते।

जब तक कर्तव्यत्यागी को कर्तव्यतत्पर करनेवाली महाभारतकीसी आध्यात्मिक विचारधाराके द्वारा भारतकी वर्तमान मानसिक जडताकी चिकित्सा नहीं की जायगी तबतक भारतको सच्चा स्वातंत्र्यसुख प्राप्त नहीं हो सकेगा। जबतक देशमें स्वराज्यप्राप्तिके लिये आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न नहीं किया जायगा, तबतक भारत लाउड स्पीकरोंसे बढाये हुए प्रस्तावोंके कोलाहल में वक्ताओंके औपनिवेशिक स्वप्नराज्यमें बिजली की जगमगाती रोशनीमें लम्बे चौडे शामयानों में बैठकर स्वराज्यका स्वप्न देखता रहेगा।

इस स्वराज्ययोजना को सुनकर आजकलकी विचारपद्धति कहेगी कि यह स्वराज्य तो आध्यात्मिक स्वराज्य हुआ। देश ऐसा आध्यात्मिक स्वराज्य नहीं चाहता। उसे तो केवल भौतिक

स्वराज्यकी आवश्यकता है। आध्यात्मिक स्वराज्य १-२ मनुष्य ले सकते हैं। संपूर्ण राष्ट्र आध्यात्मिक स्वराज्य नहीं ले सकता। यह कहना सर्वथा विचारहीन है। यह स्वराज्य को न समझनेकी स्थिति है। भौतिक स्वराज्य लेना नानीका घर नहीं है। उसे लेनेके लिये भी तो देशवासियोंको कठोर हो कर लोहा लेना पडेगा। बताओ कि क्या भौतिक स्वराज्य लेनेके लिये मानसिक दृढताकी आवश्यकता नहीं पडेगी? पडेगी और अवश्य पडेगी, यह तो सब ही स्वीकार करेंगे। जब यह बात स्वीकार करनी ही पडेगी, तब हम कहेंगे कि भौतिक स्वराज्य लेने के लिये जिस मानसिक दृढताकी आवश्यकता पडेगी, उसी को तो आप आध्यात्मिक स्वराज्य कहकर टाल देना चाहते हो। यदि सारे देशमें आत्मज्ञान या आध्यात्मिकता के प्रचारसे निर्भयता नहीं फैला दी जायगी, तो देशसेवाके लिये निर्भय सैनिक कहांसे मिल जांयगे? आध्यात्मिक विचारोंसे ही मनुष्य निर्भय बनता है। जबतक मनुष्य सृष्टि-नियमको नहीं पहचानता तब क निर्भय नहीं बनता। आध्यात्मिक स्वराज्य ले चुका हुआ देश ही भौतिक स्वराज्य ले सकता है। आध्यात्मिक स्वराज्य से निर्भय बने विना भौतिक स्वराज्य प्राप्त होना असंभव है। इसलिये भारतको हिचकिचाहट छोडकर यह सिद्धान्त बनाना पडेगा कि आध्यात्मिक स्वराज्य ही स्वराज्य है। आध्यात्मिक स्वराज्यसे पृथक् भौतिक स्वराज्य नामकी कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं है।

भौतिक स्वराज्य स्वराज्य चिल्लाना देशको स्वराज्यके नामपर धोका देना है। गीदड का शिकार खेलने जानेवाले को शेरके शिकारकी तयार करके जाना चाहिये। हो सकता है कि किसी झाडी में शेर निकल आये। इसी दृष्टिसे भौतिक स्वराज्याभिलाषियोंकोभी आध्यात्मिक स्वराज्य पानेका हथियार चलाना चाहिये। अर्थात् भौतिक स्वराज्य चाहनेवालोंको भी आध्यात्मिकी स्वराज्यवालोंके समान सब कुछ त्यागनेको तत्पर होकर युद्धभूमिमें उतरना चाहिये। नहीं तो स्वराज्य का शिकार नहीं खेला जा सकेगा।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	१॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥।)
अ० १ से १८ सजिल्द		
महाभारतसमालोचना।(१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा.(१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	०)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	।)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

नियम सप्तम ।

(लेखक- पं० मदनमोहनजी विद्याधर, विजगापट्टम् ।)

'सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये ।'

मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुखदुःख और हानिलाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे । इतना ही नहीं, किंतु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे । अर्थात् जहां तक हो सके, वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे । इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जायें, परन्तु इस मनुष्यरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।

[द०ग्र०प्र०भा०स्वमन्तव्यामन्तव्य–प्रकाश पृ० ७८९]

परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सबसे सब प्रीति, परस्पर मेल और एक दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों ।

[द०ग्र०प्र०भा०स० प्र० १४ समु०, पृ० ७८५]

जब सब को लाभ और सुख में ही प्रसन्नता है, तो विना अपराध किसी का प्राणवियोग करके अपना पोषण करना यह सत्पुरुषों के सामने निन्दित कर्म क्यों न होवे? सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों की आत्माओंमें अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करें कि जिससे ये सब दया और न्याययुक्त होकर सर्वोपकारक काम करें । और स्वार्थपन से पक्षपातयुक्त होकर कृपापात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें, कि जिससे दुग्ध आदि पदार्थों और खेती आदि क्रियाओं की सिद्धि से युक्त होकर सब मनुष्य आनन्द में रहें ।... गो आदि पशु जहां तक सामर्थ्य हो बचाये जावें और उनके बचाने से दूध, घी और खेती के बढने से सबको सुख बढता रहे ।... इन को ध्यान दे पक्षपात छोड विचार के राजा तथा प्रजा यथावत् उपयोग में लावें, कि जिससे दोनों के लिये सुख बढता ही रहे ।

[द० ग्र०द्वि०भा० गोकरुणानिधि, भूमिका पृ० ९२०]

सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो जो पदार्थ बनाये हैं, वे निष्प्रयोजन नहीं । किन्तु एक एक वस्तु अनेक अनेक प्रयोजन के लिये रची है । इसलिये उनसे वे ही प्रयोजन लेना न्याय अन्यथा अन्याय है । क्या जिन जिन प्रयोजनों के लिये परमात्मा ने जो जो पदार्थ बनाये हैं, उन उन से वे वे प्रयोजन न लेकर उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना सत्पुरुषों के विचार में बुरा कर्म नहीं है । पक्षपात छोडकर देखिये गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते हैं वा नहीं ?...

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि, पृ० ९२१]

छः गाय की पीढिपर पीढियोंका हिसाब लगाकर देखा जावे, तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है । और इसके मांससे अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक बार तृप्त हो हो सकते हैं । देखो ! तुच्छ लाभके लिये लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ? ... गाय के दूध से भैंस का दूध कुछ अधिक और बैलों से भैंसा कुछ कम लाभ पहुंचाता है... जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है, उतना भैंसियों के दूध और भैंसों से नहीं... [परन्तु ये भी रक्षणीय हैं]...और ऊन्टनी का दूध गाय और भैंस के दूध से भी अधिक होता है, तो भी...

गाय के सदृश नहीं। ऊन्ट और ऊन्टनी के गुण भार उठा कर शीघ्र पहुंचाने के लिये प्रशंसनीय हैं।

उन में से १२ बकरियों के दूध से...उसकी पीढी पर पीढी के हिसाब लगाने से असंख्य मनुष्यों का पालन होता है।...और बकरा, बकरी और भेडा-भेडी के रोम और उन के वस्त्रों से मनुष्यों को बडे बडे सुखलाभ होते हैं।...इसी प्रकार अन्य दूध देनेवाले पशुओंके दूध से भी अनेक प्रकार के सुखलाभ होते हैं। जैसे ऊंटऊंटनी से लाभ होते हैं, वैसे ही घोडे, घोडी और हाथी आदि से अधिक कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सुअर, कुत्ता, मुर्गा, मुर्गी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें, तो ले सकते हैं।...देखिये जो पशु निःसार घास, तृण, पत्ते, फल-फूल आदि खावें और सार, दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें, हल गाडी आदि में चल के अनेकविध अन्न आदि उत्पन्न कर सब के बुद्धिबल पराक्रम को बढा के नीरोगता करें। पुत्र, पुत्री और मित्रादि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहां बांधें वहां बंधे रहें, जिधर चलावें उधर चलें, जहां से हटावें उधर से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चलें आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारनेवाले को देखें, अपनी रक्षा के लिये पालन करनेवाले के समीप दौड कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा।

जिनके मरे पर चमडा भी कंटक आदि से रक्षा करे, जंगल में चरके अपने बच्चे और स्वामी के लिये दूध देने को नियत स्थानपर नियत समय चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा के लिये तनमन लगावें, जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिये है, इत्यादि शुभ गुणयुक्त सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर जो अपना पेट भर सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती अनुपकारी दुःख देनेवाले और पापी जन होंगे? इसी लिये यजुर्वेद के प्रथम ही मंत्र में परमात्मा की आज्ञा है कि हे पुरुष! तू इन पशुओंको कभी यह मत मार और यजमान अर्थात् सबके सुख देनेवाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे। इसीलिये ब्रह्मा से लेकर आज पर्यन्त आर्यलोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे और अब भी समझते हैं।...गो आदि पशुओंके नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है।...सात सौ वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारनेवाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाडमांस तक भी नहीं छोडते।...हे मांसाहारियों! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे तब मनुष्यों का मांस भी छोडोगे वा नहीं? हे परमेश्वर! तू क्यों इन पशुओंपर, जो कि विना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता? क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है? क्या उनके लिये तेरी न्यायसभा बन्द हो गई है? क्यों उनकी पीडा छुडाने पर ध्यान नहीं देता और उनकी पुकार नहीं सुनता? क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता, जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि, पृ० ९२२-९२५]

भाई! सुनो तुम्हारे शरीरको जिस ईश्वर ने बनाया है, क्या उसी ने पशु आदि के शरीर नहीं बनाये हैं? जो तुम कहो कि पशु आदि हमारे खाने को बनाये हैं, तो हम कह सकते हैं कि हिंसक पशुओं के लिये तुमको उसने रचा है। क्योंकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मांस पर चलता है, वैसे ही सिंह, गृध्र आदि का चित्त भी तुम्हारे मांस पर चलता है। तो इनके लिये तुम क्यों नहीं? (९२६)

(प्रश्न) हिंसक-देखो जो मांसाहारी पशु और मनुष्य हैं, वे बलवान् और जो मांस नहीं खाते हैं, वे निर्बल होते हैं। (उत्तर) रक्षक-क्यों अल्प समझ की बातें मानकर कुछ भी विचार नहीं करते?...जो प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखना चाहो, तो एक मांसाहारी का एक दूध-घी और अन्नाहारी के मथुरा के मल्ल चौबे से बाहुयुद्ध हो, तो अनुमान है कि चौबा मांसाहारी को पटक उसकी छातीपर चढ ही बैठेगा।...भला तनिक विचार तो करो कि छिलकों के खाने से अधिक बल होता है अथवा रस और जो सार है,

उसके खाने से? मांस छिलके के समान और दूध घी, सार रस के तुल्य है। इस को जो युक्तिपूर्वक खावे, तो मांस से अधिक गुण और बलकारी होता है। फिर मांस का खाना व्यर्थ और हानिकारक क्यों नहीं? (प्रश्न) हिंसक जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ नहीं मिलता वहां वा आपत्काल में अथवा रोगनिवृत्ति के लिये मांस खाने में दोष नहीं होता। (उत्तर) रक्षक-यह आपका कहना व्यर्थ है। क्योंकि जहां मनुष्य रहते हैं, वहां पृथिवी अवश्य होती है, जहां पृथिवी है, वहां खेती व फलफूल आदि होते हैं। और जहां कुछ भी नहीं होता, वहां मनुष्य भी नहीं रह सकते। और जहां ऊपर भूमि है, वहां मिष्ट जल और फलाहारादि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है। और आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं, जैसे कि मांस के न खानेवाले करते हैं। और विना मांस के रोगों का निवारण भी औषधियों से यथावत् होता है। इसलिये मांस खाना अच्छा नहीं।

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि पृ० ९२८]

जिस जिस व्यवहार से दूसरों की हानि हो, वह वह अधर्म और जिस जिस व्यवहार से उपकार हो, वह वह धर्म कहाता है। तो लाखों के सुखलाभकारक पशुओं का नाश करना अधर्म और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुंचाना धर्म क्यों नहीं मानते? देखो! चोरी, जारी आदि कर्म इसी लिए अधर्म हैं कि इनसे दूसरे की हानि होती है। नहीं तो जो जो प्रयोजन धनादि से उनके स्वामी सिद्ध करते हैं, वे ही प्रयोजन उन चोरादि के भी सिद्ध होते हैं।... जब एक आदमी की हानि करने से चोरी-आदि कर्म पाप में गिनते हो तो गवादि पशुओं को मारके बहुतों की हानि करना महा पाप क्यों नहीं? देखो मांसाहारी मनुष्यों में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं। किन्तु वे स्वार्थवश होकर दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने में ही सदा रहते हैं।

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि पृ० ९२८]

जैसे मांसाहारी पशु किसी का उपकार तो नहीं करते, किन्तु अपने स्वार्थ के लिये दूसरे का प्राण भी ले मांस खाकर अति प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मांसाहारी मनुष्य भी होते हैं। इसलिए मांस खाना किसी मनुष्य को उचित नहीं। (प्रश्न) हिंसक–जब तक पशु काम में आवें तब तक उनका मांस न खाना चाहिए, जब बूढे हो जावें वा मर जावें, तब खाने में कुछ भी दोष नहीं। (उत्तर) रक्षक- जैसे दोष, उपकार करनेवाले मातापिता आदि के वृद्धावस्था में मारने और उनके मांस खाने में है वैसे ही उन पशुओं की सेवा न कर मार कर मांस खाने में है।...इसलिए किसी अवस्था में मांस न खाना चाहिये। (प्रश्न) हिंसक–जिन पशु और पक्षियों अर्थात् जंगल में रहनेवालों से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है, उनका मांस खाना वा नहीं? (उत्तर) रक्षक- न खाना चाहिये। क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते हैं।...एक सुअर व मुर्गा अथवा मोर आदि पक्षी सर्पादि की निवृत्ति करने से पवित्रता और नेक उपकार करते हैं ... और जो विद्या व विचार से सिंह आदि वनस्थ पशु और पक्षियों से उपकार लेवें, तो अनेक प्रकार का लाभ उनसे भी हो सकता है। इसलिए मांसाहार का सर्वथा निषेध होना चाहिये। भला जिनके दूध आदि खाने-पीने में आते हैं, वे मातापिता के समान माननीय क्यों न होने चाहिए? (९२९)

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि पृ० ९३०]

(प्रश्न) प्रमत्त- कहो जी मांस तो छूटा सो छूटा परन्तु मद्य पीने में तो कोई दोष नहीं? (उत्तर) शान्त– मद्य पीने में भी वैसे ही दोष हैं, जैसे कि मांस खाने में। मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्टबुद्धि होकर अकर्तव्य कर लेता और कर्तव्य को छोड देता है। न्याय का अन्याय और अन्याय का न्याय आदि विपरीत कर्म करता है। और मद्य की उत्पत्ति विकृत पदार्थों से होती है और वह मांसाहारी अवश्य हो जाता है। इसलिए इसके पीने से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं। और जो मद्य पीता है, वह विद्यादि शुभगुणों से रहित होकर उन दोषों में फंस कर अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को छोड पशुवत् आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि कर्मों में प्रवृत्त होकर अपने मनुष्यजन्म को व्यर्थ कर देता है। इसलिए नशा अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन भी न करना चाहिए। जैसा मद्य है वैसे भांग आदि पदार्थ भी मादक हैं। इसलिए इनका भी सेवन न करें। क्योंकि ये भी बुद्धि का नाश करके प्रमाद-

आलस्य और हिंसा आदि में मनुष्य को लगा देते हैं। इसलिये मद्यपान के समान इनका भी सर्वथा निषेध है।

हे धार्मिक सज्जन लोगों! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते? हाय!! बडे शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय, बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये ले जाते हैं तब वे अनाथ तुमहम को देखके राजा और प्रजा पर बडे शोक प्रकाशित करते हैं कि देखो! हमको बिना अपराध बुरे हाल से मारते हैं और हम रक्षा करने तथा मारनेवालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिए उपस्थित रहना चाहते हैं और मारे जाना नहीं चाहते। देखो हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है और हम इसलिये पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें। हम तुम्हारी भाषामें अपना दुःख नहीं समझा सकते और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते। नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारनेवालों को न्यायव्यवस्था से फांसी पर न चढवा (९३१) देते? हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हमको बचाने में उद्यत नहीं होता। ... जो उपकारी हैं वे इन के बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ करें। ... इसी लिये आर्यवर्तीय राजा, महाराजा, प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथिवी में जंगल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर ओषधियों के सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों। जिनके खानेपीने से आरोग्य, बुद्धिबल, पराक्रम आदि सद्गुण बढें।... परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलों को काट और कटवा डालना पशुओं को मार और मरवा खाना, ... स्वप्रयोजन साधना और परप्रयोजन पर ध्यान न देना,... गाय आदि का मांस विषवत् महारोगकारी को छोडकर उनसे उत्पन्न हुए दूध अमृतरोग नाशक है उनको लेना। अतएव इनकी रक्षा करके विषत्यागी और अमृतभोजी सबको होना चाहिये। सुनो बन्धुवर्गो! तुम्हारा तन, मन, धन, गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे, तो किस काम का है?

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि पृ० ९३१-९३२]

क्या ऐसा कोई भी मनुष्य सृष्टि में होगा, जो अपने सुखदुःखवत् दूसरे प्राणियों का सुखदुःख अपने आत्मा में न समझता हो?

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि पृ० ९४५]

हे गृहस्थादि पुरुषों तुमको मैं ईश्वर आज्ञा देता हूं कि जैसे .. विद्वान् लोग मिलके सत्य-असत्य का निर्णय करके असत्य को छोड सत्य की उपासना करते हैं, वैसे आत्मा से धर्माधर्म प्रियाप्रिय को सम्यग् जाननेहारे तुम्हारे मन एक दूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म समस्त होवे और तुम उसी धर्म को सम्यग् मिलके प्राप्त होओ, जिसमें तुम्हारी एक सम्मति होती है और विरुद्ध वाद अधर्म को छोडके सम्यार संवाद प्रश्नोत्तरप्रीति से करके एक दूसरे की उन्नति किया करो।... (पृ० २१३) .. स्त्री-पुरुष, सेवक-स्वामी, मित्र-मित्र, पिता-पुत्रादि ... हम दोनों प्रीति से मिल के एक दूसरे के पराक्रम की बढती सदा किया करें।...हम एक दूसरे से कभी विद्वेषविरोध न करें। किन्तु सदा मित्रभाव और एक दूसरे के साथ सत्य प्रेम से बर्तकर सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढाते हुए सदा आनन्द में बढते जावें।... हम लोग प्रीति से एक दूसरे के साथ बर्त के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल होके सदैव स्वयं आनन्द में रह कर सबको आनन्द में रखें।

[द० ग्र० द्वि० भा० संस्कारविधि पृ० २१३-२१४]

वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढावें जिससे वे सन्तान, मातृ-पितृ, पति, सासु, श्वसुर, राजा, प्रजा, पडोसी इष्टमित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से बर्तें।

[द० ग्र० प्र० भा० स० प्र० समु० ३ य पृ० १६६]

इसलिये सदा सत्य भाषण और सत्यप्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिये। किसी को अभिमान न करना चाहिये। छल, कपट व कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है, तो दूसरों की क्या कथा कहनी चाहिये। छल और कपट उसको कहते हैं, जो भीतर और बाहर और रख दूसरे को मोह में डाल और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना। 'कृतघ्नता' उसको कहते

है कि किसी के किये हुए उपकार को न मानना। क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड शान्त और मधुर वचन ही बोले और बहुत बकवाद न करे। जितना बोलना चाहिये, उससे न्यून वा अधिक न बोले। बडों को मान्य दे, उनके सामने उठकर जाके उच्चासन पर बैठावे, प्रथम 'नमस्ते' करे। इनके सामने 'उत्तमासन' पर न बैठे। सभा में वैसे स्थान पर बैठे जैसी अपनी योग्यता हो और दूसरा कोई न उठावे। विरोध किसी से न करे। सम्पन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का संग और दुष्टों का त्याग अपने मातापिता और आचार्य की तन, मन और धनादि उत्तम उत्तम पदार्थों से प्रीतिपूर्वक सेवा करे।

[द० ग्र० प्र० भा० स० प्र० समु० २य पृ० ११७]

सदा प्रिय सत्य दूसरे का हितकारक बोले। अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले। अनृत अर्थात् झूठ। दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ न बोले।... सदा भद्र अर्थात् सबके हितकारी वचन बोला करे। शुष्क वैर अर्थात् बिना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे। जो जो दूसरे का हितकारक हो और बुरा भी माने, तथापि कहे बिना न रहे।

[द० ग्र० प्र० भा० स० प्र० समु० ४र्थ, पृ० १९१]

इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिये प्रिय बोलनेवाले प्रशंसक लोग बहुत है, परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो और वह कल्याण करनेवाला वचन हो, उसका कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है। क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे को दोष कहना और अपना दोष सुनाना परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना। और दुष्टों की रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं कहता तब तक मनुष्य दोषों से छूटकर गुणी नहीं हो सकता।... जो गुणों में दोष, दोषों में गुण लगाना वह निन्दा और गुणों में गुण-दोषों का कथन करना स्तुति कहाती है। अर्थात् मिथ्या भाषण का नाम निन्दा और सत्यभाषण का नाम स्तुति है।

[द० ग्र० प्र० भा० ४ र्थ समु० स० प्र० पृ० १९२]

'पितृयज्ञ' अर्थात् जिसमें देव जो विद्वान्, ऋषि जो पढने पढाने हारे, पितर जो मातापिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परम योगियों की सेवा करनी। पितृयज्ञ के दो भेद हैं। एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण। श्राद्ध अर्थात् 'श्रत्' सत्य का नाम है। 'श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धम्' जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय, उसको श्रद्धा और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय, उसका नाम श्राद्ध है। और तृप्यति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्' जिस जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान् मातापितादि पितर प्रसन्न हों और और प्रसन्न किये जावें, उसका नाम तर्पण है, परन्तु यह जीवितों के लिये है, मृतकों के लिये नहीं।

अपनी स्त्री तथा भगिनीसम्बधी और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्रपुरुष वा वृद्ध हों, उन सबको अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्नवस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना अर्थात् जिस जिस कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे रहे, उस उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी, वह श्राद्ध और तर्पण कहाता है।

[द० ग्र० प्र० भा० ४ र्थ समु० स० प्र० पृ० १९२]

स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष की पूज्य अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है।

[द० ग्र० प्र० भा० ४ र्थ समु० स० प्र० पृ० १९२]

जब तक गुरुकुल में रहें तब तक मातापिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें।

[द० ग्र० प्र० भा० ४ र्थ समु० स० प्र० पृ० १९२]

सब प्रकार से अपने अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साहपूर्वक प्रयत्न से तन-मन-धन से सर्वदा परमार्थ किया करें। अपने मातापिता, सासुश्वसुर की अत्यन्त शुश्रूषा करें। मित्र और अडौसी पडौसी राजा विद्वान् वैद्य और सत्पुरुषों से प्रीति रख के और जो दुष्ट अधर्मी हैं, उनसे उपेक्षा अर्थात् द्रोह छोडकर उनके सुधारने का यत्न किया करें। जहां तक बने वहां तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने कराने में धनादि पदार्थों

का व्यय करके उनको पूर्ण विद्वान्, सुशिक्षायुक्त कर दें और धर्मयुक्त व्यवहार करके मोक्ष का भी साधन किया करें कि जिसकी प्राप्ति से परमानन्द भोगें।'

[द० ग्र० प्र० भा० ४ थं समु० स० प्र० पृ० २१९]

अतिथि उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि न हो, अर्थात् अकस्मात् धार्मिक सत्योपदेशक सबके उपकारार्थ सर्वत्र घूमनेवाला पूर्ण विद्वान्, परम योगी, संन्यासी गृहस्थ के यहाँ आवे, तो उसको प्रथम पाद्य अर्घ और आचमनीय तीन प्रकार का जल देकर पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठाल कर खानपान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवाशुश्रूषा करके उसको प्रसन्न करे। पश्चात् सत्संग कर उनसे ज्ञानविज्ञानादि जिनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे, ऐसे ऐसे उपदेशों का श्रवण करे और अपना चालचलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे। समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत्सत्कार करनेयोग्य हैं। परन्तु (पाषण्डी) अर्थात् वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करनेहारे (विकर्मस्थ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्ता मिथ्या भाषणादि युक्त जैसे बिडाला छिप और स्थिर रहकर ताकता ताकता झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम बैडालवृत्तिक (शठ) अर्थात् हठी, दुराग्रही, अभिमानी आप जानें नहीं, औरों का कहा मानें नहीं, (हैतुक) कुतर्की व्यर्थ बकनेवाले जैसे कि आजकल के वेदान्ती बकते हैं, हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है, वेदादि शास्त्र और ईश्वर भी कल्पित हैं, इत्यादि; गपोडा हाकनेवाले (बकवृत्ति) जैसे बक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे आजकल के बैरागी और खाकी आदि हठी, दुराग्रही, वेदविरोधी हैं; ऐसोंका सत्कार वाणीमात्र से भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। आप तो अवनति के काम करते ही हैं, पर साथ ही सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबो देते हैं।

[द० ग्र० प्र० भा० स० प्र० ४ थं समु० पृ० १९९]

...जो मनुष्य पूर्ण विद्वान् परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छलकपटरहित और नित्य भ्रमण करके विद्याधर्म का प्रचार और अविद्या-अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको अतिथि कहते हैं।... जिसके घर में पूर्वोक्त विशेषणयुक्त उत्तम गुणसहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे, तो उसकी यथावत् सेवा करे।... गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर बडे प्रेम से उठकर नमस्कार करके उत्तम आसन पर बैठावें। ... जब वे स्वस्थचित्त हो जावे तब पूछे कि . . हे अतिथे! यह जल लीजिए और हमको अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिये कि, जिससे हमारे इष्टमित्र लोग सब प्रसन्न होके आपको भी सेवा से संतुष्ट रक्खे।...हे विद्वान् जिस प्रकार आप की प्रसन्नता हो, हम लोक वैसाहि काम करें तथा जो पदार्थ आपको प्रिय हो, उसकी आज्ञा कीजिए ...जिससे आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्संगपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ० ६००]

हे सर्वसुहृदीश्वर सर्वान्तर्यामिन्! सब भूत-प्राणीमात्र मित्रदृष्टि से यथावत् मुझको देखें, सब मेरे मित्र हो जायें। कोई मुझसे किंचिन्मात्र भी वैर न करे। हे परमात्मन्, आपकी कृपा से मैं भी निर्वैर होके सब चराचर जगत् को मित्रदृष्टि से अपने प्राणवत् प्रिय जानूं।... पक्षपात छोडके सब जीव देहधारी मात्र अत्यन्त प्रेम से परस्पर अपना बर्ताव करें। अन्याय से युक्त होके किसी पर कभी हम लोग न वर्तें, यह परमधर्म का सब मनुष्यों के लिये परमात्माने उपदेश किया है, सबको यही मान्य होने के योग्य है।

[द० ग्र० प्र० भा० आर्याभिविनय पृ०४१]

हे महेश्वर दयालो! जिस जिस देश से आप...सम्यक् चेष्टा करते हो, उस उस देश से हमको अभय करो। अर्थात् जहां जहां से हम को भय प्राप्त होने लगे, वहां वहां से सर्वथा हम लोगों को अभय (भयरहित) करो तथा प्रजा से हमको सुख करो, हमारी प्रजा सदा सुखी रहे, भय देनेवाली कभी न हो, तथा पशुओं से भी हमको अभय करो किंच किसी से किसी प्रकार का भय हम लोगों को न हो, तथा पशुओं से भी हमको अभय करो।...जिससे हम लोग निर्भय होके सदैव परमानन्द को भोगें और निरन्तर आपका राज्य तथा आपकी भक्ति करें।

[द० ग्र० प्र० भा० आर्याभिविनय पृ० ४४]

सब पुरुषार्थ यही है कि परमात्मा उसकी आज्ञा और उसके रचे जगत् का यथार्थ से निश्चय (ज्ञान) करना, उसी से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थ के फलों की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। इस हेतु से तन-मनधन और आत्मा इनसे प्रयत्नपूर्वक ईश्वर के सहाय्य से सब मनुष्यों को धर्मादि पदार्थों की यथावत् सिद्धि अवश्य करनी चाहिये ।

[द० ग्र० प्र० भा० आर्याभिविनय पृ० ६८]

सब मनुष्यों को अच्छा मीठा कल्याण करनेवाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये।... मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये, कि जैसी बात उनके ज्ञान के बीचमें वर्तमान हो, जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें, उससे विपरीत नहीं।... सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं । अर्थात् जितना जितना धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो, उतने में ही सदा सन्तोष करें। सब दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करनेवाले होम को किया करें।... सब दिन मिथ्यावाद को छोड के सत्य ही बोलना चाहिये ।

[द०ग्र०द्वि०भा० ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ०४४७-४४८]

हम सब लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें। क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ न्यायकारी सबके पिता एक परमेश्वरको छोड के दूसरे की उपासना करे और राजा माने। इस लिये हम लोग उसी को अपना राजा मानके सत्य न्याय को प्राप्त हों। अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है, अन्य कोई नहीं।...हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करनेवाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा होके यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करना उचित है कि हे कृपानिधे! आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्परविरोधी कभी न हों, किन्तु आप और सबके साथ सदा पितापुत्र के समान प्रेम से बर्त्तें।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका, पृ० ४५३]

जिन्दगी का सच्चा सुख और आनंद कब मिले?

जब शरीर निरोग और बलवान् हो ।

परंतु शरीर निरोग रहने के लिये तथा शक्ति बढाने के लिये आप क्या करेंगे ? किसी डॉक्टरी, वैद्यकी, हकीमी या पेपरोंमें आनेवाली दवाओं की जाहीरात वगैरह देखकर उसका ही अनुकरण करेंगे । अवश्य । आप वही करेंगे क्योंकि जब आपको मालूमही नहीं कि बिना पैसे जीवन भर नीरोग रखनेवाला सच्चा मार्ग कौनसा है । जिस प्रकार संसार में गरीब लोगों की संख्या श्रीमानों के बनिस्बत कई गुणा है, हर जगह देखो श्रीमंत लोग इने गिने ही होते हैं, परन्तु गरीब तो असंख्या में दृष्टिगोचर होते हैं । इसी प्रकार डॉक्टर, वैद्य, हकीम व अमुक पेटेन्ट दवाएं जैसे टोनिक पील्स वगैरा की जाहिरात व स्थान तो हर जगह मिलेंगे। परन्तु मुफ्त का इलाज बिना पैसे व बिना कडवी मिठी दवा पिये बिना आराम होने का स्थान कहीं भी मिलेगा? वह क्या? 'कुदरती इलाज।'

मैं खुद पेट के रोगों से कई वर्षों से पीडित था और सेकडो इलाज कर चुका, काफी पैसा भी बिगाड चुका, परंतु परिणाम में एक रोग जरा कम हुआ तो दूसरा नया उत्पन्न हो गया। इसी प्रकार चलता रहा । जिसमें कबज व मंदाग्नि तो मुख्य रही, कुछ भी लाभ नहीं हुआ, बडी परेशानी थी । आखिर फिर जाहिरातों कोही टटोलने लगा कि कोई अच्छी वस्तु (दवा) या डॉक्टर या वैद्य हकीम मिल जाय परंतु उसके बदले एक जगह 'मुफ्त इलाज' का हीडिंग देखा, उसे पढा, उसमें क्या था ! 'रामतीर्थ योगाश्रम' में सभी रोगों का इलाज बिना दवा के मुफ्त होता है । बस वहां पहुंचे, वहां के कार्य कर्ता से मिले उन्होंने साहस दिलाया कि बहोत जल्द ठीक हो जावोगे । खैर मैंने उपाय पूछा उन्होंने मेरे रोगो के लिये युक्त प्रयोग बताए, उसे मैंने एक सप्ताह बराबर किया, उससे बहोत ठीक मालूम हुआ और दूसरे सप्ताह में तो रोग समूल नाश होकर शक्ति, स्फूर्ती, साहस, वजन और मनकी एकाग्रता बहुत ही बढ गई । अब भी वही प्रयोग करता हूं और तंदुरस्ती में वृद्धि होती है ।

मैं तमाम जनता से निवेदन करता हूं कि आपको अपने शरीरसंबधी कोई भी शिकायत हो तो 'रामतीर्थ योगाश्रम' सेन्डहर्स्ट रोड मुंबईमें जाकर बिना दवा के मुफ्त इलाज करवाइये । चंद दिनों में आपको स्वयं प्रतीति हो जायगी, फिर आप कभी भी फिजूल पैसे बर्बाद कर दवा का आश्रय न लेंगे ।

यदि कोई सज्जन मुझ से प्रायवेट सलाह लेना चाहे तो मैं सहर्ष बताउंगा । वहां स्त्री पुरुष दोनों का इलाज बखूबी होता है । मेरे अनुरोध से एक वख्त जरूर अनुभव करें ।

आपका
कमलचंद जैन
बम्बई, ता० २९-१२-३८

वैदिक धर्म।

मे १९३९
वैशाख १९९६



बालहास्य।

वर्ष २०, अंक ५] [क्रमांक २३३

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

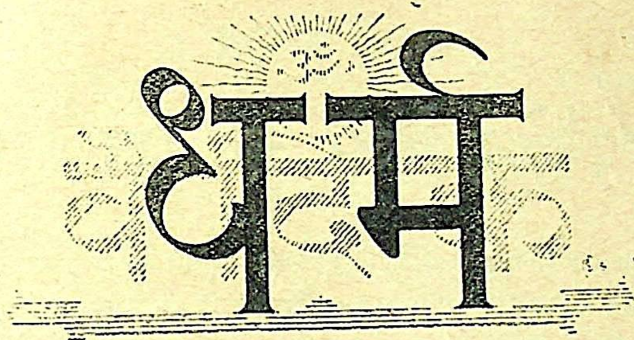
स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २०] [अङ्क ५

विषयानुक्रमणिका

वर्ष २०
अंक ५
क्रमांक
२३३



वैशाख
संवत् १९९६
मई
सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

हमारा विजय।

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि।
जयेम सं युधि स्पृधः॥ ३॥
वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्।
सासह्याम पृतन्यतः॥ ४॥

(ऋ० १-८)

" हे इन्द्र! तेरी सुरक्षाके आश्रयसे हम अपने शस्त्रोंसे शत्रुओं को मारेंगे और अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त करेंगे। हे इन्द्र! हमें यदि तेरी सहायता प्राप्त हुई, तो हम अपने शूर वीर योद्धाओं की सहायता से शत्रु के सैन्यों का सहजही से विध्वंस करेंगे।"

सबसे प्रथम ईश्वर की सहायता प्राप्त करो, अपने शस्त्रास्त्र सज्ज करो और ऐसा युद्ध करो कि जिससे शत्रुका नाश हो जाय। अपने सैनिकों में शूरता और वीरता बढाओ, जिससे शत्रु के सैन्यका विध्वंस सहजही से हो सके।

ग्राहकों के पास

अथर्ववेद भेजा जा रहा है।

अथर्ववेद छपकर तैयार हुआ और जिनको रेलपार्सलोंके द्वारा भेजा जा सकता है, अर्थात् जिनकी मांग ५; १०; २५; ५० या इससे अधिक संख्या में थी, उनके पास भेजा जा रहा है। इस समयतक करीब एक सहस्र पुस्तकें भेजी गयी हैं। और प्रतिदिन भेजी जा रहीं हैं।

अब शीघ्रही पोष्टद्वारा जिनके पास भेजनी चाहिये, उनके पास भेजी जायगी। पोष्टद्वारा उनको ही भेजी जाती हैं, जिनके पास केवल एक दो ही प्रतियां भेजनी होती हैं। एक अथर्ववेद के पुस्तक पर रजिस्ट्री डाक का व्यय बारह आने होता है और यदि रेलद्वारा अधिक संख्यामें मंगवायीं जायगीं, तो रेलपार्सल का व्यय छः आने प्रति पुस्तक पंजाबतक का होता है।

कई लोग मालगाडीसे पुस्तकें मंगवाते हैं, उनको मालूम हो की मालगाडी से यहांसे रवाना हुआ माल कलकत्ते में पहुंचने के लिये करीब दो मास लगते हैं, लहौर, हरद्वार तक पहुंचने में देड महिना लगता है और बंबईको पहुंचनेके लिये पंदरह दिन लगते हैं। इससे रेलपार्सल द्वारा शीघ्र पहुंचता है। मालगाडी का किराया आधा है और पार्सलगाडीका किराया उससे दुगुणा है। मालगाडीसे इतने दिनोंके बाद पहुंचनेवाला माल मार्गमें खराब होनेका भी सम्भव है। अतः सब लोग तथा अधिक संख्यामें मंगानेवाले ग्राहक पार्सलगाडीसे वेद की पुस्तकें मंगावें। मालगाडीसे मंगानेपर देरी लगी, तो उसका उत्तरदायित्व हमारे ऊपर नहीं है। पार्सल से गया हुआ माल पंजाब, बंगाल तक ५ दिनोंके अन्दर हि पहुंचता है। यह भी लाभ ही है।

जहां हमारा अथर्ववेद पहुंचा है, वहांसे सबने उसकी प्रशंसाही की है। क्योंकि ऐसा सुंदर पुस्तक इस समय किसी भी स्थानपर मिलता नहीं है। पूनामें बनाये स्वदेशी क़ागजपर यह छपा है। छपाई, कागज, जिल्द आदि सब सुन्दर हैं। पुस्तक अत्यंत आकर्षक हुई है। अतः जो अपने घरोंमें वेदों के सुन्दर पुस्तक रखने के इच्छुक हैं, वे शीघ्र ही ग्राहक बनें और पुस्तकें मंगावें। पुस्तकें वी० पी० से भेजी नहीं जाती। मूल्य म० आ० द्वारा पेशगी आनेपरही भेजी जाती हैं। क्योंकि कई लोग वी० पी० मंगवाते हैं और वापस करते हैं, इससे मंगानेवालोंका कोई नुकसान नहीं होता, अधिक से अधिक उनका नुकसान तीन पैसोंका होता है। पर चार वेद वी० पी० से भेजनेके लिये ३॥) डा० व्य० लगता है, वी० पी० वापस आनेपर हमारा इतना नुकसान होता है। अतः ऐसा नुकसान उठानेके कारण वेदके पुस्तक वी० पी० से न भेजनेका ही निश्चय किया है। अतः ग्राहक म० आ० से वेदोंका मूल्य भेज देवें।

सामवेदकी छपाई वेगसे चलायी जा रही है। यह सामवेद तीन चार महिनों में छप चुकेगा। तब ग्राहकों के पास भेजा जायगा। जिस तरह सब सुधारों के साथ यह सामवेद छप रहा है, वैसा इस समयतक किसी भी जगह छपा नहीं है। इसलिये ग्राहक त्वरा करें और ग्राहक बनें।

ऋग्वेद प्रथमवार का मुद्रण समाप्त हुआ। अब एक भी पुस्तक शेष नहीं है। नया संस्करण छप रहा है। कृपया ग्राहक ५।६ महिने तक धैर्य धारण करें। तब ये पुस्तक तैयार होंगे।

अन्य शाखासंहिताएं भी छपेंगी। सम्पूर्ण वेद के संहिता ग्रंथ छापने हैं। एक भी छोडना नहीं है। क्रमशः ये सब ग्रंथ छपनेपर ग्राहकों को मिलते जायंगे। जो ग्राहक वेदके ग्रंथ अपने पास रखना चाहते हैं, वे शीघ्र मंगावें। मूल्य का विज्ञापन अन्यत्र इसी अंक में देखिये।

क्या मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है ?

इस विषयमें वेद क्या कहता है ?

(चतुर्थ लेख)

पूर्वसम्बन्ध।

गत तीन लेखों में बताया गया कि ईश्वर का साक्षात्कार मनुष्य कर सकता हैं, परन्तु मनुष्य के मन में जो पूर्वग्रह-दोषों के मल भरे हुए हैं, उनको दूर करना चाहिये। यही मन की शुद्धि है। इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। ईश्वर का साक्षात्कार होनेके लिये मनकी इस तरहकी शुद्धि होनी चाहिये।

इस लेखमालाके तृतीय लेख में ईश्वरसाक्षात्कार की प्रथम सीढी बताई है। जिससे गुणों को देखकर ईश्वर की सत्ता कहां किस रूपसे है, इसका पता हरएक साधक को लग सकता है। जैसा '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**' उस ईश्वर के प्रकाश से यह सब प्रकाशित हो रहा है, किंवा 'तेजोऽसि' ईश्वर प्रकाश-स्वरूप है, इन वर्णनों से ईश्वर का स्वरूप 'प्रकाश' है, यह सिद्ध है। जहां जहां प्रकाश होगा, वहां प्रकाश के रूपसे ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहिये। यह नियम साधक के लिये उत्तम मार्गदर्शक है। यह सहज सिद्ध होनेवाली बात है।

उदाहरण के लिये देखिये कि एक कमरा बिजुली की रोशनी से प्रकाशित हो रहा है; परन्तु वहां ऐसी युक्तिसे बिजली की रोशनी की गई है कि विद्युद्दीप तो न दीखे, पर प्रकाश पडे। ऐसे कमरे में प्रकाश तो दीखेगा, हरएक वस्तु प्रकाशित तो होगी, परन्तु बिजली का दीवा तो किसी भी स्थानपर दिखाई नहीं देगा। अज्ञानी लोग कहेंगे कि हरएक वस्तुका ही यह प्रकाश है, जिससे वह वस्तु दीख रही है, क्योंकि दूसरा कोई प्रकाश का केन्द्र वहां दीखता नहीं है। परन्तु ज्ञानी क्या देखेगा ? ज्ञानी तो यही समझेगा यह सब प्रकाश युक्तिसे छिपायी बिजुली का ही है, जिससे इस कमरे की वस्तुएं प्रकाशित हो रही हैं। अज्ञानी और ज्ञानी के समझ में कितना भेद है देखिये।

ईश्वर का प्रकाश।

इस विश्व में अग्नि, विद्युत, सूर्य, चन्द्र, दीप आदिका प्रकाश अग्नि आदिकों का ही है, ऐसा हरएक मनुष्य मानता है, पर वेद कहता है और उपनिषदें कहती हैं कि '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**' उस परमात्मा के प्रकाश से ही सर्व अग्नि, सूर्य आदि प्रकाशित हो रहे हैं। अग्नि, सूर्य आदिका अपना कोई प्रकाश नहीं है, जो प्रकाश इनसे प्रकट हो रहा है, वह सब परमेश्वर का ही प्रकाश है। परमेश्वर का प्रकाश सूर्यको न मिलेगा, तो सूर्यका प्रकाश कोई नहीं दीखेगा।

जिस तरह हम आज भी देखते हैं कि सूर्य का प्रकाश न रहा, तो चन्द्र प्रकाशित ही नहीं होगा, ठीक इसी तरह ईश्वर का प्रकाश न मिला, तो सूर्य प्रकाशित ही नहीं होगा। क्योंकि (**तं एव भान्तं अनुभाति सर्वं**) उस ईश्वर के प्रकाशित होने से ही यह सब विश्व प्रकाशित हो सकता है। इसलिये यहां ऐसी कल्पना करनी चाहिये कि अग्नि, विद्युत, सूर्य, चन्द्र के पीछे परमेश्वर रहता है और इनके द्वारा अपना प्रकाश हम तक पहुंचाता है। जैसा कोई पडदे के पीछे रहकर प्रकाश दिखावे, जैसा चित्र परदेपर दिखाई देता है, पर वह सब विद्युद्दीप की ही चमत्कृति है, इसी तरह यहां समझना योग्य है।

चित्रपट।

चित्रपट के परदेपर हिलनेवाला चित्र देखकर यदि कोई

मानने लग जाय, कि यह चित्र इस परदेका ही चित्र है, तो उसको सब लोग आजकल पागल ही कहेंगे, क्योंकि आजकल सब लोगोंको यह विदित है कि, यह चित्र बिजुली के दीपसे चित्रपट पर फेंका जाता है। अतः यहां (तस्य भासा सर्वं इदं विभाति) उस विद्युद्दीप के प्रकाशित होनेसे हि यह सब परदेपर चित्र प्रकाशित होता है, यही सत्य ज्ञान है। इसी तरह अग्नि, सूर्य चन्द्र के परदों पर परमात्मा के दीपसे जो प्रकाश आता है, वही अग्नि आदि के रूपों में हमें दीखाई देता है, यह सत्य ज्ञान है।

वेदमंत्र कहते हैं वैसा ही हमें मानना चाहिये। वेद-मन्त्र तो यही कहते हैं कि सब प्रकाश परमात्मा का ही है। अतः हमें वैसा ही मानना चाहिये और प्रकाश जहाँ दिखाई देगा, वहाँ परमात्मा की सत्ता माननी चाहिये।

सर्वसाधारण लोग तो ऐसा माननेको इस समय तैयार नहीं हैं। इसका अर्थ यह है कि उनके मत से वेदका वचन 'तेजोऽसि' यह अप्रमाणहि है। जब तक प्रकाश का आदिस्रोत एकमेव परमेश्वर है, ऐसा अन्सदिग्ध रीतिसे नहीं माना जाता, तब तक उतना वेद का भाग उनको अप्रमाण हि रहेगा। अपने अन्दर के पूर्व अज्ञान के कारण वेद को भी न मानने तक मनुष्य उद्यत होता है, और इतना अनर्थ करनेपर भी पूर्वग्रहदोष छोडता नहीं, यही सब से बडा आश्चर्य और सब से बडा विघ्न है और जब तक यह विघ्न रहेगा, तब तक परमेश्वर दीखना असंभव है। इस अपने ही दोषके कारण अति समीप की वस्तु अति दूर हो चुकी है।

यहाँ और एक युक्ति से विचार करियें। अग्नि, दीप, विद्युत्, सूर्य और चन्द्र ये सब विभिन्न वस्तुएं हैं, ऐसा अज्ञानी लोग कहते हीं हैं। सब लोग ऐसा ही समझते हैं। पर क्या ये पदार्थ मूलतः एक नहीं हैं? सूर्य का ही तेज चन्द्रमा पर पडता है और उस चन्द्रमा से शीत प्रकाश हमें मिलता है। वस्तुतः सूर्य का प्रकाश उष्ण है, चन्द्र-प्रकाश शीतल है, उष्णता और शीतलता ये गुण परस्पर विरुद्ध हैं, तथापि चन्द्र का प्रकाश चन्द्रका नहीं है, प्रत्युत सूर्यका ही है। अर्थात् सूर्य ही चन्द्रमा के द्वारा प्रकाशता है।

इसी तरह सूर्यकान्तमणीसे सूर्य के किरण किसी सूखे कपडे पर डालनेसे वहाँ कपडा जलने लगता है और अग्नि उत्पन्न होती है। अतः यह अग्नि सूर्यकिरणोंका ही परिवर्तित रूप है। अब पाठक देखें कि सूर्य का एक किरण अग्नि में परिणत हुआ और दूसरा चन्द्रमा में जाकर शीतलता देने लगा। अग्नि और चान्दने में कितना भेद है, परन्तु ये दोनों विभिन्न दीखनेवाले पदार्थ मूल में एक हीं हैं। अतः दीप, अग्नि, चन्द्र, विद्युत्, सूर्य ये सब सूर्य ही के प्रभाव हैं। दीपके रूप में हमारे घरों में सूर्य ही प्रकाश रहा है, चान्दने के रूप में सूर्य ही शीतल प्रकाश दे रहा है, मेघमण्डल में बिजुली के रूप में सूर्य ही चमकता है। सूर्य न रहा, तो इन में से कोई भी प्रकाशित नहीं हो सकता, इसलिये यदि किसी ने कहा—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ (श्वे० उ०)

"उस सूर्य के प्रकाश से ही दीप-अग्नि-विद्युत्-चन्द्र प्रकाशते हैं, उसी के प्रकाशसे यह सब प्रकाशित हो रहा है" यह कितना सत्य है?

यहां हमने देखा कि सूर्यप्रकाश से हि अग्नि आदिकों का प्रकाश हो रहा है, अतः सब प्रकाश सूर्य का है। अब और आगे जाकर हम यह कहेंगे कि परमात्मा के प्रकाश से सूर्य प्रकाशित हो रहा है। बस इतना मानने से यह सिद्ध हुआ कि अग्नि, सूर्य आदिकों का प्रकाश परमात्मा का है, परमात्मा से प्रकाश आता है और दीप-अग्नि-विद्युत्-चन्द्र-सूर्य आदि परदोंपर वैसा वैसा अलग अलग दिखाई देता है। (तस्य भासा सर्वं इदं विभाति) उस ईश्वरके तेजसे हि यह सब विश्व प्रकाशित हो रहा है। अब कहिये कि इस विश्व के परदे के पीछे सतत प्रकाश देनेवाला कौन है? इस का उत्तर 'परमात्मा' ही है। विश्वके परदे के पीछे परमात्मा है और उसका ही प्रकाश अनेक रूपों में हमारे पास आ रहा है। प्रकाश परदे के लाल शीशेसे आया, तो लाल दीखेगा और पीलेमें से आया, तो पीला दीखेगा, परन्तु सब प्रकाश मूलतः परमेश्वर का ही है।

इतना विचार करनेपर परदे के पीछे परमात्मा का दर्शन हुआ। उसीका प्रकाश दीख रहा है, उसके प्रकाशका तो दर्शन हुआ, परन्तु अभीतक वह परदे के पीछे ही रहा है।

यह परदा किस तरह खोला जाय यह प्रश्न आगे के लेखोंमें विचार करने के लिये लेंगे। यहां तक के मनन से विश्वके परदे के पीछे परमात्मा है और उस परदेमें से उसका प्रकाश आ रहा है और उसी को हम देख रहे हैं। जो प्रकाश हम देख रहे हैं, वह उसीका प्रकाश है इतना यहाँ सिद्ध हुआ। यह अनुभव करने के पश्चात् हि वेदने कहा कि—

वही सब है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(यजु० ३२।१)

" (तत् एव अग्निः) वही परमात्मा अग्नि, (तत् एव आदित्यः) आदित्य, (तत् उ चन्द्रमाः) चन्द्रमा है, वही (तत् वायुः) परमात्मा वायु है, (ताः आपः) वही (परमात्मा) आप् है, वही (परमात्मा) प्रजापालन करनेवाला है, (सः प्रजापतिः) वही प्रजापति है, वही परमात्मा (शुक्रं) शुद्ध पवित्र बल, या वीर्य है और उसी को ब्रह्म या ज्ञानस्वरूप कहते हैं। "

अथवा इसका दूसरा अर्थ यह है–

(अग्निः तत् एव) अग्नि वही परमात्मा है, (आदित्यः तत् एव) आदित्य वही परमात्मा है, (चन्द्रमाः तत् एव) चन्द्रमा वही परमात्मा है, (वायुः तत् एव) वायु भी वही परमात्मा है, (आपः ताः एव) जल भी वही है, (प्रजापतिः सः) प्रजापति–प्रजापालन करनेवाला भी वही है, (शुक्रं तत् एव) पवित्र बल वीर्य भी वही परमात्मा है, ब्रह्म (ज्ञानरूप) भी वही परमात्मा है।

तत् एव अग्निः। (वही अग्नि है)
अग्निः तत् एव। (अग्नि वह ही है)

इन दो प्रकार के अर्थों का तात्पर्य एक ही है। इसके पूर्व बताया गया है कि अग्नि–दीप–विद्युत्–सूर्य–चन्द्र का प्रकाश परमात्मा के प्रकाश से ही हो रहा है, परमात्मा का ही सच्चा प्रकाश है। यह परमात्मा का सच्चा प्रकाश न मिला, तो न सूर्य प्रकाशित हो सकेगा और न अग्नि आदि पदार्थ। इसलिए जिसका निज प्रकाश है वही सच्चा अग्नि, वही सच्चा सूर्य, वही सच्चा चन्द्रमा है, यह बात स्पष्ट ही है। इसी दृष्टिसे (तत् एव अग्निः) वह ब्रह्म ही अग्नि है, (तत् आदित्यः) वह ब्रह्म ही आदित्य–सूर्य है, (तत् उ चन्द्रमाः) वह ही निश्चय से चन्द्रमा है, इस तरह उक्त मन्त्र में कहा है। यदि यह सत्य है और यदि इस मन्त्र का आशय यही है, तब तो यह भी निःसन्देह सत्य है कि (अग्निः तत् एव) अग्नि वही ब्रह्म है, (आदित्यः तत् एव) सूर्य भी वही ब्रह्म है और (चन्द्रमाः तत् एव) चन्द्रमा भी वही है।

यहां का ' तत् ' शब्द ब्रह्म का वाचक है, अतः नंपुसक लिंग में पडा है। सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों का प्रकाश और चमकाहट ब्रह्म के प्रकाश से होती है, इसमें अब किसी को सन्देह नहीं हो सकता। क्योंकि–

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (श्वे० उ०)

उस ब्रह्म के प्रकाश से ही यह सब विश्व चमक उठता है, यह ऋषियों का वैदिक सिद्धान्त सर्वमान्य ही है। और यही वेदका मुख्य सिद्धान्त है। इसको माननेपर ही उक्त मन्त्र का आशय ध्यान में आ सकता है, अन्यथा उस मन्त्र का आशय समझना असंभव है।

राजा और ओहदेदार।

यहाँ एक उदाहरण लेते हैं। प्रत्येक राज्यशासन में हर एक ओहदेदार–अफसर–अधिकारी राजाकी सत्ता लेकर हि उस स्थान में कार्य करते हैं। सिपाही से लेकर महामन्त्री तक के सब अधिकारी राजाकी शक्तिसे शक्तिमान् बने होते हैं। यह तत्त्व तो सब ही जानते हैं। राजा जिसको उस अधिकारके स्थानपर नियुक्त करता है और जब अपनी शक्ति उसे प्रदान करता है, तब वह उस स्थान का कार्य करता है। कोई मनुष्य कितना भी विद्वान् क्यों न हो, जब तक राजाकी शक्ति उसको प्राप्त नहीं होती तब तक वह किसी राज्यशासन का अंग बन कर कार्य करने में असमर्थ ही रहेगा। ऐसी अवस्था में यदि कोई कहे कि राजा ही महामन्त्री, दीवान, प्रधान, तहसीलदार, लेखक और चपरासी के रूप में कार्य कर रहा है, तो वह जैसा सत्य है, वैसा ही यदि कोई कहे कि ' चपरासी, लेखक, तहसीलदार, थानेदार, तालुकदार, मन्त्री, प्रधान आदि राजा ही है, क्योंकि राजाकी शक्ति लेकर हि ये अधिकारी बने हैं, निज शक्ति से नहीं, ' तो वह भी सत्य ही है। ये लोग

राजासे शक्ति प्राप्त करते हैं, राजा उनको अपनी शक्ति देता है और ये उस शक्ति से शक्तिमान् होकर कार्य करते हैं।

इसी तरह अग्नि सूर्य चन्द्र ये भी ईश्वर के विश्वरूपी महाराज्य के अधिकारी हैं, वे भी ईश्वर से प्रकाशादि अनेक शक्तियां प्राप्त करके ही अपने अपने स्थान का कार्य करने के लिये नियुक्त हुए हैं, अतः अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा परमेश्वर ही है, अथवा ब्रह्म ही अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा है ऐसा कहा तो भी वह सब प्रकार से सत्य ही है।

यहां तक हम मानते आये हैं कि अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा-रूपी पर्देके पीछे परमेश्वर है और उसका प्रकाश अग्नि आदिकों में से आकर हमें अग्न्यादिकों के विभिन्न प्रकाश प्राप्त होते हैं। यह तो हम इस समय तक लिखते और मानते आये हैं, पर पाठक यहां देखें कि उक्त वेद-मन्त्रने वह परदा भी हटा दिया है। इस मन्त्र की भाषा परदा रख कर कही नहीं है। (अग्निः तत् एव) अग्नि वही ब्रह्म है, (आदित्यः तत् एव) सूर्य भी वही है और (तत् उ चन्द्रमाः) वही चन्द्रमा है। बीचमें परदा नहीं। यदि परमात्मा के प्रकाश से ही अग्नि आदि प्रकाशने हैं, और अपने निज प्रकाश से प्रकाशने की शक्ति उनमें नहीं है, तब तो अग्नि-सूर्य आदि वही है ऐसा कहने में भय किसका है?

वेद का स्पष्ट अर्थ मानने के लिये यदि किसी को भय लगता होगा, तो वह वैदिक धर्मी नहीं रहेगा। वेद तो कहता ही है कि—

तेजोऽसि।
अग्निः तत् एव।

हे ईश्वर! तू तेजस्वरूप हो, तेज देनेवाला अग्नि वही है। है ना यह स्पष्ट अर्थ, तो वैसा मानकर वैसा ही विश्व-में अनुभव करनेका यत्न करिये। यही ईश्वरसाक्षात्कार का मार्ग है।

इस समय तक हमने तेजस्तत्त्व का ही विचार किया। परन्तु इस मन्त्रने तो तेजस्तत्त्व की मर्यादा तोडकर आप् और वायु तत्त्व भी वही परमात्मा है ऐसा कहा है। देखिये—

जल और वायु।

वायुः तत् एव (तत् एव वायुः)।
आपः ता एव (ताः एव आपः)।

इस मन्त्र में जो चन्द्रमा है वह भी जलतत्त्वकी देवता है और जो शुक्र है, यदि इसका अर्थ (वीर्य, प्रजनन करनेवाला) माना जाय तब तो वह जलतत्त्वका ही है (देखो ऐतरेय उपनिषद्)। तथापि हम यहां के प्रति-पादन की सुगमता के लिये इन दोनों को छोड देते हैं और केवल वायु और जल का ही विचार करते हैं।

जल में शीतता है, वायु में रूक्षता है और अग्नि में दाहकता है। यदि ऊपर लिखी अग्नि के विषय की बातें सत्य हैं तो वही बातें जल और वायु के विषय में समझी जा सकती हैं। परमेश्वर में जो अप्रतिम शान्ति और शीतलता है उसमें से थोडीसी शीतलता लेकर जल विश्वमें अवतीर्ण हुआ है। यह उसकी निज शक्ति नहीं है। सच्ची शांति न तो चन्द्रमा में है और ना ही जलमें ही है। सच्ची शान्ति तो एकमेव परमात्मा में ही है। उसका अंश जल में आया है वैसा ही चन्द्रमा में भी गया है। अतः जल के रूप में परमेश्वर की शीतलता अवतीर्ण हुई है। जैसा अग्नि में प्रकाशगुण अवतीर्ण हुआ है, वैसाही जल में शान्त गुण अवतीर्ण हुआ है। ठीक वैसाही वायु का बल, रूक्षत्व, गतिमत्त्व ये सब गुण ईश्वर से ही आये हैं। इसी कारण केन उपनिषद् की गाथा सार्थ होती है कि वायु से ब्रह्मने अपनी शक्ति वापस ली, तब वायु एक तिनके को भी उठा नहीं सकी (केन उ० ४)! क्या परमात्मा ने अपनी शक्ति वापस ली तो जल शान्ति और तृप्ति कर सकेगा? कदापि नहीं। केनोपनिषद् में तो अग्नि और वायु का गर्व हरण होने की कथा कही है, पर वह कथा जल, अग्नि, वायु पर समानरूप से घटती है। और जो कथा उक्त तीनों तत्त्वोंपर घट सकती है क्या वह पृथ्वी-आप-तेज-वायु-आकाश पर नहीं घट सकेगी? अवश्य अवश्य घटेगी। इसीलिये पंचभूतों के गुणधर्म तब तक ही पंचभूतों में कार्य करेंगे, जबतक उन में परमात्मा की शक्ति कार्य करती है।

ईश्वर की शान्त तनु।

वा० यजुर्वेद अ० १६ में रुद्रवाचक नामोंमें "स्तुत्य, कुल्य, सरस्य, नादेय, वैशन्त, कूप्य, वर्ष्य" ये नाम जलवाचक हैं, नदी कूप तालाव में रहनेवाला जलरूपी रुद्र परमेश्वर है, क्योंकि ईश्वर की शान्त तनु जलमें अवतीर्ण हुई है और क्रूर तनु अग्निमें अवतीर्ण हुई है।

इतने विवरणसे पाठकों को पता चलेगा कि जिस प्रकार अग्नि सूर्य आदि ईश्वरशक्ति के रूप हैं, उसी तरह जल और चन्द्रमा ये भी उसी की शक्ति के रूप हैं। क्योंकि उसी की शक्ति से सब शक्तिमान् हुए हैं।

यद्यपि उक्त मंत्र में पञ्चमहाभूतोंमें से 'आप्, अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा' के नाम आ गये हैं, तथापि पृथ्वी और आकाश का अन्तर्भाव उसमें नहीं लिया जायगा, ऐसी बात नहीं। और यदि लिया जायगा, तब तो उक्त पांचों महाभूत उसीकी शक्ति से सामर्थ्ययुक्त बने हैं। इसीलिए कह सकते हैं कि जो कार्य पंचमहाभूतों से हो रहा है वह उसीकी शक्ति से हो रहा है, अर्थात् जैसा (अग्निः तत् एव) अग्नि वही है वैसी ही (पृथ्वी तत् एव) पृथ्वी भी वही है और आप वायु आकाश भी वही है।

शुक्र, ब्रह्म, प्रजापति।

उक्त मंत्र के 'शुक्र, ब्रह्म, प्रजापति' ये शब्द अवशेष रहते हैं। इनका अर्थ निश्चित करना चाहिये। 'शुक्र' शब्द का अर्थ 'बल, पावित्र्य, शुचित्व, वीर्य' है। बलका रूप ईश्वर का है, इस विषयमें पूर्वलेख में 'बलमसि बलं मयि धेहि' की व्याख्या करते हुए पर्याप्त कहाही है। पवित्रता, ओज आदि अर्थों के विषयमें भी वही बात है। हम इस शब्द का अर्थ 'वीर्य' लेते हैं और यह वीर्य परमेश्वर का रूप है ऐसा मानते हैं, क्योंकि—

तत् एव शुक्रं। (शुक्रं तत् एव)

ऐसा ऊपर वाले मंत्रमें कहा है। जिस वीर्यमें संतति उत्पन्न करनेका सामर्थ्य है, एकही संतान नहीं अपितु उनकी खानदानमें जितना वंश होनेवाला होगा, वह सब उत्पन्न करनेका सामर्थ्य वीर्यबिन्दुमें है। इस सामर्थ्य का अंदाजा कौन लगा सकता है? इसलिए अनंत शक्तिवाला वीर्य निःसंदेह ईश्वरकी शक्तिका प्रत्यक्ष रूप है।

इस सम्बन्ध का वर्णन आगे बहुत होनेवाला है, अतः इस स्थानपर हम अधिक नहीं लिखेंगे। इसका सम्बन्ध वेद के अनेक मंत्रोंके साथ है, अतः उन सबका वर्णन हम आगे एक दो लेखोंमें करेंगे।

इसके आगे कहा है कि **(तत् ब्रह्म)** वह ब्रह्म है। ब्रह्म शब्द के कई अर्थ हैं, उनमें 'ज्ञान, जीवन, जल और ब्रह्म' ये यहां देखनेसे ही हमारा कार्य चल सकता है। ज्ञान ईश्वर का रूप है, यह तो प्रसिद्ध ही बात है। 'चित्' आत्मा का अपना स्वरूप ही है, क्योंकि **'सत्-चित्-आनन्द'** रूप ही आत्मा है।

ज्ञानं ज्ञानवतामस्मि। (भ० गी०)

'ज्ञानियोंका ज्ञान ईश्वरका रूप है' यह भगवद्गीता का कथन इसी आधारपर अधिष्ठित है। जहां ज्ञान है वहां ज्ञान के रूप से परमेश्वर का अवतार हुआ है। परमेश्वर ज्ञानरूप है इसीलिए उसकी उपासना से ज्ञान बढता है। इस तरह इस मंत्र के सब पदों का आशय देखा। अब इस मंत्र का एक ही पद रहता है, वह है 'प्रजापति' इसका अर्थ क्या है? इसका 'प्रजापालन करनेवाला' यह अर्थ प्रसिद्ध है। प्रजा का पालन करनेवाला राजा होता है, अतः यदि प्रजापति का अर्थ राजा लिया जायगा, और—

सः प्रजापतिः। (प्रजापतिः सः)

'प्रजापति ही उस ईश्वर का रूप है' ऐसा इसका अर्थ होगा और ऐसा अर्थ करनेपर 'ना विष्णुः पृथिवीपतिः' यह पुराणों के कथन के लिए यह एक वेद का आधार मिलेगा।

भगवद्गीता में कहा है कि-

नराणां च नराधिपम्। (भ० गी० १०।२७)

'मनुष्यों में नरोंका अधिपति ईश्वर का रूप है।' यह भगवद्गीता का कथन प्रजापति शब्द के इस अर्थ के साथ संगत होता है। भगवद्गीता तो केवल राजा को ही ईश्वर का रूप मानती है ऐसा नहीं है। देखिये—

पाण्डवानां धनञ्जयः। १०।३७
देवर्षीणां नारदः। १०।२६
सिद्धानां कपिलो मुनिः। १०।२६
मुनीनामप्यहं व्यासः। १०।३७

अर्थात् 'पाण्डवों में धनंजय, देवर्षियों में नारद, सिद्धों में कपिल मुनि, मुनियों में व्यास' ईश्वर की विभूति है। इस तरह भगवद्गीता तो विशेष तेजस्वी विभूतियों को ईश्वर का रूप मानती है। तथा—

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि । ७।१०
ज्ञानं ज्ञानवतामहम् । १०।३८
तपश्चास्मि तपस्विषु ६।९
व्यवसायोऽस्मि । १०।३७
सर्वभूतानां बीजं तदहम् । १०।३९

बुद्धिमानों की बुद्धि, ज्ञानियों का ज्ञान, तपस्वियों का तप, व्यवसायियों का व्यवसाय, सब भूतोंका बीज अर्थात् वीर्य ईश्वर का रूप है। इस तरह राजा के अतिरिक्त अनेक मानवों में ईश्वर के स्वरूप का अवतार होनेकी संभावना भगवद्गीता मानती है। क्या यह वेदको संमत है वा नहीं इसका विचार करना चाहिये। वा० यजुर्वेद अ० १६ में रुद्रसंज्ञक ईश्वर की अनेक विभूतियां कहीं हैं, जिन में ये मानवी विभूतियां कहीं हैं–

'मंत्री, गृत्स, पुलस्ती, वृद्ध, सभापति, सभा, शूर, सेनानी, पथीनां पति, पत्तीनां पति, वनानां पति, क्षेत्राणां पति, व्रातपति, रथकार, धनुष्कृत्, इषुकृत्, क्षत्ता, कर्मार, कुलाल, सूत, उष्णीषी, परिचर, तस्काराणां पति, मुष्णतां पति, स्नायूनां पति, स्तेनानां पति, नक्तंचर, वाणिज।' (यजु० १६)

'राजाका मंत्री, गृत्स ऋषि, पुलस्ती ऋषि, बुड्ढा, सभापति, सभा, शूरवीर, सेनापति, सेनाका अधिपति, वनोंका रक्षक, खेतोंका रक्षक, समूहका रक्षक, रथ बनानेवाला, तर्खाण, बढई, धनुष्य बनानेवाला, बाण बनानेवाला, लुहार, यंत्रकर्ता, कुलाल, सारथी, पगडी धारण करनेवाला, नौकर, चोर लुटेरोंका मुखिया, रात्रीके समय घूमनेवाला, बनिया' आदि ये सब रुद्र देवताके अर्थात् ईश्वरके रूप हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताका कथन इस यजुर्वेदके कथन के साथ मिलाया जाय तो दोनोंका मेल हो सकता है। अर्थात् मनुष्यों में भी कई श्रेष्ठ या विशेष प्रकार के मनुष्य ईश्वर के रूप हैं। यदि इस यजुर्वेद का यही सत्य अर्थ है तब तो प्रजापति शब्द से ज्ञात होनेवाले राजा तथा राजपुरुष जो प्रजापालन के कार्य में नियुक्त हैं, वे सबके सब ईश्वर के रूप हैं। प्रजापति का अर्थ राजा और राजपुरुष दोनों है।

परन्तु हम इस मंत्र के इस अर्थ के विषय में यहां कुछ भी विशेष कहना नहीं चाहते। क्योंकि यह विषय इतना गंभीर है कि इसका अनेक पहलुओंसे विचार होना चाहिये जो इस लेखमें इस समय नहीं हो सकता। परन्तु यहां के मंत्र के 'शुक्र' शब्द का अर्थ यदि 'वीर्य' मानना पडेगा तो उसका सम्बन्ध मानवों से भी जोडा जा सकता है, और यदि वैसा सम्बन्ध माना गया, तो 'प्रजापति' पद का अर्थ 'राजा और राजपुरुष' होना सम्भव है।

प्रजापति का अर्थ 'स्तनयित्नु मेघ' है तथा अन्य भी अर्थ हैं।

१ प्रजापतिः संवत्सरः। श. ब्रा. १४।४।३।२२
२ यज्ञो वै प्रजापतिः। तै. ३।३।७।३. श. १।१।१।१३
३ प्राणा वै प्रजापतिः। श. ८।४।१।४
४ अन्नं वै प्रजापतिः। श. ५।१।३।७
५ प्रजापतिर्ह्यात्मा। श. ६।२।२।१२
६ पुरुषः प्रजापतिः। श. ६।२।१।२३
७ प्रजननं प्रजापतिः। श. ५।१।३।१०
८ प्रजापतिर्वै क्षत्रम्। श. ८।२।३।११
९ प्रजापतिरेव सर्वम्। कौ. ६।१५

इस तरह प्रजापति शब्द "संवत्सर (काल), यज्ञ, प्राण, अन्न, आत्मा, प्रजननका बल, क्षात्र (पराक्रम), सब कुछ" इतने अर्थ और इससे भी अधिक अर्थ बताता है। इन सब अर्थों का विचार यहां करने की आवश्यकता नहीं है। यहां इन अर्थों से एक बात सिद्ध हुई कि अन्न, प्रजनन ये भी प्रजापति के रूप हैं, और अन्त में 'सर्व' प्रजापति है, इस में सब कुछ आ गया। यदि सब प्रजापति है तो उस में राजा और राजपुरुष भी आ गये हैं।

हम यहां किसी पद के अनेक अर्थ लेनेके इच्छुक नहीं हैं। प्रायः एक पद का एक मन्त्र में एक ही अर्थ होना चाहिये। इस अर्थका निश्चय हम आगे करेंगे। यहां तो एक और अनेक अर्थ लेनेपर भी पूर्वोक्त आशय में भिन्नता नहीं हो सकती यही बताना है। क्योंकि 'क्षत्र' शक्ति को

प्रजापति कहा है और वही राजा में होती है, इसलिये इन दोनों अर्थों की संगति राजामें चरितार्थ हुई। इसी तरह अन्य अर्थ भी संगति लगाकर देखने योग्य हैं।

अस्तु। इतने विवरणसे यह स्पष्ट हुआ कि " अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, जल, ब्रह्म और प्रजापति " ये सब ईश्वर के ही रूप हैं। यहां इनके पीछे ईश्वर है यह वेद नहीं कहता, परन्तु अग्नि आदित्य चन्द्रमा ही ईश्वरके रूप हैं, (तत् एव अग्निः आदित्यः, चन्द्रमाः) पाठक इसका विचार करें और जैसा वेद कहता है वैसाही मानने के लिये अपने मनकी तैयारी करें। परमात्मा का साक्षात्कार वेदकी रीतिके अनुसार करना हो तो वेद जैसा कहता है वैसाही मान कर चलना चाहिये और वेद के अनुसार हि अपना तर्क या अपनी बुद्धि चलानी चाहिये। अपनी बुद्धि के अनुसार वेद को खींचना नहीं चाहिये।

आजकल लोग ऐसा करते हैं कि वेदका मन्त्र कहता है कि (अग्निः तत् एव) अग्नि ब्रह्म ही है। यह तो वेद का संदेश है। पर हमें पता है कि यह हवन में प्रदीप्त किया हुआ अग्नि तो हमने अभी प्रदीप्त किया है, वह ईश्वर कैसे हो सकता है ? ऐसी शंका करके उक्त अर्थकी खींचातानी करके दूसरा ही इसका आशय बताने का यत्न करते हैं। परन्तु यदि वेद परमात्माका शब्द है, तब तो उसको मानकरहि चलना चाहिये। उसको बिगाडना मनुष्य को योग्य नहीं है। और वैसा दुराग्रह के साथ करना मनुष्य के लिये लाभप्रद कभी नहीं हो सकता। अब देखिये 'तत् एव अग्निः' का अर्थ कैसा किया गया है—

(वेद) १ तदेवाग्निः। वा० यजु० ३२।१

(ब्राह्मण) २ आत्मैवाग्निः। श० ब्रा० ६।८।१।२०; १०।१।२।४

आत्मा वा अग्निः। श० ७।३।१।२

अग्निरेव ब्रह्म। श० १०।४।१।५

ब्रह्म वा अग्निः। श० २।५।४।८

(उपनिषद) ३ एतद्वै ब्रह्म दीप्यते, यदग्निर्ज्वलति॥ (कौ० उ० २।१२)

(उवट) ४ तदेवाग्निः। विज्ञानात्मा परेणात्मना विशिष्टाग्न्यादिषु ओतप्रोतत्वेन उपास्योऽभिधीयते।

(महीधर) ५ अग्निः तदेव, कारणं ब्रह्मैव।

(श्री स्वा० दयानन्द तथा जयदेव शर्मा) ६ (तत्) वह सर्वत्र सर्वव्यापक सनातन अनादि सच्चिदानन्द नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त न्यायकारी दयालु जगत्स्रष्टा जगत्हर्ता जगन्नियन्ता अन्तर्यामी परमेश्वर (एव) ही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप स्वयं प्रकाशित होनेसे 'अग्नि' है।

(ज्वालाप्रसाद मिश्र) ७ (अग्निः) अग्नि (तत्) वह (एव) ही है अर्थात् कारण ब्रह्म है।

८ (M. Girphith) Agni is that (that). तत् the supreme self.

यजुर्वेद के एक मन्त्रभाग का अर्थ शतपथ ब्राह्मण, उपनिषद्, उवट, महीधर, स्वा० दयानन्द, पं० जयदेवशर्मा, ज्वालाप्रसाद मिश्र, मि० ग्रिफिथ इन सब लोगोंने कैसा किया है, वह यहां देखने योग्य है। सबका आशय प्रायः एक जैसा ही है। अग्नि ब्रह्म है अथवा ब्रह्म ही अग्नि है इ०। ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर स्वयंप्रकाश होनेसे अग्नि है। और इस अग्नि का अग्निपन भी उसी के मूल प्रकाश से सिद्ध होनेवाला है, यह बात यहां सिद्ध हुई। इसी तरह आदित्य चन्द्रमा के विषय में पाठक जान सकते हैं।

एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदग्निर्ज्वलति। कौ० २।१२

'जो अग्नि जलती है वह ब्रह्म ही प्रकाशित होता है' ऐसा उपनिषदों में जो कहा है उससे सब अर्थ स्पष्ट हो जाता है। जैसा अग्नि ब्रह्म है, वैसा ही आदित्य आदि भी ब्रह्म हैं।

इस तरह ईश्वर का साक्षात्कार करने के विषय में वेद के आदेश हैं। अग्नि, दीप, विद्युत, सूर्य, चन्द्रमा ये प्रकाशवाले देव, आप, जल, मेघ, नद नदी, समुद्र आदि आप् तत्ववाले शीतलता देनेवाले देव, वायु, धूम, गैस आदि वायुरूप पदार्थ, पृथ्वी पत्थर रेत आदि पदार्थ, वीर्य, ब्रह्म, ज्ञान, प्रजनन आदि पदार्थ, प्रजापति, राजा, राजपुरुष,

मन्त्री, वणिक् आदि मानव ये सब परमेश्वर की शक्तिसे कार्य करनेवाले हैं, इसलिये, ये ईश्वर के रूप हैं। इनके पीछे परमेश्वर है और वह अपनी शक्ति इनमें रखता है और इनको सामर्थ्य देता है, अतः इनके अन्दर परमेश्वरका कार्य देखकर वहां परमेश्वरका साक्षात्कार करना चाहियें।

यह साक्षात्कार की दूसरी सीढी है।

इस सीढीपर आरूढ होनेपर भी प्रत्यक्ष ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता, क्योंकि अन्तर्यामी रूपसे इनमें वह है ऐसा मानना पडता है। अतः हमें आगेके लेखों में देखना चाहिये कि दोपहरके सूर्य के समान जो ईश्वर का दर्शन होनेवाला है वह कैसे होगा ?

अग्नि सूर्य आदि के अन्तर्यामी को तो हम मानते ही हैं, पर यहां जो कहा है कि अग्नि सूर्य आदि प्रत्यक्ष ब्रह्मके रूप हैं, उनका भी आशय समझमें नहीं आया। अतः इस का विचार आगामी लेख में करेंगे।

दैवत-संहिता
के
मुद्रण की तैयारी हो रही है।

वेदों की सब संहिताओं का मुद्रण स्वाध्याय-मण्डल में हो रहा है। ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद की संहिताएं छप चुकी हैं। प्रत्येक शाखा की जो अनेक संहिताएं उपलब्ध होती हैं, उन सबका क्रमशः मुद्रण होना है। शाखा उपशाखा की संहिताएं मिलकर बडाभारी संहिता संग्रह हो जायगा। इसका अध्ययन करना बडाही कठिन कार्य है। इसके लिए क्या उपाय किया जावे, इस आवश्यक विषयपर हमने कई वर्ष सोचा और अन्त में निश्चय किया कि यदि इन सब संहिताओं के मंत्र संग्रह की एक **'दैवत-संहिता'** बनायी जावे और उसमें से पुनरुक्त सूक्त तथा मंत्र हटाए जावे, तो वह **'दैवत-संहिता'** बहुत बडी नहीं होगी और हरएक के पाठके लिए सरल भी हो जायगी।

दैवत-संहिता का स्वरूप।

दैवत संहिता का स्वरूप क्या होगा, यह यहां कहना अत्यंत आवश्यक है। प्रथमतः पाठक यह समझें की वेद **की संपूर्ण संहिताओं में जो ज्ञान दिया है वह देवता के वर्णन के द्वारा हि दिया है।** प्रत्येक सूक्त का और प्रत्येक मन्त्र का कोई एक देवता निश्चित होता है और उस देवता के वर्णन से वेद ज्ञान देता है। संपूर्ण संहिताओं में यही पद्धति है। जैसा औषधि सूक्तों में दवाओं का वर्णन है, इन्द्र सूक्तों में क्षत्रियों के लिए उपदेश है, ब्रह्मणस्पति सूक्तों में ब्राह्मणों के लिए उपदेश है इत्यादि प्रकार स्थूल रीति से पाठक समझ सकते हैं।

यस्य वाक्यं स ऋषिः।
या तेन उच्यते सा देवता॥

जिसका जो वाक्य होता है वह उसका ऋषि है, और **(तेन) उस ऋषिने जिस शब्द द्वारा उस देवता का (उच्यते) उच्चारण-वर्णन-किया होता है,** वह उस मंत्र का देवता है अर्थात् देवता मन्त्र में प्रायः (उच्यते) उक्त ही होता है, इसलिए सूक्तों और मंत्रों को देखने से उन में ऋषिद्वारा उक्त देवता का पता सत्वर लग सकता है। मंत्र में या सूक्त में देवता ऋषिद्वारा उक्त (उच्यते) होता है। जिसने वेदमन्त्र सबसे प्रथम उच्चारे उसीने देवता वाचक पद का भी उच्चार उसी समय किया है।

मानवधर्म का उपदेश।

इन देवताओं के वर्णन से वेद मनुष्यों को मानव धर्म का उपदेश देता है। वेद से मानवधर्म जानने की यही प्राचीन परिपाठी है। यह परिपाठी अति सुगम और अति सरल है और यदि इस परिपाठी के अनुसार वेद पढे जायगे, तो मनुष्य को वेद के धर्म का ज्ञान सुगमता के साथ हो सकता है।

आज कल अज्ञानी लोगों ने अनेक दिवारें खडीं कर के वेद को अतिदुर्गम और दुर्बोध बनाया है। ये सब अडचनें दूर करनी चाहिए और वेद को शुद्ध रूप में ही पढना चाहिए। ऐसा होने से साधारण संस्कृत जाननेवाला भी वेद को अच्छी तरह पढ सकेगा और समझ सकेगा और अपना कर्तव्य जान सकेगा।

आप किसी वेद की संहिता खोलकर देखिये, उसमें अग्नि आदि देवताओं के मंत्र इधर उधर बिखरे हुए आपको मिलेंगे। थोडेसे सूक्त प्रथम मण्डलमें और वैसेही अन्य मण्डलों में बिखरे हुए हैं और अन्यान्य संहिताओं में भी वैसे ही बिखरे पडे हैं। अतः अग्नि के विषय में या इन्द्रके विषय में क्या क्या ज्ञान वेद देता है, वह पूर्ण रूपसे पाठकों के संमुख आताही नहीं। सामान्य पाठक बिखरे हुए सूक्तोंका अनुसन्धान कर नहीं सकते और ठीक तरह अनुसन्धान न होने से मानव धर्म को वेदसे जान भी नहीं सकते।

देवतावार मंत्रसंग्रह का महत्त्व।

देवता के वर्णन के मिषसे वेद मानव धर्म का ज्ञान देता है, यह सत्य है। और देवताओं के मन्त्र वेद की विविध संहिताओं में बिखरे पडे हैं यह भी सत्य ही है। ये दोनों सत्य बातें संमुख रखने से हर कोई अतिशीघ्र यही कहेगा कि ये बिखरे मन्त्र देवताओं के शीर्षक के नीचे एकत्रित और संग्रहित किये जांयगे और अग्निके, इन्द्रके, सूर्यके, मित्रावरुणौके मन्त्र उस उस देवताके प्रकरण में यथास्थान संग्रहित किये जांयगे और इनका इकट्ठा विचार हो जायगा तो वैदिक धर्म का ज्ञान शीघ्र हो जायगा।

यही बात जो सरल से सरल है और जो इस समय तक किसीने नहीं की, वह हम वैदिक धर्म की सुबोधता के लिए करना चाहते हैं। हमने सब वेद की संहिताओं के मंत्र अग्नि इंद्र आदि देवताओंके प्रकरणानुसार व्यवस्था के साथ, संग्रहित किये हैं। इसीका नाम 'दैवतसंहिता' है। इस पुस्तक में अग्नि के सब मंत्र एक प्रकरण में, इन्द के मंत्र दूसरे प्रकरण में, वायु के तीसरे प्रकरण में इस तरह प्रकरणशः मिलेंगे।

इस तरह देवतानुसार मंत्रसंग्रह करने से एक एक विद्वान् एक एक देवता के मंत्रों का मनन विना आयास कर सकता है और संगति लगा सकता है और मानवधर्म का बोध जान सकता है। वेदमन्त्रों का सत्य अर्थ जानने की यह सरल से सरल रीति है।

यह संग्रह करने के समय जो सूक्तों का क्रम चारों वेदों में है, वही हमने रखा है, अर्थात् ऋग्वेद में जिस क्रम से अग्निमंत्र आए हैं, उसी क्रमसे यहां रखे हैं, तत्पश्चात् अन्य वेदों के रखे हैं। जो पुनरुक्त सूक्त और मंत्र हैं, वे हटा दिये हैं और उनका पता स्थान स्थानपर दिया है कि यहां यह पुनरुक्त मंत्र था। क्योंकि वह पहिले आया होता है। उस पहिले स्थान का पता वहां दिया है।

कुल मंत्रसंख्या।

ऋग्वेद के ११००० कुल मंत्र; यजुर्वेद से (६०० पुनरुक्त हटाकर शेष) १२०० मंत्र, सामवेद के (१७०० पुनरुक्त मंत्र हटाकर) ७५ मंत्र, अथर्ववेद के (२००० पुनरुक्त मंत्र हटाकर) ४००० मंत्र तथा अन्य संहिताओंके कुछ मंत्र मिलकर करीब बीस हजार मंत्र होते हैं। ठीक ठीक मंत्रसंख्या छपनेपर विदित होगी। परन्तु वह १६००० से कम नहीं होगी और २०००० से अधिक नहीं होगी, ऐसा हमारा ख्याल है।

दान।

इसका मुद्रण अब शुरू करना है। अजमेरनिवासी श्री० पं० नाथूराम शर्माजी पेन्शनर ने इस शुभ कार्य के लिए २०००) दो सहस्र रु० का दान दिया है। जिससे कार्य शुरू हो रहा है। जहांतक हो, वहां तक प्रयत्न करके इसका मुद्रण अति शीघ्र करना है। इस मुद्रण के विषय में निम्नलिखित नियम निर्धारित किये हैं और ये आपके पास विचारार्थ और आपकी संमति प्राप्त करने के लिए भेजे जाते हैं।

दैवतसंहिता की बनावट।

(१) इस दैवत-संहिता को प्रथमवार स्वरों के विनाहि मुद्रित करने का निश्चय किया है। इसका कारण यह है कि हरएक मनुष्य स्वरोच्चारण स्वरचिह्न रहनेपर भी यथोचित रीति से नहीं कर सकता। गुरुपरंपरा से ही इन स्वरों का उच्चारण सीखा जाय तो वह ठीक उच्चारण हो सकता है, इसलिए मंत्रों के ऊपर नीचे स्वराचिह्न लगानेपर भी उनका किसी को मन्त्रोच्चारण के लिए उचित उपयोग नहीं हो सकता। केवल स्वरचिह्नों को देखकर हि कोई मनुष्य वेदमन्त्रों के उदात्त, अनुदात्त, स्वरितादि स्वरोंका उच्चारण ठीक ठीक कर सकेगा, यह बात सर्वथा असंभव है।

अर्थ- ज्ञान के लिये क्वचित् स्थानपर स्वरोंका उपयोग होता है, परन्तु ऐसे स्थान बहुत ही थोडे हैं और जहाँ ऐसा अर्थ का संदेह होगा, वहां स्वरसहित संहिता और स्वरसहित पदपाठ छपा है, उससे उस शंकाका निरसन हो सकता है। अतः इस दैवतसंहिता में किसी भी वेदके स्वरचिह्न न रहे, तो कोई हानि नहीं होगी। और आगे उनकी आवश्यकता प्रतीत हुई, तो दूसरी वारके मुद्रण के समय वे सब स्वरचिह्न दिये जा सकते हैं। अतः प्रथम वार का यह ग्रंथ विना स्वरहि मुद्रण करनेका संकल्प किया है।

(२) इस में देवतानिर्देश के शब्द बडे अक्षरोंमें छापे है, जिससे उस मन्त्र में आये देवता का ज्ञान होगा और वेदोक्त देवता का ज्ञान सहज हो से होगा। सूक्तकी देवता और मन्त्रान्तर्गत निपातित देवता भी इसी स्थूलाक्षरोंसे ज्ञात होगा। मन्त्रमें जो ऋषिवाचक शब्द आते हैं, उनके बोधार्थ ... ऐसा चिह्न उस पदके नीचे किया है।

(३) एक ऋषिके नामपर जितने मन्त्र हैं, उतने सब एकत्र ही रखे गये हैं, इस लिये एक वार ऋषिनाम देनेपर उसीका पुनः निर्देश नहीं किया है। जब दूसरा ही ऋषि आ जायगा तब पहिले के मन्त्र समाप्त हुए, ऐसा समझना चाहिये।

(४) देवतावार मंत्रसंग्रह होने के कारण और मंत्र में देवतादर्शक पदको दर्शानेवाला संकेत होने के कारण पुनश्च प्रति सूक्त में देवतानिर्देश नहीं किया है। क्योंकि मंत्र देखते ही पाठकों को देवताज्ञान होगा और मंत्रमें निपातित देवता भी उसी तरह ज्ञात होंगे। इसलिए सूक्तपर देवता दर्शाने का प्रयोजन ही नहीं है।

(५) प्रत्येक सूक्त के ऋग्वेद के तथा अन्य वेदों के आवश्यक पते यथा स्थान दिये हैं, पाठभेद नीचे टिप्पणी में दर्शाये हैं, पुनरुक्त मंत्रभाग के पते भी दिये हैं। इससे पाठक इन मंत्रोंको आवश्यकता होने पर मूल संहिताओं में देख सकते हैं और स्वरादि विवरण वहाँसे जान सकते हैं।

(६) जो मंत्र ऋग्वेदमें आते हैं, उनका मूल ऋग्वेदका पाठहि मुख्य मान कर दिया है और अन्य वेदके पाठभेद नीचे दिये हैं तथा जो अन्य वेदोंके मन्त्र हैं और ऋग्वेदमें नहीं हैं उन के उस उस वेदके पाठ ऊपर दिये हैं और उनके पाठभेद नीचे दिये हैं। इस तरह **इस एक दैवतसंहिता को प्राप्त करने से सब संहिताओं को प्राप्त करनेका श्रेय मिल सकता है और इसका ठीक ठीक अर्थ होनेसे सब संहिताओं का अर्थ भी ज्ञात हो सकता है।**

(७) सामवेद के मन्त्रों पर जो अङ्क होते हैं, वे केवल ऋग्वेद के उदात्त-अनुदात्त-स्वरित के ही चिह्न हैं, उनका और कोई तात्पर्य नहीं है, इसलिए वे अंक साममन्त्रों पर भी यहां दिये नहीं हैं। जैसे ऋग्वेद-अथर्ववेद के स्वरचिह्न दिये नहीं हैं, वैसे ही साम के स्वरचिह्न भी दिये नहीं हैं। और वा० यजुर्वेद के स्वरचिन्हों के साथ उस वेद के अक्षरोच्चारणके, अनुनासिक आदि के भी अनेक चिह्न हैं, वे सब यहां दिये नहीं जायंगे। क्योंकि ये उसी शाखा के अपने चिह्न हैं और दैवतसंहिता किसी प्रकार भी शाखासंहिता नहीं हो सकती, इसलिए मन्त्रों के शाखा-चिह्न यहां दिये नहीं हैं। और अर्थज्ञान के लिए उनका उपयोग भी नहीं है। इसलिये इस दैवतसंहिता में किसी शाखा के चिह्न देने की आवश्यकता भी नहीं है।

(८) प्रत्येक वेद के परिशिष्ट होते हैं, वे संहिताओं के समान प्राचीन नहीं माने जाते, इसलिये उनका संग्रह इस दैवतसंहिता में नहीं किया है, परन्तु जो मंत्र संहिता में आये हैं, जैसे वालखिल्य कुन्ताप आदि हैं, उनका संग्रह यहां किया है।

(९) यजुर्वेदमें बहुतसा भाग गद्य है, जिसको यजु कहते हैं, उसका यहां संग्रह नहीं किया है। यहां केवल पादबद्ध छन्द मन्त्रों का ही संग्रह किया है। क्योंकि याजुष भाग का यज्ञक्रमानुसार संग्रह करके स्वतन्त्र पुस्तक प्रकाशित किया जायगा। याजुष भाग यज्ञप्रक्रिया के ही होते हैं और सब संहिताओंसे उसका अलग संग्रह करना यज्ञ के विचारकों के हित के लिए उचित है, इसलिए उस गद्य-भाग का संग्रह यहां नहीं किया गया है।

(१०) ब्राह्मणों और आरण्यकों में भी ऐसे कई मन्त्र हैं कि जो देवतास्तुतिरूप हैं, परन्तु उनका संग्रह हमने यहां इसलिए नहीं किया कि वे संहिताओं में नहीं अन्तर्भूत हुए हैं। अर्थात् यह केवल संहितान्तर्गत पाद-बद्ध-मन्त्र-भागों का ही संग्रह है।

(११) प्रायः प्रत्येक मन्त्र उसके छन्द के अनुसार पाद का छेद करके ही छापा जायगा। क्योंकि इससे छन्द के विषय में किसी को किसी प्रकार की शंका न रह सकेगी। इसके साथ साथ जहां पदच्छेद होने की सुगमता से संभावना होगी, वहां पदच्छेद भी किया जायगा। जहां देवता का संबोधन होगा, वहां (!) ऐसा चिह्न दिया

जायगा, जहां वाक्य पूर्ण हो रहा होगा वहां (, ; .) ये चिह्न भी दिए जांयगे। जो प्रश्नोत्तररूप या संवादरूप सूक्त होंगे, वहां संवाददर्शक संवादकर्ताके नाम आदि ब्रेकेट में ( ) रखे जांयगे, जिससे सुगमता से अर्थ जानना सहज होगा।

निवेदन।

जिनके पास यह निवेदनपत्र जायगा, वे कृपा करके अपनी संमति लिखकर हमारे पास अति शीघ्र भेजें। एक मास की अवधि में यह कार्य शुरू करना है और ४।५ महिनों में पुस्तक ग्राहकों के पास भेजना ही है। इसलिए अपनी संमति अति शीघ्र हमारे पास आने से उनका विचार छपाई की पद्धति निश्चित करने के समय किया जा सकता है।

यहां इस निवेदनपत्रके साथ **'दैवतसंहिताके नमूना'** पृष्ठ भी रखे हैं जिससे पाठकों को पता लग जायगा कि टाईप, पंक्तिका आकार और मंत्रसूक्तोंकी व्यवस्था किस प्रकार की होगी। इस विषय में किसको कुछ सूचना करनी हो, तो वह शीघ्र ही करे।

२०००० मन्त्रों के लिये एक हजार पृष्ठ लगेंगे, ऐसा अंदाजा हमने किया है। न्यून वा अधिक पृष्ठ होंगे, तो छपाई करनेपर पता लग जायगा। सब वेदोंके इस मंत्र-संग्रह का मूल्य ६) रु० होगा, पर पेशगी मूल्य भेजनेवालोंको हम केवल ३) में ही देंगे। डा० व्य० १) होगा अथवा रेलव्यय ॥) होगा। डा०व्य० तथा प्रेषणव्यय ग्राहकों के जिम्मे होगा। यह एक दैवतसंहिता का पुस्तक लेनेपर सब वेदों के पुस्तक लेनेका श्रेय मिलेगा, क्योंकि सब वेदोंके मंत्रों का संग्रह यहां होगा ही और यहां कोई मंत्र छोडा नहीं जायगा।

संपूर्ण 'वेद'।

मानो यह संपूर्ण 'वेद' ही होगा। जिस मूल वेदराशी के सब शाखाग्रन्थ जगत् में फैले हैं, वही मूल वेदराशी यह होंगी। क्योंकि सब वेदों के पादबद्ध मंत्र यहां लियेहि जायंगे। अर्थात् सभी मंत्र यहां देवताप्रकरणानुसार संग्रहित होंगे। अध्ययन के लिये यह सुबोध होगा, पास रखने के लिये छोटासा होगा और मनन करके लिये अतीव सहायक होगा।

हमने प्रथमवार इसके केवल दो हजार पुस्तक छापने का विचार किया है। पेशगी ग्राहक अधिक बने, तो अधिक छापेंगे। इसलिए ग्राहक अपना पेशगी मूल्य भेजकर इसको प्राप्त करें। छपने पर इसका मूल्य बढ जायगा।

देवतावार प्रकरण।

जो ग्राहक देवतावार अलग अलग पुस्तक चाहेंगे, उनके पास प्रत्येक देवता का प्रकरण छपकर तैयार होते ही विना जिल्द भेजा जायगा। जो सब ग्रंथ एक साथ लेना चाहेंगे, उनको यह दैवतसंहिता की पुस्तक सजिल्द दी जायगी।

प्रत्येक देवता के सजिल्द ग्रंथ जो चाहेंगे उनको ॥) आठ आणे प्रति पुस्तक की जिल्द के लिए देने होंगे।

जो पढते समय कुछ विचार उसी पुस्तकपर लिखने के इच्छुक हैं, उनके लिये एक ओर मंत्र और दूसरी ओर कोरा कागज ऐसा एक ओर छपा हुआ पुस्तक दिया जायगा। इस के लिए उनको दो रु० ३) अधिक मूल्य होगा। परन्तु जो सबसे प्रथम ऐसे पुस्तकों की मांग करेंगे, उनको ही ऐसे पुस्तक मिल सकेंगे। क्योंकि जितनी मांग होगी, उतने ही ऐसे पुस्तक हम छापेंगे, अधिक नहीं।

वेदज्ञान सुगमतासे प्राप्त करने के इच्छुक इस पुस्तक के शीघ्र ग्राहक बनकर लाभ उठावेंगे, तो ही उनको यह पुस्तक मिल सकेगा।

निवेदक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

इन्द्र देवता ।

मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । गायत्री ।

१ (ऋ० १।३।४-६)

इन्द्रा याहि, चित्रभानो ! सुता इमे त्वायवः ।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥१॥
इन्द्रा याहि, धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥२॥
इन्द्रा याहि, तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः ।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥३॥

२ (ऋ० १।४।१-१०)

सुरूपकृत्नुमूतये, सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥४॥
उप नः सवना गहि, सोमस्य सोमपाः पिब ।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥५॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अति ख्य, आ गहि ॥६॥
परेहि विग्रमस्तृतम् इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् ।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥७॥
उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत ।
दधाना इन्द्र ! इद् दुवः ॥८॥
उत नः सुभगाँ अरिर् वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥९॥
एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् ।
पतयन् मन्दयत् सखम् ॥१०॥
अस्य पीत्वा शतक्रतो ! घनो वृत्राणामभवः ।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥११॥
तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो! ।
धनानामिन्द्र ! सातये ॥१२॥
यो रायोऽवनिर्महान्त् सुपारः सुन्वतः सखा ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥१३॥

३ (ऋ० १।५।१-१०)

आ त्वेता नि षीदत इन्द्रमभि प्र गायत ।
सखायः स्तोमवाहसः ॥१४॥
पुरूतमं पुरूणाम् ईशानं वार्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥१५॥
स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् ।
गमत् वाजेभिरा स नः ॥१६॥
यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥१७॥
सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये ।
सोमासो दध्याशिरः ॥१८॥
त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः ।
इन्द्र ! ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो ॥१९॥
आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र ! गिर्वणः ।
शं ते सन्तु प्रचेतसे ॥२०॥
त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो ! ।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥२१॥
अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम् ।
यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ॥२२॥
मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र ! गिर्वणः ।
ईशानो यवया वधम् ॥२३॥

४ (ऋ० १।६।१-३,१०)

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥२४॥
युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥२५॥
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ॥२६॥

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि।
इन्द्रं महो वा रजसः ॥२७॥

५ (ऋ० १।७।१-१०)

इन्द्रमिद्गाथिनो बृहद् इन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥२८॥
इन्द्र! इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥२९॥
इन्द्रो दीर्घाय चक्षस, आ सूर्यं रोहयद् दिवि।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥३०॥
इन्द्र! वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च।
उग्र! उग्राभिरूतिभिः ॥३१॥
इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे।
युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥३२॥
स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि।
अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥३३॥
तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥३४॥
वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा।
ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥३५॥
य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति।
इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥३६॥
इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः।
अस्माकमस्तु केवलः ॥३७॥

६ (ऋ० १।८।१-१०)

एन्द्र! सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्।
वर्षिष्ठमूतये भर ॥३८॥
नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै।
त्वोतासो न्यर्वता ॥३९॥
इन्द्र! त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि।
जयेम सं युधि स्पृधः ॥४०॥
वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र! त्वया युजा वयम्।
सासह्याम पृतन्यतः ॥४१॥
महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे।
द्यौर्न प्रथिना शवः ॥४२॥
समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ।
विप्रासो वा धियायवः ॥४३॥
यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते।
उर्वीरापो न काकुदः ॥४४॥
एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही।
पक्वा शाखा न दाशुषे ॥४५॥
एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र! मावते।
सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥४६॥
एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या।
इन्द्राय सोमपीतये ॥४७॥

७ (ऋ० १।९।१-१०)

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥४८॥
एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने।
चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥४९॥
मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभिः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे।
सचैषु सवनेष्वा ॥५०॥
असृग्रमिन्द्र! ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।
अजोषा वृषभं पतिम् ॥५१॥
सं चोदय चित्रमर्वाग् राध इन्द्र! वरेण्यम्।
असदित् ते विभु प्रभु ॥५२॥
अस्मान्त्सु तत्र चोदय इन्द्र! राये रभस्वतः।
तुविद्युम्न यशस्वतः ॥५३॥
सं गोमदिन्द्र! वाजवद् अस्मे पृथु श्रवो बृहत्।
विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥५४॥
अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्।
इन्द्र! ता रथिनीरिषः ॥५५॥
वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्।
होम गन्तारमूतये ॥५६॥
सुतेसुते न्योकसे बृहद् बृहत एदरिः।
इन्द्राय शूषमर्चति ॥५७॥

वेदमन्त्रोंके उपदेश।

(३)

(लेखक श्री० स्व० पं० रघुनन्दनशर्माजी।)

अब अगले मन्त्र में प्रजा को आश्वासन देने के लिए राजा को आज्ञा दी गई है। राजा कहता है कि—

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु। पत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावा-पृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे॥ (यजुर्वेद २०।१०)

अर्थात् मैं क्षत्र में, राष्ट्र में, घोड़ों में, गौवों में, अङ्गों में, चित्तों में, प्राणों में, पुष्टि में, द्यौ में, पृथिवी में और यज्ञ में प्रतिष्ठावाला होऊँ। इस मन्त्र में राजा ने बतला दिया है कि मैं ऐसे काम करूँगा, जिससे मेरी सर्वत्र प्रतिष्ठा हो। अब अगले मन्त्रों में बतलाया जाता है कि राज्य का उत्तम काम चलाने के लिए राजपुरुषों और प्रजापुरुषों की सभाओं की आयोजना होनी चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु (अथर्व० ७।१२।१)
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि। ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥
(अथर्व० ७।१२।२)

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः। अविस्तस्मात्प्र मुंचति दत्तः शितिपात् स्वधा॥१॥ सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन्। आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति॥२॥ (अथर्व० ३।२९।१-२)

अर्थात् राजा की सभा और समितिरूपी दो लड़कियाँ मेरी रक्षा करें। ये दोनों आपस में मेल रखनेवाली हों, जिससे मैं जिस सभासद के साथ मिलूँ वह मुझे ज्ञान देवे, अतः हे सभासदों! आप लोग संगतों और सभाओं में ठीक ठीक बोलिए। हे सभा! हम तेरा नाम जानते हैं, अतः जो तेरे सभासद हैं, वे मेरे साथ सत्य वचन बोलनेवाले हों। राष्ट्रपति के जो बड़े बड़े राजे (प्रान्तिक सरकार) सभासद हैं, वे इष्टापूर्त का सोलहवाँ भाग केन्द्रिय सरकार को बाँट देते हैं। वह बाँटा हुआ धन उनका रक्षक होता है, उन्हें हानि से बचाता है और आत्मनिर्णय के लिए बल देता है। यह दिया हुआ कर रक्षक बनकर हानियों से बचाता है और सङ्कल्पों को पूर्ण करता हुआ सब कामनाओं को विजयी, प्रभावशाली और वृद्धियुक्त करके पूर्ण करता है। इन मन्त्रों में राजसभा और सभासदों का कर्तव्य वर्णन करके अब अगले मन्त्रों में वेद आज्ञा देते हैं कि राष्ट्र को चाहिये कि वह सबसे पहिले अपने अन्तर्गत घुसे हुए दुष्ट मनुष्यों को ढूँढे, जाने और उनको न्यायद्वारा दण्ड से शिक्षा दे। ऋग्वेद में लिखा है कि—

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्। शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥
(ऋ० १।५१।८)

वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेनँ एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र। धनोरधि विषुणक्ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः॥ (ऋ० १।३३।४)

इमे तुरं मरुतो रामयन्तीमे सहः सहस आनमन्ति। इमे शंसं वनुष्यतो नि पान्ति गुरु द्वेषो अररुषे दधन्ति॥ (ऋ० ७।५६।१९)

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्। अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः॥
(ऋ० ८।७०।११)

ताविद्दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम्।
आभोगं हन्मना हतमुदधिं हन्मना हतम्॥
(ऋ० ७।९४।१२)

अर्थात् हे राजन्! आप उत्तम गुणवाले आर्यों को जानो और धर्म की रक्षा के लिए अव्रती दस्युओं (डाकुओं) को शासित करो और मारो, जिससे आपके राज्य में धर्म के कार्य न बिगड़ें। हे राजन्! आप एक ही झपट से धनुष्य बाण के द्वारा ठग और यज्ञ न करनेवाले धनी दुष्टों को मार डालें। जो गुरु से द्वेष करनेवाले हैं और हवा की भाँति जल्दी से साहस के साथ बल को दिखलाते हैं तथा लोगों के सामने व्यर्थ की बड़ाई हाँकते हैं और जो नास्तिक हैं, पशुस्वभाववाले हैं और यज्ञ न करनेवाले हैं, उनको पहाड़ों में क़ैद कर दीजिए। जो बुरा भाषण करनेवाले हैं, जो दुष्ट ज्ञान धारण करनेवाले हैं, जो अपने रमण (भोग) के लिए दूसरों का क्षय करनेवाले हैं और जो सब प्रकार से अपने ही भोगों की फ़िक्र में रहनेवाले दुष्ट दुर्जन हैं, उनको विचार करके अवश्य हनन कीजिए। इस प्रकार से इन मन्त्रों में आर्यों और दस्युओं अर्थात् भले और बुरों को जानकर दुष्टों को विचारपूर्वक शासित करने का उपदेश है। इसी तरह दुष्ट स्वभाववाले अन्य दुराचारियों को भी दण्ड देने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मने।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या॥
(अथर्व० ५।१४।६)

अर्थात् चाहे स्त्री हो या पुरुष हो, जिसने पाप का कृत्य किया हो, उसको पशु की तरह बाँधकर वैसे ही ले जाना चाहिये, जैसे घोड़ा बागों से खींचा जाता है।

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये।
योनिं यो अन्तरारेलिह तमितो नाशयामसि॥१४॥
यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥१५॥
यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥१६॥
(अथर्व० २०।९६।१४-१६)

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥
(अथर्व० ८।६।२३)

अर्थात् दम्पति के बीच सो कर जो तेरी जंघाओं को फैलाता है और जो तेरी योनि को भीतर से सींचता है, उसका हम नाश करते हैं। जो कोई भाई व्यभिचारी बनकर अथवा पति बनकर तेरे पास आ जावे और तेरी सन्तान को मारना चाहे, उसका हम नाश करते हैं। जो कोई सोते हुए नशा खिलाकर अँधेरे में तेरे पास आ जावे और तेरी सन्तान को मारना चाहे, उसका हम नाश करते हैं। जो कच्चे अर्थात् ज़िन्दा पशुओं के मांस को, जो मनुष्यों के मांस को और जो गर्भों (अंडों) को खाते हैं, उनका हम नाश करते हैं। इस प्रकार शासन के द्वारा पहिले समाज का संशोधन करके भले आदमियों को दुष्टों के पीडन से बचाना चाहिए। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि दुष्टों का सुधार केवल कठोर शासन से ही नहीं हो जाता। इसलिए राज्य में ज्ञान, विद्या, सभ्यता, सदाचार और आस्तिकता का भी प्रचार करना आवश्यक है। यह काम ब्राह्मणों से ही हो सकता है, अतः राजा को चाहिये कि यह ब्राह्मणों, विद्वानों और सदाचारी पुरुषों का आदर बढ़ावे। इस विषय में वेद उपदेश करते हैं कि—

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः। तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥९॥ पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः। राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥१०॥ पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्। ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते॥११॥ नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये। यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजाया चित्त्या॥१२॥ न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते। यस्मिन् राष्ट्रे०॥१३॥ नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः। यस्मिन् राष्ट्रे०॥१४॥ नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते। यस्मिन् राष्ट्रे०॥१५॥ नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम्। यस्मिन् राष्ट्रे०॥१६॥ नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या

दोहमुपासते। यस्मिन् राष्ट्रे० ॥१७॥ नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्। विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥१८॥

(अथर्व० ५।१७।९-१८)

अर्थात् मनुष्यसमाज का ब्राह्मण ही अधिपति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं। जिस तरह सूर्य पाँचों ग्रहों को आज्ञा करता हुआ चलाता है, उसी तरह विद्यावल से सबको ब्राह्मण ही चलाता है। इस विद्या को देवताओं ने पहिले ब्राह्मणों को दिया, ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को और क्षत्रियों ने दूसरों को दिया। इस प्रकार से विद्या को सबमें बाँटकर ही मनुष्य बल और कीर्ति को प्राप्त होते हैं। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रचार रोका जाता है, वहाँ वह सैकड़ों धाराओं से बहकर और कल्याणकारी होकर प्रतिष्ठित नहीं होती। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रचार रोका जाता है, वहाँ बहुश्रुत और बड़े दिमाग़ का कोई मनुष्य पैदा नहीं होता। जिसके राज्य में विद्या का प्रचार बन्द है, ऐसे राजा का अलंकृत नौकर भी ऐश्वर्यवाले पुरुषों के सम्मुख नहीं जा सकता। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रकाश रोका जाता है, वहाँ श्यामकर्ण घोड़ा भी रथ में जुड़कर बड़ाई नहीं प्राप्त कर सकता। जहाँ विद्या का प्रचार नहीं होता, वहाँ न खेतों में पुष्करिणी होती है और न पृथिवी में कुछ पैदा ही होता है। पृथिवी की उपज खानेवाले वे किसान जिनमें विद्या का लेश नहीं है, भूमि में अधिक अन्न नहीं पैदा कर सकते। जहाँ ब्राह्मण रात्रि को भूखा सोता है, वहाँ न गौओं के दूध होता है और न बैल गाड़ी खींच सकते हैं। अर्थात् जहाँ ब्राह्मण और विद्या का निरादर होता है, वहाँ हर प्रकार से सर्वनाश हो जाता है।

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥११॥

(अथर्व० ५।१९।११)

अर्थात् सौ में निन्यानबे देशों के राजाओं का पराभव हुआ है, जिन्होंने ज्ञानियों को सताया है। इस विषय में अथर्ववेद १२।५।७-११ में लिखा है कि—

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥७॥ ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥८॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥९॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १० ॥ तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य॥११॥

अर्थात् ओज, तेज, सहनशक्ति, बल, वाणी, इन्द्रियाँ, श्री, धर्म, ब्राह्मण, राष्ट्र, प्रजा, कान्ति, यश, वर्चस्व, धन, आयु, रूप, नाम, कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, दूध, रस, अन्न, यव, सत्य, ऋत (नीति), यज्ञ, वापी, कूप, तड़ाग, वाटिकादि, प्रजा और पशु आदि समस्त पदार्थ उस राजा के नष्ट हो जाते हैं, जो ब्राह्मणों को सताता है और विद्या को छीन लेता है अर्थात् पढ़ना पढ़ाना बन्द कर देता है। इस प्रकार विद्या की अवहेलना और ज्ञानियों के तिरस्कार का दुष्ट फल बतलाकर ब्राह्मणों की उपयोगिता का वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमंतो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा। अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ (अथर्व० ५।१८।९)

अर्थात् जिनके बाण तीखे हैं और जो हथियार धारण करते हैं, ऐसे ब्राह्मणों के फेंके हुए ज्ञानशस्त्र व्यर्थ नहीं जाते। वे तेजस्वी बल के साथ तपकर शत्रु का पीछा करते हैं और निश्चय ही दूर से उसका भेदन कर देते हैं। इसीलिए वेद उपदेश करते हैं कि—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

(यजु० २०।२५)

अर्थात जहाँ ब्रह्मबल और क्षत्रबल साथ साथ अच्छी तरह प्रीतियुक्त होकर व्यवहार में लाये जाते हैं और जहाँ देवता अग्नि के साथ रहते हैं, वही देश पुण्यलोक होता है। कहने का मतलब यह कि जहाँ केवल शासन ही होता है, वहाँ उत्तम मनुष्य नहीं होते। प्रत्युत जहाँ शासन और शिक्षा दोनों होते हैं, वहीं समाज पुण्यमय होता है। इसीलिए वेद कहते हैं कि—

इदं मे ब्रह्म क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि दवो दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥

(यजु० ३२।१६)

अर्थात् ये मेरे ब्रह्मबल और क्षत्रबल दोनों श्रेय को प्राप्त हों। जिस तरह देवता मुझको शोभा और लक्ष्मी से विभूषित करें, उसी तरह तुझ ब्राह्मण को भी सुशोभित करें। यहाँ तक समाज की भीतरी दुर्बलताओं से जो कष्ट होते हैं, उनको दूर करने के उपायों को बतलाकर अब वेद उपदेश करते हैं कि जो बाहर के शत्रु इस आर्यसमाज को नष्ट करने और उस पर शासन करने के लिए आवें, उनके साथ युद्ध किया जाय और उनको परास्त किया जाय। इस विषय में ऋग्वेद उपदेश करता है कि—

हत्वाय देवा असुरान् यदायन्देवा।
देवत्वमभिरक्षमाणाः॥ (ऋ० १०।१५७।४)

अर्थात् जो तेजस्वी क्षत्रिय देवत्व के विरोधी शत्रुओं (असुरों) को युद्ध में मारकर विजयी होते हैं, वही रक्षा पाकर सुख से रहते हैं। क्योंकि ऋग्वेद में लिखा है कि—

ये युध्यन्ते प्रधने षु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥
(ऋ० १०।१५४।३)

अर्थात् जो शूर वीर क्षत्रिय, धर्मरक्षा के लिए युद्ध में सम्मुख लड़कर शरीर का परित्याग करते हैं वे अनुत्तम सुखवाले लोकों को प्राप्त होते हैं। इसीलिए वेद में युद्धविजय की बहुत ही प्रबल कामना का उपदेश है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम। धनुः शत्रोरपकामं कृणोमि धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ (यजु०२९।३९)

अर्थात् हम धनुष से पृथिवी और संग्राम को जीतें और हम धनुष से बड़ी वेगवाली सेना को भी जीतें। यह धनुष शत्रु की कामना को नष्ट कर देता है, अतः हम धनुष से सब दिशा विदिशाओं को जीत लें। विजयी योद्धा के लिए लिखा है कि—

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन। समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम्॥ (अथर्व० १८।२।६०)

अर्थात् हे वीर! तू अपने क्षात्रधर्म, तेज और बल के द्वारा इस संग्राम में मरे हुए शत्रुओं के हाथ से धनुष को और अन्य पुष्ट करनेवाले बहुत से सामानों को लेकर इन पराजितों के सामने से आदर के साथ आ। इसके आगे सेना का वर्णन इस प्रकार है—

याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्ते अग्नेऽपि-
दधाम्यास्ये॥७७॥

दँष्ट्राभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तस्कराँ२ उत।
हनुभ्याँ स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद
सुखादितान्॥७८॥

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः॥७९॥

यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः।
निन्दाद्यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा
कुरु॥८०॥

(यजु० ११।७७-८०)

अर्थात् जो सेना सुस्त, बीमार, नालायक और चोर है, उसको मैं जलती हुई ज्वाला में डालता हूँ। हे अग्नि! आप उन चोरों और मैले कर्म करनेवाले लोगों को अपनी डाढ़ों जबड़ों और दाँतों से खा डालें। हे अग्नि! जो नक़ब लगानेवाले, डाका डालनेवाले, ठग और पापकर्म से जीनेवाले हैं, उन अधमों को आप चबा डालें। हे अग्नि! आप शत्रुता करनेवाले द्वेष करनेवाले, निन्दा करनेवाले और दम्भ दिखानेवाले दुष्टों को भस्म कर डालें। वेद ने इन मन्त्रों में बतलाया है कि नालायक सेना को नष्ट कर देना चाहिये और समस्त समाज को चाहिये कि वह युद्ध के लिए राजा को उत्तेजित करे। उत्तेजना का उपदेश इस प्रकार है—

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम्।
धनञ्जयं रणे-रणे॥ (यजुर्वेद ११।३४)

अर्थात् दस्यु के मारनेवाले, धन जीतनेवाले और अन्न देनेवाले तुझ राजा को हम प्रदीप्त कर रण के समय उत्तेजित करें। इस राष्ट्रीय सेना के प्रत्येक योद्धा को किस प्रकार उत्साहित होना चाहिये, उसका उपदेश वेद में इस प्रकार है—

अभीऽइदमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति। खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥

(ऋ० १०।४८।७)

अर्थात् मैं हूँ तो अकेला ही पर एक, दो, तीन शत्रु भी मेरा कुछ नहीं कर सकते। मैं शत्रुओं को इस तरह कुचल डालूँगा, जैसे खलिहान में अन्न कुचला जाता है। क्योंकि जिनका कोई मार्गदर्शक सेनापति ही नहीं है, वे शत्रु मेरी क्या निन्दा कर सकते हैं ?

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः॥

(अथर्व० ५।१४।५)

अर्थात् ये शत्रुनाशक सेनाएं हिंसाकारी और दुर्वचन बोलनेवाले शत्रु के लिए हों। ये शत्रुनाशक सेनाएँ हिंसाकारियों में इस तरह चक्कर लगावें, जैसे रथ का पहिया चक्कर लगाता है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि सेनाएँ हिंसकों, दुष्टों और बदमाशों के दमन के ही लिए हैं, अतः रथ की भाँति वे उक्त बदमाशों के अड्डों और देशों में चक्कर लगाती रहें। इस प्रकारसे आवश्यकता पड़ने पर लड़नेवाला राजा अपने युद्धोपकरणों को मिट्टी के घरों में न रक्खे। इसके लिए वह अच्छे पक्के मकान बनावे। वेद उपदेश करते हैं कि—

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय॥ (ऋग्वेद ७।८९।१)

अर्थात् हे राजन्! आप मिट्टी के घरों में निवास न करें, क्योंकि मिट्टी के घरों को वर्षाऋतु मिट्टी कर देती है—गिरा देती है। मिट्टी के सादे घरों में तो हम प्रजा को ही रहना चाहिये। इस मन्त्र के अतिरिक्त वेद में राजा के लिए लोहे के क़िले बनवाने की आज्ञा है। अथर्ववेद में आया है कि—

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि। पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दंहता तम्॥

(अथर्व० १९।५८।४)

अर्थात् हे राजन्! आप बड़े बड़े व्रज (चरागाह) तैयार करवाइए, बहुत से मोटे मोटे वर्म (कवच) सिलवाइये और अपना पुर बड़े बड़े लोहे के क़िलों से घेर दीजिये जिससे आपके यज्ञ का चमचा न टपक जाय। उसके दृढ करने के लिए यही प्रबन्ध कीजिये। ये चीज़ें आपकी रक्षा करेंगी। इस मन्त्र में राज्य की इस तैयारी का कारण चमचे की रक्षा बतलाया गया है। जिसका यही मतलब है कि राज्य में छिद्र न होने पावे और वैदिक सभ्यता की रक्षा होती रहे। इसके अतिरिक्त राजा को और क्या क्या तैयारी करना चाहिए, उसका वर्णन इस प्रकार है—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥ ५॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः॥६॥
बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम्।
आत्मा क्षत्रमुरो मम॥ ७॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥

(यजु० २०।५–८)

अर्थात् श्री मेरा शिर है, यश ही मुख है, केश और डाढ़ी मूछ ही प्रकाश है, राजा ही प्राण है, सम्राट् ही चक्षु है, विराट् ही कान है और यही सब अमरता है। भद्रता ही जिह्वा है, कीर्ति ही वाणी है, क्रोध ही मन है, स्वतन्त्रता ही प्रकाश है, आमोदप्रमोद ही अंगुलियाँ और अङ्ग हैं, तथा सहनशीलता ही मित्र है। बल ही बाहु हैं, कर्म ही इन्द्रियाँ हैं, वीर्य ही हाथ हैं, क्षत्र ही हृदय और आत्मा है। राष्ट्र ही पीठ है, प्रजा ही उदर, ग्रीवा, पैर, जंघा, घुटना और अन्य समस्त अङ्गप्रत्यङ्ग हैं।

इन मन्त्रों में राष्ट्र की विशालता का वर्णन है। पर यह सब विशाल राज्यकार्य बिना धन के नहीं हो सकता, इसलिए वेद कहते हैं कि राजा प्रजा से थोड़ा थोड़ा कर लेकर इस महाकार्य का सम्पादन करे।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति॥ (अथर्व० १०।८।१५)

अर्थात् पूर्णों के द्वारा दूर तक और अधूरों के द्वारा निकट तक भुवन के मध्य में राज्य का प्रबन्ध करनेवाला बैठा है। उसके लिए समस्त राष्ट्र बलि अर्थात् कर अदा करता है। इस प्रकार का राष्ट्रीय उपदेश करके अन्त में वेद शिक्षा देते हैं कि खण्डराज्यों में सदैव वैमनस्यजन्य उत्पातों का डर बना ही रहता है, इसलिए सबको सार्वभौम राज्य के अन्तर्गत हो जाना चाहिए, अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य का प्रयत्न करना चाहिये। यजुर्वेद में लिखा है कि-

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा।
(यजु० ५।२४)

अर्थात् स्वराज्य शत्रुओं का मारनेवाला है, सत्र-राज्य अभिमानियों का मद मारनेवाला है, जनराज्य दुष्टों का मारनेवाला है और सर्वराज्य अमित्र का मारनेवाला है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि सर्वराज्य से शत्रु नहीं रहते। यहाँ स्पष्ट कह दिया है कि शत्रुओं का सर्वथा नाश तो सर्वराज्य अर्थात् सार्वभौमराज्य से ही होता है। इसके आगे फिर वेद उपदेश देते हैं कि—

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति। (यजु० १२।११७)

अर्थात् हे अग्नि! तू भूत, भविष्य और प्रियों तथा प्रियस्थानों में विना किसी परिवर्तन के एक समान अकेला एक ही राजराजेश्वर विराजमान है। इस मंत्र के द्वारा अग्नि की उपमा देकर वेद ने बतला दिया कि समानता की स्थिरता तो तभी हो सकती है, जब अग्नि के समान सारा पृथिवी का एक ही सम्राट् हो। इसके आगे वेदों में राजा के लिए आपद्धर्म का उपदेश इस प्रकार दिया गया है कि—

ऋतस्य पन्थानुम तिस्र आगुस्त्रयो धर्मा अनु रेत आगुः। प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्॥ (अथर्व० ८।९।१३)

अर्थात् ऋत की तीन विधियाँ चलती आई हैं और तीनों मार्ग अनुधर्मा हैं। एक विधि प्रजा (समाज) की, एक राष्ट्र की और एक धर्म की रक्षा करती है। यहाँ ऋत अर्थात् आपद्धर्म की तीनों शाखाओं का वर्णन किया गया है। आपद्धर्म की आवश्यकता धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रोंमें आया ही करती है, इसलिए आवश्यकता पड़ने पर सत्य के जोड़े ऋत से भी काम लेना चाहिये। आगे वेद उपदेश करते हैं कि—

इंद्र प्र णः पुरएतेव पश्य प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ। भवा सुपारो अतिपारयो नो भवा सुनीतिरुत वामनीतिः॥ (ऋग्वेद ६।४७।७)

अर्थात् हे राजा! हमको नेताओं की भाँति देखिये और शत्रुओं के बल को उल्लंघन करनेवाले हमारे धर्मबल की अच्छी प्रकार परीक्षा कीजिये कि जिससे हमारा सब कुछ अच्छी प्रकार पार लगे अथवा बिलकुल ही पार लगने लायक़ हो जाय, इसलिए हमारे पास सुनीति और वामनीति दोनों होना चाहिये। इस मंत्र में स्पष्ट रूपसे कह दिया गया है कि यदि सुपार हो अर्थात् सरल हो तो सुनीति से-धर्म से-चले जावे, किन्तु यदि अतिपार हो अर्थात् दुर्गम हो, तो वामनीति से-आपद्धर्म से-पार हो जावे। इस प्रकार से वेद ने इस राज्यप्रकरण के द्वारा समाज को भीतरी और बाहरी आफ़तों से रक्षा करने का उपदेश दिया है। इस उपदेश से मनुष्य अपनी और अपने समाज की रक्षा कर सकता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि मृत्यु से कोई रक्षा नहीं कर सकता। सबको एक न एक दिन अवश्य मरना पडेगा, इसलिए मरने के बाद के रहस्य का जब तक ठीक ठीक ज्ञान न हो जाय और जब तक परलोक की जटिल ग्रन्थि सुलझ न जाय तब तक लोक के समस्त सुख और प्रबन्ध निकम्मे हैं। इसलिए अब हम दिखलाना चाहते हैं कि वेद में परलोकविषय की क्या शिक्षा है।

वैदिक उपनिषद्।

सब प्रकार से उन्नत समाज का लक्षण यही है कि वह सदाचारी हो, विद्वान् हो, उद्योगी हो और हर प्रकार से अपनी खुद रक्षा कर लेता हो। ऐसे समाज के लिए लोक की कोई अभिलाषा शेष नहीं रह जाती और ऐसी उन्नत दशा में पहुँचकर उस समाज के उन्नतमस्तिष्क मनुष्यों में परलोकविचार की चरचा उत्पन्न हो जाती है। वे सोचने लगते हैं कि, मृत्यु से बचने का क्या उपाय है और मरने के बाद क्या होता है, तथा इस संसार की उत्पत्ति का कारण क्या है। उनके हृदयोंमें

यह प्रश्न बड़े वेग से प्रभाव उत्पन्न करने लगता है कि, जड और चेतन का भेद क्या है और इनके मूल कारणों के प्रत्यक्ष करने की युक्ति क्या है। विद्वानों ने इसी प्रकार की जिज्ञासाओं के ऊहापोह का नाम दर्शन रक्खा है और इस ऊहापोह के अन्तिम उत्तरों को ही उपनिषद् कहते हैं।

इस औपनिषद् ज्ञान के दो विभाग हैं। सृष्टि की उत्पत्ति और नाश के कारणों का अनुसन्धान करना पहिला विभाग है और उन कारणों के प्रत्यक्ष कर लेनेवाले साधनों का उपयोग करना दूसरा विभाग है। यहाँ हम इन दोनों विभागों से सम्बन्ध रखनेवाले वेदमन्त्रों को एकत्रित करके दिखलाते हैं कि वेदों ने इन विषयों का कितना विशाल ज्ञान दिया है। इस सृष्टि को देखकर किसी भी विचारवान् मनुष्य के हृदय में जो सबसे पहिले स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है, उसको वेदों ने इस प्रकार कहा है—

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा-
पृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु
तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥
(ऋ० १०।८१।४)

अर्थात् कौनसा वह वन है और कौनसा वह वृक्ष है, जिसकी लकड़ी से यह द्युलोक और पृथिवीलोक बनाया गया है? हे बुद्धिवान् लोगो! अपने मन से पूछो कि इन भुवनों का धारण करनेवाला और उनका अधिष्ठाता कौन है? इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो
व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य
शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न
आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं
सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥
(ऋ० १०।१२९।१-३)

अर्थात् यह सृष्टि पहिले न तो सत् अर्थात् बनी हुई दशा में थी, न असत् अर्थात् अभाव अथवा शून्य दशा में थी, न रज अर्थात् बनने की आरम्भिक दशा में थी और न उस समय यह ऊपर का नीला आकाश ही था। उस समय न मृत्यु थी, न जन्म था और न रात्रि थी, न दिन था। उस समय तम अर्थात् आरम्भ का पूर्वरूप केवल अन्धकार था और एक हलचलरहित स्वधा (मैटर, माद्दा, माया, प्रकृति) कुहर की भाँति सर्वत्र फैली हुई थी। इन मन्त्रों में इस सृष्टि के पूर्वरूप का वर्णन करके अब वेद यह बतलाते हैं कि यह सृष्टि तीन अनादि स्वयम्भू पदार्थों के मेल से बनती है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि
षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो
अभि चाकशीति॥ (ऋ० १।१६४।२०)

अर्थात् दो पक्षी एक में मिले हुए मित्रभाव से अपने ही समान एक वृक्ष पर बैठे हैं। इनमें से एक मित्र उस वृक्ष के फलों को खाता है और सुखदुःखों को भोगता है और दूसरा मित्र फलों को न खाता हुआ केवल देखता है। इस मन्त्र में परमेश्वर, जीव और प्रकृति का वर्णन है। यही तीनों पदार्थ इस संसार का कारण हैं। इन्हीं के द्वारा इस संसार की उत्पत्ति विनाश होता है। इन तीनों में से परमेश्वर के विषय में वेद उपदेश करते हैं कि—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः
प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजामृत-
स्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥ (यजु० ३२।११)

अर्थात् परमेश्वर सब भूतों, लोकों और सब दिशाविदिशाओं को सब ओर से व्याप्त करके सत्य और अनादि स्वयंभू आत्मा में भी अच्छी तरह प्रवेश किये हुए हैं। इस मन्त्र में परमेश्वर का सर्वत्र व्यापकत्व बतलाया गया है। इस व्यापक परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरे व्याप्य चेतन जीवों का वर्णन इस प्रकार है—

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिञ्ज्येष्ठमधि श्रितम्॥१९.

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।

स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत्
॥ २० ॥
(अथर्व० १०।८।१९-२०)

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥२३॥
शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम् । तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥ २४ ॥
बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥२५॥
इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥ २६॥
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥२७॥
(अथर्व० १०।८।२३-२७)

अर्थात् यह जीव जिसके भीतर ज्येष्ठ ब्रह्म ठहरा हुआ है, वह सत्य से ऊँचा होकर प्रतापी होता है और असत्य से नीचा होकर प्राणों के साथ तिर्यक् योनियों में जीवन धारण करता है। जो इन दोनों (ज्येष्ठ ब्रह्म और प्राण धारण करनेवाले जीव) को यज्ञ की दोनों अरणियों की तरह जान लेता है, वह ज्येष्ठ ब्रह्म को भी जान लेता है और दूसरे सनातन जीव को भी जान लेता है। ये सनातन जीव रातदिन की भाँति भिन्न भिन्न रूपों को धारण करते रहते हैं और नित नये ही होते रहते हैं। ये सनातन जीव सौ, हज़ार, दश हज़ार, दश करोड़ और असंख्यों की तादाद में उस व्यापक परमात्मा में ही भरे हुए हैं। जब ये उस सर्वज्ञ परमात्मा को प्राप्त होते हैं, तभी सबको रुचते हैं । इन दोनों व्याप्य व्यापक ईश्वर और जीव में एक तो बाल की अनी से भी छोटा है और दूसरा तो बिलकुल ही अदृश्य है। यह जीव उसी अदृश्य प्रिय देवता में चिपकनेवाला अर्थात् व्याप्य है। यह उस कल्याणकारिणी अजरा और अमृता प्रकृति माता के गर्भरूपी घर में सोता है। हे जीव ! तू कभी स्त्री, कभी पुरुष, कभी कुमार, कभी कुमारी होता है और कभी वृद्ध होकर और लाठी लेकर चलता है, इसलिए तू जन्म लेनेवाला सर्वतोमुख है। इन मन्त्रों में वेदों ने जीव को सनातन, असंख्य, व्याप्य, जन्म धारण करनेवाला और परमेश्वर की प्राप्ति से मोक्ष प्राप्त करनेवाला बतलाया है। इसके आगे इस सृष्टिके तीसरे कारण प्रकृति का वर्णन इस प्रकार है-

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः । विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ (यजु० २५।२३)

अर्थात् अदिति ही द्यौ है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही माता है, अदिति ही पिता है, अदिति ही पुत्र है, अदिति ही विश्व के देवता हैं, अदिति ही ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र और अनार्य हैं और अदिति ही पैदा करनेवाली तथा वही पैदा होनेवाली है। अर्थात् यह सारा जगत् अदिति का ही प्रपञ्च है। इस मन्त्र में अदिति-माया-का विशाल रूप दिखलाया गया है। यथार्थ में संसार के समस्त नामरूपात्मक पदार्थ प्राकृतिक ही हैं। यही बनते और बिगड़ते हैं और इन्हीं के द्वारा संसार का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है । कहने का मतलब यह कि परमात्मा जीवों के कर्मानुसार उनको इस अदिति नामक प्रकृति के शरीररूपी घेरे में बन्द करके और उसी प्रकृति के इस ब्रह्माण्डरूपी बड़े घेरे में लाकर छोड़ देता है। इसी का नाम सृष्टि की उत्पत्ति है। परन्तु परमात्मा इस सृष्टि को किस प्रकार उत्पन्न करता है, इस बात का वर्णन वेद में इस प्रकार है-

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
(ऋ० १०।१९०।१-२)

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥
(यजु० ३१।५)

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ।॥
(ऋ० १०।१९०।३)

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥
(यजु० ३१।६)

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥
(यजु० ३१।९)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳪं शूद्रो अजायत॥
(यजु० ३१।११)

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाᳪंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
(यजु० ३१।७)

अर्थात् ऋत और सत्य (नीति और धर्म) को विचार कर परमात्मा ने तप (ईक्षण) किया। उस ईक्षण से हलचल उत्पन्न हुई और प्रकृतिरूपी अँधेरा हो गया, तथा उससे आकाश पैदा हुआ। उस आकाश से वायु और मेघरूप ऊपर का समुद्र और संवत्सररूपी सूर्य हुआ और उसी सूर्य से पृथिवी का समुद्र हुआ और रात दिन हुए। इसके बाद विराट् हुआ और विराट् के बाद पृथिवी उत्पन्न हुई। परमात्मा ने इन सूर्य, चंद्र, अन्तरिक्ष, दिन और पृथिवी आदि को उसी तरह बना दिया, जिस तरह उसने इस सृष्टि के पूर्व अन्य भूत सृष्टियों में बनाया था। पृथिवी उत्पन्न हो जाने के बाद उस पर वनस्पति उत्पन्न हुई। वनस्पति के बाद पशुपक्षी उत्पन्न हुए और पशुपक्षियों के बाद देव, ऋषि, साध्य, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए तथा इन्हीं श्रेष्ठ मनुष्यों के हृदयों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का उपदेश हुआ। उपर्युक्त मन्त्रों में सृष्टि उत्पत्ति के क्रम का बहुत ही अच्छा वर्णन है। इन मन्त्रों में बतला दिया गया है कि परमात्मा ने अपनी ईक्षणशक्ति से प्रकृति में प्रेरणा की। प्रेरणा से गति उत्पन्न हुई और गति से आकर्षण उत्पन्न हुआ। आकर्षण से प्रकृति परमाणु आपस में मिले, जिससे रात्रि के समान एक गम्भीर स्थिति उत्पन्न हुई। वह स्थिति जब चक्राकार गति में घूमी तो और भी सघन हो गई और उसके चारों ओर आकाश उत्पन्न हो गया। उस खाली स्थान-आकाश-में वायु का समुद्र भर गया और वायुसमुद्र में ही सूर्य उत्पन्न हुआ, जिससे मेघ, वर्षा, नक्षत्र, पृथिवी और रातदिन उत्पन्न हुए। अर्थात् यह समस्त सृष्टि उपर्युक्त क्रम के साथ परमात्मा की प्रेरणा से ही उत्पन्न हुई है और इसके उत्पन्न होने का प्रधान कारण जीवों का कर्म और परमेश्वर की न्यायव्यवस्था ही है। उस न्यायकारी, दयामय और कारणों के भी कारण परम पिता परमात्मा का वर्णन वेदोंमें इस प्रकार किया गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋ० १।१६४।४६)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥१॥
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥ २॥
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥३॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥४॥
यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आवभूव भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥५॥
(यजु० ३२।१-५)

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ (यजु० ३२।१०)
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरᳪं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
(यजु० ४०।८)

अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि नाम उस एक ही परमात्मा के हैं। वही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति आदि नामों से कहा जाता है। सब निमेषादि कालविभाग उसी के उत्पन्न किये हुए हैं। वह ऊपर नीचे, आड़े, तिरछे और बीच से पकड़ा नहीं जा सकता। उसकी कोई नाप नहीं

है, क्योंकि उसका नाम बड़े यशवाला है, इसीलिए अनेक वेदमन्त्र उसकी स्तुति करते हैं। वही देव सब दिशा विदिशाओं में व्याप्त है और वही सबके अन्दर पहिले से ही बैठा है। वह सब ओर से सब प्राणियों में ठहरा हुआ है और वही पहले संसार का रूप धारण करके पैदा होता है और फिर सबको पैदा करता है। जिसके पहले कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ और जो सब भुवनों में अच्छी तरह स्थिर है, वही सोलह कलांवाला पूर्ण प्रजापति समस्त प्रजा में रमण करता हुआ तीन प्रकार की ज्योतियों को-अग्नि, विद्युत् और सूर्य को-उत्पन्न करता है। वह कायारहित, छिद्ररहित, नाडीरहित, पापरहित है। वह शक्तिस्वरूप, शुद्ध, कवि, मनीषी, दुष्टों से दूर, स्वयंसिद्ध है और शाश्वत प्रजा के लिए सब ओर से व्याप्त होकर यथायोग्य अर्थों को उत्पन्न करता है। वही हमारा बन्धु, पिता, विधाता और सब भुवनों का जाननेवाला है, इसलिए हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमको तृतीय लोक में जहाँ देवता मोक्ष प्राप्त करते हैं, वहाँ पहुँचावे। इन मन्त्रों में परमात्माके स्वरूप और उसके कार्य का वर्णन करके मोक्षसुख की याचना की गई है। वेदों में इस प्रकार के मन्त्रों का बहुत बड़ा संग्रह है। सब में उसके स्वरूप का वर्णन और अपने कल्याण की याचना का वर्णन है। इन वर्णनों के द्वारा संसार के कारणों और कारणों के भी कारण परमात्मा की महत्ता का ज्ञान होता है और जिज्ञासु के हृदय में मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न होती है। यह वैदिक उपनिषद् का पूर्वार्द्ध है।

इसके आगे उस कारणस्वरूप परमात्मा को प्रत्यक्ष करके अनन्त ब्रह्मानन्द प्राप्त करने की विधि को भी वेदों ने बतलाया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु० ३१।१८)

अर्थात् उस आदित्यस्वरूप प्रकाशमान परमात्मा को मैं जानता हूँ, अतः उसी के साक्षात्कार से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है, इसके सिवा और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥
(अथर्व० १०।८।३७)

अर्थात् जिस सूत्र में ये समस्त प्राणी पिरोये हुए हैं, जो मनुष्य उस फैले हुए सूत्र को जानता है और जो उस सूत्र के भी सूत्र को जानता है, वही उस महान् ब्रह्म को जान पाता है। इन मन्त्रों में बतलाया गया है कि परमात्मा के साक्षात्कार से ही मोक्ष होता है। अब अगले मन्त्र में वेद उपदेश करते हैं कि परमात्मा सर्वत्र मौजूद है।

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥
(अथर्व० १।३२।१)

अर्थात् हे मनुष्यो! परमात्मा उपदेश करता है कि जिससे वनस्पति आदि प्राणी प्राण धारण करते हैं, वह परम पिता परमात्मा न केवल पृथिवी में है और न केवल द्यौलोक ही में है, प्रत्युत वह सर्वत्र परिपूर्ण है। इस मन्त्र में उसकी सर्वत्र उपस्थिति बतलाई गई है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या उसको सर्वत्र ढूँढ़ते फिरें? इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् । तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥४३॥
अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो-रात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥४४॥
(अथर्व० १०।८।४३-४४)

अर्थात् इस नव दरवाज़ेवाले त्रिगुणात्मक शरीर में जो आत्मा की भाँति यक्ष बैठा है, उस को ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं। वह निष्काम, धीर, अमर, स्वयम्भू, रस से तृप्त और पूर्ण है, अतः उसी धीर, अजर, युवा आत्मा को विद्वान् जानकर निर्भय हो जाते हैं। इसके आगे फिर कहते हैं कि—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥
(अथर्व० १०।७।१७)

अर्थात् जो इस पुरुष के अन्दर ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठी को जानते हैं और जो परमेष्ठी, प्रजापति और ब्रह्म को जानते हैं, वे इस समस्त स्तम्भ को जानते हैं। इन मन्त्रों में जीव ब्रह्म की व्याप्य और व्यापकता बतलाकर स्पष्ट कह दिया है कि जो व्यापक ब्रह्म को जान लेता है, वह व्याप्य जीव को भी जान लेता है और एक दूसरे के परिचय से सबका ज्ञान हो जाता है और मोक्ष हो जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि इस शरीर के अन्दर परमात्मा कैसे ढूँढा जाय ? इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते हैं कि परमात्मा को इस शरीर में ढूँढने की तय्यारी करने के साथ साथ अर्थ और काम के फन्दे से अलग रहना चाहिये।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(यजु० ४०।१-२)

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत्॥
(अथर्व० ११।५।१९)

अर्थात् परमेश्वर को सर्वत्र परिपूर्ण समझकर उसी के दिये हुए पर सन्तोष करना चाहिये और दूसरों के धन की कभी इच्छा न करना चाहिये। इस प्रकार का जीवन बनाकर शेष आयु तक कर्म करने से मोक्ष हो जाता है, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र देवों से द्यौलोक को पूरा करता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य और तप से ही विद्वान् मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इन मन्त्रों में मुमुक्षु के लिए अर्थ (धन) और काम (रति) का परित्याग बतलाया गया है। जब अर्थ और काम की इच्छा समूल निवृत्त हो जाय तब किसी ब्रह्मविद्या के जाननेवाले के पास जाकर सत्सङ्ग करना चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि—

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। यो वै
तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्॥
(अथर्व० १०।[illegible])

अर्थात् जहाँ ब्रह्मविद् ब्रह्म की उपासना करते हैं, वहाँ जाकर जो मुमुक्षु उनको जानता है—मिलता है—उसी सत्सङ्गी को ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ समझना चाहिये। इस मन्त्र में ब्रह्मविदों का सत्सङ्ग आवश्यक बतलाया गया है। जब सत्सङ्ग से मुमुक्षु ब्रह्मविद्या में निर्भ्रान्त हो जाय, तो उसे चाहिये कि वह किसी एकान्त स्थान में निवास करे। ऐसे स्थान का निर्देश करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत्॥ (ऋग्वेद० ८।६।२८)

अर्थात् पहाड़ों की कन्दराओं और नदियों के सङ्गमों में ही मुमुक्षु की बुद्धि का विकास होता है। ऐसे शान्त और उपद्रवरहित स्थान में निवास करके योग का अनुष्ठान करना चाहिये। वेद उपदेश करते हैं कि—

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥
(अथर्व० १०।२।२७)

अर्थात् मनुष्य का जो शिर है, वह ज्ञानविज्ञान का ख़ज़ाना है। उस शिर की प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं। इस मन्त्र में विचार करने का अङ्ग शिर बतलाया गया है और उसके साथ अन्न, मन और प्राणों का सम्बन्ध भी बतलाया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्न, प्राण, मन और विचारों की शृङ्खला का क्रम है। क्योंकि विचारों के रोकनेवाले को मन रोकना पड़ता है, मन रोकनेवाले को प्राण रोकना पड़ता है और प्राण रोकनेवाले को अन्न का नियन्त्रण करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि मुमुक्षु को एकान्त में युक्ताहार होकर प्राणों के निग्रह में लग जाना चाहिये और मन तथा विचारों के प्रवाह को बन्द कर देना चाहिये। इस योगक्रिया के लिये वेद उपदेश करते हैं कि—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य
बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥
(ऋ० ५।८१।१)

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या॥ (यजुर्वेद ११।२)

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ (यजु० ११।५)

अर्थात् बड़े बड़े यज्ञयाग करनेवाले और विद्वानों से भी अधिक विद्वान् अपना मन और बुद्धि उस एक ही महान् देवाधिदेव परमात्मा में युक्त करते हैं। पूरी शक्ति से हम लोग स्वर्गीय सुखों के लिए अपने मन को सविता देव में जोड़ते हैं। सब लोग यह बात कान खोलकर सुन लें कि पूर्वजों ने योगबल से ही सूर्यमार्ग से यात्रा की है, इसलिए जो योग करेगा–ब्रह्ममें मन लगायेगा–वही उस उत्तम गति को प्राप्त होगा। इन मन्त्रों में योग का बहुत बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। क्योंकि योग का सम्बन्ध मन से है। मन को एकाग्र करके उसे परमात्मा में लगाना ही योग है। इसीलिए वेद में मन को कल्याणकारी बनाने का बहुत बड़ा उपदेश है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंङ्कल्पमस्तु ॥२॥ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३॥ येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥ यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥५॥ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥ (यजु० ३४।१–६)

अर्थात् जो सोते और जागते समय दूर दूर जाता है, वह दूर दूर तक जानेवाला ज्योतिरूप मेरा मन शुभ सङ्कल्पवाला हो। जिसके द्वारा बुद्धिमान् और धीर पुरुष नाना प्रकार के सुकर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वह सबके अन्दर बैठा हुआ अपूर्व शक्तिवाला मेरा मन उत्तम विचार करनेवाला हो। जो प्रज्ञान, चेतना और धारणा शक्तिवाला है, जो अन्तर्ज्योति है, जो सब प्राणियों में अविनाशी सत्तारूप से विराजमान है और जिसके विना किञ्चिन्मात्र भी कोई काम नहीं हो सकता, वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो। जिसने अपनी अमरता से भूत, भविष्य और वर्तमान को ग्रहण कर रक्खा है और जिसकी सहायता से आँख, कान, नाक और जिह्वा आदि सातों कार्यकर्ता इस शरीर के व्यवहार को कर रहे हैं, वह मेरा मन कल्याणकारी विचारवाला हो। जिसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, रथचक्र के आरों की भाँति जुड़ रहे हैं और जिसमें सब प्राणियों के चित्त ओतप्रोत हैं, वह मेरा मन शुभ विचारवाला हो। जिस तरह अच्छा सारथी रथ के घोड़ों को चलाता है, उसी तरह हृदय में बैठा हुआ और अपनी क्रियाबल से मनुष्यों को नियम में चलानेवाला मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो। इन मन्त्रों में मन की महत्ता बतलाते हुए उसको उत्तम विचारवाला बनाने का उपदेश किया गया है, जिससे योगसिद्धि में शीघ्र सहायता मिले। यह योग मनुष्य का अन्तिम पुरुषार्थ है। मनुष्य योगानुष्ठान करके जप, तितिक्षा तप, और समाधि तक अपना पुरुषार्थ कर सकता है। परन्तु यदि परमात्मा इतने पर भी मुमुक्षु के हृदय में स्वयं प्रकट होकर उसे दर्शन न दे और मोक्ष प्राप्त न हो, तो वह अपने पुरुषार्थ से उसे प्रकट होने के लिए और मोक्ष देने के लिए विवश नहीं कर सकता। इसलिए उसके शरणागत होकर दर्शन और मोक्ष के लिए प्रार्थना करता है। वेद में परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करने का उपदेश इस प्रकार है—

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन्। ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥६॥ यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्। तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो० ॥७॥ यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र मामममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥८॥ यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥९॥ यत्र कामा

निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्। स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र मामसृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥१०॥
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते। कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥११॥ (ऋ० ९।११३।६-११)

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। ब्रह्मणे स्वाहा॥ (अथर्व०१९।४३।८)

अर्थात् जहाँ वेदवेत्ता ब्रह्मा अथर्ववाणी को बोलता हुआ योगद्वारा परमात्मा को प्राप्त होता है और परमात्मा के द्वारा आनन्द पाता है, वहीं हे परमात्मन्! इस योगी को भी अमृतबिन्दु देकर-दर्शन देकर-पहुँचाइये। जहाँ निरन्तर ज्योति का प्रकाश होता है और जहाँ सब सुख ही सुख है, उस अक्षय आनन्द में मुझे पहुँचाइये। जहाँ वैवस्वत राजा है, जहाँ का द्यौलोक दरवाज़ा है और जहाँ अमृत जल की वृष्टि होती है, वहाँ मुझे अमर कीजिये। जहाँ इच्छानुसार विचरण होता है और जहाँ ज्योतिरूप स्थान है, उसी तीसरे द्यौलोक के उस पार मुझे अमर कीजिये। जहाँ सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, जहाँ सब से बड़ा सुख प्राप्त होता है और जहाँ स्वधा तथा हर प्रकार की तृप्ति प्राप्त होती है, वहाँ मुझे अमर कीजिये। जहाँ पूर्ण हर्ष, पूर्ण प्रसन्नता, पूर्ण सुख और पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है और जहाँ सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, वहीं हे परमात्मन्! दर्शन देकर मुझे पहुँचाइये। जहाँ ब्रह्मविद् विद्वान् तप और दीक्षा के प्रताप से जाते हैं हे ब्रह्म! मुझमें ब्रह्म को धारण करके वहीं पहुँचाइये। इन मन्त्रों में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि मुझे पहिले दर्शन दीजिये जिससे मैं जीवन्मुक्त हो जाऊं और फिर मरने के बाद तृतीय लोक के बाहर जहाँ प्राकृतिक जगत् का लेश भी नहीं है और जहाँ केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है, वहाँ हमेशा के लिए पहुँचा दीजिये। इस प्रकार की निरन्तर प्रार्थना से समाधिस्थ निश्चल आत्मा में परमात्मा प्रकट हो जाता है। उस समय वह जीवन्मुक्त कहता है कि—

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधि श्रिताः। य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम्॥ (यजु० २०।३२)

अर्थात् जो सब भूतों का अधिपति है, जिसमें सब लोक ठहरे हैं और जो बड़ों से भी बड़ों का स्वामी है, उस तुझ परमात्मा को मैं ग्रहण करता हूँ—अपने अन्दर तुझको ग्रहण करता हूँ। इस मन्त्र में जीवन की अन्तिम सफलता का वर्णन है। इस प्रकार मनुष्य ईश्वरदर्शन से कृतार्थ होकर, सब प्रकार की शंकाओं से निवृत्त होकर और सब कुछ जानकर शेष जीवन में लोगों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करता हुआ प्रसन्नता से मृत्यु को प्राप्त होता है और मुक्त हो जाता है। यह वैदिक उपनिषद् का उत्तरार्ध है।

वेदों में आरम्भ से लेकर अन्त तक इसी प्रकार की शिक्षा है, जिसका नमूना हमने इन शिक्षा के पृथक् पृथक् आठ विभागों में अच्छी तरह दिखला दिया है। हमारा दृढ विश्वास है कि जितनी विस्तृत शिक्षा वेदों में है, यदि उतनी शिक्षा विधिपूर्वक किसी भी मनुष्य-समाज को दी जाय, तो वह समाज अपनी उन्नति हर विभाग में आसानीसे अच्छी तरह कर सकता है। परन्तु आज कलकी सी विस्तृत उन्नति वेदों की दृष्टि से समस्त मनुष्यजाति और समस्त प्राणिसमूह के लिए कल्याणकारी नहीं है, इसीलिए वैदिकों ने अकेले वेद ही को एक पूर्ण साहित्य का काम देनेवाला माना है। वेद स्वयं समस्त मनुष्योपयोगी शिक्षा दे देते हैं, इसलिए वे किसी अन्य ग्रन्थ या अन्य साहित्य के मोहताज नहीं हैं। वेद अकेले ही अपनी शिक्षा से मनुष्य को इस योग्य बना देते हैं कि वह अपना हरएक आवश्यक कार्य आसानी से कर सकता है और अपने ज्ञान को विस्तृत भी कर सकता है।

सङ्गीत।

(ले०- श्री० रामावतार विद्याभास्कर, रतनगढ)

साहित्य, संगीत तथा कला ये तीनों मनुष्य में स्वभाव से पाई जाती हैं। संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसमें कोई न कोई कला न हो। भीतर के आनन्द की निर्लेप अवस्था को इन्द्रियों के द्वारा बाहर प्रकट करने लगना ही 'कला' का स्वरूप है। कोई इसे सद्ग्रन्थ लिखकर बाहर प्रकट करता है, कोई सुन्दर चित्र बनाकर बाहर प्रकट करता है और कोई संगीतानुराग के रूप में बाहर प्रकट करता है।

संगीत भी एक कला है। इससे भी भीतर का आनंद इन्द्रियों के द्वारा बाहर प्रकट होने लगता है। जिस प्रकार निर्विकार स्थितिका शिल्प लेखिनीबद्ध होकर 'सद्ग्रन्थ' नाम पालेता है, इसी प्रकार सप्तस्वरका शिल्प 'संगीत' कहाने लगता है। जिस प्रकार सद्ग्रन्थ के भाव मानवी भाषामें स्पष्ट होते हैं, इस प्रकार संगीत में भावों की स्फुरता नहीं होती। संगीत में केवल एक निर्लेप भावकी प्रदर्शनी होती है। जो निर्लेपभाव सद्ग्रंथ में भाषा के वस्त्र पहनकर सज धजकर बाहर आता है, वही निर्लेपभाव संगीत में रसास्वादात्मक अव्यक्त भाषा में संगीतज्ञ का आराध्य देव बना रहता है। जिसकी वृत्ति बहिर्मुख नहीं है, वह शुद्ध संगीत में आत्मदर्शन कर सकता है। निर्लेप-भाव ही आत्मदर्शन की अवस्था है। संगीतज्ञ पुरुष देखता है कि सारा संसार अपनी अव्यक्त भाषा में निर्लेप भाव का महासंगीत गा रहा है और मुझे सुना रहा है। जिस प्रकार सुयोग्य चित्रकार आंखोंसे जो सुन्दर रूप देखता है, उसे तूलिकाके सहारे से कागज पर प्रतिफलित कर लेता है। इसी प्रकार संगीतज्ञ पुरुष अपने हार्दिक कानों से निर्लेप भावकी जो पुनीत ध्वनि सुनता है, उसे अपनी जिह्वा तथा वाद्य यन्त्र पर प्रतिध्वनित कर के आनन्दमग्न होता रहता है। संगीतज्ञ पुरुष स्रष्टा तथा सृष्टि के अभेदभावकी प्रदर्शनी होता है। तन्मयता तल्लीनता तदास्वाद तथा तद्दर्शन आदि दिव्य भाव संगीतज्ञ पुरुषको अपना क्रीडाक्षेत्र बना लेते हैं।

संसार के सब पदार्थ तथा सब घटनायें अपने अपने जीवनरूपी संकेतों के द्वारा दिनरात मनुष्यसे अव्यक्त भाषा में कह रही हैं कि हे मानव ! तुम जिन पदार्थोंको अपनाना चाहते हो, वे सब अनित्य हैं। जहां तक तुम्हारी दृष्टि पहुंच सकती है, वहां तक अनित्यता ही अनित्यता फैली हुई है। तुमको माताकी गोदसे प्रथमही अनित्यता की गोद में बैठना पडता है। तुम जिन पदार्थों को चाहते हो, उन सबपर अनित्यता का एकच्छत्र अधिकार है। तुम जिस शरीर के भोग के लिये दूसरे पदार्थों को चाहते हो, उस देहपर तथा उन सब पदार्थों पर भी अनित्यताकाही पूर्ण आधिपत्य है। अनित्यताही इस सृष्टि का अटल अखण्ड नियम है। इसलिए तुम यहां आकर कुछ पदार्थों को अपनाने के झगडे में मत पडो, ऐसा करोगे, तो जीवन निष्फल हो जायगा। तुम निर्लेप जीवन बिताकर जीवन को सफल कर जाओ। तुम यहां सदा रहने के लिये नहीं आये हो। तुम तो जीवन को धन्य कर ने के लिये आये हो। सृष्टि की गायी हुई यह निर्लिप्तताकी वेदध्वनि ही संगीत का निर्मल रूप है। यही ईश्वरकी वाणी और यही सृष्टि की अनक्षर भाषा है। निर्विकार भोलानाथ सर्वस्रष्टा महादेव ही इस भाषा के वक्ता तथा इस महासंगीत के गायक हैं।

इस सृष्टि में सर्वत्र आसक्तिरूपी विष भरा पड़ा है। यह संपूर्ण विषैले महासर्प के समान है। यह सदा मनुष्य के मानस में आसक्तिरूपी डंक मारती रहती है। जिस प्रकार वीणा की मधुर ध्वनि से सर्पको व्यामोह हो जाता है और वह मनुष्य को काटना भूल जाता है, इसी प्रकार जब मनुष्य इस सृष्टिको स्रष्टा का महासंगीत सुना देता है, तब यह सृष्टि उसके चिन्मय देह में डंक मारना भूल जाती है।

स्रष्टा का संगीत नामवाली इस वेदध्वनि को ज्ञानी हृदयमें पकड लेते हैं। यों भी कह सकते हैं कि, यह ध्वनि ज्ञानी हृदयों में से उठती है। यह ध्वनि कहीं तो सुसाहित्य

बनती है। कहीं सुकविता बनती है, तथा कहीं शुद्ध राग-रागिणी के द्वारा अपने आपको प्रकट करती है। संगीतानुराग जीवमात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कामादि सर्पों को वश में रखना सर्वभूतस्थ आत्मस्वरूप का स्वभाव है। भजनहि कामादि सर्पों को वश में रखने का एकमात्र उपाय है। संगीत भक्तजीवन में अनिवार्य रूप से भजन का रूप लेकर रहता है। विना भजन का भक्त नहीं होता। विना संगीत का भजन नहीं होता। संगीत भजन का साधन है। संगीत नैष्ठिक जीवन का स्वाभाविक तथा दिव्य भजन है। सृष्टिके बजाये हुए संगीतको हृदय के कानों से सुनते रहना तथा उसे अपनी इंद्रियों में प्रतिध्वनित करते रहना, अर्थात् अपने अस्तित्व को भजनमुखर भजनमन्दिर बनाये रहना ही शुद्ध संगीत का स्वरूप है।

गीत, वाद्य तथा नृत्य ये तीन संगीत के भेद हैं। ताण्डव तथा लास्य ये नृत्य के दो भेद हैं। ताण्डव में जो तीव्रता है, वह 'पुरुषभाव' कहाता है। लास्य में जो मृदुता है, वह 'स्त्रीभाव' कहाता है।

शुद्ध संगीत का प्रवाह पशुपक्षीतक को बहायें कर लेता है। संगीत की मोहनी समस्त बाह्य आरोपित भावों को भुला डालती है। संगीत में मनुष्य का निर्लेप केवल रूप प्रकाशित हो उठता है। 'मन में किसी प्रकार की सांसारिक चिन्ता नहीं है,' इस मानसिक स्थिति का ब न प्रकाशही 'संगीत' कहाता है। शुद्ध संगीत प्रत्येक की निजी संपत्ति है। आत्मा की निर्लेप अवस्था (शुद्ध रूप) का वाणी तथा कान में प्रतिपालित हो जाना ही संगीत का स्वरूप है।

संगीतका प्रभाव सांप तथा हरिण जैसे प्राणियों पर भी पडता है। संगीतश्रवण से प्रभावित होकर सांप अपने घातक स्वभाव को भूल जाता है। संगीत के प्रभाव से हरिण अपनी असाधारण लज्जालुता और संकोच को भूल कर बेसुध हो जाता है। यह सब इसी लिए कि जब प्राणियों में प्रतिष्ठित वह एकही आत्मतत्व निर्लिप्तता तथा आनन्द-प्रवाह का अनुभव करता है तब बाह्य आवरण तथा सांसारिक लीला को भूलकर कुछ समय के लिए उन्मत्त हो जाता है। कृष्ण के वंशी में यही अमर संगीत था, नारद की अमर वीणा में इसी विश्वसंगीतकी झंकार थी। संगीत की इस असाधारण शक्ति का महत्व अपने ही भीतर दीख पडता है।

संपूर्ण संसार में प्रत्येक क्षण अनन्त भावना तथा अनन्त ध्वनि उत्पन्न होती रहती हैं। संसार में जितनी भावनायें तथा जितनी ध्वनियाँ उत्पन्न हो रही हैं वे सबकी सब एक अनन्त विश्वसंगीत की सर्वव्यापी शृंखला में जुडी हुई हैं।

ध्वनि तथा भावना का अर्थात् शब्द और अर्थका नित्य साथ है। भावना ही मनुष्यका स्वरूप है। मनुष्य-जातिके मन में एक गुप्त भावना भरी हुई है। वह भावना ही मनुष्य बन गयी है। वह भावना अनादि कालसे मनुष्यशरीर धारण करती रहती है। मनुष्य के मनमें जो अव्यक्त वाणी गूंज रही है, अज्ञानी मनुष्य उसकी भाषा बनाना नहीं जानता। यदि मनुष्य इसकी भाषा बनाना जान जाय तो उसका संसार-बन्धन कट जाय। यदि उसे भाषा में व्यक्त किया जाय तो वह मनुष्य से मनुष्य-ताके संरक्षक रहने तथा निर्लेप जीवन बिताने के लिये कह रही है। इस भावनाका ही दूसरा नाम 'निर्लेप भाव' है। दृश्यमान संसार के अस्तित्वकी अर्थात् संसार के मनपर डाले हुए प्रभाव की उपेक्षा करना अर्थात् इस दृश्यमान संसारको अपने मनको विकारग्रस्त करने में असमर्थ मान लेनाही इस अव्यक्त भावनाका स्वरूप और 'संगीतका प्राण' है।

जहां जगत् है वहीं उसका बन्धनकारी स्वभाव भी रहता है और यह इस सृष्टि की अद्भुत विचित्रता है कि इसमें उसी के पास बन्धनमोचनी निर्लिप्तता भी खडी रहती है अर्थात् बन्धन और उससे मुक्ति ये दोनों एक ही स्थानपर रहते हैं। यही कारण है कि इस बन्धनबहुल संसार में मुक्ति रूपी निर्लिप्तता की ध्वनि बन्धनों के साथ ही साथ सर्वत्र गुंजार रही है। यह ध्वनि ही 'विश्वसंगीत' है। जो अपने इस विश्वसंगीत में विलीन करने की कला जान गया, वह 'विश्वसंगीत का गायक तथा श्रोता' बन गया। यह संगीत बाह्य जगत् में सुनने सुनाने की वस्तु नहीं है। संगीत तो अपने आपही अपने को पूर्णता की अवस्था में देखने और आत्ममग्न हो जाने की पवित्रतम अवस्था है।

संगीत व्यापार की वस्तु नहीं है। वह दूसरोंको मोहित करने की विद्या नहीं है। वह दूसरों से प्रशंसा कमाने का साधन नहीं है। वह कानों का रस या इंद्रियों की आसक्ति नहीं है। संगीत तो आत्मदर्शन के प्यासे हृदय की प्यास बुझानेवाला अमृत है। इसी संगीत को आर्यजाति ने अपनाया था।

बाजारु संगीत संगीत नहीं है। आजकल संसार संगीत के नाम पर इन्द्रियासक्ति की दासता कर रहा है। भोलानाथ महादेव संगीतके आदिम आचार्य माने जाते हैं। वे सृष्टिको बनाकर भी निर्लिप्त जीवन बिताते हैं। उन जैसी अप्रभावित मनोदशा रखनेवाले को ही संगीत का ज्ञान हो सकता है। परन्तु आज संगीत विद्याने वेश्याओं भांडों या गन्दे सिनेमा थियेटरों में जाकर आश्रय लिया है। और आज वह मनुष्य की दुष्टतम वृत्तियों को जगाने वाला मजदूर बन गया है। संगीतार्थीको इस जनरंजक धनोपार्जक आसक्त्युत्पादक संगीत से विष के समान बचकर रहना चाहिये। संगीत की साधना फकीरी मनोवृत्ति में ही हो सकती है।

जिस प्रकार पद्यरचनामें छन्द अपने आप फुरता है, जिस प्रकार छन्दों का निर्माण करना मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है इसी प्रकार संगीत में भी मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति पायी जाती है। संगीत संगीतज्ञ के लिये अपने आपही अपना मार्गदर्शक बन जाता है। संगीत-प्रेमही संगीतका आचार्य माना जाता है। संगीताचार्य लोग तो केवल संगीत का मार्ग दिखा सकते हैं। संगीत शिक्षा के लिये शिक्षार्थी तथा शिक्षककी स्वतंत्रता और अटल धैर्य की आवश्यकता है।

शिक्षार्थी की स्वतंत्रता का यह अर्थ है कि शिक्षार्थी किसी प्रकारकी बाह्य बाधासे विचलित न हो। संगीत का स्थान स्वाधीन हो। वहां संगीतार्थी को रोकनेका अधिकार किसी को नहीं। संगीतार्थी में संसार के विरोध या हंसी ठट्ठेकी उपेक्षा होनी चाहिये। मनमें किसी प्रकार की चिन्ता तथा बन्धन न होनी चाहिये।

शिक्षककी स्वतंत्रता का यह अर्थ है कि शिक्षक निःसंकोच होकर शिक्षार्थीको अपना संगीत दिखा सके, अपने संगीतप्रवाहको खोल सके और सिखा सके। उसे किसी भी प्रकार झिझकनेका अवसर न मिले। उसे यह न सोचना पडे कि मेरे संगीत सिखाने से पडौसी के अधिकारपर आक्रमण या उसके काममें अव्यवस्था तो नहीं हो जायगी। ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि संगीतस्थान में किसी भी प्रकारकी बाह्य अभ्यन्तर दशायें संगीतरस में व्यवधान न डाल सके।

संगीतके विद्यार्थी में अपरिमित धैर्य होना चाहिये। संगीतका पाठ ग्रन्थोंके समान कण्ठाग्र करनेकी वस्तु नहीं है। संगीतका पाठ अंगुलियों को सिखाना पडता है। शब्द के सूक्ष्मतम स्पन्दनों तक पर अधिकार जमाना पडता है। सचमुच संगीतमें बडे भारी धैर्य का काम है। शीघ्रही संगीतज्ञ बन जानेकी अभिलाषा न करनी चाहिये। यों तो विद्याका विस्तार अनन्त है; किंतु स्वाधीन स्थिर भावमें रहकर एक बातको पूरे धीरजसे अच्छी तरह सीखना ही 'संगीतकी पूर्णता' है। संगीतप्रवाहका कहीं अन्त नहीं है, परन्तु संगीतके इस अनन्त प्रवाह का एक बिन्दु भी अपने आपेमें पूर्ण है। इस लिये संगीत के विद्यार्थी को अगला पाठ न देखकर वर्तमान पाठपर पूरा बलव्यय करना चाहिये। संगीतके स-र-ग-म में भी पूर्णता है। स-र-ग-म का पूर्ण अभ्यास करके तब आगे चलना चाहिये। वर्तमानके अमृतके आनन्दको चखना सीखना चाहिये और उस में डुबकी लगाना आना चाहिये। इस मार्गका प्रथमपद भी पूर्णता है। इस मार्ग में अन्तिम पद कभी नहीं आता। मनुष्य प्रथम ही उद्यममें संगीतज्ञ बन जाता है। मनुष्यों को संगीतके अन्तिम उद्यमकी कल्पना से बचना चाहिये।

जो संगीतकी केवल एकही बातमें सुन्दरता से पूर्ण है और जिसने केवल एकही राग का दर्शन किया है उसके हृदयमें शेष संपूर्ण राग स्वयमेव अवतीर्ण हो जायंगे। उसे विश्वसंगीत का स्वतः दर्शन हो जायगा।

सत्य अहिंसासे

भारतीय स्वतंत्रताकी रूपरेखा।

[लेखांक २+]

(लेखक— श्री० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ, विजनौर यू. पी.)

जो मनुष्य भौतिक सुखसुविधाओं के मोह में फंस जाते हैं, वे सदा एक दूसरे के दास बने रहते हैं। ऐसे मनुष्यों को तथा समाज को एक दूसरे का दास बनकर रहना पडता है। जो भौतिक दासताओं में बंधा रहकर दासता को मिटाने की इच्छा करता है, वह असंभव प्रयत्न कर रहा है। क्योंकि स्वतंत्र हुए बिना स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न नहीं हो सकता। परतन्त्र रहनेवाले लोग स्वतन्त्रताको नहीं ला सकते। स्वतन्त्र मनुष्य ही स्वतन्त्रता को ला सकते हैं। अर्थात् भारतीय स्वतन्त्रता को लाने के लिए स्वतन्त्र मन रखनेवाले भारतीयों की आवश्यकता है। जो मन पराधीन हो सकता है ऐसा मन रखनेवाले भारतवासी भारत को स्वतन्त्र नहीं कर सकेंगे। स्वार्थी को सत्य नहीं दीखता। यदि देश स्वार्थ नहीं छोडेगा, तो उसे स्वराज्य के सम्बन्ध में सत्य का स्वरूप नहीं दीखेगा। स्वार्थ के कारण देश में से महत्त्वाकांक्षा नष्ट हो गई है उसे फिर उत्पन्न करना पडेगा। जिन्होंने स्वतन्त्रताका मर्म पहचाना है, उन्होंने भौतिक सुविधाओं के मोहमें न फंसने को ही स्वतन्त्रता कहा है।

यदि किसी भौतिक सुखों में फंसे हुए मनुष्य के पास स्वतन्त्रता की भावना को आता देखो, तो उसे बनावटी समझो, वह सचमुच स्वतन्त्रताकी भावना नहीं है। वह भौतिक सुखाभिलाषा का सताव या यन्त्रणा है। उसने भौतिक सुखको और अधिक भोग सकने की भूक को स्वतन्त्रता मान लिया है।

किसी मनुष्य के पास भोगसुख के विपुल साधनों को देखकर चंचल हो उठना कौनसे महत्त्व की बात है। यह पशुपक्षियों का धर्म है। इस प्रवृत्ति के वश में आजाने में मानवसत्ता का कोई महत्त्व नहीं है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति मनुष्य से मनुष्यता छीन लेती है और उसे पशु बना देती है। दूसरे के भोजनों तथा भोगों पर दृष्टि डालना और संभव हो, तो उसे छीनकर खालेना पशुपक्षियों तथा कुत्तों का स्वभाव है।

मनुष्य को दासता का यह तत्त्व समझ लेना चाहिए कि दासता दो दासों के बिना जन्म नहीं लेती। जहां दास बनानेवाला तथा दास बननेवाला इन दो दासनामके पतितोंका समागम होता है, वहीं दासता का प्रसव होता है। दास बननेवाला दास बनानेवाले का दास बन जाता है और उसे दास बनानेवाला उस दास बननेवाले का दास अर्थात् उसके ऊपर निर्भर हुए बिना नहीं रहता। दासता सदा पारस्परिक आधार पाकर पनपती है। दास अपने प्रभुका मालिक होता हुआ भी अपने को दास मानता रहता है। और प्रभु अपने दास का दास रहता हुआ भी वृथाही प्रभुता के घमंड में मरता रहता है। ये दोनों एक दूसरे के वश में आए रहते हैं। वे दोनों एक दूसरे से अनुचित

+ प्रथम लेख वैदिक धर्म मार्च १९६१, पृ० ९६ पर देखो।

लाभ उठाना चाहते हैं। यही इन दोनों को परस्पर का दास बनानेवाली दासमनोवृत्ति है। प्रभुता काल्पनिक है और दासता सचाई है। यह नहीं हो सकता कि दास तो सदा दास ही रहे और उसका प्रभु समझा जानेवाला उस की दासता से न बन्धे और स्वतन्त्र मनुष्य कहा सके।

स्वाधीन पुरुष वे हैं, जो न तो किसी के दास बन सकते हैं और न किसी के प्रभु होना स्वीकार कर सकते हैं। स्वाधीन पुरुषों की दृष्टि में प्रभुता भी उतनी ही घृणा करने योग्य स्थिति है, जितनी की दासता। स्वाधीन पुरुषोत्तम प्रभुता तथा दासता को एक समान पतितावस्था मानते हैं।

जिस मनुष्य के मन में जिसकी चिन्ता अशान्ति का रूप धारण करके बैठी रहती है, अर्थात् जो मनुष्य जिस दूसरे को याद कर कर के सदा अशान्त चंचल, लोभी तथा कामी आदि बना रहता है, वह उसका 'दास' है, यह एक निश्चित सचाई है। यही दास मनोदशा का वास्तविक चित्रण है। क्योंकि लूट के शिकार बने हुए मनुष्य के मन में लुटेरे की पिशाचमूर्ति सब समय डर जगाती रहती है, इसलिए लूटे जानेवाले लोग अपने को लुटेरों का दास मान बैठते हैं और शहद की मक्खियोंके समान अपने लुटेरे के लिए कमाते रहते हैं। ठीक इसी प्रकार लूटे जानेवाले का असाहस कायरता तथा अपौरुष लुटेरे के मनको चंचल बना देता है। वह उसे मनुष्य का मन न रहने देकर उसे एक शिकारी जानवर बना देता है। लुटनेवाले लोगों की कायरता लुटेरों के मनकी शान्ति को छीन लेती है और धनको अपने अधिकार में कर लेने के उद्देश्य से आक्रमण करने का दुष्ट उत्साह उत्पन्न करती है। यह वस्तुस्थिति स्पष्ट सिद्ध कर रही है कि, लूटनेवाला भी लुटने-वाले का दास है। लूटे जानेवाले ही लुटेरों के जन्मदाता मातापिता हैं। वे ही उन्हें जन्म देते हैं और वे ही इन्हें अपने मुंह का टुकडा खिलाकर पालते-पोसते हैं। जिस प्रकार बिच्छू के बच्चे अपनी माता की कमर पर चढ बैठते हैं और उसी को तोड तोडकर खाते रहते हैं, इसी प्रकार लुटेरे लोग अपने उत्पादक अपने अन्नदाता लूटे-जानेवालों को ही खाकर जीते हैं। लुटेरों का शिकार बनना सहनेवाली निर्बल मनोदशारूपी गन्दगी में जो कीडे उत्पन्न होते हैं, वे ही लुटेरे कहाते हैं। लुट सकनेकी दुर्बल अवस्था में से ही लूटने का लालच उत्पन्न होता है।

कभी कभी लुटनेवालों के मन में लुटेरों से जल-कर लूट से बचने की इच्छा उत्पन्न होती पायी जाती है। जैसी कि आजकल भारत में पायी जा रही है। भारत की इस इच्छा को स्वतन्त्रताकी इच्छा के नामसे सम्मानित नहीं किया जा सकता। इसे तो भारत की स्वेच्छाचारी जीवन की मांग कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छाचार में बडा भारी अन्तर है। स्वेच्छाचारी जीवन की मांग के पीछे शक्ति काम नहीं कर सकती। क्योंकि स्वेच्छाचार मनुष्य की अशक्ति अर्थात् उच्छृंखल प्रवृत्ति है। शक्ति सदा स्वतन्त्रता की मांग के ही पीछे रहा करती है। सच्ची बात पर कोई भी मनुष्य कहीं भी चाहे जितने मनुष्यों से भिड सकता है। परन्तु झूठी असार बातपर डट सकना बडा असंभव है। शक्ति सदा सचाई का साथ देती है। भारत की वर्तमान स्वराज्य की मांग स्वतन्त्रता की मांग न होकर स्वेच्छाचार की मांग है, इसके निम्न कारण हैं।

अंग्रेजों को भारतपर शासन करते हुए लगभग २०० वर्ष हुए हैं। आजकल भारत में सरकारी नौकरों की संख्या ७ लाख के लगभग है। इनमें नगण्य संख्या अंग्रेजों की है, शेष सब भारतवासी हैं। अंग्रेजों का स्वार्थ ही भारत का राजा है। अंग्रेजी सरकारने इंग्लैंड के स्वार्थ से भारत को दुहने के लिए भारत में अपना शासन-जाल फैलाया है। यदि भारत के पास समझ होती तो उसे इसमें किसी प्रकारका सहयोग न देना चाहिए था। अर्थात् अंग्रेजों को अपना शासनचक्र घुमाने

के लिए भारत में से नौकर न मिलना चाहिए था।

परन्तु अभागा भारत २०० वर्षों से लगातार और ५० वर्षों से तो स्वराज्य की धूमधाम के अस्तित्व में ही सरकार को नौकर अर्थात् भारत पर चलायी जानेवाली सरकारी कुल्हाडी के लिए दस्ता दे रहा है और अपनी सम्पूर्ण सामाजिक शक्ति लगाकर अनेक अर्धसरकारी तथा सहायता-प्राप्त शिक्षणालयों में इसी काम के लिए युवकों को तयार कर रहा है। भारतने मनुष्यता के आदर्श को नीचा करके सरकारी नौकरी को अपना आदर्श बना लिया है। भारत के युवक के पास महत्वाकांक्षा नामकी कोई चीज नहीं है। सिविल सर्विस एक ही भारत के योग्यतम मस्तिष्कोंका स्वर्ग है। भारतदोहन के लिए फैलाए गए प्रबन्धजाल को पूरने के लिए अंग्रेजों को नौकर देते रहना और उसी अपमानजनक आत्मनाशक काम के लिए अपने लाल तयार करते रहना भारत के लिए घोर अपमानकारक स्थिति है। देश का अज्ञान (अनात्मबोध) कितना बडा अनर्थ कर सकता है ? यह यदि किसी को देखना हो तो वह यह देखे कि अभागा भारत अपनेको ही लूटने के लिए अपने ही होनहार युवकोंको सज सजाकर देता जा रहा है। वह अंग्रेजी सरकार की दी हुई पेटी पगडी बिल्ले तथा वरदी पहनने में अहोभाग्य तथा जीवन की सफलता देख रहा है। भारत के दुर्भाग्य से बडी से बडी योग्यता रखनेवाले भारत के योग्यतम मस्तिष्क इंगलैंड का लाभ सोचने उसकी आय बढाने और भारत में उसका जाल फैलाने तथा उसे फैलाए रखनेके उपाय सोचने में लगे हुए हैं। मानो भारत के बच्चे अंग्रेजों के ही भाग्य से उत्पन्न हुए हों। भारतकी इसी मनोवृत्तिमें भारतीय पराधीनता का बीज छिपा हुआ है। बहुत से भारतीय विचारक भारतीय पराधीनता के बीज को अंग्रेजों की मुट्ठी में से ढूंढना चाहते हैं। वे भूल करते हैं।

भारत का स्वार्थी हो जाना ही भारतीय पराधीनता का बीज है। भारत का यह पराधीनता का बीज बना रहा है कि जिस दिन भारत स्वार्थ-त्याग कर देगा उस दिन भारत स्वतन्त्र हो जायगा। भारत में स्वतन्त्रता न होने से यह सिद्ध होता है कि अभी तक भारत स्वतन्त्रता नहीं चाहता। वह केवल शासन सुधार चाहता है। वह शासन-सुधार के भूत में लिपट गया है। वह केवल वर्तमान शासन-चक्र को भारत-हितकारी तथा भारत के लिए सह्य बनाना चाहता हैं। स्पष्ट शब्दों में भारत अपनी दासता को मीठा करना चाहता है। वह डटकर यह सिंहनाद करने का साहस खो चुका है कि हम अनधिकारी अंग्रेजी सरकार से किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रखेंगे। हमारा उससे कोई नाता नहीं है। हम उससे किसी भी प्रकार का समझौता नहीं करेंगे।

हम भारतीय स्वतन्त्रता को सौदा नहीं बनने देंगे। वे भारतपर अनधिकार करना त्याग दें, केवल इसी एक शर्तपर उनका हमारा समझौता हो सकता है। यही भारतीय स्वातंत्र्य की सच्ची रूपरेखा है।

परन्तु दुर्भाग्य से आज भारत इस स्वतन्त्रता का आवाहन करने के बाद आधमकनेवाले संकटों से डरा बैठा है और स्वतंत्रता के नामपर संगठन तथा सदस्य-संख्यावर्धन आदि बहाने बना रहा है। उसे दीख रहा है कि स्वतन्त्रता आते ही अबकी मुरदा शांति विदा हो जायगा और भारत की वायुमण्डल क्षुब्ध हो जायगा, क्योंकि भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा होते ही भारतीय स्वतंत्रता का शत्रु अपने भागने का उपयुक्त मुहूर्त नियत करने के लिए भारत की स्वतंत्रता के खरे-खोटे-पन को अच्छी तरह ठोक बजाकर देखेगा कि क्या भारत सचमुच स्वतंत्रता-का प्यासा हो चुका है ? स्वतन्त्रता आते ही मुरदा निर्विघ्नता को कान पकडकर देश से बाहर कर देगी और अपना कठोर खेल प्रारंभ कर बैठेगी।

भारतके भोगमग्न समाज से स्वतन्त्रता की कठोर क्रीडा नहीं सही जायगी। भारत में स्वतन्त्रता न आने का यही कारण है कि भारत स्वयं सच्ची स्वतन्त्रता के कठोर स्वभाव से डरा बैठा है। स्वतन्त्रता न आने में भारत स्वयं अपराधी है। उसमें स्वातन्त्र्य की चेतना नहीं है।

देश की फूट तथा स्वार्थपरता इन दो कारणों से देश परतन्त्र होते हैं। जिस समाज में भोग को जीवन का लक्ष्य मान लिया जाता है वहां फूट और स्वार्थपरायणता का होना स्वाभाविक हो जाता है। जबतक भोगी जीवन का मोह बना रहता है तबतक देशों का स्वतन्त्र होना असम्भव रहता है।

जिस देश में मानसिक पवित्रता को जीवन का लक्ष्य मान लिया जाता है वहां भोगाकांक्षा अपमानित हो जाती है। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें तो जिस देशवासी इस महासत्य को पहचान जाते हैं कि आत्मा अमर है। आत्मा सब का एक है। सब भूतों के आत्मा में और हम में कोई अन्तर नहीं है और मनुष्यता ही मनुष्य का स्वरूप है; उस देश में भोगाकांक्षा अपमानित हो जाती है दैवी गुण प्रादुर्भूत हो जाते हैं और स्वाभिमानी जीवन चमकने लगते हैं। यदि परतन्त्र देश स्वतन्त्र होना चाहे तो उसका केवल एक उपाय है कि उन्हें अपने समाज में सर्वभूतस्थ आत्मा की एकता का प्रचार करना चाहिए और आत्मज्ञानी कर्तव्यपरायण मनुष्य तयार करने चाहिए। यही स्वतन्त्रता-प्राप्ति का ईश्वरीय मार्ग है।

जिस देश के निवासी देशोंको स्वतन्त्र बनाने वाले इस सीधे तथा सच्चे मार्ग को न अपनाकर दूसरे दूसरे मनुष्य को परतन्त्रता के लिए सहमत करनेवाले अधूरे मार्गों के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, स्वतन्त्रता उनसे सदा दूर बनी रहती है। वे इन अधूरे मार्गों को अपना कर उस देशमें स्वतन्त्रता पानेके स्थानपर विदेशी शासन की जड को पुष्ट बनाते रहते हैं।

यदि विदेशी शासन कभी किसी आकस्मिक कारण से दूसरोंपर शासन करना अशक्य या अनुचित समझकर, अपनी ओर से शासित देश को स्वतन्त्र कर भी दे, तो भी वह देश भोगों का दास बन जाने के कारण सच्ची स्वतंत्रता से वंचित रहता है और देशी विदेशी किसी न किसी शासक का दास बना रहता है। इसलिए यदि परतन्त्र देश स्वतन्त्र होना और विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित रहना चाहे तो उसका केवल एक मार्ग है कि वे अपने देशवासियों को भोगोंका अपमान करना सिखायें, देश में मनुष्यता नामवाली सच्ची स्वतंत्रता की भावना को फैलाए, तथा देश को सत्य का दर्शन करना सिखाए।

स्वतन्त्रता देश का धर्म नहीं है किन्तु मनका धर्म है। मन के सामने सब समय दो दो विरोधी विचार आते रहते हैं। प्रत्येक बात में इंद्रियां तो मन को आराम की ओर खींचती और पतित होने के लिए उकसाती हैं तथा आत्मा का आनंदमय रूप मनको अपनी ओर खीचता है और मनुष्य से पवित्र तथा पूर्ण मनुष्य रहने के लिए कहता है। मन इन दोनों प्रस्तावों में से किसी एक को अपनाकर दूसरे की उपेक्षा करता है। दो में से किसी एक को अपनाने की स्वतन्त्रता ही मन का स्वरूप है। जब मन सुखसुविधा का पक्षपात करता है तब इंद्रियाधीन होकर परतंत्र हो जाता है। तब मन आत्मस्वरूप को अपनाता है तब आत्मस्थिति में रहकर स्वतन्त्रता के विमल आनन्द का अधिकारी बना रहता है। स्पष्ट बात यह है कि भोगों की ओर जाना परतन्त्रता और त्याग को अपनाना अर्थात् आत्मा की ओर जाना स्वतन्त्रता है।

स्वतन्त्रता में मनुष्य सुख समझते हैं। परन्तु स्वतन्त्रता में सुख नहीं है। उसमें दुःख भी कोई नहीं है। वह तो सुखदुःखरहित स्वाभाविक अवस्था है। वह तो माता की गोद में लिटे हुए, किसी

बाह्य आकर्षण से इधर उधर न खिंचे हुए बालक की सी निरक्षेप अवस्था है। स्वतंत्र रहना सच्चे मनुष्यों का स्वभाव है। सुखदुःख के साथ फंस जाना तो परतन्त्रता है। अपने ही अधीन रहना, किसी बात में दूसरे के अधीन न होना स्वतन्त्रता है। स्वतंत्र रहना अर्थात् अपने आपे में मस्त रहना मनुष्य के लिए माता की गोद के समान आनन्द की स्थिति है। इस स्थिति को त्यागकर इन्द्रियों के वश में आ जाना सुखदुःख नामवाली परतन्त्रता को स्वीकार कर लेना है।

मनुष्य के मन में स्वभाव से एक विचारशक्ति रहती है। उसका बुरा उपयोग मनुष्यकी परतंत्रता तथा उसका भला उपयोग मनुष्य की स्वतंत्रता है। जबतक मनुष्य या मनुष्यसमाज आत्मस्वरूप को नहीं पहचानेगा तबतक उसकी विचारशक्ति निर्मल नहीं होगी। तबतक देश को स्वाधीनताके पुजारी योद्धा भी नहीं मिल सकेंगे। मनुष्य की विचारशक्ति आत्मस्वरूप को जान लेने पर ही निर्मल होती है और वह मनुष्य को तथा मनुष्य-समाज को स्वतन्त्रता रूपी आनन्द प्राप्त कराती है। यों मनुष्य के मन की स्वाभाविक सत्य अवस्था ही स्वतंत्रता है। स्वतंत्र हो जाना ही देशप्रेम है।

अपने देश को वही स्वतन्त्र कर सकता है जो अपने को स्वतंत्र कर चुका है। ऐसा पुरुष जिस समय जहां रहता है वहीं उसका स्वतंत्र देश बन जाता है। स्वतंत्रता किसी के पीछे चलकर या औरों को अपने पीछे चलाकर पाने की वस्तु नहीं है। अपने को परतन्त्र समझना छोड देना ही स्वतन्त्रता है।

जिसे मणि पा जाती है वह उससे अपने आप अपनी रक्षा करा लेती है। वह उससे अपनी रक्षा के उपाय सुचवाती और उन्हें प्रयोग में लाने के लिए उत्तेजित करती है। जिसे मणि नहीं पाती वह उसकी रक्षा तथा उसके उपायों से अनभिज्ञ रहता है। मणि आने से प्रथम कोई उसकी रक्षा नहीं करता। यही स्वराज्य की अवस्था है। जिसे स्वराज्य मिल चुकता है वही उसकी रक्षा करता है। स्वराज्य पाए हुए लोग ही स्वराज्य की रक्षा कर सकते हैं। जिन्हें स्वराज्य नहीं मिला वे स्वराज्य की रक्षा नहीं कर सकते। लोग स्वतन्त्र न हों अर्थात् वे स्वतंत्रता के स्वरूप को न समझते हों और स्वतंत्रता उनका लक्ष्य हो यह सर्वथा असम्भव बात है। पायी हुई स्वाधीनता रूपी मणि अपने आप अपनी रक्षा करा लेती है। स्वाधीन मनुष्य को स्वाधीनता रूपी मणि पहले से ही मिल चुकी होती है। वह फिर उसे स्वाधीनता की रक्षा के लिए विवश कर डालती है। पराधीनताका अदम्य तथा अत्याज्य विरोध ही स्वाधीनताका अभिप्राय है।

मनुष्य जिस समय जिस स्थानपर रहता है उस स्थान के साथ उसके कुछ कर्तव्य बन जाते हैं। जहां मनुष्य का कर्तव्य है वही मनुष्य का देश है। देश के प्रति कर्तव्य-पालन करना ही देश-प्रेम है।

शुद्ध मन ही कर्तव्यपालन कर सकता है, अशुद्ध नहीं। अशुद्ध पतित दास मन रखनेवाले लोग देशप्रेम कर सकें यह असंभव कल्पना है। दूसरे शब्दों में आत्मदर्शी मनुष्य ही कर्तव्यपालन कर सकते हैं और वेही देशप्रेमी हो सकते हैं। भोगपरायण लोग देशप्रेमी नहीं हो सकते। वे तो भोगप्रेमी होते हैं। वे देश का ध्यान छोडकर केवल अपने भोग को सुरक्षित रखना चाहते हैं। भोगार्थी से देशप्रेम की आशा बांधना अज्ञान की बात है। आत्मदर्शी ज्ञानीके सामने जब जो कर्तव्य आता है क्योंकि वह उसे पालकर आत्मदर्शन के आनन्द लेने का लोभी होता है इसलिए वह उसे तन्मयता से पालता है। ज्ञानी के जीवन में अज्ञान से संग्राम करने का अवसर प्रत्येक क्षण आता है। उस समय ज्ञानी का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अज्ञान से बचा रहकर अपने को ज्ञानी और विजयी बनाए रहे। ज्ञान की अवस्था को विजयी रखना ही ज्ञानियों का देशप्रेम है।

देशप्रेम केवल ज्ञानी आत्मदर्शी पुरुषों का काम है । अज्ञानी नास्तिकों का नहीं । स्पष्ट शब्दों में ज्ञानी पुरुषों का आत्मप्रेम ही देशप्रेम बन जाता है । इस प्रकार के देशप्रेमी लोग ही किसी देश को स्वतन्त्र रख सकते हैं । बात यह है कि जब देश की स्वतन्त्रता अपने स्वभाव के अनुसार कठोर क्रीडा करना प्रारंभ करती है तब भोगार्थी देशप्रेमी देशप्रेम का बाना उतार कर फेंक देते हैं । अपने अन्तिम श्वासों तक देशप्रेमी बने रहना केवल आत्मज्ञानी ब्रह्मदर्शी स्थितप्रज्ञ ब्रह्मीभूत वीर पुरुषों का काम है । आत्मज्ञान ही राष्ट्र के सब रोगों का एक इलाज है । आत्मज्ञान से मनुष्य को संसार का नियम ज्ञात हो जाता है जिसको वीर बनाना चाहो उसे संसार का नियम समझाकर आत्मज्ञानी बना दो । भोगासक्त समाज से ऐसी आशा बांधना अज्ञान की बात है ।

कहने का भाव यही है कि जबतक भारत में आध्यात्मिक आग नहीं सुलगेगी तबतक भारत में देशप्रेम प्रकट नहीं होगा । आज भारत में देशप्रेम नहीं है । भोगप्रेम ही भारतवासियों का देशप्रेम है । यह तो सच है कि आज भारतवासियों में अंग्रेजों का वैभव भोगने की ईर्ष्या जाग उठी है ।

भारत इसलिए स्वराज्यार्थी नहीं बना है कि मनुष्य को स्वतन्त्र रहना ही चाहिए किन्तु भोग की मांगने ही भारत को स्वतंत्रताका नाम रटवाया हैं । जिस रोटी कपडे की समस्याने भारत को पराधीन बनाया है वही रोटीकपडे की समस्या भारत को स्वतंत्रता कमाकर देगी यह बात विश्वास करने योग्य नहीं है । यह वर्तमान भारतीय विचारपद्धति की समझ की भूल है । यह भारत को परतन्त्र रखनेवाला विचार है । यदि भारतवासियों का मन रोटीकपडे की समस्या को ताकपर रखकर स्वाभिमान मनुष्यता उच्चता उदारता गौरव आदि गुणोंको भारतीय स्वतंत्रता का ध्येय घोषित कर दे अर्थात् सत्य और अहिंसा को भारत का लक्ष्य मान ले और भारत में मानसिक उच्चता का वातावरण बना डाले तो भारत को स्वतन्त्र होने में एक क्षण की भी देर न लगे और रोटीकपडे की समस्या भी अपने आप हल हो जाय ।

भारत की भूमि परतंत्र नहीं है । भारत का मन परतंत्र हो गया है । भारतीय मन परतंत्रता को सह गया है । भारत का मन इतना गिर गया है कि मानो भारत पराधीन रहने के ही लिए बना हो । भारतमें स्वाधीनताका उत्साह नहीं पाया जाता । आज भारत अपने को दूसरों की आज्ञा पालने के लिए विवश मान बैठा है । मनुष्य मनुष्य का कहना माने, मनुष्य मनुष्य से दब जाय; मनुष्य मनुष्य होकर अपमान के घूंट पी जाय; मनुष्य मनुष्य के दिल में चुभनेवाली पराधीनता और अपमान के विरोध में खडा न हो यह बडी अस्वाभाविक अवस्था है ।

भारत की भूमि परतंत्र नहीं है । परतंत्रता भूमिका धर्म नहीं हैं । परतंत्रता मन का धर्म है। भारत के मनने परतंत्रता को स्वीकार तथा सहन कर लिया है । मनकी परतंत्रता ही भारत की परतंत्रताका स्वरूप है। जबतक भारतवासियोंके मनका यह स्वभाव नहीं हटाया जायगा तबतक लाख बरस तक भी भारत को स्वराज्य प्राप्त नहीं होगा। जबतक भारत में सामाजिक जीवन नहीं आयेगा, जबतक भारतमें समाजके प्रति कर्तव्यबुद्धि जागकर खडी नहीं होगी, जबतक भारत में मनुष्यता के नामपर काम करनेवाली शक्ति नहीं जागेगी तबतक भारतीय समाज दास बना रहेगा ।

जहां मनुष्य का कर्तव्य का सम्बंध है वहीं मनुष्य का समाज है । बिना समाज का कोई मनुष्य नहीं होता । मनुष्य समाज में उत्पन्न होकर आजीवन समाज से संबद्ध रहता है । इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह समाज के साथ अपने कर्तव्यपालन के संबंध को उत्तरदायित्व के साथ निभाए । ऐसा करने से मनुष्य का तथा समाज

का दोनों का कल्याण होगा। नहीं तो दोनों का अकल्याण होगा और यही दोनों की मृत्यु मानी जायगी। जहां समाज तथा मनुष्य का संबंध कर्तव्यपालन से सुरक्षित नहीं रखा जायगा, वहां के मनुष्य तथा समाज दोनों मृत माने जांयगे। ज्ञान ही मनुष्य का जीवन है, और अज्ञान ही मनुष्य की मौत है। ज्ञान ही मनुष्य की विशेषता और महत्व है। समाज के साथ मनुष्यका जीवन-मरण का सम्बन्ध जुडा हुआ है।

यदि समाज ज्ञानी हो तो उस समाज में जन्म लेने वाले मनुष्य ज्ञानरूपी अमृत के अधिकारी होकर जीवित रहते हैं। यदि समाज अज्ञानी हो तो उस समाज में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अज्ञान-रूपी विषपान करनेवाले श्वास लेते रहने पर भी मृत पराधीन और पददलित होते हैं। पृथक् पृथक् मनुष्यों के जैसे व्यक्तिगत जीवन होते हैं वैसाही समाज का सामूहिक जीवन बन जाता है। इसलिए समाज-गठन का उत्तरदायित्व मनुष्य के व्यक्तिगत जीवनपर निर्भर होता है।

मनुष्यको स्वतंत्र बनानेवाले विचार (ज्ञान)का स्वरूप।

यदि समाज को सुधारना हो तो देश व्यक्तिगत जीवनों के सुधारने की सेवा की जानी चाहिए। यदि देश का व्यक्तिगत जीवन पवित्र कर लिया जायगा तो सामूहिक जीवन अपने आप सुधर जायगा। इस उत्तरदायित्व को समझ जाना ज्ञान हैं। ज्ञानी मनुष्य अपने आपको आदर्श ज्ञानी समाज का सदस्य मानकर सब प्रकार के विघ्नों को परास्त करके सत्य की सेवा करता रहता है। सत्यकी सेवासे ही समाजकी सेवा होती है। सत्य ही ज्ञानियों की सेवा लेता हैं। जबतक भारत में इस प्रकार के जीवन नहीं आयेंगे तबतक भारत की स्वतंत्रता को सिंभालनेवाली शक्ति कहां से उतर आयेगी ? यदि सारा भारत रोटी-कपडा कमाने को जीवन का लक्ष्य मानकर उसमें फंसा रहेगा तो बताओ कि भारतीय स्वतन्त्रता के लिए सैनिक कहां से आयेंगे ? यदि भारत में भारतीय स्वतन्त्रता के स्वयंसेवकों की भीड देखने की इच्छा हो तो भारत के बच्चे बच्चे में आध्यात्मिक चेतना फूंकने पडेगी। अर्जुन को दिया हुआ श्रीकृष्ण का यह संदेश आज फिर दुबारा भारतवासियों को बताना पडेगा कि तुम स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाली सत्ता नहीं हो। मनुष्य बनने वाली शक्ति सदासे मनुष्य बन रही है और बनती रहेगी। वह सदासे मानव-लीला कर रही है और करती रहेगी। मनुष्यताका आनन्द भोगना ही उस मनुष्य बननेवाली शक्ति का अभिप्राय है। वह एक ही सत्ता अपने इसी अभिप्राय को पूरा करने के लिए अपने आपको कोटि कोटि मनुष्य-देहों में प्रकट कर रही है। इसलिए मनुष्यों को अपने को संसार से पृथक् अस्तित्व रखनेवाली सत्ता न मानकर, अपने आपको सर्वव्यापी विराट् अस्तित्व जानकर, कर्तव्यपालन का विमलानन्द भोगकर, जीवन को धन्य बना लेना चाहिए। मनुष्य-जातिको व्यक्तिगत जीवनों तथा उनकी क्षुद्र सुविधाओंके कीचडोंमें नहीं फंसना चाहिए।

क्योंकि व्यक्तिगत जीवन का स्वेच्छाचार देह-विकार होने से मनुष्य की मूढता है। मनुष्य पूर्ण है, परब्रह्म है, नारायण है, अमृत का पुत्र है और आनन्दस्वरूप है। जो मनुष्य शरीरमोह से या देहविकारों से ऊपर उठकर कर्तव्यपरायण हो गया है उसका जीवभाव नष्ट हो चुका है, वह साक्षात् नारायण है। उसके शरीर में साक्षात् पर-ब्रह्म मानव-लीला कर रहा है। मनुष्य-जाति को अपने इस स्वरूप भूत-माहात्म्य को पहचानकर अपनी छती ऊंची रखकर संसार-यात्रा करनी चाहिए। उसे भोगोंकी दासता को छोडकर अर्थात् भोगों के नामपर किसी से दबना छोडकर अपने अमृतपुत्र होने का सौभाग्य भोगना चाहिए। उसे शत्रुओं को अर्थात् कर्तव्यपालनके विघ्नोंको हटानेमें अपने को घृताहुति के समान होमकर अपने जीवन को सफल बनाकर अपने शरीर में मनुष्यता को विजयोत्सव मनाने का अवसर देना चाहिए।

जबतक भारत में इस प्रकार की अनभिभवनीय अदम्य अस्याज्य चेतना नहीं जगाई जायगी, जब तक मनुष्यताही भारत का सम्राट् नहीं बन बैठेगी, तबतक भारतीय स्वराज्य भारतीय नेताओं के नेतृत्व का साधन मात्र बना रहेगा और स्वराज्यार्थी भारत पराधीनता की जडों को सींचता रहेगा। जबतक भारतीय स्वराज्यवादी भारत के मन में घुसकर बैठे हुए अंग्रेजों को वहां से न निकालकर उनको भारत की भूमिपर से भगाने के उपाय सोचते रहेंगे तबतक अंग्रेजों के पंजे भारतकी गहरे गडते चले जायंगे।

संसार में जितने मनुष्य हैं सब एकही सर्वव्यापी आत्मा के मनुष्यता का आनन्द लेने के लिए कोटि कोटि मनुष्य-शरीर धारण करने के स्वभाव में से उत्पन्न हुए हैं। सब एकही आदि पुरुष के सन्तान हैं। सब एक जैसा अधिकार लेकर आये हैं। कोई किसी से न्यून या अधिक अधिकार लेकर नहीं आया। मनुष्यताके नाते इस संसार में सब का समान अधिकार है, अधिकारों का न्यूनाधिक होना मनुष्य की दुष्ट बुद्धि का परिणाम है। क्योंकि कोई किसी से कम अधिकार लेकर नहीं आया, इसलिए किसी को अपने आपको किसीसे कम अधिकार वाला मानकर किसी के दास या लूट के शिकार बनने या दुष्टविरोध त्याग देने का अधिकार नहीं है। क्योंकि कोई किसीसे अधिक अधिकार लेकर नहीं आया इसलिए किसी को अपने आपको किसी से अधिक अधिकार वाला मानकर किसी के प्रभु अर्थात् लुटेरे बनने का अधिकार नहीं है। जो अपने अधिकार को किसी दूसरे की तुलना में घटा लेता है वह भी मनुष्य नहीं है और जो अपने अधिकार को दूसरे के अधिकार से बढा लेता है वह भी मनुष्य नहीं है। तुलना और लूटना दोनों पतित अवस्था हैं। यह फाड खानेवाले तथा शिकार बननेवाले जानवरों का स्वभाव है।

जबसे मनुष्यने इस लुटने तथा लूटने के पशु-स्वभाव को अपनाया है तबसे मनुष्यजाति मनुष्यता से पतित हो गई है और परिणाम-स्वरूप दुःख, दारिद्र्य, कलह, वंचना, रक्तपात तथा भयंकर संघर्ष का क्षेत्र बन गई है।

क्योंकि प्रत्येक मनुष्य एकही आत्मा का रूपांतर है इसलिए सबको सब के जीवनाधिकार का ध्यान रखना चाहिए। सबको सबका अविरोधी सर्वहितकारी जीवन बिताना चाहिए। किसी के हितपर स्वार्थ के दांत न गाडना ही सर्वहितकारी जीवन बिताना है।

जबतक मनुष्य इस महा सत्यको नहीं पहचानेगा कि मनुष्य का मनुष्य से ऐकात्म्य के नाते अच्छेद्य भ्रातृभावका सम्बन्ध है, मनुष्य मनुष्य के साथही नहीं किन्तु त्रिलोकी के साथ अच्छेद्य भ्रातृभाव से जकडा हुआ है, तबतक वह लुटना भी नहीं छोडेगा और लूटना भी नहीं छोडेगा। अर्थात् तबतक मनुष्य-समाज में से दूसरों से लुटनेवाले आसुरी (राक्षसी) स्वभाव को निकाल सकना असंभव रहेगा। ऐकात्म्य का परिज्ञान ही एक ऐसा व्यावहारिक शान्तिदायक सिद्धांत है, जो मनुष्य को दैवी संपत्ति से संपत्तिमान, सब को आत्मरूप दिखाकर सबसे मनुष्यता से बर्ताव करनेवाला, आत्मसंयमी, जितेंद्रिय, स्वतंत्र, धीर, वीर, क्षमी, उदार, अहिंसक, सहिष्णु, समचित्त, दृढ, आदर्शनिष्ठ, सत्यनिष्ठ, कर्तव्यनिष्ठ विचारशील, तथा कर्मकुशल बना देता है। आत्मदर्शी पुरुष न तो कभी किसीसे बुरा बर्ताव कर सकता है, और न कभी किसीके बुरे बर्तावको सह सकता है। वह जन्ममृत्यु को तो देह का स्वभाव जानकर और भय से न घबराने को अपना (आत्माका) स्वभाव मानकर अनधिकारियों का अदम्य विरोध करने के लिए एक ही क्षण में कटिबद्ध हो जाता है। ऐसे ज्ञानी मनुष्यों से ही किसी देश की सामाजिक स्वतंत्रता की रक्षा होती है।

यदि समाज को स्वतंत्र देखने की इच्छा हो तो

ऐकात्म्य ज्ञान को ही जातीय लक्ष्य घोषित करके सारे समाज का संपूर्ण ध्यान इस ओर खेंच लेना चाहिए। देशको यह बताना चाहिए कि आत्मा का स्थान शरीर से बहुत ऊंचा है। देह नाशवान है, आत्मा अमर है। अमर को तो पतित कर लेना और मरनेवाले को मरने से बचाने की चिन्ता करके कायर बनना मनुष्यका घोर अज्ञान है। संपूर्ण सामाजिक नियम तथा व्यवस्था अध्यात्मवाद को ध्यान में रखकर ही रची जानी चाहिए। यही सामाजिक सुव्यवस्था का मूल मंत्र तथा ध्रुव यंत्र है। समाजव्यवस्था में सबका समान अधिकार होना चाहिए। इसके विपरीत किन्हीं मनुष्यों का अधिकार घटानेवाली तथा किन्हीं का अधिकार बढानेवाली व्यवस्था से पूर्ण असहयोग कर देना चाहिए। दूषित व्यवस्था में असहयोग करनेसे ही सामाजिक स्वतंत्रता की रक्षा होती है।

जो देशसेवक देशमें सच्ची शक्तिको काम में आता हुआ देखना चाहें, उन्हें सबसे प्रथम देश का अज्ञान मिटाना होगा और देश में ज्ञानज्योति फैलानी होगी। मनुष्य का अपने स्वरूप को न जानना ही अज्ञान का मूल रूप है। अज्ञान ही भय का कारण होता है। देशको निर्भय करने के लिए उसे बताना होगा कि आत्मा अमर है। मरना जीना शरीरों का अनिवार्य धर्म है। कौनसी विपरीत घटना कब किस शरीर के सामने आकर खडी हो जायगी, इस बातपर मनुष्य का लेश मात्र भी अधिकार नहीं है।

इसलिए मरना जीना शोककी बात नहीं है। यह तो आत्मा का स्वभाव है। किसी के स्वभावपर रोना, शोक मनाना या मरने से डरकर का-पुरुषों तथा दासों का जीवन बिताना यह सब अज्ञानी पामर लोगों का स्वभाव है। जिस तत्व से मनुष्य बनता है, वह सदासे है और सदा रहेगा। जिस प्रकार देह में कुमारावस्था, यौवन और जरा आती हैं, इसी प्रकार मृत्यु भी आती है। मनुष्यशरीर धारण करनेवाली सत्ता पुराने वस्त्रों के समान पहले देहों को छोडकर नवीन वस्त्रों के समान नये देहों को धारण कर लेती है। मनुष्य को इस अपने निर्माता नियम को जानकर धीर तथा निर्भय रहना चाहिए। धीर रहने का अभिप्राय यह है कि सत्य की सेवा के नाते जीवन में क्रांति या उथलपुथल होने लगे, कष्ट समझी हुई घटनायें आने लगें, तो उनसे घबराना नहीं चाहिए।

अर्थात् मनुष्य को भय के प्रसंगों में भी कर्तव्य-परायण रहना चाहिए।

मनुष्य को अपने आपको इंद्रियों के रूपस्पर्श आदि अनुभवों तक सीमित नहीं रखना चाहिए। मनुष्य को अपने को इंद्रियों के सुखदुःखों के साथ बांधकर नहीं रखना चाहिए। मनुष्य को अपनी मनुष्यता के उस विशाल क्षेत्र को जानना चाहिए। जहां सुखदुःख के प्रश्न नगण्य हो जाते हैं, जहां केवल आत्मसम्मान, आत्मगौरव, आत्मनिष्ठा तथा सत्यकी सेवा काही एकमात्र ध्यान रखना पडता है और शरीर को सेवाग्नि का ईंधन बना देना पडता है। इसके लिए मनुष्य को इंद्रियों की खेंचातानी की उपेक्षा करके अत्याचारियों के गर्जन, तर्जन, वर्षण तथा अशनिसंपात को फूटी आंखों से देखकर अपने मनुष्यता नामके सिंहासन से एक पैर भी नीचे नहीं उतारना चाहिए।

जो पुरुष इंद्रीयोंके सुखदुःखसे तंग नहीं होते, वे धीर हैं। वे अमर हैं। वे साक्षात नारायण हैं। उनके शरीरों में साक्षात परमेश्वर मानवलीला कर रहा है।

मनुष्य को यह जानना चाहिए कि मैं कभी नहीं मरूंगा तथा यह शरीर अमर नहीं है। न तो मनुष्य को अपने मरने का डर होना चाहिए और न मनुष्य को शरीर को अमर रखने की चिन्ता करके किसी अन्याय के नीचे पिसकर मरना चाहिए।

मनुष्य को जानना चाहिए कि मनुष्य बननेवाला सर्वव्यापी आत्मा ही केवल अमर है। वही

अमर आत्मा मनुष्य बना है। वही मैं हूं। इस अमर को मारनेवाली शक्ति संसार में नहीं है।

मनुष्य को जानना चाहिए कि हम सबको हम सबके नित्य अविनाशी, सर्वव्यापी आत्माने अपनी मनुष्यताका आनन्द भोगने के लिए उत्पन्न किया है। उसने केवल कुछ काल के लिए जो अनन्त मानवदेह धारण कर लिए हैं, उन्हीं में से मेरा समझा हुआ यह एक देह भी है। हम सबका अविनाशी आत्मा ही इस देह का मालिक है। इसलिए हमें मरने के भय को त्यागकर असत्य के विरोध की आहुति बन जाना चाहिए। जो इस आत्मा को मरनेवाला मानकर डरते हैं या जो अत्याचारी के मारने को हिंसारूपी अपराध समझ कर इससे घबराते हैं, वे दोनों नहीं जानते कि वे स्वयं क्या हैं? वे सब अज्ञानी हैं। वे दास बनकर संसार में आए हैं और दास रहकर ही यहां से चले जांयगे।

मनुष्य को यह जानना चाहिए कि मैं कोई आज नया नहीं बना हूं या मैं मरकर लुप्त नहीं हो जाऊंगा। मैं तो सदासे हूं सदा रहूंगा। मैं अजन्मा आत्मा हूं। शरीर के टुकडे टुकडे कर दिये जाने पर भी मैं अमर रहूंगा। जो मनुष्य अपने को अविनाशी नित्य अजन्मा अव्यय आत्मा समझ जायेंगे, उन्हें संसार की कोई शक्ति कर्तव्यविमुख नहीं कर सकती। वे मरनेमारने का नाम सुनकर कभी नहीं घबराते। वे रणयात्रा करते समय समझते हैं कि हम अपने सत्यनारायणरूपी आत्मा की आज्ञा से पुराने वस्त्र उतारकर नये वस्त्र पहनने जा रहे हैं। वे मन में यह संतोष लेकर असत्यविरोधी समरयात्रा करते हैं कि हमें कर्तव्यपालन की प्रेरणा देनेवाले हमारे सत्य की पुकार शस्त्रों या भौतिक बलों से नहीं रोकी जा सकती। जबतक हम जियेंगे तब हमारे सत्यकी पुकार रोकी नहीं जा सकती। यह बदली या दबायी नहीं जा सकती।

यदि भारतवासियों को आत्मा का यह स्वरूप भले प्रकार समझा दिया जाय, तो सारा भारत वीरों की सेना बनने में देर न करे और इतने से ही भारतविरोधियों का कलेजा कांप उठे।

भारत की पराधीनता की व्याधि केवल उसका अनुत्साह है। जिस समय ज्ञान के फैलाव से भारत का ३५ करोड मनोबल जागकर खडा होगा, तब ही भारत के अनुत्साह के बादल फटेंगे तब अनधिकारी लोग भारत की तेजोदृप्त आखों के सामने ठहरने का साहस खो बैठेगा। ३५ करोड मनोबल का विरोध सहना अर्थात् किसी जागे हुए राष्ट्र की थाली का टुकडा उठाना साधारण बात नहीं है। आज देश के दुर्भाग्य से देश का आत्मबोध नहीं है। इसी कारण अनधिकारी को विना मूल्य चुकाए विजेताका यश मिला हुआ है। यदि भारत केवल इतनी बात समझ जाय कि मेरे अनुत्साहने ही अनधिकारियों का उत्साह बढा रखा है, तो भारत में स्वराज्य आ गया समझा जायगा।

ज्ञान होने पर ही कर्म में पूर्णता आती है। यदि मनुष्य अज्ञानी रहकर कोई काम करता जाय, तो उसका काम लक्ष्य से चुका रहता है। वह काम सैंकडों वर्षों तक अधूरा रहता चला जाता है। वह अंधेरे में हाथ पैर मारता रहता है।

जिस प्रकार भारत कांग्रेस के भ्रांतमार्ग से गत ५० वर्षों से स्वराज्य के लिए असफल प्रयत्न कर रहा है, वह भारत का अज्ञानपूर्वक किया हुआ काम है। उस काम के नीचे बुनियाद नहीं है। वह कुछ व्याख्याताओं के व्याख्यानों से पैदा की हुई एक निष्फल चर्चा है। परन्तु जब कर्म ज्ञानपूर्वक होता है, अर्थात् कर्म के साथ ज्ञान का सम्बन्ध होता है तब कर्म में एकही क्षण में पूर्णता आ जाती है। सीधी सादी डेढ बात है कि भारत के अज्ञान से भारत बंधा है। अंग्रेजों के आने से भारत नहीं बंधा। भारत बंधने को तैयार बैठा था तब अंग्रेजों को प्रवेश मिला। भारतने अपने अज्ञान से अंग्रेजों

को भारत में ठहराया। भारत के इस बंधन को भारत का आत्मबोध ही काट सकता है। भारत का आत्मबोध ही स्वराज्य की पक्की बुनियाद बनेगा। यदि भारत को आत्मबोध नहीं कराया जायगा, तो स्वराज्य के संपूर्ण प्रयत्न स्वराज्य की दूरी बढाते चले जायंगे।

मनुष्य के भोगासक्ति रहने तक कर्तव्यपालन की अवस्था नहीं आ सकती। भोगासक्त मनुष्य सदा ही कर्तव्य को टालते और अकर्तव्य को अपनाते हैं। भोगबंधन त्यागनेपर ही कर्तव्य के दर्शन होते हैं। तब मनुष्य अपने समझे हुए सब कर्मों को विश्वव्यापी कर्ममें सम्मिलित कर देते हैं। तब मनुष्य केवल अपनी मनुष्यता के दर्शन करने के लिए कर्म करता है। ऐसे पुरुषों की अपनी कहानेवाली कोई आवश्यकता नहीं होती। वे किसी पदार्थ को अपना नहीं मानते। ऐसे पुरुषों को कभी शोक नहीं होता। वे कभी भय या दबाव नहीं मानते। ऐसे पुरुष सृष्टिप्रबंध के दिये हुए काम में सहर्ष सम्मिलित हो जाते हैं। फिर चाहे वह कर्म उनके शरीर का अन्त करनेवाला ही क्यों न हो। वे भयके विषय में पूर्ण रूप से भ्रमशून्य होते हैं।

जब देश इन सब बातों को समझ जायगा तब उसके लिये इन्हें अपने व्यवहार में लाना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जायगा। तब देश को किसी को कर्तव्य बताना नहीं पडेगा। तब देश को कर्तव्य सुझानेवाले व्याख्याताओं (लैक्चरारों) की आवश्यकता न रहेगी। तब देश स्वयं ही अपना नेतृत्व करेगा। देश का विवेक ही देश का नेता बन जायगा और वह देश को असत्य का विरोध करने के लिये घसीटकर युद्धभूमि में ले जाकर खडा कर देगा। जबतक देश को ज्ञानी न बना कर देश में नेताओंके व्याख्यानों का कोलाहल होता रहेगा, तबतक देश सुस्ती करता रहेगा। परंतु अपने अन्दर जागा हुआ विवेक देश को सुस्तीमें नहीं रहने देगा। तब देशमें ज्ञानियों का स्वभाव आ चुका होगा और वह सारे भारत को ३५ करोड मोर्चों के रूप में बदल डालेगा। यही मनोबल भारतीय स्वराज्य की अवस्था बनेगा।

जबतक देश के मन में अपनी ओर से लडने की अन्तःप्रेरणा नहीं उठेगी, तबतक वह किसी के भी बुलाने से संग्रामभूमि में नहीं जायगा। देश कभी किसी के कहने से नहीं लड सकता। देश जब लडेगा तब अपनी ही अन्तःप्रेरणा से लडेगा। देशसे लडने के लिए कहना सर्वथा बेकार है।

मनुष्य ज्ञान से युद्ध करता है और अज्ञान से युद्धविमुख होता है। जिसे युद्धमग्न देखना चाहो, उससे युद्ध करने को न कहकर युद्ध की कर्तव्यता के विषय का ज्ञान दो। ज्ञान उसे अपने आप लडाकर छोडेगा। इस सम्बन्ध में देशसेवकों का केवल यह कर्तव्य है कि वे देश की मानसिक सेवा करें। उन्हें देश के सामने वे सारी सचाइयां खोलकर रख देनी चाहिएं जो मनुष्यमें आग फूंक देती हैं और क्षणभरमें मनुष्य को युद्धोद्यत कर डालती हैं। आज भारत को लडने की अन्तःप्रेरणा देनेवाली सेवा की परम आवश्यकता है। जिस समय देश का अपना अपना ज्ञान देश की स्वतंत्रता के लिए लडने को विवश करने लगे तब सेवा को पूरा हुआ समझना चाहिए। यही वही समय होगा, जब देशको लडने के लिए कहना नहीं पडेगा। तब देश युद्धार्थी, युद्धप्रिय, युद्धमग्न और युद्धविजयी होगा।

जब भारत ज्ञानपूर्वक स्वराज्य का काम हाथ में लेगा तब भारत को विगत युद्ध के समान अपना विरोध रोकना नहीं पडेगा। क्योंकि तब भारत के कर्म के साथ ज्ञान का अटूट सम्बन्ध जुड चुका होगा। तबही भारत निष्पाप होकर चमकेगा। तब भारत अज्ञानरूपी महाभय से बच जायगा और निर्भय स्थिति में रहकर सम्मान से दिन बितायगा।

ज्ञानका मार्ग ऐसा मार्ग है कि इसमें मनुष्य अपने अन्तर्नाद के ऊपर एक पक्का निश्चय कर लेता है। फिर वह उसे बदलना छोड देता है। फिर वह आगामी छान देखकर उसी निश्चय का उपासक, सेवक तथा भक्त बन जाता है। फिर संसार की बडी से बडी राक्षसी शक्ति उस ज्ञानी का निश्चित किया हुआ मार्ग छुडाने में बुरी तरह हारती है। फिर सुखदुःखों के सारे उतारचढाव उसे उसके निश्चित मार्ग से विचलित करने में असमर्थ हो जाते हैं। ज्ञानी भौतिक सुख नहीं चाहता। वह केवल अपना कर्तव्यपालन चाहता है।

परंतु अज्ञान से कर्म करनेवाले मनुष्य सदा अनिश्चयात्मक होते हैं। वे कभी किसी के कहने से युद्ध जैसा निश्चयात्मक काम नहीं कर सकते। उनकी बुद्धि चंचल होती है। कारण यह होता है कि वे चंचल भौतिक सुखों के भिखारी होते हैं। वे अस्थिर पदार्थों में से सुख ढूंढते हैं। इस लिए सदा अस्थिर रहते हैं। वे सदा अभाव और आवश्यकताओं से सताए जाते रहते हैं। वे संग्रामक्षेत्र में भी अपनी सुखसुविधाओं का मोलतोल करके संग्राम हार कर आते हैं। वे जो चाहते हैं, वह उनके पास नहीं है। जो उनके पास नहीं है, उसी को वे चाहते हैं। वे सम्मान, स्वाभिमान, गौरव, तथा मनुष्यता के अमर आनंद को नहीं पहचानते। वे भौतिक सुख को ही अहो भाग्य मानते हैं। वे जन्मभर आय बढाने के उपायों में लगे रहते हैं। वे सम्मानरक्षा के समय भी आय बढाना चाहते हैं। वे आय बढानेवाली बातों के पीछे भेडों के समान दौडते हैं। वे भोगों के पीछे पडकर चित्त को डावां डोल कर देते हैं।

जबतक मनुष्यजाति अपने स्वरूप को नहीं समझेगी तब भोगों के ऊपर जान देना और सम्मान खोना नहीं छोडेगी। जब वह ज्ञानी हो जायगी तब उसे भौतिक सुखों की चिंता छोड देनी पडेगी, तथा मानसिक शांति पाने में ही जीवन की सफलता का मार्ग पा जायगी। वह फिर सुखदुखातीत निष्काम तथा पूर्णता की अवस्था में चली जायगी।

जब देश में ज्ञान की बाढ आयेगी, तब संगठनी उपदेशों की आवश्यकता हट जायगी। तब देश की आंख खुलेगी और आंख खोलकर कर्म करना अनिवार्य बन चुकेगा। तब सब अपना अपना अधिकार रखाना सीख जांयगे। तब कोई न तो अपने अधिकार से बाहर जायगा और न किसी को अपने अधिकार की सीमा में आने देगा। तब सब देशवासी कर्तव्यकर्म की पूज्यता को समझेंगे। देशमें से फल का लालच हट चुका होगा। तब भारतवासी मनुष्य देखेगा कि मैं तो भारतीय स्वतंत्रता की सेवा के लिए पैदा किया गया हूं। मेरा अपने को पराधीन रहने में सुखी मानने का कोई अधिकार नहीं है। तब स्वतंत्रता के मार्ग में आनेवाले कष्ट स्वतंत्रता के ही उत्तेजक बन जांयगे। तब देश में फललोभियों का बोलबाला न रहकर कर्तव्य के सेवकों का बोलबाला हो जायगा। देशका प्रबन्ध कर्तव्यपालनार्थी उस नम्र सेवकों के हाथों में होगा, जो कि देशसेवा करके अपनी मनुष्यता की आराधना कर रहे होंगे। तब कोई भी फललोभी होकर कर्तव्य से बचनेवाला न रहेगा।

मनुष्य को भौतिक विजय के लिए स्वराज्य-संग्राम छेडने की भूल न करनी चाहिए। उसे तो भौतिक सिद्धि-असिद्धि को सम मानकर और दोनों को देखने के लिए पूर्ण तत्पर रहकर कर्तव्य-कर्म करना चाहिए। मनुष्य को अज्ञानपूर्वक कर्म न करना चाहिए। अज्ञानपूर्वक कर्म करना मनुष्य की मृत्यु है। परंतु जबतक मनुष्य बुद्धि (ज्ञान) की शरण में नहीं जायगा, अर्थात् जब तक कर्म करते हुए फलाशा रखना नहीं छोडेगा, तबतक विषयासक्त रहेगा, फलाशा से कर्म करेगा और उलटे उलटे काम करता रहेगा।

मनुष्य अज्ञान में फँसकर उन्मार्गगामी हो जाता है। मनुष्य को जानना चाहिए कि इस सृष्टि की एक व्यवस्था है। वह सदा से होती चली आ रही है और सदा होती चली जायगी। जब मनुष्य नहीं था तब भी यह व्यवस्था थी। जब मनुष्य नहीं रहेगा, तब भी यह व्यवस्था रहेगी। इस सृष्टि-व्यवस्था में कर्मों की माला घूम रही हैं। कभी कुछ होता है और कभी कुछ होता है। अचिंतित भाव से ऐसे ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं कि, मनुष्य अवाक् रह जाता है। तब मनुष्य को अपना अकर्तापन और सृष्टिव्यवस्था का अचिन्त्यपना ध्यान में आता है। मनुष्य देखता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। सृष्टिव्यवस्था अपने आप सब कुछ कर रही है। मनुष्यजीवन भी सृष्टि की कर्ममाला में का एक कर्म है। मनुष्यशरीर से होनेवाले कर्म भी इसकी कर्ममाला के कर्म हैं। मनुष्य को कर्म का यह स्वरूप पहचानकर निष्कामभाव से कर्म करना चाहिए।

ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले का निष्काम होना अनिवार्य है। ज्ञानी जन्ममरण, हानिलाभ आदि को भी सृष्टिका कर्म मानता है। ज्ञानी होते ही मनुष्य के मंगतापन का अन्त हो जाता है। वह ईश्वर से भी मांगना छोड देता है। वह कहता है हे ईश्वर! तुम चाहे जितने बडे ईश्वर हो, मुझे तुम से कोई आवश्यकता नहीं है। मैं अपने पुरुषार्थरूपी ईश्वर की शरण में हूं। मेरा पुरुषार्थरूपी ईश्वर मुझे जो देता है, वही मेरे लिए पर्याप्त है। इसी मनोदशावाले पुरुष को ज्ञानी कहा जाता है। ज्ञानी पुरुष को स्वतंत्रता के सम्बंध में व्याख्यान सुनना अनावश्यक हो जाता है। वह किसी व्याख्यानका अंधश्रद्धालु नहीं रहता। उसका ज्ञान कानों से होकर भीतर नहीं आता। उसका ज्ञान का झरना उसीके हृदय में लहर मारता रहता है। वही ज्ञानी का शासक और राजा है। इसके राज्य में रहना ही ज्ञानी का स्वराज्य है।

सुनी सुनाई बातें मनुष्य की बुद्धि को बहक में डाल देती हैं। वह कुछ निर्णय करने में असमर्थ बन जाता है। ज्ञान न होने तक मनुष्य प्रतिकूल अवस्थाओं से तथा उनकी संभावनासे भी घबरा उठता है। ज्ञान आते ही घबराने की अवस्था कूच कर जाती है। संसार का कोई भी लोभ उसका स्वीकृत मार्ग नहीं छुडा सकता। जबतक देशमें इस प्रकार की स्थिर बुद्धि नहीं जगायी जायगी, तबतक भारत का स्वराज्य स्वप्नराज्य बना रहेगा।

आज देश में स्थितप्रज्ञ अर्थात् अपनी बातपर स्वाभिमानपर या सत्यपर डटनेवाले लोगों को उत्पन्न करने की आवश्यकता है। सत्यपर वही मनुष्य डट सकता है, जो सत्य की तुलनामें अपनी संपूर्ण सांसारिक अभिलाषाओं को उठाकर ताकपर रखने में देर नहीं करता; जो केवल स्वाभिमान से तृप्त रहना जानता है; जो दुःखों के ईश्वरीय नियम से नहीं घबराता और अपने पास न आनेवाले भौतिक सुख के लिये लालायित नहीं रहता, जो राग, भय या क्रोध से चंचल नहीं होता, जो न अच्छे का अभिनंदन करता है और न बुरेसे घबराता है, जो अपने आपको सांसारिक खिंचावसे कछवे के समान सकोडकर अपने ऊपर पूर्ण शासन तथा सुदृढ नियन्त्रण रखता है; जिसकी सब इंद्रियां, जिसकी गौरवरक्षा में ही प्रयुक्त हो सकती हैं, जो रागद्वेषहीन होकर संसार के सब काम करता है। ऐसा मनुष्य जीवनभर केवल आनंद ही आनंद भोगता है। मौत का भय भी उसके पास निरानंद अवस्था नहीं ला सकता। वह कभी दुखी नहीं होता। उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

आत्मनिष्ठ होना ही शांति तथा आनंद का स्वरूप है। मनुष्य को आत्मबोध हुए बिना शांति तथा सुख प्राप्त नहीं होता। क्योंकि तबतक मनुष्य को सदसद का विचार करनेवाली कसौटी नहीं मिलती। इसीसे वह इंद्रियों का दास बनकर भोगों के पीछे दौडता है। वह विवश होकर भोगी, अशांत तथा दुःखी बना रहता है।

मनुष्य की इंद्रियां सब प्रकार से निगृहीत और संयत रहें, यही बुद्धि की स्थिरता का स्वरूप है। यदि इंद्रियां निगृहीत नहीं, तो मनुष्य कब कौनसी भूलकर बैठेगा ? इसका कोई ठिकाना नहीं रहता। आत्मनिष्ठ होनेपर इंद्रियां स्वभावसे मनुष्यता की सेवा करनेवाली बन जाती है। आत्माअनात्मा का विचार करके विषयों में अनासक्त रहना ही स्थिर बुद्धि का स्वरूप है।

ज्ञानियों तथा अज्ञानियों के विचारों की कसौटी एक दूसरे से सर्वथा विपरीत होती हैं। दोनों की दृष्टि में उल्लू तथा कव्वे के रातदिन का सा महान भेद रहता है। जिस प्रकार उल्लू का दिन कव्वे की रात तथा उल्लू की रात कव्वे का दिन होता है, इसी प्रकार जिस बातको ज्ञानी अच्छा समझता है। अज्ञानी उस बातको पागलपन कहता है। वह उससे सर्वथा विपरीत परिस्थिति को अच्छा समझकर उसमें लिपटा रहने में अहोभाग्य मानता है। ज्ञानी मानसिक उत्थान, पतन के दृष्टिकोणसे अपना कर्तव्यमार्ग बनाता है। अज्ञानी सत को ताकपर रखकर कर्तव्य को संसारी लाभहानि की दृष्टि से सोचता है।

वह सदा अस्थिर विषयों में सुख ढूंढकर चंचल, अस्थिर अपमानित और पददलित जीवन काटता हैं। ज्ञानी इंद्रियनिग्रह में कल्याण तथा इंद्रियों के बंधनमें आने को दुःख मानता है। अज्ञानी इंद्रियों के बंधन में रहने को सुख मानता है और इंद्रियनिग्रह में सुख का अभाव देखकर उसे दुःखदायी मानता है। ज्ञानी अपने आत्मा को जानकर पहले से ही तृप्त अवस्था में रहकर दूसरों से व्यवहार करता है। वह जीवन की प्रत्येक चेष्टा में आनंद भोगता है। उसे कभी सुखसे पृथक् नहीं किया जा सकता। अज्ञानी अप्राप्त सुखों के पीछे दौड दौडकर सुखकी दूरी बढाता रहता है। ज्ञानी वह समुद्र है, जिसमें सारी सांसारिक इच्छायें आकर डूब मरी हैं। उसके मन में सदा शांति बसती है। में मेरा तथा मेरी आवश्यकता का होना ही संसार का बंधन है।

यही अशांति है। इनसे विपरीत मैं कुछ नहीं, मेरा कुछ नहीं, मेरी कोई आवश्यकता नहीं, सत्य ही सब कुछ है। उसीका सब कुछ है, उसीकी सब आवश्यकता हैं, यह मान लेना ही शांति है। सुख-दुःख को सम मानना, किसीको अपना न कहना, किसी भौतिक फल के नामपर कोई कामना छोडकर कर्तव्य के ऊंचे दृष्टिकोण से काम करना यही मनुष्यजीवन की सफलता है। यही स्थिर बुद्धि का स्वरूप है। इसीको ब्राह्मी स्थिति कहा जाता है। यही सफलता की ऐसी कुंजी है, जो सदा मनुष्यकी मुट्ठी में रहती है।

संसार मनुष्यों का यात्रीगृह (मुसाफिरखाना) है। इसमें आकर मनुष्य जहां से आया है, वहां जाने के काल की प्रतीक्षा करता रहता है। मनुष्य का संपूर्ण जीवन अन्तकाल की प्रतीक्षा है। ज्ञानी मनुष्य इस बात को जानता है। वह अपने को प्रत्येक क्षण ज्ञान की मौत मारता रहता है।

इस स्थिति को पा चुका हुआ मनुष्य विषयासक्त नहीं हो सकता। इसे पानेवाला मनुष्य जल्लादोंकी तलवारों के सामने भी भौतिक सुख तथा स्वाभिमान इन दोनों में से स्वाभिमान को वर कर मौत तकको चूमने को तत्पर रहता है। स्थिरबुद्धि ज्ञानी प्रथम ही अपने आपको ज्ञान की मौत मार चुकता है। उसे कोई क्या मारेगा? वह प्रत्येक क्षण अपने आप ही अपने को शरीर से पृथक् अनादि पुरुष के अशरीरी रूप में पहचानता रहता है। वह शरीर से धरती पर दीखता है, परंतु मन से त्रिलोकी में जगदात्मारूप से व्याप्त रहता है। उसे कोई क्या मारेगा? सत्यरक्षा के समय होनेवाली ऐसे पुरुषों के शरीर की मौत त्रिलोकी को कंपा डालती है।

जिस समय ऐसे सत्यनिष्ठ वीरों के अन्तिम श्वास किसी सत्य की रक्षा के लिए असत्य से युद्ध करते हुए शरीर को त्यागते हैं, तब उन वीरों

का सत्य के प्रति आत्मसमर्पण देशों में चेतना की बिजली दौडा देता है। सत्यनिष्ठों की सत्यनिष्ठा का यही स्वरूप है कि जब वे किसी काम को सत्य समझ लेते हैं तब फल की ओर न देखकर उस सत्य की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। जब ऐसे नित्यमुक्त पुरुष भारत की स्वतंत्रता के सैनिक बनेंगे तब स्वराज्य को भारत के चरणों में लोटना पडेगा।

स्वराज्य का एक प्राचीन उदाहरण।

यदि इतिहास का कोई लाभ है, तो अधिकारापहारी से अपना अधिकार लौटाने के लिए भारत अपने अतीतमें महाभारत में जो एक सफल उपाय कर चुका है, हम लोग वर्तमान में उससे लाभ क्यों न उठाएं? और नये नये वृथा परीक्षण क्यों करते फिरें? अर्जुन अपना अधिकार लौटने में आना कानी कर रहा था। वह हिंसा-अहिंसा आदि वृथा विवादोंमें पडकर कर्तव्य करने के बहाने ढूंढ रहा था। क्योंकि वह यह नहीं समझ रहा था कि मैं कौन हूं? मेरा क्या स्वरूप है? क्या कर्तव्य है? मुझे बनाने बिगाडनेवाला सृष्टिनियम क्या है? कर्तव्य कहां से और क्यों आता है? मनुष्य का कर्तव्य से क्या सम्बंध है? तथा उसका कर्तव्य के विषय में क्या अधिकार है? इन सब बातों को न समझ कर ही तो वह भीख मांगने में सुखी जीवन समझ रहा था। जिस प्रकार आज भारत स्वतंत्रता के संकट से डरकर इंग्लैंड की कृपापर निर्भर हो रहा है। परन्तु ज्ञान की अवस्था आते ही वह अपने स्वरूपको, कर्तव्य को सृष्टिनियम को उसके भेजे अटल कर्तव्य को, कर्तव्य से अपने सम्बंध को तथा कर्तव्य के विषय में अपने अधिकार को समझ गया और पूरा क्रूरकर्मा बनकर संहारलीला में जुट पडा। अज्ञानी रहने तक शत्रुसंहार से बचते फिरना, बहाने बनाते फिरना और ज्ञानी होते ही आगापीछा देखना छोडकर शत्रुसंहार करने लगना यही महाभारत से सीखनेयोग्य ज्ञान की महत्ता का पाठ है।

जबतक देश इन सब बातों को भले प्रकार नहीं समझेगा तबतक किसी के कहने से किसी के झुंड में भरती नहीं होगा। तबतक वह स्वराज्य को भी भीख मांगने की वस्तु बनाए रहेगा और अर्जुन के समान भिक्षाजीवन में ही सौभाग्य या मिठास ढूंढता रहेगा। परन्तु जब देश को ज्ञानी बना दिया जायगा, तब देश की आवश्यकता के समय बडी से बडी सेनाएं अपने आप संगठित हो जाया करेंगी। तब भारत को नौकर, सैनिकों की आवश्यकता न रहेगी। तब तो अजेय वीर स्वयंसेवक ही भारत की वीर सेना बनकर देश का कलंक छोडा लेंगे। इसलिए भारत के देशसेवकों को भारत के सामने ज्ञान की सब अवस्थायें खोलकर रख देनी चाहिएं। जिनको देख कर भारत के कोटि कोटि कंठ एक स्वर में अपनी ही ओर से सिंहगर्जन करने लगें कि अब हमपर हमारा ही अधिकार है। अब संसार की कोई शक्ति हमारे मनोंपर शासन नहीं कर सकती, अब संसार की कोई शक्ति हमसे अपनी आज्ञा नहीं मनवा सकती, अब हम कर्तव्यबुद्धि से भारतीय स्वराज्य की सेवा करना अपना परम सौभाग्य मानेंगे।

यदि देश से भय का भूत भगाना हो, तो उसे डरो मत के व्याख्यान न सुनाकर उसे उस आत्मशक्ति का पता दे दो, जिस आत्मशक्तिने हमारे देशसेवकों को निर्भय बनाया है। जिस शक्ति से देशसेवक लोग शक्तिमान बने हैं, वही ज्ञान शक्ति सारे देश में बांटने का प्रबंध हो, तो देशभय के आंतकसे स्वयमेव बच जाय। डरो मत के लैक्चरों से भय का भूत देश को छोडकर कदापि नहीं भागेगा। इस से तो डरानेवाली शक्ति की कल्पना दृढ होती चली जायगी। देशव्यापी आत्मबोधही भय आदि संपूर्ण संभावित निर्बलताओं को धक्का देकर देशसे बाहर कर देगा और स्वराज्य को बुला लायगा।

अध्यात्मवाद से स्वतंत्रता।

कुछ लोग भौतिक उन्नतिशील नास्तिक देशोंका उदाहरण देकर भारतीय स्वतंत्रता के लिए इन सब आध्यत्मिक चर्चाओं को बहिष्कृत रखने के पक्षपाती हैं। वे स्वतंत्रता में से ईश्वर को भी बाहर रखना चाहते हैं। यह उनकी बडी भारी भूल है। वे आध्यात्मिकता तथा ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को न समझकर उसका निषेध करते हैं। उन्हें चाहिए कि वे आध्यत्मिकता तथा ईश्वर के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करें। ईश्वर तथा मनुष्य की मनुष्यता दोनों एक वस्तु हैं। इन दोनों की एकता को पहचान चुकना ही अध्यात्मवाद है। मनुष्यतारूपी प्रभु ही मनुष्य का आराध्य ईश्वर है। ईश्वर का निषेध करना अपनी मनुष्यता का निषेध करना है। इस सृष्टिका जो सार है, वही ईश्वर है। जिस प्रकार सूर्य का तेज पवन की गति तथा जल की शीतता ईश्वर है, इसी प्रकार मनुष्य की मनुष्यताही उसका ईश्वर है। मनुष्य की अपनी मनुष्यता से पृथक् तटस्थ शासक के रूप में ईश्वरीय सत्ता कहीं भी नहीं है। ईश्वरही मनुष्यों के शरीरों में मनुष्यता के रूप में आत्मानंद ले रहा है। इसलिए भारतीय स्वतंत्रता में से ईश्वर या अध्यात्म का बहिष्कार करना अपने घोर अज्ञान तथा अपने स्वतंत्र बनने की अयोग्यता की सूचना देना है। भारतीय स्वतंत्रताका अन्तिम लक्ष्य नर को नारायण विश्वका सम्राट् तक बना देना है।

देशसेवकों का सेव्य समाज।

देशसेवकों को अपनी कल्पना में एक आदर्श समाज बना लेना चाहिए। और फिर सारे समाज को वैसा उसी सांचेमें ढालनेके प्रयत्नमें लग जाना चाहिए। हमें मूर्ख, स्वार्थी समाज की सेवा नहीं करनी है। अर्थात् देशका लोभ बढानेवाले व्यवसायों में सहायता नहीं देती है। हम तो अपनी कल्पनाके आदर्श समाज की सेवा करेंगे। हमें तो केवल देश मनोबल या चरित्रबल बढाने की ओर अर्थात् इसे जगानेकी ओर ध्यान देना है।

आज भारतीय राष्ट्र को पेट के छके हुए और कपडों से ढके हुए मनुष्यों की आवश्यकता नहीं है, ऐसे तो भारत में अब भी करोडों भरे पडे हैं। ऐसे लोग स्वतंत्रता की सेवा नहीं कर सकते। हमें तो मन के छके हुए ऐसे अजेय वीरों की आवश्यकता है। जो प्रलयोत्पातों के सामने भी अपने सिद्धांतोंपर डटे रह सकें। हमें तो लाखों और करोडोंके लाखपने और करोडपनेकी उपेक्षा करके अपने पक्षको अकेले भी संमुख रखनेवाले मनोबली लोगों की आवश्यकता है। हम तो देश में ऐसे मनुष्य बढाना चाहते हैं, जो दूसरों को अपना अधिकार न खाने दें, जो प्रतिकूल अवस्थाओंकी उपेक्षा करने का अदम्य, अत्याज्य साहस रखते हों, जो जीवन के साधनों को सत्य की पुकार आते ही लात मारकर घरसे बाहर निकलकर सामाजिक क्षेत्र में डटकर खडे रह सकते हों, जो ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले हों, जो दूसरों का अधिकार न खाना, न चाहते हों, जो असत्य विरोध में किसी से न दबाए जा सकते हों, जो केवल कर्तव्यबुद्धि से विरोधी अवस्थाओं का प्रतिकार करते हों, जिन्हें अपनी आत्मशक्तिपर दृढ विश्वास हो, जिनका मन तथा व्यवहार दोनों शुद्ध हों, जो कभी सत्य का विरोध न सह सकते हों। यदि देशसेवकों की सेवा के परिणाम के रूप में देश में ऐसे मनुष्यों की संख्या बढ जाय तो देश में स्वराज्य को आना पडेगा। यदि देश ज्ञानी हो जायगा, तो वह स्वयं ही ईश्वर का सैनिक हो जायगा। तब संसार की कोई भी शक्ति देशको पराधीन नहीं रख सकती।

(क्रमशः)

विचारमहत्त्व।

(लेखांक ३ ×)

(लेखक- श्री० रामचन्द्रजी, रिटायर्ड हेडमास्तर, अम्बाला शहर)

पिछले लेखमें जो कि 'वैदिक धर्म' बाबत मार्गशीर्ष १९९५ के पृष्ठ ८९१ में छपा है, यह दर्शाने का प्रयत्न किया था कि विचारस्पन्दन के कौन कौन से नियम हैं और वह किस तरह मनुष्य के लिए उपयोगी हो सकते हैं। इस लेख में हम कुछ और आवश्यक नियम इस सम्बन्ध में लिखते हैं।

किसी पिछले लेखमें हमने यह कहा था कि, विचारों का रंग और रूप भी होता है। आज हम पहिले इस ही के सम्बन्ध में कुछ लिखते हैं-

विचार की आकृति का रंग उसके गुणानुसार और उसकी प्रकृति उसकी जातिके अनुसार और उसका मूर्त स्वरूप उसके स्पष्टता के अनुसार होते हैं।

१. स्वार्थी, लोभी विचारों की आकृति तीखी शेर के मूंछ के बाल जैसी होती है, जिसपर काले नीले रंग के धब्बे होते हैं।

२. क्रोधी, असूयायुक्त विचार काले बादल के समान जिसमें क्रोध के परमाणु विद्युत्कण के समान चमकते हैं।

३. द्वेषी, विरोधी, बदला लेनेवाले विचार काले सर्प के समान होते हैं।

४. विषयवासनायुक्त- सडे हुए मांस के समान क्षण क्षण में रंग बदलनेवाले।

५. भयभीत विचार- सिंहाकार और अति चंचल होते हैं।

६. क्रोधयुक्त और बदला लेनेको तत्पर विचार काले धब्बावाले, काले बादल के समान दीखते हैं। इत्यादि-

शुभ विचारों की आकृति-

१. स्वार्थत्यागी विचारों की आकृति प्रफुल्लित कमलपुष्पके समान सुन्दर ठीक असमानी या कृष्ण के रंग की होती है।

२. प्रेम, शक्ति, अभय, परोपकारी विचारों की आकृति मनोहर गुलाब के फूलके पत्रों के समान होती हैं, जिसपर तेजस्वी सुंदर पीले छींटे पडे होते हैं।

३. मैत्री, प्रेम, वात्सल्यवाले विचार किरमजी रंगके कुंडलाकार; उस व्यक्ति के गिर्द घूमते दीखते हैं, जिसके साथ प्रेम किया जाता है।

४. मैत्री करुणामयी अथवा आशीर्वादयुक्त प्रेम के विचार गुलाबी या लाल चन्दन के समान आकृति रखते हैं। और प्रेमपात्र के पास दौडते हुए जाते हैं।

५. बुद्धियुक्त विचारों की आकृति मन्द या तीव्र पीला रंग रखती है।

६. धार्मिक विचारों का आसमानी रंग होता है।

७. प्रेमभक्तियुक्त विचार नीले कृष्ण रंग के होते हैं। एवं मिश्रित विचार जैसे मैत्री, करुणा, वात्सल्यादि भावोंके विचारों की आकृति गुलाबी; अभिमानादि प्रशंसात्मक विचार नारंजी रंग के; सर्वत्र अनुकूलतायुक्त विचार हरे रंग के; ईर्षा, द्वेष, भययुक्त विचार काले रंग में आच्छादित होते हैं। एवं विषयवासना के विचार रजोगुणीत अत्यन्त होने से लाल रंग में, लोभ तृष्णा के विचार बादामी रंग के या भूरे रंग के दीखते हैं।

दैवी जीवन के विचार प्रकाशमय होते हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि हमें यह विचारों के रंग क्यों नहीं दीखते। इसका कारण यह है कि हमें आकाश शून्य दीखता है, परन्तु यह शून्य नहीं है। वहां कणभर भी शून्यता नहीं है। सर्वत्र चेतनतत्त्व भरा हुआ है। विचारों के अनुसार चिदाकाश के

× द्वितीय लेख 'वैदिक धर्म' क्रमांक २२८ पृ० ८९१ पर देखो।

पर प्रमाणु संकोच या विकासको पाते हैं। जैसे बीज में वृक्ष बनने की शक्ति छिपी रहती हैं और दृष्टिगोचर नहीं होती, इसी तरह विचारपरिवर्तन-शक्ति भी परोक्ष है। परन्तु अभ्यासगम्य है। अभ्याससे दिव्य दृष्टि और दिव्य ज्ञान उत्पन्न होकर यह सब परोक्ष वृत्त प्रत्यक्ष हो सकते हैं।

यहां फिर वादी प्रश्न कर सकता है कि इसकी प्रत्यक्षता में क्या प्रमाण है। प्रथम तो उपनिषद् का प्रमाण है। देखो बृहदारण्यकोपनिषत् अध्याय २' ब्राह्मण ३, ६ ठा मन्त्र—

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं। यथा महारजनं वासो यथा पांड्वाविकं, यथेन्द्रगोपो, यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं, यथासकृद् विद्युत्तम्।

इसका तात्पर्य यह है कि स्थूल शरीर के गिर्द एक सूक्ष्म परमाणुवों का जल होता है, जो पुरुषाकार अर्थात् शरीराकार ही होता है। यह मनुष्य के विचारास्पन्दन मानो एक जाल है और उसका रंग, रूप विचारों के अनुकूल रंगबेरंग कपडे, इन्द्रगोप, या अग्निज्वाला, या पुण्डरीक या विद्युत् की चमकादि की तरह होता है।

यह केवल निर्देशमात्र ही दिया है। अर्थात् इस शरीरस्थ पुरुष के रंग उसके विचारवृत्तिके अनुकूल ही बदलते रहते हैं। योगदर्शन में भी 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इस सूत्र में यही बताया है कि द्रष्टा का रूप मनोवृत्तियों के अनुसार ही बदलता रहता है। वृत्तियों के शान्त होनेपर ही वह अपने स्वरूप में आता है।

द्वितीय Mr. W. J. Kilner, B. A. M. B. of St. Thomas Hospital, London ने aura अर्थात् विचारस्पन्दनका scientific analysis (वैज्ञानिक पृथक्करण) किया है। उनकी पुस्तक Human atmosphere नामी को आप देखें। ऐसे ही डॉ० पेट्रिक ओडानेल ने जो अमेरीका देशका है, एक यन्त्र द्वारा ऐसा तजरबा किया है और यह भी सिद्ध किया है कि मृत शरीर के गिर्द प्राण निकल आने के बाद ही यह विचारस्पन्दन आकृति नष्ट हो जाती है। जैसे फूल के गिर्द उसकी गन्ध विस्तृत होती है, यद्यपि वह दीखती नहीं, केवल घ्राणशक्तिद्वारा अनुभूत होती है, इसी तरह मनुष्यशरीर के गिर्द विचारों का जाल बिछा हुआ रहता है। यह मनुष्य के दिमाग से प्रतिक्षण निकलनेवाले विचारों के अत्यन्त सूक्ष्म रजकणों का द्रव्यांश है। इन द्रव्यांशा के भिन्न भिन्न रंग हैं। जो योगदृष्टि द्वारा द्रष्टव्य हैं। Dr. Baruduc of Paris एक दिन किसी फोटो की प्लेट को धो रहे थे। प्लेट पर उनको एक धुंधला चित्र दीख पडा। अनुसन्धान करने से ज्ञात हुआ कि, यह डाक्टरसाहिब के विचारों का चित्र है, होते होते उन्होंने सिद्ध किया कि विचारों की आकृति होती है।

इसी प्रकार एक और पाश्चात्य वैज्ञानिकने एक मापसे भरे हुए कमरे में मनुष्योंको कुछ देर बिठाकर उनके शरीर के पसीने की रासायिनिक परीक्षा की। जिस से ज्ञात हुआ कि अमुक अमुक मनुष्य क्रोधी है, इत्यादि। यही बात उन मनुष्यों की मुखाकृति की परीक्षा से भी जान पडी है।

Professor Eelmer Gates of Washington ने भी यही बात एक और प्रकार से सिद्ध किया है। उन्होंने एक शोकग्रस्त मनुष्यका श्वास लेकर उसको एक कांच की ठंडी नली में भरकर Analyse किया और उसका रंगरूप देखा। तथा एक परोपकारी पुण्यशील के श्वास का घन तत्त्व एक सूअर के शरीर में डालने से उस को कुछ हानि नहीं हुई। परन्तु एक दुराचारी मनुष्य के श्वास के घनतत्त्व उसी सुअरके शरीर में डालने से वह तुरन्त मर गया।

इन सब बातों से यही निश्चित होता है कि विचार कोई खाली हवाई चीज नहीं, अपितु एक द्रव्यात्मक वस्तु है। जिसकी आकृति, रंग और रूपादि सभी कुछ है। पहिले हम यह कह आए कि विचार स्पन्दनात्मक हैं, अर्थात् मानसिक तालाव में लहरें ही हैं। परन्तु यह लहरें किस तरह उठती हैं, किस

तरह यह नाद का रूप धारण करती हैं, क्या क्या आकृति इनकी होती हैं, इत्यादि, यह भी जानना कुछ अनुपयुक्त न होगा।

अतः हम इसपर भी कुछ थोडासा विचार करते हैं। न केवल विचार ही स्पन्दनात्मक हैं। अपितु सकल दृश्यादृश्य सृष्टि ही स्पन्दनात्मक है। प्रथम स्पन्दन प्रजापति के अव्यक्त समुद्र में उठा 'एकोऽहं बहुस्याम्,' यह लहर उत्पन्न हुई। यह लहर 'परा' भूमि की लहर है। फिर उसने सोचा अर्थात् वृद्धि, शक्ति में हलोर या लहर का पहुंचाया तब 'स तपोऽतप्यत' उसने विचार किया, यह 'पश्यन्ति' भूमि की लहर है। इसमें और परा में यह भेद है कि परा में शब्द और उसके अर्थ अभिन्न तथा अस्पष्ट हैं। पश्यन्ती में शब्द और अर्थ में कुछ स्पष्टता आ जाती है। फिर यही स्पन्दन मानसिक समुद्र में पहुंचते हैं और 'स तपस्तप्त्वा मिथुनं उत्पादयते' का रूप धारण करते हैं। अर्थात् वह विचार करके एक मिथुन का (Combination of two forces) को उत्पन्न करता है, अर्थात् मिथुन का रूप धारण करता है। फिर यह स्पन्दन और आगे बढकर, घनित होकर स्थूलता को प्राप्त होता है।

यह उसका 'वैखरी' रूप है, अर्थात् अब यह स्पष्टतया 'रयि' और 'प्राण' के विविध मिथुन (Combination) बनकर परमाणु से लेकर सूर्य-पर्यंत नाना रूपों में विस्तृत हो जाता है। यही बात आजकल के वैज्ञानिक भी कहते हैं कि, इस प्राकृतिक सृष्टि के मूलमें दो स्पन्दन हैं, जिनको वह Positive और Negative या Objective कार्यात्मिक और Subjective या क्रियात्मक कहते हैं। और इन दोनों को केन्द्र एक मानते हैं, जिसको Mr. Wallace और हर्बर्ट स्पेन्सरादि वैज्ञानिक Divine Fire (दिव्याग्नि) कहते हैं। यह दिव्याग्नि शायद वही है, जिसको वेदों में 'हिरण्यगर्भ' कहा है।

जो बात ऊपर समष्टिजगत् में कही है, वही व्यष्टिजगत् में भी है। जो विचार-स्फुरण, विज्ञान-घन तत्त्व में 'एकोऽहं बहु स्याम' के रूपमें उठा था और जो स्वाभाविक सहज समुद्भूता शक्ति है, वहां प्रत्येक शरीर के कण कण (Cell) में व्यापक है। यह स्पन्दन अर्थात् विचारान्दोलन (Thought vibration) कारण रूप हो के जिन जिन कार्यों में अर्थात् महत्, अहंकार, पंच तन्मात्रादि द्रव्यों में प्रवेश करता है, उन्हें विशेष रूपों में प्रकाशित करता है। यही स्पन्दन वर्णात्मक वाणी का मूल है। वाणी या वाक् तथा विचार बाहर से ही पृथक् दीखते हैं, वास्तव में यह एकही हैं; उपनिषदों * में कई स्थलों में वाक् या विचार एकही वस्तु मानी है। आधुनिक निरुक्तविद्या के प्रसिद्ध विद्वान् मोक्षमूलर साहिब भी यही कहते हैं। वह अपनी पुस्तक Science of Language में एक प्रभावपूर्ण शब्द देते हैं, जिससे इनकी एकता प्रकट होती है। वह लिखते हैं,

'Thougot and word are not two different things. They are two aspects of one and the some thing. When we think, we speak low and when we speak, we think aloud.'

अर्थात् शब्द और विचार दो पृथक् वस्तु नहीं, अपितु एकही वस्तुके दो पहलू है। जब हम बोलते हैं, तो हम जोर जोर से सोचते हैं और जब सोचते हैं तो मानो हम चुपचाप बोलते हैं।

बस सारांश यह है कि जब देशाभिमानी देव 'जीवात्मा' कुछ विचार उठाता है, तो वह प्रथमो-

* बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय १, ब्रा० ५ में यह बताया गया है कि मन, वाक् और प्राण यह तीनों एकही शक्तिके विविध अवस्थाओं (Aspects) के नाम हैं। वागेवऋग्वेदो, मनो यजुर्वेद, प्राणः सामवेदः। ऋग्, यजुः, साम यह तीन प्रकार की विद्याएँ या ज्ञानभूमियां हैं। जिससे किसी वस्तुके गुणोंका ज्ञान हो, वह ऋग्वेदज्ञान है।' ऋग्भिर्स्तूयते।' क्रियात्मक ज्ञान को यजुर्वेद कहते हैं। यजुर्भिर्क्रियते। सर्व ज्ञान के मूलभूत शक्ति ब्रह्मको अनुभव करना और उस ज्ञान में निमग्न होना सामवेद का ज्ञान है। सामभिर्गीयते।

स्थान या विचारस्पन्दन हमारी 'परा' नामक अन्तःकरण-भूमिका में होता है। जब आत्मतत्त्व उसके बुद्धि के सुपुर्द करता है, तो वह 'पश्यन्ति' नामक भूमिका में आता है, जब यही विचारस्पन्दन मनोभूमिका में आता है। तो उसको 'मध्यमा' का नाम दिया जाता है और जब वह कायाग्नि को ताडकर कंठादि स्थलों में * प्रवेश करता है, तो वह ध्वन्यात्मक होकर 'वैखरी' कहलाता है। परा-भूमि के विचार को यदि हम 'संकल्प' या वासना कह दे, तो कोई अत्युक्ति न होगी। पश्यन्ती और मध्यमा भूमियोंमें वह 'विचार'कहा जाय, तो कुछ हानि नहीं। वैखरी भूमि के विचार को वाक् 'शब्दात्मक' कहा जाए तो ठीक ही है। बस इससे समझ लो कि हमारी 'वाक्' विचारमूलक है! विचार संकल्पमूलक तो सब हमारे कार्य सङ्कल्पमूलक हुए ※।

यही कारण है कि संकल्पशुद्धिः पर वेद बहुत जोर देते हैं। 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' सूक्त का पाठ कीजिये और मनकी महत्ता को अनुभव कीजिये।

उपरोक्त कथन से यह बातें सिद्ध होती हैं-

१. विचार संकल्पमूलक हैं।

२. विचारों की दृढतादि संकल्प की दृढतादि पर निर्भर है।

३. हमारे शरीर के प्रति कण (Cell) में हमारे विचारों का प्रभाव विद्यमान रहता है।

४. यह सकल संसार ही संकल्पमूलक है। प्रजापति के अन्दर संकल्प न उठता, तो संसार न होता। चित्रकारके भीतर संकल्प न उठे, तो कोई चित्र न बन सके। कारीगर के हृदय में विचारतरंग न उठे, तो कोई वस्तु बन न सके। इत्यादि।

५. संकल्प से विचार, विचार से क्रियाशक्ति में हरकत आती है। क्रियाशक्ति की हरकत से वस्तु-सिद्धि होती है।

इन सब नियमों से यह नतीजा निकल सकता है कि, हम जब कोई कार्यारम्भ करना चाहें, तो हमें अपने दिलमें शुद्ध तथा दृढ संकल्प धारण करना चाहिए। दृढ संकल्प से ही क्रियाशक्ति में उत्तेजकता आकर कार्यसिद्धि होती है। वैदिक कर्मों में सब से पहिले संकल्प धारण किया जाता है। क्योंकि विना संकल्प के किया हुआ कर्म मनकी सूक्ष्म भूमिकामें नहीं प्रवेश करता। अतः उसका प्रभाव भी पूर्ण नहीं होता। उदाहरण के लिये देखिये कि एक भिखारी आप के पास कुछ मांगने के वास्ते आता है। आप उस समय शतरंज खेल रहे हैं। आप उसको एक पैसा दे देते हैं, ताकि वह आप के कान न खावे और आप के खेल में हरज न डाले। एक दूसरा मित्र जो आप के पास बैठा हुआ है, वह यह समझ कर कि यदि मैं भी कुछ इस भिखारी को नहीं दूंगा, तो मुझ को मित्रलोग कंजूस समझेंगे, अतः उसको एक पैसा दे देता है। एक तीसरा मित्र जरा विचार करता है कि देखो यह भी हमारे जैसा मनुष्य है, भूक से तडप रहा है, इस की सहायता करना मेरा धर्म है। वह भी उस को एक पैसा दे देता है।

यहां देखिये पैसा देने का काम तो सब तीनों का एकसा है, परन्तु विविध मनोभूमियों से उसका उपजाव हुआ है। अतः उनके फल भी भिन्न ही होंगे। जिसने केवल अपने खेल में विघ्न न पडने के

---

* आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्॥ (महाभाष्य)

※ संकल्पमूलः कामो वै यज्ञः संकल्पसंभवः।
व्रतनियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥ (मनु०)

क्रतुमय एवायं पुरुषः। (उपनिषद्)।

भय से उसको दिया है, वह बहुत ही क्षुद्र फल रखता है । उसका फल केवल खेल खेलने तक ही सीमित है । दूसरे ने केवल लोकाचार से दिया है, उसका फल भी बहुत ही न्यून है । तीसरे ने मनोभूमि में एक उच्च विचारस्पन्दन करके दिया है, वह उसके कारण शरीर में प्रवेश कर गया है । अतः वह मरण पर्यन्त अपितु अगले जन्म तक उसके साथ रहेगा । और उसके जीवन में तथा बहुत से अन्योंके जीवन में जो उसके साथ संपर्क में आवेंगे अनेक उत्तम दयार्द्रभाव उत्पादन करेगा । इसी से उपनिषदों ने कहा है कि—

'यद् विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'

जो कर्म कर्मतत्त्वके ज्ञान, श्रद्धा और उसके रहस्य को समझ कर किया जाता है वही बृहत् फलवाला होता है ।

अब आप समझ गए होंगे कि छोटी बातें यथा, 'मनमें कोई बुरा भाव न उठाओ,' किसी का बुरा न चितवो, जो काम करो ईश्वरस्मरणपूर्वक श्रद्धा से तथा शुभ संकल्प से करो, इत्यादि जिनको आजकल के बाबू केवल वहम या भ्रम समझते हैं कितने रहस्यपूर्ण हैं ।

अब हम कतिपय ऐसे साधन लिखते हैं, जिन से मनुष्य इस अद्भुत शक्तिद्वारा न केवल अपनी ही उन्नति कर सकता है, अपितु उन सबको, जो उसके संपर्क में आते हैं, सहायता दे सकता है । यही नहीं अपितु दूरदेशस्थ अपने इष्टमित्रों को बहुत कुछ सहायता दे सकता है ।

यह पूर्व लिखही आए हैं की, प्रत्येक विचारस्पन्दन सबसे प्रथम विचार उत्पादन करनेवाले के मन पर ही अपना असर अर्थात् प्रभाव छोडता है । वह उसके मनमें एक प्रकार की रुचि या अरुचि उत्पन्न करते हैं । यह रुचि या अरुचि कुछ काल में दृढ जड पकड जाती है । जो क्रमेण आदत या स्वभाव का रूप धारण कर लेती है । स्वभाव ही आचार है । बस मनुष्यका आचरण उसके विचार पर निर्धारित है । बस यदि हमारे विचार शुद्ध हैं, तो हम स्वभावसे ही सदाचारी बनते जायेंगे और यदि हमारे विचार दुष्ट हैं, तो शनैः हम दुराचारी बनते जायेंगे । यदि हम यह चाहें कि हमारे आचार शुद्ध ही रहें, तो हम शुद्ध विचारयुक्त वातावरण में ही रहना चाहिये । इस ही नियम को दृष्टि में रखते हुए शास्त्रकार हमारे लिए तीर्थयात्रा, सत्संगति आदि अनेक साधन बताते हैं । दूसरें हमें अपने मनपर इतना अधिकार होना चाहिए कि जब भी कभी कोई प्रतिकूल विचार हमारे मन में बाहर से घुसना चाहे, हम उसको वहीं रोक दें । इस अधिकार को प्राप्त करने के लिए हमें दो काम करने होंगे ।

एक तो हम अपने मन को कभी खाली न छोडें । क्योंकि खाली मन में ही बाहर से विचार घुस करते हैं । यदा किसी न किसी अच्छे व्यसन (Hobby) में लगे रहें और यदि कभी कोई बुरा विचार मनमें आने लगे, तो उसी समय कोई श्लोक, भजन या मन्त्रोउच्चारण करें कि जिससे हमारे मन में एक प्रकार का उत्साह आ जावे, जिससे वह उस दुष्ट विचार को लात मारकर बाहर निकाल देवे । आप प्रतिदिन देखते हैं कि जब कभी कोई खेल रहे हों या दो पहलवान कुश्ती लड रहे हों, तो यदि एक पार्टी जरा हारनेवाली हो, तो यदि उसको समय पर बाहर से कुछ उत्साह मिल जावे, तो वह उस उत्साह से उत्साहित होकर अपने प्रतिपक्षी को जीत लेती है । यही उत्साह इन मन्त्रों, या श्लोकों या गीतों से मिल जाता है । इस बात को स्पष्ट करने के वास्ते हम यहां एक ऐतिहासिक घटना लिखते हैं—

कहते हैं कि इंग्लैंड में एक अनाथ कन्या थी जो बडी शुद्धाचारिणी और ईश्वरभक्त थी । वह यद्यपि मिहनत मजदूरी करके पेट पालती थी, तो भी प्रति रविवार गिरजा (चर्च) में जा कर साप्ताहिक सत्संग में सम्मिलित हुए विना न रहती और वहां जाकर वह प्रेम से भजन गा गाकर अपने प्रभुको प्रसन्न करने की चेष्टा किया करती । एक दिन

बडी बर्फ वर्षा, चर्चका रस्ता बर्फ से रुक गया था, अतः वह चर्च में तो न जा सकी, परन्तु गलियोंमें ही भजन गाकर कीर्तन करती फिर रही थी। इधर यह लडकी कीर्तन कर रही थी। उधर एक विचित्र घटना और हो रही थी। एक बडा क्रोडपति साहुकार अपने बडे सुन्दर सजे हुए महल में एक स्त्रीसे बातें कर रहा था। वह स्त्री एक गरीब मजदूर की धर्मपत्नी थी, पर बडी सुन्दरी थी। साहुकार उसको फिसला रहा था, किंतु अपने पति को तलाक देकर मुझ से शादी कर ले। मैं अमीर हूं। तू यहां इस असीम संपत्ति की मालिक होगी, उस गरीबसे क्या लेगी। इत्यादि।

परन्तु वह स्त्री नहीं मानती थी और कहती थी, मेरा पति वडा अच्छा है, सत्पात्र है, गरीब हुआ तो क्या? इत्यादि। परन्तु लोभ का जादु भी बडा प्रबल है। उस अमीर ने एक सन्दूक खोला और उसमें से बडे ही सुन्दर रत्नजडित भूषण और वस्त्र निकाले। बिजली की चमक में रत्नजडित भूषण अपना काम कर गए। उनकी अतुल शोभा ने उस साध्वी स्त्री की आंखें चुन्धलादी। और वह उस अमीर की बातों में आकर इस बातपर राजी हो गई कि मैं तलाक तो नहीं देती, तुम खुद ही उसे किसी तरह मरवा दो। यह सलाह करके और रत्नजडित भूषणों को लेकर वह जीने से उतर रही थी; जब कि वह अनाथ बालिका भी कीर्तन करती करती वहां आ गई। वह गा रही थी एक भजन, जो ब्रौनिंग कविकृत था और उस का यह पद उसकी जबान से निकला रहा था— 'God is in Heaven, all is well on Earth.'

अर्थात् जब ईश्वर हमारे हृदयाकाशमें हो, तो सब हमारे विचार और व्यवहार शुद्धही होंगे। प्रातःकाल का अमृत वेला था। शुद्ध भावसे और शुद्ध जबान से यह पवित्र वचन निकले। वह सुन्दरी यद्यपि प्रलोभनग्रस्त थी, पर थी तो वास्तवमें शुद्धाचारिणी। यह शब्द उसके कानपर पडे। कानों ने हृदयकोश में भेजे। जहा क्या हि अच्छा परिणाम हुआ, वह साध्वी स्त्री हक्की नक्की रह गई। न ऊपर जाती है, न जीने से नीचे उतरती है। दो बार फिर यही शब्द उसके कान में पडते हैं। आखिर उसका मन व्याकुल होता है। हाथ सुना हो गए, टांगे हिलती नहीं। जबान कांपती है। बडी कठिनता से ऊपर जाकर उस साहूकार के चरणों में शिर रखकर वह भूषण वापिस कर, अश्रुपातद्वारा उस कुविचारोत्पन्न पाप को धोकर वापिस आती है। उस बालिका को गले लगाकर उसके चरणों में पडती है कि 'बहन तूने मुझे एक घोर पाप से बचा लिया।' इत्यादि। इस आश्चर्यजनक घटनाको देखकर उस अमीर के भीतर भी सद्भाव की अग्नि चमकी और उसने भी उस पापाचरण से दूर जाने का विचार किया। यह घटना हमें बताती हैं कि शुद्ध, दृढ विचार शुद्धहृदय से निकले हुए किस तरह काम करते हैं। और शुद्ध वाक्य, भजन, मन्त्र कैसा काम करते हैं।

दूसरा उपाय यह है कि छोटे से छोटा भी काम क्यों न हो; उसको भी पूर्ण ध्यान तथा शोच विचार से और उसके सांगोपांग को समझ कर करो। उसकी प्रत्येक घटना अर्थात् Details तुम्हारे मनोनेत्र के सामने हस्तामलक बन खडे हों। यह मनकी एकाग्रता प्राप्त करने का सब से सुगम उपाय है। कहते हैं कि निपोलियन बोनापार्ट अपने युद्धकार्यों में जो कामयाबी प्राप्त थी, वह इसी आदत के कारण थी। यदि आप एक पोस्टकार्ड भी लिखो तौभी यदि आप अपना पूरा मन लगाकर उस पत्रको लिखेंगे, तो वह पत्र एक विशेष प्रभाव डालेगा।

हम यहां एक अपने अनुभव की बात लिखते हैं। एक बार अखबार में मैंने यह समाचार पढा कि 'प्रोफेसर कुलकरणी, ग्वालयार कालेज मन्त्री टीचर एण्ड पेरन्टस लीग दौरा करनेवाले हैं। वह बच्चों के सुधार के सम्बन्ध में व्याख्यान देने के लिए निकलेंगे, जो सज्जन उनको बुलाना चाहे, वह निमन्त्रण-पत्र भेज दें।' मैंने यह इश्तहार पढकर उनको पत्र लिखने की ठानी। मेरा उनसे कोई परिचय नहीं था, परन्तु मैंने यह विश्वास करके कि मेरा पत्र

अवश्य उनके दिलपर अपना असर करेगा, बडे विचार और एकाग्रता से पत्र लिख दिया। वापिसी डाक में जवाब आया कि मैं आ रहा हूं। जब वह आ गए तो मेरे पास आकर उन्होंने कई दिन प्रचार किया। एक दिन बातों बातों में उन्होंने यह भी कहा कि जिस दिन तुम्हारा निमन्त्रणपत्र पहुंचा था उस दिन मेरे पास लगभग ५० निमन्त्रणपत्र आए थे परन्तु किसी में भी वह आकर्षणशक्ति विद्यमान नहीं थी जो तुम्हारे पत्र में थी। मैं समझ गया यह सब कुछ मेरे एकाग्रता से पत्र लिखने का प्रभाव है। बहुतसे मनुष्यों की यह आदत होती है कि हाथ से कुछ काम कर रहे हैं तो मन कहीं और जगह की सैर कर रहा है।

इसका नतीजा यह होता है कि उस काम में हमारा पूरा मन न होने से उसमें सफलता नहीं होती। इसी से सर्व कर्मकांड में मन की एकाग्रता की बडी महिमा है। संस्कारों में जो ऋत्विज नियत किये जाते थे उसका भी यही मतलब था कि वह अपने मनोबल से यजमान की कार्यसिद्धि करवा दे। देखो उपनिषद् * ।

परन्तु बडे शोक से कहना पडता है कि आजकल यह रहस्य संस्कारकर्ताओं और यजमानों के मनसे उड गया है। आजकल बाबुलोगों के संस्कार एक Social function अर्थात् यार दोस्तों के साथ मेल जोल प्राप्त करनेका साधन ही रह गया है। सो उसका फल भी कुछ नहीं। संस्कारों के मौकोपर खानेपीने में तो जितना खरच हो जावे उसकी कुछ परवाह नहीं। परन्तु संस्कारपर अर्थात् हवनादि की सामग्री तथा ऋत्विजों की सेवा या दक्षिणा आदि में जितना भी संकोच हो सकता है उतना करना चाहते हैं। इसका कारण एक मात्र इस महान् रहस्य की अनभिज्ञता ही है।

एकाग्रता को प्राप्त करने के और भी बहुत से उपाय हैं। योगदर्शन और गीतादि पुस्तकों में विस्तारपूर्वक दिए हैं। जिन साधकों को उसकी लगन हो वह वहां से देखले। परन्तु कोईसा भी उपाय ले उसमें अभ्यास और वैराग्य [अर्थात् यह विचार कि वस्तु की सत्य मूल्यता (Right valuation of things) क्या है] की सब से बढकर जरूरत है। हाँ, इतना कहना यहां अनुचित न होगा कि जो मन भक्तिशील है (Devotional mind) वह अपने इष्टदेव की मूर्ति या गुणोंका चिन्तन या ध्यान करके मनको एकाग्र कर सकते हैं, उनके लिए यह उपाय बडा सुगम है। परन्तु ऐसे आदमी थोडे ही होते हैं। जो ऐसा नहीं कर सकते उनके लिये यही उचित है कि वह किसी एक तत्त्वविशेष या विषयविशेषपर मन को एकाग्र करने का अभ्यास करें। जैसे एक लडका हिसाब या बीजगणित या रेखागणित के सवाल निकालते, या नकशा खैंचते या चित्रकारी करते या तीर अंदाजी सीखते या कुछ निबन्ध लिखते समय करता है। ऐसा करते करते भी उनको एकाग्रता प्राप्त हो जावेगी।

तीसरा तरीका एक और है कि मनुष्य अपने आहार, व्यवहार, आचार, उच्चार की परीक्षा

---

* तद्यथा लवणेन सुवर्णं सन्दध्यात्सुवर्णेन रजतं रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥ एवमेषां लोकानां आसां देवतानां अस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥ एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति एवंविदं हवा एष ब्रह्माणमनु गाथा यतो यत आवर्तते तत्तद् गच्छति ॥ मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक् कुरूनश्वाभिरक्षत्येवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चचर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवं विदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ (छां० ४।१७।७-१०)

(भाव यह है कि यहां यह बताया गया है कि किस प्रकार का पुरुष यज्ञ में ब्रह्मपद का अधिकारी होना चाहिये)

नित्य प्रति सोने से कुछ मिनट पहिले किया करे। तथा देखे कि कहीं इसमें कोई त्रुटि तो नहीं। पहिले पहिले उसको कोई त्रुटि नहीं दीख पडेगी। परन्तु कुछ दिन के अभ्यास से उसको अपनी त्रुटियां ज्ञात होने लग जाएगी। जब उसको अपनी त्रुटियां दीखने लग जावें जान लो कि उसके भाग खुल गए हैं। उसकी उन्नति का रास्ता खुल गया है। जब उसको कोई त्रुटि दीख पडे तो उसको चाहिये कि उस त्रुटि पर तो जरा भी ध्यान न दे अपितु उसको भूल जावे, हां उसके प्रतिकूल जो गुण हैं उसको ध्यान करे, उसको वार वार चिन्तन करे, विचारे कि उसको किस तरह अपने जीवन में ला सकता हूं। उदाहरणतया समझिए कि किसी का स्वभाव चिडचिडापन बहुत है, झट आए से बाहर हो जाता है। उसको चाहिए कि इसका उलट अर्थात् धैर्यता प्रसन्नता का चिंतन करना चाहिए। उसको कैसे अपने आचार व्यवहार में लावे, उसके वास्ते मन में दृढ प्रतिज्ञा करे। और फिर प्रतिदिन सोने से पहिले विचार करे कि आज दिनभर में कितनी वार धैर्य या प्रसन्नता को कायम रक्खा है इत्यादि। इस उपाय को योगदर्शन में 'प्रतिपक्ष-भावना' का नाम दिया है। इसी तरह असत्यका प्रतिपक्ष सत्य, कंजूसी का उदारता, बुराई का भलाई, क्रोध का क्षमा, जल्द बाजीका धृति, ईर्ष्या का प्रसन्नता, द्वेषका प्रेम इत्यादि का अभ्यास करे। यदि पाठक लोग दृढतासे इस नियमको एक सप्ताह तक भी पालन करेंगे तो उनको इस कथन की सत्यता का निश्चय हो जावेगा।

यह भी ध्यान रहे कि चित्तकी निर्मलता (प्रसाद) ही एकमात्र उसकी एकाग्रता का कारण है। पर यह निर्मलता किस तरह प्राप्त हो यह अब यहां विचारते हैं।

श्रीभगवान् गीतामें लिखते हैं-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

अर्थात् जो साधक रागद्वेषसे निखरी हुई और अपने वशमें की हुई इन्द्रियों से विधिपूर्वक सांसारिक भोगों को भोगता है तो उसके मनमें निर्मलता आ जाती है। मन निर्मल होनेपर सब दुःख और आपत्तियां अपना डंक खो बैठती हैं अर्थात् निर्मल चित्तवाले मनुष्य के सामने दुःख और आपत्तियां कुछ अपना असर नहीं कर सकती। और फिर ऐसे प्रसन्न चित्तवाले मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो जाती है, मन एकाग्र हो जाता है।

रामायण का इतिहास इस बात की पूर्ण साक्षी भरता है। रामको वनवास हो चुका है। दशरथ विलाप कर रहा है। कैकेयी को गालियां दे रहा है। और रामवियोग में तडप तडपकर व्याकुल हो रहा है। इसी व्याकुलतामें कुछ निद्रा और कुछ बेहोशी होती है। उस में उसको श्रवणवध और उसके बूढे अन्धे मातापिता का शाप याद आता है। बस क्या था अपनी त्रुटि सामने आई और चित्त निर्मल हो गया। अपना बोया काटना ही तो पडता है। यह समझा और शान्ति से अपने पाप का हिसाब बेबाक् करने के वास्ते खुशी खुशी से प्राण छोड देता है।

मनःप्रसाद को प्राप्त करने के लिए योगदर्शन में एक और उपाय भी बताया है। वह यह है कि हमें चार प्रकार के मनुष्यों के साथ सम्पर्क में आनेका अवसर पडता है। प्रथम वह मनुष्य जो हम से अधिक सुखी या धनादि सम्पत्ति से सम्पन्न है। दूसरे वह जो हमसे निकृष्ट अवस्था में है। तीसरे वह जो धर्मात्मा या पुण्यशील है। चौथे वह जो पापात्मा है। जब हम ऐसे मनुष्यों के साथ सम्पर्क में आवे तो हमको सावधान होना चाहिए। साधारणतया यह देखा जाता है कि अपने से अधिक सम्पन्न मनुष्य को देखकर मनुष्य के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि भडक उठती है। किसीने सत्य कहा है-

सहज विषयों का त्यागना, सहज त्रिया का नेह।
मान बडाई ईर्षा दुर्लभ तजना एह॥

परन्तु हम नहीं विचारते कि ऐसा करने से हम अपनी और उसकी क्या हानि कर रहे हैं। प्रथम ईर्षा की ज्वाला हमारे ही रक्तको जलकर हमें बेचैन और दुःखी करती है। हमको अपने पदार्थ भी सुख नहीं दे सकते। दूसरे हम अपने ईर्षायुक्त विचारों से उसके मन में भी ईर्षा का अंकुर उत्पन्न करके उसको भी दुःख में घसीटते हैं। इसके विपरीत यदि हम उसको मित्रकी दृष्टिसे देखे तो हमें अपने मित्र की ऋद्धिसिद्धि की समृद्धि देखकर बडा आनन्द होगा मानो उसकी सम्पत्ति हमारी अपनी है। अर्थात् हम उसकी खुशी में हिस्सेदार बन जावेंगे। और उसकी खुशी का भी द्विगुण करे देंगे। और यह सब उतार चढाव मनकी व्यवस्था पर ही निर्भर है जो हमारे अपने अधीन है।

एवं जब हम अपने से हीन दशायुक्त मनुष्य को देखें तो साधारण मनुष्य की तरह हमारे भीतर गर्व-अभिमान घृणा नहीं उत्पन्न होनी चाहिये अपितु हमें ईश्वर का धन्यवाद करना चाहिये कि उसने तुमको उससे अच्छा बनाया है। अतः तुम्हारा यह धर्म है कि तुम अपने अच्छेपन का सबूत दो अर्थात् उसके साथ करुणा अर्थात् सहानुभूति दिखाकर उसके दुःखको यथाशक्ति कम करो। और जब आप पुण्यशील मनुष्य को देखें तो उसके पुण्यत्व को अनुभव करो और उसकी सराहाना करते हुए खूब प्रसन्नचित्त हो जावो। अतः इससे तुम्हारे चित्तमें उसके पुण्यत्वके लिये श्रद्धा होगी और 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जिसकी जिसमें श्रद्धा होती है वह वैसा ही बन जाता है। अर्थात् उसके पुण्यत्व तुम्हारे अन्दर भी आजावेगा।

और जब आप किसी पापात्मा को देखो तो साधारण मनुष्यों की तरह उसको घृणा की दृष्टि से न देखो और न ही ऐसी बात कहो जिससे वह खिज कर तुमसे दूर हट जावे। अपितु उससे अधिक प्रेम करो जिससे उसका तुम्हारे पर विश्वास जम आवे। जब विश्वास जम जावे तो फिर उसको अपने प्रेममय वचनों से उसकी बुराई हटा दो। यदि आप अपने में ऐसी सामर्थ्य नहीं देखते तो उससे उपरामवृत्ति (Indifference) को धारण करो। न घृणा करो और न उसको बुरा भला कहो या उसकी निन्दा करो (१)

किंबहुना हमको येनकेन प्रकारेण अपने चित्तको निर्मल रखना चाहिए। चित्त निर्मल होने से हमें सब कुछ प्राप्त हो जावेगा। कबीरजीने क्या हि अच्छा कहा है।

चित्त जब निर्मल भयो जैसे गंगानीर।
पाछे पाछे हरि फिरे कहत कबीर कबीर॥

बाजे भोले भाइ यह कहकर पीछा छुडा लिया करते हैं कि शरीरों का जो स्वभाव बन गया सो बन गया। स्वभाव बदला नहीं जा सकता। इससे वह अपने को निर्दोष ठहराकर बात टाल देते हैं। हम उनसे प्रार्थनापूर्वक निवेदन करते हैं कि उनकी यह बडी भूल है। स्वभाव का बदलना कठिन जरूर है पर असम्भव नहीं। किसी बातको बार बार करनेसे वह स्वभाव हो जाता है ऐसे ही उसको बार बार हटाने और उसके ध्यान में उसका प्रतिपक्षभाव को स्थापन करने से स्वभाव भी बदल जाता है। क्या वाल्मीकि ऋषि डाकू से नहीं बना था? इतिहास में ऐसी बहुत सी कथाएं आती हैं जिनमें स्वभाव भी परिवर्तन हो गए हैं।

हाँ स्वभाव परिवर्तन यत्न साध्य है। जैसा पुराना स्वभाव होगा वैसा ही उसके वास्ते अधिक यत्न करना पडेगा। और 'यत्नो कृते न सिद्धयति कोऽत्र दोषः' यदि यत्न करने पर भी स्वभाव में कोई परिवर्तन न हो तौ भी कोइ हानि नहीं। यह प्रयत्न उसका खाली नहीं जायगा। अब नहीं तो समयान्तर या जन्मांतरमें अपना फल अवश्य दिखावेगा क्योंकि श्रीभगवान् गीता में कहते हैं, "नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।" शुभकार्य, शुभभाव, शुभप्रयत्न, कभी दुर्गति को देनेवाला नहीं होता। यह याद रक्खो कि हमारी शक्ति परिमित है,

(१) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्याऽपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥

हमारा जीवनकाल ॐ भी परिमित है, जो विघ्न हमारे रास्तेमें आते हैं वह भी बहुत हैं। इस परिमित समय में जो हमारे लिए कर्तव्य या ज्ञातव्य है वह अपरिमित है, फिर क्या यह हमारी बुद्धिमत्ता होगी कि हम इस बहुमूल्य जीवन को, इस बहुमूल्य शक्ति को वृथा और निकम्मे झगडों, गुस्से और चिड-चिडेपन में गंवाते रहें, क्यों न हम अपने विचारों को शुद्ध और पवित्र करें जिससे हमारे इस जन्मके झगडे दूर होकर हमारे आगामी जन्म का रास्ता साफ है। इसका कारण एक मात्र इस विचारमहत्त्व की अनभिज्ञता ही है।

विश्वास करलो कि हमारे बहुत से दुःख, झगडे, मुसीबतें, शोच, फिकर, उदासीनता, निरुत्साहता, कमजोरी, बुढापा, आदि अनेक आपत्तियां हमारी अपने आप खरीदी हुई होती हैं। यदि हम अपने विचारों को तोलना, जांचना, अपने काबू में रखना सीख जावें तो हम हम सब मुसीवतों से वच सकते हैं।

शोक है हमारी आयुका एक बडा हिस्सा अनेक वृथा और निरर्थक बातों के पढने पढाने और सीखने सिखाने में व्यतीत होता है और विचार संयम जैसे जरुरी ज्ञातव्य विषय की ओर हम ध्यान भी नहीं देते। इससे बढकर शोचनीय अवस्था और क्या होगी।

शायद यहां कोई यह प्रश्न करे कि यदि कोई मनुष्य अपने विचारों का संयम करने में असमर्थ हो तो क्या वह निराश और हताश होकर अपना जीवन रोनेधेने में बितावें ? हमारा उत्तर है कदापि नहीं, दयालु प्रभु की सृष्टि में निराशता की कोई गुंजायिश नहीं। मनुष्य को आशाबद्ध रहना चाहिए, प्रभु की दयालुता, न्यायकारिता, पर अटल विश्वासे रखना चाहिये, जब भी प्रभुकृपासे उसकी आंख खुल गई और उसको यह बोध हो गया कि विचार-संयम से सब कुछ प्राप्त हो सकता है, उसी क्षणसे विचार-संयम का काम आरम्भ कर दे। जिस तरह जन्मजन्मांतर के महादोष से विचार-संयम में उसको असमर्थता मिली है, इसी तरह मलदोषोंको दूर करने और विचार-संयमना की प्राप्ति के यत्न करने से कभी न कभी ऐसा समय आजावेगा, चाहे वह इस जन्म में हो चाहे किसी आगामी जन्म में, जब कि उसको विचार संयम की सामर्थ्य प्राप्त हो जावेगी।

अब हमें यह उचित ज्ञान होता है कि अपने पाठ-कों की सुविदता के वास्ते यह स्पष्टतया लिख दें कि इस विचारमहत्त्व के (१) बोध होने से अपनी या दूसरों की क्या हानि करते हैं, (२) बोध होने से हम अपना क्या क्या लाभ कर सकते हैं और किस तरह; (३) दूसरों को जो निकटवर्ति हों तो किस तरह लाभ पहुंचा सकते हैं। यदि (४) दूरस्थ हों तो किस तरह लाभ पहुंचा सकते हैं। (५) मरते हुए या मृत इष्टमित्रों को किस तरह लाभ पहुंचा सकते हैं। इत्यादि विषयोंपर कुछ अधिक प्रकाश डालों। यह लेख चूंकि काफी लम्बा हो गया है। इसके लिए पाठक किसी आगामी लेख का इन्तिजार करें।

---

(२) ॐ अनन्तशास्त्रं बहु वेदितव्यम् अल्पश्च कालो बह्वश्च विघ्नाः।
यत् सारभूतं तदुपासितव्यम् हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम् ॥



अष्टम नियम

" अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये । "

(लेखक- पं. मदनमोहन विद्याधर, बेझवाडा)

वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य! वह सन्तान बडा भाग्यवान्! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से संतानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है, उतना किसीसे नहीं । जैसे माता सन्तानों पर प्रेम, (और) उनका हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं करता, इसलिये (मातृमान्) अर्थात् "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान् " धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. द्वितीय समु पृ. १०९]

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अंगसे कुचेष्टा न करने पावें । जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे (कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् जैसे ' प ' इसका ओष्ठस्थान और स्पष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठोंको मिलाकर बोलना ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत अक्षरोंको ठीक ठीक बोल सकना । मधुर गंभीर सुंदर स्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य भिन्न संहिता अवसान भिन्न श्रवण होवे।) (द० ग्र. प्र. भा. स. प्र. द्वितीय समु. पृ.११)

पठनपाठन की आदि में लडकों और लडकियों की ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णोंका ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सबको प्रिय लगे । जैसे 'प' इसके उच्चारण में दो प्रकारका ज्ञान होना चाहिये । एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का । पकार का उच्चारण ओठोंसे होता है, परन्तु दो ओठोंको ठीक ठीक मिलाके 'पकार' बोला जाता है । इसका ओष्ठस्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर व व्यंजन मिला हो, तो उसको भी उसी उसी के स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है ।

(द. ग्र. द्वि भा. ऋग्वेदादि पृ. ६५२ !)

जब वह कुछ कुछ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बडे छोटे, मान्य माता, पिता, राजा, विद्वान् आदिसे भाषण उनसे वर्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें, जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्संगमें रुचि करें,वैसा प्रयत्न करते रहें । व्यर्थ क्रीडा, रोदन,हास्य, लडाई, हर्ष, शोक किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या,द्वेषादि न करें । उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दनसे वीर्य की क्षीणता नपुंसकता होती और हस्तमें दुर्गन्ध भी होता है, उससे उसका स्पर्श न करें । सदा सत्य भाषण, शौर्य, धैर्य प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो करावें।

जब पांच पांच वर्षके लडका लडकी हों तब देवनागरी अक्षरोंका अभ्यास करावें । अन्य देशी भाषाओंके अक्षरों का भी । उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा विद्या, धर्म, परमेश्वर, मातापिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि राजाप्रजा, कुटुंब बन्धुभगिनी मृत्यु आदिसे कैसे कैसे वर्तना इन बातों के मंत्र, श्लोक, सूत्र, गद्यपद्य भी अर्थसहित कण्ठस्थ करावें । जिनसे सन्तान् किसी धूर्त के बहकावे में न आवे और जो विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिरानेवाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश कर दें, जिससे भूतप्रेत आदि मिथ्या बातोंका विश्वास न हो । (द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. द्वितीय समु पृ.१११, ११२)

... इन सब [भूतप्रेतादि तथा शीतला मंत्र, तंत्र, यंत्र आदि] मिथ्या व्यवहारों को छोडकर धार्मिक, सब देशके

उपकारकर्ता निष्कपटता से सबको विद्या पढानेवाले, उत्तम विद्वान् लोगों का प्रत्युपकार करना, जैसा वे जगत् का उपकार करते हैं, इस काम को कभी न छोडना चाहिये और जितनी लीला रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करना कहते हैं, उनको भी महापामर समझना चाहिये। इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था में ही सन्तानों के हृदयों में डाल दें कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पडके दुःख न पावें और वीर्य की रक्षा में और नाश करने में दुःखप्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे "देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयोंका ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्तसेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है, वह दुर्बल निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चुकोंगे, तो पुनः इस जन्म में तुमको वह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जबतक हम लोग गृहकर्मों के करनेवाले जीते हैं, तभीतक तुमको विद्याग्रहण और शरीर का बल बढाना चाहिये।" इसी इसी प्रकार की अन्य शिक्षा भी माता और पिता करें।...

... जन्म से ५ वें वर्ष तक बालकों को माता, छठे वर्ष से आठवें वर्षतक पिता शिक्षा करे और ९ वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्यकुल में अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्या दान करनेवाली हों, वहां लडके और लडकियों को भेज दें और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भेज दें। [द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. द्वितीय समु. पृ. ११५, ११६]

लडके और लडकियों को पांच वा आठ वर्ष की अवस्थापर्यन्त माता, पिता और इसके उपरान्त आचार्य की शिक्षा होनी चाहिये।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार पृ. ७३२]

... माता, पिता, आचार्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य का उपदेश करें और यह भी कहें कि जो जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन उनका ग्रहण करो और जो जो दुष्ट कर्म हों, उनका त्याग कर दिया करो। जो जो सत्य जानें उन उन का प्रकाश और प्रचार करें। किसी पाखण्डी, दुराचारी मनुष्य पर विश्वास न करें और जिस जिस उत्तम कर्म के लिये माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें, उस उस का यथेष्ट पालन करें।

हे शिष्य! जो अनिन्दित, पापरहित अर्थात् अन्याय अधर्माचरणरहित न्यायधर्माचरणसहित कर्म हैं, उन्हीं का सेवन तू किया करना इनसे विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना। हे शिष्य जो तेरे माता, पिता, आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन्हीं का आचरण तू कर और जो हमारे दुष्ट कर्म हों, उनका आचरण कभी मत कर। ब्रह्मचारिन्! जो हमारे मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्मवित् विद्वान् हैं उन्हीं के समीप बैठना, संग करना और उन्हीं का विश्वास किया कर। हे शिष्य! यथार्थ का ग्रहण, सत्य मानना, सत्य बोलना, वेदादि सत्य शास्त्रों का सुनना अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना, क्रोधादि के त्याग से शान्त रहना, विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना, अग्निहोत्रादि और विद्वानों का संग करना, जितने भूमि अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में पदार्थ हैं, उनका यथाशक्ति ज्ञान करना और योगाभ्यास, प्राणायाम, एक ब्रह्म की उपासना करना, ये सब कर्म करना ही तप कहाता है।

हे ब्रह्मचारिन्! तू सत्य धारण कर, पढ और पढाया कर। सत्योपदेश करना कभी मत छोड, सदा सत्य बोल, पढ इत्यादि। हर्षशोकादि छोड, प्राणायाम, योगाभ्यासादि कर तथा पढ इत्यादि। अपनी इन्द्रियों को बुरे कामों से हटा, अच्छे कामों में चला, विद्या का ग्रहण कर और कराया कर। अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा, न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और कराया कर तथा पढ और सदा पढाया कर। अग्निहोत्र

करता हुआ पढ और पढाया कर ।... इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे । तत्पश्चात् घर को छोड गुरुकुल को जावें ।

(द. ग्र. द्वि. भा. संस्कार पृ. ९८, ९९)

[तथा तुलना करो (द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १३१)]

वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं, जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति नहीं कराई, वे विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं, जैसे हंसों के बीच में बगुला । यही माता, पिता का कर्तव्य-कर्म, परमधर्म और कीर्ति का काम है, जो अपने सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षायुक्त करना।(द. ग्र. प्र.भा.स. प्र. द्वितीय समु.पृ.११८)

सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभाव, रूप, आभूषणों का धारण कराना, माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है । सोने, चांदी, माणिक, मोती, मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण कराने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता । क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि (का) भय तथा मृत्यु आदि का भी सम्भव है ।

... आठ वर्ष के हों तभी लडकों को लडकों की और लडकियों को लडकियों की पाठशाला में भेज देवें ।

जो अध्यापकपुरुष वा स्त्री दुराचारी हों, उसने शिक्षा न दिलावें । किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे ही पढाने और शिक्षा देने योग्य हैं ।

द्विज अपने घर में लडकों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्यकुल अर्थात् अपनी अपनी पाठशाला में भेज देवें ।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. ११९, १२०)

पांचवें वा आठवें वर्ष से लडके लडकों की पाठशाला में और लडकी लडकियों की पाठशाला में जावें ।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२७)

यदि पुत्र हो, तो पुरुषों की पाठशाला और कन्या हो,तो स्त्रियों की पाठशाला में भेजें । यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो, तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री (पाणिनिमुनिकृत) वर्णोच्चारण-शिक्षा १ (एक) महीने के भीतर पढा देवें ।

(द. ग्र. द्वि. भा. संस्कार पृ. ९९)

विद्या पढनेका स्थान एकान्त देश में होना चाहिये और वे लडके और लडकियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहिये । जो वहां अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य अनुचर हों, वे कन्यायों की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषोंकी पाठशाला में पुरुष रहें । स्त्रियोंकी पाठशाला में ५ वर्ष का लडका और पुरुषोंकी पाठशाला में पांच वर्षकी लडकी भी न जाने पावे । अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी रहें तब तक स्त्री व पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषय कथा, परस्परक्रीडा, विषयका ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनोंसे अलग रहें और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें, जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त होके आनन्द को नित्य बढा सकें ।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय. समु. पृ. १२०)

भोजन, छादन, बैठने, उठने, बोलने, चालने, बडे-छोटेसे यथायोग्य व्यवहार करनेका उपदेश करें.

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२४)

पाठशालाओंसे एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम व नगर रहें । सबको तुल्य वस्त्र, खान, पान, आसन दिये जायं, चाहे वह राजकुमार व राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिये । उनके मातापिता अपने सन्तानोंसे वा सन्तान अपने मातापिताओंसे न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्तासे रहित होकर केवल विद्या बढाने की चिन्ता रक्खें । जब भ्रमण करने को जायें तब उनके साथ अध्यापक रहें, जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य, प्रमाद करें ।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२०)

इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिये ।

कि पांचवें अथवा आंठवें वर्ष से आगे कोई अपने लडके और लडकियों को घरमें न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो। प्रथम लडकों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्यकुल में हो। पिता, माता वा अध्यापक अपने लडका-लडकियों को अर्थसहित गायत्री मंत्र का उपदेश कर दें।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२०)

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लडकों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने, तो उसके मातापिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लडका व लडकी किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्यकुल में रहें (जब तक समावर्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे।)

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १६७)

उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढाने में लडकों का लाडन कभी नहीं करते, किन्तु ताडना ही करते रहते हैं। ...

जो माता, पिता और आचार्य, सन्तान और शिष्योंका ताडन करते हैं, वे जानों अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं और सन्तानो व शिष्यों का लाडन करते हैं वे अपने सन्तानों और शिष्योंको विष पिलाके नष्टभ्रष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाडन से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताडन से गुणयुक्त होते हैं। ... सन्तान और शिष्य लोग भी ताडना से प्रसन्न और लाडन से अप्रसन्न सदा रहा करें। परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से लाडन न करें। किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रक्खें। जैसी अन्य शिक्षा की वैसी चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्या भाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि दोषोंके छोडने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें।

(द. ग्र. द्वि. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. ११६)

...विद्यार्थी... जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलिनता, मैले वस्त्रधारण, बैठने उठने में विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लडाई, बखेडा, चुगली, किसी पर मिथ्या दोष लगाना, चोरी, जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अतिजागरण, व्यर्थ खेलना, इधर उधर अट्टसट्ट मारना, विषयसेवन, बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्टों के संग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे, तो उस को यथापराध कठिन दंड देवे। ...

आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिये प्रेमभाव से अपने हाथों से ताडना करते हैं, क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लाडन करना है, उतना ही उनके लिये बिगाड और जितनी ताडना करनी है, उतना उनके लिये सुधार है। परन्तु ऐसी ताडना न करे कि जिससे अंग भंग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी वा लडकेलडकी लोग व्यथा को प्राप्त हो जायं।

(द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहारभानु. पृ. ७३५)

जब तक गुरुकुल में रहे तब तक मातापिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. २०५)

गायत्री मंत्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान आचमन प्राणायामादि किया है सिख लावें।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२२)

जब मनुष्य प्राणायाम करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति का ज्ञान न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढता जाता है। जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं। (प्राणायाम की विधि— जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न जल बाहर निकल जाता है, वैसे प्राणको बल से बाहर फैंक के बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रक्खे तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो जब धीरे धीरे भीतर वायु को लेके फिर भी वैसे ही

करता जाय, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में (ओ ३ म्) इसका जाप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन को पवित्रता और स्थिरता होती है। एक "बाह्य विषय" अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा 'आभ्यन्तर'' अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय, उतना रोक के। तिसरा 'स्तंभवृत्ति' अर्थात् एक ही वार जहां का तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा बाह्याभ्यन्तरापेक्षी अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भितर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकत जाय। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध किया करें, तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रिया भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढकर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि, जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्यशरीर में वीर्यवृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रि यता सब शास्त्रों को थोडे ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा।) **स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।**

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२३, १२४)

जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खें।

(द. ग्र. प्र. मा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२८)

ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। उनमें से कनिष्ठ जो (पुरुष अन्नरसमय देह और पुरि अर्थात्) देह में शयन करनेवाला जीवात्मा यज्ञ अर्थात् अतीव शुभ गुणों से सङ्गत और सत्कर्तव्य है, इसको आवश्यक है कि २५ वर्ष पर्यन्त जितेन्दिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करें और विवाह करके भी लम्पटता न करे, तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभ गुणों के वास करानेवाले होते हैं। इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास में संतप्त करे और वह आचार्य वैसा ही उपदेश किया करे और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक ठीक ब्रह्मचारी रहूंगा, तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य बलवान् होके शुभ गुणों को बसानेवाले मेरे प्राण होंगे, हे मनुष्यो! तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्यका लोप न करूं। २४ वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूंगा, तो प्रसिद्ध है कि रोगरहित रहूंगा और आयु भी मेरी ७० वा ८० वर्ष तक रहेगी। मध्यम ब्रह्मचर्य यह है कि जो मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण, इन्द्रियां अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त होके सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे होते हैं। जो मैं इसी प्रथम वय में जैसा आप कहते हैं, कुछ तपश्चर्या करूं तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढाओ, जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञस्वरूप होता हूँ और उसी आचार्यकुल से आता और रोगरहित होता हूँ जैसा कि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है, वैसा तुम किया करो। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है,... उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं।

जो आचार्य और मातापिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिये तपस्वी कर और उसीका उपदेश करें और वे सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्यसेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चारसौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढावें, वैसे तुम भी बडाओ। क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२९, १३०)

आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचरण कर, प्रमादरहित होके पढपढा, पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण और आचार्य के लिये प्रिय धन देकर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर, प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड, प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर, प्रमादसे आरोग्य और चतुराई को मत छोड, प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड, देव=विद्वान् और मातापिता आदि की सेवा में प्रमाद कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे, उसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं, उन सत्य

भाषणादिको किया कर, उनसे भिन्न मिथ्या भाषणादि कभी मत कर । जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों, उन का ग्रहणकर और जो हमारे पापाचरण हों, उनको कभी मत कर, जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर । श्रद्धा से देना, अश्रद्धासे देना, शोभा से देना, लज्जासे देना, भयसे देना और प्रतिज्ञासे भी देना चाहिये । जब कभी तुझ को कर्म व शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकारका संशय उत्पन्न हो, तो जो वे विचारशील पक्षपातरहित योगी अयोगी आर्द्रचित्त धर्म की कामना करनेवाले धर्मात्माजन हों, जैसे वे धर्ममार्ग में बर्त्तें वैसे तूभी उसमें बर्त्ता कर ।......इसी प्रकार बर्त्तना और अपना चाल-चलन सुधारना चाहिये ।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १३७,१३८)

इस प्रकार आचार्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेष कर राजा इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावें । क्योंकि जो ब्राह्मण हैं, वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती । जब क्षत्रियादि विद्वान होते हैं, तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ पर चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड, झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं, तो वे जैसा अपने मन में आता है, वैसा ही करते कराते हैं । इसलिये ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें, तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्य शास्त्रका अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें । क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करने हारे हैं । ... जब सब वर्णों में विद्या, सुशिक्षा होती है, तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्मयुक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सकता । ... इसलिये सब वर्णों के स्त्रीपुरुषोंमें विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिये ।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु पृ. १३९, १४०)

जो वेदको ... पढके अर्थ नहीं जानता, वह जैसा वृक्ष, डाली, पत्ते, फल, फूल और अन्य पशु, धान्य आदिका भार उठाता है । वैसे भारवाह अर्थात् भारका उठानेवाला है और जो वेद को पढता और उसका यथावत् अर्थ जानता है, वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है ।

जो अविद्वान् हैं वे सुनते हुए नहीं सुनते, देखते हुए नहीं देखते, बोलते हुए नहीं बोलते, अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्यावाणी के रहस्य को नहीं जान सकते । किन्तु जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का जाननेवाला हैं, उसके लिये विद्या जैसे सुन्दर वस्त्र, आभूषण धारण करती अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपना शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है, वैसे विद्या विद्वान् के लिये अपने स्वरूप का प्रकाश करती है, अविद्वानों के लिये नहीं।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १५८, १५९)

इस लिये जो कुछ पढना वा पढाना हो, वह अर्थज्ञान सहित चाहिये ।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १५९)

इस प्रकार सब वेदों को पढके आयुर्वेद अर्थात् जो चरक, सुश्रुत आदि ऋषिमुनिप्रणीत वैद्यक शास्त्र हैं, उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तुके गुण ज्ञानपूर्वक चार वर्ष के भीतर पढे पढावें ।

तदनन्तर धनुर्वेद अर्थात् जो राजसम्बन्धी कार्य करना है, इसके दो भेद एक निजराज पुरुषसबन्धी और दूसरा प्रजासम्बन्धी होता है । राजकार्य में सभासेना के अध्यक्ष शस्त्रास्त्रविद्या नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास अर्थात् जिसको आजकल कवायद कहते हैं, जो कि शत्रुओं से लडाई के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत् सीखें और जो जो प्रजा के पालन और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीख के न्यायपूर्वक, सब प्रजा को प्रसन्न रक्खें । दुष्टों को यथायोग्य दण्ड, श्रेष्ठों के पालन का प्रकार सब प्रकार सीख लें ।

इस राजविद्या को दो दो वर्ष में सीखकर गन्धर्ववेद कि जिसको गानविद्या कहते हैं, उसमें स्वर, राग, रागिणी,

समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें। परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्रवादनपूर्वक सीखें और नारदसंहिता आदि जो जो आर्षग्रन्थ हैं, उनको पढें परन्तु भडुए वेश्या और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभ शब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें।

अथर्ववेद कि जिसको शिल्पविद्या कहते हैं, उसको पदार्थ, गुणविज्ञान, क्रियाकौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त की विद्या को यथावत् सीखके अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढानेवाला है, उस विद्या को सीख के... दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र सूर्य सिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित, अङ्क, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है, इसको यथावत् सीखें।

तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया यंत्रकला आदि को सीखें।

(द. ग्र. प्र भा. स. प्र. तृतीय. समु. पृ. १५९, १६०)

संस्कारविधि में भी ठीक यही विषय प्रतिपादित किया है।

[द. ग्र. द्वि. भाग संस्कार पृ. ९९-१०१] तथा देखो [द. ग्र द्वि. भाग ऋग्वेदादि पृ. ६५६ से ६६० तक]

(ऋतुसमय में (पूर्वोक्त प्रकार से) गर्भाधानक्रिया करें, तो अत्युत्तम सन्तान् होवें) जैसे सब पदार्थों को उत्कृष्ट करने की विद्या है, वैसे सन्तान को उत्कृष्ट करने की यही विद्या है, इस पर मनुष्यलोग बहुत ध्यान देवें, क्योंकि इसके न होनेसे कुल की हानि, नीचता और होने से कुल की वृद्धि और उत्तमता अवश्य होती है।

(द. ग्र. द्वि. भा. संस्कारविधि पृ. ३७ का फुटनोट)

(ब्रह्म च) सबसे उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करनेवालोंको ही ब्राह्मणवर्ण का अधिकार देना, उससे विद्याका प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्याके प्रचार में ही सदा तत्पर रहें। (विषिश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये। ...... (वर्चश्च) सत्य विद्याओंके प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओंका अच्छा रीतिसे पढने पढाने का प्रचार सदा बढाते जाना चाहिये।... सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बढे हुए धनादि पदार्थों का खरच यथावत् करना चाहिये। ... (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने सन्तान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें और हस्ती तथा घोडे आदि पशुओंको भी अच्छी रीतिसे सुशिक्षित करना उचित है।

(द. ग्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादी पृ. ३८७, ३८८;३८९)

ये शिक्षा से लेके आयुर्वेद तक १४ विद्याओंको ३१ (इकतीस) वर्षों में पढके महाविद्वान् होकर अपने और सब जगत् के कल्याण और उन्नति करने में सदा प्रयत्न किया करें।

(द. ग्र. द्वि. भा. संस्कार पृ. १०१)

..परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं, उनको झूठ समझ के कभी न पढें और पढावें।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १६०)

ऐसा प्रयत्न पढने और पढानेवाले करें कि, जिससे बीस वा इक्कीस वर्ष के भीतर समग्र विद्या उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्यलोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहें। (इससे आगे पाठ्य तथा त्याज्य ग्रन्थों का विशद वर्णन दृष्टव्य है। विस्तारभय से छोडते हैं। तुलना करो संस्कारविधि. द. ग्र. द्वि. भा. पृ. ९९=१०१ तथा ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यप्रकरण यही पुस्तक पृ० ६०० से ६०८ तक)

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. समु. पृ. १६०)

जो विद्या पढनेपढाने के विघ्न हैं, उनको छोड देवें जैसा कुसंग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग, दुष्ट व्यसन जैसा मद्यादि का सेवन और वेश्यागमनादि, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पच्चीसवें वर्षसे पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना, राजा, मातापिता और विद्वानोंका प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना, अति भोजन, अति जागरण करना, पढनेपढाने, परीक्षा लेने व देनेमें आलस्य व कपट करना, सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना

ब्रह्मचर्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य, धन की वृद्धि न मानना, ईश्वरका ध्यान छोड अन्य पाषाणादि जड मूर्तिके दर्शनपूजन में व्यर्थ काल खोना माता, पिता, अतिथि और आचार्य विद्वान इनको सत्यमूर्ति मानकर सेवा, सत्संग न करना, वर्णाश्रम के धर्म को छोड ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र तिलक कण्ठी, मालाधारण, एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती गणेशादि के नामस्मरण से पाप दूर होनेका विश्वास, पाखण्डियोंके उपदेश से विद्या पढने में अश्रद्धाका होना, विद्या, धर्म, योग, परमेश्वर की उपासना के बिना मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथा से मुक्ति का मानना, लोभ से धनादि में प्रवृत्त होकर विद्या में प्रीति न रखना। इधर उधर व्यर्थ घूमते रहना, इत्यादि मिथ्या व्यवहारोंमें फँस के ब्रह्मचर्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १६३]

आजकल के सम्प्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि जो दूसरोंको विद्या, सत्संग से हटा और अपने जाल में फंसा के उनका तन, मन, धन नष्ट कर देते हैं और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढकर विद्वान् हो जायेंगे तो हमारे पाखण्डजाल से छूट और हमारे छल को जान कर हमारा अपमान करेंगे। इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर कर के अपने लडकों और लडकियों को विद्वान् कर ने के लिये तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।

[द. ग्र, प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १६३, १६४]

सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढने का अधिकार है। ... सब मनुष्यों के वेदादि शास्त्र पढने, सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मंत्र है।... परमेश्वर कहता है कि— जैसे मैं सब मनुष्यों के लिये इस कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का उपदेश करता हूँ, वैसे ही तुम भी किया करो। ... हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य व स्त्रियादि और अतिशूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ पढा और सुन सुनाकर विज्ञान को बढाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों। ... क्या परमेश्वर शूद्रों का भला नहीं करना चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि जो वेदों के पढनेसुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करे।? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढाने- सुनाने का न होता, तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता? ... जहां कहीं (इनको पढाने का) निषेध है, उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढनेपढाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढना- पढाना व्यर्थ है और जो स्त्रियोंके पढने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। ... जो वेदादि शास्त्रों को न पढी होवें, तो [" इमं मंत्रं पत्नी पठेत्= अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मंत्र को पढे, " के अनुसार] यज्ञ में स्वरसहित मंत्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सके। भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढके पूर्ण विदुषी हुई थी, यह शतपथब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो, तो नित्य प्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहै, फिर सुख कहां? इस लिये जो स्त्री न पढें, तो कन्याओंकी पाठशालाओंमें अध्यापिका क्यों कर हो सकें तथा राजकार्य न्यायाधीशत्वादि गृहाश्रम का कार्य जो पतिको स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना इत्यादि काम बिना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।

देखो आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छे प्रकार जानती थीं, क्योंकि जो न जानती होती, तो केकयी आदि दशरथ आदिके साथ युद्धमें क्यों कर जा सकती? और युद्ध कर सकती? इसलिये ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहारविद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढनी चाहिये। जैसे पुरुषों को व्याकरण- धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यूनसे न्यून अवश्य पढनी चाहिये, वैसे स्त्री को व्याकरण

धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से अवश्य पढनी चाहिये वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण धर्म वैद्यक गणित शिल्पविद्या तो अवश्य सीखना चाहिये। क्योंकि इनके सीखे विना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन वर्तन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसे चाहिये वैसा करना, वैद्यकविद्या से औषधवत् अन्नपान बनाना और बनवाना नहीं कर सकती, जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें। शिल्पविद्या के जाने बिना, घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनाना बनवाना, गणित विद्या के विना सबका हिसाब समझना समझाना, वेदादि शास्त्रविद्या के विना ईश्वर और धर्म को न जान के अधर्म से कभी नहीं बच सके ।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र ३ य समु. पृ. १६५, १६६]

[तथा देखो द. ग्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि. पृ. ६४७-६४९]

... जो शूद्र को वेदादि पढने का अधिकार न होता तो वह ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता।

[द. ग्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि पृ. ६५०]

... क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा कि किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढने से रोक कर मूर्ख रक्खा चाहे।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार. पृ. ८४५]

ऐसे लडकों और लडकियों को बोलने सुनने चलने बैठने उठने खाने पीने पढने विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोडने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये ।

[द. ग्र. द्वि. ऋग्वेदादि पृ. ६५६]

जो ब्राह्मण वर्णस्थ हों तो पुरुष लडकों को पढावें तथा सुशिक्षिता स्त्रीलडकियों को पढावें। नानाविध उपदेश और वक्तृत्व करके उनको विद्वान् करें ।

[द. ग्र प्र. भा. स. प्र. ४ थ समु पृ. २०५]

अध्यापक लोग ऐसा यत्न किया करें जिससे विद्यार्थी लोग सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सत्यता, जितेन्द्रियता, सुशीलतादि शुभगुणयुक्त शरीर और आत्मा का पूर्ण बल बढाके समग्र वेदादि शास्त्रों में विद्वान् हों सदा उनकी कुचेष्टा छुडाने में और विद्या पढाने में चेष्टा किया करें। और विद्यार्थी लोग सदा जितेन्द्रिय शान्त पढनेहारों में प्रेम विचारशील परिश्रमी होकर ऐसा पुरुषार्थ करें जिससे पूर्ण विद्या, पूर्ण आयु, परिपूर्ण धर्म और पुरुषार्थ करना आ जाय ।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ४ थे समु. पृ. २०८]

जहां तक बने वहां तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने कराने में धनादि पदार्थों का व्यय कर के उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षायुक्त कर दें।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ४ थे समु. पृ. २१९]

धन्य! वे पुरुष हैं कि सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं और जानने के लिये परिश्रम करते हैं, जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ८ म. समु. पृ. ३३८]

अविद्या के लक्षण ये हैं (अनित्य) अर्थात् कार्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोकलोकान्तर में नित्य बुद्धि) तथा जो (नित्य) अर्थात् ईश्वर जीव जगत् का कारण, क्रिया क्रियावान्, गुण गुणी और धर्म धर्मी है, इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है, इनमें अनित्य बुद्धि का होना यह अविद्या का प्रथम भाग है। तथा (अशुचि) मलमूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्र बुद्धि का करना, तथा तालाब बावरी कुण्ड कूंआ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुडाने की बुद्धि करना और उनका चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्याव्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना, स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यंत प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थोंको शुद्ध मानना और सत्यविद्या सत्य भाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सबसे प्रेमभाव से बर्तना आदि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना यह अविद्या का दूसरा भाग। तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम क्रोध लोभ मोह, शोक ईर्ष्या द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुख रूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि करना यह अविद्या का तीसरा भाग है। इसी

प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड में चेतनभाव और चेतन में जडभावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है। [यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु हो के उनको सदा नचाती रहती है।] परंतु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य अशुचि दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता दुःख और अनात्मा में नित्य पवित्रता सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है। [जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।]

[द. ग्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि. पृ. ४२७, ४२८]

जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य अर्थात् जो कार्य जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा बना रहता है, वैसी विपरीतबुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है। अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्याभाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्र बुद्धि दूसरा, अत्यंत विषयसेवन रूप दुःख में सुखबुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है। इस से विपरीत अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख, सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है।

अर्थात्... जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्वस्वरूप न जान पडे, अन्य में अन्य बुद्धि होवे, वह अविद्या कहाती है।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ९ म. समु. पृ. ३५१, ३५२]

जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जायें वह विद्या और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जायं वह अविद्या कहाती है।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार भानु पृ. ७४६]

जिससे ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का सत्य-विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम विद्या है।

[द. ग्र. द्वि. भा. आर्योद्देश्य पृ. ८९२]

जो विद्या से विपरीत है, भ्रम अन्धकार और अज्ञान रूप है इसको अविद्या कहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. आर्योद्देश्य पृ. ८९३]

जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानके उससे उपकार लेके और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें वह अविद्या कहाती है।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु. पृ. ७३१]

जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभगुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोडके सदा आनन्दित हो सकें वह शिक्षा कहाती है।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु पृ. ७३१]

मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिये...वर्णोच्चारण से लेकर वेदार्थज्ञान के लिये ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य है।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु पृ. ७३१]

जहां [ऐसे ऐसे] मूढ मनुष्य पठनपाठन आदि व्यवहारों को करने हारे होते हैं वहां सुखों का तो दर्शन कहां किन्तु दुःखों की भरमार तो हुआ ही करती है। इसलिये बुद्धिमान् लोग [ऐसे ऐसे] मूढोंका प्रसंग वा इनके साथ पठन पाठन किया को व्यर्थ समझ कर... धार्मिक विद्वानों का प्रसंग और उनही से विद्या का अभ्यास और सुशील बुद्धिमान् विद्यार्थियों को ही पढाया करें।...

... आलस्य, नशा करना, मूढता, चपलता, व्यर्थ इधर उधर की अण्डबण्ड बातें करना, जडता कभी पढना कभी न पढना, अभिमान और लोभ लालच ये सात (७) विद्यार्थियों के लिये विद्या के विरोधी दोष हैं। क्योंकि जिसको सुख चैन करने की इच्छा है उसको विद्या कहां और जिसका चित्त विद्याग्रहण करने कराने में लगा है उसको विषय सम्बन्धी सुख चैन कहां? इस लिये विषय-सुखार्थी विद्या को छोडे और विद्यार्थी विषयसुख से अवश्य अलग रहे, नहीं तो परमधर्मरूप विद्या का पढना पढाना कभी नहीं हो सकेगा। ...(प्रश्न) कैसे कैसे मनुष्य विद्याओं की प्राप्ति कर और करा सकते हैं? (उत्तर) ... जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट, शुभगुणस्वभावयुक्त और रोगरहित पराक्रमसहित शरीर,

ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास आदि कर्म करते हैं उनके वे सब उत्तम गुण, बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्मयुक्त कर्म और सब सुखों की प्राप्ति कराने हारे होते हैं और उन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु पृ. ७२९, ७३०]

[देखो द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ४ र्थ समु. पृ. २०७, २०८ तुलना करो]

जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिये तथा आचार्यकुल में जाकर विद्या ग्रहण के लिये प्रयत्न करें वह ब्रह्मचारी कहाता है। ... जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा पूर्वक विद्या होने के लिये तन मन और धन से प्रयत्न करें उसको आचार्य कहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु० पृ. ७३२]

शिष्य उसको कहते हैं कि जो सत्यशिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला हो।

[द. ग्र. प्र. भा. स्वमन्तव्याभन्त. प्र. स. ३२;७९४]

जो सांगोपांग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह "आचार्य" कहाता है।

[द. ग्र. प्र. भा. स्वमन्तव्यामन्त० प्र. स. ३१, ७९४]

जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढा देवे उसको आचार्य कहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. आर्योद्देश्यरत्न. स. ६१ पृ. ८९७]

माता पिता और जो सत्य को ग्रहण करावे और असत्य को छुडावे वह भी गुरु कहता है।

[द. ग्र. प्र. भा. स्वमन्त. प्र. स. ३३ पृ. ७९४]

जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को गुरु कहते हैं और अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे उसको भी गुरु अर्थात् आचार्य कहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. आर्य्योद्देश्य. र. स. ६२ पृ. ८९७]

जबतक गुरुकुल में रहें तबतक माता पिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझे।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. चतुर्थ समु. पृ. २०५]

आचार्य शिष्य के पारस्परिक व्यवहार के लिये देखो

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार भानु. पृ. ७३४, ७३५]

जो अपने पुत्र पुत्री और विद्यार्थियों को सुनाये कि सुन मेरे बेटे बेटियां और विद्यार्थी! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे, तू इसकी दाढी मूंछ पकड ले, इसकी जटा पकड के ओढनी फैंक दे, धॉल मार, गाली दे, इसका कपडा छीन ले, पगडी वा टोपी फैंक दे, खेल, कूद, हंस, रो, तुम्हारे विवाह में फुलवारी निकालेंगे इत्यादि कुशिक्षा करते हैं उनको माता पिता और आचार्य न समझना चाहिये किन्तु संतान और शिष्यों के पक्के शत्रु और दुःखदायक हैं। क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर लडकों को न धुडकते और न दण्ड देते हैं वे क्यों कर मातापिता और आचार्य हो सकते हैं? ...जो अपने सामने यथातथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरी कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभ गुणों के लिये उपदेश नहीं करते, न तन मन धन लगा के उत्तम विद्या व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों को सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं वे माता पिता और आचार्य कहाकर धन्यवादके पात्र कभी नहीं हो सकते। और जो अपने अपने सन्तान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म, अधर्म, प्रमाण प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड, वेद शास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेदशास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ कराकर विद्या पढने, आचार्य के अनुकूल रहने की रीति जना देवें कि जिससे विद्याप्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हों, वे ही माता पिता और आचार्य कहाते हैं।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार० पृ. ७३२,७३३]

अहोभाग्य उस मनुष्यका है कि जिसका जन्म धार्मिक विद्वान् माता पिता आचार्य के सम्बन्ध में हो, क्योंकि इन तीनों की ही शिक्षा से मनुष्य उत्तम होता है। ये अपने सन्तान और विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने, पीने, बैठने, उठने, वस्त्रधारण करने, मातापिता आदि के मान्य करनेके उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध

चेष्टा न करने आदि के लिये प्रयत्न से नित्यप्रति उपदेश किया करें और जैसा जैसा उनका सामर्थ्य बढता जाय वैसी वैसी उत्तम बातें सिखलाते जायें।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार. पृ. ७३२]

जहां तक बनें वहां तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने कराने में धनादि पदार्थों का व्यय उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षायुक्त कर दें [और धर्मयुक्त व्यवहार करके मोक्ष का भी साधन किया करें]

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ४ र्थ समु. पृ. २१९]

विद्या चार प्रकार से आती है-आगम स्वाध्याय प्रवचन और व्यवहारकाल। आगमकाल उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढाने वाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सकें। स्वाध्यायकाल उसको कहते हैं जो पठनसमय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों, उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापार विचार के ठीक ठीक हृदय में दृढ कर सके। प्रवचनकाल उसको कहते हैं कि जिससे दूसेर को प्रीति से विद्याओं को पढा सकना। व्यवहार काल उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्य विद्या होती है तब यह करना यह न करना वही ठीक ठीक सिद्ध होके वैसा ही आचरण करना हो सके, ये चार प्रयोजन हैं तथा अन्य भी चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिये हैं-श्रवणमननिदिध्यासन और साक्षात्कार। श्रवण उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र इंद्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो जो अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करने हारे शब्द निकलें उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना। मनन उसको कहते हैं कि जो जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुए हैं उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ और कौन अर्थ किस शब्द के साथ सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उलटे होने में क्या क्या हानि होती है? इत्यादि। निदिध्यासन उसको कहते हैं कि जो जो अर्थ और सम्बन्ध सुने विचारे हैं वे ठीक ठीक हैं वा नहीं इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ निश्चय करना और साक्षात्कार उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने विचारे और निश्चय किये हैं उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं।

[द. ग्र. द्वि भा. व्यवहारभानुः पृ. ७३३, ७३४]

(प्रश्न) विद्या को किस क्रम क्रम से प्राप्त हो सकता है? (उत्तर) शुद्धवर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थ, धार्मिक विद्वानों का संग, विषयकथा-प्रसंग का त्याग, सुविचार से व्याकरण आदि शब्द अर्थ और सम्बन्धोंको यथावत् जानकर उत्तम क्रिया करके सर्वथा साक्षात् करता जाय। जिस जिस विद्या के लिये जो जो साधनरूप सत्य ग्रन्थ हैं उन उन को पढ कर वेदादि पढनेके योग्य ग्रन्थोंके अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र विद्वान् होनेके साधनहैं।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार. पृ. ७४४, ७४५]

(प्रश्न) आचार्य किस रीति से विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करावें और विद्यार्थी लोग करें? (उत्तर) आचार्य समाहित होकर ऐसी रीतिसे विद्या और सुशिक्षा करें कि जिसमें उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह ही बढता जाय, ऐसी चेष्टा व कर्म कभी न करें कि जिसको देख व करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जावें। दृष्टान्त-, हस्तक्रिया, यंत्र कलाकौशल विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जायें, अपने आत्मा में इस प्रकार का ध्यान रखें कि जिस जिस प्रकार से संसार में विद्या धर्माचरण की बढती और मेरे पढाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा के कारण न हो जायं कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त न गिना जाऊं, ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुणकर्मस्वभाव से मेरे गुण-कर्म-स्वभाव विरुद्ध होने से मुझको महादुःख भोगना हो। ... विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती जाय वैसे कर्म करें, जिससे उसका आत्मा सन्तुष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर सदा प्रसन्न रहें, रातदिन विद्याहीके विचार में लगकर एक दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को पढाते जावें। जहां विषय व

अधर्म की चर्चा भी होती हो वहां कभी खडे भी न रहें। जहां जहां विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो वहां से अलग कभी न रहें। भोजन छादन ऐसी रीति से करें कि कभी रोग, वीर्यहानि वा प्रमाद न बढे। जो बुद्धि के नाश करने हारे नशा के पदार्थ हों उनको ग्रहण कभी न करें, किन्तु जो जो ज्ञान बढाने और रोग नाश करने हारे पदार्थ हों उन्हीं का सेवन सदा किया करें। नित्यप्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढाना, सत्य धर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें। जो जो पठने में विघ्नरूप कर्म (जिनका इसी नियम में पूर्व वर्णन कर आये हैं) हों उनको छोडकर पूर्ण विद्या को प्राप्त करें।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार. पृ. ७३६, ७३७]

... विद्या से यथार्थज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना विद्या का फल है। क्योंकि बिना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता। क्या भया किसी को क्षणभर सुख हुआ, न हुआ सा है। किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जान कर सिद्ध कर सकें। इसलिये सबको उचित है कि इनकी सिद्धि के लिये विद्या का अभ्यास तन, मन, धन से किया और कराया करे।...... जहां विद्या रूप सूर्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है वहां दुःखों की तो भरमार, सुख की क्या कथा कहना है? और जहां विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दुःख को ठिकाना भी नहीं मिलता है।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार. पृ. ७३६]

वेदादि विद्या का पढना सत्संग करना होता है, जिससे कोई इसको ठगाई में न फंसा सके औरों को भी बचा सकें। क्योंकि मनुष्य का नेत्र विद्या ही है। बिना विद्या शिक्षा के ज्ञान नहीं होता। जो बाल्यावस्था से उत्तम शिक्षा पाते हैं वे ही मनुष्य और विद्वान् होते हैं। जिनको कुःसंग है वे दुष्ट पापी महामूर्ख होकर बडे दुःख पाते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ११ समु. पृ. ५४३]

विद्या के बिना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता और विद्या पढ के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता और न उसकी आज्ञा में चलता है वह मनुष्य शरीर धारण करके निष्फल चला जाता है।

[द. ग्र. द्वि. भा. संस्कार पृ. २४६, २४७]

विद्या पढते समय व पढके किसी दूसरे को... बराबर पढाता जाय, क्योंकि पढने से पढाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है। पढके आप अकेला विद्वान् रहता है और पढाने से दूसरा भी हो जाता है। उत्तरोत्तरकाल में विद्या की वृद्धि होती ही है। जो विद्या को प्राप्त होता है वह मनुष्य परोपकारी धार्मिक अवश्य होता है। क्यों कि जैसे अन्धा कुए में गिर पडता है वैसे देखने हारा कभी नहीं गिरता और अविद्या की हानि आदि प्रयोजन पढाने से ही सिद्ध होते हैं।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार. पृ. ७४७]

यही कोश अक्षय है इसको जितना व्यय करें उतना ही बढता जाय, अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी भी निजभाग लेते हैं और विद्याकोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता। इस कोश की रक्षा और वृद्धि करने वाला विशेष राजा और प्रजा भी है।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ३ य समु. पृ. १६७]

इसलिये वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जे अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढावें जिससे वे सन्तान मातृ पितृ पति सासु श्वसुर राजा प्रजा पडोसी इष्ट मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्तें।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ३ य समु. पृ. १६६, १६७]

संसार में जितने दान है अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेदविद्या का दान अति श्रेष्ठ है। इस लिये जितना बन सके उतना प्रयत्न, तन मन धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। (जिस देशमें यथायोग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्मका प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ३ य समु. पृ. १६६, १६७)

जो मनुष्य विद्वान् सत्संगी होकर पूरा विचार नहीं करता वह सदा भ्रमजाल में पडा रहता है । धन्य ! वे पुरुष हैं कि सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं और जाननेके लिये परिश्रम करते हैं, जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं ।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. २ स समु. पृ. ३३२)

सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढाते हुए (एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें) उसके साथ वेदादि शास्त्रोंका पढना पढाना भी बराबर करते जायं...पढना पढाना भी कभी न छोडो ।... तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध करो, तथा अनेक प्रकार की शिल्पविद्या की उन्नति करो । जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी, सत्यकारी पूर्ण विद्वान् सब का सुख चाहने वाले हों उन सत्पुरुषों के संग से करनेके योग्य व्यवहारोंको सदा बढाते रहो । ...अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन शिक्षा से विद्वान करके सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो । ··· (ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं उन सब के साथ देखो द. ग्र. प्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि. पृ ३९२) स्वाध्याय जो पढना और प्रवचन जो पढाने का उपदेश किया है सो इस लिये है कि (पूर्वोक्त) जो धर्म के लक्षण हैं वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्य विद्या को पढें (और तभी सदा सुख में रहेगें) क्यों कि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है ।··· धर्म और ईश्वर की प्राप्तिकरने के लिये नित्य विद्या ग्रहण करो अर्थात विद्या का जो पढना पढाना है, यही सबसे उत्तम है ।... जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देनेवाला है वह विद्या पढने के समय और जब तक न पढ चुके तक न तबतक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि हे पुत्रों ! वा शिष्य लोगो ! तुम सदा सत्य ही बोला करो और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो इसमें आलस्य व प्रमाद कभी मत करो आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो । और युवावस्थामें ही विवाह करो, प्रजा की उत्पत्ति करो, तथा सत्य धर्म को कभी मत छोडो, कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढाते जाओ और पढनें पढानेमें कभी आलस्य मत करो । ··· देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और सङ्ग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य व प्रमाद कभी मत करो । माता, पिता आचार्य अर्थात विद्याके देने वाले और अतिथि जो सत्य उपदेश के देने वाले विद्वान् पुरुष हैं उनकी सेवा में आलस्य कभी मत करो । माता पिता और आचार्य आदि अपने संन्तानों व शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो ! व शिष्य लोगो ! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नही । जो हमारे बीचमे विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य है, उन्ही के वचनों मे विश्वास करो और उनको सदा दान देते रहो तथा विद्यादान सदा करते जाओ । और जब तुमको किसी बातमे सन्देह हो तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपात रहित धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ कर शङ्का निवारण सदा करते रहो । वे लोग जिस २ प्रकार से जिस २ धर्म काम में चलते होवे वैसे ही तुम भी चलो । यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटाके उसके स्थान में विद्या को और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है. इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं ।

(द. ग्र. द्वि. भा ऋग्वेदादि. पृ. ३९२-३९३)

(तुलना करो द. ग्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि पृ. ३९६-३९७)

जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो पर दुष्ट व्यवहारों को छोडकर धार्मिक होके खाने पीने बोलने सुनने बैठने उठने लेने देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है वह कहीं कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता और जो संपूर्ण विद्या पढके पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड के दुष्ट कर्मों को करता है वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नही हो सकता । इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लडके लडकी इष्ट मित्र अडौसी पडौसी और स्वामी भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनन्द करते रहें. ।

(द. ग्र. द्वि भा. व्यवहार.. पृ. ७६९)

ड्रूइद्-धर्म-त्रैविद्य धर्म।

(ले०- श्री० पं० जयदेवशर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ, अजमेर)

ब्रिटन टापूमें अतिप्राचीन धर्म के पुरोहित लोग 'ड्रूइद्' (Druids) कहलाते थे। ड्रुइदों का धर्म अति प्राचीन था। यह गाल, ब्रिटन्, और अन्य सेल्ट जातियों में प्रचलित था। इस धर्मका आगम-उद्गम नोह के पोते और जाफेट् के पुत्र 'गोमेर' से मानते हैं। इस धर्म में जो परिवर्तन हुए हैं, उन्हें देखकर बडा आश्चर्य होता है। बादमें जाकर यह इतना बिगडा कि इसमें सिवाय क्रूरतापूर्ण अंध विश्वास के कुछ नहीं रहा। ईसा से ५६ वर्ष पूर्व ब्रिटन द्वीपमें जूलियस सीजरने आक्रमण किया था, उस समय ब्रिटिश द्वीपों में 'ड्रूइद्' धर्म मुख्य रूपसे था। उस समय वहां के गाल देश के लोग ड्रूइद् धर्मका विशेष अभ्यास करते थे। वे लोग ड्रूइद् धर्म का विशेष ज्ञान करनेके लिये ब्रिटिश द्वीपों में जाते थे। ब्रिटिश टापू उस समय ड्रूइद् धर्म की मुख्य गढ था।

मूलशब्द।

सीजरने जिस धर्मका वर्णन किया है, वह उस समय 'ड्रूइद्' धर्म था। 'ड्रूइद्' शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियां बताई जाती हैं। कोई तो उस शब्द का मूलशब्द 'ड्रूथिव्' शब्द बतलाता थे, जिसका अर्थ है 'सत्यका सेवक'। दूसरे इसका मूल वेल्श भाषा का शब्द 'दर्-गविद्' बतलाते हैं, जिस का अर्थ है, 'मुख्य पुरोहित' [तर-कु-विद्- तर्क विद् या त्रिक विद्।] बहुतसे यूनानी भाषा के 'ड्रुस्' (वृक्ष) शब्द को इस का मूल शब्द बतलाते हैं।

ड्रुइदोंकी मान-प्रतिष्ठा।

ड्रूइद् धर्म के पुरोहित प्रजा और सर्वसाधारण के धार्मिक कार्योंपर अपना बडा अधिकार रखते थे। सीजर के कथनानुसार दो वर्गों का जनतापर बडा प्रभाव था, एक तो 'ड्रुइद्' लोगों का, दूसरे धनी लोगों का। डाइडोरसका कहना है कि कोई भी धर्मकार्य विना 'ड्रुइद' के हो नहीं सकता था। वे परमेश्वर के विशेष दया-कृपा के पात्र समझे जाते थे। जनसाधारण उस समय इनको परमेश्वर और देवताओंका विशेष कृपाभाजन मानती थी। जनता इनके लिये अनेक बलि चढाती, अनेक धन्यवाद देती, इनकी मनौती करती, इनकी बात को बडी श्रद्धा और विनय से मानती थी।

इन का इतना अधिक मान था कि जब दोनों पक्षों की बडी बडी सेनाएं क्रोधमें उमडतीं, तलवारें खेंचकर, भाले तानकर लडने को तैय्यार खडी हो जाती थीं, उस समय भी 'ड्रूइद्' लोग बीचमें आ पडने पर वे अपनी अपनी तलवारें वापस मियानों में डालकर अपने अपने देशों को लौट जाती थीं। उस समय भी इन धार्मिक पुरोहितों का जनसमाजने बहुत अधिक अधिकार और रियायतें दे रखी थीं। इनके शरीर पवित्र और अवध्य समझे जाते थे। इनपर हाथ उठाना पाप समझा जाता था, इनपर कोई टेक्स या राज-कर न होता था, वे सेनामें भी सम्मिलित या भर्ती नहीं किये जाते थे। बडे बडे धनी, मानी और राजकुमार तक भी 'ड्रूइद्' बनने के लिये अभिमानपूर्वक तैयार होते थे। जिस देश वा नगर में जितने अधिक ड्रूइद् होते, उस देश वा नगर का उतना ही भाग्य समझा जाता था। जितनी इन की संस्था बढती देशका अहोभाग्य इतना अधिक समझा जाता था।

व्यवस्था।

ड्रूइद् पुरोहितों में बडी व्यवस्था थी। उनमें कई भेद थे, वे अपनी भिन्न भिन्न पोशाकों से पहचाने जाते थे। समस्त जनता के ऊपर सर्वोच्च 'ड्रूइद्' नियत होता था, वह (Arch-druid) 'आर्क ड्रूइद्' कहलाता था। ऐसे दो प्रमुख ड्रूइद् तो बर्तानियामें, एक एंग्लेसिया द्वीपमें था और एक मान टापू में था। यह पुरोहिताई पितासे पुत्र को जाती थी, परन्तु प्रमुख पुरोहिता

का पद बहुसम्मति से चुना जाता था। प्रमुख पुरोहित के पद के लिये लोग बडे उत्सुक रहते थे, उम्मेदवार भी बडे उत्साह से आगे आते थे। वोट देनेवालोंमें कभी कभी इतना संघर्ष हो जाता था कि अच्छी खासी घरू लडाई (civil war) हो जाती थी।

ड्रूइद् लोगों के भी बहुत से वर्ग थे। कुछ भाट थे, और कुछ अन्य पेशे करते थे। भाट (ब्रह्मभट्ट Bards) कवि होते थे, वे वीरता की कविता बनाते थे, इतिहास-वंशावलियों के चरित्र कविता में रचा करते थे। जर्मनी, गॉल और ब्रिटिनमें अधिक थे। 'त्राएड्' (Traides) लोग पुराने ड्रूइदों के ही सच्चे प्रतिरूप समझे जाते थे, वे भी भाटों और कवियों का काम करते थे। वे अपने समाजमें अनेक प्रकार का सुधार करते थे। वे उत्तम, भले कार्यों की सदा प्रशंसा करते थे। वे यद्यपि किसी व्यवस्थित धार्मिक संस्था के अंग न थे, तो भी सारंगी आदि पर गागाकर लोगों को शिक्षा देते थे, भले पुरुषों के चरित्र छन्दों में गाया करते थे, किसी धर्म वा सम्प्रदाय का उसमें सम्बन्ध न होता था, यद्यपि सभ्यता की दृष्टि से जनता इतनी उच्च न थी तो भी इन लोगोंने अपने प्रति जनता का भारी आदर प्राप्त कर लिया था।

दूसरा वर्ग इनका 'ड्यू बेगस्' था, ये कुछ विज्ञानप्रिय थे, तो भी इनका रहनसहन जादूगरों के समान था। इनके साथ इनके कर्तव्योंको आश्चर्य से देखनेवाली भीड सदा जमा रहती थी, इनको नैसर्गिक शक्तियों का अच्छा ज्ञान रहता था। (यूबेगस्=सुवाग्)

इनके अनेक वर्ग।

एक वर्ग था 'वेट्स'। इस वर्ग में बडे धार्मिक पवित्र सन्त पुरुष थे, ये फेड्स या प्रोफेट (सन्त) कहाते थे, वास्तविक पुरोहित कहे जा सकते थे। ये देवबलि भी कराते थे, वे ईश्वरभक्ति में अनेक भजन स्तुति भी बनाते थे, उनको धार्मिक कृत्योंके अवसरों में गाते थे। ये 'वेट्स' लोग तीन वर्ग के थे। गायक, कवि और सन्त। वे अपनी कविताएं और छन्द ऐसे भक्तजनों के समक्ष गाते थे, जो उनको परमेश्वर की भक्तिसे आविष्ट समझते थे। [वेट्स=वेदस=वेदी लोग]

इनके कार्य।

ड्रूइद् लोग एक धर्म के प्रवर्तक थे, वे लोगों को परमेश्वरसम्बन्धी बातों की शिक्षा देते थे, वे धार्मिक कृत्यों में मुख्य भाग लेते थे। उनके कुछ धार्मिक कृत्य थे, वे बच्चों को भी धार्मिक बातों की शिक्षा दिया करते थे। वे अपने समय के कानूनों की व्याख्या करते, दीवानी और फौजदारी के मामलों में विचारपति के रूप में न्याय-व्यवस्था दिया करते थे।

व्यवसाय-धन्धा।

डॉ० हेनरीने इन ड्रूइद् लोगों के रहन सहन के सम्बन्ध में लिखा है कि- बहुत से ड्रूइद् लोग तो आश्रम बनाकर साधु, तपस्वी का जीवन व्यतीत करते थे, वे सब के प्रति भ्रातृभाव से रहते थे, एक मन्दिर के पास अनेक ड्रूइद् लोग उस मन्दिर के पूजनादि कार्य के लिये रहते थे। ब्रिटेन का प्रमुख ड्रूइद् एंगलेसी में रहता था, वह वहां बडी शान से रहता था, उसकी महंती के अधीन भी अनेक ड्रूइद् रहते थे। वे भी अपने अपने कार्योंपर नियत रहते थे। इन महन्तोंके महलों के भग्नावशेष अभी तक भी कदाचित् ढूंढनेपर मिल सकते हैं। बहुतसे ड्रूइद् लोग तो राजदर्बारों में, बडे धनियों के घरों में धार्मिक कृत्य कराने के लिये रहा करते थे। क्योंकि मन्दिरों और घरों में भी कोई धार्मिक कृत्य विना 'ड्रूइद्' की उपस्थिति के नहीं हो सकता था। इनमें से बहुतसे प्राचीन पुरोहित जनसमाज को त्याग कर एकान्त संन्यासी, तपस्वी के रूप में भी रहने लगते थे। इस से उनकी तप और पवित्रता की बडी ख्याति हो जाती थी। स्काटलैण्ड और इंगलैण्डके पश्चिमी जंगली भागों में अभी भी ऐसी गोल झोपडियां प्राप्त होती हैं, जिनमें केवल एक ही आदमी रह सकता है, जिनको लोग 'ड्रूइद् का घर' कहते हैं। इस प्रकार का एकान्तजीवन गृहस्थ होकर व्यतीत करना कठिन मालूम होता है, इस लिये प्रतीत होता है कि अधिक संख्यामें वे लोग अविवाहित जीवन ही व्यतीत करते थे। उनके इर्दगिर्द स्त्री-भक्तिनें भी रहा करती थीं, इन महिलाभक्तिनों की एक और व्यवस्थित संस्था थी। वे ड्रूइदेस' (Druidess) कहलाती थीं। इनका विवरण हम आगे करेंगे।

इसमें संदेह नहीं कि ब्रिटिश टापू के द्रूइद् लोग जिस जनता में यत्नवान् थे, उस जनता में उनके प्रति बडा सद्भाव था, जनता उन की हर बात में सहायता करती थी । बहुधा मन्दिर के आसपास उनकी जमीनें भी होती थीं । मन्दिरों में जो चढावा चढता था, वह उन पुरोहितों का ही होता था । प्रत्येक घरपर कुछ वार्षिक दानरूप में नियत था, वह नियम से प्रतिवर्ष मन्दिर के पुजारी महाशय को अवश्य दे दिया करते थे । जो व्यक्ति इस पवित्र दान को नहीं देता था, वह जाति से बाहर निकाल दिया जाता था । अनेक लेखकोंने यह बात लिखी है कि द्रूइद् लोगोंने वार्षिक लेन लेनेके बहुतही उत्तम नियम बना रखे थे ।

प्रत्येक गृहस्थ अपनी घरकी यज्ञाग्निको अक्तूबरकी अन्तिम रात्रिको बुझा देता था और अगले दिन १ नवम्बर को उसे अपना दातव्य दान देना होता था । उस दिन उसका कर्तव्य होता था कि, वह मन्दिर में अवश्य आवे और मन्दिर की यज्ञवेदिमें से अपने गृह के यज्ञाग्नि को पुनः जला लेवे । जो व्यक्ति अपने दातव्य दान देवे और मन्दिर से अग्नि न लेवे, तो उसको शीत ऋतु के पूर्व अग्नि शीतकाल के लिये कभी न मिल सकती थी और वह सालभर शीत का दुःख पाता था । साथ ही मन्दिर, न्यायालय, कचहरी, और अडोस-पडोस सर्वत्र उसका सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता था ।

द्रूइद् लोगों में ६ क्रमिक पदाधिकार थे, क्रमसे उत्तरोत्तर मान अधिकार पद पर पहुंचनेके लिये उनको यत्न करना पडता था । छहों की पोशाकें भिन्न भिन्न होती थीं । पहले पदकी पोशाक बडी सादी होती थी, उसे कमर में पेटी से बांध लिया जाता था । द्वितीय मानपद के पुरोहित लम्बे चोलेपर एक रेशमी पट्टी पहनते थे, जो दायें कंधेपर से होकर यज्ञोपवीत के समान बाईं ओरको आकर चोलेपर सुशोभित होती थी । तृतीय और चतुर्थ पदके पुरोहित गलेमें एक हलका दुपटा धारण करते थे, जो छातीपर आगे को लटकता रहता था । पांचवें पदके पुरोहित भी यज्ञोपवीत के समान एक रेशमी पट्टी धारते थे । छठे पद के सर्वोच्च पुरोहित मुख्य पुरोहित (Arch Druids = अर्घ्य-पुरोहित वा अग्रपुरोहित) थे, वे बडा लम्बा चौडा चोगा पहनते थे, जो उनके सारे शरीर को ढक लेता था । उनके सिरपर ओक वृक्ष का एक ताज या मुकुट रहता था, वे हाथ में अधिकारसूचक एक दण्ड (Staff or sceptre) धारण करते थे । जब वे किसी पवित्र धार्मिक कृत्य में लगते थे तो वे सब छहों वर्ग श्वेत वस्त्र धारण करते थे । गले में ओक के पुष्पपत्रों की माला धारण करते थे । कम आयु के द्रूइद लोग दाढी न रखते थे, उनके गलेमें कण्ठका आभूषण, बाजूबन्द, गले में धातुके आभूषण भी होते थे। वृद्ध द्रूइद् पुरोहित की आकृति गम्भीर होती थी, उसकी दाढी लम्बी और गले में सोने की जंजीर होती थी । उनके चोलेपर भी सुनहरी कोर लगी रहती थी ।

द्रूइद् लोगों के धार्मिक सिद्धांत ।

द्रूइद् लोगों के दो प्रकार के सिद्धांत होते थे । एक तो गुप्त, दूसरे प्रकट सर्वसाधारणोपयोगी । गुप्त रहस्यमय, सिद्धांत तो केवल विशेष दीक्षा लेनेवालोंको ही बतलाये जाते थे, जो उनको सदा गुप्त रखने की प्रतिज्ञा लेनेपर ही सिखाये जाते थे। वे उसको सब मनुष्यों से छुपाकर रखते थे, वे उन रहस्यों का उपदेश भीतरी पर्वतगुफाओं, और जंगल के गहन गंभीर स्थानों में, निर्जन एकांत में सिखाए जाते थे । और प्रकट सिद्धांतों को तो सर्वसाधारण के समक्ष सदा ही वर्णन किया जाता था ।

अमर आत्मा ।

मि० टामसने अपने- Illustration of the British History में द्रूइद् लोगोंके ईश्वरवाद का बडा मनोरंजक चित्रग्राही चित्र खेंचा है । द्रूइद् लोगों का सब से अधिक रहस्यमय और बडा सिद्धांत था कि- परमेश्वर एक है । वही जगत् की रचना करता और वही सबका शासन करता है । इस सिद्धान्त को वे बाद में मूर्तिपूजा प्रचलित होने के बाद भी बराबर मानते ही रहे । यह वही सिद्धांत है, जिसको भारतवर्ष के ब्राह्मण लोग भी बडा ही गुप्त रखते हैं । सीजर का कथन है कि- द्रूइद् लोगों ने अमर देवताओंकी अनेक शक्तियों के बारे में बहुत सी बातों की शिक्षा दी थी । परन्तु यह भी विश्वास किया जाता है कि वे अपने शिष्यों को सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में मूसाकी वर्णित सृष्टिक्रम से मिलता जुलता कोई क्रम

उपदेश किया करते थे। वे पुरुष की रचना, मनुष्य का अधःपतन और स्वर्ग से देवों का अवतरण, जलप्रलय, और अन्त में अग्निप्रलय होना मानते थे।

वे मुख्य रूपसे आत्मा के अमर होने के सिद्धांत को मानते थे। और जनसाधारण में वीरता को उत्तेजित करते हुए इस सिद्धान्त का आश्रय लेते थे। प्रायः सभी पुरानी जातियें आत्मा के अमरत्व के सिद्धांत से मृत्यु को अति तुच्छ गिनते थे। द्रूइद् लोगों के अगले त्रैद (Triad) लोग भी इसी सिद्धांत को मानते थे। वे इस सिद्धांत को युद्ध में वीरता से लडने के लिए स्मरण करते थे। आत्मा तो अमर है, वह कभी नहीं मरता, जीने के पश्चात् दूसरा जीवन प्रारम्भ हो जाता है। इस सिद्धांत का प्रायः जीवका अनेक जन्म ग्रहण करना, शरीर से शरीरान्तर लेना और पुनर्जन्म ग्रहण करना ही था। वे तो यहां तक मानते थे कि मरकर जीव आगे भी मनुष्य और नर नर ही बनेगा, नारी नारी ही बनेगी। इसी कारण वे अपनी कबरों में शस्त्र कवच आदि भी रख दिया करते थे। जीव के लिए वे दो प्रकार के लोक मानते थे। एक को वे 'ल्फाथ इन्निस' (प्रातरिन्द्रः) कहते थे। इस लोक में धर्मात्मा लोग रहते हैं, जीव इसमें चढता था। इसी प्रकार दूसरा लोक अंधकारमय है, जिसको वे "अइ फुरिन" [अहिपुरी] कहते थे। वहां अति शीत होती है, वहां हानिकारक जीव, व्याघ्र और सांप, चोर और भेडिये खा जाने को होते हैं।

पुनर्जन्म।

द्रूइद् लोग और उनके अनुयायी गॉल और ब्रिटेन के रहनेवाले अपनी भविष्य में भी सत्ताको प्रमाणित करने के लिए वीरता से युद्ध में जाते थे, और सेनाओं को खुब उत्तेजित किया करते थे। वे हिसाबखाते भी तै नहीं करते थे, इसलिए कि वे फिर अगले जन्म में मिल के सुलझा लेंगे। वे अपने मित्रों की कबरोंपर चिट्ठियां लिखकर डाल देते थे कि वे अगले जन्म में उसको बाँचेंगे। वे कबरों में मृत पुरुष के हिसाब-किताब लिखकर गाड देते थे कि वह उनको पढकर अगले जन्म में चुका देगा। वे उसको उधार देते थे कि वह उसको भी चुका देगा। यदि उनके किसी माननीय तपस्वी गुरु वा आदरणीय महात्मा पुरुष को कोई सताता था, तो वे उसके लिये सहर्ष अपने प्राणों तक को न्योछावर कर देते थे, जिससे वे मरण के उपरांत भी उसके पवित्र सत्संग का अनन्त काल के लिये लाभ कर सकें। कवियों और भाटों के छन्दों में भी पुनर्जन्म और अगले पिछले जन्मों के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। उनके सिद्धांत-अनुसार मनुष्य अनेक मार्गों में रहता है। उसके आगे अच्छाई-बुराई दोनों सामने रहती हैं, उनमें से एक को चुन लेना उसकी अपनी इच्छापर निर्भर है। यदि वह अच्छाई (श्रेय) को चुन लेता है, तो मृत्यु उसको इस पृथिवीलोक से उठाकर सुखमय लोक (The circle of felecity) पहुंचाता है, यदि वह व्यसनी हो जाय, और भोगमय वस्तु (प्रेम) को चुन लेता है, मृत्यु उसको ऐसे मार्ग जाल-चक्रों (circle of courses) में डाल देता है, जहां उसे पशुशरीरों में प्रायश्चित्त करना पडता है। और फिर उसके पश्चात् पुनः उसे मानव-शरीर में आनेका अवसर मिलता था। पुनः मानवशरीर पाने का अंतर उसकी पाप मात्रापर निर्भर होता है। कुछ जन्मों के बाद उसके पाप नष्ट हो जाते हैं, उसकी पाप-वासनाएँ (Passions) शान्त हो जाती हैं, उसकी आत्मा फिर स्वर्गलोक में चली जाती है। यह संक्षेप से 'त्रैद' या द्रूइद् लोगों के सिद्धांतों का संक्षिप्त विवरण है।

रहस्यभरे २० सहस्र मन्त्र।

श्री० डायोजिनस लाएर्टियस ने इनके एक और बडे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का वर्णन किया है, जिसका हम यहां उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। यह सिद्धांत है "भगवान् की पूजा करो और कोई पाप न करो और निरन्तर तप और तितिक्षा (Fortitude) का अभ्यास करो।" द्रूइद् लोगों के सिद्धांतों का बतलानेवाले २०००० (बीस सहस्र) श्लोक वा मंत्र थे। उनका अभ्यास करने के लिए २० वर्ष लगते थे। वे मंत्र या श्लोक द्रूइद् लोगों के गुरु और उनके शिष्य कण्ठाग्र रखा करते थे। उनको लिखकर रखना धर्मविरुद्ध समझा जाता था। जब उनका उपदेश जनता को किया जाता था, तो उच्च नियत अधिकारी द्वारा ही किया जाता था। इन उप-

देशों में से अनेक उपदेश अभीतक भी प्राप्त होते हैं। परन्तु उनकी प्रमाण प्रतीक साथ नहीं जाती थी। द्रूइद् शिष्यों को बडा गुप्त रीतिसे पर्वतों की गुफाओं और जंगलों के एकांत स्थानों में शिक्षा दी जाती थी, जिससे उनको सिखाई शिक्षाएं कोई छुपकर सुन न ले। ईसाइयत का राज हो जानेपर भी इस शिक्षाविधि का सिलसिला चलता रहा, बाद में द्रूइद् लोगों के सिद्धांतों को द्रूइदों के ढंगपर संकलित किया गया और उनको गागाकर प्रचार करने के लिए काम में लाया गया, जिनको "पाल के त्रैद" नाम से पुकारा जाने लगा।

सूर्यकी उपासना।

द्रूइद्-धर्मशास्त्र के अति पवित्र और विशुद्ध भाग अति अधिक प्राचीन थे। बाद में बहुत से असत्य देवीदेवता आ घुसे, जिन्होंने द्रूइद्-के-धर्मों के बिगाड दिया। बाद के कुछ आचार्योंने मूर्तियों की पूजा भी घुसेड दी और परमेश्वर के अनेक स्थानापन्न रूप भी चला दिये। वेही द्रूइद् लोगों के सबसे प्रथम अनुयायी थे। उन्होंने 'सूर्य' को सब जगत् के प्राणों के प्राण परमेश्वर का मुख्य प्रतिनिधि नियत किया, उसको समस्त-निसर्ग का बडा प्राणदाता समझा। उसके बाद के द्रूइद् लोगों ने परमेश्वर की मूर्ति में कुछ पशुसम्बन्धी अंगों की योजना की, जिनसे परमेश्वर के गुणों को पूर्ण रीति दर्शाने की पूर्ति की गई। क्योंकि देवों की किसी बात को भी मानवरूप में बतलाना द्रूइद् सिद्धांतों के विपरीत समझा जाता था। महाशय 'गिल्दास' ने द्रूइद् लोगों की देवमूर्तियों का वर्णन किया है, जो कभी बर्तानिया (ब्रिटिश) टापुओं में विद्यमान थीं। वे मिश्र देशके भूतप्रेतों की भयावनी सूरत की मूर्तियों से भी बढी चढी थीं। ऐसी मूर्तियां उनके मंदिर की चौगिर्दी दीवारों के भीतर और बाहर भी रहा करती थीं, उनके विकृत भयावने रूप होते थे।

सर्वोपरि 'देव'।

तर्कद्वारा यह निर्णय हो चुका है कि ब्रिटिश द्वीपों में भी मूर्तिपूजा का प्रचलन रोमन-आक्रमणों के पूर्व न था, परन्तु रोमन आक्रमणों के पश्चात् ब्रिटिश द्वीपों में भी सेल्टिक नामों से उन्हीं देवी-देवताओं की मूर्तियां पुजने लगीं जिनकी पूजा रोम और यूनान में होती थी। एक वृक्ष के रूप में परब्रह्म परमेश्वर की पूजा होती थी। वा उसको सस् (शासः) नाम से पुकारते थे। हासस् (शासः) का अर्थ है, महा शक्तिशाली (Mighty)। द्रूइद् लोगों ने सर्व शक्तिमान् परमेश्वर देव के लिए इस वृक्ष को प्रतिनिधिरूप से नियत करने के लिए अपने अडोस-पडोस तथा अपने समस्त पुरोहित-मण्डल की सहमति ली थी, और एक बहुत ही सुन्दर और उत्तम वृक्ष चुना। उन्होंने उस महावृक्ष की इधर उधर की अनेक शाखाएं काटकर उनमें से दो बडी शाखाओं को तने के साथ ऐसे ढंग से जोडा, कि वे उसकी दो विशाल मानवभुजाओं-के समान प्रतीत होती थीं। उन्होंने उस वृक्षकी छाती पर नाम खोदकर लिख दिया Thau 'थेऊ' (देव)। वे इसी नामसे परमेश्वर का स्मरण करते थे। दाईं भुजाकी शाखापर लिख दिया Haesus [हासः सं० शासः] बाईं भुजापर लिख दिया Belenus बेलेनस [सं० बेलेन = वरुण] तने के बीच में लिख दिया (Tharanis) थारनिस [सं० धरणीश, धरुणः]

जब द्रूइद् धर्म का अधःपतन होने लगा, तब अनेक देवताओंकी पूजा के साथ एक देवकी पूजा का भाव विलुप्त होने लगा। 'हासस्' देवताको Mars 'मार्स' मंगल देवता समझा जाने लगा। उसको युद्धों और सेनाओंका अधिष्ठातृ देवता मानते थे, उसको और भी अन्य नामों से भी पूजते थे, उसकी पूजा नंगी तलवार के रूपमें भी करते थे। उसकी भेंट वे समाज लूटपाटकी सम्पत्ति चढा देते थे। सीजर का कहना है कि जब वे विजयी होते थे, वे विजय में जो कुछ भी पाते थे, उनमें से समस्त पशुओंको इस देवता के आगे समर्पित कर देते थे और शेष विजय लक्ष्मी को एक नियत सुरक्षित स्थान में रख देते थे। अनेक प्रान्तों में इस प्रकार के समर्पित पदार्थ देखे जा सकते थे। कभी कभी तो लोभवश लोग धर्म की उपेक्षा कर के लूट का माल छुपा भी देते थे और बहुत से देवतापर समर्पित वस्तुओं में से चुरा ले जाते थे। परन्तु ऐसा करनेवालों को बहुत कडा दण्ड दिया जाता था।

'देव-तात' तथा अन्य देवी देवता।

समस्त विश्वके पिता के रूप में ड्रूइद् लोग एक और देवता की पूजा करते थे, जिसको वे 'त्वेउतेतस' (Teutates) जिसमें इंग्लिश दो शब्द थे Deu-Tatt, जिनका अर्थ है, परमेश्वरपिता (देव-तात) बाद में इस देवता को पातालोक का राजा माना जाने लगा, उसको 'दिस' (Dis) नामसे पुकारा जाने लगा। इसी को रोमन और यूनानी लोग प्लूटो (Pluto) नाम से कहते थे। कई समझते हैं कि लोग उसे 'मर्करी' (Mercury) नाम से पूजते थे। इसमें संदेह नहीं कि ब्रिटिन द्वीप के लोग आकाशी ग्रहों की भी पूजा करते थे, उन्होंने सूर्य के अनेक मन्दिर खडे किये थे, वे सूर्य को अनेक नामों से पुकारते थे, जैसे-बेल Bel, बेलिनस Belinus, बेलतुकर्दस Belatucardus, अपोलो Apollo, ग्रानिअस Granius इत्यादि, ये सब नाम सूर्य के अनेक गुणों को बतलाते थे। इसी प्रकार चन्द्र की भी बहुत पूजा होती थी। चन्द्र के भी सूर्य के समान, उसी के पास अनेक मन्दिर थे। ब्रिटान लोग विद्युत् की पूजा करते थे, जिसे वे 'Taranis' 'तरनिस्' (सं० तरणि) नाम से पूजते थे।

परन्तु ब्रिटिन् राजके बहुतसे देवता तो मानवरूप देवता हो गये थे, अनेक उनमें विजयी राजा थे, अनेक बुद्धिमान् जज् थे या वे थे, जिन्होंने पूर्वकालमें कोई बडा उपयोगी थे शिल्प आविष्कार किया था। प्रायः उनमें अधिकांश वही जिन को रोमन और यूनानी पूजते थे। सम्भव है इनमें कुछ बहुत प्राचीन काल के हों, वे प्रायः सेल्ट या कैल्ट जाति के थे, ये शब्द कैल्टिक् भाषा के ही थे। रोम और यूनान के लोग दूसरी जातियों के देवीदेवताओं को अपना लेने में भी बडे चतुर थे। जो अधिक जंगली और असभ्य जातियें होती हैं, वे अपने रिवाजों और पूर्वजोंको अधिक दृढता से पूजा करती हैं। एक अर्धदेवता Saturm सैटर्न था। यह 'तीतान' जाति का आदिपुरुष था। इस नाम का शब्दार्थ है रणवीर (Saturn = शत-रण)। ज्यूपिटर का मूल नाम है 'जौ' (Jow) यह भी कैल्ट भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है जवान [Jow = युवा, युवन्]। जूपिटर सैटरन का कनिष्ठ पुत्र था, जिसे राजगद्दीसे च्युत कर दिया था। उसके बडे पुत्र थे (Neptune) नेपचून और (Pluto) प्लूटो। वे उसके युवराज के समान काम करते थे। रोमनों ने उसके नाम के साथ 'पातर' (पिता) का नाम और जोडकर बडा कर दिया और वह 'जुपितर' कहलाने लगा।

ब्रिटिन द्वीप में 'मर्करी (Mercury) एक घन आकार रूप में पूजा जाता था। गोल बालों का वही मुख्य देवता था, इस के साथ कई प्रतिमाएं थीं, उसको समस्त शिल्पों का प्रवर्तक माना जाता था। वह यात्राओं में उनको मार्ग वा दिशा दिखाता था, लाभ और वाणिज्-व्यापार का अधिष्ठातृ देवता था। वह माइया (Maia) द्वारा ज्यूपिटर का बडा कृपापात्र पुत्र था। उसको पिता से योरोप का पश्चिमी भाग शासन के लिये प्राप्त हुआ था। वहां उसको सेल्ट-भाषा का नाम प्राप्त हुआ 'मर्करी' Mercury (Mere = वाणिज्य के पदार्थ और Wr = मनुष्य Mere wr = Mercury)

इसी प्रकार ब्रिटिश द्वीप में अन्य भी अनेक देवी और देवता थे, जिनकी प्राचीन काल से पूजा होती थी। जैसे-एन्ड्रास्ते (Andraste = इन्द्रहस्त) इसको (Venus) वीनस' कहते थे, इस का दूसरा नाम था दियाना (Diana) और (Minerva) मिनर्वा, (Ceres) सेरेस, (Porserpine) पोर्सरपोइन। इत्यादि, ब्रिटिश लोग सर्प और बैल की पूजा भी करते थे। कोई ताल, तालाव, पर्वत, या जंगल ऐसा नहीं था, जहां कोई जिन्न न रहता या न माना जाता था। उसके निमित्त खूब धन चढता था। सुवर्ण, भोजन, वस्त्र लोग पानी में भी डालते थे।

धर्मस्थल।

प्राचीन ब्रिटिन के ड्रूइद लोगों के पूजा के स्थलों में प्रायः घने ओक के वृक्षों के झुण्ड होते थे, जो देशमें प्रायः अनेक स्थानोंपर थे। इन घने वृक्षों के भीतर पूजा का खुला स्थान होता था, बीचमें वे बडे बडे पत्थरों की इकहरी या दोहरी कतार खडी करते थे। कभी उनपर आडे पत्थर भी रख देते थे। प्रायः देवता के नाम से वे शिला खडी कर देते थे। बीचमें एक चौडी वेदी रखते थे, जिसपर

देवताके निमत्त अग्निमें सुगंधित पदार्थ जलाते थे। कभी कभी वे अहाते के बीच में केवल पत्थरों की ढेरीभर लगा देते थे।

परिक्रमा।

द्रूइद् लोगोंकी पूजा और पद्धतियों के सम्बन्ध में बहुत रहस्य हैं, जो अभीतक स्पष्ट नहीं हुए हैं। उनमें एक रिवाज था, जिसे वे 'दियासूइल' (Deasuil) कहते थे। इसका सम्बन्ध सूर्यपूजा से था। इस संबंधमें डा० लिन्डसे अलेक्ज़ेंडर ने अपने एक निबंन्ध 'अयोना' (Iona) में लिखा है– "वे अपने पवित्र चक्र में पूर्व से पश्चिम को तीन बार परिक्रमा करने को बडा महत्त्व देते थे। इस प्रकार वे सूर्य के मार्ग का अनुसरण करते थे ×। इस प्रकारसे वे समझते थे कि वे परम प्रभुकी इच्छा और आज्ञा के अनुकूल रहते हैं। इससे वे अपने प्रति सब कुशल-मङ्गल सम्पादन करते थे"। 'इसी प्रकार जब वे सूर्य की गति का अनुकरण करते थे, तो उसे वे मांगलिक समझते थे, इसी प्रकार दूरके किसी पवित्र तीर्थ में पूर्व से पश्चिम की ओर तीन बार परिक्रमा करने को धार्मिक कर्तव्य समझते थे।"

द्रूइद् लोग मंदिर का एक परिक्रमा मार्ग बनाते थे। वह परिक्रमामार्ग सूर्यका क्रांतिमार्ग समझा जाता था, वह प्रायः दाक्षिणकी ओर पूर्व से पश्चिमको बना होता था, उसको 'दियासूल' (Deasuil) कहते थे। इससे विपरीत बाईं ओर से आने को (Cartuasuil) 'कार्तुआसूइल' कहते थे [Car-आना, tua-बाईं ओर] यह अच्छा नहीं समझा जाता था। परिक्रमाका यह अति प्राचीन रीवाज था, जो अन्य देशोंमें भी प्रचलित था। यहूदी लोग अपने पूजनीय अग्निकी दक्षिणा–परिक्रमा करते थे। और इसरायल लोग जैरिकोकी दीवारकी परिक्रमा करते थे। 'दियासूइल' की विधि आयर्लैण्ड और वैल्स और स्काटलैण्ड के पर्वती भागों में भी प्रचलित थी। और अभी भी इसका सर्वथा लोप नहीं हुआ है।

इसी प्रकार एक रिवाज था कि १० मार्चको या वर्षके प्रथम दिवस वे मिसलेटो नामक पौवेको काटते थे। चन्द्र की षष्ठि, अमावास्याकी प्रतिपदा और पूनम (दर्श-पूर्णमास) कोभी बडा पवित्र मानते थे। १ मई और १ नवम्बर (वैशाख कार्तिक) का वे अग्निद्वारा दोतिहार मनाते थे। वे अग्निकी रेखदेखमें कुमारी स्त्रियों को नियुक्त करते थे, जो प्रति वर्ष वसन्त संक्रांति के अवसर पर नई की जाती थी।

धर्मसभा, धार्मिक कृत्योंकी व्यवस्था।

द्रूइद् लोगोंकी धार्मिक सभामें स्त्री और पुरुष दोनों ही सम्मिलित होते थे। धार्मिक कृत्योंके अवसरपर शान्ति बडी कठोरता से रखी जाती थी। जो व्यक्ति धार्मिक कृत्योंके अवसरोंपर बातचीत करते पाये जाते थे, उनको तीनवार धमकाया जाता था। इस पर भी न मानते थे, तो उनकी पोशाक का पल्ला काट दिया जाता था। फिर भी आज्ञा उल्लंघन करने पर और भी कठोर बर्ताव किया जाता था। सीजर का कथन है कि गॉलवासियों के लिये सबसे कठोर दण्ड यह था कि, उनको धार्मिक देवपूजन अवसर पर आने से रोक दिया जाता था।

पशुबलि और नरबलि।

कई देवताओं पर पशुबलि किए जाते थे। श्वेत बैल विशेष रूपसे बलि किया जाता था। उनमें कभी कभी नरबलि भी की जाती थी। मि० टामसन का कथन है कि कभी कभी बलियोग्य मनुष्य को बाणोंसे छेदा जाता था, और पवित्र वृक्ष–निकुंजों में उसे शूली भी दी जाती थी। कभी कभी यह हत्याकाण्ड बडी क्रूरता से किया जाता था, उनको बडी मात्रा में कतल करते थे। कभी एक बडा भारी घास फूसा का भारी ढेर लगा देते थे, उसमें फूस के पूले लकडियां और उनमें ही पशु और बलि के मनुष्य बांधकर आग लगाकर भस्मसात् कर दिये जाते थे। बलिके नरोंको मन्दिर में नंगा करके लाया जाता था। और औषधियों का रस डालते थे। ऐसी नरबलियां कभी कभी जनताके समक्ष करते थे। कभी कभी विशेष विशेष अवसरों पर विशेष भविष्य बातें जानने के लिए करते थे। डायोडोरस का कथन है कि– वे लोग बलि के मनुष्य को ले लेते थे और तलवार के एकही हाथ में उसे पेट और छाती के बीचमें से

× उपनयन में सूर्यदर्शन- 'सूर्यस्यावृतमन्वावर्तस्व' की विधि देखो।

काटकर दो टुकडा कर देते थे। उसके धड के गिरने, तडपने और रुधिर की धार के फूटने की क्रियाएँ देखकर वे भविष्य की बातों अनुमान किया करते थे। इस सम्बन्ध में उनके पूर्वजोंने कुछ नियम निर्धारित कर रखे थे, जिनके अनुसार वे भविष्य जांचा करते थे। बलि के टुकडों को बाद में अग्नि में ही डाल दिया जाता था। यद्यपि वे नरबलिको उचित नहीं समझते थे, तो भी बलि योग्य नर को सूअर से भी भयानक जानकर उसकी बलि कर देते थे। गॉलिक भाषा में एक भी शब्द नरबलि या पशुबलि का सूचक नहीं है, तो भी जो शब्द देवता के लिए चढावा देनेका है, उसका शब्दार्थ है—

"पूण्या टिकडी के समान अन्त की बलि"

नरबलि का दोष द्रूइद् लोगों पर ही नहीं लगाया जा सकता, उस समय के मिस्र, कार्थेज, प्रोतिशिया आदि में भी नरबलि होती थी। द्रूइद् लोगों की पुजा-आदि कर्म फोनिशियावालोंके इतने सदृश थे कि अनेक लेखकोंने दोनों के सम्बन्ध में एक साही लिख दिया है।

द्रूइद् धर्म का संहार।

द्रूइद् लोगों ने ब्रिटेन और गॉल प्रान्तों में खूब राज्य किया है। रोमनों के आक्रमण ने द्रूइद् लोगों को धक्का लगाया। आगस्टस् सीजर ने रोमन नागरिकों के लिए एक राजाज्ञा निकाली कि- वे द्रूइद् लोगों के किसी प्रकार के धर्म करको स्वयं न करें।

टायबिरियने रोमसे द्रूइदों की सब देवपूजाओंको निकाल दिया था। साथके प्रान्तोंमेंसे भी द्रूइदोंको राजा क्लाडियसने निकाल बाहर किया क्लाडियसने उनको गॉलमेंसे भी निकाल बाहर किया, ब्रिटन प्रान्तमें भी उन पर बडे अत्याचार होने लगे, वे बिचारे भागकर एंगलेसी टापुओं में आ गए। रोमके बादशाह नीरो के समय के शासकोंने द्रूइद् लोगों के पूजा-स्थानों की वृक्षों के समूहों को काट गिराया उनके मन्दिर गिरा दिए गए, उनकी वेदियां उखाड डाली गईं, उनके बहुत से पुरोहितोंको जीते जी जला दिया गया। इस प्रकार के लगातार अनेक अत्याचारों के पश्चात् द्रूइद् लोगों की विधि से पूजा करनेवालों का अन्त हो गया। ब्रिटिन में इनके अवशेष १७७ ईस्वी तक तो पाए गए। बाद में राजा लूसियस स्वयं ईसाई हो गया। मोना टापू में सौ साल बाद तक भी 'द्रूइद्' लोगों का मत चला। ज्यों ज्यों ईसाइयत फैली त्यों त्यों द्रूइदों को धर्म नष्ट होता गया। बादके कोलम्बा और कुलडी नाम शासकाने अन्य धर्मों को वहीं कडाई से दबाया और ईसाइयत मानवसमाज पर लाद दी गई और द्रूइद् धर्म सदा के लिए कूच कर गया।

आलोचनात्मक दृष्टि।

द्रूइदों के धर्म का जो वर्णन हमने पूर्व किया है, उसका मुख्य आधार 'The Faiths of the World' नामकी पुस्तक है। यह ग्रंथ आठ खण्डों में पूर्ण हुआ है। और समस्त धर्मों और मतों, पंथों के सम्बन्ध में पर्याप्त विस्तार और ईमान्दारीसे विश्वकोश के रूप उत्तम रीतिसे लिखा गया है। अपनी ओर से इस लेखमें हमने कुछ नहीं मिलाया है। इसके पढने से हमें इस विलुप्त धर्म-सम्प्रदायके सम्बन्धमें अनेक बातोंका ज्ञान होता है।

'द्रूइद्' नामके सम्बन्ध में।

हमने इस संप्रदाय का नाम 'द्रूइद्' लिखा है। अंग्रेजी अक्षरों में Druids लिखा जाता है, जिसे लोग प्रवाह से 'डूइड' उच्चारण करते हैं, परन्तु इसका उच्चारण 'द्रूइद्' ही करना चाहिये। 'मूल शब्द' शीर्षक में इसका एक मूल शब्द द्रुस (Drus) यूनानी भाषा के शब्द को बतलाया है, जिसका अर्थ वृक्ष है। वस्तुतः यह यूनानी शब्द 'द्रुस्' संस्कृत का 'द्रु' शब्द है, जिसका अर्थ वनस्पति या वृक्ष है। 'द्रुम' शब्द भी संस्कृत का है। वेद में द्रु-अन्न=द्रन्न शब्द अग्नि के लिये आता है, जिसका अर्थ है वृक्षको अन्नवत् खानेवाला। इस विवेचना से हम केवल 'द्रूइद्' शब्द का ठीक उच्चारण निर्धारित कर सकते हैं, अर्थात् इस का उच्चारण 'द्रु' है 'डु' नहीं है।

परन्तु यह 'द्रु-इद्' यह शब्द भी स्वतः मूल शब्द नहीं है। इसका भी मूल शब्द और है। लेखकने अपने काल की एक कल्पना के अनुसार मूल शब्द 'द्रुथिव' बतलाया है, जिसका अर्थ 'सत्य का सेवक' है। इसमें मूल शब्द में (truth) सत्यवाचक इंगलिश शब्द का आभास प्रतीत होता है। सम्भवतः यह शब्द 'द्रूइद्'

न उच्चारण होकर इसका उच्चारण 'त्रुइद्' रूप से भी होता हो। आगे हम देखते भी हैं कि इनके बादके उत्तराधिकारी बाद में त्रैद (Traid) नाम से कहे गए हैं। इस नाम में 'त्र' जैसा का तैसा सुनाई दे रहा है, सम्भवतः मूल शब्द 'त्रि-विद्' 'त्रयीविद्' 'त्रैविद्य' हो। यदि truth को मूल शब्द मानें, तो इसका भी मूल शब्द 'श्रुत्' की कल्पना हो सकती है, अर्थात् त्रुइद्=श्रुत-विद्। वेद में 'श्रत्' शब्द सत्य का वाचक है। श्रत्=truth–त्रुथ=ट्रुथ' यह वर्णविपर्यास देशभेदसे बोल न सकने के कारण हो गया हो। या 'श्रुत' शब्द वेद का वाचक है। वेदको ही प्राचीन काल में 'सत्य' त्रिकाल सत्य, मानते हैं, इससे 'श्रुत' से 'ट्रुथ' बना हो।

स, या श, ट या त में बदलता दीखता है। श्रीयुत पोकाकने अपनी 'इण्डिया इन् ग्रीस्' नाम पुस्तक में लिखा है कि अनेक संस्कृत शब्दों में स, श, त, र में बदले हैं, जैसे-पर्वत 'तोमेरस' 'सुमेरु' का अपभ्रंश है। इसी प्रकार संस्कृत का 'श्री' शब्द अंग्रेजी के (Treasury) ट्रैयरी (खजाना) में उपस्थित है। इसी प्रकार 'ट्रुथ' शब्द में श्रुत् शब्द की सत्ता सम्भव है। इसी प्रकार 'द्रूइद्' में त्रुद्त्, श्रु-विद्, श्रुतविद्, अथवा त्रैद्, त्रैविद्य, त्रयीविद् शब्दों का भी आभास प्रतीत होता है। परन्तु यह सब केवल कल्पना-मात्र हैं। जब तक इन में से हम कोई प्राचीन प्रचलित शब्द नहीं पकडेंगे, तबतक ये कल्पनाएं बहुत महत्त्व की नहीं हैं।

हम देखते हैं कि ये 'द्रूइद्' लोग अपने धर्म के मन्त्रों को बडे रहस्य से रखते थे, गुरुपरम्परासे सुनते थे, इनकी संख्या २००००के लगभग थी। इत्यादि ये सब बातें 'त्रयी' के साथ मेल खाती हैं। और कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यहां अवश्य मूल शब्द 'त्रयी-विद्' या त्रैविद्य है। यहूदियों का जो धर्मग्रन्थ Torah है, वह भी 'त्रयी' 'त्रयः' का अपभ्रंश प्रतीत होता है। वे उसको अग्निपटलों में सृष्टि के आदि में प्रकट हुआ मानते हैं, और उसके शब्दों से संसार को उत्पन्न हुआ मानते हैं। इधर भारतीय प्राचीन विद्वान् भी वेदके शब्दों से संसार को उत्पन्न हुआ मानते हैं, जैसा कि सायण के मंगल श्लोक तथा मनुके श्लोक से विदित भी होता है—

वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥

अस्तु। हमारा कहनेका तात्पर्य यही है कि प्राचीन धर्मोंका मूल वेदत्रयी था, जिसे हिब्री या यूनानी लोग 'त्रयः' का अपभ्रंश Torah 'तोराः' कहते थे और ब्रिटिश टापू के धार्मिक पुरोहित लोग इसको जानने से 'त्रैविद्य' या 'त्रयविद्' बिगड कर (Traid) त्रैद और 'त्रुइद' 'द्रुइद्' कहलाते थे।

इनकी सारी व्यवस्था को आप ध्यान से पढें, तो ज्ञात होगा कि ये सर्वथा वेदज्ञ ब्राह्मणों के समानही मान प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए थे। इनका एक वर्ग 'वेत्स' था, जिस में हमें 'वेद' शब्द का विकृत रूप स्पष्ट प्रतीत होता है। क्या अंग्रेजी का (Faith) फेथ शब्द वेद शब्द का अपभ्रंश तो नहीं? और फेथ से रहितों का नास्तिक भी कदाचित् इसी भावना से माना जाता हो, जिससे हम 'वेद' के माननेवाले को नास्तिक' कहते हैं। 'फाइ डेलिटि' में भी वही 'वेद' शब्द ध्वनित हो रहा है। Infidel (अविश्वासी, अवैदिक=वेदविरुद्ध) प्रधार्मिक शब्द उसी प्रकार नास्तिक के समकक्ष शब्द है। इसी प्रकार 'वेट्स' वर्ग में से 'प्रोफेट्' आदि गुरु या सन्तमहात्मावाचक शब्द भी विचारणीय हैं। वे'फैडस्ट' कहलाते थे इसका मूल शब्द 'वेदस्थ' प्रतीत है, 'प्रोफेट' का मूलक 'प्र-वेद' (= उत्तम ज्ञाता) प्रतीत होता है।

द्रूइद् लोगोंकी जीवनचर्या और धर्मकृत्योंपर ध्यान देने से उनकी समस्त बातें यहां के ब्राह्मणों से मिलती हैं। रोमन-राज्य ने इनका सर्वनाश कर दिया और इसाईयों के अत्याचारी शासनने तो इनका मूलोच्छेद ही कर डाला। इसकी बडी करुण-कथा है, जो पाठकों को किसी अन्य लेख में सुनावेंगे।

'त्रैविद्य' और त्रयीविद् शब्द का प्रयोग प्रायः मनु आदि प्राचीन धर्मशास्त्रों में अनेक बार आया है, जैसे—

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की (मनु० ९)

सम्भव है यह शब्द पूर्वकाल में विशेष वेद-विद्वानों के लिए योगरूढ हो गया हो और वे लोग ही योरोपके ब्रिटिश टापुओं में जा बसे हों। और फिर वे भी धर्मविद्या-हीन होकर अपने विकृत रूप में रोमनों के शासनों और इसाईयों के अत्याचारों से नष्ट हो गये हों।

इनके धार्मिक विश्वास सर्वथा हिन्दू मन्तव्यों या उपनिषदों के मन्तव्यों से बहुत अधिक मिलते हैं। जीव के पुनर्जन्म, और आवागमन के सिद्धांतों में तो कोई भेद ही नहीं है। गीता में अमर आत्मा को मानकर जैसे वीरता के लिए प्रोत्साहित किया गया है, वह बात इन 'द्रूइद्' लोगों में इतनी अधिक थी, जिसका उल्लेख बडे आवश्यक रूप में किया गया है। आगे 'श्रेय, प्रेय मार्ग' का वर्णन सर्वथा कठ-उपनिषद् से लिया मालूम होता है। लोकों की व्यवस्था, ईश्वर की पूजा, धर्म, तप, तितिक्षा के सिद्धांत, मन्त्रों की २० सहस्र संख्या, उनका कण्ठाग्र रहना यह सब बडी आश्चर्य की बातें हैं, जो निश्चय करती हैं कि ये अवश्य वेद-धर्म के माननेवाले थे। इनके पास तीन वेद थे, इनके आश्रम वृक्षों के झुरमुटों में रहते थे, क्या ये वैदिक वानप्रस्थी सन्त तो न थे? इनके यज्ञ के शिलामय यूप खडे होते थे, यह सब बडा रहस्यवाद है। इन लोगोंने परमेश्वर का प्रतिनिधि 'सूर्य' को माना, क्या यह वेद की झलक नहीं है? "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इसी प्रकार 'सविता' को मुख्य मानकर उसी के मन्त्र को गुरुमन्त्र मानना, कदाचित् इन लोगों में भी हो, परन्तु जिन लोगों ने इनके धर्मों का कुछ कुछ वर्णन किया है, वह भी अनेक अनुवाद-प्रत्यनुवाद होकर हमें वैसा भी मिल रहा है, उसमें भी सत्यता फूट फूट कर निकल रही है।

आपको यह पढकर आश्चर्य होगा कि द्रूइद् लोगों में रोमन आक्रमणों से पूर्व मूर्तिपूजा नहीं थी, यह आसुरी रीति रोमनों से इनमें आई। वे वृक्षरूप में भी परमेश्वर को मानते थे। क्या अश्वत्थ रूप से परमेश्वर का वर्णन नहीं है? फिर क्या अन्धविश्वासियों ने पीपल की पूजा नहीं चलाई? वैसी ही बाद में इन लोगों में 'ओक' (oak) वृक्ष की पूजा प्रचलित हुई।

बडे भारी वृक्ष को 'हासस्' के रूप में बताकर जो पूजा की यह भी एक आश्चर्यजनक बात है। उसका नाम 'हासस्' संस्कृत के 'शास' शब्द का रूपांतर है। 'शास' शब्द इन्द्र का वाचक वेद में आता है। उसका अर्थ महान् शक्तिशाली वेद में ज्यों का त्यों आता है—

शास इत्था महान् असि।

उसका नाम उन्होंने Thau (थेओ) रखा। क्या यह देव शब्द का रूपांतर नहीं? यही चीन में 'तेओ' धर्म या ताओ धर्म (Taoism) कहा जाता है। इससे आप इन्हें देव, शास, महान् के उपासक सहज ही मान सकते हैं। वही बाद में नंगी तलवार के द्वारा बतलाया गया। संस्कृत में, वेद में 'शास' का अर्थ तलवार भी है। रोमनों के सम्पर्क से इनमें ग्रहों की पूजा चल पडी। सम्भव है, रोमन अत्याचारों से पीडित होकर पराया धर्म इनमें चल पडा हो। इसी प्रकार आगे एक देववाचक शब्द 'तेओ तातस' है जो स्पष्ट ही 'देवतात' का रूपांतर है।

अन्त में आप यज्ञवेदी की परिक्रमा का रिवाज भी पाते हैं, जो सर्वथा भारतीय है। मन्दिर और तीर्थों की परिक्रमा का रिवाज अभी तक भारत में प्रचलित है, यज्ञवेदी की परिक्रमा, आचार्य की परिक्रमा यह सब 'सूर्यावृत' ही कही जाती है। यही भाव द्रूइद् लोगों में था। इसी प्रकार द्रूइद् लोगों में पहले अन्न से ही देवपूजा (यज्ञ) होती थी, बाद में उनमें नरबलि तक घुस गई। क्या यह परिवर्तन भारत में होनेवाले वाममार्गीय परिवर्तन के समान प्रतीत नहीं होता? जब उनकी भाषा का देवता के बलियोग्य पदार्थ के वाचक शब्द का अर्थ ही 'अन्नमय पूआ' है, तब उनमें पशुबलि का रिवाज हो ही नहीं सकता। यह शब्द अपूप या पुरोडाश भी, नहीं कह सकते। क्योंकि उस मुख्य शब्द का लोपही हो गया है। भारतवर्ष के प्राचीन आर्यकाल का भी यही सिद्धांत था कि 'अज' आदि शब्दों का अर्थ बकरा आदि नहीं पर बीज हैं।

प्रतीत होता है कि सीजर आदि बादके लेखकों ने अन्य धर्मों की उलटी सुलटी बातों को भी द्रूइदों के साथ ही रलामिला दिया है। इससे उनके धर्मका विशुद्ध रूप जानना और भी कठीन हो गया है। तो भी इस दिशामें अनुसन्धान करने से और भी प्रखर सत्य वैदिक सिद्धांतों और मन्तव्यों की दृढ पुष्टि होगी। यदि ये जीवित रहते, इन पर ईसाइयत का सर्वापहारी अत्याचार न हुआ होता, तो न जाने वेदके धर्म का कितना भारी खजाना हमारे हाथ आता। कौन कौन सी विलुप्त शाखाएँ इन के पास प्राप्त होती। तोभी अनुसन्धानकर्ता इनके धर्मोंका खूब तुलनात्मक अध्ययन करें, इस आशय से हमने इन के धर्मोंके सम्बन्ध में यह विस्तृत लेख लिखा और कुछ दिग्दर्शन भी कराया है।

मंत्रार्थ और गायत्री ।

(ले०- वैद्यराज पं० रमाकांत झा आ० शास्त्री, स० संपादक 'माला')

मंत्रार्थ का वर्णन हम प्रश्नोत्तरद्वारा करेंगे।

प्र०- मंत्रार्थ कै प्रकार का होता है ?

उ०- मन्त्रार्थ ६ प्रकार का होता है।

प्र०- उन सबके क्या नाम हैं ?

उ०- १. भाव, २. संप्रदाय, ३. निगम व्याख्या, ४ सर्वरहस्य, ५, कौलिक, ६. महत्व। ये छः प्रकार के अर्थ शिवजीने 'गंधर्वतंत्र' में किया है।

प्र०- भावार्थ किसको कहते हैं ?

उ०- जिस मंत्रार्थ में मंत्रके भाव साधार रीत्या समझ में जाने के लिए स्थूल रूप से वर्णन किया जाय, वह भावार्थ कहलाता है।

प्र०- संप्रदायार्थ किसे कहते हैं ?

उ०- प्राचीन आर्यों तथा द्विजातियों की केवल संध्या अर्थात् गायत्रीही की उपासना करना संप्रदाय है। वह जिस अर्थ से सांगोपांग उपासना की विधि का प्रतिपादन किया जाय, वह संप्रदायार्थ कहलाता है।

प्र०- निगम व्याख्यार्थ किसको कहते हैं ?

उ०- निगम वेद को कहते हैं और जिस मंत्रार्थ में वेदमतानुसार, विशेष करके आख्यान यानी कथन किया जाय, वह निगम व्याख्यार्थ कहा जाता है।

प्र०- सर्वरहस्यार्थ किसे कहते हैं ?

उ०- जिस मंत्रार्थ में मंत्रांतर्गत अलक्षित अर्थ को भी सम्यक् वर्णन कर दिया जाय, वह रहस्यार्थ कहा जाता है।

प्र०- कौलिकार्थ किसे कहते हैं ?

उ०- जिस मंत्रार्थ में कुलशक्ति अथवा गायत्री है और केवल उसी गायत्री ही की उपासना करने से द्विजातियों के अर्थरूपी मोक्ष की प्राप्ति होना सम्भव है, अन्य से नहीं, ऐसा ज्ञान जिस से सिद्ध किया जाय, वह कौलिकार्थ कहलाता हैं। अथवा परब्रह्म (ओं शिव) का साकार स्वरूप गायत्री है और फिर वही निराकारावस्था में ओं कहलाती हैं। और इन्हीं दोनोंपर ब्रह्म तथा ब्रह्म की योगानुष्ठान द्वारा षट्चक्रांतर में कलाधिकारभेद से उपासना करने से मोक्ष होती है। ऐसा स्पष्ट ज्ञान जिस अर्थ से सिद्ध किया जाय, वह कौलिकार्थ कहलाता है।

प्र०- महत्त्वार्थ किसे कहते हैं ?

उ०- महत् नाम आत्मा और ब्रह्म का है कि जो सब तत्त्वों का तत्त्व है। ऐसा भाव जिस अर्थ से सिद्ध किया जाय, वह महत्त्वार्थ कहलाता है। अथवा वेदांतशास्त्रानुसार अद्वैतभाव से ब्रह्म की उपासना जिस अर्थ से सिद्ध किया जाय, वह महत्त्वार्थ कहलाता है।

मंत्र का वर्णन ।

प्र०- मंत्र किसको कहते हैं ?

उ०- यहांपर मंत्र शब्देन केवल वैदिक मंत्र समझना चाहिए। क्योंकि ब्राह्मणादि द्विजातियों को ही केवल वेद के पाठ का अधिकार है। अन्य को नहीं।

प्र०- वैदिक मंत्र किस मन्त्र को कहते हैं।

उ०- केवल ओंकार (ॐ) को, क्योंकि यही सब मंत्रों के राजा है तथा सर्वव्यापक भी है।

प्र०- उपासनाप्रकरण में ओंकार (ओं) शब्द किस देवता का वाचक है ?

उ०- गायत्री का। क्योंकि द्विजातियों को मोक्षप्राप्ति के लिए केवल गायत्री ही की उपासना शास्त्रों

में देखने को आता है। जिससे यह ज्ञान होता है कि मुख्य गायत्री मंत्र ओंकार (ओं) ही है। और इसी का जप और इसी के प्रतिपादक देवता की उपासना करना योग्य है।

प्र०- क्या आप तत्सवितुरिति चतुर्विंशाक्षरी मंत्र को जो सब वेदोंमें गायत्री छन्द प्रतिपादक गायत्री मन्त्र वर्तमान है, गायत्री मंत्र नहीं मानते ?

उ०- हम इस मंत्रको गायत्री छन्दभेदसे गायत्री मन्त्र नहीं मानते, किन्तु ओंकारस्वरूपा गायत्री की सांगोपांग उपासनाविधिप्रतिपादक होनेसे इस मन्त्रको गायत्री मन्त्र मानते हैं। यदि यह छन्द-भेदसे यह मंत्र गायत्री मंत्र माना जाय, तो वेदोंमें अनेकों मन्त्र चतुर्विंशाक्षरी गायत्री छन्दप्रतिपादक हैं। तो उन सबकी गायत्री संज्ञा होनी चाहिये। और जब उन सबकी गायत्री संज्ञा होगी, तो इसमें कुछ भी विशेषता न रहेगी। तथा यज्ञोपवीतादि कार्य में कोई भी चतुर्विंशाक्षरी गायत्री छन्द-प्रतिपादक मंत्र का उपदेश होने लगेगा, न कि खासकर इसी मन्त्रका और यज्ञोपवीतप्रकरण में इसी गायत्री मन्त्र का उपदेश देने की आज्ञा है। तो वहां भी दोष होगा, अतएव गायत्री ही की उपासना प्रतिपादक होनेसे तत्सवितुरिति मंत्र की गायत्री मंत्र संज्ञा मानी गयी है। न कि छन्दभेदेन।

प्र०- ओंकार (ओं) मंत्र का क्या अर्थ है और मंत्रार्थ किस को कहते हैं ?

उ०- ओंकार (ओं) का अर्थ गायत्री है। और उस गायत्री का केवल ध्यान करनाही मंत्रार्थ शिवजीने माना है।

प्रथम सोपान।

इस सोपान में ओंकार (ओं) व्याहृतियुक्त तत्सवितुरिति गायत्री मंत्रके अर्थ से सूर्यादिक प्रकाशमान पदार्थों में गायत्री को व्यापक मान उसकी उपासना का निरूपण करेंगे।

गायत्रीमन्त्र-

ओम् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

पदार्थ- हम ब्राह्मणादिक द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) सूर्यादिक जो प्रकाशमान पदार्थ हैं, उन प्रकाशमान पदार्थों के बीच में (तद्भर्गः) तिस अज्ञानादिक पापों के नाश करनेवाले तेज अर्थात् गायत्री के तेजस्वरूप (ओम्) ब्रह्म को (धीमहि) ध्यान करते हैं। कैसे स्वरूप को? (भूर्भुवस्वर्वरेण्यम्) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादिकों के उपासना करनेयोग्य को (यः) जो गायत्रीका स्वरूप (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता है अथवा अपने प्रादुर्भूत होनेसे हम लोगों को आत्मज्ञान का उपदेश करता है।

भावार्थ- हम ब्राह्मणादिक द्विजाति लोग सूर्यमंडलादिक प्रकाशमान पदार्थों के बीचमें गायत्री के उस ज्योति-स्वरूप (ओं) ब्रह्म का ध्यान करते हैं। जो गायत्री का स्वरूप हमारी बुद्धि को मोक्ष-प्राप्त्यर्थ धर्ममार्ग में लगाता है।

कहीं ऐसा भी लिखा मिलता है- मेरा स्वरूप वास्तविक (ओं) ओंकार है। ओंकार का मतलब प्रकृति-पुरुष और गुणोंकी एकाग्रता से है। भूर्भुवः स्वः ये तीन लोक संसारप्रसिद्ध हैं। इन्हीं का स्वरूप जब शरीर पर घटाया जाता है, तब शरीर को भूः, सूक्ष्म शरीर को भुवः और इनके भीतर जो सूक्ष्म से सूक्ष्म आत्मा वास करती है, इसी को स्वः लोक कहते हैं। इसी को आत्मा या परमात्मा भी कहते हैं। यही मेरा असली स्वरूप है। यही जब अपने को व्यष्टिभावसे न देखकर समष्टिभाव से संसार के सब जीवोंकी मन, बुद्धि, इन्द्रियोंका मालिक होकर अपने तेज स्वरूप का समष्टिभाव से सबमें स्थित इन्द्री, मन और बुद्धियोंका एकत्व-भावसे अपने असली स्वरूपका ध्यान करता है, तब ये संसार की सब बुद्धियोंका प्रेरणा करता है और अपने को 'अहम् ब्रह्मास्मि' होता हुआ देखता है।

दूसरा अर्थ।

हम ब्राह्मणादि द्विजाति लोग (तत्) उस (देवस्य) प्रकाशमान पदार्थ के बीचमें (वरेण्यम्) श्रेष्ठ उपासना करनेयोग्य (भर्गः) भर्गाख्य तेज अथवा गायत्री के तेजःस्वरूप (ओं) ब्रह्म को (धीमहि) ध्यान करते हैं। किस प्रकाशमान पदार्थ को (भूर्भुवः स्वः) अग्नि, वायु और सूर्यसंज्ञक के. फिर कैसे प्रकाशमान पदार्थ? (सवितुः) प्रेरणा करनेवाले के (यः) जो प्रकाशमान पदार्थ (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) लौकिक और पारलौकिक कामोंमें प्रेरणा करता है।

भावार्थ- जो अग्नि, वायु और सूर्यादिक प्रकाशमान अपने अपने प्रकाशोंके द्वारा, हम लोगों की बुद्धि को लौकिक और पारलौकिक कामों में प्रेरणा करते हैं, सो उन प्रकाशमान पदार्थों में गायत्री के ज्योतिःस्वरूपका हम लोग ध्यान करते हैं।

तीसरा अर्थ।

हम ब्राह्मणादिक द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) सूर्यादिक प्रकाशमान पदार्थों के बीचमें (तद्भर्गः) तिस तेजके अर्थात् गायत्री स्वरूप (ओम्) ब्रह्मको ध्यान करते हैं। किस प्रकार से ? (भूर्भुवः स्वः) ऋग् यजुः सामाख्य गायत्री के स्वरूपों करके। कैसे रूपको? (वरेण्यम्) उपासना करनेयोग्य को (यः) जो गायत्री का स्वरूप (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम द्विजाति लोग गायत्री के उस उपासना करनेयोग्य तेजस्वरूप को ऋग् यजुः सामरूपोंसे सूर्यादिक प्रकाशमान पदार्थों के बीच में ध्यान करते हैं, जो गायत्री का स्वरूप हम लोगों की बुद्धि को धर्ममार्ग में लगाता है।

चौथा अर्थ।

हम द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) प्रकाशमान चन्द्रमा के बीच में (तद्भूर्भुवः स्वर्वरेण्यम्) वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को उपासना करनेयोग्य (भर्गः) तेज अर्थात् गायत्री के तेजःस्वरूप को (धीमहि) ध्यान करें। किस प्रकार से? (ओम्) ओंकार की अकार, उकार, मकार संज्ञक गायत्री के स्वरूप कर के (यः) जो गायत्री का स्वरूप (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम ब्राह्मणादिक द्विजातियों को उचित है कि गायत्री को सर्वव्यापक मान अपने उपासना करनेयोग्य पापों के नाश करनेवाले गायत्री के उस तेजःस्वरूप को प्रकाशमान चन्द्रमण्डल में ध्यान करें, जो गायत्री का स्वरूप हम लोगों की बुद्धि को धर्ममार्ग में लगाता है।

पांचवां अर्थ।

हम द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) प्रकाशमान अग्नि के बीचमें (तद्भर्गः) उस पापों के नाश करनेवाले तेज अर्थात् गायत्री के तेजःस्वरूप (ओम्) ब्रह्म का (धीमहि) ध्यान करते हैं। किन किन शक्तियों द्वारा? (भूर्भुवः स्वः) इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति द्वारा। कैसे स्वरूप को? (वरेण्यम्) हम लोगों के उपासना करने योग्य को, (यः) जो गायत्री स्वरूप (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम ब्राह्मणादिक द्विजाति लोग अपने उपासना करने योग्य, पापों को नाश करनेवाले, गायत्री के उस तेजःस्वरूप (ओं) ब्रह्मका इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति द्वारा प्रकाशमान अग्नि के बीचमें ध्यान करते हैं।

वैदिक सन्ध्यारहस्य ।

(ले०- श्री वैद्यरत्न पं० रमाकान्त झा, आ० शास्त्री, स० सम्पादक 'माला')

हिन्दुओं के उपासना-तत्त्वमूल में जो जो ब्रह्मतत्त्व निहित हैं, वह ब्रह्मतत्त्व बहुतही सूक्ष्मभावात्मक और उसकी उपासनापद्धति बहुतही रहस्यमय और बहुतही ऊंचे विज्ञान से भरी हुई है। संध्या में जो अमूल्य रत्न छिपा हुआ है, उसका पता लगानेके लिये आपको आध्यात्मिक भावरूपी समुद्रमें गोता लगाना पडेगा। अतएव हिन्दू के उपासनातत्त्व को ढूंढनेवाले उद्यमशील भाइयोंसे प्रार्थना है कि एक बार शास्त्रसमुद्रमें गोता लगा सन्ध्यास्वरूप आत्मसत्त्वरूप रत्नको पाकर सुखी बनने की चेष्टा करें।

सन्ध्यातत्त्व आध्यात्मिक जगत् का विषय है। इस आध्यात्मिक जगत् में निर्धनी या धनी का विचार नहीं है। केवल गुणागुण का विचार है। इस विश्वब्रह्मांडकी कारवाईपर विचार कर आप देखेंगे कि इसके मूल में केवल तीन गुण वर्तमान हैं। जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय या हम लोगों के अनुदित सभी कामकाज इन्हीं तीनों के फल हैं। जगत् की सृष्टिकाल में रजोगुण, स्थिति काल में सत्त्वगुण, लयकालमें तमोगुणका पूर्ण विकास रहता है। अतएव भगवान् की शक्ति त्रिगुणात्मिका है। हम लोग भी उसी गुणों की उपासना किया करते हैं। यथा ब्रह्मा के रूप में रजोगुण को, विष्णु के रूपमें सत्त्वगुणको, शिवके रूपमें तमोगुण की उपासना करते हैं।

सन्ध्या करनेके समय में शरीर के बाह्य और आभ्यन्तर को परिशुद्ध करना बहुत आवश्यक है। और देह तथा मनको स्निग्ध करनाभी परमावश्यकीय है। इसी उद्देश्य से हम लोग बहुत पवित्र और स्वभावतः शीतल जल का आश्रय लिया करते हैं। एक बार इसपर भी हम को विचारना चाहिये कि 'जल' हम लोगों में क्यों पूजनीय है?

प्यास से व्याकुल होनेपर जब प्राण होठोंपर लगता है, जब जल न मिलने से क्षणभर में प्राण के निकलने की शंका होती है, उस समय थोडासा भी जल मिल जाने से शायद हम उसे प्राण समझने में कुछ संकोच न करेंगे। शरीर जिस समय तप जाता है या थक जाता है, उस समय और किसी के पास न जाकर केवल जल के ही पास आना पडता है। कारण यह जल स्वभाव से ही शीतल और सत्त्वगुणप्रधान है। यही जीवजगत् और औद्भिज्ज जगत् का प्राण है।

जल में जो शीत है, वह समझो सत्त्वगुण द्रवीभूत होकर मिल गया है। अतएव जल का एक नाम नारायण है। जल की आराधना से हम लोग सत्त्वगुणप्रधान विष्णुकी ही आराधना करते हैं। जो नारायण जल के रूपमें या विष्णु के रूपमें सृष्टि का पालन करते हैं, उनकी उपासना करनेसे भला लज्जा कौन बात की है? जलको अत्यन्त पवित्र समझ उससे आचमन या मार्जन कर बाहर और भीतर से पवित्र होकर भगवदुपासना में प्रवृत्ति होने से उनकी अलौकिक भक्ति की उद्दीप्ति होती है।

इसी उद्देशसे 'ऋतं च सत्यं च' इत्यादि मन्त्र पढा जाता है। इसी में सृष्टिप्रकरण वर्णित है। वस्तुतः आप जिनकी उपासना करेंगे, उनकी गुणगरिमाको गाये बिना आपके हृदयमें भक्ति कैसे उत्पन्न होगी?

हम लोगों के सन्ध्योपासन के व्यापार में आत्मतत्त्व साधनप्रणाली जिस प्रकार से अन्त-

निर्विष्ट भाव से निबद्ध है, उसे हृदयंगम करने के लिये पहले हमको शरीरतत्त्व से अवगत होना परमावश्यक है। शरीरतत्त्व के विना कुछ जाने साधनक्षेत्र में उतरा नहीं जाता। अतएव उतनाही कहेंगे। विशेष भावों के वणन करने का इस लेख का उद्देश्य नहीं है।

शुक्र, शोणित, मज्जा, मेद, मांस, अस्थि और त्वग् इन सात धातुओं द्वारा बने इस ब्रह्माण्ड में होती ग्राम की तरह अनेक अनेक नसें वर्तमान हैं, इन नाडियों के एक काम समाचार ले आना अर्थात् अनुभूति उत्पन्न करना भी है। इन में तीन नाडी प्रधान हैं- इडा, पिंगला, सुषुम्ना। इडा का दूसरा नाम वामा या चन्द्रनाडी भी है। यह सत्व-गुणविशिष्ट और यह मनुष्योंके बायें भागमें बहती हुई बायें नथुनेसे जाती जाती है। इसे पितृयान भी कहते हैं। क्यों कि साधक इसमें अपना मन स्थापित कर साधनमें पूरे होते हैं। ऐसे साधक आकाशमार्ग द्वारा पितृलोक के स्थान चन्द्र-मण्डल में जाते हैं।

पिंगला का नाम दक्षिण या सूर्यनाडी है, यह रजोगुणविशिष्ट होकर मनुष्य के दायें अंगमें बहकर दाहिने नथुने से बहती है। इसे देवयान भी कहते हैं। क्योंकि साधक पिंगला नाडी में मन स्थापन कर साधनमें प्रवृत्त होते हैं। वह आकाश मार्ग द्वारा सूर्य लोकमें जाते जाते हैं। इस प्रकार चन्द्र लोक और सूर्य लोक कहनेसे बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों के चन्द्र सूर्य लोक समझना।

यह दोनों नाडियां मूलाधार से उत्पन्न हो मेरु-दण्ड की बाहरी ओर से अर्धचन्द्राकार में मेरु दण्ड से लिपटती हुई भ्रूमध्यमें जाकर समाप्त हुई हैं। इन दोनों ही नाडियों के अर्धचन्द्राकार में मेरुदण्ड के अधो भाग से दोनों भौंहों तक आने में छः वार लिपटने के कारण इनमें छः गाँठ और दो गाँठो के मध्यस्थान वृताकार हो गया है। फिर इस इडा और पिंगला का ही दो मूल (सिकडी) मूलाधार से बाहर निकल कर दोनों पैरों के अंगूठे तक पहुंची हैं।

सुषुम्ना नाडी- त्रिगुणात्मिका और बहुत सूक्ष्म है। यह मूलाधार से उत्पन्न होकर मेरुदण्ड के भीतर से छओं गाँठों का भेदन करती हुई मस्तक के सहस्रदल कमल तक पहुंची है।

इस सुषुम्ना नाडी के भीतर चन्द्र सूर्यादि देवगण, पंचभूतादि, चतुर्दशभुवन, दश दिक्, सर्व तीर्थादि क्षेत्र, सप्त सागर, समस्त पर्वत, सप्तद्वीप, गंगादि नदी, चारों वेद, मीमांसादि शास्त्र, अक्षरादि पंचाशत् वर्ण, सप्त स्वर, गायत्र्यादि मंत्र, अष्टादश पुराण, प्राणादि वायु प्रभृत् अर्थात् ब्रह्माण्ड के सभी वस्तुयें इस के अन्दर हैं।

अतएव ऋषिगणने इसे ब्रह्माण्ड नाम रखा है। अतः वे लोग ध्यानावस्थित हो मुहूर्तभर में आन्त-रिक ब्रह्माण्ड में बाह्य ब्रह्माण्डका प्रतिविम्ब डालकर सम्पूर्ण विश्वभर का हाल मालूम कर लेते थे। इस सुषुम्ना नाडी के भीतर पूर्वोक्त छहों गाँठों में ६ कमल वर्तमान हैं। उन के दलानुसार नाम हैं। यथा चतुर्दल, षड्दल, द्वादशदल, षोडशदल, अष्टदल और द्विदल हैं। इनका स्थान मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र हैं। इनका स्थान लिंगमूल में, नाभि-प्रदेश, हृदय, गला और दोनों भौंहों के बीचमें है। इनके अतिरिक्त और भी तीन चक्र हैं यथा-तालु में चौंसठ दलका, ब्रह्मरन्ध्र में १ दलका और मस्तकमें सहस्र दलका कमल है।

इसके बाद शरीरान्तर वायु १० प्रकार के हैं। यथा- प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कुर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय। इनमें प्राण से लेकर व्यान तक ५ वायु प्रधान हैं। इनका स्थान इस तरह है-हृदय में-प्राणवायु, गुह्य में-अपान, नाभिमें-समान, कंठ प्रदेश में-उदान, और व्यान वायु सर्व शरीर में फैली हुई रहती है।

इनमें प्राण और अपान में सर्वदा खटकती रहती है। प्राण वायु चाहती है कि हम अपान को जीतकर अमर कर ले। और इसके विपरीत अपान चाहती है कि हम सबको नाश कर दे। किन्तु नाभिप्रदेश में समान वायु के रहने से किसी की भी नहीं चलती है, फिर भी आपसमें संघर्ष होता ही रहता ह।

जब श्वास लेनेके समय प्राणवायु नाभिस्थित समान वायु में आकर प्रतिहत होती है। तब उस समय अपान वायु भी प्राणवायु को पकडने के लिये समान वायु में जोरसे धक्का देती है। जिसका फल यह होता है कि प्राण वायु धक्का खाकर चली जाती है। किन्तु इसे अन्यत्र भागने का स्थान नहीं है। क्यों कि अपान वायु से यह सदा खिंची हुई रहती है। अतएव बाहर जाकर फिर शीघ्र ही भीतर को खिंच जाती है। इन्हीं दोनों के संघर्ष से हम लोग जीवित रहते हैं।

यह प्राणवायु जीवन और अपानवायु यम है। अन्तिम समयमें जब अपान वायु समान वायु को जीतकर शनैः शनैः ऊपर को चढती है, तब हम लोग कहते हैं अब प्राणने नाभि स्थानको छोड दिया. फिर जब प्राण को जीतकर शरीर से निकाल देते हैं, तब हम लोग कहते हैं कि अब 'मृत्यु' हो गई। योगी लोग इसी प्राणापान वायु के संयोग को 'प्राणायाम' कहते हैं।

इस प्राणायाम का प्रधान उद्देश्य यही रहता है कि प्राणवायु द्वारा समान और अपान वायु को जीत कर शरीर को प्राणमय बना दें। प्राणायाम करने के समय प्रणवका ध्यान करना पडता है। यहां यह प्रश्न होता है कि प्रणव क्या चीज है?

प्रणवही परब्रह्मका बीज है और सन्ध्या का सार पदार्थ है। वही अव्यक्त, अव्यय, निराकार, निर्विकार, अवाङ्मनसो गोचर, तुरीय ब्रह्मकी प्रकट अवस्था अर्थात् प्रकृतिपुरुषात्मक परब्रह्म है। साधारण मनुष्यों को इस ब्रह्म का ध्यान करना असम्भव है। एकमात्र योगीगण ही चरम साधन द्वारा इस भाव को धरण करनेमें समर्थ होते हैं।

अस्तु, प्रणव में तीन अक्षर हैं। अ, उ और म्, इन तीनों की संधि करनेसे प्रणव होता है।

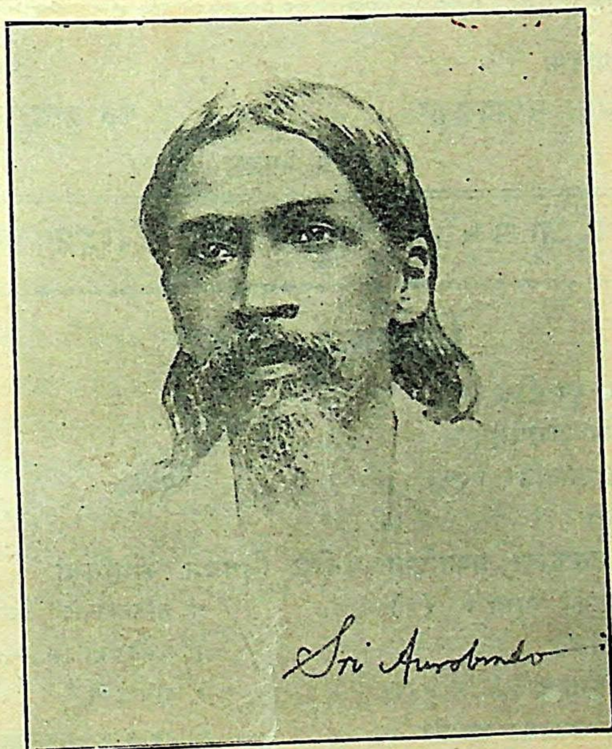
अकारेण जगत् पाता संहर्तास्यादुकारतः।
मकारेण जगत् स्रष्टा प्रणवाथ उदाहृतः॥

अर्थात् 'अ' शब्द से सत्व युक्त विष्णु जगत् को पालन करता है। 'उ'कार शब्द से तमोगुण-विशिष्ट शंकर सृष्टि को नाश करता है। और 'म्'कार शब्द से रजोगुणविशिष्ट ब्रह्मा जगत्की सृष्टि करता है। यही प्रणव का अर्थ है। प्रणव द्वारा सत्व रज और तम का प्रकाशक सगुण ब्रह्म ही लक्ष्य होते हैं। इसमें विष्णु क्रम माना गया है। बादमें ब्रह्मा या शंकर, यह तीनों समष्टि ही प्रणव है। अतएव इसका उच्चारण करने का अधिकार सिर्फ द्विजातिमात्र ही को है। यहां तक है कि इसका उच्चारण करना स्त्रियों के भी अधिकारमें नहीं है।

———

वैदिक धर्म।

जून १९३९
ज्येष्ठ १८६१



योगी श्री अरविंद घोष।

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २०] [अङ्क ६

विषयानुक्रमणिका

अपूर्व पुस्तक!   आर्य सभ्यताका दर्शन!   आर्य आदर्श!

वैदिक सम्पत्ति।

(द्वितीय संस्करण)

[लेखक- श्री० स्व०-पं० साहित्यभूषण रघुनन्दन शर्माजी।]

इस अपूर्व पुस्तक के विषयमें विद्वान् लोगोंकी संमति देखिये-

१. श्री. स्वा. स्वतन्त्रानन्दजी महारज, आचार्य उपदेशक-महाविद्यालय लाहौर की संमति—

'यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है। वेदकी अपौरुषेयता, वेदका स्वतःप्रमाण होना, वेदमें इतिहास नहीं है, वेदके शब्द यौगिक हैं, इत्यादि विषयोंपर बडी उत्तमतासे विचार किया है। मैं सामान्य रूपसे प्रत्येक भारतीयसे और विशेष रूपसे वैदिक धर्मियोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वह इस पुस्तकको अवश्य क्रय करें और पढें। इस पुस्तकका प्रत्येक पुस्तकालयमें होना अत्यंत आवश्यक है। यदि ऐसा न हो सके, तो भी प्रत्येक समाज में तो एक प्रति होनीहिं चाहिये।

२. श्री. आचार्य रामदेवजी, गवर्नर कन्या-गुरुकुल, देहरादून की संमति।

('प्रकाश' में प्रकाशित २० मई १९३४

'मैं प्रकाशकके इन विचारों के साथ पूर्णतया सहमत हूँ कि, इसके लेखकके वैज्ञानिक, भौतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य, पुराने शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, नाना-लिपिज्ञान तथा भाषा आदि अनेक विषयोंका दिग्दर्शन इस पुस्तकने हमें कराया है और भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे गये अनेक पाश्चात्य तथा पूर्वीय विद्वानों के विविध ग्रंथोंकी विवेचना करके आर्यसिद्धांतों को युक्ति और प्रमाणोंसे पुष्ट किया है।

वेदोंकी प्राचीनता स्थापित करते हुए, अर्वाचीन उदाहरण देकर जो वेदोंमें अनित्य इतिहास सिद्ध करनेका अशक्य प्रयत्न किया करते हैं, इसका खण्डन आपने बहुतसे युक्तियों द्वारा उत्तम प्रकार किया है। ...इस प्रकार अनेकानेक प्रमाणोंसे वेदमें अनित्य इतिहासकी स्थापना खंडित की गई है। इसके अतिरिक्त प्राचीन आर्योंके कलाकौशल के ज्ञानके संबंधमें नयी खोज करके विद्वान् लेखकने अपनी खोजसंबंधी योग्यताका बडा उत्तम परिचय दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि...यह पुस्तक बडीहि उपयोगी और नयी खोज और उपयुक्त प्रमाणोंसे युक्त है। इसलिए हरएक आर्य पुरुष, आर्य उपदेशक, अध्यापक और व्याख्यानदाताके मनन करने और पास रखने योग्य यह पुस्तक है। सभासमाजोंमें इसकी कथा करनी चाहिए, ताकि जनता विद्वान् लेखकके परिश्रमसे पर्याप्त लाभ उठा सके।'

३. श्री. पंडित नरदेवशास्त्रीजी वेदतीर्थकी संमति।

(मसूरी पर्वत ३।९।३४)

'हम निःसंकोच कह सकते हैं कि यह ग्रंथ 'यथा नाम तथा गुणः' कोटी का है। कई प्रकरण तो इतने

मनोरंजक हैं कि उनको चार बार पढनेपरभी तृप्ति नहीं होती। वस्तुतः ऐसेहि ग्रंथ वैदिक धर्म व आर्य संस्कृति की महत्ताको प्रसृत कर सकते हैं। ... प्रत्येक हिंदी पुस्तकालय व धर्ममंदिरमें रखनेकी वस्तु है।''

४. श्री. स्वामी व्रतानन्दजी महाराजकी संमति

(श्री गुरुकुल, चितौडगड, राजपुताना, २८।८।३४)

'वैदिक संपत्ति' नामकी पुस्तक अपने विषयकी अद्वितीय पुस्तक है। आर्यसमाज के साहित्यमें इसकी समानता की अन्य पुस्तक आजतक नहीं लिखी गई। इस पुस्तक का क्रम ऐसा रोचक है कि पढने में रुचि उत्तरोत्तर बढतीहि जाती है। इस पुस्तकमें यह सफलतापूर्वक सिद्ध किया है कि सुखकी प्राप्ति के लिए वर्तमान सभ्य संसारने जिन उपायों का अवलंबन किया हैं, वे घातक हैं। उनके स्थानपर संसार जब वैदिक सभ्यता का आश्रय लेगा, तभी उसे सुख प्राप्त होगा। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तकको पढने के पश्चात् कोई भी सत्यान्वेषक वेद और वैदिक सभ्यता का प्रेमी बने विना नहीं रह सकता। यह पुस्तक संसार के लिये इतनी उपयोगी है कि इसका अनुवाद संसारकी सब भाषाओंमें यथाशक्ति शीघ्रहि हो जाना चाहिए।

५. श्री. पं. देवराजजी विद्यावाचस्पतिजी की संमति।

'बहुत दिन हुए आपकी भेजी हुई ''वैदिक संपत्ति'' नामकी पुस्तक मुझे संमत्यर्थ प्राप्त हुई थी। मैंने प्रायः सारी पुस्तक को पढ डाला। जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी थोडी है। ...इस पुस्तक में वैदिक सिद्धांतोंके पुष्टिके प्रकार कों देखकर हम परमेश्वरसे प्राथना करते हैं कि इस पुस्तक का हिंदुओंके के घर घर में प्रचार हो।'

६. श्री० पं० भगवद्दत्तजी, M.A.की संमति।

(वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मोडेल टाऊन, लाहौर ५।९।३४)

'वैदिक संपत्ति' पुस्तक प्राप्त हुआ। अब प्रायः साराहि ग्रंथ देख गया हूं। ग्रंथ अत्यंत उपादेय और भूरि परिश्रम का फल है। अनेक विषयों पर ग्रंथकारका लेखन मार्मिक है।...भाषाविज्ञानपर उनका लेख बहुत विचारपूर्ण है।...पुस्तक मार्मिक है। मैं इसकी जितनी प्रशंसा करूं थोडी है। मैंने स्वयं इससे कई बातों का लाभ उठाया है।......'

७. 'वैदिक विज्ञान' मासिक की संमति।

(अप्रैल स० १९३४)

'आपने इस पुस्तक में प्रायः वेद के संबंध में उठनेवाली सभी समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। वेदके काल-निर्णय, वेदकी रचना का काल, वेदमें इतिहास की सत्ता, वैदिक संस्कृति तथा वेद पर योरोपीयनों के आक्षेप और वेद में उच्च सभ्यता के दिग्दर्शन आदि नाना विषयों पर आपने बडीहि सुंदर, ललित और रुचिकर भाषा में विवेचन किया है। आपकी लेखनशैली विस्तृत और स्वतंत्र है। इसके बीच में से गुजरनेवाला पाठक लेखक के मंतव्यों से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। वेदकी बहुतही समस्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं।...'' स्वाध्यायप्रेमी के लिये तो यह एक उत्तम और विशद मानसिक भोजन है।'

८. 'आर्यप्रकाश' की संमति।

(ता० ९।९।१९३४)

'साहित्यभूषण पं० रघुनंदन शर्मांना अनमोला परिश्रमना परिणामस्वरूप 'वैदिक संपत्ति' ये विद्वानोंने माटे अमूल्य गवरो ग्रंथ छे...विद्वान् पाठक वर्गना हृदयागारमां एमनूं स्थान अने श्रम हमेशाने माटे स्थायी जा रहेशे. आर्यप्रजाये आ ग्रंथनी एक एक नकल पोताना घरमां अवश्य राखवी ज जोइये. कपडां अथवा पान सोपारीनो खर्च कमी करी, पण वैदिक संस्कृति प्रत्ये प्रेम दर्शावनारी व्यक्तिये आ पुस्तक ने पोताना घरमां वसाविने पोताने प्रेममूर्त बनवावो जोइये.

९. 'वैदिक धर्म' मासिक की संमति।

'इस अमूल्य ग्रंथ में प्रथम के दो विभागों में वेदों की प्राचीनता, अपौरुषेयता और श्रेष्ठताकी सिद्धि अनेक प्रमाणों से की है। वेद का प्रत्येक वर्ण अपना

स्वाभाविक अर्थ रखता है, यह ग्रंथकारका सिद्धांत है और 'अक्षरविज्ञान' नामक पुस्तक में इसकी सिद्धता की गई है। यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है और उसका संक्षेप से विवरण करना भी यहां असंभव है, परंतु यह बात इस ग्रंथके प्रथम दो भाग पढने से समझ में आ जायगी और अपनी आर्यसभ्यता की विशेषता भी ध्यान में आ जायगी।

'यद्यपि द्वितीय खण्डमें **'वेदोंकी अपौरुषेयता'** बताने का मुख्य उद्देश्य है, तथापि ईश्वर, चैतन्य, तुलनात्मक शरीररचनाशास्त्र, जन्तुशास्त्र, मानवजाति के मूल पुरुष, आदिसृष्टि का स्थान, आदिभाषा, वैदिक भाषा आदि भाषा का संस्कृत, जन्द, फारसी, अंग्रेजी, मिश्र, अरबी, जापानी, द्राविड आदि भाषाओंसे सम्बन्ध, वैदिक भाषाकी अपरिवर्तनशीलता, अक्षरार्थ और लिपि इत्यादि प्रकरण बडे हि उद्बोधक हैं। **यज्ञोंमें आयुर्वेद, ज्योतिष, भूगोल, वास्तु, पदार्थविज्ञान, पशुपालन, सर्वभौमराज्य-शासन आदि संपूर्ण शास्त्रों का सम्बन्ध कैसा है, यह सुयोग्य प्रमाणोंसहित इस द्वितीय खंडमें पाठक देख सकते हैं।**... 'ऐसे अपूर्व ग्रन्थ का हम स्वागत करते हैं और प्रत्येक वैदिक धर्मीसे हम सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि वह इस ग्रंथ को अपने घर में रखे और इस ग्रंथका पाठ प्रत्येक भारतवासी के घर में होता रहे।'

१०. 'सार्वदेशिक' दहली की संमति।

'ऐसे उत्तम ग्रन्थको प्रकाशित करके श्री सेठ शूरजी वल्लभ-दासजीने आर्य जनता -विशेषतः स्वाध्यायशील विद्वन्मंडली का बडा भारी उपकार किया है । प्रत्येक विषय का बडी योग्यता से इस ग्रंथ में सप्रमाण विचार किया गया है। प्रमाणों और युक्तियोंसे विषयों को खूब पुष्ट किया गया है। कागज, छपाई, प्रकारादिक सब उत्तम हैं। इस पुस्तक की एकेक प्रति उत्तम पुस्तकालयमें अवश्य रहनी चाहिये। जिससे स्वाध्यायशील निर्धन सज्जन भी उससे लाभ उठा सकें।' -धर्मदेव विद्यावाचस्पति, बंगलौर।

११. अर्जुन (४ अक्तूबर १९३४)की संमति।

वैदिक संस्कृतिका विस्तृत परिचय देनेसे पूर्व लेखकने प्रथम दो खण्डों में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वेद अत्यंत प्राचीन और आदिसृष्टि में बने हुए हैं। लेखक की प्रतिपादनशैली उत्तम और विद्वत्तापूर्ण है। आजकल के प्रचलित मतोंका योग्यता-पूर्वक निराकरण किया गया है। तीसरा खण्ड ऐतिहासिक है, जिसमें बाहरसे आनेवाले विदेशियों के संसर्गसे आर्य संस्कृति में जो हेरफेर हुए, उनका जिक्र है। प्राचीन शास्त्रोंमें कहाँ-कहाँ परिवर्तन किए गए, इस संबंध में विद्वान् लेखनने कम प्रकाश नहीं डाला। चतुर्थ खण्ड में वेद और उसकी शाखाओंपर विचार करने के अनन्तर वैदिक संस्कृति का आदर्श बनानेकी चेष्टा की गई है। वर्णाश्रमव्यवस्था, त्याग-वादका आदर्श और मोक्षका परम उद्देश्य आदिपर जो विचार किया गया है, वह केवल धर्मशास्त्रीय चर्चा करनेवालेके लिए ही नहीं, परंतु इतिहास के विद्यार्थी के लिए भी उपयोगी है।

'संपूर्ण ग्रंथ में लेखक की शैली इतनी विद्वत्तापूर्ण है कि लेखक के बहुश्रुत, बहुज्ञ और मननशील होने में कोई संदेह नहीं रहता। लेखक आर्यसामाजिक विद्वान् हैं, परंतु उस में उनकासा हठ नहीं है। वे कहते हैं कि वेदोंसे तार, रेलगाडी निकालना व्यर्थ है, शब्दोंकी खेंचतानी है। वैदिक सभ्यता त्यागकी सभ्यता थी, उनमें वर्तमान भौतिक उन्नतिको बहुत महत्त्व कभी नहीं दिया गया।

'हम अंत में प्रत्येक आर्यसामाजिक विद्वान्, शास्त्रीय चर्चा के प्रेमी और प्राचीन भारतीय इतिहासके विद्यार्थीसे इस अमूल्य ग्रन्थको पढने का आवश्य अनुरोध करेंगे।'

इत्यादि अनेकानेक महानुभावोंने इस पुस्तकको मुक्त कण्ठसे प्रशंसित किया है. इसलिए आप इसे लेकर एकवार पढिये—

पृष्ठसंख्या ८३२ है और मूल्य केवल ६) छः रु० है और डाकव्यय १।)है। शीघ्र लीजिये।

म० आ० से ७।) विदेशके लिये ८)

॥ हिन्दी साहित्यमें अनोखा रत्न ॥

अक्षर-विज्ञान ।

मूल्य १) रु० डा० व्य० ।=)

इस पुस्तक में तीन प्रधान विषय हैं- (१) इवोल्यूशन या विकासवाद की समालोचना। इसमें दिखलाया गया है कि बन्दर ही मनुष्य नहीं बन गया— किन्तु वह आदि सृष्टि में इसी रूप तथा ईश्वरीय वैदिक ज्ञान और भाषा के साथ पैदा हुआ था। (२) वह भाषा वैदिक भाषा थी जिसको संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी, चीनी और जापानी आदि अनेकों भाषाओं के सैकडों शब्दों से सिद्ध किया गया है। (३) प्रत्येक अक्षरकी ध्वनि से उसका अर्थ तथा रूप दिखलाया गया है।

इस पुस्तक की समालोचना भारत-प्रसिद्ध पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने अगस्त सन् १९१४ की 'सरस्वती' में इस प्रकार की है— "आज, हमें एक ऐसी पुस्तक का परिचय पाठकों से कराना है जिसका अधिकांश बिलकुल ही नया है। जिसके लिखने में लेखकने अपने दिमाग से बहुत कुछ काम लिया है, जिसमें जगह जगह पर लेखक की चिन्ताशीलता का प्रमाण मिलता है, जिसको लिखने के पहले लेखक को भिन्न भिन्न भाषाओं की अनेकानेक पुस्तकोंका परिशीलन करना पडा है। अक्षर-विज्ञान नामक पुस्तक ऐसी ही है। ऐसी महत्व-पूर्ण पुस्तक लिखने के कारण लेखक महाशय को बहुत साधुवाद। बेचारे डारविन के कीर्ति-चन्द्र पर खग्रास ग्रहण लगने के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। प्रोफेसर बेटसन, प्रोफेसर मेंडल और मेडम हेनरी आदि के युक्ति-समूह राहु बन कर उसका ग्रास करने के इरादे में थे ही कि अक्षर-ज्ञान के लेखक के युक्तिवाद भी उनकी सहायता के लिये तैयार होकर निकल पडे। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि अक्षर-विज्ञान के कर्ता ने अपने विषय का विशेष मनन किया है। उनकी विद्याभिरुचि और गवेषणाशक्ति सर्वथा प्रशंसनीय है। उन्हों ने यह पुस्तक लिख कर अपनी योग्यता और चिन्ताशीलता का अच्छा परिचय दिया है। इस कारण हम साधुवाद से आपका पुनर्वार अभिनन्दन करते हैं।"

विशेष सहूलियत !

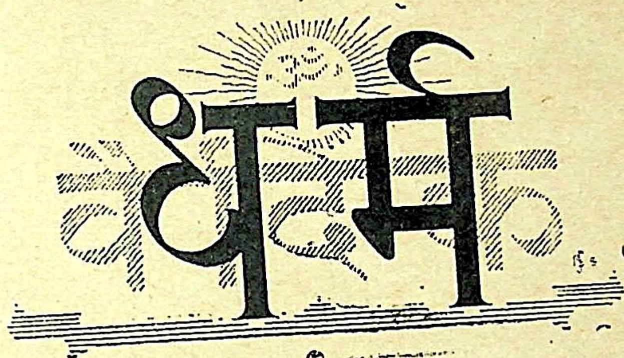
वैदिक संपत्ति। मूल्य ६) डा० व्य० १।) मिलकर ७।)

अक्षर-विज्ञान। मूल्य १) डा० व्य ।=) मिलकर १।=)

मनी आर्डर द्वारा ७।) भेजनेसे दोनो पुस्तकें विना डाकव्यय मिलेंगी।
उक्त प्रकार की सहूलियत निम्नलिखित पते पर ही ७।) भेजनेसे मिल सकती है।

सेठ शूरजी वल्लभदास,
कच्छ कैसल, सँडहर्स्ट ब्रिज,
बंबई ४

वर्ष २०
अंक ६
क्रमांक २३४



ज्येष्ठ
संवत् १९९६
जून
सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

मनका दोष दूर होवे।



यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः
सरस्वती मन्युमन्तं जगाम।
विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः
सं दधातु बृहस्पतिः ॥

(अथर्व १९।४०।१)

"(यत् मे मनसः छिद्रं) जो मेरे मनमें छिद्र या दोष हैं, (यत् च वाचः) जो मेरी वाणीमें छिद्र अर्थात् दोष हैं, जिस दोषके कारण (सरस्वती मन्युमन्तं जगाम) विद्या का क्रोध हुआ है, वह दोष (विश्वैः देवैः सह सं विदानः) सब देवोंके साथ संमिलित रहनेवाला बृहस्पति (सं दधातु) दूर करे, ठीक करे, मेरा फटा हुआ मन दुरुस्त करे।"

मेरी असावधानी के कारण मेरे मन और वाणीमें दोष उत्पन्न हुए हैं, जिन दोषोंके कारण विद्यादेवी की कृपा मुझपर नहीं होती, विद्या रुष्ट होती है। बृहस्पति सब देवताओंके साथ मिलकर वे सब मेरे दोष दूर करे और मेरा मन निर्दोष होनेसे मैं सरस्वतीदेवीका कृपापात्र बनूंगा अर्थात् मैं विद्वान बनूंगा।

सामवेद और अथर्ववेद

अथर्ववेदकी १५०० पुस्तकें बिक चुकी !

इस समयतक डेढ हजार पुस्तकें अथर्ववेदकी ग्राहकों के पास भेजीं गयीं हैं । शेष अगले मासमें भेजीं जायंगीं । इसी हिसाबसे यह अथर्ववेद भी प्रथमबार मुद्रित और २।३ महिनोंमें समाप्त होगा । वेद के ग्रंथ अच्छे छपने पर कितने शीघ्र बिक जाते हैं, इसका पत्ता यहां लग सकता है।

ऋग्वेद केवल चार हि महिनोंमें सब प्रथमवार का बिक चुका था । उससे दुगुणा हमने अथर्ववेद छापा वह भी आधा केवल दो महिनों में समाप्त हुआ । यहां तो जिल्दें बनने में भी फुरसत नहीं है, प्रतिदिन जितनी पुस्तकें तैयार होती हैं उतनी भेजी जाती हैं । इस गतिसे हमें पूर्ण आशा है कि आगामी २।३ महिनोंमें अथर्ववेद की प्रथमवार की सब पुस्तकें समाप्त होंगी.

इसलिये ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे अपना मूल्य अति शीघ्र भेज दें और वेदोंके ग्राहक अतिशीघ्र बनें । ऋग्वेद द्वितीयवार छापना प्रारंभ हुआ है और वह पांच महिनोंमें तैयार होगा । इस समय हमने ऋग्वेदके लिए टाईप पहिले की अपेक्षा बडा लिया है, चरण दर्शाये हैं, देवता के सूचक पद पर चिह्न किये हैं तथा अन्य भी कई आवश्यक सुधार किये हैं। इसलिये हमें पूर्ण आशा है कि यह भी प्रथमवार की अपेक्षा ग्राहकों को अधिक प्रिय होगा ।

सामवेद ।

सामवेदकी छपाई चल रही है, पूर्वार्चिक छप चुका है और उत्तरार्चिक छपना प्रारंभ हुआ है । इसके लिये टाईप बडा लगाया है, प्रत्येक मंत्र खुला छापा है, जो मंत्र ऋग्वेद में आया है, उसका ऋग्वेदका पता दिया है, जो मंत्र सामवेद में अनेकवार आया है, उसका सामवेदका भी सब स्थानका पता दिया है। अर्थात् प्रत्येक मंत्र ऋग्वेद में और सामवेदमें कहां है यह प्रत्येक मंत्र के साथ ही पाठक देख सकेंगे । इस तरह सामवेद आजतक कहीं भी नहीं छपा था ।

सामवेद के मंत्रों के ऋषि देवताओं के विषय में आजतक जो अशुद्धियां छपीं थीं वह सब इस में दुरुस्त की है। जैसा कलकत्ते में स्व० सत्यव्रत सामश्रमीजीने जो सामवेद छापा था । इस पुस्तकमें सामवेद १।१।३।१० के 'परि वाजपतिः ' मंत्रका ऋषि (उक्त कलकत्ता मुद्रित में) ' कामदेव ' छापा था, यह केवल मुद्रण दोष ही था। क्योंकि यह मंत्र ऋग्वेद के मंत्र ४।१५।३ में से लिया है और यहां का ऋषि ' वामदेव ' ही है । परंतु छपाई में दृष्टिदोष से मुद्रण- दोष होते हैं, वैसा श्री सामश्रमी के ग्रंथमें ' वामदेव ' के स्थानपर ' कामदेव ' छप चुका । पर इस की खोज न करते हुए अजमेर वैदिक यंत्रालयवालोंने तथा अजमेर के आर्य साहित्य मंडल के पं० जयदेव शर्माजीने भी ' कामदेव ' ही छापा है !! इस तरह यह अशुद्धि अनेक जगह गई । इस तरह की अनेक अशुद्धियां हमने शुद्ध की हैं। पहिले कलकत्ते के छापें में जो दोष हुए थे, उनको ही शुद्ध मानने के कारण इस तरह के दोष हुए, पर उनकी ओर किसीने देखा भी नहीं ।

वेद जैसे परम पवित्र ग्रंथको कितना शुद्ध और किस तरह विचारपूर्वक छापना चाहिये, यह चिन्ता हमारे मन में सदा जाग्रत है और जितना यत्न हो सकता है उतना करके हमने निश्चय किया है कि वेद की सब संहिताएं एक दोवार अच्छेसे अच्छे प्रकार छपना ही है। हमारे सब पुस्तक तैयार होनेपर इनसे कितनी धर्मसेवा होगी, इसका ज्ञान सबको हो जायगा ।

क्या मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है?

इस विषयमें वेद क्या कहता है?

(पञ्चम लेख)

परदे के पीछेसे पुकार।

गत चार लेखोंमें बताया कि परमेश्वर के गुणों का साक्षात्कार मनुष्य कर सकता है और उन गुणोंकी सत्ता जहां होगी वहां निः सन्देह ईश्वर है ऐसा ज्ञान मनुष्य प्राप्त कर सकता है। यह परदेके पीछे रहे ईश्वर का ज्ञान है। जैसा किसी का कोई मित्र घरके बाहेरसे पुकारता है, पर यह घर के अन्दर होने के कारण मित्र को देख नहीं सकता पर उसकी आवाज सुन सकता है और आवाज से ही पहचान लेता है कि यह फलाने अपने मित्रकी आवाज है। इस आवाजसे ही वह जानता है कि अपना फलाना मित्र जो दस वर्षसे दूर देश गया था, वह आया है। इतना पहचाननेके पश्चात् वह उस मित्रको अन्दरसे ही पुकारता है। दोनों परस्परको नामोंसेहि पुकारते हैं, पहचानते हैं, बातें भी करते हैं, पर द्वार बंद होनेसे एक दूसरे का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर नहीं सकते। गुणोंके कारण जो ईश्वर की पहचान है वह ऐसी ही पहचान है। उसमें ईश्वर की प्रत्यक्षता नहीं है, भक्तने प्रभुको तो पहचान लिया है कि इस परदेके पीछेसे मुझे प्रभु पुकारता है, पर वह प्रत्यक्ष नहीं हुआ। हमें तो प्रत्यक्ष प्रभुका दर्शन करना है।

कस्तूरी की सुगन्ध।

परले कमरेमें कस्तूरी की संदूक पडी है, उस संदूक में कस्तूरी भरी पडी हैं। उस संदूक से उस कमरे के बंद द्वारोंसे होती हुई कस्तुरी की सुगंध बाहर आती है। इस सुगंध के सूंघने से निश्चय होता है कि फलाने कमरे में कस्तूरी है। प्रत्यक्ष न होते हुए भी वहां कस्तूरी है इस बात का निश्चय होता है। यह भी एक प्रकार की प्रत्यक्षता ही है।

सुगंध क्या है? सुगन्ध भी कस्तूरी के सूक्ष्म अणुहि वायुके द्वारा बाहर आते हैं, अर्थात् सुगन्ध भी कस्तूरी का सूक्ष्म रूप हि है। कस्तूरी की प्रत्यक्षता नाक से ही होनी है और कमरे के अन्दर की सन्दुकडी में बन्द रही कस्तूरी की प्रत्यक्षता इस तरह नाक से हो रही है। इतनी नाक से कस्तूरी की प्रत्यक्षता होनेपर भी हम कहते हैं कि वह तो उस कमरेमें सन्दूक में बंद पडी है। वह तो बंद होनेके कारण प्रत्यक्ष नहीं है। भला खुश्बू-सुगन्ध-आंख से प्रत्यक्ष किस तरह होगी? वह तो नाक से ही प्रत्यक्ष होनी है जो नाक से प्रत्यक्ष हो ही रही है, पर भी आंख से कस्तूरी का मिट्टी जैसा काला काला रूप प्रत्यक्ष न होनेपर नाक से सुगन्ध द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाली हम प्रत्यक्ष हुई ऐसा नहीं मानते हैं!!! यह दोष हमारा हि है।

वाणी का रूप।

इसी तरह मनुष्य का रूप जैसा शरीर का रूप है वैसा ही उसकी वाणी का भी श्राव्य रूप है। जो वाङ्मूर वैसा ही उस मनुष्य का है जैसा उस के शरीर का है, पर हम प्रत्यक्ष तो उसी को कहते हैं कि जो उसके शरीर से प्रत्यक्ष होता है। वस्तुतः मनुष्य के शरीर का रूप आंख-द्वारा प्रत्यक्ष होता है और उसी के वाणी के शब्दमय रूप की प्रत्यक्षता कानों से होती है, शरीर के गन्ध से नाक द्वारा प्रत्यक्षता होती है, यद्यपि मनुष्य नाकद्वारा दूसरे मनुष्य को नहीं पहचान सकता, पर कई पशु गन्ध से ही पहचान सकते हैं। शब्द से मनुष्य की पहचान होती है। पहचान होना और प्रत्यक्ष होना एक ही बात है। कला-कुशलता को देखकर यह फलाने कारीगर की कृति है,

ऐसा पहचानना भी एक प्रकार की प्रत्यक्षता ही है। चित्र और मूर्ति देखकर यह निःसन्देह फलाने चित्रकार की कृति है, ऐसा पहचाना जाता है। क्योंकि कारीगरी, कुशलता भी मनुष्य का एक रूप है, जो शरीर के समान ही प्रत्यक्ष है। कई पुत्र हूबहू पिता के समान होते हैं, उन पुत्रोंको देखनेसे भी पिताका साक्षात्कार होता है, क्योंकि-

आत्मा वै पुत्र नामासि।

'पुत्र रूपसे स्वयं पिताही जन्म लेता है।' पिता स्त्रीमें अपने आपको जन्म लेनेके लिये स्थापित करता है। इसलिये वह पुत्र भी पिताका एक रूपहि है। ग्रन्थकार का ग्रन्थ देखनेसे और उसी का लेख पढनेसे भी उस ग्रन्थकार की प्रत्यक्षता होती है, क्योंकि लेख भी उसका एक प्रकार का लेख्य रूपही होता है, लेख वाणी का ही लेख्यरूप होता है। अब यहां कितने प्रकार प्रत्यक्षता के अथवा साक्षात्कार के हुए इसका विचार करिये—

१. शारीरिक प्रत्यक्षता- किसीके शरीरका आंखसे प्रत्यक्ष होना,

२. वाचिक प्रत्यक्षता- किसी की वाणी का कानों से श्रवण करना,

३. मानसिक प्रत्यक्षता- किसी के मानसिक विचारों को मनसे ग्रहण करना,

४. बौद्धिक प्रत्यक्षता- किसी के ज्ञान को बुद्धिसे प्राप्त करना,

५. ग्रांथिक प्रत्यक्षता- किसी के ग्रन्थ को पढना और उसकी योग्यता जानना,

६. प्राजनिक प्रत्यक्षता- किसी के पुत्र को देखकर पिता को (यदि समान रूप हुआ तो) जानना,

७. कारु-प्रत्यक्षता- किसीकी कारीगरी देखकर उसकी कुशलता को जानना, (इसमें काव्य आदि भी आते हैं),

८. प्रेमप्रत्यक्षता- किसी के हृदय के प्रेमभाव से उसको (पत्रादि के पढने से) प्रत्यक्ष करना।

इसी तरह अनेक प्रकार से प्रत्यक्षता होती है, परन्तु हम तो केवल शरीर को देखने से ही जो स्थूल की प्रत्यक्षता होती है, उसी को सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्षता मानते हैं। परन्तु यह अशुद्ध विचार है।

मनुष्य के वाचिक, मानसिक, बौद्धिक, प्रेममय भावोंके प्रत्यक्ष रूप होते हैं, अतः उनसे भी उस व्यक्तिकी प्रत्यक्षता होती है, यह अनुभव की बात है। किसी प्रियकरके प्रेमभरे पत्र के दर्शनसे जो उसके प्रेम का साक्षात्कार होता है, वह एक अपूर्व आत्मा के श्रेष्ठ भाव का साक्षात्कारहि है। यदि हम केवल स्थूल शरीर के प्रत्यक्ष होनेका ही नाम साक्षात्कार समझ बैठेंगे, तो प्रेम आदिके अपूर्व श्रेष्ठ आत्मा के रूप का जो साक्षात्कार इस जीवन में होता है, उस से हम वंचित ही रहेंगे। केवल स्थूल शरीरके साक्षात्कारको ही सच्चा साक्षात्कार मानना और मनुष्य के उच्चतम अन्य जीवनांगोंकी ओर दुर्लक्ष्य करना, यह मनुष्य का एक बडा भारी हतभाग्य ही है। क्योंकि इससे वह अपने असंख्य श्रेष्ठ जीवन के भावोंसे वंचित ही रहता है।

भेदका अनुभव।

जितने मनुष्य हैं, उतने शरीर भिन्न हैं। अतः इस भेदसे पराशर और गौतम अलग होनेका पता लग जाता है। यदि सबों के शरीर एक जैसे होते, तो यह मित्र है वा यह शत्रु है, इसकी पहचान न होती। शरीर भिन्न भिन्न हैं, इसलिये जानपछान हो रही है। जैसा स्थूल शरीर अन्नमय है, वैसाही वाङ्मय शरीर आपोमय है, अतः "आपोमयी वाक्" ऐसा उपनिषदों में कहा है। यह आपोमय शरीर प्रत्येक का विभिन्न होता है। इसीलिये एक का शब्द दूसरे के शब्द से अलग उच्चारित होता है, अतः आवाज से यह इस मनुष्य की आवाज है, ऐसा जाना जाता है। शरीर की पहचान के समान ही यह वाणी की पहचान है। वैदिक सिद्धान्त यह है कि स्थूल शरीर अन्नका बना है और वाङ्मय शरीर जलतत्त्व का बना है। हम शरीर के समानही वाणीसे अन्यों को पहचानते हैं। हस्ताक्षर से भी बहुत अंशमें लेखक के स्वभावशीलादि गुणावगुण जाने जाते हैं और वाक्यरचनामें भी यह विभिन्नता रहती है।

पाठक यहां देखें कि एकही मनुष्य की प्रत्यक्षता कितनी विभिन्न रीतियोंसे होती है। शरीर का साक्षात्कार और वाणीका श्रवण तो १०० वर्षकी जीवनावधी तक ही सीमित है, पर किसी के काव्य, जैसे व्यासवाल्मीकी का रामायण-

महाभारत काव्य उनकी उच्च बौद्धिक सत्ता की पहचान हजारों वर्षोंके पश्चात् भी हमें कराते हैं। भरतका प्रेम, राम की सत्यनिष्ठा आज भी प्रशंसनीय समझी जाती है। इन रूपों से वे इस समय में भी हैं और हमें साक्षात्कार देते हैं। तुलसीदास का रामायण रामचन्द्र के प्रेमरूप का चित्र है, वह आज भी सहस्रों मानवोंके मनोंको हिला देता है। यह श्रीरामचन्द्रका शुद्ध मनोमय भावरूप देह ही है, जो स्थूल शरीर के नष्ट होनेपर भी स्थायी भाव से रहा है। और परिणाम भी करता है। अन्नमय स्थूल देह, आपोमय वाङ्मय देह, तेजोमय मनोदेह हैं, जो एकसे एक दीर्घायु-वाले हैं।

कस्तूरी के परिमलसे भी यह मनोमय भाव सूक्ष्मतम है। कस्तूरी के परिमल के अणु तो सूक्ष्म हैं, पर मन उनसे भी सूक्ष्म है। प्रेमरूप मन और क्रोधरूप मन यह शीत और उष्ण जल के समान भिन्न है। यही रुद्रकी 'शान्ततनू' और 'क्रूरतनू' वेदमें वर्णित है।

इससे स्पष्ट हुआ कि जिसे हम साक्षात् और प्रत्यक्ष करके कहते हैं, वह एक हीन और स्थूल भाव है। उससे स्थायी, प्रत्यक्ष तथा अधिक सत्य भाव इस विश्व में हैं और वे भी मनुष्य को प्रत्यक्ष ही होते हैं।

यदि मानव के साक्षात् होनेमें इतना सूक्ष्म विचार है, तब तो ईश्वर का साक्षात्कार होनेमें कितना सूक्ष्म विचार करना चाहिये, यह अब नयी रीतिसे किसीको कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

ईश्वर का साक्षात्कार।

यहां कोई यह न समझे कि जैसा स्थूल दृष्टिसे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को शरीर द्वारा साक्षात् होता है, वैसाही ईश्वर नहीं होगा। वेद का तो यह कहना है कि जैसा एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको आपने सामने आकर साक्षात् होता है, वैसा ईश्वर भी होता है, तथा जैसा प्रेमादि अनेक रूपोंमें मनुष्य का मनुष्य से साक्षात्कार होता है, वैसाही अनन्त उच्चतम रूपोंमें मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार भी होता है। केवल इतना ही है कि मनुष्य अपने उस उस इंद्रियको ईश्वर का रूप लेने योग्य बनावे और अपने इंद्रिय खोलकर उसे देखे।

जैसा बिलकुल संस्कारहीन अनाडी मनुष्य प्रेमके उच्च भावों को क्या जान सकेगा? जिसने अपना मन शुभ संस्कारोंसे संस्कृत बनाया होगा, वही मनुष्य उच्च मानसिक सूक्ष्म भावोंको जान सकता है। जैसा यह है वैसा ही ईश्वर के साक्षात्कार के सम्बन्धमें समझना चाहिये। वेदमें कहा है कि—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋ० ६।४७।१८)

'प्रभु अपनी शक्तियों से अनेकरूप बना है।' अतः अनेक रूपोंमें हम उसको देख सकते हैं। यदि वह एकही रूपमें होता, तो संभव है कि उसको पहचानना कठिन होता। हरएक मनुष्य के विषय में हमने ऊपर देखा कि एक एक मनुष्य भी शरीर के स्थूल रूपमें, वाणीके वाङ्मय रूपमें, मनके विचारमय रूप में, लेख के अक्षरमय रूपमें, कारीगरीके मोहमय रूपमें ऐसा अनेकानेक रूपोंमें प्रकाशित होता है। यदि साधारण से साधारण मनुष्य इस तरह अनेकों रूपोंमें प्रकट हो सकता है, तो परमेश्वर अपनी अगाध अतर्क्य और अनुपम शक्तियोंसे अनंत रूपों में प्रकट हुआ तो उसके लिये वैसा होना सहज ही है। इस विषय में पूर्वोक्त मंत्र और देखिये—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते॥
(ऋ० ६।४७।१८)

"(इंद्र) इन्द्र (रूपं रूपं) प्रत्येक रूप में (प्रतिरूपः) तदाकार (बभूव) हुआ है, (अस्य तत् रूपं) इस इन्द्र का वह रूप (प्रतिचक्षणाय) प्रत्येक के अलग भाव के कथन के लिये होता है। यह इन्द्र अपनी शक्तियों से (पुरु-रूपः) बहुरूप होता है अर्थात् यह अनेक रूप धारण करता है।"

यह मन्त्र स्पष्टता के साथ कहता है कि इन्द्र ही अपनी अनंत शक्तियोंसे (पुरु-रूप) बहुरूप बनता है। एकरूप होता हुआ बहुरूप बनता है। इसीका नाम 'विश्वरूप' है, क्योंकि 'पुरुरूप, बहुरूप, विश्वरूप और सर्वरूप' का अर्थ एक ही है।

भाषामें 'बहुरूपी' उसे कहते हैं कि जो नये नये रूप

लेनेमें कुशल रहता है। ईश्वर या इन्द्र भी बहुरूपी है क्योंकि प्रत्येक रूप का वही धारण करता है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

'इन्द्र अपनी शक्तियोंसे अनेक रूप धारण करता है।' इस वर्णन को पढने के पश्चात् पुनः निम्न लिखित मंत्र देखिये कि—

तत् एव अग्निः, तत् आदित्यः, तत् वायुः, तदु चन्द्रमाः। तत् एव शुक्रं, तत् ब्रह्म, ता आपः, स प्रजापतिः॥ (वा० यजु० ३२।१)

'वही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्दमा, शुक्र, ब्रह्म, आप् और प्रजापति है।' अर्थात् उसी इन्द्रने अपनी अद्भुत शक्तियोंसे ये रूप धारण किये हैं। अब आप अग्नि-आदित्य-चन्द्रमा, आप् को देखते हैं। बहुरूपी इन्द्रने अपनी अनेकविध शक्तियोंसे ये रूप धारण किये हैं। अथवा इन विविध रूपोंमें वही प्रकट हुआ है।

पाठक संभवतः यह माननेको तैयार नहीं होंगे, क्योंकि इन मंत्रोंके विपरीत भाव उनके मनोंमें घुसे हैं, इसलिये मन्त्र का सत्य उपदेश क्या है और मंत्र का विपरीत भाव कौनसा है, इस विषयमें पाठक निश्चय करनेमें इस समय असमर्थ हैं। यही ईश्वर स्वरूप के सत्य ज्ञान में बाधा है, यही बडा भारी विघ्न है। ऋग्वेद का मंत्र देखिये—

इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं आहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः॥

(ऋ० १।१६४।४६)

'इस विश्वमें (एकं सत्) एकही सत् है, वही अग्नि आदि अनेक नामोंसे वर्णित होता है।' क्योंकि वही अपनी शक्तियोंसे अनेक पदार्थोंके रूपमें प्रकट हुआ, वही अग्निरूपमें प्रकट हुआ, वही आदित्यके रूपमें प्रकाशित हो रहा है, वही वायु है, वही वरुण है। जिन पाठकोंको कोई शंका हो वे इन तीनों मंत्रों का पुनः पुनः विचार करें—

१ तदेवाग्निः। (वा. यजु. ३२।१)
२ इन्द्रो मायाभिः (ऋ० ६।४७।१४)
३ एकं सत् (ऋ० १।१६४।४६)

इनकी संगति लगानेसे वेद का ठीक ठीक तत्त्व जाना जा सकता है। पाठक यहां पूर्वग्रहदोष से वेद का अर्थ न समझने की बात का अनुभव करें। वेद तो अनेकविध प्रमाणोंसे कहता ही है कि ईश्वर के अग्नि, वायु, आदित्य, विद्युत, चन्द्रमा आदि रूप हैं। ईश्वरने ये रूप लिये हैं उन्होंनें अपनी अनेक विध शक्तियोंसे ये रूप लिये हैं। जो ऐसा मानेंगे, वेही इन रूपोंमें ईश्वरकी शक्तियों का तथा प्रत्यक्ष ईश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं। परन्तु जिनके मनमें पहिलेसे विपरीत ही भावना जड करके बैठी है, वे कब इस वेदके उपदेशको मानेंगे? इस लिये हमें इस विषयमें अधिक खोज करने की आवश्यकता है। देखिये वेद क्या कहता है-

ईश्वर के अङ्ग।

यस्य भूमिः प्रमा, अन्तरिक्षं उत उदरम्।
दिवं यः चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३२॥
यस्य सूर्यः चक्षुः, चन्द्रमाः च पुनः नवः।
अग्निं यः चक्रे आस्यं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३३॥
यस्य वातः प्राणापानौ, चक्षुः अंगिरसोऽभवन्।
दिशो यः चक्रे प्रज्ञानीः, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३४॥

(अथर्व. १०।७।३२-३४)

"भूमी जिसके पांव (प्रमा- मापनेका साधन Foot) हैं, अन्तरिक्ष जिसका पेट है, द्युलोक जिसका सिर है, सूर्य जिसका आंख है, फिर फिर नया नया बननेवाला चन्द्रमा भी जिसका आंख है, अग्नि जिसका मुख है, वायु जिसका प्राण और अपान है, चक्षु (अंगिरसः) अग्नि हैं, दिशाएं जिसके कान- ज्ञानसाधन हैं, उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है।"

इन मंत्रों में श्रेष्ठ ब्रह्मका वर्णन है। आप समझते हैं कि ब्रह्मका दर्शन तो सहस्रों वर्ष होना नहीं है। पर यहां तो उस ज्येष्ठ ब्रह्मके अवयवोंका वर्णन ऐसा दिया है कि जो आपको प्रत्यक्ष हैं। भूमि तो आपको प्रत्यक्ष दीखती है ना? वह उस ब्रह्मके पांव हैं, यदि आपको यह भूमि दीखती है तो आपको परमेश्वरके पांव दीख रहे हैं। यदि आपको यह अन्तरिक्ष दीख रहा है तो आपको ईश्वर का पेट दीखता है। यदि आपको ऊपर का नीला प्रकाशमान आकाश दीखता है, तो वह है ईश्वर का मस्तक। यदि आपने कभी

सूर्य और चन्द्र अपनी आयुमें देखे होंगे, तो वे उस प्रभुके दो आंख हैं, ये दो आंख प्रभुके आंख हैं, वे आप के व्यवहार का निरीक्षण करते हैं। वेद कहता है कि ये ईश्वरके आंख हैं, पर आप अपनी बुद्धिमत्ता की घमेंड के कारण सूर्यचन्द्रमाको जड अचेतन आदि कहने में संकोच तक नहीं करते !! प्रभुके आखोंके विषयमें आपको यह अधिकार किसने दिया, जिससे आपने प्रभुकी अपार सत्ता का भी तिरस्कार किया और वेदके उपदेश का भी अपमान किया? जब आपसे इसका उत्तर पूछा जायगा, तब आप किसकी शरण जांयगे ?

किसी की पहचान तो उसके शरीरके अवयवों को देख कर हि करते हैं ना ? आप अपने पिताको उनके आंख नाक कान पेट पांव देखकरही पहचानते हैं ना ? या कोई अन्य रीतिसे अपने माता पिता को आप पहचानते हैं ? वेद कहता है कि उसी रीतिसे तुम अपने परम पिताको पहचानो, तुम्हारा दयालु परम पिता तुम्हारे सामने खडा है, सूर्य चन्द्र देखो, जिनको तुम सूर्य और चांद कहते हो, वे तो तुम्हारे परम पिता के दिव्य आंख हैं। इन सूर्य चन्द्रमा में उसी परम पिताकी दर्शन शक्ति कार्य कर रही है, जैसी तुम्हारे पिताके आंखमें पिताके आत्मा की दर्शन शक्ति कार्य करती है। इसमें कोई भेद नहीं है।

क्या आप अपने पिता के आंखोंको, पेटको और पावोंको अपने पूजनीय पिताजीसे पृथक् जड हीन मानते हैं या पिताजीकाही वह रूप है ऐसा मानते हैं ? यदि पिताजीका ही रूप उनके पांव हात पेट सिर और आंखों के रूपमें आप देखते हैं और इन अवयोंको देखनेसे पिताको देखने का आनन्द पाते हैं, तो वैसाही आनन्द आपको इस परम पिताके उक्त शरीरावयव देखनेसे मिल सकता है। वेदने आपको बताया है कि ये आपके परम पिता के शरीर के अवयव हैं। आप वेदके आदेशानुसारहि वैसा मान लीजिये।

वेद आपको धोखा देता है ऐसा तो आपका ख्याल नहीं है ? फिर आप मान लीजिये कि आपके परम पिता के शरीर के अवयव-प्रभुके-ईश्वरके शरीरके अवयव सूर्य चन्द्र, दिशा, द्युलोक, अन्तरिक्ष, भूलोक, वायु आदि हैं, जो आपको प्रत्यक्ष हैं। यदि आपको ये अवयव दीख रहे हैं, तो आपको प्रभुके शरीर के विभाग-अवयव-इंद्रिय-दीख रहे हैं। प्रभुके आंखको देखा तो भी प्रभुको ही देखा है, प्रभुके पांवको देखा तोभी प्रभुका ही दर्शन किया है। फिर कहिये अब आप प्रभुकी गोदमें हैं या उससे बहुत दूर ? कितनी दूर हैं, विचार करके तो कहिये।

उपनिषद् कहता है—

अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ, दिशः श्रोत्रे,
वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो,
हृदयं विश्वं, अस्य पद्भ्यां पृथिवी, ह्येष
सर्वभूतान्तरात्मा॥ (मुण्डक उ. २।१।४)

'इस सर्वभूतान्तरात्मा- इस परमात्मा- इस ईश्वरका सिर अग्नि है, आंखें सूर्य-चन्द्र हैं, कान दिशाएँ हैं; वाणी का विस्तार वेद हैं, प्राण वायु है, हृदय विश्व है, पांव पृथ्वी है, यही सर्वभूतान्तरात्मा है।' इस विश्व में सर्वभूतान्तरात्मा एक ही है। सर्वभूतान्तरात्मा शब्द ऐसा है कि जिस विषय में किसीको संदेह नहीं हो सकता। यह शब्द परमात्माका ही वाचक है और अन्त में 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' यह है सर्वभूतान्तरात्मा ऐसा कह कर सब संदेहों को दूर किया है। सर्वभूतान्तरात्मा के सिर, आंख, कान, वाचा, प्राण, हृदय और पांव यहां दर्शाये हैं। सिरसे लेकर पांव तक का वर्णन होनेसे इस प्रभुके विषय में किसी को संदेह रह नहीं सकता। यह वर्णन देखकर कहिये कि पूर्वोक्त वेदमंत्रमें कहे ईश्वर का ही यह वर्णन है वा नहीं ? और इन प्रभुके अवयवों में से आप किस अवयव को नहीं देख रहे हैं ? वेद और उपनिषदों ने प्रभु को इतना प्रत्यक्ष दिखा दिया है तो भी आप कहेंगे कि वह आपको दीखता नहीं और वह बहुतही दूर है और आपको वह सहस्रों जन्मों में भी दीखनेवाला नहीं है ? वेद और उपनिषद् जैसा आपको और कौन समझानेवाला है ? परन्तु वेद इतना दयामय है कि वह आप सुनते नहीं और मानते नहीं, इतना ही नहीं, आप वेदवचनों का अर्थ खींचातानी कर के विपरीत हि करते हैं, सच्चे अर्थको विपरीत और विपरीत अर्थको सच्चा दिखाते हैं, परभी वेद आपको बार बार वही बात कहता है देखिये—

चन्द्रमा मनसो जातः, चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च, प्राणाद्वायुरजायत।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं, शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्।
तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥
(ऋ. १०।९०।१३-१४)

इन मंत्रोंमें पूर्वोक्त वर्णनहि अन्य प्रकारसे कहा है। 'मन चन्द्रमा, आंख-सूर्य, मुख-इंद्र और अग्नि, प्राण-वायु, नाभी-अंतरिक्ष, सिर-द्युलोक, पांव-पृथ्वी, कान- सूर्य तथा अन्य लोक ईश्वर के अन्यान्य अवयव माने गये हैं।' यहां के शब्द तो ऐसे हैं कि 'उसके मनसे चन्द्रमा हुआ' पर यह उत्तर जिन प्रश्नोंके लिये दिया है, वे प्रश्न (मुखं किं अस्य, कौ बाहू, कौ ऊरू) उस परमात्मा का मुख कौनसा है, बाहु कौनसे हैं और ऊरू कौनसे हैं? ऐसे स्पष्ट हैं। ये प्रश्न इन मंत्रोंके पूर्व मंत्रमें ही कहे हैं और उन प्रश्नोंका उत्तर यहां दिया है। इसलिये प्रश्नोंके अनुसारहि इन मंत्रों का अर्थ करना चाहिये। यह वर्णन अथर्ववेद के वर्णन के अनुसार ही है। यह पुरुषसूक्त सब वेदोंमें है। इसलिये इसका महत्त्व अत्यंत है। इसके अतिरिक्त और भी कई मंत्र वेदमें हैं, जो परम आत्मा का वर्णन ऐसा ही कर रहे हैं, वह स्पष्ट वर्णन अब देखिये—

कस्मादंगाद्दीप्यते अग्निरस्य?
कस्मादंगात्पवते मातरिश्वा?
कस्मादंगाद्विमिमीतेऽधि चन्द्रमाः?
मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य?
कस्मिन्नंगे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्?
कस्मिन्नंगे तिष्ठत्याहिता द्यौः?
कस्मिन्नंगे तिष्ठत्युत्तरं दिवः? ॥ ३ ॥
(अथर्व० १०।७।३-२)

'परमेश्वर के किस अवयवमें अग्नि, वायु, चन्द्रमा, भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक और ऊपरला द्युलोक रहे हैं?' ये प्रश्न यहां पूछे हैं और इनका उत्तर देते हुए कहा है कि 'इसके पावमें पृथ्वी, पेटमें अन्तरिक्ष, सिरमें द्यु, आंखमें सूर्य, मुखमें अग्नि रहे हैं' (३२-३३) ये मंत्र पूर्व स्थानमें दिये ही हैं, अतः फिर देनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। प्रश्न और उत्तर की संगति देखनेसे परमेश्वरका वर्णन विशेषही स्पष्ट हो जाता है। यह विषय स्पष्ट करने के लिये और भी कहा है—

यस्मिन् भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः यस्मिन् अध्याहिता।
यस्मिन् अग्निः चन्द्रमाः सूर्यो वातः तिष्ठन्त्यार्पिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१२॥
यस्य त्रयः त्रिंशत् देवा अंगे सर्वे समाहिताः
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१३॥
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः ॥१५॥
(अथर्व १०।७)

'जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौः, अग्नि, चन्द्रमाः, सूर्य, वायु, रहे हैं, वही सर्वाधार परमात्मा है। (यस्य अङ्गे) जिसके शरीर के अवयवों में (सर्वे त्रयः त्रिंशत् देवाः) सब तैंतीस देव रहे हैं, (समुद्रः नाड्यः) समुद्र तथा नदीयां जिसके शरीरकी धमनियां हैं, वह सबका आधार परमेश्वर है।' यहां तैतीस देवताओंमें से एक एक देव ईश्वर के एक एक अवयवमें- एक एक इंद्रिय में रहते हैं, ऐसा स्पष्ट कहा है और तैतीस देवताओं में से नमूनेके लिये कौनसे देव किस अंग में हैं, यह भी बताया है। शेष अन्य कई देव रहते हैं, जो यहां कहे नहीं हैं, पर वे इसी प्रकार परमेश्वर के शरीर में हैं, यह जाना जा सकता है। विचार करने पर तथा वेदका अन्य स्थान का वर्णन देखने से सब देवताओं के स्थानों का पता लग सकता है।

तथा और देखिये—

यस्य शिरो वैश्वानरः, चक्षुः अंगिरसोऽभवन्।
अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
(अथर्व १०।७।१८)

'परमेश्वरका सिर वैश्वानर है, चक्षु अंगिरस हुए हैं और जिसके अंग- अवयव- सब (यातवः) चलनेहिलनेवाले प्राणी हैं, वही सर्वाधार परमात्मा है।' 'यहां का 'यातवः' शब्द गतिमानों का वाचक है। भूमि, सूर्य, चन्द्र ये सब गतिमान् हैं और हलचल करनेवाले प्राणी भी गतिमान् हैं। क्यों कि सभी पदार्थ उस प्रभु के विश्वव्यापक शरीर के अवयव हैं, कोई पदार्थ उससे छूटा नहीं है। देखिये—

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं यत्र च भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ २२ ॥
(अथर्व १०।७)

'जिसमें द्वादश आदित्य, ग्यारह रुद्र और अष्ट वसु (सं-आ-हिताः) मिलकर एकरूप बनकर रहे हैं और जहां (भूतं) भूत काल के पदार्थ रहे हैं और (भव्यं) भविष्य कालमें होनेवाले पदार्थ रहेंगे और वर्तमान कालके पदार्थ रहते हैं, वही सर्वाधार परमात्मा है।' भूत, भविष्य, वर्तमान कालके सब पदार्थ उसके शरीरके अवयव बनकर रहते हैं, जिसके अंग होकर रहते हैं, वह है परमेश्वर।

भूतकालके पदार्थ जिसके शरीरके अवयव बने थे, इस वर्तमान कालके पदार्थ जिसके शरीर के अवयव बने हुए हैं और इसी तरह भविष्य काल के पदार्थ भी जिसके शरीर के भाग बनेंगे, वही निःसंदेह परमात्मा है।

यस्य अंगानि यातवः। (अ० १०।७।१८)

'जिस प्रभुके शरीर के अंग-अवयव-इन्द्रिय ये सब पदार्थ हैं।' यह बात तो और भी वेद स्पष्ट करता है-

एकं यदंगं अकृणोत्सहस्रधा। (अ० १०।७।९)

'जिसने अपना एक ही अंग सहस्रों प्रकार का बना दिया है।' अर्थात् जिसके एक अल्प अंगसे यह सब विश्व बना है। उसीके तेजसे सूर्य, सूर्य से विद्युत्, विद्युत्से अग्नि, अग्निसे दीप, दीपसे प्रकाश, सूर्यसे चन्द्रमा इत्यादि प्रकार एक अंगसे अनेकानेक पदार्थ हुए हैं। आपको फिर भी सन्देह होगा, इसलिये कहा है--

यस्य त्रयस्त्रिंशत् देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशत् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः॥
(अथ० १०।७।२७)

'तैतीस देवताएं जिस प्रभुके अंगोंमें विभक्त हो कर रहीं, उन तैतीस देवताओं को अकेले ब्रह्मज्ञानीहि जानते हैं।' वेदने ऐसा क्यों कहा? प्रभु के शरीर का ऐसा वर्णन करने के पश्चात् ब्रह्मज्ञानीहि इसे जानते हैं, अन्य जनता नहीं जानती, ऐसा क्यों कहा? ऐसा इसलिये कहा कि साधारण लोग तो अपने पूर्वग्रहदोषोंसे दोषयुक्त मनवाले रहते हैं, इसलिये वेदने कितना भी कहा, तो भी भ्रान्त लोग कभी समझते नहीं। पर जो ब्रह्मज्ञानी होते हैं, वे ईर्ष्याद्वेषरहित होते हैं, केवल सत्यके ही वे पुजारी होते हैं, अतः वे वेदका ठीक ठीक अर्थ जान सकते हैं और वेदोपदेश को विश्वास से मानते और उसे मानकर अपना उद्धार करते हैं।

अष्ट वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य ये इकत्तीस देव और यज्ञ तथा प्रजापति ये दो मिलकर ३३ देव होते हैं।

आठ वसु-पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, चन्द्रमा और द्यौः ये आठ वसु हैं।

एकादश रुद्र- ये एकादश प्राण हैं।

द्वादश आदित्य- बारह महिनोंके आदित्य के रूप हैं।

यज्ञ तथा प्रजापति ये ३३ देवताएं परमेश्वर के शरीर के अंग हैं। पृथ्वी पांव, अन्तरिक्ष पेट, द्यु सिर, सूर्य-चन्द्र नेत्र, वायु प्राण, जातवेदस् अग्नि वाणी, अग्नि मुख, अश्विनी नासिका, वनस्पतियाँ बाल-केश, नदियां धमनियां, आप वीर्य, इसी तरह अन्य सब देवताएँ अन्य अवयव हैं। यही सर्वभूतान्तरात्मा है। क्या इसमेंसे कुछ अवयव आपको दीखते हैं या अभी भी कुछ संदेह है?

आप चारों ओर देखेंगे तो आपको पता लग जायगा कि आपके चारों ओर जीवित जाग्रत और सर्वान्तर्यामी सर्वाधार प्रभु विराजमान है, उसके शरीर के ये सर्व विश्वमें दीखनेवाले पदार्थ अवयव हैं। हमारेसे भिन्न जैसा हमारा शरीरावयव नहीं होता, उसी तरह उससे भिन्न उसके शरीरावयव नहीं हैं। मानो यह विश्व उसका विराट् शरीर है। जैसा आप अपने मातापिता के शरीर को ही देख सकते हैं, वैसाही आपने अपने परम पिता के इस विराट् शरीर को ही देखना है। आप अपने मातापिताके शरीरको मातापिता के आत्मा से पृथक् मानेंगे और अपने मातापिता अपनेको दिखाई नहीं देते करके चिल्लाते रहेंगे, तो आपको कौन मातापिता का दर्शन करा सकेगा? आपको अपने मातापिता का दर्शन करना हो, तो उनके शरीरके पास जाइये और उनका शरीर देखिये। जीवित शरीर का दर्शनही मातापिता का दर्शन है।

इसी तरह आपका परमपिता प्रभु आपको दर्शन देकर आपको पावन करनेके लिये विश्वरूपी जीवित जाग्रत शरीर धारण करके आपके सामने रातदिन खडा है। आपको चारों ओरसे उसने अपनी गोदमें पकड रखा है।

जहां आप अपनी आंख करेंगे, वहीं उसी का रमणीय रूप आपके आंखको दिखाई देगा। यह अखण्ड विश्वरूप उसी का है, किसी दूसरे का नहीं है।

यह प्रभुका दिव्य रूप देखते हुए भी आप कहते हैं कि यह तो 'जड' सृष्टि है, यह तो मिट्टी है, यह तो अधम स्थूल विश्व है। परमेश्वरके सजीव विश्वरूप की इस तरह आप निन्दा करते हैं और फिर भी चाहते हैं कि उसका दिव्य रूप देखूं, उसका एक बार साक्षात्कार हो जाय तो अच्छा है, यह आपके प्रलाप कितने हानिकारक हैं? क्या कभी आपने इसका विचार किया है?

विश्वके अणुरेणु में प्रभु विद्यमान है और विश्वका अणुरेणु उसीके कारण जीवित है। सब विश्व सजीव है। जैसा आपके पिता का संपूर्ण देह सजीव होता है, इसी तरह यह विश्व जीवित है। कोई वस्तु यहां निर्जीव, जड, ज्ञानहीन नहीं है। भला परमेश्वर का शरीर निर्जीव किस तरह हो सकता है? यह सब विश्वको जड निर्जीव कहना एक अवैदिक भ्रम है, यह महान् अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण आप अपने परमात्मासे दूर हो रहे हैं।

आप इस बातका विचार करिये, केवल विश्वास न रखिये, सब वेदमंत्रों का अच्छी तरह मनन करिये, सब मंत्रों की संगति लगाने का यत्न करिये और देखिये कि आपको यह वेदका तत्त्वज्ञान मान्य होता है वा नहीं।

ईश्वरसाक्षात्कार के लेखपर एक आशंका।

कुल्लूके सुप्रतिष्ठित विद्वान् और वेदधर्म के सच्चे प्रेमी अपने पत्रमें निम्नलिखित शंका पूछते हैं--

(कुल्लू ३।५।३९)

श्रीमानजी। नमस्ते।

आपके लेख 'ईश्वरका साक्षात्कार' पढ कर ख्याल हुआ-

१. अवतार के माइने क्या हैं?

२. ईश्वर जब सर्वव्यापक है, तो उसका अवतीर्ण होने के क्या माइने?

३. उतरना और चढना, आना और जाना, तो उसका हो सकता है, जो ऊपर हो व मौजूद न हो।

४. आत्माका, जो एकदेशी है, अवतार हो सकता है, जो स्वर्गसे उतर कर इस लोकमें आ सकता है।

५. वाइसराय हिंद को शासन के इखतियारात सम्राट् की ओरसे प्राप्त हैं, क्या हम व्हाइसरायको सम्राट् के अवतार कह सकते हैं? यदि नहीं, तो ईश्वर-अवतार की पहेली नीरस है।

कृपया अपने अगले लेखके साथ इसपर प्रकाश डालने की कृपा करें।

भवदीय

सर्वजित गौड

यह पत्र बडा महत्त्व का है, इसलिये पाठकोंके विचारार्थ यहां पूर्ण रूपसे दिया है।

सम्राट् अपने भारतीय शासन के अधिकार देकर श्री० व्हाइसरॉय साहब को भारतमें भेजते हैं। जबतक सम्राट् के अधिकार उनके पास रहते हैं, तबतक ही वह लाटसाहब 'व्हाइसरॉय' कहलाते हैं और तबतक वे भारत का शासन कर सकते हैं। जिस समय दूसरे व्हाइसरॉय आते हैं और पूर्व समयके व्हाइसरॉय अपने कार्य का चार्ज नये को देते हैं, तब चार्ज देनेके पश्चात् वही मनुष्य न व्हाइसरॉय कहलावेगा और न उसका शासन कोई मान्य सकेगा। क्योंकि जो सम्राट् की शक्ति उसके पास थी, वह उससे खींच ली गयी और वह नये राजकर्मचारी में बसने लगी है।

भारतीय शासनशक्ति का यह पुनर्जन्म है। इसे 'कर्मपुनर्जन्म,' कहते हैं। सम्राट् की आंशिक शक्तिका इस तरह व्हाइसरॉयमें 'अंशावतार' होता है।

इसी तरह गुरु-आचार्य-अपनी विद्या अपने शिष्य को देकर स्वयं शिष्यके देहमें 'अंशावतार' लेता है, यही गुरु का पुनर्जन्म है। इसको 'विद्याजन्म' कहते हैं। यहां गुरु शिष्यकी बुद्धि में प्रविष्ट होता है, अपना पुनर्जन्म गुरु स्वयं देखता है। (इस विषय में अधिक विस्तार से देखना हो तो श्री० पं० श्री० दा० सातवलेकरलिखित 'ब्रह्मचर्य' पुस्तक देखिये, अथवा अथर्ववेदसुबोधभाष्य १२ काण्ड के पंचम ब्रह्मचर्यसूक्त का विवरण पढिये। वहां वेद का आशय अधिक स्पष्ट कर दिया है। इस समय विद्यामाता के गर्भ में ब्रह्मचारी रहता है और गुरुका ज्ञानवीर्य ब्रह्मचारी को मिलता रहता है। यह द्वितीय जन्म की प्रसूति १२ वर्षोंसे होती है।)

इस तरह कई अंशावतार होते हैं। शीत जल चूल्हेपर किसी बर्तनमें रख दिया, तो थोडे समयमें गर्म हो जाता है। इस जलमें अग्निका 'अंशावतार' होता है। यह तो हरएक के लिये प्रत्यक्षहि है। सूर्य ग्रीष्म ऋतु में भूमिको तपाता है, सूर्यका अतिसूक्ष्म अंश पृथ्वीपर अवतीर्ण होता है और यह तपानेका कार्य करता है। इसी तरह जो सूर्य का अंश भूमीपर आता है, वही वृक्षों में संग्रहित होता है, अतः लकडी या कोयले जलानेसे उष्णता की प्राप्ति होती है। यह उष्णता सूर्यकीहि वृक्षोंमें संग्रहित हुई है। इस तरह सूर्य अपनी शक्ति अनन्त वस्तुओं में रखता है, जिनसे हमें सूर्य की अनुपस्थितिमें उष्णता मिलती है। यह 'सूर्य का अंशावतार' है।

'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्' (ऐ० उपनिषद्) 'सूर्य आंख का रूप धारण करके शरीरमें नेत्रके स्थानमें रहने लगा' यह वैदिक सिद्धांत है। यह सूर्य के सूक्ष्म अंशका अवतार ही है। इसी तर वायु का अवतार प्राण में, जल का वीर्यमें, पृथ्वी का हड्डीयोंमें हुआ है। यह तत्त्वज्ञान वेदोपनिषदोंमें सर्वत्र है। देवोंके अंशावतार इस तरह शरीरमें होते हैं। यह तो प्रत्यक्ष देखा भी जा सकता है।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि॥ (यजु०)

'हे ईश्वर! तू तेजःस्वरूप हो और वीर्यस्वरूप हो, अतः मुझमें तेज और वीर्य स्थापन कर और मुझे तेजस्वी और वीर्यवान् बनाओ।'

यह तो हरदिन प्रार्थना की जाती है। इसका मनन करने से स्पष्ट मालुम होगा कि परमेश्वर का स्वरूप 'तेज और वीर्य' है जब उसकी कृपा होती है और जब हमारी उपासना होती है, तब वह अपनी अतुल कृपासे अपने तेजको एक सूक्ष्म अंश और अपने वीर्य का अंश उपासक के अन्दर रख देता है, जिससे वह उपासक भक्त परमेश्वर के तेजसे तेजस्वी और परमेश्वर के वीर्यसे वीर्यवान् होता है और इस विश्वमें कृतकार्य होता है। यही ईश्वर का भक्त में 'अंशावतार' है।

जैसा शीत जलमें अग्निका अंश आनेसे जल गर्म होता है, वैसाही परमेश्वरीय तेजका अंश आनेसे भक्त तेजस्वी होता है। इसी तरह ज्ञान, वीर्य आदि ईश्वर के गुण उपासकमें आते ही हैं। येही अंशावतार हैं।

यदि आशंका करनेवाले विद्वान् ईश्वरउपासना से परमेश्वरीय गुणोंका भक्त में संक्रमण किस तरह होता है, इसका विचार करेंगे, तब उनकी सब शंकाएं दूर होंगी। उपासनासे एक एक ईश्वरीय अंशका धारण होकर भक्त की शक्ति बढती है। यह ईश्वरीय अंशका अवतार ही है। यही ईश्वरप्राप्ति है। वेदमें सैंकडों वचन इसकी पुष्टिके लिये हैं, जो इस लेखमाला में दिये जा रहे हैं।

वेदका धर्म ग्रहण करने के लिये बडा धैर्य चाहिये और हमें अपने मन पूर्वग्रहदोषों से दूर रखने चाहिये। एक ही मंत्र आप लें, पर उसे अच्छी तरह अपनाइये। तब सब शंकाएं दूर हो जांयगी। ईश्वरकी प्राप्ति का तात्पर्य उसके एक एक अंशकी अपने में स्थिति ही है।

इतने विवरणसे पूर्वोक्त शंकाएं दूर होंगी, तथापि उनके उत्तर ये हैं—

१. अवतार के माइने 'प्रकट होना,' (अव) समंतात् (तार) तारण के लिये प्रकट होना।
२. ईश्वर सर्वव्यापक है, परंतु सर्वत्र प्रकट नहीं। विद्युत् सर्वव्यापक है, पर यंत्रादि द्वारा जहां प्रकट की जाती है, वहीं दीप लगता है। सर्वव्यापक होनेपर भी प्रकट होना और बात है।
३. उतरना चढना आदि प्रश्न अब निरर्थक हैं।
४. एकदेशी और सर्वदेशी का प्रश्न भी निरर्थक है।
५. वाइसरॉय का विवरण किया है।

प्रश्न पूछनेके लिये हम पृच्छक के कृतज्ञ हैं। यदि इस लेखमालाके पाठक दो चार मिलकर इकट्ठे बैठकर विचार करेंगे; वेदमंत्र का आशय समझने का यत्न करते हुए आशंका करते रहेंगे, तो इन शंकाओंसे भी बडा अच्छा परिणाम निकल सकता है, पर खुले दिलसे शंका होनी चाहिये। पहिलेसेही 'नीरस या सरस' ठहरानेका आग्रह होगा, तो ठीक नहीं होगा। "सम्पादक"

दैवत-संहिता।

'दैवत-संहिता' के मुद्रण के विषय में हमारा लेख गत वैदिक धर्मके अंक में प्रकाशित हुआ और वह करीब करीब एक सौ विद्वानों के पास भी अलग डाकद्वारा भेजा गया। वैदिक धर्म के सहस्रों पाठकोंने तो वह पढा ही होगा। जिन विद्वानों के पास वह लेख भेजा था, उनसे प्रार्थना की थी कि वे अपनी संमति अति शीघ्र हमारे पास भेज दें। तदनुसार कई विद्वानोंसे संमति आ चुकी है। संभवतः अन्यों की संमति भी शीघ्र आ जायगी।

बडे अक्षरों में मुद्रण।

बहुत ही विद्वान् यह लिखते हैं कि यह दैवत-संहिता बडे अक्षरों में स्वरसहित छापी जावे।

इस विषयमें हमारी संमति यह है कि बडे अक्षरों में यदि यह संहिता छापी, तो दो हजार पृष्ठ लगेंगे और मूल्य बढ जायगा। जितना मूल्य बढेगा उतना प्रचार कम होगा। हजार पृष्ठोंके ग्रंथका मूल्य हमने पेशगी ३) रखा था, दुगणे पृष्ठ होनेपर मूल्य पेशगी ६) रखना पडेगा।

हजार पृष्ठों के ग्रंथ की छपाई, कागज, जिल्द का मूल्य कमसे कम ४०००) होगा और स्वर के साथ बडे अक्षरों में छापा जाय, तो इससे दुगुणा व्यय होगा। इस समय हमारे पास २०००) का दान इसी कार्य के लिये आ गया है, जिस में से बनवाई में कुछ व्यय हुआ है और शेष करीब देड हजार रु० हैं। जिस में स्वाध्याय-मंडल की ओर से कुछ रकम डालकर स्वररहित ग्रंथ नमूने के लिये सबसे प्रथम हम मुद्रित करना चाहते हैं। यदि इसी समय बडे अक्षरों में स्वरसहित छापना होगा, तो उसके लिये आठ हजार रु० का व्यय करना होगा यह इस समय बडा कठीन है। यदि कोई वेदप्रेमी धर्मात्मा सज्जन इस कार्य का महत्त्व समझ कर इस के लिये दान देंगे, तो स्वरसहित बडे अक्षरों में भी हम प्रथम वार हि छापने को तैयार हैं।

इस विषय में विचारणीय बात यह है कि यह दैवत-संहिता केवल देवताओं के अभ्यास के लिये ही है, इस लिये चरण दर्शाकर हि छापनी चाहिये और जहां पद अलग हो सकते हैं, वहां पदोंको भी अवश्य ही अलग दर्शाना चाहिये। इस कारण मंत्रोंको जगह अधिक लगेगी और जितना टाईप बडा होगा, उतनी पृष्ठों की संख्या बढ जायगी और उस कारण मूल्य भी बढ जायगा।

हमारा विचार यह है कि यह दैवत-संहिता सस्ते से सस्ते मूल्य में दी जावे; बहुत लोग इसे सहज ही में ले सकें और इसका अभ्यास चारों ओर बहुत व्यय न करते हुए हो जाय। जितना मूल्य बढेगा, उतना इसके प्रचारमें विघ्न ही खडा हो जायगा। यह तो अक्षर बडे रखने के विषय में हमारा कहना है। इस लेखके अन्त में दोनों अक्षरों के नमूना पृष्ठ रखे हैं। इनके देखने से बडे अक्षर कितनी जगह घेरेगा, इसका पता लग सकता है।

यदि कोई धनी वेदप्रेमी सज्जन इस कार्य के लिये और तीन चार हजार रु० का दान देंगे, अथवा कोई संस्था इतना व्यय करेगी, तो वह पुस्तक बडे टाईपमें छपकर सस्ती भी दी जायगी। फिर केवल दो हजार पृष्ठों का भार उठाने का ही सवाल पढनेवाले के सामने रह जायगा।

पाठक इसका पुनर्विचार करें और अपनी संमति इस विषय में शीघ्र मेरे पास भेजें।

स्वरोंकी आवश्यकता।

पूर्व लेख में बताया है कि अर्थज्ञान में स्वरोंकी बहुत ही थोडी आवश्यकता है। सौमें एक स्थानपर भी अर्थ के लिये स्वरोंकी आवश्यकता नहीं है। जिन्होंने अर्थ, भाष्य, टीका या अनुवाद वेद के किये हैं, उन्होंने प्रत्येक शब्दका स्वर देख देख कर अपना अर्थ किया है, ऐसी बात नहीं। पर सहस्रों स्थलों पर केवल शब्द का कोशार्थ देखकर हि अर्थ किया है।

वादविवाद करने में हर कोई कहेगा कि 'इन्द्रः शत्रुः स्वरतोऽपराधात्' स्वर की अशुद्धि होनेसे वेद में अर्थ

का अनर्थ होता है। पर महाराष्ट्रीय वैदिक ब्राह्मणों को छोडा जाय, तथा दाक्षिणात्य पंडितों को छोडा जाय, तो उत्तरीय विद्वानों में एक भी ऐसा नहीं है कि जो ठीक ठीक उदात्त-अनुदात्त-स्वरितादि स्वरोंका यथोचित उच्चारण कर सकता है। यहाँ कोई किसी की निंदा करने की बात नहीं है। गुजरात, राजपुताना, पंजाब, यू.पी., सी.पी., बंगाल, आसाम के वेदविद्वान् देखे हैं। उनमें एक भी स्वरोच्चारण ठीक ठीक करने में समर्थ नहीं है। स्वर सामने रहते हुए भी उच्चारण ठीक नहीं करते। पर स्वरोच्चारण ठीक न होनेपर भी वेद का अर्थ तो ये पंडित करते ही हैं।

क्योंकि वेद का अर्थ करने के समय तो शब्दार्थहि जानने की आवश्यकता होती है। हम तो ऐसा ही यहां कहना चाहते हैं कि सब व्यवहार वेद को स्वर नहीं है, ऐसा मानकर हि पंडित लोग चला रहे हैं। महाराष्ट्रीय ऋग्वेदी, दाक्षिणात्य तैत्तिरीय और माध्यन्दिन, तथा महाराष्ट्रीय अथर्ववेदी इतने ही लोग-जो वैदिक परंपरा में पाले और पढाए गए हैं- वेही ठीक ठीक सस्वर वेद पाठ कर सकते हैं। यह तो हम शर्तिया कहने को तैयार हैं कि अन्यप्रांतीय बडे विद्वान् पण्डित भी ठीक स्वरोच्चारण करने में असमर्थ हैं।

जब अन्य प्रांत के विद्वान् भी वेद का सस्वर उच्चारण कर नहीं सकते, अर्थ के समय स्वरों का विचार भी नहीं करते, तो ऐसे लोगों के लिए स्वरों के रखने की क्या आवश्यकता है? अन्यों के लिए तो उपयोग है ही नहीं।

जब कभी अर्थ के विषय में विवाद पड जाता है, तब अपने पक्ष को कोई किसी तरह सहायता मिल जाय इसलिए पण्डित लोग स्वरका विचार करते हैं। परंतु किसी पद का स्वर ठीक है वा गलत है, इसका निश्चय केवल व्याकरण को देखकर करना भी असम्भव हि है। क्योंकि पाणिनीय व्याकरण भी स्वरों के सम्बन्ध में बडा ही अपूर्ण तथा अपवादयुक्त है।

स्वरों के विषय में और भी एक बात विचारणीय है। वह यह कि ऋग्वेद के मंत्रों के स्वर अथर्ववेद में बदले हैं और उनको ठीक करने में सिवाय वैदिकों के पाठके कोई और प्रमाण नहीं है। ऋग्वेद के मंत्र साम, यजु और अथर्व में गए हैं और वहां विभिन्न स्वरभेद के साथ वे पढे जाते हैं। जैसा—

ब्रह्मणस्पते; ब्रह्मणस्पते; ब्रह्मणस्पते
वृणतां राज्याय, वृणतां राज्याय।

इस तरह अनेकों उदाहरण दिए जा सकते हैं। ऐसे स्थानों में प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि दैवत-संहिता में कौनसा स्वर रखा जाय। पर यहां दूसरा भी प्रश्न ऐसा हो सकता है कि जब स्वाहाकार के समय स्वररहित एक-श्रुति में पाठ करने की पद्धति अति प्राचीन है, जब पिप्पलाद-संहिता स्वररहित ही कश्मीरी पुस्तक में है और जब ठीक सस्वर पढना करीब करीब सर्वसाधारण के लिए अशक्य हि है और जब अर्थ करने के समय कोई स्वरों का उपयोग भी नहीं करता, तब तो इसमें स्वरोंको रखना किस लिए?

स्वर क्या हैं?

प्रायः हरएक भाषा में स्वर होते ही हैं। वेद की भाषा जिस समय बोलने की भाषा थी, उस समय स्वर से ही बोली जाती थी; कौंकण के समुद्र किनारेपर बोलने वाले शब्दों के स्वर और लुप्त स्वर अब भी बोलते हैं।

मैं बाजार जाता हूँ।

यह वाक्य भाषा में करीब करीब ऐसे स्वर से बोला जाता है। पर इन अक्षरोंपर स्वर लिखे नहीं जाते, क्योंकि यह भाषा इस समय प्रचलित और जीवित है। सब लोक इसका ऐसा ही उच्चारण विना स्वर दिए कर सकते हैं। वेदभाषा इस समय जीवित नहीं है, इसलिए ठीक ठीक बोलने की शैली जानने के लिए स्वर देने चाहिए, पर स्वर देनेपर भी उनका उचित उच्चारण सर्वसाधारण से होना प्रायः अशक्य है और उपयोग तो कोई करता ही नहीं। इसलिए स्वर-चिह्न देने की कोई आवश्यकता नहीं है। गुरुकुल जैसी संस्थाओं में ठीक स्वरोच्चारण का प्रबंध नहीं, फिर अन्यत्र क्या होगा?

पाणिनी मुनीने उदात्त, स्वरित और अनुदात्त के स्वर भी दिए हैं, पर उनका उपयोग कोई नहीं कर सकता।

अतः सब स्वर शास्त्रग्रंथों में रहे हैं, प्रयोग में नहीं हैं, व्यवहार में तो नहीं हैं।

मेरे इतने वर्षों के अभ्यास से मेरा तो यह विचार निश्चित रूप से हुआ है कि, सहस्र स्वरोंके सहस्र अक्षरों में अर्थज्ञान के लिये क्वचित् एकाध स्वरका उपयोग होता होगा तो होता होगा। इतना थोडा अर्थज्ञान के लिये उसका उपयोग है। अतः हमें सर्वसाधारण के उपयोग के लिये अर्थात् एकश्रुति पढनेवालों के उपयोगार्थ- जो कभी ठीक स्वरोच्चारण नहीं कर सकते, उनके उपयोग के लिये विना स्वरोंकी हि दैवत-संहिता छापनी चाहिये।

स्वर छापनेमें एक और अडचन है।

ऋग्वेद के मंत्र अन्य वेदोंमें आते हैं, ऐसे स्थानोंमें ऋग्वेदके हि स्वर छापे जांयगे, अन्य वेदोंके नहीं जैसा—

अग्निमीळे पुरोहितं

यह मंत्र सामवेदमें इस तरह लिखा जाता है—

३ १ २ ३ १ २
अग्निमीडे पुरोहितं

इनमें से ऋग्वेद के स्वर लिखे जांयगे, सामस्वर नहीं, क्योंकि यह मंत्र दैवत-संहितामें एक ही बार आना है। इस कारण पुनरुक्त मंत्र हट जानेही हैं। इस तरह प्रायः पुनरुक्त मंत्र के स्वर रहेंगे ही नहीं। जब दैवत संहिता में पुनरुक्त मंत्र और उनके स्वरभेद रहने नहीं हैं, तो सर्वत्र ही स्वर न रहे तो अभ्यासक के लिए क्या कठिनता रहेगी?

ऋग्वेदपाठ— अग्न आयाहि वीतये।

वा०यजुर्वेदपाठ— अग्ग्नुऽआ याहि व्वीतये॥ (य० ११।४९)

तै० संहितापाठ— अग्नऽआ याहि वीतये॥ (तै० सं०)

२ ३ १ २ ३ १ २
सामवेदपाठ— अग्न आ याहि वीतये॥ (साम० १।१।१।१)

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके स्वरचिह्नों में एक ही मंत्र में इस तरह भेद हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद में तो उच्चारण का भी भेद है। ऋग्वेद का 'अग्नि' और वा० यजुर्वेद का 'अग्ग्नि' उच्चार में भिन्न है। दैवत-संहिता स्वर में छापनेका आग्रह किया जाय, तो विभिन्न वेदों के विभिन्न स्वरोच्चारण दर्शाने की नौबत आवेगी और वह किसी प्रकार भी उपयोगी सिद्ध होनेवाली बात नहीं है।

स्वर में कुछ बल है, अर्थ में तो क्वचित् विशेषता भी उनसे होती। यह सब मानते हुए भी मैं उसका कोई उपयोग सर्वसाधारण के लिये नहीं देखता। इस लिये दैवत-संहिता विना स्वर प्रथम वार छापी जाय, तो कोई हानि नहीं है।

परंतु सब अभ्यासकों की संमति अध्ययन के बाद ऐसी हुई कि इसमें स्वर देने ही चाहिये, न देनेसे इतनी हानियां होती हैं, तब तो द्वितीय वार यह दैवत-संहिता सस्वर हि छापेंगे।

इस सब विवरण का पाठक विचार करें और उचित संमति प्रदान करें। क्योंकि कार्य शीघ्र ही प्रारंभ करना है।

साथवाले दोनों पृष्ठोंसे ज्ञात होगा कि बडा टाईप रखनेसे दुगुणे पृष्ठ होंगे। अर्थात् मूल्य भी बढ जायगा।

जिस तरहकी "दैवत-संहिता" छापनेका निश्चय होगा, वैसा मूल्य ग्राहकोंसे लिया जायगा। सब विद्वान् अपनी संमति शीघ्र दें।

दैवतसंहिता का मूल्य

	मू.	पेशगी	डा. व्य.
१. दैवतसंहिता (विनास्वर छोटा टाइप)	६)	३)	१)
२. ,, (सस्वर बडा टाइप)	१२)	६)	२)
३. ,, (कागजकी एक ओर छपी)			
छोटा टाइप	८)	४)	१॥)
,, ,, बडा टाइप	१६)	८)	२)

४. प्रत्येक देवताके अलग पुस्तक (उक्त मूल्य की अपेक्षा प्रति पुस्तक ॥) आठ आने अधिक।

सूचना- डा०व्य० या रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा।

इन्द्र देवता



मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। गायत्री।

१ (ऋ० १।३।४-६)

इन्द्रा याहि, चित्रभानो! सुता इमे त्वायवः।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥१॥
इन्द्रा याहि, धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥२॥
इन्द्रा याहि, तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥३॥

२ (ऋ० १।४।१-१०)

सुरूपकृत्नुमूतये, सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥४॥
उप नः सवना गहि, सोमस्य सोमपाः पिब।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥५॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्।
मा नो अति ख्य, आ गहि ॥६॥
परेहि विग्रमस्तृतम् इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥७॥
उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र! इद् दुवः ॥८॥
उत नः सुभगाँ अरिर् वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥९॥
एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्।
पतयन् मन्दयत् सखम् ॥१०॥
अस्य पीत्वा शतक्रतो! घनो वृत्राणामभवः।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥११॥
तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो!।
धनानामिन्द्र! सातये ॥१२॥
यो रायो३वनिर्महान्त् सुपारः सुन्वतः सखा।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥१३॥

३ (ऋ० १।५।१-१०)

आ त्वेता नि षीदत इन्द्रमभि प्र गायत।
सखायः स्तोमवाहसः ॥१४॥
पुरूतमं पुरूणाम् ईशानं वार्याणाम्।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥१५॥
स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम्।
गमत् वाजेभिरा स नः ॥१६॥
यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥१७॥
सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये।
सोमासो दध्याशिरः ॥१८॥
त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः।
इन्द्र! ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो ॥१९॥
आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र! गिर्वणः।
शं ते सन्तु प्रचेतसे ॥२०॥
त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो!।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥२१॥
अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम्।
यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ॥२२॥
मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र! गिर्वणः।
ईशानो यवया वधम् ॥२३॥

४ (ऋ० १।६।१-३,१०)

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥२४॥
युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥२५॥
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे।
समुषद्भिरजायथाः ॥२६॥

इन्द्र देवता

मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । गायत्री ।

१ (ऋ० १।३।४-६)

इन्द्रा याहि, चित्रभानो ! सुता इमे त्वायवः ।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ १ ॥
इन्द्रा याहि, धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥
इन्द्रा याहि, तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः ।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ३ ॥

२ (ऋ० १।४।१-१०)

सुरूपकृत्नुमूतये, सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ ४ ॥
उप नः सवना गहि, सोमस्य सोमपाः पिब ।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥ ५ ॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अति ख्य, आ गहि ॥ ६ ॥
परेहि विग्रमस्तृतम् इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् ।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ७ ॥
उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत ।
दधाना इन्द्र ! इद् दुवः ॥ ८ ॥
उत नः सुभगाँ अरिर् वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ९ ॥
एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् ।
पतयन् मन्दयत् सखम् ॥ १० ॥
अस्य पीत्वा शतक्रतो ! घनो वृत्राणामभवः ।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ११ ॥
तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो ! ।
धनानामिन्द्र ! सातये ॥ १२ ॥
यो रायोऽवनिर्महान्त् सुपारः सुन्वतः सखा ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १३ ॥

३ (ऋ० १।५।१-१०)

आ त्वेता नि षीदत इन्द्रमभि प्र गायत ।
सखायः स्तोमवाहसः ॥ १४ ॥
पुरूतमं पुरूणाम् ईशानं वार्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ १५ ॥
स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् ।
गमत् वाजेभिरा स नः ॥ १६ ॥
यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १७ ॥
सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये ।
सोमासो दध्याशिरः ॥ १८ ॥

सूचना—इन मंत्रोंमें देवतावाचक शब्द पर * ऐसा चिन्ह किया है।

स्वाध्याय-मण्डलद्वारा प्रकाशित वेदोंके विषयमें संमतियाँ।

(१)

श्री० स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज सोलापूर- (ता० १७।५।३९)

"अथर्ववेद मिल गया है। यह बहुत ही सुन्दर छपा है, पढने में बहुत ही सरलता है। छपाई उत्तम है, मैंने अबतक छपे जो पुस्तक पढे हैं, उन सब से इसकी छपाई उत्तम है।

"स्वाध्यायमण्डलने यह उत्तम कार्य किया है। छपाई आदि के दृष्टि से दाम अत्यंत न्यून हैं। ऋषि- देवता-छन्द भी लिखे हैं। वेदप्रेमी सब को क्रय करके स्वाध्यायमण्डल का उत्साह बढाना चाहिये।"

(२)

श्री० पं० आस्थान विद्वान् रामचन्द्र दीक्षित, सामवेदाध्यापक श्री० महाराजा वेदमहाविद्यालय, बंगलूर (ता० १०।५।३९)

"आपका अथर्ववेद और शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त हुआ, अत्यन्त आनन्द हुआ। वेदमुद्रणविषयक आपका परिश्रम इससे भी अधिक सफल और सुफल हो जाये ऐसी पूर्ण आशा है।

(३)

श्री० पं० शंकर गंगाधर भट्ट कशाळीकर प्रधानाचार्य वेदपाठमाला, सावंतवाडी (जि० रत्नागिरी, सं सावंत-वाडी) (ता० ५।५।३९)

"आपका अथर्ववेद मिला, बहुतही अच्छा मुद्रित हुआ है। इस सफलता के लिए अत्यन्त धन्यवाद हैं। अथर्व-पाठभेदों का संग्रह करके आपने बडा उपकार किया है। इस विषयका आपका मत निःसंदेह सत्य है।"

(४)

श्री० पं० लक्ष्मणसिंहजी वेदालंकार अजमेर (ता० ११।५।३९)

"आपके भेजे अथर्ववेद और यजुर्वेद प्राप्त हुए। इन वेदों के विषय में जितना अधिक वर्णन किया जाय उतना ही थोडा होगा। शक्कर कभी अपने आपको मीठा नहीं कहती, जो खाता है वही इसको जानता है कि इसका स्वाद कितना मीठा है। जिनके सामने ये वेद जाते हैं और जो स्वाध्याय करते हैं, उनको इनकी उपयोगिता के विषय में कहने की आवश्यकता नहीं है।

पहिले जो वेद थे उनको देखनेपर पढनेको दिलहि नहीं करता था, पर आपके वेद आने से स्वाध्याय करनेका उत्साह बढ गया है। साथ साथ आपका मुद्रण ऐसा स्पष्ट हुआ है कि जिससे वेद स्वयं अपने अर्थ प्रकट करता है, ऐसा प्रतीत होता है। मेरे हृदयमें आपके वेदोंको देखकर जो प्रसन्नता हुई है, उस को प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

मुझे बहुत लोग कहते हैं और कईयों ने लिखा भी है कि आप इस वेद मुद्रण में कमा रहे हैं। परन्तु पण्डितजी! मेरी समझ में नहीं आया कि इस में क्या कमाई होगी! इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने चारों वेदों का १०) तो लिखा है; परन्तु आप चारों वेद वस्तुतः ५) में ही देते हैं। यदि हिसाब लगाया जाय तो चार जिल्दें (सुनहरी), उत्तम मुद्रण, उत्तम स्वदेशी कागज काभी मूल्य ५) से अधिक होगा। इसलिए मैं तो यही समझता हूं कि आप ये वेद वास्तव में घोट में ही दे रहे हैं।"

(५)

"अथर्ववेद मिला, बहुत सुंदर छपा है। पाठभेद छापकर आपने बडा ही उपकार किया है। प्रस्तावक लेख पढकर अनेक प्रकारकी शंकाएं दूर हो जाती हैं।

टाईप तथा कागज भी सुंदर हैं। तिसपर भी आप केवल तीन रुपये में देते हैं, इसीसे पूर्णतया प्रतीत हो जाता है कि आप वेदों में प्रचारार्थ हि इतने सस्ते दामों में जनता को पुस्तक दे रहे हैं।

मेरी सम्मती से प्रत्येक वैदिकधर्मी के घर में वेद की मूल चार संहिताएं तो अवश्य होनी चाहिये।

परमात्मा आपके इस शुभ प्रयत्न को सफल तथा सुफल करें, यही मेरी परमात्मा से हार्दिक प्रार्थना है। आपके स्वाध्यायमण्डल द्वारा छपाईं पुस्तकों से लोगों के हृदयोंमें वेदों के प्रति बहुत ही श्रद्धा उत्पन्न हुई है। परमात्मा आप को दीर्घजीवी करे, जिससे आप वेदों की अधिक से अधिक सेवा कर सकें।

वीरपुर-काठियावाड १५।४।३९ — शंकरानंद स्वामी

(६)

"आपके भेजे अथर्ववेद प्राप्त हुए। आपका परिश्रम सराहनीय है।"

अजमेर (११।४।३९) — (पं०) जयदेवशर्मा वेदालंकार

(७)

"अथर्ववेद मिला धन्यवाद। यह तो बहुतही उत्तम छपा है और बडाही उपयोगी हुआ है। मैं तो अब आपके सामवेद की प्रतीक्षा कर रहा हूं।"

लाहौर (१०।४।३९) — (पं०) रुलियारामजी कश्यप, M.Sc.

(८)

मोरिस कॉलेज, नागपुर १३।५।३९

"...... अथर्ववेद की पुस्तक मिली। तदर्थ परम धन्यवाद। इतना सुसंस्कृत शुद्ध सुलभ और सुष्टिग्राह्य वेदों का संस्करण निकालने के लिए आप परम धन्यवादके योग्य हैं। आपकी वैदिक वाङ्मय सेवा अश्रुतपूर्व और इतिहास में स्मरणीय रहेगी।......

अब एक प्रार्थना है कि अब प्रत्येक वेद के लिए पृथक् पृथक् जिल्दों में सरल संस्कृत या हिंदी में टीका—विस्तृत नहीं—केवल स्पष्ट रूप से मूलार्थ को (प्रतिशब्दार्थ प्रकाशन पूर्वक) विशद करनेवाली-प्रकाशित कीजिए।

आपकी भूमिका की संस्कृत भाषा आदर्श मानी जा सकती है। मूल और टीकामें प्रतिपृष्ठ साम्य होना चाहिए, जैसा मैक्स मूलर का ऋग्वेद और पदपाठ छपा है। यदि आपने प्रत्येक संहिता की पर्याप्त कापियां छापी हैं, तो १३) या १५) रु० में संपूर्ण सेट देने की विज्ञप्ति समाचारपत्रों में देकर टीका- (अर्थ) मुद्रण के लिए पर्याप्त अर्थ का उपार्जन कर सकते हैं।

अब सामवेद कबतक आनेवाला है और तैत्तिरीय संहिताका भी इस आयोजना में स्थान है वा नहीं?

भवदीय सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी
(M. A. प्रोफैसर)

(९)

श्री० वे० शा० सं० गोविंद भट्ट फाटक आचार्य वेदविद्यालय पूना लिखते हैं—(वैशाख व० १० शके १८६१)

"वेदोक्त आशीर्वाद। आपके पास से ऋग्वेद वा० यजुर्वेद और अथर्ववेद प्राप्त हुए। आपका वैदिक संशोधन अपूर्व है तथा आपका वेदाभिमान भी अभिनंदनीय है और आप वेदों के मुद्रण करने में जो कष्ट उठा रहे हैं, वे निः संदेह प्रशंसनीय है। ईश्वरकृपा से आपके द्वारा वेद के सुंदर और शुद्ध पुस्तक प्रकाशित हो रहे हैं यह देखकर अत्यंत आनंद हो रहा है। इसी तरह भविष्य में आपके द्वारा परमेश्वर वेद की सेवा करवा ले यही हमारी इच्छा है।"

मेरी अफ्रीकाकी यात्रा

(३)

(लेखक- पं० तडित्कांतजी वेदालंकार, साहित्यमनीषी)

दक्षिण रोडेसिया (Southern Rhodesia)

इस प्रान्तमें आनेके लिए दो मार्ग हैं। एक जलका तथा दूसरा स्थलका। जलके मार्गसे आनेवालोंको पोर्तुगीझ ईस्ट अफ्रीकाके वैरा (Beira) बंदरगाह पर उतरना पडता है। वहांसे रोडेसिया रेलवेद्वारा इस प्रांतमें आया जाता है। ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीकाकी ओरसे स्थलके मार्गसे मोटरद्वाराभी इस प्रान्तमें आया जा सकता है। इसके लिए केनियाप्रांतकी राजधानी नैरोबी (Nairobi) से ठेठ साउथ अफ्रीकाके जोहानीसबर्ग (Johannesburg) शहर तक पक्का रास्ता बनाया गया है। यह रास्ता नैरोबीसे चलकर टांगानीकाके डोडोमा शहरमेंसे गुजरता हुआ उत्तर रोडेसिया तथा दक्षिण रोडेसिया होकर सीधा आगे चला गया है। परंतु बारिशके दिनोंमें यह रास्ता प्रायः बन्दसा रहता है। बारिशके दिनोंमें पुल आदि टूट जानेका जहां भय बना रहता है, वहां टांगानीकाका रास्ता इतना विकट बन जाता है कि उसमेंसे गुजरना लगभग असंभवसा हो जाता है। टांगानीका छोडनेके बाद फिर इतना अधिक खतरा नहीं रहता। फिरभी बारिशमें इस रास्तेसे जानेके लिये सलाह नहीं दी जा सकती।

दक्षिण रोडेसियामें हरेक ऋतुमें स्थलमार्गसे सर्वत्र घूमा जा सकता है। क्योंकि यहांकी सरकारने रास्तोंपर कोलटारकी पट्टी बना रखी है। इससे रास्ता कायम अच्छा रहता है तथा उसे बारबार सुधारनेका झगडा भी नहीं रहता। यहांकी सरकारकी रास्ता बनानेकी यह पद्धति न सिर्फ प्रशंसनीय ही है, अपितु अनुकरणीय भी है।

इस प्रांतके पूर्वमें पोर्तुगीझ ईस्ट अफ्रीका, दक्षिणमें साउथ अफ्रीकाका ट्रांसवाल प्रांत, पश्चिममें दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका तथा उत्तरमें उत्तर रोडेसिया और न्यासा लैंड स्थित हैं।

कुदरतकी इस प्रांत परभी बडी भारी कृपा प्रतीत होती है। सारा प्रांत हराभरा तथा प्राकृतिक दृश्योंकी रमणीयतासे भरा पडा है। इस प्रांतमें ऐतिहासिक दृष्टिसे तथा प्राकृतिक सौन्दर्यकी दृष्टिसे कई भिन्न भिन्न द्रष्टव्य स्थल हैं, जिनका यथास्थान वर्णन दिया जायगा।

प्रवेशकी आज्ञाके लिए कष्ट।

अफ्रीकाके भिन्न भिन्न राज्योंके भिन्न प्रांतोंमें प्रवेश करनेके लिए पहलेसे आज्ञा लेनी पडती है। इसके लिए हरेक सरकारने अपने अपने प्रदेशोंके प्रवेशद्वारोंमें इमीग्रेशन दफतर कायम किये हुए हैं। ये बिना परवानगीके आगे जाने नहीं देते। पहलेसे आज्ञा प्राप्त न की हुई हो, तो जबतक परवानगी न मिले वहीं ठहरे रहना पडता है। पहलेसे आज्ञा प्राप्त किये बिना आनेवालोंको बेहद तकलीफ उठानी पडती है। कई बार काफी दिनतक अपरिचित प्रदेशमें पडा भी रहना पडता है। और कभी कभी तो इतने दिन पडे रहनेके बादभी आज्ञा न मिलनेसे वापस लौट जाना पडता है।

हिन्दीयोंको (Indians) इसके लिए सबसे ज्यादा कष्ट उठाना पडता है। ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीकाके केनिया, युगांडा तथा टांगानिका प्रांतोंको

छोडकर शेष सर्वत्र आज्ञा प्राप्त करना बहुत ही कष्टसाध्य है। सिर्फ ये ही प्रांत अफ्रीकामें ऐसे रह गये हैं,जहां कि थोडीसी कठिनताके बाद प्रवेश के लिए आज्ञा मिल सकती है। इन प्रांतोंमें कोई-भी हिन्दी दो सौ से ३०० शिलिंग की जमानत रखकर प्रवेश कर सकता है, परंतु अन्यत्र सर्वत्र बडी बडी जमानत रखनेपरभी आज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती।

पोर्तुगीझ ईस्ट अफ्रीकामें प्रवेश करनेके लिए अगर पहलेसे आज्ञा प्राप्त न की हुई हो,तो वे लोग जहाज (स्टीमर) सेभी नीचे उतरने नहीं देते और उसी स्टीमरसे हैरान होकर वापस लौट जाना पडता है। अव्वल तो स्टीमरवाले टिकीट ही नहीं देते और देते हैं तो जमानत रखवा लेते हैं। यही हाल रोडेसिया का है। साउथ अफ्रीकावाले तो सबसे बढचढकर हैं। स्थिर तौरपर निवास करनेके लिए अब सिर्फ हिन्दियोंको B. E. Africa में १० पौंड तथा N. Rhodesia में १०० पौंड लेकर आज्ञा मिल सकती है। परंतु सुना जाता है कि बहुत शीघ्रही N. Rhodesia में भी हिन्दियोंका प्रवेश बंद कर दिया जायगा। अतः जिन्हें इस तरफ आना हो, उन्हें शीघ्रता करनी चाहिए।

दुःख और लज्जाकी बात तो यह है कि इस संबंधमें सबसे ज्यादा सख्ती परतन्त्र हिन्दियोंसे ही की जाती है। हिन्दीको छोडकर शेषके साथ इतनी सख्तीसे कहींभी व्यवहार नहीं होता। अन्य सरकारोंकी बात तो दूर रही, खुद ब्रिटीश सरकार कि जो जाति, धर्म तथा रंग (Caste, creed and colour) भेद को महत्त्व न देनेकी रातदिन दुहाई देती रहती है, वहभी हिन्दियोंके साथ जो कि उसकी अपनी ही प्रजा है, उसके साथ औरोंकी अपेक्षा अधिक बुरी तरह पेश आती है। इतनाही नहीं, खुद जरमनी, जिसको कि अंग्रेज आजकल अपना सख्त दुश्मन समझ रहे हैं तथा अफ्रीकामें टांगानिका प्रांत उसे वापस न देनेके लिए टांगानीकालीगके नामसे उसके विरुद्ध सारे अफ्रीकामें घूम घूम कर विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं, उसके निवासियों (जरमनों) को किसीभी इंग्लिश प्रांतमें आसानीसे प्रवेश करने दिया जाता है। तथा उन्हें जहां मरजी हो बसने दिया जाता है। उनके लिए कहीं भी किसीभी प्रकारका प्रतिबंध नहीं है। यह है हमारी अंग्रेज सरकारकी कास्ट, क्रीड तथा कलरके भेद न रखनेकी दुहाईका सच्चा नग्न स्वरूप !!!

हम हिन्दियोंके लिए इससे और ज्यादा लज्जाजनक तथा अपमानास्पद बात क्या हो सकती है? यदि यह सब आंखोंसे देखते हुए, कानोंसे सुनते हुए तथा खुद अपनेपर सहते हुए भी हमारी आंतरिक ज्ञानचक्षु नहीं खुल सकतीं, तो इससे ज्यादा और कौनसी वस्तु हमें जगानेके लिए काफी होगी, यह मेरी समझमें नहीं आता !!

निःसंदेह हिंदुस्थान स्वतंत्र हुए बिना प्रवासी भारतीयों के मान की रक्षा होनी संभव नहीं। दुनियांके किसीभी कोनेमें रहते हुए एकभी भारतीयका अपमान खुद हम भारतीयोंका तथा भारतीय सरकारका अपमान है, इस बातको दूसरे देशों तथा सरकारोंकी तरह हम तथा हमारी सरकार जबतक हृदयसे अनुभव नहीं करेंगे, तबतक प्रवासी भारतीय परदेशोंमें अमन चैनसे रह नहीं सकते। और यह तभी संभव होगा जब कि हिन्दुस्थान आजाद हो जाय। अस्तु।

मैं बैरासे दक्षिण रोडेसियाके लिए रेलवेद्वारा रास्तेमें मसिकेस (Macequece) शहर की मुलाकत लेता हुआ २२ मी फरवरी, मंगलवारको अमटाली पहोंचा।

अमटाली। (Umtali)

दक्षिण रोडेसियाका यह पूर्वीय प्रवेशद्वार है। बैराकी ओरसे आते हुए तमाम यात्रियोंको यहांपर अपना अपना प्रवेशका आज्ञापत्र दिख-

लाना पडता है। इस कार्यके लिए यहांपर रेलवे ट्रेन कोई सवा डेढ घण्टा ठहरती है। जिनके पास आगे जानेके लिए आज्ञापत्र नहीं होता, उन्हें यहांपर उतार दिया जाता है और जबतक आज्ञापत्र वे प्राप्त न कर लें तबतक यहींपर पडा रहना पडता है। यहां रहकर आज्ञा प्राप्त करनेके लिए कमसे कम ३ हप्ते चाहिए। इतना समय यहांपर पडे रहना असुविधाजनक, कष्टप्रद तथा खर्चीला है। युरोपियनोंके लिए होटल हैं। उनमें रंगभेदकी वजहसे हिन्दियोंको उतरने नहीं दिया जाता। यहांपर हिन्दी बसतीमें मुसलमान हिन्दुओं से प्रमाणमें ज्यादा हैं। कुल हिन्दियों के ३० घर होंगे। बाहरसे आये हुए अपरिचित को इतनी ज्यादा देरतक किसी के भी यहां रहना मुश्किल हो जाता है।

बैरासे अमटाली २०० मील पश्चिमकी ओर स्थित है। यह दक्षिण रोडेसियामें तीसरे नंबर का शहर माना जाता है। इसकी जनसंख्या पिछली बस्ती-गिनतीके अनुसार २००० से कुछ ऊपर है। इसका जलवायु उत्तम व स्वास्थ्यप्रद है।

शहरमें कोलटारकी सडकें, बिजलीका प्रकाश, पानीके नल, टेलीफोन आदि वर्तमान जगत्के माने हुए सुखसाधन मौजूद हैं। इन सबके साथ साथ कुदरती दृश्य जो कि शहरकी शोभामें अभिवृद्धि करते हैं, बहुत अधिक मात्रामें हैं।

इसके पिछले भागमें दक्षिण पूर्वकी ओर वूम्बा पर्वत (Vumba Mountains) आया हुआ है। इसकी घाटी तथा आसपासके दृश्य इतने अधिक मोहक हैं कि जब कभी कोई प्रतिष्ठित अतिथि शहरमें पधारता है, तो उसे यह नजारा अवश्य ही दिखाया जाता है।

अष्टम एडवर्ड जब कि राजगद्दीके हकदार थे और इस मुल्कमें पर्यटनके लिए आये थे, तब उन्हें यह नजारा दिखानेके लिए इस पहाडपर मोटरकी आवजावके लिए खास तौरपर सडक तैयार की गई थी।

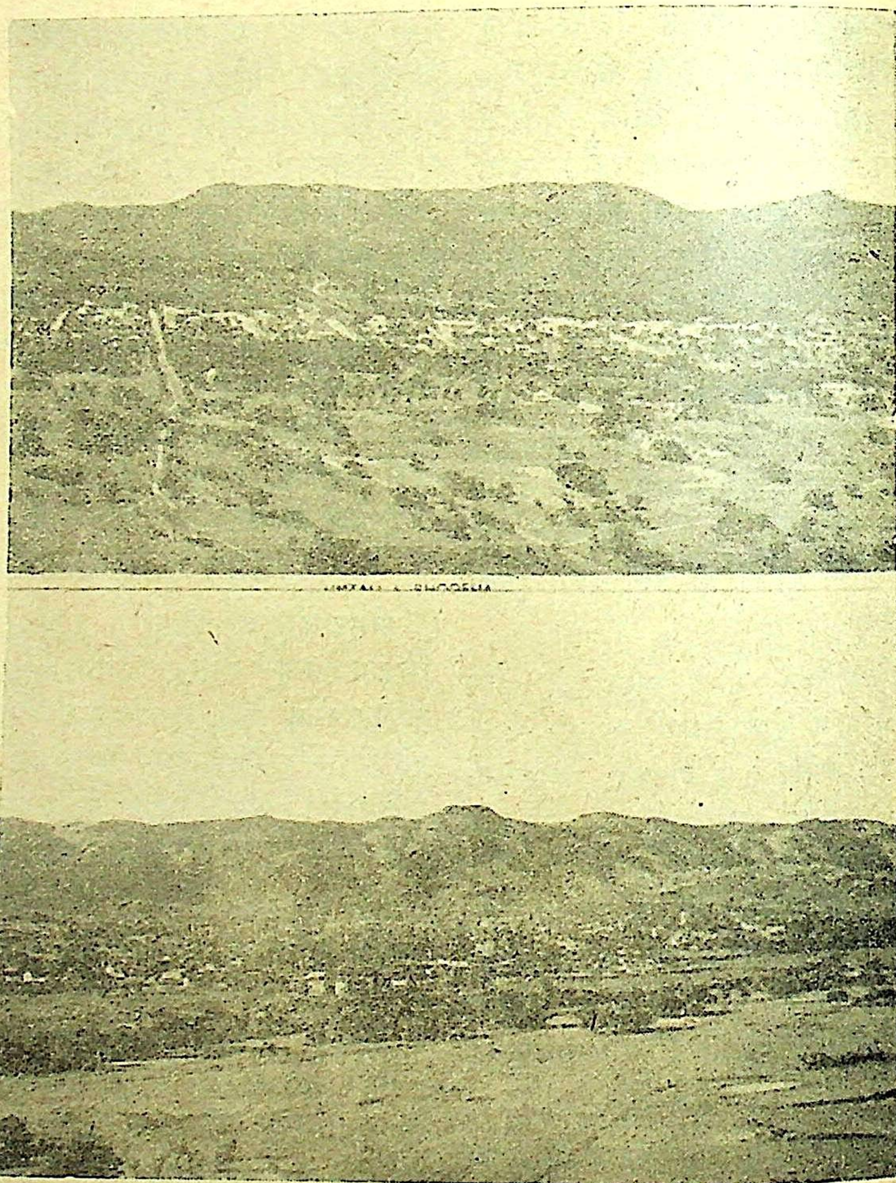
अमटाली वैसेभी चारों ओरसे पहाडोंसे घिरा हुआ शहर है। यह इन पहाडोंके बीचमें बसा हुआ होनेसे बडाही सुंदर मालूम देता है। दिन तथा रात दोनोंहीमें इसकी शोभा देखतेही बनता है। इसकी कुदरती सुंदरता तथा इसके आसपासके अन्य कुदरती नजारे देखनेके लिए प्रायः बाहर से लोकोंकी आवजाव काफी बनी रहती है। बारिशके दिनोंमें बादलोंसे घिरी हुई पर्वतमालाकी शोभा को देखते देखते न तो आंखेंही तृप्त होती हैं और ना ही जी भरता है। अमटाली शहरका साधारण ख्याल आ सके तदर्थ उसके कतिपय दृश्योंके चित्र यहां देता हूं। आशा है पाठकोंका उनसे पर्याप्त मनोरंजन हो सकेगा। (देखिये पृ० ३९६-९७)

शिक्षण (Education.)

अमटालीमें युरोपियनोंके बालकोंके लिए भिन्न भिन्न कई स्कूल तथा छात्रावास हैं। परंतु हिन्दियोंके लडकोंके लिए तथा कलर्ड माबापों (दोगले) की संतानोंके लिए यहां पर सिर्फ एक साधारण सम्मिलित स्कूल है। इधर ऐसी स्कूलको Indian and Coloured School के नामसे कहा जाता है।

शिक्षणके संबंधमें रोडेसियन सरकाकी नीति अत्यंत ही प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय कही जा सकती है। जहांतक मेरा ख्याल है न सिर्फ अफ्रीका में अपितु दुनियांके बहुतसे देशोंमें शिक्षणसंबंधी इतनी अधिक सहूलियत नहीं होगी, जितनी कि यहांपर है। यह ठीक है कि यहांकी सरकारने युरोपियनोंकी संतानोंके लिए जितनी व्यवस्था कर रखी है, उतनी औरोंकी संतानोंके लिए नहीं की। परंतु इसका कारण अन्य कौमोंकी संख्याकी ही कमी होना जान पडता है, अन्य कोई नहीं।

यहांपर प्रत्येक लडके लडकीके लिए स्कूलमें जाना अनिवार्य है। सबको स्कूलमें जाना ही चाहिए। पाठशालामें पढने जानेवाले बच्चोंके माबापसे पढाईके लिए जराभी फीस नहीं ली जाती। यही नहीं, हरेक बच्चेकी पढाईका तमाम खर्चा अर्थात् पढाईके लिए आवश्यक सामग्री जैसे कि पाठ्य पुस्तकें, कागज, स्याही, कलम, पाटी, पेनसिल

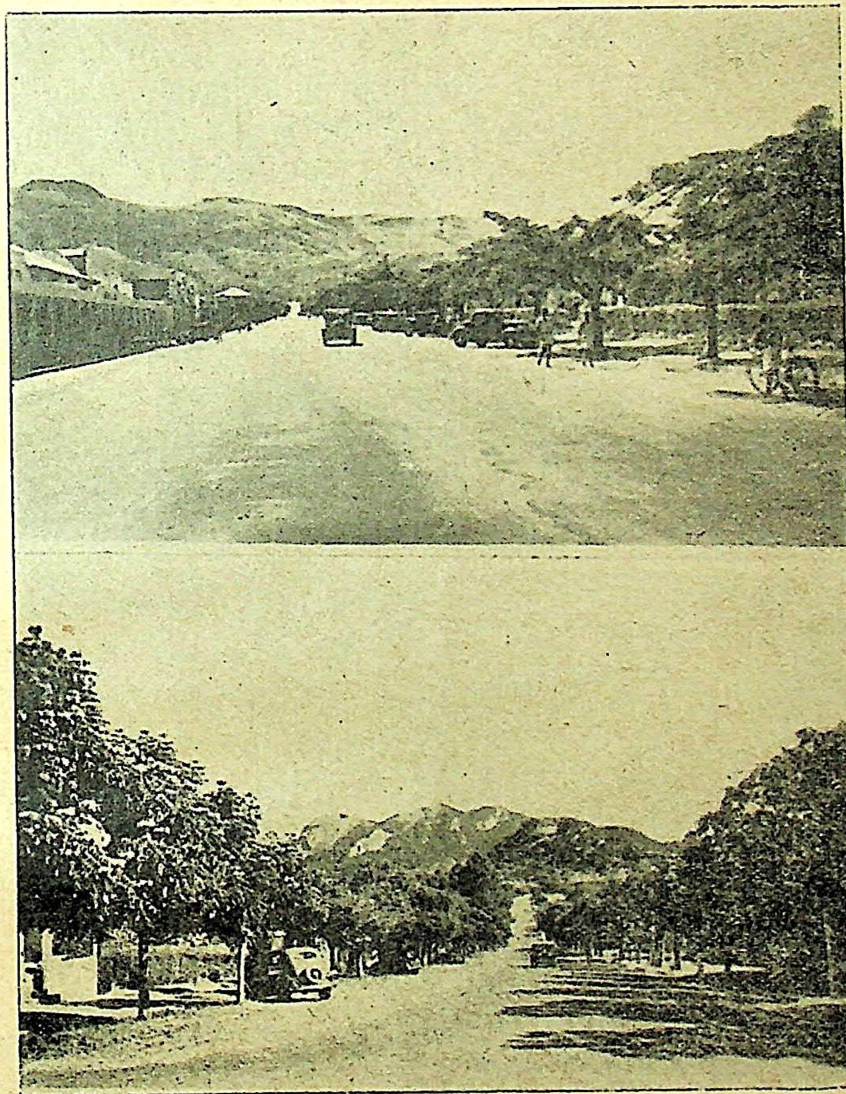


अमटाली शहरके दो दृश्य।

चाक वगैरा तमाम चीजें सरकारकी ओरसे मुफ्त दी जातीं हैं। मावांपोंसे पढाईके संबंधमें किसीभी प्रकारका कोईभी कर नहीं लिया जाता।

यह ठीक है कि इन स्कूलोंमें पढानेसे हिन्दियों के बच्चे अपनी मूल संस्कृतिसे सवथा शून्य हो जाते हैं, तथापि बच्चे निरक्षर नहीं रह जाते और साथ हीमें गरीबोंके बच्चोंको भी पढाई से वंचित रह जाना नहीं पडता। इसका परिणाम भविष्यमें यहभी होगा कि एक समय ऐसा आयगा जब कि यहांपर एकभी आदमी अनपढ नहीं मिलेगा।

दक्षिण रोडेसियाकी राजधानी सोलीसबरी (Salisbury) एक ऐसा शहर था कि जहां अब तक हिन्दुओंके लडकोंके लिए एक स्कूल थी। परंतु हालहीमें पंडित हरिशंकर विद्यार्थीजीके सतत प्रयत्नसे दक्षिण रोडेसिया के बुलवायो (Bulawayo) नामक शहरमें बालमंदिर तथा



अमटाली, मेन स्ट्रीटका दृश्य।

आमटाली, विक्टरी एवेन्यूका सुन्दर दृश्य।

प्राथमिक पाठशाला (school) का उद्घाटन हुआ है। पंडितजी का यह प्रयत्न अत्यंत प्रशंसनीय कहा जा सकता है। इसके लिए बुलवायोंकी हिन्दुप्रजा पंडितजीका जितनाभी उपकार माने तथा धन्यवाद करे, उतना थोडा है।

रोडेसियामें बडे बडे शहर ही अव्वल तो बहुत थोडे हैं। तिसपर हिन्दी तथा हिन्दुओंकी वसती भी बहुत थोडी है। अब नये आदमियोंका यहांपर प्रवेश सर्वथा बंद कर दिया गया है। अतः ऐसी हालतमें इधरउधर थोडी थोडी संख्यामें बिखरे हुए हिंन्दीयोंके लिए स्थान स्थान पर पाठशालाएं खोलना लगभग असंभव है। ऐसी दशामें या तो ये लोग अपने बच्चोंको हिन्दुस्थानमें शिक्षण लेनेके लिए भेजें या जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इन्हीं मिश्रित स्कूलोंमें

अपने लडकों को पढाते रहें । वस्तुतः प्रवासी भारतीयोंके सामने यह एक बडी भारी समस्या उपस्थित है। परंतु वर्तमान समयमें उसके लिए कोईभी उपाय नहीं । इसी लिए समझदार लोग जो कि पैसे आदिकी दृष्टिसे अच्छी स्थितिके हैं, वे प्रायः अपनी संतानों को हिन्दुस्थान पढनेके लिए भिजवा दिया करते हैं।

ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीकाके केनिया, युगांडा तथा टांगानिका प्रांतोंमें हिन्दियों की संख्या पर्याप्त है। वहांपर उनके बच्चोंकी पढाईके लिए सरकारी तथा जनतासे चलाई जातीं कई स्कूल हैं। धीरे धीरे ऊंची पढाईके लिए सरकारकी ओर से प्रयत्न भी चालू है, तथापि वहांपर पढाई इतनी ज्यादा मेंहगी है कि हरेक माबाप उनसे लाभ उठाने के लिए शक्तिमान् नहीं हो सकता। अतः वहांकी सरकारको चाहिए कि वह यहांकी सरकारका योग्य अनुकरण करे कि जिससे वहांके साधारण लोगोंके बच्चे भी शिक्षा पा सकें। परंतु वहांकी सरकारका तो ध्येयही उलटा है। वह तो चाहती है कि किसीभी तरहसे वहांसे हिन्दियोंको मार भगाया जाय। वह अपने दुश्मन जरमनों को पसंद करती है, परंतु अपनी प्रजा हिन्दियोंको नहीं!!! हिन्दुस्थानमें भी हमारी महासभाकी सरकार जबतक इस प्रकारकी कोई खास व्यवस्था नहीं करेगी, तबतक हमारे यहांसे भी निरक्षरता दूर होनी संभव नहीं।

सांगाडिया कुटुंबके मूल स्तंभ ।



श्री० जादवजी तथा श्रीमती मालीबहन ।

सींगाडीया कुटुंब ।

अमटालीके हिन्दु कुटुंबोंमें सींगाडीया कुटुंब विशेष समृद्ध तथा प्रतिष्ठित है। सरकारमें भी इनकी अच्छी प्रतिष्ठा है। यही वजह है कि इमीग्रेशनके अधिकारीभी इन्हींकी सलाह सम्मतिसे चलते हैं। अमटालीसे आगे अंदर जानेके लिए आज्ञा निकलवानेमें सींगाडीया कुटुंबकाही विशेष हाथ रहता है। यही नहीं, परवानगीके लिए अमटालीमें ठहरे हुए यात्रियोंके लिए सींगाडीया कुटुंबही एकमात्र सभी तरहका सहारा बना हुआ है। प्रायः सभी हिन्दी

इन्हींके यहां उतरते हैं, तथा आखरी दिनतक रहना, खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना सभी कुछ इन्हींके यहां होता है। इनकी इस प्रकारकी हिन्दियोंकी सेवा का इतिहास काफी पुराना,सुनने-के योग्य तथा रसप्रद है। इस तरफ आया हुआ शायदही कोई हिन्दी हो, जो कि सींगाडीया कुटुंब के उपकारसे दबा हुआ न हो अथवा उसके आ-तिथ्यसत्कार का स्वाद चख न चुका हो।

यह कुटुंब हिन्दी तथा हिन्दूभावनाका शुरुसेही अभिमानी रहा है। इसमें हिन्दुत्व-भावना तो कूट कूट कर भरी हुई है। इस देशमें हिन्दु लोग किसी भी तरह फूलें फलें, उसके लिए प्रत्यक्ष तथा अ-प्रत्यक्ष दोनोंही तरहके प्रयत्न करता आया है, तथा आजभी उसी तरह कर रहा है। हिंदुओंमें परस्पर मेल तथा प्रेम किस तरहसे बढता रहे, इस बातका ख्याल रातदिन दिमागमें घूमता रहता है। किसीभी बहाने हिन्दुओंका संगठन होता रहे, इसके लिए वे अवसरकी तलाशमें रहा करते हैं।

यज्ञोपवीत तथा हिन्दुसंगठन।

मैं स्वाध्याय-मण्डलकी प्रवृत्ति के लिए दक्षिण रोडेसिया की ओर आना चाहता हूं, ऐसा ज्योंही इनको पता चला कि इन्होंने हिन्दूसंगठन के लिए मेरा अच्छे से अच्छा उपयोग करनेकी ठानी। वे मेरी अमटाली आनेकी राह देखने लगे। मैं ज्योंही अमटाली पहोंचा, इन्होंने हिन्दूसंगठन के लिए मेरे सामने दो कार्यक्रम उपस्थित किये और वे ये कि एक तो जिन भाइयों का यज्ञोपवीत धारण करनेकी इच्छा हो, उन्हें यज्ञोपवीत धारण कराया जाय तथा अमटालीमें थोडेसे समयसे हिन्दुओं में जो नाममात्रका विक्षेप पड गया है, उसे दूरकर के नये सिरेसे तमाम हिन्दुओंको जमाकर उनका एक मण्डल स्थापित किया जाय और इस प्रकार पुराना नाममात्रका भेदभाव भुला दिया जाय। मैंने उनकी सहायता से उपर्युक्त दोनों कार्यों के लिए प्रचार शुरू कर दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि ४-५ रोजमें ही २० हिन्दु भाइयोंमें से मुख्य मुख्य १३-१४ भाइयोंने यज्ञोपवीत लेना स्वीकार कर लिया। रविवार के दिन शुभ अवसर पर इन भाइयोंको विधिपूर्वक यज्ञोपवीत धारण करवाकर गायत्री मंत्र दिया गया। यहांपर एक विशेष बातका उल्लेख किये विना नहीं रहा जा सकता और वह यह कि इस समय अमटाली में विद्यमान सींगाडीया कुटुंबके मुख्य स्तंभरूप श्रीयुत करसन-भाई तथा लालजीभाई अपनी अपनी धर्मपत्नी के साथ यज्ञोपवीत धारण करके मेरे ख्यालमें न सिर्फ अफ्रिका में बल्कि हिन्दुस्थानमें भी अपनी जाति में पहल करके अन्य भाइयों के लिए उदा-हरणरूप बने हैं।

हिन्दुओंके लिए यज्ञोपवीत एक ऐसी धार्मिक क्रिया है कि जिसके बाद प्रत्येक हिन्दु जहां विशेष धार्मिक अधिकार प्राप्त करता है, वहां वह एकता के सूत्रमें खुदबखुद बंध जाता है। हिन्दुओंको संगठित करनेके लिए तथा हिन्दुत्वका चिह्न सर्वदा अपने साथ रखने के लिए मेरे ख्यालमें यज्ञोपवीत जैसा अन्य कोई भी उपयोगी व महत्त्वपूर्ण साधन हमारे पास नहीं है।

जिस प्रकार यह यज्ञोपवीतकी क्रिया उत्साह व आनंद के साथ समाप्त हुई, ठीक उसी प्रकार नये सिरेसे हिन्दुमण्डल की स्थापना में भी तमाम भाइयोंने स्नेह तथा उत्साहके साथ भाग लिया। अमटाली के तमाम भाइयों का 'अमटाली हिन्दु मण्डल (Association)' स्थापित करके उसके लिए आवश्यक कायदा कानून तैयार किये गये।

अमटाली दक्षिण रोडेसिया का पूर्वीय प्रवेशद्वार होनेसे उसमें इस प्रकारके संगठनकी खास जरूरत भी थी। क्योंकि उसमें अभीतक बाहरके हिन्दुओंके लिए उतरने ठहरने आदि के लिए तथा स्थानीय हिन्दुओंके लिए इकट्ठा होने आदि के लिए न कोई निश्चित स्थान ही था और न कोई निश्चित एक संगठन। अमटालीके भाइयोंने इस कमी को कुछ अंश में पूर्ण करके रोडेसिया के हिन्दुओंके

लिए एक अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है और तदर्थ वे सर्व हिन्दु भाइयों के हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

इस प्रदेशमें बहुत पुराने समयसे आये हुए कुछ भाई ऐसे भी हैं कि जिन्होंने यहां आकर यहां की स्थानीय प्रजा की स्त्रियोंसे शादी कर रखी है तथा उनसे उन्हें पर्याप्त संतानें भी हुई हुई हैं। इस प्रकारके भाई हिन्दु तथा मुसलमान दोनोंही में से हैं।

अमटाली से ६५ मील दूर रुसापी (Rusapi) नामक गांव है, वहांपर ऐसे दो हिन्दू भाई रहते हैं, जिन्हें चार चार, पांच पांच संतानें यहां की स्त्री से हुई हुई हैं। सींगाडीया कुटुंब के प्रयत्नसे इन दोनों हिन्दु भाइयोंने अपनी अपनी संतानों के साथ यज्ञोपवीत धारण करके अपनी संतानों को हिन्दू-जातिका एक स्थिर अवयव बना दिया। उनके इस हिन्दुत्व के अभिमान के लिए उनका भी जितना धन्यवाद किया जाय थोडा है।

आसपासके द्रष्टव्य स्थल।

(उत्तर-पूर्वकी ओर)

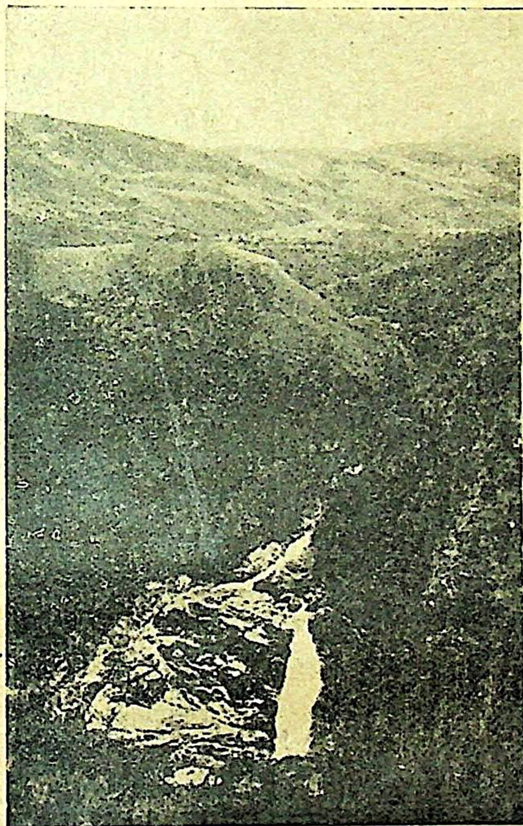
१- पेन्हालोंगा (Penhalonga)- अमटाली से कोई दसेक मीलके करीब उत्तर दिशा की ओर यह स्थल है। वहांपर छोटी मोटी कई सोनेकी खानें हैं। सारे रोडेसियामें सोनेकी खानोंकी दृष्टिसे यह स्थल तीसरे नंबर पर आता है। सोना निकालनेके लिए जो बिजलीका यंत्र लगाया गया है, वह बहुत ही बडा तथा देखनेके काबिल है। इस स्थानपर जितनी भी सोनेकी खानें हैं, वे सब एकही कंपनी के स्वाधीन हैं।

खानें जो कि भिन्न भिन्न दूरीपर स्थित हैं, उनमें से खोदकर आसपासकी निकाले गये सोनेके पत्थरको सोना निकालनेके यंत्र तक ले आनेके लिए आकाशमें मोटे मोटे लोहेके रस्से लटकाये गये हैं। इन रस्सोंके सहारे बिजली के द्वारा सोनेके पत्थरोंसे भरे हुए डोल सोना निकालनेके यंत्र तक सरकते चले आते हैं और खाली होकर फिर भरनेके लिए उसी तरह वापस सरकते हुए लौट जाते हैं। खान खोदनेसे लेकर सोना शुद्ध स्वरूप में प्राप्त हो जाने तक की तमाम भिन्न भिन्न क्रियायें बडी ही रसप्रद तथा देखने जैसी हैं। इनको देखनेके बाद ख्याल आ सकता है कि सोना प्राप्त करना कितनी महेनत तथा खर्चका काम है।

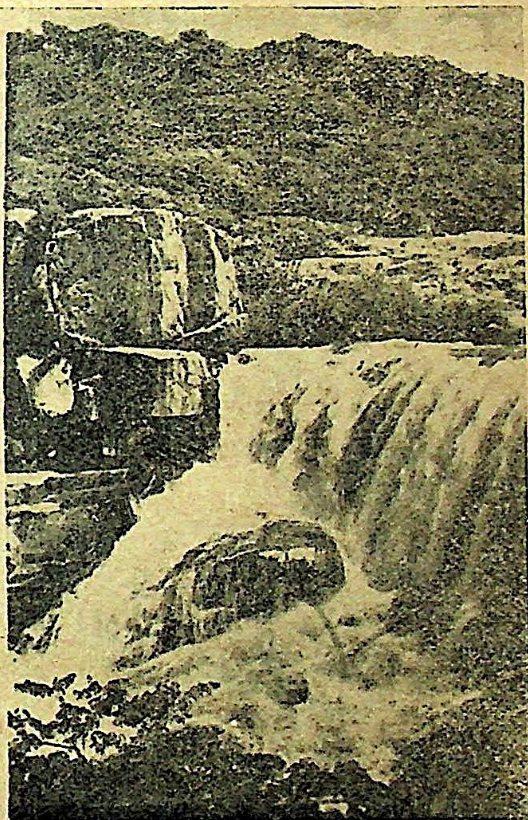
सोना निकालनेकी क्रिया इतनी ज्यादा कीमती है कि यदि सोनेका भाव ऊंचा न रहे, तो बहुतसी छोटी मोटी कंपनियां अवश्य ही बंद हो जायें या दीवाला फूंक दें। आजकल सोनेका भाव खूब ऊंचा है, अतः सब कंपनियां तेजीमें हैं। परंतु जब जब सोनेका भाव गिरा है, तब तब प्रायः अधिकांश कंपनियां दीवाले फूंक फूंककर भाग चुकी हैं। ऐसी कंपनियोंके अवशेष स्थान स्थानपर देखनेको मिल सकते हैं।

(२) ओडजानी प्रपात, पेन्हालोंगा- (Odzani falls, Penhalonga) ओडजानी नदीका यह सुंदर प्रपात अमटाली से इन्यांगा सीधा जाते हुए कच्चे रास्तेमें पेन्हालोंगासे आगे १५ मीलके लगभग ऊपर की ओर पडता है। अमटालीसे यहांपर आसानीसे जाया जा सकता है। प्रायः छुट्टी के दिन अर्थात् शनिवार रविवार या अन्य ऐसे ही वार तहेवारके दिन सैर के लिए लोग यहां आते हैं तथा कोई आधा दिन तो कोई सारा दिन नहानेमें, खानेपीनेमें मछली पकडनेमें या इधर उधर घूम फिरकर कुदरती शोभा का मज़ा लूटनेमें बिताते हैं। इस प्रपात का ख्याल नीचे दिए गये चित्रसे पाठकोंको थोडा बहुत आ सकेगा, ऐसी आशा है— (पृ० ४०१ देखें)

(३) पुंगवे प्रपात- Pungwe falls, Inyanga- ओडजानी प्रपातसे आगे इन्यांगा की ओर जाते हुए यह प्रपात आता है। यह प्रपात चौडाईमें कम परंतु ऊंचा ज्यादा है। प्राकृतिक शोभा अपूर्व है। यहांपर भी लोग सैरके लिए अक्सर जाते रहते हैं। इस प्रपात का चित्र पाठकोंके मनोरंजनार्थ नीचे दिया जाता है— (पृ०४०१ देखें)



पुंगवे-प्रपात, इन्यांगा।



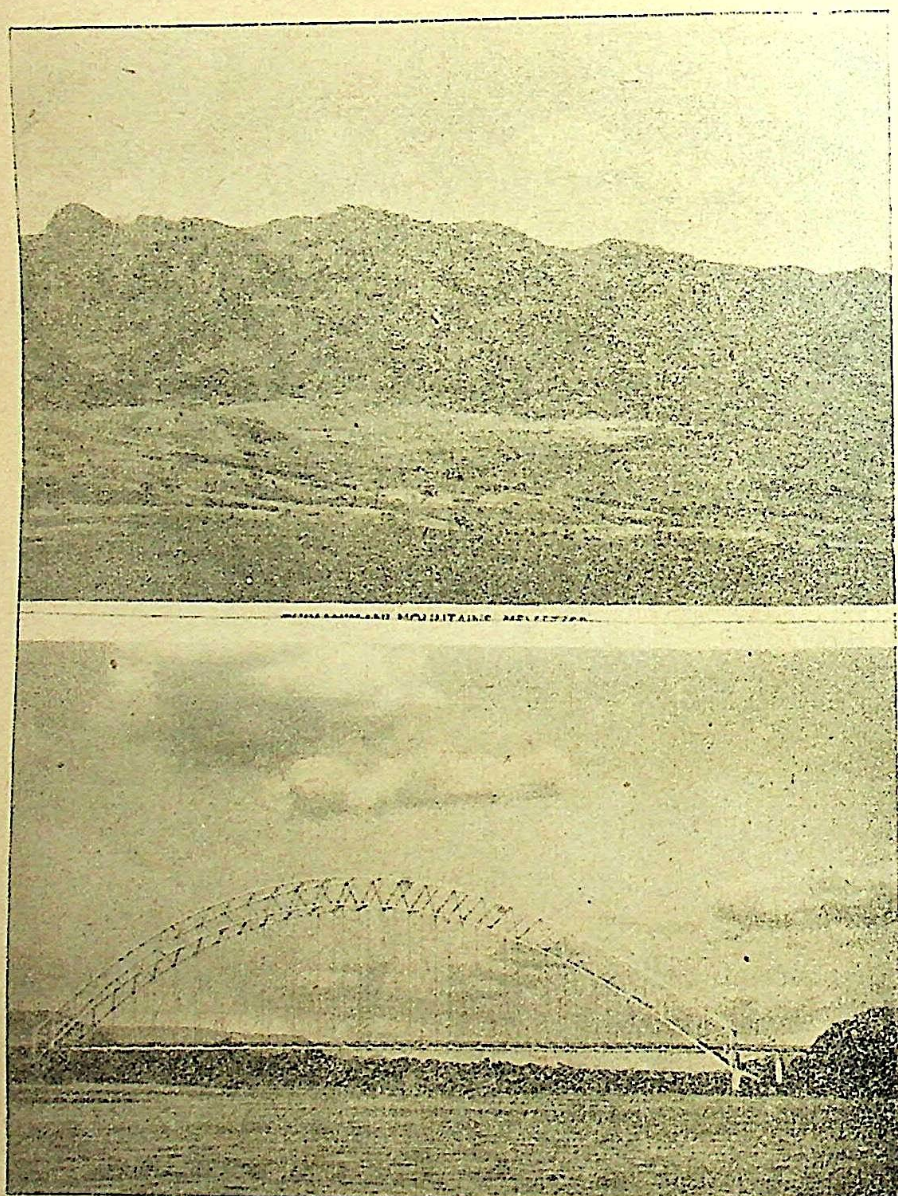
ओडजानी-प्रपात, पेन्हालौंगा।

(४) इन्यांगा (Inyanga)-दक्षिण रोडेसिया के उत्तर-पूर्व किनारे पर यह आया हुआ है। यह रोडेसिया में ऊंचे में ऊंचा पर्वतशिखर है। अमटालीसे कच्चे रास्तेसे सीधा जाया जाय, तो ८६ मीलके लगभग होता है और पक्के रास्तेसे वाया रुसापी होकर जाया जाय, तो १२५ मीलके करीबन होता है। यहांका पर्वतीय नजारा अवर्णनीय है। बादलोंसे घिरी हुई पर्वतमाला अपूर्व आह्लाद उत्पन्न करती हैं। यहांपर युरोपियनोंके लिए उतरने आदिके लिये सुंदर होटलका इन्तजाम है। टेनीस, गोल्फ, तैरना, घोडेकी सवारी, मछली पकडना आदि भिन्न भिन्न मनोरंजनके साधन मौजूद हैं। इसको देखकर काश्मीर के नजारे आबेहूब नजरके सामने आ खडे होते हैं।

दक्षिण-पूर्वकी ओर–

(५) वुम्बा पर्वतमाला (Vumba mountains) इसके संबंधमें अमटाली शहर के वर्णन के साथ थोडा बहुत ऊपर लिखा जा चुका है। अमटालीसे कोई २० मीलपर युरोपियनों के लिए वुम्बा होटेलका प्रबंध है। वुम्बापर्वतमालाकी शोभा का आनंद लूटनेवाले यात्री यहां जाते हैं तथा उसका मझा उडाते हैं। इस पर्वतमाला के बीचमेंसे उदय होते हुए सूर्यकी मनोहर दृश्य इस

चिमानीमनी-पर्वत-माला, मेलसेटर।



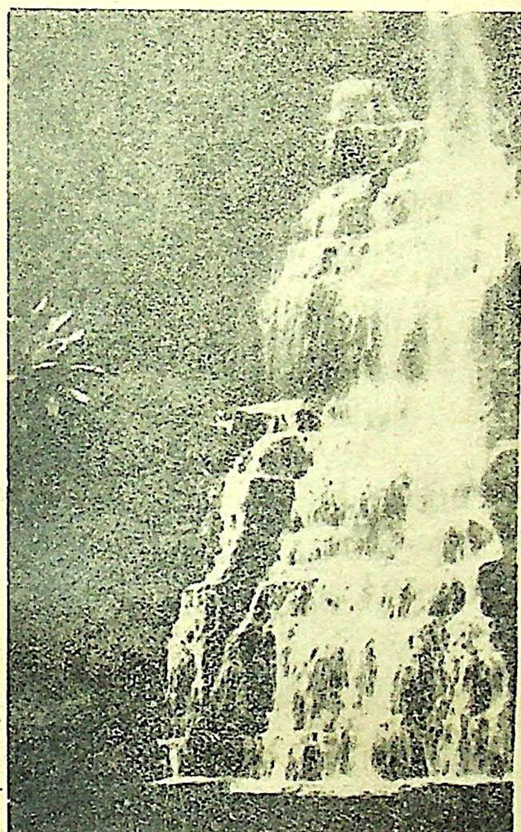
बरकनफ पुल, लंबाई १०८० फीट।

शहर का दृश्य अत्यंत ही सुंदर मालूम होता है।

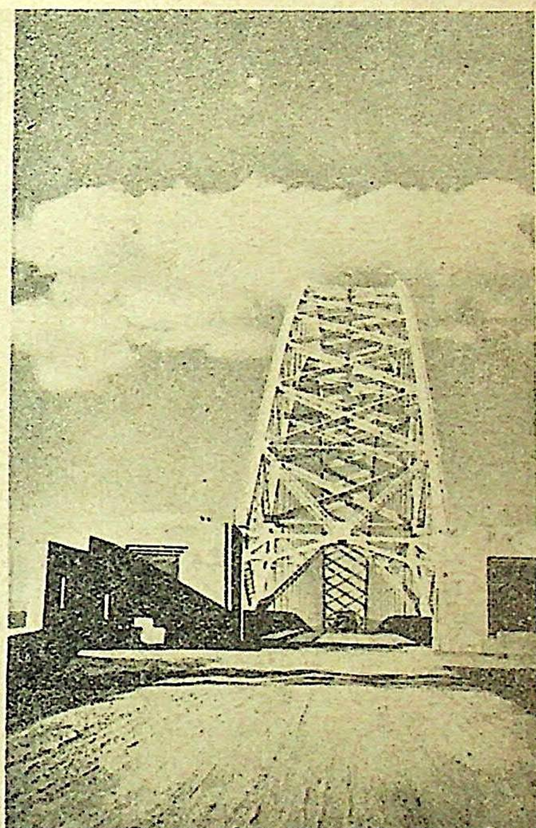
(६) चिमानीमनी पर्वतमाला, मेलसेटर (Chimanimani Mountains, Melsetter) यह पर्वतमाला अमटालीसे दक्षिण पूर्वकी ओर दक्षिण रोडेसिया तथा पोर्टुगीझ ईस्ट अफ्रीका की सरहद पर लगभग ९४ मील दूर आई हुई है। इसपर जानेके लिए अमटाली-फोर्ट विक्टोरिया के रास्तेमें से कोई ४१ मीलकी दूरीपर से पूर्वकी ओर रास्ता फटता है। वहां से ५३ मील पहाडी रास्ता तय करनेपर मेलसेटर (Melsetter) नामक स्थल आता है। यहांपर एक प्रपात भी है। इस प्रपात तथा पर्वतमाला के सुंदर दृश्यों के चित्र यहाँ दिये गये हैं।

पर्वतमाला के अद्भुत दृश्योंमें से एक कहा जा सकता है। मोटर से मुसाफरी करते हुए इस पर्वतमालाकी घाटियोंके दृश्य तथा अमटाली फोर्ट विक्टोरिया जाते हुए

(७) बरकनफ पुल, (Birchenough Bridge) यह सुंदर देखनेलायक पुल अमटालीसे रास्तेमें कोई ७०-७५



ब्रिडल व्हेल प्रपात, मेलसेटर ।



बरकनफ पुल । (ऊंचाई २८० फीट)

मीलकी दूरीपर साबी नदी (Sabi River) पर आता है। इस विशाल पुलको जिसे ऐंजीनीयरींग की एक कमाल कहा जा सकता है, 'दी बाइट रेलवे ट्रस्टीयोंने' (The Beit Railway Trustees) बनाया था। इस पुल के बन जानेसे दक्षिण रोडेसिया के पूर्वीय जिले मध्य विभाग से संबंधित हो गए हैं।

यह पुल साबी नदी को एकही चाप (Arch) से पार कर जाता है। नीचेकी ओर से बीच में और किसी भी प्रकार का आधार नहीं है। यह पुल जिस एक चापसे बनाया गया है, वह बीचमेंसे उपर को २८० फीट ऊंची तथा १०८० फीट लंबी है। यह पुल इस प्रकार की अद्भुत बनावट में दुनियाभर में तीसरे नम्बरपर आता है। इससे दो बडे पुल, जिसमें से एक Sydney Harbour Bridge है तथा दूसरा न्यूयोर्क (New york) के दक्षिण तरफ The Kill van Kull Creek के ऊपर स्थित 'The Bayonne Bridge' नामक पुल है।

इस पुल के उत्तरपूर्वीय आधारभूत पाये में सर हेनरी (Sir Henry) तथा लेडी बरकनफा (Lady Birchenough) की राख रखी गई थी और उस स्थानपर चिन्ह के तौरपर पीतल का पतरा लगाया गया था। ई० सन् १९३८के एप्रिल की दूसरी तारीख को दक्षिण रोडेसिया गवर्नर महोदय श्रीयुत सर हरबर्ट स्टेनली (His Excellency, sir Herbert Staley, Governor of Southern Rhodesia) ने इस का फिर से

उद्घाटन किया तथा उसके बाद फिर से उसकी The Right Rev. E. F. Paget Bishop of S. Rhodesia ने धार्मिक क्रिया कर के स्थापना की।

श्रीयुत हेनरी महोदय अपने जीवनकाल में 'दी बाइट रेलवे ट्रस्टीज' के प्रधान रहे थे। और इस प्रकार उनके पीछे ऊपर दिया गया नाम इस पुल का रखा गया।

श्रीयुत बाईट (Beit) महोदय जो कि शायद जर्मन यहूदी थे, दक्षिण रोडेसिया में एक प्रतिष्ठित धनवान् व्यापारी हो गए हैं। ये अपने पीछे अपनी संपत्ति का सदुपयोग करनेके लिए ट्रस्टी बना गए हैं जो कि 'Beit Railway Trustes' के नाम से प्रसिद्ध हैं। दक्षिण रोडेसिया में जितने भी छोटे बडे पुल हैं, उनमें से सैंकडों की तादाद में इन्हीं ट्रस्टियों द्वारा जनता के उपयोग के लिए श्रीयुत बाईट की स्मृति को जागृत रखने के लिए बनाए गये हैं। प्रस्तुत पुल भी उन्हींके ट्रस्टियों द्वारा बनाया गया है. जैसा कि ऊपर बताया गया है। प्रस्तुत पुलके दो चित्र जो कि पुलके दो भिन्न भिन्न दृश्योंका ख्याल दे रहे हैं, पिछले पृष्ठोंपर दिये गए हैं। इनमें से दूसरा चित्र पृष्ठ ४०३ पुल के सामने से लिया गया है, जो चाप की २८० फीट ऊंचाई को दिखा रहा है। तथा प्रथम चित्र पृष्ठ ४०२ पुल की चौडाई तथा चापकी लंबाई जो कि १०८० फीट है, दिखा रहा है।

अमटाली में मुझे आगे जाने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए लगभग एक मासतक प्रतीक्षा करनी पडी थी। इस दरम्यान सींगाडीया कुटुंब के साथ भिन्न भिन्न स्थानों को देखने का तथा वहां जाकर आहार-विहार (Picnic) करने का अच्छा अवसर मिला। प्रायः शनि, रविवार के दिन इसी कार्य में लगाए जाते थे। मैं जिन दिनों में अमटाली में था, उन दिनोंमें एक तो वर्षाऋतु वैसेही थी, तिसपर इस साल इस तरफ इतनी अधिक बारिश हुई है कि पिछले पांच वर्षों में इतनी ज्यादा वर्षा कभी नहीं हुई। इस अधिक वर्षा के कारण हम जितना आनन्द उठाना चाहते थे, उठा नहीं सके। वर्षा की वजह से कई दूर दूर के स्थल देखे भी नहीं जा सके। फिर भी आसपास के स्थलों का आनन्द पर्याप्त उठाही लिया था।

अमटाली के हिन्दु भाइयों के बीचमें तरह तरह की चर्चा तथा आनन्द-गोष्ठियां करते हुए एक मास इतनी जल्दी बीत गया कि पता भी नहीं चला। अंत में अमटाली तथा रुसापी के हिंदु भाइयोंने स्वाध्याय-मण्डल के कार्यमें जिस उत्साह तथा प्रेम से हिस्सा बंटाया है, तदर्थ उनका मैं जितना भी धन्यवाद करूं, थोडा है। परमात्मा इन भाइयों का स्वाध्याय-मण्डल के साथ इससे भी ज्यादा गाढ सम्बन्ध बनाने में तथा टिकाए रखने में सहायता करे, ऐसी नम्र प्रार्थना है।

(क्रमशः)

सामवेद-स्वाध्यायमञ्जरी

अथवा

सामवेद-सङ्गीत ।

(अनुवादक- पं० धर्मदेवजी, सिद्धान्तालङ्कार, विद्यावाचस्पति, वैदिक धर्मप्रचारक, बंगलौर)

(१) ओ३म् अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम्। अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥

जो तुम को है नित्य बढ़ाता
सब शुभकर्मसहायक है ।
सबसे श्रेष्ठ उसी को मानो
सकल लोक अधिनायक है ॥

(२) ओ३म् । अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यं सद्विश्वं ✱ न्यत्रिणम् । अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥

तीव्र तेजसे ईश्वर करता
है राक्षसगण का संहार ।
वह ऐश्वर्य हमें देता है
जिसे भोगता सब संसार

(३) ओ३म् । अग्ने मृड महां अस्यय आ देवयुं जनम् । इयेथ ✱ बर्हिरासदम् ॥

सुखी करो तुम महादेव हो
प्राप्त उन्हीं को होते हो ।
जो उत्तम बनना चाहें तुम
उन के दिल में रहते हो ॥

(४) ओ३म् । अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति स्म देव रीषतः । तपिष्ठैरजरो दह ॥

हमें पापसे नाथ बचाओ
हिंसक-गण से तथा प्रभो !
भस्म करो तुम अपने बलसे
पापतापको अमर विभो ॥

(५) ओ३म् अग्ने युंक्ष्वा हि ये × तवाश्वासो देव साधवः । अरं वहन्त्याशवः ✱ ॥

जो तेरे ज्ञानी साधक हैं
उन्हें योग से युक्त करा ।
साधु कर्मयोगी वे साधक
करते कर्मों में विचरा ॥

(६) ओ३म् । नि त्वा नैक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम् । सुवीरमग्न आहुत ॥

शरण योग्य हे परमेश्वर तुम
सकल प्रजाके पालक हो ।
सर्वशक्तियुत होकर तुमही
सकल लोक संचालक हो ।
तेजोमय तेरे स्वरूप का
हम सब मिल करते हैं ध्यान ।

✱ अत्रिम्- प्रजाया धनस्य प्राणस्य वा अत्तारं राक्षसम् ।

✱ बर्हिरित्यन्तरिक्षनामसु निघण्टौ १।३; अत्र हृदयान्तरिक्षम्; मृड-सुखने ।

× अश्वासः- अश्ववद् गतिशीला ज्ञानिनश्च यजमानो वा अश्वः ॥ (तै० ३।९।१७।४)

✱ आशवः- शीघ्रं सिद्धिप्रापकाः अशू व्याप्तौ संघाते च ।

भक्तों से आहूत दयामय।
हम पाए बल सच्चा ज्ञान ॥

(७) ओ३म्। अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वति ॥

ईश्वर मस्तकसम सर्वोत्तम
सब लोकों का धारक है।

स्थावर जङ्गम लोक बीज का
वही परम उपकारक है ॥

(८) ओ३म्। इमम् षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम्। अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥

देव हमारे प्राणों का शुभ-
रक्षक जो है उत्तम ज्ञान।

धर्माधर्मविवेचक उसका
कर दे विद्वानों को दान ॥

(९) ओ३म्। तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः। स पावक श्रुधी हवम् ॥

तुझे प्रकट करता वाणी से
संयमशाली सज्जन है।

अङ्ग अङ्ग में तू व्यापक है
ईश्वर ! भक्तों का धन है ॥

(१०) ओ३म्। परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे ॥

बलका स्वामी सर्वज्ञानी
विद्यादिक रत्नों का दान।
देता है नित निज भक्तों को
स्वीकृत कर उनका आह्वान ॥

तब भारत क्या करे ?

(लेखक- श्री० वसिष्ठजी)

इतिहासकार किसी वस्तुस्थिति को इसलिए स्वीकार नहीं करता कि वह उपयुक्त थी और न वह किसी घटना से इसलिए इनकार कर देता है कि उस का होना असम्भव था। वह सब की सम्भवता व सम्भावना को मानने के लिए उद्यत हो जाता है। वह तो यहां तक सम्भव समझता है कि संसारभर में विछडा हुआ नन्हा सा तिब्बत देश निकट भविष्य में पृथिवी पर दिग्विजय करेगा और योरोप व अमरिकाके महाप्रदेशोंको अपना उपनिवेश बनावेगा। इतिहासकारने आंखों से देखा है कि जर्मनी में उत्पन्न हुआ साम्यवाद जर्मनी से समूल नष्ट कर दिया गया और जहां की जनता इसे समझती भी न थी, उस रूस में वह फल फूल कर संसार में व्याप्त होने के मनसूबे बांध रहा है। भारत में ही उत्पन्न होकर बौद्ध धर्म और बौद्ध राज्य समूल नष्ट हो गया और जिन सर्वहिंसक देशों में इस सर्व-प्राणी-प्रेम के महा उदार धर्म की स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी, वहां यह चारों ओर फैल गया है। इतिहासकार नहीं स्वीकार करता कि अमुक सिद्धांत उपयोगी है, जनता उसे सहर्ष ग्रहण करेगी, अतः वह सर्वत्र विजयी होगा। वह तो केवल यह मानता है कि आन्दोलन और संगठन-शक्ति जो निश्चय कर लेंगी अपने से निर्बल शक्तियों पर वही सफल होगा, चाहे वह अमृत हो या विष।

जब इतिहासकार इतनी कठिन बातों की सम्भावना को सहज सम्भव मानता है, तो उसे पूर्व में सहज सम्भव होनेवाली घटना की निकट सम्भावना को विचारने में देरी नहीं करनी चाहिये। पश्चिम और पूर्व में युद्ध के बादल गरज रहे हैं। इटली और जर्मनी का संगठित संघ एक ओर जिबराल्टर और नहर स्वेज को हस्तगत करके दूसरी ओर फ्रांस व इंगलैंड के अफरीका-उपनिवेशों पर छापा मारकर अंगरेजों का आवागमन रोक सकता है, तो इधर पूर्व में इस गुटका तीसरा मेम्बर दत्तात्रेय जापान चीन से भारत में प्रवेश करके इसे अपना उपयोगी उपनिवेश बना सकता है।

तब भारत क्या करे ?

रोम की तरह इंगलैंड तो "मैं घरेलू झगडों में फंसा हूं" कहकर अपनी क्लीबता को छिपा जायगा, किन्तु सदियों से पिंजडे की मैना बनाया हुआ भारत क्या करेगा? उस समय यह विचार असमञ्जस में डाल देगा कि भारत हिंसा से शत्रु का सामना करे या अहिंसा से। यहां यह अभिप्रेत नहीं कि हिंसा श्रेयस् है या अहिंसा अथवा युद्ध में हिंसा ही माननीय है। विचारणीय विषय यह है "भारत को सफलता किससे मिलेगी?"

प्रायः संसार का यह विश्वास बना हुआ है कि हिंसाद्वारा ही युद्धमें प्रवृत्त होना पडता है। सिद्धान्त की दृष्टि से यह मान्य हो या न हो, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अनुभव में आता है कि हिंसायुद्ध में जुटे हुए दो पक्षों में जो पक्ष हिंसाकर्म में अधिक क्षम होता है, जिसके पास हिंसा करने के अधिक साधन व उपकरण होते हैं तथा जो युद्ध में अधिक हत्याएं करता है, वही विजयी होता है। हिंसायुद्ध के इस प्रत्यक्ष व्यावहारिक परीक्षण में भारतवर्ष जापान से पराजित ही होगा, क्योंकि उसके पास न युद्ध के उपयुक्त उपकरण (मशीनगन, तोपें, वायुयान, बम, गैस के टैंक आदि) पर्याप्त हैं और न जापान जैसी संगठित शिक्षित सेना और न भारत को इंगलैंड वा किसी योरोपीय युद्धप्रवीण राष्ट्र से किसी प्रकार की सहायता मिल सकेगी। इसके अतिरिक्त जापान

आक्रमणकारी होगा और भारत आक्रमण को रोकनेवाला। हिंसायुद्ध में प्रवृत्त आक्रमण को रोकनेवाला जीतने पर पराजित और पराजय में मृत समझा जाता है। आक्रमणकारी जापान अपने वायुयानों से भारत के कलकत्ते का ध्वंस करेगा, किन्तु आक्रमणों के रोकनेवाले भारत ने जापान को पीछे हटा भी दिया, तो वह जापान के किस नगर का ध्वंस करके कलकत्ते के ध्वंस की क्षति पूर्ति कर सकेगा, क्योंकि हुगली के दूसरे किनारे पर टोकियो जैसा जापान का कोई नगर नहीं बसा हुआ है। यही कारण है कि आक्रमण को रोकनेवाला राष्ट्र विजयी होकर भी पराजित आक्रमणकारी से अधिक क्षति उठाता है। गत महायुद्ध में पराजित आक्रमणकारी जर्मनी तथा आक्रमणों को रोकनेवाले विजयी फ्रान्स व बेलजियम इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। हिंसायुद्ध में वही विजय पाता है, जो अधिक हत्याएँ करने में सफल होता है, किन्तु भारत हत्याओं में जापान से बाजी न ले सकेगा। अतः भारत की दशा हिंसायुद्ध में चीन और अबसीनिया से मिलती जुलती ही होगी।

दूसरा मार्ग है अहिंसा का। हिंसा का सदा ही यह प्रभाव रहा है कि हिंसा के लिए कटिबद्ध व्यक्ति का प्रतिद्वंद्वी यदि अधिक बलवान् व हिंसाकार्यमें अधिक क्षम होता है, तो उसका रोष, आवेश व हिंसावृत्ति एकदम अदम्य हो जाती है और यदि वह अशक्त व अयोग्य है, तो उसमें भीरुता, कायरता घुसकर उसका कापुरुष की तरह वध कराती है। किन्तु यदि युद्ध में प्रवृत्त एक पक्ष सिर झुकाये सत्याग्रह करता हुआ मरने को उद्यत हो जाता है, तो क्रूरसे क्रूर प्रतिद्वन्द्वी की हिंसा भी कुछ हत्याओं के पश्चात् कुंठित हो जाती है। सजातीय प्राणी का वध करते करते शीघ्र ही उसे इस अप्रिय व्यापार को घृणा, लज्जा व शोक से त्यागना पडता है, जब कि प्रतिद्वन्द्वी की हिंसात्मक चेष्टा के संकेतमात्र से उसकी हिंसावृत्ति सहस्रमुखी हो जाती। इस प्रकार अहिंसायुद्ध में सिर झुकाकर वध होनेवालों की संख्या मुकाबला करके मरनेवालों की संख्या के दशांश भी न्यून होगी। हिंसात्मक युद्ध में भारतवासी हत्याओं से घबराकर, भागकर पराजय प्राप्त करेंगे, किन्तु अहिंसायुद्ध में आक्रमणकारी जापानी ग्लानि से हत्याओं को बन्द करके पराजय प्राप्त करेंगे।

किन्तु वे मशीनगन, बम और वायुयान?

सुदूर स्थानों से वायुयान, मशीनगनों व टैंकोंद्वारा बम, गोले व गैस के फेंकनेवालों को नरहत्याओं का प्रत्यक्ष व्यापार देखकर ग्लानि करनी न पडेगी। अतः वे अहिंसा अनुष्ठान में बैठे सत्याग्रहियों का वध करनेसे क्यों हटने लगे? वे तो जड वस्तुओं की तरह सोते, जागते-चलते फिरते स्त्रीपुरुषों और बालकों को नष्ट करते रहेंगे और इस मानव-संहार से उसके हृदय के कोमल स्थान को तनिक भी ठेस न लगेगी।

यदि बम और गोलों की वर्षा के परिणाम को व्यर्थ कर दिया जावे, तो शत्रु का आक्रमण व अग्रगमन व्यर्थ हो सकता है। भारतवर्ष गांवों और इने गिने शहरों में अपनी जनसंख्या को बसाये हुए हैं। शत्रु शहरों को हस्तगत करके ही विजयी हो सकता है। उसकी मशीनगनोंके गोले व वायुयानोंके बम नगरोंको नष्ट करके ही विजय प्राप्त करेंगे। यदि भारतवासी अपने नगरों व गांवों तक को त्याग कर बिखर जांय, एक स्थान पर पांच मनुष्य से अधिक न रहें, तो जापान की समस्त युद्धसामग्री का अन्तिम व्यय भी भारत के एक लाख से अधिक मनुष्यों के प्राण न ले सकेगा। भारत की जनसंख्या को देखते हुए प्रति वर्ग मील २०० मनुष्यों से कमही आते हैं। इस प्रकार प्रतिवर्ग फर्लांग ४ मनुष्य से कम होते हैं। यदि प्रतिवर्ग फर्लांग पर ४ मनुष्य बैठ या बस जांय, तो शत्रु की सेनाएं, वायुयान व मशीनगनें ८ करोड टुकडियों में एक एक फर्लांग की दूरीसे बैठे या बसे हुए चार चार मनुष्यों का संहार १६ करोड आक्रमणों से कम में न कर सकेंगे। इन १६ करोड आक्रमणों से आधे अनिवार्य असफल होंगे और १६ करोड बमों, गोलोंके व्यय कर सकने की शक्ति सारी

पृथिवी के राष्ट्रों की संयुक्त सेनाओं के पास भी नहीं है।

यदि किसी बडे समूह पर बम वर्षा की जावे, तो अपने समूह के हताहत दुर्दशा को देख कर प्रजा घबरा जाती है। भय और आतंक से शत्रु के हाथों आत्मसमर्पण कर देती है, किन्तु एक एक फलांगपर बसी हुई टुकडियों को दो चार टुकडियों के हताहत का ही समाचार मिल सकेगा। हरेक टुकडी को यह आश्वासन रहेगा "अभी करोडों टुकडियां अपने स्थान पर सुरक्षित हैं," अतः उन्हें घबराकर आत्मसमर्पण की बात ही न सूझेगी। भारत की जनताके इस वितरण से शत्रु के किसी सैनिक को भारत की कोई खाद्य वस्तु किसी भावको न मिल सकेगी, क्योंकि देश के किसी स्थान पर ५० मन का भी संग्रह न होगा, अतः शत्रुओं को खाद्य वस्तुओंके बिना शीघ्र ही पीछे लौटना पडेगा। वायुयान और मशीनगनें इस युद्ध में उपयोगी सिद्ध न होंगी, क्योंकि चारचार मनुष्यों की टुकडी को उक्त उपकरणों से नष्ट करना एकान्त असम्भव है। यदि पांच मिनट में एक बम गिराया जाय और एक वायुयान १२ घंटे बम-वर्षा करे, तो ५०० वायुयानों को ३ वर्ष तक दैनिक १२ घंटे बम वर्षा करनी पडेगी। इतने बम व धन का मिलना असम्भव है। हजारों गोलियों के अपव्यय से एक दो आदमी ही मरेंगे और कभी कभी वह भी नहीं।

क्या यह सम्भव है? क्या भारतवासी ऐसा कर सकेंगे?

इसके लिए आवश्यकता है, भारतवासियों की स्थिति-नाडी का मनन करने की। भारत गांवों का देश है। यहां के ग्रामीण (९० प्रतिशत जनता) मोटा अन्न व मोटा वस्त्र भी ठीक ठीक नहीं पाते। दिन-रात कठिन श्रम करने पर भी उन्हें पूरा भोजन नहीं मिलता। उनका जीवन सचमुच तपस्या का है, उस तपस्या का है जिसका उचित पुरस्कार उन्हें नहीं मिलता। इतना कठिन श्रम करने पर भी भारत के ग्रामीण खान-पान, रहन-सहन में जंगली ही हैं। ग्रामीणों के लिए यह दुखीवाला जंगली जीवन कोई कष्टकर अनुष्ठान नहीं होगा। भारत की शेष १० प्रति शत जनता जो सभ्य शिक्षित कहलाती है, भारत के भाग्य की बनानेवाली है। इसी शिक्षित जनता के एक भागने जयचन्द व मीरजाफर बनकर भारत को अधोगति के गड्ढे में ढकेला था। इसी ने मुंशी, जमीदार, वकील, बाबू, ठेकेदार आदि बनकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरशाही का शासनचक्र चलाया था और इसी के एक भागने सन १८५७ में दासता से छुटकारे का उपक्रम किया था। जनता के इसी भागने अर्ध शताब्दि से पूर्ण स्वराज्य की घोषणा कर रखी है। वास्तव में भारत को स्वतन्त्र व परतन्त्र बनानेवाला यह शिक्षित सभ्य भाग ही है। शेष ९० प्रतिशत तो पीछे चलनेवाले हैं।

ग्रामीणों की चिन्ता निर्वाह ही है, जिसके लिए वे दिनरात अथक परिश्रम कर रहे हैं, किन्तु उनके हृदय के कोने में एक छिपी हुई इच्छा धनसम्पन्न जीवन के लिए भी है, जो सभ्य शिक्षित नागरिकों के प्रभुतामय ऐश्वर्ययुक्त ठाठके जीवन को देखकर उत्पन्न हुई है। इस प्रकार के जीवनसुख की आंशिक प्राप्ति की आशा ही ग्रामिणों को सर्वस्व-त्याग-आंदोलन से दूर रखती है। यदि उन्हें विश्वास हो जावे, कि सभ्य शिक्षित नागरिकोंने सुकुमारता ऐश्वर्य आदि को त्याग कर एकदम संन्यासी विहंगम जीवन धारण कर लिया है, अब उस नागरिक घरेलू सम्पत्ति को बहिष्कृत करके नष्ट कर दिया गया है, जिसकी प्राप्ति की इच्छा रंक-रोदन में छिपी हुई थी, तब वे समस्त ग्रामीण अपने हृदयकी इच्छित वस्तुओं की प्रलय जानकर एकदम दरिद्र जीवन को छोडकर जंगली विहंगम-जीवन अपना लेंगे। यदि उनका नेतृत्व करनेवाला सभ्य शिक्षित समुदाय विचारों में महान् और रहन-सहन में जंगली बन उन में दूध-पानी की तरह मिल जावे।

किन्तु वे १० प्रति शत सभ्य?

क्या वे इस जंगली विहंगम-जीवन को स्वीकार करेंगे? जब जनता के इसी सभ्य शिक्षित भागने देश को गुलाम बनाया है, तो उस समय भी इसीका एक

बडा समुदाय शत्रु के उस नये शासनचक्र को चलाने के लिए मुंशी, बाबू, वकील, हाकिम, ठेकेदार, जमींदार व सिपाही बन कर आत्मसमर्पण कर देगा। वह भारत गारत होने की बात को हेय मान कर अपने व्यक्तिगत घृणित स्वार्थ को लक्ष्य में रख के प्रतिष्ठा व ऐश्वर्य के लोभ से उस अवसर का पूरा लाभ उठावेगा। सभी देशों के ऐश्वर्य व प्रतिष्ठा-लोलुप सभ्य सज्जनों ने ऐसा किया है। शिक्षित सभ्य समुदाय का यह अनुदार स्वार्थी भाग खतरे की वस्तु है। इसी शिक्षित दल का बचा हुआ तीसरा भाग सदासे तटस्थ रहा है। वह "कोऊ नृप होऊ हमें का हानि। चेरी छांडि न होवऊं रानि" का उपासक बन अपनी दुनिया चलाने के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता। यह दल भी पीछे चलाये जानेवाला प्राणीसमूह ही है। जो दल क्रान्ति का मस्तिष्क रखता है, जिसे प्रगति, विकास, सामूहिक सम्मान प्यारा है, वह सदा नेतृत्व किया करता है और क्रान्ति के लिए कटकट कर मरने से भी नहीं डरता। शिक्षित समुदाय के इसी क्रान्तिकारी दल ने ५० वर्षों से पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर रखी है। शिक्षित समुदाय का यह क्रान्तिकारी दल सहिष्णु बनकर सब कष्ट और तपस्याओं का व्यसनी बन सकता है। यह ग्रामीणों को विहंगम जंगली बना कर उन में दूधपानी के समान मिल कर मर मिटने तक को सदा तैयार हो सकता है। देश की बागडोर को संभालनेवाला यह कांग्रेसदल ही अहिंसायुद्ध में जापान से मोरचा ले सकता है। शेष नागरिक व ग्रामीण जनता तो इसके पीछे चलनेवाला समूहमात्र है।

तब यह क्या करें ?

क्रान्तिकारी दल अपनी शक्ति को अनेक दलों में बाट दे। कुछ दल ग्रामीणों का नेतृत्व करें, वे स्वयं ग्रामीणोंमें मिल कर विचारों में सभ्य रहते हुए रहन-सहन में जंगली बन कर टुकडियों में बंट जावें। दूसरा दल नागरिको (१० प्रतिशत शिक्षित सभ्यों) को नगरों से हटाकर खुले मैदानों में बांट दे। तीसरा दल नगर तथा गांवों की तमाम खाद्यसामग्री को बांट देवे +।

चौथा दल ऐश्वर्यलोलुप स्वार्थी लोगोंपर निगाह रखे। उन्हें ऐसी टुकडियों में विभक्त करे, जिससे वे शत्रु से मिलकर देशद्रोह न कर सकें। आवश्यकता पडने पर इस दल को देशद्रोही लोगों के साथ सत्याग्रह भी करना पडेगा। साहसी, सभाचतुर, तेजस्वी पुरुषों का पांचवा दल शत्रु के सैनिकों से सम्पर्क उत्पन्न करे। शत्रुओं को सद्व्यवहार व प्रेम से अपनी कुटियों पर लाकर उनका आतिथ्य करे। अपने व्यवहार, विचारविनिमय से शत्रु के प्रतिपक्षी को विश्वास दिला दे कि "भारतवासी" व "जापानी" के भेदभावको न मानकर केवल "सब मनुष्य भाई हैं" इसी भाव को काम में लावे। ऐसा करने से शत्रु के सैनिक अपनी युद्धपिपासा में ढीले पड जावेंगे, क्योंकि निम्न बातें उन्हें युद्ध से विन्मुख कर देंगी-

(क) सारे देश में मानव-शिकार का मोरचा न मिलना।

(ख) यत्र तत्र नरहत्याओं का घृणित वधिक व्यापार।

(ग) हत्याकारी सैनिकों के साथ भारतियों का संमान व प्रेमपूर्वक व्यवहार।

(घ) हत्याकारी सैनिकों को भारतियों की परिछिन्न कुटियों पर प्रेमपूर्वक आतिथ्य व सुखदायी आश्रय।

अहिंसायुद्ध के इस अजेय मोरचे को देखकर जापानके सेनानायकों की प्रार्थना होंगी "हमें स्वदेश लौट जाने में सहायता दीजिये" और सैनिकों की मांग होंगी "हमें भारत में ही बस जाने दीजिये।" भ्रान्त कल्पना में यह अहिंसायुद्ध कष्ट कर प्रतीत हो सकता है, किन्तु गोलियों के युद्ध में हाथ पैर कटा कर तडप तडप कर मरने की अपेक्षा जंगलीपन की अवस्था में बदलनेवाला यह युद्ध सचमुच स्वर्गीय सुख ही होगा।

+ ये परिछिन्न टुकडियां विखरी पद्धति से निर्वाहमात्र अल्पोचित अन्न भी उत्पन्न करती रहें।

पूंजीपतियों का भी सचमुच इसी अहिंसायुद्ध से कल्याण हो सकता है। हिंसायुद्ध में उनके कल कारखाने वायुयानों के बमों का आहार बनेंगे। बम्बई, कलकत्ता प्रभृति नगरों की जितनी अट्टालिकाएं नष्ट की जावेंगी, अहिंसायुद्ध में शायद उसकी शतांश भी नष्ट न होंगी। पराजय होनेपर पूंजीपतियों का व्यापार जापानियों के हाथ में चला जावेगा। पूंजीपति न तो जापान से गुप्तसंधि करके देशद्रोही बनकर ही अपना व्यापार व पूंजी बचा सकेंगे और न हिंसायुद्ध करके ही किन्तु अहिंसायुद्ध में उनके कल कारखाने ज्यों के त्यों सुरक्षित रहेंगे। अहिंसायुद्ध के बाद इस "जंगलनिवास" से लौटकर वे पुनः अपने पुतली घरों को चालू कर सकेंगे।

औचित्य को छोडकर यदि केवल परिस्थिति, हिंसा-युद्ध-शक्ति व साधनों को लक्ष्य में रखकर विचार किया जाय, तो भारतवर्ष के लिए अहिंसामय मार्ग यही है कि वह अपनी जनसंख्या को अपने क्षेत्र में व्यापक वितरित करके आधुनिक युग के चमत्कारपूर्ण हिंसामय वैज्ञानिक युद्ध का सामना करे और विजयी हो।

महामुद्रा और उसका लाभ।

(लेखक- सञ्चालक- श्रीरामतीर्थ योगाश्रम, बम्बई ४.)

प्रथम योगाभ्यास करनेवाले साधकोंको नव प्रकार के विघ्नोंका समझना अति आवश्यक है। जैसे परदेश-गमन करनेकी तीव्र इच्छा रखनेवाला पथिक उस देशसे सम्बंध रखनेयोग्य मुख्य शहर, रास्ता, वास करनेयोग्य मकान इत्यादि समझनेकी कोशिस करता है, उसी तरह प्रत्याहारमें रहते हुए मुद्राएँ, षट्चक्रभेदन आदिका अभ्यास कर लेना चाहिये। अचानक दुःख देकर योगाभ्यासमें हटा देनेवाले नव प्रकारके विघ्नोंका यथा-योग्य स्पष्टीकरण निम्नलिखित है—

व्याधिस्त्यानसंशय प्रमादा-
ऽऽलस्याऽविरतिभ्रांतिप्रदर्शना-
लब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि
चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥
(योगद० समाधिपद सू० ३०)

अर्थात्—

(१) वात, पित्त, कफके विकारसे रोगोंकी उत्पत्ति होती है। जैसे समशीतोष्णके अभाव से सप्त धातुमें उत्पन्न होनेवाला रोग, चक्षुओंके रोग एवं स्थूल शरीरसे सम्बंध रखनेवाले सर्व प्रकारके रोगोंका नाम 'व्याधि' है।

(२) 'स्त्यान' यानि चित्तके कर्मका अभाव (इच्छा तथा शक्ति होनेपर भी कर्तव्य न करना) और चित्त में स्थिरताके अभाव का नाम स्त्यान है।

(३) मुझसे योगाभ्यास होगा या नहीं? कहांतक और किस रीतिसे योगाभ्यास संपूर्ण होगा? इस प्रकारके अनेक विचारों का नाम 'संशय' है।

(४) अंतरंग साधनोंमें मन का न लगना। अतएव आज अधिक काम है, कल करेंगे, क्योंकि आज आफिस, दुकान, खेत अथवा नौकरी पर जाने के लिये देरी होती है, शामको करेंगे। इत्यादिका नाम 'आलस्य' है।

(५) ध्यान, धारणा और सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि में अत्यंत प्रेमसे मनका न लगना 'प्रमाद' कहाता है।

(६) विषय और इंद्रियोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली तृष्णा की अधिकतासे मन्द वैराग्य होकर हृदयमें रागका उत्पन्न होगा 'अविरति' है।

(७) अन्य वस्तुओंमें अन्य प्रकार का ज्ञान, ब्रह्मज्ञान (आत्मज्ञान) की उपलब्धि करानेवाला श्रेष्ठ योग-साधन प्रत्यक्ष होनेपर भी उसे संशयात्मक दृष्टि होना 'भ्रांति' कहाती है।

(८) किसी भी प्रतिबंधसे चित्तकी वृत्तियां स्थिर हो जाना। आगे उपलब्ध होनेवाली मधुमति आदि योग-भूमिकाका न मिलना 'अलब्ध भूमिका' है।

(९) योगभूमिका अथवा योग का लाभ यत्किंचित् प्राप्त होनेपर भी चित्तवृत्तियोंका उसमें स्थिर नहीं रहना 'अनवस्थितत्व' कहाती है। अर्थात् प्रत्याहारके अभ्यास कालमें प्राप्त होनेवाले यत्किंचित् लाभ को ही महान् समझ कर पूर्ण रूपसे प्रयत्न नहीं करना। यह नव प्रकारके विघ्न ब्रह्मजिज्ञासु साधकोंके महान् रिपु समान हैं, अतः एव इनसे सावधान रहना चाहिये। जितने महान् कार्य करनेवाले पुरुष होते हैं, वे अपनी दृष्टिबिंदुको नियत स्थलमें रखकर ही आगेको बढते हैं। उनको कितनी भी आपत्ति क्यों न आ जाय वे घबडाते नहीं।

अष्टांगयोगके सतत अभ्याससे शारीरिक तथा मानसिक उन्नति होकर क्रमसे पंच क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) नष्ट होते हैं। पंच क्लेशोंके नाश हो जानेसे वासनाक्षय, मनोनाश और आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है।

योगाभ्यासी पुरुष योगाभ्यास के पूर्व नीचे लिखा हुए श्लोकको कहने से अंतःकरण-पवित्र हो जायगा।

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे। योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥
(अथर्व० कां० १९ सू० ८ मं० २)

अर्थात् हे षडैश्वर्यसंपन्न मंगलमय परमेश्वर ! आपकी कृपासे मुझको उपासनायोग प्राप्त हो और उससे मुझको सुख भी प्राप्त हो । इसी प्रकार आपकी सदाकी कृपासे पंच कर्मेंद्रियाँ, पंच ज्ञानेंद्रियाँ एवं दश इंद्रिय, प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान, नाग, कूर्म कृकल, देवदत्त, धनंजय एवं पांच प्राण तथा पांच उपप्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल- ये कुल अट्ठाइस सर्व प्रकार के कल्याणोंमें उद्युक्त-प्रवृत्त होकर उपासनायोगको हमेशा प्रेमपूर्वक सेवन करें । तथा हम भी उस योगके द्वारा रक्षाको और रक्षासे योगको प्राप्त हुआ चाहते हैं । इस लिये हम लोग रात-दिन आपको नमस्कार करते हैं ।

श्रेष्ठ प्रकारका प्राणायाम अथवा मुद्रा ।
महामुद्रा करनेकी पद्धति ।

प्रथम बायें पैरकी एड़ी सीवन (गुदा तथा अण्डकोष के मध्यमें जो स्थान है, उस स्थान) में लगाकर दाहिना पैर लम्बा कर दे और दोनों हाथोंके पंजा, एकके उपर दूसरा, घुटने के ऊपर (दाहिना पैरके घुटने के ऊपर) रखके दोनों नथनोंसे पांच बार श्वास फेफडेमें भरें और छोडें, अर्थात् पांच घर्षण करें । फिर बायीं नासिकासे पूरक (फेफडे में श्वासको भरना) करे। कुम्भक के समय लगाये हुए पैरके अंगुठे को दोनों हाथोंसे पकडे रहे और शिरको घटने पर लगा दे । कुम्भकके समय में मनमें यह तीव्र भावना करे कि 'मेरा शरीरमें अत्यंत बल बढ रहा है, मैं निरोगी हूँ, स्वाधिष्ठा रहती हुई कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर मणिपुर आदि चक्रोंमें प्रवेश कर रही है ।'' यथाशक्ति कुम्भक काके सूर्यनाडीसे (दाहिनी नासिका) शनैः शनैः रेचक करे ! कुम्भकसे आधा समय पूरक में लगना चाहिये । इस प्रकार वामाङ्गमें जितनी मुद्राएँ करने की इच्छा हो इकट्ठी कर ले । फिर दक्षिणाङ्गमें भी उपरोक्त क्रमसे उतनी ही संख्यासे मुद्राएँ करें, जितनी वामांङ्गमें की थीं । यह ध्यान रहे कि जो पैर लम्बा हो, उस बाजु की नासिकासे रेचक करे और जो पैर मोड रखा है, उस बाजुका नासा-रंध्र से पूरक करे । उसी तरह पैर की एडी भी बदलती जाय ।

आठ दिन तक तीन मुद्राएँ करें । आठसे एक महिने तक छः मुद्राएँ करें, एक महिने के नंतर शक्ति के अनुसार ६ से १० तक बढावें ।

समय प्रातः ४ बजेसे ९ बजे तक उत्तम है। आहार सात्विक ग्रहण करे ।

महामुद्रासे निम्नलिखित लाभ हैं ।

गुल्म रोग, भंगदर, पार्श्वशूल, कमर की वेदना, नाडियोंकी शिथिलता, प्रमेह, क्षयरोग और कोढका नाश होता है। मलबद्धता, छातिकी वेदना नाश होती है। फेफडा बलवान् और विशाल बनता है । रक्त शुद्ध, वीर्य घट, तथा मूत्रदोष नाश होता है। निद्रा अच्छी आती है।

मुद्राएँ करनेके नंतर आधा घंटेमें भोजन कर सकते हैं। भोजनके ४ घंटेके पश्चात् मुद्राएँ हो सकती है ।

१० बरस उमरसे १०० बरस उमर तकका पुरुष कर सकते हैं। स्त्रीएँ भी कर सकती हैं, परंतु मासिक धर्मके पांच दिनों में तथा गर्भवती स्त्रीएँ इस मुद्राको न करें ।

आर्यों का दक्षिण दिग्विजय !

निजाम हैदराबाद में अपने धार्मिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए जो आर्यसमाजी तथा हिंदू अपनी सत्यनिष्ठा और अहिंसाद्वारा सत्याग्रह से अपने विजय का प्रयत्न कर रहे हैं, वह आर्यों का धार्मिक क्षेत्र में दक्षिण दिग्विजय ही है। दक्षिण भारत में अन्धविश्वास, छूतछात, सुदृढ जाति नियम आदि की अधिकता के कारण आर्यसमाज के उदार मत का प्रवेश होना वहां अत्यन्त कठिन था। कितने भी प्रचारकों का उपदेश होता, तो भी एक इंच भी आगे पांव बढाना आर्यों के लिए ३० वर्ष पूर्व असंभवसा था।

वैसा तो निजाम हैदराबाद में आर्यसमाज ४० वर्षों से कार्य कर रहा है। कई वार विविध शास्त्रार्थ भी हुए, पर आर्यों के विषय में बडा आदर वहां सुस्थिर नहीं हुआ था। इतने समय में इस वर्ष ऐसा सुयोग परमेश्वर की कृपा से आया कि जिससे जिस भूमि में आर्यों के लिए सन्मान का स्थान नहीं था, वहीं आर्योंका दिग्विजय होकर उनका संमान होने का सुअवसर आ गया !

इस सत्याग्रह के आंदोलन में आर्यसमाजी, हिंदुमहासभावाले, वर्णाश्रमस्वराज्यसंघवाले और हिंदुत्वनिष्ठ लोग अपना अपना कार्य कर रहे हैं। गत पांच छः महिनों के आंदोलन से यह वात स्पष्ट हुई कि आर्यसमाजी संगठनने जैसा जोर लगाया है, वैसा अन्य पक्षवाले अपना जोर नहीं लगा सके। इस समय तक आर्यसमाज ने संपूर्ण भारतवर्षीय आर्यजगत् से करीव ८००० आठ सहस्र आर्य वीर निजाम हैदराबाद के सरकार के अतिथि वना दिए हैं !!! शेष सब दल मिलकर दोतीन हजार हि सत्याग्रह में भाग ले सके हैं। इस संग्राम में आर्यसमाजियों ने अपना संगठन विशेषहि प्रभावशाली है, ऐसा सिद्ध किया है। इसीलिए सब दाक्षिणी पत्रों में और सभाओं में मुक्त कण्ठ से आर्यसमाज की दिनरात प्रशंसा हो रही है, जैसी पहिले कभी नहीं होती थी।

अगले महीने में आर्यसमाज की ओरसे और ५।६ हजार सत्याग्रही हैदराबाद में धर्म का ध्वज लेकर जाने के लिए स्थान स्थान से आ रहे हैं, अर्थात् अगले महिने में आर्यसमाज के वीर करीब करीब १२।१३ हजार हो जांयगे और शेष दलों के कुछ थोडे से ही बढेंगे।

आर्यसमाज का त्याग, संगठन, धर्म के कार्य के लिए कुर्बानी करनें की आतुरता और दृढ निश्चय इन सबका सुपरिणाम दक्षिण भारतपर इस धर्मयुद्ध के कारण हुआ है और इसीलिए हम समझते हैं कि यह आर्यों का दक्षिण-दिग्विजय ही है।

इस धर्मयुद्ध में संमिलित सभी पक्ष निजामसरकार के राजकीय अधिकारों को छीनना नहीं चाहते हैं, ना ही यह युद्ध मुसलमान जाति के विरुद्ध है। यह युद्ध तो प्रजाको पूर्ण स्वराज्य–जिम्मेवार शासन–प्राप्त करने के लिए हो रहा है। प्रजा के धर्मस्वातंत्र्य के अधिकार प्रजाके हाथ में सुरक्षित रखने के लिए ही यह धर्मयुद्ध हो रहा है। निजामराज्य में यहां तक नृशंसिता है कि आर्यों को हवनकुण्ड स्थापन करने का भी अधिकार नहीं और हिंदुओं को मन्दिर बनवाने का भी अधिकार नहीं है। इससे पता लग सकता है कि कहां तक मानवी अधिकारों का संकोच निजामराज्य में हुआ है! इन मानवी अधिकारों की सुरक्षा के लिए हि यह सत्याग्रह युद्ध किया जा रहा है, जिसमें आर्यसमाज ही बलवान् सिद्ध हुआ है।

आर्यसमाज ने संपूर्ण भारतवर्ष के कोने कोनेसे आर्यसमाजियों के जत्थे लाने के कारण तो आर्यों की पुनः संघटना हुई है, वह भी आर्यों का बल बढावेगी और नया धैर्य उनमें निःसंदेह पैदा करेगी। इससे दूसरा यह लाभ हुआ है कि तमाम भारतवर्ष का लक्ष्य इस निजामराज्य के अत्याचारों की ओर आकर्षित हुआ है। इस

आन्दोलन में आर्यसमाजी न होते, तो हैदराबाद सत्याग्रह का इतना जोर न होता ।

हिंदुओं का संगठन परिणामकारक न होने का एक कारण यह भी है कि निजामराज्य में मराठी-कानडी और तेलुगु लोगों की त्रिविध जनता है। इनकी भाषा विभिन्न होने के कारण एक का दूसरेसे मेल भी नहीं है। मराठी और कानडी भाषा भाषियों का विद्वेष मराठी साम्राज्य के समय से चला आता है और जिस कारण कानडी प्रान्तमें मराठी वक्ता मूह खोल भी नहीं सकता, यह आजकी बडी भारी विकट समस्या है। आज भी मराठी-कानडीवाद यहां तक बढ गया है कि दोनों भाषाओं के वक्ता एक स्थानपर आकर वक्तृत्व कर नहीं सकते !!!

तेलुगु लोगोंका मराठी-कानडीवालोंसे ऐसा द्वेष नहीं है, पर उनका अलग ही जमाव सदासे रहता आया है। इन तीनोंका आपस में मेल गत ३०० वर्षों में कभी नहीं हुआ। इस आपस की फूट में हि निजामराज्य का बल है और इसी कारण इस समय तक केवल हिंदुओं से निजामराज्य में संघटित कार्य नहीं हो सका । निजाम हैदराबाद में ऐसी एक भी संस्था नहीं है कि जिसमें इन तीनों भाषाओं के सदस्य हों और इन तीनोंका सहकार्य प्रेम के साथ चलता हो । निजामराज्य की प्रजा इन तीन भाषाओं में बट जाने के कारण प्रजाकी सङ्गठना नहीं हो सकती। निजामराज्य के अत्याचार का मुख्य कारण यह है ।

ऐसी स्थिति में हैदराबाद में आर्यसमाज बढने लगा। इस समाज की मुख्य भाषा आर्यभाषा (हिंदी) है, इसलिये यह समाज उक्त तीनोंको संघटित करने की शक्ति रख सकता है । इसका कार्य मराठी-कानडी और तेलुगु भाषाओं में चलने के साथ मुख्य रूपसे आर्य भाषा में हि चलता है, जो एकता को संवर्धित करनेवाला सिद्ध हुआ है। इस तरह हैदराबाद में जो बात गत ३०० वर्षों में न हो सकी थी, वह गत ३० वर्षों में आर्य-समाजद्वारा होने लगी।

हिंदुओं से आर्यसमाज में विशेषता इस बातकी है कि इस समाज में जाति मानते नहीं, इस कारण जो इस समाज का सभासद होता है, वह समान अधिकार प्राप्त होने का अनुभव करता है । हिंदुसभा का ब्राह्मण और धेड सभासद हुआ तो धेड को कभी ब्राह्मण के बराबरी के अधिकार मिलना संभव ही नहीं है। वर्णाश्रमस्वराज्य-संघ के तो धेड सभासद भी नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में वहां संगठना का बल कहां प्राप्त हो सकता है ?

निजामराज्य के सामान्य लोग तो एक प्रकार से मुसलमानी राज्यप्रबंध से दबे हुए हि थे और दूसरी प्रकार से उच्चनीच वर्णत्व की हिंदुव्यवस्था के कारण दलित हुए थे । इन नीच वर्णियों को आर्य-समाज ने आकर बडी आजादी दी, बडी स्वतंत्रता प्रदान की, उनकी दलितता नष्ट करके उन को उच्च वायुमण्डल में आकर सुख से विचरने के लिये अवसर दिया !! इस कारण सब दलित जातियोंका उद्धार करने का श्रेय आर्य-समाज को है, इसमें संदेह नहीं है ।

निजाम हैदराबाद में गत ३०।४० वर्षों में कई स्थानों पर आर्यसमाज स्थापित हुए और निजामी राज्यके कुप्रबंध के होने पर भी और वहां आजादी न होने पर भी जनता का मन आर्यसमाज की ओर उक्त कारण आकर्षित हुआ। विशेषतः हीन जाति की हिंदुजनता आर्यसमाज को अपना उद्धारक मानने लगी और प्रेमसे उसके सदस्य बनने में आत्मगौरव मानने लगी।

धेडचभार भी जो हिंदु होता हुआ, अपने आपको हीन, दीन और दलित मानता था, वही आर्यसमाज में प्रविष्ट होते ही और सत्यार्थप्रकाश थोडासा पढतेही, जन्मजात ब्राह्मण की बराबरी करने लगता है। इसका प्रभाव अंग्रेजी हिंदुस्थान के लोग उतना नहीं जान सकते, जितना कि निजामराज्य के दोनों ओरसे दबे हीन जाति के लोग जान सकते हैं ।

इस तरह की संगठना से आर्यसमाजने जो दलित जातिको उठाने में हैदराबाद में गत ३० वर्षों में कार्य किया, वह एक अपूर्व कार्य था और इससे इसका प्रभाव वहां दिनोंदिन अधिकाधिक ही बढने लगा।

आर्यसमाज का प्रभाव निजामराज्य में यहांतक बढ गया कि निजामराज्य को भी इसका विचार करना

पडा । इसीका परिणाम आर्यों को दबाने में हुआ । गत वर्ष वहां मुसलमानोंने आर्यों को पीटकर दबाने का भी बडा भारी यत्न किया, परन्तु उसमें भी आर्यों का विजय ही हुआ और उससे आर्यों का उत्साह अधिक ही बढ गया । और यह सिद्ध हुआ कि आर्यसमाजी सहज ही से दबनेवाले नहीं हैं । इस कारण दमन बढता गया और चारों ओर से आर्यसमाज की प्रगति को रोकने के लिए निजामराज्य कटिबद्ध हुआ ।

निजाम हैदराबाद में दो प्रकार के मुसलमान हैं, एक का नाम है मुल्की मुसलमान और दूसरों को कहते हैं गैरमुल्की ! मुल्की हैदराबाद के स्थानिक मुसलमान हैं और गैरमुल्की अलीगड आदि स्थानों के कट्टर मुसलमान हैं । मुल्की मुसलमान हिंदुओं के साथ समान भूमिकापर रहने को सदा तैयार रहते हैं, पर ये अलीगड के गैर मुल्की मुसलमान हिंदुओं के साथ कभी मेलजोल करने को तैयार नहीं होते । वे अपने आपको राजसत्ता के अंश मानते और औरों को दबाते हैं। इन दबनेवालों में हिंदुओं के साथ मुल्की मुसलमीन भी हैं ।

इन गैरमुल्की अलिगडीय मुसलमानों से मुल्की मुसलमान उक्त कारण संतुष्ट नहीं हैं, क्योंकि बडे अधिकारोंपर वे ही होते हैं और मुल्की चारों ओर से दबाए जाते हैं । इसलिए यदि कांग्रेस का सत्याग्रह स्वराज्यस्थापना के लिए चल रहा होता, तो उसमें मुल्की मुसलमान भी शरीक हो जाते । पर कांग्रेस ने सत्याग्रह बंद किया और इससे यह यश परमेश्वर ने आर्यसमाज को अर्पण किया ।

मुल्की मुसलमान आर्यसमाज और हिंदूसभा के सत्याग्रह में इसलिए संमिलित नहीं होते कि यह सत्याग्रह धर्म के अधिकारों की सुरक्षा के लिए चल रहा है । अतः यह झगडा हैदराबाद के अलिगडीय मुसलमानों के साथ आर्यों और हिंदुओं का है । और आर्यों का बल दक्षिण में बढने का कारण भी दलित जातियों को आर्यसमाज से प्राप्त होनेवाली विशेष आजादीहि है । आर्यसमाज में आनेवाला खुले वायुमण्डल में आनेका आनन्द प्राप्त करता है, यह आजादी निजाम हैदराबाद की तथा दाक्षिणात्य जनता को किसी अन्य संगठन से प्राप्त नहीं है ।

हिंदुओंका बल कम होनेके कारण कुछ अन्य भी हैं। जैसा इन में श्री शंकराचार्य (बद्रिनाथ) जैसे धर्मपीठके अधीश तथा सर राजा किशनप्रसाद जैसे राजा भी निजाम सरकार की खुशामद तथा हिंदुओंको हताश करने के लिये तैयार हैं !!!

बद्रिनाथ के शंकराचार्य तो वास्तव में सच्चे शंकराचार्य ही नहीं हैं, क्योंकि वहां कोई शंकराचार्य का पीठ ही नहीं है । पर पहिले हजारों साधु सत्याग्रह के लिये लानेका डंका बजा कर ये शंकराचार्य नामधारी महाशय निजाम सरकार के ही अतिथि बनकर हिंदुओं को सत्याग्रह से पीछे हटा रहे हैं । सर राजा किशन प्रसादजी का असत्य वक्तव्य तो सुप्रसिद्ध ही है । ऐसे लोग जिस समाज में होंगे, उनका बल किस तरह बढेगा ? तथापि बै० सावरकर जी हिंदुसभा का संगठन बढाकर भरसक यत्न कर रहे हैं कि हिंदुओं का बल बढे । हम भी ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि हिंदू संगठित हों । यदि ३० करोड हिंदु संगठित हो जायंगे, तो भारत के भविष्य के सब प्रश्न शीघ्रही हल हो सकते हैं ।

जब हिंदु संघटित हो जायंगे, तब उन के सत्याग्रही वीर संख्या में अधिक आकर हैदराबाद के जेलों में भरेंगे। वह कब होगा पता नहीं । आज आर्यसमाज ही दक्षिण का दिग्विजय करेगा । अखिल भारतीय आर्य इस कार्य के लिये संघटित हुए हैं और उन सबने एक मतसे अपने ओंकार की ध्वजा के संमान के लिये अपने आपको कुर्बान करने का सुदृढ निश्चय किया है । इस कारण इस धर्मयुद्ध में आर्यसमाज काही विजय होगा, इस विषय में हमें कोई संदेह नहीं है ।

सत्य अहिंसासे

भारतीय स्वतन्त्रताकी रूपरेखा।

[लेखांक ३ +]

(लेखक— श्री०पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ, विजनौर, यू० पी०)

मनुष्यों से ही समाज तथा देश बनते हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य भोग की उपेक्षा करके अपना अपना कर्तव्य पालने लगे, तो वह देश या समाज एक क्षण में स्वतन्त्र हो जाय। जो कोई परतन्त्र देश इस मार्ग को अपना लेगा उसका स्वतन्त्र बनना असम्भव नहीं रहेगा। इस मार्ग को अपनाते ही उस देशवासियों में एक ऐसी विचित्र चेतना उत्पन्न होगी कि फिर कोई भी भौतिक शक्ति उस देशको अपने अधिकार में नहीं रख सकेगी।

सत्य-अहिंसासे स्वराज्य-प्राप्ति का मार्ग।

आज स्वराज्य प्राप्त करना हम भारतवासियों का स्वधर्म हो गया है, इसलिए हमें देखना चाहिए कि हमारे इस स्वधर्म के मार्ग में क्या रुकावट है? हमें उस रुकावट को पहचानकर हटाना चाहिए। इस रुकावट को प्रत्येक संभव उपाय से हटाना भारत की अहिंसा है। अहिंसा में उपाय का कोई बन्धन नहीं है। रुकावट अवश्य हटानी चाहिए, इतना ही अहिंसा का रूप है। रुकावट हटाने का दृढ निश्चय कर लेनाही अहिंसा है। इस निश्चय के पश्चात उपाय की ढूंढ पडती है। उपाय कौनसा उचित है, यह बाह्य परिस्थितिपर निर्भर रहती है। उपाय में हिंसा-अहिंसा नहीं है। निश्चय में हिंसा और अनिश्चय में अहिंसा है। रुकावट हटाने का दृढनिश्चय करनेवाले लोग जब जिस उपाय से अपने अधिकार की रुकावटको हटाना उचित समझते हैं, वही अहिंसा होती है। जब शत्रुका प्राणवध करके अधिकार की रुकावटको हटाना पडता है, तब वही अहिंसा होती है और जब शत्रुपर वार करना कार्य-नाशक होनेसे केवल पागलपन हो जाता है, उस समय शस्त्रप्रयोगका विचार छोडकर दूसरे बौद्धिक उपायों से शत्रु का नाश करना कर्तव्य हो जाता है। उस समय शस्त्रप्रयोग न करनाही अहिंसा तथा शस्त्रप्रयोग करना हिंसा अर्थात् स्वकार्य-विनाश बन जाता है।

भारत के स्वराज्य प्राप्त करने के कर्तव्य में अंग्रेजी सरकार बाधक हो रही है। इसे हटाना आज भारत का कर्तव्य हो गया है। अब भारत के सामने उपाय की यह समस्या है कि अंग्रेजी सरकाररूपी रुकावट को किस उपाय से हटाया जाय? भिन्नभिन्न प्रवृत्तियोंवाले मनुष्य इसके भिन्नभिन्न उपाय बताते हैं, परन्तु भारत ने इस रुकावट को हटाने के लिए सत्य तथा अहिंसा को अपना हथियार घोषित किया है। इस घोषणा का सार यही है कि भारत ने मनोबल से स्वराज्य लेने का निश्चय ठाना है।

जो जिसका अधिकार है,वही उसके लिए सत्य है। भारतपर भारतवासियों का ही अधिकार है। इस अधिकार में बाधा डालनेवाली अंग्रेजी सर-काररूपी रुकावट को हटाना ही भारत का सत्य है। इस अधिकार की रक्षा में भारत का संपूर्ण मानसिक बल लग जाना चाहिए। यही भारत

+ द्वितीय लेख 'वैदिक धर्म' क्रमांक २३२, पृ० ३२० पर देखो।

की सत्य अवस्था है। भारत ने इसी ईश्वरीय सत्य अवस्था के बलपर स्वराज्य लेने का निश्चय किया है।

अहिंसात्मक दूसरे उपायपर कई प्रकार के विचार प्रचलित हैं। कोई हथियारों के स्पर्श को पाप समझते हैं और अहिंसा तथा हथियारों का जन्मवैर मानते हैं। परन्तु हमारा विश्वास है कि भारत ने हथियार छूना पाप समझकर अहिंसा-धर्म स्वीकार नहीं किया। भारत ने हथियारों का स्पर्श पाप नहीं माना। भारत जब जहां आवश्यक होगा तब हथियार पकडने का संकल्प रखता है। अहिंसा तथा हथियारों का जन्मवैर नहीं है। अहिंसा हथियारों से नहीं डरती। हथियार चलाने वाले भी अहिंसक हो सकते हैं। अहिंसाकी रक्षा के लिए भी हथियार चलाए जा सकते हैं। अहिंसक रहता हुआ भी मनुष्य शस्त्रयुद्ध अथवा शत्रुवध कर सकता है। शत्रुवध करनेवाले सबके सब हिंसक नहीं होते। कर्तव्य की दृष्टि से शत्रुवध करनेवालों को अहिंसक श्रेणी से हटाया नहीं जा सकता।

हिंसा का विरोध करने के लिए ईश्वरने जितने हथियार दिये हों उन सबका उपयोग करना अहिंसा है। उन सबको काम में न लाना अपनी हिंसा है। किसी को कभी न मारना अहिंसा की परिभाषा नहीं है। कभी किसी को मारना भी कर्तव्य हो जाता है। उस समय मारने को तो अहिंसा कहा जाता है और न मारने को अपनी हिंसा अर्थात् अपना पातित्य या दबजाना कहा जाता है।

अंग्रेजी सरकार बडी चौकस है। वह डेढ सौ साल से भारत को शस्त्रहीन बना रही है। भारत इतना शस्त्रहीन हो चुका है कि शस्त्रयुद्ध करना मूढता करना हो गया है। भारत का वर्तमान में शस्त्रयुद्ध का मार्ग रोककर ईश्वरने भारत की कोई हानि नहीं की है। इससे भारत की मानसिक चेतनाको संसारके सामने आनेका अवसर दिया है। ईश्वर मनोबल से स्वराज्य लेने की प्रदर्शनी भारतमें करना चाहता है। इसलिए अब भारतको अपना ज्ञानखड्ग पकडकर शत्रुपर चलाना चाहिये। अब भारत को अंग्रेजी सरकारपर शस्त्र न चला कर इसे बौद्धक समयोचित उपायों से नष्ट करने के लिए प्रयत्न में लग जाना चाहिए। आज यही भारत के अहिंसा-धर्मका बाह्य रूप बन गया है।

यद्यपि संसार में सदासे शत्रुओंपर हथियारों से वार करके वीरता दिखाने का मार्ग स्वीकार कर रखा है, परन्तु इस उपाय से अंग्रेजी सरकार का भारत से हटाना अशक्य बन चुका है। शत्रु जिस हथियार से नष्ट हो सकता हो, उसपर वही हथियार चलाना चाहिए। भारत के चौकस शत्रुने देश के हथियार चलाने का अवसर खो दिया है। उसने देश को प्लेटफार्मों सभासमितियों तथा सदस्यसंख्या से रजिस्टरों को भरनेवाली बेकार पंगु लडाई लडना सिखा दिया है। भारत को चाहिए कि वह अंग्रेजी सरकार के दिए हुए लडाई के इस प्लेटफार्मवाले मैदान से हट जाय और अपने ढंग का नया मोरचा लगाये। अर्थात् भारत को चाहिए कि वह संगठन सभासमिति आदि से स्वराज्य लेने के धोकेसे बचकर अपने ढंग का हथियार चलाये।

इंगलैंडने भारत को इस योग्य कर रखा है कि जिस दिन भारत सशस्त्र क्रांति करना चाहे, उसी दिन उसे शस्त्रों से भूनकर कुत्ते की मौत मार डाला जाय। भारत से शस्त्रयुद्ध करना इंग्लैंड के लिए बहुत सरल बना लिया गया है। अर्थात् भारत के शरीरबल दिखाने का मार्ग पूरी तरह रोक दिया गया है। ऐसी परिस्थिति में सशस्त्र क्रांति से भारतीय स्वराज्य का सुपना मस्तिष्क का खोखलापन है। परन्तु शरीरबल या शस्त्रबल के अवसर नष्ट हो जाने मात्र से अंग्रेजों को भारत से हटाने के संपूर्ण मार्ग बन्द हो गए हों, ऐसा मानना बडा भारी भ्रम होगा। मानसिक बल

शरीरबल से करोडों गुना अधिक कीमती होता है। शरीर-बल को मनोबल के सामने बुरी तरह अपमानित और कुण्ठित (निकम्मा) किया जा सकता है । किसी भी सरकार का जागे हुए ३५ करोड मनोबल के विरुद्ध डटे रहना असम्भव है। भारत के मनोबल का इंग्लैंड के पास कोई इलाज नहीं है। भारत तो सोने की (अज्ञान की) अवस्था में बांधा गया है । जागे भारतके ऊपर बांधने के लिए पाश फेंकना काले नाग से खेल करना हो जायगा ।

भारत के पास इस सचाई को देखने की आंख होनी चाहिए कि भारत का शत्रु भारत में किस आधार पर ठहरा हुआ है ? आइये भारत के शत्रु के आधार को ढूंढें । भारत के सात लाख गांवों में एक मानसिक निर्बलता फैली हुई है । भारतीय ग्रामों में इस निर्बलता का अखण्ड राज तप रहा है। सारा देश राज्यप्रबन्ध से सर्वथा संबन्धहीन होकर बैठ गया है । वह अपनी पराधीनता को ईश्वरकी देन मान बैठा है। भारतका यह मानसिक रोगही अंग्रेजी सरकार को दूध पिला रहा है। भारत की निर्बलता अंग्रेजी सरकार के खूब काम आ रही है । यही भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की रुकावट बनी हुई है । इस निर्बलता को ही भारत का सच्चा शत्रु पहचानना चाहिए । अंग्रेजों को तो क्षमा की कोटि में रखकर देश को यह देखना चाहिए कि जिस दिन देश की मानसिक निर्बलता हटेगी, उसी दिन अंग्रेजों का बिस्तर लिपट जायगा । यदि भारत में वह मानसिक निर्बलता न आगयी होती तो अंग्रेजी सरकार को भारत में पैर जमाने को अवसर न मिलता। भारतका पहला शत्रु भारतकी मानसिक निर्बलता है। भारतवासियों का अनात्मदर्शी भोगनारायण नास्तिक हो जाना इस निर्बलता का कारण हुआ है। भारत का दूसरा शत्रु अंग्रेजी सरकार है । यह सरकार भारत की निर्बलता से लाभ उठाने के लिए भारत की निर्बलताके ऊपर जमकर बैठ गयी है। देश के इस दूसरे शत्रु को नष्ट करने के लिए भारत को पृथक् मोरचा बनाने की आवश्यकता नहीं पडेगी । भारत से अंग्रेजी सरकार को हटाने का सर्वोत्तम उपाय भारत के गांवों की मानसिक आध्यात्मिक सेवा करना है, जिससे भारत व्यक्तिगत जीवन से बाहर आकर राजसत्तापर अधिकार जमा ले। जबतक भारतके गांवोंकी सच्ची आध्यात्मिक सेवा नहीं की जायगी, जबतक भारत के गांवों में फैली हुई मानसिक निर्बलता को हटाकर भारत को आत्मज्ञानी शूर नहीं बनाया जायगा, तबतक लाखों सभासमितियों, प्रस्तावों, संगठनों तथा करोडों सदस्यों से भी भारत के शत्रु का सिंहासन नहीं डोलेगा । जिस दिन देश में आत्मबोध जाग उठेगा, जिस दिन देश मानसिक निर्बलता त्याग देगा उस दिन भारत देखेगा कि भारत का दूसरा शत्रु अपने साथी के भागते ही भाग गया है। परन्तु शर्त यही है कि भारत के गांवों की सेवा सच्चे सेवकों के हाथों से हो ।

यदि सच्चे सेवकों के हाथों से गांवों की सेवा की जायगी, तो देश में मनुष्यता के नामपर काम करनेवाली शक्तियां जाग उठेंगी, फूलेंगी और फलेंगी । यदि किन्हीं देशसेवकों के मनों में सच्ची सेवा की कोई लगन हो, तो उनके सामने सबसे बडा यह काम है कि वे देश में मनुष्यता के नाम पर काम करनेवाली शक्तियों को जगाएं । आज कल भारत के गांवों की मानसिक अवस्था अत्यंत निकृष्ट हो गयी है । भारत के गांवों में स्वाभिमान या मनुष्यतानाम की कोई चीज काम नहीं कर रही है। गांवों में सर्वत्र स्वार्थ का बोलबाला है । कहीं सामाजिक जीवनका चिन्हतक नहीं है । गांवों में सर्वत्र केवल स्वार्थ के नामपर काम हो रहे हैं। परमार्थ के नामपर काम करनेवाली संस्थायें गांवों से लुप्त हो चुकी हैं । जिन गांवों को स्वराज्य लेना उनमें मनुष्यता के नामपर काम करनेवाला स्वभाव पैदा करना पडेगा ।

भारत की ३५ करोड जनसंख्या में ३१॥।

करोड मनुष्य सात लाख गांवों में बसते हैं। इन सात लाख गांवोंकी स्वतंत्रताही भारत की स्वतन्त्रता है। गांवों में संगठन अर्थात् मानसिक तेज किंवा परमार्थिक जीवन न होने के कारण आज भारत दास बना बैठा है और २०० वर्ष से शहद की मक्खियों के समान दूसरों के लिए कमा रहा है। यदि भारत के गांवों में से दासमनोवृत्ति हटा दी जायगी, तो प्रेम तथा सहयोग उत्पन्न होकर इन सब गांवों का स्वाभाविक संगठन हो जायगा। तब भारत विदेशियों के लिए अपने आपही अनुपयुक्त क्षेत्र बन जायगा। आवश्यकता इस बात की है कि सच्चे देशसेवकों की सावधान आंखें ग्रामवासियों की स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति को हटाने में जुट पडें।

पहले भारत की मनुष्यता खो गयी है, पीछेसे भारत दास बना है। देश में मनुष्यता नाम की शक्ति को फिर स्थापित कर दो, यही देशकी स्वतन्त्रता है। कहा जा चुका है कि देश की भूमि पराधीन नहीं होती। देशवासीका मन ही पराधीन होता है। इसी प्रकार देश की भूमि स्वतन्त्र नहीं होती, देशवासियों का मन ही स्वतन्त्र होता है। इसलिए देशवासियों के मन को स्वतंत्र बनाने में भारत की संपूर्ण शक्ति लग जानी चाहिए। इससे भिन्न दूसरे संगठन, सदस्यसंख्या की वृद्धि या आय बढानेवाले सब उपाय स्वतंत्रता लानेमें वृथा सिद्ध होते हैं। उन्हें उपेक्षित करना चाहिये। उनसे देश को कोई लाभ नहीं होगा। उनसे देश की परतन्त्रता का कारण अपना स्थान नहीं छोडेगा और अंग्रेजी सरकार को ठहरानेवाली भारत की पराधीनता की मनोवृत्ति नष्ट नहीं होगी। भारत का असली शत्रु भारत की पराधीन मनोदशा है।

सशस्त्र क्रांति से हानि।

यद्यपि अंग्रेजी सरकार भारत को पशुशक्ति से सता रही है, इस कारण उसे शस्त्रदंड देना कर्तव्य की दृष्टि से कुछ अनुचित नहीं है। परन्तु आज उसपर हथियार चलाने का अवसर नहीं है। उसकी बनावट ही इस ढंग की है कि वह हमारे सामने कभी नहीं आती, किंतु उसके कुछ सहायक आते हैं। सरकार तथा उसके सहायकों में बडा अन्तर है। सहायकों को मारने से सरकार तक चोट नहीं पहुंचती। वह चोट की पहुंचसे बाहर है। एक सहायक के मरते ही दूसरा सहायक आकर खडा हो जाता है। उसपर चोट करने से अंग्रेजी सरकार को भारत को अपना आतंक दिखाने का अवसर मिल जाता है। आज सारा भारत सरकार का सहायक बना हुआ है। सारा भारत अंग्रेजी सरकार को अस्वीकार नहीं कर रहा है। सारे भारत को इस प्रकार कबतक मारा जायगा? यदि सारे भारत में १०-५ सहायकों को मारकर डराकर सहायक बनने से रोकना चाहा जायगा, तो इसका अभिप्राय देश को डराना तथा भय का दास बनाना होगा। ऐसा करना क्रोध से बदला लेने की दुर्बलता में फंस जाना होगा ऐसा करने से सच्चा शत्रु अछूता रह जायगा, तथा जो सच्चा शत्रु नहीं है, उसपर हथियारोंका वार होगा। यदि भारतवासी अपने शत्रु के एक दो मनुष्यों को बम या पिस्तौल आदिसे मार भी देगा, तो भी क्या होगा? उससे राष्ट्र की निर्बलता ही जगविदित होगी। एक दो जान के बदले में दो चार को फांसी पर लटका दिया जायगा। शत्रु को देश में भय का आतंक बढाने का अवसर मिल जायगा।

भारतियोंका अंग्रेजोंपर शस्त्रप्रयोग करना, उन्हें अपने राष्ट्रपर शस्त्रप्रयोग करने का अवसर देना है। अंग्रेजों को ऐसा अवसर देकर देश को भयभीत करना बडी भयंकर भूल है। ऐसी हत्याओं से सारे देश को लज्जित होना पडेगा। इन बम पिस्तौल चलानेवालों के पास शत्रु के नौकरों के शरीरों पर चोट पहुंचाने के अतिरिक्त देश का एकमत नाम का ऐसा कोई हथियार नहीं है,

जिसकी चोट से शत्रु का अनधिकारभोजी मन निरुत्साहित किया जा सके। विचारना चाहिए कि क्या ऐसा करना स्वयं ही मनुष्यता से गिर जाना, विवेक खो बैठना, विचार से काम न लेना या मूर्खता करना नहीं है। अपनी मनुष्यता से गिर जाना ही हिंसा का रूप है।

कुछ लोगों को अहिंसा के प्रचार से कायरता बढने का भय दीखता है। वे डींग मारकर कहते हैं कि हमें वीरों के समान अपनी जान हथेलीपर रखकर देश की सेवा करनी चाहिए। उनके लिए यही उत्तर है कि अहिंसा कायरों का धर्म नहीं है। वह तो महान् वीरों या वलवान् आत्माओं का धर्म है। अहिंसा की लडाई का भाव अत्याचार या अपमान सहना नहीं है। पिट लेना अहिंसा का रूप नहीं है। किंतु उसका सर्वोपाय से और संपूर्ण शक्ति से विरोध करना अहिंसा है। मनुष्य को अत्याचार या अपमान कभी न सहना चाहिये। अत्याचार या अपमान सहना विजय का मार्ग नहीं है। प्रत्युत पराजय का मार्ग है। अत्याचार सहना मन की निर्वलता है। मन की निर्वलता अपनी हिंसा है। हिंसासे बचना अहिंसा है।

परन्तु अत्याचार का प्रतिकार करते समय ऐसी नीति स्वीकार करना कि जिससे प्रतिकार रुक जाय तथा अत्याचार और बढ जाय स्पष्ट हिंसा है। इसलिए अत्याचार के प्रतिकार के समय विचार को कभी न खोना भी अहिंसा का आवश्यक अंग है। प्रतिकार का निर्णय करते समय देश के स्थायी हित का ध्यान रखकर ही करना चाहिए। विचारशक्ति जिस उपाय का समर्थन करे, उसीको स्वीकार करना अपनी अहिंसा है। यदि शत्रुपर वार करने से शत्रु नष्ट हो सकता हो, तब तो उसपर वार करना अहिंसा है। यदि शत्रु तक वार न पहुंच सकता हो, तब उसपर शस्त्र का वार न करना अहिंसा है। तब शत्रु को नष्ट करनेवाले दूसरे उपयों को खोज निकालना ही अहिंसा है। अहिंसा वीर का धर्म है।

वीरता।

बहुधा मनुष्य विना विचारे शब्दों का प्रयोग कर देते हैं। लोगोंने वीरता की सूरत विगाड रखी है। आज संसारसे वीरताका सच्चा आदर्श नष्ट हो गया है। सच्ची वीरता न रहने से सब जगह अशांतिका राज्य तप रहा है। मनुष्य नाममात्र का मनुष्य रह गया है। सचमुच तो वह पशु बन चुका है। वह लालच में फंसकर निर्वल का भेडियां सबलका शिकार तथा भोगी पशु बन गया है। मनुष्य कहलानेवाले लोग अमनुष्योचित लालच में फंसकर पशुओं के समान एक दूसरे के खून के प्यासे तथा जान के गाहक बन गये हैं। क्या मनुष्य मनुष्य का खून पी जाय, यही वीरता का चिन्ह है? दूसरे की जान खालेने में वीरता नहीं है। यह तो हिंसक पशुपना है। दूसरे की जान को अपनी जानके बराबर समझकर सबके साथ मनुष्योचित बर्ताव करना संसार की सब से बडी वीरता है। परंतु आजका संसार इतना पतित हो चुका है कि उसने हिंसक पशुपने कोही वीरता मान लिया है। वीरता कुछ दूसरी ही वस्तु है। धर्म या सत्यपर डटे रहना और उसी के लिये मरना ही वीरता है। अर्थात् धर्म या सत्य के सामने अपने जीवनकी अपेक्षा न करना वीरता है। जो लोग जान हथेलीपर रखकर घूमने को वीरता मानते हैं, वे धोके में हैं। जान हथेलीपर रखकर घूमने में कोई महत्व नहीं है। ऐसा तो चोर डाकू भी करते हैं। क्रोधी मनुष्य भी बदला लेनेके लिये जान की परवा नहीं करता। वेतनभोगी हत्यारे सिपाही भी जान को हथेलीपर लेकर लडते हैं। पागल भी अपनी जानकी परवा नहीं करते। क्या इन सबको वीर कहा जा सकता है? नहीं कदापि नहीं। सत्य के नामपर जीवन अर्पण कर देना ही वीरता है।

आज संसार से सच्ची वीरता का आदर्श लुप्त हो चुका है। आजके अज्ञानी संसारकी मूर्खता

से हथियारों चलाने में वीरता रह गयी है। परंतु शस्त्रों में वीरता की कल्पना करना या शस्त्रधारी होने से किसी को वीर समझ बैठना बडी भारी भूल है। कर्तव्य-बुद्धि से जो किसी अत्याचारी का विरोध करता है वह न तो अपने पास शस्त्र होने या न होने की अपेक्षा करता है, न प्रतिपक्षी के शस्त्रों की कुछ गणना करता है, न प्रतिपक्षी से दबना चाहता है और न प्रतिपक्षी को दबाना चाहता है। उसके शरीर में ईश्वरीय प्रबंध से जो कर्मशक्ति अवतीर्ण हो रही है या ईश्वरीय प्रबन्ध से जो विरोध करने के बाह्य साधन उसे मिले हैं, उन सबसे अपनी शक्ति भर विरोध करके अपने को धन्य बना लेना चाहता है। वह इस विरोध का बदला नहीं चाहता। वह कर्तव्य-पालन को ही कर्तव्य का बदला जानता है। प्रतिपक्षी दबे या न दबे, अन्तिम श्वास तक उसका विरोध करने से ही वह धन्य बन जाता है। भौतिक दृष्टि में उससे हारकर भी धन्य हो जाता है। उसका विरोध सफल हो जाता है। इस प्रकार का अजेय विरोध ही वीरों की सच्ची वीरता है। यह वीरता नंगे हाथों भी दिखाई जा सकती है और शस्त्रधारी हाथों से भी दिखाई जा सकती है।

अज्ञानान्ध मानवसमाज को वीरता की कल्पना करनी नहीं आती। वह मनमाने ढंग से वीरता की कल्पना कर बैठता है और वीर नाम से वेष्टित होकर कायर बना रहता है। यद्यपि वीर देहका अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होना आवश्यक नहीं है, फिर भी अज्ञानान्ध मानवसमाज वीर देह के अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित रहने को अनिवार्य आवश्यक मानता है। वह लोहे लकडी के टुकडों का अतिरंजित वर्णन करने में अनावश्यक बल लगाता है और वीरता की बिडम्बना करके, कायरता को ही वीरता का चेहरा पहनाकर वीर बनने के बदले में कायर बना रहता है। जहाँ कहीं वीरों का वर्णन पाया जाता है, वहाँ एक मांस पिंड का कुछ हथियारों और पेटियों से जकडा हुआ होना आवश्यक मान लिया गया है। कहीं धनुष्य, बाण और तरकसको, कहीं तलवार त्रिशूल या वज्र को, कहीं गदा या चक्र को वीरता का अभिन्न साथी बना लिया गया है। ऐसी कल्पना करनेवाले यह नहीं जानते कि वीर नाम की मानसिक स्थिति किसी भी देह पंजर या किसी भी नरक काल में बैठकर क्षणमात्र में धूल से ही हजारों शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और त्रिशूलधारियों को उत्पन्न कर लेती है। वह (मानसिक स्थिति) ही सच्ची वीरता कहलाने के योग्य है। प्रह्लाद जैसे निहत्थे वीर ने ऐसे वीर हृदय का स्वामी बनकर ही लोहे के ठोस खम्भे में से दानव दल-नकारी नृसिंहावतार को उत्पन्न कर लिया था। अपने मानस संकेत से नृसिंहावतार को भी उत्पन्न होने के लिए विवश करनेवाले उस महावीर हृदय के सच्चे महत्व को उससे छीनकर उसे दानवदेहदलनकारी तीव्र नखदंतवाली मूर्ति को देना भ्रांति है। क्योंकि प्रह्लाद का गौरव उस मूर्ति से नहीं बढा। किन्तु उसने प्रह्लाद जैसे वीर की सेवा में उपस्थित होकर अपने आपको ही गौरवान्वित किया था।

सर्वव्यापक शक्ति वीर-हृदयों में ही उतरती है। वहां उसे उतरना पडता है। वह अपने आपको वीर-हृदयों के पास जाने से रोक नहीं सकती। वीर-हृदयों के न रहनेपर असुरसंहारकारिणी शक्ति को अवतार धारण करने का अवसर नहीं मिलता। तब उसके अवतार-धारण करनेका तब कोई आधार नहीं रहता। शक्ति वीरहृदयों का सहारा पाकर ही पृथिवी पर अवतीर्ण हो करती है। शक्ति वीरहृदयों के पीछे पीछे घूमती है। वीर-हृदय शक्ति के अनुचारी दास नहीं बनते। वे अपनी निर्विकार अप्रभावित स्थिति को अपनी छाती से लगा लेते हैं और भौतिक शक्ति की आक्षेप न करके अपनी वीरता के अटल सिंहासन पर आरूढ हो जाते हैं। शक्ति ऐसे

वीरहृदयों की चरण सेवा करके अपने को कृतार्थ कर लेने के लिए ही उनके पास आती है।

जिस मनुष्य का हृदय भौतिक शक्तियों की अपेक्षा करना छोड कर, उन पर निर्भर न रहकर अपनी वर्तमान शक्ति और साधनों से ही अपना कर्तव्य पालने में जुट पडता है, उसकी मनोवृत्ति ही वीरता या सत्साहस कहाती है। भौतिक शक्ति की अपेक्षा रखना, भौतिक शक्ति होती तो हम कुछ कर दिखाते, इस प्रकार किसी पर निर्भर हो जाना और निर्भर होकर कर्तव्यहीन होना कायरता, डरपोकपन या उत्साह-हीनता है।

आज मानव-समाज ने इस सच्ची वीरता को भुला दिया है और लोहे लकडी के कुछ हथियारों को महत्त्व देकर बडी भारी भूल में फंस गया है। आज मानवसमाज ने बम, पिस्तौल, संगीन, बन्दूक, मैशीनगन, माइन, तारपेडो, दम घोंटनेवाले विजली, भाप, धुएं आदि के द्वारा दुर्भेद्य कायरता का जाल बना लिया है और वह उसी में अपने चूहे जैसे निर्बल हृदय को पाल रहा है। जब तक हथियारों के मोह को छिन्न भिन्न करके उसमें से वीरता को बाहर नहीं निकाल लिया जायगा, तब तक यह सब का सब मानव-समाज, चूहे जैसा निर्बल बना रहेगा और अपने लिए सच्ची वीरता के दर्शन को असम्भव बनाता रहेगा।

अपना पक्ष सत्य होने के सत्साहस से उत्पन्न होनेवाली सच्चे वीर पुरुष के मन की स्थिति शस्त्रों को तिनकों के समान गिनती है। उसके मन की स्थिति उसको ऐसा शस्त्रधारी बनने से लज्जित किया करती है, जो कि शस्त्रों पर निर्भर रहता हो। वह शस्त्रों पर निर्भर रहनेवाले शस्त्रधारियों को कलंकित मानती है। वह अपने को शस्त्रों के बिना ही वीरता के गौरवपूर्ण आसन पर पाकर तुच्छ शस्त्रों से हीन होनेपर भी अपनी सच्ची वीरता को अटल बनाये रखता है। वह शस्त्रों के न होने पर भी सच्चा शस्त्रधारी बना रहता है। उसकी तेजोदृप्त आंखों में लाखों शस्त्रों का ओज भरा रहता है। उस सच्चे शस्त्रधारी की प्रलय बुलानेवाली ज्वालाओं से भरी हुई आंखों के सामने से डाकू और लुटेरों को भाग जाना पडता है।

प्रकृत बात यही है कि अपनेको अहिंसक अर्थात् महान् मनुष्य बनाए रहने में ही सच्ची वीरता है। अहिंसा का अर्थ आत्मा की प्रसन्नता अर्थात् आत्मा की शुद्ध प्रेरणा (आवाज) के अनुसार काम करने से न रुकना है। किसी भी प्रकार के प्रलोभन या भय आदि से आत्मा की ध्वनि को न दबाना ही सच्ची वीरता या अहिंसा है।

अहिंसा की विवेचना।

किसी को न मारना अहिंसा शब्द की परिभाषा नहीं है। मारनेयोग्य को न मारना कैसे सहा जा सकता है? इस परिभाषा को बनाते समय मनोविज्ञान का ध्यान नहीं रखा गया। हमारे सामने अर्जुन तथा राम दो अहिंसकों के उदाहरण हैं, जिन्होंने शत्रुवध करके ही अहिंसाधर्मका पालन किया था। न मारने के अहिंसा होने की परिभाषा अर्जुन के सम्बन्ध में तो सर्वथा विपरीत हो जाती है। वह जबतक अज्ञानी रहा, तबतक आजके भारत के समान शस्त्रप्रयोग को हिंसात्मक कार्य समझने की भूल कर रहा था। इसी कारण वह उससे बचने की स्थिति ढूंढ रहा था। परन्तु जब अर्जुन को आत्मज्ञान हो गया तब उसके मनसे हिंसाअहिंसाका झूठा विचार लुप्त हो गया। तब उसने ज्ञानकी स्थितिमें आकर और तो और अपने सगेसम्बन्धी समझे हुओं को भी मौत के घाट उतारकर अहिंसा-धर्म का पालन किया। इसलिए यह निश्चित हो चुका कि, शत्रुपर शस्त्र-प्रयोग न करना अहिंसा की दूषित परिभाषा है।

परतन्त्र देश के लोग स्वराज्य से दूर बैठकर स्वराज्यकी विधि सोचा करते हैं। वे पानीमें बिना

घुले तैरने की कलाके पारंगत बनना चाहते हैं। वे स्वराज्य को अप्राप्त मानकर उसे पाने का भ्रम पूर्ण उद्यम करते हैं। वे सोचा करते हैं कि हिंसासे स्वराज्य प्राप्त होगा या अहिंसा से ? प्रायः मनुष्य हिंसाअहिंसा के स्वरूप को स्पष्ट नहीं समझते। हिंसा-अहिंसा मनकी स्थिति है। आत्मस्थिति को त्याग कर अपनेपर काम-क्रोध आदि रिपुओंका आक्रमण होने देना हिंसा है तथा आत्मस्थिति में रहकर इन रिपुओं का दमन करते रहना अहिंसा है। किसी को मारने न मारने के साथ हिंसा-अहिंसा का कोई सम्बंध नहीं है। मनुष्य का मानसिक निर्बलता के वश में आ जाना ही उसकी हिंसा है, तथा इन निर्बलताओंके आक्रमणसे बच जाना ही 'अहिंसा' है।

जो मनुष्य हिंसा-अहिंसा के इस तत्व को समझते हैं, वे क्या करते हैं ? तथा क्या नहीं करते? इसकी कोई सूची नहीं बनायी जा सकती। आत्मदर्शी मनुष्य जब जो कुछ करता है, वही अहिंसा होती है। आत्मदर्शी का किसी को मारना या बचाना दोनों अहिंसा होती हैं। ऐसे मनुष्य के सामने जब किसी जीवको चोट पहुंचाने, मारने या न मारने का अवसर आता है तब उसे चोट पहुंचाना या न पहुंचाना, मारना या न मारना इन बातोंका निर्णय उसका मन उसी समय करके देता है। उस समय वह जो कुछ निर्णय करके देता है, उसीपर अहिंसा की मोहर लग जाती है। कभी कभी प्राणवध पर भी अहिंसा की मोहर लग सकती है।

इस विवेचन में हमें यह बताया है कि हिंसा-अहिंसाकी उलझनमें पडना अपनेको सच्ची स्वतंत्रतासे दूर रख देना है। सत्यदर्शी स्वतंत्र मनुष्य ही हिंसा-अहिंसा के तत्व को समझ सकता है। ऐसा सत्यदर्शी मनुष्य भोगाकांक्षा से स्वभाव से दूर रहता है। इसलिए हम देख रहे हैं कि देश को सत्यदर्शन करा देना ही किसी भी परतन्त्र देश के निवासियों का स्वराज्य तथा उसकी प्राप्ति का एकमात्र अचूक मार्ग है और इस मार्गपर चल पडनाही उनकी अहिंसा है।

यदि आज भारत अंग्रेजी सरकार को शस्त्र-प्रयोगसे भगा सकता होता, तो क्या भारत शस्त्र-युद्ध छोड देता ? छोड देता तो क्या वह देश-द्रोहरूपी हिंसा न करता। यह स्पष्ट है कि तब शस्त्रप्रयोग से अंग्रेजों को निर्वासित कर देना ही भारत की अहिंसाका बाह्य रूप हो जाता। हिंसा-अहिंसा धर्मों का प्रतिपक्षीकी चोट या चोट के बचाव से कोई संबंध नहीं है। ये दोनों शरीर से सम्बंध रखनेवाली बात नहीं हैं। ये दोनों तो मानसिक अवस्था हैं। ये कर्ता के मन के धर्म हैं। ये धर्मक्रिया के लक्ष्य से अपना कोई संबंध नहीं रखते। अपना मन पवित्र होनेपर दूसरेका प्राणघात भी हिंसा नहीं हो सकता। यही कारण है कि संसार भर के न्यायालय प्राणघातक की मनो-दशा (नीयत) के अनुसार दण्ड देते हैं, क्रिया के अनुसार नहीं। अर्थात् संसार को किसी क्रिया के हिंसा-अहिंसा होनेपर विश्वास नहीं है। संसार भरका न्यायालय मनुष्य की नीयतमें ही हिंसा-अहिंसा को मान रहा है।

अहिंसा से अंग्रेजों का मन बदलने का भी एक विचार देश में पाया जाता है। यदि इस का अर्थ उनके मन का पवित्र हो जाना हो, तो वह युक्ति-संगत नहीं है। कारण यह है कि अहिंसकशिरोमणि प्रह्लाद की अहिंसा उसके संसारी पिताका मन बदलने में असमर्थ पायी जा रही है। फिर भारत अपनी अहिंसा से अंग्रेजों का मन बदल सकेगा, अर्थात् उन्हें साधु महात्मा अहिंसक बना सकेगा यह कल्पना निष्फल है। यह अहिंसा को छोडकर हिंसा को अपनाना है। अंग्रेज लोभी-लालची हैं। वे साधुसंतों की ढूंढ में उनसे दीक्षित होने के लिए भारत नहीं आए हैं। उन्हें पैसे की आवश्यकता है। वे निर्बल शिकार की तलाश में भेडिये की भूक लेकर आए हैं। वे भारत को अपना धर्मगुरु बनाने के लिए नहीं

आए। वे बकरी के धर्मोपदेश से प्रभावित होकर भूके स्वदेश लौटने के लिए भारत नहीं आये। अहिंसा से उनके मन बदलेगा यह भारतका वृथा विश्वास और भोलापन है। जबतक घर का मालिक साहस करके डाटनेवाला नहीं बनता, तबतक कोई अनधिकारी लूटका लालच नहीं छोडता, यह साधारण अनुभव की बात है। अंग्रेज अपनी ओर से लूट छोडेंगे, तो भारत में स्वराज्य आयेगा, यह भारतकी नदी बंद होनेपर पार जाने की सी प्रतीक्षा है। भारत को अपना कोई प्रयत्न इस आशा से स्थगित नहीं रखना चाहिये कि अंग्रेज परमार्थवादी, साधुचरित, उदार और अहिंसक बनेंगे। भारत को तो अपनी स्वतंत्र बुद्धि से अपना सत्य मार्ग पकड लेना चाहिए। शत्रु चाहे जैसे विचार रखने के लिए स्वतंत्र है। भारत को उसके विचारों की ओर क्यों देखना चाहिए?

यदि भारत उन्हें धर्म का पाठ पढाकर उस पाठके बदले में देश को उनकी कृपासे मुक्त करना चाहेगा, तो वह भोलापन करके स्वराज्यप्राप्ति में अपनी ओर से देर करेगा। यदि भारत के स्वतंत्र होने के निश्चय में दृढता आ जायगी, तो अंग्रेज न तो भारत के इस विचार को हटा सकेंगे और न वे इसे कार्यरूप में परिणत होनेसे रोक सकते हैं। भारत को अंग्रेजों की यह कमजोरी अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि वे बिचारे भारत में बडी असहाय और बुनियादरहित अवस्था में हैं। उनके पक्ष में यह बडी भारी कमी है कि वे भारत के अधिकारी नहीं हैं। भारत के पक्ष में यह बडा भारी बल है कि भारतवासी भारत के स्वाभाविक अधिकारी हैं। अपने घरपर चींटी भी शेर हो जाती है। पराये घरपर शेर का बल गीदड के बराबर हो जाता है। आवश्यकता भारत के इस अपने ईश्वरीय अधिकार को सिंभालने का निश्चय करने की है। यदि भारतने सचेत होकर इस अपने ईश्वरीय अधिकार को अपने हाथ में लेने का दृढनिश्चय कर लिया, तो अंग्रेज सरकार अपनासा मुंह लेकर रह जायगी। फिर अंग्रेज सरकार का मन भले ही न सुधरे और चाहे वह अब से भी अधिक खराब हो जाय, तब भी भारत की कोई हानि नहीं है। क्या अंग्रेजों के न चाहने से भारत का स्वराज्य रुका रहेगा? जब भारत की दृढता से भारत को मिला हुआ स्वराज्य अंग्रेजों के रोके नहीं रुक सकेगा, तब पीछेसे अंग्रेजों को मन बदलना पडेगा।

यह बात तो ठीक है कि अहिंसात्मक युद्ध से अंग्रेजोंका मन बदलेगा। परंतु हमें इसका अंग्रेजों का संतपन का प्रमाणपत्र देनेवाला अर्थ स्वीकार नहीं है। हम तो इसका केवल इतना अर्थ समझते हैं कि अहिंसात्मक सत्याग्रहके तेजस्वी बलिदान देशमें वह चेतना फूंक देंगे, जिसके सामने अंग्रेजों को अपना अधिकार रोकना पडेगा, छिना हुआ दीखने लगेगा, उन्हें अपना लूटका हाथ सकोडने के लिये विवश होना पडेगा, उन्हें यह निश्चय हो जायगा कि जो भारत अब तक हमारी लूटका मैदान था, वह अब हमारे हाथ से निकल गया, अब हमारी लूट का शिकार राष्ट्र जाग उठा है। जागे राष्ट्र के सामने हमारा पाप असंभव हो चुका है। अब लूट जारी रखना अपने को अति अपमानित करवाना है। यही अंग्रेजों के मन बदलने का स्वरूप होगा।

हम ऊपर कह आये हैं कि अधिकारों की दुहाई को कोई नहीं सुनता। समझानेसे कोई किसी का अधिकार नहीं लौटाता। अनधिकारियों के मुंहलगा खून अधिकारवालों के पुरुषार्थ दिखाने पर छुटता है। अनधिकारी जबतक अपना प्रबल विरोध नहीं देख लेता, तब तक अपने लोभ को नहीं सकोडता। यदि समझाने से लोभी लोग मान जाया करते, तो संसार में अत्याचार न रहता। अत्याचारियों की लोभ की लहक बलात्कार से ही बुझानी पडती है।

जब भारतीय विचारक अंग्रेजों का मन बदलना चाहते हैं तब वे अपने को तथा भारत को अंग्रेजों की कृपा पर निर्भर मान लेते हैं। ये लोग भारत-वासियों के शरीर बचे रहने को ही भारत की रक्षा मानते हैं। ऐसा विचार करते समय भारत के स्वाभिमानी मनका ध्यान सर्वथा नहीं रखा गया। मनकी रक्षा ही रक्षा है। शरीर या धन आदि की रक्षा रक्षा नहीं है। यह विचार सांसारिक मोह है। इस प्रकार सांसारिक मोहमें फंसकर आत्मा का अर्थात् अपनी पवित्रता का हनन करना आत्महिंसा या हिंसा है। यह भारत को अशक्त मानना तथा अंग्रेजी सरकार को शक्तिमान् मान लेना है। यह विचार स्पष्ट रूपसे भारत की की हिंसा है।

अंग्रेजी सरकार पर चाहे जितना पशुबल हो, परन्तु वह भारतमें बडी निर्बल और असहाय अवस्था में है। क्योंकि वह दूसरों का अधिकार खानेवाले की स्थितिमें हैं। दूसरों को भी तो अपने अपने अधिकारों की आवश्यकता है। जिन्हें ईश्वरने जीवन दिया है, उन्हें जीनेका अधिकार भी दिया है। दूसरे की जीनेकी चीजें छीनते फिरना यह मनुष्य की बडी दयनीय अवस्था है। अंग्रेजी सरकारके ऐसा फसे का कारण उसकी लालचकी लहक है। वह उस के दिल की कमजोरी है। जहां कमजोरी है वहीं अशक्ति है, और वहीं पराजय का बीज है। अंग्रेज तो भारत में पराजित अवस्था में है। अंग्रेज भारत में पराजित अवस्थामें हैं, यह सत्य संसारको उस दिन दीखेगा, जिस दिन भारत अपना अधिकार लेनेका दृढ निश्चय कर चुकेगा। भारत के पक्षमें सचाई है। भारत ही भारतका स्वाभाविक अधिकारी है। अधिकारीपर ही शक्ति हो सकती है। अनधिकारी पर नहीं। अनधिकारीपर तो अशक्ति होती है। अनधिकारी के पास शक्ति या दिल नहीं होता। थोडीसी भी डाटसे अनधिकारी के हृदयमें बैठा हुआ पाप उसके कलेजे को कंपा देता है। जब अंग्रेजी सरकार स्वाधिकार पर डटनेवाले भारतकी हुंकार सुनेगी, तब अपने अनधिकार खानेवाले कलेजे को कांपनेसे नहीं रोक सकेगी !

असत्य के पास शक्ति नहीं होती, शक्ति न होना ही असत्य के पराजय का कारण बनता है। शक्ति सदा सचाई के साथ रहती है। शक्ति ही विजय दिलाती है। जिस दिन भारत और अंग्रेजों का सच्चा संघर्ष प्रारंभ हो जायगा, उस दिन शक्ति और विजय सदा भारत का साथ देगी। आवश्यकता केवल इस बात की हैं कि भारत मानसिक जडता को त्यागकर करवट बदले और अपने आपको पूरे शक्तिमान् के रूपमें पहचान जाय। भारत को यह समझना चाहिये कि 'मुझे अंग्रेजोंने अशक्त नहीं बनाया। मैंने स्वयं ही अपनी शक्ति की प्रतिष्ठा करना छोडकर अशक्ति को अपना लिया हैं और अशक्त बनाया है। मैं अपना ही बनाया हुआ अशक्त हूँ। अब मुझे शक्तिको अपना कर शक्त बन जाना चाहिये। मुझे शक्ति बाहर से नहीं लानी है। मेरा आत्मबोध ही मेरी शक्ति है। मेरे पास ३'१ करोड किले हैं। अपनी शक्ति को पहचानते ही मैं शक्तिमान् हो जाऊंगा।'

अपनी शक्ति को पहचान जाना ही इस महती शक्तिमान् बन जाना है। जहां सचाई नहीं हैं, वहां शक्ति शक्ति नहीं है। वहां अशक्ति का मायाजाल है। वह सब अशक्ति का खेल है। शक्तिहीन आततायी को शक्तिमान् होने का ऊंचा पद दे देना अपनी हिंसा करना है। दूसरों का अधिकार खानेवालों को शक्तिमान मानना अपनी शक्ति की अप्रतिष्ठा करना है और असे न पहचानना है। यदि दूसरोंका अधिकार खानेवालों को भी शक्तिमान् मान लिया जायगा और ऐसा काम करनेवालों को शक्तिहीन नहीं माना जायगा, तो बस मानसिक पवित्रता की प्रतिष्ठा संसार से कूच कर जायगी।

अपनी अहिंसा से दूसरा का मन बदलना, अपने को पवित्र रखकर दूसरोंपर उसकी छाप डालना,

भ्रमपूर्ण विचार है। संसार का अनुभव इस का समर्थन नहीं करता। यह अहिंसा से मिथ्या लाभ उठाने का संकल्प है। अहिंसा इसलिये नहीं है कि मनुष्य इससे कोई भौतिक लाभ उठाये। जो अहिंसा अहिंसकों के प्राण छोडने का भी वादा नहीं करती, वह किसी भौतिक लाभ देने का वादा करे, यह दुराशा है। अहिंसा तो केवल मनुष्य के आत्मसंतोष कमाने के लिये है। भारतीय स्वराज्य भारत का लालच पूरा करने के लिये नहीं है। वह तो भारत के स्वाभिमान की रक्षा करने के लिये है। भारतीय स्वाभिमानही भारतीय स्वराज्य का लक्ष्य है। आज देशमें जितनी संपत्ति है, उस सबको भी यदि कण कण करके कोई विदेशी उठा ले जाय और केवल भारतीय स्वाभिमान सुरक्षित रह जाय, तो हम कहेंगे कि भारत ने अहिंसा धर्म पाल लिया और भारत की कोई हानि नहीं हुई।

अहिंसा से भौतिक लाभ उठाने की अभिलाषा अहिंसाधर्म का अपमान करना है। अहिंसाधर्म की इस व्याख्या के अनुसार जब भारत का शत्रु अहिंसाधर्मकी प्रतिष्ठा नहीं करेगा, तब क्या भारत अहिंसा की ओर से निराश नहीं हो जायगा? तब क्या भारत को अहिंसापर अश्रद्धा नहीं हो जायगी? अहिंसा का अभिप्राय किसी की चाटुकारिता नहीं है। किसी की उद्दण्डता में सहायक बन जाना अहिंसा नहीं है। किसी से पिटते रहना अहिंसा नहीं है। किन्तु ईश्वर के दिये हुए संपूर्ण हथियारों को हिंसा के विरोध में काममें लाना ही अहिंसा है।

अंग्रेजी सरकारको भारतसे हटाने के कारण।

भारत में अंग्रेजी राज भारतका स्वाभाविक अधिकार छीनकर स्थापित किया गया है। इसी कारण भारतवासियों को उसकी सत्ताको अस्वीकार करना चाहिये। इसलियें कर देना चाहिये कि उनकी सत्ताको स्वीकार करना अपने आपको मार डालना है। भारत अपने आप तो मरना स्वीकार कर ले और भारतमें अंग्रेजों का अधिकार स्वीकार कर ले, इस अन्यायको जागा हुआ भारत कैसे सह सकता है?

दो स्वार्थों का एक स्थान पर रहना ही अंग्रेजों तथा भारत के संबन्ध का स्वरूप है। जब एक वस्तु पर दो स्वार्थ रहेंगे, तब अंग्रेज तो अपना स्वार्थ चाहेंगे और भारत अपना चाहेगा। दोनों अपनी अपनी ओर खींचेंगे। इन दोनोंकी खींच एक दूसरे के विरुद्ध होगी। इस खेंचातानी को सोता हुआ अज्ञानी भारत भले ही सह जाय; परन्तु जागे भारत की आंखों में तो इस बातको देखकर खून उतर आयेगा। दूसरे का टुकडा उठाकर खाना और उसे भूखा मरने के लिये छोड देना कहां की मनुष्यता है? अंग्रेजों का भारतमें स्वार्थ उनके जीवनमरण का प्रश्न नहीं है। यह तो उनकी जुए की आमदनी है। परन्तु भारत की स्वतंत्रता तो भारत के जीवनमरण का प्रश्न है। यदि भारत स्वतंत्र नहीं होगा, तो भारत मर मिटेगा। बताइये उसे इस परिस्थितिमें अंग्रेजों से क्यों दबना चाहिये? बताइये भारत को इनके विरोध में तत्काल क्यों नहीं खडा हो जाना चाहिये? बताइये भारत को इनका अदम्य तथा अत्याज्य विरोध क्यों नहीं करना चाहिये? भारतपर अंग्रेजों का शासन रहना भारत की मौत, भारत का घोर अपमान और भारत के लिये घोर असत्य है। प्रत्येक पराधीन राष्ट्र का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह प्रत्येक संभव उपायसे अपना अधिकार छीननेवाले से युद्ध ठान दे। इस संबंध में भारत जितनी देर कर रहा है, उतना ही भारत नष्ट होता जा रहा है।

स्वाधीन राष्ट्रों में प्रत्येक मनुष्य को उन्नति का पूरा पूरा अवसर दिया जाता है। पराधीन राष्ट्र के मनुष्य उन्नति से वंचित रखे जाते हैं। पराधीन राष्ट्रमें प्रत्येक मनुष्य का उन्नति करनेका अधिकार छीन लिया जाता है। विदेशी शासक अपनी धाक

जमाकर निर्विरोध बनने के लिये जितने षड्यंत्र रचता है, उससे पराधीन राष्ट्रका मन पतित होता चला जाता है। पराधीन राष्ट्रका अधिक से अधिक पतन ही विजेता की भौतिक समृद्धिका कारण होता है। अभागा पराधीन राष्ट्र क्षुद्रसे क्षुद्र सुविधाओंके नामपर अपने आत्माको बेच देता है। यदि कोई अपने राष्ट्रको इस अधःपतन की अवस्था से बचाना चाहे, तो उस राष्ट्र को संग्राम छेड देना चाहिये और विदेशी सरकारसे अपना राजा-प्रजा का संबन्ध तत्काल तोड लेना चाहिये। जिन लोगों ने अपनी आंखों से दासता का पैदा किया हुआ पतितपना देखा है, वे दासता के विरुद्ध संग्राम किये विना नहीं रह सकते।

मनुष्यने राजशक्ति को इसलिये बनाया था कि देशमें दैवी गुणों की रक्षा और प्रचार किया जाय। परन्तु विदेशी राजा सौतेली मां की तरह लोभी और कर्तव्यभ्रष्ट होकर अपने बेटा को पालता और देशकी आत्माको पददलित करने के घृणित से घृणित उपाय सोचता रहता है। जैसे रावण के राज्य में ऋषियों (भले मनुष्यों) को भले मनुष्य होने के अपराधमें कर देना पडता था, इसी प्रकार विदेशी राजा विजित देश के सत्यसेवकों को (देशकी आंख खोलनेवालों को) सत्य के प्रचार को भी अपराध घोषित करके कैद, कालापानी तथा फांसी के तख्तोंपर लटकाकर देशको सत्यनिष्ठा की ओर से निरुत्साहित करता रहता है और देशको लुटवानेवाले देशद्रोहियों को लम्बे लम्बे वेतन तथा बडी बडी उपाधियां देकर देशमें दासमनोदशा फैलानेवाले सुन्दर आकर्षक जाल पूरता रहता है। राष्ट्र का मानसिक पतन ही विदेशी राजा का ध्येय होता है। वही विदेशी राज के ठहरने की बुनियाद होता है। इसी पहलू को विपरीत करके देखें, तो देशका मानसिक उत्थान ही विदेशी राज्यकी मौत तथा आक्रान्त राष्ट्र को बचानेवाला होता है।

जिस प्रकार उल्लू को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता, इसी प्रकार विदेशी शासकके मनमें आक्रान्त राष्ट्र का मानसिक उत्कर्ष देखकर हौल पैदा हो जाती है। उसे राष्ट्रके जागने में अपनी कूचका डंका बजता सुनाई देता है। इन सब दृष्टियोंसे यह सिद्धान्त निश्चित करना पडता है कि जो अपने देशसे विदेशी शासन को भगाना चाहें, उन्हें विदेशियोंसे कुछ न कहकर अपनी संपूर्ण शक्ति देशमें मानसिक चेतना फैलाने में लगा देनी चाहिये। देशमें मानसिक चेतना फैलाना ही विदेशी राष्ट्रसे युद्ध ठानना है। क्योंकि विदेशी राष्ट्र मानसिक चेतना फैलानेवालों के साथ शत्रु जैसा बर्ताव करता है।

जब कोई देश सत्यहीन हो जाता है, तब उस देश की सन्तान पालन करनेवाली मातृत्वशक्ति राक्षसी रूप धारण कर लेती है। देशसे सन्तान पालनकी उचित रीति के नष्ट हो जाने के कारण देश पराधीनता सहनेवाले मनुष्योंसे भर जाता है। इसी से मनुष्य-समाजमें स्वतंत्रता के सैनिकों का अवतीर्ण होना रुक जाता है। मोही मातापिताओं की गोदमें स्वतंत्रता के सैनिक नहीं उतरते। देश में स्वतंत्रता के सैनिकों के न उतरने से समाजकी आंखों के सामने से स्वतंत्रता का आदर्श लुप्त हो जाता है। सामाजिक कल्याण, बुद्धि तथा पवित्रता नष्ट हो जाती और समाज के मनुष्य स्वार्थान्धता, लोभान्धता, कामान्धता आदि अज्ञानमय पातित्य-पंकमें सनकर अपना रूप बिगाड लेते हैं।

इस असत्य अवस्था का विरोध करने के लिये इस से युद्ध ठान देना देशका कर्तव्य हो जाता है। यदि इस असत्य अवस्था के विरोध के लिये युद्ध नहीं छेडा जाता, तो असत्य का शासन आठों पहर समाज में मनको पतित बनाने के षड्यंत्र करके अपनी नींव पुष्ट करता चला जाता है। उससे समाज में मनुष्यता के संरक्षकों का आना बन्द हो जाता है। फिर सारा देश निर्लज्ज होकर पाप का विरोध न करके पाप की सहायता करने में ही अपना भौतिक लाभ देखनेवाला पापी बन जाता है।

समाजमें स्वतंत्र मत रखनेवाले सेवकों का विरल होना देशवासी समाजके पापपूर्ण वातावरण का प्रभाव है। देशकी इस असत्य अवस्था का नाश करने पर ही देशकी पवित्रताकी रक्षा हो सकती है, सत्यनिष्ठा का प्रचार हो सकता है और देशमें स्वतंत्र मनुष्य माने योग्य क्षेत्र बन सकता है।

देशका वर्तमान वातावरण इतना दूषित हो चुका है कि अब भारतीय स्वातन्त्र्ययुद्ध छेडने सेही धर्मद्वेषी दुःसाहसियों की बाढ रोकी जा सकती है। अधर्माचारियों के अभ्युत्थान को नष्ट करके समाजके मनमें धर्म (कर्तव्यपालन) की स्थापना करनाही युद्धरूपी कर्तव्य का महत्त्वपूर्ण फल है। संपूर्ण युद्ध समाजको कलुषित या अव्यवस्थित करनेवाले नहीं होते। धर्मयुद्ध तो अधर्माचारी, पददलित समाजमें संजीवनी सुधाका काम देते हैं। संपूर्ण युद्ध हिंसात्मक नहीं होते। लोभान्ध लुटेरों के युद्ध ही हिंसात्मक होते हैं। ऐसे युद्धों के विरोध के लिये किये हुए युद्ध शस्त्र-युद्ध होने पर भी हिंसात्मक नहीं होते। किन्तु अहिंसात्मक अर्थात् देशकी मानसिक पवित्रता के संरक्षक होते हैं।

युद्ध स्वयं देशनाशक या देशरक्षक नहीं होते। योद्धाओंकी मनोदशाओंसे ही देशनाश या देशरक्षा होती है। देशरक्षकों को स्वभाव से योद्धा होना चाहिये। देशरक्षकों का युद्धवेष देशध्वंसकारी अधर्म को सिर न उठाने देने के लिये प्रत्येक क्षण समरयात्रा के लिये सन्नद्ध रहना चाहिये। धर्म-युद्ध से मुंह मोडना देशविनाशक समाजद्रोहियों का स्वभाव होता है। असत्यका विरोध करना ही योद्धा की मनोवृत्ति है। इसलिये युद्धको देश-नाश का कारण समझना भ्रम है।

जिस प्रकार युवतियों का रूपयौवन दुष्टोंकी लालच की वस्तु हो सकता है, इसलिये प्रत्येक युवती को अपने रूपयौवन को दुष्ट-भोग्य न बनने देने के लिये प्रत्येक समय सशस्त्र तथा प्रहारोद्यत रहकर नंगे हाथों कहीं बाहर न निकलकर अनधिकारी की अनधिकार चर्चा का विघ्नस्वरूप दुर्गादेवी या रणचण्डी बना रहना चाहिये, इसी प्रकार किसी देश की सस्य श्यामला उर्वरभूमि पर लोभी परराष्ट्रोंकी क्रूर दृष्टि न पडने देने के लिये संपूर्ण देश को सशस्त्र रहकर अपने देशकी अहिंसा की रक्षा के लिये युद्धोद्यत रहकर लोभियोंके लोभ को विघ्न बने रहना चाहिये।

अधर्म के विरोध में युद्ध न होना मृत अर्थात् पहले से ही अधर्म से दबे हुए शक्तिहीन समाज या देशका चिह्न है। अधर्म के विरोधमें युद्ध छेड देनेवाले देश या समाज ही धर्म को सुरक्षित रख सकते हैं। इस दृष्टिसे धर्मयुद्ध न होना अर्थात् देशमें संग्रामहीन अवस्था आ जाना स्वस्थ देश या समाज का चिह्न नहीं है। युद्धहीन देश मानसिक रोगों (निर्बलताओं) का शिकार बना रहता है।

यह अवसर ऐसा है कि यदि इस समय देश युद्धविमुख हो जायगा, तो देशको लूटनेवालों के हाथों से देशकी उतनी हानि नहीं होगी, जितनी कि लूटका विरोध न करनेवाले देशवासियों के हाथों से होगी। धर्मयुद्ध न होनेसे सारा देश सारे देश को लूट लूटकर खाने में मस्त हो जायगा और सामाजिक लूट की ओर से जानबूझकर आंखमिचौनी खेलता रहेगा। यदि अब भारत युद्धविमुख हो गया, तो भारत को भी भारत के लुटेरोंकी पंक्तिमें ही ले जाकर खडा करना पडेगा। अंग्रेजी सरकार अपनी लूटसे देशका उतना नाश नहीं कर सक रही है, जितना कि भारत उस लूट के विरोध में सिंहगर्जना न करके कर रहा है। यदि भारतने युद्ध नहीं किया, तो भारत के दो शत्रु हो जायंगे। पहला शत्रु भारत होगा तथा दूसरा अंग्रेजी सरकार होगी। भारत ही भारत का नाशक अपमानकारक लुटेरा बने, यह भारतके लिये बडे भारी

अपमान और अपयश की बात होगी। भारतसे तो भारत के रक्षक होनेकी आशा की जाती है। वह इस पापमयी लूटके विरोधमें युद्ध करके अपने देशरक्षक मानवीय भावों की अर्थात् भारतीय मनुष्यताकी रक्षा कर सकता है।

सच्चे मनुष्योंमें असत्यको पराभूत करते हुए सत्यको विजयी रखने की जो शक्तिमत्ता, आत्म-विश्वास तथा रणोल्लास पाया जाता है, वही देशकी क्षत्रशक्ति कहाती है। धर्म की रक्षा करने अर्थात् अधर्म का सर्व नाश करने के भाव को लेकर अपनी इस क्षात्र शक्तिका सदुपयोग करने के अतिरिक्त इस समय देशके सामने दूसरा कोई भी कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है। जिसे इस कर्तव्य को छोड देने की इच्छा हो, वह उसकी स्वधर्म त्यागने की निर्बलता है। जो देश क्षत्रियत्व का अभिमान रखना चाहता हो उसे यह निर्बलता त्यागनी ही पडेगी। इस समय भारतवासियों के सामने देशकी क्षात्र शक्ति (असत्यको रोकनेके लिये उसके विरोध में खडी होनेवाली शक्ति) के सदुपयोग का ईश्वरदत्त सुअवसर आया है। हे भारतवासियों! अपने मनुष्यत्व को सुरक्षित अर्थात् अखण्डित रखने के लिये उससे लाभ उठाने में चूक मत करो। अब अधर्म का विनाश करके धर्म की रक्षा करना हम सब का पवित्र कर्तव्य हो गया है। इसी से हमारी आत्मरक्षा और स्वधर्मरक्षा हो सकेगी। यदि देश इसे त्याग देगा, तो धर्मत्यागरूपी आत्महत्या कर बैठेगा। इसलिये मनुष्य बने रहने के लिये अब अहिंसात्मक धर्म-युद्ध ठान देनेके अतिरिक्त कोई गति नहीं रह गयी है। इस समय भारतका युद्ध करना और अपने को अधर्म से बचाना एक ही बात होगी।

कर्तव्यपरायणों के पास कर्तव्य सदा ही आता रहता है। कर्तव्य को छोडना स्वर्ग में जानेसे मुंह मोडना है। विचारवान् सदा से कर्तव्य को ही स्वर्गद्वार मानते आये हैं। मनुष्य शोकमोहमें न फंसे, रोनेहंसने के वशमें न आये, तो सारा संसार मिल कर भी उसे पराधीन नहीं रख सकता। रोनेहंसनेवालों को सदा पराधीन रहता देखा गया है। सम्पूर्ण विकारों से रहित मन पाना ही स्वर्ग पाना है। स्वर्गवासी स्वतंत्रता भोग सकते हैं। अधर्म का नाश करके, अर्थात् अधर्म को अपने देशसे निर्वासित करके शोक-मोहातीत न रोने न हंसनेवाला मन रखना ही मनुष्यों के पाने योग्य स्वर्ग या स्वराज्य है। अधर्म का नाश करने पर ही ऐसे मनकी रक्षा हो सकती है। ऐसे मन की रक्षा करके ही स्वर्ग या स्वराज्य मिलता है। अपनी ही अनन्त शक्ति से अधर्म का संहार करके धर्म की रक्षा करनेवाले क्षत्रियों को ऐसे कर्तव्य प्रतिक्षण दीखते रहते हैं। उन कर्तव्यों को पालकर अक्षय स्वराज्य को पाना ही उनके जीवन की अटल, अक्षय तथा अमूल्य संपत्ति होती है। वे इसे प्राप्त करने के सुअवसरों का स्वागत करते हैं।

अब भारत के सामने इस अतुलनीय सौभाग्य-सुख अपनानेका अवसर उपस्थित है। भारत को इसे हाथसे न जाने देना चाहिये। यदि भारतने इस सुअवसरसे लाभ उठाने में टालमटोल की तो भारत अपने को अनन्त काल के लिये दुःख के गहरे गढ्ढेमें धकेलनेकी भूल कर बैठेगा। भारतको चाहिये कि वह इस समय अपनी गौरवरक्षा के नाम पर भौतिक सुखसुविधाओं को ताकपर उठाकर रख दे और अपने स्वधर्मकी रक्षा करे। इस समय भारत का इस कर्तव्य को छोडना अपने हाथों अपना सर्वनाश करना है। यदि भारत सच्चे सुख का मुंह देखना चाहता हो, तो वह युद्ध ठानकर स्वधर्मकी रक्षा करे।

भारत का इस अहिंसात्मक युद्धरूपी इस स्वधर्म का छोड देना कीर्ति त्यागना और पापी बनना है। यदि भारत युद्ध नहीं करेगा, तो संसार में उसकी अकीर्ति स्थायी हो जायगी। कलाविद्या, दर्शनविज्ञान, धर्मसंप्रदाय, जीवन के प्रत्येक विभागमें उन्नतिशील महात्मा, शासक, राजनीतिज्ञ,

गणितज्ञ, पण्डित, कवि, सेनापति, उपनिवेश-संस्थापक, शिल्पी, कृषिविद्, जलस्थल के व्यापार के एकच्छत्रनियामक पैदा करनेवाले तथा हजारों वर्षों तक बडी शानके साथ एशियाखण्ड का अर्थात् संसार की आधी मनुष्यसंख्याका बौद्धिक नेतृत्व करनेवाले भारत जैसे कीर्तिसंपन्न देशकी अकीर्ति का स्थायी बन जाना भारत के समुद्रमें डूब जानेसे भी बडा अनिष्ट हो जायगा। गुणियों के समाजमें प्रतिष्ठित रहना ही कीर्ति कहाती है। वेही सच्चे मनुष्य हैं, जो स्वधर्म को नहीं छोडते, जो धर्म के नामपर अधर्म का विरोध करनेसे नहीं चूकते। ऐसे मनुष्य संसारमें ज्ञानज्योतिका काम करते हैं। ऐसे ज्ञानज्योतियों में गिना जाना भारत के लिये गौरव की बात है। ज्ञानियों के समाजमेंसे भारत का नाम कट जाना भारतकी मृत्यु है। यदि भारतवासी स्वजनधनकी मोहममता में फंसकर इस कर्तव्यरूपी भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्रामको न करके जीवित रहना चाहेंगे, तो इसीसे भारतकी मृत्यु हो जायगी। क्योंकि ऐसा होनेपर भारत का नाम ज्ञानियों के समाजमेंसे लुप्त हो जायगा। यदि भारत अपनी धर्मरक्षा के लिये युद्ध करेगा, तो उससे भारत का स्वधर्म रक्षित हो जायगा। अर्थात् भारतीय मन पतित होनेसे बच जायगा और भारतमें अनन्त चेतना के बादल बरसने लगेंगे। जो अक्षय कीर्ति कमा लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं। वे मरकर भी जगत् को ज्ञान-ज्योति दिखाते हैं। मरकर भी जगत् को ज्ञानज्योति दिखानेवाली उनकी मानसिक उदार अवस्था सदा कीर्तिमती होकर जगद्वन्द्य बनी रहती है। ऐसे लोगोंमें अपना यशस्वी स्थान प्राप्त करना ही भारतीयों के जन्म की सार्थकता है। भारत के सामने कर्तव्यरूप में उपस्थित युद्ध इसी अभिप्राय को सिद्ध करनेवाला सुअवसर बनकर आया है। यदि भारत अब इसे स्थगित रखेगा, तो आत्महत्या-रूपी महापाप करेगा।

कर्तव्यपालनसे सदा कल्याण होता है। कर्तव्य-पालन न करने से सदा अकल्याण होता है। युद्ध-क्षेत्रमें अपने शत्रुको उत्साहित होनेका अवसर न देनाही युद्धधर्म का पालन करना कहाता है। मनुष्य बाह्य शत्रुको उत्साहित होनेका अवसर तब ही देता है, जब वह उससे प्रथम अपने मनके शत्रु (मानसिक निर्बलता) के सामने घुटने टेक देता है।

आज भारतको यह ध्यान नहीं है कि देशमें कितनी बडी कर्मशक्ति भरी पडी है। वह लोभ में फंसकर शक्ति को भूला पडा है और भेडके समान कान पकडवा रहा है। आज भारत के पास अपनी सामाजिक शक्ति को आंक-नेवाली आंखका अभाव है। आज भारत व्यक्तिगत शक्तिके अनुभवों से बंधा पडा है। यदि किसी तरह भारतको अपनी विराट् कर्मशक्ति का ध्यान दिला दिया जाय, तो वह विदेशी राष्ट्र को फूंकसे उडा सकता है। भारत केवल अनुत्साह का रोगी है। भारत केवल अपने अनुत्साहसे अधर्मकी विजय को सुलभ बना रहा है। भारतके शत्रु भारत के अनुत्साहसे लाभ उठा रहे हैं। अधार्मिक विदेशी भारत की स्वधर्मत्यागरूपी कापुरुषता में से अपने पापा-चरणों का समर्थन ढूंढ रहे हैं। वे भारत के विरोध न करनेसे अपनी कायरता को ही वीरता कहकर उन्मत्त हो रहे हैं। वे भारत की असमर्थता को ही अपना सामर्थ्य कहते फिरते हैं और भारत को बदनाम कर रहे हैं। भारत की यह कायरता उनकी प्रसन्नता तथा गौरव का कारण बनकर भारत को कलंकित कर रही है। धर्मरक्षाके लिये भारत का यह असामर्थ्य विदेशियों को धर्म का विरोध करने में समर्थ बना रहा है और स्वयं निन्दित हो रहा है। यह भारत के लिये बडी लज्जा की बात है। भारत के ऐसा करनेसे उनको अपने अधर्माचरण का विजयडिण्डिम बजाने का अवसर मिल रहा है और इससे संसार को यह समझने का अवसर मिल रहा है कि भारतमें स्वधर्म की रक्षा करनेकी शक्ति ही नहीं रही।

अब भारत को यह सोचना है कि भारतके पक्षमें इससे बढकर दुःख की बात क्या हो सकती है? अब भारत को अपनी कीर्ति के उदयका मार्ग निकालना होगा। इसलिये अब भारत के लिये युद्ध करना ही कल्याणकारी कर्तव्य रहा गया है। ऐसा किये विना भारतको अपना गत गौरव प्राप्त नहीं होगा।

यदि इस युद्ध में भारतीय सेवकों के नाशवान् शरीर नष्ट भी हो जांय, तोभी वे जिस अप्रभावित स्वाभिमानपूर्ण निर्विकार मनको लेकर युद्ध करेंगे, वह अक्षय स्वर्ग तो उनको युद्धका निश्चय ठानते ही मिल चुकेगा। फिर चाहे वे युद्ध में मर जांय या जीते रहें। उनका वह अक्षय स्वर्ग दोनों अवस्थाओंमें एकसा रहेगा। भारत युद्धका निश्चय ठानते ही देखेगा कि भारत को आत्म-बोध हो चुका है। तब भारत देखेगा कि वह युद्ध जैसे कोलाहलपूर्ण कर्तव्यमें भी निर्विकार मनो-दशा रख रहा है और सत्यारूढता का आनन्द ले रहा है। तब भारत देखेगा कि उसके शत्रुओं-की विपत्ति उसके अनुत्साह से दबी पडी थीं। तब भारत देखेगा कि विजय भारत के उत्साहकी प्रतीक्षा कर रही थी। इसमें संदेह नहीं कि युद्ध में नाश होगा, परन्तु वह तो प्रत्येक अवस्थामें अनिवार्य है। नाश तो सृष्टिका नियम है। विना युद्ध भी नाश होता है। जब नाश अनिवार्य है तब सत्य के नामपर नाश सौभाग्य है। इस मनो-दशाको लेकर भारतीय स्वतंत्रता के जितने सेवक मरेंगे वे सर्वव्यापी आत्मा के रूपमें अमर हो जांयगे। धर्मयुद्ध के लिये मरना अपने को अमर कर लेना है। जो मरनेसे डरते हैं, उन्हें संसार में सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार नहीं है। यदि वे ईश्वरेच्छासे युद्धके पश्चात् भी जीते रह गये, तो वे विदेह जीवन्मुक्त बनकर मोहबन्धन से बचकर भारतका भौतिक आधिपत्य करेंगे।

जब भारतवासी अपने अपने व्यक्तिगत जीवनों की कीचडसे बाहर निकलकर भारतीय मनुष्यता की दृष्टिसे कर्तव्य निर्णय करेंगे, तब भय उनके हृदयों को छोडकर भाग जायगा और जीवनमें महान् आनन्द का समावेश हो जायगा। तब भारत अपने आप संगठित हो जायगा। तब उसमें संयम, देशभक्ति तथा उत्साह आ जायगा। तब सारा भारत स्वतंत्रता का सैनिक बन जायगा। तब भारत देखेगा कि युद्ध न करना भारत के लिये पाप है।

जब भारत भौतिक सुखदुःख, लाभालाभ, जयपराजय आदि को ईश्वर की इच्छा मानकर कर्तव्यबुद्धि से युद्ध करेगा, तब भारत का एक भी सैनिक विजय पाये विना घरको नहीं लौटेगा। यों भारत की मुक्ति, भारत की निष्पाप अवस्था तथा भारतकी कर्तव्यनिष्ठाका मार्ग युद्ध करने से दूसरा नहीं है।

संग्रामका स्वरूप।

संसारमें जितने प्राणी हैं, सब के मन में शान्ति की मांग है। परन्तु शान्ति का स्वभाव बडा विचित्र है। वह सदा अशान्ति के कांटों की बाडमें छिपकर बैठती है। जो शान्ति चाहेगा, उसे अशान्ति से झगडना होगा। उसे अशान्ति का मानमर्दन और अस्तित्वनाश करना पडेगा। यदि वह अशान्ति के कारणों से डर जायगा और उन्हें नहीं हटायेगा तो शान्ति नहीं मिलेगी। यदि भारत शान्ति चाहता हो तो उसे अपनी अशान्ति के कारणों के विरुद्ध युद्ध ठानना ही पडेगा। शान्ति की प्यास में से ही युद्धकी आग फूट निक-लती है। जहां शान्ति की प्यास नहीं है, वहां युद्ध का अभाव है।

(क्रमशः)

सूर्य और स्वास्थ्य ।

(लेखक—डॉ० श्री० एम्० सी० जैन, एम०बी०बी०एस्०)

भारतीय हिन्दुओं की दिनचर्या का कोई भी एक कृत्य विज्ञानालोक में लाकर विवेकदृष्टि से देखिये—पहले की अपेक्षा कहीं अधिक चमकदार और उपयोगी सिद्ध होगा। आज आप भारतीयों के सूर्योपासना के विधान पर निगाह दौड़ाइये, उसके विज्ञान सम्मत होनेका स्पष्ट प्रमाण मिल जायगा! आप विश्व के इतिहास के पुराने पृष्ठों को पलटें, प्रायः प्रत्येक भूभाग में सूर्य मन्दिरों का दर्शन होगा। आज भी दक्षिणी अमरीका, वेबीलोन और ग्रीक आदिके भूगर्भ से निकलने वाले खण्डरात और ईंट पत्थर इसकी गवाही दे रहे हैं। प्रत्येक प्रकार की उपासना अथवा स्तोत्रपाठ की जड़में श्रद्धाभक्ति द्वारा चित्त को एकाग्र करने की भावना काम कर रही है। जब तक किसी वस्तु पर हमारी श्रद्धा दृढ न होगी, चित्त उस पर जमही नहीं सकता। किन्तु भारतियों की सूर्योपासना द्वारा चित्त-वृत्ति-निरोध के साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्य की भावना काम कर रही है। ऋग्वेदका आदेश है—

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावा-
पृथिवी अन्तरीयते। अपामीवां बाधते वेति
सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥

स्वर्णरश्मियो युक्त सूर्य आकाश और पृथ्वी के बीच से गुजरता है और रोग एवं अन्धकार का विनाश करता हुआ आकाशमण्डल को आलोकित करता है।

स्थितिः—सूर्य वृत्ताकार पृथ्वी की नाभि पर स्थिति हैं। सूर्य की परिक्रमा पृथ्वी पूरे ३६५ दिन में समाप्त करती है। वह परिक्रमा करती हुई कभी उसके समीप अर्थात् ९१२५०००० मील के अन्तर पर पहुंच जाती है। सूर्य अपनी गर्मी का २० अरववाँ भाग हम को प्रदान करता है और इतनी ही हमारे जीवन के लिये पर्याप्त भी है।

सूर्य और संसार।

१. सूर्य के उत्ताप द्वारा ही हमको प्रकाश और उष्णता मिलती है। वृक्ष, बनस्पति, औषधि आदि के उत्पन्न होने और फूलने फलने का कारणभी सूर्य ही है।

२. जलवृष्टि भी सूर्य द्वारा ही होती है। स्मृतिकार का वचन है— 'आदित्याज्जायते वृष्टिः।

३. ग्रह भी सूर्य के आकर्षण विकर्षण द्वारा अपने स्थान पर स्थित होकर ठीक काम करते हैं।

४. जलवायु भी सूर्य के प्रभावसे ही ठीक रहता और उसमें रासायनिक क्रियाएं होती रहती हैं।

५. समुद्रस्थ वडवानल और गर्म सर्द हवाएं भी सूर्य द्वारा ही उत्पन्न होती हैं।

६. सूर्य में कीटाणुओं को नष्ट करनेकी क्षमता है।

७. हमारी बुद्धि की वृद्धि करने और उनकी रक्षा करने की क्षमता भी आदित्य भगवान् को ही प्राप्त है।

८. यही नहीं, प्राण जो संसार की चैतन्यता का एक मात्र कारण है वह भी हमें सूर्यकी ही प्रेरणा से मिलती है। यही कारण है कि ऋग्वेद में सूर्य को जगत् की आत्मा बतलाया गया है।

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'

उपनिषद् भी सूर्यरश्मियोंमें प्राणों की स्थिति स्वीकार करता है— 'आदित्य उदयन् यत्प्राचीं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधते !'

इस विवेचनद्वारा निश्चय हो गया कि सूर्य रश्मियों का समुचित रूप से सेवन कर मनुष्य स्वस्थ और दीर्घायु बन सकता है। आप नागरिक और ग्राम्य जीवन की तुलना करें। ग्रामीणों के पास पौष्टिक आहार और स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रायः सभी उपयोगी उपकरणों का अभाव होता है, फिर भी वे लोग स्वस्थ और दीर्घजीवी होते हैं, अपने दूध, मक्खन खाने वाले शहरी भाइयों की अपेक्षा। इस का एकमात्र कारण है कि खुले शरीर में सूर्य-रश्मियों का उपयोग करना। अस्तु, वर्तमान परिस्थितिमें भारतियोंको अपने स्वास्थ्य सुधार में सूर्य-रश्मियों से पर्याप्त सहायता लेना चाहिए। निर्धनता और शारीरिक क्षीणता की आधुनिक अवस्था में हमको अपने पुराने इष्टदेव की सेवा में पुनः उपस्थित हो जाना चाहिये।

नवम नियम।

"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये; किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।" यह नवम नियम है।

जब तक एक मत, एक हानिलाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. दशम समु० पृ. ३९१]

अब तो बहुत से मतवाले होने से बहुत सा दुःख और विरोध बढ गया है, इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों, इसमें सब विद्वान् लोग विचारकर विरोधभाव छोडके आनन्द को बढावें।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. दशम समु. पृ. ३९७]

...परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सबसे सब प्रीति परस्पर मेल और एक दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. १४ समु पृ. ३९७]

जहां तक हो वहां तक अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त का रक्षण और रक्षित की वृद्धि, बढे हुए धन का व्यय देशोपकार करने में किया करें। सब प्रकार... अपने अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साहपूर्वक प्रयत्न से तन मन धन से सर्वदा परमार्थ किया करें।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ४ र्थ समु. पृ. २१९]

सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंग जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. १४ समु. अनु. पृ. ७०३]

...परोपकार करना और परहानि करना अधर्म कहाता है। इस लिये विद्वान को यथा-योग्य व्यवहार करके अज्ञानियों को दुःखसागर से तारने के लिये नौकारूप होना चाहिये।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ११ समु. पृ. ५२८]

...मनुष्य को सब से यथायोग्य स्वात्मवत् सुख दुःख हानि लाभ में वर्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्तना बुरा समझता हूं।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. स्वमन्तव्या. २६, पृ. ७९३]

... जो यथार्थ वक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिये प्रयत्न करता है उसी को आप्त कहता हूं।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. स्वम. प्र. स. ३८, पृ. ७९४]

जो छलादि दोषरहित, धर्मात्मा, विद्वान्, सत्योपदेष्टा, सब पर कृपादृष्टि से वर्तमान होकर अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश सदा करे उसको आप्त कहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. आर्योद्देश्य. र. स. ८१, पृ. ८९९]

जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढें, उसके करने को परोपकार कहता हूं।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. स्वमन्त. प्र. स. ४०, पृ. ७९५]

...अपने सब सामर्थ्य से दूसरे प्राणियों के सुख होने के लिये जो तन मन धन से प्रयत्न करना है, वह परोपकार कहाता है। जो तन मन और धन सब से सुख बढाने में उद्योग करना है, उसको सर्वहित कहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. आर्योद्देश्य. र. स. ५७, ७४, पृ. ८९७-८९८]

हे मनुष्य लोगो ! जो तुम्हारा मंत्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो। उसमें किसी

प्रकार का विरोध न हो। और जब जब तुम लोग मिल के विचार करो, तब तब सबके वचनों को अलग अलग सुन के जो धर्मयुक्त और सबका हित हो सो सो सब में से अलग करके, उसी का प्रचार करो। जिससे सभों का बराबर सुख बढता जाय। ... जिसमें सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्या आदि आश्रम, अच्छे अच्छे काम, उत्तम मनुष्योंकी सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिससे वृद्धि शरीर बल पराक्रम आदि गुण बढे तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों ऐसी जो उत्तम मर्यादा है सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो। जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायं। ... हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा मन भी आपस में विरोधरहित अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के सम-तुल्य पुरुषार्थ वाला हो। जो तुम्हारा मन और चित्त हैं ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें। ...

[द. ग्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि. पृ. ७३, ७४]

हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है उसको धर्म के साथ मिला कर सब सुखों को सब दिन बढाते रहो।... हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो ... सदा वैसाही प्रयत्न करते रहो कि जिससे तुम्हारे... हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहें। [अपने श्रद्धा, अश्रद्धा; धृति, अधृति; ह्रीः, धीः, भीः आदि गुणों को]सब प्रकार से सबके सुखों के लिये युक्त करो। हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार... धर्मसेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढे ऐसा काम सब दिन करते रहो। किसी को दुःखी देखके अपने मन में सुख मत मानो। किन्तु सब को सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो। जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें वैसा ही यत्न करते रहो।

[द ग्र द्वि. भा. ऋग्वेदादि. पृ. ३७६, ३७७]

... मैं सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि लाभ सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं।

[द. ग्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि. पृ. ३७८]

परम धन्य वे मनुष्य हैं कि जो अपने आत्माके समान सुख में सुख और दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं छोडते।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानुः पृ. ७३७]

आत्मा से परीक्षा उसको कहते हैं कि जो जो अपना आत्मा अपने लिये चाहे सो सो सबके लिये चाहना और जो जो न चाहे सो सो किसी के लिये न चाहना।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानुः पृ. ७३९]

पडौसी के साथ ऐसा बर्ताव करें कि जैसा अपने शरीर के लिये करते हैं, वैसे ही मित्रादि के लिये भी कर्म किया करें।

[द ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु पृ. ७४३]

जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं उनमें दो प्रकार का स्वभाव है। बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीडा कर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना देखने में आता है। जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है, परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनका उपकार और निर्बलों को पीडा देने वाले अधर्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र भी भय शंका न करके इनको पीडा से हटा के निर्बलों की रक्षा तन मन और धन से सदा करना है, वही मनुष्यों जाति का निज का गुण है [क्योंकि जो बुरे काम के करने में भय और सत्य कामों के करने में किञ्चित भी भय शंका नहीं करते वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं।]

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु पृ. ७५२]

वे धर्मात्मा विद्वान् लोग धन्य हैं जो ईश्वर के गुणकर्मस्वभाव अभिप्राय, सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण और आप्तों के आचार से अविरुद्ध चलके सब संसार को सुख पहुंचाते हैं । और शोक है उनपर जो कि इनसे विरुद्ध, स्वार्थी, दयाहीन होकर जगत् में हानि करने के लिये वर्तमान हैं । पूजनीय जन वे हैं कि जो अपनी हानि होती हो तो भी सब के हित के करने में अपना तन, मन, धन लगाते हैं । और तिरस्करणीय वे हैं जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रहकर सबके सुखों का नाश करते हैं ।

[द. ग्र. प्र. भा. गोकरुणानिधि. पृ. ९१९]

सुनो बन्धुवर्गो! तुम्हारा तन मन धन गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे तो किस काम का है? देखो परमात्मा का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और सब पदार्थ परोपकार ही के लिये ही रच रक्खे हैं, वैसे तुम भी अपना तन मन धन परोपकार ही के अर्पण करो।... ध्यान देकर सुनिये कि जैसा दुःख सुख अपने को होता है वैसा ही औरों को भी समझा कीजिये। ... इसलिये आजतक जो हुआ सो हुआ, आगे आंखें खोलकर सबके हानिकारक कर्मोंको न कीजिये और न करने दीजिये।... आप लोगोंका यही काम है कि पक्षपात छोड सबकी रक्षा और बढती करने में तत्पर रहें। सर्वशक्तिमान जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड, सर्वोपकारक कर्मोंको करके, सब लोग आनन्दमें रहे ।

[द. ग्र. द्वि. भा. गोकरुणा० पृ. ९३२-९३४]

जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिये ।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ३ य समु. पृ. १२६)

मनुष्यों को योग्य है कि सब मंगल कार्योंमें अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञद्वारा ईश्वरोपासना करें ।

[द. ग्र. द्वि. भा. संस्कारविधि, पृ. १३]

क्योंकि सबका उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है । ...जब वायु और वृष्टि जल को बिगाडने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है, तो उसका निवारण करना भी उनको ही योग्य है।... सबके उपकार के लिये यज्ञका अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है ।

[द. ग्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि० पृ. ३२१]

जब होम से वायु जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं, तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होनेसे सबको दुःख होता है, इससे इनकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिये।

[द. ग्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि० पृ. ३१९]

यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि जलका दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है। सो यह दोषईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है। इस कारण से इसका निवारण करना भी मनुष्यों को उचित है ।

[द. ग्र. द्वि.भा. ऋग्वेदादि० पृ. ३२०]

देखो जहां होम होता है वहां... अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके फैल के वायु के साथ दूर देशमें जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है । ...केशर, कस्तुरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि... सुगन्धका यह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध वायु का प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदक शक्ति नहीं है और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंको छिन्न भिन्न और हलका करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु का प्रवेश कर देता है ।... इस होम करनेके बिना पाप होता है । क्योंकि जिस मनुष्यके शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होके वायु और जल को बिगाड कर रोगोत्पत्तिका निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त करता है उतना ही

पाप उस मनुष्य को होता है। इस लिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध व उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिये। और खिलाने पिलाने से उसी एक व्यक्तिको सुख विशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है।... जब तक इस होम करने का प्रचार रहा तबतक आर्यदेश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था [अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाय।]

[द० ग्र० स० प्र० भा० तृतीयसमु० पृ० १२६-१२७]
[देखो द० ग्र० द्वि भा० ऋग्वेदादि पृ० ३२६]

अग्निहोत्र [से लेके अश्वमेधपर्यंत जो कर्मकाण्ड है उस] में चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है। एक सुगन्धगुणयुक्त जो कस्तूरी केशर आदि है, दूसरा मिष्ट-गुणयुक्त जो कि गुड और सहत आदि कहाते हैं, तीसरा पुष्टिकारक गुणयुक्त जो घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं और चौथा रोग-नाशक गुणयुक्त जो कि सोमलतादि औषधि आदि हैं। [इस वाक्य के देखो स्पष्टीकरणार्थ विस्तारसे चार प्रकार के द्रव्यों के लिये (द० ग्र० द्वि० भा० संस्कार पृ० १४ तथा द०ग्र० प्र० भा० पञ्चमहा-यज्ञविधि, पृ० ८७५-८७६ इन चारों का परस्पर-शोधन संस्कार और यथायोग्य मिलाके अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है, वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनेवाला होता है। इससे सब जगत् को सुख होता है। ... सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है। जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के उनमें छौंक देने से वे सुगंधित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगंधद्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढानेवाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुख करता है। इससे वह परोपकार के लिए ही होता है।... [जनता नाम जो] मनुष्यों [का है उसी] के सुख के लिए यज्ञ होता है और संस्कार किये द्रव्यों का होम करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्यों-कि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा, उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि पृ० ३१६-३१७]
[देखो द० ग्र० प्र० भा० पञ्चमहायज्ञ पृ० ८०६]

जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है, उसके अणु अलग अलग होके आकाशमें रहते ही हैं; क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुतः अभाव नहीं होता। इससे वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करनेवाला अवश्य होता है। फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बडा उपकार और सुख अवश्य होता है।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि पृ० ३२६]

वायु और वृष्टि जल की शुद्धिद्वारा अग्निहोत्रसे लेके अश्वमेधपर्यंत यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि पृ० ३९१-३९२]
[तुलना करो द०ग्र०द्वि०भा०ऋग्वेदादि पृ० ३९६]

सर्वदिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करनेवाले होम को किया करें।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि पृ० ४४८]

जब विद्या से प्रकाशित ... ब्रह्मचारी होता है, वह पूर्वसमुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तम समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है, वह सब लोगों का संग्रह करके बारम्बार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है। ... जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् सांगोपांग चारों वेदों का शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को यथार्थ धारण करता है, तभी

प्रकाशमान होता, उसमें सम्पूर्ण दिव्य गुण निवास करते और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं। वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख-क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रज्ञा को धारण करके सब मनुष्यों के हितके लिये सब विद्याओं का प्रकाश करता है।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि पृ० ८९]

हम स्त्री-पुरुष, सेवक-स्वामी, मित्र-मित्र पिता-पुत्रादि मिलके प्रीतिसे एक दूसरे की रक्षा किया करें और ...एक दूसरे के पराक्रम की बढती सदा किया करें ... हम एक दूसरे से कभी विद्वेष विरोध न करें। किन्तु सदा मित्रभाव और एक दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्त कर वह सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढाते हुए सदा आनन्द में बढते जावें। ..हम लोग प्रीति से एक दूसरे के साथ वर्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल हो के सदैव स्वयं आनन्द में रहकर सबको आनन्द में रक्खें।

[द० ग्र० द्वि० भा० संस्कार० पृ० २१४]

संन्यासी मोहशोकादि दोषों से रहित होकर सदा सब से उपकार करता रहे।

[द० ग्र० द्वि० भा० संस्कार० पृ० २४६]

संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें और उसकी आज्ञा अर्थात् पक्षपातरहित न्यायधर्म में स्थित होकर सत्योपदेश सत्यविद्या के प्रचार से सब मनुष्यों को सुख पहुंचाता रहे।

[द० ग्र० द्वि० भा० संस्कार० पृ० २४७]

संन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश शंका-समाधान वेदादि सत्यशास्त्र का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।

[द० ग्र० प्र० भा० स० प्र० पंचम समु० पृ० २३८]

[मनुष्य] सदा पश्चात् करें कि मनुष्य शरीर धारण करके हम लोगों से जगत् का उपकार कुछ भी नहीं बनता। जैसा कि ईश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति करके सब जगत् का उपकार किया है, वैसे हम लोग भी सबका उपकार करें, इस काम में परमेश्वर हमको सहाय करें कि जिससे हम लोग सब को सदा सुख देते रहें।

[द० ग्र० प्र०भा०स०प्र० पञ्चमहायज्ञ पृ० ८५७]

सब आर्य और आर्यसभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द के समय समाज पर भी दृष्टि रक्खें और उसकी धनादि से सहायता किया करें।

[आ० स० उपनि० सं० ३८, प्रका० सार्वदे० सभा० सं० १९९१ वि]

हे सहनशीलेश्वर! आपके अनुग्रह से हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान्, रक्षक, सहायक, परम पुरुषार्थी हों; एक दूसरे का दुःख न देख सकें, स्वदेशस्थादि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर,प्रीतिमान्,पाखंड-रहित करें....हम लोग परस्पर परमानन्द का भोग करें... हम लोगों का पठनपाठन परम विद्यायुक्त हो तथा संसार में सबसे अधिक प्रकाशित हो और अन्योन्य प्रीति से परमवीर्य पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें...हे जगदीश्वर! आपके सामर्थ्य से हम लोगों में परस्पर विद्वेष अर्थात् अप्रीति न रहे, जिससे हम लोग परस्पर विद्वेष न करें, किन्तु सब तन, मन, धन, विद्या इनको परस्पर सबके सुखोपकार में परम प्रीति से लगावें।

[द० ग्र० प्र० भा० आर्याभिविनय पृ० ३७-३८]

दशम नियम।

'सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।'

सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित होंगे।

[आ० स० उपनियम स० ३४, प्रकाशक सार्वदेशिक सभा, सम्वत् १९९१ वि०]

[प्रजा के धनाढ्य आरोग्य खानपान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बडी उन्नति होती है। प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पितासदृश राजा और राजपुरुषों को जाने।] दोनों अपने अपने काम में स्वतन्त्र और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र रहें। [प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राजपुरुष न हों। राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष व प्रजा न चले।]

[द०ग्र०प्र०भा०स०प्र०६ष्ठ समु०पृ०२७०]

(प्रश्न) जीव स्वतंत्र है या परतंत्र?

(उत्तर) अपने कर्तव्यकर्मों में स्वतंत्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है।...अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतंत्र परन्तु जब वह पाप कर चुकता है तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिये कर्म करने में जीव स्वतंत्र और पाप के दुःखरूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

[द० ग्र० प्र० भा० स० प्र० सप्तम समु० पृ० ३०२]
तुलना करो [द० ग्र० प्र० भा० स० प्र० सप्तम समु० पृ० ३०३]

[जो जो पराधीन कर्म हो, उस उस का प्रयत्न से त्याग और जो जो स्वाधीन कर्म हो, उस उस का प्रयत्न के साथ सेवन करे। क्योंकि जो जो पराधीनता है, वह वह सब दुःख और जो जो स्वाधीनता है, वह वह सब सुख।] परन्तु जो एक दूसरे के अधीन काम हैं, वह वह आधीनता से ही करना चाहिये। [जैसे स्त्री और पुरुष एक दूसरे के अधीन व्यवहार अर्थात् स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का परस्पर प्रियाचरण अनुकूल रहना, व्यभिचार वा विरोध कभी न करना, पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री और बाहर के काम पुरुष के अधीन रहना, दुष्ट व्यसन में फसने से एक दूसरे को रोकना अर्थात् यही निश्चय जानना।]

[द० ग्र० प्र० भा० स० प्र० चतुर्थ समु० पृ० ६०५]

[महाविद्वानों को विद्यासभाधिकारी धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद और जो उन सब में सर्वोत्तम गुणकर्मस्वभावयुक्त महान् पुरुष हो, उस को राजसभा का पतिरूप मान के सब प्रकार से उन्नति करें।] तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग वर्तें। सब के हितकारक कामों में संमति करें। सर्वहित करने के लिए परतन्त्र और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो जो निज के काम हैं, उन उन में स्वतंत्र रहें।

[द०ग्र०प्र०भा०स०प्र०६ष्ठ समु० पृ०२४२]

सब अपने अपने काम करने में स्वतंत्र हैं, परंतु ईश्वर की आज्ञा अच्छे कामों के करने के लिए है, बुरे के लिए नहीं।

[द०ग्र०प्र०भा०स०प्र० सत्यधर्मविचार पृ०८४३]

सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में पराधीन भी है।

[द०ग्र०द्वि०भा ऋग्वेदादि पृ०३८१]

चीन का तॅओ धर्म ।

(TAOISM)

देव-धर्म ।

(लेखक- श्री० पं० जयदेवशर्मा विद्यालंकार मीमांसातीर्थ, अजमेर)

मनुष्य क्या मानता है और क्या नहीं मानता है यह कहना बहुत कठिन है। जीवन भर मनुष्य अपने अनुभव संकलन करने में ही लगा रहता है। एक से एक अधिक विशेष ज्ञानी और चतुरवाक्-कोविद पुरुष मनुष्यको टकरतेही रहते हैं। वह अपने जीवनमें उनसे कुछ न कुछ नया सीखता है और पुराने की परीक्षा किया करता है, सहस्रों बातें उसे ग्राह्य, सहस्रों अग्राह्य और अनेक स्वीकार करने योग्य और अनेक खण्डन करने योग्य मिला करती हैं। यदि मनुष्य ज्ञान-पिपासा के भाव से विचरे तो जिनको वह बालक भी समझता है, अनेक बार उनके वचनों में भी अनेक ग्राह्य बातें मिलती हैं, जिनको मूर्ख अनपढ कहते हैं, उनके साधारण से साधारण अनुभव भी विशेष महत्त्व के प्रतीत होने लगते हैं।

जिन दिनों मैं वेदभाष्य किया करता था, मैंने एक देहात का बालक नौकर रखा, वह उमर में १३-१४ वर्ष का था, परन्तु वह बडा सहृदय था, पढा लिखा तो कुछ न था। तो भी बात बड़ी गहरी कहता था। उसे एक दिन थोडीसी खीर खाने को दी, जब खा चुका तो प्रसन्न होकर बोला- "माताजी! नीक मलूक लागे" अर्थात् थोड़ी वस्तु बहुत मन को भाती है। यदि अधिक दी जाती तो वह भी अच्छी न लगती। यह कितनी गहरी सचाई उस दिहाती बालकने कही। अस्तु! इसी प्रकार हमारे जीवन में अनेक बातें ऐसी आती हैं जिन्हें जानकर हम उन्हें अन्तरात्मा से सराहने लगते हैं, अनेक बातों में हमें सन्देह उठकर विचारने का अवसर प्राप्त होता है। मनुष्य प्रायः अपने सुने-सुनाए वा पढे-पढाए धार्मिक और दार्शनिक विचारोंपर गर्व किया करता है, परन्तु कभी कभी जब अन्य देशोंके वा अन्य धर्मोंके मानने-वालों के विचारों से टक्कर लगती है तब उसको बड़ा विस्मय होता है। वह धैर्यसे उनके मन्तव्य सुनता है, परन्तु अनेकवार उनके मन्तव्यों में भी गहरी बातें उसे मिलती हैं।

इसी विचारसे इस लेखमाला को 'वैदिक धर्म' में प्रारम्भ करते हैं, जिससे वैदिक धर्म को माननेवालों को अन्य देशों के धर्म-मत और सम्प्रदायोंकी बातें भी पढने को मिलें और वे समय समय पर उनकी तुलना वैदिक धर्म वा अन्य भारतीय परिचित धर्मोंसे कर सकें। इससे जहां उनको अनेक लुप्तप्राय समुदायों के विचार ज्ञात होंगे, वहां उनको अनेक ऐसे तथ्य भी ज्ञात होंगे जिन का बडा भारी सम्बन्ध हमारे अतिप्राचीन वैदिक धर्मसे ही होगा। और उसपर हम आश्चर्य करेंगे कि इसकी संगति सिवाय वैदिक धर्म के और किसी प्रकार लग नहीं सकती। अन्य प्राचीन विलुप्त जातियों के इतिहास में भी यदि कोई उज्ज्वल प्रकाश था तो वह 'वेद' वा आर्य-संस्कृति का ही विकृत वा सुकृत रूप था। इस लेख में हम चीन देश के प्राचीन 'तॅओ' धर्म पर कुछ लिखेंगे। ×

चीन में तीन सम्प्रदायोंने बहुत विस्तार प्राप्त

× Tao- तॅओ- इसको इस उच्चारण करना चाहिये जैसे उर्दूवाले 'ऐन' अक्षर का उच्चारण करते हैं या अंग्रेजी में cat में a का उच्चारण करते हैं। Tao का उच्चारण ऐसा है chaos केऑस यह शब्द 'देव' शब्द से विकृत हुआ है।

किया है—

(१) कन्फूशियस-सम्प्रदाय ने, (२) तॅओ धर्म ने और (३) बौद्ध धर्म ने। इन तीनों ने चीन में फैलकर अपने को जादू टोनेसे पृथक् नहीं रखा। इन में भी भूत-प्रेत-पिशाचों की पूजा और पितरों की पूजा का सम्बन्ध जुडा रहा है। कन्फूशियस-धर्म में पूर्वपुरुषों की पूजा ही मुख्य बात है। कन्फूशियन धर्मके विचार भी उदात्त, सुन्दर, चिताकर्षक और आगे बढे हुए हैं। तेओ धर्म और बुद्धधर्म भी प्राचीन हैं, उनके सिद्धान्त भी गम्भीरता और उदात्तता में कम नहीं, परन्तु चीन में इन धर्मों का कई शताब्दियों तक भूत-प्रेत-पिशाच-पूजाके साथ सम्बन्ध रहनेसे ये दोनों सम्प्रदाय अब बहुत नीचे आ गिरे हैं। वह अब घोर कर्म और "शमन-तन्त्र" (श्रमणतान्त्रिक) विद्या के सिवाय और कुछ नहीं रहा।

तेओ-धर्म।

'तॅओ' धर्म एक सदाचारकी स्मृति है, एक शिष्टाचार-का-धर्म है। उसमें जीवन-निर्वाह के लिये उत्तम उत्तम सद्विचार और उत्तम उत्तम नियमोंका संकलन किया गया है। ईसासे ६०४ वर्ष पूर्व तेओ धर्म का संस्थापक महात्मा लाओजे (Lao Tsze) अपनी माता के गर्भ में प्रकट हुए थे। ये महात्मा-कथा किंवदन्ती है, कि अपनी माता के गर्भ में ८० वर्ष तक रहे और जब उत्पन्न हुए तो उनके सिरपर हिम-धवल बाल थे। उसी से उनका नाम 'लाओ त्स्जे' पडा। इसका अभिप्राय है 'वृद्ध बालक' बूढा बालक और मान्य ऋषि।

चीन के इतिहास में यह कोई विस्मयजनक बात नहीं हुई। अस्सी (८०) वर्षों तक माता के गर्भ में रहना यह यद्यपि प्रकृति के नियमों के विपरीत है, तो भी इसका अभिप्राय वैदिक मर्यादा पर दृष्टि-पात करने से ही खुलता है। बालक या शिष्य का गुरुगृह में जाकर विद्याध्ययन करना माता-सावित्री के गर्भ में रहना है। स्नातक होकर विद्याध्ययन करके दीर्घश्मश्रु होकर ४८-५० वर्ष के ब्रह्मचर्य के अनन्तर लोक-मार्ग में प्रकट होना यह प्राचीन काल में माता के गर्भसे उसका प्रसवही समझा जाता था। विद्याध्ययन, ब्रह्मविचारणा आदि के लिये गुरुगृह में दीर्घजीवन वास करना यह आर्य वैदिक-मर्यादा उस समय चीन में थी ऐसा विदित होता है। परन्तु किंवदन्ती विकृत होकर इतनी ही रह गई कि "लाओ त्स्जे" महान् ऋषि थे और वे ८० वर्षों तक माता के गर्भ में रहे, अर्थात् वे सावित्री माता-गुरु-आश्रम के गर्भ में ८० वर्ष तक रहे और अनन्तर खूब ज्ञानवान् तपस्वी के रूप में संसार में प्रकट हुए। अस्तु।

'लाओ त्स्जे' की धर्मोपदेश-पुस्तक का नाम है 'तॅओ तेत किंग'। यह पुस्तक इतनी छोटी है कि जिसका विस्तार मार्करचित इंजीलसे भी आधा है। अर्थात् इसे भगवद्गीता का आधा समझिये। 'तॅओ' का अर्थ है मार्ग, अर्थात् मनुष्यको अपने जीवन में कौनसा मार्ग ग्रहण करना उचित है।

'तॅओ' (देव या तपः) वह एक मूल तत्त्व है जो सर्वशक्ति है, जो समस्त संसार पर शासन कर रहा है, वह सब का एक मात्र गम्य मार्ग, परम-अध्वा, महापथ, राजमार्ग है। तॅओ धर्म में कर्म-संन्यास का बडा उपदेश है। 'लाओ त्स्जे' का कथन है कि वह परम तत्त्व, परम धर्म, स्वयं कुछ नहीं करता और इसी कारण वह सब कुछ कर रहा है। लाओ त्स्जे के वचनों पर 'त्वुआंग त्स्जे' ने टीका की है। वह लिखता है कि- "मनुष्य 'तॅओ' में इसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे मच्छी पानी में। क्योंकि (१) वह सबको आच्छादित करता और सब को व्याप और ढक रहा है। (२) परन्तु कोई भी

१- परमेश्वर को जल से उपमा- "शं नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये।" (वेद)

'तॅओ' को सुन नहीं सकता। (३) मनुष्य जो वस्तु सुनता है वह 'तॅओ' नहीं है। कोई उसको देख नहीं सकता। (४) कोई इसको कह नहीं सकता। (५) उसका कोई रूप-आकार नहीं है। तो भी वह सबको रूप-आकार देनेवाला है। 'तॅओ' ने संसार के सब पदार्थ उत्पन्न किये हैं, परन्तु वह उनमें से स्वयं एक भी नहीं है। (६) अन्य सब विचारों से रहित, और सब ध्यानों से रहित होकर मनुष्य तॅओ का ज्ञान कर सकता है, सब कर्मों का त्याग कर दो, तो संसार भर तुम्हारे लिये कल्याणकारक हो जावेगा। (७) अपनी सब अकल (तर्क) मुंह के रास्ते उगल दो, भेदभाव देखना छोड दो, अपने आत्मा को सब बन्धनोंसे मुक्त कर लो, रिक्त हो जाओ और शून्य या अभाव, या अव्यक्त रूप हो जाओ।

(८) जब मनुष्य एक बार शिखर पर पहुंच जाता है, जहां वह इस सांसारिक जीवन के परस्परविरोधी व्यर्थ के व्यक्त जालोंसे ऊपर उठ जाता है, तब वह पवित्र आत्मा हो जाता है। (९) तॅओ सब पदार्थों का परम तत्त्व है, उसका न आकार है और न स्थूल द्रव्य, वह अनन्त है, आत्मा और प्रकृति दोनों का आश्रय है। जो मनुष्य 'तॅओ' को धारण कर लेता है, तॅओ उसको बहुत ऊपर उठा लेता है, चाहे तापके घोर दुःसह प्रभाव से सागर सूख जाय, परन्तु उस को कुछ भी ताप अनुभव नहीं होगा। चाहे आकाशगंगा जमकर हिमराशि हो जाय, परन्तु उसको शीत न लगेगा। चाहे समस्त पर्वत बिजलीकी कडक से टुकडे टुकडे हो जावें, चाहे समुद्र उमड कर करारों पर आ उछले तो भी वह अविचलित रहता है। (१०) इसके अतिरिक्त वह मेघोंपर भी सवार है, सूर्य चान्द को चला सकता है। वह बाह्य संसार की उन सीमाओंसे भी परे चला जाता है, जहां उसको मृत्यु सता नहीं सकती।

इस चीनी महात्मा का कथन है कि- 'काल और भले और बुरे पर विचार मत करो और उस अनन्त के शासन में रहकर वहां नित्य निरन्तर विश्रान्ति प्राप्त करो। (११) तॅओ समस्त जीवन का मूलतत्त्व (प्राणों का प्राण) है। परन्तु कोई भी जीव उसके तुल्य नहीं है, ये समस्त प्राकृतिक रूप उसीके परिवर्तनशील विकृति हैं।'

यह 'तॅओ' तत्त्व का वर्णन है। क्या यह वर्णन पाठक उपनिषदों और गीता के वर्णनों के समान नहीं देख रहे? इसका एक वाक्य के समान उपनिषदों और गीताओं में से अनेक वाक्य तुलना-रूपमें उद्धृत किये जा सकते हैं। स्पष्ट प्रतीत होता है कि महात्मा लाओ त्स्जे कोई भारतीय उपनिषद्-कालका ऋषि था। जो उपनिषदों की प्राचीन

२-३-४ न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, न मनो न विद्मो, न विजानीमः-(केन-उपनिषद्)। यद् वाचा नभ्युदितं. ...... यन्मनसा न मनुते, ... यच्चक्षुषा न पश्यति, ... यच्छ्रोत्रेण न शृणोति।' इत्यादि (केन उपनिषद्)

५-स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण...... परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्...... (ईशोपनि० ८)

६-नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। (कठ उप० २, २३)

७-यदा स वै प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥ (कठ ६।१४) मुक्ति जैसे-तं स्वात् शरीरात्-प्रवृहेत् मुञ्जाद् इव इषीकं धैर्येण॥

८-अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। (कठ०)

९-न हन्यते हन्यमाने शरीरे। (कठ० २।१९) अच्छेद्योऽयमदाह्योयम् (गीता)।

१०-महद् भयं वज्र मुद्यतं, य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। (कठ०६।३)

११- स उ प्राणस्य प्राणः। (केन २।२)

शिक्षाओं को चीनमें उपदेश करने के लिये २८ वर्ष तप करके सन्तरूप में प्रकट हुआ था और कर्मसंन्यास (Inaction) की दीक्षा देता था।

'तॅओ' शब्द 'तपस्' (तपः) शब्द या देव शब्द का रूपान्तर प्रतीत होता है। वेदमें 'तपः' या देव की बडी महिमा है। अघमर्षण मंत्रमें ऋत और सत्य को भी अभीद्ध (अति तेजोमय) तपसेही प्रकट या उत्पन्न हुआ मानते हैं। गायत्री में देव का महत्त्व है। ऋत का अर्थ ज्ञान और सत्य का अर्थ सत्-प्रकृतिसे उत्पन्न जगत् है। इसी प्रकार भागवत तथा उपनिषदोंमें भी तप और देव का बहुत वर्णन किया गया है। ब्रह्म को अरूप, अस्पर्श्य, अच्छेद्य, अदाह्य आदि विशेषणोंसे स्थान स्थानपर बतलाया है, केनोपनिषद् में कितना सुन्दर कहा है कि-जो आंख, कान, प्राण आदिसे ग्रहण नहीं किया जाता और जो इन सबको ग्रहण करता है। इत्यादि। भेदभाव को छोडना, समदर्शी होना, यह सब गीता और उपनिषदों के ही विचारों के प्रतिबिम्ब हैं।

इसी प्रकार तॅओ की शरण में आकर मनुष्य का सब द्वन्द्वोंको सहने में समर्थ सिद्धियां प्राप्त कर लेना, यह भारतीय ऋषियों का प्रदर्शित मार्ग ही है, अन्य किसी का नहीं। योरोपीयन लोग इस तॅओ का रहस्यवाद पढकर वर्ड्सवर्थ (अंग्रेज कवि) के एकान्त रहस्यवाद के स्वप्न देखने लगते हैं। उसने अपने कुछ काव्योंमें वेही विचार प्रकट किये हैं, जो लाओ त्स्जे ने किये हैं। अर्थात् जैसे 'संसार, सांसारिक पदार्थों की तृष्णा हमारी दिव्य भावना की निर्मल धाराओं को सुखा देती है, तब हम आन्तरिक सत्य जीवन का रसास्वाद नहीं ले सकते। वास्तविक सत्य जीवन वही है, उसीसे हमारे जीवन का सत्य अभिप्राय विदित होता है, उसीसे परम सुख प्राप्त होता है। सुख तो ध्यान ज्ञान में है, (कर्म) में नहीं। सुख हममें है, पदार्थों में नहीं। यदि वह हमारे हृदय में न हो तो ये पदार्थ हमें कोई सुख देही नहीं सकते' इत्यादि।

तॅओ धर्म की विकृति।

'लाओ त्स्जे' की यह गम्भीर आध्यात्मिक औपनिषदिक शिक्षा कुछ कालतक विशुद्ध बनी रही, परन्तु बाद में उसको माननेवाले उसे भूलने लगे और भूत-प्रेत-की पूजा में फंसने लगे। तान्त्रिक मूल विद्याओं और आभिचारिक षड् कर्मों में लग गये। लाओ त्स्जे का विशुद्ध दर्शन एक सम्प्रदाय या पन्थ वा मतवाद में बदल गया। उसमें छोटे बड़े अनेक देवताओं के मिथ्या कथावाद घुसड़ गये। जहां लाओ त्स्जे का ज्ञानोपदेश ३०० श्लोक भी न था परन्तु बढ़ कर वह भी एक पोथन्ना हो गया। उसमें इतनी मिथ्या वा काल्पनिक कथाएं आ जुडीं उसमें इतने जादू मन्त्र, सेनेटन मत आ घुसे कि उनका एक अच्छा ऊंठ का बोझा हो गया। यह वृद्धि ऐसीही समझनी चाहिये कि मानो भगवद्गीता का गुटका फैलकर भागवतपुराण हो गया। और फैला तो उसी में पद्मपुराण और वैष्णव आगम बन गये। २२१ ई० पूर्व में तॅओ धर्म के भिक्षुक और तान्त्रिक पूर्वके समुद्र में एक परियों का ऐसा टापू मानते थे, जहां अमर-लता उगती है। वे आकाशमें देवी देवताओं को बसा मानते, भूमिपर तान्त्रिक भिक्षुओं और तॅओ-मत के भोपोंको बसा मानते थे। यदि मरणशील आदमी सब भावनाओं का निरोध कर ले और अनन्त जीवन की विद्या सीख ले, तो वह स्वर्गमें जा सकता है। तॅओ धर्मकी देवताओं में एक दिव्य 'स्वर्ग की रानी' या 'पवित्र माता' है।

तॅओ मतकी 'समुद्र की तारा'—

उपरोक्त माता को 'समुद्रकी तारा' कहते थे। उसका नाम 'लिन' है। वह १७ वर्ष में देह छोडकर आकाश में चली गई और उसने वायु और समुद्र पर अधिकार कर लिया। इसकी पूजा वहां जहाजी मल्लाहों। इसकी प्रतिमा-मूर्ति हरेक चीनी कैवट के घरमें मिलेगी।

लिन के सम्बन्ध में कथा भी बडी रोचक है। लिन

फूकिन नगरमें रहती थी। उसके पडोसी सब मछियारे थे। वह मछियारे-कुल की ही थी। एक रात बडा जोर के झक्कड चला, कुमारी एक झोंपडीमें अपनी माता के साथ सो रही थी, अचानक उस कुमारी का हृदय अपने भाइयों तथा अनेक बन्धुओं के प्रति गया, कि वे इस झक्कड में विकराल समुद्र-तल पर प्राणसंकट में होंगे। कन्या का हृदय बेचैन हो उठा। वह झोंपडी से निकल पडी, और अपना कुछ भी विचार न करके उनकी सहाय के लिये अधीर होकर समुद्र तट पर आई। समुद्रमें कूद कर तैरने लगी, समुद्र की पर्वतोंके समान भयंकर उत्तुंग लहरों में वह निर्भय होकर तैर रही थी, उसका बल-साहस निरन्तर बढता ही जाता था, उसने तीन 'जंक्' (यक्ष) देखे, जिन्हों ने उसके प्रिय बन्धुओं को पकडा हुआ था। उसने हाथ फैलाकर दो हाथों से दो को और तीसरे को मुख से पकडा और घर को लौट आई। जब तट की ओर आई, तो उसने अपनी माता की पुकार सुनी, उसने मुख का जंक (यक्ष) तो छोड दिया, उसकी आत्मा झोंपडीमें फिर आ गयी। परन्तु उसने उस जंक (यक्ष) को भी वास्तव में छोडा नहीं था।

बन्धुबांधवों के प्रति ऐसे प्रेम-अनुराग के कारण उसको 'स्वर्गकी रानी' मान लिया गया। चीनी समुद्री जहाजियोंने उसे अपना पूज्य सन्त-देवी मान लिया। जब जहाजी प्रार्थना करते हैं, तो वह तलवार लेकर आकाश में मेघोंको चीरता से चीरती है, वह घोर तमोमय रात्रियों में तीन झक्कडों में भी समुद्रतलपर लाल दीपक लेकर उतरती है, उस प्रकाश के आश्रय से खेनेवाले सब भय-संकटों से मुक्त हो जाते हैं।

अमृत की वटी और जीवन की बूटी।

प्रथम शताब्दी में तान्त्रिक 'चांग-तेओ-लिंग' सबसे प्रथम तॅओ धर्म का गुरु और धर्माचार्य हुआ। उसके समय अमरता प्राप्त करने की गोली के खोज निकालने का भारी यत्न प्रारंभ हुआ। उस समय के तॅओ सम्प्रदाय के तपस्वी भी अन्य श्रमनों (श्रमणों) के समान अपने जड शरीर से आत्मा को पृथक् करके ऐसे ऐसे स्थानों की यात्रा कर आते, जहां मानवप्राणी कभी पहुंच न सकता था। वे ऐसा मानते थे कि, कहीं सुदूर पङ्कामयी भूमिमें एक वृद्ध तपस्वी है, जिसकी भौंहें भूरी पड गई हैं, वह वायु पर जीता है, उसकी आंखों में हरा तेज है, उससे वह समस्त वस्तुओं के छुपे रहस्य जान लेता है। प्रति सहस्र वर्ष वह अपनी हड्डियों को पलट लेता और सब देह के मल स्वच्छ कर लेता है। उत्तरपूर्व में आकाश में कहीं, जीवन की बूटियां आती हैं। यदि उनको मनुष्य खा ले, तो अमर हो जाय। उन बूटियों तक पहुंचने में मार्गमें लाल जलकी नदी है, जिसमें हलका पंख तक डूब जाता है। इसी प्रकार उत्तरध्रुव के पास अग्नि-दर्पण का पहाड है, उसके पास एक झील के तटपर ऐसी घास उगती है, जो रातको दीपक के समान चमकती है। उसको तोडकर घरमें धर लो, घरभर चमक उठता है। उसके प्रकाश में भूतप्रेतों की शकलें भी नहीं छुप सकतीं। इसी प्रकार जीवन की निहारिका है, वह भी कहीं दिव्य सरोवरों में उठे पंचरंगी बादलों से उत्पन्न होती है। जब मनुष्य इस निहारिकाके द्रवबिंदु पान कर ले, तो बूढा भी जवान हो जाय, बीमारभी चंगा हो जाय। चांग तेओ लिंग बडा भारी तान्त्रिक प्रसिद्ध हुआ, उसको बहुत चमत्कारिक शक्तियां और सिद्धि प्राप्त हो गई थीं, वह अपनी लेखनी के एक अक्षरमात्रसे सहस्रों भूतों और राक्षसों का दमन कर सकता था।

जीवन--गुटिकाएं।

ऐसा प्रसिद्ध है कि तॅओ-तान्त्रिक लोमडी का रूप धरकर जीवन-अमृतवटिका तैयार किया करता है। चीनी कथा उस सम्बन्ध में इस प्रकार है कि एक नौ जवान किसान एक अमीर के महल के पासके बागों के पास से गुजर रहा था, उसने अचानक हवामें कुछ वस्तु तैरती हुई देखी। वह स्फटिक का स्वच्छ गोलासा था, वह उसके लिए बाग की बाडपर चढकर बागमें उतर गया। वहां

और कोई आदमी न था। उसने देखा कि कुत्ते की शकल का एक जानवर चान्द की ओर ताक रहा है, वह जब सांस लेता है, तो उसके मुंहमें से आग का गोला निकलता है और चान्द की ओर चला जाता है। जब वह सांस भीतर खींचता है, तो वह आगका गोला फिर वापस उसकी दाढों में आ अटकता है। यह वह जम्बुक-तांत्रिक था, जो जीवनामृत तैयार करता था। उस किसान नव युवकने उसकी बनाई गोली चुरा ली और स्वयं खा गया, उसको भी बडी सिद्धियां प्राप्त हो गई, वह अदृश्य हो जाता, भूतप्रेत देख लेता, भूतों से काम लेता था।

जब तॅओ-सम्प्रदायके तांत्रिकों का जोर बढा, तो उस समय के राजे महाराजे अपने आश्रय में अनेक तांत्रिकों को जमा करते और अनेक अद्भुत अद्भुत प्रयोगों का चमत्कार देखा करते। उनके सम्बन्ध में भी अनेक कथाएं हैं। तॅओधर्मी चीन में 'तांत्रिक' होना बडे गौरव की बात समझी जाती है।

आजकलका तॅओ धर्म।

तॅओ धर्म के जादूगर लोग बडी लम्बीचौडी डींगे हांका करते हैं। वे गर्व करते हैं कि वे चूने को पकाकर उसको सोना बना लेते हैं, सीसे को चांदी बना लेते हैं, वे भी किमियागरों के समान पारसमणि की खोज में रहते हैं कि जिसे छूते ही सब धातु सोना हो जाय। वे बडा ही गुप्त जीवन व्यतीत करते हैं। वे पानी को ऐसे ढंग से पत्थर से मिलाते हैं कि जिससे पत्थर उबल कर मोती मोती हो जाय। वे सापों और अजगरों को पाल लेते हैं, उनपर सवार हो कर पृथ्वी की आठों दिशाओं के आठों धामोंकी यात्रा कर सकते हैं। वे मायामय ढोल बजाते, मायापूर्ण वंशी बजाते हैं, जिनकी तालपर सूर्य की किरणें भी नाचने लगें।

तॅओधर्म के प्रथम आचार्य का शिष्य दावा करता था कि उसके पूर्वपुरुषों की आत्मा उसके शरीर में भी रहती थी, वह 'लङ्ग ह्यु' पर्वतपर रहती थी। उसके पास पुराने धर्मग्रन्थ और इष्ट देव की मूर्ति, एक तलवार और एक मुद्रा थी।

सत्य बात यह है कि तॅओ धर्म के सच्चे सिद्धांतों को तो लोग भूलने लगे और चीननिवासियों की मूर्ख और जड प्रकृतिने उस औपनिषदिक दार्शनिक धर्मको 'भूत-प्रेत-पिशाच-पूजासे' और 'जादू टोना' से शबलित कर दिया। परब्रह्म के एकत्व के सिद्धान्त को उन्होंने पारसमणि की खोज में बदल दिया। अमरता अर्थात् जीव-आत्मा का विश्वात्मा में लय होने के गूढ सिद्धान्त को उन्होंने अब अमर-रसायन की खोज में लगा दिया। २०० वर्ष ईसासे पूर्वके चीनके अनेक राजे-महाराजों के द्वारोंपर अनेक तॅओ संन्यासी-साधु घिरे रहते थे, जो कच्ची धातों को फूंक फूंक कर छुढ धातु बनानेके उपाय ढूंढते रहते थे, जो जवानी की रसायनवटिकाएं बनाने में लगे रहते थे। तॅओ धर्म के संस्थापक की स्मृति यदि तॅओ धर्म का कुछ गुण शेष है, तो यह कि लोग अभी भी फूल फुलवाडी के निसर्गसौन्दर्य को प्रेम करते हैं। नहीं तो अधिकांश तो तॅओ-सम्प्रदायी लोग प्रायः नजूमी, नैमित्तिक, शाकुनिक, शामन् और टोना टनमन, भूतप्रेत के पुजारी हैं, जो भोले, अशिक्षित लोगोंकी सिधाई पर अपना जाल बिछाते रहते हैं।

तॅओ पन्थी साधु या भक्त के लिए स्वर्गारोहण का एक यह विचार भी बडा मोहक था कि, वह इतना सिद्ध तपस्वी हो कि वह वर्षों विना भोजन जी सके और एक दिन उसको उसकी इस तपस्याका फल मिले। मायामय दिव्य सुगन्ध आकाश में व्यापे, श्वेत और नीले हंस इधर उधर आकाश में विहार करें। मेघपर फूलों की गन्धदेवता और अन्य देवता विराजें और वह तपस्वी उन देवताओं के भीतर विचरने लगे, दिव्य गाजे बाजे बजें, वह महान् आकाश में देवताओं के साथ विचरे और अपने बन्धुबांधवोंसे बिदाई ले। अलंकाररूप से तो भगवान् का अग्निमय रथ उस तपस्वी को स्वर्ग में ले जाता है, या यह भी एक मनोमोहक भावना ही सकती है कि शीतल

मेघ में वह किस उत्तमता से विहार कर के स्वर्ग जावे।

चीन और जापान में बौद्ध धर्म।

पांचवी शताब्दी में भारतवर्ष से बौद्धधर्म जाकर चीन और जापान में फैला। पहले वह भी बहुत शुद्ध रूपमें था, परन्तु बाद में उसपर भी वही तुषार पडी, जो तँओ धर्मपर पडी। मंगोल जातिके स्वभाव-सिद्ध भूत-प्रेत-पिशाचपूजन-धर्म पर वह भी विजय नहीं पा सका। एक तरफ तो बौद्धधर्म के ऊपर भी पितरों का तर्पण की गठडी लदी और दूसरी ओर विकृत जादू-टोना, जन्त्रमन्त्रों से पूर्ण तान्त्रिक बोझा लदा। अब तो तँओ और बौद्ध धर्म दोनों में तांत्रिकता एक समान है। उनको पृथक् नहीं किया जा सकता।

जपानमें बौद्ध धर्म

५९३ के लगभग कोरिया के मार्ग से जापान में भी बौद्धधर्म फैला। बौद्ध धर्म के भी कई सम्प्रदाय हैं, सबसे नीचा पन्थ- हीनयान है। इसका ध्येय जीव की वैयक्तिक मुक्तिमात्र है। उसकी 'जोदो' शाखा यह मानती है कि प्रार्थना व मन्त्रों अनन्त वार पाठ करने और अन्धे विश्वास से धार्मिक कृत्य करने से मुक्ति हो जाती है। बौद्ध धर्म की 'जेन' (ज्ञान) शाखा मानती है कि केवल समाधि या ध्यानयोग से ही सत्य तत्त्व प्राप्त होता है। 'निचिरेन' सम्प्रदाय के मानते हैं कि केवल एकही बुद्ध है, वह आकाश में चन्द्र के समान चमकता है और सब बुद्ध तरंगों में अनेक चन्द्रप्रतिबिम्बों के समान उस एक सत्य बुद्धभगवान् के प्रतिबिंब या आभासमात्र हैं। 'शिशु' सम्प्रदाय के लोग अन्य सम्प्रदायों से अधिक उन्नत हैं, वे जादू-टोना और गण्डा-तावीज कुछ नहीं मानते।

चीन और जापान के भिन्न भिन्न बौद्धसम्प्रदाय विचारों और मन्तव्यों की दृष्टि से भले ही बहुत भिन्न हैं, वे सम्प्रदाय परस्पर झगडते और वादविवाद भी करते रह सकते हैं, परन्तु उनमें ईसाई और मुसाई सम्प्रदायों के समान विचारभेद के कारण कभी एक दूसरे को क्रूरता से सताने का यत्न नहीं किया, एक दूसरेको ईसाइयों की तरह से आग की भट्टियों में नहीं भुनवाया या जेलों में अनेक यातना-पीडाओं में नहीं पीसा। इस दृष्टि से तो ईसाइयत को बौद्धसम्प्रदायोंने बुरी तरहसे नीचा दिखाया है। परन्तु दूसरी ओर जापान के भीतरी युद्धों में, [१२ से १६ शताब्दीतक] रोमन कैथलिकों के भिक्षु और बिशपों के समान ही बौद्धभिक्षु और आचार्यों, मठाधीशोंने भी सशस्त्र होकर तलवार को ही मुक्ति के द्वारका मुख्य साधन मान लिया था।

दैवत-संहिता के विषयमें सम्मतियाँ।

'दैवत-संहिता' के विषयमें अनेक विद्वानो की संमतियाँ आगयी हैं, उनसें निम्नलिखित संमतियाँ यहां प्रकाशित करते हैं-

(१)

श्री० स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज सोलापूर से ता० १८।५।३९ के पत्र में लिखते हैं—

"दैवत संहिता" का नमूना मिल गया, तदर्थ धन्यवाद। **यदि आप इसके छापनेमें सफल हो गये तो आर्य जाति, वैदिक धर्मियों पर विशेष ही उपकार होगा।**

इस नमूने से अभी यह समझ में नहीं आया कि जहां एक ही मंत्र पाठभेद से उसी वेद में वा दूसरे में आया है, उसका आपने क्या प्रबन्ध किया है? यह मन्त्र अनेक वार लिखेंगे वा केवल पाठभेद देकर हि पता लिख देंगे?

(२)

श्री० पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति गुरुकुल-सोनगढ ता० १४।५।३९ के पत्र में लिखते हैं।

आपका '**दैवतसंहिता**' विषयक पत्र मिला। चारों वेदों के मंत्रों के साथ जिस शाखा संहिता के मंत्रों को लिखें उस शाखा संहिता की प्रतीक भी टिप्पणी में लिखें तो उत्तम हो। जिस मंत्र में देवता शब्द का स्पष्ट निर्देश नहीं है किन्तु देवता को किसी विशेषणसे संबोधित किया है, तो उस विशेषणको मोटे अक्षर में करके आगे कोष्ठ में देवता-वाचक विशेष्य पद लिखें। एक एक देवता के जितने विशेषण आये हों उनके ऊपर एक दो तीन इत्यादि अंक लिखकर निर्देश करें तो मालूम हो जायेगा कि किस किस देवता के कितने कितने विशेषण हैं। उन विशेषणों के अर्थ परिज्ञान से देवता के स्वरूप के स्पष्टीकरण में सुविधा होगी। शेष कार्य सब उत्तम है। मेरा नाम ग्राहक संख्या में लिख दें।

(३)

पं० लक्ष्मणसिंहजी वेदालंकार, अजमेरसे ता० १।५।३९ के पत्रमें लिखते हैं—

'आपने जो दैवतसंहिता को विना स्वरांकित छापने का विचार किया है, उसपर पुनः विचार करें। मेरा विचार है कि आप सर्वत्र वेदमंत्र सस्वरहि छापें। आपकी दैवत-संहिता विचार करनेवाले पंडितों के लिये है, इसलिये इसमें स्वर का होना आवश्यक है।

आपने जब यह कार्य हाथ में लिया है, तब आप जैसे विद्वान् के हाथ से यह सर्वांगसुन्दर, पूर्ण व शुद्ध होना चाहिये।

(४)

१. अथर्ववेद मिला, भारतमुद्रणालय की छपाई और सफाई ती पहिलेही भारतभर में प्रसिद्ध है, परन्तु वेद की छपाई तो पराकाष्टा तक पहुंची हुई है। ओ३म् आपको वेद प्रचार में अधिक से अधिक सफल करें।

२. "दैवतसंहिता" पर आपका लेख मैं १९३९ के वैदिक धर्म के अंक में पढा, और इससे पूर्व भी पढता रहा हूं। मेरे विचार में दैवत-संहिता छप जाने पर बहुतही उपयोगी सिद्ध होगी!!!

दैवत-संहिता छप जाने के पश्चात् कदाचित् भाषांतर भी लोग दै० सं० का करना चाहेंगे ! ! ! इन अवस्थाओं में जो आप दै० सं० के मंत्रों पर स्वर चिह्न न देने का विचार कर रहे हैं, वह कई पंडितों को वडा ही दुःखदायी होगा ! क्यों ? इस लिये कि दै०सं० स्वाध्याय के लिए चारों वेदों से सब प्रकार एक वढिया पुस्तक होगी ! मुझे यह खुशी भी है कि जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में एक ही वेद था, उसी प्रकार आपके पुण्य-प्रताप से अव फिर एक वेद हो जायगा, जिस से कि पुनरुक्ति दोष भी हट जायेंगे, और प्रत्येक विषय के मन्त्र एकत्र मिल सकेंगे ! जो काम आप कर रहे हैं, वह निःसंदेह सराहनीय हैं, और मुझे तो इस काम में भी ओ३म् का हाथ काम करता दिखाई देता है । ओ३म् आपकी सभी शुभ इच्छाएं पूर्ण करें ।

गणपतराव वी० गोरे आर्य्य (कराची)

(५)

आपकी योजना दैवत-संहिता के विषय में अति सराहनीय है । मेरी अपनी धारणा है कि देवता एक रहनेपर भी प्रसंगवश उसी देवता के अन्तर्गत कई अर्थ मंत्रों के हो जाते हैं और चारों वेदों में वही पुनरुक्त होकर भी कुछ भिन्न भिन्न अर्थ दर्शाते हैं । इस दृष्टि से पुनरुक्त मंत्रों को छोड देनेपर उनका प्रसंगानुसार अर्थ लगाने में कठिनाई होगी । कदाचित् कई महानुभाव मंत्रों के एक ही अर्थ में फस जांये और वेदमें पुनरुक्त दोष भी अधिक सामने आ जाये । मैं केवल पल्लवग्राही स्वाध्याय करनेवालों में से हूं, तथापि अपने विचार आपके सम्मुख रखने का साहस किया है। पुस्तक का आकार अवश्य बहुत बढ जायगा इस प्रकार सब मन्त्र यथा स्थान फिर से देनेपर। परन्तु यदि सम्पूर्ण मन्त्र का देना पुस्तकाकार के कारण सम्भव न हो तो प्रत्येक ऐसे स्थलपर जहां मंत्र छोडा गया हो, उस मन्त्रकी प्राप्ति के लिये उसका पुस्तकस्थ स्थान संकेत द्वारा बतलाने पर भी स्वाध्यायशील व्यक्तियों को सहायता मिल जायगी । आप ऐसा करना आवश्यक तथा सहायक समझे तो पुस्तक के प्राक्वक्तव्य में इसका वर्णन भी कर सकते हैं । मेरे विचार में उस प्रकार पुस्तक अधिक उपादेय बन जायगी । वेदोद्धार के इस कार्य में आपका प्रयास स्तुत्य है । समाज आपका अत्यन्त आभारी रहेगा ऐसी आशा है ।

भवदीय—श्रीभूषण गुप्त, सोजतरोड.

(६)

म० नारायण दलपतराम भगत ता० २०।५।३९ के पत्र में अहमदाबाद से लिखते हैं—

दैवतसंहिता अवश्य छापो, उसके भोक्ता अनेक होंगे । हरएक मंत्र उसके छन्दके अनुसार, पाद का छेद करके ही छापने का विचार है । आज तक ऐसा किसीने नहीं किया है । ऋषि देवता से छन्द का पूरा ज्ञान अधिक उपयोगी है । मंत्रों के छन्द आजतक संदेहयुक्त रहे हैं । आपने ही उनकी शुद्धि के लिये प्रयत्न किये हैं, धन्य है आपको । श्री प्रभु आपको वेदसंबंधी अधिक कार्य करने के लिए आयु और शक्ति दो ऐसी प्रार्थना है ।

(७)

पं० मदनमोहन विद्याधर बीजवाडा ता० १५।५।३९ के पत्र में लिखते हैं—

'दैवत संहिता के मुद्रण' की सूचना नमूने की प्रति समेत मिली । जिन बातों पर १, २, ३, आदि करके सम्मति मांगी हैं, उनमें से प्रत्येक से मैं पूर्ण रूप से सहमत हूँ । मैंने उसे अत्यन्त ध्यान से पढ लिया है ।

परन्तु उसके टाइप बनावट, छपाई आदि के विषय में कुछ बातें लिखना चाहता हूं । उचित समझे तो स्वीकार करने की कृपा करें ।

दैवत-संहिता का प्रकाशन वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार के पुनीत कृत्यमें युगांतर पैदा करनेवाला है। इसका प्रकाशन होने के बाद वेदार्थज्ञान इतना सरल हो जावेगा, शायद इसकी कभी कल्पना भी कभी नहीं की हो। वेद स्वयं अपने अर्थों का प्रकाशन कैसे करते हैं, यह दैवत-संहिता में प्रत्येक देवता के पृथक् संग्रहित मंत्रोंके पाठ मात्र से ही पता चल जावेगा। जो व्यक्ति जरासी भी संस्कृत जानता होगा और जरा बुद्धिमान् होगा तो उसके इस दैवत-संहिताके पाठ मात्रसे वेदार्थ गुत्थियां सुलझती जान पडेंगी। एक देवता विषयक मंत्रों को बार बार पढने से मुझे व्यक्तिगत ऐसा अनुभव हुआ, सो समझता हूं कि इस प्रकार का पृथक् देवतावार संग्रह सभी वेदार्थ-जिज्ञासुओं के लिए 'जायेव पत्युरुशती सुवासा' का उदाहरण बन जायेगी।

जब यह कार्य इतना महान् है तो इस के प्रकाशनमें भी अत्यन्त सावधानी होनी चाहिए। मैं उसके लिए दो सजेशन देना चाहता हूं।

(१) इसका प्रकाशन कुछ मोटे टाईपमें होना चाहिए। टाईप बहुत छोटा है। इससे कागज की बचत् तो अवश्य होगी, पर पढने में, पाठ करने में अत्यन्त कठिनाई होगी।

वृद्ध जनों में धर्म के शास्त्रों के पढने की जितनी चाह होती है, उतनी जवानों को नहीं। यह स्पष्ट है, स्वाभाविक है। इससे आप भी इन्कार नहीं कर सकते। वे लोग इनका प्रतिदिन पाठ करना चाहेंगे। इसके लिये मोटा टाईप होना जरूरी है। क्योंकि उनकी दृष्टि कमजोर होती है।

मेरी युक्ति हंसीवाली प्रतीत तो होगी, पर एक तथ्यसे भरी है और वह यह कि इसका टाईप छोटा होने से इसकी लोकप्रियता घटेगी। खरीद कर भी, उससे कम पढा जावेगा, क्योंकि पढने में कष्ट अनुभव होगा।

(२) मंत्र दो कालमों में न छापकर जैसे ऋग्वेद छपा है वैसी ही दैवत संहिता छापीये।

यह ग्रंथ धार्मिक है, हमें इसे संसार के कोने कोने में पहुंचाना है। केवल कुछ पुस्तकालयों या विद्यार्थियों या विद्वानों के हाथों तक ही सीमित नहीं रखना। यदि यह सच है तो हमको उसी ढंग से प्रकाशित करना चाहिये जिस ढंग से यह—

१ अधिक आकर्षित हो सके।

२ पाठ के लिये सुविधाजक होवे।

३ उत्तम, सुस्पष्ट हो।

और वह ढंग वह नहीं जो आपने नमूने के पृष्ठ पर रक्खा। आंख चाहती है कि विना भार पडे, विना रुके आंखें सरकती जांये। ये दोनों बातें इस नमूने से पूरी नहीं होती। **अतः बडे टाईप में छापीये।**

मेरी सूचना यदि मानी जाये तो ठीक है कि १००० पृष्ठों के स्थानपर २००० लगेंगे, पर वह यदि आपके कार्य को अधिक सुचारु रूपसे सम्पादित करे तो वैसा हो ही जाना चाहिए, करना ही चाहिये।

आपका विनीत

मदनमोहन विद्याधर

(८)

श्री भारद्वाज नडियाद (ता० २१।५।३९) के पत्र में लिखते हैं कि **'दैवत-संहिता'** की आपकी कल्पना अच्छी है। इसमें प्रत्येक देवता के मंत्रों में उप प्रकरणों की व्यवस्था की जाय तो अच्छा होगा।

मुझे इस संहिताका ग्राहक समझिए।

(९)

श्री प्रो० स० प्र० मिराशीजी (मोरिस कालेज नागपूर) अपने २४।५।३९के पत्र में लिखते हैं कि **'दैवत-संहिता'** की योजनापत्रिका मिली। इस विषय में केवल एक मेरा अनुरोध है कि टाईप बडे (ऋग्वेद की तरह) लगाईये। चाहे दाम दूना कर देना पडे। अग्रिम ग्राहकों में मेरा नाम लिखिए। मैं शीघ्र ही मूल्य भेज दूंगा।

॥ ॐ ॥

वेदोपदेश ।

यशके लिये पुरुषार्थ ।

ये मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः । व्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥१॥

(ऋ० ८।६७।१३)

"जो (क्षितीनां) मनुष्योंके (मूर्धानः) सिर स्थान में रहनेवाले (अदब्धासः) न दबनेवाले (अद्रुहः) द्रोह न करनेवाले, (स्वयशसः) अपने यशके (व्रताः) कर्म (रक्षन्ते) रक्षा करते हैं, वे प्रशस्त हैं।"

तात्पर्य यह है कि अपने यश बढाने के पुरुषार्थ करके अपना धवल यश चारों दिशाओंमें बढाना चाहिये। इसके लिये सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ होना चाहिये, किसीके सामने दब जाना भी उचित नहीं। तथा सत्य धर्म की सदा रक्षा करनी चाहिये। इस रीतिसे जो मनुष्य पुरुषार्थ करेंगे, वे यशस्वी हो सकते हैं।

इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः। रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिं ॥२॥

(यजु० १२।११०)

"(अध्वरस्य) हिंसारहित सत्कर्मका (इष्कर्तारं) प्रचारक (प्रचेतसं) उत्तम ज्ञानी, (राधसः महः) सिद्धि-दायक महत्त्वका (क्षयन्तं) निवास करानेवाला, (वामस्य) इष्टका (सुभगां रातिं) उत्तम दान देनेवाला,(महीं इषं) बडी प्रबल इच्छा और (सानसिं रयिं) विजय देनेवाले संपत्तिका (दधासि) तू धारण करता है।"

(१) सत्कर्मका प्रचार करना, हिंसारहित श्रेष्ठ पुरुषार्थ करना, (२) उत्तम ज्ञान प्राप्त करना, (३) महान् सिद्धिका साधन करना, (४) उत्तम दान देना और (५) विजययुक्त धनको प्राप्त करना चाहिये। इसीसे यश बढता है।

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथुश्रवो बृहत्। विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥ ३ ॥ (ऋ० १।९।७)

"हे (इंद्र) प्रभो! (अस्मे) हमारे लिये (बृहत्) बडा (गोमत्) गौ तथा इंद्रियोंवाला, (वाजवत्) बलयुक्त, (अ-क्षितं) नाश न होनेवाला (पृथुश्रवः) विस्तृत यश (विश्व-आयुः) पूर्ण आयुतक (सं धेहि) उत्तम प्रकार धारण कर।"

मनुष्यको ऐसा यश संपादन करना चाहिये कि जो बल की वृद्धि करनेवाला, दीर्घ आयुके अंततक अपने नाम के साथ रहनेवाला और इंद्रिय-शक्तियोंको पूर्ण शक्तिमें रखनेवाला अर्थात् किसी प्रकार भी शक्तिकी क्षीणता न करनेवाला हो। तात्पर्य यश के साथ बल, आरोग्य और दीर्घ आयु होनी चाहिये।

सुमतिका प्रचार ।

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाव्नाम् ॥४॥ (ऋ० १।१७।४)

"(शचीनां युवाकु) शक्तियोंको प्राप्त करनेवाले, (सुमतीनां युवाकु) उत्तम बुद्धियोंके प्राप्त करनेवाले तथा (वाज-दाव्नां) बल देनेवालों में मुख्य हम (भूयाम) होवें।"

(१) शक्तिको बढाना,(२) मन और बुद्धि की शक्ति विकसित करना और (३) दूसरों की सहायता करनेके लिये अपने बलका प्रदान करना, ये मनुष्यके तीन कर्तव्य हैं। इनके करनेसे मनुष्य यशस्वी होता है।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे-दिवे ॥५॥ (ऋ० १।८९।१)

"(नः भद्राः क्रतवः) हमारे कल्याणमय पुरुषार्थ के कर्म

(अ-दब्धासः) न दबते हुए, (अपरीतासः) विघ्न-रहित और (उद्भिदः) उत्कर्षको पहुंचाने योग्य होकर (विश्वतः आ यंतु) फैलें, तथा (दिवे दिवे) प्रतिदिन (रक्षितारः) रक्षा करनेवाले (अप्रायुवः) न भूलते हुए ख्याल करनेवाले (देवाः) ज्ञानी लोग जिस प्रकार (नः सदं) हमारे घर (वृधे) वृद्धिके लिये (असन्) रहेंगे, ऐसा करो ।''

अपने पुरुषार्थ ऐसे होने चाहियें कि जो सबको लाभ पहुंचानेवाले, विजयी और सर्वत्र उपयोगी हों, जिनके कारण सब लोग हमारी रक्षाके लिये सिद्ध रहें और हम भी अपनी शक्तिके द्वारा सब अन्योंकी रक्षा कर सकें ।

देवानां भद्राः सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभी नो निवर्तताम् । देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे ॥ (ऋ० १।८९।२)

"(देवानां) देवतालोगोंकी (भद्रा सुमतिः) कल्याणमयी सुबुद्धि हमें प्राप्त हो । (ऋजूयतां देवानां) सीधे स्वभाव-वाले देवता लोगोंका (रातिः) दान (नः अभिनिवर्ततां) हमें प्राप्त हो । देवतालोगोंके साथ (सख्यं) मित्रता (वयं उपसेदिम) हम करेंगे । ये देवता लोग (नः जीवसे) हमारी दीर्घ आयुके लिये हमें (आयुः) दीर्घ आयु (प्रतिरन्तु) प्रदान करें ।''

सज्जनोंकी कल्याणमयी बुद्धि हमारे अनुकूल हो, उनकी सहायता और मित्रता हमें प्राप्त हो और वे हमें दीर्घ आयु प्राप्त करनेमें सहायता दें । अर्थात् जातिमें अथवा राष्ट्रमें जो श्रेष्ठ सत्पुरुष होते हैं, उनको उचित है कि वे अन्योंको उक्त प्रकार सहारा देकर श्रेष्ठ मार्ग में प्रवृत्त करें, जिससे सबकी सब जाति यशस्वी होने के कार्य कर सके ।

विष्टी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः । सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षस संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ॥७॥ (ऋ० १।११०।४)

"(वाघतः) पुरुषार्थी मनुष्य (शमी) शांति स्थापनके कर्म (तरणित्वेन विष्ट्वी) सत्वर करके (मर्तास सन्तः) मरणधर्मवाले होते हुए (अमृतत्वं आनशुः) अमरपन प्राप्त करते हैं । (सौधन्वनाः) उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले (सूरचक्षसः) तेजस्वी, (ऋभवः) कारीगर ज्ञानी, (धातिभिः) धारणाशक्तिसे (संवत्सरे समपृच्यन्त) एक वर्षके अंदर पूर्ण बने हैं । ''

पुरुषार्थी मनुष्य शांतिस्थापनके कार्य करके अमरपन प्राप्त करते हैं । शूर, तेजस्वी और ज्ञानी मनुष्य धारणा-वती बुद्धिके योगसे एक वर्षके अंदरही पूर्ण सिद्धि प्राप्त करते हैं ।

प्रकाशका मार्ग ।

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति । आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥८॥ (ऋ० १।११३।१६)

"(उदीर्ध्वं) उठो, (नः असुः जीवः) हमारा प्राण जीवात्मा (आगात्) आया है । (तमः) अंधकार (अप प्रागात्) दूर हो गया है । ज्योति (एति) प्राप्त होती है । (सूर्याय यातवे) सूर्यके लिये जानेके अर्थ (पंथां) मार्ग (आरैक्) प्रकट हुआ है, (यत्र) जहां (आयुः प्रतिरन्ते) आयु बढती है, वहां (अगन्म) हम पहुंचे हैं ।''

(१) उठो, अपने चारों ओर देखो कि क्या चल रहा है । (२) प्राण अर्थात् नवजीवन हमें प्राप्त हुआ है । (३) हमारा अज्ञानांधकार दूर हो गया है और (४) हम ज्ञानसूर्यके प्रकाशमें आचुके हैं, (५) प्रगतिका मार्ग खुला गया है, (६) अर्थात् जहा हमारी आयु बढेगी, वहां ही हम आ चुके हैं । अब हम धर्मानुष्ठानद्वारा श्रेष्ठ पुरुषार्थ करेंगे और यशके भागी बनेंगे ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ब्रह्मणे स्वाहा॥ (अ०१९।४३।८)

"जहां (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी दीक्षा और तपके साथ

शुद्धाचरण करते हुए (यांति) जाते हैं, वहां (ब्रह्मा) ज्ञानी (मा तत्र नयतु) मुझे वहां ले जाय। (मे) मुझको (ब्रह्मा) ज्ञानी (ब्रह्म) ज्ञान (दधातु) देवे। (ब्रह्मणे स्वाहा) ज्ञानके लिये त्याग करता हूं।"

जिस सर्वोत्कृष्ट स्थानमें ब्रह्मज्ञानी जाते हैं, वहां ज्ञानीकी सहायतासे मुझे जाना है। ज्ञानीसे ज्ञान प्राप्त करके उसके साथ ही वहां जाना होता है। इसलिये मैं भी उसी मार्गसे वहां जाऊंगा और ज्ञान प्राप्त करके श्रेष्ठ बनूंगा।

मनुष्य का उद्देश्य।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥१०॥ (ऋ० १।६।३)

"हे (मर्याः) मनुष्यो!(अ-केतवे)अज्ञानी के लिये (केतु) (कृण्वन्) देता हुआ और (अ-पेशसे) अरूपके लिये (पेशः) रूप देता हुआ तू (उषद्भिः) उषःकालोंके साथ (अजायथाः) उत्पन्न हुआ है।"

मनुष्य का जन्म इसलिये हुआ है कि वह अज्ञानी को ज्ञान देवे और विरूप को सुंदर हृष्टपुष्ट करे। जिस प्रकार सूर्य उषःकालके पश्चात् आकर सबको प्रकाश और सुंदर रूप देता है, उसी प्रकार करनेके लिये मनुष्य जन्मा है।

भवा नो अग्ने अवितोत गोपा भवा वयस्कृदुत नो वयोधाः। रास्वा च नः सुमहो हव्यदातिं त्रास्वोत नस्तन्वो३ अप्रयुच्छन् ॥११॥ (ऋ० १०।७।७)

"हे (अग्ने) अग्रणे! तू (नः) हम सबका (अविता) रक्षक भव (भव) हो जाओ। (उत गो-पा भव) और इंद्रियसंरक्षक बनो। (उतः वयः-कृत) और दीर्घ आयु करनेवाला तथा (नः वयो-धाः) हम सबमें तारुण्य का वय धारण करनेवाला हो जाओ। हे (सुमहः) अत्यंत पूज्य! (च नः) और हम सबको (हव्य-दातिं) अन्नका दान (रास्व) देओ। (उत नः) और हम सबके (तन्वः) शरीर (अ प्र युच्छन्) क्षीण न करता हुआ (त्रास्व) सुरक्षित करो।"

स्वत्व—रक्षण, इंद्रिय—संयम, दीर्घ आयु, तारुण्यका उत्साह, भक्ष्य अन्नका दान, शरीरपोषण और शरीरसंरक्षण सबको करना चाहिए।

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह। सा नो दुहीयद्यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः ॥१२॥(ऋ० १०।१०१।९)

"हे (देवाः) विद्वानो! (देवीं) दिव्य (यज्ञियां) पूज्य और पवित्र (वः धियं) आपकी बुद्धिको (ऊतये) संरक्षणके लिये (आवर्ते) आकर्षित करता हूं। (सा) वह आपकी बुद्धि (नः) हम सबको सहायता वैसी देवे, जैसी (मही) बडी (गत्वी) चपल गाय (यवसा) घास खाकर (पयसा सहस्रधारा) दूधकी हजारों धाराएं (दुहियात्) दोहन करके देती है।"

विद्वान् लोग अन्य साधारण जनोंको योग्य सहायता देकर उनको ऊपर उठनेका मार्ग बनावें।

कपृन्नरः कपृथमुद्दधातन चोदयत खुदत वाजसातये। निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये ॥१३॥ (ऋ० १०।१०१।१२)

"हे (नरः) लोको! आपमें (क-पृत्) आनन्दकी पूर्णता करनेवाला ही श्रेष्ठ है। इसलिये (क-पृथं) आनन्दकी पूर्णता करनेवालेका (उत् दधातन)सन्मान कीजिए। सबको (वाज-सातये) बलकी प्राप्ति करनेके लिये (चोदयत) प्रेरणा कीजिये और आप स्वयं (खुदत) मर्दानी खेल खेलिए। (निष्टि-ग्र्यः पुत्रं) निष्ठा अर्थात् श्रद्धासे पवित्र बने हुए (इंद्रं) परम ऐश्वर्यवांनको (इह) यहां (स-बाधं) उत्सुकतासे (ऊतये) सबके संरक्षणके लिये और विशेषतः

(सोम-पीतये) सोमपानके के लिये (आ-च्यावय) ले आइए ।

सदा आनंदित रहना चाहिये । बलकी उन्नति करनी चाहिये । खुली जगहमें खेल खेलने चाहिये और हरएक कर्म पूर्ण निष्ठा से करने चाहिये ।

आगे बढ ।

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुंचमानः । मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥१४॥

(अथर्व० ८।१।४)

"हे पुरुष! (अतः) इस वर्तमान अवस्थासे (उत्क्राम) आगे बढ । (मा अव पत्थाः) मत नीचे गिर । (मृत्योः पड्वीशं अवमुंचमानः) मृत्युके पाश को तोडता हुआ आगे बढ । (अस्मात् लोकात्) इस लोकसे (अग्नेः सूर्यस्य संदृशः) अग्निरूप सूर्यके तेजसे (मा च्छित्थाः) मत अलग हो । "

वर्तमान अवस्थासे अधिक उच्च अवस्था प्राप्त करना हर एक का कर्तव्य है। मृत्युके पाश तोडकर अमरपन प्राप्त करना चाहिये और कभी गिरने के कार्य करने नहीं चाहिये । इस लोकमें सूर्यप्रकाश ही आरोग्य का साधन है, इसलिये उन्नति करनेवाले मनुष्य सूर्यप्रकाश में रहकर आरोग्य प्राप्त करें और उन्नतिके मार्गसे आगे बढें ।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्ष-तातिं कृणोमि । आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥१५॥

(अथर्थ० ८।१।६)

"हे पुरुष । (ते उत् यानं) तेरी उन्नति होवे (न अव-यानं) नीचे गिरावट न होवे । (ते) तेरे (जीवातुं) जीवन के लिये (दक्षतातिं) दक्षताका बल (कृणोमि) करता हूं । (इमं अमृतं सुखं रथं) इस अमृतमय सुख देनेवाले रथपर (आरोह) चढ और (जिर्विः) स्तुत्य बनकर (विदथं आवदासि) सभामें भाषण कर ।"

अपनी उन्नति करनी चाहिये । गिरावटके कार्य कभी करने नहीं चाहिये । इसलिये जीवन और बल प्राप्त हुआ है । इस शरीररूपी उत्तम रथपर सवार होकर सभाओंमें कार्य करते हुए आगे बढना चाहिये ।

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम् । गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥ १६ ॥

(अथर्व० ८।१।१३)

"(बोधः) ज्ञान और (प्रतिबोध) विज्ञान तेरी रक्षा करें । (अस्वप्नः) फूर्ति (अनवद्राणः) स्थिरता तेरा संरक्षण करें । (गोपायन) रक्षक और (जागृविः) जागनेवाले तेरा संरक्षण करें ।"

ज्ञान और विज्ञान, फूर्ति और स्थिरता, रक्षा करना और जागृत रहना, ये सब भाव मनुष्यके सहायक बनें, अर्थात् इनका यथायोग्य उपयोग करनेसे मनुष्यका अभ्युदय हो सकता है । "

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः । भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥१७॥

(अथर्व० ४।३१।७)

"(वरुणः) श्रेष्ठ आत्मा और (मन्युः) उत्साह ये दोनों (संतुष्टं) उत्पन्न किया हुआ और (समाकृतं) सुसंस्कृत किया (उभयं धनं) दोनों प्रकार का धन (अस्मभ्यं धत्तं) हमारे लिये धारण करें । शत्रुहृदयोंमें (भियः) भय (दधानाः) धारण करते हुए (पराजितासः) पराजित होकर (अपनिलयन्तां) भाग जांये । "

आत्मिक बल और उत्साहसे सब प्रकार का धन हमारे पास इकट्ठा हो जाय । तथा हमारे सब शत्रु पराजित होते हुए दूर भाग जाय । इस प्रकार अपने शत्रुओंको दूर भगाकर अपनी प्रगति का साधन करना चाहिये ।

विजयी उत्साह।

यस्ते मन्योऽविधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्। साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥१८॥(अथर्व० ४।३२।१)

"हे (वज्र सायक मन्यो) शस्त्रके समान उग्र उत्साह! (यः ते अविधत्) जो तेरा सेवन करता है, वह (विश्वं सहः ओजः) सब प्रकारका विजयशाली बल (आनुषक्) सदा प्राप्त करता है। (त्वया युजा) तेरे साथ रहकर (सहस्वता सहसा) विजयी बलके साथ हम सब (दासं आर्यं) दास और आर्यका (साह्याम) निर्णय करेंगे।"

उत्साह बडाही तेजस्वी है। उत्साहसेही विविध प्रकारका विलक्षण बल प्राप्त होता है तथा श्रेष्ठ और कनिष्ठ का निर्णय हो जाता है। इसलिये प्रगतिशील मनुष्यको सदा अपने अंदर विजयी उत्साह बढाना चाहिये।

सहस्रों युद्ध।

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्र प्रधनेषु च। उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥१९॥(ऋ० १।७।४)

"हे (उग्र इंद्र) उग्र प्रभो! (उग्राभिः ऊतिभिः) अपने वीर्ययुक्त रक्षणोंके द्वारा (सहस्रप्रधनेषु वाजेषु) सहस्रों प्रकारके धन प्राप्त करनेके अनेक युद्धोंमें (नः अव) हमारा रक्षण कर।"

मनुष्यजीवन युद्धमय ही है। रोग, मनके दुष्ट विचार आदिकोंके साथ युद्ध, सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओंके साथ युद्ध, तथा सर्दीगर्मी के साथ युद्ध, ये सब युद्ध करके ही मनुष्य जीवित रह सकता है। उन्नति प्राप्त करना, विजय कमाना, ऐश्वर्य संपादन करना, आदिके लिये उक्त युद्ध करने होते हैं। जो उग्रवीर्यसे युक्त होते हैं, उनका विजय होगा और अन्य पराजित होंगे। इसलिये संपूर्ण युद्धोंमें उग्र वीर्य से पराक्रम करके अपना विजय प्राप्त करना चाहिये। परमेश्वर उग्रवीर्य होनेके कारण ही सर्वत्र विजयी और सबका रक्षक होता है। उसी प्रकार सबको होना चाहिये।

निष्कंटक मार्ग।

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्। समर्यमा सं भगो नो निनीयात् सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ॥२०॥(ऋ० १०।८५।२३)

"(अनृक्षरा) कंटकरहित (ऋजवः) और सीधे सरल (पंथाः संतु) मार्ग हों, (येभिः) जिनसे (सखायः) हमारे मित्र (यंति) चलते हैं। (अर्यमा) न्यायकारी (भगः) धनवान् सबको (सं निनीयात्) उत्तम प्रकारसे चलावे और हे देवो! (जास्पत्वं) जाया और पति अर्थात् स्त्रीपुरुष (सुयमं) उत्तम नियमोंसे चलनेवाला (अस्तु) होवे।"

सब मार्ग निष्कंटक हों और सीधे हों। सीधे मार्ग से ही सब चलते रहें। सदाचारी भाग्यशाली सत्पुरुष अन्योंके मार्गदर्शक हों और हरएक कुटुंब उत्तम नियमोंसे चलनेवाला हो।

पत्थरोंवाली नदी।

अश्मन्वतीरीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः। अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाऽभि वाजान् ॥२१॥ (ऋ० १०।५३।८॥)

"(सखायः) भाईयो! यह (अश्मन्वती) पत्थरोंसे भरी हुई नदी (ईयते) जोरसे चल रही है। (सं रभध्वं) एक दूसरेको सख्त पकडो और (उत्तिष्ठत) उठो, सिद्ध होकर चलो और (प्र-तरत) जोरसे तैरो। (ये) जो (अ-सेवाः) सेवन करने अयोग्य पदार्थ (असन्) हैं, उनको (अत्र जहाम) यहां ही फेंकते हैं और (वयं) हम सब जब (उत्तरेम) पैल तीरपर उतरेंगे, तब (शिवान्-वाजान्) कल्याणकारक अन्नों और बलोंको (अभि) सब प्रकारसे प्राप्त करेंगे।"

यह मनुष्य जिस उन्नतिकी गतिसे चल रहा है, उसके मार्ग में पत्थरोंवाली एक भयंकर नदी है । उसके पार होनेके पश्चात् ही उसको सुख प्राप्त होना है । इसलिये मिलकर चलना और इसके पार होनेके लिये जोरसे तैरना अत्यंत आवश्यक है । पाठक इस अलंकार का अपने व्यवहार में अनुभव लें और इससे विशेष बोध प्राप्त करें ।

समाजकी प्रगति के लिये मिलकर उन्नति करनी, जोरसे पार होनेका प्रयत्न करना, आवश्यक बातोंको पास करके अनावश्यक पदार्थोंको दूर फेंककर अपना बोझ हलका करना, इत्यादि उपदेश यहां हैं और वे हरएक को देखने योग्य हैं ।

अश्मन्वतीरीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः । अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाऽभि वाजान् ॥ २१ ॥ उत्तिष्ठता प्रतरता सखायोऽ- श्मन्वती नदी स्यन्दत इयम् ॥ अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्यो- नानुत्तरेमाऽभि वाजान् ॥ २७ ॥
(अथर्व० १२।२।२६–२७)

इन मंत्रोंमें "वीरयध्वं" (अर्थात् बडा पुरुषार्थ करो, शौर्यवीर्यके साथ बडा प्रयत्न करो) ऐसा अधिक उपदेश है । ऋग्वेदके मंत्रमें जहां "अ-शेवाः" (असेवनीय) शब्द है,वहां अथर्ववेदमें " दुरेवाः" (दुःखदायी, दुःख-परिणामी) और "अ-शिवाः" (अ-शुभ) ये दो शब्द हैं । तथा ऋग्वेदके "शिवान्" (शुभ) शब्दके स्थानपर अथर्ववेदमें " अन्-अमीवान् " (रोगरहित) और "स्योनान्" (अनुकूल, हितपरिणामी) ऐसे शब्द हैं ।

स्वावलंबन ।

स्व१र्यन्तो नाऽपेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी यज्ञं ये विश्वतो–धारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥२२॥ (अथर्व. ४।१४।४)

" (ये) जो (सु-विद्वांसः) उत्तम विद्वान् (विश्वतो-धारं यज्ञं) सब प्रकारसे धारण-पोषण करनेवाले सत्कर्मोंको (वि-तेनिरे) विशेष प्रकारसे फैलाते हैं, वे (रोदसी द्यां रोहन्ति) दोनों लोकोंमेंसे ऊपर होते हुए स्वर्गपर चढते हैं और (स्वः-यन्तः) अपने तेजको फैलाते हुए (न अपेक्षन्ते) किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करते ।"

विद्वानोंको उचित है कि वे स्वावलंबन का आश्रय करें और सदा अपनी उन्नतिके लिये दूसरोंपर निर्भर न रहें। जो मनुष्य स्वावलंबनके मार्गसे प्रगति करते हैं, वेही उत्तम यशस्वी होते हैं ।

बलवर्धन ।

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतनीकाय सुमनस्यमानाः । तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥२३॥
(अथर्व० १।३५।१)

"(यत्) जिस (हिरण्यं)सुवर्णको (दाक्षायणाः) बलवान् (सुमनस्यमानाः) उत्तम मनोभावनाओंसे युक्त लोगोंने (शत अनीकाय) सौ सेनाओंके नायक के लिये (आ अबध्नन्) बांधा है, (तत्) उसको (आयुषे) लाभके लिये, (वर्चसे) यशके लिये (बलाय) बलके लिये, (शत शारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षवाले दीर्घायुत्वके लिये (ते) तेरे (बध्नामि) मैं बांधता हूं ।"

सेनानायकको सुवर्ण से सुभूषित करते हैं,उसी प्रकार हरएक शूरकोभी उसके अनुकूल सुवर्णभूषण देना योग्य है । भूषित होनेके समय वह वीर मनमें यह समझे कि यह यश, तेज, बल तथा दीर्घायु के लिये मुझे प्राप्त हुआ है । अर्थात् अब इनकी प्राप्ति अवश्य करनी चाहिये ।

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवाना मोजः प्रथमजं ह्येऽतत् । यो बिभर्ति दाक्षायणं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः॥२४॥
(अथर्व० १।३५।२)

"(न रक्षांसि) न हिंसक (पिशाचाः) न मांसभोजी (एनं सहन्ते) इसको दबा सकते हैं । (हि) यह (देवानां) देवोंका (प्रथमजं ओजः) पहिला सामर्थ्य

है। (यः) जो (दाक्षायणं हिरण्यं) बलवर्धक सुवर्ण (बिभर्ति) धारण करता है, (सः) वह (जीवेषु) जीवोंमें (दीर्घं आयुः) दीर्घ आयु (कृणुते) करता है।"

दाक्षायण सुवर्ण एक प्रकारका सुवर्ण है। उसको धारण करनेसे शरीरका बल तथा आयुष्य बढता है।

कुसंस्कारोंको दूर करो।

यदाशसा निःशसाऽभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः। अग्निर्विश्वान्यप-दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु ॥२५॥

(ऋ० १०।१६४।३)

"(आशसा) आशा के कारण, (निःशसा) दोषके कारण, (अभिशसा) कुसंस्कारके कारण, (जाग्रतः स्वपन्तः) जाग्रतिके समय अथवा स्वप्नके समय, (यद् यद् उपारिम) जो जो दोष हम सबसे हुए हैं, वे (अ-जुष्टानि) असभ्य (विश्वानि दुष्कृतानि) सब दुराचार (अग्निः) तेजस्वी आत्मा (अस्मद् आरे) हम सबसे परे (अपदधातु) करें।"

लोभ, दोष और कुसंस्कारोंके कारण मनुष्योंसे दुराचार होते हैं। इसलिये असभ्य भाव और दुराचारके भाव सबसे प्रथम दूर करने चाहिए।

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि। प्रचेता न आंगिरसो द्विषतां पात्वंहसः॥२६॥

(ऋ० १०।१६४।४)

"हे (इन्द्र ब्रह्मणः-पते) समर्थ ज्ञानके स्वामिन्! (यत्) जो (अति द्रोहं) दुष्ट घातपात (चरामसि) मैंने किया होगा, उसके मूल कारण (द्विषतां अंहसः) द्वेषके पतित भावोंसे (अंगि-रसः प्रचेता) अंगोंमें रसरूप रहनेवाली विशेष प्रकारकी चेतनाशक्ति (नः पातु) हम सबको बचावे।"

द्वेषमूलक कुसंस्कारों के कारण घातपात करनेकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये आंतरिक जीवनकी चेतना-शक्तिके बलसे उक्त द्वेषमूलक कुसंस्कारोंसे बचना चाहिए।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः। उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥२७

(ऋ० ४।१३।१)

"हे (देवाः देवाः) देवो विद्वानो! (अवहितं) अधोगत मनुष्यको पुनः (उन्नयथाः) उन्नत करते हो। हे देवो! (आगः-चक्रुषं) अपराध करनेवालेको (उत) भी पुनः (जीवयथाः) उत्तम जीवनसे युक्त करते हो।"

ज्ञानी विद्वान् महात्माओंको उचित है कि वे नीच, हीन अधोगत और अपराधी पापी मनुष्यको भी योग्य उपदेश द्वारा उन्नत और पवित्र जीवनवाला बनावें।

आयुर्वेदप्रकरण।

वैद्यका लक्षण।

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव॥ विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः॥२८

(ऋ० १०।९७।६)

जिस प्रकार राजा लोक अथवा क्षत्रिय (समितौ इव) सभामें अथवा युद्धमें एकत्रित होते हैं, उस प्रकार (यत्र) जहां औषधियां (सं अग्मत) इकट्ठी होतीं हैं, उस (वि-प्रः) विशेष ज्ञानी मनुष्यको ही (भिषक्) वैद्य कहते हैं। वह ही (रक्षो-हा) राक्षसोंका हनन करनेवाला और (अमीव-चातनः) रोग दूर करनेवाला कहा जाता है। इस मंत्रमें वैद्यका लक्षण बताया है। (१) संपूर्ण औषधियां अपने पास ठीक प्रकार रखनेवाला, (२) विशेष प्रबुद्ध अर्थात् अपने शास्त्रका सांगोपांग जिसने अध्ययन किया है, (३) जो युक्ति और योजनासे (भिषज्यति) रोग दूर कर सकता है, (४) जो राक्षसोंका नाश कर सकता है और (५)जो रोगोंको मूलसे अर्थात् जडसे (चातनः) उखाड देता है। ये वैद्यके पांच लक्षण उक्त मंत्रमें कहे हैं।

" रक्षः, राक्षस " ये शब्द रोग-उत्पादक विषजंतुओंके हैं। " अमीव " नाम उन रोगोंका है कि जो रोग पेटके अपचित अन्न अर्थात् आमसे होते हैं।

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यो अधराचीः परासुव ॥ २९॥ (यजु० १६।५)

"सब (अ-हीन्) कम न होने, अर्थात् बढनेवाले रोग-बीजोंको (जंभयन्) नष्टभ्रष्ट करनेवाला, सब (यातु-धान्यः) राक्षसोंको-रोगबीजों को (अधराचीः) नीचेकी ओरसे जो (परा सुव) निकालनेवाला है, वह (अधिवक्ता) उप-देशक पहिला दिव्य वैद्य (अधि अवोचत्) हम सबको बचाता है।"

इस मंत्रमें वैद्यके लक्षण कहे हैं-(१) रोगबीजोंको नाश करनेला, (२) राक्षसोंका- रोगजंतुओंका संहार कर-नेवाला, (३) योग्य मार्गका उपदेश करनेवाला और (४) बचानेवाला वैद्य होता है। इस मंत्रमें " अ-हि " शब्द रोगबीजोंका वाचक आया है।

धमनियोंमें विषसंचार।

यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः। तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ॥ ३०॥

(अथर्व० ६।९०।२)

"मनुष्य के शरीर में (शतं धमनयः) सैंकडों नसें तथा नाडियां हैं।(अंगानि अनु) प्रति अवयव में इनकी (विष्ठिताः) स्थिति है। (तासां सर्वासां) इन सब धमनियों से (विषाणि) विषको हम (निः ह्वयामसि) बाहर निकालेंगे।"

इस मन्त्र में दो बातें स्पष्ट कही हैं-(१) एक यह है कि शरीर के प्रति अवयव में अनेक नाडियां हैं। तथा (२) दूसरी बात यह है कि उन नाडियोंमें विष-संचार होकर नाना व्याधियां होती हैं। इस कारण उन नाडियोंको सदा निर्विष अर्थात् शुद्ध रखना चाहिये। नाडियों की निर्विषता के ऊपर मनुष्य का स्वास्थ्य अव-लम्बित है, यह बात यहां स्पष्ट प्रतीत होती है।

अंगभेदो अंगज्वरो यश्च ते हृदयामयः। यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तत् वाचा साढः परस्तराम् ॥३१॥ (अथर्व० ५।३०।९)

"(१)(अंगभेदः) आंग दूखना, (२) (अंगज्वरः) शरीर का ज्वर, (३) (हृदयामयः) हृदय की व्यथा, (४) (यक्ष्मः) क्षयरोग यह सब व्याधियां एकदम नष्ट हो जायगीं, जिस (श्येन इव) प्रकार श्येन झटपट भागता है।"

इस मन्त्रमें चार प्रकारकी व्याधियों का परिगणन किया है।

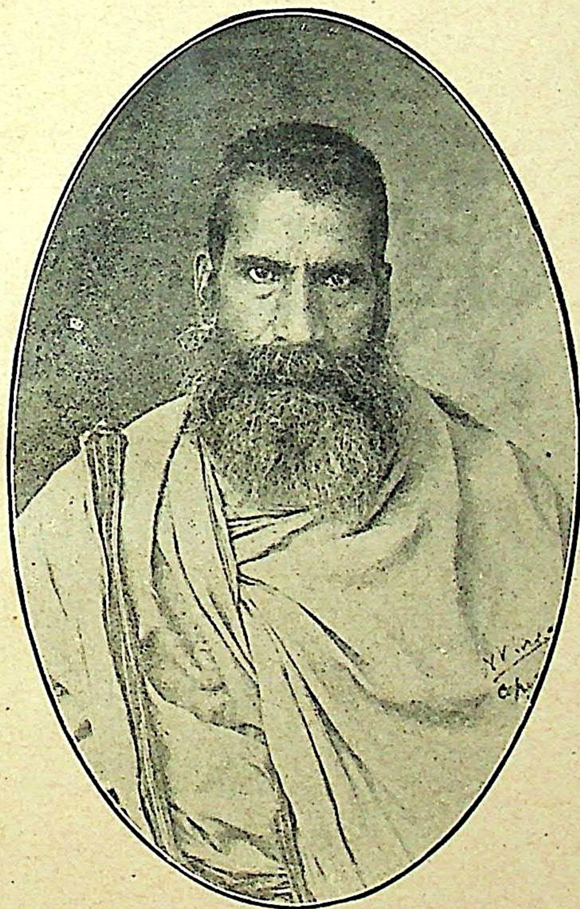
ये अंगानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव। यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ ३२ ॥ पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणीभ्यां ते परि भंससः ॥ अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगम-नीनशत् ॥३३॥ सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च ये विधुः। उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोङ्गभे-दमशीशमः ॥३४॥ (अथर्व० ९।८।२०-२२)

"जिससे अवयवोंके अन्दर मद उत्पन्न होता है और नाना प्रकार के व्याधि होते हैं, वह विष होता है। पांव, जानु, श्रोणी, पेट, कमर, मस्तक, कपाल, हृदय तथा अन्य अवयव इनके अन्दर जो विष रहता है, उसका नाश उदय को प्राप्त हुआ सूर्य अपने किरणोंसे करता है। अर्थात् प्रातः काल के सूर्यकिरणोंसे अनेक व्याधि नाश होते हैं।"

इस मंत्रमें विषसे व्याधियोंका उत्पन्न होना तथा सूर्य-किरणोंद्वारा विषका नाश होना स्पष्ट लिखा है। सूर्यकिरण विष दूर करके आरोग्यका संवर्धन करनेहारे हैं। इस सूर्य का नाम " शोचिष्+केश " ऐसा वेद में आया है, जिससे किरणोंका शुद्धता करनेका धर्म स्पष्ट पाया जाता है।

वैदिक धर्म।

जोलाई १९३९
आषाढ १९९६



अमर हुतात्मा श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी

वर्ष २०, अंक ७] [क्रमांक २३५

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २०] [अङ्क ७

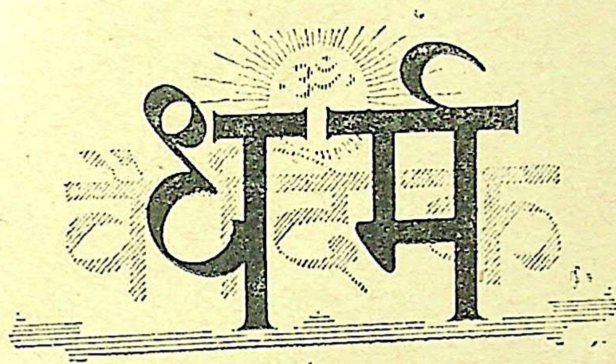
विषयानुक्रमणिका

वर्ष २०

अंक ७

क्रमांक

२३५



आषाढ

संवत् १९९६

जोलाई

सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

अपनी स्थिरता के लिये

राजा लोकसभा की स्थापना करे।

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून् छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥

(अथर्व० ६।८८।३)

"हे राजन्! तू अपनी राजगद्दीपर स्थिर रह, चञ्चल न हो, शत्रुओंका नाश कर, शत्रुता करनेवाले वैरियोंको नीचे गिरा दे। सब दिशाओंमें रहनेवाले लोग एकमतसे व्यवहार करनेवाले हों, इसलिये तेरी राजगद्दीपर स्थिरता करने के लिये यह लोकसमिति समर्थ होवे।"

प्रजा के द्वारा नियुक्त किया हुआ राजा अपने शुभ गुणोंसे राजपदपर स्थिर रहे। वह चञ्चल और अस्थिर व्यवहार करनेवाला कभी न बने। वह राष्ट्रके अन्तर्बाह्य शत्रुओंका पूर्ण नाश करे और राष्ट्रको शत्रुरहित करे। चारों दिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन एकमतसे राष्ट्र के उद्धार के कार्य में लग जांय और सतत प्रगति करते रहें। जो राजा सदा प्रजाहित के कार्य में तत्पर रहेगा, वही राजपद पर स्थिर रखा जावे। लोकप्रतिनिधिसभा इस कार्य को करे और विपरीत आचरण करनेवाले राजा को राज्य से हटावे।

ईश्वर-साक्षात्कार।

—⁂—

'ईश्वर-साक्षात्कार' विषयक लेखमाला इस 'वैदिक धर्म'में प्रकाशित हो रही है। इस अंकमें छठा लेख प्रकाशित हो रहा है। आगे और कई लेख प्रकाशित होनेवाले हैं। प्रथम लेखसे हि हमनें पाठकों से प्रार्थना की थी कि वे इस लेखमाला के विषय में अपनी संमति प्रकाशित करें और शंकाओंको लिखकर हमारे पास भेजें। परंतु इस समय तक एकही पाठककी एक शंका हमारे पास आ गयी, जिसका समाधान गताङ्क में किया गया है। इस समय तक किसी अन्य पाठक से कोई आशंका नहीं आयी।

कई पाठकों से इस लेखमाला की प्रशंसा करनेवाले पत्र आये हैं और उन में पाठक मुक्तकण्ठसे लिख रहे हैं कि, इस लेखमाला के प्रकाशित होने से कई वेदमंत्रों के अर्थ अधिक खुल रहे हैं, जो इस समय तक संदिग्ध थे। परंतु हमें प्रशंसा के पत्र इस समय नहीं चाहिये। ईश्वर-स्वरूपकी जो खोज इस लेखमालामें की जा रही है, वह रीति नयी है, इस रीतिसे जो खोज चल रही है, उसका परिणाम सब वैदिक धर्मियोंको स्वीकार करना होगा और तदनुसार आचार-व्यवहार करना होगा। यह ईश्वरविषयक कल्पना केवल मन्तव्य नहीं है। यह केवल माननेसे कार्य चलनेवाला नहीं है। यहां वैदिक ईश्वरका स्वरूप स्पष्ट होकर वह ईश्वर हमारे सम्मुख देखनेका विधि यहां विस्पष्ट किया जा रहा है। ईश्वर इतना सम्मुख आनेके पश्चात् हमारा व्यवहार उनके साथ कैसा होना चाहिये, यह प्रश्न प्रत्येक पाठकके सम्मुख इस समय है।

इस समय तक वेदप्रचारमें लगे उपदेशक कहते थे कि, ईश्वर का साक्षात्कार अनेक जन्मों के पश्चात् कभी होगा तो होगा, परन्तु वेदमंत्र ईश्वरको क्षण क्षण में प्रत्यक्ष करनेकी भाषा बोल रहे हैं। उन वेदमंत्रोंको इस लेखमाला में पाठकों के सम्मुख रखा जा रहा है।

हम अपनी ओर से इन लेखोंमें कुछभी नहीं लिखते हैं। वेद को स्वतःप्रमाण मानकर वेद ईश्वरके विषयमें क्या कहता है, वही हम यहां बता रहे हैं। वेदोंका सरल अर्थ लेकर उसको विश्वमें देखने का यत्न हम कर रहे हैं।

यह विचारसरणी नयी है, अतः इस विचारपद्धति में किसी स्थानपर कुछ प्रमाद होने की संभावना हो सकती है। इसलिये पाठकों से प्रार्थना है कि किसी विषय के प्रतिपादन में कुछ दोष दीखा तो वे उसे लिखकर हमारे पास भेजने की कृपा करें। तथा किसी विषय में कुछ आशंका उत्पन्न हुई, तो उसे लिखकर हमारे पास भेजने की कृपा करें। इस से बडी सहायता हो सकती है।

किंसीने हमारी विचार-धाराके विरुद्ध लिखा, तो भी हम उसका स्वागत करेंगे। यहां हमें किसी भी बात का हठ नहीं है। वेदमंत्र क्या उपदेश देते हैं, यही हमने देखना है और वह देख कर उस उपदेशको आचरण में लानेका यत्न करना है।

पाठक इस विषय में अपनी आशंकाएं शीघ्र लिखकर हमारे पास भेज कर अनुगृहित करें।

'संपादक'

क्या मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है ?

वेदकी संमति इस विषयमें क्या है ?

(षष्ठ लेख)

इस समयतक के पांच लेखों में बताया है कि, संपूर्ण विश्व ही ईश्वरका रूप है। जो रूप इस विश्व में दीखता है, वह सब ईश्वर का ही है, इसीलिए ईश्वरका नाम ही उपनिषद्ने 'विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं' (प्रश्न०उ० १।८) 'विश्वरूप' रखा है। 'जिससे वेद उत्पन्न हुए, वही विश्वरूप देव है,' यह प्रश्नोपनिषद्का कथन है। यह कथन केवल उपनिषद् का ही नहीं, अपितु वेदमंत्र स्वयं परमेश्वर को 'विश्वरूप' हि कह रहे हैं। ये मंत्र अब यहां देखिए-

१. इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपं उपह्वये।
(ऋ० १।१३।१०)

"यहां प्रथम उपास्य विश्वरूपी त्वष्टा की हम प्रार्थना करते हैं,"

२. महत् तत् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ॥ (ऋ० ३।३८।४; वा० य० ३३।२२)

'उस सामर्थ्यवान् देव का पराक्रम बहुत ही बडा है, वह विश्वरूपी देव सब अनंत अमृतों को धारण करता है।'

३. देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान। इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महत् देवानामसुरत्वमेकम्॥
(ऋ० ३।५५।१९)

'सबके उत्पत्तिकर्ता विश्वरूपी देव ने सब प्रजाओंकी उत्पात्ति की है और उन सबका पोषण भी किया है। उसीके ये सब भुवन हैं। देवों में यही एक बडा अद्भुत सामर्थ्य है।'

४. त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान्॥ (ऋ० ३।५६।३)

'तीन शक्तियों से युक्त, तीन पोषक बलों से युक्त, अनेक प्रकार से विविध प्रजावाला वह विश्वरूपी बलशाली देव है।

५. वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपं अदाभ्यम्। बृहस्पतिं वरेण्यम्॥ (ऋ० ३।६२।६)

'बलवान्, न दबनेवाले और मानवों के श्रेष्ठ उपास्य विश्वरूपी बृहस्पति-ज्ञानपति-की हम उपासना करते हैं।'

६. देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
(ऋ० १०।१०।५)

'सबका उत्पन्नकर्ता कारीगर विश्वरूपी देव है।' वही सबका मुख्य उपास्य है।

७. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते॥
(ऋ० ६।४७।१८)

'प्रत्येक रूप में वह प्रतिरूप हुआ है, उसका वह रूप देखने के लिए है। यह प्रभु अपनी अनंत शक्तियों से बहुरूप होता है।'

८. स्थिरेभिरंगैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः। ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसूर्यम्॥ (ऋ०२।३३।९)

'अनंत रूपोंवाला उग्र देव तेजस्वी और कांतिवाले दृढ अंगोंसे बहुत ही शोभता है। सब भुवनों का यह शासक है, इससे उसका निज बल कभी दूर नहीं होता है।'

९. त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं
गृहपतिं निषेदिरे। बृहत्केतुं पुरुरूपं
धनस्पृतं सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम्॥
(ऋ० ५।८।३)

'पुराण, गतिमान्, प्रजाओं को प्रकाशित करनेवाले, बृहत् ध्वजा से युक्त, धन देनेवाले, सुख देनेवाले तुझ बहुत रूपोंको धारण करनेवाले देव की हम उपासना करते हैं।'

१०. ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित्।
(वा० य० ५।३५)

'हे ईश्वर! तू विश्वरूपी ज्योति है, सब देवताओं का मिलान तेरे रूप में उत्तम रीतिसे हुआ है।'

इस तरह के वर्णन वेदमें अनेक हैं। ये सब वर्णन 'विश्वरूप' या 'पुरुरूप' देवता के हैं। विश्वरूप पुरुरूप, बहुरूप और सर्वरूप' शब्दों का अर्थ प्राय: एक जैसाही है। सर्वरूप का अर्थ ही यह है कि, 'सब का रूप'। ईश्वरने सबका रूप धारण किया है और सबके नाम भी धारण किये हैं। जिसने सबके रूप धारण किये हैं, उसीको सबके नाम प्राप्त होने योग्य हैं। जो सबके रूप धारण नहीं कर सकता, उसको सबके नाम किस तरह प्राप्त हो सकते हैं?

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद
भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव
तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ (ऋ० १०।८२।३)

'जो सबका पिता, उत्पन्नकर्ता, निर्माणकर्ता, सब धामों का और भुवनों ज्ञाता और जो (देवानां नामधाः) सब देवोंके नामों का धारण करता है, जो अकेला ही एक देव है, उसी उपास्य देव के पास सब भुवन जाते हैं।' उसीकी सब उपासना करते हैं।

यहांतक जो वर्णन किया, उसका तात्पर्य यह है कि वह अकेला एक देव—

(१) विश्वरूपः (ऋ० ३।३८।४; वा० य० ३३।२२) सबके रूप धारण करनेवाला वह एक देव है।

(२) इंद्रः मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋ० ६।४७।१८) इन्द्र प्रभु अपनी शक्तियों से अनेकरूप होता है, अतः इस को 'बहुरूपी'। (पुरुरूपः) कहते हैं।

(३) रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव। (ऋ०६।४७।१८) विश्वके प्रत्येक रूप के लिए वही आदर्श है, अर्थात् वही प्रत्येक रूप में आधार है, प्रत्येक रूप वही लेता है।

(४) धामानि वेद भुवनानि विश्वा। (ऋ० १०।८२।३) सब विश्वको यथावत् जानता है, अर्थात् वह सर्वज्ञ है।

(५) देवानां नामधा एक एव (ऋ० १०।८२।३) सब देवों के सब नामोंको अकेला ही धारण करता है।

इतना वेदके उपदेशका सार है। (१) विश्व के सब रूपों को धारण करनेवाला, (२) विश्वके सब रूपोंके नाम धारण करनेवाला तथा (३) विश्वके सब पदार्थोंका ज्ञाता वही अकेला एक देव है। वही सब रूपों को धारण करता है। इसी हेतुसे सब पदार्थोंके नाम उसको दिये जाते हैं और इसी कारण वह उन सबका ज्ञाता भी है।

कल्पना करिये कि एक अनेक स्वांग लेनेवाला बहुरूपिया है, वह राजा, प्रधान, मंत्री, तहसीलदार, जमादार, सेनापति, सिपाही, द्वारपाल, बनिया, बनपाल, गोपाल आदिके रूपों को हूबहू धारण करता है, इसीलिये उसको ये नाम दिये भी जा सकते हैं और वह इन सब रूपोंको जान भी सकता है। इतने विवरणसे पाठक—

एकं सत्, विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः॥
(ऋ० १।१६४।४६)

'एकहि सत् वस्तु है, उसीका अनेकविध वर्णन ज्ञानी लोग करते हैं, उसीको अग्नि, यम, मातरिश्वा कहते हैं।' इस मंत्रको यथावत् समझ सकते हैं। ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर, सत् संज्ञक एकहि वस्तु है। इसी एक सद्वस्तु का वर्णन ज्ञानी लोग अग्नि, इंद्र, वरुण, वायु, यम, सविता, आदित्य, आप् आदि नामोंसे करते हैं, इसका कारण यही है कि इसी एक सद्वस्तुने अग्नि, इन्द्र आदि रूप धारण किये हैं, वह एकहि सद्वस्तु अग्नि, इन्द्र आदि रूपों को धारण करके इन रूपों में प्रकट हुई है, अतः ये इन्द्र अग्नि आदि

सब नाम उस एक अद्वितीय सद्वस्तुको प्राप्त होते हैं और चूंकि अग्नि, इन्द्र आदि के रूप और नाम उसको प्राप्त हुए हैं, उसी लिये वही इन अग्नि, इन्द्र का ज्ञाता भी है। अतःवह विश्वरूप, विश्वनाम और विश्ववित् है, तथा सर्व-रूप, सर्वनाम और सर्ववित् है, तथा वही बहुरूप, बहुनाम और बहुवित् है। इतना विवरण समझनेके पश्चात् अब यह मंत्र देखिये—

तत् एव अग्निः, तत् आदित्यः।
तत् वायुः, तत् उ चन्द्रमाः।
तत् एव शुक्रं, तत् ब्रह्म।
ता आपः, सः प्रजापतिः॥(वा० य० ३२।१)

'वही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, प्रजा-पति है,' क्योंकि उसी एकने ये अग्नि आदि रूप धारण किये हैं, अतः ये नाम उसीको प्राप्त होते हैं और वही इन सब रूपोंको यथावत् जानता भी है। रूप-नाम-ज्ञान इस तरह उसी में हैं।

यहां तक के विवरणसे अग्नि, आदिके रूप ईश्वरके हैं, यह बताया गया। रूप उसीके हैं, इसलिए अग्नि आदि नाम भी उसी को प्राप्त हुए हैं, यह भी बताया गया। वे नामरूप उसीके हैं, इसी कारण वही उन सब को जानता है, क्योंकि यह अपने आपकोहि उसका जानना है, वह स्वयं अपने आप का पूर्ण ज्ञानी है।

यह वैदिक मंत्रोंमें कथित ईश्वरका ज्ञान है, पर ईश्वरका इस तरह साक्षात्कार होने पर भी ईश्वर को क्या चाहिये? वह क्या चाहता है? हम उसके लिये क्या करें? वह हमारे आचरण से किस तरह संतुष्ट हो सकता है? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर हमें इस समय तक मिला नहीं। हम तो पहिले से यही चाहते हैं, ईश्वर को वैसे हम मिलें, जैसे हम मित्र से मिलते हैं। ईश्वर के साथ हम ऐसे मिलें, जैसा हम माता-पिता से मिलते हैं। ईश्वर से हम मिलकर उसे पूछें कि, उसको हमसे क्या चाहिये? हम उसकी संतुष्टि के लिये क्या करें? हमारी इच्छा तो यह है। जब तक यह नहीं होता, तब तक इस तरहके मूक साक्षात्कारका क्या तात्पर्य होगा? वेदने जो कहा है कि—

स नो बंधुर्जनिता
स नः पिता जनिता
स पितुः पिता

वह ईश्वर हमारा भाई है, पिता है, जनक है, पिताका पिता भी है, माता है और माताकी माता भी है। यदि वेदका यह कथन सत्य है और यदि सचमुच वह हमारा पिता-माता-पितामह-मातामह-भाई-मित्र-सखा आदि है, तो ऐसा सखा क्या कामका कि, जो क्षणभर भी हम से न बोल सके? ऐसी माता क्या काम की जो क्षणभर भी हमसे प्रेम के शब्द न बोले? ऐसा पिता और भाई क्या काम का कि,जो एक बार भी हमें न मिले औ हम भी उसे कभी न मिलें? क्या कभी कोई ऐसा किसी का इष्ट, मित्र, बन्धु, भाई, सखा, माता, पिता हो सकता है कि, जो बंद कमरे में बैठा रहे और कभी न मिले, हजारों जन्मतक कमरे में बंद रहे और कभी न बोले, दूसरे भी उससे कभी न मिलें? क्या यह प्रेम का चिह्न हो सकता है?

वेदादि शास्त्र और संतोंके वचन कहते तो हैं कि, वह ईश्वर प्रेममय है। पर हमारा अनुभव क्या कहता है? यदि वह प्रेममय होता, तो हमें प्रेम से मिलता, हमारे से प्रेम से बातचीत करता, हम भी उसे निर्भय होकर प्रेम से पूछते। पर यहां तो यह बात नहीं है, यहां तो मिलना भी नहीं, बोलना तो मिलने के पश्चात् होनेवाला है। फिर हम कैसा माने कि वह प्रेमपूर्ण है? इसलिए कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि, जिससे हम अपने पिताजी की गोद में जाकर आराम से बैठें और प्रेम से उनके साथ मिलें।

विश्वरूप में ईश्वर का दर्शन करने की युक्ति वेदने हमें समझा दी, पर हम अग्नि, इन्द्र से किस तरह बोलें और उनसे क्या पूछें और क्या करें? सब विश्वरूप उसी प्रभु का है, इतना जानने पर भी हम उस प्रेम का अनुभव नहीं कर सकते कि जो हम ईश्वर से करना चाहते। इस लिए वेद की और खोज करनी चाहिये कि जिससे यह कठिनता दूर हो जाय। इस सम्बन्ध का ज्ञान देनेवाला एक सूक्त वेदमें है, उसका नाम पुरुषसूक्त है। इस सूक्त में वेद ने ईश्वर को 'पुरुष' कहा है। इसका देवता 'नारायण अथवा **जगद्बीज नारायण**' है। इसका ऋषि भी नारायण है। यह सूक्त चारों वेदों में है। मंत्रों की संख्या प्रत्येक वेद में अलग अलग है और पाठभेद भी शाखासंहिताओं के अनुसार अनेक हैं। परन्तु वे परस्पर के अर्थ को प्रकट करने में सहायक ही होनेवाले हैं, अतः अब यह सूक्त देखिये-

पुरुषसूक्त।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठत् दशांगुलम्॥
(ऋ० १०।९०।१)

सहस्रबाहुः पुरुषः०। (अथर्व० १९।६।१)
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा। (वा० यजु० ३१।१)

'सहस्रों सिरों, सहस्रों आखों, सहस्रों बाहुओं और सहस्रों पावों से युक्त यह पुरुष अर्थात् परमेश्वर नारायण है, वह भूमि को चारों ओर से व्याप कर दशांगुल अवशिष्ट रहा है।'

यहां 'भूमिं विश्वतो वृत्वा' का अर्थ वा० यजुर्वेद में 'स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा' किया है। भूमिको चारों ओर से घेर कर, भूमिको चारों ओर से व्यापकर, भूमिके चारों ओर होता हुआ, ऐसा इस का आशय है। भूमिका अर्थ कई लोक केवल पृथ्वी करते हैं और कई 'संपूर्ण विश्व' करते हैं।

इस मंत्र में 'दशांगुलं अत्यतिष्ठत्' ये पद विशेष अर्थ के दर्शक हैं। दशांगुल अर्थात् अत्यंत अल्प-छोटासा जो यह विश्व है, उसको व्यापकर वह विश्व के बाहर भी अवशिष्ट रहा है। यह इसका आशय है। उस परमेश्वर की अपेक्षा यह जगत् अत्यंत अल्प है, यही यहां दर्शाया है। इस जगत्से वह बहुत ही बडा है, यह इसका आशय है।

इस मंत्रमें परमेश्वर के स्वरूपका वर्णन किया है। इस परमेश्वर को सहस्रों सिर, सहस्रों आंखें, सहस्रों बाहु और सहस्रों पाव हैं, अर्थात् इसी तरह अन्य अवयव भी हजारों हैं। इस के कान, नाक, मुख, गर्दनें, पेट, जांघें, घुटने आदि अवयव भी हजारों या लाखों हैं, यही इसका आशय है।

जो नारायण इस मंत्र में वर्णित है, वह मूर्तिमान् देव है अथवा वह मूर्तियों में प्रकट होता है, अन्यथा उसका ऐसा वर्णन होना अशक्य है। आंख, नाक, कान, सिर, हाथ, पांव ये शरीर के अवयव हैं, इन का कोई दूसरा अर्थ नहीं हैं। जिस ईश्वरका इस मंत्र में वर्णन हुआ है, उस ईश्वर के शरीर में ये अवयव हैं, इसीलिये वेदने ऐसा इन के अवयवों का वर्णन किया है, क्योंकि वेद असत्य वर्णन कभी नहीं करते।

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० ६।४७।१८) इन्द्र अपनी अनंत शक्तिओं से बहुत रूपों को धारण करता है, ऐसा जो पूर्व स्थान में कहा गया है, उस से मिलनेवाला यह वर्णन है। यदि वह अपनी अनंत शक्तिओं से अनेक रूप धारण करता है, या विविध रूपों में प्रकट हो सकता है, तब तो वह सहस्रों सिर, आंख, नाक, कान, बाहु, हात, उदर, जंघा, पांववाला हो सकता है और उस समय यह वर्णन ठीक ही हो सकता है। वेद में जिस ऋषिने 'सहस्रशीर्षा' ऐसा वर्णन इस ईश्वर का किया है, उस ने वैसा इसका साक्षात्कार किया ही होगा। क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि 'साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः' (निरुक्त) पूर्व समय में साक्षात्कार करनेवाले ऋषि हुए थे। अर्थात् हजारों अवयवों से युक्त परमेश्वर का साक्षात्कार प्राचीन काल में ऋषियों को हुआ था, इस में संदेह नहीं है। नहीं तो वे ऋषि हमें भ्रम में डालनेवाले ऐसे मंत्र क्यों लिखते? अतः हमें मानना चाहिये कि जैसा ऋषियोंने लिखा, वैसा ही उनको साक्षात्कार भी हुआ था। इस से स्पष्ट है, परमेश्वर का देह ऐसा है कि जिस में हजारों सिर हैं, हजारों हाथ हैं, हजारों पेट हैं और हजारों पांव हैं। इसी तरह हजारों अन्य अवयव भी हैं। इस तरह परमेश्वर का मूर्तिमान् देह है। अतः वह हम आंख से देख सकते हैं। यह ईश्वर आंख से देखा जा सकता है।

पाठक यहां ऐसी कोई शंका न करें कि परमेश्वर अशरीरी है, ऐसा हम सुनते आये हैं, फिर यह परमेश्वर के शरीर के अवयवों का वर्णन किस तरह हो रहा है? ऐसी शंका करना सर्वथा अयोग्य है। वेद के उक्त मंत्र का जबतक कोई दूसरा अर्थ नहीं होता तब तक हम वेदमन्त्र पर विश्वास रखकर जो उसका कथन होगा, वह हम वैसाही मानेंगे। हमें देखना इतनाही है कि हमें वेद अन्त में किस ओर ले जाता है। हमारा धर्म 'वेद' है, वह धर्म हमें जिस ईश्वर को बतावेगा, वही ईश्वर हमें मानना चाहिये। अन्य बातों का तत्काल परित्याग करना चाहिए। इस तरह ईश्वर का पता वेदसे निःसंदेह लगता है, ऐसा ही सब शास्त्र और सब ऋषिमुनि कहते ही आये हैं, फिर बीचमें

शंका करनेका कारण क्या है? 'सर्वे वेदा यत्पदं आमनन्ति' सब वेद परमेश्वरके पदका ही वर्णन करते हैं। सब वेद-मंत्रों का उद्देश यही है और पुरुषसूक्त के मंत्रों का उद्देश्य ईश्वर के वर्णन को छोडकर दूसरा कोई भी नहीं है और उक्त मंत्र का भी कोई दूसरा अर्थ नहीं है। अत: हमें मानना चाहिये कि **'वेदोक्त ईश्वरको मुख, बाहु, ऊरू और पांव आदि अवयव सहस्रों हैं।'**

हम देवताओंकी मूर्तियों को तीन, चार या छः सिर, चार, आठ या बीस हात देखते हैं, पर किसी मूर्ति को पेट और पांव अनेक हैं, ऐसा देखा नहीं। केवल अग्नि के ही तीन पांव होनेका वर्णन देखने में आता है, पर यहां तो पेट जांघे और पांव भी हजारों हैं, यह मूर्ति किस तरह होगी और हजार पेट और हजार पांववाला ईश्वर किस तरह अपना कार्य कर सकेगा, यह एक देखनेवाली बात है। चलो, आगे वेद क्या कहता है, यह पहिले देखें और पश्चात् विचार करेंगे कि, यह पहेली क्या है।

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य, कौ बाहु, कौ ऊरू, पादा उच्येते ॥
(ऋ० १०।९०।११)

'जिस पुरुषका इस तरह वर्णन किया, उसके किस तरह विभाग किये हैं? इसका मुख क्या है? बाहु कौन हैं, जांघें कौन हैं और पांव कौनसे कहे गये हैं?'

इस तरह वेदमंत्रने ही स्वयं प्रश्न पूछे हैं। जो प्रश्न हम पूछना चाहते थे, वे ही प्रश्न स्वयं वेदने पूछे हैं, यह वेद की महती कृपा है। हमसे पहिले ही ये प्रश्न वेदने स्वयं पूछे हैं, इसलिये वेद ईश्वर की पहेली को गुप्त रखना नहीं चाहता, प्रत्युत खोलना चाहता है। यह बात स्पष्ट है कि वेद हमें परमेश्वर का निःसन्देह ज्ञान देना चाहता है, यही इससे सिद्ध हो रहा है। इसलिए हमें उचित है कि वेदपर विश्वास रखते हुए हम आगे बढें और जैसा ईश्वर वेदने बताया है, वैसाहि हम मानें और उसीकी उपासना करके अपने आपको कतार्थ करें। आगे इन प्रश्नों के उत्तर वेदने किस तरह दिये हैं, यह अब देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीत् ।
बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यत् वैश्यः ।
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ (ऋ० १०।९०।१२)

'ब्राह्मण इस ईश्वरका मुख है, क्षत्रिय इस ईश्वरके बाहु हैं, जो वैश्य वे इस ईश्वर की जांघे हैं और पांव शूद्र हैं।' इस तरह वेदने ही स्वयं पूर्वोक्त प्रश्नोंके उत्तर दिये हैं और परमेश्वर के स्वरूप को स्पष्टता के साथ दर्शाया है। पाठक पूर्वोक्त मंत्रमें प्रश्न देखें और इस मंत्रमें उनके उत्तर देखें। किस तरह एक दूसरे का स्पष्टीकरण हो रहा है देखिये। यह बात विशेष महत्त्व की है।

इसलिए वेदमंत्रों के शब्दों से ही इसको फिर दुहराते हैं जैसा—

ईश्वर के सहस्र मुख।

१. **सहस्रशीर्षा पुरुषः**= सहस्रों मुखोंवाला ईश्वर है,
२. **मुखं किं अस्य ?**= इस ईश्वर का मुख कौनसा है?
३. **ब्राह्मणोऽस्य मुखम्** = ब्राह्मग ईश्वरका मुख है।
अर्थात् सहस्रों ब्राह्मण इस ईश्वर के सहस्रों मुख हैं।

ईश्वर के सहस्र बाहु।

१. **सहस्रबाहुः पुरुषः।** ईश्वर के सहस्रों बाहु हैं।
२. **कौ बाहू ?** = इस ईश्वरके बाहु कौनसे हैं ?
३. **बाहू राजन्यः कृतः** = ईश्वर के बाहु क्षत्रिय हैं, अर्थात् सहस्रों क्षत्रिय ईश्वर के सहस्रों बाहु हैं।

ईश्वर की जंघाएं।

१. ईश्वर की सहस्रों जंघाएं हैं।
२. **कौ ऊरू ?** = इस ईश्वरकी जंघाएं कौनसी हैं ?
३ **ऊरू तत् अस्य यत् वैश्यः** = इस ईश्वर की जंघाएं वे हैं कि, जो वैश्य कहलाते हैं। अर्थात् सहस्रों वैश्य ईश्वर की हजारों जंघाएं हैं। (इनको किसी स्थानपर ईश्वर के सहस्रों पेट भी कहा गया है।)

ईश्वर के सहस्रों पांव।

१. **सहस्रपात्** = ईश्वर के हजारों पांव हैं।
२. **कौ पादौ उच्येते ?** = ईश्वर के पांव कौनसे हैं ?

३. पद्भ्यां शूद्रो अजायत = ईश्वर के पांव शूद्र हैं। जो सहस्रों शूद्र हैं, वे परमेश्वरके पांव हैं। (यहां पांवोंसे शूद्र बन गये ऐसा वाक्य है, परन्तु पूर्वोक्त प्रश्नके योग्य उत्तर हमने यहां बनाया है।)

यहां वेद के शब्दों से ही पूर्वोक्त मंत्रों के पद लेकर परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन किया है। इससे वेदका आशय स्पष्ट होनेमें सहायता हो सकती है। वेदोक्त ईश्वर यह है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र मिलकर जो चातुर्वर्ण्य है, वही ईश्वरका स्वरूप है। यह ईश्वर तो निःसंदेह प्रत्यक्ष है। और इसका साक्षात्कार हमें हो सकता है। और हम इस नारायण की सेवा कर सकते हैं। हम इसे पूछ सकते हैं कि इसे क्या चाहिए और क्या नहीं चाहिए। इसे जो चाहिए, वह हम इसे दे सकते हैं और इसे जो नहीं चाहिए, वह हम करना छोड सकते हैं।

नारायण कौन है?

'नारायण' का अर्थ भी यहां देखने योग्य है। '**नाराणां समूहो नारं**' नरोंके समुदाय, संघ, सभा, परिषद्, जाति, समूहको 'नार' कहते हैं '**नारे अयनं यस्य स नारायणः**।' समूह में जिसका गमन है, समूहों में जिसकी प्राप्ति है, वह नारायण है। इस से नारायण का अर्थ मानवसंघ होता है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्ररूपी जो मानवसंघ है, इन में जिस एक जीवन की प्रतीति होती है, वही नारायण है। अर्थात् '**नारायण शब्द का अर्थ जनता-जनार्दन**' है, मानवसमाज है, जिसका वर्णन पूर्वोक्त पुरुषसूक्तके मंत्रों में किया है।

पुरुषसूक्त में 'पुरुष' का वर्णन है। पुरुष उसको कहते हैं कि जो (**पुरि वसति**) नगरों में वसता है। नगरमें या पुरीमें ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रहि वसते हैं, अतः ये पुरुष कहलाते हैं और इन पुरुषों के चातुर्वर्ण्यसंघ का वर्णन इस सूक्त में है, यही ईश्वर का स्वरूप है, जो हम सबका एकमात्र उपास्य देव है।

ईश्वरार्पण।

ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, परमात्मार्पण अपने कर्म या अपने कर्मफल, या अपने लाभ परमेश्वर को अर्पण करने चाहिये। हमारा जीवन ही ईश्वरको समर्पण करना चाहिये, इसका अर्थ हमारा जीवन मानवसंघ के हितके लिये समर्पण करना चाहिये, यही है। भगवद्गीतामें तथा अन्यान्य कर्मशास्त्रों में कहा है कि—

१. अपना जीवन ईश्वर को समर्पण करो,
२. अपने कर्म ईश्वर के लिये समर्पण करो,
३. अपने कर्मोंके फल ईश्वर को समर्पण करो,
४. अपने कर्मोंके फल अपने भोग के लिए न रखो।

परंतु उनको ईश्वर की संतुष्टिके लिये समर्पण करो। इन सब धर्माज्ञाओं का एक ही सत्य अर्थ है, वह यह है कि अपना सर्वस्व मानवसंघकी भलाईके लिये समर्पण करो। शास्त्रकारोंने ईश्वरका दूसरा कोई स्वरूप माना ही नहीं और संपूर्ण श्रुतिस्मृति के उपदेश इस ईश्वरके स्वरूपको स्वीकार करके हि किये हुए हैं। धर्मकी संपूर्ण ज़टिल समस्याएँ वैदिक धर्म में प्रकाशित इसी ईश्वर के स्वरूप को मानकर हि हल हो सकती हैं।

ईश्वरका मुख।

यदि (**ब्राह्मणोऽस्य मुखं**) ब्राह्मण ही इस ईश्वरका मुख है और यदि ब्राह्मण का लक्षण—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
(गीं० १८।४२)

'शम, दम, तप, पवित्रता, क्षान्ति-सहनशक्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य' है, तब तो मानवों में ईश्वर के मुखस्थानीय ज्ञानी जन कौन हैं, इसका पता लग सकता है।

ईश्वर का मुख देखना हो, तो ऐसे ब्राह्मणवर्ण के लोगों को देखो कि जो अपने अंतःकरण का शमन करने में सिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं, अपने इंद्रियों का दमन करने में पूर्ण सिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं। जो तपस्वी हैं, जो काया, वाचा, मन से पवित्र रहते हैं, जो व्यवहार में अत्यंत सरल हैं, अर्थात् जिनमें बिलकुल ठेढापन नहीं है, जो शीतोष्णादि कष्ट सहन करते हैं और कष्टों के भय से कभी धर्मकार्य छोडते नहीं। जो ज्ञान तथा

विज्ञान में परिपूर्ण हैं और जो आस्तिक हैं अर्थात् ईश्वर पर जिनका पूर्ण विश्वास है।

इस तरह के ब्राह्मणत्व के लक्षणों से जो युक्त हैं, वे ईश्वरके मुख हैं। मुख में आंख, नाक, कान, मुख आदि अवयव होते हैं, इसी तरह जो उपदेशक सत्य मार्ग का उपदेश करते हैं, वे मुख हैं। जो सत्य तत्त्वका विस्पष्ट रूपसे दर्शन करते हैं, वे आंख हैं। जो सत्य वचनोंका श्रवण करके मनन करते हैं, वे कान हैं। इसी प्रकार अन्यान्य गुणोंवाले ब्राह्मण-या ज्ञानी जन-ईश्वर के मुख हैं। अपने समाजमें इस समय इस तरह के ईश्वर के मुख बने हुए कौन ज्ञानी हैं, इसका ज्ञान हरएक को विचार करने से प्राप्त हो सकता है। प्राचीन काल में ईश्वर के मुखस्थानीय ज्ञानी जन कौन थे, इसका पता शास्त्रग्रंथ देखने से हरएक को हो सकता है।

मधुच्छन्दा, कण्व, अत्रि, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, वसिष्ठ आदि अनेक ऋषिगण, तथा अपाला, सुलभा, गार्गी, मैत्रेयी, वाक् आदि ऋषिका-गण ये सब, तथा व्यास, वाल्मीकि, कपिल, कणाद आदि मुनिगण ये सबके सब ज्ञानी जन प्राचीन काल में ईश्वर के मुख बनकर विराजते थे। इनके ही मुखारविन्द से ईश्वर के सत्य विचार प्रकट होते थे, जो आज उनके ग्रंथों के रूप से हमें इस समय प्राप्त हो रहे हैं।

इसी विचार को मन में रखकर श्रीमद्भगवद्गीता के विभूतियोग अध्यायमें (दशमाध्यायमें) बृहस्पति, भृगु, नारद, कपिल, व्यास, शुक्राचार्य (उशना कविः) ये ब्राह्मणवर्ण की ईश्वर की विभूतियां, जो ईश्वर के मुख थे, उनका वर्णन किया गया है। ईश्वरने इन सहस्रों मुखों से अनेकविध ज्ञान दिया था। परमेश्वरने किस रीतिसे ज्ञान दिया होगा, इस विषय में कईयों के मन में संदेह होता है, वह संदेह परमेश्वर का मुख बताकर इस तरह दूर किया है। मुख बतानेसे मस्तिष्क, मुख, जिह्वा आदि सबका अन्तर्भाव उसमें हो चुका। हरकोई अपने मुख से ही उपदेश करता है। इसी तरह परमेश्वर भी अपने ब्राह्मणरूपी मुखसे-ज्ञानीरूपी मुखसे-हि ज्ञान प्रकट करता है। इसीलिए (ब्राह्मणोऽस्य मुखं) ब्राह्मण ईश्वर का मुख है, ऐसा पुरुषसूक्त में कहा है।

ईश्वर के बाहु।

उक्त वर्णन में (बाहू राजन्यः कृतः) परमेश्वर के बाहू क्षत्रिय हैं, ऐसा कहा है। ये क्षत्रिय परमेश्वर के बाहु हैं। (सहस्रबाहुः पुरुषः) इस ईश्वर के ये बाहु सहस्रों हैं। क्यों कि क्षत्रिय सहस्रों, लाखों, करोडों इस भूमि पर हैं। इन क्षत्रियों का लक्षण यह है—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
(गी० १८।४३)

शौर्य, वीरता, वीर्य, तेजस्विता, धैर्य, कर्मोंमें दक्षता, धर्मयुद्धसे न भागना, दान देना, मैं स्वामी हूं यह भावना, अपना अधिकार स्थापन करने का स्वभाव, ये क्षत्रिय के गुण हैं। इन गुणों को देखनेसे क्षत्रियों का पता लग सकता है कि ये क्षत्रिय हैं। जो शूर वीर हैं, जो तेजस्वी हैं, जो धैर्यवाले हैं, युद्धसे जो पीछे ही हटते, धर्मयुद्धमें अपने जीवन की पर्वाह न करते हुए जो आगे बढते हैं, जो उदारताके साथ धर्मकृत्यों के लिए पर्याप्त दान देते हैं और जिनमें अधिकारी होने का भाव है, स्वामी, अधिकारी या किसी वस्तुको अपने आधीन रखनेका भाव जिनमें स्वाभाविक है, वे सब क्षत्रिय हैं और ये परमेश्वर के बाहु हैं, येहि परमेश्वरकी छाती के स्थानमें हैं। परमेश्वरका दुष्टों का निग्रह करनेका सामर्थ्य इन क्षत्रियरूपी बाहुओं द्वारा ही प्रकट होता है। परमेश्वर दुष्टों, दुर्जनों और दानवों का दमन इनके द्वारा करता है।

श्रीकृष्ण के द्वारा कंस आदि दुष्टों का दमन किया, श्रीरामचन्द्र के द्वारा रावण का नाश किया, अर्जुन वीरके द्वारा दुष्ट कौरवों का शासन किया, श्रीछत्रपति शिवाजी के द्वारा मोगलों का दमन किया, इसी तरह अन्यान्य क्षत्रियोंद्वारा समय समयपर दुष्टों का दमन, सज्जनों का परिपालन करके धर्म की संस्थापना की। यह परमेश्वर का कार्य देखने योग्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता में इन्द्र, (वासवः), कुबेर (वित्तेशः) स्कंद (सेनानी-सेनापतिः), चित्ररथ गंधर्व, नराधिप (राजा), रामचन्द्र, वासुदेव (कृष्ण), अर्जुन आदि क्षत्रिय विभूतियां ईश्वर की दर्शायी हैं। इनके द्वारा-इन

ईश्वर के बाहुओं या हाथों द्वारा, दुष्टों का दमन किया गया था। ये भूतकाल के ईश्वर के हाथ हैं। इस समयमें भी ईश्वर के हाथ इस विश्व में बडा कार्य कर रहे हैं। संपूर्ण विश्वमें निरीक्षणपूर्वक देखने से पता लग जाता है कि ईश्वर के शौर्य-वीर्य-धैर्यरूप हाथ बडा ही कार्य कर रहे हैं, अन्याय को दूर कर रहे हैं, विपत्ति का नाश कर रहे हैं, तथा सज्जनों की रक्षा की जा रही है। ये ईश्वर के ही हाथ हैं, जिनके द्वारा यह कार्य हो रहा है।

जो सैनिक हैं, जो स्वयंसेवक हैं, जो सेनापति हैं, जो राष्ट्ररक्षक हैं, जो सच्ची रीतिसे मानवों की रक्षा कर रहे हैं, वे ही ईश्वर के हाथ हैं, जो इस समय इस जगत् में कार्य कर रहे हैं। क्या आपने कभी सेनापति और सैनिक देखे हैं? क्या कभी आपने शूरवीर धीर पुरुष देखे हैं? क्या कभी आपने ऐसे पुरुष देखे हैं कि जो अपना जीवन संकट में डालते हैं और जनता की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं? वे हैं ईश्वर के हाथ। उनमें शौर्य-वीर्य-धैर्यरूपसे ईश्वर बसता है। वे ईश्वर के अवयव हैं। वे ही ईश्वर के अवतार है अथवा ईश्वरांश हैं।

यहांतक आपने ईश्वर के मुख देखे और ईश्वर के बाहू या हात तथा छाती के अवयव देख लिए। अब आप क्या देखना चाहते हैं। हां आप ईश्वर का पेट और ईश्वर की जंघाएँ देखना चाहते हैं, देखिए—

ईश्वर का पेट और उसकी जंघाएँ।

(अन्तरिक्षं उदरं) अन्तरिक्ष ही ईश्वर का उदर है, यह बात वेदवचनद्वारा इसके पूर्व दर्शा दी है। अथर्ववेद में—

मध्यं तदस्य यत् वैश्यः। (अथर्व० १९।६।६)

ऐसा कहा है और—

उरू तदस्य यत् वैश्यः। (ऋग्वेद १०।९०)

ऐसा ऋग्वेद में कहा है। मध्यभाग पेट है, वही वैश्य है। ऊरु जंघाओं का दूसरा नाम है। ईश्वर की जंघाएं कौन हैं। वेद उत्तर देता है कि ईश्वर की जंघाएं वैश्य ही हैं। वैश्यों का लक्षण गीता में इस प्रकार कहा है—

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

(गीता १८।४४)

खेती, गौरक्षा, पशुपालन और वाणिज्य यह वैश्य का कर्म है। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों से वैश्यों को पहचाना जाता है। खेती करके जो विविध प्रकारके धान्य, अन्न, फलमूल, कन्द आदि उत्पन्न करते, अनेक प्रकार की साग और भाजी निर्माण करते, उत्तम उत्तम पुष्टिकारक फलफूल उत्पन्न करते, खेत, उपवन, उद्यान, बाग बगीचे, वृक्ष वनस्पतियां निर्माण करते, मनुष्य मात्र के पोषण के लिए आवश्यक अन्नरस निर्माण करते, गौ आदि पशुओं का पालन, पोषण और संवर्धन करते, गौवें अधिक दूध देनेवाली निर्माण करते, खेती के लिए उत्तम बैल पैदा करते, घोडे, भेड, बकरियां आदि उत्तमोत्तम तैयार करते और इस तरह राष्ट्र में सुखसमृद्धि करते हैं। इन अनेकविध वस्तुओं का देशदेशांतर में व्यापार करके सर्वत्र सब मानवों तक उपयोगी वस्तुओं को पहुंचाते हैं। ये वैश्य हैं। ये ही ईश्वर के पेट और जंघाएं हैं।

अन्तरिक्षरूपी ईश्वर के पेट में सब कुछ समाया है। पाठक और लेखक दोनों उसमें हैं। सब विश्व ही उस अन्तरिक्षरूपी पेट में हैं, कोई वस्तु उससे बाहर नहीं है। परन्तु यहां जो पेट का वर्णन किया है, वह मानवसमाजरूपी विराट् पुरुष के पेट का वर्णन है और यही मनुष्यमात्र का प्रत्यक्ष उपास्य देव है। वैश्यों को पूंजीपति आदि कहकर लोग निंदते हैं, पर यदि येही वैश्य अपना व्यवहार धर्मानुकूल चलावेंगे, तो कितनी विश्वसेवा हो सकती है और कितना विश्वकल्याण हो सकता है, इसकी कल्पना सुविचारी पाठक कर सकते हैं।

जैसा पेट में आये अन्न का रस रक्त बनकर सब शरीरका पोषण होता है, ठीक इसी तरह वैश्य के पास आये धनधान्यादिसे राष्ट्रका पोषण होता है। यह वैश्य का कर्तव्यकर्म है, जिससे वह विश्वसेवा करता है और अन्यों द्वारा सेवा लेता भी है। अब परमेश्वर के पांव कहां हैं, सो देखिये—

ईश्वर के पांव।

'पुरुषः सहस्रपात्' (ऋ० १०।९०।१) ईश्वरको सहस्रों पांव हैं। 'कौ पादौ उच्येते ?' (ऋ० १०।९०) ईश्वर के जो पांव कहे गये हैं, वे कौनसे पांव हैं? उत्तरमें

वेदने कहा है कि- 'पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।' (ऋ० १०।९०) पांवोंके लिये या पांवोंसे शूद्र बना है। अर्थात् ईश्वरके पांव शूद्र हैं। इस शूद्रके लक्षण ये हैं—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
(गी० १८।४४)

'सेवा, परिचर्या करना यह शूद्रका स्वाभाविक कर्म है।' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के कार्योंमें उनकी सहायता करना और विविध कारीगरी के कार्य करके जीवन सफल करना, शूद्र का कर्म है। सेवा करनेवालों को असच्छूद्र और कारीगरीसे जीवननिर्वाह करनेवालों को सच्छूद्र कहते हैं। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों के साथ व्यवहारमें लगनेसे शूद्रोंपर शुभ संस्कार होते रहते हैं और उनकी उन्नति हो जाती है। विविध कारीगरीके कार्यों में रहनेवाले कारीगर तो राष्ट्र की संपत्ति बढानेके कारण राष्ट्रके बडे सहायक गिने जाते हैं।

ये शूद्र ईश्वर के पांव हैं। यदि आपके मनमें ईश्वरके पांवों की सेवा करने की सचमुच इच्छा है, तो आपको उचित है कि आप शूद्रों, अन्त्यजों और हीन मानी हुई जातियों की सेवा करें। इनकी सेवाका ही अर्थ परमेश्वरके पांव की सेवा है।

किसकी सेवा करनी चाहिये ?

आप अपने पिता की सेवा करते हैं, या गुरु की सेवा करते हैं, उस समय आप क्या करते हैं? पिता, माता या गुरु अथवा आपके सेव्यके उस अंगकी सेवा करते हैं, जिस में कष्ट होते हैं, जिसमें कुछ बाधा है, अथवा जिसमें आराम नहीं है। मातापिता का जो पांव दूखता हो, उसी की सेवा की जाती है और ऐसी सेवासे पितामाता को आनन्द भी होता है। तन्दुरुस्त और हृष्टपुष्ट निरोग अंग की सेवा करने की आवश्यकता ही नहीं होती।

जिस समय मातापिता भूके हों, उस समय उनको उत्तम अन्न देना, जिस समय वे प्यासे हों, उस समय उनको उत्तम पानी पीने के लिए देना, जिस समय उनको सर्दी लगती हो, उस समय उनको आवश्यकतानुसार ओढनेके लिए कपडा देना, जिस समय उनको गर्मी लगती हो, उस समय उनको पंखेसे शीत वायु देकर शान्ति देना, जिस समय शरीरमें पीडा हो, उस समय उनके शरीर की पीडा दूर करनेके लिए यत्नवान् होना, यही सेवा की रीति है।

सर्दी के समय पंखा चलाना, गर्मी के समय सेक देना, क्षुधा लगने पर अन्न न देना यह कदापि सेवा नहीं हो सकती। उन पूज्य मातापिता को सुख हो, उनका आरोग्य बढे, उनका बल बढकर उनको दीर्घायु प्राप्त हो, ऐसा कार्य करने का नाम उनकी सेवा है।

यह सेवा विविध प्रकारकी हो सकती है। इसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं। इसका वर्णन करने की यहां कोई आवश्यकता नहीं है। किस समय किसकी सेवा करनी चाहिये, इसका पता इससे सेवा करने के इच्छुक मनुष्य को लग सकता है। सेवाधर्म का निर्णय करनेके लिये यहां थोडासा अधिक विचार करना चाहिये।

हमारा सच्चा उपास्य प्रभुहि है, उसे नारायण, पुरुष, विराट् पुरुष कहते हैं। इसके ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अथवा ज्ञानी शूर व्यापारी और कारीगर ये मुख बाहु पेट और पांव हैं। अतः प्रभुकी सेवा करनेका अर्थ इन चतुर्विध मनुष्योंकी सेवा करना ही है।

यह सेवा किस प्रकार की जावे? जो जिस कर्ममें प्रवीण है, उस कुशलतासे किये कर्मसे वह प्रभुकी सेवा करे।

ज्ञानी, शूर, व्यापारी और कारीगर यह चार प्रकारकी जनता ही प्रभुका रूप है, यही नारायण और यही जनार्दन है। इसकी सेवा स्वकर्मसे करनी चाहिये। ज्ञानी ज्ञानदान-द्वारा, शूर वीर अपनी वीरताद्वारा, वैश्य अपने कृषि कर्म तथा गोपालनद्वारा, तथा शूद्र आपकी कर्मकुशलता या कारीगरीद्वारा जनताजनार्दन की सेवा करे। इस जनतामें भी जो जाति या जो मनुष्य अधिक हीन दीन हों, अधिक दबे हुए हों, अधिक निकृष्ट स्थितिमें पहुंचे हों, उनकी सेवा विशेष ही श्रद्धासे और प्रेमसे करनी चाहिये। यही नारायणकी उपासना है, यही प्रभुकी वेदोक्त भक्ति है और यही मुक्तिका साधनमार्ग है।

मंत्रार्थ और गायत्री।

(२)+

(ले०- वैद्यरत्न पं० सभाकान्त झा, आ० शास्त्री, स० सम्पादक "माला")

छठवां अर्थ।

हम ब्राह्मणादि द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) प्रकाशमान सूर्य के बीच में (तद्वरेण्यम्) उस श्रेष्ठ उपासना करनेयोग्य (भर्गः) तेज अर्थात् गायत्री के तेजःस्वरूप (ओम्) ब्रह्म का (धीमहि) ध्यान करते हैं। कहां से कहां तक ध्यान करते हैं? (भूःभुवः स्वः) पैर से शीरपर्यन्त (यः) जो गायत्रीका स्वरूप (नः) हम लोगोंकी (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

भावार्थ-हम ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादि द्विजाति लोग, गायत्री के उस श्रेष्ठ उपासना करनेयोग्य तेजःस्वरूप (ओम्) ब्रह्म का आपादमस्तकपर्यन्त प्रकाशमान सूर्य के बीचमें ध्यान करते हैं। जो गायत्री का स्वरूप हम लोगों की बुद्धि को धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

सातवां अर्थ।

हम ब्राह्मणादि द्विजाति लोग अपने हृदयके बीच मंडलाकार वर्तमान (सवितुर्देवस्य) प्रकाशमान प्राणके बीच (तद्वरेण्यम्) उस उपासना करनेयोग्य (भर्गः) प्राणशक्त्याख्य तेज अर्थात् गायत्री के तेजःस्वरूप (ओं) ब्रह्मका (धीमहि) ध्यान करते हैं। किसके द्वारा? (भूर्भुवः स्वः) प्राणायामत्रयद्वारा। (यः) जो गायत्री का स्वरूप (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम द्विजाति लोग उस प्राणशक्त्याख्य श्रेष्ठ उपासना करनेयोग्य गायत्री के तेजःस्वरूप (ओं) ब्रह्मको अपने हृदयमें प्राणों को रोककर प्राणायामादि यौगिक कर्मद्वारा प्रकाशमान प्राणों के बीचमें ध्यान करते हैं, जो गायत्रीका स्वरूप हमारी बुद्धि को धर्ममार्गमें लगाता है।

आठवां अर्थ।

हम द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) प्रकाशमान वायु के बीचमें (तद्वरेण्यम्) उपासना करनेयोग्य (भर्गः) तेज-अर्थात् वायव्याख्य गायत्रीके तेजःस्वरूप (ओं) ब्रह्म का (धीमहि) ध्यान करते हैं। किस काल में? (भूर्भुवः स्वः) प्रातः, मध्याह्न और सायंकालमें (यः) जो गायत्री का स्वरूप (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम द्विजाति लोग अपने उपासना करनेयोग्य गायत्री के उस वायवीयसंज्ञक तेजःस्वरूप (ओं) ब्रह्मको प्रकाशमान वायुके बीचमें प्रातः, मध्याह्न और सायंकालमें ध्यान करते हैं। जो गायत्री का स्वरूप हमारी बुद्धि को धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

नवां अर्थ।

हम ब्राह्मणादि द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) सूर्यादिक प्रकाशमान पदार्थों के बीचमें (तद्वरेण्यम्) उस श्रेष्ठ उपासना करनेयोग्य (भर्गः) तेज अर्थात् गायत्री के स्वरूप (ओम्) ब्रह्मका (धीमहि) ध्यान करते हैं। किस स्थान में? (भूर्भुवः स्वः) पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युस्थान में (यः) जो गायत्रीका स्वरूप (नः) हम लोगोंकी (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

+ प्रथम लेख "वैदिक धर्म" क्रमांक २३३ के ३७९ पृष्ठपर देखो।

भावार्थ– जो गायत्री का स्वरूप हम द्विजातियों की बुद्धिको मोक्षादि-प्राप्तिके लिये धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है, उस अपने उपासना करनेयोग्य गायत्री के तेजःस्वरूपके (ओम्) ब्रह्म का सूर्यादिक प्रकाशमान पदार्थोंके बीच या पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युस्थानमें ध्यान करते हैं।

दशवां अर्थ ।

हम द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) सूर्यादिक प्रकाशमान पदार्थोंके बीचमें (तद्वरेण्यम्) उस उपासना करनेयोग्य (भर्गः) तेज अर्थात् गायत्रीस्वरूप (ओं) ब्रह्म का ध्यान करते हैं, किस स्थान में ? अपने शरीर के अन्दर षट्चक्रान्तर्गत-मूलाधारादि स्थानमें (यः) जो गायत्री का स्वरूप (नः) हम लोगोंकी (धियः) बुद्धिको धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

भावार्थ– जिस उपासना करनेयोग्य गायत्री के तेजःस्वरूप (ओम्) ब्रह्म का हम लोग बाह्य सूर्यादि प्रकाशमान पदार्थों के तथा अपने शरीर के भीतर षट्चक्रान्तर्गत मूलाधारादिकों में ध्यान करते हैं। वह गायत्री का स्वरूप हम लोगों की बुद्धि को धर्ममार्ग में लगावे।

ग्यारहवां अर्थ ।

हम लोग (ओम्) अ उ म गंगादिक पवित्र नदियों के (तद्भर्गः) उस पापों के नाश करनेवाले पवित्र तेजःस्वरूप जलको (धीमहि) अपने शिरपर धारण करते हैं । कैसे जल को ? (भूर्भुवः स्वर्वरेण्यम्) ब्राह्मणादि द्वारा धारण करने योग्य को । किस प्रयोजन के लिए ? (देवस्य) अपनी इंद्रियादिकों अर्थात् शरीर के (सवितुः) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए, (यः) जो तेजःस्वरूप जल में स्नान करने से (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को पवित्र करके (प्रचोदयात्) मोक्षप्राप्ति इत्यादि धर्ममार्ग में प्रेरित करता है।

भावार्थ— हम ब्राह्मणादिक अपने शरीर में धारण करनेयोग्य गंगादि पवित्र पवित्र नदियोंके उस पवित्र जल को धारण करते हैं। जिस जल में स्नान करनेसे हमारी बुद्धि धर्ममार्ग में प्रेरित होती है।

बारहवां अर्थ ।

हम ब्राह्मणादि लोग (तत्) उस (सवितुर्देवस्य) प्रकाशमान अन्तर्यामी प्रेरणा करनेवाले अथवा साकार स्वरूप धारण करनेवाले शिव के (भूर्भुवः स्वर्वरेण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादिकों के उपासना करनेयोग्य (भर्गः) ज्योतिःस्वरूप (ओम्) गायत्रीशक्ति अर्थात् प्रकृति का (धीमहि) ध्यान करते हैं । (यः) जो शिव का गायत्रीसंज्ञक स्वरूप (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) आत्मज्ञान का उपदेश करके मोक्षमार्ग में प्रेरणा करता है।

भावार्थ— जो गायत्रीसंज्ञक शिवस्वरूप हम लोगों की बुद्धि को आत्मज्ञान का उपदेश देकर मोक्षमार्ग में प्रेरणा करता है, उस अन्तर्यामी प्रेरणा करनेवाले, ब्राह्मणादिकों के श्रेष्ठ उपासना करनेयोग्य शिवके ज्योतिःस्वरूप (ओम्) गायत्री का ध्यान करते हैं।

तेरहवां अर्थ ।

हम लोग (तत्) उस (ओम्) गायत्रीका ध्यान करते हैं । कैसी है वह गायत्री ? (भूर्भुवः स्वर्वरेण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के उपासना करनेयोग्य। फिर वह कैसी है ? (सवितुर्देवस्य) सूर्यमंडल में विचरनेवाली । फिर कैसी है ? (भर्गः) ज्योतिःस्वरूपा-अर्थात् अपनेही प्रकाश से सूर्यादिक सांसारिक सब जड चैतन्यादिक दृश्याऽदृश्य पदार्थों के प्रकाश करनेवाली (यः) जो गायत्री (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) धर्ममार्ग में लगाती है।

भावार्थ— जिस ओंकारसंज्ञक सूर्यमंडल में विचरनेवाली ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यादिकों के उपासना करनेयोग्य ज्योतिःस्वरूपा गायत्री का हम लोग ध्यान करते हैं, वह गायत्री हमारी बुद्धि को धर्ममार्ग में प्रेरणा करती है।

चौदहवां अर्थ ।

हम ब्राह्मणादिक द्विजाति लोगों को उचित है कि (तत्) उस (सवितुः) प्रसव करनेवाली सावित्री का (धीमहि) ध्यान करें । किसका प्रसव करनेवाली ? (देवस्य) ब्रह्मादिक देवताओं को । कैसी सावित्री को ?

(भर्गः) तेजःस्वरूपा को। फिर कैसी सावित्री को? (भूर्भुवः स्वर्वरेण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों द्वारा उपासना करनेयोग्य को, (यः) जो सावित्री (नः) हम लोगोंकी बुद्धि को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करती है।

भावार्थ— द्विजातियों को उचित है कि अपने उपासना करनेयोग्य ब्राह्मणादि देवताओं को उत्पन्न करनेवाली सावित्री का ध्यान करें। जिससे वह हमारी बुद्धि को मोक्षप्राप्ति के लिए धर्ममार्ग में लगावे।

(इति प्रथम समुल्लासः।)

द्वितीय समुल्लासः।

बुद्धिः कर्माणि वाऽस्माकं यः प्रेरयति तस्य तु।
देवस्य सवितुः ख्यानं वरेण्यं चिन्तये महः॥

जिस देश या राज्यमें अपनी जन्मभूमि हो, निवास हो, या अपनी जिविका चलती हो और जहां पुण्यात्मा सनातन आर्य वैदिकधर्मावलम्बी विद्वान्, श्रेष्ठ पुरुष तथा परोपकारी वसते हों, ऐसे पवित्र देश तथा राज्य में शांति और उस राज्याधिपति की चिरायु, आरोग्यता, कल्याण सतत मनाना येही सत्पुरुषों के कर्तव्य हैं।

जिस धर्मके प्रभावसे वे लोग धार्मिक राजाओंके बीचमें श्रीमन्महाराजाधिराज विक्रमादित्य के नवरत्नों की भांती उच्चपदानुयायी होकर अग्रगण्य और उनके मंत्रदायक होते हैं और वह धार्मिक राजा भी उन श्रेष्ठ पुरुषों को अपनी सभा का भूषण समझकर सब प्रकारसे उनका सत्कार करते हैं।

इस परस्परमें एकदूसरे का उपकार करने तथा राजाप्रजा के बीचमें भक्ति और भक्तवत्सलता का उत्पादक एक मात्र धर्मशब्दवाची दंड ही है। जिसको धार्मिक न्यायाभिलाषी राजालोग अपने राज्याभिषेकके समय प्रजापालनकी प्रतिज्ञा करते हुए अपने शरीरमें धारण करते हैं। और फिर वही सर्वव्यापी दंड उन राजाओं और प्रजालोगों को एक दूसरे को कुमार्गों और अधर्मों से बचाता हुआ, राजा-प्रजा के बीचमें भक्ति और भक्तवत्सलताके भाव को बढाता है। ऐसे प्रजापालक तथा धर्मपथप्रेरक और राज्यपददायक एवं राजा और प्रजा के बीचमें परस्पर प्रसन्नताजनक दंड- की राज्याभिषेक के समय में धारण करने की विधि को इस गायत्रीमंत्र द्वारा निरूपण करते हैं।

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

पदार्थ- हम राज्यका अधिकार चाहनेवाले क्षत्रियलोग- (देवस्य) राजाके (तत्) उस (वरेण्यम्) श्रेष्ठ (भर्गः) तेज और पराक्रमरूपी दण्डको (धीमहि) अपने शरीर में धारण करते हैं। किस लिए? (भूर्भुवः स्वः) ब्राह्मणक्षत्रिय- वैश्यादिकों को (सवितुः) अपने अपने वर्णाश्रमधर्म में लगाने के लिए (यः) जो दण्ड (नः) हम राजाओंकी (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) प्रजापालनादि धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

भावार्थ- राज्याभिलाषी क्षत्रियों को उचित है कि राज्याभिषेक के बाद राजसिंहासनारूढ होने के समय इस गायत्री मंत्रको पढे और उसके अर्थचिंतन करें कि अब हम द्विजाति ब्राह्मणादि सब वर्णों को अपने अपने धर्म और आश्रम के अनुसार धर्ममार्गमें चलने के राजाओं का तेज और पराक्रमरूपी जो दण्ड है, उसको धारण करते हैं, जो दण्ड हम राजाओं के बुद्धिको प्रजापालनादि धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

दूसरा अर्थ।

हम राज्याधिकारी क्षत्रियलोग अपनी (देवस्य) इंद्रादि- कों के (सवितुः) ऐश्वर्यके लिये (भूः) पृथ्वीके लिए (भुवः) अपनी या अपनी प्रजाके प्राणरक्षाके लिए (स्वः) स्वर्गमें प्राप्त होने के लिए (तद्वरेण्यम्) उस श्रेष्ठ (भर्गः) युद्ध को करते हैं। (यः) जो युद्ध (नः) हम क्षत्रिय लोगोंकी (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) धर्ममार्गमें अर्थात् युद्ध करने के लिए प्रेरणा करता है।

भावार्थ- युद्ध करनेवाले क्षत्रियों को उचित है कि जब वे युद्ध करने के लिये प्रस्थान करें और रणस्थल में पहुँच युद्ध करना आरम्भ करें, उस समय गायत्री मंत्र को पढकर शस्त्रप्रहार करें और इस अर्थका चिन्तन करें कि, हम राज्य के अधिकारीलोग इस समय अपने ऐश्वर्य के लिये, पृथ्वी के लिये, अपने या अपनी प्रजाके प्राणरक्षाके लिये या इस रणस्थल में मरने के पश्चात् स्वर्गप्राप्तिके लिये, इस युद्धको करते हैं और यही हमारा धर्म हैं, जो युद्धरूपी धर्म इस समय हमारी बुद्धिको प्रेरणा करता है।

तीसरा अर्थ ।

हम ब्राह्मणादिक प्रजागण अपने (**देवस्य**) राजाके (**तद्वरेण्यम्**) उस श्रेष्ठ माननेयोग्य (**भर्गः**) दरिद्रादि पापोंके नाश करनेवाले धर्म को (**धीमहि**) अपने हृदयमें धारण करते हैं । कैसे राजाके धर्म को? (**सवितुः**) धर्ममार्ग पर प्रेरणा करनेवाले अर्थात् चलानेवाले को फिर कैसे राजा के? (**भूः भुवः स्वः**) व्रतद्वारा अग्नि, वायु सूर्यादिकों के रूप धारण करनेवाले के, (**यः**) जो राजधर्म (**नः**) हम प्रजागणोंकी (**धियः**) बुद्धि को (**प्रचोदयात्**) यज्ञादि धर्मकार्योंमें लगाता है ।

भावार्थ- जब कोई नूतन राजा अपनी प्रजापर शासनाधिकार स्थापन करने के लिये धर्मस्थापन करे, तब ब्राह्मणादि प्रजागणोंको उचित है कि वे लोग उस राजधर्म के पालन के विषय में अपना मन्तव्य इस प्रकार से प्रकाशित करें, यथा- "हम प्रजागण अपने धर्ममार्गपर चलानेवाले अग्नि, वायु, सूर्यादि रूपसे पालन, पोषण और शासनादि करनेवाले राजा के माननेयोग्य धर्म-वर्णाश्रमधर्म का अपने अपने हृदय में धारण करते हैं । जो राजधर्म हमारी बुद्धिको यज्ञादिक धर्मकार्य के करने के लिये प्रेरणा करता है ।"

चौथा अर्थ ।

राजा और ब्राह्मणोंका सम्बन्ध पितापुत्र की तरह है । अतएव उस परस्परके सम्बन्ध को गायत्री मंत्र की दो भाष्योंद्वारा निरूपण करते हैं ।

हम क्षत्रिय राजा लोग (**देवस्य**) ब्राह्मणके (**तद्वरेण्यम्**) उस श्रेष्ठ (**भर्गः**) ब्रह्मवर्चस्वादि तेजःस्वरूप को (**धीमहि**) ध्यान करें । किस लिये? (**सवितुः**) यज्ञादिक वैदिक राजकार्यों में प्रेरणा करनेके लिये (**यः**) जो ब्राह्मण (**नः**) हम राजाओं की (**धियः**) बुद्धिको (**प्रचोदयात्**) यज्ञादिक राजकार्योंमें प्रेरणा करता है ।

भावार्थ- राजाओं को उचित है कि नित्य प्रति प्रातःकाल उठकर गायत्री की उपासनादिक वैदिक कार्यों से निश्चिन्त हो, अपने देश के कल्याणार्थ श्रोत्रियकुलोत्पन्न विद्वान् ब्राह्मण को आह्वान करें, और उनके द्वारा यज्ञादिक कार्य सम्पादन करे, तथा प्रार्थना करे कि हमारी प्रजा खूब सुखी रहे, हमारे राज्य में कभी भी अनावृष्टि या अकालादि का भय न हो आदि आदि प्रार्थनायें करे ।

पांचवां अर्थ ।

पूर्वोक्त भाष्य में राजा के द्वारा ब्राह्मणों की उपासनाका निरूपण हुआ । अब गायत्रीमंत्र से ब्राह्मणों द्वारा राजा की उपासना का निरूपण किया जाता है ।

हम द्विजाति लोग अपने (**देवस्य**) धनदानादिक गुणों से युक्त राजा के (**तद्वरेण्यम्**) उस श्रेष्ठ उपासना करनेयोग्य (**भर्गः**) पराक्रम अथवा दारिद्र्यादिक पापों को नाश करनेवाले अपने राजा के स्वरूप (**धीमहि**) ध्यान करें, अथवा ध्यान करते हैं । राजा के कैसे स्वरूप को? (**भूर्भुवः स्वः**) अपनी प्रजापालनादि राज्य-कार्यों में अग्नि, वायु, सूर्यादिकों के व्रत को अनुगमन करनेवाले को । क्यों? (**सवितुः**) विवाहादिक वैदिक यज्ञकार्यों तथा धनादिक ऐश्वर्योंके लिये (**यः**) जो राजा का स्वरूप (**नः**) हम वैदिक मतावलम्बी ब्राह्मणों की (**धियः**) बुद्धिको (**प्रचोदयात्**) वेदाध्ययनादिक वैदिक यज्ञकार्यों में प्रेरणा करता है ।

भावार्थ- प्राचीन इतिहासादि देखने से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण लोग पूर्व में विशेष निर्धनी ही हुआ करते थे । उन के पास एकमात्र विद्याहि धन था, जैसा की नीति में भी है ।

ब्राह्मणस्य धनं विद्या क्षत्रियस्य धनं धनुः ।
स्त्रीणां परं धनं लज्जा वैश्यानां यौवनं धनम् ॥

अर्थ स्पष्ट है ।

उन लोगों को जब कभी यज्ञादिक कार्यके लिये विशेष धन की आवश्यकता होती थी, तब वे लोग राजाकी उपासना करते थे ।

अतएव ब्राह्मणों को उचित है कि प्रथम विद्याध्ययन करें । फिर विद्याध्ययनानन्तर पूर्वोक्त यज्ञादि कार्य-पूर्तिके लिये राजा की उपासना अपने मन में करे । यथा हम ब्राह्मणादि लोग अपने वैवाहिकादि यज्ञपूर्ति के लिये दानादि गुणों से युक्त अपने राजा के स्वरूप को ध्यान

करते हैं और राजा अपने राजसाशनद्वारा हम लोगोंकी बुद्धि को यज्ञादि कार्यों के लिये प्रेरणा करता है।

छठवां अर्थ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि गृहस्थाश्रमी पुरुषों को अपने अपने धर्मानुसार गर्भाधानादि संस्कार करना तथा स्त्री-पुरुषों के बीच में परस्पर प्रेमपूर्वक बर्तना परम धर्म है। उसको गायत्री मंत्र के भाष्यों द्वारा निरूपण करते हैं।

हम (भू र्भुवः स्वः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि लोग अपनी (सवितुः) स्त्री के (तद्वरेण्यम्) उस ऋतु-कालमें उपासना और भोग करनेयोग्य (भर्गः) सुन्दर स्वरूपको (धीमहि) ध्यान करते हैं। किस लिये? (देवस्य) आनन्द, कामदेवकी शांति के लिये और यज्ञादिके लिये (यः) जो स्त्रीस्वरूप (नः) हम कामातुर पुरुषों की (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) पुत्रोत्पादन करने के लिये प्रेरणा करती है।

भावार्थ- हम ब्राह्मणादिक द्विजातियोंको उचित है कि आनंदजनक यज्ञादि कामोंके पूर्ति लिए अपनी समानवर्ण-वाली स्त्री को लेकर अपनी स्त्री के स्वरूप को इस प्रकार ध्यान करे। हम ब्राह्मणादि लोग अपनी स्त्री के स्वरूप को कामदेव की शांति या यज्ञादि देवकार्य के लिये ध्यान तथा पोषण करते हैं। स्त्री का जो स्वरूप अपनी सुंदरता से हमारी बुद्धि को पुत्रोत्पादनादिक गृहकार्यों में प्रेरणा करता है।

सातवां अर्थ।

स्त्री और शूद्र के लिये इस मंत्र के जपने का अधिकार शास्त्रों में कहीं देखने में नहीं आता है। परंतु विवाह-पद्धति आदि प्रायोगिक ग्रंथों तथा याज्ञवल्क्य, गार्गी, मैत्रेयी इत्यादिकों के उपाख्यानों से ज्ञात होता है कि पूर्व कालमें सब द्विजातियोंकी स्त्रियाँ वेदमंत्रों का उच्चारण करती थीं। अतएव हम भी गर्भाधानादिक पातिव्रत्यधर्म निरूपण करनेके लिये विदुषी स्त्रियोंके मुखसे गायत्री मंत्रका उच्चारण होना उचित मान, उनके पतिव्रतधर्मको गायत्री मंत्रद्वारा निरूपण करते हैं।

हम लोग अपने (देवस्य) आनंददायक और वीर्य-प्रदान करनेवाले पति के (वरेण्यम्) श्रेष्ठ (भर्गः) वीर्यको (धीमहि) धारण करती हैं। किस लिये? (तत्) पुत्रके लिये। कैसे पतिके? (सवितुः) गृहकार्य में प्रेरणा करनेवालेके। फिर कैसे पतिके? (भूर्भुवः स्वः) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यादिक संज्ञा के (यः) जो पति (नः) हम लोगों (स्त्रियों) की (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) वीर्यधारणादिक गृहकार्य में प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम स्त्रीलोग अपने आनन्दपायक वीर्यप्रदान करनेवाले और गृहकार्य में हमें प्रेरणा करनेवाले पति के श्रेष्ठ वीर्य को पुत्रप्राप्तिके लिये धारण करती हैं, जो पति हम लोगोंकी बुद्धिको वीर्यधारणादिक गृहकार्योंमें प्रेरणा करता है।

आठवां अर्थ।

यज्ञोपवीत धारण करना द्विजातियों का परम धर्म है। क्योंकि विना यज्ञोपवीत धारण किये, वे लोग किसी वैदिक कर्म के अधिकारी नहीं होते, अतएव यज्ञोपवीत के धारण-विधि इस मंत्रद्वारा निरूपण करते हैं।

हम ब्राह्मणादि लोग (भूर्भुवः स्वः) अपने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके (तद्भर्गः) उस ब्रह्मवर्चसादि ब्रह्म-वीर्य प्रदान करनेवाले तेजःस्वरूप (ओम्) यज्ञोपवीत को (धीमहि) अपने शरीर में धारण करते हैं। किस लिये? (देवस्य) इंद्रियादिकों अर्थात् अपने अपने शरीर के (सवितुः) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये। कैसे यज्ञोपवीतको? (वरेण्यम्) श्रेष्ठ धारण करनेयोग्य को। (यः) जो यज्ञोपवीत (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धिको, (प्रचोदयात्) प्रेरणा करती है।

भावार्थ- हम ब्राह्मणादि द्विजाति लोग अपनी इंद्रि-यादिकों अर्थात् शरीर के ऐश्वर्य के लिये उस तेजःस्वरूप यज्ञोपवीतको धारण करते हैं, जो यज्ञोपवीत हम लोगों की बुद्धिको प्रेरणा करता है।

(क्रमशः)

दैवत-संहिताके मुद्रणके विषयमें अन्तिम निश्चय ।

"दैवत-संहिता" के मुद्रणके विषयमें गत दो मासों में विचार चल रहा है। इस समय तक सैंकडों विद्वानोंने अपनी अपनी संमतियां भेजीं, सूचनाएँ सूचित कीं और अनेक प्रकारकी सलाएँ दीं, जिनके लिये हम इन सब विद्वानों के अतीव कृतज्ञ हैं।

सभी विद्वानों को "दैवत-संहिता" की कल्पना अत्यंत संमत है।

उनका कथन यह है कि, यह दैवतसंहिता शीघ्रातिशीघ्र मुद्रित की जावे। क्योंकि वेद के अध्ययनमें इससे बहुतही लाभ होनेवाला है।

बडे अक्षरों में मुद्रण ।

सब विद्वानों की संमति यही है कि यह 'दैवतसंहिता बडे अक्षरों में मुद्रित की जावे। हमारी संमति अब भी यही है कि छोटे अक्षरों में ही इसका मुद्रण होवे, पर एक भी विद्वान्‌ने छोटे अक्षरोंमें मुद्रित करने के विषय में अपनी अनुमति नहीं दी और सब विद्वानों का यही मत रहा कि इसका मुद्रण बडे अक्षरोंमें ही होना चाहिये, इसलिये हमने भी दैवत-संहिताका मुद्रण बडे टाइप में करने का निश्चय किया है।

स्वरसहित मंत्र ।

इसी प्रकार हमारी संमति स्वररहित मंत्रोंका मुद्रण करनेकी थी, पर सब विद्वान् स्वरचिह्नसहित मुद्रण करने के अनुकूल हैं और स्वररहित मुद्रण करने के हक में एक भी विद्वान् नहीं है, यह देखकर सर्व संमति के अनुसार वेदमंत्रों का मुद्रण इस दैवत-संहिता में स्वरसहित ही करने का निश्चय हमने किया है।

बृहत्पंक्ति ।

हमने दो बार डबल कालममें वेदमंत्रों का मुद्रण करके दो नमूने ग्राहकों के पास भेजे। पर किसीने भी इस तरह का डबल कालम के मुद्रण को पसंद नहीं किया और पृष्ठ की पूर्ण चौडाईमें एक एक मंत्र छापना चाहिये, ऐसीहि सबकी संमति हमारे पास आ गयी है, इसलिये इस लेख के साथ वैसा सर्वसंमत नमूना पुनः मुद्रित करके भेजा जाता है। सर्व विद्वानों को वही संमत है, इसलिए हमने इस नमूने के अनुसारहि दैवत-संहिता का मुद्रण करनेका निश्चय किया है।

कुछ विशेष संमतियों का विचार ।

-(१)-

"दैवत-संहिता" के विषय में जो अनेक विद्वानोंकी विविध संमतियां आ गयी हैं; उनमें कुछ संमतियां विशेष मननीय हैं, उनमें निम्न लिखित संमतियां प्रमुख स्थान रखती हैं—

प्रो० वी० वी० मिराशीजी एम्० ए० प्रधान संस्कृत डिपार्टमेंट, नागपूर युनिवर्सिटी, नागपूरसे लिखते हैं—

"दैवत-संहिता" के विषय का पत्रक देखा, आपकी योजना अत्यंत उत्तम है। प्रत्येक देवता के मंत्र एक स्थान पर मिलने से अभ्यासककी बडी सहायता हो सकती है। अभ्यासक को सहायता देनेवाली जो अनेक सूचियां देनेका आपने विचार किया है, वह भी शीघ्र सिद्ध हो जावे, ऐसी मेरी हार्दिक इच्छा है।

"वैदिक शब्दोंका एक उत्तम कोश होना चाहिये। ऐसा कोश होने से अभ्यासकों के लिए बडी सहायता हो सकती है। श्री ग्रास्मन का कोश जर्मन भाषा में है और अन्य कोश भी जर्मनमेंहि हैं। युरोपीय पंडितों के इस कार्य की सहायता लेकर तथा अपने आचार्योंके भाष्योंकी संमति लेकर एक बडा कोश वैदिक शब्दों का बनाया जाय, तो बडाहि उपकार हो सकता है।

'इसी तरह पाणिनीका वैदिक व्याकरण है, तथा योरोपीय विद्वानोंने वेद के एक एक शब्द के व्याकरण का बहुत विचार किया है। इन सब का संग्रह करके एक वेदका पूर्ण व्याकरण स्वाध्याय-मण्डल द्वारा बनाया जाय, तो बहुत ही उत्तम होगा।'

+ + +

(संमति) = स्वाध्याय-मण्डल में वेदके शब्दों के अर्थ विस्तारसे दर्शानेवाला कोश बनाने का कार्य प्रारम्भ हो चुका है। उसकी आवश्यक सामग्री इकट्ठी की जा रही है। वेदका व्याकरण भी भाषामें अति सुबोध पद्धतिसे लिखने का विचार है। सर्व प्रथम **'दैवत-संहिता'** ही मुद्रित करनेका विचार है, जिसके सिद्ध होनेपर अन्य कार्योंका विचार होगा। ("संपादक")

-(२)-

श्री पं० वेदशास्त्रसंपन्न **अनंतशास्त्री धुपकर**, विद्या-विहार-मंदिर, माशैल-गोवा, लिखते हैं—

'आपकी **'दैवत-संहिता'** की कल्पना बडी उत्तम है। वेदों का गहरा अध्ययन करने के लिए इसकी बडी हि सहायता हो सकती है। वेदाध्यायी लोग इसको बहुत ही पसंद करेंगे। यह कार्य निःसन्देह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस दैवत-संहिता के निर्माण के विषय में मेरी सूचनाएँ ऐसी हैं —

'(१) इस में जो मंत्र आप छापेंगे वे गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती आदि छन्दोंके क्रमानुसार छापें। अर्थात् एक देवता के मंत्रों में प्रथम गायत्रीमंत्र, पश्चात् उष्णिक् मंत्र, तत्पश्चात् अनुष्टुप् छन्द के मंत्र, इस तरह छन्दानुसार मंत्र छापें। इससे इस दैवत-संहिता में **'छन्दःसंहिता'** भी स्वयं बन जायगी। **'आर्षेय संहिता'** तो ऋग्वेद में है हि, आपकी **'दैवत-संहिता'** तो बन ही रही है। इसी दैवत-संहितामें यदि आप सब मन्त्र, एक एक देवता के अंतर्गत मंत्र छन्दानुसार रखेंगे, तो आप हि आप **'छन्दःसंहिता'** बनेगी और वह अभ्यासकों के लिए बडी सहायक सिद्ध होगी।

'(२) इससे भी अधिक महत्त्व का और विद्वान् पंडितों के बडे परिश्रम से हि सिद्ध होनेवाला ऐसा भी एक कार्य इसी में करनेयोग्य है। यह वह है कि एक हि देवता के अन्दर उपभेद दर्शक शीर्षक के नीचे मंत्रोंका संग्रह करना, जैसा 'अग्नि' देवता के अन्दर-**यज्ञियाग्नि, वैश्वानराग्नि, जातवेदाग्नि, रक्षोहाग्नि, औषसाग्नि,** आदि अग्नि के भेद दर्शाकर उन उपभेदों में उन के मंत्रों का संग्रह करना। इसी तरह **'इन्द्र'** देवता के अन्दर-**वृत्रहा इन्द्र, मघवा इन्द्र, मरुत्वान् इन्द्र, वज्री इन्द्र, बलारि इन्द्र, नमुचिघ्न इन्द्र इ० इ०।**

'(३) इसी तरह ऋषियों के द्वारा प्रकट हुई एक जाती की एक समान कल्पनाएं, समान उपदेश, समान विधान, तथा समान आदेश एक स्थानपर लाना योग्य है। यह कार्य बडा ही दुष्कर है, पर यदि यह सिद्ध हुआ, तो यह एक अद्वितीय ग्रन्थ हो जायगा।'

× × ×

(संमति) = श्री पं० अनन्तशास्त्री वेदशास्त्रों के अद्वितीय पंडित हैं और स्वाध्याय-मण्डल के सहायक भी हैं। वेद के संस्करण में इनकी बडी सहायता हमें हो रही है। ऐसे वेद में सतत परिश्रम करनेवाले पंडित की यह संमति निःसंदेह विचारणीय है। हमने गत मार्गशीर्ष (दिसेंबर स० १९३८) के क्रमांक २२८ वे अंक में **'वेदमंत्रों का वर्गीकरण'** नामक एक विस्तृत लेख लिखा था। इस लेख में इसी तरह के कई ग्रंथ निर्माण करने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। इसी विषय का एक लेख फिर फाल्गुन (मार्च १९३९) के क्रमांक २३१ में प्रकाशित किया है और इस तरहके वर्गीकरण की अत्यंत आवश्यकता है, ऐसा इन लेखों में प्रतिपादन किया है। अब जो **'दैवत-संहिता'** हम मुद्रित करना चाहते हैं, उसमें जहां तक हो सके, वहां तक यत्न करके हम उक्त सूचनाओं में से जिनका पालन करना सुगम होगा, उतना अवश्य करेंगे। हमारे मतसे ये सब सूचनाएं बडी उपयोगी हैं, पर इन सबका पालन इसी **'दैवत-संहिता'** में नहीं हो सकेगा। क्योंकि इसमें ऋग्वेदादि क्रमसे हि तथा ऋषिक्रमसे हि सब मंत्र रखने हैं। अतः ऋग्वेदादि का मंत्रक्रम रखते हुए छन्दः क्रमसे मंत्र रखना असंभव होगा। **'छन्दःसंहिता'** का महत्त्व हमें मालूम है। वह भी अभ्यास के लिए सहायक होनेवाली संहिता है। पर उसका विचार दैवत-संहिताके

पश्चात् करनेयोग्य है। इसी तरह समान विचारों का समन्वय भी अत्यंत आवश्यक हि है, पर वह सब इसीमें होना असंभव है। (इस विषयमें हमारे लेख क्रमांक २२८ और २३१ में प्रकाशित पाठक अवश्य देखें।)

उक्त पं० अनन्तशास्त्रीजी की सूचना के अनुसार हमने **देवता के आन्तरिक उपभेदानुसार मंत्रसंग्रह करने का निश्चय किया है।**

-(३)-

श्री पं० **यशवंत वामन तलवलकर,** वेलापुररोड से लिखते हैं—

'आपकी '**दैवत-संहिता**' की कल्पना मुझे पूर्ण संमत है। मैं उसका ग्राहक होता हूं। मुझे एक ओर छपी दैवत-संहिता चाहिए।

'इससे पूर्व पं० मैक्समूलरने इस तरह का '**दैवत-संहिता**' का कार्य प्रारंभ किया था। कुछ सूक्तों का संग्रह उन्होंने किया था, पर वह कार्य आगे न हो सका। इसके पश्चात् आप ने यह कार्य प्रारंभ किया है। भारत-वर्ष में यह इस प्रकार का प्रथम ही महान् प्रयत्न हो रहा है। इस '**दैवत-संहिता**' के विषय में मेरी सूचनाएं ये हैं—

'आप सर्वत्र वेदमुद्रण में एक ही पद्धति रखिये। सस्वर हि यह ग्रन्थ छपा जावे। उसमें हेरफेर कोई न हो।

'यदि आप इसमें ब्राह्मण, आरण्यक ग्रन्थों में आए, तत्तद्देवता के निर्देश भी देंगे, तो बडा ही उपकार होगा।

'जहां अन्य वेदसंहिताओं में पाठभेद हो, वहां वह दर्शाया जावे। **पृष्ठसंख्या बढ गयी, तो कोई हानि नहीं। इस दैवत-संहिताके साथ नामसूची, तथा अन्यान्य आवश्यक सूचीयां दी जांयगी, तो अच्छा होगा।'**

× × ×

(**संमति** = इस '**दैवत-संहिता**' का स्वरसहित मुद्रण करने का विचार किया ही है और सब शाखासंहिताओं का भी स्वरसहित मुद्रण होगा। हमने इस '**दैवत-संहिता**' में पादबद्ध मन्त्रों का ही संग्रह करने का निर्णय किया है, क्योंकि गद्य याजुष मन्त्रों का संग्रह याज्ञिक प्रकरणानुकूल अन्य ग्रन्थमें करनेका संकल्प है। दोनों का संग्रह एकत्र करने से कोई लाभ नहीं। यजुः का लक्षण मीमांसा ग्रन्थ में भिन्न हि किया है और सम्पूर्ण यजुर्लक्षण के मन्त्र यज्ञ-प्रकरण के ही हैं। अतः उनका ग्रन्थ यज्ञप्रकरणानुकूल करना अभ्यासकों के लिए अति उपयोगी सिद्ध होगा। ब्राह्मणग्रन्थ भी प्रायः यज्ञ-प्रकरणों का हि विचार करते हैं, इसलिए इसी याजुष यज्ञ-प्रकरणों के साथ ब्राह्मणवचनों का निर्देश करना योग्य होगा। अतः इस दैवत-संहिता में ब्राह्मणग्रन्थोंके वचनों का संग्रह नहीं किया जायगा।

जितना ग्रंथसंग्रह हम बढावेंगे, उतनी उसकी उपयोगिता बढेगी, पर संग्रहग्रंथ बहुत बढ जानेपर वह सर्वोपयोगी नहीं हो सकेगा। इस लिये '**दैवत-संहिता**' की मर्यादा संहिताओंके मंत्रोंके संग्रहतक ही रहेगी, ऐसा पाठक समझें। ब्राह्मणारण्यों के वचनों के संग्रह उपयोगी हुए, तो उनका पृथक् संग्रह किया जायगा। अतः इस संग्रहमें केवल संहिताओंके छन्दोबद्ध-पादबद्ध-मंत्र ही होंगे।

-(४)-

श्री० पं० अनंत शंकर कोल्हटकर बी. ए. सटाणा से लिखते हैं—

'वैदिक धर्म में '**दैवत-संहिता**' के विषयमें आपका लेख पढा। आप चारों वेदोंके शुद्ध मुद्रण का कार्य प्रायः समाप्त कर चुके हैं। वैदिकधर्मी सज्जनोंके घरोंमें वेद-ग्रन्थ बंदहि पडे रहें, क्या इतनेसे आपको संतोष हो सकता है? मैं समझता हूं 'नहीं'। वेदोंका अध्ययन हो, वेदोंका मनन हो और वेदार्थपर विचार हो, तथा वेद-धर्म का आचार हो, यही आपको अभीष्ट होगा। इस कार्य के लिये आपकी '**दैवत-संहिता**' बडी उपयोगी सिद्ध होगी। अतः आप **दैवत-संहिता का मुद्रण (१) स्वरसहित, (२) बडे टाईपमें तथा (३) अनुवादसहित** करिये। अन्यथा यह दैवतसंहिता भी संदूकमें बंद ही रहेगी।'

(संमति)=अनुवादसहित दैवत-संहिता का मुद्रण करना चाहिये, यह सत्य है, तथा अन्यान्य संहिताओं और सब ब्राह्मणग्रंथोंका अनुवाद भी छापना चाहिये, इस में किसी का मतभेद नहीं हो सकता। पर सब कार्य एकदम नहीं हो सकते। सर्वप्रथम संपूर्ण वेदके संहिताओंका शुद्ध मुद्रण करना चाहिये। वह तो चार संहिताओंकाही हुआ है। अभी सब शाखासंहिता तथा ब्राह्मण-आरण्यक आदि सब ग्रंथोंका मुद्रण होना है। इनके मुद्रण के पूर्व किसी प्रकार भी वेदमंत्रोंका अनुवाद प्रामाणिक नहीं हो सकता। जिन्होंने पूर्वापरसंबंध न देखते हुए अनुवाद करने की शीघ्रता की उनके ग्रंथोंमें ऐसे ऐसे भयानक दोष हुए हैं कि, उनका वर्णन न करना ही अच्छा है। इसलिये यथाशास्त्र प्रामाणिक अनुवाद करनेके पूर्व जो सहायक ग्रंथ तैयार होने चाहिये, उनका निर्माण करना हमारा प्रथम कार्य होगा। (इस विषयमें **'वेद-मंत्रोंका वर्गीकरण'** यह लेख वै०धर्म क्रमांक २२८ और २३१ में देखिये।)

× × ×

इसी तरह सैकडों अन्य पत्र आये हैं। जो सर्व संमतिसे चाहते हैं कि यह **'दैवत-संहिता'** अति शीघ्र छापी जाय। इसलिये इस अंकमें हमने अन्तिम निश्चित दैवत-संहिता का नमूनापृष्ठ रखा है और इसी प्रकार दैवत-संहिता छापनेका निश्चय किया है—

१. इस **दैवतसंहितामें चारों वेदोंके अर्थात् संपूर्ण शाखासंहिताओंके पादबद्ध-छन्दोबद्ध मंत्रों का संग्रह देवताक्रमसे होगा।** अर्थात् एक देवताके सब मंत्र यथास्थान एकत्र रहेंगे और इनमें यथायोग्य उपप्रकरण भी बनाये जांयगे। एक देवताके मंत्र जहां कहां सब संहिताओंमें बिखरे पडे होंगे, वहांसे सब मंत्र इस संहितामें प्रकरणानुकूल रखे जांयगे। अतः जिसको एक एक देवताके मंत्र अभ्यास करनेके लिये देखने होंगे, उनको एक देवता के सब मंत्र यहां इकट्ठे मिलेंगे। अतः यह दैवत-संहिता वेदाभ्यासी के लिये अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी।

२. इस **'दैवत-संहिता'** का मुद्रण बडे अक्षरों में होगा। मंत्रमें जो देवतावाचक शब्द होगा, उसपर ※ ऐसा चिह्न सर्व प्रथम मंत्रके देवतावाचक पदपरहि रहेगा। उस सूक्त में बारबार वह देवतावाचक पद आया, तो उस पर पुनः पुनः चिह्न नहीं दिया जायगा। क्योंकि एक वार देवतापद की सूचना देनेके पश्चात् पुनः पुनः वैसी सूचना देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। ऋषिवाचक पद पर × ऐसा चिह्न रहेगा। क्योंकि कई मंत्रों में कई वार ऋषि के नाम आते हैं, उनकी सूचना इससे मिल सकती है।

३. एक देवता के मंत्रोंमें, एक ऋषिके नामपर जितने मंत्र होंगे, वे सब एक स्थानपर रहेंगे, तत्पश्चात् उस देवताके दूसरे ऋषि के देखे मंत्र रहेंगे। इस तरह वेदसंहिताओं से देवतावार मंत्रसंग्रह इस दैवतसंहितामें किया जायगा। ऐसा करते हुए जितने देवतामन्त्रान्तर्गत उपप्रकरण बनाना संभव होगा, उतने उपप्रकरण एक देवता के अन्तर्गत बनाये जांयगे, जिनसे अभ्यासकों को बडी सहायता होगी।

४. प्रत्येक सूक्तके अन्य वेदोंमें जहां जहां पते होंगे, वहां के पते आवश्यक स्थानपर दिये जांयगे और पुनरुक्त मंत्रोंके भी ठीक ठीक पते दिये जांयगे, जिससे प्रत्येक मंत्र मूल संहिताओंमें भी पाठक देख सकेंगे।

५. मुख्य पाठ ऋग्वेदके मंत्रका ऋग्वेदानुसार, यजुर्वेदस्थमंत्रका यजुर्वेदानुसार, सामका सामवेदानुसार, तथा अथर्ववेदका अथर्ववेदानुसार रहेगा। यदि ऋग्वेदमंत्र अन्य वेदोंमें आया होगा, तो उसका मूल ऋग्वेदका पाठ ऊपर दिया जायगा और अन्य वेद का पाठ टिप्पणीमें रहेगा। पुनरुक्त मंत्र प्रथम एक वार पूर्ण दिया जायगा और अन्यत्र जहां वह आवेगा, वहां निर्देशमात्र किया जायगा और उसका पूर्व स्थानका पता वहां दिया जायगा। आधा या चतुर्थ भाग पुनरुक्त हुआ, तो वह यथास्थान दिया जायगा। अर्थात् संपूर्ण पुनरुक्त मंत्र ही दुबारा नहीं दिया जायगा।

६. सर्वत्र स्वरचिह्न ऋग्वेदके अनुसार दिये जांयगे, पर जो मंत्र ऋग्वेद में नहीं होंगे और केवल अन्य वेदोंमें ही होंगे, केवल उनके ही स्वरचिह्न उन वेदोंके अनुसार दिये जांयगे। अर्थात् यदि कोई एक मंत्र चारों वेदों में है, तो उसके स्वरचिह्न ऋग्वेद के अनुसार छापे जांयगे,

और जो मंत्र ऋग्वेदमें न होंगे, उनके स्वरचिह्न जिस वेद का वह मंत्र होगा, उस वेद की पद्धति के अनुसार रखे जांयगे।

७. परिशिष्टों का संग्रह इस दैवत-संहिता में नहीं होगा, क्योंकि प्राचीन काल से परिशिष्टों की गणना संहिता में नहीं होती। याजुष भाग का भी संग्रह इस दैवतसंहिता में नहीं होगा। याजुष भाग का संग्रह अलग यज्ञप्रकरणानुसार स्वतंत्र पुस्तक में किया जायगा। ब्राह्मणों और आरण्यकों में जो मंत्र आते हैं, उनका भी संग्रह इस दैवतसंहितामें नहीं होगा। क्योंकि केवल संहितान्तर्गत पादबद्ध मंत्रों का ही संग्रह इसमें होगा।

८. छन्दके अनुसार प्रत्येक मंत्र के पाद दर्शाये जांयगे, जिससे छन्द के विषय में किसी को संदेह नहीं रहेगा। जहां पदच्छेद हो सकता है, वहां वह किया जायगा। संबोधन जहां होगा, वहां (!) ऐसा चिह्न रखा जायगा। तथा जहां वाक्य का सम्बन्ध दिखाना सम्भव होगा, वहां (, ; .) ये चिह्न भी यथास्थान दिए जांयगे। जहां संवाद होगा, वहां संवाददाताका नाम (   ) कोष्ठ में दर्शाया जायगा। जिससे यह संवाद किस तरह है, वह ज्ञान पाठकों को होगा।

९. एक छन्द के मन्त्र एक रीतिसे छापे जांयगे। भिन्न छन्द आनेपर उनका क्रम बदला जायगा। जिससे छन्द बदलने का पता मन्त्रोंको देखते देखते ही लग जायगा।

१०. ऋषि बदल जानेपर दूसरे ऋषि का नाम दिया जायगा। तब तक पूर्व ऋषि ही उन मन्त्रों का है, ऐसा समझना चाहिए।

इसी तरह छापने का प्रारंभ होनेपर जो सुधार करना आवश्यक समझे जांयगे, वह सब किये जांयगे। यह पुस्तक अभ्यासकोंको अत्यंत उपयोगी करनेके लिए सब आवश्यक बातों का प्रारंभ सेहि ख्याल रखा जायगा।

प्रतिमास वैदिक धर्म में इसका मुद्रण कितना हो गया है, इसकी सूचना दी जायगी। पहिले दो महिनों में मुद्रण धीरे धीरे किया जायगा, क्योंकि पहिले फार्म विद्वानों के पास वारंवार भेजकर उनकी सम्मतियां मंगवानी होगी और उन संमतियों के अनुसार वारंवार हेरफेर किया जायगा। पश्चात् शीघ्रातिशीघ्र मुद्रण होता रहेगा। सब दैवतसंहिता ७ महिनों में तैयार की जायगी।

व्यय का अंदाजा।

बडे टाईप में छापने का निर्णय किया गया है, इस लिये इस दैवतसंहिता के दो सहस्र पृष्ठ होंगे। संभवतः सूची आदि सब इतने पृष्ठों में दी जा सकेंगी। क्योंकि मन्त्रसूची आदि सूचियों की इस संहिता के लिए आवश्यक होगी हि। दो सहस्र पृष्ठों की दो हजार प्रतियों की छपाई स्वदेशी कागजपर करनेके लिए और दो जिल्दोंमें अच्छी जिल्द बनवाई का कार्य करने के लिए १०,०००) दस हजार रु० से अधिक व्यय लगेगा। कुछ फार्म छपनेपर व्यय का अंदाजा ठीक ठीक हो सकेगा। पर किसी सूरत में इससे कम व्यय में यह कार्य नहीं होगा। हमारे पास इस समय २०००) रु० श्री पं० नाथूलालजी पेन्शनर आदर्शनगर अजमेर से दानरूप में आ चुके हैं। कमसे कम और इतनी रकम दानरूप में मिलनी चाहिए। इस दैवतसंहिता के लिए जो जो रकम आवेगी, वह वैदिक धर्म में प्रकाशित की जायगी। कार्य तो अभी प्रारंभ किया ही है।

दैवत-संहिता का मूल्य।

दैवतसंहिता मोटे अक्षरों में हि छापने का निश्चय हुआ है, इसलिए सूक्ष्माक्षरवाली तो अब बननेवाली नहीं है, ऐसा समझना योग्य है। अतः बडे अक्षरोंवाली दैवतसंहिता का मूल्य इस प्रकार होगा—

	मूल्य	पेशगी मूल्य	डा० व्य०
(१) दैवत-संहिता (सस्वर बडा टाईप)	१२)	६)	२)
(२) ,, ,, (कागजके एक ओर छपी)	१६)	८)	३)

(३) दैवत-संहिता (प्रत्येक देवता के अलग अलग पुस्तक) प्रत्येक पुस्तक के लिए उक्त मूल्य से ॥) आठ आने अधिक होंगे। डा०व्य० अलग।

(४) ,, (प्रत्येक देवता के एक ओर छपे) प्रति पुस्तक के लिए १) उक्त मूल्यसे अधिक होगा।

[ये पुस्तक देवतामन्त्रसंख्यानुसार छोटे बडे होंगे।]

सूचना— डा० व्य० अथवा रेलकिराया ग्राहकों के जिम्मे होगा। डा० व्य० सहित मूल्य पेशगी प्राप्त होनेसे लाभ होगा। रेलकिराया प्रति पुस्तक १) रु० होगा।

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध

दैवत संहिता का नमूना पृष्ठ

इन्द्र देवता

मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । गायत्री ।

१ (ऋ० १।३।४-६)

इन्द्रा याहि, चित्रभानो ! सुता इमे त्वायवः । अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ १ ॥
इन्द्रा याहि, धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः । उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥
इन्द्रा याहि, तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः । सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ३ ॥

२ (ऋ० १।४।१-१०)

सुरूपकृत्नुमूतये, सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ ४ ॥
उप नः सवना गहि, सोमस्य सोमपाः पिब । गोदा इद् रेवतो मदः ॥ ५ ॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् । मा नो अति ख्य, आ गहि ॥ ६ ॥
परेहि विग्रमस्तृतम् इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् । यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ७ ॥
उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत । दधाना इन्द्र ! इद् दुवः ॥ ८ ॥
उत नः सुभगाँ अरिर् वोचेयुर्दस्म कृष्टयः । स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ९ ॥
एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् । पतयन् मन्दयत्सखम् ॥ १० ॥
अस्य पीत्वा शतक्रतो ! घनो वृत्राणामभवः । प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ११ ॥
तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो ! । धनानामिन्द्र ! सातये ॥ १२ ॥
यो रायोऽवनिर्महान्त् सुपारः सुन्वतः सखा । तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १३ ॥

३ (ऋ० १।५।१-१०)

आ त्वेता नि षीदत इन्द्रमभि प्र गायत । सखायः स्तोमवाहसः ॥ १४ ॥
पुरूतमं पुरूणाम् ईशानं वार्याणाम् । इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ १५ ॥
स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् । गमत् वाजेभिरा स नः ॥ १६ ॥
यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः । तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १७ ॥
सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये । सोमासो दध्याशिरः ॥ १८ ॥
त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः । इन्द्र ! ज्येष्ठ्याय सुक्रतो ॥ १९ ॥
आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र! गिर्वणः । शं ते सन्तु प्रचेतसे ॥ २० ॥
त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो ! । त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥ २१ ॥

सूचना—इन मंत्रोंमें देवतावाचक शब्द पर * ऐसा चिह्न किया है।

दैवत-संहिता के विषयमें सम्मतियाँ ।

'दैवत-संहिता' के विषय में अनेक विद्वानोंकी सम्मतियाँ आ गई हैं, उनमें निम्नलिखित सम्मतियाँ यहां प्रकाशित करते हैं—

(१) श्री० पं० जयदेवशर्मा अजमेर से (ता० १०-६-३९ के पत्रक में) लिखते हैं—

"आपका भेजा दैवतसंहिता का लेख मिला। देवताक्रमसे चारों वेदोंके मंत्रोंकी संहिता बनाना, वेदोंके अनुसंधान-कर्ताओं के लिए, बडा उपयोगी होगा। इसमें संदेह नहीं, कहीं चारों वेदोंके पृथक् संप्रदायोंके समानहि दैवत-संहिताका संप्रदायभी एक और न चल निकले यह संभावित है। चाहे जो हो, मैं तो आपकी 'दैवत-संहिता' के निर्माणसे पूर्ण सहमत हूं। इससे भविष्य के अनुसंधानकर्ताओं को बहुत नई नई सामग्री प्राप्त होगी। और अनेक पक्षों में विचारनेवालों के लिए स्थान स्थान के मंत्रों को पुनः संकलित करने की दुविधामें न पडना पडेगा। आप तो बडे व्यवसायात्मक मतिवाले है। कई वर्षों पूर्व आपने दैवतसंहिताके विचार प्रकट किये थे, सो अब मूर्तिमान् हो रहे हैं। ईश्वर आपको आपके संकल्पों में सफल करे।

(२) श्री० पं० सूर्यदेव शर्माजी M. A. शास्त्री साहित्यालंकार, हेडमास्टर डी० ए० वी० हायस्कूल, अजमेर ता० १४।६।३९ के पत्रमें) लिखते हैं—

"आपके द्वारा प्रेषित दैवतसंहिता विषयक पत्र मिला। 'दैवतसंहिता' छापने का आपका शुभ संकल्प पढकर अति हर्ष हुआ। इस प्रकार चारों वेदों का स्वाध्याय स्वल्प मूल्य में सबको सुलभ हो जायगा। इस लिए मैं समझता हूं कि- (१) छोटे टाइपमें दैवतसंहिता छापी जावे, ता कि सब लोग खरीद सकें और उसका प्रचार अधिक हो। (२) मंत्र स्वरसहित छापे जायें। जहां विभिन्न मंत्रोंमें विभिन्न वेदमें होनेके कारण स्वरभेद हो, वहां ऋग्वेदके स्वर रखे जांय। (३) मंत्र देवताके विचारसे संग्रहित हों लेकिन उनका प्रति वेद का पूरा पता कोष्ठमें अवश्य रहना चाहिये।

स्कूल के पुस्तकालय के लिये एक प्रति दैवतसंहिता की भेज दीजिये।

(३) श्री० स्वामी स्वतन्त्रतानन्दजी महाराज सोलापूर से ता० १८।५।३९ के पत्र में लिखते हैं—

'दैवत-संहिता' का नमूना मिल गया, तदर्थ धन्यवाद। यदि आप इसके छापनेमें सफल हो गए तो आर्य जाति, वैदिक धर्मियों पर विशेष ही उपकार होगा।

(४) श्री० पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति गुरुकुल-सोनगड ता० १८।५।३९ के पत्र में लिखते हैं।

"आपका 'दैवतसंहिता' विषयक पत्र मिला। चारों वेदों के मन्त्रों के साथ जिस शाखा संहिता के मन्त्रों को लिखें उस शाखा संहिता की प्रतीक भी टिप्पणी में लिखें तो उत्तम हो। जिस मन्त्र में देवता शब्द का स्पष्ट निर्देश नहीं है किन्तु देवता को किसी विशेषण से सम्बोधित किया है, तो उस विशेषणको मोटे अक्षर में करके आगे कोष्ठ में देवतावाचक विशेष्य पद लिखें। एक एक देवताके जितने विशेषण आये हों उनके ऊपर एक दो तीन इत्यादि अंक लिखकर निर्देश करें तो मालूम हो जायगा कि किस किस देवताके कितने कितने विशेषण हैं। उन विशेषणोंके अर्थ-परिज्ञानसे देवता के स्वरूप के स्पष्टीकरणमें सुविधा होगी। शेष कार्य सब उत्तम है। मेरा नाम ग्राहक-संख्या में लिख दें।

(५) पं० लक्ष्मणसिंहजी वेदालंकार, अजमेर से ता० १।५।३९ के पत्र में लिखते हैं—

आप सर्वत्र वेदमन्त्र सस्वरहि छापें। आपकी दैवत-संहिता विचार करनेवाले पण्डितों के लिए है, इसलिये इसमें स्वर का होना आवश्यक है।

(६) पं० मदनमोहन विद्याधर वीजवाडा ता० १५।५।३९ के पत्रमें लिखते हैं—

दैवत-संहिता का प्रकाशन वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार के पुनीत कृत्यमें युगांतर पैदा करनेवाला है। इसका प्रकाशन होने के बाद वेदार्थज्ञान इतना सरल हो जावेगा, शायद इसकी कभी कल्पना भी नहीं की हो। वेद स्वयं अपने अर्थों का प्रकाशन कैसे करते हैं, यह दैवत-संहिता में प्रत्येक देवता के पृथक् संग्रहित मंत्रोंके पाठ मात्रसे ही पता चल जावेगा। जो व्यक्ति जरासी भी संस्कृत जानता होगा और जरा बुद्धिमान् होगा उसके इस दैवत-संहिताके पाठ मात्रसे वेदार्थ की गुत्थियां सुलझती जान पडेंगी। एक देवताविषयक मंत्रों को बार बार पढने से मुझे व्यक्तिगत ऐसा अनुभव हुआ, सो समझता हूं कि इस प्रकार का पृथक् देवतावार संग्रह सभी वेदार्थ-जिज्ञासुओं के लिए 'जायेव पत्युरुशती सुवासा' का उदाहरण बन जावेगी।

(१) इसका प्रकाशन कुछ मोटे टाईप में होना चाहिए।
(२) मंत्र दो कालमों में न छापकर जैसे ऋग्वेद छपा है वैसी ही दैवत-संहिता छापीये।

यह ग्रंथ धार्मिक है, हमें इसे संसारके कोने कोनेमें पहुंचाना है। केवल कुछ पुस्तकालयों या विद्यार्थियों या विद्वानोंके हाथों तक ही सीमित नहीं रखना। यदि यह सच है तो हमको उसी ढंगसे प्रकाशित करता चाहिये जिस ढंगसे यह—

(१) अधिक आकर्षित हो सके। (२) पाठ के लिये सुविधाजक होवे। (३) उत्तम, सुस्पष्ट हो।

मेरी सूचना यदि मानी जाये तो ठीक है कि १००० पृष्ठों के स्थानपर २००० लगेंगे, पर वह यदि आपके कार्य को अधिक सुचारु रूपसे सम्पादित करे तो वैसा हो ही जाना चाहिए, करना ही चाहिये।

(७) श्री भारद्वाज नडियाद (ता० २१।५।३९) के पत्रमें लिखते हैं कि 'दैवत संहिता'की आपकी कल्पना अच्छी है। इसमें प्रत्येक देवताके मंत्रोंमें उपप्रकरणोंकी व्यवस्थाकी जाय तो अच्छा होगा। मुझे इस संहिताका ग्राहक समझिए।

(८) श्री प्रो० स० प्र० चतुर्वेदीजी (मोरिस कालेज नागपूर) अपने २४।५।३९के पत्रमें लिखते हैं कि 'दैवत-संहिता' की योजनापत्रिका मिली। इस विषय में केवल एक मेरा अनुरोध है कि टाईप बडे (ऋग्वेद की तरह) लगाईये। चाहे दाम दूना कर देना पडे। अग्रिम ग्राहकों में मेरा नाम लिखिए। मैं शीघ्र ही मूल्य भेज दूंगा।

(९) श्री० स्वा० श्रद्धानंदजी (तिरला खेडा-स्टेट से) लिखते हैं—

श्रीयुत हेड मास्टर वामन गोपालजी काळे प्रतापगढ के यहाँ आपकी वेदसंहितायें ऋग-यजु-अथर्व तीनों देखकर व पढकर ब्रह्मानन्द हुआ। वैदिक जगत् में यह आपका सर्वोपरि प्रयत्न सराहनीय और स्तुत्य है। आर्यजगत् की समग्र संस्थाएं समवेत होकर भी जिस कठिन कार्य को नहीं कर सकीं उसमें आपकी यह सफलता महान् है। 'दैवत-संहिता' का प्रकाशन भारत के धार्मिक भावों की मंगलमय पूर्ती कर उन्हें कल्याणमार्ग की ओर अग्रसर करेगा, यह पूर्ण विश्वास है। मैं सर्वेश से प्रार्थना करता हूँ कि वह आपको अधिक से अधिक शक्ति प्रदान कर उद्देश्य-सिद्धि के अनुष्ठान को पूर्ण रूपेण सफल करें।

सत्य अहिंसासे

भारतीय स्वतन्त्रताकी रूपरेखा !

[लेखांक ४ +]

(लेखक— श्री०पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ, विजनौर, यू० पी०)

आइए इसी प्रसंग में युद्ध के स्वरूपपर भी विचार करें कि उसका स्वरूप क्या है ? जीवन संग्रामक्षेत्र है। प्रत्येक क्षण संग्राम की संभावना है। इसीलिए मनुष्यको प्रत्येक क्षण संग्राम के लिए तत्पर रहना चाहिए। कौनसा क्षण संग्राम लेकर आ खडा होगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है। जीवन को चूहे के बिल में नहीं बिताया जा सकता। उसे तो संग्रामभूमि में ही बिताना पडेगा। संग्राम जीवन की अनिवार्य अवस्था है। मनुष्य का जीवन ही एक बडा भारी संग्राम है।

मनुष्य संग्राम लेकर आता है और संग्राम करता करता समाप्त हो जाता है। मनुष्य को जीवनभर किसी न किसी विरोधी अवस्था से लोहा लेना ही पडता है। मनुष्य संग्राम से बच नहीं सकता। मर जानाही संग्राम से बचने की एक अवस्था है। संग्राम मनुष्यजीवन की अनिवार्य स्थिति है। संग्राम की अनिवार्यता को समझ लेना विवेकियों का काम है। जो संग्राम से बचना चाहता है, वह मूर्ख है। ज्ञानियों से संग्राम में पडे विना नहीं रहा जाता। उनका युद्धक्षेत्र में उतर पडना अनिवार्य है। संग्राम अर्थात् जीवन-विरोधी अवस्थाओं का विरोध करना अर्थात् लूट का विरोध करना ज्ञानी के सामने जीवन-मरण के प्रश्न के रूप में रहता है। लूटका विरोध किए विना ज्ञानियोंसे एक ग्रास भी नहीं खाया जा सकता। अज्ञानी अपने लुटेरे की लूट में संमिलित हो जाता है और विषमूर्छित सांप के समान अपने ही राष्ट्र को तोड तोड कर खाने लगता है। अपने मन में धर्म की दृढ स्थापना ही संग्राम है। असत्य दलन ही संग्राम है। असत्य विजय करने का निश्चय ही असत्य से संग्राम है। अपने मनपर असत्य का प्रभाव (रोब) न पडने देना ही संग्राम है। मन ही इस संग्राम का योद्धा है। मन ही इस संग्राम का युद्धक्षेत्र है। मन ही इस संग्राम का प्रतियोद्धा है। मन ही इस युद्धका हथियार है। मन की रक्षा इस युद्धकी विजय है। सत्यरक्षा, आत्मरक्षा या मनुष्यता की सेवा ही इस युद्ध के अमर फल हैं। असत्य का विरोध करनेपर जो परिणाम हो जाय, उससे सहर्ष सहमत हो जानेवाला मन ही योद्धा मन है। जो कुछ होगा देखा जायगा, मैं तो सत्यपर (अपने अन्तर्नादपर) अटल रहूंगा, यह निश्चय ही संग्राम है और यह निश्चय ही संग्रामविजय है। असत्य के विरोधमें तीर, तलवार, भाला, लाठी, बम, पिस्तल आदि चलाना संग्राम का मूल रूप नहीं है। किंतु असत्य का विरोध करने का निश्चय ठान लेनाही संग्राम का मूल रूप है। संग्राम का ठनाव ही संग्राम है। इस ठनाव के पश्चात् बाह्य संग्राम अनिवार्य हो जाता है। बाहर संग्राम न होना अन्दर संग्राम न होने की सूचना है। यह मृत समाज का चिन्ह है। मृत जातियों के मन में से संग्राम नष्ट हो जाता है और बाहर मुरदा शांति आ जाती है। बाह्य संग्राम से आंतर संग्राम की

+ तृतीय लेख 'वैदिक धर्म' क्रमांक २३४, पृ० ४१७ पर देखो।

सूचना मिलती है कि अन्दर असत्यविजय का संग्राम लडा जा चुका और जीता जा चुका है। मनमें असत्य के प्रति क्रूर होना, संग्रामशील रहना, वीर मनों का स्वभाव होता है। सच्चे मनुष्यों का सारा जीवन संग्राम में बीतता है। मानसिक निर्वलताओं का वध ही संग्राम का आदिम रूप है। मनुष्य का पहला संग्राम अपने ही आपे से है। उसे सबसे पहले अपनी निर्बलता से लडना पडता है। उन निर्वलताओं का विद्रोही हो जाना ही संग्राम का सच्चा रूप है। अपनी माया अर्थात्-अज्ञान (बेसमझी) को परास्त कर देना ही संग्रामविजय, स्वराज्य या ईश्वर-दर्शन का स्वरूप है। अपनी निर्वलता ही अपनी माया है।

मनुष्य इस माया का स्वामी है। जो अपनी माया को जीतता है, वह साधारण प्राणी नहीं है। वह मायातीत परमेश्वर हो चुका है। अपनी निर्वलता को जीतनेवाला मनुष्य या राष्ट्र ही मायातीत परब्रह्म है। मनुष्य को सबसे पहले अपनी ही निर्वलताओं से लडना है। निर्वलताओं का दुःख वन जाता है। सुखी जीवन के लिए निर्वलता न रहना अत्यावश्यक है। मनुष्यकी निर्वलता में मेरा तथा मेरी आवश्यकता इन तीन रूपों में प्रकट होती है। कर्तव्य ही मैं, वही मेरा, और वही मेरी आवश्यकता यही मनुष्य को बलवान् बनानेवाला विचार है। इसी में मनुष्य का आत्मकल्याण है। ये विचार ही युद्धविजय का अभौतिक (मानसिक) स्वरूप हैं। जो युद्ध के इस अभौतिक रूप को समझता और इसपर विजयी हो जाता है, उससे ईश्वरीय व्यवस्थाका भेजा हुआ भौतिक युद्ध किए विना नहीं रहा जाता। उसके लिए युद्ध ईश्वरीय आज्ञा बन जाता है।

असत्य से संग्राम तथा उसका दलन करने की आवश्यकता प्रत्येक समय मनुष्य के सामने आती रहती है। सत्य वीरों को प्रत्येक क्षण असत्य का मानमर्दन करने के लिए सन्नद्ध रहना पडता है। असत्यपर विजय पानेसे बढिया संसारमें और कोई सुख नहीं है। इस सुखके मौत को भी फूलों की शय्या बना बनाकर अनन्तवार सत्यनिष्ठोंका यशोगान किया है। दुःखों के अस्तित्व को अस्वीकार कर देनाही सुख पाने का मार्ग है। जिन्होंने दुःखों का अपमान करना सीखा है, वे संग्रामविजयी हो जाते हैं, वे भाग्यशाली हैं। युद्धविमुख मनुष्य भाग्यहीन, भाग्यभरों से और नपुंसक होते हैं।

मनुष्य का मनही सत्य असत्य का संग्राम-क्षेत्र है। जब मनुष्य इस क्षेत्र में असत्यविजयी हो जाता है, तब शरीर को भी उसका अनुगम और अनुकरण करना पडता है। जब कोई असत्य मन में कुचला जा चुकता है, तब उसी को बाह्यरूप देने के लिए हथियार लाठी, घूसा आदि साधन पकडने पडते हैं। और कुछ नहीं तो लाल लाल तेजोदृप्त आंखें दिखानी पडती हैं। परन्तु यह सब युद्ध का बाह्य दिखावा मात्र है। सच्चा युद्ध तो इससे प्रथम ही विजित हो चुका होता है। जो युद्ध को मन में जीत लेता है, वह वहीं विजयी बन चुकता है। यदि दैवसंयोग से बाह्य युद्ध में उस सत्यविजयी के हथियार टूट जांय, शरीर हार जाय, थक जाय, कट जाय या मर जाय तब भी वह विजयी है और अपराजित है।

दूसरों से बदला लेना यह युद्ध का रूप नहीं है। यह युद्ध का बडा निकृष्ट असभ्य रूप है। किन्तु अपनी शक्तिका दर्शन और असत्य का मानमर्दन ही युद्ध का सच्चा (शुद्ध) रूप है। इस युद्ध के लिए केवल तीन हथियारों की आवश्यकता है- (१) अपने लिए कुछ मत चाहो, अपनी हार्दिक सत्य की आवाज के प्रति आत्मसमर्पण कर दो। जो कुछ ईश्वरीय प्रबन्ध से मिल जाय या हो जाय, उसीको अपनी आवश्यकता मानो, उसी से सन्तोषपूर्वक अपनी जीवनयात्रा चलाओ। (२) संसारमें किसी को अपना मत मानो ... केवल कर्तव्य का सम्बन्ध

रखो। जो अपने पास है उसे भी अपना न मानकर सत्य की सेवा के लिए सत्य के दिए हुए साधन या सत्य की धरोहर के रूप में देखो और निर्भय, निःशंक होकर उनका सदुपयोग करो। (३) किसी के आने, जाने, जीने, मरने आदिका हर्षशोक मत मनाओ। जिस मनुष्य ने ये विचारशस्त्र पकड लिए हैं, उसे संसार की बडी से बडी शक्ति पराजित, अपमानित, निरुत्साहित, भयभीत या रणविमुख नहीं कर सकती।

युद्ध तथा मृत्यु।

युद्ध और मृत्यु दोनों भयानक माने जाते हैं, परन्तु ये दोनों भयानक नहीं होते। इन दोनों में भयकी कल्पना करना मनुष्यका अज्ञान है। जबतक मनुष्य युद्ध तथा मृत्युके वर्तमान न होनेपर इनके विषय में सोचता है, तबतक ही इनसे भय मानता हैं। भविष्य के अंधेरे गर्भ में छिपी हुई बात को वर्तमान में सोचने लगना ही भय का कारण है। भविष्य की काल्पनिक मूर्ति ही मनुष्य के भय का कारण होता है। अर्थात् मनुष्य अपने अज्ञान से ही भयभीत होता रहता है। जिस प्रकार मूर्ख घोडा अपनी ही रात्रिछाया से डर रहा हो, इसी प्रकार मनुष्य पहले तो अपने मस्तिष्क में भय की कल्पना कर लेता है और फिर उससे डरता रहता है। परन्तु जिस समय मनुष्य के सामने भय या मृत्यु नामक घटना अनिवार्यपना लेकर आ खडी होती हैं, उस समय मनुष्य इन से कभी भय नहीं करता। तब तो वह भय और मृत्यु में अपनी आहुति डालने के लिए अपने को सहर्ष तत्पर पाता है। भय के सामने आते ही परमात्मा की अनन्त शक्ति उसके लिए अपना शक्तिभंडार खोल देती है और वह अजेय वीर बनकर उसका विरोध करता है। जो सर्व शक्तिमान स्रष्टा मनुष्य को जीवनाधिकार देकर भेजता है, वही जीवनरक्षा की अनन्त शक्ति साथ भेजता है। आप कल्पना कीजिए कि जिस समय आपके घरमें रात को चोर डाकू घुस आयगा और आपके बालकों पर आक्रमण करेगा, तब क्या आप भय को अवसर दे सकेंगे? तब क्या आप झिझकेंगे? तब क्या आप मौत से डरेंगे? नहीं नहीं, तब तो आप निःशंक और निर्भय होकर अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी उसका विरोध करेंगे। तब आपके मन में भय और मृत्यु दोनों का ध्यान कदापि नहीं आयेगा। तब सर्वशक्तिमान ईश्वर आपके पास संतानपालन नामक कर्तव्य के रूप में अनन्त बल भेज रहे होंगे और आप जीवन्मुक्त होकर अपनी संपूर्ण शक्ति से अनधिकारी का विरोध कर रहे होंगे।

जिस समय का जो कर्तव्य होता है, वह अपनी तात्कालिक शक्ति साथ लेकर आता है। कर्तव्य ही शरीर बनता है। यही कारण है कि जब मरना कर्तव्य हो जाता है, तब मनुष्य को डर नहीं लगता। तब उसे डर को पीठ के पीछे करके मौत से लोहा लेने में ही कल्याण दीखता है।

जानते हैं कि आपको निर्भय बनानेवाली यह अनन्त शक्ति कहां से आ रही है? आपके पास ईश्वर का दिया हुआ जो कि सन्तानपालन नामक कर्तव्य है, इस कर्तव्य में से ही अनन्त शक्ति का यह झरना फूट कर आ रहा है। यह आपके पास ऐसा बल आ रहा है, कि यह आपको लाखों डाकुओं के सामने लडने के लिए खडा कर सकता है। कर्तव्य ही इस संसार का स्रष्टा, माता, धाता, पिता, पितामह शरण और सुहृत है।

मनुष्य कर्तव्य करने के लिए आता है। कर्तव्य ही मनुष्य बन जाता है। मनुष्य कर्तव्य करता करता अन्त में कर्तव्य की ही गोद में सो जाता है।

कर्तव्य अनन्त शक्ति का भंडार है। कर्तव्य शक्ति का ऐसा सदावर्त है, जहां से मनुष्य को अजेय बल प्राप्त हो जाता है। जैसा मनुष्य का सन्तान के प्रति कर्तव्य का सम्बन्ध है, वैसाही मनुष्य का अपने देशके प्रति भी कर्तव्य का सम्बन्ध है। यदि मनुष्य में देशके प्रति कर्तव्य-

बुद्धि आ जाय, तो वह अपनी संतानरक्षा के समान ही अपने देशकी सम्मानरक्षा करने में भी प्राणाहुति डालने को सहर्ष उद्यत हो जाय। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि देशमें देश के लिए कर्तव्यबुद्धिरूपी आगको जगाया जाय और उसे ईंधन देकर सुलगाया जाय। जब सर्व-शक्तिमती कर्तव्यबुद्धिरूपी अग्नि प्रदीप्त होगी, जब उसकी लपटें देशव्यापी होंगी तब वे अनधिकारी के अनधिकार को भस्म करके छोडेंगी। कर्तव्यबुद्धि के सामने भय का प्रश्न आजतक कभी नहीं आया। जो जिस काम को कर्तव्य नहीं मानते, वे ही उससे भय मानते रहते हैं। भय मानना कर्तव्यहीन का चिन्ह और स्वभाव है। कर्तव्य के सामने भय नाम की कोई वस्तु नहीं है। भय और कर्तव्यहीनता दोनों एक ही स्थिति हैं।

भय।

इसी प्रसंग में भयके स्वरूपपर गहरा विचार कर लेना आवश्यक है। क्योंकि भय का प्रश्न सर्व-व्यापी बना हुआ है। आइए ज्ञानकी कसौटी पर भय को परख कर देखें कि भय में ज्ञानियों को डराने की शक्ति नहीं है।

भयानक अवस्था संसार में कोई भी नहीं है। फिर भी अपने मन में भयानक अवस्था की कल्पना कर लेना ही 'भय' है। भय के रहने का स्थान मन है। मन से बाहर संसार में भय कहीं भी नहीं रहता। 'दुःख-भय' और 'मृत्यु-भय' नाम के दो रूपों में भय की झूठी प्रतीति हुआ करती है। मनुष्य की छोटी सी दृष्टि में इन दोनों भयों के दो कारण माने जाते हैं—एक तो प्राकृतिक घटनायें, दूसरा दुष्ट लोगों की प्रवृत्ति। परन्तु इन दोनों आधारों में भय की कल्पना कर बैठना भ्रान्ति है।

प्रकृति में विचारशील मनुष्य को डरानेवाली शक्ति नहीं है। जिस प्रकृति में से मनुष्यदेह का जन्म होता है, उसी प्रकृति में, मनुष्य से देह का अभिमान छुडाकर, उसको निर्भय बना देने की स्वाभाविक शक्ति भी विद्यमान है। प्रकृति पहले मनुष्यदेह को बनाकर फिर उसको निर्भय रहने का जीवित पाठ पढाती रहती है। देख लें कि सृष्टि, स्थिति और प्रलय किंवा पहले बनाना कुछ काल उसे रखना और फिर उसे बिगाड देना ये प्रकृति के नियम हैं। यह प्रकृति आज जिसको अपने गर्भ से बाहर निकालती है, कल उसी को अपने में विलीन कर लेती है, या छिपा लेती है। अर्थात् प्रत्येक सृष्ट पदार्थको फिरःअपने स्वरूप में ले आना, उसको अपने जैसा कर लेना, उसको मार लेना प्रकृति का स्वाभाविक नियम है।

जब हम अज्ञानवश होकर प्रकृति के इस स्वाभाविक नियम को तोड देने की इच्छा करते हैं, इस निकम से बचना चाहते हैं—इस नियम को अपने ऊपर लागू होने देना नहीं चाहते, अर्थात् लीन होना किंवा मरना नहीं चाहते, तब इसका यही अभिप्राय होता है कि हम अपनी वास्तविक स्थिति को भूल गए हैं— प्राकृतिक नियमों के अनुसार हमारे शरीरों का कैसा कैसा परिणाम होना है? यह हमारे ध्यान में नहीं रहा है। हम अपनी छोटी सी दृष्टि में प्राकृतिक नियम हम पर लागू न हो सकें, केवल इसी को विपत्ति से रहित अवस्था समझते हैं। प्राकृतिक नियमों के अनुसार इस भ्रांति से छूट जाने का अवसर जब आता है, तब हम उसको भयानक अवसर समझ बैठते हैं और भयव्यग्र रहने के कारण प्रकृति माता के दिए पाठ को समझने में असमर्थ रह जाते हैं। प्राकृतिक नियम भ्रांति से छुडवाने के लिए होते हैं।

हम शरीर को अपनाते हैं और प्राकृतिक नियम इस शरीर को तोडते हैं। ये कहते हैं कि इस शरीर को मत अपनाओ। इस की मोहममता मत करो, परन्तु हम भ्रांति में रहने को निरापद समझते हैं। भ्रांति के दूर जाने से घबराते हैं,

और अभ्रांत होने को ही भयंकर अवस्था समझते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि भ्रांति ही डर है और अभ्रांत होना ही निडरता है।

कहीं स्वार्थ के बन्धन में बन्धे रहना ही भय का एकमात्र कारण है। जहां नहीं डरना चाहिए वहां भी स्वार्थी को डर लगता है। मनुष्य को निर्भीक बनानेवाली वस्तु परमार्थचिंतन, सत्य का चिंतन, किंवा अवश्यं भावी का स्वागत करने की प्रवृत्ति है। निर्भीक मनुष्य की दृष्टि में भयानक समझी जानेवाली वस्तुएँ और दुष्ट पुरुष अवश्यं भावी प्राकृतिक नियमों के दूतमात्र होते हैं। वह इनसे भयभीत होकर कर्तव्यमूढ नहीं हो बैठता, किंतु इनका उचित विरोध और उपेक्षा करता रहता है। वह जानता है कि मुझे डरा सकनेवाली शक्ति इस संसार में नहीं है।

इस भावना को लेकर वह निर्भय रहता है और भय समझी जानेवाली घटना का विरोध स्वस्थचित्त से करता है। प्राण छोडने का प्रसंग आ पडे तो प्रसन्नचित्त से निर्भयतारूपी यज्ञ में डाली हुई आहुति समझ कर प्राणों का उत्सर्ग कर देता है। वह यह समझ लेता है कि वह विराट्देही इस शरीर को अब अपने कर्म का यन्त्र रखना नहीं चाहते। यह समझकर वह स्वस्थचित्त से प्राण की आहुति दे देता हैं। निर्भय पुरुष प्राण छोडने के प्रसंग से भी ईश्वर-दर्शनरूपी महा लाभ उठा लेता है। वह यह जानता है कि विपत्ति ईश्वरीय रचना की महत्त्व-पूर्ण वस्तु है। इसका अस्तित्व मनुष्य को दुःखी करने या रुलाने के लिए नहीं है। विपत्ति मनुष्य का विपज्जय करने का कौशल सिखाने को आती है। विपत्ति मनुष्य को अप्रभावित रहने की कला को अभ्यास करने के सुअवसर का महा दान करने के लिए आती है। यों विपत्ति वर्धिष्णु मनुष्य का सच्चा मित्र है। विपत्ति ईश्वर की सावधान वाणी है।

यह दैवी संकेत है। मानवमन के साथ ईश्वर का जब ज्ञान का आदान-प्रदान चलता है, तब की संकेतमयी अनुभवपूर्ण भाषा विपत्ति की लेखनी से सावधान हृदयपटल पर ईश्वर के हाथों से लिखी जाती है। विपत्ति नाम के ऐसे महा मित्र से भी घबराने की मूर्ख रीति संसार में चल पडी है। इस रीति से संसारने अपने को कितने बडे कल्याण से वंचित कर लिया है, यह बात इस विचारदरिद्र संसार को ज्ञात नहीं है। विपज्जय कला के पूर्णाभ्यासी स्वस्थ हृदय, निर्भय और विपद्विहीन राजमार्ग पर जीवनयात्रा करते हुए अपने जीवन के लक्ष्य पर दृढ बने रहते हैं।

ऐसे निर्भीक मनुष्य के घर में यदि शस्त्रधारी डाकू आ घुसे और मृत्यु भय दिखा कर उसके घर का सब धन उसको विवश करके ले लेना चाहें, तो वह मार के या मृत्यु के भय से घर का धन नहीं दे बैठता। वह प्राणों के रहने तक उस डाकू के साथ जूझता है। निर्भीक मनुष्य के सामने इस स्थूल भौतिक धन की रक्षा का प्रश्न नहीं आता। उसके मन में सत्य की रक्षा के उत्तर-दायित्व का प्रश्न चक्कर काटने लगता है। वह इस बात की अपेक्षा (परवा) कहा करता है कि इस झगडे में ये प्राण रहेंगे या नहीं? या यह धन बचेगा या नहीं? उसके मन में धन का झगडा नहीं है। उसके मन में असत्य और सत्य का झगडा है। उसके मन में डाकू को धन देना ठीक है या न देना ठीक है? इस बात का झगडा है। विचारहीन लोग धनादि पदार्थों पर झगडा करते हैं। विचारक के मन में भावना का झगडा चलता है। उस डाकू के आने से उसके मन में यह जो असत्य और सत्य का झगडा खडा हो गया है, वह अपने मन के इसी झगडे को सुलझा लेना चाहता है। वह बाहरी झगडे की ओर देखना नहीं चाहता। वह अपने मन में सत्य को नीचे और असत्य को ऊपर देखना कदापि नहीं चाहता।

वह अपने प्राणों की आहुति देकर भी अपने मन में सत्य को ऊपर रखना चाहता है और असत्य को अपमानित या पद-दलित कर लेना चाहता है। उसके मन में डाकू के आने और धन को उठा ले जाने की घटना का थोडासा भी महत्त्व नहीं है। वह जानता है कि यह धन सत्य का है और ये प्राण भी सत्य के हैं। वह (सत्य) इस धन को और इन प्राणों को जहां चाहेगा ले जायगा या यहीं रख छोडेगा। उसके मन में अपने मन को असत्य से प्रभावित न होने देकर सत्य पर प्रतिष्ठित रहने का प्रश्न रहता है। वह इस कर्तव्य के नशे में चूर होकर अपने 'मैं' को थोडासा भी न बचाकर, अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले असत्य पर शक्ति भर चोट करता जाता है।

वह मानता है कि मैं सत्य का हूं। समय पडने पर सत्य का हथियार बन जाने में ही मेरा आत्म-कल्याण और गौरव है। सत्य का हथियार बन जाने, सत्य के लिए जीने और मरनेवाला बन जाने तथा सत्य की इच्छा पर प्राणों को वार देने वाला बन जाने की निर्भय और निरहंकार स्थिति को ही विदेहावस्था कहा जाता है।

सत्य की रक्षा सत्य ही करते हैं। सत्य लंगडे या लूले नहीं हैं कि वे हम से अपनी रक्षा कराते हों। वे अपनी रक्षा स्वयं कर लेते हैं। केवल उस सत्य के हृदय के साथ अपनी हृत्तंत्री के तार मिलाकर रख लेने से सत्य की रक्षा का हमारा उत्तरदायित्व पूरा हो जाता है। इसी को 'सत्य की रक्षा' के नाम से कहा जाता है। वह डाकू उसका धन और प्राण दोनों ले ले तो भी उसके सत्य की यह रक्षा हो जाती हैं और सत्य का पुजारी जीत जाता है।

मत समझो कि सत्य के सेवक के प्राण निकाल देने से डाकू जीत गया है। विचार कर देखेंगे, तो पायेंगे कि उससे हार मान चुकने के पश्चात् ही डाकू ने उसे मारा है। वह डाकू उसके मनको प्रभावित कर लेना चाहता था। जब वह किसी भी प्रकार बाह्य मोह से प्रभावित नहीं हुआ और उसका विरोध करता रहा, तब अपने प्रयत्न में असफल हुए डाकू ने उसे मार डाला। यों मारने से पहले वह उससे हार मान चुका था। वह उसके आत्मा को दबा नहीं सका था।

उस सत्य के पुजारी की मनोवृत्ति में पहुँच कर देखेंगे तो पायेंगे, कि उसने मर कर भी विजय पाई है। मौत भी उसकी विजयाभिलाषा को आकर रोक नहीं सकी है। उसने मौत को भी अपनी विजय का अस्त्र बना डाला है। डाकू का और उसका दबाने और न दबने का झगडा था। डाकू अपने उद्देश्य में हारा है और वह अपने उद्देश्य में जीता है। इस दृष्टि से विचार किया करेंगे, तो निर्भय रहने में ही और अवसर आ पडे, तो प्राणों को सत्य की रक्षा में होम देने में ही आनंद आने लगेगा। अपने मन में भयंकर नाम की किसी स्थिति को मान बैठना ही भय है। मन में रहनेवाले उस भय को ज्ञानाग्नि से जलाकर नष्ट कर डालना ही निडरता है या निर्भय हो जाना है। जब निडरता नाम की मानसिक स्थिति आती है, तब जब जैसा बर्ताव करवाना आवश्यक समझती है करवा लेती है। तब हमें भय के अवसर पर क्या करना चाहिए ? इस प्रकार के प्रश्न पूछने की आवश्यकता नहीं रहती। निडरों जैसे बाह्य बर्तावों की एक लम्बी सूची बना कर उस का अभिनय दिखा कर निडर बन सकना असम्भव है। कहा जा चुका है कि निडरता कोई शारीरिक क्रिया नहीं है। निडरता नाम की अवस्था लम्बी चौडी बातों, लाल आंखों, ऊंचे शब्दों, गर्जन, तर्जन, कुश्ती, लाठी, बल्लम, छुरा, कृपाण, कमान, तलवार बंदूक, पिस्तौल, बम, या मैशीनगन आदि के प्रयोगों और दिखावों से सम्बन्ध रखनेवाला कौशल नहीं है। निडर मनुष्य के रीते हाथ और उनकी अंगुली भी प्रतिपक्षी के लिए वज्र बन जाती है। कायर के हाथ में आये हुए सब

साधन उसकी कायरता छिपाने के काम आते हैं। मेरे प्रतिपक्षी के पास कितने विमान शतघ्नी आदि हथियार हैं? इसका हिसाब लगाने की ओर वीर पुरुष का ध्यान कदापि नहीं जाता। इसी का नाम निर्भयता है। निर्भयता अस्त्र शस्त्रों की उपेक्षा करनेवाली स्वतन्त्र स्थिति है। डरपोक मनुष्य अस्त्र शस्त्र न होने पर अपने को डाकू लुटेरों का सामना करने में असमर्थ मान बैठते हैं, उनके हाथ में यदि हथियार आ भी जाय तो वे डाकू लुटेरों का विरोध न करने का दूसरा कोई बहाना ढूंढकर कहने लगते हैं कि उनके पास हमसे अधिक हथियार हैं, हम उनका विरोध कैसे करें? वे अधिक हथियारों का स्वप्न देखकर भी पीठ दिखाकर भाग खडे होते हैं। निर्भयता में अपने या प्रतिपक्षी के अस्त्र शस्त्र के लिए कोई भी महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। दुष्टों का विरोध करने में अपने को अनन्त शक्तिमान् जान लेना निर्भयता है। यह अनन्त शक्ति प्रत्येक मनुष्य के मन में परमात्मा की देन के रूप में सदा विराजती रहती है। जिस दिन मनुष्य को इस महा निधि के दर्शन हो जायंगे, उस दिन मनुष्य किसी से क्यों डरेगा?

तुरन्त संग्राम छेडने की आवश्यकता।

दासता-रोगसे भारत की रक्षा करने के लिए भारत को निर्भय होकर तुरन्त असत्य से संग्राम छेड देना चाहिए। अब भारत को यह न देखना चाहिए कि भारत के लिए संग्राम का भौतिक परिणाम क्या होगा अर्थात् कितनी धनजनहानि होगी? आज देश के सामने भौतिक लाभ और नैतिक पतन इसी प्रकार भौतिक हानि तथा नैतिक उत्थान ये दो विरोधी स्थिति अपना अपना चुनाव करवाने के लिए उपस्थित हैं। भारत को अपने लिए इन दोनों में से पिछले जोडे को अर्थात् भौतिक हानि और नैतिक उद्धार को चुन लेना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत को संग्राम में बडी से बडी भौतिक हानि हो सकती है। यहां तक कि बहुत से भारतवासी फांसी और गोलियों के शिकार भी बनाए जा सकते हैं। भारत को इस सब हानि के लिए पूरा पूरा उद्यत होकर युद्ध छेडना चाहिए। उसे नैतिक उद्धार का पूरा पूरा मूल्य चुकाना पडेगा। पूरी अग्नि-परीक्षा देनी पडेगी। पूरी अग्निवर्षा सहनी पडेगी। सारी संभावित हानि सहने को उद्यत रहना होगा। तब ही भारत का मानसिक उत्थान होगा। देशको धोके में रखकर उसे लडाई के मैदान में नहीं लाना चाहिए। जो अपना सर्वस्व खोने को उद्यत न हों, उन्हें अपने युद्ध में आने ही नहीं देना चाहिए। देशको यह स्पष्ट बता देना चाहिए, कि सत्य के लिए सब कुछ खवोंने को उद्यत हो करही भारतीय समरयात्रा में सम्मिलित हो।

संग्राम की विधि।

हो सकता है कि इस स्पष्ट सत्य को सुनकर पहले पहले जनता का बहुमत रुष्ट या उदास हो जाय। परन्तु भारतीय सत्यसेवकों को अपनी संख्या बढाने के मोह में न फंसकर सोलह आने शुद्ध सत्य को ही जनता के समक्ष रखना चाहिए। यदि कुछ लोग या बहुमत स्वतंत्रताके सेवकों साथ न दे तो पडा मत दो। सेवकों को तब भी भारतीय स्वराज्ययुद्ध को इसी सिद्धांतपर चलाना चाहिए। देश में जहां अवसर मिले वहीं भारत-हितविरोधी अपमानकारक आज्ञाओं का उल्लंघन करनेवाले अदम्य उदाहरणों से मानसिक बलके प्रदर्शन करके भारतीय जनता की सेवा करनी चाहिए और सत्यका जीवत पाठ पढने के लिए देश के सामने रख देना चाहिए। प्रारंभ में भी जनता को पसन्द आनेवाले रोटीपाने देनेवाले अज्ञानी स्वराज्य का तो हमें नाम भी न लेना चाहिए। मौत से कम की शर्त पर तो किसी भारतवासी को अपनी सत्याग्रही टुकडी में भरती नहीं करना चाहिए। जब भारत अपनी आंखोंके सामने इन पवित्र जीवित उदाहरणों को अपने

प्राणों से खुलकर खेलता हुआ देखेगा तब भारत में सत्यनिष्ठा फैलेगी । तब भारत का प्रत्येक मनुष्य अजेय दुर्ग बन जायगा। फिर तो वह शरीर से मारा जा सकने पर भी न तो पराजय स्वीकार करेगा और न असत्य का विरोध छोडेगा। विजय ऐसे सत्यनिष्ठों की मुट्ठी में घुस-कर बैठ जायगी। वही इन्हें युद्ध के लिए बल देती रहेगी और अन्तिम चेतना तक इनके साथ रहेगी। ये लोग स्वराज्य पा चुके होकर अपने पाये हुए स्वराज्य की रक्षा के लिए लडेंगे, ये किसी शत्रु की मुट्ठी में बसनेवाले बिना पाये अनिश्चित स्वराज्य के लिए अंधेरे में हाथ पैर नहीं मारेंगे। इनका युद्ध अनिश्चित स्वराज्य का जुआ नहीं होगा। ये स्वराज्य पाने के लिए नहीं लडगे। ये तो प्राप्त स्वराज्य की रक्षा के लिए लडेंगे । अपने ऊपर अपना ही अधिकार होना इनका स्वराज्य होगा।

जब भारत में अनधिकारी की आज्ञा न मानने वाले तथा अपने ऊपर केवल अपना ही अधिकार माननेवाले स्वाभिमानी लोगों की संख्या बढेगी उस दिन अंग्रेजों को भारत का लोभ छोडना पडेगा।

भारत को कांग्रेसने स्वराज्य के विषय में पथ-भ्रष्ट कर रखा है। उसे पचास वर्ष से धोके में रखा जा रहा है। वह ५० वर्ष से स्वराज्य के नामपर खिलवाड कर रहा है। परन्तु जिस दिन भारत को सचमुच स्वराज्य लेना होगा उस दिन उसे कांग्रेस का मार्ग छोडकर पूर्ण संबंधविच्छेद अर्थात् संपूर्ण असहयोग के मार्गपर आना पडेगा। तब स्वेच्छा सहयोग को एकदम बन्द करना पडेगा। भारत अंग्रेजों को भारत के शासन में जो सहायता दे रहा है वह सब बन्द कर देनी पडेगी।

आप कल्पना तो कीजिए और भारत को यह कल्पना तो कराइये कि अंग्रेज भारत की ही सहायता से भारत के शासक बने बैठे हैं। यदि भारत मचल जाय तो इनका शासकपना धूल में मिल जाय। भारत अंग्रेजों को ऐसी सहायता दे रहा है जो उसे कभी न देनी चाहिए थी। वह अंग्रेजों को स्वेच्छा सहयोग के रूप में बहुत बडी सहायता दे रहा है। भारत अपने आप इनके जुए में जुडने के लिये बैलों के समान शिर नीचे कर देता है । अंग्रेजी अदालत का समन पाते ही भारत इनकी अदालत में जाकर खडा हो जाता है, मानो भारत इनका का जन्मदास हो और मानो भारत की माताओं ने इनसे किस्त लेकर अपने बच्चे पाले हों। भारत के कुविश्वास तथा भारत के अज्ञान ने भारत को इनके साथ मालिक और दासपन के सम्बन्ध में बांध रखा है। यदि भारत मनसे इस सम्बन्ध को तोड दे तो अंग्रेज भारत का कुछ नहीं कर सकते। तब अंग्रेजों को भारत सिंभालना असंभव हो जाय। भारत के इस अज्ञान के ऊपर ही अंग्रेजी राज्य टिका हुआ है। आज भारत को भारत और अंग्रेजों के बना-वटी सम्बन्ध को काट डालने वाले ज्ञान की आवश्यकता है । ज्ञान से ही अज्ञान का नाश होता है। जिस दिन भारतके भ्रम के बादल फटेंगे उस दिन भारत अंग्रेजों की अदालत से सम्बन्ध तोड लेगा और भारत में स्वराज्यसूर्य जगमगा रहा होगा। आज भारत को केवल यह सुझाने की आवश्यकता है कि अंग्रेजों को भारत पर शासन करने का अधिकार नहीं है, इसलिए किसी भारतवासी को इनकी कचहरी में जाकर इनके शासन में सहयोग न देना चाहिए।

भारत अपनी मानसिक निर्बलता से ही इनकी कचहरी रूपी दुकानों पर जाकर खडा हो जाता है। भारत का अज्ञान ही भारत को अंग्रेजी कच-हरियों में भेजता है। यदि भारत को अपने स्वा-भिमान तथा आत्मगौरव का ध्यान आजाय और अपने ३५ करोड कंठोंसे अंग्रेजी राज का कहना मानना अकर्तव्य समझकर बन्द कर दे तो भारत को पलभर में स्वराज्य प्राप्त हो सकता है।

परन्तु इस बात के लिए भारत को विपत्तियों को सहनेवाला कठोर बनकर यह घोषणा करनी पड़ेगी कि अंग्रेजी सरकार के क़ानून मानना भारत का कर्तव्य नहीं रहा।

इसके लिये यह करना होगा कि जब किसी स्वतंत्र मनुष्य को अपनी पशुशक्ति के बल बूतेपर अदालतों में बुलाया जाय, तब वहां जाना बन्द करना होगा। संपत्तिहरण से भी विचलित नहीं होना होगा। गिरफ्तारी ही एक ऐसा स्वाभिमान-पूर्ण मार्ग रह जाता है, जिसके द्वारा विदेशी कचहरी में जाने में राष्ट्र का स्वाभिमान सुरक्षित रह सकता है। राष्ट्र को यह निश्चय करना पड़ेगा कि अब भारत अपनी इच्छा या उनके बुलावे से अदालतों का मुंह नहीं देखेगा। स्वतंत्र भारत अपने किसी भी स्वाभिमानी अधिवासी को अदालतों में जाने की आज्ञा नहीं दे सकता। वह नहीं चाहता कि भारतीय आत्मा विदेशी अदालतों में जाकर अपमानित हो और वहां जाकर राष्ट्र भर का अपमान करावे।

अंग्रेजी सरकार के झूठे रोवदाब से ही भारत में उसकी आज्ञा पाली जा रही है। उस रोवदाब की बुनियाद केवल भारत की बेसमझी है। भारत को अपने मानसिक बल को जगाकर उसके इस अनीश्वरीय, अस्वाभाविक, अमनुष्योचित पाशविक अधिकार को कुचलना पड़ेगा।

भारत केवल अपने अज्ञान से घंटे भरमें राज्य-परिवर्तन कर सकनेवाले इतने भारी राष्ट्रबल से अपनी स्वतंत्रताका काम न लेकर उसी को अपने को पददलित करवानेमें लगा रहा है। वह अज्ञान में फंसकर ही अपनी पराधीनता में सहयोग दे रहा है और भ्रम के बादलों से बहका पड़ा है। जिस दिन भारत चेतेगा, उस दिन अंग्रेजों को स्वेच्छापूर्वक दी जानेवाली सहायता बन्द करना ही भारतीय स्वराज्य का प्रधान मोर्चा बनेगा। जिस दिन भारत युद्धार्थी होकर इस मोरचेपर आकर खड़ा हो गया, उस दिन भारत अजेय होगा। उस दिन भारत में अंग्रेजी शासन का अंत हो चुका होगा। जिस दिन भारत में इस प्रकार का मनोबल बढ़ेगा, उस दिन अंग्रेजों का अपनी विपुल सैन्यशक्ति का गर्व चूर चूर हो जायगा। वे गर्व करते रह जायंगे और विजयश्री भारत के गले में जयमाला डालकर अंग्रेजों और भारत के भूतकालिक सम्बन्ध को तोड़कर चली जायगी। परन्तु यह बात हम बार बार दोहराते चले जायगे कि वीरोचित बलिदानों से ही देश की नींद टूट सकेगी। वीरोचित बलिदानों के जीवित उदाहरण देश की संग्राम से पृथक् बैठने की मनोवृत्तिपर असह्य चोट पहुंचायेंगे और सारे भारत को युद्धक्षेत्र बना डालेंगे।

यदि भारत आज ऐसे पूर्ण असहयोग असंभव और मूर्खता समझता है, तो समझा करे। परन्तु भारत को जानना चाहिए कि सीधी अंगुलियों से घी नहीं निकलेगा। चाहे आज भारत इस उपाय को काम में न लाए, परन्तु उसे कम से कम यह बात जान तो लेनीही चाहिए कि जिस दिन भारत सच्चा स्वराज्य लेना चाहेगा, उस दिन उसे इसी संपूर्ण सम्बन्धविच्छेद के मार्ग को स्वीकार करना पड़ेगा।

सत्याग्रही का स्वाभाविक संग्राम।

अहिंसात्मक सत्याग्रहसंग्रामकी यह एक परम विशेषता है कि इसमें आक्रमक संग्रामकी आवश्यकता नहीं पड़ती। सत्याग्रही को संग्राम ढूंढना नहीं पड़ता। सत्याग्रही को तो समय समयपर होनेवाले अत्याचारी शासनों का विरोध करना पड़ता है। भारत को भी अपनी ओरसे अंग्रेजी सरकारसे संग्राम ढूंढने जाना नहीं पड़ेगा। भारत को अपनी ओरसे अंग्रेजी सरकार पर कभी आक्रमण करना नहीं पड़ेगा। उसे ईश्वरीय व्यवस्था से घर बैठे संग्राम आकर वर लेगा। पशुबल रखनेवाली अंग्रेजी सरकार घर बैठे भारतीयों की स्वतंत्रताको अपने टके को खरीदे हुए नरहत्यारे नौकरों के भरोसे पर हथकड़ी, बेड़ी तथा फांसीकी

रस्सी दिखाकर अपमानित करतीही रहती है। स्वतंत्र भारतवासियोंका यह कर्तव्य होगा कि वे अपने अपमानको भारतका अपमान मान कर और अपनेको भारतका प्रतिनिधि जानकर इन अपमानों को ही अपना युद्धक्षेत्र बना ले। अर्थात् इन्हें अपनी सत्यनिष्ठा के गौरव को संसारविदित कर डालनेका अवसर बना लें। जब अंग्रेजी सरकारकी ओरसे भारतीय मनुष्यतापर चोट की जाय, अर्थात् कोई सत्यविरुद्ध आज्ञा दी जाय, उस समय उसे अस्वीकार कर के उसका विरोध करें। अंग्रेजी सरकारकी भारतविरोधी आज्ञाओं को न मानें, यही भारत की ओरसे युद्ध का स्वरूप होगा। देशहितविरोधी आज्ञायें ही भारतीय युद्ध के मोर्चे बनेंगी! जब भारतमें इस ढंग के शान्ति-पूर्ण झगडों की संख्या बढेगी तब चुपचाप पडी हुई निर्बल जनतामें भी सत्य के प्रति भक्ति और बलिदानके लिये उत्साह आ जायगा। क्योंकि उन की आंखोंके सामने जीवित आदर्श आ जांयगे।

अपमानकारी घटनाओंके समय सच्चे मनुष्योंको यह सिद्ध करके दिखाना पडेगा कि हम भारत-वासी भी मनुष्य हैं। हमारे पास भी मनुष्योचित महत्त्वाकांक्षा हैं, हमें उत्पन्न करनेवाले ईश्वरने हमें भी जीवित रहने और सम्मानित जीवन बितानेका अधिकार देकर भेजा है। संसारकी कोई शक्ति अब जागे हुए भारतसे अपना हुकम पालन नहीं करा सकती।

विदेशी शासकों के बलप्रयोग के अवसरपर सत्याग्रही को उनसे कहना पडेगा कि चाहे तुम सिरपर डंडे बरसाओ, सिर तोड दो, बेहोश कर दो, फिर भी अब हम अपना स्वतंत्रता का अधिकार नहीं छोडेंगे। अब हम तुम्हारी कोई भी आज्ञा नहीं मानेंगे। तुम्हारी मार और बूटों की ठोंकरें हमारे लिये फूलों की बरषा है, हथकडी बेडी स्वाभिमानका गहना है, तुम्हारे कोडे स्वतंत्रता की छडी है। फांसी का तख्त मुक्ति का दरवाजा है। तुम जितनाही अधिक अत्याचार करोगे, उतनाही शीघ्र अपनी मौत बुलाओगे। तुम्हारी मार और हमारा सहन राष्ट्रमें वह शक्ति फूंक देगा, जो कि तुम्हारा यहां रहना असंभव बना डालेगी।

चाहे हमारे शरीर के कणकण कर दिये जांय, परन्तु हम किसी अनधिकारी की कोई आज्ञा नहीं मानेंगे। उस समय सच्चे भारतीयों को अपनी अदम्यता अनभिभवनीयता तथा अपने तेजोदृप्त व्यवहारोंसे अपने को मनुष्य सिद्ध करना पडेगा। अपनी अदम्यता तथा अनभिभवनीयता से अपने को मनुष्य सिद्ध करना ही असत्यसे लडना और उसको पराजित करना है। असत्यका विरोध ही असत्यकी पराजय है। बलप्रयोग करके भी देशकी आत्मा को न दबा सकनाही स्वतंत्रता या सत्यकी विजय है। जिस दिन भारत स्वराज्यकी सच्ची लडाई छेडेगा, उस दिन इस प्रकारकी घटनायें ही सत्य और अहिंसा के द्वारा भारतीय स्वराज्य के रणक्षेत्र बनेंगी।

जब इस प्रकार के लोग किसी अग्निपरीक्षाको उत्तीर्ण करेंगे, तब देशमें पवित्रता और सत्यके प्रति श्रद्धाके बादल मूसलाधार बरसने लगेंगे। तब आंखों देखे नवीन उदाहरणों से देशमें गरमी आ जायगी, ऐसे वीरोंका बलिदान देशकी आंखोंके सामने जीवन के रहस्यको खोलकर रख देगा। एक भी सच्ची अग्निपरीक्षा संसार भरको एक घर बना देनेवाले घण्टोंमें सारे संसारमें समाचार फैला देनेवाले रेल, तार और डाक के इस युगमें सारे देशमें साहस, सत्यनिष्ठा, वीरता और ज्ञान को फैला सकती है। जो काम एक बलिदान करेगा, वह लाखों लेक्चरोंसे भी नहीं होगा।

भारतीय स्वराज्यसंग्रामका मूल सिद्धान्त।

हमें अपने स्वराज्यसंग्रामके मूलभूत सिद्धान्त निश्चित कर लेने चाहिये, नहीं तो संग्राम अव्यव-स्थित और लक्ष्यहीन होकर रोकना पडेगा और भारतीय अपमानका कारण होगा। भारतको व्यक्ति-गत, बलिष्ठ अर्थात् अदम्य और अनभिभवनीय

मनोबल रखनेवाले वीरों को राष्ट्रजीवन का आधार बनाकर स्वराज्य का कार्यक्रम बनाना चाहिये। भारतीय स्वराज्यसंग्रामका सारा कार्यक्रम केवल मनोबलपर अवलम्बित होना चाहिये। रजिस्टरवाली लम्बी चौडी असंयत तथा भाग खडी होनेवाली फौजों का भरोसा तो भारत को छोडही देना चाहिये। हमारे स्वराज्यसंग्रामकी सेनामें पूर्ण साहसी, तथा विनाविजय पाये न लौटनेवाले और संग्राम-क्षेत्रको ही अपना घर बना लेनेवाले मनुष्यों की आवश्यकता हैं। लम्बी, चौडी, असंयत सेना हमारी समरयात्रा को बिगड डालेगी और हमारी हंसी उडवायेगी।

यदि भारत व्यक्तिगत बलिष्ठ जीवनोंके आधारसे अपने स्वराज्यका कार्यक्रम बनायेगा, तो भारतको निश्चित विजय मिलेगी। इस लिये भारतमें व्यक्तिगत धीरता, साहस, दृढता और मनुष्योचित गुण बढाने चाहिये। यदि भारतमें मनुष्योचित गुण नहीं रहेंगे, तो भारत अपने ३५ करोड पुत्रों की आंखों के सामने ही अपने दसों बेटों के साथ साथ बोझेमें रौंदी जानेवाली गधी के समान अपमानित जीवन बिताता रहेगा। ३५ करोड भारतवासी जो कि अधिक भी नहीं, तो ३५ करोड शत्रुओंके वशमें तो आनेही नहीं चाहिये थे, केवल अपनी मनुष्यता की महत्ताको भूलकर इतने भारी राष्ट्रबल से वंचित होकर पशुबल के सामने सिर झुकाकर अपमानित होकर बैठ गये हैं।

इस अपमानित जीवन का प्रतिकार करनेके लिये भारतको सिद्धान्तों के पक्के सत्यनिष्ठ मनुष्यों की शरण लेनी पडेगी। ऐसे लोगों की सहायतासे ही भारतका मोक्ष संभव है, अन्यथा नहीं।

स्वतंत्रता सेना से लेने की वस्तु नहीं है। स्वतंत्रता मन से ली जाती हैं। जो मनसे स्वतंत्रता ले चुकते हैं, वे ही शारीरिक स्वतंत्रता के लिये उद्योग कर सकते हैं। मनमें पराजय न माननेवाले अपराजित सत्यसेवी वीरही स्वतंत्रताके स्वाभाविक सैनिक होते हैं। वे स्वतंत्रताको अपने पास आने के लिये विवश कर देते हैं। व्यक्तिगत तेजस्वी उदाहरण ही राष्ट्रमें स्वतंत्रता लाते हैं। उनसे राष्ट्रमें चैतन्य आ जाता है। व्यक्तियोंकी पवित्रता तथा उनके ऊंचे आदर्शोंसे ही देशों को स्वतंत्रता प्राप्त होती है। व्यक्तिगत स्वतंत्रताही राष्ट्रीय स्वतंत्रता बन जाती है। वही राष्ट्रीय स्वतंत्रता की नींव है। व्यक्तिगत स्वतंत्रतासे भिन्न राष्ट्रीय स्वतंत्रता नामकी कोई स्वतंत्रता नहीं है। व्यक्ति स्वतंत्र न हों और राष्ट्रको स्वतंत्रता मिल जाय, यह किसी प्रकार भी संभव नहीं है। व्यक्तिगत स्वतंत्रताही सच्ची स्वतंत्रता है। भारत में स्वतंत्रताके इसी सिद्धान्त को फैलाने की आवश्यकता हैं। यदि भारतवासी लोग व्यक्तिगत सच्ची स्वाधीनता को बुनियाद बनाकर उसी पर अपने राष्ट्रकी स्वाधीनता की नींव धरेंगे और इसी को सर्वत्र फैलायेंगे, तो स्वतंत्रता भारतको अपना घर बना लेगी। एक एक मनुष्य पृथक् पृथक्ही स्वतंत्रताकी रक्षा कर सकता है।

जिस प्रकार परतंत्रता मन की वस्तु है, इसी प्रकार स्वतंत्रता मन की वस्तु है। मन सब का पृथक् पृथक् होता है। इसलिये संपूर्ण राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य के अर्थात् राष्ट्र के बहुमतके स्वतंत्र मनवाला होनेपर राष्ट्रीय स्वतंत्रता का जन्म होता है। मूलमें एक एक मनुष्यही स्वतंत्रता के जन्मदाता होते हैं। उन एक एक स्वतंत्र मनुष्यों के उदाहरणों से स्वतंत्रताकी भावना संक्रामक रोगों के समान देशभर में फैल जाती है। स्वतंत्र मनुष्यों के असत्यविजयी ऊँचे उदाहरणोंकी बढतीसे सारे देशमें मानसिक स्वतंत्रता के अजेय होनेका समाचार फैल जाता है। नौकरी पानेवाले हत्यारे सैनिकों की सेनायें तो युद्धक्षेत्रोंसे अनन्तवार हार हार कर लौटी हैं; परन्तु ऐसे अकेले अकेले सत्यसेवी स्वतंत्र मनुष्योंने आज तक एक भी रणक्षेत्र नहीं हारा। विजय सदा इन अकेले वीरों की चेली रही है।

मनुष्य अपने हार्दिक विश्वास तथा अपनी सत्य निष्ठासे ही मनुष्य बनता है। नहीं तो वह पशु रहता है। इसलिये मनुष्य को सत्यपर डटने और असत्य को अपने मनोबलसे पददलित करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। जो घटघटवासी सत्यनारायण मनुष्य के भीतर बैठा हुआ है, यदि मनुष्य उसे अपने जीवनमें व्यवहृत होनेका अवसर दे, तो वह उसके संपूर्ण जीवन को उज्ज्वल, पवित्र तथा अनभिभवनीय बना देता है। वह मनुष्य प्रत्येक कार्य को नियमित ढंगमें ला देता है। वह मनुष्यको पथभ्रष्ट होने के समय सावधान कर देता है और अंगुलि पकडकर सत्यका मार्ग दिखाता है। वह कर्तव्य-अकर्तव्य या सत्य-असत्य के प्रत्येक दुराहे पर मनुष्य को अपनी सावधानवाणी सुना देता है। वह उसके हृदय में उत्साह की अग्नि सुलगा देता है। वह उसकी बुद्धि को स्थिर करता है, तथा जीवनरूपी रथको गन्तव्यस्थान की दिशा बताता रहता है। वह मनुष्य को विश्वासी बनाता है।

विश्वाससे ही सत्य मिलता है। शंका से नहीं मिलता। विश्वास सत्य से मिलानेवाला अचूक मित्र है। विश्वास सत्यको मिलाने में जादू का काम करता है। विश्वास मनुष्यको समझाता है कि, भगवानने तुझे पवित्रता, शुद्धता, स्वतंत्रता और अदम्यता देकर उत्पन्न किया है। उसने मनुष्यको पापी दुखी पराधीन और पददलित बनाकर उत्पन्न नहीं किया। सत्य के लिये चाह तथा प्रेम उत्पन्न करना विश्वासका ही काम है। विश्वास दुखिया दिलका दरद मिटाकर उसके आंसू पूछ देता है। विश्वास-असफलको सफलता का ऐसा मार्ग दिखाता है, जो अपनी ही मुट्ठी में बन्द रहता है। विश्वास प्रत्येक प्राणी में एक ऐसी शक्ति है, जो कष्टके समय किसी न किसी रूपमें उसे दर्शन देती है। विश्वासही ईश्वर है। जो चलते चलते गिर जाता है या जो अपने शत्रुसे हार मानकर बैठा रहता है, विश्वास उसका हाथ पकडकर सहारा देता है और कहता है कि, चलो तुम चल सकते हो। चलो तुम शत्रुको अनायास जीत सकते हो। विश्वास कहता है कि तुम्हारी शक्ति की सीमा नहीं है। तुम अपनी शक्तिकी बनावटी सीमा देखकर घबरा गये हो। विश्वास मनुष्य के छोटे छोटे कार्यों में महत्त्व उत्पन्न कर देता है और कानमें कहता है, कि तुम छोटे नहीं हो, तुम महान् हो। तुम्हारा छोटा काम भी उसी बडी शक्ति का एक भाग है। तुम्हारे जीवनमें किसी वस्तु की कमी नहीं है। तुम्हारा जीवन पूर्ण है। विश्वास रखो कि ईश्वरकी अनन्त शक्तिका अखण्ड भंडार प्रत्येक समय तुम्हारी प्रत्येक सच्ची आवश्यकता पूरी करने को उद्यत है। तुम गरीब, दास और पददलित नहीं हो। तुमने अपने परमात्मा की ओर से आंख फेरकर अपने मनमें गरीबी, दासता और पराधीनता का ध्यान बसा लिया है। आंख खोलकर देखो कि तुम्हारे पास सत्यरूपी सब से बडा खजाना विद्यमान है। तुम अपने को धनी और स्वतंत्र समझ लो। तुम अपने व्यवहारसे संसार को वास्तविक सत्य के खजाने का पता दो। मनुष्यके हृदयमें जागा हुआ सत्य ही इस सृष्टिकी सच्ची शोभा है।

मनुष्यको बाहर की सहायतासे या बाहरसे बल प्राप्त करने के धोके में नहीं रहना चाहिये। उसे अपने आत्मा की महत्ता को पहचानकर बल के अनन्त भंडारपर अधिकार जमा लेना चाहिये। जब मनुष्य अपने आत्माको पहचानेगा तब देखेगा कि आत्मा की ओरसे बल का समुद्र उमडा आ रहा है। उस समय मनुष्य समझेगा कि मेरी शक्ति को भ्रमके बादलोंने ढक रखा था। मनुष्य का सत्यदर्शन इन भ्रम के बादलों को फाड डालेगा और बल की ज्योति जगमगा देगा। सत्य ऐसी वस्तु है, जो अकेले निहत्थे मनुष्यको भी संसारकी प्रबलतम पशुशक्ति के विरोध में निःशंक भाव से खडा कर देता है। जब तक मनुष्य नास्तिक रहता है, तब तक निर्बल रहता है। तबतक उसके जीवन में तेज नहीं होता। वह निष्फल रहता है। जब मनुष्य आस्तिक हो जाता है, तब सत्य

सिद्धान्तों पर अडनेवाला विजयी बन जाता है। सिद्धान्तोंपर डटनेवालों का जीवन धन्य हो जाता है। स्वतंत्रता की पुकार और शत्रु की ललकार ये दोनों मनुष्य को अपनी अपनी ओर खींचती हैं। जो मनुष्य शत्रु के फंदेको काटकर अपने को स्वतंत्रता देवीपर भेंट चढा देता है, उसका जीवन धन्य हो जाता है। जो मनुष्य सत्यपर श्रद्धा करता है और उसकी रक्षा के लिये लडता है, वह अपने संग्रामप्रिय जीवन के आदर्श से आलसी भाग्य-भरोसे जनतामें आग फूंक देता है। जब देशमें सत्य के लिये कहीं युद्ध ठनता है तब सारी जनता का ध्यान उसी ओर आकृष्ट हो जाता है। जनता में से पवित्र हृदयोंवाले लोग उस वीरकी सत्य-सेवा की नीराजना या उसके सिद्धान्तों की रक्षा करने के लिये आगे आने लगते हैं। यों सत्य-नारायण अपनीही शक्ति से देशव्यापी हो जाता है। सत्यपर अड जानेवाला एक भी मनुष्य लाखों सेनाओंसे अधिक देशसेवा कर जाता है। वह सत्यरक्षा के नामपर अपनी अन्तिम चेतना तक दारुण से दारुण विपत्तिका सामना करने के लिये एक ही क्षण में उद्यत हो जाता है।

वह भयंकर से भयंकर शत्रुके गर्जन, तर्जन, वर्षण तथा अशनिसंपात से नहीं घबराता। वह अपनी सत्यनिष्ठारूपी सूर्य को भय तथा निराशाके बादलोंमें नहीं छिपने देता। वह सत्यकी कडीसे कडी पुकार के सामने अपना सर्वस्व को धूलमें मिलाकर सत्य के साथ हो लेता है। उसे संख्याबल बढानेकी चिन्ता कभी नहीं सताती। वह अपने को अकेला देखकर या अपने साथियों की न्यून संख्या देखकर धीरज नहीं खो बैठता। वह जानता है कि पूर्णविश्वासी, अदम्य साहसी एक भी मनुष्य या ऐसे मनुष्यों की छोटी से छोटी संख्या स्वतंत्रता की चिनगारी बन जाती है। उसे विश्वास रहता है कि धीरे धीरे सारा देश इस चिनगारीको ईंधन देनेवाला बन जायगा। केवल अपने सत्यसिद्धान्तों का पूर्ण भक्त होने की आवश्यकता है। सत्यभक्त मनुष्य चाहे जितना कष्ट पानेपर भी यहां तक कि प्राण हरे जाने के समय भी दास तथा कायर के जीवन को नहीं अपनाता। वह स्वजनोंके मोह या धनसंपत्ति के हरण से अपनी टेक नहीं छोडता। उसे स्वजनों के स्नेह पर या संपत्ति पर चोट पहुंचाकर पतन या दासता की ओर नहीं घसीटा जा सकता। ऐसा मनुष्य यदि कर्तव्यपालनसे परिवारपर आपत्ति आने की संभावना देखता है, तो भी उसे कर्तव्य छोडनेकी इच्छा नहीं होती। स्वातन्त्र्य-संग्राममें सम्मिलित होनेवाला वीर स्वयंसेवक स्वजनमोह अर्थात् अपने आश्रित कुटुम्बकी तथा संपत्तिकी चिन्ता छोडकर सेवकधर्म को अपनाता है। उसे इस सचाई के दर्शन हो चुकते हैं कि तुम्हारे कुटुम्बको तुम नहीं पाल रहे हो। किन्तु तुम्हारा समाज पाल रहा है। अकस्मात घटना-ओंसे मर जानेवालों के आश्रितों को अन्तमें समाज के ही ऊपर निर्भर रहना पडता है। जो समाज हमारे मरने के अनन्तर हमारे परिवार का भार ढोता है, वही इस परिवार का सच्चा पोषक है। हमारा पोषकपना मिथ्या अभिमान है। हमारी समझी हुई संपत्ति भी हमारी नहीं है, यह भी समाज की है। अगर हमारी संपत्ति सत्यकी सेवा के नेता छीन भी ली जायगी, तो भी उस संपत्तिका अन्तिम मालिक हमारा समाजही रहेगा, जिसकी हम सेवा कर रहे हैं। स्वयंसेवक इन सब विचारों से निर्द्वन्द्व भावमें रहकर असत्यका विरोध करता है। वह अपने सच्चा मनुष्य कहलाने के अधिकार को मौत, विपत्ति तथा यातनाओं के मूल्यसे भी खरीदने को उद्यत रहता है। स्वतंत्रता के सैनिकों को चाहे जितना तंग किया जा सकता है, देश निकाला जेल और फांसी तक दी जा सकती है, परन्तु उनके हृदयमें धधकनेवाली स्वतं-त्रता की आगको ठण्डा नहीं किया जा सकता।

देशमें स्वतंत्रताकी आग फूंकने के लिये ऐसे ही मनुष्य आगे आने चाहिये, जो जगह जगह अकेले अकेले सिद्धान्तोंपर अड अडकर अपना

अन्तिम गरमी तक असत्यसे लड सकते हों। इतिहास इस बातकी दुहाई दे रहा है कि सारे संसार का सम्मिलित राक्षसी बल एक भी सत्यनिष्ठ के हृदय को नहीं जीत सका। पशुशक्तिपर भरोसा रखनेवाला मूढ संसार पछताताही रह जाता है कि हाय! मेरी सब सेना बेकार चली गयी। देशके शरीरोंपर ही हथियार चलाया जा सकता है। देशके मनोबलपर हथियार चलाना असंभव है। वस्तुतः मनोबल अजेय होता है। वहां हथियार आग, पानी या फांसी की पहुंच मनोबल से शरीरबलको पदपदपर बुरी तरह अपमानित होना पडता है। विश्वामित्र का सैन्यबल वशिष्ठजी के तपोबल से सैकडों वार पराजित हुआ था।

युद्ध का लक्ष्य।

भारत को कर्तव्यबुद्धिसे ही अंग्रेजी सरकारसे युद्ध ठानना चाहिये। भारत को अपने मनमें से भौतिक राज्य पाने के लिये युद्ध करने के विचार को निकाल ही देना चाहिये। क्योंकि फिर तो भौतिक राज्य का लोभ ही भारत को युद्ध नहीं ठानने देगा या युद्धक्षेत्रसे भगाकर ले जायगा और भारतविरोधियों को अनायास विजयोत्सव मनवा देगा। यदि भौतिक राज्यसुखको भारतीय स्वातन्त्र्यसंग्राम का लक्ष्य बना लिया गया, तो अंग्रेजी संगीनों के सामने उनके डरसे जोकि २०० वर्षों से इसी काम के लिये पैनायी गयी हैं, भारत अपना राज्यलोभ छोडकर दासता का टुकडा खानेमें ही अपना कल्याण देखेगा। जो लोभ से लडेगा, वह लोभसे ही लडना छोड देगा और निश्चित रूपमें हारेगा। जो लोभ से लडेगा, उसे भौतिक हानियां चोट न पहुंचने का लोभ क्यों नहीं होगा? जब सुखलोभ, राज्यलोभ को छुडा कर छोडेगा, उस समय विगत सत्याग्रहसंग्राम के समान भारतीय स्वराज्य का संग्रामक्षेत्र सूना हो जायगा और सरकार को मुफ्तमें विजय मिल जायगी। इसी से हम कहते हैं कि भारतीय स्वराज्य का युद्ध केवल कर्तव्यबुद्धि रखनेवाले योद्धाओं के हाथों से छेडा जाना चाहिये। लोभवादियोंके हाथोंसे नहीं। स्वाभिमानके सामने त्रिलोकी के राज्यको भी ठोकरों से ठुकरा देनेवाले योद्धाही भारतीय स्वराज्यको भारतमें आनेके लिये विवश कर सकेंगे। राज्यलोभी राज्यको भी खोदेंगे और स्वाभिमान को भी फेंककर हताश होकर युद्धक्षेत्रसे लौट जायेंगे। राज्य पाने के लिये जिस अदम्य वीरता की आवश्यकता पडेगी, वह अदम्य वीरता राज्यलोभी कहां से लायेंगे? राज्यलोभियों का स्वराज्य व्यावहारिक यथार्थ स्वराज्य न होकर बातों लम्बे लम्बे प्रस्तावों तथा शासन में कुछ थोडे बहुत सुधारों तक अर्थात् दासताको मीठी दासता बनाने तक सीमित रहेगा।

भारतीय स्वराज्यसंग्राम छिडतेही सबसे पहले भारतीयों के मन की स्वातंत्र्याभिलाषा के खरे-खोटेपन की परीक्षा के लिये भारतीयों के लोभपर अर्थात् उनकी व्यक्तिगत संपत्तियों पर चोट पहुंचायी जायगी। शासक लोग देशवासियों के व्यक्तिगत संपत्तियोंके लोभ के कान पकडकर ही उनके मनको डराकर उनपर अपना शासन या प्रभाव जमाते हैं। संपत्तिनाशका दबाव डालकर देशकी कर्तव्यबुद्धि या स्वाभिमान को कुचला जाता है। यदि किसी देशवासियों के मनमें व्यक्तिगत संपत्तियों का मोह न रहे और स्वाभिमान या मनुष्यताही सारे देशकी व्यक्तिगत संपत्ति बन चुकी हो, तो देशमें से देश पर दबाव डालने का आधार भाग जाय और अनधिकारियों का शासन अपने आप समाप्त हो जाय। यदि देशमें ऐसी निर्मोहावस्था बुला दी जाय, तो विदेशी शासनरूपी असत्य सत्यकी मौत मर जाय और सत्य को गौरव देकर चला जाय।

कर्तव्यपालनमें सदा हानि उठानी पडती है। हानि उठानेको उद्यत रहकर ही कर्तव्यपालन किया जा सकता है। जो हानि उठाने को उद्यत नहीं होता, वह कर्तव्यपालन से मुंह मोड लेता है। स्वराज्य के सुखसंपत्ति नाश तथा स्वजनवियोग

इन दो डरोंको लेकर आया करते हैं। वे आकर देशकी सुखबुद्धि अर्थात् आरामतलबी पर चोट करते हैं। स्वाभिमानहीन भोगोंका दास भारतीय समाज डरसे घबराकर कर्तव्यपालन से बचना चाह रहा है। भोगासक्त लोगों का मन कर्तव्य-पालनमें नहीं लगता। भारत स्वराज्य के नामपर व्याख्यान कहसुनकर ही इस कर्तव्यको पूरा करने का मिथ्या संतोष भोगनेमें मस्त हो रहा है। कारण यह हो रहा है कि इस संबन्ध में देशको यह सबसे प्रधान धोका दिया जा रहा है कि, हम देशकी आय तथा आरामके साधन बढाने के लिये स्वराज्य लेना चाहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो भारत अपने हाथ की संपत्ति के मोहमें फंसने के कारण ही पराधीनता के धोके में फंसा पडा है, उसी भारत को अप्राप्त संपत्तिका अबसे कई गुना लोभ देकर पराधीनता तोडने के लिये गरमाना चाहा जाता है। अरे, जिस लोभने पराधीनता का अभिशाप पैदा किया है, वही लोभ पराधीनता को हटाकर स्वराज्य जनेगा, ऐसी आशा करना स्वाधीनता के स्वरूप को न समझना है।

परन्तु आज देश यह नहीं समझ रहा है। वह कर्तव्यबुद्धि से स्वराज्य लेनेके दिव्य तत्त्वको भूलकर सो रहा है और स्वराज्य का बांझ स्वप्न देख रहा है। सारे देशको प्लेटफार्मों से चिंघाड चिंघाडकर यह समझाया गया है कि देशकी संपत्ति देशमें रोक रखनेके लिये स्वराज्यकी आवश्यकता आ गयी है। स्वतंत्रताका यह निदान ठीक नहीं है। इन सब बातों से सारे देशको संपत्ति बढानाही स्वराज्यका अन्तिम ध्येय दीखने लगा है। हमारे बहुतसे नेता स्वराज्य के इस मर्म को समझने के अयोग्य हो गये हैं कि स्वराज्यसंग्राम सदा स्वाभिमान के आह्वानपर ठाने जाते हैं और ये स्वाभिमान के लिये होनेपरही सफल होते हैं। मनुष्य अपने ध्येय (लक्ष्य) की ही सेवा करता है। वह इससे आगे जाना नहीं चाहता। देशके

वर्तमान व्याख्यानदाताओंने आर्थिक आयकोही भारतका स्वराज्य घोषित करके प्रकारान्तर से देशको आयविनाशक युद्ध में पडनेसे बचनेके लिये उत्साहित किया है। अब देश अपने आय-रूपी लक्ष्यसे बाहर जाना नहीं चाहता। वह अपनी आयपर चोट आने देना सहन नहीं करता। परन्तु जो युद्ध शुद्ध स्वाभिमानके लिये ठाने जाते हैं, जिनमें आय बढाने का नाम भी नहीं लिया जा सकता, उनमें निराशा कभी नहीं होती। उन्हें कभी स्थगित नहीं करना पडता। वे तो मनुष्यों के प्राणों के साथ ही समाप्त होते हैं। संसार के बडे से बडे दबाव इन युद्धों को नहीं रोक सकते।

इसी लिये हमारा कहना है कि देशको केवल कर्तव्यबुद्धिसे युद्धघोषणा करनी चाहिये। किसी को भी झूठा लालच देकर अपने पास बुलाने (अपने झुंडमें मिलाने) का प्रयत्न न होना चाहिये। झुंड बढानेका विचार सर्वथा छोड देना चाहिये। यह बडी विचारहीन बात है कि लाभ-लाभ का नाम लेकर, 'चढ जा राम भला करेगा' कहकर वृथा ही देशको बलिका बकरा बनवाकर अपमानित कराया जाता है। इससे भारतीय स्वराज्य का अपमान तथा हास्य होता है और इससे भारतीय मस्तिष्क का खोखलापन भी प्रकट होता है। जिस देशमें ३५ करोड मस्तिष्क अपना अपना हानिलाभ सोचकर अपना अपना जीवन बिता रहे हों, उसमें सामाजिक सर्वहितकारी हानि-लाभ का सच्चा मार्ग सोचनेवाले चिन्ताशील मस्तिष्कोंका न होना बडे भारी दुःख की बात है।

व्यक्तिगत जीवन की सुखसुविधा का मोहही देशकी पराधीनता का कारण बना हुआ है। यही भारतीय पराधीनता का निदान (मूल कारण) है। भारतके स्वराज्यचिकित्सक इस निदान को पहचानेंगे और इसे दूर करेंगे, यह आशा की जाती है। जो मोह भारतीय पराधीनता का कारण बना हुआ है, यदि उसी मोहसे सामाजिक लूट बन्द करानी चाही जायगी, तो समाज पतित, कायर,

दास और घूसखोर ही बना रहेगा। वह स्वराज्य का नाम तक लेना छोड देगा।

जब यह सचाई देशको भले प्रकार समझा दी जायगी कि, राज्यसुखके लिये स्वराज्ययुद्ध नहीं लडे जाते, तब देशके मनमें से स्वराज्यसंग्राम से हटनेकी अवस्था नष्ट हो जायगी, तथा उसमें अन्तिम चेतना तक डटनेकी अवस्था आ जायगी। तब उसे युद्धरूपी कर्तव्यमें हिंसा दीखना भी बन्द हो जायगा। जब मनुष्य अपनी पवित्र कर्तव्यबुद्धि को ही अपना आराध्य देव बना लेता है, तब वह लोभ आदिसे मुक्त होकर, कर्तव्यबुद्धिसे, जब जो कुछ करेगा, चाहे वह युद्धक्षेत्रकी संहारलीलाही क्यों न हो, वही उसका अहिंसारूपी परम धर्म का पालन करना हो जायगा। आज देश इसी महासत्यको न समझकर निर्वीर्य सिद्धान्तवादों में उलझ रहा है। वह केवल निरस्त्र होकर मार और अपमान सहनेमात्र में अपने को अहिंसक समझ बैठा है। मार खाना और अपमान सहना अहिंसा का रूप नहीं है। यह तो स्पष्ट हिंसा है। हम जो वर्तमान में अंग्रेजों की मार को चुपचाप पीना अहिंसा का रूप कहते हैं, वह तो इस कारण से कहते हैं कि, आज भारत अपने मानसिक अपराधकी मानसिक चिकित्सा करने में लगा हुआ है। भारतने मानसिक अपराध करके अंग्रेजों को भारतीयों को पीटने का अधिकार दे दिया है। हमें उनसे यह अधिकार छीनना है। परन्तु उन्हें किसी अकेले ने यह अधिकार नहीं दिया है। संपूर्ण राष्ट्रने अपनी भूलसे उन्हें यह अधिकार दिया है। अंग्रेजों की मार को राष्ट्रकी भूल का परिणाम मानकर उस भूलको राष्ट्रके ही द्वारा वापिस लेने का उद्योग करना इस मार का उचित बदला लेना है। जब राष्ट्र का मन जाग चुकेगा, तब यह अंग्रेजी मार अपनी मौत मर जायगी। इसी कारण भारतराष्ट्र को शरीरबल या वाग्बल न दिखाकर केवल मानसिक बल दिखानेकी सम्मति दी जाती है। उदाहरण के रूपमें यदि प्रह्लाद अपने पिता से हाथापाई कर बैठा होता, तो इसका मनोबल प्रकट होनेसे रह जाता। राष्ट्र का संपूर्ण मनोबल जगानेके लिये आज अंग्रेजों के पशुबल को पशुबलसे न हटाना और उसे मनोबलकी मार से मार डालना भारतीय कर्तव्य हो गया है। इसीलिये आज की परिस्थितिमें भारत के मार खानेको अहिंसा का रूप मिला है। यदि रात्रिमें चोर डाकू किसी अहिंसकके घरमें घुस आयें, तो उसे अचिन्तित भाव से डण्डे लाठी, बल्लम पिस्तल और बन्दूकसे मारकर ही अपना अहिंसाधर्म पालना होगा। अर्थात् भारतने शस्त्रप्रयोगका अधिकार नहीं छोडा है। वर्तमानमें भारतका मार खाना तो युद्धकी एक विशेष नीति के रूपमें अपनाया गया है। मार खाने में अहिंसा सीमित नहीं है। कभी कभी मारना भी अहिंसा का रूप हो सकता है।

भारत को केवल स्वतंत्रता के लिये अर्थात् भारतीय आत्माको ऊंचा उठाने के लिये स्वराज्यसंग्राम छेडना चाहिये। सांसारिक लाभ या सुखों की आशासे स्वराज्य का नाम लेना बडी असंबद्ध बात होगी। भौतिक सुखों की चाह स्वराज्य लेनेकी अयोग्यता है। स्वराज्य चाहनेवालों को भौतिक सुखों को लात मारनी पडती है। सुखाभिलाषियों का स्वराज्य ले सकना असंभव घटना है। सुखाभिलाषियों के भाग्यमें मैदान छोडकर भागना ही लिखा है। कर्तव्य का ऊंचा दृष्टिकोण आर्थिक लाभसे सर्वथा भिन्न होता है। कर्तव्य के ऊंचे दृष्टिकोण को पूरा करने के लिये मनुष्य को आर्थिक लाभ छोडनाही पडता है। आर्थिक लाभ के लोभी कभी वीरता नहीं दिखा सकते, जिसकी कि कर्तव्यपालनमें अनिवार्य आवश्यकता पडती है। जिस प्रकार कोई रोगी स्वस्थ देह पाने के लालचमें आत्महत्या नहीं करता, इसी प्रकार मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह एक लाभ के लिये दूसरे लाभ को नहीं छोडता। पागलों की बात छोड दीजिये। वे कभी कभी ऐसा कर लेते हैं। (क्रमशः)

मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।

सुख और शांति का साधन ।

[लेखक- श्री० पं० विद्याभास्कर कपिलदेवशास्त्री, सोलापूर]

इस संसार में समस्त मानव-समाज केवल यही हार्दिक अभिलाषा रखता है कि यह जीवन सुखशांतिमय हो। मनुष्य यथाशक्ति इस के लिए प्रयत्न भी करते हैं, कोई धन से सुख-प्राप्ति समझता है, कोई सांसारिक विषय-वासनाओं को सुखशांति का साधन समझते हैं, परन्तु जब कि इनके द्वारा वास्तविक सुख प्राप्त नहीं होता, तब मनुष्य इनको घृणाकी दृष्टि से देखने लगता है, तथा परमात्मा से शुद्ध सरल हृदय से शान्ति की प्रार्थना करता है। इस समय हृदय से ध्वनि आती है कि वेद परमात्मा का ज्ञान है। इस ज्ञान से ही आत्मज्ञान के पिपासुओं की पिपासा शान्त होती है। सुख,शान्ति की शुभ सरिता का समुद्गम इसी ज्ञानंजलनिधि से हुआ है। अतः हमारा ध्यान सर्वप्रथम उस भगवद्वाणी की ओर जाता है। सुख और शांति का सच्चा साधन वेद-विहित कर्मों का विधान ही है। वेद आदेश देता है—

> नकि देवा इनीमसि नक्यायोपयामसि ।
> मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ॥
>
> (साम० अ० २, ख० ७, मं० २)

अर्थात्- (देवाः) हम दिव्यगुणयुक्त उपासक जन (नकि, इनीमसि) किसी की हिंसा न करें, (नकि, आयोपयामसि) किसी को अज्ञानयुक्त न करें, तथा (मंत्रश्रुत्यम्) वेद-विहित कर्मों को (चरामसि) अनुष्ठान करें।

यह मन्त्र अत्यधिक भावपूर्ण तथा स्पष्ट है। इस मंत्र में दो तीन बातों की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया गया है—

(१) अहिंसा, (२) अज्ञान-विनाश, (३) वेद-विहित कर्मों का विधान।

(१) हम किसी प्रकार से मन, वचन, कर्म से किसी की हिंसा न करें, कभी किसी का अशुभ न चाहें। हमारा हृदय उदार हो, समस्त संसार को स्नेह-पूर्ण दृष्टि से देखें, संसार हमको प्रेमपूर्ण तथा उदार भावों से देखें। उस समय हम वेद के उस आदर्श को सम्मुख रख सकते हैं कि—

> दृते दृᳬह मा। मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ (यजु० ३६।१८)

अर्थात्- हे अज्ञानविनाशक भगवन्! संसार मुझको मित्र की दृष्टि से देखे, मैं समस्त प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं तथा हम सब परस्पर मित्र की ही दृष्टि से देखें।

यह अलौकिक आदर्श उस समय संसार के सम्मुख रक्खा जा सकता है, जब कि हम मन, वचन, कर्म से सर्वथा अहिंसा के उपासक हों। यह वेद का 'अहिंसा' अर्थ बहुत सूत्ररूप से है, इसका अभिप्राय अतिविस्तृत तथा सारयुक्त है। प्राचीन समय में जब कि अरण्यों की रम्य स्थली में ऋषि, मुनि इस अहिंसाव्रत का पालन करते थे, वहाँ का वातावरण शुद्ध, निर्मल तथा अहिंसामय होता था। अतः हिंसक जन्तु भी उसी अहिंसा के प्रताप से हिंसावृत्ति छोडकर मृगों के साथ निवास करते थे, बालक सिंहों के साथ प्रेमपूर्वक खेलते थे। यह आदर्श था जिसको कि वेद हमें बतलाता है। क्योंकि—

> अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम्।
> उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

अर्थात यह मेरा है, यह पराया है, इस प्रकार की गणना तुच्छबुद्धिवाले मनुष्य करते हैं। महान् आत्माओं

का तो संसार ही कुटुम्ब है। अतः हम किसीको पराया न समझे। तथा—

आत्मौपम्येन भूतेषु, दयां कुर्वन्ति साधवः।
आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पण्डितः॥

अर्थात् विद्वज्जन अपने सदृश दूसरे पर भी दया-दृष्टि रखते हैं, तथा किसीको किसी प्रकार का कष्ट नहीं देते। यही वेद का आदर्श है।

(२) जिसका वेद आदेश देता है, वह है अज्ञान का विनाश तथा ज्ञानका प्रकाश करना। अज्ञान-निवारण के विना मनुष्य कभी सुख शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव अविद्या को क्लेश कहा गया है।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः।
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥

अर्थात्- अनित्य में नित्य बुद्धि, अपवित्र में पवित्र बुद्धि, दुःख में सुखप्रतीति तथा अनात्मा में आत्म-ज्ञान यह अविद्या है। जबतक अविद्या का नाश नहीं किया जाता, तबतक मनुष्य वास्तविक सुख को नहीं जान सकते। अत एव संसार को ज्ञानयुक्त करने का यह आदेश भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह विषय अत्यधिक स्पष्ट है, विशेष लिखने की अपेक्षा नहीं रखता।

(३) वेद आदेश देता है कि यदि सुख, शान्ति चाहते हो तो वेदानुकूल आचरण करो। वेद उस परमेश्वर की वाणी है। इसके द्वारा कभी भी मनुष्य अविद्या-जाल में नहीं आसकता। इस अज्ञानावृत भव-वारिधि का वेद मार्गप्रदर्शक प्रकाश-स्तूप है। अत एव ज्ञान-ज्योति, जीवन-जागृति तथा सुख, शान्ति के इच्छुकों को वेदानुकूल मार्ग पर चलना चाहिए। यही आदेश दूसरा मन्त्र देता है—

संश्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन विराधिषि।
(अथर्व १।१।४)

अर्थात्- हम वेदानुकूल चलें, वेद-विरुद्ध मार्गपर न जाएं। मनुष्य को सुख-शान्ति चाहिए, वह सुख-शान्ति वेद से अतिरिक्त नहीं मिल सकती। अत एव वेद-विहित मार्ग का अनुसरण करो। वेद स्वयं कहता है—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ (अथर्व० १९।७१।१)

अर्थात्- वेदमाता द्विजों को पवित्र करने वाली है, उसके विहित मार्ग का अनुसरण करने पर मनुष्य आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन तथा दिव्य तेज को प्राप्त होता है। अतः सुख, शान्ति के लिए वेद-विहित मार्गपर चलना चाहिए।

वेद-विहित कर्मों में ईश्वरोपासना तथा यज्ञ का स्थान मुख्य है। वेद आदेश देता है कि मनुष्य को सर्वदा यज्ञ करना चाहिए। यज्ञ से सुख तथा शान्ति प्राप्त होती है-

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व। महिमा तेऽन्येन न सन्नशे॥
(यजु० २३।१५)

अर्थात्- हे (वाजिन्) ज्ञान तथा बल के अभिलाषी जन तू (स्वयम्) अपने आप (कल्पयस्व) समर्थ हो (स्वयम्) अपने आप (यजस्व) यज्ञ कर (स्वयम्) अपने आप (जुषस्व) विद्वानों की सेवा कर। (ते) तेरी (महिमा) यश, प्रतिष्ठा (अन्येन न सन्नशे) अन्य के द्वारा नष्ट न हो।

इस मन्त्र में परमेश्वर स्पष्ट आदेश देता है कि मनुष्य को स्वावलम्बी होना चाहिए। नित्य प्रति यज्ञ करना चाहिए; विद्वानों की सेवा, शुश्रूषा करनी चाहिए। इससे मनुष्य का ज्ञान तथा बल बढता है। उसके यश को कोई नष्ट नहीं कर सकता।

यज्ञ के द्वारा मनुष्य सब प्रकार की सुख-शान्ति को प्राप्त कर सकता है। यज्ञ ही हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करता है। वेद कहता है कि—

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पताम्॥ (यजु० १८।२९)

अर्थात्– यज्ञ के द्वारा हम आयु प्राण चक्षु श्रोत्र वाणी मन आत्मा आदि से युक्त हों। यज्ञ से मानसिक पवित्रता सर्वदा प्राप्त हो। मन के पवित्र होनेपर मनुष्य सुख-शान्ति को प्राप्त करता है।

यज्ञ से ही वृष्टि होती है, वृष्टि से धन-धान्य की प्राप्ति होती है। इसी पर मनुष्य की जीविका निर्भर है। वेद कहता है—

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि ।
(साम० अ० २, खं० १, मं० ७)

अर्थ– (दिवि) आकाश में (ओपशम्) विस्तार (चक्राणः) करता हुआ (यज्ञः) यज्ञ (यद्) जो (इन्द्रम्) वृष्टिकर्ता को (अवर्धयत्) बढाता है, वही (भूमिम्) पृथिवी को (व्यवर्तयत्) धान्यादि से युक्त करता है।

प्रतिदिन प्रातः तथा सायङ्काल अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए, इससे मानसिक दोष दूर होते हैं, वायु पवित्र होती है, तथा वायु के स्वच्छ होने से मनुष्य को स्वास्थ्यलाभ होता है, शरीर परिपुष्ट होता है। वेद आदेश देता है—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः, प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥
(अथर्व० १९।५५।३)

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥ (अथर्व० १९।५५।४)

अर्थात्– हे गृहपालक अग्ने ! तू हमें प्रातः तथा सायङ्काल सद्भावों को देने वाला है। धन-धान्य को देनेवाले, शुद्धिकारक अग्ने! हम तुझे प्रदीप्त करते हुए अपने शरीर को पुष्ट करें तथा सौ वर्ष तक ऐश्वर्य से युक्त हों।

जो मनुष्य यज्ञादि नहीं करते वे पापी हैं। उन्हें सुख भोगने का अधिकार नहीं है। ऐसे मनुष्यों को आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं होती, सुख-शान्ति भी दूर ही रहती है। वेद कहता है—

शं पदं मघं रयीषिणे न काममव्रतो हिनोति, न स्पृशद्रयिम्।
(साम० पू० अ० ४, खं० १०, मं० ५)

अर्थ– हे परमात्मन्! (अव्रतः) यज्ञादि शुभव्रत से रहित मनुष्य (रयिम्) धन, धान्य को (न स्पृशत्) छूने भी नहीं पाता तथा (कामम्) इष्ट-सिद्धि को (न हिनोति) नहीं प्राप्त होता, किन्तु (रयीषिणे) यज्ञादि शुभ कर्मों के निमित्त धन देनेवाले (शं पदम्) सुख-शान्ति के शुभ स्थान और (मघम्) धनधान्य को प्राप्त होते हैं।

यज्ञ से ही मनुष्य सुखशान्ति को प्राप्त करता है, उसे किसी प्रकार की व्याधि आदि का दुःख प्राप्त नहीं होता है। यज्ञकर्ता को सर्वदा कल्याण ही प्राप्त होता है। वेद कहता है—

घृताची स्थो धुर्यौ पतं सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्। यज्ञ नमश्च उप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे सन्तिष्ठस्व ॥
(यजु० २।१९)

अर्थ– जो अग्नि और वायु (धुर्यौ) यज्ञ के मुख्य अङ्ग को प्राप्त करानेवाले (च) और (सुम्ने) सुखरूप (स्थः) हैं, तथा (घृताची) जल के प्रापक मेघादि के निर्माणकारक (स्थः) हैं, और समस्त संसार को (पातम्) पालते हैं, वह (मा) यज्ञकर्ता मुझको (सुम्ने) सुख में (धत्तम्) स्थापित करते हैं, जैसे (यज्ञ) यजनीय परमात्मा (च) और (नमः) विनय (ते) तेरे लिए (शिवे) कल्याण में (उपसन्तिष्ठस्व) समीप समुपस्थित हैं, वैसे ही (मे) यज्ञकर्ता मेरे (सुम्ने) सुख के निमित्त (सन्तिष्ठस्व) स्थित हों।

मनुष्य को यज्ञ सर्वदा ही करना चाहिए। इससे वायु आदि की शुद्धि होती है, वायु-शुद्धि से विविध व्याधियाँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं। यज्ञ से समस्त इष्ट-सिद्धियाँ होती हैं। वेद आदेश देता है–

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान्यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥
(अथर्व० १९।६३।१)

अर्थ- हे ब्रह्मवेत्ता विद्वन्! (उत्तिष्ठ) प्रमाद को छोडकर जागृत हो, (यज्ञेन) अग्निहोत्र के द्वारा (देवान्) दिव्यगुणयुक्त वायु आदि भूतों को (बोधय) सुखकारी बना। (आयुः) आयु (प्राणम्) प्राण (प्रजाम्) पुत्रादि (कीर्तिम्) सुयश तथा (यजमानम्) यजमान को (वर्धय) सुखसाधनसम्पन्न कर।

जो मनुष्य यज्ञ आदि शुभ कर्मों को नहीं करते हैं, वे आधिव्याधियों से युक्त होते हैं। जो क्रय-विक्रय के हीं मायाजाल में फंस कर लोभवश यज्ञादि नहीं करते, परमात्मा उनका नाश कर देता है। वेद कहता है—

पदा पणीनराधसो नि बाधस्व महाँ असि।
नहि त्वा कश्चन प्रति ॥
(सामवेद उ० अ० ११, सू० ३, मं०२)

अर्थ- हे (इन्द्र) परमात्मन्! (पणीन्) केवल दान आदान के व्यवहार को करने वाले लोभी (अराधसः) यज्ञादि द्वारा आराधना न करने वाले मूर्ख पुरुषों को अपने (पदा) ज्ञान से (निबाधस्व) पूर्ण रूपसे पीडित कर। तू (महान् असि) सबसे बडा है, (त्वा प्रति) तेरा प्रतिद्वंद्वी (कश्चन) कोई भी (नहि) नहीं है।

अनावृष्टि दुर्भिक्ष आदि को दूर करने के लिए, दुःखों से रक्षा के लिए तथा ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए प्रतिदिन ईश्वरोपासना तथा यज्ञ करें। वेद कहता है—

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यवि द्यवि ॥

अर्थ- (गोदुहे) दूध दुहने के लिए जिस प्रकार (सुदुघाम्) उत्तम रूप से दूध देने वाली गौ को प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार (सुरूपकृत्नुम्) उत्तम ज्ञान तथा कर्म सम्पादन करने वाले, सुखकारक इन्द्र को (ऊतये) अनावृष्टि, दुर्भिक्ष तथा पापाचरण से रक्षा के लिए (द्यवि द्यवि) प्रतिदिन (जुहूमसि) हम स्मरण करते हैं तथा यज्ञादि द्वारा हवन करते हैं।

वेद के इन्हीं आदेशों तथा उपदेशों को ब्राह्मणग्रन्थों में विशदतया निर्देश किया गया है। यज्ञ के विषय में ब्राह्मण-ग्रंथ सविस्तर...

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। तस्मात् मनुष्येभ्यो यज्ञं प्राह॥
(गो० उ० २।१३; शतपथ० १।७।१।५; तै० ३।२।१।४)

अर्थात्- यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है, इसलिए सब मनुष्यों के लिए यज्ञ का विधान किया गया है।

नौर्हि वा एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्।
(शत० २।३।३।५)

अर्थात्- यह अग्निहोत्र निश्चयपूर्वक सुखशान्ति को प्राप्त कराने वाली नौका है। जो इस नौका पर बैठता है अर्थात् अग्निहोत्र करता है, वह सुखसम्पन्न होता है।

सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद् यज्ञः तस्य समृद्धिमनुयजमानः प्रजया पशुभिः ऋध्यते।
(शत० १४।३।२।१)

अर्थात्- निःसंदेह यह यज्ञ सब प्राणियों का और सब देवताओं का जीवन है। इसकी समृद्धि से यजमान प्रजा और पशुओं से समृद्धि को प्राप्त होता है।

पांच महायज्ञ होते हैं, अत एव इन को पञ्चमहायज्ञ कहते हैं। इनको नियमपूर्वक प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये।

पञ्च वै एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते, सतति सन्तिष्ठन्ते-देवयज्ञः, पितृयज्ञः, भूतयज्ञः, मनुष्ययज्ञः, ब्रह्मयज्ञश्च।
(तै० आ० २।१०)

अर्थात्- ये पांच महायज्ञ हैं, जिन को कि प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये [१] देवयज्ञ (अग्निहोत्र, हवन), [२] पितृयज्ञ (माता पिता आदि की सेवा), [३] भूतयज्ञ (कृमि, कीट, पशु, पक्षी, आर्तों को भोजनादि देना), [४] मनुष्ययज्ञ (अतिथिसत्कार, भ्रातृभाव की स्थापना, विश्वबन्धुत्व, संगठन आदि), [५] ब्रह्मयज्ञ (ईश्वरोपासना, वेदादि सच्छास्त्रों का स्वाध्याय, सदाचार तथा सद्गुणों का ग्रहण करना।

अग्निहोत्र ही एक ऐसा कर्म है जिससे सम्पूर्ण देवताओं की पूजा होती है। वायु आदि भूतों की शुद्धि आदि इसी से होती है। अग्निहोत्र से पांचोंमहाभूत तृप्त रहते हैं। किसी प्रकार का उपद्रव अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, तथा महाव्याधियां नहीं होने पाती।

सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यो जुहोति योऽग्नि-होत्रं जुहोति। (तै० २।१।८।३)

अर्थात्- जो अग्निहोत्र करता है, वह समस्त देवताओं का ही हवन करता है।

अग्निहोत्र किया हुआ कभी भी नष्ट नहीं होता। वह अपना फल अवश्य ही दिखलाता है। अत एव अग्निहोत्र करने वाला सर्वदा सुखशान्ति से सम्पन्न होता है—

असंस्थितो वा एष यज्ञः। यदग्निहोत्रम्॥
(तै० २।१।४।९)

अर्थात्- कभी नष्ट न होने वाला यज्ञ यह अग्निहोत्र ही है। यही अभिप्राय भगवद्गीता २।४० श्लोक में लिखा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(गीता० २।४०)

अर्थात्- इस यज्ञ आदि रूप धर्म का नाश कभी नहीं होता है। स्वल्पमात्र भी यज्ञादि रूप धर्म बडे बडे भय तथा सङ्कटों से रक्षा करता है।

समस्त संसारचक्र इस यज्ञ द्वारा ही चलता है। यदि यह यज्ञ सर्वथा न हो तो यह संसारचक्र नहीं चल सकता। यही कारण है जिससे कि अयज्ञीय देशों में महाव्याधियाँ दुर्भिक्ष आदि होने लगते हैं। यह यज्ञ संसारचक्र की नाभि है, नाभि जिस प्रकार शरीर का केन्द्र है, और यहाँ से सर्वत्र शरीर में रस जाता है, जिससे कि शरीर स्थित रहता है; उसी प्रकार इस यज्ञ के द्वारा समस्त भूतों में सामञ्जस्य रहता है। ऋतु-चक्र आदि यथासमय आते हैं। अनावृष्टि आदि का प्रकोप नहीं होता—

यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः। (तै० ३।९।५।५)

अर्थात् यह यज्ञहि समस्त संसारचक्रकी नाभि है। यही बात यजुर्वेद अध्याय २३ के ६१।६२ मन्त्रों में कही गई है। शङ्का करते हैं-

पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। (यजु० २३।६१)

अर्थात्- संसारचक्रकी नाभि क्या है? कहाँ से इसको रस प्राप्त होता है? उत्तर देते हैं--

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। (यजु० २३।६२)

अर्थात् यह यज्ञ संसारचक्रकी नाभि है। यह यज्ञ प्रत्येक काल में किसी न किसी रूप में होता ही रहता है। यजु० अध्याय ३१ के १४।१५ मन्त्र में इस प्रकार के यज्ञ का वर्णन है—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥
(यजु० ३१।१४)

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥
(यजु० ३१।१५)

अर्थात् परमात्मा द्वारा निर्मित इस सृष्टि में यह ऋतु-चक्र का यज्ञ सदा चलता रहता है, ऋतुएं ही घृत, इन्धन, हवि आदि हैं। इन यज्ञों से ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करते हैं।+

यही विषय भगवद्गीता में स्पष्टतया भावपूर्ण शब्दों में लिखा गया है-

यज्ञदानतपश्चैव, न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव, पावनानि मनीषिणाम्॥
(गी० १८।५)

अर्थात्- यज्ञ, दान और तप ये तीनों विद्वानों को कभी नहीं छोडने चाहिए। यह मनुष्य को पवित्रता प्रदान करनेवाली है। छान्दोग्योपनिषद् में भी तीन वस्तुओं को धर्म का स्कन्ध बतलाया है। जो इनको करता है वह मनुष्य पुण्यकर्मा होते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति...सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति,ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति॥
(छान्दोग्य० अ० २, ख० ४३)

+ यज्ञ में संपूर्ण मनुष्यों का अधिकार है। सभी करने के अधिकारी हैं, वेद आदेश देता है कि--

पंच जना मम होत्रं जुषध्वम्॥ (ऋ० १०।५३।५)

अर्थात्- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज [illegible] पांचों प्रकार के मनुष्य मेरी उपासना करें।

अर्थात् धर्म के तीन अङ्ग हैं, (१) यज्ञ, (२) स्वाध्याय, (३) दान। इनको करने वाले पुण्यात्मा मुक्ति के सुख को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यज्ञ धर्म का प्रधान अङ्ग माना है।

यज्ञ से ही समस्त संसार सुख को प्राप्त करता है। यह वेदोक्त होनेसे परमात्म-ज्ञान का साधन है। जो यज्ञ द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते हैं, देवता भी उन्हें अवश्य ही सुख की वृष्टि से समृद्ध करते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो, यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
(गी० ३।१४)

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
(गी० ३।१५)

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
(गी० ३।११)

अर्थात् अन्न से मनुष्य आदि की उत्पत्ति, स्थिति होती है, अन्न वृष्टि के जल से होते हैं, वर्षक मेघ यज्ञसे होते है, यज्ञ कर्मद्वारा होता है, कर्म वेदसे विहित है, वेदोंका प्रादुर्भाव ब्रह्म से है, इस प्रकार सर्वव्यापक परमात्मा सदा यज्ञ में निवास करता है। इसके द्वारा तुम लोग देवताओं को प्रसन्न करो, देवता तुम्हें धन धान्य से समृद्ध करें। इस प्रकार संसार में सभी सुखशांति प्राप्त कर सकते हैं।

जो मनुष्य यज्ञ द्वारा देवताओं को तृप्त न कर उनकी वस्तुओं का उपयोग करते हैं, वे वस्तुतः चोर तथा पापी हैं। यज्ञ द्वारा प्रसन्न होने पर देवता स्वयंहि इष्ट भोगों को देते हैं—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥
(गी० ३।१२)

अर्थात् देवता यज्ञ से प्रसन्न होकर स्वयं इष्ट भोगों को देते हैं, जो उन्हें कुछ समर्पण किए विनाहि उनके दिए हुए का उपभोग करता है, वह वस्तुतः चोर है। इस प्रकार यज्ञ मानव-समाज का एक अत्यावश्यक तथा अत्युपयोगी कर्म है। इसके करने से मानवसमाज सुखी तथा शांतियुक्त रहता है।

इस देवयज्ञ से भी श्रेष्ठ कर्म है ब्रह्मयज्ञ अर्थात् ईश्वरोपासना। जगन्नियन्ता उस प्रभु के विविध रचना-प्रपंच में निवास करनेवाले प्रत्येक का कर्तव्य हो जाता है कि वह उसकी उपासना करे। जिस प्रकार शारीरिक पिपासा की शांति अन्न-जल से होती है, उसी प्रकार आत्मा की शांति का उपाय ईश्वरोपासना के अतिरिक्त कुछ नहीं, क्योंकि आनन्द का अधिष्ठाता वह परमेश ही है। उससे भिन्न कहीं भी आनन्द नहीं है। वही सच्चिदानन्दरूप है, प्रकृति केवल सत् है, जीव सत् चित् है, आनन्द प्रकृति और जीव में नहीं है। अतः जो आनन्द के इच्छुक होते हुए भी जो प्रकृति में आनन्द का ज्ञान करते हैं, वे पथभ्रष्ट ही हैं। वेद आदेश देता है-

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत॥
(अथर्व० २०।९२।५)

अर्थात्- हे बुद्धि के प्रेमियो! अपने देह के समान परमात्मा की उपासना करो, अच्छे प्रकार से उपासना करो, अवश्य उपासना करो और तुम्हारे छोटे पुत्र भी उस परमात्मा की उपासना करें। तुम सब उसी की उपासना करो।

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इदम्।
एदं बर्हिः सदो मम॥
(साम० पू० अ० २, खं० ८, मं० ७)

अर्थात्- हे भगवन्! हमने आपके लिए सौम्यभाव उत्पन्न किए हैं। आप हमारे मन-मन्दिर में विराजमान हों।

उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे।
अभि देवां इयक्षते॥
(साम० उ० अ० १. खं० १, मं० १)

अर्थ- हे (नरः) मनुष्यो, (अस्मै) इस (पवमानाय) शुद्धिकारक (देवाँ अभि इयक्षते) विद्वानों को ज्ञान-प्रदान करने वाले (इन्दवे) परमेश्वर की (उप गायत) स्तुति उपासना करो।

शंसेदुक्थं सुदानव उत द्युक्षं यथा नरः।
चकृमा सत्यराधसे॥
(साम० उ० अ० २, खं० १, सू० ३, मं० २)

अर्थ-(यथा) जिस प्रकार (नरः) विद्वान् लोग (सुदानवे) उत्तम दानी के लिए (द्युक्षम्) दिव्य स्तुतियों से युक्त (उक्थम्) स्तुति करते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष उस (सुदानवे) उत्तम दानी परमात्मा के लिए (द्युक्षम्) दिव्य (उक्थम्) ओंकारपदयुक्त वेदमन्त्रमय स्तुति (शंसेत्) उच्चारण करे। हम भी (सत्यराधसे) सत्यस्वरूप परमात्मा की स्तुति (चकृम) करें।

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।
सजोषा वृषभं पतिम्॥
(साम० पू० अ० २, खं० १०. मं० २)

अर्थ- हे (इन्द्र) परमेश्वर (ते) आपकी (गिरः) वेदवाणी को (अहम्) मैं (सजोषाः) साथ ही सेवन करता हुआ (असृग्रम्) स्तुत्यर्थ वर्णन करता हूँ। यह वेद-वाणी (वृषभम्) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के दाता (पतिम्) पालक (त्वां प्रति) आपको (उदहासत) उच्च माप से प्राप्त कराती हैं।

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन।
स्तोतारस्त इह स्मसि। (यजु० ३४।४१)

अर्थ- हे (पूषन्) पुष्टिकर्ता परमेश्वर (वयम्) हम (तव) तेरी (व्रते) उपासना में (कदाचन) कभी भी (न रिष्येम) मन मलिन न करें। (इह) इस संसार में हम (ते) तेरे (स्तोतारः) उपासक (स्मसि) हों।

ये मन्त्र अत्यधिक स्पष्ट हैं, स्वयं ही भाव प्रकट कर रहे हैं। इस प्रकार सैकडों मन्त्र ईश्वर-स्तुति तथा उपासना के हैं। जिनके द्वारा परमात्मा से बुद्धि तथा धर्म-प्रीति की प्रार्थना करते हैं। पापों से दूर होकर पुण्योंमें प्रवृत्ति हो, दुःख दूरकर सुखलाभ हो। परमात्मा की उपासना से ही मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को सुख तथा आत्मिक शान्ति के लिए परमात्मा की प्रतिदिन दोनों समय स्तुति करनी चाहिए। दुष्कर्मों की ओर से अपने चित्त को हटाकर सद्गुणों की ओर ले जावें।

ईश्वरोपासना तथा यज्ञादि के लिए एक वस्तु की विशेष आवश्यकता है, वह है श्रद्धा। जबतक मनुष्य के हृदय में श्रद्धा नहीं है, तबतक वेद, शास्त्र, उपासना, यज्ञादि किसी से भी कुछ लाभ नहीं होगा। जिस मनुष्य के मन श्रद्धा का आवास है, वह ही सुख, शान्ति को प्राप्त होता है। वेद कहता है कि—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते॥
(यजु० १९।३०)

अर्थात्- मनुष्य सत्यभाषणादि व्रतों से दीक्षाको प्राप्त होता है, दीक्षा से प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, प्रतिष्ठा से श्रद्धा को प्राप्त करता है और श्रद्धा से सत्यस्वरूप परमात्मा प्राप्त होता है।

इस मन्त्र में स्पष्ट बताया गया है कि जिस मनुष्य के हृदय में निष्ठा होगी, उसी में तत्पर होकर श्रद्धा से उस शुभ कर्म को करेगा, तब सफल हो सकता है, अन्यथा नहीं। अश्रद्धालु कभी सुख-शान्ति प्राप्त ही नहीं कर सकते। अत एव दूसरे मन्त्र में श्रद्धा की व्रत के साथ ही प्रार्थना की गई है।

अभ्या दधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽहम्॥
(यजु० २०।२४)

अर्थ- हे (व्रतपते) सत्यभाषणादि गुणों के पालन-कर्ता (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् (त्वयि) तुम्हारी भक्ति में स्थिर होकर (अहम्) मैं (समिधम्) अग्नि में समिधा के तुल्य ध्यान को (अभ्यादधामि) धारण करता हूँ। जिस से (व्रतम्) सत्यभाषणादि व्यवहार (च) और (श्रद्धाम्) श्रद्धाको (उपैमि) प्राप्त होता हूँ। (दीक्षितः) ब्रह्मचर्यादि की दीक्षा को प्राप्त होकर (त्वा) तुझे (इन्धे) प्रकाशित करता हूँ।

इससे ज्ञान होता है कि व्रत, ध्यान और श्रद्धा इन सबका समन्वय है। श्रद्धा के बिना कर्म एक वञ्चना मात्र है। अत एव वेद आदेश देता कि महासुख की प्राप्ति के लिए ही श्रद्धा की प्रार्थना की गई है—

श्रद्धितं ते महत इन्द्रियाय। (ऋ० १।१०४।६)

अर्थात् तेरे बडे बल के लिए यह श्रद्धा रक्खी है।

श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।
(ऋग्० १।१५१।४)

अर्थात् श्रद्धा को हृदय में रखकर मनुष्य उपासना आदि से सुख को प्राप्त करता है। अतः जो मनुष्य सफलता चाहता है, उसे निम्न लिखित मन्त्र पर विशेष ध्यान देना चाहिए—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।
(ऋ० १०।१५१।५)

अर्थात्- हे श्रद्धे! हम तुम्हारा प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल आह्वान करते हैं, तू हमको श्रद्धान्वित कर। इस प्रकार समस्त मनुष्यों को सुखशान्ति के लिए श्रद्धा-पूर्वक कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए—

हमारे हृदयों में सौमनस्य हो, एक दूसरेकी उन्नति प्रसन्न हों तथा सुसंगठित रहे। सब के साथ समान व्यवहार करें, किसी से घृणा न करें, यही सच्चा साम्यवाद है। वेद कहता है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहाति॥
(ऋ० १०।१९१।४)

अर्थात् तुम्हारा निश्चय समान हों, तुम्हारा हृदय समान हों, सब से दुःख में दुःखी तथा सुख में सुखी बने।

मा नो द्विक्षत कश्चन। (अथर्व० १२।१।२५)

अर्थात् हममें से कोई किसी से द्वेष न करे।

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्तः। (अथर्व० ३।३०।५)

अर्थात् हम आपस में मधुर बोलते हुए मिले।

इस प्रकार पारस्परिक सद्भाव-पूर्ण व्यवहार के द्योतक सैकडों मन्त्र हैं। अत एव जो मनुष्य यह चाहते हैं कि हम सुखी रहें, उन्हें सर्वोत्तम मार्ग यही है कि वह वेद-विहित मार्ग पर चलें।

लोकप्रिय बनना।

(अहं) देवानां, प्रजानां,समानानां, पशूनां प्रियः भूयासं; आयुष्मान् भूयासम् ॥ (अथर्व १७। १-५)

" मैं देवोंका, प्रजाजनोंका, समान योग्यतावाले लोगोंका और पशुओंका प्रिय होऊं, और दीर्घायु बनूं।" सबसे मुख्य बात दीर्घायु बननेकी है, क्यों कि आयु, आरोग्य और बल रहा, तोही सब कुछ धर्मकर्म होना संभव है। अतः उन्नतिशील मनुष्यों को उचित है कि, वे धर्मानुसार आचरण करके अपनी आयु दीर्घ करें, नीरोग रहनेका यत्न करें और अपने अन्दर बल स्थिर रखें।

इतना होनेके पश्चात् देव, प्रजा, समानलोग और पशु इनको प्रिय होनेकी महत्त्वाकांक्षा धारण करना चाहिये और इस की सिद्धिके लिये मनुष्योंको प्रयत्न करना चाहिये। 'देव' का अर्थ जैसा 'देवता' है, वैसाही 'भूदेव' क्षत्रदेव, धनदेव और कर्मदेव' ये चार प्रकारके चातुर्वर्ण्यके श्रेष्ठ पुरुषभी देव कहलाते हैं। इनके मनमें इस मनुष्यके विषयमें प्रेम रहे, ये श्रेष्ठ लोग इस पुरुषके विषय में कहें कि यह फलाणा मनुष्य उत्तम है, उसका प्रिय होना चाहिये। प्रजाजन इस मनुष्यपर प्रेम करें, प्रजा-जनोंका यह प्रेमपात्र बने, सब जनता इसके ऊपर प्रीति करे, अर्थात् यह लोकप्रिय बने, लोकमान्य बने। समान लोगोंमें यह प्रिय हो, अर्थात् ज्ञानियोंका विशेष प्रेम ज्ञानीपर होता है, वीरोंका प्रेम समर्थ वीर पर होता है, समानोंका प्रेमभाजन होनेके लिए उनसे विशेष उत्कट गुण होने चाहिये। इन गुणोंका संपादन यह मनुष्य करे और समानोंका प्रेमभाजन बने। पशुओंका भी प्रेम संपादन करे। जब यह मनुष्य पशुओंकी पालना करेगा और उनपर प्रेम करेगा, तब पशु स्वयं इसपर प्रेम करने लगेंगे। यहां इसकी भूतदयामें विशेषता होना चाहिये।

इस विवेचन से पाठक जान सकते हैं कि, देव, प्रजा, समान लोग और पशुओंका प्रिय बननेका आशय क्या है, इस विषयमें नियम यह है कि मनुष्य जिन-का प्रेम संपादन करना चाहता है, उनपर स्वयं प्रेम करे। इसका प्रेम उनपर होने लगा; तो निःसन्देह वे भी इसपर प्रेम करने लग जांयगे।

वीरके गुण।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें दस शब्दोंद्वारा वीरोंके गुण दिये हैं। उन्नतिशील मनुष्योंको ये गुण अपने अन्दर लाने चाहियें और बढाने चाहियें। यदि पाठक इन दस शब्दोंका मनन करेंगे, तो उनको वीरताके दस शुभ गुणोंका पता लग सकता है—

(१) गो—जित् = 'गो' शब्दका अर्थ 'इंद्रिय और भूमि' है। ये अर्थ लेकर यहां विचार करना चाहियें। पहिला अर्थ है (गो—जित्) इंद्रियोंको जीतनेवाला, अपनी इन्द्रियोंका संयम करनेवाला, मनोनिग्रह करनेवाला, अपना आत्मसंयम करने वाला। सब उन्नतिका प्रारंभ 'आत्म—विजय' से होता है। आत्मविजय सब अन्य विजयोंसे कठीण है, तथापि जो मनुष्य आत्मविजयका साधन करता है और सिद्ध बनता है, वह अन्य विजय सहज ही से प्राप्त कर सकता है। भूमिका विजय इस शब्दका दूसरा अर्थ है। वीरतासे अपनी मातृ-भूमिको विजयी करना, यह इसका भाव है। मुख्य-तया यहां आत्मविजय मुख्य है, क्योंकि सभी विजय आत्मविजय से प्रारंभ होते हैं।

(२) स्वः—जितं = (स्व—र्—जितं) आत्म-प्रकाशको प्राप्त करना, अपने तेजका विजय करना, आत्मसंमान का विजय करना, अपने आध्यात्मिक तेजका विजय होने योग्य कार्य करना। यहभी एक बडी भारी वीरता है।

(३) संधना—जित्=उत्तम धनोंको जीत कर प्राप्त करना, यह भी एक बडी भारी वीरता है। जिसके साथ होनेसे मनुष्य अपने आपको धन्य कह सकता है, उसको धन कहा जाता है। अतः धन शब्दसे केवल रुपये, आने, पाई समझना शुद्ध भ्रम है। गौवें भी धन हैं, राज्य किंवा स्वराज्य भी धन है, बल भी धन है, विद्या भी धन है, प्रतिष्ठा धन है, सदाचार धन है। इस रीतिसे अनेक धन हैं। इनकी प्राप्ति करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है।

(४) सहमान=आत्मिक बल,तेज और जीवन से युक्त और

(५) सहमान= शारीरिक बल और शक्तिसे युक्त होना।

ये दोनों शब्द एकही मंत्रमें प्रयुक्त हैं, इसलिये ये भिन्नार्थक शब्द हैं। "सहस्" शब्दका अर्थ 'बल' है और इसके अर्थ "शक्ति, विजय, तेज और जीवन" हैं। इन मेंसे कुछ अर्थ एकके और अन्य दूसरेके मानना यहां योग्य है। इस प्रकार अर्थ करनेसे दोनों शब्द पुनरुक्तिदोषसे रहित और अन्वर्थक प्रतीत होते हैं। अर्थात् ये दोनों बल मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। इस बलमें सैन्यका बलभी अन्तर्भूत होता है।

(६) सहो— जित्= अपने बलसे शत्रुको जीतनेवाला। मनुष्य अपने अन्दर तथा राष्ट्र अपने अन्दर ऐसा बल प्राप्त करे कि, जिससे शत्रुका विजय सहजहीमें हो सके।

(७) सहीयान्= शत्रुका हमला कितने भी वेगसे आ जावे, उससे न डरता हुआ, उसको सहन करनेवाला। शत्रुका आक्रमण हुआ तो भी अपने स्थानसे पीछे न हटता हुआ विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहनेवाला। शत्रुके आक्रमणका प्रतिकार करके शत्रुको परास्त करनेवाला

(८) सासहान= शत्रुके आक्रमण एकके पीछे दूसरे, अथवा वारंवार होनेपर भी जो अपना स्थान छोडता नहीं और विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहता है और अपने स्थानसेही शत्रुको परास्त करता है और उसको वापस लौटा देता है।

(९) विषासहि= जिसका आक्रमण शत्रुपर हुआ, तो शत्रुको परास्त होकर भागना पडता है, जिसका आक्रमण शत्रुको असह्य होता है।

(१०) ईड्यः नाम इन्द्रः = प्रशंसनीय यशस्वी (इन्+द्रः) शत्रुओंका पूर्ण नाश करनेवाला वीर।

उपास्यके गुण उपासकमें।

ये दस शब्द यहां इन्द्र देवताके वाचक हैं। यह देवता मनुष्योंकी उपास्य है। उपास्य देवताके गुण उपासकोंको अपने अन्दर धारण करने चाहिये, यह उपासना का नियम है। इस नियमके अनुसार उपासना करनेवाले पाठक अपने अन्दर ये वीरताके गुण बढावें और अपनी उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें और सब प्रकारका अभ्युदय प्राप्त करें। पूर्वोक्त गुण अपने अन्दर बढने लगे, तो मनुष्यकी अथवा राष्ट्रकी उन्नति निःसंदेह होगी, उपासनाके मंत्र केवल रटनेमात्रसेहि मनुष्यकी उन्नति नहीं होगी, परंतु उनमें वर्णित उपास्यके गुणोंकी धारणासे हि मनुष्यकी उन्नति होना संभव है। जो मनुष्य अथवा मनुष्योंका संघ इस प्रकारकी वैयक्तिक और सामूहिक उपासना करते हैं,वेहि अपना सब प्रकारका अभ्युदय सिद्ध करते हैं। इन्हींके विषयमें कहा है कि—

अभ्युदय।

उदिहि, उदिहि, वर्चसा अभ्युदिहि। (अ.१७।२)

"उदयको प्राप्त हो, अभ्युदय प्राप्त करो, तेजके साथ सब प्रकार अभ्युदय प्राप्त करो," ये मंत्र यद्यपि उपास्य देव सूर्यके संबंधमें कहे हैं, तथापि उपास्यके गुण उपासक को धारण करने होते हैं, इस नियमके अनुसार प्रायः बहुतसे मंत्र उपासकको आदेश देनेवाले होते हैं। इसी तरह ये मंत्रभी उपासकको अभ्युदयका संदेश दे रहे हैं, यह बात यहां पाठक न भूलें। अभ्युदय किस मार्गसे करना चाहिये, इसके सर्वांगसे दो सूत्र हैं—

द्विषन् मह्यं रध्यतु । अहं द्विषते मा रधम् (मं०६)
"मेरा शत्रु मेरे वशमें आ जावे और मैं कभी शत्रुके वशमें न होऊं।" शत्रु अनेक प्रकारके हैं और रणक्षेत्रभी विविध हैं। उन सब रणक्षेत्रोंमें यही एक नियम है कि स्वयं शत्रुका पराभव करना और शत्रुसे कभी पराभूत न होना। विजय, उदय और अभ्युदयकी यह कुंजी है। जो लोग और जो राष्ट्र इस प्रकार अपनी तैयारी करेगा, वही विजयको प्राप्त होगा।

पराक्रम।

तव बहुधा वीर्याणि। (अथर्व १७।१)
"तेरे बहुत पराक्रम होने चाहियें।" तब विजयकी संभावना है। विष्णु देव व्यापक ईश्वर-का सर्वत्र विजय इसीलिये है कि उसके अनन्त पराक्रम होते हैं। अनेक पराक्रम न हुए, तो विजय प्राप्त होना असंभव है। विजयके लिये अनेक रण-क्षेत्रोंमें उतरना चाहिये और वहां बडे पराक्रम करने चाहियें। इसलिये —

सुमतिं कृधि। सुधायां धेहि। (मं०६—७)
"अपने अन्दर सुमति धारण कर, उत्तम धारणामें अपने आपको और सबको धारण कर।" सुमतिके विना अध्यात्मक्षेत्रका विजय नहीं होगा और (सु-धा) उत्तम धारणके विना समाजका या संघका विजय नहीं होगा। यह नियम सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये। इस दिशासे अनेक दिन प्रयत्न होना चाहिये,यह सूचित करने के लिये कहा है कि—

बडा सौभाग्य।

त्वं महते सौभगाय अदब्धेभिः अक्तुभिः परि-पाहि (अ. कां. १७ मं० ९)
"तू अपना सौभाग्य बहुत बढानेके लिये न थकता हुआ और किसीके दबावसे न दबता हुआ दिनप्रतिदिन सुरक्षिततापूर्वक प्रयत्न करो" यह आदेश बडा उत्साहवर्धक है। कितनाही प्रचण्ड शक्तिवाला दबानेका यत्न करे परंतु स्वयं उसके दबावसे न दबनेका यत्न करना चाहिये। न दब जानेका—पाशवी शक्तिके अन्दर न दब जानेका-निश्चय करनाही अत्यंत महत्त्वकी बात है। आत्माकी शक्ति इतनी प्रचण्ड है कि, सब जगत् की शक्ति भी उसका विरोध करने लगी, तो भी वह दबेगा नहीं, परंतु मनका निश्चय होना चाहिये। 'महासौभाग्य' जो ऊपरले मंत्रमें कहा है, वह तभी इसको प्राप्त होता है। अधिक उत्साह बढानेके लिये और कहा है कि—

न दब जाना।

पृथिव्यां अदब्धः असि। ते महिमानं न आपुः।
(अ. कां. १७ मं० १२)
"पृथ्वीपर तू आत्मा न दब जानेवाला महा शक्तिमान है, तेरी महिमा अन्य भौतिक जड पदार्थोंको प्राप्त नहीं हो सकती।" जड पदार्थ कितनेभी सामर्थ्यवान् हों, परंतु उनकी शक्ति आत्माके सामर्थ्यकी बराबरी कर नहीं सकती। अपने आत्माकी यह प्रचण्ड शक्ति जाननेके लिये ही सब धर्मानुष्ठान है। अपने परम पिताकी प्रचण्ड शक्तिका वर्णन इसी कारण उपासनाके लिये उपा-सकोंके सन्मुख वेदमंत्रोंद्वारा रखा जाता है कि वे किसी न किसी दिन अपने अन्दर परमपिताका वीर्य है, इस बातका अनुभव करें और उनके गुणोंका धारण अपने अन्दर करनेका यत्न करें। यह ईशगुणोंकी धारणा किस प्रकार हो सकती है, यह भी आगे कहा है —

अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः। (मं० १२)
"न दब जानेवाले ज्ञानसे बढता हुआ" अपने (बहुधा वीर्याणि) बहुत पराक्रम कर। यहां जो कहा है,वह प्रत्येक वैदिक धर्मीको ध्यानमें धारण करना चाहिये। मनुष्यकी उन्नति ज्ञानसे होती है, यह बात यहां स्पष्ट कही है, इसलिये उन्नतिशील पाठक ज्ञानप्राप्तिके यत्नमें कटिबद्ध हों। यहां ज्ञानका महत्त्ववर्णन किया है। ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात्—

सत्यका मार्ग।

विद्वान् ऋतस्य पन्थां अनु एषि। (मं०१६)

"विद्वान् होकर सत्यके मार्गके अनुकूल होकर जाता है।" सत्यका आग्रहके साथ पालन करना चाहिये। सत्यही मनुष्यका मार्गदर्शक और सब बन्धनोंको दूर करनेवाला है। सत्यके पालनसे हि सब प्रकारकी उन्नति होती है। इसी तरह—

अशस्ति बाधमानः सुदिने एषि। (मं०१७)

"अप्रशस्त, निंदनीय बातको दूर करनेसे तू उत्तम दिन के प्रकाशपूर्ण जीवन में बर्ताव करनेवाला होगा।" जिस प्रकार मनुष्यको सत्यका पालन करना अभीष्ट है, उसी प्रकार अप्रशस्त, निन्दनीय, दुष्ट व्यवहारको सर्वथा दूर करना भी अत्यंत इष्ट हे। अन्यथा उच्च अवस्था मनुष्यको कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। उत्तम गुणोंको अपने अन्दर बढाना और हीन दुर्गुणोंको अपनेमें से दूर करना, यही अभ्युदयका अनुष्ठान है। मनुष्य अपने अभ्युदयका मार्ग आक्रमण कर रहा है या नहीं, इसकी परीक्षा भी उसके भूतभविष्यका व्यवहार देखकर हो सकती है, इस लिये कहा है कि—

आत्मा और संसार।

असति सत् प्रतिष्ठितम्। सति भूतं प्रतिष्ठितम्।
भूतं भव्ये भव्यं भूते च प्रतिष्ठितम्। (अ०१७।१९)

"असत् में सत् और सत् में भूत ठहरा है," यह पहिला कथन है। यह संसार नाशवान् होनेसे असत् है, और आत्मा त्रिकालाबाधित होनेसे सत् है। ये दोनों परस्पर संगत होनेसे कहा जाता है कि, एक दूसरे में ठहरा है। यही विषय दूसरे शब्दोंमें ऐसा कहा जा सकता है— "शरीरमें आत्मा और आत्मामें शरीर ठहरा है।" इशोपनिषद् में भी इसी भावसे निम्नलिखित मंत्र आया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो विजुगुप्सते॥
(वा० यजु० ४०।६)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥
(ईश० उ० ६; काण्व यजु० ४०।६)

तथा भागवतमें —

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम्।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि॥
(श्री० भाग० ।३।२४।४६)

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः।
(श्री० भाग० ११।२।४५)

इन सब स्थानोंमें यही कहा है कि "आत्मा— (सत्) सब भूतोंमें (असत्में) है और सब भूत (असत्) आत्मामें हैं। यह जो जानता है और इसका जो अनुभव करता है, वह बडा भक्त कहलाता है। वह श्रेष्ठ पुरुष होता है, वही शोकमोहसे परे होकर परमसिद्धिको प्राप्त होता है। इसमें पहिली परीक्षा सर्वत्र परमेश्वरकी उपस्थितिका अनुभव आना है, ऐसा अनुभव आ गया, तो समझना चाहिये कि उन्नति हो गयी है, और यदि केवल शब्दोंसेही 'परमेश्वर सर्वव्यापक' होनेका शाब्दिक ज्ञान हुआ है, तो समझना चाहिये कि अभी श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अनुष्ठान होना चाहिये।

ऊपरके मंत्रमें दूसरी परीक्षा यह कही है कि (भूतं भव्ये, भव्यं भूते आहितं) भूत भविष्य में और भविष्य भूतमें है। इसका अनुभव देखनेके लिये मनुष्य अपना विचार प्रथम करे। मनुष्य का वर्तमान और भविष्य उसके भूतकालके कर्ममें होता है और उसके भूतकालके कर्मके साथ उसका भविष्यकाल निगडित हुआ होता है। उदाहरण के लिये देखिये—यदि एक मनुष्य प्रथम आयुमें उत्तम ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक धर्मानुष्ठानसे अपना आयुष्य व्यतीत करता है, तो समझना चाहिये कि उसका यौवन और वार्धक्य सुखसे व्यतीत होंगे,

क्योंकि उसका भूतकाल भविष्यमें संबंधित है। इसी प्रकार राष्ट्रमें भी यही बात देखिये— जिस राष्ट्रके भूतकालके लोगोंने उत्तम पुरुषार्थ किया हो, उस राष्ट्रका वर्तमान और भविष्यकाल भी आनंदमें व्यतीत होगा, और जिस राष्ट्रके लोगोंने भूतकालमें पारतंत्र्य प्राप्त किया हो, उसका भविष्यकाल कष्टोंमें जायगा, क्योंकि (भूतं भव्ये,भव्यं भूते आहितं) भूतभविष्यमें फलता है और भविष्यका उगम भूतमें होता है। देखिये यह वेदका उपदेश जैसा व्यक्तिमें वैसाही राष्ट्रमें प्रत्यक्ष दीख सकता है। इस सत्यका अनुभव करता हुआ तथा अपने भूत, भविष्य, वर्तमान का विचार करता हुआ, मनुष्य अपने भविष्य कालमें दुःख प्राप्त होनेके बीज सांप्रतके कालमें अपने ही प्रयत्नसे न बो देवे। परंतु उसको उचित है कि वह इस समय ऐसे शुभ कर्म करे कि, जिसके शुभ फल उसको भविष्यकालमें प्राप्त हों। आजकी हमारी स्थिति हमें अपने हि भूतकालके कर्मोंसे प्राप्त हुई है और इस समय हम हि अपना भविष्यकाल बना रहे हैं। इसी उद्देश्यसे वेदमें कहा है—

भूत भविष्य वर्तमान।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानः०।
(ऋ० १०।९०।२, वा० यजु० ३०।२)
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येश्वरः० ॥ (अथर्व. १९।६।४)

"वर्तमानकालमें जो पुरुष है, वही उसके भूत और भविष्यका रूप है और वह अमृतत्व का स्वामी है।" अर्थात् किसी पुरुषका वर्तमानकाल उसके भविष्यका बीज और भूत का परिणाम दिखाता है। मनुष्यकी तारुण्य-अवस्थासे पता लग सकता है कि, उसने अपना बालपन कैसा व्यतीत किया था और उसीसे पता चलता है कि उसका भविष्य कैसा होगा। राष्ट्रपुरुषके विषयमें भी यही व्यवस्था है, राष्ट्रके वर्तमानकालकी परिस्थितिमें उसके भूतकालीन पुरुषार्थ या पुरुषार्थहीनताके परिणाम दीखते हैं, और उसी वर्तमानकालमें वह जो करता हैं, उस अपने पुरुषार्थसेहि वह अपने भविष्यकी भवितव्यताके बीज बो देता है। क्योंकि प्रत्येक पुरुष भूतकालका परिणाम और भविष्यकालका बीज धारण करता है। इस विचारसे भी मनुष्य अपनी परीक्षा कर सकता है। आशा है कि पाठक इस रीतिसे अपनी परीक्षा करें और अपना उन्नति का मार्ग है या अधोगतिका है, इसका निश्चय करें और यदि अवनतिका मार्ग होगा, तो उसे तत्काल छोड देवें और उन्नतिके मार्गपर हि सदा रहें। तथा मनमें यह महत्त्वाकांक्षा धारण करें कि—

आत्मतेज।

अहं भ्राजता भ्राज्यासम्। (अ. कां. १७ मं० २०)

"मैं अपने तेजसे तेजस्वी बनूंगा।" दूसरेके तेजसे तेजस्वी बननेमें पराधीनता है। प्रत्येकको अपने तेजसे तेजस्वी बनना चाहिये। प्रत्येककी अपने सामर्थ्यसे रक्षा होनी चाहिये, अपने ज्ञानसे प्रत्येकका विवेक करना चाहिये, प्रत्येकको अपने धनका भोग लेना योग्य है, इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये। जिसकी रक्षा दूसरेके बलसे होती हो, जो स्वयं अपने ज्ञानसे विचार नहीं कर सकता, जिसके पास अपने पोषण करनेके आवश्यक पदार्थ नहीं हैं; उसकी शोचनीय अवस्था होती है, इसके विषयमें पाठक स्वयं विचार करके जान सकते हैं। अतः अपनेप्रकाशसे प्रकाशनेका उपदेश यहां इस मंत्रद्वारा दिया है, पाठक इसका विचार करें और अपने सामर्थ्यसे समर्थ बनकर यहां यशस्वी, कीर्तिमान और स्वतंत्र अर्थात् शुद्धबुद्ध और मुक्त बननेका यत्न करें। इस प्रकार और भी कहा है—

अहं ब्रह्मवर्चसेन रुच्या रोचः॥
(भूत्वा) रुचिषीय। (मं० २१)

"मैं अपने ज्ञानके प्रभावसे प्रभावित और अपने तेजसे तेजस्वी होकर प्रकाशित होऊंगा।" इस मंत्रमें भी वही भाव दुहराया है और ज्ञानकी आवश्यकता

उन्नतिके लिये अत्यंत है, यह बात यहां पुनः स्पष्ट की है।

आगे उदयको प्राप्त होनेवाले, प्रकाशित होनेवालोको नमस्कार करनेको कहा है और जो इस प्रकार प्रकाशित होकर अपना जीवनक्रम समाप्त करके अस्तको जाते हैं, उनको भी नमस्कार करनेको कहा है। यहां सूर्यको सन्मुख रखनेको कहा है। मनुष्य का आदर्श सूर्य है, सूर्यके समान मनुष्य अपना अभ्युदय प्राप्त करे, सूर्यके समान इस जगत्में प्रकाशित होवे और प्रदीप्त रहता हुआ तथा सबको प्रकाशका मार्ग बतलाता हुआ अन्तमें कृतकृत्य होकर अस्तको प्राप्त होवे। इस प्रकार अस्त होना भी आदर्शरूप होता है। इस तरह सब मनुष्य सूर्यको अपना आदर्श मानें। और उससे यह बोध प्राप्त करें। पाठक इस दृष्टिसे विचार कर और सूर्यको अपना आदर्श मानकर इस वेदमंत्रका उपदेश मननके द्वारा मनमें स्थिर करें। इसके नंतर एक महत्त्वपूर्ण मंत्रभाग है, वह प्रत्येक मनुष्यको नित्य स्मरण में धारण करना योग्य है, वह अब देखिये-

अपना यश।

अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च आवृतः कृतवीर्यः विहायाः जरदष्टिः सहस्रायुः सुकृतः चरेयम् ॥ (अ. कां. १७ मं० २७)

अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च परिवृतः... ऋतेन गुप्तः... भूतेन भव्येन च गुप्तः (चरेयम्) ॥ (अ. कां. १७ मं०२८—२२)

पाप्मा मा मा प्रापत्, मृत्युः मा मा प्रापत्। अहं वाचः सलिलेन अन्तर्दधे।(अ.कां.१७मं०२९)

"मैं ज्ञान, आत्मरक्षा का सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, पराक्रम करता हुआ, विविध पुरुषार्थका साधन करता हुआ, दीर्घ आयु प्राप्त करके, सदाचारसे व्यवहार करूंगा। मैं ज्ञान, आत्मरक्षाका सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, सत्यसे सदा सुरक्षित होता हुआ, भूतभविष्य वर्तमानकाल में होनेवाले कर्मोंसे सुरक्षित होता हुआ, सदाचारसे व्यवहार करूंगा। पाप मेरे पास न आवे, पापी मेरे संनिध न आवे, मृत्युका भय मुझे न प्राप्त हो, मैं अपनी वाणीको शुद्ध जीवनसे युक्त करता हूं।"

इनमेंसे प्रत्येक वाक्य इतना स्पष्ट, इतना तेजस्वी, इतना बोधप्रद और इतना मार्गदर्शक है, कि उसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहां आवश्यकता प्रतीतही नहीं होती। पाठक इसीका पाठ वारंवार करें, वारंवार मनन करें और अपने आत्माके अन्दर वेदके ये ओजस्वी विचार स्थिर करें। इनही विचारों की स्थिरतासे मनुष्य विजयी होगा और अभ्युदय प्राप्त करेगा और अन्तमें धन्य भी होगा। जो पाठक इस तरह मन्त्रोंका मनन करेंगे, वे अपनी उन्नतिका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस काण्डके प्रत्येक मंत्रमें गुप्त ज्ञान भरपूर भरा है। केवल बाह्य अर्थके प्राप्त करनेसे ही पाठकोंको यह नहीं समझना चाहिये कि हमने मंत्रका आशय समझ लिया है, मंत्रका आशय तो आगे, पीछेके शब्दोंके साथ और विधानों के साथ संगति देखकर मनन करनेसे हि ध्यानमें आ सकता है। आशा है कि इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तके साथ पाठक अधिकसे अधिक बोध प्राप्त करके कृतकृत्य और धन्य बनेंगे।

स्वर्गीय महारानी अहिल्याबाई की छत्री ।

एक विचित्र घड़ी--रहस्योद्घाटन की आवश्यकता ।

(लेखक- श्री० शिवचरणलाल मालवीय)

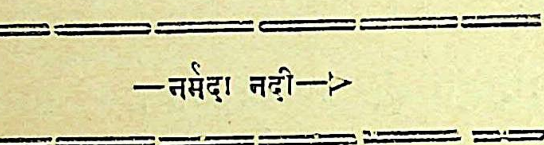
महेश्वर, राजपूताना-मालवा-रेलवे के स्टेशन बड़वाह से ३८ मील की दूरी पर बसा हुआ है। यह एक छोटा कस्बा होकर भी नर्मदा किनारे पर बनी हुई स्व० महारानी अहिल्याबाई की अनुपम और सुविशाल छत्री के कारण एक दर्शनीय स्थान बन गया है। किले के अंदर प्रवेश करने के बाद, छत्री के प्रवेश-द्वार में घुसते ही सामने पीली पगडी बांधे हुए एक सिपाही पहरा देते हुए दिखाई देगा। यहां कोई व्यक्ति छाता लगा कर चल नहीं सकता। यदि कोई अजनबी व्यक्ति छाता लगा हुआ आ जाता है, तो वह सिपाही छाता उतार लेने के लिए कहता है। जिस स्थान पर स्व० महारानी अहिल्याबाई की प्रस्तर-मूर्ति स्थापित है, वहां कोई व्यक्ति जूते, मोजे पहिन कर, चश्मा लगा कर, छडी, छाता लेकर नहीं जा पाता। प्रवेश-द्वार परही एक खाकी वर्दीवाला सिपाही ऐसे व्यक्तियों को रोकता है। नाक पर चढा हुआ चश्मा उतरवा कर जेब के हवाले कराता है। जूते, मोजे, छडी, छाता सब द्वार पर ही रखा लेता है। हाथ में बंधी हुई रिस्टवाच भी जेब में रखवा दी जाती है और पाकेट-वाच की, जेब के बाहर लटकती चैन भी अदृश्य बनानी पडती है।

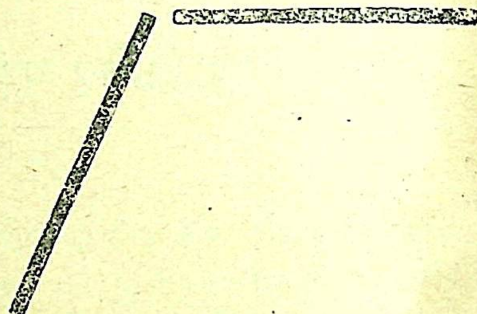
छत्री की बनावट वास्तव में देखने योग्य है। ऊपरी-गुम्मज पर चढने पर नर्मदा का दूर-दूर का सुन्दर दृश्य दिखाई पडता है। महेश्वर के समस्त मंदिरों के स्वर्ण-शिखर प्रातः के बालरवि की सुनहली किरणों से आलोकित दृष्टि पडते हैं। पटे हुए सुन्दर घाटपर रंग-बिरंगे वस्त्रों से अलंकृत स्त्री-पुरुष बडे भले मालूम पडते हैं। छत्री की एक मीनार पर खडे होने से विठ्ठलमंदिर के (जो यहां से करीब एक या दो फर्लांग की दूरीपर है) विठ्ठल भगवान् की मूर्ति के दर्शन आसानी से हो जाते हैं। द्वार-रक्षकों ने बताया कि उक्त विठ्ठल-मंदिर और वह मीनार इसीलिए बनाई गई है कि स्वयं महारानी स्व० अहिल्याबाई यहीं से विठ्ठल भगवान् के दर्शन कर सकें।

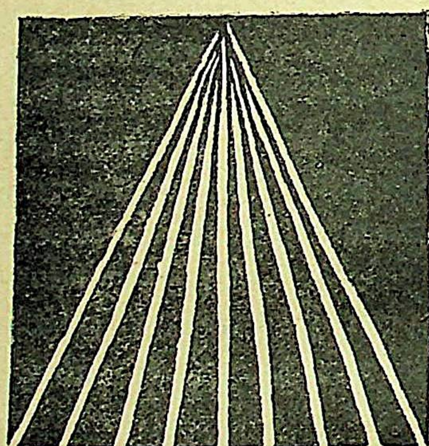
छत्री के सामने राय-आंगन बना हुआ है। कहते हैं, उस आंगन में नर्मदाजी के पूर आने पर वहां पानी नहीं आता, मगर कभी कभी जब नर्मदाजी का पूर भीषण रूप धारण करता है, तब यहां तक भी पानी चढ आता है। प्रबंधकों ने ऐसी बाढ को राय-आंगन में समय-समय पर जहां तक पानी पहुंच जाता था, संगमर्मर के पत्थर लगा कर और उस पर सन् और तारीख लिख कर दिखलाया है।

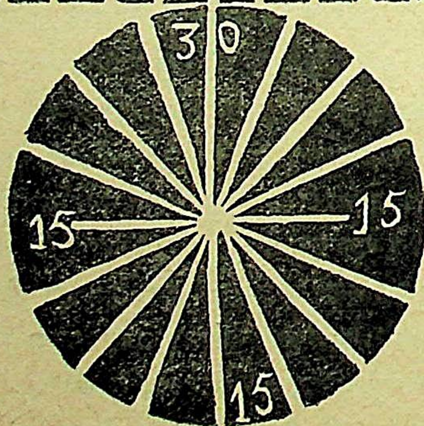
अपनी महेश्वर की यात्रा के समय हिज-हाइनेस जिस महल में ठहरते हैं, वह भी खूब सजा हुआ है। खिडकियों पर लगे हुए कीमती परदे और परदों में से छन-छन कर आनेवाली शीतल वायु की मधुर थपकियां, महलमें ठहरनेवालों पर अपना असर डाले बिना नहीं रहतीं। इस महल के पास ही एक बुर्ज है। इस बुर्ज पर एक गोल सफेद पत्थर कुछ तिरछा खडा रखा हुआ है। इस गोल पत्थर का व्यास करीब १॥ फूट होगा। उक्त पत्थर पर घडी के डायल के मुताबिक, ३० एक ओर से और ३० दूसरी ओर से, इस तरह ६० निशान किये गये हैं और प्रत्येक निशान के ४ हिस्से किये गये हैं। हर एक निशान पर एक-दो से नम्बर भी लिखे गये हैं। इस गोल घडियाल नुमापत्थर के साथ ही नर्मदा की तरफ एक दूसरा चपटा चौरस पत्थर रखा है। इस चौरस पत्थर पर, नर्मदा के तरफ के छोर के सेंटर से गोल पत्थर की ओर की किनार की तरफ चौडी होती हुई (अर्थात् बराबर बराबर कोण [Angle] बनाती हुई) कई लकीरें खींची गई हैं। आगे दिये गए नक्शे को देखने से स्पष्ट हो जाएगा।

सामने से
(Front Elevation)









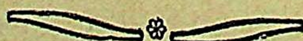
बाजू से
(Side Elevation)

इस घड़ियाल के विषम में पूछने पर यहां के कर्मचारी उसके बारे में कुछ भी नहीं बता सके।

मेरे खयाल से वह घडी भी हो सकती है और कैलेंडर भी। सूर्य की किरणों से या और किसी तरीके से पुराने जमाने में समय या तारीख पहिचानी जाती रही हो।

मगर और बारीकी से देखा जावे, तो एक दूसरी बात पर भी हमारा ध्यान जा सकता है। इस घडी के नीचे ही बाजू में एक छोटी सी खिडकी है। खिडकी के भीतर जाने पर सीढियां मिलती हैं। भीतर इतनी जगह है कि आदमी बखूबी खड़ा होकर सीढियां तय कर सकता है। भीतर अंधकार होने और प्रकाश का कोई साधन हमारे पास न होने के कारण हम यह मालूम नहीं कर सके, कि वे सीढियां कहां तक गई हैं। मगर यह खयाल अवश्य आता है कि उक्त घडी और इन सीढियों में जरूर कोई सम्बन्ध है। मुमकिन है उस घडी के किसी इशारे पर उक्त सीढियों से कोई काम लिया जाता रहा हो। किसी सम्बधित जिम्मेदार जानकार से ही यह रहस्योद्‌घाटन हो सकता है।

(स्वराज्य)



ईश्वरीय ज्ञान (वेद) का विशेष विवरण।

[ले०- आचार्य पं. चन्द्रकान्तजी, वेदवाचस्पति, वेदमनीषी (काशी), गुरुकुल महाविद्यालय, सोनगढ (काठियावाड)]

इस लेखमें तत्त्वकी दृष्टि से ईश्वरीय ज्ञान के विषय में विचार किया गया है। वनस्पति, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि योनियां परमात्मा की विशेष विशेष रचनाएं हैं। पाश्चात्य विचारकों की दृष्टिसे पशु-जगत् से मनुष्यजगत् को भिन्न करनेवाली निम्न तीन बातें हैं—

१. शस्त्र-व्यवहार (use of tools),
२. अग्नि-व्यवहार (use of fire),
३. व्यक्तभाषा-प्रयोग (use of articulate language),

अत्यधिक असंस्कारी मनुष्य-समाजमें भी व्यक्त-भाषाका अभाव मानना, यह कल्पनासे परेकी बात हो सकती है। हमारे सामने सबसे पहिले यह प्रश्न होता है कि मनुष्य में अपने भावों को दूसरों को व्यक्त करनेके लिए-विचार करनेके लिए-शक्ति कहां से आयी ?

अभिनव बालक प्रारम्भमें कुछ भी बोल या विचार नहीं सकता। आयु की वृद्धि के साथ उसके अन्दर मातापिता और गुरु आदिके संसर्गसे विचारने की तथा अपने हिताहित के समझने की शक्ति आती है। क्या मनुष्य, क्या पशु-पक्षी सबमें खान-पानादि के सम्बन्धमें सामान्य ज्ञान अवश्य होता है, परन्तु विशिष्ट ज्ञान भिन्न भिन्न योनियों में, भिन्न भिन्न कोटिके मानवियों में विशेष निमित्त से ही आता है। पशु और मनुष्य में भोग्यशक्ति समान रूपसे है, परन्तु मनुष्यके सिवाय अन्य किसी भी प्राणीमें भोग्यपदार्थकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा का ज्ञान नहीं होता। यदि आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानसे ही यह सब हो जाता हो, तब तो पशुमें भी आत्मा है, वह क्यों भोग्यपदार्थों की उत्पत्ति, वृद्धि तथा रक्षा का कार्य न कर सके? अकेला मनुष्यही अन्य चेतनादि के निमित्त से तथा उसकी सहाय से स्वाभाविक ज्ञानमें वृद्धि करता है। गृह बनाना, वस्त्र बनाना आदि अनेक क्रियाएं वह नैमित्तिक ज्ञान के आधार परही करता है। हम देखते हैं कि गौ-भैंस आदिके बच्चे स्वभाव से ही तैरना जानते हैं; परन्तु मनुष्य-संतान बिना सिखाये तैरना नहीं जानती। संभव है कि स्वाभाविक ज्ञान अथवा सामान्य सहज-ज्ञान पशुओं में मनुष्य की अपेक्षा अधिक हो, परन्तु मनुष्य नैमित्तिक ज्ञानकी प्राप्ति तथा वृद्धि की योग्यता से ही पशुओं से उच्च गिना जाता है। जीवात्माका ज्ञान-चैतन्य-एक गुण है।

जीवात्मा ज्ञान प्राप्त कर सकता है, परन्तु किस तरह से? हमारी चक्षुओं में दृष्टिशक्ति है, परन्तु वह सूर्य की ज्योति के बिना उपयोग में नहीं आ सकती और बिना आंखों के सूर्य का प्रकाश भी निरर्थक और निरस्तित्व लगता है। इस तरह जीवात्मा में शक्ति होने पर भी अन्य निमित्तसे ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि निमित्त बिलकुल न हो और केवल शक्ति ही हो तब भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। मनुष्यके देहमें भोग और कर्म के लिए ज्ञान अपेक्षित रूपसे है। यह ज्ञान आज भी अनेक प्रयत्न करने पर माता-पिता आदि चेतनरूप-निमित्त के विना प्राप्त नहीं हो सकता, तो फिर सृष्टि के प्रारम्भ में जीवात्माओं को किसी भी चेतनरूप-निमित्त के विना कैसे ज्ञान प्राप्त हुआ होगा ?

कतिपय विकासवादी विचारक मानते हैं कि मनुष्यों में आवश्यकतानुसार विचार उत्पन्न हुए और उसमें वृद्धि होती गई; परन्तु इस विषय में कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं है। महान् से महान् विपदा में भी मनुष्य-संतानने दूसरों से शिक्षण प्राप्त किये विना ज्ञानका आविष्कार नहीं किया। इस विषयको आधुनिक

समय में अनेक परीक्षणों से प्रमाणित किया जा सकता है। एक बालक एक शेठके वहां पैदा हुआ है परन्तु जबतक उसे शिक्षण न दिया जाय, तब तक वह कुछ भी सीख नहीं सकता। आवश्यकता, अवसर और परिस्थिति अपने आप स्वतंत्र रूपसे ज्ञानोत्पत्तिमें कारणरूप नहीं बन सकती। यदि कोई चेतनशक्ति ज्ञानको उत्पन्न करनेमें निमित्तरूप बनती है तब ही आवश्यकता, अवसर और परिस्थिति ज्ञानकी वृद्धिमें कारणरूप बनती है।

इसलिए सृष्टिके प्रारम्भ में भी जीवात्माओंने किसी निमित्तभूत चेतनशक्ति के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया होगा-ऐसा करना असंगत नहीं, परन्तु युक्तियुक्त है। इसलिए पतंजलि मुनिने योगदर्शन के समाधिपादके २६ वें सूत्र में ईश्वर को 'पूर्वेषामपि गुरुः' कहा है अर्थात् ईश्वरमें कालकृत सीमाओं के न होनेसे ब्रह्मा, अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा आदि ऋषिओं का भी वह गुरु है। वेदान्तशास्त्र में इसी लिए ईश्वर को शास्त्रयोनि ('शास्त्रयोनित्वात्' १-१-३) कहा गया है।

हमने देखा कि सृष्टि के आरम्भ में जीवात्माओं को नैमित्तिक ज्ञानकी आवश्यकता है और नैमित्तिक ज्ञान चेतनकी सहायता से मिल सकता है-वह चेतन परमात्मा है; -दूसरे शब्दोंमें कहें तो सृष्टि के आदि में ईश्वरप्रेरित अर्थात् अपौरुषेय (पुरुष=मनुष्य) ज्ञानकी सत्ता अवश्य होनी चाहिए।

सामान्यतया ज्ञान के तीन विभाग हो सकते हैं- (१) स्वाभाविक, (२) नैमित्तिक और (३) काल्पनिक। इसके अन्दर सृष्टिके आरंभ का ईश्वरीय ज्ञान नैमित्तिक कोटि का है। स्वाभाविक ज्ञानसे मनुष्य के मस्तिष्कमें ऐसी शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती कि जिससे वह अपना ज्ञान विस्तृत बना सके। संस्कारहीन और जंगली जातियां इस बातकी साक्षीरूप हैं। हम जगत् में जो महान् ज्ञान देखते हैं वह ज्ञान प्रथमश्रेणी के ज्ञान का विकास नहीं है; इस प्रकार प्रारंभिक ज्ञान काल्पनिक कोटिका भी नहीं हैं, क्योंकि यदि ईश्वर की तरफ से हमें सब कुछ बता दिया जाय, तो मनुष्य की स्वतन्त्रशक्ति तथा व्यक्तित्व का कोई भी अर्थ नहीं रहता और इस कारण मनुष्य के विचारों के प्रवेशद्वार उस दिशा में बन्ध हो जाते हैं। इस लिए सृष्टिकी आदिमें ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान नैमित्तिक कोटि का अर्थात् प्रावेशिक ज्ञान की कोटि का होना चाहिए। ईश्वरीय ज्ञान के सम्बन्ध में हम तीन बात की कल्पना कर सकते हैं-

(१) यह ज्ञान सृष्टिके आरम्भ में ही मिला और उस समय के मनुष्यों के लिए यह ज्ञान गुरुओं की स्थानपूर्ति करता है।

(२) कालक्रम में विशिष्ट विशिष्ट व्यक्तिओं के द्वारा ईश्वरीय ज्ञान विशेष विशेष ग्रन्थोंके रूपमें प्रादुर्भूत होता है।

(३) किसी भी प्रकार के माध्यम के बिना समय समय पर विशिष्ट व्यक्तिओं को ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त होता है।

इन तीनों कल्पनाओं में प्रथम कल्पनाही बुद्धियुक्त है, क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भमें आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त होने के बाद भी ऐसे ज्ञान की उपलब्धि हो, ऐसी कल्पना में ईश्वरकी सर्वज्ञता तथा न्यायप्रियता खण्डित हो जाती है। फिर ईश्वरीय ज्ञान में कितना ठीक करना और कितना बिगाडना (Abrogate) यह सब ईश्वरके ईश्वरत्व में ही बन्धनरूप में आता है। इसलिए सबसे प्रथम कल्पना ही बुद्धियुक्त ओर युक्तियुक्त है।

अब हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि निराकार और निरंजन परमेश्वर जीवात्माओंको ज्ञान किस प्रकार से देता है ? मनुष्य जब शुभ कर्म करना चाहता है तब उसके संकल्प करनेके साथ ही उस में उत्साह और प्रसन्नता उत्पन्न होती हैं। और जब अशुभ कार्य करनेकी इच्छा करता है तब संकल्पमात्रसे ही भय और शंका उसमें उत्पन्न होती है। दोनों अवस्थाओं में मनुष्य में उत्पन्न हुए उत्साह, अनुत्साहादि भावोंको हम वाणीसे नहीं कह सकते।

इसी प्रकार कानोंसे सुनभी नहीं सकते । यह भाव केवल हृदयमें ही उत्पन्न होता है और ऋषि उसे हृदयसे ही समझते हैं। इस विषयमें अनेक तत्त्वज्ञोंकी सहमति है। जिस प्रकार Hypnotizer सामनेके व्यक्तिके मुखसे केवल मानसिक प्रेरणाके आधार पर ऐसी ऐसी भाषाके शब्द बुलवाता है कि जो शब्द उस मनुष्यने कभी भी सुने नहीं। इस प्रकार सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् परमात्मा सृष्टि के आदि के मानवों के हृदयोंमें ज्ञान का प्रकाश करता है।

आदि ज्ञान तथा आदि भाषा।

ज्ञान शब्दसे हम दो प्रकार के भाव समझ सकते हैं- एक तो विचार अथवा भाव और दूसरा उस विचारकी सूचक भाषा। मनुष्य में किसी भी प्रकार का विचार कोई विशिष्ट भाषा के आधारके बिना उत्पन्न नहीं होता; केवल दूसरोंको अपने भाव व्यक्त करने के लिए ही भाषा की आवश्यकता है- ऐसा नहीं है परन्तु अपने अन्तरात्मामें भी विचार भाषाके बिना नहीं रह सकते। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री प्रोफेसर मेक्समूलर अपने 'भाषाविज्ञान' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि-

We never meet with articulate sounds except as wedded to determinate ideas, nor do we ever, I believe, meet with determinate ideas except as embodied forth in articulate sounds. I, therefore, declare my conviction as explicitly as possible that thought in the sense of reasoning is not possible without language.

इस प्रकार Schelling भी लिखते हैं कि—

Without language it is impossible to conceive philosophical, nay even any human consciousness.

अर्थात् भाषाके आधारके बिना मानवीय ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। भाषासे यहां पर कोई देश, जाति अथवा कालविशेष की भाषा नहीं समझनी चाहिए, परन्तु भाषासे यहां बोलने की शक्ति का अर्थ अभिप्रेत है, और जो शक्ति मनुष्य को सृष्टिके प्रारम्भमें ही प्राप्त हुई है। यह शक्ति किस प्रकार आई ? अनुभव और दृष्टान्त हमें बताते हैं कि बालक बिना सिखाये कोई भी भाषा नहीं बोल सकता। माता पिता आदि से सुनकर ही वह मातृभाषा को बोलने व समझने में समर्थ होता है।

सामान्यतः हम देखते हैं कि संसार में एक दूसरे से भिन्न ऐसी हजारों भाषाएं हैं कि जिनसे हम विचार करते हैं कि आवश्यकता और परिस्थितिओंमें भिन्न भिन्न जातियोंने भिन्न भिन्न समय में ये भाषाएं प्रकट की हैं और इसी प्रकार प्रारम्भ में भी भाषा विकसित हुई होगी, परन्तु ऐसी धारणा अशुद्ध है, क्योंकि भाषाशास्त्रियोंने यह साबित किया है कि संसार में प्रचलित कोई भी भाषा नयी नहीं है। उन सबकी उत्पत्ति कोई एकही मातृभाषामें से हुई है। अब हमारे सामने विचारणीय प्रश्न यही है कि सर्व भाषाओंकी मूल भाषा कौनसी और उसका विकास कैसे हुआ ?

भाषाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कतिपय मतोंका पर्यालोचन।

इस विषयका विवेचन करनेसे हमारे सामने दो विचार उपस्थित होते हैं एक तो यह है कि 'भाषा का विकास क्रमशः हुआ है,' और दूसरा यह है कि ज्ञानके समान भाषा भी कोई दैवी शक्ति द्वारा हमें मिली है।' विकासवादी अपने मतको सिद्ध करते हुए निम्न तीन कल्पना बताते हैं—

(१) भाषाकी उत्पत्ति के सम्बन्धमें सर्वप्रथम कल्पना theory of convention की है। इसके आविष्कर्ता महाशय लॅाक थे। एडम स्मिथने भी इसका अच्छी तरहसे समर्थन किया है। इस कल्पना के अनुसार प्रारम्भमें सब प्राणी गूंगे थे; अपने भावों को व्यक्त करने के लिए वे शरीरके भिन्न भिन्न संकेत करते थे, परन्तु कालान्तर में विचार इतने अधिक बढ़े कि उनको संकेतोंसे बताना कठिन हो

गया। तब कितनेही कृत्रिम चिन्ह निश्चित किये गये और उनके अर्थ पारस्परिक व्यवहार से निश्चित किये गये। इस कल्पना को विचारनेसे यह दोषयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि जब शब्द और अर्थ दोनों अपूर्ण थे, तब परस्पर का व्यवहार किस माध्यमसे स्वीकृत किया गया ? यह प्रश्न उपस्थित ही रहता है।

(२) द्वितीय कल्पना Onomatopoetic theory से पहिचानी जाती है। इस कल्पनाके अनुसार माना जाता है कि प्रारम्भ में जब मनुष्यने बोलना आरम्भ किया तब उसने अपने आसपास के चेतन प्राणियोंके शब्दोंका अनुकरण किया और बादमें वेही शब्द, जो कि जिसके अनुकरण से बने थे, उन उन पदार्थों के लिए प्रयोगमें लाये गये। परन्तु किसी भी भाषा का इतिहास इस कल्पनाकी पुष्टि नहीं करता। हम कोई भी भाषा का विचार करें उसमें प्राकृतिक जगत् में होते अवाजों के साथ साम्य रखनेवाले शब्द बहुतही कम देखनेमें आते हैं, परन्तु यदि एक शब्द मिल भी जाय तब भी उससे यह मत साबित नहीं होता।

(३) तीसरी कल्पना Bow-Vow तथा Interjectional theoryके नामसे प्रसिद्ध है। इसके अनुसार मनुष्यके मानसिक भाव वेगयुक्त होकर उसके मुख में से स्वाभाविक शब्दों द्वारा व्यक्त होते गये। इस प्रकार भाषाकी उत्पत्ति धीरे धीरे हुई। मनुष्य दुःख में हा ! हा ! और आनन्द में वाह ! वाह ! करने लगा। इस विषयके लिए केवल इतना ही लिखना बस होगा कि संसार की प्रत्येक भाषामें इस प्रकार के शब्द नाम मात्र के ही मिल आते हैं और वे भाषाके अंगभूत नहीं होते। साथ में यह बात भी निस्सत्व लगती है कि मनुष्यके मुख में से जैसे तैसे शब्द निकल पडे उनको दूसरे मनुष्योंने किसी निश्चित अर्थ में कैसे जान लिया ? इसलिए हम अन्त में इस परिणाम पर आते हैं कि, सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वरने शब्द और उसके अर्थ तथा दोनों में सम्बन्ध बताने का ज्ञान प्रदान किया है।

प्रो. मेक्समूलर इसी सत्यको अपने 'भाषाविज्ञान' नामक पुस्तक में इस प्रकारसे बताते हैं- ' मनुष्यों में तथा अन्य प्राणियोंमें भाषा का भेद ऐसा है कि उसे दूर नहीं किया जा सकता। संसार में ऐसा कोई भी दृष्टान्त नहीं मिलता कि जिसमें यह बताया गया हो कि कोई पशु उन्नति करते करते मनुष्य की श्रेणी में पहुंचा हो और वह मनुष्य की भाषाका उपयोग करता हो। इससे विपरीत यह बात स्पष्ट है कि मनुष्य अभ्यास से पशुओं की भाषा बोल सकता है, परन्तु पशुओंके लिए ऐसा अनुकरण करना अशक्य है।' (भाषाविज्ञान १ भाग, पृ० १३)

हमने आगे देखा कि शब्दोंमें विशेष अर्थ स्थापित करने की शक्ति ईश्वरने हमें दी है, इसलिए हम कह सकते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में प्राणियों का नैमित्तिक ज्ञान और भाषा ईश्वर की तरफ से दी गयी हैं। अब हमें विचारना यह है कि वह अपौरुषेय ज्ञान कैसा और कोनसा हो और वह कौनसी भाषा में प्रकट हुआ। युक्ति और प्रमाणों के आधार पर विचारने से पता लगता है कि ईश्वरीय ज्ञान वेद ही हैं। वेदके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ ईश्वरीय ज्ञानरूपसे साबित नहीं होते, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञानकी परीक्षा में वेद ही न्याययुक्त प्रतीत होते हैं।

(१) चारों वेदों की अन्तःसाक्षी तथा अन्य शास्त्रों की अन्तःसाक्षी से यह स्पष्ट होता है कि वेद यह एक ईश्वरप्रेरित ज्ञान है।

(२) ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश सृष्टिके आरम्भ में ही होना चाहिए-यदि ऐसा मानने में आये तो ईश्वरकी न्याययुक्तता खंडित हो जाती है।

(३) ईश्वरीय ज्ञान किसी देश विशेषकी भाषा में नहीं होना चाहिए कि जिससे उसे समझनेमें सबको समान श्रम करना पडे।

वेद ऐसी भाषामें है कि जो सब आर्यभाषाओं की मातृभाषा है। भाषाविज्ञानके विद्वानोंने इस बातको साबित किया है कि प्रचलित सब भाषाओं में प्राचीनतम भाषा वैदिक भाषा है और इस वैदिक

भाषामें से ही अनेक भाषाओंका विकास हुआ है। इस पर से हम जान सकते हैं कि प्रारम्भ में ईश्वरका दिया हुआ ज्ञान वैदिक भाषामें होना असम्भव नहीं।

(४) यह ज्ञान सृष्टिके नियमों से विपरीत नहीं होना चाहिए।

(५) इस ज्ञान में सर्व सत्यविद्याओंके मूलतत्त्व अवश्य होने चाहिए।

वेद उपरोक्त पांच कसोटियों में से पास होकर अपनी योग्यता साबित करता है। ब्राह्मणग्रन्थ वेदोंके व्याख्या-ग्रन्थ हैं, वे ग्रन्थ याज्ञवल्क्यादि ऋषियों द्वारा बनाये गये हैं। इस प्रकार वे ग्रन्थ मनुष्यकृत् होने से ईश्वरीय ज्ञानकी कोटिमें नहीं आसकते।

यहां पर एक स्वाभाविक प्रश्न होता है कि यदि ईश्वर ही वेदोंका कर्ता हो तो मन्त्रों में आते हुए ऋषिओं को क्या गिना जाय? ऋषी और मुनियों के नाम सूक्त और मन्त्रों के साथ सम्बन्ध रखते हैं; क्या उन्हें वेदकर्ता नहीं मान सकते? इस विषयमें हम इतनाही कहेंगे कि ऋषि वेदकर्ता नहीं है, परन्तु द्रष्टा हैं। वे वेदके ज्ञाता हैं, निर्माता नहीं। इस विषय में कतिपय प्रमाण नीचे दिये जाते हैं--

(१) 'नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः।'
(तैत्तिरीयारण्यक ४-१७)

इस पर सायणने निम्न भाष्य किया है-

मन्त्रकृद्भ्यः मन्त्रं कुर्वन्तीति मन्त्रकृतः। यद्यप्यपौरुषेयवेदे कर्तारो न सन्ति तथापि कल्पादावीश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्रकृतः इत्युच्यन्ते।'

इसमें सायण मन्त्रोंके ग्रहणकर्ता ऋषियों को मन्त्रकर्ता शब्द से सम्बोधन करते हैं।

(२) 'सर्पऋषिर्मंत्रकृतः।' (ऐतरेय ब्राह्मण ६-१-१) इस पर सायण भाष्य करते हैं कि-

"ऋषिः अतीन्द्रियार्थमन्त्रकृत् (कृ-धातुस्त्वत्र दर्शनार्थः) मन्त्रस्य द्रष्टा।"

अर्थात् मन्त्रकृत्का अर्थ मन्त्रद्रष्टा है।

(३) आचार्य यास्कने लिखा है कि-

"ऋषि-दर्शनात् स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवस्तत् यदेनां तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयाम्भ् अभ्यानर्षत् तत् ऋषयोऽभवन् तदृषीणां ऋषित्वमिति विज्ञायते।" (२-३-२)

इसमें भी यास्काचार्यने ऋषियों को मंत्रद्रष्टा के तौर पर ही स्वीकार किया है। ऐसे अनेक प्रमाणोंसे स्पष्ट होता है कि वेदमंत्रों के रचयिता ऋषि नहीं, परन्तु वेद तो ईश्वर-प्रेरित ही हैं। ऋषि संसारके गुप्तरहस्यमय मंत्रों (Secret Ideas) के ज्ञाता हैं, द्रष्टा हैं। 'सिद्धान्तसार' नामक पुस्तकमें मणिभाई नभुभाई लिखते हैं कि—

'सप्तसिन्धु प्रदेशमें आकर बसे हुए आर्योंकी शाखाका मूल धर्मपुस्तक वेद नामसे प्रसिद्ध है। कुरान, बाईबल आदि जैसे पुस्तकवाची नाम हैं वैसे वेद पुस्तकवाची शब्द नहीं। विद् अर्थात् जानना, ज्ञान प्राप्त करना। विद् धातुसे उत्पन्न वेद शब्द ज्ञान मात्रका भंडार इस अर्थका वाची है। सर्वज्ञता का स्वरूप ही वेद है, इसलिए वेद ईश्वर-प्रणीत हैं। मुसा पयगम्बरको ईश्वर ने दश आज्ञाएं लिखाई थीं तथा महमद को जीब्रेल नामक फिरस्तेने कुरान के पैरे प्रसंग प्रसंग पर कहे थे परन्तु वेद इस प्रकार उतरा है ऐसा नहीं कहा जाता। वेद ईश्वरदत्त नहीं परन्तु ईश्वरप्रेरित कहा जाता है। वेदमंत्र भिन्न भिन्न ऋषिओंके ज्ञानरूपमें प्रतीत होते हैं।

दृष्ट हुए है इसलिए वे ऋषि मंत्रद्रष्टा कहे गये। ऋषिओं के ज्ञानमें प्रतीत होना और ऋषिओंने ही बनाये इन दो अर्थोंके बीचमें इस प्रकार सूक्ष्म भेद मानकर प्राचीन पंडितोंने वेदमंत्रों को अनादि माना है, इसलिए वे ज्ञानरूपमें प्रतीत होते हैं। अनंत युग, अनंत कल्प चले गये परन्तु वेद तो वैसे के वैसेही हैं। उनका कर्ता किसीके स्मरण में नहीं, अतः वे नित्य

हैं, अनादि हैं, अपौरुषेय हैं, ईश्वरप्रणीत हैं, ईश्वर-रूप हैं। मीमांसक तो शब्दकी नित्यता सिद्ध करके वेदकी नित्यता सिद्ध करते हैं।'

उपरोक्त दृष्टान्तसे स्पष्ट होता है कि वेद ईश्वर-प्रेरित हैं। ऋषि-मुनियों की स्वतंत्र कृति न होनेके कारण पौरुषेय नहीं किन्तु अपौरुषेय है। इसलिए सायणाचार्य 'ऋग्भाष्यभूमिका' में वेद का लक्षण निम्न प्रकारसे करते हैं कि 'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः'। वेद शब्द ज्ञानका वाची है। मनुष्यजाति के सबसे पूराने इन ग्रंथोंमें सर्वविद्याओं के मूलतत्त्व बीजरूप में विद्यमान है। ऋषिओं ने अपनी स्वतंत्र बुद्धिसे यह ज्ञान उत्पन्न नहीं किया परन्तु अन्तर्यामी रूपमें विद्यमान सर्वव्यापक ईश्वर के द्वारा हृदयकी प्रेरणा के रूप में यह ज्ञान प्राप्त किया हुआ है। इसलिए ही उसे श्रुति भी कहा जाता है।

हमारे प्राचीन दर्शन-ग्रंथोंमें भी वेदकी पौरुषेयता-अपौरुषेयता पर अनेक विचार भिन्न भिन्न दृष्टिसे उपस्थित करने में आये हैं। मीमांसक कहते हैं कि नित्य शब्दवाले वेद किसी से पैदा नहीं हुए, ऋषियोंने उनका दर्शन किया है परन्तु उन्होंने बनाये नहीं। इस कारण ही वेद अकर्तृक, नित्य और अपौरुषेय हैं। सांख्यकार मानते हैं कि सूर्यचन्द्रादि के समान वेद भी प्रकृति के नियमानुसार ही उत्पन्न हुए हैं। उनके उनके रचयिता ज्ञात न होने से वे वेद अपौरुषेय हैं। सांख्य-मतानुसार वेद स्वतःप्रमाण हैं, क्योंकि वे ईश्वररूप 'पुरुष' द्वारा प्रादुर्भूत हुए हैं। "निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्" (५-५)

अर्थात् वेदों में ऐसी स्वाभाविक शक्ति है कि जिससे वे अपने अर्थोंको सिद्ध करने में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रखते; उनके रचयिता ज्ञात न होने से उन्हें अपौरुषेय मानने में आता है।

नापौरुषेय तत् कर्तुं पुरुषस्याभावात्। (५-४६)

प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार वैदिक शब्दोंको लौकिक भाषाके शब्दोंके अनुसार ही मानना चाहिए। वेद के शब्द कूटस्थ नित्य नहीं है, परन्तु प्रवाह से नित्य अवश्यमेव है। जिस प्रकार आयुर्वेद आप्त भी है और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी है, इसी प्रकार वेद के विषय में भी जानना चाहिए। उनके मतानुसार वेद पौरुषेय हैं।

मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत् प्रामाण्यं आप्त-प्रामाण्यात्। (न्यायसूत्र २-१-६८)

इससे मिलता जुलता मत वैशेषिक का भी प्रतीत होता है। उसके अनुसार शब्दस्वरूप वेद अनित्य और अपौरुषेय हैं। परन्तु अर्थ रूपमें विद्यमान विद्याएं नित्य और अपौरुषेय है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् (वै० सू० १-१-३)

वैयाकरणियों में से पतंजलि और कैयट का भी ऐसाही विचार है। इस प्रकार हमारे प्राचीन दर्शनों में अपौरुषेयता शब्द का व्यवहार हमने देखा। सबने भिन्न भिन्न दृष्टि से उसका अर्थ किया है। इस अवस्थामें कभी कभी हमें सामान्य दृष्टि से दर्शनोंमें एकवाक्यता का लोप हुआ हो ऐसा लगेगा, परन्तु यदि तात्त्विक बुद्धिसे विचारेंगे, तो मालूम होगा कि वेद ईश्वरप्रेरित हैं। इस कारण पौरुषेय नहीं। पुरुष शब्द को यदि ईश्वर में लगाया हुआ समझाया जाय तब तो उसे पौरुषेय माना जा सकता है परन्तु यदि उससे ऋषि-मुनियों का ग्रहण किया जाय तब तो पौरुषेयता में दोष आता है।

इस प्रकार हमने तत्त्वकी दृष्टि से इस बात को प्रतिपादन करने में यत्न किया कि वेद ईश्वर-प्रेरित हैं, अपौरुषेय हैं। इससे विपरीत ब्राह्मण-ग्रंथ मानव-निर्मित होने से ईश्वर-प्रेरित नहीं हैं। संसारके समस्त आधारभूत ज्ञान का भंडार वेदही है।

महत् ऋग्वेदादे ... ... अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य सर्वज्ञकल्पस्य।

इसके द्वारा ही संसार में ज्ञानका विकास हुआ है। एडवर्ड कार्पेन्टरने अपनी पुस्तक 'Art of Creation' के सातवें पृष्ठ में लिखा है कि-

'A new philosophy we can hardly expect or wish for, since, indeed the same germinal thoughts of the Vedic authors come all the way down History even to Schopenhaur and Whitman inspring philosophy after philosophy and religion after religion ...... and it is only to-day that science with its huge conquests in the material plane is able to provide for these world-old principles... ..., somewhat of a new form and so wonderful a garment of illustration and expression as it does.'

इस दृष्टान्त से वेदों की महत्ता स्पष्ट प्रतीत होती है। अपौरुषेय ईश्वरप्रेरित ज्ञानकी महिमा किसलिए न गाई जाय? अस्तु।

महाभारतमें गीताका समावेश

(अनुवादक - श्री० अ० शं० कोल्हटकर)

महाभारतमें गीताका समावेश किसने कब और क्यों किया ? इन प्रश्नोंपर कुछ विचार करना चाहता हूं ।

वंगीय विद्वान् श्री० बंकीमचन्द्रने इस मत का उपन्यास किया कि मूल भारतग्रंथ व्यासशिष्य वैशंपायनजीने लिखा और फिर उसे परिवर्धित करके सौतीने महाभारत बनाया।

महाराष्ट्र-पंडित श्री० वैद्यजी चार संस्करण मानते हैं । व्यासजीका मूल ग्रंथ 'जय', वैशंपायनजीका संस्करण 'भारत', सौतीका उपबृंहण 'महाभारत' और फिर एक बारका संवर्धन-जिसका विधाता मालूम नहीं हो सकता-जिसमें नारायणी-यादि आख्यान जोड दिये गये । मेरा मत है कि व्यासजी-का मूल ग्रंथ गद्य था । उसके आधारपर सुमंतु जैमिनि वैशंपायन और पैल इन चारोंने चार भारतसंहिताओंकी पद्यमय रचना की । सौतीने इन्हींके आधारपर अपना महाभारत बनाया, जिसमें फिर भी और आख्यान पीछेसे जोड दिये गये ।

अब प्रश्न यह है कि सौतीके महाभारत में गीता थी या पीछेसे जोड दी गयी । गीताको सौतीके महाभारत का अंश माननेवाले अपने मत का आधार यह बताते हैं कि महाभारतमें, (१) बहुतसे स्थानोंपर गीताके उल्लेख मिलते है, (२) गीताके कुछ श्लोकार्ध भी पाये जाते हैं । दूसरे प्रमाणसे उनका मत पुष्ट नहीं हो सकता । क्योंकि संभव है गीता-कर्ताने उन्हीं श्लोकार्धों को उठाकर अपने ग्रंथमें रख दिये हो । पहले प्रमाणका कुछ अधिक विचार करना अवश्य है । सौतीके महाभारत में गीताके सम्बन्ध में अगर स्पष्ट उल्लेख मिल जायेंगे, तो मानना पडेगा कि गीता उसका अंश अवश्य है ।

मुझे महाभारतमें गीताके उल्लेख दस स्थानोंपर मिले हैं। तीन आदि-पर्व की अनुक्रमणिकाओं में, तीन शांतिपर्व में और चार आश्वमेधिक पर्व अनुगीतामें । मेरी धारणा है कि, ये सब भाग सौतीके महाभारतमें पीछेसे जोड दिये गये हैं । अतः इनसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि गीता उसका अंश है। अब उचित है कि मैं मेरी धारणाके प्रमाण बताऊं ।

१. किसी ग्रंथकी अनुक्रमणिका उसके पूर्ण होनेके पश्चात् ही तैयार की जाती है । यक्षप्रश्न अर्वाचीनतम अंश माना जाता है । तीनों अनुक्रमणिकाएं उसका निर्देश करती हैं, अतः वेभी अर्वाचीन सिद्ध हुई । गीताकाभी इन तीनों में उल्लेख पाया जाता है, जिससे सिद्ध है कि गीता भी महाभारतका अर्वाचीनतम अंश है ।

२. आदिपर्वके दूसरे अध्यायमें आश्वमेधिक पर्वकी जो अनुक्रमणिका है, उसमें अनुगीताका उल्लेख नहीं है । जिससे सिद्ध है कि स्वयं अनुगीता महाभारतका अर्वाचीन अंश है । अतः उसमें जो गीताके उल्लेख मिलते हैं, उनसे गीताका प्राचीनत्व सिद्ध नहीं हो सकता ।

रहे नारायणीय आख्यानके उल्लेख । इनमें 'महाभारत' नामका निर्देश है, जिससे उसकी अर्वाचीनता स्वयं स्पष्ट है, अर्थात् इसकी भी साक्षी व्यर्थ है ।

गीता पीछेसे जोड दी गयी न होती, तो उसका पहले अध्यायसे ठीक मेल बैठता । पर बात वैसी नहीं है । पूर्वके अध्यायमें धृतराष्ट्र संजयसे पूछता है, 'किस पक्षके वीर उत्साहयुक्त थे और किस पक्षके उत्साहहीन हो गये थे ? किस पक्षने पहला वार किया ? तथा किस पक्षमें शुभ चिह्न हो रहे थे ?' और संजयने भी इसका उचित उत्तर दिया था। फिर भी धृतराष्ट्रका 'धर्मक्षेत्रे' आदि पूछना बिलकुल सारहीन प्रतीत होता है । ×

× प्रो० पं० शं० ल० गोखले, न्यूयार्क के लेखका साररूप अनुवाद ।

रोगनाशन।

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्। सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मंत्रयामहे ॥३५॥ (अथर्व ९।८।१)

(शीर्षक्तिं) सिरकी पीडा, (शीर्षामयं) शिर का रोग, (कर्णशूलं) कानका दर्द, (विलोहितं) रक्त का बिगाड, (ते सर्वं शीर्षण्यं रोगं) तेरा सब मस्तक का रोग (बहिः) बाहिर (निर्मंत्रयामहे) निकालते हैं।

कर्णाभ्यां ते कंकूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम्। सर्वं०॥३६॥ यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः। सर्वं० ॥३७॥ यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम्। सर्वं० ॥३८॥ अंगभेदमंगज्वरं विश्वांग्यं विसल्पकम्॥सर्वं०॥३९॥ अथर्व ९।८।२-५

(ते कर्णाभ्यां) तेरे कानोंसे (कंकूषेभ्यः) कानकी नसोंसे कर्णसूल और (विसल्पकं) विसर्प रोग, (यस्य हेतोः) जिसके कारण (कर्ततः आस्यतः) कान अथवा मुंहसे (यक्ष्मः प्रच्यवते) रोग चूता है, (यः) जो (पूरुषं) मनुष्य को अंधा और (प्रमोतं) गूंगा (कृणोति) करता है, तथा जो अंगज्वर, (अंगभेदं) अंगका फूटना, और (विश्वंग्यं) सब अंगोंमें व्याप्त विसर्पक रोग हम बाहिर निकालते हैं।

क्षयरोग।

तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह। पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥४०॥ (अथर्व० ५।२२।१२)

हे (तक्मन्) क्षयी ज्वर! तू अपने (भ्रात्रा बलासेन) भाई कफके साथ तथा (स्वस्रा कासिकया सह) बहिन खांसीके साथ (भ्रातृव्येण पाप्मा सह) भतीजा खुजली के साथ (अरणं जनं) नीच चाल चलनेवाले मनुष्य के प्रति (गच्छ) जा।

क्षयी ज्वर, खांसी, कफ, आदि विकार नीच आचरण करनेवाले मनुष्य को होते हैं। इसलिये कोईभी मनुष्य नीच आचरण न करे। सदा शुद्ध व्यवहार करे।

इस मंत्रमें वैदिक अलंकारमय वर्णन देखने योग्य है।

औषधिसेवनसे रोगनाश।

यत्ते माता यत्ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः। प्रत्यक्सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥४१॥ (अथर्वं० ५।३०।५)

(यत् ते माता) जो तेरी माता, जो तेरा पिता, तेरी (जामिः) बहिन और तेरे (भ्राता) भाई, जो (सर्जतः) लाते हैं, वह (भेषजं) औषध (प्रत्यक् सेवस्व) प्रतिवार सेवन कर, जिससे (त्वा) तुझे मैं (जरदष्टिं कृणोमि) वृद्ध आयुतक जीवित करता हूं।

योग्य औषध सेवन करनेसे दीर्घ आयु होती है।

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह। दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥४२॥ (अथर्व० ५।३०।६)

हे (पुरुष) मनुष्य (सर्वेण मनसा सह) पूर्ण शक्तिसे युक्त मनके साथ (इह एधि) यहां रह। यमके दूतोंके पीछे (मा गाः) मत जा। (जीव पुरा) जीवित मनुष्योंके नगरोंमें (अधि इहि) पहुंच॥

जो मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना चाहता है, उसको मनके पूर्ण उत्साहके साथ आत्मशक्तिपर विश्वास रखकर यहांके कर्तव्य करने चाहियें, मरनेका खयाल छोडना चाहिये, अपनी पूर्ण शक्तिके साथ नागरिकोंके योग्य कर्तव्य करने चाहियें।

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा। निरवोचमहं यक्ष्ममंगेभ्यो अंगज्वरं तव ॥४३॥ (अथर्व० ५।३०।८)

(मा बिभेः) तू मत डर, (न मरिष्यसि)तू नहीं मरेगा। (त्वा) तुझे (जरदष्टिं कृणोमि) दीर्घ आयुतक जीवन देगा, (तव अंगेभ्यः) तेरे आंगोंसे (अंगज्वरं) अंगोंका ज्वर तथा (यक्ष्म) क्षयरोगको (अहं निरवोचं) मैंने निकाला है।

रोगीको दीर्घ जीवन प्राप्त करता है, जो [illegible] नहीं चाहिये।

मरनेके विचार मनमें लाने नहीं चाहिये । सर्व अंगोंको निर्दोष कराके मानसिक उत्साह के साथ आशापूर्ण विचार मनमें सदा रखने चाहिये ।

औषधि ।

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा । मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥४४॥ (ऋ० १०।९७।१)

जो (ओषधीः) औषधी वनस्पतियां (देवेभ्यः) देवोंसे (त्रियुगं पुरा) तीन युग पहिले (जाताः) उत्पन्न हो गई थीं, उन (बभ्रूणां (भरणपोषण करनेवाली औषधियोंके सौ और सात (धामानि) स्थान अथवा जातियां हैं, ऐसा मैं मानता हूं ।

इस भूमंडलपर प्रथम औषधियां उत्पन्न हो गई थीं और तीन युग व्यतीत होनेके नंतर मनुष्योंकी उत्पत्ति हो गई। (१) वनस्पतियुग, (२) जलजंतुयुग, (३) सर्पयुग,' (४) पशुयुग और (५) मनुष्ययुग यह सृष्टिक्रम है । इस उत्क्रांतिकी कल्पना इस मंत्रमें है ।

ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा । यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥४५॥ (ऋ० १०।९७।२२)

औषधियां सोमराजाके साथ बोलतीं हैं कि, हे राजन् ! (यस्मै) जिस रोगीके लिये (ब्राह्मणः) ब्रह्मका ज्ञान धारण करनेवाला वैद्य हमारी योजना करता है, (तं) उस रोगीको रोगसे हम (पारयामसि) पार कर देते हैं ।

इस मंत्रमें वैद्यका एक मुख्य लक्षण बताया है, वह यह है कि, "वैद्य सच्चा ब्राह्मण होना चाहिए, अर्थात् ब्रह्मका ज्ञान वैद्यको चाहिए ।" आत्मज्ञानी वैद्य चाहिए । आत्मज्ञानी वैद्य योग्य औषधिद्वारा जिस रोगकी चिकित्सा करेगा, वह रोग निःसंदेह दूर हो जायगा ।

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः । तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥४६॥ (अथर्व० ८।७।२६)

(भिषजः मनुष्याः) वैद्य लोग (यावतीषु) जितनी औषधियोंमें (भेषजं विदुः) दवाई जानते हैं, (तावतीः) उतनी (विश्व-भेषजीः) सब औषधियां (त्वां अभि आ-भरामि) तेरे पास मैं लाता हूं ।

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत । संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥४७॥ (अथर्व० ८।७।२७)

पुष्पवाली, (प्रसूमतीः) कोंपलवाली, फलवाली और (अफला) फल न देनेवाली (मातरः इव) माताओंके समान सब औषधियां (अरिष्टतातये) सुरक्षाके लिये (अस्मै) इस रोगीको (दुहां) रस देवें ।

औषधिप्रयोगसे रोगनिवृत्ति होकर आरोग्य प्राप्त होता है ।

मधुवल्ली ।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः । सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजंभनी ॥४८॥ (अ० ७।५६।२)

यह (वीरुत्) जडीबुटी (मधु-जाता) मधुरतासे उत्पन्न हुई है, (मधुश्चुत्) मधुरपन टपकनेवाली (मधुला मधूः) मिठी है । वह (वि-ह्रुतस्य भेषजी) तेढेपनकी औषधी है और (मशकजंभनी) मच्छरोंका नाश करनेवाली है ।

मधुवल्ली शरीरका तेढापन दूर करती है और मच्छरोंका नाश करती है, अतः इससे मच्छरोंसे बढनेवाले हिमज्वरादि दूर होते हैं ।

रोहिणी औषधि ।

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी । रोहयेदमरुंधति ॥४९॥ (अथर्व० ४।१२।१)

तू (छिन्नस्य अस्थ्नः) टूटी हड्डीकी (रोहणी) पुरनेवाली (रोहणी) रोहणी नामक वनस्पति (असि) है । हे (अ-रुंधति) न रोकनेवाली वनस्पति ! (इदं रोहय) इस टूटे भागको भर दे ।

रोहणी वनस्पतिके उपयोगसे जखम शीघ्रही भर जाती है।

यत्ते रिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्टं त आत्मनि। धाता तद्भद्रया पुनः सं दधत्परुषा परुः ॥५०॥ (अ० ४।१२।२)

(ते यत् रिष्टं) तेरा जो टूटा हुआ भाग है, (ते यद् द्युत्तं) तेरा जो जला हुआ भाग है, तथा तेरा जो (आत्मनि पेष्टं) अपनेमें पीसा हुआ भाग (अस्ति) है, उसको (धाता) वैद्य (भद्रया) उस कल्याणकारिणी रोहिणी औषधी से (तत् परुः) उस जोडको (परुषा) दूसरे जोडसे पुनः (संदधत्) जोड देवे॥

टूटे, जले अथवा पीसे हुए भागको यह रोहणी ठीक कर देती है, तथा टूटी हड्डीको जोड देती है॥

सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः। सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु॥ ५१॥ (अ० ४।१२।३)

(ते मज्जा) तेरी हाडकी मींग मज्जासे (संभवतु) मिल जावे। (ते मांसस्य विस्रस्तं) तेरे मांसका पीसा हुआ भाग (सं रोहतु) भर जावे। और (अस्थि) हाड भी भर जावे।

रोहिणी वनस्पतिके प्रयोगसे मज्जा, मांस, जोड, हड्डी आदि सभी भाग ठीक रीतिसे भर जाते हैं॥

मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु। असृक्ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु॥५२॥ (अ० ४।१२।४)

मज्जासे मज्जा (संधीयतां) मिल जावे। चर्मसे चर्म (रोहतु) भर जावे। (ते असृक्) ते खून और (अस्थि) हाड (रोहतु) भर जावे। तेरा मांस मांससे भर जावे।

मज्जा, चर्म, खून, हड्डी आदि सब रोहिणीके प्रयोगसे ठीक हो जाते है॥

लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम्। असृक् ते आस्थि रोहतु च्छिन्नं सं धेह्योषधे॥५३॥ (अ० ४।१२।५)

(लोम) रोम रोमके साथ (संकल्पय) जोड दे, त्वचा त्वचासे मिला दे, (ते असृक्) तेरा रक्त (अस्थि) हड्डीको (रोहतु) भर दे। हे औषधे! तू (छिन्नं) टूटा अंग (संधेहि) मिला दे।

इस रोहणी औषधिसे रोम, त्वचा, हड्डी तथा टूटा अंग उत्तम प्रकारसे ठीक हो जाता है॥

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान। ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्परुषा परुः॥५४॥ (अ० ४।१२।७)

यदि (कर्तं) कटारी आदि शस्त्र (पतित्वा) गिर कर (संशश्रे) कट गया हो, अथवा यदि (अश्मा) पत्थर (प्रहृतः जघान) फेंकनेसे चोट लग गई है, तो (परुः परुषा) एक अंग दूसरे अंगके साथ वैसा (संदधत्) मिल जावे, जैसा कि (ऋभुः) शिल्पी कारीगर (रथस्य अंगानि) रथके अंगोंको जोड देता है।

शस्त्रकी जखम, अथवा पत्थर लगनेसे जो चोट आती है, वह सब रोहिणी वनस्पतिके उपयोगसे ठीक प्रकार दुरुस्त हो जाती है॥

पिप्पली।

पिप्पली क्षिप्तभेषज्युतातिविद्धभेषजी। तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम्॥५५॥ (अ० ६।१०९।१)

पिप्पली (क्षिप्त-भेषजी) उन्मादकी औषधी (उत) और (अतिविद्ध-भेषजीः) बडे घावकी औषधि है। (देवाः तां समकल्पयन्) देवता लोग उसको मानते हैं, कि (इयं) यह औषधि (जीवितवा अलं) दीर्घ जीवनके लिये पर्याप्त है।

पिप्पली औषधिसे उन्माद रोग तथा अन्य घाव आदिके कष्ट दूर होते हैं। यह एकही औषधि जीवनभरके लिये पर्याप्त है।

पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि । यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥५६॥ (अथर्व ६।१०९।२)

(जननात् अधि) जन्मसे ही (आयतीः पिप्पल्यः) प्राप्त होनेवाली पिप्पली औषधियां (समवदन्त) आपसमें वातचीत करती हैं, कि (यं जीवं) जिस जीवको (अश्नवामहै) हम प्राप्त होते हैं, (स पूरुषः) वह मनुष्य (न रिष्यति) नहीं नष्ट होता।

पिप्पली औषधिका सेवन योग्य रीतिसे करनेसे मनुष्य अपमृत्युसे मरता नहीं, अर्थात् दीर्घ जीवन प्राप्त करता है।

असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः । वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥५७॥ (अ० ६।१०९।३)

हे पिप्पली! असुरोंने तुझे (अखनन्) खोदा है और देवोंने तुझे पुनः (उदवपन्) बोया है। तू (वातीकृतस्य भेषजीं) वात रोग की औषधि है, तथा (क्षिप्तस्य भेषजीं) उन्माद की औषधि है।

पिप्पली वातरोग और उन्मादकी उत्तम दवा है।

पृश्निपर्णी।

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः । उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम् ॥५८॥ (अ०२।२५।१)

(देवी पृश्निपर्णी) दिव्य गुणवाली पृश्निपर्णी (नः शं) हमारे लिये सुख और (निः-ऋत्यै अशं) ऋतके विरोधियों को दुःख (अकः) करती है। यह (उग्रा कण्वजंभनी) उग्र है और रोगबीजोंका नाश करनेवाली है। इसलिये (तां सहस्वतीं) उस बलवतीका (अभक्षि) मैंने सेवन किया है।

पृश्निपर्णी एक वनस्पति है, जो रोगबीजोंका नाश करती है, इसका गंध उग्र होता है।

इस मंत्रमें कण्व शब्द रोगोत्पादक क्रमियोंका वाचक है। जिसमें आर्तस्वरसे रोगी चिल्लाता है, उस प्रकारके असह्य रोग इससे उत्पन्न होते हैं।

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत । तयाऽहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥५९॥ (अ० २।२५।२)

(इयं पृश्निपर्णी) यह पृश्निपर्णी औषधी (प्रथमा सहमाना) पहिली बलवर्धक (अजायत) हुई है। (तया) उससे (अहं) मैं (शकुनेः इव) शकुनी पक्षीके समान (दुर्णाम्नां शिरः) दुष्ट नामवाले रोगोंका सिर (वृश्चामि) तोड देता हूं।

पृश्निपर्णी वनस्पति बलवर्धक और रोग दूर करनेवाली है।

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति । गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥६०॥ (अ० २।२५।३)

हे पृश्निपर्णी! (अ-रायं) शोभा घटानेवाले (असृक्पावानं) रक्तका नाश करनेवाले (यः च) और जो (स्फातिं) मोटाई को (जिहीर्षति) हरता है, अर्थात् दुर्बल बना देता है, (गर्भादं) गर्भको खाने अर्थात् नष्ट करनेवाले, (कण्वं) रोगके क्रमिको (नाशय) नष्ट कर और (सहस्व) बल वढाओ।

कण्व नाम रोगके बीजरूपी क्रमि जिस शरीर में जाते हैं, उस शरीरकी शोभा हटाते हैं, उस शरीरमें रक्त कम करते हैं। येही रक्तको पीते हैं, शरीर की पुष्टिको हटाते हैं, स्त्रियोंके शरीरमें प्रवेश करके गर्भका नाश करते हैं, इन क्रमियोंका नाश पृश्निपर्णी से होता है॥

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वान् जीवितयोपनान् । तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥६१॥ (अ० २।२५।४)

(एनान्) इन (जीवित-योपनान्) जीवित नाशक (कण्वान्) रोगबीजोंको (गिरिं) पर्वत पर (आवेशय) पहुंचा दे। हे देवि पृश्निपर्णी! अग्निके समान (इह अनुदहन्) यहां उनको जलाकर उनका नाश कर।

अग्निसे उन रोगबीजोंका नाश होता है और पृश्निपर्णीसे भी नाश होता है। ये रोगबीज पहाड पर स्वयं नष्ट हो जाते हैं, इसलिये मंत्रमें कहा है कि इनको पहाड पर ले जा, तात्पर्य यह है कि, वहां जानेसे इनका स्वयं नाश होगा।

श्यामा ।

**श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥६२॥
(अथर्व० १।२४।४)**

श्यामा नामक वनस्पति जो (पृथिव्याः) पृथ्वीके (उद्भृता) ऊपर ली है, वह शरीरके रंगको ठीक करती है। इस वनस्पतिसे (पुनः) फिर शरीरके (रूपाणि) रूप ठीक बन जाते हैं।

शरीरपर जो श्वेत कुष्ठके धब्बे आते हैं, तथा जो अन्य प्रकारके कुष्ठसे शरीर विरूप हो जाता है, उस बीमारीसे श्यामा औषधी बचाती है और पुनः पूर्ववत् सुंदर रूप बनाती है।

दशवृक्ष ।

दशवृक्ष मुंचेमं रक्षसो ग्राह्या अधियैनं जग्राह पर्वसु । अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥६३॥ (अथर्व० २।९।१)

हे (दशवृक्ष) दशवृक्षो ! (रक्षसः ग्राह्याः) जकडनेवाले संधिरोगसे (इमं अधिमुंच) इस मनुष्यको छुडा दे। जिस पीडाने (पर्वसु एनं जग्राह) संधिस्थानों में इसको पकड लिया है। हे (वनस्पते) औषधि ! (एनं) इसको (जीवानां लोकं) जीवित लोकोंके स्थानसे (उन्नय) उठाकर ले जा।

दशमूल,दशवृक्ष यह वैद्यशास्त्रकी संज्ञा है,गणमें दस प्रकार की विभिन्न औषधियां आती हैं। इनके उपयोगसे संधिवात नामक रोग दूर होता है। संधिवात रोग वह है, जिससे शरीरके सब संधि अकड जाते हैं,और हलचल बंद होती है। इस रोगके बीजका नाम " रक्षः " है। ये एक जातिके कृमि हैं। इनका दूसरा नाम "ग्राही" है। ये रोगीको पकड रखते हैं और हिलने नहीं देते।

**आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् ।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः॥६४॥
(अथर्व० २।९।२)**

(अयं) यह मनुष्य (जीवानां व्रातं) जीवित मनुष्योंके समूहमें (आगात्) आ गया है; (उत् आगात्) उत्कृष्ट स्थितितक पहुंचा है, (अपि अगात्) वहीं प्राप्त हुआ है। पुत्रोंका पिता (अभूत उ) बना है और (नृणां) मनुष्योंमें (भगवत्तमः) ऐश्वर्यवान् बन गया है।

उक्त दश वनस्पतियोंके उपयोगसे संधिवातका रोगी निरोग बनकर अन्य सुदृढ मनुष्योंकी भांति विविध उद्योग करके धनी बना है और शादी वगैरा करके पुत्रवान् भी बन गया है, अर्थात् पूर्ण नीरोग हुआ है।

**अधितिरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥६५॥
(अथर्व० २।९।३)**

पूर्वोक्त मनुष्य (अधीतिः) किया हुआ अध्ययन (अधि अगात्) स्मरण रखता है। तथा (अयं) वही मनुष्य (जीव-पुराः) मनुष्योंके नगरोंका (अधि अगन्) अधिष्ठाता बना है। क्योंकि इस रोगके (शतं) सैंकडों (भिषजः) वैद्य हैं और सहस्रों (वीरुधः) औषधियें हैं॥

जकडनेवाले " ग्राही " रोगपर सहस्रों औषधियें हैं और उनका विविध रीतिसे प्रयोग तथा उपयोग करनेवाले सैंकडों वैद्य हैं। इस लिये उक्त रोगसे पीडित लोग वैद्योंके योग्य उपायोंसे तनदुरस्त होकर विद्याध्ययन करके विद्वान् होता है और राज्यशासनमें कार्य करनेवाला नगराधिकारी भी हो सकता है। अर्थात् पूर्ण नीरोग बनता है।

अपामार्ग औषधि ।

**क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥६५॥
(अथर्व० ४।१७।६)**

(क्षुधामारं) भूखका कम होना, (तृष्णामारं) प्यास का कम होना, (अ-गो-तां) इन्द्रियशक्तियोंकी क्षीणता, (अन्-अपत्यतां) संतान न होना, ये सब रोग हे अपामार्ग औषधी (त्वया वयं) तेरे से हम (तत् सर्वं) वह सब दोष (अपमृज्महे) दूर करते हैं।

अपामार्ग नामक जो औषधी है, वह उक्त रोगोंको दूर करती है।

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम् ॥६७॥
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥
(अथर्व० ४।१७।७)

भूख कम होना, प्यास कम होना, तथा (अक्ष पराजयं) आंख की दृष्टि का न्यून होना, यह सब दोष अपामार्ग औषधिसे हम दूर करते हैं।

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद्वशी ।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥
(अथर्व० ४।१७।८)

(सर्वासां ओषधीनां) सब ओषधीयोंका (एकः इत् वशी) एकही वशमें रखनेवाला अपामार्ग है। (तेन) उससे (ते अस्थितं मृज्म) तेरा रोग दूर करते हैं, अथ जिससे तू (अगदः) नीरोग होकर (चर) चल।

सर्व औषधियोंका सत्त्व अपने अनुकूल करनेवाली अपामार्ग औषधि है, इससे पूर्वोक्त रोग दूर होते हैं और मनुष्य नीरोग होता है।

रोगोत्पादक कृमि ।

ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः । ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ॥६९॥ (अथर्व० ५।२३।५॥)

(ये क्रिमयः) जो क्रिमि (शितिकक्षाः) काली बगलवाले हैं, जो (कृष्णाः) काले रंगवाले हैं और जो (शितिबाहवः) काली भुजावाले हैं और जो (विश्वरूपाः) सब वर्णवाले हैं, उन क्रिमियोंका नाश करते हैं।

सब रोगोत्पादक जंतुओंका नाश करना चाहिये।

पराच एनान्प्र णुद कण्वान् जीवितयोपनान् । तमांसि यत्र गछन्ति तत् क्रव्यादो अजीगमम् ॥७०॥ (अथर्व० २।२५।५)

इन जीवितनाशक रोगबीजोंको (पराचः प्रणुद) निम्न गतिसे फेंक दे। (यत्र तमांसि) जहां अंधेरा (गछंति) जाता है, वहां इन (क्रव्यादः) रक्त, मांस खानेवाले रोग क्रमियोंको (अजी गमं) मैंने पहुंचाया है।

रोगबीजोंको नीचे की गतिसे फेंक देनेका तात्पर्य बस्तिद्वारसे रेचकद्वारा दूर करनेका है।

येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपिवित्नुकाः । दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥७१॥ (अथर्व० ५।२३।७)

(येवाषासः) शीघ्र गतिवाले, (कष्कषासः) अत्यंत पीडा देनेवाले, (एजत्काः) कंपानेवाले, (शिपिवित्नुकाः) तीक्ष्ण विषवाले कृमि हैं, उनमें दृष्ट और अदृष्ट क्रिमियोंको (हन्यतां) मारा जावे।

क्रिमियोंकी ये जातियां हैं। इनका नाश करना उचित है, क्योंकि ये मनुष्योंको व्याधियोंसे कष्ट देते हैं।

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् । शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥७२॥ (अथर्व० ५।२३।९)

(त्रिशीर्षाणं) तीन सिरवाला, (त्रिककुदं) तीन उच्च भागवाला कृमि (सारंगं अर्जुनं) चित्रविचित्र रंगवाला तथा श्वेत रंगवाला है। (अस्य) इसकी (पृष्ठीः) पसलियोंको (शृणामि) तोडता हूं और सिर (वृश्चामि) फाडता हूं।

इन कृमियोंका नाश करना चाहिये।

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम् । अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि ॥७३॥ (अथर्व० २।३१।२)

(दृष्टं) दिष्टिसे दिखाई देनेवाले, (अ-दृष्टं) न दीखनेवाले, कृमियोंका (अतृहं) नाश किया है। (अथो) और (कुरूरुं) भूमिपर चलनेवाले कृमियोंका नाश किया है (सर्वान् अलगंडून्) तकियों में भरे हुए (शलुनान्) वेगवाले कृमियोंका (वचसा जंभयामसि) वचासे नाश करता हूं।

दिखाई देनेवाले और न दिखाई देनेवाले ऐसे जो कृमि हैं जो मनुष्यादिकों को कष्ट देते हैं, उनका नाश करना चाहिये

मंत्र के शब्द कृमियों की विविध जातियों के वाचक हैं- (१) कुरूरु, (२) अलगंडु, (३) शलुन ये कृमियोंकी जातियों के नाम हैं।

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्। अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥७४॥ (अथर्व २।३१।४)

(अन्वांत्र्यं) आंतोंमें रहनेवाले, (शीर्षण्यं) सिरपर या सिरमें होनेवाले, (अथो पार्ष्टेयं) और पसलियोंमें रहनेवाले (क्रिमीन्) कीडों को (अवस्कवं) नीचे नीचे रेंगनेवाले और (व्यध्वरं) अपथ्य व्यवहारसे उत्पन्न होनेवाले कृमियोंका शब्दसे नाश करता हूं।

कृमि शरीरोंमें स्थानपर जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। आंतोंमें, सिरमें, पसलियोंमें, नीचेके भागोंमें कृमि पहुंचे हैं और विविध रोग उत्पन्न करते हैं। कुपथ्यसे रहनेके कारण ही इन क्रिमियोंका प्रवेश शरीरमें होता है। इसीलिये इनको (व्यध्वर=वि-अध्व-र) विरुद्ध मार्गपर रहनेके कारण उत्पन्न होनेवाले कहा है। इस मंत्रमें (१) अवस्कव, (२) व्यध्वर ये दो नाम इन क्रिमियोंके आये हैं।

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः। ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ ७५ ॥ (अथर्व २।३१।५)

जो क्रिमि पर्वतोंमें, वनोंमें, औषधियोंमें, पशुओंमें, (अप्सु अंतः) पानीके अंदर हैं, तथा जो (अस्माकं) हमारे (तन्वं आविविशुः) शरीरमें घुसे हैं, उन क्रिमियोंकी (सर्वं जनिम) उत्पत्तिकाही मैं (हन्मि) नाश करता हूं। उक्त स्थानोंमें कृमि रहते हैं, उनका पूर्ण नाश करनेसे मनुष्योंको सुख मिल सकता है।

सूर्यकिरणोंसे कृमियोंका नाश।

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः। ये अंतः क्रिमयो गवि ॥७६॥ (अ. २।३२।१)

(उद्यन् आदित्यः) उदय होता हुआ आदित्य (क्रमीन् हन्तु) क्रिमियोंका नाश करे, तथा (निम्रोचन्) अस्त होता हुआ आदित्य अपने (रश्मिभिः) किरणोंसे क्रिमियोंका नाश करे, जो कृमि (गवि अंतः) पृथ्वीपर हैं।

पृथ्वीपर जो कृमि हैं, उनका नाश सूर्यकिरणोंसे होता है। रोगोत्पादक कृमि इस प्रकार दूर होकर आरोग्य होता है। इस रीतिसे सूर्य आरोग्य और दीर्घ आयु देता है।

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारंगमर्जुनम्। शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥७७॥ (अ. २।३२।२)

(विश्व-रूपं) नाना रंगरूपवाले, (चतुरक्षं) चार नेत्रवाले (सारंगं) सारंग वर्णवाले और (अर्जुनं) श्वेत क्रिमिको मैं (शृणामि) मारता हूं। इसके (पृष्टीः) पसलियोंको तथा (शिरः) सिरकोभी (वृश्चामि) तोडता हूं।

रोगोत्पादक कृमि अनेक आकारवाले और रंगरूपवाले होते हैं। कई भूरे वर्णके और कई श्वेत भी होते हैं। इनका नाश करके मनुष्यको आरोग्य प्राप्त करना चाहिये।

शरीरके अवयवोंसे कृमियोंको दूर करना।

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि। यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥७८॥ (अ० २।३३।१)

(ते अक्षीभ्यां) तेरी आंखोंसे, नासिकाओंसे, (कर्णाभ्यां) कानोंसे, (छुबुकाद् अधि) ठोढीसे मस्तिष्कसे और जिह्वासे तथा (शीर्षण्यं यक्ष्मं) शीर्षसंबंधी रोग को (वि-वृहामि) हटा देता हूं।

रोगबीज जो उक्त स्थानोंमें अथवा अन्य अवयवोंमें होंगे, उनको दूर करना चाहिये और आरोग्य प्राप्त करना चाहिये।

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् । यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां विवृहामि ते ॥ ७९ ॥
(अथर्व० २।३३।२)

तेरे (ग्रीवाभ्यः) गलेकी नाडियोंसे (उष्णिहाभ्यः) गुद्दीकी नाडियोंसे (कीकसाभ्यः) हंसलीकी हड्डियोंसे (अनूक्यात्) रीढसे दोषमय रोगबीजको मैं निकालता हूं। संपूर्ण नसनाडीकी शुद्धता और निर्दोषता सिद्ध करके आरोग्य प्राप्त करना चाहिये।

हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम्। यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते विवृहामसि ॥८०॥ (अथर्व० २।३३।३)

हृदयसे (क्लोम्नः) फॅफडोंसे, (हलीक्ष्णात्) पित्तेसे (पार्श्वाभ्यां परि) दोनों बगलोंसे, (ते मतस्नाभ्यां) तेरे गुर्दोंसे, (प्लीह्नः) तिल्लीसे, (यक्नः) जिगरसे सब रोगबीज निकाल देता हूं।

इन अवयवोंसे रोगबीज दूर हटाने चाहिये।

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि। यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥८१॥ (अ० २।३३।४)

तेरी (आंत्रेभ्यः) आंतोंसे, गुदासे, (वनिष्ठोः) मलस्थान से, (उदरात्) पेटसे, (कुक्षिभ्यां) कांखोंसे, प्लाशे, कोख की थैलीसे (नाभ्याः) नाभिसे सब रोगबीज हटा देता हूं।

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्। यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते॥८२॥(अथर्व०२।३३।५)

तेरे (ऊरुभ्यां) जंघाओंसे (अष्ठीवद्भ्यां) घुटनोंसे, (पार्ष्णिभ्यां) एडियोंसे (प्र.पदाभ्यां) पैरोंसे (श्रोणिभ्यां) कुल्होंसे (भंससः) गुह्य स्थानसे, (भसद्यं) कटिसे (भासदं) गुह्य यक्ष्मरोगके बीजको दूर करता हूं।

अस्थिभ्यस्ते मज्जाभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः । यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ८३ ॥
(अथर्व० २।३३।६)

तेरी (अस्थिभ्यः) हड्डियोंसे, मज्जासे, (स्नावभ्यः) पुठ्ठोंसे, (धमनिभ्यः) नाडियोंसे, (पाणिभ्यां) हाथोंसे, अंगुलियोंसे, (नखेभ्यः) नखोंसे सब रोगके बीज दूर करता हूं।

अङ्गे अङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि। यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥ ८४ ॥
(अथर्व० २।३३।७)

प्रत्येक अंगमें (लोम्नि लोम्नि) प्रत्येक रोम मे (पर्वणि) प्रत्येक गांठमें (त्वचस्यं) त्वचाके अंदर (विष्वंचं) फैले हुए रोगको (कश्यपस्य—पश्यकस्य) ज्ञानी की दृष्टिसे (विबर्हेण) तथा उपायोंसे उखाड देता हूं।

हरएक प्रकारका यत्न करके प्रत्येक अंग, अवयव तथा इन्द्रियकी निर्दोषता सिद्ध करनी चाहिये और आरोग्य प्राप्त करना चाहिये।

सौरचिकित्सा।

अपचितः प्रापतत सुपर्णो वसतेरिव। सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु ॥ ८५॥
(अथर्व० ६।८३।१)

" जिस प्रकार (सुपर्णः) गरुड दौड जाता है, उसी प्रकार (अपचितः) स्फोटक व्याधि दूर चली जायगी। इसके लिये सूर्य औषध बनावे, तथा-चंद्रमा अपने प्रकाश से उसका नाश करे "।

इस मंत्र में सूर्य औषध बनाता है, ऐसा स्पष्ट कहा है। सूर्य इस विश्वमें प्राणरूप है और अपने किरणों के द्वारा सब विश्व का स्वास्थ्य उत्तम रखता है। परंतु मनुष्य ऐसे हैं, कि वे स्वयं अंधेरे स्थान में रहकर सूर्य की प्राणशक्ति से वंचित रहते हैं और अनारोग्यमें फंसते हैं।

संस्कृत सीखना चाहते हैं ? तो आप

संस्कृतपाठमाला

के २४ भाग मंगवाईये और प्रतिदिन आधा घंटा पढकर एक वर्षमें महाभारत समझनेकी योग्यता प्राप्त कीजये। २४ भागोंका मूल्य ६॥); १२ भागोंका मूल्य ४); ६ भागोंका मूल्य २); ३ भागोंका मूल्य १) और एक भागका मू० ॥) वी० पी० द्वारा ।) चार आने अधिक मूल्य होगा।

—मंत्री, स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

वैदिक प्राणविद्या

(नया संस्करण)

प्राणायाम करनेके समय जिस प्रकार 'मनकी भावना रखनी चाहिये, उसका वर्णन इसमें है। मूल्य) और डा० व्य०=) है।

मंत्री स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह का सचित्र

व्यायाम

मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओंमें। प्रत्येक का मूल्य २॥) रखा गया है। उत्तम लेखों और चित्रोंसे पूर्ण होनेसे देखने लायक है। नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। वी. पी. खर्च अलग लिया जाता है जादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर—व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

ब्रह्मचर्य का विघ्न

मूल्य =) दो आने। डा० व्य–) डा० व्य० सहित =) तीन आनेकी टिकट भेजकर पुस्तक मंगवाइये।

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि० सातारा.)

नया संस्करण! नया संस्करण!

योगसाधनकी तैयारी

योगसाधनसे हमारी शक्ति बढती है, इसलिये योगविषयक अत्यन्त आवश्यक प्रारंभिक बातोंका इस पुस्तकमें संग्रह किया है।

अच्छी जिल्द मू० ॥) बारह आने। डा०व्य० ।) इसलिये १) एक रु० म० आ० से या टिकट द्वारा भेजकर शीघ्र ही यह पुस्तक मंगवाइये।

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि० सातारा)

आविष्कार-विज्ञान

लेखक-उदय भानु शर्माजी। इस पुस्तकमें अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्, इंद्रियां और उनकी रचना ध्यान, उन्नत प्राप्त करनेकी रीत, मेधावर्धन का उपाय, इत्यादि आध्यात्मिक बातोंका उत्तम वर्णन है जो लोग अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनेके इच्छुक हैं, उनको यह पुस्तक अवश्य पढनी चाहिये। पुस्तक अत्यंत सुबोध और आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से लिखी होनेके कारण इसके पढनेसे हरएकका लाभ हो सकता है। पूर्वार्धका मूल्य ॥=) डा.व्य.=) है और उत्तरार्धका मू. ॥।) डा. व्य. =)

वेदका स्वयं-शिक्षक

जो पाठक प्रतिदिन आधा घण्टा इसके अध्ययनके लिये देंगे, उनका प्रवेश वेदके मंदिरमें सुगमतासे हो सकता है। इस समय दो भाग तैयार हैं।

प्रथम मू. १॥) डा.व्य.।–) द्वितीय मू.१॥) डा.व्य.।–)

छूत और अछूत

प्रथम भाग मू. १), डा व्य. ।–); द्वितीय भाग मू० ॥।) डा. व्य. ।–)

इस पुस्तकमें श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, धर्मसूत्र आदिके प्रमाणोंसे छूताछूतका विचार किया है।

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा.)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दे सकते हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नही, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डरसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगावायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। महाभारतका नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता।

इस 'पुरुषार्थबोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)

" ६ " १० " ३) " " ॥=)

" ११ " १८ " ३) " " ॥=)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं।

इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।=) सात आने है। म० आ० से २।≡) रु. भेज दें।

मंत्री—स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

